

प्रकाशक—सेठ मणीलाल, हैबार्डर अणजीवन जीवनी
 मैत्रीय व्यवस्थापक परमपूज्यमहास्वामि,
 लालाबा जीवनी बाजार, वधवा



मुद्रक—रघुनाथ वीणाजी हैसारी
 न्यू मयल प्रिंटिंग प्रेस
 १ केलेवारी बजार, व ४

श्रीमद् राजचन्द्र-वचनामृत

मूढ तत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र दृष्टिमें भेद है, यह मानकर आशय समस्त पवित्र धर्ममें प्रवर्तन करना (पुष्पमाळा १४)

त्रिनेत्रके कहे हुए धर्म-तत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको भेषामात्र भी खेद उत्पन्न नहीं होता इसमें सब आत्माओंकी रक्षा और सर्वशुद्धिका प्रकाश समिहित है। इन भेदोंके फलमेंसे, समझनेसे और तनपर अत्यंत सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशुद्धि प्रकाश पाती है, और यह जैनदर्शनको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करती है (मोक्षमाळा ६०)

‘ धर्म ’ बहुत गुप्त वस्तु है। यह बाहर झूठनेसे नहीं मिटती। यह तो अपूर्व अवतर्शोचनसे ही प्राप्त होती है (२६)

सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और शक्तिका प्रयोजन निज स्वस्वकी प्राप्ति करना ही है। जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे, जिस ज्ञानसे, आत्मत्व प्राप्त होता हो, वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है (४४)

हे जीव ! तू मूढ मठ। कमी कमी उपयोग भूककर किसीके रमन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्वृत्ताके कारण दूसरेके पास जो तू भ्रष्ट हो जाता है, यह तेरी मूढ है उसे न कर (८६)

इसे तो ब्राह्मण, वैष्णव चाहे जो हो सब समान ही हैं। कोई जैन कहा जाता हो और मठसे प्रस्थ हो तो वह व्रजितकारी है, मठपरित ही व्रितकारी है। वैष्णव, बौद्ध, शैतान्बर, निगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाप्रहृष्टचित्तमावसे झुद्ध समवासे आनन्दोंको घनवेगा, ठसीका कल्याण होगा (उपदेसछाया)

जैनधर्मका आशय, दिग्गम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय, और ब्राह्मणोंकी आशय मात्र आत्माका समातनधर्म प्राप्त करनेका है, और वही सारम्भ है (व्याख्यानसार-प्रश्नसमाधान)



प्रकाशकका निवेदन

वि०

स १९११ में मूळ गुजराती 'श्रीमद्रामचन्द्र' प्रकाशित हुआ था। उसी समय इसका हिन्दी अनुवाद निकालनेका विचार था। इसके लिए सन् १९७५ में आहमदाबाद स्व० छठ पुत्रामर्त्य हीराचन्दजीने पॉपुलर इज्जत सहायता की परमसुलभमात्रक धरकछो दी। उसके बाद स १९८२ में 'श्रीमद्रामचन्द्र' की दूसरी आवृत्ति भी निकल गई पर हिन्दी अनुवाद न निकल सका। मेरे विद्यार्थीने इसके लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया, एक दो विज्ञानोपे कुछ काम भी कराया पर अनुवाद संतोषजनक न होनेसे ठेक देना पड़ा और इस तरह समय बीतता ही गया। भगवान्तर कार्यमें कई कठिनायियाँ थी, जिनमेंसे एक तो यह थी कि अनुवादकर्ताको सैनसिद्धान्त-प्रयोग तथा अन्य तर्जनोंका समझ होना चाहिये दूसरे गुजराती भाषा सासुकर श्रीमद्राम चन्द्रकी भाषाकी वृष्ण भावकारी होनी चाहिये, तीसरे उसमें इतनी योग्यता चाहिये कि विषयको हृदयगत करके हिन्दीमें उसका हीकीमें किम्ब सके। इतने कम्बे समयके बाद उक्त गुणोंसे निश्चित विज्ञानकी प्राप्ति हुई और यह विज्ञान प्रत्य रचूभाषा हिन्दीमें प्रकाशित हो रहा है। इस बीचमें मेरे पुत्र विद्या और छे पुत्रामर्त्यका स्वर्गवास हो गया और वे अपने जीवन-कालमें इसका हिन्दी अनुवाद न देस सके। फिर भी मुझे हर्ष है कि मैं अपने पूर्य निगाही और स्व० छठ पुत्रामर्त्यकी एक महान् इच्छाकी पूर्ति कर रहा हूँ।

वं० जगन्नाथचन्द्रजीने हमके अनुवाद और सहायकमें अत्यन्त परिश्रम किया है। इसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। काम्यक्रमे स्वर्गीय छठ पुत्रामर्त्यकी वार्षिक सहायता, हेर भगवत पुत्र विद्याजीकी प्रेरणा महात्मा गांधीजीके व्यक्तित्व आत्म और पंडितजीके परिश्रमने ही यह कार्य अपने वर्तमान रूपमें पूर्ण हो रहा है।

निष्ठ मीन बार वर्षोंम रायचन्द्रजीनवात्रमानामे कई वर्षे बड़े मय सुमन्यदित हाकर निकले हैं जिनकी प्रगता विज्ञानोंने मुक्तकण्ठ की है। मरिष्यमें भी अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मय निकालमका आयाजन किया जा रहा है, कई अर्ध प्रयोगका हिन्दी अनुवाद भी हो रहा है जो बर्षावसय प्रकाशित होंगे। पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस प्रकाश और पूर्ण प्रकाशित प्रयोगका पत्र-वाचन और सूच प्रकाश करें जिससे हम प्रयोग दारु, महान् पुण्य-कार्यमें सहाय हो सकें। इस प्रकाश सर्वसाधारणमें लब्ध प्रकाश हो स्वीडिज रूप भी बहुत ही कम लगा गया है।

मणिमुनि,
अध्यापक म १० २

मिश्रक—
मणीमाम
रेवायकर जगन्नाथन मोहरी

प्रास्ताविक निवेदन

दो वर्षों से भी अधिक हुए, जब मैंने 'श्रीमद् राजबन्धु' के हिन्दी अनुवाद का काम हाथ में लिया था, उस समय मेरी कल्पना थी कि यह काम सुखम ही होगा और इसमें अधिक श्रम और समयकी आवश्यकता न पड़ेगी। पर ज्यों ज्यों मैं आगे बढ़ा, ज्यों ज्यों मुझे इसकी गहराईका अविकाशिक अनुभव होता गया। एक तो प्राप्य और संस्कृतमिश्रित गुजराती भाषा, चारप्रबाह छम्मे छम्मे वाक्योंका विन्यास, भावपूर्ण मधे-मुठे शब्द और उसमें फिर अव्याप्ततत्त्वका स्वानुभूत विवेचन आदि बातोंसे इस कार्यकी कठिणताका अनुभव मुझे दिनपर दिन बढ़ता ही गया। पर अब कोई उपायान्तर न था। मैंने इस समुद्रमें पल ही गोते लगाये। अपने जीवनकी अनेक चर्चियाँ इसके एक एक शब्द और वाक्यके चिन्तन-मनन करनेमें बिताईं। अनेक स्थलोंके चक्कर लगाये, और बहुतसोंकी सुझावों से भी करनी पड़ी। आम अर्थों परसके अनवरत कठिन परिश्रमके फलस्वरूप मैं इस अनुवादको पाठकोंके समक्ष लेकर उपस्थित हुआ हूँ। यद्यपि मुझे माझन है कि पर्याप्त साधनामात्र आदिके कारणोंसे इस अनुवादमें त्रुटिनामे भी हुई हैं (ये सब 'संशोधन और परिवर्तन'में सुधार दी गई हैं), पर इस सचमें इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मैंने अपनी योग्यता और शक्तिके न छिपाकर इसे परिपूर्ण और निर्दोष बनानेमें पूर्ण परिश्रम और सचरसि काम किया है।

'श्रीमद् राजबन्धु' के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत हिन्दी अनुवादमें प्राकृतकी गद्यमें आदिके संशोधनके साथ साथ प्रत्येक और भी अनेक स्थलोंपर संशोधन किया गया है। मुझे स्वयं राजबन्धुजीके हस्तलिखित मूल पत्रों आदिके संप्रदायके देखनेका अवसर नहीं मिला सका, इसलिये इन पत्रों आदिकी 'नकल' तथा आबतक प्रकाशित 'श्रीमद् राजबन्धु' के गुजराती संस्करणोंकी ही आधार मानकर काम चलाया पड़ा है। प्रस्तुत प्रथम राजबन्धुजीके मुख्य मुख्य लेखों और पत्रों आदिका प्रायः सब संप्रदाय आ जाता है। इन प्रकाशित पत्रोंमें आदि-अन्तका और बहुतसी जगह बीचका माग भी छोड़ दिया गया है। जहाँ किसी व्यक्तिविशेष आदिका नाम आता है, वहाँ बिन्दु... .. लगा दिये गये हैं। इन सब बातोंमें गुजरातीके पूर्व संस्करणोंका ही अनुकरण किया गया है। अनुवाद करते समय यद्यपि गुजरातीके व्यंग्य संस्करणोंके साथ भी मूछका मिश्रण किया है, पर यह अनुवाद सास करके अत्युत्तम १०८२ मनुसुखमार्थ कीरतचरित्रात् सम्पादित, परमश्रुतप्रभावकमण्डलके गुजराती संस्करण (विक्रम संवत् १९८२) का ही अक्षरानु अनुवाद समझना चाहिये। अनुवादके अन्तमें छह परिशिष्ट हैं, जो निम्नलिखित हैं। पहलेमें प्रथमके अतर्गत विशिष्ट शब्दोंका संक्षिप्त परिचय, दूसरेमें उद्धरणोंके स्पष्ट आदिके साथ उनकी वर्णानुक्रमिका, तीसरेमें विशिष्ट शब्दोंकी वर्णानुक्रमिका, चौथेमें अन्य और प्रत्येककोकी वर्णानुक्रमिका, पाँचवेंमें मुमुक्षुओंके नामोंकी सूची, और छठे परिशिष्टमें 'आशुसिद्धि'के पत्रोंकी वर्णानुक्रमिका दी है। अन्तमें प्रथम 'संशोधन और परिवर्तन' दिया

गया है। पाठकोसे प्रार्थना है कि प्रत्यक्षो सुख करनेके पश्चात् प्रत्यक्ष व्ययधन करें। आदिमें विषय-सूची और राजचन्द्रजीका संक्षिप्त परिचय है। ये भी मिलकुछ स्वर्तन और मौखिक हैं।

इस महाभारत-कार्यमें अनेक महात्मागणोंने मेरी अनेक प्रकारसे सहायता की है। सर्वप्रथम मैं परमबुद्धिमानवत्सलके व्यवस्थापक श्रीयुत सेठ मणीकाश, रेवाधाकर अगनीवन चौहरीका बहुत कृतज्ञ हूँ। प्रत्येक कार्यमेंसे लेकर इसकी सम्पादितक उन्होंने मेरे प्रति पूर्ण सहायताका भाव रक्खा है। विशेष करके राजचन्द्रजीका संक्षिप्त परिचय आपकी प्रेरणासे ही लिखा गया है। श्रीयुत दामजी केरावजी बन्धु राजचन्द्रजीके साथ मुमुक्षुबोधिमें हैं। आपकी कृपासे ही मुझे राजचन्द्रजीके मूल पत्रों आदिकी नकलें और तस्वर्तन और बहुतसा साहित्य देखनेको मिला है। सधमुच आपके इस सहायोगके बिना मेरा यह कार्य बहुत अधिक कठिन हो जाता। श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ साहित्यरत्न बन्धु और श्रीयुत पवित्र गुणमन्त्री अगाधने मुझे कुछ मूल्योंके देखने आदिमें मेरी सहायता की है। बम्बईके श्रीयुत जगद्वर भगवान्दत्त ममसुखराज डेहता श्रीयुत मोहनलाल बलीचन्द देसाई बन्धु और मणिकान् केरावका पत्नी सुप्रियेदेवी और राजचन्द्र गुप्ताजी जैन बोधिबुद्ध बन्धुने अपना बहुत कुछ समय इस विषयकी चर्चामें दिया है। मेरे मित्र श्रीयुत इन्दुसुखमार्ज माळवणीयने इस प्रत्यक्ष 'सुयोगन परिवर्तन' कैम्पार किया है। परमबुद्धि-प्रमत्तकमण्डलके मैनेजर श्रीयुत कुन्दनकाजीने मुझे अनेक प्रकारसे सहायोग दिया है। मेरी जीवन्-संगिनी सौमन्यवती श्रीमती कमलजीने अनेक प्रसंगोंपर कर्मणा और मनसा अनेक तरहसे अपनी सहायता देकर इस काममें बहुत अधिक हाथ बँटाया है। कन्या, जमात, अगाध और सिद्धपुरके आत्ममन्त्री और मुमुक्षुजनोंने अक्सर अनेक मेरे प्रति अपना सौहार्द अभिव्यक्त किया है। सुप्रिय मोहनकाज डेहता जैन कायवेरीक कर्मचरियोंन तथा म्यू मारत प्रिंटिंग प्रेसके लक्ष्मणों और कम्पोजिटरोंमें समय समयपर मेरी मदद की है। इन सब महात्मागणोंका मैं अत्यन्त आभार मानता हूँ। अन्तमें, धर्म और व्यवहारका सुन्दर बोध प्रदान कर मेरे जीवनमें नई नवृत्तिका संचार करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्रका परम उपकार मानता हुआ मैं इस कार्यको समाप्त करता हूँ। आशा है किशान् पात्र मेरी कठिनश्रमोंका अनुमन करते हुए मेरे इस प्रयत्नका आभार करेंगे।

शुद्धिजीवना

हालेश

१-१-२८

जगदीशचन्द्र



विषय-सूची*

पन्नांक	पृष्ठ	पन्नांक	पृष्ठ
प्रकाशकका निवेदन		२५ परिग्रहका मर्यादित करना	१०
प्रास्ताविक निवेदन		२६ ताल समझना	१-११
राज्यचक्र और उनका संक्षिप्त परिचय	१-४५	२७ यज्ञना	११-१२
१६ में वर्णसे पहिछे,		२८ यथियोजन	१२
१ पुष्पमास	१-१	२९ सब बीजोंकी रखा (१)	१३
२ काल कितनीसे नहीं छोड़ता (कविता)	१-७	१ सब बीजोंकी रखा (२)	१३-१४
३ वर्मविषयक (कविता)	६-९	११ मन्त्राभ्यास	१४-१५
१७ बी बी		१२ विमयसे लक्ष्यकी सिद्धि है	१५-१६
४ मीसमासा—	१०-१९	१३ सुदर्शन छेद	१६-१७
१ वायकको अनुष्ठान	१	१४ मन्त्रार्चके विषयमें सुमाहित (कविता)	१७-१८
२ लक्ष्मणार्च (कविता)	१-११	१५ नुमस्कारार्च	१८-१९
३ कर्मका चमत्कार	११-१२	१६ अनुष्ठी	१९-४
४ मानकेद्वे	१२-१३	१७ सामाधिकविचार (१)	४-४१
५ अनार्यी मुनि (१)	१३	१८ सामाधिकविचार (२)	४१-४२
६ अनार्यी मुनि (२)	१३-१५	१९ सामाधिकविचार (३)	४२-४३
७ अनार्यी मुनि (३)	१५	४ मन्त्रिकमन्त्रविचार	४३
८ लक्ष्मण	१५-१६	४१ मित्रादीका लेख (१)	४३-४४
९ लक्ष्मण	१६-१७	४२ मित्रादीका लेख (२)	४४-४५
१ लक्ष्मण (१)	१७	४३ अनुष्ठान चमत्	४५-४६
११ लक्ष्मण (२)	१८	४४ राग	४६
१२ लक्ष्मण	१८-१९	४५ लामन्त्र मनोरथ (कविता)	४६-४७
१३ मित्रादीकी मन्त्रि (१)	१९-२०	४६ कश्मिमुनि (१)	४७-४८
१४ मित्रादीकी मन्त्रि (२)	२-११	४७ कश्मिमुनि (२)	४८
१५ मित्रादीका उपदेश (कविता)	२१	४८ कश्मिमुनि (३)	४९-५०
६ वास्तविक मन्त्रा	२२	४९ लुम्बाकी विनिश्चया (कविता)	५-५१
७ वास्तविक	२२-२३	५० प्रमाद	५१-५२
१८ वास्तविक	२३-२४	५१ विवेकको कार्य	५२
१९ लक्ष्मण का उपदेश (१)	२४-२५	५२ लानिबोने देशम्बका उपदेश कर्मा दिया ।	५२-५३
२ लक्ष्मण का उपदेश (२)	२५-२६	५३ महावीरपातन	५३-५४
२१ लक्ष्मण	२६	५४ लक्ष्मण किते कहते हैं ।	५५
२२ लक्ष्मण कावक	२७	५५ लामन्त्र नियमनिबन्ध	५५-५६
२३ लक्ष्मण	२७-२८	५६ लामन्त्र	५६
२४ लक्ष्मण	२८-२९	५७ देशम्ब कर्मका स्वप्न है	५६-५७

* इस विषय-सूचीमें ग्रन्थके केवल मुख्य मुख्य विषयोंकी ही सूची दी गई है । किन्तु ग्रन्थों पर * देशम्ब है उन्हें एकचमत्कारीकी पाह्येय वाणीके ओर (हाथों) लगाना चाहिये ।

पञ्चाङ्ग	पृष्ठ	पञ्चाङ्ग	पृष्ठ
८ बर्मे मन्त्र (१)	५७-५८	१८ वाक्यकोष (१७)	१७-१८
५९ बर्मे मन्त्र (२)	५८-५९	१९ वाक्यकोष (१८)	१९
६ बर्मे मन्त्र (३)	५९-६०	१ गोनियारके विष	१८-१९
६१ मुलके विषय विचार (१)	६०-६१	११ सुपुत्रिमें रहने योग्य यथाभाष्य	१९
६२ मुलके विषय विचार (२)	६१-६२	१२ विविध प्रश्न (१)	१९-२०
६३ मुलके विषय विचार (३)	६२-६३	१३ विविध प्रश्न (२)	१९-२०
६४ मुलके विषय विचार (४)	६३-६४	१४ विविध प्रश्न (३)	२०
६५ मुलके विषय विचार (५)	६४-६५	१५ विविध प्रश्न (४)	२०
६६ मुलके विषय विचार (६)	६५-६६	१६ विविध प्रश्न (५)	२०-२१
६७ अनुसूत वाक्यविचार (कविता)	६६-६७	१ भिखारिणी कावी (कविता)	२१
६८ विविधका	६७-६८	१८ पूर्वमाखिया संस्कृत (कविता)	२१
६९ अष्टावर्षी की कविता	६८-६९	१८ वीं वर्ष	
कान्तुम्बर (१)	६९-७०	५ आवावाकोष—	२०-२१
७० कान्तुम्बर (२)	७०-७१	अनेकता	२०-२१
७१ वीरका	७१-७२	प्रथमार्थ—वाक्य मन्त्रादि	१-११
७२ वीरका	७२-७३	प्रथम विष—अनेकता	
७३ वीरका	७३-७४	—मित्रताका केन्द्र	१-११
७४ वीरका	७४-७५	द्वितीय विष—अनेकता	
७५ वीरका	७५-७६	—अनेकता	११
७६ वीरका	७६-७७	तृतीय विष—अनेकता	
७७ वीरका	७७-७८	—अनेकता	११-१२
७८ वीरका	७८-७९	चतुर्थ विष—अनेकता	
७९ वीरका	७९-८०	—अनेकता	१२-१३
८० वीरका	८०-८१	पंचम विष—अनेकता	
८१ वीरका	८१-८२	—अनेकता	१३-१४
८२ वीरका	८२-८३	अष्टावर्षी—	
८३ वीरका	८३-८४	वा विष—निगुणिकता	
८४ वीरका	८४-८५	—अनेकता	१४-१५
८५ वीरका	८५-८६	अष्टम विष—अनेकता	
८६ वीरका	८६-८७	—अनेकता	१५
८७ वीरका	८७-८८	अष्टम विष—अनेकता	
८८ वीरका	८८-८९	—अनेकता	१५
८९ वीरका	८९-९०	अष्टम विष—अनेकता	
९० वीरका	९०-९१	—अनेकता	१५-१६
९१ वीरका	९१-९२	अष्टम विष—अनेकता	
९२ वीरका	९२-९३	—अनेकता	१६-१७
९३ वीरका	९३-९४	अष्टम विष—अनेकता	
९४ वीरका	९४-९५	—अनेकता	१७-१८
९५ वीरका	९५-९६	अष्टम विष—अनेकता	
९६ वीरका	९६-९७	—अनेकता	१८-१९
९७ वीरका	९७-९८	अष्टम विष—अनेकता	
९८ वीरका	९८-९९	—अनेकता	१९-२०
९९ वीरका	९९-१००	अष्टम विष—अनेकता	
१०० वीरका	१००-१०१	—अनेकता	२०-२१

पञ्चाङ्ग	११७-१
१ स्वरोद्वयान	११७-१
१ बीरल्लके उर्वरमें विचार	११९
११ बीरामीविषयिक	११
१२ विचारसंघी	११-१

२० वीं वर्ष

१३ अमुपम काम	१३१
१४ एक अमुप वात	१३२
१५ अमुपप्रतिमें फेरफार	१३२
१६ कार्यकी बेरफारी न रखें	१३२
१७ उत्तरका अमाव	१३१-३
१८ अमावका स्वकम	१३३
१९ अमावके अवन अनेक विषय	१३३
२ एक पानेके अन्वि उत्तम पात्र	१३३
अनर्हानमें निम्न निम्न मत् प्रचलित होनेके कारण	१३४
अन्विप्रति की कठिनता	१३५
प्रतिमाकी विधि	१३५-९

२१ वीं वर्ष

२१ उत्पत्तिकी हल्का	१४
२२ अल्प अनर्हिये मरकी है	१४
२३ मेरी और मोहरका न रखें	१४
२४ लोककी मनुता और पुष्पाकी अतिक्रान्त	१४
२५ अल्पप्रतिमें मार्गकी खोज	१४
२६ वर्य गुप्त बलु है	१४१
२७ मन्वहारप्रति	१४१-२
२८ आणीपार देते रोग	१४२
२९ वैद्यविषयक अल्पप्रति	१४३
३ उत्पत्तिकी उत्पत्ति	१४४
३१ निम्नप्रति वर्य	१४४
३२ मोक्षे माय हो नहीं	१४४-५
३३ मोक्ष हल्कीमें	१४५
३४ मैत्री आदि वार मायानाये	१४५
३५ शास्त्रमें मार्ग कहा है, मार्ग नहीं	१४६
३६ वैश्वामयका मन्व न समझें	१४६-७
३७ संघीय मुनिवर्म	१४७-५
३८ पुनरुत्पत्ति निम्न	१५ -१
३९ एकमात्र वर्यमान	१५१-२
४ अल्प अल्प अल्प और वर्यमान	
अल्प वर्य मार्ग अल्प करना चाहिये	१५३
पुनरुत्पत्तिकी	१५३-५

पञ्चाङ्ग	११७
४१ पुनरुत्पत्ति	१५६
४२ वर्यमाना तत्पर्व समझनेके अन्वि वर्यमान	१५६
४३ मायमाय	१५७
४४ समस्त शास्त्रोंको अल्पप्रति, अल्पका योगका, और अल्प आदि अल्प प्रयोगन निम्न	
स्वकमकी प्राप्ति	१५७
४५ अल्पमें निम्न रोग	१५८
४६ मेरी उत्तर समझाते हुए एक एक रक्तो	१५८
४७ अल्पके कारण अल्पको निम्नप्रति अल्प	१५८
४८ अल्पका एक ही मन्व सुन्दर हा आवा लो	
अल्प मन्वकी उत्तर निम्न आवा	१५९
अल्पकी विचार अल्प उत्पत्तिकी वरि	
अल्प अल्पमें नहीं—अल्पमें हैं	१६
४९ उत्पत्ति कौन	१६
५ पुनरुत्पत्तिमें विधि (कविता)	१६ -१
५१ अल्पकी विचार	१६१-२
५२ अल्पके निम्न निम्न मन्व और अल्प अल्प	
मेरमाय है (कविता)	१६२
५३ अल्पकी पुष्पा	१६३
५४ अल्पकी विधि विधि	१६३
५५ अल्पका अल्प अल्प	१६३-४
५६ अल्पका अल्प अल्प	१६४-५
अल्पका अल्प अल्प	१६५
अल्पका अल्प	१६५

२२ वीं वर्ष

५७ अल्प अल्प करना	१६६
५८ अल्पकी मोहिनी	१६७
५९ निम्नप्रतिमें अल्पकी अल्प	१६७
६० अल्प	१६७-८
६१ आल्पप्रति विधि अल्प (पुनरुत्पत्ति)	१६८-७१
६२ अल्पकी अल्प अल्प	१७१
६३ अल्पकी अल्प	१७१-२
२३ वीं वर्ष	
६४ अल्पप्रति	१७१-५
६५ अल्पकी अल्प	१७५-६
६६ अल्प अल्प अल्प	१७६
६७ अल्प अल्प और अल्प अल्प अल्प	१७७
६८ अल्प अल्प अल्प	१७७-८
६९ अल्प अल्प अल्प	१७८

पत्रांक	पृष्ठ	पत्रांक	पृष्ठ
मकर-म्यामिनीकी इष्टि	१७८	१ ५ काक और कर्मकी विविधता	१९५
७१ मकराक्ष एक वाक्य	१७	१ १ टीपकी स्पष्टता	१९६
७२ शिव तख्त पर बंजन ब्रह्म तले उख तख्त		१ ७ अर्थात् धामन करनेके विधि शीतल चम्पन	
पुष्पा	१७८	वाक्वाचित	१ ६
७३ कछ देवे बोज्य निराम	१७९	कैनाक्षिक अग्रहणे योग मर्मा	१९६
७४ वर्ष गुणाद्य सम्पत्त	१ ९	१ ८ उदासीनता वैद्यक और विरुद्धे स्वस्व	
७५ बार पुष्पादि	१७९	करनेवाली पुलाके करनेका अनुरोध	१९७
१ बार पुष्पादि	१ ५-६	१ ९ मकराक्ष वाक्व	१९७
७७ बार आश्रम	१८	११ ध्यानीरक्ष मर्मा	१९७
७८ बार आश्रम और बार पुष्पादि	१८-१९	१११ ज्ञान ब्रह्मा है	१९८
१ प्रयोग	१८१	११२ दो वर्णक	१९८
महावीरके उल्लेखका वक्त	१८१-२	११३ कर्मकाण्डी विपत्ता	१९८
१ मर्याद ब्रह्म	१ ९	उल्लेखका आश्रम	१९८
७९ इन्द्रमन्त्र काकामी कीर्तनी		११३ (१) अन्तिम तख्त	१९८
उल्लेखकी इष्टि	१८२	११४ दो वर्णक	१९९
८१ मित्रकीका वार्षिकी वार्षिक	१८२	११५ ऐश्वर्यी कमा और आत्मप्राप्ति	२ ०-१
८४ लक्ष्मीप्राप्ति	१८२-३	११६ वार्षिकी उल्लेख	२ १
८५ कौटिलीयप्रत्यय प्रकाश (कविता)	१८३-४	११ काका प्रत्यय	२ १-२
१ शिवकला	१८५-७	११८ मकराक्षके उल्लेखकी वार्ता	१ १-३
८ शिवकला	१८७-८	११९ आत्मता उल्लेखकीका वक्त	२ ३
८८ शिवकला	१८८	११ ईश्वर विपत्त	२ ३
८९ काक मने उल्लेख (कविता)	१८८	उल्लेख पर्यायविपत्तका मन्त्र	२ ३
९० ईश आत्मता उल्लेख (कविता)	१८-१९	ब्रह्मका कला विपत्त आत्मता	२ ४
९१ काक लक्ष्मी विपत्त (कविता)	१८९	कोटिपु, मिष्टि काकिनी और काकिनी	२ ४
९२ इष्टा उल्लेख कोटि मने यानी वही	१८९-९	११९ इष्ट काकिनी इष्ट काकिनी इष्ट काकिनी काक	२ ४
९३ काकिनीकी प्रत्यय	१९०-१	१२० उल्लेखकी वार्ता	२ ५
९४ दो वार्षिकी—अन्ती कीर्तनी	१९१	१२१ आत्मप्राप्ति की उल्लेख	२ ५
९५ मकराक्ष विपत्तका मन्त्र	१९२	१२२ काक प्रत्यय	२ ५
९६ काकिनी	१९२	१२३ काक प्रत्यय	२ ५
९ अन्ते अन्तिमकी वार्ता	१९३	१२४ काक प्रत्यय	२ ५
९ एक वक्त	१९३	१२५ काक प्रत्यय	२ ५
९१ काकिनी	१९३	१२६ काक प्रत्यय	२ ५
१ मकराक्षकी	१९३	१२७ काक प्रत्यय	२ ५
मकराक्षकी वक्त	१ ३	१२८ काक प्रत्यय	२ ५
१ १ मिष्टि काकिनी और काकिनी	१९३	१२९ काक प्रत्यय	२ ५
उल्लेख उल्लेख काक ब्रह्म वार्षिक	१९४	१३० काक प्रत्यय	२ ५
वार्ताका उल्लेखकी वक्त	१९४	१३१ काक प्रत्यय	२ ५
१ २ मकराक्ष काक काक	१९४-५	१३२ काक प्रत्यय	२ ५
१ ३ काकिनी उल्लेख	१९५	१३३ काक प्रत्यय	२ ५
१ ४ मकराक्ष काकिनी	१ ५	१३४ काक प्रत्यय	२ ५

पृष्ठांक	पृष्ठ	पृष्ठांक	पृष्ठ
१३६ अपूर्व आनन्द	२११-२	१६४ हरिजनकी संगठिका सम्मेलन	२२६
*१३६ (२) बीवका अस्तित्व निश्चय अपि	२१२	१६५ हमारी हृष्टि जो करना चाहती है वह एक	
१३७ उद्योगीना अन्धकारकी जनी है	२१२	निष्कारण समर्थ है	२२७
१३८ बीना लापन बहु कर्मा (कविता)	२१२	१६६ मुमुक्षुओंके राजकीय विचार	२२७
१३९ बर्तों उपयोग बर्तों बर्त	२१३	१६७ मार्गकी सरलता	२२७-८
१४ निरपेक्षपुत्रि	२१३	१६८ अन्तर्गतके बीवका परिग्रहण	२२८
१४१ छत्र प्रकृति	२१३	१६९ बीवके दो बंधन	२२८
१४२ आत्ममान बर्त	२१४	१७० एकतरफासे पक्षेका दूर होना	२२९
१४३ महावीरके अन्धकार छान	२१४-५	१७१ बीवको सत्यी अपाधि	२२९
१४४ सर्वगुणसम्पन्न आचार्य्ये दोष	२१५	१७२ मनुष्यकी लक्ष्यताके सिधे बीना	२३०
मोक्षकी आसक्तता	२१५	१७३ बन्धनावधी	२३०-१
१४५ संग्रहण बन्धन	२१५	भ्रमपक्षमें प्रेममार्गिका बर्णन	२३०-१
१४६ मुक्तनन्दनकी वाचन	२१६	१७४ सागस्तकी आसक्तता	२३१-२
२४ लौ बर्त		मक्ति लोभपरि मार्ग	२३१
१४७ आत्ममान पा सिना	२१७	*३७४ (२) ' कोई अन्धकारा योगी '	२३२
उत्पन्न दशा	२१८-९	१७५ संतके अद्भुत मार्गका प्रवर्तन	२३३
*१४७ (१) महान् पुत्रोंके गुण	२१८-९	१७६ जानीकी सर्वत्र मोक्ष	२३३
*१४७ (२) वैराग्यवर्तन	२१९-२	१७७ मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा	२३४
*१४८ उपरान्त मोक्ष	२२	१७८ ईश्वरके लक्ष्यता	२३४
*१४८ (२) दशा बर्तों बर्त गई	२२	१७९ वैराग्यवर्तन बन्धनोंका अध्ययन	२३४
१४९ आत्मविषयक प्रति होनेका कारण	२२ -२	१८० जानीकी जानीकी नये उद्योगीना	२३५
१५ हरिकृष्ण	२२१	मन्के आग्रह विषय फलकी प्रति	२३५
१५१ कृतार्थका अपूर्व हित	२२१	*१८ (२) नव आदिता लक्ष्यता	२३६
१५२ संतकी शरणमें जा	२२१	१८१ लक्ष्य दूर नहीं	२३६
१५३ अद्भुतदशा	२२१	१८२ धर्म-बीवका शरण	२३६
१५४ जो बहनेके सिधे ही बीव है वह बंधनमें		१८३ समीपनमूर्तिकी परिचयान	२३७
नहीं आता	२२२	१८४ लक्ष्य ही शरण है	२३८
१५५ पत्र ब्रह्म आदिका बंधनका होना	२२३	हल काकमें मोक्ष ही लक्ष्य है	२३८
१५६ लक्ष्यमें बर्तोंसे देनेकी असोष्यता	२२३	परमात्मा और लक्ष्यमें अनिष्टता	२३८
१५७ हल काकमें मोक्ष नहीं लक्ष्य		ईश्वरीय इच्छा	२३९
स्वाध्यायपूर्वक विवेचन	२२३-४	१८६ अक्षयके प्रति परम उद्योगीना	२३९
१५८ लोभों काककी समानता	२२४	१८६ बन्धनके लक्ष्यमें	२३९-४
१५९ काककी शरणता	२२४	१८७ लक्ष्य लक्ष्य अपिष्टान	२४०
१६ आत्मको बुझानेके सिधे लक्ष्य कृत	२२५	महत्त्वमोक्ष का एक लक्ष्य ही है	२४०
१६१ अनिमित्त बन्धनकी समता	२२५	मोक्षकी व्याख्या	२४१
संगीत होनेके सिधे बन्धन	२२५-६	१८८ भ्रमपक्षमें प्रेममार्गिका बर्णन	२४१
मोक्ष भ्रम लक्ष्य लोभों आदिका		१८९ अक्षयिक आदिका अस्तित्वना	२४१
परम बोधयता	२२६	१९ ईश्वरका अनुग्रह	२४१
१६१ बर्तों उद्योगिका बोधयता	२२६	१९१ अक्षयिकी व्याख्या	२४२
१६२ 'अक्षय नाम बुद्धि की गगनमें' (कविता)	२२६	१९२ पक्षमक्षमें लक्ष्य और लक्ष्यकी बुद्धयता	२४२

पन्नांक	पृष्ठ	पन्नांक	पृष्ठ
१६ 'अनुक्रमे संवत्सराधीनी'	१७५	११५ आरम्भाधी कृतार्थता	११५
१११ कपोतिकवर्णिके वाक्य	१७५	११६ मैन और वेदार्थ आदिके मेरुका त्याग	११६
११२ काविकव्यामित्रिका स्मरण	१७५	११७ जहाँ पूर्णकर्मता है वहाँ तर्कता है	११६
११३ चहन करना ही योग्य है	१७६	११८ पूर्णकर्मता का ध्यान	११७
११४ निरुत्तरकर्मकी तुल्यता	१७६	११९ योग्यता ही तर्क और आदिके आरम्भका स्मरण	११९
११५ 'एक परिनामके न करता बरब दोह'	१७७	१ आरम्भ आरम्भानकी दशा में विवद	
११६ उक्त परका विवेचन	१७७-८	उपाधिविषयका उदय	११३
११७ 'वाचस्पत्यस्य'	१७७	१ १ ईश्वर अद्वितीयता और उपाधिविषय-मोक्षकी	
११८ किन्तु भी अस्म है अन्तर्गत अनन्त है	१७७	निरुद्धता	११४
११९ 'कल्प नहि पुष्पकी'	१७७	१ २ मातृ समाधि और मातृ उपाधिवि	
१२० माता पुत्रर है	१७ - ८	विष्णुमानता	११४
संस्काररूपी विष्णुकी छान करना		१ ३ उनके कल्प ही सब कुछ	११५
ही उचित है	१८	१ ४ कला और आधीविषयका मिश्रण	११५
ही उचित है	१८१	१ ५ आधीविषय अर्थात् कला केवन करना योग्य है	११७
१०१ सम्प्रदायका मुख्य लक्षण बीजगणना	१८२	अनुक्रमिक सिद्धि एवं उपाधिविषयके पक्षकी	
१०२ "अद्वितीय केवन विष्णुकी उक्ति आयु"	१८२	निरुद्धता	११८
१०३ केवलज्ञान परमार्थ सम्प्रदाय की अन्तर्गत		१ ६ अपने आपकी नामस्मृति	११९
अन्तर्गत और परमार्थगुणकी अन्तर्गत	१८३	१ ७ कानीको प्रारम्भ इच्छा आदिके समझ	११९
१०४ 'सुखा विचारे ज्ञाने'	१८३	१ ८ सम्प्रदाय पक्षकी अनुपेक्ष	१
१०५ उपाधिका प्रमाण	१८३	१ ९ मातृ दो हट कायमें ही हो सकता है	१
१०६ 'जिज्ञासा न ही और'	१८३	मोक्षकी निरुद्धता	१ १
१०७ पूर्णकर्मका निर्वचन	१८३	१ १ प्रत्यक्षिके वरुद्धता	१ १
वचनात्मकी मातृ	१८४	मत्त मत्तवरीकी पुच्छकी निवेद्य	१ १
१०८ दर्शनपरिचय	१८५	१ ११ देवदेव गुणस्थानका लक्षण	१ १
१०९ पुनर्प्राप्ति प्रमाणता	१८५	१ १२ कृष्ण अधिप	१ १
११० अन्तर्गतकी संवत्सरे	१८५	१ १३ निच नेत्रके लक्षण है	१ १
१ १ देह हीनपर ही पूर्ण बीजगणनाकी सम्प्रदाय	१८७	१ १४ उपाधिके विवेचनपरिचय प्रत्यक्षिके कर्मता	१ ४
१८२ परिचयमें उदात्त भाव	१८७	१ १५ कानीको परिचयनमें कानी हो जाता है	१ ४
१८३ कृष्ण गुणको समझनेके देवन करना	१८८	१ १६ जीज्ञासा काव्य	१ ४
१८४ परिचयमें अन्तर्गत उदात्तगणना	१८८	१ १७ कल्प और मोक्षके मार्गकी मिश्रता	१ ४
१८५ कपोतिक आदिमें अन्तर्गत	१८८	१ १८ नागर गुण काव्य मत्त काव्य	१ ५
१८६ कान गुण है पर प्राप्ति कुर्वन है	१८९	कर्मगुण काव्य	१ ५
१८७ आधिका बरुद्ध कानी अधिका ही योग्य	१८	१ १९ कानस्थानकी वाक्य	१ ५
१८८ कृष्णकाव्य	१८९	१ २० 'अन्त मरिचिकु बरुद्धा जयने'	१ ५-७
१ १ संवत्सरे कर्मकाव्य काव्य	१९	१ २१ 'तेन कृतकर्म मन् हट करे'	१ ५
११२ संवत्सरी कुर्वता	१९	१ २२ विचररुकी प्रथमिके इदरपरिचय मत्त कर्म	१ ५
१ १ कौटिली सिद्धि	१९	१ २३ उपाधिविषयकित	१ ५-१६
११३ आरम्भका भीमे बिना धुरकता नहीं	१९१	१ २४ काव्यकी अधिपता	११४
११४ अधिका उदयका वेदम करना	१९१	अधीका अधिपता	११४
११५ उपाधिविषय प्रविर्ध	१९१		

पद्यांक	पृष्ठ	पद्यांक	पृष्ठ
कल्याणिक तीन कल्याण काव्य	११४-५	१११ पर अनुक्रमोंके काव्य विचित्रा ठोस	११४
११५ ललंगका लेख	११४-७	११२ संसारमें डबाराति रहनेके विचार कोई	
११६ निम्नका दशाष्टी काव्य	११७	उत्तर नहीं	११४
११७ ठाढ़ीचोपरी काव्य	११८	११३ प्रत्यक्षोदरकी प्रतिष्ठा	११५
११८ कल्याणका	११८	११४ विचारविधिक विचारमें जो सिद्धा जगदा है	
११९ कल्याणके आत्मदर्शनका कव्य	११९	उत्तरा अर्थ परमाण्व ही है	११५
१२० कल्याणकी काव्य	११९	११५ ललाटन पुस्तकका प्रमाण	११५
१२१ कल्याणका	११९	आत्मदर्शन विचार का प्रदर्शन	
१२२ हस्तचक्रकी आशीर्वादा	११९	नहीं पड़ना	११५-७
१२३ श्रेष्ठ जगत् रोहित कव्य रोहित ही		११६ काली पुस्तक निम्नका हस्तित संव कल्या	११७
रीखा केना	१२	११७ इत कल्याण पुस्तकका कवी कथा !	११७-८
१२४ काली पुस्तकका ललाटन आत्मका	१२	११८ "कल्याण कल्या डरकला"	११८
जो हस्तचक्र हीन ही रोखा	१२१	श्रीकल्याणकी प्रतिष्ठे हो पुस्तक काव्य	११९
१२५ रोहितचक्रके प्रत्यक्ष काव्य हो कल्या	१२१	जीनेके कल्या	१२०-४१
१२६ कर्म सिद्धा जेहे निष्ठ कर्म ही है	१२१	१२१ उत्पत्तिकी सीढ़	१२१
१२७ ललाटका काव्य	१२२	१२१ अलंगका काव्य परिकल्प करनेका अनुपेक्ष	१२१
ललाटन और ललाटचक्र	१२२	१२१ मर्मकी कल्पिता	१२१
इत काव्यका कल्याणका	१२३	१२२ ललाटके पुस्तक काव्य	१२१
१२८ ईश्वरसिद्धि	१२३	१२३ प्रपत्तिका ललाट	१२२-३
१२९ काली पुस्तकका काव्य	१२४	१२४ ललाटके ललाटका काव्य	१२३
१३० ललाट केवला	१२४	१२५ एक ललाटके सिद्धि जो ललाटके अलंगका काव्य	
१३१ आत्मिक ललाटके काव्य ललाटका काव्य	१२५	निष्ठ	१२३
१३२ ललाटका काव्य	१२५-६	१२६ ईश्वरकाव्य जो ही ललाटके ललाट रचना	१२३
१३३ (१ ३) ललाटके काव्य—काली पुस्तककी		१२७ ललाट सिद्धि आत्मिक काव्य	१२४
विचारन न देनिमें तीन कल्याण रोखा	१२७	१२८ कल्याणका काव्य ललाट	१२४
१३४ कल्याणका काव्य	१२७-१२८	निष्ठ काव्य ललाट काव्य विचारमें	
१३५ ललाटकी मुद्रिका	१२८	ललाट नहीं	१२५
१३६ ललाटके काव्य !	१२८	१२९ ललाटकी काव्य और विचारमें	१२५-७
१३७ ललाटका काव्य	१२९	१३० ललाट और काली पुस्तक	१२६
१३८ प्रत्यक्षललाट ललाट ललाटके काव्य	१२९	१३१ ललाटके ललाट ललाट	१२६
एक ललाट	१२९	१३२ ललाटके ललाट ललाट	१२६
ललाट ललाटके	१२९	१ ३ ललाट ललाटके ही ललाट है	१२६-५
ललाटका काव्य	१३	१३४ ललाट ललाट विचारका विचार	
ललाट और ललाट	१३	ललाट नहीं	१२६
१३९ ललाट काव्य	१३३	१ ५ ललाटके ललाटके ललाटके ललाट	१२६
ललाटकी पुस्तकमें ललाट ललाटके ललाट काव्य	१३३	१ ६ ललाटके ललाटके ललाट ललाट ललाट है	१२६
ललाट ललाटके ललाट नहीं	१३३	१३७ ललाट और ललाटकी ललाटका	१२६
१४० ललाटकी ललाटके ललाटके ललाट	१३३	१३८ ललाट ललाट ललाट ललाट है	१२६
१४१ ललाटकी ललाटके ललाटके ललाट	१३३	१३९ ललाट ललाटके ललाटके	१२६
१४२ ललाटकी ललाटके ललाटके ललाट	१३३	१ ४ ललाटके ललाटके ललाटके ललाट	१२६-४

पृष्ठांक	पृष्ठ	पृष्ठांक	पृष्ठ
३८१ अन्नमाका चर्म आत्म्याये	३५४	४२४ लालुको पत्र समाचार आदि भिन्ननेका	
ध्यान देने योग्य बात	३५५	विधान ३७६-९	
३८२ हानी पुस्तके प्रति अभूत निश्चय	३५६	४२५ लालुको पत्र समाचार आदि भिन्ननेका	
३८३ लष्ठी हानरदसले बुझकी निवृत्ति	३५७	विधान ३७९-८१	
३८४ लक्षके प्रति समीक्षे	३५७	४२६ संवसकाक—अपयती पूजा	३८२
३८५ महान् पुस्तकेका अभिप्राय	३५७	४२७ निवृत्तनियम	३८२
३८६ बीजकान	३५८	४२८ सिद्धांतबोध और उपदेशबोध	३८३-५
३८७ सुधारलके संबंधमें	३५८-९	४२९ संतारमें कठिनाईका अनुभव	३८३
३८८ ईस्तेल्का और वसुधोन्म सप्तसंकर मौनम्बर	३६	४२९ (२) भाग्यपरिणामकी प्रियता	३८३
३८९ आत्ममाकाका मन्त्रणा	३६	४२ बीज और कर्मका संबंध	३८३-७
३९ सुधारलका मन्त्रात्म्य	३६१	संघटी और सिद्ध बोधोकी समानता	३८७
३९१ गायत्रीका द्वाद्व जर्ज	३६१	४२९ (२) वैतर्क्य और वृहत्प	३८८
३९२ स्वस्म लख है	३६१	४२९ दृष्टिबोधे उपपन्नके भिन्ने निवृत्तिकी	
२७ चौ बर्ष		जायस्वकता	३८८
३९३ धार्मिक कान्तरका वैराग्य	३६२	४२९ हानी पुस्तकी आकाका आराधन	३८९
३९४ कवीका संवस	३६२	अज्ञानकी व्याख्या	३८९-९
३९५ विपत्त संक्षेपमय	३६२	४२९ (२) 'नये विचारों विरुद्ध' ३९०-१	
३९६ कविताका आत्मव्यक्ति के अन्तर्धान	३६३	४२९ सप्त एकेन्द्रिय बर्षोके व्यापारसंबंधी प्रस	३९१
३९७ उपाधि की विवेचना	३६४	४२९ वेष्ट और निवृत्तताकी दृष्टि	३९२
३९८ संस्कारलक्षणा के दान	३६४	४२९ व्यवसायका प्रारंभ	३९३
३९९ सब बर्षोंका आचार धारि	३६४	४२९ लक्ष्य—वृद्धावन	३९३
४ कर्मिक मेरो बिना निवृत्ति नहीं	३६५	४२९ व्यवसाय लक्ष्यताका कारण	३९३
४ १ सुदर्शन लेट	३६५	४२९ लक्ष्यकी उपपत्ति	३९४
४ २ शिक्षापर	३६५	४२९ लक्ष्यमें भी प्रतिपक्ष दृष्टि	३९४
४ ३ दो प्रकारका पुस्तक	३६५	४३ वैराग्य उपपन्न करनेके पन्नात् अन्नमाके	
४ ४ तीर्थकरका उपदेश	३६६	कश्चित् अस्मिन् अवस्था विचार	३९४
४ ५ व्यावहारिक प्रयोगोंकी विषय-विशेषता	३६७	४३१ परस्परका आदि की अद्यतता	३९४
४ ६ परम	३६७-९	४३२ विचारकी अवस्था	३९५
४ ७ (१) लक्ष पर	३६९	कान्तरासीदासको आत्मननुभव	३९५
४ ८ दो प्रकारके कर्म	३७ -१	प्रारम्भका वेदन	३९५
४ ८ संतारमें अधिक व्यवसाय करना		४३३ लालुको पहिदान	३९७
योग्य नहीं	३७१	४३४ पर आदि के बर्षने विचारमें उपपन्नका	
४ ८ (२ १ ४) वह स्थानी भी नहीं	३७२	अभाव	३९८
४ ९ परस्मै निवृत्ति का कान्तरा	३७२	४३५ बाह्य माहत्म्यकी अनिष्टता	३९९
४१ उपदेशकी आकांक्षा	३७३	सिद्धोकी अवगाहना	३९९-४
४११ योगवादि	३७३	४३६ वैद्य-वैद्य और निर्गम्यमावर्षकी विचार	४
४१२ व्यवसायकी प्रकृति	३७३	४३७ व्यवहारका विचार	४ १
४१३ वैराग्य उपपन्नकी प्रकृति	३७४	४३८ समाधान	४ २
उपदेशकान और सिद्धांतकान	३७४-५	४३९ वैद्यों गम्यका अभाव	४ २
४१३ (१) एक वैद्यमें सब कित् कछ पठता है	३७५	४४० तीन बातोंका संवस	४ २

पृष्ठांक	पृष्ठ	पृष्ठांक	पृष्ठ
५१३ अहि-विहिमियवक प्रश्न	४५१	५४३ धर्म, अथवा आहिमियवक	४६७
५१४ सम्यक्का अर्थ	४५२	५४४ आत्मार्थकी पृष्ठांक अर्थ	४६७
५१५ एक भौतिक वचन	४५२	५४५ अमर्त्यकी उपदेशका शार	४६७-५
५१६ देश करनेमें हर्ष विषय योग्य नहीं	४५२	५४६ एवंमूल इति कनुवृत्त स्थिति कर	४६९
५१७ उदात्त याव	४५३	५४७ मैं निवृत्तरूप हूँ	४६९
५१८ बानीके मार्गसे आचारको उपदेश करनेवाले वाक्य	४५३-४	५४८ "देखत भूमी टले"	४७
५१९ बानी पुन्य	४५५	५४९ आत्मा अर्थात् है	४७
५२० कनका अर्थ	४५६	५५० आत्मप्राप्तिकी सुखमत्ता	४७
५२१ आमकी आशा नष्टमें विह्वल	४५६	५५१ त्याग वैराग्य आदिही आवश्यकता	४७
५२२ विचाररत्ना	४५६	५५२ सब कार्योंकी प्रथम भूमिकाकी कठिनाय	४७
५२३ अनंतानुबंधी कथान	४५७	५५३ समझा वे धर्माई यथा	४७१
५२४ केवलज्ञान	४५७	५५४ जो दुलारी इच्छा न करता हो वह नास्तिक, किं अथवा वह है	४७१
५२५ सुसुखके विचार करने योग्य बात	४५७	५५५ दुलार आस्तिक अथवा	४७१
५२६ परम दर्शनमें मेर	४५७	५५६ दुलारी सकारणता	४७२
५२७ दर्शनकी सुखता	४५८	५५७ निर्वाणमार्ग अथवा अनंतर है	४७२
५२८ लक्ष्य आदि दर्शनकी सुखता	४५९	५५८ बानी पुनर्वाका अर्थात् देख्य	४७२
५२९ उदात्त प्रतिपक्ष	४५९	५५९ एक अमूल्य है	४७२
५३० निवृत्तिकी इच्छा	४५९	५६० सतत जागृतिरूप उपदेश	४७२
५३१ सदा और उदीर्य प्रगुति	४६	५६१ "समझने धर्माई यथा समझने धर्माई यथा"	४७४
५३२ अनंतानुबंधीका वृद्ध मेर	४६	५६२ सुमुख और समवृत्तिकी सुखता	४७५
५३३ मन-परिवर्तन	४६२	५६३ सुखराशिकीके अर्थ	४७५
५३४ "वह जोव निमित्तकारी है"	४६२	५६४ न्याय समझिके योग्य सत	४७५
५३५ केवलदर्शनकी हीदा	४६२	५६५ सर्वसंग-परिग्रह	४७५
५३६ केवलज्ञान आहिमियवक प्रश्न	४६२	५६६ भौतिक और धार्मिक अतिनिवेश	४७५
५३७ गुणके उदात्तके गुणी मित्र है वा नहीं	४६२	५६७ सब दुःखोंका मूल संयोग	४७५
इत कावमें केवलज्ञान हो सकता है वा नहीं	४६२	५६८ "अज्ञान कथां छे तो पत्र"	४७५
आदिमत्त कान	४६२-३	५६९ धार्मिक अतिनिवेश	४७५
प्रतिपक्ष कीव किंतु तब मर्यादा रहता है	४६३	५७० उपनिषद् त्याग करनेका विचार	४७७
केवलदर्शनमें मूल भविष्य पद्योंका ज्ञान किंतु तब होता है	४६३	५७१ भू-ज्ञान	४७७
५३८ देवता आत्मका गुण है वा नहीं	४६४	५७२ त्रिलोकिक अज्ञानध्यान	४७७
आत्मके समस्त दर्शनमें अज्ञान होनेपर भी अनुक्त मागते ही नहीं ज्ञान होता है	४६४	५७३ भोग अर्थात् के भिन्न कथा	४७८
दर्शनमें पीड़ा होने समय समस्त प्रवेष्टोंका एक स्थानपर स्थित जाना	४६५	५७४ सर्वसंगपरिग्रह उपदेश	४७८
५३९ प्रतीका अर्थ	४६५	५७५ परमार्थ और व्यवहारसंगम	४७८
५४० सुखरत्नमें विकार उत्पन्न होनेका कारण	४६६	५७६ आदिम परिग्रहका त्याग	४७
५४१ निमित्तकारी जीवोंके संगका त्याग	४६६	५७७ त्याग करनेका लक्ष	४७५
५४२ अनुभवप्रमाण	४६६	५७८ संसारका त्याग	४७
		५७९ सर्वसंगका त्याग	४८

पंक्तिका	पृष्ठ	पंक्तिका	पृष्ठ
५ कानी पुत्र	४८	४९१० संक्षोप-विज्ञापकी यात्रा आता	४९१
५८१ एतदीच्छा निरुप	४८१	४९११ 'कंगमनी कृति ती सर्वे भाषिने'	४९१
५९ १ सर्वे है	४८१	४९१२ उद्ब्रान्तके वचनामनुये रावर्म शब्दका अर्थ	५
५८२ सर्वकर्म	४८१	४९१३ आत्मवशा	५१
५९८४ देव पुत्र, कर्म	४८१	४९१४ मातृवत्तम पुत्रोत्तर प्रीतिवत्	५१
५८५ प्रीति, समय, प्रमाण	४८१	४९१५ अश्ववशा	५१
५८६ आत्मनिष्ठता	४८२	४९१६ अश्विनाथ और कालवृत्त	५१-१
५८७ क्या उद्बोधन था होनेकी लक्ष्य वह		४९१७ विष, जीव आदिवा अन्तरिक्षा	५१
लक्ष्मी है।	४८१-१	४९१८ विष और जीवका कथन	५१
५८८ अन्तरिक्षाकी प्रकाशता	४८४	४९१९ कर्मवर्त्मनि उक्त	५४
१ कानी-पुत्रोद्देशे उक्तवशा	४८४	४९२० पंचांगिकात्मक वक्ष्य	५४
५९ कानी और कृष्ण कानीकी मेरु	४८५	४९२१ सुखम प्रमुख हेतु	५५
केवलमानकी परिष्कार	४८५-८	४९२२ धीरवर्त्मनी	५
५९१ स्वयं-वैराग्यवान् प्रीतिवत् पठ	४८८	४९२३ वर्णाश्रित्य आदिभर्तृकी प्रभ	५६
५९२ "आत्म पुत्रकी उक्ति"	४८८	४९२४ आत्मवर्त्मनी पुत्रकता	५७
५९३ कानी पुत्रकी वृत्तिमान	४८८-९	४९२५ अनुपम यशोनिधि	८-११
५९४ सुखके सर्वकर्म	४८९-९	४९२६ वेदम और उपसर्गकी पुत्रकता	५१३
५९५ अश्वर्म प्रत्ययान्त	४९०-१	४९२७ आत्मवर्त्मनी का	५१३
५९६ विनाशकी वृत्त कानीकी विवेक	४९१	४९२८ कैवल्यके उद्धार करनेकी चेष्टा	५१४-५
५९७ कान किवा और अश्विनाथ	४९१	४९२९ उपसर्गके कथन	५१६
५९ विनाशकी केवलमानका अर्थ	४९१ १	५१ सर्वव्यापक उभिराज्य आत्म	५१६
५९९९ हेतु अश्वकर्म		४९३० आत्मवर्त्मनी कथ	५१७
५९ आत्मवर्त्मनीकी विचार	४९२	५१ सर्ववर्तीकी योग्यता	५१८
५९ १ इत्येव सर्वकर्म	४९२	४९३१ केवलवर्त्मनीकी विचार	५१९-२
५९ २ हेतु	४९२	४९३२ वीर्यमोक्ष वयाचन	५१
५९ ३ केवलकी प्रकाश	४९२	४९३३ उपसर्ग-छाया—	५१२-७६
५९ ४ अश्विनाथकी सर्वोद्देश्य वीर्यवत्ता	४९२	केवलवर्त्मनीकी स्व-वर्त्मनी	५१३
५९ ५ विभिन्न वयाचनकी योग्यता	४९२	कृष्ण कानीकी अश्विनाथ	५१४
५९ ६ वर्णाश्रित्य आदिके विचार	४९२-६	मार्ग सर्वोद्देश्य मार्ग है	५१५
५९ ७ केवलमानविषयक वीर्य	४९२	कान किसे करते हैं	५१६
५९ कानी की मृत, अश्विनाथ और वर्त्मनीकी विचार	४९३	कथन क्या है	५१७
५९ १ कान और केवल	४९३	समयवत् विषय कथन का है	५१७
५९ ११ वृत्तिवत्ता	४९३	उभिराथी विषय कथन का है	५१७
५९ १२ वीर्य कान	४९३	वयाच उपसर्गका कारण	५१८
५९ १३ केवलमान	४९३	आत्मवर्त्मनी प्रत्ययान्त वीर्य प्रीति	
५९ १४ वीर्य हेतु आदिके विचार	४९३	विषय कथन क्या करता है	५१८
५९ १५ आत्मवर्त्मनीकी विचार	४९३	एक एक कानी वार वार आत्मवर्त्मनी	५१८
५९ १६ केवल	४९३	वार कथनवर्त्मनी केवल	५१८
५९ १७ वयाचकी-आत्मवर्त्मनी	४९३	कानीकी प्रीतिमान किसे होती है	५१
५९ १८ वयाच	४९३	वृत्त कथनी एवमात्मनी वीर्य	५१८

पन्नांक	पृष्ठ	पन्नांक	पृष्ठ
मानन्द भावकी कथा	५१९	एक बर्गका तात्पर्य आत्माको परिचानना	५५४
आत्मवादनसमीक्षा	५२	जीवको किस तरह बताना चाहिये	५५५
एकेन्द्रिय आदि की मायात्वकी चेष्टा	५२१	तीन प्रकारके जीव	५५६
कल्याण नहीं	५२२	समक्षित एकेश्वर केवलज्ञान है	५५६
उसके मुख्य विग्रह स्वच्छन्द	५२२	समक्षितही ही केवलज्ञानी है	५५७
एक दर्शनकी एकता	५२२	उसके छोटी परीक्षा करनेका उद्योग	५५७
उदयकर के कहे करते हैं	५२३	एक बर्गका करना महामात्र नहीं	५५८
सोह्यमित और दुःखगमित वैराग्य	५२३	पुरुषार्थकी मुख्यता	५५९
दो बर्गों केवलज्ञान	५२४	एकपुरुषकी परीक्षा	५६०
आत्मज्ञान करनेसे सिद्धांतकी प्राप्ति	५२४	इस कार्यमें मोक्ष न होनेकी बातको सुनना	
वेद-पुराणकार्योंके किये सारी बचन	५२५	सी नहीं	५६१
कैवल्यसाधना परदेशी राजाको बोध	५२५	समक्षितसे सम्मानकी परिचान नहीं होती	५६२
निर्णय किये करते हैं	५२६	असले नौसे सम्मान केवलज्ञान	५६२
छेगोंमें पुनर्लेके किये प्राप्त नहीं बने गये	५२७	समक्षितको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं	५६३
साधना का कदा जावग	५२७	निर्णय कौन ?	५६३
इन्द्रियोंके बराबर करनेके किये ही उपवास	५२८	एक कोष करनेसे ही श्रेष्ठ होता है	५६४
कल्याणकी आशा	५२८	दो बर्ग पुरुषार्थके केवलज्ञानकी प्राप्ति	५६५
वीरज्ञान का प्रगट होता है	५२८	आत्मार्थ ही क्या नय है	५६६
आत्मा एक है वा अनेक	५२९	समक्षितही ही पुनर्लेके	५६७
मुक्त होनेके बाद क्या जीव एककार	५३१	एक द्वेषके नाशसे मुक्ति	५६८
ही जाता है	५३१	एकपुरुष	५६९
आदमकी उत्पत्ति	५३४	आत्मज्ञान पुरुषके लक्षण	५७०
मत्तचित्त ही विवक्षणी है	५३४	आपक किये करते हैं	५७१
हीन पुरुषार्थकी बलि	५३५	कल्याण एक है	५७१
ऐक्यत्वके गुण	५३६	आपके कल्याण नहीं	५७२
एक मुक्ति का उद्योग	५३६	कैवल्य लक्षण	५७३
एकपुरुष आदि की परिभाषा	५३७	उत्तरी बिना एक शक्ति की निरर्थकता	५७४
एकसे अनेक हुए ज्ञानकी प्राप्ति	५३७	समक्षित और सिद्धांत	५७५
साधा किस तरह हुआ होती है	५३८	आत्मज्ञान प्रगट होता है	५७६
पुरुषार्थ के सिद्धि की प्राप्ति	५३८	५३४ मतिज्ञान और मनार्थबोधन	५७७
कल्याण प्रकार	५३९	५३५ मूलाकाररत्न (कविता)	५७७-८
सिद्धि के लिए बर्गों के कल्याण नहीं	५४०	५३६ आत्मज्ञान	५७८-९
समक्षित किये प्रगट होता है	५४०	५३७ मूलाकाररत्न (गांधीजीके)	५७९-८
सिद्धांतमोहनीय आदि की परिभाषा	५४१	५३८ जीवकी व्यापकता आदि	५८१
प्राप्ति हुए दो दो समक्षित ही जाय	५४१	५३९ आत्मज्ञान	५८१
कल्याण का मार्ग एक है	५४२	५४० बचनरत्न	५८१
मोक्ष किये करते हैं	५४३	५४१ आत्मज्ञान	५८१
कल्याण का कदा जाता है	५४३	५४२ आत्मज्ञान	५८१
विचार और उपवास	५४४	५४३ विचाररत्न का आत्मज्ञान	५८२
पुरुषार्थ मोक्ष	५४४	५४४ मोक्ष	५८३
		५४५ आत्मज्ञान कल्याण प्रगट होता है	५८३

[illegible]

पन्नांक	पृष्ठ	पन्नांक	पृष्ठ
आत्मनः आदिके लक्षण	६५१-२	७१ प्रत्य विद्यायी	६८४
मोक्षका रीतिरित विवेचन	६५२-३	७११ वाक्चिन्ता	६८५
निश्चय	६५३	७१२ अपार अंतरात्मा	६८५
पार अनुबोध	६५३	७१३ दिग्गन्तरत्न-भोक्तृत्व	६८५
७१५ इन्द्र और पराजय	६५४	७१४ संयम आदिको नमस्कार	६८५-६
७१६ अन्तरात्मा	६५४	७१५ अमादित	६८६
७१७ सब जीवोंको मुक्तकी इच्छा	६५५	७१६ ठाक भूमिका	६८६-७
७१७ (२) विश्व अनारि है	६५५-६	७१७ पुरुषार्थरहित	६८७
७१८ एकल आत्मवृत्ति	६५६	७१८ ' योगरहितमुक्त ' आदि	६८७
७१९ में अंश छद्म चेतन हैं	६५६	६१ चौं चरै	
७ पंचातिथि (अनुवाद)	६५७-६६७	७१९ छद्म चेतन्य	६८८
७० १ दिन, तिहाई आदि	६६७	७४ आत्मरूपमान क्षेत्रमें विचरना	६८८
७० २ स्वप्नरक्षा-प्रकाश	६६७-८	७४१ दुःखोंके सब हेतुका उपाय	६८८
७ ३ स्वप्नरहित भवका समितिबिचार	६६८-७	७४२ महात्मामौका संयोग	६८८
७ ४ ज्ञान-अज्ञानके सम्बन्धमें	६७ -२	७४३ अविषयम आदि भव	६८९
७ ५ समकित और मोक्ष	६७२	७४४ मोक्षनयनी मुक्त्य है	६८९
७ ६ चर्मछोड़	६७३	७४५ विचारमानके दिक्कारी प्रश्न	६८
७ ७ औपच और ठाक जल	६७३-४	७४६ आत्मविशेष बन्धन प्रसिद्ध	६९
७ ८ औपच निमित्त करण	६७५	७४७ यौन रक्षा योग्य मार्ग	६९
७ ९ द्वावसमीक्षा रहस्य	६७६	७४८ लक्षणागमका सेवन	६९
७१ अविषय	६७६	७४९ हो लक्षण	६९
७११ बन्धनपुष्टि परमाण	६७६	७५ लक्षणा आदिके लक्षण	६९१
७१२ लक्षणागम	६७७	७५१ विचारने योग्य प्रश्न	६९२
७१३ स्वप्न-व्यस्त आदि इच्छाये	६७७	७५२ अनुपुष्टिपर रहस्य	६९२
७१४ अविषय	६७८	७५३ व्याख्यानसार—	६९२-७२२
७१५ परमपुष्टि-वर्णन	६७८	बन्धन गुणरक्षणक	६९२
७१६ श्रीगीतामक मरुत-लक्षण	६७९-८	मात्र अनुपमक है	६९३
७१७ श्रीगीतामको नमस्कार	६८	निर्देश	६९३-४
७१८ लक्ष्य कानके बिना जीवका कल्याण नहीं	६८१	भौतिक और होरोत्तर मार्ग	६९४
७१९ स्वप्न-रक्षा	६८१	कथाय	६९४
७२ लक्ष्य संतर्पण इन्द्रियवादी	६८२	केवलज्ञानमार्गी विवेचन	६९५
७२१ परम संतर्पण पुरतोको नमस्कार	६८	छाडी छाडी रीतिधर्मोंमें उल्लाना-कगरीका दहन	६९६
७२२ उपपुरतोद्य ध्यान	६८२	पुराणम लक्षणकरी प्राप्ति	६९६
७२३ महात्मामौका नमस्कार	६८२	हृत् कथमें मोक्ष	६९७
७२४ मोक्षमार्गप्रकाश	६८३	बन्धन विद्याका निषेध नहीं	६९८
७२५ महात्मामौका विचार	६८३	जीवके आत्मनः छद्म रक्षणकोमें निर्गुणता	६९८
७२६ मातृगुरु और अन्तरात्मा	६८३	अविज्ञान और अनन्तरात्मा	६९९
७२७ ' मातृमार्गप्रकाश '	६८३-४	बनार । शान्ति नामक	६९९
७२८ अन्तरात्मा अविज्ञान	६८४	मध्यकालके लक्षण	६९९
७२९ अनुपुष्टि नमस्कार	६८४	कर्मरहित	७

पन्नांक	पृष्ठ	पन्नांक	पृष्ठ
७९७ इत्यानुयोगी प्राप्ति	७४	७८३३ (२) स्वरूपयोग	७५७
७९८ भव-स्वरूपमयते पर शोभो	७४१	८१४ भवगान्ध	७५७
७९९ स्वप्न उपकारके महान् कार्यकी कर छे	७४१	८१५ "बहने पैतृग्य की इत्य तो स्वप्न भिन्न"	७५७
८ शान्तिबोध लक्षण	७४२	८१६ महाभाषिका टीका	७५८
८ १ शास्त्र अर्थान् शास्त्राणुकारके बचन	७४२	८१७ मुनिबोधो भरणोपपत्त्या	७५९
८ २ आत्मविवेकी दुर्लभता	७४२	८१८ "कन्व ते मुनिवरा ये शान्ते समभावे"	७५९
८ ३ अणु और संक्षेप	७४३	८१९ अलगावकी मुख्यता	७५९-६
८ ४ मेरुमात्रके विषयमें	७४३	उपयोग आधिक्य आदि भव	७६१
८ ५ 'तत्त्वमसि' के तत्त्वमसि वाक्यादे	७४४	८६ 'अनुपमसि' हैं हगले भिन्न हैं	७६२
८ ६ हेमन्त आचार्य और आनन्दधन	७४५	८४१ भगवद्गीतामें पूर्वोक्तविषय	७६२
८ ७ क्या मरतवर्गकी अनेकप्रति केनयमेले हुई हैं	७४६	८४२ वर्तमान कालमें अक्षयमेकी वृद्धि	७६२
८ ८ ज्योतिषका कल्पितमा	७४७	८४३ यथायथ ब्रह्मरूप	७६२
८ ९ शीतलगा कर्मार्थकी उपपत्त्या	७४७	८४४ प्रत्यक्ष	७६३
८१ स्वप्नपूर्वक रहना	७४७	परमपुरुषका समागम	७६४
८११ 'कालिकानुपमसि'	७४८	८४५ मोक्षमात्रके लक्षणमें	७६४
८१२ स्वप्न	७४८	८४६ आर्य पुरुषोंके कन्व हैं	७६५
८१३ 'किञ्चिदपि'	७४८	८४७ भिन्नभूमिमें मुमुक्षुओंका धर्म	७६५
८१४ 'हृदय' किसे कहते हैं	७४८	आत्माधीका कर्तव्य	७६५
८१५ 'मंत्र' क्या और क्या नहीं	७४८	८४८ आर्य विमुक्तका वैदिकधर्म	७६६
८१६ अहो ! अणुकारके बचनानुसार	७४९	८४९ मुक्तिकी लक्ष्य प्रतीति	७६६
८१७ 'कैतो काष्ठ' के किन्नर धर्म' रघो	७४९	८५ अक्षय	७६६
८१८ अन्न	७४९	८५१ शरीर प्रकृति स्वरूपस्वरूप	७६७
८१९ स्वप्नकीलक्षण	७४९	८५२ उपपत्ति मुख्य बलपूर्व	७६७
८२ विवादी	७४९	८५३ अक्षयों आक्षय	७६७
८२१ उपदेश कार्यकी महत्ता	७५	८५४ पञ्चमि अक्षय अक्षय	७६८
८२२ विना नयन पदे नहीं	७५	८५५ परमधर्म	७६८
८२३ परम पुरुषकी मुख्य भूमि	७५	५६ "प्रामाण्यनिमित्तं दृष्टिमुख्यं प्रवर्त"	७६९
८२४ पञ्चमि शास्त्र	७५१	८५ आत्मधर्म	७६९
८२५ धर्म मुमुक्षुताकी दुर्लभता	७५१	८५६ शरीरमें लक्षण आत्मनोका उदय	७७
८२६ लक्षणावस्था	७५१	८५७ नमो बुद्धात्मनि विवेकिना निवर्तित	७७
८२७ अणुधर्मका	७५२	८६ ज्ञानीकी प्रधान भाषा	७७१
८२८ परमाधि अनुशासन	७५२	८६१ योगशास्त्र	७७१
८२ प्रकृति व्यवहारमें स्वप्नप्रतिष्ठाकी कठिना	७५३	८६२ पूर्वगत आध्यात्म	७७१
८३ परम प्रकृति व्यवहार	७५४	८६३ व्याख्यानसार और प्रवक्तृमाधान—	७७२-७९९
८३१ प्रकृति मयमें प्रवृत्ति	७५४	रीतिधीनकर	७७२
३३ की धर्म		वेदव्यवस्था	७७३
८३२ शास्त्र गुणधर्म परमधर्म अधिक	७५५	प्रदेशाध्य और विद्यारण्य	७७३
८३३ (१) ६ मुनि	७५५	आध्यात्म	७७३-४
८३३ (२) परमगुणधर्म आर्य	७५६	अन्न और धर्म	७७४-५
८३३ शीतलगाधर्म-संक्षेप	७५६		

पत्रांक	पृष्ठ	पत्रांक	पृष्ठ
दैन दम्बरा वर्ग	७७५	विश्वक कपड वर्ग बारिके विपरीत	७९६
दैनदम्बरा आधन	७७५	उपार्थमें उपार्थ उपार्थमें उपार्थ-अधिवर्धन	
इन्दी और केव	७७५	इन्दी	७९७
पुरुषार्थी दैन्या	७७६	८६४ मोक्षमार्गके प्रकाशको भगवती लक्ष्मणा	९८-९
दीर्घके मेर	७७६-७	१४ वीं वर्ग	
आतिरक्तधन	७७८	८६५ पुष्पकण्ठ	८
महामयी निरुद्धि प्रमाण	७७८	८६६ रातपुष्पक	८
मातृधर्म	७७८-९	९७ 'देवामयनामैवान	८
पराधर्मप्रमाणके कर्त्ताका मार्गमुद्रादिना	७९	८६७ मन्त्रेका अविष्कार	८९
विनम्रता	७८	८६९ अविष्कारकी सीमा	८९
मामकीमायचना	७८	८७ बहुराजके प्रभाव	८९
मोक्षमार्ग	७८१	८९ रातमें आधुनिक कर्म	८९
बोधोपदेशकी लक्षण अक्षर	७८१	८९ वेदमीमांसा केवल कर्त्तव्ये हर्ष शोक नहीं	८९
केवला	७८१	८९ अंतिम लक्ष्य (कविता)	८९-९
वैद्य	७८३	परिशिष्ट (१)	
देवतामण्डल	७८४	श्रीमद् राजवन्ध में आने हुए प्रेम प्रकाश	
आदि के कर्म	७८५	आदि विशिष्ट लक्ष्योंके लक्षित परिचय	८९ ८५
लभिरक्तकी और विनम्रता	७८६	परिशिष्ट (२)	
उत्तम परमिकक आदि राज	७८७	श्रीमद् राजवन्ध में आने हुए उपार्थकी	
परमलक्षणा	८८	वर्णमुद्रादिना	८४१ ८५४
केवलाके विपरीत विगम		परिशिष्ट (३)	
स्वेच्छाक्रममें मन्त्र	७८	श्रीमद् राजवन्ध के विशिष्ट लक्ष्योंकी	
ल्लेखना	८९	वर्णमुद्रादिना	८५५ ८६
परिभाषादीति	७८९	परिशिष्ट (४)	
सीमा क्रमेण दैन प्रकाश	९	श्रीमद् राजवन्ध में आने हुए प्रेम	
मामोर्मयमुद्रिका	९	और प्रकाशकी वर्णमुद्रादिना	८६१ ८६५
लभिरक्त आकाश	७९१	परिशिष्ट (५)	
दैनदम्बरी लक्ष्मणा	९१-९	श्रीमद् राजवन्ध में आने हुए लक्ष्मणोंके	
एक लक्षमें भिन्नी प्रकाशको वर्ग	९१-९	नामोंकी सूची	८६५
आधुना वर्ग	७९१	परिशिष्ट (६)	
उत्तमपुत्र केवलाके आदि		आत्मनिष्ठिक पत्रोंकी वर्णमुद्रादिना	८६६-८६७
लक्ष्मीका वर्ग	७९४-५	लक्ष्मीका और प्रकाश	८६८-८७४



• प्रस्तावना

श्रीमद् राजचन्द्रके पत्रों और लेखोंकी इस आधिकारी प्रस्तावना लिखनेके लिये मुझे औरेंवाचकर जगजीवनने जिन्हें मैं अपने वही महर्षिके समान समझता हूँ, कहा, जिसके लिये मैं इन्कार न कर सका। श्रीमद् राजचन्द्रके लेखोंकी प्रस्तावनामें क्या लिखूँ, यह विचार करते हुए मैंने सोचा कि मैंने जो उनके संस्मरणोंके जोषेसे प्रकरण यरबदा जेठमें लिखे हैं, यदि उन्हें हूँ तो दो काम सिद्ध होंगे। एक तो यह कि जो प्रयास मैंने जेठमें किया है वह अच्छा होनेपर भी केवल धर्मवृत्तिसे लिखा गया है, इसलिये उसका मेरे जैसे मनुष्यको काम होगा; और दूसरा यह है कि जिन्हें श्रीमद्का परिचय नहीं उन्हें उनका कुछ परिचय मिलेगा और उससे उनके बहुतसे लेखोंके समझनेमें मदद मिलेगी।

नीचेके प्रकरण अच्छे हैं, और मैं नहीं समझता कि मैं उन्हें पूर्ण कर सकूँगा। क्योंकि जो मैंने लिखा है, अवकाश मिलनेपर भी उससे आगे बहुत जानेकी मेरी इच्छा नहीं होती। इस कारण अपूर्ण अन्तिम प्रकरणको पूर्ण करके उसमें ही कुछ बातोंका समावेश कर देना चाहता हूँ।

इन प्रकरणोंमें एक विषयका विचार नहीं हुआ। उसे पाठकोंके समक्ष रख देना उचित समझता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि श्रीमद् पक्षीसर्वे तीर्थंकर हो गये हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। मैं समझता हूँ कि ये दोनों ही मान्य ठायें अयोम्य हैं। इन बातोंको माननेवाले या तो श्रीमद्को ही नहीं पहचानते, अपना तीर्थंकर या मुक्त पुरुषको वे व्याख्या ही दूसरी करते हैं। अपने विषयके लिये भी हम स्वयंकी हल्का अपवा सस्ता नहीं कर देते हैं। मोक्ष अप्रप्य वस्तु है। मोक्ष अहमाकी अंतिम स्थिति है। मोक्ष बहुत महंगी वस्तु है। उसे प्राप्त करनेमें, मितना प्रयत्न समुद्रके किनारे बैठकर एक साँक सेकर उसके ऊपर एक एक बूँद चढ़ा चढ़ाकर समुद्रको खाडी करनेवालेको करना पड़ता है और भीरव रखना पड़ता है, उससे भी विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस मोक्षका संपूर्ण वर्णन असम्भव है। तीर्थंकरको मोक्षके पहुँचकी विमूर्तियों सहज ही प्राप्त होता है। इस देहमें मुक्त पुरुषको रोगादि कभी भी नहीं होते। निर्विकारी शरीरमें रोग नहीं होता। रोगके बिना रोग नहीं होता। जहाँ विकार है वहाँ

• यह प्रस्तावना महात्मा गांधीने परमहंसप्रभावकमण्डलपत्र संख्या १९८९ में प्रकाशित श्रीमद् राजचन्द्रकी द्वितीय आधिकारिक लिखे गुणवर्तीमें मिली थी। यह कभीका अनुवाद है।—अनुवादक।

रग रहता ही है। और वहाँ रग है नहीं मोक्ष संभव नहीं। मुक्त पुरुषके योग्य वीरगताता या तीर्थंकरकी विभूतियों श्रीमद्को प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु सामान्य मनुष्योंकी अनेक श्रमिद्की वीरगताता और विभूतियाँ बहुत अधिक थी, इसलिये हम उन्हें औक्तिक भावमें वीरगता और विभूतिमान कहते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषके लिये मानी हुई वीरगताता और तीर्थंकरकी विभूतियोंको श्रीमद् न पहुँच सके थे, यह मेरा एक मत है। यह कुछ से एक मजान् और पूज्य व्यक्तिके योग्य बनानेके लिये नहीं स्थिता। परन्तु उन्हें और स्वयंको न्याय देनेके लिये स्थिता हैं। यदि हम संसारी जीव हैं तो श्रीमद् अस्तस्य ये। हमें यदि अनेक योनियोंमें भटकता परेगा तो श्रीमद्को शान्द एक ही जन्म बस जाएगा। हम शायद मोक्षसे दूर भागते होंगे तो श्रीमद् बापुवेगसे मोक्षकी ओर भँस जा रहे। यह कुछ थोड़ा पुरुषार्थ नहीं। यह होनेपर भी मुझे कहना होगा कि श्रीमद्ने जिस अपूर्व परका स्वयं धुनर वर्णन किया है, उसे वे प्राप्त न कर सके थे। उन्होंने ॥ स्वयं कहा है कि उनके प्रवासमें उन्हें सुखाराका मस्तक ब्रीचमें आ गया और उसका पत्र करवावाकी रह गया। परन्तु श्रीमद् राजन्म असाधारण व्यक्ति थे। उनके चेहरे उनके अनुमनके निकुटे समान हैं। उनके पहनेवाले, बिचारनेवाले और चरनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुख्य होगा, उनके कपासों में मद पड़ेगी, और वे देहका मोक्ष लम्बे कर आत्माची करेंगे।

इसके ऊपरसे पाठक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिये ही योग्य हैं। सब पाठक तो उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा। परन्तु मन्त्राचल तो वसन्तसे रस ही करेगा। उनके लेखोंमें सत्य निहित रहा है, यह मुझे हमेशा मात हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान बतानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। केवलका अमिप्राप पाठकोंको अपने आत्ममार्गमें सहयोगी बनानेका था। जिसे अहमकेश दूर करना है, जो अपना कर्तव्य जाननेके लिये उत्सुक है, उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत कुछ मिलेगा, ऐसा मुझे विश्वास है, फिर मझे ही कोई शिष्यधर्मका अनुयायी हो या अन्य किसी दूसरे धर्मका।

ऐसे अधिकारीके, उनके बोधसे सुसम्पन्नकी तैयार की हुई सूची उपयोगी होगी, इस आशासे उन संसारकोंके इस प्रस्तावनामें स्थान देता हूँ।

रायचन्द माईके कुछ संस्मरण

प्रकरण पहला

प्रास्ताविक

मैं जिनके पवित्र संस्मरण लिखना आरम्भ करता हूँ, उन स्वर्गीय श्रीमद् राजचन्द्रकी आब जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा (सन् १९७९) को उनका जन्म हुआ था। मैं कुछ यहाँ श्रीमद् राजचन्द्रका जीवनचरित्र नहीं लिख रहा हूँ। यह कार्य श्री शक्तिके बाहर है। मेरे पास सामग्री भी नहीं। उनका यदि मुझे जीवनचरित्र लिखना हो तो मुझे चाहिये कि मैं उनकी जन्मभूमि बबानीआ बहरमें कुछ समय बिताऊँ, उनके रहनेका मकान देखूँ, उनके खेहने कूदनेके स्थान देखूँ, उनके बाछ-मिशोंसे मिलूँ, उनकी पाठशाळामें जाऊँ, उनके मित्रों, अनुयायियों और सग सबधियोंसे मिलूँ, और उनसे जानने योग्य बातें जान कर ही फिर कहीं लिखना आरम्भ करूँ। परन्तु इनमेंसे मुझे किसी भी बातका परिचय नहीं।

इतना ही नहीं, मुझे संस्मरण लिखनेकी अपनी शक्ति और योग्यताके विषयमें भी शका है। मुझे यान है मैंने कई बार ये विचार प्रकट किये हैं कि अपकाश मिलनेपर उनके संस्मरण लिखूँगा। एक दिव्यने जिनके डिये मुझे बहुत मान है, ये विचार सुने और मुख्यरूपसे यहाँ उनकी सतोपके डिये यह लिखा है। श्रीमद् राजचन्द्रकी मैं 'रायचंद माई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मानपूर्वक संबोधन करता था। उनके संस्मरण लिखकर उनका रहस्य मुमुक्षुओंके समझ रखना मुझे अच्छा लगता है। इस समय तो मेरा प्रयास केवल मित्रके सतोपके डिये है। उनके संस्मरणोंपर स्थाप्य देनेके लिये मुझे भेनमार्गका अच्छा परिचय होना चाहिये, मैं स्वीकार करता हूँ कि वह मुझे नहीं है। इसलिये मैं अपना छटि-किन्दु अप्रयत्न संकुचित रखूँगा। उनके जिन संस्मरणोंकी मेरे जीवनपर छाप पड़ी है, उनके मोक्ष, और उनसे जो मुझे शिक्षा मिली है, इस समय उसे ही लिखकर मैं सतोप मानूँगा। मुझे आशा है कि उनसे जो काम मुझे मिला है वह यानैसा ही काम उन संस्मरणोंके पाठक मुमुक्षुओंको भी मिलेगा।

'मुमुक्षु' शब्दका मैंने यहाँ ज्ञान ब्रूतकर प्रयोग किया है। सब प्रकारके पाठकोंके लिये यह प्रयास नहीं।

मेरे ऊपर तीन पुस्तकें गहरी छाप डाली है—अन्सट्रॉप, रकिन और रायचंद माई। अन्सट्रॉपने अपनी पुस्तकोंद्वारा और उनके साथ पाँके पत्रपरबहारसे; रकिनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्सट्रॉप' से जिसका गुजराली नाम मैंने 'सर्वोन्म' रखा है और रायचन्द्र माईने अपने साथ गाइ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचंद माई थे। सन् १८९३ में दधिय

आधिकारों में कुछ क्रिश्चियन सभ्योंके विशेष सर्वश्रेष्ठ आया। उनका धीरम स्वच्छ था। वे पुनः धर्मरत्ना थे। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिये समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका संघम व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था तो भी उन्होंने मेरी आत्माके अन्तर्गतके लिये चिन्ता करना शुरू कर दिया। उस समय में अपना एक ही कर्तव्य समझ सका कि जबतक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी सीरसे न जानूँ और उससे मेरी आत्माको अस्तोष न हो जाय, जबतक मुझे अपना कुछधर्म कभी न छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दी। क्रिश्चियन और मुसलमानों की पुस्तकें पढ़ीं। विद्यापत्तके अन्तर्गत मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया। उनके समस्त अपनी शंकाएँ रखीं। तथा बिहारीयनमें शिवाङ्क ऊपर मुझे कुछ भी धक्का दी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचंद भार्गव मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा संबंध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था इसलिये उनसे जो फिज सके उसे केनेका मैंने निवार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शक्ति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह निक सकता है, ऐसा मनको निश्चास हुआ। मेरी इस स्थितिके अवसरपर रायचंद भार्गव हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितावा अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक लोग कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होनेपर भी मैंने उन्हें धर्मगुरु नहीं माना। धर्मगुरुकी तो मैं खोज किया ही करता हूँ, और जबतक मुझे उनके नियमों पढ़ी नजान सिका है कि 'वे नहीं'। ऐसा संपूर्ण गुरु प्राप्त करनेके लिये तो अधिकार चाहिये, वह मैं चाहसि पाउँ !

प्रकरण दूसरा

रायचन्द भार्गव साथ मेरी भेंट जोरखर्च सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विद्यापत्तके कर्म में नियुक्त आया। इन दिनों समुद्रमें एकान आया करता है, इस कारण व्याज पत्तको देखेसे पहुँचा। मैं डाक्टर-बैरिटर-और अन्य एंग्लोके प्रख्यात सबेरी प्रान्त-जोवनदास मेहताके घर ठहरा था। रायचन्द भार्गव उनके बड़े भार्गव के होते थे। डाक्टर साहबने ही परिचय करवाया। उनके दूसरे बड़े भाई सबेरी रेवास्कर जगदीश्वरदासकी पहिचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर साहबने रायचन्द भार्गव 'कवि कालकर परिचय करवा और कहा—' कवि होते हुए भी जगद्वारा साथ व्यापारमें हैं, आप जानी और जानानी हैं '। किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ सन्दर्भ सुनाऊँ, और वे सन्दर्भ जाहे ही भी मापाके हों, जिस क्रमसे मैं कोईया उसी क्रमसे वे बहुरा जावेंगे। मुझे यह फल आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय पणाल और विद्यापत्तके बैठता था, मुझे मापा-गच्छ भी अनिमान था। मुझे विद्यापत्तकी हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विद्या-पत्त आया पणो आकाससे उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उकड़ दिया, और अपना जग मापाजोंके सन्दर्भ पहले तो मैंने किन्हीं लिये—क्योंकि मुझे वह क्रम कहीं पाद होनासक था। और बादमें उन सन्दर्भोंमें मैं नीच गया। उसी क्रमसे रायचन्द भार्गव धीरेसे

एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण शक्तिके विषयमें मेरा ठोस विचार हुआ। विद्यापतकी हवा कम पढ़नेके छिये यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।

कविको अंग्रेजी ज्ञान विस्तृत न था। उस समय उनकी उमर पचीससे अधिक न थी। गुजराती पाठशाळामें भी उन्होंने पढ़ा ही सम्पास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आसपाससे इतना उनकी मान ! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरणशक्ति पाठ शाळामें नहीं विकती, और ज्ञान भी पाठशाळाके बाहर, यदि इच्छा हो—विज्ञाता हो—तो मिळता है, तथा मान पानेके छिये विद्यापत अपना कहीं भी नहीं जाना पड़ता; परन्तु गुणको मान चाहिये तो मिळता है—यह परार्थपाठ मुझे बर्षों उतरते ही मिला।

कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा। स्मरणशक्ति बहुत जोगोंकी तीव्र होती है, इसमें आश्चर्यकी कुछ बात नहीं। शास्त्रज्ञान भी बहुतोंमें पाया जाता है। परन्तु यदि वे लोग संस्कारी न हों तो उनके पास कूटी कौशी भी नहीं मिळती। जहाँ संस्कार अच्छे होते हैं, वही स्मरणशक्ति और शास्त्रज्ञानका संभव शोभित होता है, और जगत्को धामित करता है। कवि संस्कारी जानी थे।

प्रकरण तीसरा

वैराग्य

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवसो, क्यारे पर्युष्ट बाधान्तर निर्मय जा

सर्व संवधनु बचन तीरुण छेदीने, विचारनु कर महत्पुरुषने पंपयो ?

सर्व माकधी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते उपमोक्षेण होय जो,

अन्य कारणे अन्य कर्तुं कल्पे नहि, दहे पण किंचित् मूर्छी मग जोय जो—अपूर्व०

रायचन्द भार्गवकी १८ वर्षकी उमरके निकळे हुए अपूर्व सद्भावोंकी ये पहली दो कड़ियाँ हैं।

जो वैराग्य इन कड़ियोंमें छिड़क रहा है, वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयसे प्रत्येक क्षणमें उनके देखा है। उनके केशोंकी एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी हनिमता नहीं। दूसरेके ऊपर छाप डाढ़नेके छिये उन्होंने एक काइन भी लिखी हो यह मैंने नहीं देखा। उनके पास इदेसा कोई न कोई धर्मपुस्तक और एक कीरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापीमें वे अपने मनमें जो विचार जाते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गधमें आर कभी पधमें होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होगा चाहिये।

काते, बैठते, साते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हें इस जगत्के किसी भी वैभवपर मोह हुआ हो यह मैंने नहीं देखा।

उनका रहन-सहन मैं आरम्भपूर्वक परन्तु सूक्ष्मतासे देखना था। मोहनमें जो दिखे वे उसीसे संतुष्ट रहते थे। उनकी पाशाक सागी थी। चुर्चु, अंगरक्का, सेस सिफ्फका गुप्ता और धोन्नी पड़ी उनकी पाशाक थी। तथा ये भी कुछ बहुत सारू या इस्ती किये हुए

रहते हों, यह मुझे पार नहीं। जमीनपर बैठना और कुनसीपर बैठना उन्हें दोनों ही समान थे। सामान्य रीतिसे अपनी दुकानमें वे गद्दीपर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वे अपने विचारमें मग्न हैं। आँखोंमें उनकी चमकदार था। वे अत्यंत रोचक थीं। विद्वत्ता जरा भी न थी। आँखोंमें एकप्रकार का चित्र था। बेहतर गोलाकार, बड़े पतले, नाक में मोहरार और न चपटी, दाँत बुरे, कंठ मध्यम, गर्ण श्याम, और देखनेमें वे शांत मूर्ति थे। उनके कंठमें इतना अधिक गायुर्ध्व था कि उन्हें सुननेवाले पहले न थे। उनका बेहतर हैसियत और प्रशिक्षित था। उसके ऊपर अतृप्तनेत्र की छाया थी। माना उनका इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करते समय कभी कोई शब्द ईज्जत पड़ा हो, यह मुझे पार नहीं। पर जिन्होंने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हें देखा होगा। फिर भी पहलेवाले को यह न मालूम होता था कि कहीं विचार अपूर्ण है, अपना वाक्य-रचना सुटित है, अपना धर्मोक्त जुलावे कभी है।

यह कर्मज संस्मृति विषयों समझ है। बाल्यावस्था में प्रमुख वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागीता वाक्पात्री प्रसूती है। यह अनेक जर्मोंके प्रयत्नसे सिद्ध सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। उगोंके मिश्रणसे प्रयत्न करनेवाला जानता है कि वह स्थित होना किन्ना कठिन है। यह राग स्थित दसा कवि की स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम सीढ़ी वीतरागीता है। जबतक जगतकी एक भी वस्तुमें मन रमा है तबतक मोक्षकी बात कैसे अच्छी लग सकती है। अपना अच्छी लगती भी हो तो केवल काबोंके ही—ठीक बैठे ही बैठे कि हमें अर्धे समयसे बिना किसी संगीतज्ञ केवल तर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णत्रिप ज्ञानसे मोक्षका अनुसंधान करनेवाले आचारमण्डल ज्ञानमें बहुत समय बीत जाता है। अंतर वैराग्यके दिना मोक्षकी कमान नहीं होती। ऐसे वैराग्यकी कमान कसिमें थी।

प्रकरण चौथा

व्यापारी जीवन

॥ वनिक रोहनु नाम जेह नुरुं नम बोले वनिक रोहनु नाम, लोक ओहनु नम रोले,
वनिक रोहनु नाम बोले बोहनु ते पाले वनिक रोहनु नाम व्यावहारिक धन वाले,
विशेष लोक ए वनिकनु सुखताम लोक ए शास्त्र छे,
बैपार बूके ओ बाणीओ, हुअ छे व्यावहारिक पाब छे । ”

—सामन्तभट्ट

वनिक जले करते हैं की कभी हार नहीं कोणा; वनिक जले करते हैं की कम नहीं कोणा; वनिक का नाम है की जन्मे विद्याधर वनिक निभता है। वनिक जलका नाम है जो व्यावहारिक मूल्यवान् है। वनिककी लोक विशेष है। लोक सुखतामकी लोकता होता है। वनिक वनिक जन्मे वनिककी बूके । वे वैराग्यकी निमित्त का जन्म ।

—अनुपम

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनों अलग अलग विरोधी वस्तुएँ हैं। व्यापारमें धर्मको भुसेड़ना पागलपन है। ऐसा करनेसे दोनों बिगड़ जाते हैं। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्यमें केवल निराशा ही लिखी है, क्योंकि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं जिससे हम धर्मको अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें सहकनता हो चाहिये, यह रायचंद भाईने अपने जीवनमें बताया था। धर्म कुछ एकदशाके दिन ही, पर्युषणमें ही, ईदके दिन ही, या रविवारके दिन ही पाळना चाहिये, अथवा उसका पाळन मंदिरमें, देरासरोमें, और मस्जिदोंमें ही होता है और इकान या दरबारमें नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परन्तु यह कहना धर्मको न समझनेके बराबर है, यह रायचंद भाई कहते, मानते और अपने आचारमें बताते थे।

उनका व्यापार हीरे जवाहरातका था। वे धीरे-धीरे जगदीशन सरेरीके साक्षी थे। साथमें वे कपड़ेकी दुकान भी चलाते थे। अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रकाशसे वे प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप बाकी थी। वे जब सोचा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। 'चाकाकी' सरीखी कोई वस्तु उनमें मैं न देखता था। इसीकी चाकाकी वे तरत ताइ जाते थे; वह उन्हें अस्वस्थ मान्द होती थी। ऐसे समय उनकी अनुष्टुति भी चढ़ जाती, और आँखोंमें छल्लो आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्मकुशाळ लोग व्यवहारकुशल नहीं होते, इस बहमको रायचंद भाईने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी और होशियायी बताते थे। हीरे जवाहरातकी परीक्षा वे बहुत बारीकीसे कर सकते थे। यद्यपि अभिनीक ज्ञान उन्हें न था फिर भी वेरिस बगेरूके अपने आशुतियोंकी चिह्नियों और तारोंके धर्मको वे कौरन समझ जाते थे, और उनकी कला समझनेमें उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकशः सचे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियायी होनेपर भी वे व्यापारकी उद्विग्नता अथवा चिन्ता न रखते थे। दुकानमें बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता, तो उनके पास पक्षी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वे अपने उद्गार लिखते थे, सुख जाती थी। मेरे जैसे विद्वान् तो उनके पास रोख जाते ही रहते थे और उनके साथ धर्म-वार्त्ता करनेमें शिचकते न थे। 'व्यापारके समयमें व्यापार और धर्मके समयमें धर्म' अर्थात् एक समयमें एक ही काम होना चाहिये, इस सामान्य लोगोके सुन्दर नियमका कबि पाळन न करते थे। न सावधानी होकर इसका पाळन न करें तो यह हो सकता है, परन्तु यदि और लोग उसका उल्लंघन करने लगे तो जैसे हो थोडोपर सबाध करनेबाधा गिरता है, वैसे ही वे भी अवश्य गिरते। सम्पूर्ण धार्मिक और नीतगामी पुरुष भी जिस क्रियाको जिस समय करता हो, उसमें ही डीन हो जाय, यह योग्य है; इतना ही नहीं परन्तु उसे यही सोचा देता है। यह उसके योगकी निशानी है। इसमें धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरहकी जो कोई

कर्म किया करना हो तो उसमें भी पूर्ण एकप्रयत्ना होनी ही चाहिये। अंतरंगमें आत्म-चिन्तन तो मुमुक्षुमें उसके स्वासुखी तरह सतत चलना ही चाहिये। उससे वह एक क्षणपर भी अक्षित नहीं रहता। परन्तु इस तरह आत्मचिन्तन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमें ही सम्मिल रहता है।

यै वह नहीं कहना चाहता कि कबि ऐसा न करते थे। ऊपर मैं कह चुका हूँ कि अपने व्यासार्थ में पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होनेपर भी मेरे ऊपर ऐसी क्षण बहुर पड़ी है कि कबिने अपने शरीरसे आश्चर्यकृतसे अधिक काम किया है। यह भोगको अपूर्णता तो नहीं हो सकती। यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीरतक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परन्तु अकस्मिन् अधिक बोझ उठाकर उसे कर्तव्य समझना यह रत्ना है। ऐसा अर्थन सूत्र रत्ना कबिमें था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

बहुत बार परमार्थछिसे मनुष्य अकस्मिन् अधिक काम करता है और बादमें उसे पूरा करनेमें उसे कष्ट लगना पड़ता है। इसे हम गुण समझते हैं और इसकी प्रशंसा करते हैं। परन्तु परमार्थ अर्थात् धर्मछिसे देखनेसे इस तरह किये हुए काममें सूक्ष्म मूर्च्छाका होना बहुत संभव है।

यदि हम इस जगतमें केवल निमित्तमात्र ही हैं, यदि वह शरीर हमें माफ़े मिला है, और उस मार्गसे हमें तुरंत मोक्ष-साधन करना चाहिये, यही परम कर्तव्य है, तो इस मार्गमें जो विघ्न आते हैं उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिये; यही पारमार्थिक छि है दूसरी नहीं।

जो दर्शनमें मैंने ऊपर दी है, उन्हें ही किसी दूसरे प्रकारसे समझें उन्हें अपनी साम्प्रदायिक भाषा में मुझे सुना गये थे। ऐसा होनेपर भी उन्होंने ऐसी किसी उपायियों उद्यम कि जिसके फलस्वरूप उन्हें सज्जन बीमारी भोगनी पड़ी।

उपचर भर्त्सने भी परोपकारके कारण मोहने क्षणभरके किये बेर किया था, यदि मेरी यह मन्त्राल टूट हो तो 'प्रकृति पति भूतानि निम्नः कि करिष्यति' यह स्मरण यहाँ टूट देना है। और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक वर्णन करनेके किये उपयुक्त दृश्य-वचनका उपयोग करते हैं, परन्तु वह तो सर्वथा इच्छायोग है। उपचर भर्त्सनी प्रकृति उन्हें बचकर गहरे पागलमें ले गई। ऐसे कार्यकी दोषरूपसे भी क्षामग सम्पूर्ण अज्ञानमें ही माला जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परोक्षी कार्यके पीछे अल्प पागल बन जाते हैं, सभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते हैं। इस निषयको इतना ही शिष्टकर समझ करते हैं।

यह भी मन्त्राला देनी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने मोहने होने हैं कि उन्हें व कार्य टा सकता है। उन्हें दुनियाकी बातोंकी कुछ भी खबर नहीं पड़ती। यदि यह ज टूट हो तो इच्छाकर और समझकर दोनों अक्षारोंकी केवल संसारी मनुष्योंमें ही माला चाहिये। कबि कहते थे कि जिसने कुछ ज्ञान है उसका टाग जाना असंभव होगा। यदि वे। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिबान् होनेपर भी कदाचित् इसी न हो। परन्तु मोहने के ये भीति और अनुभवज्ञानका सुसंगम होना चाहिये। जिसे अनुभवज्ञान हो गया है, उसके पास

पास निम ही नहीं सकता। सत्यके पास असत्य नहीं निम सकता। अहिंसाके सान्निध्यमें हिंसा बर्द हो जाती है। जहाँ सरलता प्रकाशित होती है वहाँ छद्मरूपी अपकार नष्ट हो जाता है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटीको देखे तो उसे फौरन पहिचान लेता है, और उसका हृदय दयासे आर्द्र हो जाता है। जिसने आत्माको प्राप्यक्ष देख लिया है, वह दूसरेको पहिचाने बिना कैसे रह सकता है ! कविके सर्बधर्मे यह नियम हमेशा ठीक पड़ता था, यह मैं नहीं कह सकता। कोई कोई धर्मके नामपर उन्हें ठग भी छते थे। ऐसे उद्वेगकरण नियमकी अपूर्णता सिद्ध नहीं करते, परन्तु ये छुद्र ज्ञानकी ही दुर्बलता सिद्ध करते हैं।

इस तरहके अपवाद होते हुए भी व्यवहारकुशलता और धर्मपरवर्णताका सुन्दर मेल जिसना मैंने कविमें देखा है उतना किसी दूसरेमें देखनेमें नहीं आया।

प्रकरण पाँचवाँ

धर्म

रायचन्द भार्गव धर्मका विचार करनेसे पहिले यह जानना आवश्यक है कि धर्मका उन्होंने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्मका अर्थ मत-मतांतर नहीं। धर्मका अर्थ शास्त्रोंके नामसे कही जानेवाली पुस्त-कोका पत्र जाना, कंठस्थ कर लेना, अपवादनोंमें जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नहीं है।

धर्म आत्माका गुण है और वह मनुष्य जातिमें छद्म अपवा अक्षयकर्मसे मौनद्ध है। धर्मसे हम मनुष्य-जीवनका कर्तव्य समझ सकते हैं। धर्मद्वारा हम दूसरे जीवोंकी साप अपना सच्चा संबंध पहचान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान लें, तबतक यह सब कमी भी नहीं हो सकता। इसलिये धर्म वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने आपको स्वयं पहिचान सकते हैं।

यह साधन हमें जहाँ कहीं मिले, वहीसे प्राप्त करना चाहिये। फिर मछे ही वह भारतवर्षमें मिले चाहे यूरोपसे आये या अरबस्तानसे आये। इन साधनोंका सामान्य स्वरूप समस्त धर्मशास्त्रोंमें एक ही सा है। इस बातको वह कह सकता है जिसने मिस मिस शास्त्रोंका अध्ययन किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं कहता कि असत्य बोलना चाहिये, अपवा असत्य आचरण करना चाहिये। हिंसा करना किसी भी शास्त्रमें नहीं बताया। समस्त शास्त्रोंका दोहल करते हुए शकटाचार्यने कहा है।—‘ब्रह्म सत्यं जगमिष्या’। उसी बातको कुपल शरीरमें दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और नहीं है, उसके बिना और दूसरा कुछ नहीं। बाइबिलमें कहा है कि मैं और मेरा पिता एक ही हूँ। ये सब एक ही वस्तुके रूपांतर हैं। परन्तु इस एक ही सत्यके स्पष्ट कारणोंमें अपूर्ण मनुष्योंने अपने मिस मिस दृष्टि-किन्दुओंको काममें लाकर हमारे किये मोहजाक रच दिया है; उसमेंसे हमें बाहर निक-कना है। हम अपूर्ण हैं और अपनेमें कम अपूर्णकी मदद लेकर आगे बढ़ते हैं और अन्तमें न जाने अमुक हदतक जाकर ऐसा मान छते हैं कि आग रास्ता ही नहीं है, परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अमुक हदके बाद वाक्य मदद नहीं करते, परन्तु अनुभव मदद करता है। इसलिये रायचन्द भार्गवने कहा है —

ए पद भीतरमें हीठु प्यानमा, कही राक्या नहीं ते पद भीमगर्भत जो
एह परमप्राप्तिनु कर्षु प्यान में, तारावर पण हास मनोरथ कम जो—

इतिथिमें वन्तमें तो आश्रमाको मोक्ष देनेवाली आश्रमा ही है।

इस कुछ उपपन्न विरूपण उपपन्न मार्गने अनेक प्रकारसे अपने छेदोंमें किया है। उपपन्न मर्त्य बहुतसे वर्गपुस्तकोंका अन्धा अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत और मागधी भाषाके समझनेमें बड़ा भी मुश्किल था पड़ती थी। उन्होंने वैदिकका अभ्यास किया था, इसी प्रकार मागधी और गीताबीका भी उन्होंने अभ्यास किया था। जैन पुस्तकों को बिलकुल भी उनके हाथमें आती, वे बाँच जाते थे। उनके बाँचने और प्रवृत्त करनेकी शक्ति अभाव थी। पुस्तकका एक बारका बाँचन इन पुस्तकोंके रहस्य जाननेके लिए उन्हें फाटी था। भूतल, अद्वैतका आदि पुस्तकों भी वे अनुवादके बरिये पढ़ गये थे।

वे मुझे कहते थे कि उनका उपपन्न जैनधर्मकी ओर था। उनकी मन्त्रता थी कि जिनमायमें आश्रमाकी परकाया है; मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है। इस विषयमें अपना मत देनेके लिये मैं अपनेको विरुद्ध अनधिकारी समझता हूँ।

परन्तु उपपन्न मर्त्य दूसरे वर्गोंके प्रति अनादर न था, बल्कि वेदोंके प्रति पक्षपात भी था। वेदोंकी ओर तो कभी वेदोंकी ही महत्त्व पड़ते थे। मेरी साधन चर्चा करते समय मुझे उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्षप्राप्ति के लिये किसी काष्ठ धर्मका अवलंबन करना चाहिये। मुझे अपना ही आचार विचार पाठोंके लिये उन्होंने कहा। मुझे कौनसी पुस्तकें बाँचनी चाहिये, यह प्रश्न उठनेपर, उन्होंने मेरी हृष्टि और मेरे व्यवहारके सूक्ष्म देखकर मुझे गीताबी बाँचनेके लिये उतेजित किया; और इसी पुस्तकोंमें पञ्चमहात्म्य, मणि-उत्तमसूत्र, योगवासिष्ठका वैष्णव प्रकरण, काम्यरोहण पञ्चा भाग, और अपनी मांखमाका बाँचनेके लिये कहा।

उपपन्न मर्त्य बहुत बार कहा करते थे कि मिला मिला धर्म तो एक उपपन्न धर्म है, और उनमें बहुत विरक्तता है। जिसमें मोक्षप्राप्ति ही उपपन्न मर्त्य लक्ष्य है, उसे अपने मार्गपर किसी भी धर्मका लक्ष्य अनादर नहीं।

× सुतराने लक्ष्य तु रहे, अथ लक्ष्य करिने हरिने कहे—

जैसे अन्धका यह सूत्र था वैसे ही उपपन्न मर्त्यका भी था। धार्मिक लक्ष्योंके वे हमेशा उन्हे रहते थे—उनमें वे शास्त्र ही कभी पड़ते थे। वे समस्त धर्मोंकी अनिर्णीत पूर्ण पक्षसे देखते और उन्हें उग धार्मिकलक्ष्योंके सामने रखते थे। दक्षिण आश्रितके पञ्चमहा-भागों भी मैंने कभी कभी उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह माननेवाला हूँ कि समस्त धर्म उस धर्मके धर्मोंकी दृष्टिसे सम्पूर्ण हैं, और इसीकी दृष्टिसे अपूर्ण हैं। स्वतन्त्रतासे विचार करनेसे सब धर्म पूर्णार्थ हैं। बहुत दूरके दूर सब धर्म अन्धकार में पड़ते हैं। परन्तु यह तो गुणातीतकी अवस्था है। उपपन्न मर्त्यकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो किसीको अपना धर्म छोड़नेका आवश्यकता नहीं। सब अपने अपने धर्मों रहकर अपनी स्वतन्त्रता—मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करनेका धर्म सर्वोपरीत धर्म है पक्षित होना ही है।

योगदास करमचंद गोपी

राजचन्द्र और उनका सक्षिप्त परिचय

राजचन्द्रजीका जन्म संवत् १९२४ (सन् १८९७) कार्तिक सुदी पूर्वमा रविवारके दिन, कटिवावा—मेरवी राज्यके अन्तर्गत वसन्तीमा गौनमे, दशाश्विमासी वैशाखतिमें हुआ था। इनके पिताका नाम स्वामीमार्ह पंथाय और माताका नाम देवबार्ह था। राजचन्द्रके एक मार्ह, चार बहन, दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। मार्हका नाम समस्तलक्ष्म; बहनोंका नाम शिवकुँवरबार्ह, स्वकबार्ह, मेनाबार्ह, और जीनीबार्ह, पुत्रोंका नाम छगनकाज और रतिछगज तथा पुत्रियोंका नाम जवजबार्ह और कपतीबार्ह था। वे सब लोग राजचन्द्रजीकी जीवित अवस्थामें मरे हुए थे। इस समय उनकी केवल एक बहन स्वकबार्ह और एक पुत्री जवजबार्ह मौजूद हैं।

तेरह वर्षकी वयचर्या

राजचन्द्रजीका सत्र वर्षतककी शास्त्रावस्था निम्नलिखित प्रकारसे बीती थी। उक्त दशाका विवरण करते हुए उन्होंने स्वयं अपनी आत्मचर्यामें लिखा है—“उक्त समयका केवल इतना मुझे याद पड़ता है कि मेरी आत्मामें विविध कल्पनाएँ (कल्पनाके स्वप्न अवस्था हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थी। लेखकृष्णमें भी विविध पानेकी और राजकुलेश्वर जैसी ऊँची पक्षी प्राप्त करनेकी मेरी परम कामनाया रहा करती थी। वज्र पहिनेकी स्वच्छ छत्रेकी, जाने पीनेकी छेले बैठनेकी मेरी सभी दशाएँ बिदेही थीं। फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा जब भी मुझे याद आती है। यदि आजका विवेकपूर्ण बाल मुझे उक्त अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिए बहुत अधिक अभिलाषा न रह जाती। ऐसी निरपेक्ष दशा छेलेते वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है।”

राजचन्द्रजीका सत्र वर्षके श्वाग्रद वर्षतकका समय पिछा प्राप्त करनेमें बीता था। उनकी स्मृति इतनी विग्रह थी कि उन्हें एक बार ही पाठका अवलोकन करना पड़ता था। राजचन्द्र अन्ततः करनेमें बहुत प्रमाणी, बात बनानेमें होशियार सिखायी और बहुत जानन्ती पढ़क थे। वे उक्त समयकी अपनी दशाके सम्बन्धमें लिखते हैं—“उक्त समय मुझमें प्रीति और तरक बालम्ब बहुत था। मैं अपने मित्रों पैदा करना चाहता था। तबमें प्रभुमान हो तो ही कुछ है, यह विस्मय मेरे मनमें स्वाभाविकरूपसे रहा करता था। खेलोंमें किसी भी प्रकारका घुड़ारूँका भँडार देखते ही मेरा अंतःकरण ये पड़ता था। उक्त समय कसिप्त बाले करनेकी मुझे बहुत आवस्य थी। अन्ततः मैंने इतनी वीक्षायसे किया था कि जिस आदमीने मुझे पहिली पुस्तक सिखानी छूक की थी उठीकी, मैंने पुस्तकी मध्यार्ध विषय ठीक तरहसे प्राप्तकर, उठी पुस्तकको पढ़ाया था। उक्त समय मैंने कई कल्प-ग्रन्थ पढ़ लिये थे। तथा अनेक प्रकारके छोटे छोटे हथर उतरके बालम्ब देख गया था जो प्रायः जब भी स्मृतिमें हैं। उक्त समयतक मैंने स्वाभाविकरूपसे मूर्तिरचना ही देखनी किना था। मैं यन्त्रण व्यक्तिका बहुत विचारातु था। स्वाभाविक सृष्टि-रचनापर मुझे बहुत ही प्रीति थी।”

राजचन्द्रके पितामह कृष्णकी मर्ति किंचा करते थे। हमोंने उनके पास कृष्णकीर्तनके पदोंको तथा

१ श्रीमद् राजचन्द्र आग्रमकथा-परिचय सं. १९९३-देवपत्र द्योकरणी मेरवा.

२ १४-१७३-२३—अर्थात् प्रस्तुत वय १४ वर्ष पद, १७३ वर्ष उर २३ वर्ष, इसी तरह

जाने भी समझना चाहिये

३ १४-१७४-२३

४ श्रीवृत्त गोपाकहात जीवाभार्हका कहना है कि राजचन्द्रजीकी माता जैन और पिता वैष्णव थे। इसलिये वे राजचन्द्रजीका ब्रह्मचर्य केवल मानते हैं (श्रीमद् राजचन्द्रना विचारधरो ११)। परन्तु इनपर द्योकरणी मेरवा राजचन्द्रजीके ब्रह्मचर्य मूल बर्म स्थापकवाली जैन लिखते हैं (श्रीमद् राजचन्द्र आग्रमकथा परिचय)

हरे हरे भक्त्यास्तम्भनी कमलायेंगे सुना था। मिलते इनकी उन भक्त्यायें मूर्ति और प्रीति उत्पन्न हो गई थी; और इन्होंने रामदासजी मातङ्ग लाते बाकई रोकवाई थी। वे निरपेक्ष ही कृष्णके दर्शन करते थे। उनकी कथाएँ सुनते। उनके भक्त्यायें कमलायें वारवार सुन होते और उन्हें परमात्मा मिलते थे। इस कारण उनके चलेका स्वच्छ देखनेकी मुझे परम उत्कंठा थी। मैं उनके लक्ष्यराज्य मई भक्त्या लानी होऊँ तो फिजना आनन्द मिले वह वही कल्पना हुआ करती थी। तथा वह कभी किसी मन-भीमकी विभूति देखा तो समस्त वैभववाली होनेकी इच्छा हुआ करती थी। उनी वीरमें प्रवीणकर नामक मन्त्र भी मैं वह गया था। यद्यपि उसे अधिक समझा तो न था फिर भी श्रीकृष्णकी सुलभे कीन होऊँ और निरुपधि शंकर कथाएँ मन्त्र करवा होऊँ, तो कैसी आनन्द हुआ हो। वही मेरी युवा रहा करती थी।

गुरुपुत्री मायाकी मातङ्गवायें रामकृष्णजीने ईश्वरके अलङ्कारोंके विवरणें पढ़ा था। इन्होंने उन्हें वह सब पढ़ हो गई थी कि कदाका कोई भी कर्ण बिना बताये वही बन सकता। इस कारण उन्हें जैन भेषोंके स्वाभाविक हृदय रहा करती थी। वे लिखते हैं:— मेरी कमामूर्तिमें मिलने बलिष्ठ योग पड़े थे उन कर्णों के कर्म-कला यद्यपि प्रिय प्रिय थी, फिर भी वह मेरी बहुत प्रतिमापूजनके अभ्यस्तके ही समान थी। इस कारण उन योगोंकी ही मुझे दुःखाना था। योग मुझे पड़ेके ही समस्त धर्मिकता और योग्य प्रविष्ट विचारों मिलते थे, इसलिये मैं अपनी प्रकृतिके कर्म आनन्दकर होते मंदहमे बैठकर अपनी कमलायें दिखानेका प्रयत्न करता था। वे योग कभी बँबनेके कारण कारण मेरी हस्तपुर्क दीप्त करते, तो भी मैं उनसे बाधितवार करता और उन्हें कमलायें प्रयत्न किया करता था।

परि परि रामकृष्णजीके जैन भेषोंके अधिकप्रवृत्त हृदयों पुकारें पड़ेके मिली। 'उन्होंने बहुत दिनपूर्वक मन्दके समस्त धर्मोंके भिन्नतायें पढ़ना आरंभ की गई थी। इन्होंने उनकी प्रीति उनके भी हो गई और जेबों भी रही। और परि वह कमलपत्र पढ़ा मन्त्र। फिर भी आचार-विचार तो उन्हें देखते ही प्रिय थे और साथ ही कमलायें भी बढ़ा थी। वह रामकृष्णजीके देख बनेकी वचनार्थ है। इसके बाद, वे लिखते हैं — 'मैं अपने दिव्यी बुद्धिमान देखने गया था। अपने कर्मोंकी कर्मके कारण कर्म इतरके मूर्तों मिलनेके लिये वह सब हुआ था तथा वह सब पढ़ा जाता था। बुद्धिमान पड़े हुए मेरे नाना प्रकारकी मेल-मेल थी हैं अनेक पुस्तकें ली हैं, राम आदि के बरिष्ठपर फिलिस्ती रची हैं आचारिक पुस्तकें भी हैं तो भी किसीके योगे कम अधिक मन्त्र नहीं कहा, अपना किसीको कम कदा लेखकर नहीं दिया वह मुझे कर्म वाद था रहा है'।

अधुनयमें लक्ष्यदानकी प्राप्ति

रामकृष्ण विशेष के लिये न थे। उन्होंने उत्कृष्ट प्राकृत आदिका कोई निवर्तित अन्वय नहीं किया था; परंतु वे जैन आचारोंके एक अन्वयालय केरा और मर्मक थे। उनकी बरोबरप्राप्ति इतनी

१९४-१९४-१३ १ वही ३९४-१९४-३

४ रामकृष्णजीने योग्या (योग्या) हृदय (हृदय) लक्ष्य (लक्ष्य), अभिज्ञा (भिज्ञा) के समस्त, हुए (हृ) आदि अनेक अक्षर धर्मोंका अपने लक्ष्यमें प्रवेश किया है। इनके अन्वय उन्होंने जो अक्षर अन्वय उत्कृष्टकी भाषा में आदि उद्धृत की है, वे भी बहुतसे लक्ष्य अक्षर हैं। इन्होंने भी मन्त्र दीया है कि रामकृष्णजीका उत्कृष्ट और प्राकृत अन्वय बहुत आनन्द होता आदि।

५ एक तरह रामकृष्ण बधोभक्त्यायें लक्ष्य अन्वयोंके विवरणें लिखते हैं:— वही-विभवजीने सब लिखते हुए अपना अक्षर उत्प्रेषण खला था कि वे आप किसी कर्म में न लगे थे। तो भी लक्ष्य अन्वयोंके कारण देखते आपके लक्ष्यमें ७ में उत्प्रेषणकी जो लक्ष्य की है वह मिली नहीं। वह भीमकृष्णजीके पाँचों अक्षरोंके अन्वय करते ही हुर्र मन्त्र होती है—
८९४-८९४-१३

टीज भी कि जिस कार्यको अच्छे अच्छे मुनि और विद्वान् लोग नहीं समझ सकते थे, उसमें राजकन्नबीज प्रवेश करवाते हो जाता था। कहते हैं कि राजकन्नबीजने तथा बरतने कीतर ही समस्त आयुषीका अवलोकन कर लिया था। उन्हें वास्तवस्थानमें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। इस सम्बन्धमें एक जगह राजकन्नबीजने स्वयं लिखा है—

अनुवर्षी अमृत स्यो तत्त्वज्ञाननो बोध। एव एवमे एव के गति अगति कां घोष।

ये संस्कार यथा घटे, अति अम्याते कांय। विना परिश्रम ते स्यो, मवर्षाका भी स्वांय ॥

—अर्थात् मुझे जो छोटीसी अवस्थासे तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, वही पुनर्जन्मकी विधि कृपा है फिर यति-भागति (पुनर्जन्म) की घोषकी क्या आवश्यकता है? तथा जो संस्कार अर्थात् अम्यात करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे मुझे विना किसी परिश्रमके ही हो गये हैं फिर अब पुनर्जन्मकी क्या रीका है।

पुनर्जन्मकी विधि राजकन्नबीजने और भी बहुतसे प्रसक्त और परीक्ष प्रयत्नोंकी की है^१। वे इस संबंधमें लिखते हैं— 'पुनर्जन्म है—अवश्य है इसके किये मैं अनुभवते हों कहनेमें अवलब्ध हूँ—वह वाक्य पूर्वजन्मके किसी संयोगके स्मरण होते समय सिद्ध होनेसे लिखा है। जिसने पुनर्जन्म आदि मन्त्र किये हैं उस पर्यायको किसी प्रकारसे जानकर वह वाक्य लिखा गया है'। कहते हैं कि राजकन्न जब जन्मनाम पौष बरतके थे, तो उनके कुटुम्बमें लौप करनेसे किसी घटस्थकी मृत्यु हो गई। राजकन्न कीका उनपर बहुत प्रेम था। राजकन्न उनके मरण-समाचार सुनते ही पर रोने आये और परके भोगति हुईने लगे कि मरी चले परके हो —मर जाना किये करते हैं? परके भोगति समझा कि राजकन्न अपनी वाक्य है वह उर कावगा; इसलिये वे उन्हें इस बातको सुझानेका प्रयत्न करने लगे। पर राजकन्न न माने और वे क्षिप्रकर स्मरणमें पहुँचे तथा एक हृत्पत्र लिपिकर बैठ गये। राजकन्नबीजने देखा कि कुटुम्बके सब लोग उस मृतक देखने लगे हैं। वह देखकर उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उनके हृदयमें एक प्रकारकी लज्जाम्बाहरी मग गई और इसी समय विचार करते करते राजकन्नबीज पदरा हटा और उन्हें पुनर्जन्मकी हक प्रतीति हुई।

सुतावधानके प्रयोग

राजकन्नबीजकी स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि वे जो कुछ एक बार बोल देते उसे फिर सुनिकछते ही भूलने थे। राजकन्न बहुत छोटी अवस्थासे ही अवधानके प्रयोग करने लगे थे। वे बीते बीते सुतावधानक वर्तुल गये थे। संवत् १९४३ में सञ्जीव वर्षकी अवस्थामें राजकन्नबीजने बन्नाहमें एक सार्वजनिक समारोहमें वाक्पत्र सिर्जनके लक्ष्यपरिलम्बे, सौ अवधानोंके प्रयोग कथाकर बने बने कोयोंको आश्चर्यचकित किया था। सुतावधानमें वे वाक्पत्र लेखते जाना माध्यमे जाने सिखते जाना बोध बड़ा गुणा करते जाना लखड़ मायाभक्ति द्वारा द्वारा करते ठसदे लीचे नैर्घणिके साथ अक्षरोंकी याद रखकर वाक्य बनाते जाना जो कोठोंमें सिखे हुए ठसदे लीचे अक्षरोंके कविता करते जाना जाड मिल मित्र समस्याओंकी वृत्ति करते जाना इत्यादि की कार्यको एक ही साथ

१ १ - १९ - ११

२ देसो ४ - १९१ - ११ (पर पत्र राजकन्नबीजने मुक्तपत्रके साक्षर स्वीय मन्त्रमुक्तपत्र विप्रायीको लिखा था)

३ १५ - १११ - ११

४ कहा जाता है कि जिस समय राजकन्न बनागवना किया देखने गये थे, वहीं भी उन्हें इसी तरहका अनुभव हुआ था। कोठोंमें ऐसी भी प्रतिति है कि राजकन्न अपने पूर्वके ९ मग जानते थे—जीवत रामकी केरावकीके समझमें भीमरुके संपर्कमें जाये हुए एक सुदुर्घके जिस हुए राजकन्नबीजके वृत्तोंके आधारसे।

कर सकते थे। और उसमें विशेषता यह थी कि वे इस सब कार्यके पूर्ण होने तक बिना किसी व्यवसायिक विरोध के ही इन सब कार्यको करते करते थे। उस समय पापोगीबंद, इण्डियन लेनडेर, टाइटल आदि इत्यादि मुरार बजावा आदि पत्रोंमें राजकमलजीके इन प्रयोगोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की थी। राजकमलजीकी शक्ति इतिहासी शक्ति थी बहुत विशाल थी। उस समयमें इन्हीं मित्र मित्र भावोंकी साथ जुगमें ही यश। और इन युगकोंके नाम उन्हें पंकर सुना दिने। राजकमलजीकी भावोंपर पड़ी बीज ही गई। उन्होंने शायदे टपकर इन सब युगकोंके ज्ञान तथा दिने। करते हैं कि उस समयके भाग्य शायदेईक पंक्ति खरिदत वह पाली खरिदने राजकमलजीको इन भावनाओंके प्रयोगोंके विनाशक बनकर बने। दिनालेकी इच्छा प्रकट की थी, पर राजकमलजीने इसे स्वीकार किया।

प्रविष्टिबद्धता

राजकमलजी एक बहुत अच्छे व्यवसायी भी थे। वे वर्षों तक कलकत्ता की जाति देलकर प्रविष्टिबद्धता प्राप्त करते थे। जयपुरगढ़के एक बहुत बड़ा (भीष्मगढ़) के मरवाही राजकमलजीने वाराणसी स्थित कीने हैं। वृत्ति का दिना थी। इसके अतिरिक्त उनके व्यवसायिक संबंधों और भी बहुतसी विविधताओं सुनी जाती हैं। करते हैं कि एकबार कोई कौरी उनके बत बजाएल देवन आया। राजकमलजीने उसके बजाएल करीब बिने। पर उन्हें व्यवसायिकतासे मजबूर हुआ कि वह बजाएलका मार वह बनेवाला है। इसके राजकमलजीके मनकी बहुत बड़ा, और उन्होंने उस में हीको मुक्तकर उसके बजाएल बने वाला कर दिने। अगले दिन वही हुआ की राजकमलजीने कहा था। इससे वह कौरी उनका बहुत भय हो गयी।

राजकमलजीने के मनकी बात भी जान केले थे। कहा जाता है कि एकबार लोभागढ़ (राजकमलजीके अतिरिक्त कर्मी) को अपने देलकर राजकमलजीने उनके मनकी बातों एक कलाकर किताब ली गिय और लोभागढ़की उके बचवाया। लोभागढ़ ईत बलासे बहुत आश्चर्यचकित हुए और उसी समयसे राजकमलजीकी भाव उनका आकर्षण उत्प्रेषण बढाया गया।

कविराम

राजकमलजी की कविता कविताके नामसे भी प्रसिद्ध थे। उन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामें कविता लिखी थी। कहा जाता है कि इस उमरमें उन्होंने पंच हार कविता लिखी हैं। और भी बलाकी अवस्थामें पद्यान और महाकाव्य करते रहे हैं। राजकमलजीके बाल्यमें दोस्तोंसे मजबूर हुआ है कि कविता व ५५ मात्र कविता न के किन्तु इनसे अपने विचारोंको कल्पने अतिवृद्ध करनेकी भाव भी प्राप्त था। वही राजकमलजीने कीर्तिनिर्वाण 'राजकीर्तिनिर्वाण' कीर्तिनिर्वाण लिखकर मुद्राकरवाकरादिने आर्षगुनी। पढ़ती आदि सामाजिक और ऐश्वर्यवर्धनिक भी बहुतने काम लिया है। कल्पु उन्नी कविता अन्ना आदि की कविताकी तरह विविधकर अवसरान-

१ राजकमलजीके अन्नानीके विषयमें विवेक ज्ञानक बिने हेनो 'साक्षात् करतति किंवा बीरु गारकमल १९ मां वर्ष सुनीता टुक हुला। जयपुरगढ़ १९१९

१ कल्पु गेव वर्षक ११ में इस संबंधमें राजकमलजीने एक मुद्रा १ १९१५ को कविराम लिखा है— 'इस उपनिषद् बनेके कर करि मेरा विवेकव्यवहार-मर्म वैरा ही रहा ही— बचने ही रहा ही—' जो सुभाषित आया मुद्रा १ का गुदातकी पत्रमें कविरामकी शीर्षक इन कविता की-रवा लान करके ५५ अर्थमें—'वेना वह ज्ञान सुविज्ञकरा है।' 'सारांश भाग्य मुद्रा १, १ १५ को उनी कविता के विषय में लिखा है—' उपनिषद् कल्पु विवेकव्यवहारमें कोषा बहुत देलकर हुआ कल्पु दिना। कविराम कल्पुईके उत्तरीक विविध वस्तु दिनेसे राखेकी होनेकी आज लाल है।

१ कल्पु कविता के लालके लालमें भीष्मके लालमें जाने हुए एक बहुतने लिने हुए कविरामकी एक के लालमें

ममान ही होती थी। 'अमृतमृत्यविचार' नामक काममें राजबन्धुजीने समस्त लक्ष्मणका रहस्य निम्न पद्यमें छिपाना सुन्दरतासे अभिव्यक्त किया है:—

छद्मी अने अधिकार बधतां हूँ बन्धु ते तो कहो । हूँ कुटुम्ब के परिवारकी बधवाणुं ए नय प्रहो ।
बधवाणुं संसारतुं नरहेतने हारी जनो । एनो विचार नहीं अहो हो । एक पक्ष तमने हनो ॥

—अर्थात् यदि दुम्हारी छद्मी और लता बध गई, तो कहो तो लही कि दुम्हारा बध ही क्या गया । क्या कुटुम्ब और परिवारके बधनेसे हम अपनी बधती मन्ते हो । हमें ऐसा मत मानो क्योंकि संसारका बधना मनों मनुष्यहेहको हार जाना है । अहो । इतका हमको एक पक्षमें ही विचार नहीं होता ।

निस्पृहता

इतना लय होनपर भी राजबन्धुजीको मान, ओहिक बहार् आदि प्रात करनेकी धोकी भी महत्वाकांक्षा न थी। यदि वे चाहते तो अचानक क्योतिय आदिके द्वारा अवसर ही घन और बघके बनेच्छ भोगी हो सकते थे, अपनी प्रतिमासे बन्ध 'एक प्रतिमाछाकी जब अकसा बाइछाई बन सकते थे।' पर हल आर उनका किम्विधाय भी बन्ध न था। इन बातोंको अन्तस्त्वर्धके सामने वे 'अति दुष्क सम्हते थे। वे तो चाहे समस्त जगत् छेनेका क्यों न हो जाय, उधे दुष्कत् ही मन्ते थे। सिद्धिदोग आदिसे निम्न बधवा परलंबी लक्षारिक लानन न करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा के रखी थी।' उनका हक निम्न था कि 'जो कोई अपनी शिवनी पौरुषिक बहार् आहवा है उतकी उतनी ही मन्तेमति होती है' ।

शूद्रस्थाभ्रममें प्रवेश

राजबन्धुजीने संवत् १९४४ माघ सुदी १९ को उद्योग वर्षकी अवसरमें गांधीजीके परममित्र स्वर्गीय रेवाचंदर जगजीवनदास मेहतके बड़े मर्द पेरदाकाछी पुत्री लक्ष्मणारिके साथ विवाह किया। दुर्मयसे राजबन्धुजीके विवाहविषयक कुछ विशेष विगत नहीं माहूम होती। केवल इतना ही बात होता है कि राजबन्धु कल्याणकराजीके 'अग्रहते उनके प्रति 'ममलमयव होनेके कारण 'लक्ष्मण पदा ओहकर' पौषकी १३ या १४ के दिन लय'ते बन्धुस पाणिप्रदान कर देने के लिये रवाना होते हैं। तथा इसी पद्यमें राजबन्धु अपने विवाहमें पुष्टी कविबोध अनुकरण न करनेके लिये बन्धुपूर्वक भाव देते हुए वृत्त है—'क्या उनके हृदयमें ऐसी बोझना है कि वे हम प्रथममें लक्ष्मणकी और कहीं प्रतिपक्ष रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बमने केरु लयन हो

१ कविताके विषयमें राजबन्धुजीने लिखा है:—कविताका कविताके लिये आशयन करना योग्य नहीं—लंकारके लिये आशयन करना योग्य नहीं। यदि उतका प्रयोजन समाजके मजदूरके लिये—आत्मकल्याणके लिये हो तो जीवको उत गुणकी अनोपयोग्यताका कळ दिखता है—१९३-१९३-२७

२ ४-१७-१३

३ अहमदाबादमें राजबन्धु-कर्मलके अवसरपर गांधीजीके उद्गार।

४ वे लिखत हैं:—जबसे पचाई बोधकी उदासि हुई है तभीसे किसी भी प्रकारके सिद्धि योगसे निवर्तनी बधवा परलंबी लक्षारिक लानन न करनेकी प्रतिज्ञा के रखी है और वह बात नहीं पता कि इस प्रतिज्ञामें अवतक एक पक्षमें के लिये भी मददा आर हो—२७-२८-२५

५ लक्ष्मी गम्भीरने अपनी निस्पृहताका निम्न शब्दोंमें कर्न किया है:—

Away ye thoughts, ye desires which concern the transient, transcient fame or riches of this world Whatever be the state of this body it concerns Me not—अर्थात् ए अमिल और लक्ष्मणर कर्मल और लक्ष्मणकी लक्षारिक इच्छाओ । दूर होओ । ए लक्ष्मणकी कैली भी क्या क्यों न हो उनका धेले कोई संबंध नहीं

कहे ! क्या बात ऐसी बोलना कहेंगे ! क्या कोई वृत्त देख करेगा ! वह बिहार पुनः पुनः
हरममें आया करता है । हरकिन्दा खाल सिक्की बिज विचारको हवाई समझते हैं तथा मित्र
बल और मित्र परकी प्रति शास्त्र राखनी कल्पना विनोदियाको भी दुर्लभ और सर्वथा नराम
है, उन विचारोंकी उत कल्पना और उत परकी और उत्पन्न हवा रोनेके कारण नष्ट होता है ।
परि हलके कुछ कालावधि भी प्रीतिपूर्ण ही तो उत पराभिमानी पुत्रके परिवर्धन बड़ा बर्धन लम्बा
है । हलके हलका तो अल्पकाल होता है कि एककालकी केवल एक अभ्यासकानी ही नहीं,
कल्प एक महात्मावत भी है ।

पुस्त्याभयमें सदासीनभाव

नहीं वह बात उत कल्पमें लब्ध होना है कि एककालकी पुस्त्याभयमें सदासीन करने
में उन्हें भी भारी परावण का भी भावपूर्ण नहीं कर लगे । उनकी भावी भी बड़ी सत्यता रही
कि कल्पमें काकाकी कोटिमें निवास करनेसे उत्तर गया है । उतका विद्वान् भी सुधार
को ही भी एककालके विद्वान् उत्तरका का ही उतका है, उतका हीका भाव भी उत काकाके
कल्पमें रहनेसे नहीं हो सकता । क्योंकि वह कल्पका निमित्त है और अनधिकारसे मोक्षके रहनेका
फल है ।” अतएव कल्प एककाल निरुपस्थित उदासीनभावसे नवकल्पमें उदासीनचित्त होकर,
कल्पमें प्रीति-करीषा पूर्वक, पूर्णचित्त कर्मोंका भाव समझकर ही अपना पुस्त्याभय बचते हैं ।
अपनी स्थिति उत कल्पे हुए वे विचार हैं— यदि कल्पका यत्नपूर्वक प्रदर्शन किया जाय तो
निश्चयसे मैं उनसे उतके अवधारण का करता हूँ । मेरे इन कल्पोंकी कल्पना कोई निश्चयसे पक्का मित्र
मित्र कल्पमें न करने काय अपणा हवे मेरा भाव न मान बैठे हलकिन्दा उतका लब्धवान् नहीं
होनेमें सिद्धे देता हूँ ।

दुम सुके कीर्तनकी दुःख नहीं मानना कल्पोंकी दुःख नहीं मानना पुस्त्याभयकी दुःख
नहीं मानना कीर्तनकी दुःख नहीं मानना, कल्पकी दुःख नहीं मानना कीर्तनकी दुःख नहीं
मानना कल्पका भाव लब्ध कल्पकी दुःख नहीं मानना सुके कीर्तनकी दुःख नहीं मानना
है । वह दुःख कल्पका नहीं कल्पका नहीं विचार नहीं विचार नहीं कल्पका नहीं कल्पका नहीं,
कल्पा सिद्धो ही इन कल्पों है और न सिद्धो ही कल्पका भी नहीं । परन्तु मेरी विद्वति उत
दुःखकी न विचारके सिद्ध ही है क्योंकि हलके कुछ और ही भाव सम्पन्न है ।

हलका तो दुम कल्प मानना कि मैं बिना विचारान्तरके वह कल्प बच रहा हूँ । मैं एककाल
भावे का कल्पका कल्पका भावसे एक कल्पसे कल्पका कल्पका, कल्पोंमें कल्पका इतिहास भी
कल्पका भाव कल्पका कल्पका भावसे कल्पका पुत्र भाव जाता हूँ । मैं हलके हलके मुक्तकालसे ही भाव
किने हैं कल्पका हलके कल्पका ।

कल्पकी समझमें कल्प कल्पे कल्पों के नहीं बड़ी कल्पोंमें भाव काटी ही । कल्पकी
कल्पका भी कल्प काय भी और कल्पमें भी कल्प काय कल्पों की तथा कल्पोंके भी कल्प
कल्प ही कल्पके के किन्तु कल्पे कल्प कल्पका तो हलका कल्पों की कि वह कल्प का है । हलका कल्पका
एक कल्प ही कल्प का निश्चय कि न पुनर्कल्प ही न कल्प है और न पुनर्कल्प है । कल्पके कल्प और
कल्पका भाव कल्प काय कल्प कल्पका है । हलके कल्प कल्पोंमें न कल्प कल्पों की कल्पोंमें भी
निश्चय कल्पों । किन्तु मैं कल्पों के कल्प कल्पों में कल्प कल्पका कल्प न कल्प किन्तु कल्प कल्प
कल्पोंके कल्प हलके कल्प कल्प ही हो गया । कल्प कल्पोंमें मैं कल्पका भी न कल्प ही तथा कल्पोंके
कल्प में कल्पोंमें कल्पका भाव कल्पोंमें कल्प काय भी न कल्प ही भी कल्पका कल्पका कल्प । कल्प कल्प ही

अनुभव हुआ और वह अनुभव ऐसा था जो प्रायः न घाँसों में ही बिछा था, और न बड़बड़ियों की कसनामें ही था। वह अनुभव क्रमसे बढ़ा, और बड़कर अब एक 'दू ही दू ही' की भाव करता है।

अब यहाँ समाधान हो जायगा। यह बात अवश्य आपकी समझमें आ जायगी कि मुझे भूत-काष्ठों में न योग्य हुए अथवा भविष्यकाजीन मम आदि के गुणोंमें से एक भी गुण नहीं है। श्रीके विचार कोई दूसरा पदार्थ लास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा ऐसा कोई भी लक्षणी पदार्थ नहीं है, जिसमें मेरी प्रीति हो और मैं किसी भी मयसे अधिक भावोंमें विष्ट हुआ भी नहीं हूँ। श्रीके सर्वत्र मेरी अभिप्राय कुछ और है, और आशय कुछ और है। वयसि एक तरहसे कुछ कमजोर उठता ठेकन करना मान्य रहता है, फिर भी मेरी तो यहाँ सामान्य प्रीति मयीति है। परन्तु इस बात यही है कि अभिप्राय न होनेपर भी पूर्वकर्म मुझे क्यों धरे हुए हैं? इतनेसे ही इसका अन्त नहीं होता। परन्तु इसके कारण अन्धे न जानेवाले पदार्थोंको देखना रचना और रस्य करना पड़ता है और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमें रहना पड़ता है। महारंम, महारिमर, श्रेय, मान, मात्रा, श्रेय अथवा ऐसी ही कल्प बातें जगत्में कुछ भी नहीं, इस प्रकारका इनको मुझसेनेका भ्रम करनेसे परमानन्द रहता है। उसके उपरोक्त कर्मवर्ति रहना पड़ता है। यही महाशेखरी बात है। अंतर्गच्छा में करी प्रगट नहीं की जा सकती, ऐसे पापोंकी मुझे दुर्लभता हो गई है। यही वल मेरा दुर्लभता कहा जा सकता है।”

संक्षिप्त विचार

एक दूसरी बात यहाँ लास भ्रम आकर्षित करनेवाची यह है कि राजबन्ध परस्परमते उदासीन रहते हुए भी मरनेके बहुलकन कथि मुनिगीकी तरह श्रीको देव अथवा गुप्त नहीं समझते। परन्तु वे 'परस्परमको विवेकी और अनुभवको लगे बनाने की माफना रखते हुए श्रीके प्रति परमैत सम्मान प्रकट करते हैं, और उसे लक्ष्मिणी समझकर लक्ष्मी-भान देनेका अनुपेय करते हैं'। वे कहते हैं— श्रीमें कोई दोष नहीं। परन्तु दोष तो अपनी जगत्में है। श्रीको लक्ष्मी-भान देना चाहिये। उसे एक लक्ष्मी समझना चाहिये। उसके साथ परम-ब्रह्मका संबंध रहना चाहिये। अंताकरवले किसी भी तरह मा बहनेमें और उसके अन्तर न रहना चाहिये। उसके धार्मिक मानक किसी भी तरह मोहनीय कर्मके बंधने उपयोग किना बाता है। उसमें योग्यकी ही स्थिति रहनी चाहिये। यह है तो मैं कैसे गुलका अनुभव करता हूँ। यह मूक भाना चाहिये (तत्पर्य यह है कि यह भ्रमना अलक्ष्य है)। जैसे दो मित्र परस्पर लक्ष्मीका उपयोग करते हैं, जैसे ही ठठ बल्लु (फनी) का लसेर उपयोग कर पूर्ववर्तनेसे बूट जाना चाहिये। उसके साथ जैसे बने बैठे निर्निधरी बात करना चाहिये—विश्वर वेदका कथाले अनुभव करते हुए भी उपयोग निष्ठापर ही रहना चाहिये। उसके कोई लक्ष्मीत्व ही तो वह एक लक्ष्मी बल्लु है—यह समझकर समझ न करना चाहिये।”

१ ११-११३-११

१ विवेकि जिसे राजबन्धकी लक्ष्मीविशेष नामक लक्ष्मी पदार्थ में बिछा है, जिसमें उन्होंने लक्ष्मीका आदि विपरीत प्रतिपादन किया है—देखी जाये

१ गुलकरी मूक पत्र इस तरह है— श्रीने लक्ष्मीका भान आपसुं। एक लक्ष्मी ठेके गमरी। देनाभी कर्मवर्तनी संबंध रखती। अंताकरणभी कोईपन प्रकट मा बने अने ठेमा अंतर न रखती। देना धार्मिक ध्ययने कोईपन विवे मोहकमने कथे उपयोग कथाय ठे, लक्ष्मी योग्यनीय स्थिति रखी आ ठे तो हूँ केडु गुल अनमूठ हूँ ए लक्ष्मी लक्ष्मी (तत्पर्य ठे मन्त्रु अलक्ष्य ठे)। मित्र मित्र लक्ष्मीका श्रीको परस्पर उपयोग कर्मसे लक्ष्मी, ठेम ठे लक्ष्मी (ठे फनी) ने लसेर उपयोग कर्म पूर्ववर्तनी लक्ष्मी लक्ष्मी। देनाभी कथे कथे ठेम निर्निधरी बात करनी-निधरनेहानी काबाय अनुभव कथों पर उपयोग निष्ठापर लक्ष्मी लक्ष्मी। देनाभी कर्म लक्ष्मीत्व ही तो वह एक लक्ष्मी बल्लु है एम लक्ष्मी समझ न करुं —यह लक्ष्मी बल्लु लक्ष्मी ११ में पत्रका ही एक अंश है। श्रीने राजबन्ध के अन्तर्गत प्रकटित किसी भी लक्ष्मीमें यह अंश नहीं दिया गया। उक्त पत्रका यह अंश मुझे अविष्ट लक्ष्मी केवलकी ही समझते प्राप्त हुआ है इसके जिसे केवल उक्तका बल्लु आगयी है

इतना ही नहीं, आत्मज्ञानकी उच्च दशाधी प्राप्त राजबन्धन अपनी ओरि कियी सम्मत्त और प्रेमका कर्तव्य स्वयं के, वह उनके निम्न पक्षे मान्य होता है । वह पक्ष राजबन्धनने अपनी ओरि करन करते किया है—

हे करिबनी ! तुम्हें मैं अनुपम करता हूँ कि तुम अपने भावमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करो । मैं उक्त इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा ।

तुम मेरे अनुगामी हो और उसमें अगाधरके मोक्षते मुक्त प्रबानन्द मिला है । इस कारण तुमने मेरी आज्ञाका अवलम्बन करके आचरण करना अधिक माना है ।

और मैं भी तुम्हारे साथ अधिकस्वयं ही व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ । किसी वृत्ते प्रवृत्तते नहीं । यदि तुम कभीके जीवनकालमें पूर्ण करो, तो यदि बिने ही मेरी इच्छा करो । ऐसा करना मैं उचित समझता हूँ ; और यदि मैं कभी तो सर्वज्ञके साथे ऐसा सम्बन्ध रहे । ऐसा होना चाहिये ।

हम हम दोनों ही सर्वज्ञते सेवेका प्रयत्न करें । ऐसे हस्ति प्रयत्न करें । तुम्हारी गतिकी कल्पना मेरी उचित होनी, ऐसा अनुमान कर लिया है—“ मयि ” ।

मैं तुम्हें उक्तका ध्यान देना चाहता हूँ, क्योंकि तुम बहुत ही निष्ठुरके संकीर्ण हो ।

और तुम उक्त ध्यानमें उलझेकी इच्छा करते हो तो तुम्हारी कल्पनामें इसे अनुसार तुम करन करनेमें ऐसी इच्छा करता है ।

तुम लक्ष्मणाको बहुत अधिक चाहता, वीरराज यक्षिको बहुत ही अधिक चाहता । मेरी मन्त्रिको मान्यता वीरसे चाहता । तुम जिस समय मेरी समिति छोड़ उक्त समय जिस तरह लक्ष्मणासे मुक्त आत्मन् ही उक्त पक्षते खना ।

विद्यमानकी होना ।

मुझसे विद्यमान किनोमपूर्ण विसम्बन्ध करता ।

मैं तुम्हें बोध उपदेश दूँगा । तुम उक्तसे सम्बन्ध, तुम्हेंकर और यदि तथा मुक्तिस्वयं होये । यदि उक्त दशाधमे देवकर मैं पक्ष प्रवृत्त होऊँगा ।

गृहस्थाश्रमसे विरक्त होनेकी श्रुति

राज्यकी अवधिमें एते हुए भी राजबन्धनकी लक्ष्मणाकी ओर करते हैं । चले करते हैं । तथा आत्मन्की वृत्त हो यह है कि जन्म उनके विचारमें हुए जीवन-चार वरत भी नहीं हो पने और उक्तसे वेदन्त इतना वृत्त से उक्त है कि उन्हें गृहस्थाश्रमसे अधिकतर विरक्त होनेकी ही वृत्त पता चली है । अन्तका यह निष्कर्ष हो जाता है कि गृहस्थाश्रमसे सम्पूर्ण वर्ग-राज्य नहीं बन सकता—उत्तरे बिने ही सर्वज्ञ-विराज्य ही आवश्यक है । तथा वरकलमविधी प्रसिद्ध केवल निम्न स्वयं जन्मा योग-चारस्वते नहीं हो सकती वह सर्वज्ञ-विराज्य करनेकी ही सम्यक् है । राजबन्धनकी वह मानना इतनी प्रवृत्त हो जाती है कि उन्हें विदेशी रक्षाके विना, महायोग्य जीवन-वृत्त-दशाधमे विना-वचनोन्म निम्न दशाधमे विना एक समकालीन ही जीवन देवता फोटन हो जाता है और उनके सम्बन्ध जीवनकी विद्याना भा लगी होती है । इस समय जो राजबन्धनकी के मनमें इस स्मृति मेंकर करता है उसे उचित विचारोंमें मुनिते— उक्त विन एक परमार्थ विचारका ही सम्यक् करता है । ज्ञान भी नहीं है निष्ठा भी नहीं है ध्यान भी नहीं है स्वयं भी नहीं है मन भी नहीं है योग भी नहीं है प्रियर भी नहीं है चक्रना भी नहीं है, और आत्मन् भी नहीं है । अधिक कहा गया । । इस मूल और उत्तरी मन्त्रोंका एक ही हीमि रक्ष किया है । योग योगमें भी अन्तों इच्छा-विचार करता है और उनके कारण म उक्त देवता जन्मा करता है म उक्त देवता जन्मा करता है, म उक्त देवता जन्मा करता है म उक्त देवता जन्मा करता है म उक्त देवता जन्मा करता है म उक्त देवता जन्मा करता है ।

कमता है न लोना अच्छा लगता है, न बागना अच्छा लगता है, न खाना अच्छा लगता है न सूखे खाना अच्छा लगता है, न अलंग अच्छा लगता है, न लंग अच्छा लगता है न लक्ष्मी अच्छी लगती है, और न अलक्ष्मी ही अच्छी लगती है—ऐसी दशा हो गई है। तो भी उसके प्रति माया या निराशा कुछ भी उदय होती हुई नहीं मात्स्य होती। वह हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक, वह कुछ दुःखका कारण नहीं है। दुःखकी कारण केवल एक नियम आगम ही है और वह बरि सम है तो वह सुख ही है। इस दृष्टिकोण कारण लगाधि रखती है तो भी बाह्यते गुरुरपनेकी प्रशंसा करनेमें बहुतसे अन्तरण है। तो फिर अब क्या करें? क्या पर्वतकी गुफामें पड़े खोप, और मरुत्व हो खोप? बरी रहन खा करती। तो भी बाधकमे कुछ संवारी प्रशंसा करनी पड़ती है, उसके बिने खोप तो नहीं है, तो भी उसे रहन करनेके बिने खोप ह्मन्न नहीं करता। परमा-नन्दको त्यागकर इसकी ह्मन्न को भी कैसे? और इसी कारण खोपिप आदिमें और हाथमें बिच नहीं है—किन्ती भी तरहके प्रविष्यवान् अथवा सिद्धिवांकी ह्मन्न नहीं है। तथा उनके उपयोग करनेमें भी उदासीनता रखती है उसमें भी हाथमें तो और भा अधिक रखती है।”

कुसुम व्यापारी

लक्ष्मणी होकर भी राजबन्ध एक बड़े मारी व्यापारी थे। वे बहारखुदा बंधा करते थे। कन् १९४६ में बार्ह बर्षकी अवस्थामें राजबन्धनीने भीषुत रेवाधर बगडीकनखलके खानेमें बान्हेमें व्यापार आरंभ किया था। प्रारंभमें खानेमें मिष्ठान्न बपरा किया, अनाब बयैर बाहर भेजनेकी आज एका काम हूब किया। तथा बादमें बचकर बहीखके भीषुत मायेकलाब बेलायाई और खलके नवीनबंद आदिमें लाख मेसिबोंका व्यापार बलाया। राजबन्धनीने अपनी कम्पनीके नियम बनाकर एक छेन्दीरी पुलाक भी प्रकाशित की थी। करनेकी मात्स्यकता नही भीषुद् राजबन्ध व्यापारमें अस्तुत हुआ है। अंग्रेजी म्हाका ज्ञान न होनेपर भी वे बिबावतके लार भारिका अर्ध अच्छी तरह समझ सकते थे। वे व्यापारसंबंधी कामोंको बहुत उपयोगपूर्ण लूब लोच बिचार कर करते थे। बरी कारण था कि उस समय मेसिबोंके बाजारमें भीषुत रेवाधर बगडीकनखलकी ऐसी बान्धकी मायी बेसिबोंमें एक गिनी बाने लगी थी। स्वर्ध राजबन्धनीके मायीधर भीषुत मायेकलाब बेलायाईको राजबन्धनीकी व्यापार-कुसुमलाक स्थिर बहुत समझ था। उन्होंने एक बान्ध बना है — “भीषुद् राजबन्धनी लाख मेरा बयाम्म पन्ध्र बर्षका बरिबन था और उसमें लल आठ बर्ष तो मेरा उनकी लाख एक मायीधरके कम्मे संबंध रहा था। बुनिबाका अनुभव है कि अति धरिबफले परलारका महत्त्व कम ही लता है। बिम्बु मुने मानका करना वैषय कि उनकी दया ऐसी आरममय थी कि उनके प्रति मेरा अकिम्माय दिन प्रतिदिन बलता ही गया। आम्मेते को व्यापारी खोप है उनको अनुभव है कि व्यापारके काम ऐल होते हैं कि बहुत धार मायी-धरमें मयभेद हो लता है अनेक बार परलारके हितमें बाधा पडुंछती है। परन्तु मुने करना होय कि भीषुद् राजबन्धनी लाख मेरा मायीधरका कितने बर्ष संबंध रहा उसमें उनके प्रति बिबि

१ ११ १ १ १६

१ अने अंग्रेजी आदिके अम्मातके बिबधमें राजबन्ध लिखते हैं—विद्युतबलेल ही इस दृष्टिको उदर हैनेते किली भी प्रकाशका परम्माका अम्मात नहीं हो लता। अनुक संप्रदायके कारण शास्त्राम्मात न हो लता। लतारके बरामते उदायोदात्तात भी न हो लता; और वह नहीं हो लता, इसके लिए बैला भी लद अथवा किया नहीं है। क्योंकि इसल आगम और भी अधिक बिबधमें एल लती (इल बिबधकी बाज में लतके लिए नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अम्मी अयेकले ही करता हूँ) और बिबध आदिबा इस तो बाय ही करनेकी ह्मन्न की थी, इन्बिप को हुआ वह बसमानकारक ही हुआ—१११-१११-११

किन्तु केनस्यको ज्ञाना और केन किना वह केवल भीतरगी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक केते पवित्र पुत्रक थे। इसके सिद्धांत केते अलख, सम्पूर्ण और द्वायम है। इसमें वृत्त तो कोई है ही नहीं। सर्वज्ञा निरर्थक तो केवल केनदर्शन है। ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो केनदर्शनमें न हो। एक विषयको अनंत में परिपूर्ण करनेवाका केनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अम्यत्र नहीं भी नहीं है। केते एक देखेंगे जो आत्मार्थ नहीं होतीं तब तब समस्त वृत्तिमें जो केन अर्थ केनके वृत्त वृत्त कोई दर्शन नहीं। ऐसा करनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, भीतरगिता, तत्पता, और अद्वैतविता। " "

केनदर्शनका तुलनात्मक अन्वय

आगे बचकर तो राजचन्द्रजीने केनदर्शन, वेदान्त, रामानुज संख्य आदि दर्शनोंका तुलनात्मक अन्वय किया और इसी निष्कर्षको मान्य रखता कि 'आत्मकस्वात्मका केता निर्धारण श्रीवर्षमानस्वामी आदिने किया है, केता दूसरे लक्षणोंमें नहीं है। वे लिखते हैं:—' वेदान्त आदि दर्शनका अर्थ भी आत्मज्ञानकी और सम्पूर्ण मोक्षकी ओर जाता हुआ देखनेमें आता है परन्तु उसमें सम्पूर्णतया उल्लेख पञ्चभोग्य निर्धारण मात्रमें नहीं होता—अर्थात् ही मात्रमें होता है, और कुछ कुछ उसका भी पञ्चार्थान्तर मात्रमें होता है। यद्यपि वेदान्तमें कहा गया है आत्मवर्षाका विवेकन किया गया है, परन्तु वह बर्षा तत्त्वमें अविच्छेद है। ऐसा अन्वितक मात्रमें नहीं हो सका। वह भी होना संभव है कि कदाचित् विचारके किसी उदय-मेखले वेदान्तका आचार्य मित्रकमें समझमें आता हो और उसके विशेष मात्रमें होता हो—देखी आर्षका भी फिर फिरके वृत्तिमें ही है, विशेष अविविधेय परिणामकर बसे अविरोधी देखनेके विवे विचार किया गया है। फिर भी ऐसा मात्रमें होता है कि वेदान्तमें जिस प्रकारसे आत्म-त्वकम कहा है, उस प्रकारसे वेदान्त सर्वथा अविरोधमयको प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जिस तरह वह कहा है आत्मत्वकम तब ही तब नहीं—उसमें कोई बर्षा मेर देखनेमें आता है। और उस उस प्रकारसे राज्य आदि दर्शनोंमें भी मेर देखा जाता है।

मान एक श्रीविष्णुने जो आत्मत्वकम कहा है, वह विशेषातिविशेष अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे वेदान्त करनेमें आता है। निम्नमात्रका कहा हुआ आत्मत्वकम सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा भी नहीं कहा जाता उल्लेख हेतु केवल इतना ही है कि अभी सम्पूर्णतया अतमान-वत्त्व प्रगट नहीं हुई। इस कारण जो अमत्ता अप्रगट है उस अमत्ताका वर्तमानमें अनुमान करते हैं किन्ते उस अनुमानकी उल्लेख अमत्ता प्रार न देने योग्य मानकर वह विशेषातिविशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है ऐसा लगा है।

सम्पूर्ण आत्मत्वकम किसी भी पुरुषमें तो प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्मार्थमें निश्चय प्रतीति-मात्र आता है। और वह केते पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, वह विचार करनेके वह निम्नमात्र केते पुरुषको प्रगट होना चाहिये यह तब मात्रमें होता है। इस दृष्टिकोणमें यदि किसीमें भी सम्पूर्ण आत्मत्वकम प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम श्रीवर्षमानस्वामीमें प्रगट होने योग्य बनता है। "

मत्तमर्थांतरकी आवाजसे औलोंमें औध

वह तब होते हुए भी केनदर्शनके अनुवायिनीको देखकर राजचन्द्रजीका कोमल हृदय द्वाले उमर आता था और उनकी औलोंमें उदय अशुभास करने लगती थी। प्रचलित मत्तमर्थांतरकी बात सुनकर उन्हें पुरुषों भी अधिक वेदना होती थी। 'राजचन्द्र कहते थे— 'महाश्रीर महात्मके शासनमें जो बहुतके मत्तमर्थांतर पद गये हैं उसका मुख्य कारण यही है कि शासनकी ओरसे उपायकार्यका अर्थ फिर गया है। वीर अन्ध केन ओलोंमें हो हजार पुरुष भी झूटकले ही मत्तमर्थांतरकी ज्ञाना जानते

होनेसे उनकी कुछ मूल मार्गपर एक आवा, और इस ओर तो सैकड़ों और हजारों मनुष्य समागममें आये, जिनमेंसे कुछ समझनाके तथा उपदेशके प्रति आस्थावाले ऐसे भी एक मनुष्य निकले। इसके उपरान्त वह देखनेमें आया कि लोग पर होनेकी इच्छा करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उन्हें वेला संयोग नहीं मिलता। यदि सबेरे लगे उपदेशक पुरुषका संयोग मिले तो बहुतसे जीव मूल मार्गके पा सकते हैं और तथा आदिवा विशेष उद्योग होना सम्य है। ऐसा मान्य होनेसे कुछ निश्चय आता है कि यदि इस कार्यको कोई करे तो अच्छा है। परन्तु यदि देखनेसे वेला कोई पुरुष ध्यानमें नहीं आता। इसीमे मिलनेवालेकी ओर ही कुछ इति आती है। परन्तु मिलनेवालेका अगले ही सप्ताह इस तरहका रहा है कि इस परके समान एक भी बोलम-मरा पद नहीं है, और अर्द्धतक उस कार्यकी अपनी जैसी चाहिये वैठी योग्यता न रहे, बर्हिषक ठकरी इच्छा मात्र ही न करनी; और प्रायः अवगत उठी तरह प्रशुति करनेमें आरंभ है। मार्गका पोषा बहुत स्वरूप भी किसी किसीको समझाया है, फिर भी किसीको एक अर्थ—पञ्चसत्त्वतक—भी नहीं दिया। अथवा तुम मेरे शिष्य हो और हम गुरु हैं वह मेरे प्रायः प्रदर्शित नहीं किया।” इसके दख है कि बर्हिषक उद्धार करनेमें—उसके पुत्र स्थापित करनेमें—पञ्चसत्त्व कीका कोई आग्रह अथवा मान-बर्हिषक आकांक्षा कारण नहीं; केवल ‘पर मनुकेना चाहिये ही मत्से प्राप्त बुद्धिप्राप्त कब कुछ और सब आनन्द स्थापित करनेके लिये’, उनमें वह वृत्ति उचित हुई थी। वे दख मिलते हैं— उसका वास्तविक अग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा हान-अनन्द रहता है, इसके कभी कभी वह वृत्ति उठती है, अथवा अस्पर्शसे ही अंगमें वह वृत्ति है, फिर भी वह स्थायी नहीं है। हम समझते हैं कि यदि उस तरह सर्वसम-परिणाम हो तो हजारों लोग उस मूल मार्गको प्राप्त करें। और हजारों लोग उस समानका आचरण कर चरित्रको पावें, ऐसा हमारेसे होना सम्य है। हमारे संगे स्थाग करनेके लिये अनेक जीवोंकी वृत्ति हो, ऐसा अंगमें स्थाग है।

बर्हिषक स्थापित करनेका मान बड़ा है। उसकी लक्ष्यसे भी कश्चित् देखी वृत्ति रह सकती है, परन्तु आत्मिकी अनकवार देखनेपर उसकी समझता, इस समझकी दृष्टिमें कम ही मान्य होती है। और वह कुछ कुछ चक्षुमें रही होगी तो वह भी खिल हो जायगी ऐसा अवश्य मान्य होता है। क्योंकि जैसी चाहिये वैठी योग्यताके बिना देह दृष्टि का वैसी दृष्टि कल्पना हो, या भी मार्गका उपदेश नहीं करना ऐसा आत्मनिश्चय मिल रहता है। एक इस वचनान्तरणसे ही परिग्रह आदिके स्थाग करनेका विचार था करता है।

१ १११-५१५-२९

२ राजचन्द्र करते हैं— हुं बीमो महावीर धुं, एम मने आरिषक पच्छिमे जगदुं छे। मरा गुरु दत्त विद्वान्नेय मन्त्री समेधरा गुरु उल्लाख छे। लल कर्तुं धुं के हुं सर्वव्यसमान रिपतिमा धुं। वैरुम्वमो खीरुं धुं। बुद्धिवा मत्मेधरा बर्हिषकी लल पायी छकी मयी। सार सुख अने लल आनन्द वे आमां मयी। ते रघुनाथ एक लरो बर्हिषकवा मादे अग्रभाए होलायुं छे। वे बर्हिषक प्रवर्तनीयग्न। महावीर तेनां समबमो मादे बर्हिषक केरमाक अति काळतो कथो रहो। हरे तेना पुरुषोत्तम मार्गने प्रदत्त करी भेज बर्हिषक करीग। अत्र ॥ बर्हिषका शिष्य कहा छे। अत्र ए बर्हिषकी रघुनाथ कथी लीची छे— वह लेख अर्द्धवत् रामकी केरमाक के समर्थमे एक बुद्धिगुण पञ्चसत्त्वकीके वृत्ततक आधारते रहो दिया गया है।

यहाँ वह बात प्थान देने योग्य है कि आत्मिकी आदिस्वमें हम प्रकरके उद्धारदेवी कभी नहीं है। स्वामी समर्थीर अपनेकी एम बारप्राह कह कर अपने ‘हुकमनाये’ निकाना करने के। वे करते हैं कि प्रशुतिमें जो सौन्दर्य और आकर्षण देना आता है और सर्व और अन्तमें आ कति देन पवरी है वह सब भी ही प्रत्येक कारण है—

There is not a diamond there is not a sun or star which shines but to me is due its lustre. To me is due the glory of all the heavenly bodies To me is due all the attractive nature all the charms of the things desired

१ १११-५१५-२९

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमें आता है। व्यापाररूपसे कुतूब-प्रतिबंधसे पुस्तक-प्रतिबंधसे, दवास्वरूपसे, विद्यास्वरूपसे, उद्यमस्वरूपसे, हत्यादि कारणाति बह व्यापार विस्ताररूप मात्स्य होता है” ।

३६वें वर्ष सर्वसंग-परित्यागका निश्चय

आगे पत्रकार राजबन्धुजी इस बातका निश्चय कर केते हैं कि ‘एकल इन्द्र, एकल शेष, एकल काष्ठ और एकल मांसका संवमकी आशयना किये बिना चित्तकी शांति न होगी तथा लक्ष्मणप्रियता किये बिना—बाह्यमन्त्र निर्मय हुए बिना—योगोंका सम्भाव नहीं हो सकता। वे अपनेको कष्ट करके बिलोते हैं—“पराशरक परम काव्यकृति करते हुए भी प्रथम चैतन्य अविप्रतिष्ठा हो। इसका कारण यह है कि एकल विवरणयम, एकल धृष्टपम और केवल बाह्यमन्त्र निरपेक्षता प्राप्तकर उसके द्वारा किन चैतन्यप्रतिष्ठापक हाकर अनेक आत्मिकता पाकर—अपनेके जीविके कल्याणके किये अथवा मार्गके पुनरुद्धारके किये प्रवृत्ति करना चाहिये। वे प्रवृत्ति करते हैं—‘क्या वैरा कष्ट है? उत्तरमें क्या क्या है—उत्तरमें निर्बिकल्प हो। क्या वैरा शेष है? लोचकर। क्या वैरा पराक्रम है? आत्मगत धृष्टी वन। क्या उतना आयुवक है? क्या किसी? क्या कहे? अंतर्मुख उपवेग करके देख।”

राजबन्धु अपनेको संनोचन करके बिलोते हैं— हे जीव अतारयत ध्यानेवाले इस व्यवस्थापने अब निवृत्त हो निवृत्त।

उक्त व्यवस्थापके करनेमें चाहे जितना बहाना प्रारम्भित्य दिखाई देता हो, वो भी उल्टे निवृत्त हो निवृत्त।”

“हे जीव! अब तू संग निवृत्तिरूप काव्यकी प्रतिका कर, प्रतिष्ठा।

यदि सर्वथा संग-निवृत्तिरूप प्रतिकाका विशेष अवकाश देखनेमें न आवे वा एकद्वेष संग-निवृत्तिरूप इस व्यवस्थापका त्याग कर।”

परन्तु त्यागकी इतनी अभिलषा होनेपर भी राजबन्धु ‘आशयकारक उपाधि’ में पड़े रहनेक कारण अपने मनोरथमें लक्ष्य नहीं होते। उन्हें निष्कर्ममात्रसे उपाधिविषयका लक्ष्य ही करना पड़ता है। राजबन्धु लिखते हैं—“जो कुछ पूर्व निबन्धन किया गया है, उसे निवृत्त करनेके लिये—चोड़ जानेमें योग्य होनेके लिये, इस व्यापार नामके कामका बुरेके लिये बहाना करते हैं।” ‘आत्मप्रेम बही रहती है कि संसारमें प्रारम्भानुसार चाहे कैसा दुष्प्रमाण उदय आवे परन्तु उसमें प्रीति असीमित करनेका हमें संकल्प ही न करना चाहिये।” “जिसके वचनयुक्त न हो लक्ष्यके कारण या जीव संसारक संवममें भी आदि करते प्राप्त हुए हैं उन जीवोंकी हृष्टाके भी कुलालेकी हृष्टा नहीं होती। अर्थात् वह भी अनुसन्धान और या वाप आदिके उपकार आदि कारणोंसे उपाधिविषयका बहाना रीतिसे बंदन करते हैं।

१ ४१७-४ १-२७

२ हेमो ७७, ७७१-७९९ ७३-३१

३ ४१८ ४१९-४ २४ ३-२७

४ आधिकारिकमें बिलोते हुए एकल मोनके द्वारा अविमग्नताके समान ध्यानपूर्वक मैं सम्मान-सम्पन्नरूपक होऊँगा। ‘मेष पित्त-मेरी चित्तवृत्तियों—इतनी शांत हो जाओ कि कोई बृह मृग जिनके पिरमें लुब्धा जाती हो इस शरीरको बंध पदार्थ समझकर अपने निरक्षी गुणकी मित्यनक लिये इस शरीरको गढ़े’—आदि उद्बोधन मान्य होता है कि राजबन्धुजीकी त्यागकी बहुत उत्तर अभिलषा थी। राजबन्धुजी अनेक समय लम्बाज चलेनर, काबिटा राजम ईदरके बराबर आदि निवृत्त-रचनेमें भी आकर व्यर्थन करते थे। राजबन्धु समय पाकर अपने व्यापारके प्रवृत्तिमय जीवनमें शिव न देनेके लिये इन स्थानोंमें आकर मुक्तकाले रहा करत थे।

यह होना अत्यंत संभवित है'। ऐसा करनेका प्रयोजन नहीं कि सर्वत्र ऐसा ही हुआ है परन्तु करनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है वहीं सर्व महत्-प्रमाण-योग आभित्यक्तसे रहता है, यह निश्चयसाधक बात है—निश्चयेह अंगीकार करने योग्य बात है।

उक्त आत्मस्वरूपको कोई भी महान् नहीं है। आ प्रमाण-योग पूरा आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो इस प्रकारका इस स्थितिमें कोई प्रमाण-योग उत्पन्न हुआ नहीं। वर्तमानमें है नहीं और आगे उत्पन्न होगा नहीं। परन्तु इस प्रमाण-योगविषयक आत्मस्वरूपको कोई प्रशंसा कथन नहीं है वह बात तो व्यवस्थ है और यदि उसे उस प्रमाण-योगविषयक काह कथन मान्य होता है तो वह पुरा आत्मस्वरूपको अत्यंत अवलम्ब ही रहता है, ऐसा मानते हैं। करनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महामय तीर्थ करने सब प्रकारका प्रमाण होना योग्य है—होता है परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हे योग्य नहीं। किसी स्वाभाविक पुष्पके प्रमाणसे सुवर्ण-हीन हस्तादि हो ऐसा करना अवलम्ब नहीं, और वह तीर्थस्वरूपको बाधप्रकार भी नहीं। परन्तु आ तीर्थस्वरूप है वे आत्मस्वरूपके विनाय कोई अन्य प्रमाण आदि नहीं करते और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थस्वरूप के जाने योग्य नहीं होता मानते हैं और ऐसा ही है।

आधिक समकित

(१) प्रश्न—इस काहमें आधिक समकित होना संभव है वा नहीं ?

उत्तर—कदाचित् ऐसा मान लो कि इस काहमें आधिक समकित नहीं होता ऐसा विना-शमें स्थिति किया है। अब उस जीवको विचार करना योग्य है कि आधिक समकितका क्या अर्थ है ? जिसके एक नवकारमय विनाश भी अत्यन्त-सम्भव नहीं होता फिर भी वह जीव अधिकसे अधिक तीन भस्मों और नहीं तो उली भस्मों परम्परको प्राप्त करता है ऐसी महान् आत्माके करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है। फिर अब ऐसी वह कोनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे आधिक समकित कहा जाय ?

यदि तीर्थस्वरूप महाबन्धी इस अर्थात् नाम आधिक समकित माने वा वेही कोनसी अर्थात् समझनी चाहिये जिसे कि हम समझें कि वह वा निश्चयसे इस काहमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मान्य नहीं होता कि अनुक्त दशा अथवा अनुक्त अर्थात्को आधिक समकित कहा है वा फिर हम करते हैं कि विनाश-मय दशाकी केवल ही अर्थ हुआ कि आधिक समकित हाता ही नहीं। अब यदि ऐसा समझा कि वे दशा किसी लुप्त आत्माके करे गये हैं अथवा किसी पीछेके काहक विनाशमें दोषसे निश्चि विव मये हैं, तो जिस जीवने इस विषयमें आत्मापूर्वक प्रतिपादन किया हो वह जीव के उद्योगसे प्राप्त होगा यह लक्ष्य कदापूर्वक विचारना योग्य है।

हाहमें जिसे विनाशपूर्वक नामसे कहा जाता है उन स्थितिमें आधिक समकित नहीं है ऐसा स्थिति नहीं किया है तथा परम्परगत और लुप्त भी बहुतसे प्रयोगों यह बात कही जाती है ऐसा हमने पता है और सुना भी है। और यह वाक्य विनाश है अथवा मृग्य है ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है तथा यह वाक्य जिस प्रकारसे किया है वह एकत्र अभिप्रायसे ही किया है ऐसा भी हमें नहीं लगता। कदाचित् ऐसा समझा कि वह वाक्य एकत्रस्वरूप ऐसा ही है तो भी किसी भी प्रकारसे व्याख्या होना योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको लघुवर्गके आत्मापूर्वक नहीं जाना तो फिर वे व्याख्या ही उत्पन्न नहीं हैं। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें विनाशमें किया है कि पौष काहकी तरह पौषके काममें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष हुआ तो इस बातका व्यवस्था करना कोई दुर्लभ और हमारे जिने कष्टात्कारी नहीं है। तबला अथवा मोक्ष-मातिका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि जिस दशामें वह मोक्ष-मातिका नहीं है उस दशाकी प्राप्ति ही इस है उपरोक्षी है और कल्याणकारी है।

अन्तमें आधिक समकितकी पुष्टिका उत्तरदायक करने हुए उत्पन्न करते हैं— तीर्थस्वरूप भी ऐसा ही कहा है और वह हममें उसके आगममें भी है, ऐसा मान है। कदाचित् यदि ऐसा कहा हुआ अब

मी नदीको पार करने जैसे प्राणातिपातक्य प्रयोगकी आज्ञा करनी पड़ी है। जिस व्याख्या पर जोह-
लमुद्राका विशेष समाम करके, छात्र आराधन करेगा, तो वंच महाशक्तोंके निर्मूक होनेका सम्यग् भावेमा-
न्य मानकर मगधान्ते नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा, प्रत्यक्ष प्राणातिपातक्य होनेपर भी पंच
महाशक्तोंकी रक्षाके हेतुक्य जो कारण है, वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपात होनेपर
मी नदीके पार करनेकी अप्रत्याप्तिपातक्य आज्ञा होती है फिर भी 'तब प्रकाशके प्राणप्रतिपत्तये निवृत्त
होता है'—इस वाक्यको एक बार ध्यानपूर्वक ध्यान करनी है। परन्तु वह ध्यान किसे विचार करनेपर तो उसकी
विशेष दृष्टांते के मने ही माह्य होती है। इसी तरह वृत्ते वृत्तोंके मने भी है। 'मैं परिग्रही की सर्वथा निवृत्ति
करता हूँ'—इस प्रकारका श्रवण होनेपर भी यद्यपि पात्र और पुस्तकका संबंध देखा जाता है—इसमें अंगीकार
किया जाता है। उसका, परिग्रही की सर्वथा निवृत्तिके कारणका किसी प्रकारके रक्षणक्य होनेसे
विधान किया है और उससे परिग्रहमें अग्रिम ही होता है। मूर्च्छापरिवर्तन मात्रसे निवृत्त अस्मत्प्रधानकी दृष्टि
होनेके मने ही पुस्तकका अंगीकार करना बताया है। तथा इस कारणसे धीरेसे धीरे ही ईश्वर देवता
परिग्रहे विरुद्धी स्थितिसे समाम्य करनेके मने ही यद्यपि, पात्र आदिका ग्रहण करना बताया है अर्थात्
यह अस्मत्-हित देखा तो परिग्रह रखनेकी आज्ञा दी।

मैत्रुतागमि जो अपवाद नहीं है उसका कारण यह है कि उसका यद्यप्येके बिना मना नहीं
हो सकता; और यद्यप्ये अस्मत्प्रधानकी अग्रिम ही है; इससे मगधान्ते उसमें कोई अपवाद नहीं बताया।
नदीका पार करना यद्यप्येके बिना हो सकता है; पुस्तकका ग्रहण करना भी यद्यप्येके बिना होना
संभव है परन्तु मैत्रुता केवल यद्यप्येके बिना संभव नहीं हो सकता। इसलिये मगधान्ते इस वृत्तके
अपवादपरिग्रह कहा है और वृत्ते वृत्तोंमें अस्मत्प्रधान स्थिते किए ही अपवाद कहा है। इस कारण जिस
तरह यद्यप्ये—समाम—यद्यप्ये, इसी तरह करनेके मने बिनाममकी रचना की गई है।

पत्र लिखने अथवा समाचार आदि करनेका जो नियम किया है, उसका भी वही हेतु है।
जिससे जोह-लमुद्राकी दृष्टि न हो प्रीति-अप्रीतिके कारणकी दृष्टि न हो किसी आदिसे परिचयमें
आनेका प्रयोजन न हो संभव स्थिति न हो अन्य, उस उस प्रकारका परिग्रह बिना कारण ही स्वीकृत
न हो अन्य—इस प्रकारके समामित जनत कारणोंको देखकर पत्र आदिका नियम किया है परन्तु वह
भी अपवादपरिग्रह है। जैसे दूरत्वकर्म अनार्यभूमिमें विचरनेकी मना की है, और वही क्षेत्रकी मर्यादा
भीनी है परन्तु ज्ञान वर्धन और संयमके कारण वही भी विचरनेका विधान किया गया है। इसी अर्थके
असरसे माह्य होता है कि यदि कोई ज्ञानी पुत्र वृत्त होता हो—उनका समाम्य होना सुनिश्चित हो,
और यदि पत्र-समाचारके विधान द्वारा कोई उपाय न हो तो फिर अस्मत्प्रधानके विधान द्वारा ही उस
प्रकारकी दृष्टिकर्म त्याग करके उस ज्ञानी पुत्रकी आज्ञासे अपवाद किसी मुद्रा—अस्मत्प्रधानकी समाम्य
आज्ञासे देखा करनेका विधानमें नियम नहीं होता ऐसा माह्य होता है।

केवलज्ञान

(१) प्रश्नः—क्या मूल यथिष्य और वर्तमानकाही अथवा फार्सीके पुण्य ज्ञान होनेको
केवलज्ञान करते हैं।

उत्तरः—क) सर्व देव अथ आदिज्ञान केवलज्ञानीके होता है, ऐसा विधानका
वर्तमानमें स्वीकृत नहीं है। यदि वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विशेष दिखाई देता है।
यदि विनवमत् केवलज्ञानको जोह-लमुद्राका मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निराहार, विहार आदि
विधानों के लिए ही सफाई है।

योगशीलना अर्थात् मन कथन और कावाचक स्थिति होनेसे आहार आदि के मने प्राप्ति होते
समय उपयोगपर हो जानेसे उसमें कुछ भी निवृत्ति अर्थात् उपयोगका नियम होना संभव है। एक समाम्य

किन्तीका का उपयोग नहीं रहने वह यह सिद्ध है। तो आहार आदि की प्रभुत्विक समस्त उपयोगमें यथा हुआ केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके क्षेत्रके प्रति यत्ना सम्यक् नहीं; और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानका जो अग्रिमण्डल कहा है वह प्रतिहत हुआ माना जाना। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि 'मेरे हृदयमें पदार्थ प्रतिस्थित रहते हैं' ऐसे ही केवलज्ञानमें उन देश का प्रतिनिधित्व होते हैं; तथा केवलज्ञानी उनमें उपयोग प्रयाकर उन्हें जानता है वह बात नहीं है किन्तु तब समझते ही वे पदार्थ प्रतिस्थित हुआ करते हैं, इसलिये आहार आदिमें उपयोग रहने हुए तब स्वयंके प्रतिमात्रित ऐसे केवलज्ञानका अग्रिमण्डल पदार्थ है 'तो यहाँ प्रश्न हो सकता है कि हृदयमें प्रतिमात्रित पदार्थका ज्ञान हृदयको नहीं देता और यहाँ तो ऐसा कहा है कि केवलज्ञानीको उन पदार्थोंका ज्ञान होता है; तथा उनकोके निवार अस्मात् प्रया कोनका कृत्य रहता है कि वह आहार आदिमें उपयोग होता हो तब तबके केवलज्ञानमें प्रतिमात्रित होने योग्य वस्तुको अज्ञान मान लेंगे ?

यदि सर्व देश का आरका ज्ञान कि केवलज्ञानी हो तब केवलज्ञानी सिद्ध करने ही वह समस्त ज्ञान का लक्ष्य है क्योंकि तब योग्यतायुक्त नहीं कहा है। किन्तु इसमें भी वह समझना चाहिये कि जिस की योग्यतायुक्त क्षेत्रके सिद्ध होने केवलज्ञानकी मान्यता हो तो योग्यतायुक्त होने के तब सर्व देश का ज्ञान आदिका ज्ञान समस्त हो सकता है—इतना प्रतिपादन करनेके लिये ही यह लिखा है किन्तु सिद्ध होना ज्ञान योग्य ही है। इन सबको प्रतिपादन करने के लिये नहीं लिखा। क्योंकि ज्ञानात्मके कर्म—जबकि अन्तरा देखने के तब देखती के लिये और सिद्ध में केवलज्ञानका भेद नहीं होता—यहाँको ही सर्व देश का ज्ञान आदिका ज्ञान समस्त ज्ञान होता है वह कर्म लक्ष्य है। पदार्थ कृत्य अज्ञानके ज्ञानात्मक देखने के लिये ही समस्त कहा है। ज्ञानात्मके निरप्रकारके पाद देखनेमें जाता है:—

केवलज्ञान के प्रकारका कहा है—'बोलीमारा केवलज्ञान और अशरीरमय केवलज्ञान। शरीरी केवलज्ञान के प्रकारका कहा है—प्रथम समस्त अज्ञान् उपाय होनेके समस्त अशरीर-केवलज्ञान, और अशरीर समस्त अज्ञान् अज्ञानी होनेके प्रत्येक समस्तके परिच्छेद केवलज्ञान। इसी तरह अशरीर-मारा केवलज्ञान की दो प्रकारका कहा है—प्रथम समस्त केवलज्ञान और अशरीर अज्ञान् सिद्ध होनेके लिये के अशरीर समस्त केवलज्ञान'।

(क) केवलज्ञान यदि तब ज्ञान का ज्ञान आरका कावच रहने तो तब वस्तुमें निरप्रकार योग्यता का योग्य—उत्पत्ति अनेकता सिद्ध न हो। क्योंकि उनका अज्ञान अनेकता समस्तमें नहीं जाता; अर्थात् केवलज्ञानमें उनका ज्ञान योग्य प्रतिपादन हो सकता है। तबका निवार वस्तु के लिये ही देता है।

केवलज्ञानकी व्यवस्था

इसमें समस्त ज्ञानका तब योग्यता का ज्ञान आरका कावच रहने तो तब वस्तुमें निरप्रकार योग्यता का योग्य—उत्पत्ति अनेकता सिद्ध न हो। क्योंकि उनका अज्ञान अनेकता समस्तमें नहीं जाता; अर्थात् केवलज्ञानमें उनका ज्ञान योग्य प्रतिपादन हो सकता है। तबका निवार वस्तु के लिये ही देता है।

१ ५९८-५९९ १-१९

२ ५९९-५९८-१९

३ ५९ ५८८ ८-१९

४ ५९९-५९९ ३-१

मूर्तिपूजनका समर्पण

इस संदर्भमें यह बात अत्यन्त ध्यानमें रखने योग्य है कि यद्यपि राजबन्धुजीके जैनतत्त्वज्ञानका अन्त्यात जैन स्थानकमाली संप्रदायमें स्थापित होता है, परन्तु ज्यों ज्यों उन्हें स्वेताम्बर मूर्तिपूजक और शिवाम्बर सम्प्रदायका सन्धिस्थ देखनेको मिलता गया, त्यों त्यों उनमें उत्तरोत्तर उदारताका मास आता गया। उदारताके बिना परममें राजबन्धु मूर्तिपूजकके विरोधी थे, परन्तु जाम्बे चलकर वे प्रतिमाको मानने लगे थे। राजबन्धुजीके इन प्रतिमापूजनसंघर्षों विचारोंके कारण बहुतसे लोग उनके विरोधी भी हो गये थे। परन्तु उन्हें तो किसीकी प्रशंसा-अपवादका विचार किये बिना ही जो उन्हें उचित और शान्त-संगत जान पड़ता था, उसीको स्वीकार करना था। राजबन्धुजीने स्वयं इस संदर्भमें अपने निम्नरूपसे विचार प्रकट किये हैं:— मैं पहिले प्रतिमाको नहीं मानता था और अब मानने लगा हूँ, इसमें कुछ फलदायक फल नहीं, परन्तु मुझे उत्तरी सिद्धि मध्यम हुई, इसलिये मानता हूँ। उत्तरी सिद्धि होनेपर भी इसे न माननेसे पहिलेकी स्थिति में कुछ भी फल नहीं रहती, और ऐसा होनेसे अपराधका भी नहीं रहती। मुझे इस मत अथवा उत्तरी सिद्धि कोई सम्मता नहीं, परन्तु शास्त्रोपरहित होनेकी परमाकांक्षा है, और इसके बिना जो जो साधन हो उन सबकी सहायता करना, उन्हें कल्पसे करना ऐसी मेरी मान्यता है, और इसके बिना स्वात्मीयके बचनेपर पूर्व विस्वास है। अन्तमें राजबन्धु अनेक प्रमाणोंसे प्रतिमा पूजनकी सिद्धि करनेके बाद, प्रत्येक अन्तिम अनुरोधमें अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:— 'अब इस विचारको मैंने ठेकेसे पूर्व किया। केवल प्रतिमासे ही चर्य है, ऐसा कहनेके बिना अपना प्रतिमापूजनकी सिद्धिके बिना मैंने इस अनुसंधानमें कसम नहीं चलाई। प्रतिमा-पूजनके बिना मुझे जो जो प्रमाण मध्यम हुए वे मैंने उन्हें ठेकेमें कर दिया है। उत्तरी उचित और अनुचित देखनेका काम शास्त्र-विचक्षण और शान्त-संगत पुरुषोंका है। और चाहें जो प्रामाणिक मात्स्य हो उस तरह स्वयं पूजना और दूसरोंको भी उसी तरह प्रसन्न करना वह उनकी भावनाके उत्तर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध नहीं करता; क्योंकि जिस मनुष्यने एकबार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उत्तम समर्पण करे तो इसके प्रथम फलदायक बिन्दु बहुत बड़ा होता है, और वह कदापि कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति जोसे उत्तम पहिले ऐसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उत्तम स्वयं इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अपमान अधिक हुआ और उसके पुस्तकाने निमित्त मैं ही होता इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे कटाक्षपर्यन्त एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि मेरे बिना उन मूर्तियोंके सन्नेसे संक्षेप विचार आते रहेंगे, तथा तूने जिस प्रमाणसे इसे माना है, वह भी केवल एक ठेके ही। इसमें वह कल्पना, इसलिये उत्तरी उत्पत्तापूर्वक प्रसिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। जब उत्तमसे बहुत ही निर्मल जिस विचारको देखना हुई, उसे ठेकेमें कर देता हूँ। प्रतिमाको मानो, इस आपराधके बिना वह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है। तथा उन लोगोंके प्रतिमाको समनेसे मैं कुछ बचवाना तो हो ही नहीं पाऊँगा।'

दिगम्बर-श्वेताम्बरका समन्वय

राजबन्धुजीने दिगम्बर-श्वेताम्बरका भी समन्वय किया था। उनका स्पष्ट कथन था कि दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि मतपक्षोंसे एक कसमका मेल है। राग, द्वेष और लज्जाका यह होना ही जैनमार्ग है। कविवर बतारसीदासजीके शब्दोंमें राजबन्धु कहते थे:—

यद यद अमरं किं नरे यद यद अमरं जैन ।

यदि-मदिराके पानसे मत्तता लभते य ॥

—अर्थात् यद यदमें किं नरे लभते है और यद यदमें जैन लभते है, परन्तु मत्तता यदिराके पानसे मत्त हुआ जीव इस ब्रह्ममें नहीं लभता। वे लिखते हैं:— 'जिसे मत्तपदित-कटाक्षपरित-हुआ

बता है—तब जन्ममरण प्रवृत्त होता ही नहीं है। वेदान्तका आधार—दियम्बर तथा स्नेहाम्बर आचार्योंका अन्वय-होवासायीका आधार—मात्र आह्वानका अनन्तन धर्म प्राप्त करना ही है। 'दियम्बर और स्नेहाम्बरमें तबहमिले कोई भेद नहीं जो इक गेद है वह मर्यादित ही है। उनमें भेद ऐसा भेद नहीं जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सके। दियम्बरतब-स्नेहाम्बरतब आदि देश काष्ठ और बकिकारीके संबंधों ही उपकारके कारण हैं। धीरे धीरे बल बल जानन सब मनुष्योंके लक्ष्य दियम्बर वृत्तिसे रहने हुए पारिवर्तन निर्वाह संभव नहीं इतन्विने जानीछाता उपदेश किया हुआ मार्गदर्शपूर्ण स्नेहाम्बर वृत्तिसे आकार्य करना बताया गया है। वषा इली तरह बरफका आग्रह रक्ताकर दियम्बर वृत्तिका प्रकाश निवेश करके बरफ-मृच्छर आदि कार्योंका वाग्विधि विधिबद्धता करना भी थाय नहीं, इतन्विने दियम्बर वृत्तिसे आकार्य करना बताया गया है।

उपपन्न की क्या करते थे कि वेदान्तकोंमें नव प्रमाण, उपपन्न अनुयोग जीवपति आदि की वषा सम्यक्के लिये ही बताया है। परन्तु होता है क्या कि लोग नव आदिकी वषा करते हुए नव आदिमें ही ठूँक करते हैं। वे वह भूक बल है कि वेदान्तोंको जो लक्ष अथवा अनंत नव बताया है वे लक्ष एक जगत्त्व ही के लिये हैं। वह मय आदिका परमार्थ जीवसे निकल बाहर हो ही कम होता है नहीं तो जीवका नव आदिकी ज्ञान व्यक्तता ही हो जाता है और वह फिर मर्यादित करनेका स्थान होता है। अतएव वास्तवमें नव प्रमाण आदिकी व्यक्तताका ही समझना चाहिये, अन्य तो केवल एक व्यक्तित्व है।

वेदान्त आदि दर्शनोंका अभ्यास

उपपन्न की क्या वेदान्तकोंका ही लक्षित न था परन्तु उन्होंने बोधवाचि मन्त्राक्त, विद्यावाचि मन्त्राक्तका लक्षितत्व प्रिधायन वेदान्तका, वाक्योप ही उपपन्नित मेरुवृत्त प्रबोधपद्धति आदि वेदान्त आदि दर्शनोंका भी लक्ष समन—निश्चित्यन किया था। वषा ज्ञान बताया है कि उपपन्नकीने वीर्य, वाक्य, पदार्थका लक्ष्य वेदिक रामानुज आदि दर्शनोंका लक्ष्य परित्यक्त परमार्थतत्त्वपर अति वेद उपपन्नो ही प्राप्त किया था; परन्तु उनका वेदान्त दर्शनका सम्प्राप्त बहुत अथवा था। इतना ही नहीं वेदान्त दर्शनकी और उपपन्न समुक्त लक्षमें बहुत कुछ आकर्षित भी हुए थे और बहुतसे अनिश्चितताके साथ वेदान्त दर्शनकी उन्होंने तुलना भी की थी। वेद और वेदान्तकी तुलना करते हुए वे लिखते हैं—वेदान्त और निश्चित्यन इन दोनोंमें अनेक प्रकाशते भेद हैं। वेदान्त एक सम्प्राप्तपक्षे लक्षितविकी करता है किन्तुमये उनके मित ही स्वरूप कहा गया है।

१ लो ११४-१४८-१ ; ७११-८८५-१

२ वषाविषयकी भी लिखते हैं—

विद्या ली जगत्प्रपन्नं ज्ञानं न वि ज्ञानं ।

विद्या ली उपपन्नं मय केय जाने पान् ।

आत्मतत्त्व निवारिण ए आदनी ।

—आत्मतत्त्वविचार मर्यादित लीमर विनियमन १-१

१ १४१-५५७ ५६१-५९१ ; २ -५११-५४

४ उपपन्नकीका वीर्यवर्षका ज्ञान प्राप्त मायाम होता है। वीर्यवर्षके पक्ष में वेद बताते हुए उपपन्नकीने मायमिक और वाक्यवर्षको मित मित विभागा है। वह कि वे दोनों वस्तुता एक ही हैं। इली तरह वे लिखते हैं कि एम्पकारी वीर्यके अन्तर्गत आत्मा निश्चित्यन है, परन्तु निश्चित्यनको निश्चित्यन ही वीर्य ही स्वीकार करते हैं। एम्पकारी ही वह वाक्य ही मानव है—वेदो ५ ५१८ पर अनुगत रक्ता दुपरीत,

५ वेदो ५ ४-४८ -४८ ; ५११-४७५-५९१ ; ५९१-४९१-५९१ ; ५१४-४९८-५९१ ;

५११-५११-५९१ ; ५५७, ५५८-५८१ ४-५९२

‘दीनबन्धुका अनुग्रह’ आदि शब्दोंका जगह जगह उल्लेख करते हैं, ‘ईश्वरपर विश्वास रखनेको एक सुलभायक मार्ग’ समझते हैं। तथा ‘हरिहरान’ के भिन्ने भावसे आनुरागा प्रकट करते हैं। वे अपने भावको हरिके भिन्ने समर्पण कर देते हैं और बहोतक किस ढाँके हैं कि “अतएव ईश्वरेष्टा न होमी तवतक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक दृष्टक तुमके दो डूफड़े करनेकी भी लता हममें मही है।” इत दृष्टाई ईश्वरभक्तिको सर्वोपरिमार्ग बतते हुए राजचन्द्रजीने जो अपनी परम उत्सवसन्तुष्ट दशाका वर्णन किया है उसे उनकी शब्दोंमें सुनिये—“आज प्रभुवले निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनते इच्छित परमार्थिक किसी अनुकूलकसे उचित हुई है। श्रीमद्भागवतमें एक कथा है कि गोविन्दी मगवान् बामुदेव (कृष्णचन्द्र) को बहीकी मरकीमें रखकर बेचनेके लिए निकली थीं। वह प्रत्येक आज बहुत पाद आ रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है वही लहसुनरक कमल है, और वही वह बहीकी मरकी है, और जो आदिपुरुष उतमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ मगवान् बामुदेव हैं। लघुपुरुषकी विस्तृतिकुली गोपीको उतकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उतसमें आकर दृष्टी किन्ही मुमुक्षु आत्माओंसे करती है कि ‘कोई मायब जो हों रे कोई मायब जो —अर्थात् वह दृष्टि करती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है और वह वह एक ही प्राप्त करने योग्य है, दृष्ट कृष्ण भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं। इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उतसमें वह फिर फिर करती जाती है कि तुम उत पुण्यपुरुषको प्राप्त करो और यदि उत प्राप्तिभी इच्छा अथवा प्रेम्से करते हो तो हम हमें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मरकीमें रखकर बेचने निकली हैं योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं। कोई ग्राहक बनो, अथवा प्रेम्से कोई ग्राहक बनो, तो हम बामुदेवकी प्राप्ति कर दें।

मरकीमें रखकर बेचने निकलनेका यह भाव यह है कि हमें लहसुनरक कमलमें बामुदेव मगवान् मिल गये हैं। बहीका केवल नाम मात्र ही है। यदि हमसे उतकी मरकर मरकल निकलें तो केवल एक अमृतकपी बामुदेव मगवान् ही निकलते हैं। इस कथाका अन्तही इस स्वप्न वही है। किन्तु उतको लूक बनाकर व्यापारीने उते इस कसे वर्णन किया है और उतके द्वारा अपनी अद्भुत प्रवृत्ति परित्यक्त दिया है। इस कथाका और समस्त भाववत्तका अन्तर अन्तर केवल इस एकको ही प्राप्त करनेके उद्देशसे मग पड़ा है; और वह (हमें) बहुत समय पहले समझमें आ गया है। आज बहुत ही स्वादा स्मरणमें है। क्योंकि लल्लू अनुभवकी प्राप्ति हुई है और इस कारण जानकी दशा परम अद्भुत है। ऐसी दशासे शीघ्र उन्मत्त हुए दिना न योग्य। तथा बामुदेव हरि आन ब्रह्मकर कुछ समयके भिन्ने अन्तर्धान भी हो जानेको लक्ष्मीके चारक हैं। इसलिये हम अत्यन्त आहते हैं, और आश्चर्य लक्षण भी अत्यन्त ही है इस कारण भी वह हमें विषय विषय है।

वहाँ लक्ष्मीकी कमी है और विपन्न स्थानमें निवसत है। हरि-वृष्णापूर्वक ही बूझने चिन्ते-

१ १६-१४५-१४

१ परमार्थिक वर्णन सुंदरराजजीने इस तरह किया है—

अथ विनु सुनि सुने नवनु विनु कम निहारे। रचना विनु उचरे प्रथंथा बहु विलारे ॥

शून्य बान विनु करे इस विनु ठाक बजाने। अंश विना मिथि संय बहुत आनंद बजाने ॥

विनु लील मने नहीं लेखको लेखकमग भिन्ने खे। मिथि परमात्मता आत्मता परमार्थिक सुंदर करे ॥

—बालचन्द्र १-५१

२ सुंदरराजजी इस दशाका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—

प्रेम कथो परमेश्वरों तब भूषि पायो लियोय बस बाव।

ज्यों उनयस रिरे भितही रित नेक खी न लीय लंकाव।

स्वात उचता उते तब रोम बके दग नीर अलंघित बाव।

सुंदर कौन करे मन्दा विधि छाकि पयो रत की प्रतापग ॥ —कालचन्द्र १-१९

आत्मविकासकी उच्च दशा

राजबन्धुकी इस समय अपना हाथी बेचना का अनुभव करते हैं। लक्ष्मीकी गुधका दर्पण पर ' ' के अक्षरकल्प — ब्रह्मसमाधि में लीन हो जाते हैं। बन्धुका सेगोंका पत्र-भ्यार उन्हीं बन्धनरूप हो उठता है। स्वाग्रह गुणलक्षण आदिकी शिर बुगा देनेवाली चर्बीजोंसे उनका चित्त विरक्त हो जाता है और वो जोर के अपना निबन्ध मान यूँ बैठते हैं अपना मिथ्यानामचारी निमित्तमात्र अन्ध चरणा, लक्ष्मीरूप आदि धर्मोंसे उठेला करते हैं और कभी तो उलझते आकर अपने आपको ही नमस्कार करते हैं। आत्मप्राप्ति पर लक्ष्मी उन्मत्त हो जाते हैं कि वे सर्वगुणलक्षण भगवान्‌तकमें भी योग्य निकायते हैं; और तीर्थंकर बननेकी केवलज्ञान पानेकी, और मोक्ष प्राप्त करनेतककी इच्छासे निर्दोह हो जाते हैं। कबीर आदि संतोंके शब्दोंमें राजबन्धुकी यह अवस्था कदा कदाभी नहीं जाती और क्लेशनेसे किसी नहीं जाती। उनके चित्तकी दशा एकदम निर्दोष हो जाती है। इस अवस्था दशामें 'उन्हीं सब कुछ अपना समझते हैं और कुछ भी अपना नहीं समझते। उन्हें किसी भी कामकी स्मृति अपना खबर नहीं रहती किसी काममें प्रयोजित उपयोग नहीं रहता, बसंत कि उन्हें अपने मनकी भी कुछ कुछ नहीं रहती। कबीर साहबने इसी दशाका हरिव पीसा आदि कवि न बच कुमार। मैंमत्ता ब्रह्म द्विरे मारी मनकी लार —'इहंकर वर्णन किया है। राजबन्धुकी यह दशा का उन्हींके शब्दोंमें सुनिवे:— ' एक पुण्य-पुण्य और पुण्य-पुण्यकी प्रेम संघर्ष बिना हमें कुछ भी अपना नहीं समझते। हमें किसी भी पदार्थमें विलुप्त भी नहीं रहती। कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; स्वयंसे केवल वक्त्या है इसका भी मान नहीं, बल्कि कि स्थितिमें है इसकी भी स्मृति नहीं रहती; धनु-निर्धर्म कोई भी भवभाव नहीं रहा; कौन धनु और कौन मित्र है इसकी भी खबर नहीं रहती। हम देहाती हैं वा और कुछ अब यह बाद करते हैं तब मुक्तिमत्ते जान पड़ते हैं। हमें क्या करना है वह किसीकी भी

आ हमारी बात प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष देखाये तीर्थंकरदेवना सर्ववर्मा अपने बारबार विचार पड़ा करे के के हमने अभिज्ञान ब्रह्म का जलपूजनमें से—तेनुं ही करण। ही तेने अभिज्ञान मुं बन मरी वरुं होव। अपना 'अभिज्ञान' नहीं होव—अपना कोई उठेये धुगामुं होये। अपना कर्मनेमे परंपरे नहीं समझानी 'अभिज्ञान' विनेतु कवन सब धामुं होये। आ विचार पसा करे के ओके तीर्थंकरने अने मोटा पुन्य मानीय छीए तेने ममकार करीए छीए, तेना अपूर्व गुण ऊपर हमारी परम मछि के अने ठेकी अने चारीए छीए के अभिज्ञान वो तेमन अनेछे—एन छेछेमे संन्याए मार्गनी भूषणी बन करी नाबनु। अस्तुं कोई अभिज्ञान होवुं जोहए—एन बना लए मरणाजीतुं कवन के, अने अने एन एमन करीए छीए के अभिज्ञान के—अने ये अभिज्ञान ही भगवान्‌ के—अने छरी छरी हृदयेहमं जोहए छीए।

तीर्थंकरदेवने मोठे लखत शब्दों लखानो छे मोठे तेने ममकार।

—यह एव पत्रांक १९१ का ही अंश है। इस पत्रांक यह भाग श्रीमद् राजबन्धु के अक्षरक प्रकाशित किसी भी संस्करणमें नहीं छया। यह सुते एक लखन मुमुक्षुकी हृदये प्राप्त हुआ है—इन्के सिधे केवल उनका बहुत आभारी है। इस पत्रांक राजबन्धुकी विचारोंके सर्ववर्ष बहुत कुछ लक्ष्मीकरण होता है।

१ देसो ५५-१९४-११, ११-१९-११

२ आत्मनन्दनजीन मी अपने आत्मी आत्मनन्दनजीनजी (१५-११) में एक जगह नमस्कार किया है:—

जरो जरो मुं मुने कहुं नयो मुन नयो मुन रे।

अभिज्ञान पद धन शायरी केदनी भिद बरुं द्रव रे ॥

१ १४४-११५-११

४ देसो १९१-१९५-१४, १८४-१९५-१४, १९५-१९५-१४

अमृतस्वस्ते मोक्ष राती है। क्योंकि हम वास्तवमें स्थायीन हैं, अमर हैं, सर्वशक्तिमान हैं, परिमितते हुए हैं। 'हृत् और अहम्के' मेरुते पर हैं तथा आत्मा और परमात्माते अभिन्न हैं।' बौद्ध धर्म ईश्वर, मुक्तमान आदि सभी धर्मोंके प्रगल्भार्थने इस दशाका भिन्न भिन्न रूपमें वर्णन किया है। निरुद्धेह राजचन्द्र अमरमरिक्तस्त्री उच्च दशाको पहुँचे हुए थे; और जान पड़ता है इसी दशाको उन्होंने 'सुप्रसन्नचित्त' के नामसे उल्लेख किया है। वे किन्ते हैं—

भोग्यवीर्ये ने सुप्रसन्नचित्ते समक्षितं शुद्धं प्रकाशं रे ।

सुप्त अनुभव वचती दशा निरुद्धस्वप्न अवभासं रे ॥

इस समयमें उन्होंने संवत् १९४० में, अपनी २४ वर्षकी आयुस्थायें सुप्त-अनुभव, बहरी हुई दशा, और निरुद्धस्वप्नके मध्य होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है।

राजचन्द्रजीका लेखसंग्रह

श्रीमद् राजचन्द्रजीने अपने ११ वर्षके छोटेसे जीवनमें बहुत कुछ बौद्ध और बहुत ही कुछ ख्रिस्ता । बचपि राजचन्द्रजीके कैलौ पत्नी आदिका बहुत कुछ संसर्ग श्रीमद् राजचन्द्र 'नामक ग्रंथमें जा गया है। पस्तु नहीं। वह बता देना आवश्यक है कि सभी राजचन्द्रजीके पत्नी आदिका बहुतसा माय और भी मोक्ष है । और इस मायमें कुछ माय तो ऐसा है किन्ते राजचन्द्रजीके विचारोंके सर्वप्रथम बहुतसी गई बर्तोंपर प्रकाश पड़ता है और सर्वप्रथम बहुतसी गुणियाँ सुकृती हैं। राजचन्द्रजीके कैलौको सामान्य तथा तीन विद्यामेंमें विनष्ट किया जा सकता है। प्रथम मायमें राजचन्द्रजीके विविध पत्नीका संसर्ग आता है; किन्ते राजचन्द्रजीने भिन्न भिन्न अवसरोंपर मुमुक्षुओंकी उत्तरदानकी शिवाज ध्यात करनेके विधि किया था । इन पत्नीमेंसे कुछ ऐसेसे सात सात पत्र पढ़िये ठहुर किने जा चुके हैं । राजचन्द्रजीके पत्नीमें— सातकर किन्ते गाँधीजीने राजचन्द्रजीके सत्ताइस प्रश्नोंका उत्तर दिया है—गाँधीजीको बहुत सति मित्री थी और वे हिन्दुधर्ममें स्थिर रह लगे थे यह बात बहुतसे लोग जानते हैं। राजचन्द्रजीके कैलौका दृष्टा मन्त्रा निरुद्धस्त्री है। इन पत्नीके पत्रनेसे मालूम होता है कि राजचन्द्र अपना स्वतः आत्मनिरीक्षण (Self analysis) करनेमें किन्ते उत्तर्क राखे थे। कहीं कहीं तो उनका आत्मनिरीक्षण इतना दृढ़ और स्पष्ट होता था कि उनके पत्रनेसे सामान्य लोगोंको उनके विषयमें प्रम हो खनेकी सम्भवना थी। इसी कारण राजचन्द्रजीको अपना अंतःकरण लोककर रखनेके विधि कोई योग्य स्वप्न नहीं मिलता था। बहुत करके राजचन्द्रजीने इन पत्नीको अपने महान् उपकारक साधक निरासी जीवित सौम्यमार्गको ही खिन्ता था। इस प्रकारके सखिस्व अपनी मर्यादोंमें बहुत ही कम है। इतने लम्बे नहीं थे समस्त पत्र सर्वप्रथम उपयोगी हैं और राजचन्द्रजीको समस्तनेके विधि पाठार्थका काम करते हैं। अनेक स्थलोंपर राजचन्द्रजीने अपनी निरुद्ध दशाका प्रथम भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इस सर्वप्रथम राजचन्द्रजीकी दो प्रादेशिक दायरी (मीषादी) हैं—किन्ते राजचन्द्रजी व्यावहारिक कामकाजसे अवकाश मिलते ही किन्ते बैठ जाते थे—बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजचन्द्रजीकी दो समस्त समस्त नाना तरहकी

१ विवेकानन्द-राजयोग कन्दन १८९९

२ देखो अमेरिकाक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विधियम जेम्सकी The Varieties of Religious Experiences नामक पुस्तकमें Mysticism नामक प्रकरण; तथा रिचर्ड मोरिस ब्लुमकी Coemio Consciousness १९५८

३ इस मायमेंसे दो महत्त्वपूर्ण पत्नीके अर्थ पढ़िये उद्यत किने जा चुके हैं। इन पत्नीका कुछ माय मुझे दो मुमुक्षुओंकी कृपित पत्रनेको भिन्ना । एक पत्रमें दत्त या राख मुरीमें राजचन्द्रजीने अपनी निरुद्धस्वप्नसर्वप्रथम आत्मोपनिषद् निरुद्ध खिन्ता है। मुझे इस पत्रसे राजचन्द्रजीका दक्षिण समस्तनेमें बहुत महत्त्व मिली है। इसके विधि उच्च मुमुक्षुओंका मैं बहुत प्रभाव हूँ ।

विचारधारणें उदित होती थीं उन्हें वे अपनी हाथीमें मोट कर लेते थे। वर्यी राजकुमारीके कर्णोंकी तरह उनकी मांसर हाथी की अर्धूर्ण ही हैं फिर भी जो कुछ हैं वे बहुत महत्त्वही हैं। राजकुमारीके कैलौका तीव्र मय उनकी मौखिक व्यवसा अनुप्राणनक और विवेचनसमक रचनामें हैं।

मौखिक रचनायें

खीनीतिबोध प्रथम मय राजकुमारीकी १६ वर्षीय पहिलेकी रचनाओंमें प्रथम रचना मिली जाती है। वह मय पद्यमयक है और वह ८ १५४ में प्रकाशित हुआ है। राजकुमारीने इस प्रबंधमें तीन पद्योंमें कानेका विचार किया था। मयम होता है राजकुमारी केन दो भागोंको विचार नहीं ठके। मयके कुछमुनेके ऊपर कीशिकाकी आशयवक्त्याके विषयमें निम्न पद्य दिया गया है—

क्या देख आचार तो होत चले मयकी गवानी बनिता तुमको।

कभी जानेंचुमि विने केर हानि करो दूर लेने तमे दिन मानी ॥

राजकुमारीने इस प्रबंधमें दोपदीकी प्रत्यावका भी मिली है। उन्हीं कीशिकाके ऊपर जो पुनर्ले विचारके मय आचार करते हैं उनका निरूपण किया है। तथा जिसको तुमपदेके विभि वाक्य, अनंतक विचार आदि कप्रभाओंको दूर करनेका कोरोंके अनुप्रेष किया है। इस पुनर्लेके राजकुमारीने काय मय किये हैं। प्रथम मयमें ईश्वरपूजा कावचमुन देर मयकी पुनीये शिखा, लम्पके लयन न लोना आदि। दूसरे मयमें शिखा शिखाके काय मनका कीये विचार आदि लोने चकमें तुम, लहगुन लुनीति लय, परलुन आदि; तथा लोने मयमें लहगुनसमानी और लोचयवक इस तरह लय निरूपण काहीत गयी है।

राजकुमारीका दूसरा मय काव्यमाहा है। 'खीनीतिबोध के अन्तमें दिने हुए विज्ञापनमें राजकुमारीने काव्यमाहा मयक एक लुनीतिबोधक पुनर्ले काकर 'पार करनेकी रचना की है। इसके मयम पद्य है कि काव्यमाहा कोई नीतिबोधकी पुनर्ले हीनी चाहिये। इस पुनर्लेमें एकलौ काद काय है जिसके पार मय विने गये हैं। इस पुनर्लेके विषयमें कुछ विवेचन बात नहीं हो सका।

राजकुमारीकी तीसरी पुनर्ले है कवनलसहासी। 'राजकुमारीने कवनलसहासीके पुनर्ले पुनर्ले लयन रचनेको किया है। इस मयमें लसहासी कवन लुने गये हैं। इनमें कुछ कवन निम्न प्रकारसे हैं—

फिर कवन लय न शिखा मय न कन्या (१९) किनी रचनेकी निम्न न कर्क (२०)-
अधिक लय न हूँ (२१५), कीर्तनकमें अधिक कवन न कन्या (२१) आर्यविचारकी विचारका लेन न कर्क (४१५) कोये न लियका (४५१) कोरकमें लय लौन हूँ (५१५) पुनीये लाने निम्न न हूँ (५४५) कुमुनको लयन कन्या (५९१)।

राजकुमारीकी १६ वर्षीय दूसरी लोकी रचना पुनर्लेमाहा है। जिस तरह आराममयमें एकलौ काद लाने होते हैं, उन्हीं तरह राजकुमारीने तुमह काय निरूपिके लयन पाठ करनेके लिए एकलौ काद कवनमें पुनर्लेमाहाकी रचना की है। इनमें लाना कवीक लोनेत, काक लुन दूर कवनमय कवन, पुनर्लेमाहा कन्या आदि कवी लयके कोरोंके विभि विचारन लौने गये हैं। लोचर करने काय कवनमें लाने मयकी और मयिक कवनोंका निम्न अन्य लयलुन बहुत आश्चर्यकारक है। इनमेंसे कुछ कायन यहाँ दिने गये हैं—

कौर पुन कवनम लौनेत अनुपूज न लाना हो के को लोने करता हूँ उने विचार काय—

१. लय हुआ मय मुने केकोलेको नहीं मिला। मैंने यह विवेचन मीनत कायकी केपनकीके मय इत्यतिवित्त खीनीतिबोधक करते किया है।

२. खीनुन लोचरलत कीशामर केक कीमकी कीमकाया 'म विवेचते हैं कि राजकुमारीने का कवनकीके लयन मयनीति के लानेकी कवन काय लौने हैं। पलु एक लयनेके कवन लौनेके लाने कवन और कवनलसहासी एक ही है लयन लयन नहीं।

तु जिस स्थिति को योग्यता है वह किस प्रमाणों से? माग्यमी का कभी बात तु क्यों नहीं ब्याज करता? तु जिसकी इच्छा करता है वह क्यों नहीं मिला? निम्न-विनिश्चिता का क्या प्रयोजन है? (१) मूल्यवान् कहीं भी भेज नहीं जाय इसीसे भेज है, यह मानकर आसन्न समस्त पवित्र धर्मों में प्रवर्तन करना (१४) तु किसी भी कर्म को सम्यक्ता हो उसका गुण पक्षपात नहीं। माघ करने का तात्पर्य यह है कि जिस घर से संसार-मलका नाश हो उस स्थिति उस चम और उस लक्षणों को तु देखन करना (१५) यदि तु लक्ष्य में मल हो तो नैरोस्विन बोनापाई को योंही स्थिति से सम्यक् कर (१६) किन्तु छोटी है और बड़ी बंधन है। इसीसे ज्ञानको छोटी कर, तो सुलभसे किन्तु लक्ष्य मयी माघ्य होगी। (१७)

राजबन्धु की धौलकी रचना मोक्षमात्रा है। वह बहुत प्रसिद्ध है। राजबन्धु को अनेकों विद्या प्राप्त कर आरम्भित होने से होते देख उन्हें स्वधर्म से स्थित रखने के लिये 'राजबन्धु' ने मोक्षमात्रा का नामक प्रथम भाग की रचना की है। प्रथम के उद्देश्य के विषय में राजबन्धु लिखते हैं—
“माघ्यमान की पुस्तक की तरह वह पुस्तक पठन करने की नहीं परन्तु मनन करने की है। इसके इस मन और परमम धर्मों में गुहाय स्थित होना। जैनधर्म को समझाने का इसमें प्रयत्न किया है। इसमें जिनके मर्त्ये कुछ भी न्यायिक नहीं कहा। जिससे वीतरागधर्म और आकाङ्क्षरूप की धर्म हो उसका स्वयं समझने वाले, उसके बीच का हृदय में रोष हो इस हेतु उसकी वास्तविक रूपन बोधना की है। इसमें जिनके धर्म के सुंदर मर्त्ये वादका एक भी अधिक बचन रखने का प्रयत्न नहीं किया। जैसा अनुमान में आता और काङ्क्षे देखा जैसे ही मध्यमकाले यह पुस्तक लिखी है। मोक्षमात्रा में जैनधर्म के सिद्धांतों का लक्ष्य और मूलन दोषों से १८ पाठों में लेखन करने किया गया है। और ये आत्मधर्म की बात तो यह है कि राजबन्धु ने लेखन करने के लिये तीन दिनों में लिखा था।

प्रथम के विषय को सम्यक्ता नीचे लिखे चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है:—
कथामात्रा जैनधर्म-विषयक सिद्धांत सर्वमान्य सिद्धांत और काव्यमात्रा। मोक्षमात्रा का कथामात्रा बहुत रोचक और भेद है। वही धर्म के कथामें बहुत करके उत्तराध्यायन और जैनधर्म तथा कथामात्रा को अनुकरण करके लिखी गई है परन्तु कथामात्रा के पक्ष में कहा जाता है कि मानो ये कथामें मौलिक ही हैं। मोक्षमात्रा की अनाथी मुनि कर्मक मुनि धिक्कारिका अहं तुल्य के विषय में विचार आदि कथामें वैराग्यरूप से लक्ष्य ही प्रतीत हैं और ये कथामें इतनी आकर्षक और हृदयपरवी हैं कि इनसे मिलनी धर्म भी पौी उसनी ही धर्म वे नहीं और अंतरांतरक मध्यम होती हैं। इस से समझते हैं कि मोक्षमात्रा की बहुत संभव कथामें माधविक कथा-साहित्य की उच्च श्रेणी में बकर रखी जा सकती है।

मोक्षमात्रा के दूसरे विभाग में सामाजिक प्रतिष्ठामय, उत्तियोग्य प्रस्तावना, वीरधरा नमस्कार मंत्र धर्मध्यान नवरात्र ईश्वरकर्मण्य आदि जैनधर्म के मुख्य मुख्य प्राथमिक सिद्धांतों का मूलन दोषों से लक्ष्य और नीतिर विवेचन किया गया है। उदाहरण के लिये रात्रियोजन के विषय में लिखा है— रात्रियोजन का प्रणम आदि मर्त्ये में ही लामय आचार के लिये स्थापन किया है। फिर भी उनमें परंपरा की दृष्टि से केवल रात्रियोजन कुछ गया है। धर्म के अन्तर हो प्रकार के कथामें होते हैं। वे लक्ष्य के अन्तर्गत लक्ष्य हो गये हैं। इस कारण रात्रियोजन में लक्ष्य की नीति का मूलन होने से अहित होया है। वह महायोग्य कारण है। ऐसा बहुत से लक्ष्य में जानने का भी मत है। (माघ्यमात्रा २८) १० ये जैन प्रतिष्ठामय आदि को उसका अर्थ समझे बिना ही कथामें कर लेते हैं। ऐसे लोगों के विषय में राजबन्धु लिखते हैं— जिनके धर्म के लक्ष्य कथामें हैं। ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं। परन्तु जिनमें योग्य बर्तन पर प्रीति और विवेकपूर्वक विचार कर धार्मिक ज्ञान हृदयगम किया हो ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं। लक्ष्य को पक्ष्य माना कोई छोटी बात नहीं यह दूसरे समुदाय को उल्लेख करने के समान है।

१ राजबन्धु ने मोक्षमात्रा को वास्तविक विवेक और प्रकाशपूर्ण इन तीन भागों में विभक्त किया है। वे केवल वास्तविक मोक्षमात्रा ही जिन लक्ष्य, धर्म के दो भागों की नहीं लिख लक्ष्य। प्रकाशपूर्ण मोक्षमात्रा की वे केवल लक्ष्यमात्रा ही लिख लक्ष्य। यह प्रस्तुत मंत्र में ८४४ (१)-७९८ ११ पर ही हुई है।

ये निर्णय प्रयत्नमें जाने हुए पवित्र बच्चोंको कंठस्थ करते हैं, वे अपने उत्तराधिकारके बच्चे उत्पन्न उपार्जन करते हैं। परन्तु किन्होंने उत्पन्न मर्म पाया है, उनकी वा इच्छे हुए अपने विवेक और अन्तर्में मर्याद कबकी प्रतीय होती है। अन्त पुत्र भित्ति तुरर अस्तर और लैवी हुई मित्र्य कधीर इन दोनोंके मेरीको अन्तता है अन्तता ही तुल्यपत्नी अन्त तर्कके विचार और निर्णय प्रयत्नके मेरको उत्पन्नता है। कर्त्तिक ठले अर्न्तर्क निर्णय बचनानुकी वाचन नहीं हिमा और उत्तर बचार्थ विचार नहीं किया। बच्ची उत्पन्निकार करनेमें समर्थ बुद्धि-प्रयत्नकी अन्तप्रवृत्ता है, तो भी वह कुछ विचार उत्तर कर लक्ष्य है। अन्त रिक्तता नहीं फिर भी धनीके मीन तो जाता है। इसी तरह मिलने बचनानु-मुक्त कंठस्थ किया हो वह अर्न्तहित ही तो बहुत उपकीमी ही लक्ष्य है। नहीं तो छोटेबाबू राम नाम। छोटेको कोई परिवर्तने बाहर मने ही विस्तार है, परन्तु छोटेकी बल अन्ति कि राम अनारम्भ करते हैं या अंगुष्ठको " (मोक्षमार्ग पाठ १९)। इसके बाद केवलके एक उपश्रुतजनक कच्छी-वैरीका हाथन लिखा है। ईश्वरकर्मके लक्ष्यमें भीम एवम्भ लिखते हैं— अन्ति मन्त्रनके अधिबहुने अन्त अनन्ति है देते वेवचन कच्छन कर्त्तको उद्घाता होगा उक्त पुच्छने क्या इसे कुछ लक्ष्यगतो गुण मेरके किना किना हैम्भ ? तथा इनकी निर्देशगतो रिक्तमें जब माय लैवे तो निवृत्तते ऐश विचार करेंगे कि वे परमेस्वर वे। कर्त्त म वा और अन्त अनारि वा तो उवने ऐश कदा " (मोक्षमार्ग पाठ १९)। परमेस्वरको अन्त रक्तेकी क्या आचरकता थी ? परमेस्वरने अन्तको रवा तो तुल्य तुल्य अन्तनेका क्या कच्छन वा ? तुल्य तुल्यको रक्तर फिर मोलकी निवृत्तिके बनाया ? वह हीका उते भिने बन्नी थी ? अन्तको रवा वा किन कम्ते रवा ? उच्छे पक्षिके रक्तेकी इच्छा उते कर्त्त म हुई ? ईश्वर कीन है ? अन्तके पक्षिके क्या है ? और इच्छा क्या है ? अन्तको रवा तो फिर इत्तमें एक ही बर्म्भे प्रवृत्ति रखनी थी। इत प्रक्षर अन्तकी अन्तनेकी क्या लक्ष्य थी ? अन्तकिर वह मान है कि वह उत विचारते पूछ ही गई। होगी ! और, अन्त करते हैं। परन्तु ऐसी आचरकताके अधिक अन्तमयी उते कर्त्तिले लक्ष्य कि उच्छे अन्तनेकी ही। अन्तको उच्छाकनेकाके मर्यादीर कैते पुच्छीको अन्त दिव्य ! इनके करे हुए अन्तनेको अन्तने कर्त्त लैवृत्त रक्ता ? (मोक्षमार्ग पाठ १९)।

मोक्षमार्गका तीरथ भवन सर्वमान्य विज्ञानविषयक है। इसमें कर्त्तका अन्तकार, अन्तवैद, लक्ष्य विनय छात्रान्य निवृत्तिनय अन्तिप्रवृत्त अन्ति सर्वमान्य वासीर तुरर विवेकन किना गया है। अन्तवैदके निवर्तमें लिखा है— मनुष्यके तीरथकी अन्तकारके अन्तले विज्ञान उते मनुष्य नहीं करते परन्तु उच्छे विवेकके अन्त उते मनुष्य करते हैं। अन्तके दो हाथ दो पैर, दो भौत दो अन्त एक कुछ ही होत और एक ताक हो उते मनुष्य करना ऐश हमे नहीं लक्ष्यता अन्तिरे। अन्ति ऐश अन्तमें तो फिर अन्तको भी मनुष्य किना। अन्तिरे। उच्छे भी इत तरह हाथ पैर अन्ति लक्ष्य प्रवृत्त किया है। विवेक कच्छे उच्छे पूछ भी है, तो क्या उते मर्यामनुष्य करना आदिरे ? नहीं नहीं। ये मानवन्ता अन्तता है नहीं अन्त करम्भ लक्ष्य है (मोक्षमार्ग पाठ ४)। अन्त और अन्तकीध लक्ष्यनः— मोर्त्तिके मेम्भमें रोमी तुल्य है। बर्त्तिके धीर एव, अन्त आदिरे अन्ते हैं और अन्तगतो परकीन है। अन्तकी वह लक्ष्यम परकी ऐसी है उच्छे ऐश तुल्य ऐसी अन्तिरता ऐसी तुल्यता और ऐश अन्तान है तो फिर लक्ष्य अन्त तुल्य मेरे मन्ता अन्त ? (मोक्षमार्ग पाठ ५९)। अन्तिप्रवृत्तके निवर्तमें— अन्तक भीम लक्ष्य मोक्ष अन्तरी है, अन्तक माणिककी तुल्य अन्तकी अन्तरी है, अन्तक अन्त अन्तमना अन्तिरे अन्त और अन्तिर माणता है, अन्तक अन्त अन्तनयन ऐशनेका अन्त लक्ष्य है, अन्तक अन्तको तुल्यकिन्तन अन्त अन्तता है अन्तक मनुष्य निवृत्त निर्णय, निवृत्तिरि निवृत्तकी और अन्तनारी नहीं हो लक्ष्य। अन्तके अन्ते करना लक्ष्यम है। इसके द्वारा लक्ष्य अन्तिरि लक्ष्यमें की वा लक्ष्य है। अन्तके अन्तना बहुत दुर्भट है। अन्त एक लक्ष्यमें अन्तकीध लक्ष्य अन्तनेकाके अन्तन है। इतको अन्तना बहुत कच्छि है। इतकी मरि अन्त और अन्तमें न अन्तनारी है। मरि अन्तिरिने अन्तकी अन्तने इतको अन्तने रक्षकर लक्ष्यकी अन्त किना है " (मोक्षमार्ग पाठ ६८)।

मोक्षमायाका बोधा मय कर्ममय है। इसमें सर्वसामान्य धर्म मरिक्का उपरान्त ब्रह्मधर्म सामान्य मनोरथ सुखाधी विनिजडा अमूल्य तत्त्वविचार, किनेस्वरकी बाबी और पूतमायिका मंगलके ऊपर मनहर, हरिगीत, मोदक आदि विविध छन्दोंमें आठ कवितोर्प है। अपने सामान्य मनोरथके विषयमें कवि लिखते हैं:—

मेदिनीमय विचार अधीन पई ना निरखुं नयने पत्नारी ।
परबनुइन गणु परबेम्ब निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी ।
हादराहृत्त बने बीनवा चरि, सात्त्विक ब्याऊं स्वरूप विपारी ।
ए मुत्र नेम सदा धुम होमक, नित्य अलौह रसो मगहापी ॥ १ ॥
ते विराज्यतनये मन विनधि कान विषेक विचार बपारि ।
नित्य विद्याय कही नवतत्त्वनो उत्तम बोध मनेक उच्चारि ।
संघासरीत्र उये नहीं अन्दर, के किनना कयनो अवधारि ।
राज्य ! सदा मुत्र एव मनोरथ बार बस अपवर्ग बहारि ॥ २ ॥

छोटे दर्पकी टोटीसी अक्षरधर्म किननी उच्च माधनारि !

आगे बचकर सुखानी विविधता नामक कथिलमें कविने वृद्धावस्थाका किटना मार्मिक चित्रन किया है। वह पद्य यह है —

कैरोबकी पही हाटी हांवाजपो राट बन्धो, कामी केरायी रिरे रवेठवा छहार्य ।
सुपुं सुमखुं ने हेम्बुं ते मोडी बन्धु ते होम राट मायकी ते लरी के लवार्य गर् ।
बन्धो कैव बांकी हाट गवां अंगरेग गयो उठवानी माय बजा काकरी लेवार्य गर् ।
अरे ! एम्पबन्ध एम सुखानी हार्य पय, मनभी न ताप राट ममता मार्य गर् ॥ २ ॥

—अर्थात् मुँहर छरिंयों पड़ गईं; गाक निबक गये कामी केरायी पड़िंयों लहेर पड़ गईं सुने सुने और बेसनेकी हांकीयों जाती रही; और हांकीयों पंथिंयों छिर मर अथवा फिज गईं; कम्म देवी हो गई हाड़-मौठ लूण गये छरीका रंग उड़ गया; बढने बैठनेकी हांकि जाती रही; और बन्धनेमें बकरी लेनी पड़ गईं। अरे राजबन्धु ! इस तरह बुढ़ावस्थाका हाव बो बैठे। एम्पु छिर भी मनते वह होठ ममता नहीं मरी।

इसमें स्पष्ट नहीं कि मोक्षमाय राजबन्धुकी एक अमर रचना है। इससे उनकी छोटीनी अस्वकाकी विचारणाके लेखनकी मार्मिकता, तत्पटुता और कवित्वकी प्रतिमाका सामान्य मिष्टा है। जैनधर्मके जन्मलक्षमें प्रवेश करनेके क्षिणे यह एक भ्रम्य द्वार है। जैनधर्मके सात सात प्राथमिक समस्त तिरहोंका इसमें समावेश हो जाता है। वह जैनमात्रके क्षिणे बहुत उपरानी है। विशेषकर जैन पाठशालाओं आदिमें इसका बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। जैनधर्म लोग भी इससे जैनधर्मविषयक व्यापार्य परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

१ इसमें अन्तकी निम्न कविताकी छाया मातृम होती है:—

इस तन गण ममता मरी मरी पुत्र कभीत पुणोला रिबर ।
अरबर अंग लुणो तन नीचो जेने ही बृह मयो बल ऊँबर ।
कदेव मेन इत्तन पित बन देला कजे जेनो डबर लँबर ।
आज हो लामाय रामयजनकी मात माही जेने जार्य दोरोन्पो दे संबर ॥
बोवन गया बरा ठणो छिर लेत मयो बुध करोकी जारी ।
एव जान्य बरी तन निरत बरी मनला बुं रदी बुलव जेनी नारी ।
कान कयो लो लो गीर मयो आर्य जन्म रावरीकी गरी ।
राय न जाने बनीमक लने मये बुं पुग्ने अनिष्ठा बुनारी ॥

छंदविधा १—६१; जन्मानी बानी वृ ११६, बम्बर १८८४

लाभानिधिमें १४९ पक्ष हैं। पहिले ४९ पक्षोंमें प्रास्ताविक विवेचनके पश्चात् दोन पक्षोंमें 'आत्मा है वह निरा है वह निरा कर्मकी कर्ता है वह मोक्ष है मोक्ष है, और मोक्षका उपाय है'—इन छह पक्षोंकी' स्थिति की गई है। प्रास्ताविक विवेचनमें राजबन्धकी छानबीन, किशोर्वा मताधी, आत्माकी उद्गुह, अष्टगुह आदिका विवेचन किया है। छानबीनी और किशोर्वाका अन्वय विस्तृत हुए राजबन्धकी करते हैं—

प्राक्किशोर्वा राजबन्ध अंतर्मेद न कीर। इनमार्ग नियन्त्रां तेह किशोर्वा अग्रि ॥

बंघ मोक्ष के कल्पना गाले वालीयाहि। वर्ये मोक्षोद्योगी छानबीनी ते अग्रि ॥

—ये मध्य प्राक्किशोर्वा रचे पक्षे पक्षे हैं, किन्तु अंतर्मेद कोई भी मेद शरणा नहीं हुआ और ये छानबीनीका नियंत्र करते हैं, उन्में वहा किशोर्वा कहा है। बंघ और मोक्ष केवळ कल्पनामात्र है—इत नियंत्र-वाक्यको जो केवळ वालीते ही बोझा करता है, और तनाव्य दसा भिठकी हुई नहीं, और जो मोक्षके प्रसंगमें ही पला है, उन वर्ये छानबीनी कहा है।

छद्गुहके विषयमें राजबन्ध विस्तृत हैं—

अप्रमथन समरुपिषा विभरे उदय प्रयोग। अपूर्व बाणी परममुन छद्गुह लक्षण योग्य ॥

—महामुनमें किन्की स्थिति है, अर्थात् परमात्मकी हस्तक्षिप्त हो रहित हो गये हैं तथा गनु मित्र, हर्ष शोक नमस्कार, स्मिन्कार आदि मायके प्रति जिन्हें समता रहती है केवळ पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदरके कारण ही किन्की निवारण आदि स्थिति हैं; किन्की वली अज्ञानीते प्रत्यक्ष मित्र है; और जो पदार्थानके उत्तरवर्ती जानते हैं—ये उत्तर छद्गुह हैं।

उत्तरमात्र प्रत्यक्षार गुह-स्थितके शोष-समाधानकर्ममें 'पदार्थ'का कथन करते हैं। प्रथम ही शिष्य आत्मपक्ष अस्तित्वके विषयमें शोष करता है और करता है कि 'न आत्मा देखनेमें आती है, न उत्तरा कोई रूप मायूम होता है और त्यों आदि अनुभवमें भी उत्तरा ज्ञान नहीं होता। फिर आत्मा कोई कस्तु छेदी हो पद, पद आदिकी तरह उत्तरा ज्ञान अवश्य होना चाहिये था । इस शोषात् उत्तर गुह दस पक्षोंमें देखर अन्तमें विस्तृत हैं—

आत्मानी शोष करे आत्मा फेले आय। छाननी करनार ते अचरख पर अमान ॥

—आत्मा स्वयं ही आत्मानी शोष करती है। परन्तु जो शोष करनेवाला है, वही आत्मा है—इस बातको आत्मा समझती नहीं वह एक अतीत माध्यम है।

जो वचनर अप्रमथे निराल कर्तुल शेषकुल मुष्टि और उत्तरे लक्षणर विवेचन किया गया है। आत्मके कर्तुलका विचार करते समय राजबन्धकीने ईश्वरकर्तुलके विषयमें अनेक विकल्प उत्पन्न उत्पन्न होकर आता है। उत्तरमात्र मोक्षके उपायके लक्ष्यमें शिष्य शोषा करता है कि 'छेदार्थ अनेक मत और दर्शन मौजूद हैं। ये सब मत और दर्शन मित्र मित्र प्रकारसे मोक्षके उपाय बताते हैं। इत्यन्ते किट कसिसे और किट केपसे मध्य हो लक्ष्य है इस बातका निश्चय होना कठिन है। अवश्य मोक्षका उत्पन्न नहीं बन लक्ष्य' । इस शोषका गुप्ते नीचे लिखा समाधान किया है—

छेदी मत दर्शनतलो अप्रमथ तेम विकल्प। नक्षत्र याम अय वाचये कर्म तेहना अन्न ॥

आदि वेदोंमें मेद नहीं पड़ो मार्ग जो होव। तापे ते मुक्ति को एयां मेद न कीव ॥

—वह मेद मत है, इत्यन्ते मुझे इती मध्ये लगे रहना चाहिये। अथवा वह मेद दर्शन है, इत्यन्ते बहि मित्र तरह भी हो मुझे ठीकी स्थिति करनी चाहिये—इस अप्रमथ अथवा विकल्पको छोड़कर जो उत्तर की हुए मार्गका लक्षण करेगा उसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो लक्ष्य है। तथा मोक्ष किसी भी अति अथवा केवि

१ उत्तरमात्र वलीविवर्तीने लक्षणका पदार्थका स्वस्वकी ओरार्थमें इन छह पक्षोंका निम्न पाषाणें उत्पन्न किया है—

अजिब बीनो तहा शिर्ष कथ मुष्ठा व पुष्पश्याव ।

अजिब मुष्ठा निम्नार्थ तलीवालो व उत्पन्ना ॥

माध्यम मुक्त हैं। वे दोनों प्रस्तुत प्रथम क्रमसे ७ - १५७-१ और १७-१५७-११ में दिखे गये हैं। इसके अलावा श्रीमद् राजचन्द्रने प्रथमतः, बनारसीरासका समयतारनाटक, मणिखनमासा आदि बहुतसे प्रयोगोंके अंशोंका भाव अथवा दृष्टि अनुवाद अनेक स्थानोंपर दिया है। गुणमयत्वके आत्मगुणानुसार और समस्तप्रकारके अनवरतप्रकाशकारके कुछ अंशका अनुवाद भी राजचन्द्रजीने किया था।

विवेचनात्मक रचनायें

राजचन्द्रजीने अनेक ग्रन्थोंका विवेचन भी किया है। इनमें बनारसीरास, आनन्दवन, विशदन्त्र, वचोपिबन्ध आदि विद्वानोंके ग्रन्थोंके पद्य मुख्य हैं। राजचन्द्रजीने बनारसीरासके समयतारनाटकका अर्थ समझाया था। वे बनारसीरासके समयतारके पद्योंको पढ़कर आश्चर्यासे उत्पन्न हो गये थे। समयतारके पद्योंको राजचन्द्रजीने जगह जगह उद्धृत किया है। कुछ पद्योंका राजचन्द्रजीने विवेचन भी किया है। बनारसीरासकी टीका आनन्दवनगीतों भी राजचन्द्र बहुत आदरकी दृष्टि देखते हैं। उनकी आनन्दवनगीतोंकी राजचन्द्रजीने विवेचन लिखना आरम्भ किया था, परन्तु वे उसे पूर्ण न कर सके। यह अपूर्ण विवेचन प्रस्तुत प्रथम १११-११५-१ में दिया गया है। आनन्दवनगीतोंके अर्थ भी अनेक पद्य राजचन्द्रजीने उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने स्वरोदवहान का विवेचन लिखना भी शुरू किया था। यह विवेचन अपूर्णरूपसे १-११८ १-११९ में दिया गया है। वचोपिबन्धकी टीका इन्हीं टीकाकारोंके मन सहितानु बहान्ना उल्लेख आदि पद्यका भी राजचन्द्रजीने विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त राजचन्द्रजीने समासप्रतिषेधका लक्ष्यार्थवत् स्वामी समस्तप्रकारके अष्टमीमास और हेमचन्द्रके योग्यप्रकारके समस्तप्रकारका सामान्य अर्थ भी किया है।

उपसंहार

राजचन्द्र आधुनिक ज्ञानोत्थानके चारक एक अन्वयस्वरूप हैं। त्याग और वैराग्यकी वे मूर्ति हैं। अपनी वैराग्यवाणीसे वे अत्यन्त मत्त रहते हैं। यहोंका कि उन्हें जाने पीने पठने उठने बैठने आदिचिन्ता ही कुछ न रहती थी। इतिवृत्तकी उन्हें अविद्या लगन थी। मुक्तमनस्वीके शब्दोंमें उनकी वही रत्न थी—

हृत्तां यमतां प्रगट हरि देखुं रे माये जीवुं उपरु तब केहुं रे ।

मुक्तमनस्वी नाम विहारी रे जोषा जीवनसेही अमरी रे ॥

अपूर्ण अवसर पड़ो कबारे आकाश—आदि पद्यकी रचना भी राजचन्द्रजीने इसी अविद्या वैराग्य मन्त्रनासे प्रेरित होकर की थी। राजचन्द्रजीका वैराग्य सदा वैराग्य था। उनमें हम अथवा कपटप्र तो क्या ही न था। जो कुछ उनके अनुभवमें आता उसे वे अवगत रखता और निर्ममतापूर्वक दूसरोंके समक्ष रखनेमें सदा तैयार रहते थे। प्रतिभापूर्ण आधुनिक समर्थित केवलज्ञान आदि ऐक्यिक प्रयोगोंके अन्त अपने स्वयंसे तत्पूर्वक विचार प्रकट करनेमें राजचन्द्रजीने कभी अर्थ ही संकोच अथवा मर प्रदर्शित नहीं किया। अपनी स्वात्मविराग्य के सदा निरीक्षण करते रहते थे और अपनी ऐसीही ऐसी रक्षा प्रयोगोंको किन्तु देखते थे। निर्विकल्प समाधि पाना अभी बाकी है 'अपनी मृत्युका प्रयोग कैसे करूं मैं अभी आधुनिकताका उपाधिमें पड़ा हूँ, मैं अन्वयस्वरूप अथवा अभी समुद्र हूँ' इत्यादि समर्थ के अपनी अपूर्णताको समुद्रोंको सदा किन्तु ही रहते थे।

१ जीमवती जीवनवाचा पृ ८८.

२ राजचन्द्रजीने अपनी अपूर्ण अवस्थाका जगह जगह निम्न प्रकारसे प्रदर्शित किया है—

'अरे ! अनेक मरके पर्यन्तमें किसी क्षणिकके प्रयासे इस रक्षाकी प्राप्त इस देहप्रदीको तुम चाहते हो और उल्लेख पर्यन्त इच्छा करते हो। परन्तु यह तो अभी किसी आधुनिकताका उपाधिमें पड़ा है। और यह

क्रियेत्प्राप्तक कदा पर राजबन्ध तो इन सब विचारोंकी अत्य भी पराहम करके एकप्रयोगेन निम्न कर्मकी मोत अनेकर ही होते गये। आगे बढकर पीछे हटना तो उन्हें अज्ञा ही न था। राजबन्धकीये बर्म और व्यवहारका बहुत सुन्दर मेक था—उन्होंने प्रवृत्ति-निवृत्तिका सुन्दर समन्वय किया था। वे एक बड़े मापी व्यापारी होकर भी स्वतन्त्रापूर्वक ही अपना व्यापार चलाते थे। व्यापारके उन्होंने अनेक नियम बंधे थे। वे तबजुहार ही अपना कारोबार करते थे। निस्सन्देह इतनी बड़ा व्यापारप्रवर्धने रहते हुए अत्यन्तितनकी इतनी उच्च दशाको प्राप्त साधक पुण्य हेतुगिने ही निकलेंगे। राजबन्ध शुल्कदानकी तरह क्रियाकृतताका भी नियम करते थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बड़ा किसानोका ही वे न मन्ते थे। उन्होंने जल और पारिवका, बर्म और व्यवहारका अपने जीवनमें समुचित समन्वय किया था।

समाज-सुधार

राजबन्धकीकी सुखी अलावारण बात यह थी कि तत्त्वज्ञानी होनेके साथ वे एक उग्र सुधारक भी थे। सैनीतिविशेषकी अर्पणप्रवृत्तिमें राजबन्धकीने एक पक्ष निम्न प्रकाशे किया है—

बहु हर्ष के देश सुधारवामां बहु हर्ष के सुनीति वारवामां ।

बना लुगुनो ओरिने मोर पागुं बहु छुं बहु छुं मुलेची नकारां ।

इस पारो मध्यम होता है कि राजबन्धकीको देशोन्नतिके कामीये भी बहुत बलि थी और इसी कारण उन्होंने विरोधोपी, कर्मकीयल आदिप्रो प्रोत्साहित करनेकेभी श्रीमंत ओरोंके कर्मकीयभी आदि देश और समुदायतिविषयक अनेक कर्म आदिभी रचना की थी। वे स्वर्ग श्रीमंत और श्रीमंत ओरोंकी एक मन्त्र सम्यक्की स्थापना करना चाहते थे। श्रीमंत कनेने शिक्षामन्त्र नामक कर्ममें राजबन्धकीने श्रीमंतोंको शिक्षा देते हुए पुनर्जन्म क्या करो ठामे उग्र प्रवर्तन किया है। किन्तु स्पष्टस्ते पुनर्जन्म की समर्थन किया है। जैन शास्त्र-संस्थाकी अनेकविद्वेषकर तो उन्हें अस्वस्थ रहा जाती थी। वे कहा करते थे कि

क्या गुप्त बरी हो लकडा है किडका प्रवि-मेर हो गया है । ' ओ केम सोहर्गमिन् अचरा पुत्रमर्मित वैराग्यते वीडा ले डेते हैं, ऐसे लालू पुत्नीय मही हैं । उन्होंने पहिलक शिल दिया है कि आजकलके जैन शास्त्रोंके मुंहसे खून बक्क करना भी योग्य नहीं। तथा हात्में जैनधर्मके जितने छात्र पिटते हैं उन सभीको समझीती नहीं समझता उन्हें खन देतेमें शानि मही है, परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते देश कल्याण नहीं करता। ओ लालू केवक वास्तविकार्थे किया करता है, उतमें खान नहीं। जल तो यह है जितने बड़ा इतिवृत्ति एक जाती है—उत्तरपले लकी प्रीति बड जाती है—भीष सबेको लका समझते कल्या है। जितने आजकलमें गुप्त प्रकट हो वह खन । ' इतने मध्यम होता है कि राजबन्ध आजकलकी लालुअर्थमें भी श्रुति करना चाहते थे। वीरचंद रायबकी गांधीको बिकारोकी लगे बन्धनियममें न मेम्नेके लीचमें बर जैन सम्यक्में बरी मारी लकडकी मधी थी उत समय भी राजबन्धकीने बहुत निभन्तापूर्वक लालू खेरदार रायकी अपना अग्रिमप्र प्रकट किया था। उनके हाथ निम्न प्रकटते हैं—“बर्मका बीकिक बहुजन मान-मदलकी इच्छा यह बर्मका होइक्य है। बर्मके बहने अनार्य देशमें जने अचका लून आदि मेमनका नियम करनेवाले—लगाय बन्धकर नियम करनेवाले—जहाँ आये मान-मदल बन्धनका लका आता है वहाँ इही बर्मको होकर मरकर, इही बन्धन पर लकड इही नियमका नियम करते हैं । बरु बर्महो ही है। उन्हें बर्मका महल लु केवक बहनेक्य है और स्वार्थकी मान आदिप्र लका ही गुप्त लका है—यह बर्महो ही है। वीरचंद गांधीको बिकारत भजने आदिके विषयमें देना ही हुआ है। अब बर्म ही गुप्त ल तो ल अहोमध्य । ”

ही बन्धनविषये सुधार करनेवाले और लको विना प्रतिक्रम करनेवाले लोगोंका भी राज बन्धकीने लालू हासपुक्त धियन किया है ओ पहेल मा लुका है इही लालू हर्षोस्तुनेशन (महामारीका टीका) आदि लालू प्रवर्धनकी भी राजबन्धकीने और विचार करके अपनी बन्धन-सुधारक ओन्नोन्नरक विचार करेन दिया है।

धीरको महका रहता है। धीरको पुण्याय करना नहीं और उतको सेकर बहाना ईदना है। मरना पुण्याय करे तो क्या नहीं हो सकता ! रहने बड़े बड़े पर्यवेके पर्यंत फाट जाके हैं और कैसे विचार कर उनको रखेके काममें किया है। यह तो केवल बहाना का काम है फिर भी विषय प्राप्त की है। आत्माका विचार करना यह कुछ बहाना का काम नहीं। वो भी पुण्याय करे तो केवलमान हो जाय—देता कहा है। रेखे हत्यादि चारे देना भी पुण्याय क्यों न करें, वो भी वो पक्षमें तैयार नहीं होती, वो फिर केवलमान किटना शरक है इतका विचार तो करो !

अस्यंत स्वरासे मनास

ऊस आ बुका है कि राजबन्ध संसारके नाना मतमतांतरीत बहुत बुझी थे। वे अनुभव करते थे कि समस्त जगत् मतमतांतरीत प्रसन्न है अननुभवशक्ति वृत्तियों विषय जगत् आदिने विषय हो गई हैं। राजकी वृत्तिपर अनुकरण लोगोंको प्रिय हो गया है विवेकिनीकी और ब्रह्मयोग्य उपशम-प्राप्तकी प्राप्तिवत् भी मही मिच्छी निष्कटरीपना मनुष्योंमें मानो ब्रह्मा ही गया है सम्मानके अंतका अंतर्गत भी नहीं मही नहीं पड़ता; और केवलमानका मार्ग तो सर्वथा विस्मृत ही हो गया है। वह सब देखकर राजबन्धजीको अत्यंत उद्वेग हा आता था और उनकी अंतर्निर्मित अंतर् आ जाते थे। वे बहुत बार कहा करते थे कि 'चाहें औरते कोई बरठियाँ मौक दे तो वह मैं लड़ सकता हूँ, परन्तु जगत्में जो कुछ फलसंड और अराजकार चल रहा है धर्मके नामपर जो अधर्म चल रहा है उतकी बरठी लहन नहीं हो सकती। उन्हें समस्त जगत् अपने लगेके समान था। अपने भाई अथवा बहनको मरते देखकर जो हृदय अपनको होता है उतना ही क्लेश उन्हें जगत्में बहुतको-मलको-देखकर होता था' ।

इस तरह एक और तो राजबन्धजी संसार-सारके संतत ॥ और वृत्ति और उन्हें स्वाध्यायी अत्यंत प्रवृत्ता थी। इससे राजबन्धजीको अत्यंत धार्मिक और मानवीक क्षम उठना पड़ा। उनका स्वास्थ्य दिन पर दिन विगड़ता ही गया। स्वास्थ्य सुधारनेके लिये राजबन्धजीको बरमपुर, अहमदाबाद, बदायून कैम्प और रामघाट रहता गया उन्हें रोगमुक्त करनेके लिये विविध प्रक्रमके उपचार आदि किये गये, पर सब कुछ निष्फल हुआ। काशको राजबन्ध जैसे अमोक्ष रोगीका खर्चन प्रिय तो हुआ और उन्हें इस नश्वर देहको क्षमता पड़ा। कहते हैं कि संवत् १९५९ में राजबन्धजीने स्वध्याय-स्वाध्यायके निष्ठापरिष्कार की और लक्ष्मीका स्तुति कर, अपनी मन्त्राजीकी आवाज मिम्मेपर, संस्कार ग्रहण करनेकी तैयारी भी कर ली थी। पर 'बहुत लम्बे प्रयत्न पूरा करना था शीघ्रमें देहका मरचल आ गया। फिर बहुत ब्रह्मा वा उते आत्मवीर्यसे किंतु तब अरकात्मके देहन कर किया जाय उस तब अवस्था करते हुए पैरों निरुद्धिपन अवस्थान निम्नम ग्रहण किया। " राजबन्धजीकी आत्मा इस विनश्वर शरीरका छीककर कूच कर गई। मृत्युसमय राजबन्धजीका वयस १३९ वर्षोंसे बढकर कुछ ४१-४४ वर्ष रह गया था। उन्होंने मृत्युके कुछ दिन पूर्व जो क्षम्य रहा था, वह अंतिम लक्ष्य के नामसे प्रसन्न प्रथम पृष्ठ ८ ९ पर दिया गया है।

भीमदेके लघुप्रस्ताव धीरुग घनतुल्यमादिने राजबन्धजीकी अंतिम अवस्थाका वर्णन निम्न शब्दोंमें किया है— देहत्यागके पहले दिन कार्यकाशको उन्होंने देखाकर माह मधेयम तथा मुने कहा— हम निरिक्त रहना। वह आत्मा धारवत है। अवश्य विद्यत उत्तम गतिको प्राप्त हैनेकाली है। हम धीर और लघाधिमाके वर्तन करना। जो क्षम्य हान-बाणी इस देहद्वारा कही जा सकती, उनके करनेका

१ गार्वाजीका संवत् १९७८ में अहमदाबादमें दिया हुआ आकलन

२ राजबन्धजीके देहोत्सर्गके विषयमें अहमदाबाद जपनीयर गार्वाजीने जो उद्गार प्रकट किये हैं वे स्पष्ट देने योग्य हैं—

एकचरभार्तना देह एतकी माजी जमे पड़ी गयी तेनुं काय जमे एक लागे छे। तेम्ने दार हनुं छे लई पर जगवना लागुं छे दार तेम्ने हनुं छे अलख हनुं। तेनुं धार्मिक दार तो जे एकछी होय तो बहर तेम्ने तेने जीजी बाबा होय। पर तेम्ने बनुं जे आवा विषय बाज्या आत्मदर्शन केव बरं छे। एताचर्मी छे निधानी छे।

समय नहीं। हम पुनश्च वै जयना। एतके अहाँ बने उम्मे अलसत करी हुई। उध समय उम्मेने कहा निश्चित रहना। माररी समर्थि मुण्डु है। उधय करनेसर करी दूर हो गई। लमेरे पीने आठ बने उम्मे दूर रिया। उनके मन बचन और काव विस्तृत सम्युक्त छविमें थे। पीने नो बने उम्मेने कहा— 'मनहून। हुन्नी न होना। माझे ठीक रहना। मैं अपने आत्मसम्बन्धमें लीन हूँ।' (उनके करनेसे उम्मे दूरे कोकर सिद्धता करी) वह पीब देह और मारया समर्थिबन्ध भ्रष्ट बने। केवमात्र मी जलपाके बूट करनेके निष्ठ मारया न हुए। जलपाके खीरकेकर मुँहमें पानी बीछाये पानी बचना पत्थना कुछ भी न था।[॥] इत तरह वर्ष १९५७ में जेववरी ५ मंगलवार दोपहरके दो बजे राजबन्धनीने इस माधव्यन खीरका लम्प किया। उध समय राजबन्धनीका सम्बन्ध छत्रुग एक गुनएत फट्टियावाके बहुतसे मुमुक्षु गयीं उपरिष्ठ थे।

राजबन्धनीकी सेवायें

कवि राजबन्धनी इस समय अपनी देहसे मीश्वर नहीं है। पण्डु है परेषस्मत्ते बहुत कुछ जेम्मे गये हैं। उनके पत्र-पत्रिकायें उनका मूर्तिमानस कमर कहा इतिहास होय है। पानीबीके राजनीमें 'उनके केबीमें लू निरर था है। उम्मेने जो कुछ स्वयं अनुभव किया वही लिखा है। उम्मे करी भी इतिहास नहीं। दूरेके ऊपर छन उम्मेनेके जिन्हे एक कहन मी उम्मेने लिखी हो वह नि नसी देखा। निम्न लिखित कुछ उद्धार मावीबीके उध बन्धनीकी राजनी देनेके जिन्हे पत्रांत है।—

॥ हे बीब ! तू प्रमो मर पण, छते विवर्षी बात करता हूँ। कुछ तो तेरे अन्तरमें ही है, वह बाहर हूँदनेसे नहीं मिलेगा।

अन्तरमें कुछ है। बाहर नहीं। छते लय करता हूँ।

हे बीब ! मूक मत छते लय करता हूँ।

कुछ अन्तरमें ही है वह बाहर हूँदनेसे नहीं मिलेगा।

हे बीब ! तू दूर मत। कभी कभी उपयोग बूझकर किराके रत्न करनेमें किराके छाप टंगित होनेमें अवकाश मनकी निर्विकलके कारण दूरेके पक्ष को तू मर हो जाता है वह तेरी भूक है। उध न कर।

लोगोस्वाम्य बीब तथा कुछी तुम्हावाका बीब तथा लिखाती।

इन्द्रावर सम्बन्धनकारी हार्मिक उद्धारके राजबन्धनीका बचनानुव मर पण है।

स्वयं मारया बायीके बीकनार को राजबन्धनीकी कर पण है। उधे उम्मेने अनेक स्वर्धोर स्वीकार किया है। एक कह कह बीबीबीने अपनी आत्मकथामें लिखा है— इसके बाद किरने ही बर्ष-बाधके लम्पईमें आया हूँ। अनेक बर्षके आत्माकेते मिकनय मैंने प्रकल किया है। लू को कम मेरे विस्मय उनकरमार्गी पण है। वह किराकी न वह लयी। उनकी किरनी ही करते मेरे देह अलसकटक बहूँ बनी। उनकी बुद्धिमें मैं आदरकी छेके बेलना था। उधकी प्राप्तिविद्यमान भी जेप उधना ही आरम्भण था। और एतेमें मैं जानता था कि वे उधे जान बूझकर उम्मे एते नहीं है। जानो एव मुझे वही बात बहूँ जे मेरे अने जिन्हे ठीक समझते होंगे। इत कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाईयेंमें उम्मेका आश्रय लेता।" मेरे बीबनसर तीन बुद्धिमें एवही लय बाजी है। अलसकटक, एकिन बार एवबंदमर्द। अलसकटकी उनकी अमुक गुलाबमार्ग और उनके साथ जोड़े पत्र-पत्रकारों एकिनकी उनकी एव ही बुद्धि अमुक रित काल है—विश्वका गुनगुनी माग मैंने लम्पईय रखा है—और एवबंदमर्दकी उनके साथ गात बरिबने। द्विदुर्धमें लय कुछ थोड़ा देह हुई वर उधके निश्चय करनेमें बरर करनेका एवबंदमर्द है।" राजबन्धनी गुनगुन फट्टियावाके मुमुक्षु जेम्मेका एव बर्ष मी लम्पार कर गये हैं। निम्न निम्न लम्पारवाके लीनी किराकेके लय एकिन है। इन जेम्मेमें जो कुछ भी निश्चयलम्पार और मररकमार्ग हैजनेमें जाता है उध राजबन्धनीकी लम्पारवा ही एक लम्पारवा बाधे। इनके अनिश्चित राजबन्धनीकी मीश्वरनेमें जेन मीश्वरके उद्धारके जिन्हे पण्डुवपमानकमार्गकी भी लम्पार कर गये हैं। वह लम्पार आत्मक देहाकर लम्पारकमार्ग लम्पारके छेके पण बुन अमुक के

महामहत्त्व के कार्योकर सबकी देखभाल में अपनी सेवा बना रहा है। इस मण्डल ने शिगमर और सेतामर प्रायों के उद्धार के लिये जो प्रयत्न किया है, और वर्तमान में कर रहा है उल्लेख के लिये उचित है। वह मण्डल भी भीम राजबन्धु का अत्यन्त अंग में एक अविच्छेद्य अंग था करता है।

सम्बन्धानका रहस्य

प्रत्येक मनुष्य के जीवनकाल में उल्लेखित हुआ करती है। बड़े बड़े महान् पुरुषों के जीवन इसी तरह बने हैं। राजबन्धुजी के जीवन में भी महान् उल्लेखित हुई थी। पहले पहल हम उनका जन्मकाल के समये दर्शन करते हैं। लम्बेचाल के जैनधर्म की ओर आकर्षित होते हैं, और स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय की सम्प्रदायों का पालन करते हैं। क्रमशः उनके हृदि विग्रहों में परिवर्तन होता है, और हम देखते हैं कि जो राजबन्धु जैनधर्म के प्रति अपना एकमात्र आग्रह रखते थे वे ही अब करते हैं कि 'जैनधर्म के आग्रहों ही स्पष्ट है इस शब्दों के आत्मा बहुत समझते गूढ़ गई है। तथा क्यों कहते हैं वे वैराग्य और उपवास प्राप्त हो लगे बहने प्राप्त करना चाहिये। इसके कुछ समय पीछे के पत्रों से हम राजबन्धुजी के भीतर भी जाने लगे हुए देखते हैं। भगवद्गीता का एक पत्र के आन्तर में उल्लेख हो जाते हैं और हरि दर्शन के लिये अत्यन्त आग्रह दिखाई देते हैं—वही एक कि इसके बिना उर्मि लाना पीना उठना बैठना कुछ भी अच्छा नहीं लगता और वे अपना भी यत्न शुरू करते हैं। तत्पश्चात् वह है कि राजबन्धुजी के क्यों कहते हैं वे उत्तम वस्तु मिली, उन्होंने उसे बहने प्रारम्भ किया—उनको अपने और पराये का क्या भी अन्तर न था। सचमुच राजबन्धुजी के जीवन की वह वही विशेषता थी। संवत् १८८५ ई. के शस्त्री में राजबन्धुजी का कथन था—

हरद्वय ज्ञान प्राप्त करी अल्प स्वल्प अनेक रे।

निर्विकल्प रह श्रीनिवेष्ट हृद निरन्तर एक रे ॥

राजबन्धुजी ने इस निर्विकल्प रहता पाल किया था। उन्निपरी के शब्दों में उनकी यह सम्पत्ति थी—

यस्य महा स्वच्छात्माः समुद्रजलं गच्छति मामकं विश्रुतः।

तथा विद्याभ्यासमाप्नुयुक्तः परस्परं पुण्यवृत्तिं दिव्यं।

— जैसे मित्र मित्र नहीं। अपना नामक जोड़कर अन्त में जाकर एक समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है। उन्नी तरह विद्या नामक जोड़कर दिव्य परमपुरुष को प्राप्त करता है। अतएव जो उत्तम में मित्र मित्र मत और दर्शन देखने में जाने हैं वे सब मित्र मित्र हैस बात आदि के अनुसार जोयों की मित्र मित्र बने के कारण ही उद्भूत हुए हैं। इसमें किबाजी और इबाजी बाकों का उपयोग एक उन्नी अन्तर्गतता प्राप्त करने का है, और वही सब बाकों का मूल है। जिसको अनुभवमान हो गया है, वह परस्पर के बाद-विचारों से ही उत्पन्न है। राजबन्धुजी तो सब सिद्धांत में हैं—

वे बायो वे लक्ष्य एक लक्ष्य दर्शन एक विवेक।

समस्तजानी केही वही स्वाच्छात्मा समस्त पत्र लगी ॥

—अर्थात् जो माया मया है वह लक्ष्य एक ही है और समस्त दर्शनों में वही विवेक है। समस्त दर्शन समस्तजानी मित्र मित्र देखी हैं। इनमें स्वाच्छात्मा ही एक होती है।

निरालोचन राजबन्धु एक पुरुष हुए जब कीटिके लक्ष्य में। वे किसी बायो में नहीं थे और न वे बायो के कल्याण मानते थे। सचमुच वे जैनधर्म की ही नहीं, बल्कि भगवद्गीता की एक महान् विधृति थे।

श्रीमद् राजचन्द्र

१६वें वर्षसे पहले

श्रीमान कठेसालजी श्रीचन्दजी गौरीजी
वनपुर बार्तो की ओर से भेंट ॥

१

पुष्पमाला

ॐ स्व

- १ रात्रि व्यतीत हुई, प्रमात्त हुआ, निद्रासे मुक्त हुए । भाव-निद्रा हटानेका प्रयत्न करना ।
- २ व्यतीत रात्रि और गई भिन्दगीपर दृष्टि डाल जाओ ।
- ३ सफल हुए वक्तके किये आनन्द मानो, और आजका दिन भी सफल करो । निष्कल हुए
नके किये पश्चात्ताप करके निष्कलताको नित्युत करो ।
- ४ क्षण क्षण जाते हुए अनतकाळ व्यतीत हुआ तो भी सिद्धि नहीं हुई ।
- ५ सफलताजनक एक भी काम तेरेसे यदि न बना हो तो फिर फिर शरमा ।
- ६ अवदित हूय हुए हों तो शरमा कर मन, बचन और कायाके योगसे उन्हें न करनेकी प्रतिज्ञा के ।
- ७ यदि तू स्वतन्त्र हो तो संसार-समागममें अपने आनन्दके दिनके बीच प्रमाणसे मांग बना ।

१ पहर—भक्ति-कर्तव्य

१ पहर—धर्म-कर्तव्य

१ पहर—आहार-प्रयोजन

१ पहर—विद्या-प्रयोजन

२ पहर—निद्रा

२ पहर—संसार-प्रयोजन

८

- ८ यदि तू स्वर्गा हा तो स्वर्गके बिना बनिताका स्वरूप विचारकर संसारकी ओर दृष्टि करना ।
- ९ यदि तुझे धर्मका अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो ओ मीचे कहता हूँ उसे विचार जाना ।
तू जिस स्थितिका योगता है वह किस प्रमाणसे ?
आत्माकी कायकी बात तू क्यों नहीं जान सकता ?
तू जिसकी इच्छा करता है वह क्यों नहीं मिलता ?
चित्र-विचित्रताका क्या प्रयोजन है ?
- १० यदि तुझे अस्तित्व प्रमाणभूत लगता हो और उसके मूलतत्त्वकी आर्त्ताका हो तो मीचे कहता हूँ ।

११ मंत्र प्राणियोंमें समाधि,—

१२ अथवा किसी प्राणीको अभितप्त रहित नहीं करना, यदिसे अधिक उनसे काम नहीं बना।

१३ अथवा सत्पुरुष जिस रससे चले वह ।

१४ मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र इष्टिमें भेद है, यह मानकर आराध्य समस्त पवित्र धर्म प्रार्थन करना ।

१५ व किसी भी धर्मको मानता हो, उसका मुक्त पञ्चागत नहीं, मात्र कहनेका उत्तर यह है कि जिस रहसे संसार-मयका माघ हा उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका व सेवक करना ।

१६ किसी भी परतंत्र हा ता भी मनसे पवित्रताको विस्मरण किये बिना आत्रका दिन समीप करना ।

१७ आत्र यदि व दुष्टत्वमें प्ररित होता हो ता मरणका पात्र कर ।

१८ अपने व सु-सुखक प्रसंगोंकी सुखी, आत्र किसी को दुःख देनेका क्रिये उत्पन्न हो ता स्वर्ण कर ।

१९ राजा अथवा एक कोई भी हा, परन्तु हम विचारका विचार कर सदाचारको ओर आना कि इस कथका पुष्टि पोके कथके क्रिये मात्र सारे तीन हाथ भूमि मीगमबाजा है ।

२० व राजा है तो शिखर नहीं, परन्तु प्रवाद न कर । कारण कि नीचसे नीच, अथवासे अथवा, मयिचरका, गर्मपतक निर्वेशका, चाइलक, कसर्पक और वेदा आदि का कम व जाता है । तो फिर !

२१ प्रभुके वृक्ष अथवा और कर इनकी ओर करके आत्र कम कर । व भी है राजा । कथक पर आया हुआ पाहुना है ।

२२ कभीक हो तो इससे आये विचारको मनन कर आना ।

२३ अमृत हा तो पैसेक उपयोगको विचारना । उपार्जन करनेका कारण मात्र ईश्वर कहना ।

२४ बन्ध आदिमें व्यापारसे होनेवाली अस्वस्थ हिंसाको स्मरणकर स्वावर्तक व्यापारमें आत्र अपना चित्त धीर ।

२५ यदि व कसर्प हो तो अपने जीके सुखका विचार कर आत्रके दिनमें प्रवेश कर ।

२६ यदि व समस्तशर बाणक हो तो निशकी ओर और आत्राकी ओर दृष्टि कर ।

२७ यदि व दुष्ट हो तो उपम और मय्यर्चक ओर दृष्टि कर ।

२८ यदि व वृक्ष हो तो मीतकी तरफ दृष्टि करके आत्रके दिनमें प्रवेश कर ।

२९ यदि व भी हो तो अपने पतिके ओरकी धर्मकृपाको याद कर, दीप हुए हों तो उमकी अथवा मीग और कुटुम्बकी ओर दृष्टि कर ।

३० यदि व कर्म हो तो असंभवि प्रसंगको स्मरण कर आत्रके दिनमें प्रवेश कर ।

३१ यदि व कृपण हो तो —(कर्ण)

३२ यदि व सत्तामें मय्य हो तो वैपेक्षिक बान्धवार्थको दोनों स्थितिसे स्मरण कर ।

३३ कठ कोई इष्ट कर्ण रहा हो तो पूर्ण करनेका समिचार कर आत्रके दिनमें प्रवेश कर ।

३४ आत्र किसी दुष्टके आरंभ करनेका विचार हो तो निश्चयसे समय यदि और परिणामक प्रवृत्ति कर आत्रके दिनमें प्रवेश करना ।

१५ पग रखनेमें पाप है, देखनेमें बहर है, और सिरपर मरण खा है; यह विचारकर नके दिनमें प्रवेश कर ।

१६ अघोर कर्म करनेमें आज तुसे पड़ना हो तो राजपुत्र हो, तो भी मिखाचरी मान्य कर नके दिनमें प्रवेश करना ।

१७ माय्यशास्त्री हो तो उसके आनंदमें बसुरोंको माय्यशास्त्री बनाना, परन्तु दुर्भाग्यशास्त्री तो अन्यथा बुरा करनेसे रुक कर आजके दिनमें प्रवेश करना ।

१८ धर्माचार्य हो तो अपने अनाचारकी ओर कटाक्ष दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश करना ।

१९ अनुचर हो तो प्रियसे प्रिय शरीरके निमानेवाले अपने अविराजकी नमस्कारछाड़ी भाइकर नके दिनमें प्रवेश करना ।

२० दुर्गच्छी हो तो अपनी आरोप्यता, भय, पराव्रता, स्थिति और सुख इनको विचार कर नके दिनमें प्रवेश करना ।

२१ दुखी हो तो आनीषिका (आनकी) जितनी आस्था रखकर आजके दिनमें प्रवेश करना ।

२२ धर्मकरणीका अवश्य वक्त निकालकर आजकी स्पष्टहार-सिद्धिमें व प्रवेश करना ।

२३ कर्णादि प्रथम प्रवेशमें अनुकूलता न हो तो भी रोम जाते हुए दिनका स्वरूप विचार कर नि कभी भी उस पवित्र वस्तुका मनन करना ।

२४ आहार, विहार, निहारके सर्वथमें अपनी प्रक्रिया जाँच करके आजके दिनमें प्रवेश करना ।

२५ व कारीगर हो तो आळस और शक्तिके वुरूपयोगका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश करना ।

२६ व चाहे जो घंटा करता हो, परन्तु आनीषिकाने किये अन्यायसंपन्न द्रव्यका उपार्जन नहीं करना ।

२७ यह स्मरण किये बाद शौचक्रियामुक्त होकर मगधक्रिमें खीन होकर क्षमा माँग ।

२८ ससार-प्रयोजनमें यदि व अपने हितके नास्ते किसी समुदायका अहित कर बाधता हो तो अन्तना ।

२९ बुद्धीको, कामीको अनाशीको उद्येवन देते हो तो अटकना ।

५० कर्मसे कम आधा पहर भी धर्म-कर्तव्य और विद्या-सुषिमें खगाना ।

५१ भिन्दगी छोटी है और लक्ष्मी बजाह है, इसलिये जमाखको छोटी कर, तो सुखरूपसे भिन्दगी बन्धी माहस होगी ।

५२ श्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि सभी सुख तेरे घर हों तो भी इस सुखमें गीणतासे दुरा ऐसा समझकर आजके दिनमें प्रवेश कर ।

५३ पवित्रताका मूख सदाचार है ।

५४ मनके दुरंगी हो जानेको रोक्नेके लिये,—(अपूर्ण)

५५ बचनोंके शक्ति मधुर, कोमल, सत्य और शौच बोधनेकी सामान्य प्रतिष्ठा लेकर आजके दिनमें प्रवेश करना ।

५६ काया मय-मूर्खता अस्तित्व है, इसलिये मैं यह क्या अयोग्य प्रयोजन करके आनन्द मानता हूँ । ऐसा आज विचारना ।

५७ तेरे हाथसे आज किन्तीकी जागीरिका टूटती हो तो,—(वर्षण)

५८ आहार-क्रियामें अब तेने प्रवेश किया । मितव्यापी अन्नकर सर्वोत्तम बन्धाग्रह गिना गया ।

५९ यदि आज दिलमें तेरा सोनेका मन हो तो उस समय ईश्वरमक्तिप्रत्यक्ष हो अपना सब साधन काम में लेगा ।

६० मैं समझता हूँ कि ऐसा होना दुर्घट है तो भी अन्याय सक्का उपाय है ।

६१ क्या जाता हुआ धैर आज निर्युक्त किया जाय तो उत्तम, नहीं तो उत्तरी सावधानी रखना ।

६२ इसी तरह गया धैर नहीं बचना, कारण कि धैर करके कितने काकाका सुख भोगना है ?

यह विचार तत्पक्षानी करते हैं ।

६३ महारंभी—हिमायुक्त—अप्यारमें आज पढ़ना पढ़ता हो तो बढकना ।

६४ बहुत ठन्नी मिठनेपर भी आज अन्यायसे किस्तीता जीव जाता हो तो बढकना ।

६५ वस्तु असून्य है, यह बात विचार कर आजके दिनकी २१९००० निपडोंका उपयोग करना ।

६६ वास्तविक सुख मात्र विरागमें है, इसलिये जन्माश्रम-मोहिनीसे आज अन्याय-मोहिनी नहीं बचना ।

६७ अन्नकाताका दिन हो तो पहले कहीं हुई स्वतन्त्रतामुसार बचना ।

६८ किसी प्रकारका निष्पाप किमोद अपना अन्य कोई निष्पाप साधन आजकी आनन्दनीयताके लिये हँडना ।

६९ सुयोदक क्षय करनेमें प्रेरित होना हो तो किञ्च करनेका आजका दिन नहीं, कारण कि आज कैसा माकदुपक दिन हुआ नहीं ।

७० अधिकारी हो तो भी प्रमाद-हित मूकना नहीं । कारण कि विसर (पञ्चाक्ष) ९ नमक जाता है, यह भी प्रमाद सम्पन्नित नौकर है ।

७१ अन्धकारिक-प्रयोजनमें भी उपयोगपूर्ण विवेकी रहनेकी सत्यसिद्धा लेकर आजके दिनमें बचना ।

७२ सापेक्ष होनेके पीछे विहाय शान्ति लेना ।

७३ आजके दिनमें इतनी वस्तुओंकी बाधा न जाने, तभी वास्तविक विचक्षणता गिनी जा सकती है—१ आरम्भता २ मद्धता ३ परिव्रता ४ परत्र ।

७४ यदि आज तुझसे कोई महान् काम होता हो तो अपने सर्व सुकता बखिराल कर देना ।

७५ करत्र नीच रज (कनरज) है करत्र यमके हाथसे उत्तम हुई वस्तु है, (करनरज) कर पर राम्रसी राजाका पुष्पी कर वस्तु करने वाला है । यह हो तो आज उतारना और गया करत्र करने हूँ बढकना ।

७६ दिनके कुरूपका दिसाव अब देना जाना ।

७७ सुख स्मृति कार्य है तो भी कुछ अयोग्य हुआ हो तो पथापय कर और सिद्धा है ।

७८ कोई परोक्षकार, दान काम अपना अन्नका दित करके जाता हो तो आनन्द मान कर ले ।

७९ जाने अजाने भी विपरीत हुआ हो तो अब उससे बढकना ।

८० अन्धकारके नियम रखना और अन्धकारमें सत्कारकी निवृत्ति सोच करना ।

८१ आज जिस प्रकार उत्तम दिन भोगा, वैसे अपनी जिन्दगी भोगनेके लिये वृ आनदित हो तो ही यह ॥—(अपूर्ण)

८२ आज जिस पक्षमें वृ भेरी कथा मनन करता है, उसीको अपनी आयुष्य समझकर सद्गतिमें प्रवेश हो ।

८३ स्फुरूप चित्तुरके कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुस्ते सो सके ।

८४ आजका दिन सुनहरी है, पवित्र है—कृतकृत्य होनेके योग्य है, यह स्फुरूपोंने कहा है, इसलिये मान्य कर ।

८५ आजके दिनमें जैसे बने तैसे स्वप्नजीमें विप्यासक्त भी कम रहना ।

८६ आत्मिक और शारिरिक शक्तिकी दिव्यताका यह मूक है, यह ज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध बचन है ।

८७ तमाम् सँझने जैसा छेदा म्यसन भी हो तो आज पूर्ण कर ।—(०) नया म्यसन करनेसे अटक ।

८८ देश, काल, मित्र इन सबका विचार सब मनुष्योंको इस प्रभातमें स्वशक्ति समान करना उचित है ।

८९ आज कितने स्फुरूपोंका समागम हुआ, आज वास्तविक आत्मस्वरूप क्या हुआ ? यह चिंतन निरखे पुरुष करते हैं ।

९० आज वृ चाहे कैसे मयकर परन्तु उत्तम कृत्यमें स्वर हो तो नाहिम्मत नहीं होना ।

९१ बुद्ध, सचिदानन्द, कर्णामय परमेश्वरकी मति यह आजके तेरे स्वरूपका जीवन है ।

९२ ठेप, ठेरे कुटुम्बका, मित्रका, पुत्रका, पत्नीका, माता पिताका, गुरुका, मित्रान्का, स्तुतिका पयाशक्ति हित, सम्मान, विनय और कामका कर्तव्य हुआ हो तो आजके दिनकी यह सुगंध है ।

९३ जिसके घर यह निमि ब्रेश बिना, स्वच्छतासे, शीघ्रतासे, वेक्यस, संतोषसे, सौम्यतासे, नैहसे, सम्मतासे और सुखसे बीतेगा उसने घर पवित्रताका बास है ।

९४ कुशल और आकाशी पुत्र आकाशधम्मी धर्मपुत्र अनुचर, सद्गुणी सुन्दरी, मेखलाका कुटुम्ब, स्फुरूपके कृत्य अपनी दशा, जिस पुरुषकी होगी उसका आजका निमि हम सबको बढनीय है ।

९५ हम सब कृष्णोंसे युक्त होनेके लिये जो पुरुष विचक्षणतासे प्रयत्न करता है, उसका दिन हमको माननीय है ।

९६ इससे उठटा वर्तन अहाँ मच रहा है, यह घर हमारी कटाक्ष इटिकी रखा है ।

९७ मने ही अपनी आजीविका जितना वृ प्राप्त करता हो परन्तु निरुपाधिमय हो तो उपाधि मय एम-सुख चाहकर अपने आजके निमि को अपवित्र नहीं करना ।

९८ कितनी तुझे कहुआ बचन कहा हो तो उस वस्तुमें सहनशीलता—निरुपयोगी भी, (अपूर्ण)

९९ दिनकी मूर्छके लिये रातमें हैंसना परन्तु वैसा हैंसना फिरसे न हो यह क्षणमें रमना ।

१०० आज कुछ बुद्धि-प्रभाव बढ़ाया हो आत्मिक शक्ति उज्ज्वल की हो, पवित्र कृत्यकी इटि की हो तो यह,—(अपूर्ण)

१०१ अवगोचरीतिसे आज अपनी किसी शक्तिका उपयोग नहीं करना,—मर्यादा-छातनसे करना यह तो पापनीह रहना ।

- १०२ सरलता वर्णका बीनलक्षण है। प्रज्ञासे सरलता सेवन की हो तो आत्मका दिन सर्वोत्तम है।
 १०३ बहान, धनपत्नी हो जयणा दीननगपत्नी हो, परन्तु मुझे उरुकी कोई वरकार नहीं।
 यहाँसे बहनेबाहोकी मैं तो क्या किन्तु पत्नि ज्ञानियोंने भी प्रशंसा की है।
 १०४ सुगुणसे जो तुम्हारे ऊपर जगत्का प्रशस्त मोह होगा तो हे बहान, तुम्हें मैं बदन करता हूँ।
 १०५ बहुमान, नम्रमान, विभुध बत करणसे परमात्माके गुणोंका चितवन—अवण—ममम,
 ईर्षन, पूजा—अर्चा इत्यादी ज्ञानी पुरुषोंने प्रशंसा की है, इसलिये जानका दिन शोभित करना।
 १६ सत्परीक्षमाण सुखी है। दुष्टपारी दुखी है। यह बात यदि मान्य न हो तो अभीसे तुम
 म्ब रखकर इस बातको विचार कर देना।

- १०७ इन सबोंका सञ्च उपाय आज कह देता हूँ कि दोषको पहचान कर दोषको दूर करना।
 १०८ कन्दी, छोटी जयणा कमलुकम निस्ती मी लक्ष्मसे यह येँ कहीं हुई पवित्रताके पुण्यसे
 पूरी हुई मान्य प्रमालके वक्तमें, सामकालमें जयणा कल्प अनुकूल निष्ठितिमें विचारमेसे मंगलायक
 होती। विशेष क्या कहूँ।

२

काल किसीको नहीं छोड़ता

जिनके गहमें मोटियोंकी मूक्यमाल साजमें शोभती थी, जिनकी कूट-वस्ति हारेके छुम हारसे
 अल्पत हैतुम्यमाल थी जो आभूषणोंसे शोभित होते थे, वे भी मरणको देखकर मान गये। हे मनुष्यो,
 जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ १ ॥

जो मधिमम मुकुट सिरपर धारण करके कानोंमें कुण्डल पहनते थे और जो हाथोंमें सोनेके
 काँडे पहनकर हाँदोंको छत्रालेमें किसी भी प्रकारकी कमी नहीं रखते थे ऐसे पुण्यपति भी जयणा मान
 सोकर पत्र मरने मृतकपर गिरे। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ २ ॥

जो इसी ठेगालियोंने भाषिकयवहित मांगलिक मुद्रा पहनते थे जो बहुत शीकने साथ बन्धोके

काल कोहिने नहीं भूके

हरिगीत

येही लगी मन्म गममगी मूक्यमाली मन्मगी
 हीय लकी छुम हारकी बहु कूटवस्ति लक्ष्मगी
 आभूषणोंकी कीमता मन्म मरने कोहने
 कम जलीय मन मानीय मर काल भूके कोहने ॥ १ ॥
 मधिमम मुकुट मणि मरीने कर्ण कुण्डल मालता,
 काँधन कडा करम की कशीय कपाल न पालता
 पलम पलम पुनीपति प मन्म मूक्य लोहि
 कम जलीय मन मानीय मर काल भूके कोहने ॥ २ ॥
 मर काँधनीयों कीमतिक मुद्रा कीरत भाषिकपती,
 मे कल्प मेमे येँछा मीनी कल्प काँधनी,

नस्तीबाजी पोंजी धारण करते थे, वे भी मुद्रा आदि सब कुछ छोड़कर मुँह धोकर चर दिये, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काछ किसीकी नहीं छोड़ता ॥ ३ ॥

जो मैँछे बाँकीकर अकबेला बनकर मैँछोंपर नीबू रखते थे, जिनके कटे हुए सुन्दर केश हर स्त्रियोंके मनको हरते थे, वे भी सबकटमें पड़कर सबको छोड़कर चले गये, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काछ किसीकी नहीं छोड़ता ॥ ४ ॥

जो अपने प्रतापसे छहों खड्का अधिराज बना हुआ था, और ब्रह्माण्डमें बलवान होकर बड़ा मारी राजा कूटकाता था, ऐसा खतुर चक्रवर्ती भी यहाँसे इस तरह गया कि मानों उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काछ किसीकी नहीं छोड़ता ॥ ५ ॥

जो राजनीतिनिपुणतामें न्यायबाजे थे, जिनके उल्टे बाजे हुए पासे भी सदा सीधे ही पड़ते थे, ऐसे मजबूतपुत्र पुरुष भी सब खटपटें छोड़कर भाग गये । हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काछ किसीकी नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥

जो तखवार चढानेमें बहादुर थे, अपनी टेकपर मरनेबाजे थे, सब प्रकारसे परिपूर्ण थे, जो हाथसे हाथीको मारकर केसरीके समान दिखाई देते थे, ऐसे सुमन्वीर भी अंतमें रोत ही रह गये । हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काछ किसीकी नहीं छोड़ता ॥ ७ ॥

ए बेर बीटी लई छोड़ी बाँकिया मुख रोनि
अन जानीए मन मानीए नब काछ मूँके कोनि ॥ ३ ॥

मुल बाँकड़ी करी कोकड़ा मईं लीनु कछा ठे से,
कानेक उली कातर हरकोईनाँ रैयाँ हरे,
ए लॉकड़ीमाँ बाँकिया कडक्या तबी लहु रोनि
अन जानीए मन मानीए नब काछ मूँके कोनि ॥ ४ ॥

छे लंडमा अधिराज के बंडे करिनि नीरज्या
ब्रह्माण्डमाँ बलवान पडने भूप मारे अरज्या;
ए खतुर चक्री बाँकिया होता मछेता होनि
अन जानीए मन मानीए नब काछ मूँके कोनि ॥ ५ ॥

के राजनीतिनिपुणतामाँ न्यायबंदा जीबज्या
अरज्या कबे पैना बचा लखस्य सदा पाता पञ्चा
ए मापगाम्भी मागिबा ठे खरपटो ली रोनि
अन जानीए मन मानीए नब काछ मूँके कोनि ॥ ६ ॥

तरवार बहादुर डेक बापि पूर्णगामाँ देगिपा
हापी हच हाये करी ए केमरी कम देगिपा;
एका मना मजबीर ठे अन रोनि रोनि
अन जानीए मन मानीए नब काछ मूँके कोनि ॥ ७ ॥

३

धर्मविषयक

त्रिसप्तधर दिनकरके बिना दिन, शशिके बिना शशी, प्रजापतिके बिना पुरकी प्रजा, सुरसुते बिना कविता, सखिबुके बिना खरिता, भर्तृके बिना भामिनी साखीन दिवार्द्र देते हैं, उसी तरह, हापन्नद और कहते हैं, कि सधर्मको भारण किये बिना मनुष्य महात् पुत्रकी कहा जाता है ॥ १ ॥

धर्म बिना धन, धाम और धान्यको पूरके समान समझो, धर्म बिना धरणीमें मनुष्य तिरस्कारको प्राप्त होता है, धर्म बिना धौमलोकी धारणमें बोझा खाती हैं धर्म बिना धारण किया हुआ धर्म धुँबके समान धुँवाता है, धर्म बिना धजा जेग टगाये जाते हैं (१), धर्म बिना ध्यानीक ध्यान जेग समझा जाता है, इतलिय धुधर्मकी बरक धुरंधताको धारण करो धारण करो, प्रत्येक धाम धर्मसे धन्य धन्य माना जाता है ॥ २ ॥

प्रेमपूर्वक अपने हाथसे मोह और मानके दूर करनेको, दुर्जनताके नाश करनेको और नाशके फन्दको तोड़नेको सुख सिद्धांतकी सुख्यतासे कुमतिके काटनेको, सुमतिके स्थापित करनेको और ममत्वके नाशनेको, मर्मी प्रक्षरसे महामोक्षक भोगनेको, बगदीताके जाननेको, और अजन्मताके प्राप्त करनेको तथा अशैतिक, अनुग्रह सुखका अनुभव करनेको यथार्थ धन्यवत्तायसे धर्मको धारण करो ॥ ३ ॥

धर्म विषय

कविता

दिनकर बिना केरो दिनना रेखाच हीरे
छाँदि बिना केवी रीरे धर्षरी तुल्य है;
प्रजापति बिना केवी प्रजा पुण्यवी ऐसी
तुल्य भिन्नानी केवी कविता कहाव है;
तन्त्रिक विद्वान केवी उरीतानी धीमा अने
मर्धर निर्दिन केवी धामिनी मन्त्रव है;
बरे रावबरे और, उद्यमि कवी बिना
मानवी महान धैर, पुत्रकी प्रजाव है ॥ १ ॥
धर्म बिना धन धाम धान्य पुत्रवाणी जाये,
धर्म बिना धरणीमा, विख्या करव है;
धर्म बिना धौमनी धारणाओ खेले और,
धर्म बिना धर्म धर्म, धर्म है धर्मव है;
धर्म बिना धरावर, धुण्डे न धामधुने
धर्म बिना ध्यानी ध्यान धौग हने धाव है;
धाव जाते धाव धुधर्मनी धुरंधता
धन्य धन्य धौग धर्म धर्मकी धराव है ॥ २ ॥
मोह मात मोहधने धौमधु धौमधने
महामर्धर धौमधने हेतु निज धावनी
धुधर्मने धावधने धुधर्मने धावधने
महामर्धर धावधने धौमधने धौमधने;
महा मोह धावधने धौमधने धावधने
महामर्धर धावधने धौमधने धौमधने;
धौमधने धावधने धुधर्मने धावधने
धर्म धावधने धाव धौमधने धौमधने ॥ ३ ॥

धर्मके बिना प्रीति नहीं, धर्मके बिना रीति नहीं, धर्मके बिना हित नहीं, यह मैं हितको बात कहता हूँ, धर्मके बिना टेक नहीं, धर्मके बिना प्रामाणिकता नहीं, धर्मके बिना ऐक्य नहीं, धर्म रामका धाम है, धर्मके बिना ध्यान नहीं, धर्मके बिना ज्ञान नहीं, धर्मके बिना सदा भाव नहीं, इसके बिना जीना किस धमका है ! धर्मके बिना तान नहीं, धर्मके बिना प्रतिष्ठा नहीं, और धर्मके बिना किसी भी बचपका गुणगान नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

सुख देनेवाली संपत्ति हा, मानका मर हो, खेम धर्मके उद्धारसे बचाई मिलती हो, यह सब किसी कामका नहीं, जवानीका जोर हा, पेशका उछाह हो, दौलतका दौर हा, यह सब केवल नामका सुख है बनिताका बिछाव हो, प्रीतिताका प्रकाश हा, दुखके समान दास हो, धामका सुख हो, परन्तु पापवन्ध कहते हैं कि स्वधर्मके बिना चारण किये यह सब सुख दो ही कौड़ीका समझना चाहिये ॥ ४ ॥

जिसे बहुत खोग प्रीतिसे चाहकर चित्तमें चिन्तामणि रत्न मानते हैं, जिसे प्रेमस पंडित खोग तरसमणि मानते हैं, जिसे कवि खोग कम्पाणकारी करुणतट कहते हैं, जिसे साधु खोग धुम धमस धुवाका उगार मानते हैं, ऐसे धर्मको, यदि उमगसे आत्माका उद्धार चाहते हो, ता निर्मल होनेके छिमे रीति नियमसे नमन करो । शायकन्ध नीर कहते हैं कि इस प्रकार धर्मका रूप जानकर धर्महृदिमें प्याल लखो और वहमसे समुत्पुल न होओ ॥ ५ ॥

धर्म बिना प्रीति नहीं धर्म बिना रीति नहीं,
धर्म बिना हित नहीं धर्म बिना कामनु
धर्म बिना टेक नहीं, धर्म बिना नेक नहीं
धर्म बिना ऐक्य नहीं धर्म बिना रामनु,
धर्म बिना ध्यान नहीं धर्म बिना ज्ञान नहीं
धर्म बिना मान नहीं धर्म बिना कामनु ?
धर्म बिना तान नहीं धर्म बिना तान नहीं
धर्म बिना गान नहीं धर्म बिना कामनु ॥ ४ ॥

शम्भवी सुन्दर होय मानसका मर होय
कामा लम्हा सुख होय ते ते कथा कामनु;
सुखानीनु जोर होय धरानो अंधार होय
दौलतको दार होय य ते गुल नामनु;
बनिता विनाम होय प्रीतिता प्रकाश होय
दल कवा दल होय दोष मुल कामनु
बदे उपबंद धम सदस्ये बाबा बिना,
जायी केव गुल एगो केवय बहामनु ॥ ५ ॥

बानुये बंतिनी बादी चित्तमणी निच सने
पंडितो प्रमन के पारलमनी प्रमनी;
कविता कम्पाणकारी करुणतट केव जेन
सुखानी लगर केव साधु धुम केवनी
आत्मा उद्धारो धर्मनी अकुरो जे
निर्मल बचन बाब, नयो नीति नेवनी;
बदे उपबंद नीर, धर्म धर्मनी
धर्मनी धाम बदे धर्मनी म केवनी ॥ ६ ॥

श्रीमोक्षमाला

“मिसने आत्मा जान की उसने सब कुछ जान लिया”

(निर्गुणप्रवचन)

१ बाबूकको अनुरोध

बाबूक ! यह पुस्तक आज तुम्हारे हस्त-कम्बुमें आती है । इसे ध्यानपूर्वक बौधना; इसमें कहे हुए नियमोंको विवेकसे विचारना और परमार्थको हृदयमें धारण करना । ऐसा करोगे तो तुम नीति, विवेक, ध्यान, ज्ञान, सद्गुण और आत्म-व्यक्ति पा सकोगे ।

तुम जानते होगे कि बहुतसे ब्रह्मज्ञान मनुष्य न पढ़ने योग्य पुस्तकों पढ़कर अपना कमल्य समय हवा खो देते हैं । इससे वे कुमार्ग पर चढ़ जाते हैं, जहाँ उनके अपकीर्ति पाते हैं, और परलोकमें नीच गतिमें जाते हैं ।

माया-ज्ञानकी पुस्तकोंकी तरह यह पुस्तक पढ़ना करनेकी नहीं परन्तु मनन करनेकी है । इससे स्व-मन और परम-मनमें तुम्हारा द्वित होगा । भगवान्‌को कहे हुए वचनोंका इसमें उपदेश किया गया है ।

तुम इस पुस्तकका विनय और विवेकसे उपमाग करना । विनय और विवेक ये धर्मके मूल हैं ।

तुमसे इसका एक यह भी अनुरोध है कि बिनको पढ़ना न आता हो और उनकी इच्छा हो, तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ़कर सुनाया ।

तुम्हें इस पुस्तकमें जो कुछ समझमें न आवे, उसे सुविचक्षण पुरुषोंसे समझ लेना योग्य है ।

तुम्हारी वात्सल्य इससे द्वित हो तुम्हें ज्ञान-व्यक्ति और आनन्द सिखे तुम परलोककी दयालु, समानान विवेकी और बुद्धिवाली बनो; अर्थात् भगवान्‌से यह श्रम प्राप्त करना करके यह पाठ पूर्ण कराया है ।

२ सर्वमान्य धर्म

जो धर्मका तत्त्व तुमसे पूछा है उसे तुमसे लेखपूर्वक सुनाया है । यह धर्म-तत्त्व सत्य सिद्धांतका सार है सर्वमान्य है, और सबको द्वितकारी है ॥ १ ॥

भगवान्‌ने माणवमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है । दयाको नष्ट करनेके लिये अमरकालक शत्रु प्राणियोंको सतत प्रदान करो ॥ २ ॥

धर्मका जो पुरुष मन ही समझने लगे उसे;

वे सिद्धांत सत्यको सार सर्वमान्य सद्गुण द्वितकार ॥ १ ॥

मनुष्य आत्मकी भयानक चर्च न कीये एक समान;

अमरकाल सत्य सतत या मानवने प्रदान दोष ॥ २ ॥

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होनेपर ही प्रमाण माने जाते हैं । निःस्पृहकार सूर्यके बिना किरणें दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार दयाके न होनेपर सत्य, शील और दानमेंसे एक भी गुण नहीं रहता ॥ ३ ॥

जहाँ पुण्यकी एक पैखड़ीको भी छेदा होता है, वहाँ प्रभुधि करनेकी जिनबन्दी बाधा नहीं । सब जीवोंके सुखकी इच्छा करना, यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

यह उपदेश सब दर्शनोमें है । यह एकांत है, इसका कोई अपवाग नहीं है । सब प्रकारसे जिनमगानका यही उपदेश है कि विरोध रहित दया ही निर्मल दया है ॥ ५ ॥

यह ससारसे पार करनेवाला सुन्दर मार्ग है, इसे उत्साहसे चारण करके ससारको पार करना चाहिये । यह सकल धर्मका ध्रुव मूल है, इसके बिना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

ओ मनुष्य इसे तत्पररूपसे पहचानते हैं, वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं । राजबन्धु कहते हैं कि क्षान्तिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

३ कर्मका चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विधिभ्रताये कहता हूँ । इनपर विचार करोगे तो तुमको परमबकी श्रद्धा बढ़ होगी ।

एक जीव सुंदर पक्षीपर पुण्यशायामें शयन करता है और एकको फट्टीझूई गूदही भी नहीं मिलती । एक मौलि मौलिके भोवनोंसे लुप्त रहता है और एकको काढ़ी ग्यारके भी छाछे पड़ते हैं । एक अगणित कर्मकी उपभोग करता है और एक छूटी बाशामके छिये घर घर भटकता फिरता है । एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक अवाचक बसा होकर रहता है । एक सुन्दर बालककारसे विमूढित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकाष्ममें फटा हुआ कपड़ा भी ओढ़नेको नहीं मिलता । कोई रोगी है और कोई प्रयत्न है । कोई बुद्धिशाही है और कोई बड़ है । कोई मनोहर नयनवाला है और कोई अंधा है । कोई स्वयं-संग है और किसीके हाथ और पैर रमणीय हैं । कोई कीर्तिमान है और कोई अपयश भोगता है । कोई बाबों अनुचरोपर हुक्म चलाता है और कोई बाबोंके ताने सहन करता है । किसीको देखकर आनन्द होता है और किसीको देखकर बमन होता है । कोई सम्पूर्ण इन्द्रियोबाधा है और कोई अपूर्ण इन्द्रियोबाधा है । किसीको दीन-दुनियाका छेदा भी मान नहीं और किसीके दुःखका पार भी नहीं ।

सत्य शीलसे लक्ष्मी दान दया होइने खां प्रमाण;

दया नहीं तो ए नहीं एक बिना धर्म किरण नहीं देण ॥ ३ ॥

पुण्यशायी का पुण्य जिनबन्दी का नहीं बाधाध;

कर्म बीबट्टे ईच्छे सुख महावीरकी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥

कर्म हरिने ए उपदेश ए पड़ते नहीं विरोध;

कर्म प्रकारे जिनको मोच दया दया निर्मल बाधिरोग ॥ ५ ॥

ए भवतारक सुंदर राख बाँधे वरिसे कटी अल्लाह

धर्म लक्ष्मणु यह ध्रुव मूल ए कर्म धर्म तथा प्रतिकूल ॥ ६ ॥

लक्ष्मणपी ए ओल्लके ते कम पौनि शाश्वत सुख;

क्षान्तिनाथ भगवान् प्रसिद्ध, राजबन्धु कर्णनाथ सिद्ध ॥ ७ ॥

कोई गर्माधानमें आते ही मरणको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्म लेते ही तुरत मर जाता है। कोई मर चुका पैदा होता है और कोई सा जन्मका बुर होकर मरता है।

किन्तीका मुख, माया और स्थिति एकही नहीं। पूर्ण राजमागशीपर खेम खेमके उठावसे बचने दिया जाता है और समर्थ विद्वान् पक्का करते हैं।

इस प्रकार समस्त जगत्की विविधता भिन्न भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो। क्या इसके ऊपरसे तुम्हें कोई विचार आता है? मेने जो कहा है यदि उसका ऊपरसे तुम्हें विचार आता हो, तो कहो कि यह विविधता किस कारणसे होती है?

अपने बौद्ध हुए क्षुधाक्षुध कर्मों। कर्मों समस्त संसारमें प्रमत्त करना पड़ता है। परमत्र नही माननेवाला स्वयं इन विचारोंको किन्तु कारणसे करते हैं, इसपर यथार्थ विचार करें, तो वे भी इस सिद्धांतका मान्य रहेंगे।

४ मानवचेष्ट

बैसा कि पहिले कहा जा चुका है विद्वान् इस मानवचेष्टको दूसरी सब नेहोंसे उठम कहते हैं। उठम कहनेके कुछ कारणोंका हम यहाँ करेंगे।

यह संसार बहुत बुरा जगत् है। इसमेंसे जानी तैरकर पार पानका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधक वे जगत् दुखमें निराश्रय होकर हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे नहीं मिलती। ये निर्धन और नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष नहीं केवल मानवचेष्टसे ही मोक्ष है।

जब तुम कहोगे कि सब मानवियोंको मोक्ष क्यों नहीं होता? उसका उत्तर यह है कि जो मनुष्यमाना समझते हैं वे संसार-शोकसे पार हो जाते हैं। जिनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई हो, और वस्ते मयात्मनसे निष्पन्नको समझकर, जो परम तत्त्व-ज्ञान तथा उठम चारित्र्यका स्वर्णका संभन करने अनुरक्त होचुके पड़े हैं, उनके देहवादीत्वको विद्वान् मानवता कहते हैं। मनुष्यके शरीरकी बनावटके ऊपरसे विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो अंगुली दा कान, एक मुख दो होठ और एक नाक हो उसे मनुष्य कहना ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझे तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनना चाहिये। उसने भी इस तरह हाथ पैर आदि सब कुछ प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक बूँद भी है या क्या उसका कममनुष्य कहना चाहिये? नहीं, नहीं। जो मानवमाना समझता है वही मानव कहना समझता है।

जानी जाना करते हैं कि यह भय बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रयाससे यह देह मिलती है इस विषे हमने शास्त्रोंमें आत्मसिद्धि कर लेना चाहिये। अपर्मतकुमार, वाचसुकुमार जैसे छोटे बालकोंमें भी मानवत्वको समझनेसे मोक्ष प्राप्त की। मनुष्यमें जो विशेष शक्ति है उस शक्तिसे वह मरणोपम हाथी जैसे प्राणीको भी बशमें कर लेता है। इस शक्तिसे यदि वह अपने मयात्मनी हाथीको बसा कर छे तो जला चलावा हो।

किन्ती भी अन्य नेहमें पूर्ण सर्वविवेकका उदय नहीं होता, और मोक्षके रास्ते-मार्गमें प्रवेश नहीं। सरना। इस विषे हमें विवेक हुए हम बहुत दुर्लभ मानवचेष्टको समझ कर लेना चाहिये कि।

बहुतसे मूर्ख दुष्टाचारमें, अज्ञानमें, निषयमें और अनेक प्रकारके मर्दमें इस मानव-पेड़को बूया गुमाते हैं, अपूप्य कौस्तुभको खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, धार्मिक तो बानरूप ही हैं।

मौतकी पड़को, निश्चयसे हम नहीं जान सकते। इस स्थिती जैसे बने बैठे धर्ममें त्वरसे सम्पन्न होना चाहिये।

७ अनापी मुनि

(१)

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगध देशका धेरिक नामक राजा अश्वक्रोवाके छिये मडिकुश नामके वनमें निकल पड़ा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष खड़े थे। नाना प्रकारकी कामल खेले चटायोप फैली हुई थी। नाना प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे। संशेपमें, यह वन नन्दन नन्दा जसा लगता था। इस वनमें एक वृक्षके नीचे महासमाधिगत किन्तु सुकुमार और सुशोषित मुनिको उस धरिकने बैठ हुए देखा। इसका रूप देखकर उस राजाका अत्यन्त आनन्द हुआ। उसका उपमासहित रूपसे विस्मृत होकर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा करने लगा। इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है। इसका कैसा मनोहर रूप है। इसकी कैसी अद्भुत सौन्दर्यता है। यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है। इसके अगसे बैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकल रहा है। इसकी निर्दोषता कैसी दीखती है। यह संपत्ति कैसी निर्मय नग्नता धारण किये हुए है। यह भोगसे कैसा विरक्त है। इस प्रकार चित्तवन करते करते, आनन्दित होते होते, स्तुति करते करते धीरे धीरे चढते हुए, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिका परम कर न अति समीप आर न अति दूर वह धरिक बैठा। वाममें दोनों हाथोंका जोड़ कर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा 'हे आर्य! आप प्रणाम करने योग्य ठरुण हैं। भोगविहासक छिपे आपकी वय अनुकूल है। संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं। ऋतु ऋतुके काम-भोग, जल सत्रधी विजस, तथा मनोहारिणी छियोंके मुख-वचनके मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वम् आप महाउपम कर रहे हैं इसका क्या कारण है, यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।' राजाक ऐसा वचन सुनकर मुनिने कहा— 'हे राजन्! मैं अनाप था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानवाला, योग क्षेमका करनेवाला सुशाय अनुकूल लानवाला करुणासे परम-सुखका देनेवाला कोर्ष मर मित्र नहीं हुआ। यह कारण मेरे अनापीयमेका था।'

८ अनापी मुनि

(२)

अधिक मुनिक मागसे ग्मित हास्य करके बोला, "आप महाऋद्धिर्बलका नाथ क्यों न दागा। यदि कार्य आपका नाथ नहीं है तो मैं दाता हूँ। हे मयप्राण! आर मागोसे मोग। हे संपत्ति! मित्र क्षान्तिसे दुर्धम इस अपने मनुष्य मयको मरुत करे।" अनापीने कहा— 'अरे अधिक राजा! परन्तु तू ता मय अनाप है, तो मेरा माय क्या होगा। निर्धन बनाऊ कर्रमि बना सरुगा है। अनुभ मुदि-गान यद्दोसे कर सकगा है। अब निरुता यद्दोसे न सकगा है। क्या संतान यद्दोसे

दे सकती है ! जब तू स्वयं जगाय है तो मेरा नाथ कैसे होगा ! ” मुनिके बचनसे राजा बलि व्याकुल और बलि निश्चित हुआ । जिस बचनका कभी भी श्रवण नहीं हुआ था, उस बचनके पतिके मुखसे श्रवण होनेसे वह संकित हुआ और बोला—“ मैं अनेक प्रकारके व्यर्थोंका भोगी हूँ अनेक प्रकारके मद्योन्मत्त दृष्टियोंका स्वाधी हूँ; अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है। मगर, प्राप्त, अतःपुर और चतुष्पादकी मेरे कोई स्मृति नहीं है मनुष्य सबकी सब प्रकारके भोग मैंने प्राप्त किये हैं; अतुल्य मेरी आज्ञाकी मर्जी मीति पाकसे है । इस प्रकार रामाके योग्य सब प्रकारकी संपत्ति मेरे घर है और अनेक मनबन्धित वस्तुयें मेरे समीप रहती हैं । इस तरह मरान् होनेपर भी मैं अनाथ क्यों हूँ ! कहीं है भगवन् ! आप क्या न बोलते हों । ” मुनिने कहा—“ राजन् ! मेरे कहनेको दृष्ट्यापूर्वक नहीं समझा । अब मैं जैसे अनाथ हुआ और जैसे मैंने सुसारका ज्ञान किया वह तुझे कहता हूँ । उसे एकप्रकार और सत्यवान् चित्तसे सुन । सुननेके बाद दृष्ट्या अपनी शक्तिके सुभासमन्त्र निर्णय करना —

‘ कौशिकी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी मन्त्रांशसे भरपूर एक सुन्दर नगरी है । यहाँ ऋषिसे परिपूर्ण एक सत्य नामका मेरा पिता रहता था । हे महाराज ! पौत्रलके प्रथम मागमें मेरी अस्ति अति बेगनासे फिर गई और समस्त शरीरमें अग्नि जलने लगी । शरीरसे भी अतिशय तीव्र यह रोग पैठकी तरह मेरे ऊपर कोपमयमान हुआ । मेरा मन्त्रक इन्हीं बोलकी वस्तु बेगनासे हुलसे लगी । बल्लेके प्रकार बैसी, हस्तोंको भी रीढ़ भय उपजलेबाड़ी इस दारुण बेगनासे मैं अत्यन्त शोकमें था । वैद्यक-शास्त्रमें निपुण बहुतसे वैद्यराज मेरी इस बेगनाको दूर करनेके लिये आये और उन्होंने अनेक औषध उपचार किये, परन्तु सब बूझा गये । ये मन्त्रनिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त न कर सके । हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था । मेरी बोलकी वेदनाको दूर करनेके लिये मेरे पिता सब धन देने लगे परन्तु उससे भी मेरी यह बेगना दूर नहीं हुई । हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था । मेरी माता पुत्रके शोकसे अस्ति दुःखी थी, परन्तु वह भी मुझे रोगसे न छुटा सकी । हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था । एक फेरसे जन्मे हुए मेरे अंग और कतिपय मर्त्यपत्ति जन्मसे बनता परिग्रह किया परन्तु मेरी यह वेदना दूर न हुई । हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था । एक फेरसे जन्मी हुई मेरी अंग और कतिपय मर्त्यपत्तिसे भी मेरा यह दुःख दूर नहीं हुआ । हे महाराज ! यही मेरा अनाथपना था । मेरी जो पतिव्रता, मेरे ऊपर अनुरक्त और प्रेम-वर्ती थी वह अपने औद्योगिकसे मेरे हृदयको प्रभित करती थी उसके लक्ष्य पानी बेनेपर भी और माना-प्रकारके उद्योग पुत्र आदि सुगन्धित पदार्थ तथा अनेक प्रकारके कृषि कर्म आदिके जाने अजाने विवेचन किये जानेपर भी मैं उस विवेचनसे अपने रोगको शान्त नहीं कर सका । लक्षणपर भी अक्षय न रहनेवाली भी भी मेरे रोगको नहीं दूर कर सकी । हे महाराज ! यही मेरा अनाथपना था । इस तरह किसीके प्रेमसे किसीकी औद्योगिकसे किसीके विचारसे और किसीके परिग्रहसे यह रोग शान्त न हुआ । इस समय पुन पुन मैं अत्यन्त बेगना भोग रहा था । बादमें मुझे प्रयत्नी स्मरणसे केद हुआ । ६ बार यदि इस यज्ञ विद्वानामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ, तो सौती, दैती और निराली प्रजन्मको रण करे, देता विचार करके मैं सो गया । जब रात व्यतीत हुई उस समय हे महाराज ! मेरी यह

वेदना क्षय हो गई, और मैं निरोग हो गया । माता, पिता, स्वजन, बंधव आदिको पूँछकर प्रमात्तमें मैंने महाप्रमात्त इन्द्रियोक्ता निग्रह करनेवाले, और आरम्भापाधिसे रहित अनगारपनेको धारण किया ।

७ अनायी मुनि

(१)

हे श्रेणिक राजा ! तबसे मैं आत्मा-परमात्मा नाथ हुआ । अब मैं सब प्रकारके बीबोंका नाथ हूँ । तुझे जो शका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी । इस प्रकार समस्त अगाध-चक्रवर्ती पर्यंत-अशरण आर अनाथ है । अहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है । इस लिये जो मैं कहता हूँ उस कपनका ए मनन करना । निश्चय मानो कि अपनी आत्मा ही दुःखकी मरी हुई बैतरणीका कर्ता है अपना आत्मा ही क्रूर शालमलि बुद्धके दुःखका उपनानेवाला है, अपना आत्मा ही बाँधित वस्तुरूपी बुद्धकी देनेवाला कामधेनु-सुखका उपनानेवाला है अपना आत्मा ही नन्दननके समान आनन्दकारी है, अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है अपना आत्मा ही उस कर्मका टाछनेवाला है; अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन और अपना आत्मा ही और सुखोपार्जन करनेवाला है; अपना आत्मा ही मित्र, और अपना आत्मा ही वैरी है, अपना आत्मा ही कनिष्ठ आचारमें स्थित, और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है ।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनायी मुनिने आत्माके प्रकाश करनेवाले उपदेशको दिया । श्रेणिक राजाको बहुत संतोष हुआ । वह दोनों हाथोंको जोड़ कर इस प्रकार बोला—“ हे भगवन् ! आपने मुझे मर्त्री भौति उपदेश किया, आपने परार्थ अनाथपना कह बताया । महर्षि ! आप स्नाय, आप सन्धव और आप सवर्म हैं । आप सब अनाथोंके नाथ हैं । हे पवित्र स्वप्ति ! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ । आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे छाम हुआ है । हे महामात्म्यवन्त ! धर्मम्यानमें विप्र करनेवाले भोगोंके भोगनेका मैंने आपको जो आमत्रण दिया, इस अपने अपघचकी मस्तर नमाकर मैं क्षमा माँगता हूँ । ” इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रशिक्षणाकरके अपने स्थानका गया ।

महातपोवन महामुनि महाप्रज्ञावन्त, महायशस्वत, महानिर्ग्रय और महामुक्त अनायी मुनिने मगध देशके श्रेणिक राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है, वह सबसुख अशरण मानना सिख करता है । महामुनि अनायीसे भोगी हुए वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशय केनाका अनन्त आत्माओंको भोगते हुए हम देखते हैं यह कैसा विचारणीय है ! संसारमें अशरणता और अनन्त अनाथता छार्ई हुई है । उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीघ्रके संवन करनेसे ही होता है । यही मुक्तिका कारण है । जैसे संसारमें रहता हुआ अनायी अनाथ या उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है । स्नाय होनेके लिये सर्व, सर्वम और सद्बुद्धके जानना और पहचानना आवश्यक है ।

८ सदेवमनस्य

तीन तत्त्वोंको हमें अवश्य जानना चाहिये । जब तक इन तत्त्वोंके संबन्धमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्मका स्थित नहीं रहता । ये तीन तत्त्व सर्वत्र, सर्वम, और सद्बुद्ध हैं । इस पाठमें हम सर्वत्र स्वरूप संश्लेषमें करेंगे ।

चतुर्वर्ती राजानिराज अथवा राजपुत्र होनेपर भी जो संसारको एकान्त अनंत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं, जो पूर्ण दया, शांति क्षमा, नीतिरगता और आत्म-सन्मुखिसे विविध तपका रूप करते हैं; जो महा उग्र तप और ध्यानके द्वारा आत्म-विशोदन करके कर्मोंके समूहको जल डालते हैं; जिन्हें चंद्र और सूर्यसे भी अत्यंत उज्ज्वल शुद्धिमान प्राप्त होता है; जो सब प्रकारकी निन्दाका क्षय करते हैं; जो संसारमें मुख्य गिमे जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अतराय इन चार कर्मोंको मस्तीभूत करके नेत्रछद्धान और नेत्रछदर्शन सहित अपने स्वरूपसे विशार करते हैं; जो चार अपानि कर्मोंके रहने तक पर्याप्तवातचारित्र्य उतम शौचका सेवन करते हैं; जो कर्म-श्रीमत्से अनुष्ठाने हुए पाप प्रणिपादों परमशक्ति प्राप्त करनेके लिये शुद्ध सारभूत तत्त्वका निष्कारण कर्ममत्से मेषबाध-बाधसे उपदेश करते हैं जिनके किसी भी समय किंचित् मात्र भी संसार वैमम विनाशका स्पर्श भी बाकी नहीं रहा; जो अनचाहे कर्म क्षय करनेके लक्ष्य अपनी उच्छ्रयता मानकर श्रीमुख-बाधसे उपदेश नहीं करते जो पाँच प्रकारका अंतःप, क्षय, रति अरति, मय, हृष्टता शोक, मित्यह, अज्ञान अप्रत्याप्त्यान, रोग, हेय, निन्दा, और काम इन अठारह रूपोंसे रहित हैं; जो सुखिदामन्द स्वल्पसे विराजमान हैं; जिनके महाउद्योतकर बाह्य गुण प्रगट होते हैं; जिनके अन्त, मरण और अनंत संसार मग्न हो गया है; उनको निर्मम आगममें संशय कहा है। इन दोषोंसे रहित शुद्ध अहमस्वकको प्राप्त करनेके कारण वे पूजनीय परमेश्वर कहे जाने योग्य हैं। ऊपर कहे हुए अठारह तत्वोंमें से यदि एक भी दोष हो तो संशयका स्वरूप नहीं पड़ता। इस परमत्त्वको महान् पुण्यसे विशेषरूपसे ज्ञाना आश्रयक है।

९ सन्दर्भितत्व

अनादि कालसे कर्म-बाधके बलसे यह अहमा संसारमें मटक करता है। क्षण मात्र भी उसे उखा मुक्त नहीं मिटता। यह अवोगतिका सेवन किया करता है। अवोगतिम पवती हुई अहमाको रोककर वा सन्निको देता है उसका नाम धर्म कहा जाता है और यही स्वयं सुखका उपाय है। धर्म तत्त्वके मध्य भगवान्ने भिन्न भिन्न मेद कहे हैं। उनमें मुख्य ये दो हैं—व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म। व्यवहारधर्मसे दया मुख्य है। स्वयं यदि बाकीके चार महावत् भी दयाकी रक्षाके लिये हैं। दयाके आठ भेद हैं—अप्यदया भागदया स्वदया परदया, स्वकपदया, अनुभवदया व्यवहारदया, निश्चयदया।

प्रथम अप्यदया—प्रत्येक कामका यत्नपूर्वक जीवोंकी रक्षा करके करना 'अप्यदया' है।

दूसरी भागदया—दूसरे जीवोंके दुर्गतिमें जाते गैरकर अनुकूल बुद्धिसे उपदेश देना 'भागदया' है।

तीसरी स्वदया—यह अहमा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे प्रसिद्ध है तत्त्वको नहीं पाता, विनाशना नहीं पान सकता इस प्रकार बितकन कर धर्ममें प्रवेश करना 'स्वदया' है।

चौथी परदया—छद्म वज्रके जीवोंकी रक्षा करना परदया है।

पाँचवी स्वकपदया—गृह्य निवृत्त स्वल्प निन्दा करना स्वकपदया है।

छठी अनुभवदया—सद्गुरु अपना सुविशुद्धता शिष्यको कष्टों वचनोंसे उपदेश देना यद्यपि यह देगनम अयमप लगता है, परन्तु परिणाममें करुणाका कारण है—इसका नाम 'अनुभवदया' है।

सातवीं व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पाखनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

आठवीं निश्चयदया—छुद साध्य उपयोगमें एकता भाव और अमेद उपयोगका होना 'निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्ने व्यवहारधर्म कहा है। इसमें सब जीवोंके सुख, सतोय और अममत्तन य सब विचारपूर्वक देखनेसे आ जाते हैं।

दूसरा निश्चयधर्म—अपने स्वरूपकी भ्रमणा बूर करनी, आत्माको आत्मभावसे पहचानना, 'यह ससार मरा नहीं, मैं इससे भिन्न, परम असंग, सिद्ध सदश छुद आत्मा हूँ' इस तरह आत्म-स्वभावमें प्रवृत्ति करना 'निश्चयधर्म' है।

जहाँ किसी प्राणीको दुःख, अहित अथवा असुख होता है, वहाँ दया नहीं, वर जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। अर्थात् भगवान्के कहे हुए धर्मवृत्तसे सब प्राणी भय रहित होते हैं।

१० सद्गुरुनन्दन

(१)

पिता—पुत्र ! तू जिस शाळामें पढ़ने जाता है उस शाळाका शिक्षक कौन है ?

पुत्र—पिताजी ! एक विद्वान् और समस्तार प्राज्ञण है।

पिता—उसकी भाणी, चाखचकन आदि करते हैं ?

पुत्र—उसकी भाणी बहुत मधुर है। वह किसीको अविषेकस नहीं बुझाता, और बहुत रंगमौर है, जिस समय वह बोझता है, उस समय मानों उसका मुखसे फूल सरते हैं। वह किसीका अपमान नहीं करता और जिससे हम योग्य नीतिको समझ सकें, ऐसी हमें शिक्षा देता है।

पिता—य वहाँ किस कारणसे जाता है, सो मुझे कह।

पुत्र—आप ऐसा क्यों कहते हैं, पिताजी ! मैं ससारमें विचक्षण होनेक उद्य पद्धतियोंका समझ और व्यवहारनीतिका सीन्नी, इसलिये आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—वेरा शिक्षक यदि दुष्टचारी अथवा ऐसा ही होता तो ?

पुत्र—तब तो बहुत मुय होता। हमें अविकल और कुचकन बोलना आता। व्यवहारनीति तो फिर सिखगता ही कौन !

पिता—येक पुत्र ! इसके ऊपरस मैं अब तुझ एक उत्तम शिक्षा कहता हूँ। जैसे ससारमें पढ़नेक लिये व्यवहारनीति सीखनेकी आवश्यकता है वैसे ही परमभक्त लिये धर्मगत्य और धर्मनीतिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। जिस यह व्यवहारनीति सन्तचारी शिक्षकस उत्तम प्रकारसे मित्र सकती है, वैसे ही परमधर्म अपस्वर धर्मनीति उत्तम गुरुसे ही मित्र सकती है। व्यवहारनीतिक शिक्षक और धर्मनीतिक शिक्षकमें बहुत भेद है। विद्वान्के दुष्टदुष्ट समान व्यवहार-शिक्षक है और अमूर्ख कीलुमके समान आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र ! आनन्द कहना योग्य है। धर्मने शिक्षकजी मुझ्की आवश्यकता है। जानन बार बार मसारके अनेक दुःखोंके संशयमें मुझन कहा है। ममारमें पार पानक उदिये धर्म ही राहायमून है। इसलिये धर्म कम गुरुसे प्राप्त करनेमें अपस्कर हो सकता है, यन् मुझन ज्ञान करक कहिय।

११ समुद्रतन्त्र

(२)

विद्या—पुत्र ! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं —काष्ठस्वरूप, कागजस्वरूप और फरस्वरूप । काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम हैं । क्योंकि संसाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही पार होते हैं, और दूसरोंको पार कर सकते हैं । कागजस्वरूप गुरु मध्यम हैं । ये संसार-समुद्रको स्वयं नहीं पार कर सकते परन्तु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं । ये दूसरोंकी नहीं पार कर सकते । फरस्वरूप गुरु स्वयं हूयते हैं, और दूसरोंको भी बुझाते हैं । काष्ठस्वरूप गुरु केवल विनेश्वर भगवान्‌को ही शासनमें हैं । बाकी दोनों प्रकारके गुरु कर्मविरणकी वृद्धि करनेवाले हैं । हम सब उत्तम वस्तुको चाहते हैं, और उत्तमसे उत्तम वस्तुएँ मित्र भी सचती हैं । गुरु यदि उत्तम हो तो वह भव-समुद्रमें नाविकरूप होकर सदर्भ-मानमें बैठाकर पार पहुँचा सकता है । तत्त्वज्ञानके भेद, स्वस्वरूपभेद, लोकात्मक विचार, संसार-स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके बिना नहीं मित्र सकता । अब तुम्हें प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके कौन कौनसे स्वरूप हैं ? सो कहता हूँ । जो विनेश्वर भगवान्‌की कही हुई आज्ञाको जाने उसको यथार्थरूपसे पार्ष्ण और दूसरोंको उपदेश करें, कथन और कामिनीके सर्वथा त्यागी हो विद्युत् आहार-वत् छते हों सर्वसं प्रकारके परीयद् सद्गुरु करते हों, वांछ, दंष्ट, निरारंभी और विवेन्द्रिय हों, सैदास्तिक-ज्ञानमें निमग्न रहते हों केवल धर्मके किये ही स्वीकृति निर्वाह करते हों, निर्मय-यथको पालते हों कायर न होते हों, सीक तक भी बिना पिय न छते हों, सब प्रकारके यथि मोहनके त्यागी हों, समझानी हों, आर भीतरगात्रसे स्वीकृति हों स्वीकृति, उन्हें काष्ठस्वरूप समुद्र जानना चाहिये । पुत्र ! गुरुक आचार और ज्ञानके संबंधमें आपसमें बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया गया है । ज्यों ज्यों तु आगे विचार करना सीखता जायगा, त्यों त्यों पीछे मैं कुछ इन विशेष तत्त्वोंका उपदेश करता जाऊँगा ।

पुत्र—निमात्री आपने मुझ संज्ञामें ही बहुत उपबोधी और कल्याणक उपदेश दिया है । मैं इसका निरन्तर मनन करता रहूँगा ।

१२ उत्तम गृहस्थ

संसारमें रहते पर भी उत्तम आत्मक गृहस्थाश्रमके द्वारा आत्म-कल्याणका साधन करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम भी प्रशंसनीय है ।

ये उत्तम गुरु सप्ताधिक, समाजना, बोधिवार प्रत्यादयान इत्यादि वम नियमोंका सेवन करते हैं । पर-वर्तनी और मा-वर्तनीकी छवि रहते हैं ।

सप्ताधिक यथाशक्ति दान देते हैं ।

रामे मरु और कोकल भाषा बोलते हैं ।

सद् शास्त्रोक्त मनन करते हैं ।

यथाशक्ति जीरिहमें भी आपा-कपट इत्यादि नहीं करते ।

धी पुत्र माता पिता मुनि और गुरु इन सबका यथाधाम्य सम्मान करते हैं ।

मा बान्धवो धर्मज्ञ उपदेश देने हैं ।

यत्नेसे घरकी स्वच्छता, मोहन पकाना, शयन श्यादि करते हैं ।
 मयं विचक्षणतासे आचरण करते हुए भी और पुत्रको विनयी और धर्मिमा बनाते हैं ।
 कुटुम्बमें पक्षकी वृद्धि करते हैं ।
 आये हुए अतिथिका यथायोग्य सम्मान करते हैं ।
 याचकको झुकातुर नहीं रखते ।
 सपुत्र्योका समागम, और उनका उपदेश धारण करते हैं ।
 निरतर मर्यादसे और सुगोपयुक्त रहते हैं ।
 यथाशक्ति घरमें शास्त्र-सूत्र रखते हैं ।
 अन्य आरंभसे व्यवहार चलाते हैं ।

ऐसा गृहस्थाश्रम उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं ।

१३ जिनेश्वरकी भक्ति

(१)

विज्ञान—विचक्षण सत्य ! कोई वाकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई फ़ारसीकी भक्ति करता है । ये लोग इनकी भक्ति करके क्या आशा रखते होंगे ?

सत्य—प्रिय विज्ञान ! ये भक्त लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी परम आशासे इन देवोंको मजते हैं ।

विज्ञान—तो कहिये, क्या आपका मत है कि इससे वे उत्तम गति पा सकेंगे ?

सत्य—इनकी भक्ति करनेसे वे मोक्ष पा सकेंगे, ऐसा मैं नहीं कह सकता । मिनको ये लोग परमेश्वर कहते हैं उन्होंने कोई मोक्षको नहीं पाया, तो वे फिर उपासकको मोक्ष कहेंगे से सकते हैं । शक्ति कीरत कर्मका धर्म नहीं कर सके, और वे दूषणोंसे युक्त हैं, इस कारण वे पूजने योग्य नहीं ।

विज्ञान—ये दूषण कौन कौनसे हैं, यह कहिये ।

सत्य—अज्ञान, मित्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, मय, शोक, अगुस्ता, दानतयय धाम्नेतयय, धीर्वातयय, मोहातयय, उपमोहातयय, काम, हास्य, रति और अरति इन अष्टाष्ट दूषणोंमें से यदि एक भी दूषण हो तो मैं वे अप्रभु हैं । एक समर्थ पंडितने भी कहा है कि ' मैं परमेश्वर हूँ ' इस प्रकार मिथ्या रीतिसे मनानेवाले पुरुष स्वयं अपने आपको ठगते हैं । क्योंकि पापमें ही होनेसे वे नियमी रहते हैं, शास्त्र धारण किये हुए होनेसे वे देवी रहते हैं, अपमाणा धारण करनेसे उनके चित्तका व्यग्रता सूचित होता है, मेरी धरणमें आ, मैं सब पापोंको हार दूँगा ' ऐसा कहनेवाला अमिमान्नी और नास्तिक रहता है । ऐसी दशामें फिर दूसरेको वे कैसे पार कर सकते हैं ! तथा बहुतसे अवतार लेनेके कारण परमेश्वर कहलाते हैं, ता इससे सिद्ध होता है कि उन्हें किसी कर्मका योगना अभी बाकी है ।

विज्ञान—मार्ज ! तो पूज्य कौन हैं, और किसकी भक्ति करनी चाहिये, जिससे आपका स्वशक्तिका प्रकाश करे !

सत्य—शुद्ध, सविद्यामन्दस्वरूप, जीवन-सिद्ध मगवान्, तथा सर्वरूपण रहित, कर्ममन्त्र-हीन, मुक्त बीतराग, सकलमयसे रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, त्रिनेश्वर मगवान्की भक्तिये वाग्यशक्ति प्रकट होती है।

विज्ञान—क्या यह मानना ठीक है कि इनकी भक्ति करनेसे हमें ये मोक्ष देते हैं ?

सत्य—यहाँ विज्ञान ! वे अनंत ज्ञानी मगवान् तो बीतरागी और निर्बिकार हैं। उन्हें हमें सृष्टि-निष्ठाका कुछ भी फल देनेका प्रयोजन नहीं। हमारी आपा अक्षान्ती और मोहान्ध होकर जिस कर्म-बन्धसे घिरी हुई है, उस कर्म-बन्धको बुर करनेके लिये अनुपम पुण्यार्थकी वाग्यशक्तता है। सब कर्म-बन्धको क्षयकर अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र्य, अनंतसौम्य और स्वस्वरूपमय हुए त्रिनेश्वरका स्वरूप आत्म्याकी निरचयनपेसे ज्ञप्ति होनेसे उस मगवान्का स्मरण चित्तवन्, ध्यान, और भक्ति यह पुण्यार्थ प्रदान करता है। बिकारसे आत्माको विरक्त करता है, तथा शान्ति और निर्बन्ध देता है। जैसे तख्तार हथमें छेनेसे धौन्यरुति और भीम पानसे नशा उत्पन्न होता है। वैसे ही इनके गुणोंका चित्तवन् करनेसे आत्मा स्वस्वरूपमन्त्रकी श्रेणी चढ़ता जाता है। दर्शन देखनेसे जैसे मुखकी आहस्तिका मान होता है। वैसे ही सिद्ध आपा त्रिनेश्वरके स्वरूपके चित्तवन्कर दर्शनसे आत्म-स्वरूपका मान होता है।

१४ जिनेश्वरकी भक्ति

(२)

विज्ञान—आर्य सत्य ! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता है ?

सत्य—हाँ, अवश्य है। अनंत सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए शुद्धस्वरूपका विचार होना यह कार्य है। परन्तु उन्होंने जिसके द्वारा उस स्वरूपको प्राप्त किया वह कारण कर्मसा है, इसका विचार करनेपर उनके उन्मत्त महाद्वैतमय अन्त दया और महान् ध्यान इन सबका स्मरण होता है, तथा आपन अर्हत् तर्ककर-पन्में वे जिस नामसे विचार करते थे, उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अवधारणमें उद्भूत होता है। यह उद्भूत परिणाममें महा कामदायक है। उदाहरणके लिये महावीरका पवित्र नाम स्मरण करनेसे वे काम थे, कब हुए, उन्होंने किस प्रकारसे सिद्धि पायी ह्यादि चरित्रोंकी स्मृति होती है। इससे हमारा द्वैतमय चित्त हत्यादिका उद्भूत होता है।

विज्ञान—परन्तु खोलास्त में तो बीबीस जिनेश्वरके नामोंका सूचन किया है इसका क्या हेतु है यह मुझे समझाय।

सत्य—इसका यही हेतु है कि इस काष्ठमें इस छेदमें होनेवाले बीबीस जिनेश्वरोंके नामोंके और उनके चरित्रोंके स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका काम होता है। बीतरागीका चरित्र वैराग्यका उपदेश करता है। अनंत बीबीसपेसे अनंतनाम सिद्धस्वरूपमें समग्र आ जाते हैं। कर्ममान काष्ठके बीबीस तर्ककरोंके नाम इस काष्ठमें कर्मनाम काष्ठकी म्पिनिका बहुत सूखे ज्ञान भी सृष्टिमें आता है। जैसे इनके नाम इस काष्ठमें छिपे हैं। वैसे ही बीबीसी बीबीसीका नाम काष्ठ और बीबीसी काष्ठनेपर छिपे जाते हैं। इसलिये अनुक छेनेमें कोई हेतु नहीं है। परन्तु उनके गुणोंके पुण्यार्थकी स्मृतिके लिये सर्वमन्त्र बीबीसीकी स्मृति ग यह तत्त्व है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेपसे जाना जा सकता है। इससे

हमारी आत्मा प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बांसुरीके शब्दसे जागृत होता है, वैसे ही आत्मा अपनी सत्य कवि सुननेसे मोह-निद्रासे जागृत होती है।

विद्यासु—मुझे आपने विनेश्वरकी मक्ति करनेके सबधमें बहुत उत्तम कारण बताया। विनेश्वरकी मक्ति कुछ फलदायक नहीं, आधुनिक शिक्षासे मेरी जो यह आस्था हो गई थी, वह नाश हो गई। विनेश्वर भगवान्की मक्ति अवश्य करना चाहिये, यह मैं मान्य रखता हूँ।

सत्य—विनेश्वर भगवान्की मक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके महान् कारण हैं। उनके परम उपकारके कारण भी उनकी मक्ति अवश्य करनी चाहिये। तथा उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोंका उदय होता है। जैसे जैसे श्रीजिनके स्वरूपमें वृत्ति छप्य होती है, कैसे कैसे परम शांति प्रभावित होती है। इस प्रकार जिनमक्तिके कारणोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है उन्हें आहारार्थियोंको विशेषरूपसे मनन करना चाहिये।

१५ मक्तिका उपदेश

जिसकी शुभ शीतकृत्यात्म्य छाया है, जिसमें मनबांझित कर्मोंकी पक्ति खरी है, ऐसी कल्पवृक्ष-रूपी जिनमक्तिका आश्रय लो, और भगवान्की मक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ १ ॥

इससे आनन्दमय अपना आत्मस्वरूप प्रगट होता है, और मनका समस्त सत्ताप मिट जाता है, तथा बिना दामोंके ही कर्मोंकी अस्पन्त निर्मल होती है, इसस्थिमें भगवान्की मक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ २ ॥

इससे सदा समभाषी परिणामोंकी प्राप्ति होगी, अथवा जड़ और अवशेषोंमें खेजानेवाले जन्मका नाश होगा, तथा यह शुभ मंगलम्प है, इसकी पूर्णरूपसे इच्छा करो, और भगवान्की मक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ३ ॥

शुभ मार्गोंके हाथ मनको शुद्ध करो, नवकार महाभक्तका स्मरण करो, इसके समान और दूसरी कोई वस्तु नहीं है, इसस्थिमें भगवान्की मक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ४ ॥

इससे सम्पूर्णरूपसे राग-क्रोधाका क्षय करोगे, और यथार्थ रूपसे सुमतस्वोंको धारण करेंगे। राजचन्द्र कहते हैं कि भगवद्भक्तिसे अनंत प्रपञ्चको दहन करो, और भगवान्की मक्तिसे भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ५ ॥

मक्तिकी उपदेश

तोटक छंद

शुभ शीतकृत्यात्म्य लाभ रही समबांझित कर्मों कर्मोंकी कही;
जिनमक्ति मरो उपकल्प अहो मभिने मगर्भत मर्भत करो ॥ १ ॥
निब आत्मस्वरूप गुण प्रगटे मन ताप उदाप लगाम मरे;
अति निर्मलता बल बाग्य मरो मभिने मगर्भत मर्भत करो ॥ २ ॥
समग्रवि तथा परिणाम मरो जहमेव अवशेषों जन्म करो;
शुभ मंगल का परिपूर्ण करो मभिने मगर्भत मर्भत करो ॥ ३ ॥
शुभ मार्गोंके मन शुद्ध करो नवकार महाभक्ते लभ्यो
नहि यह लगन गुणव करो मभिने मगर्भत मर्भत करो ॥ ४ ॥
करयो क्षय केवल राग-क्रोधा करयो शुभ तत्त्वस्वरूप बया,
राजचन्द्र प्रपञ्च जनीत करो मभिने मगर्भत मर्भत करो ॥ ५ ॥

१६ वास्तविक महत्ता

बहुतेरे लोग स्वामीसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे महान् कुटुम्बसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे पुत्रसे महत्ता मानते हैं, तथा बहुतसे अधिकारसे महत्ता मानते हैं। परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमें महत्ता व्यवहृत हैं उसमें महत्ता नहीं, परन्तु छुट्टा है। स्वामीसे सत्कारमें खान, पान, मान, अनुचरोंपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं, और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानने होगे। परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नहीं माननी चाहिये। कस्मि कनेक पापोंसे पैदा होती है। यह आनेपर पीछे अभिमान, बेहोशी और मुक्तता पैदा करती है। कुटुम्ब-समुदायकी महत्ता पानेके लिये उसका पालन-पोषण करना पड़ता है। उससे पाप और दुःख सहन करना पड़ता है। हमें उपायोंसे पाप करके इतका उद्वेग भरना पड़ता है। पुत्रोंसे कोई शाश्वत नाम नहीं रहता। इसके लिये भी कनेक प्रकारके पाप और उपायों सहनी पड़ती हैं। तो भी इससे अपना क्या माल होता है! अधिकारसे परतन्त्रता और अमलमद आता है और इससे दुःख, अनिष्ट, रिक्तता और व्याय करना पड़ता है अथवा होते हैं। फिर कभी इसमें क्या महत्ता है! केवल पापजन्य कर्मकी। पापी कर्मसे अहम्ताकी नीच गति होती है। जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं, परन्तु छुट्टा है।

अहम्ताकी महत्ता तो स्वयं बचन, दया, क्षमा, परोपकार, और समतामें है। कस्मि इत्यादि तो कर्म-महत्ता है। ऐसा होनेपर भी अतुर पुरुष स्वर्गका दान देते हैं उच्च विचारशास्त्रमें स्थापित करके परबुद्ध-संनमन करते हैं। एक विवाहित लीमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी तरफ पुत्री भावसे देखते हैं। कुटुम्बके द्वारा किसी समुदायका श्रेष्ठ करते हैं। पुत्र होनेसे उसको सत्कारका भार देकर स्वयं भ्रम प्रवेश मार्गमें करते हैं। अधिकारके द्वारा विषयवृत्तसे आचरण कर राजा और प्रजा दोनोंका श्रेष्ठ करके धर्मनानिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे बहुतसी महत्तायें प्राप्त होती हैं सही, तो भी ये महत्तायें निश्चित नहीं हैं। मरणका भय सिरपर लदा है, और भारणाये घरी रह जाती हैं। संसारका कुछ मोह ही ऐसा है कि जिसमें किय हुए सकल्य अथवा विवेक इतरमेंसे निकल आते हैं। इससे हमें यह नि मदाय समझना चाहिये, कि स्वयं बचन दया क्षमा अलक्ष्य और समता जैसी अहममहत्ता और कहींपर भी नहीं है। सुख पीच महत्त्ववारी मिश्रकण जो खरि और महत्ता प्राप्त की है वह प्रत्यक्ष जैसे चरुवर्तनी भी स्वामी, कुटुम्ब पुत्र अथवा अधिकारसे नहीं प्राप्त की ऐसी मेरी मान्यता है।

१७ बाहुबल

बाहुबल अर्थात् अपनी मुक्ताका बल — यह बल यहाँ नहीं करना चाहिये। क्योंकि बाहुबल नामसे महापुरुषका यह एक छोटसा बहुत चरित्र है।

सर्वमंगल परित्याग करके मगवान् क्षयमदेवनी मरत और बाहुबल मायके अपन दो पुरोको राजा सौंदर्य निहार करने थे। उस समय मरतेवर चरुवर्ती हुए। आनुपशास्त्रमें चरुवर्ती उत्पत्ति होनेके पश्चात् प्रत्येक राज्यपर उन्होंने अपनी आत्मापस्थापित की और छह गैहकी प्रभुता प्राप्त की। अकेले बाहुबलने ही इस प्रभुताका स्वीकार नहीं की। इससे परिणाममें मरतेवर और बाहुबलमें युद्ध हुआ। बहुत समयतक मरतेवर और बाहुबल इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं हटा। एक क्षात्रवेशमें आकर मरतेवरने बाहुबलपर बल छोड़ा। एक शीघ्रसे उपर्य हुए मरतेवर बल प्रयास नहीं कर सफला।

इस नियमसे यह चक्र फिर कर पड़े मरतेस्वरक हाथमें आया। भरतके चक्र छोड़नेसे बाहुवल्गो बहुत श्रेष्ठ आया। उन्होंने महाबलवत्तरमुद्रि चक्रार्थ। सत्काष्ठ ही बहोँ उनकी भाषनाका स्वरूप बरखा। उन्होंने विचार किया कि मैं यह बहुत निदनीय काम कर रहा हूँ, इसका परिणाम कितना दुःसाध्यक है। मछे ही मरतेस्वरक रम्य भोगों। स्पर्श ही परस्परकानाश क्यों करना चाहिये? यह मुद्रि मारनी योग्य नहीं है, परन्तु उठार्थ तो अब पीछे हटाना भी योग्य नहीं। यह विचारकर उन्होंने पञ्चमुद्रि-केशाञ्जलि किया, और बह्मि मुनि-भास्ते चक्र पड़े। उन्होंने बहोँ भगवान् आर्जुनवर अठलने दीक्षित पुत्रोंसे आर आर्य, आर्या संहित विहार करते थे, बहोँ जानेकी इच्छा की। परन्तु मनमें मान आया कि यदि बहोँ मैं आर्जुना तो अपनेसे छोटे अठलने मर्त्यपोंको बदन करना पड़ेगा। इसलिये बहोँ तो जाना योग्य नहीं। इस प्रकार मानवृत्तिसे बनमें व एकत्र प्यालमें अवस्थित हो गये। धीरे धीरे बारह मास बीत गये। महावत्से बाहु वल्गो काया अस्थिपञ्चरावधोप रह गई। वे सूखे हुए हल जैसे दीखने लगे, परन्तु जबतक मानका अकुर उनके अंत कारणसे नहीं हटा, तबतक उन्होंने सिद्धि नहीं पायी। ब्राह्मी और सुदर्शिने आनन उनका उपदेश किया —“ आर्यवर! अब मन्मथ हापीपरसे उतरने, इससे तो बहुत सहन करना पड़ा, ” उनके इन वचनोंसे बाहुवल्गो विचारमें पड़े। विचारते विचारते उन्हें मान हुआ कि ‘सत्य है, मैं मानवृत्ति मन्मथ हापीपरसे अभी कबोँ उतरा हूँ’ अब इसपरसे उतरना ही मंगलकारक है।” ऐसा विचारकर उन्होंने बन्न करनेके लिये पैर उठाया, कि उन्होंने अनुपम दिव्य कैवल्य कमका पाया। वाचक! देखा, मान यह कैसी दुरित वस्तु है।

१८ चारगति

जीव सातावेदनीय और असातावेदनीयका बेन करता हुआ धुमाधुम कमका पत्र भागनके लिये इस ससार बनमें चार गतिधोमें भटक करता है। तो इन चार गतिधोको अवश्य जानना चाहिये।

१ नरकगति—महाभारत, मदिरापान, मंसमक्षण इत्यादि तात्र हिंसात्मे करनवाल् जीव अघोर नरकमें पड़ते हैं। बहोँ छद्म भी सता, विग्राम अपषा सुख नहीं। बहोँ महा भयंकर प्याल है, अंग-छेदन सहन करना पड़ता है अग्निमें जलना पड़ता है, और छुरेकी चार जैसा जल पीना पड़ता है। बहोँ अनंत दुःख हाथ प्राणिधोको संकेत, असाता आर विषविषाहट सहन करने पड़ते हैं। ऐसे दुःखोंका कबलजानी भी नहीं कह सकते। बहोँ! इन दुःखोंको अनंत बार इस जलमने मांगा है।

२ तिर्यचगति—छल, झूट, प्रपञ्च इत्यादिकके कारण जीव सिंह बाघ, हापी मृग, गाय, मंस, फल इत्यादि तिर्यचक हापीको चरण करता है। इस तिर्यच गतिमें मूष, प्यास, ताप, बध, बंधन, ताइन, भारबहन इत्यादि दुःखोंको सहन करता है।

३ मनुष्यगति—साध अलाधके नियमों विवक रहित हाता है लज्जाहीन हाकर माता और पुत्रीके मध्य काम-नामन करनेमें त्रिष पापापका मान नहीं, जो निरंतर मंसमक्षण, चार, परस्त्री-नामन बरखा महा पातक किया करता है यह तो मानो अन्याय देशपा अनार्य मनुष्य है। आप देशमें भी क्षत्रिय, ब्राह्मण धर्म आदि मनिहीन, दमित्री, अज्ञान और रोगसे पीड़ित मनुष्य है आर मान अपमान इत्यादि अनंत प्रकारके दुःख मांगा रहे है।

देवगति—परस्पर बैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मसर, काम, मद, क्रुधा, आदिसे देवयोग भी नष्ट हो जाता है। यह देवगति है।

इस प्रकार चारों गतियोंका स्वरूप सामान्य रूपसे कहा। इन चारों गतियोंमें मनुष्यगति सबसे भेद और दुर्लभ है, आसमाका परमहित—मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमें भी बहुतसे दुःख और अप्रसन्नताएँ करनेमें व्यतीत हो जाती हैं।

एक तरफ़ सुखमारको रोमरोममें व्यतीत उस काक हुए नुमानस भी बलवान् करना होती है उससे आशुनी बेदना और गर्मस्थानमें रहते हुए प्राप्त करता है। यह भीषण कामग नष्ट महीना मरु, मृत, लून पीप आदिमें दिनरात मूर्च्छावत स्थितिमें बेदना योग मोगकर जन्म पड़ता है। गर्मस्थानकी बेदनासे अलतगुनी बेदना जन्मके समय होती है। तत्पश्चात् माध्याह्निक प्राप्त होती है। यह अवस्था मरु मृत, शूल और मन्त्रात्म्याये अनसमर्थासि ये भटककर पूर्ण होती है। इसके बाद युवावस्था आती है। इस समय धन उपाजन करके किम् नमा प्रकृष्टके पारोंमें पड़ना पड़ता है। अर्द्धसि उत्पन्न हुआ है, पक्षीर अर्धो विषय-विचारमें वृत्ति आती है। उन्माद, वाक्स्प, धम्मिमान, निह-द्वि, सेवेग, नियोग इस प्रकार घट्टमस्त्रमें युवा वय आती है। फिर वृद्धावस्था आ जाती है। शरीर कौण्डला है, मुखसे कस रहने लगती है। लबापर सिङ्गन पड़ जाती है। सँपने, घुनने, और दंष्ट्रोंकी सक्तिमें निकटतम मद पड़ जाती है। केश पड़ होकर खिलने लगते हैं; पंखोंकी शक्ति नहीं रहती; हाथोंमें कड़वी केसर उड़ानासे हुए लज्जा पड़ता है; अपरा जीवन पर्यंत साठमर ही पड़ा रहना पड़ता है; पास खंडी ह्यादि रोग आकर फैलते हैं, और पोरोंका कर्म कर्म आकर कर्मित कर जाता है। इस देहसे जीव बच निकलता है। कामका होना न होनेके समान हो जाता है। मरण समयमें भी कितनी अधिक करना होती है। चारों गतियोंमें वृक्ष मनुष्य देहमें भी कितने अधिक दुःख मरे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी ऊपर कहे अनुसार कष्ट अनुक्रमसे आता हो यह बात भी नहीं। वह चले बच आकर के जाता है। इसीविषे विषयपूर्ण पुरुष प्रमाणके बिना जन्ममरणचक्रकी व्याख्या करते हैं।

१९ संसारकी चार उपमाएँ

(१)

संसारकी लक्ष्मणी एक ग्रासमुखकी भी उपमा देते हैं। संसार की समुद्र अनंत और अपार है। जहाँ प्राणियों। इसने पार होनेके विषे पुढपारका उपयोग करो। उपयोग करो। इस प्रकार उनके अनेक स्वप्नोपर बचन हैं। संसारकी समुद्रकी उपमा उचित भी है। समुद्रमें जैसे जहें उठा करती है ऐसे ही संसारमें विषयकी अनेक जहें उठती है। जैसे जह ऊपरसे सपाट दिखाई देता है ऐसे ही संसार भी सरल दिख पड़ता है। जैसे समुद्र कहीं बहुत गहरा है और कहीं मैचरोंमें डाल देता है। ऐसे ही संसार कम विषय प्रपंच आदिमें बहुत गहरा है और वह मोक्षकी मैचरोंमें डाल देता है। जैसे पोहा पड़ रहते हुए भी समुद्रमें चले रहनेसे कीचड़में पिस जाते हैं। ऐसे ही संसारके केदार प्रथममें भी वह दुष्प्राणी कीचड़में पिस देता है। जैसे समुद्र माना प्रकारकी जहानों और दुष्प्रानोंसे गल बचता जहानको जोखम पहुँचता है। ऐसे ही संसार कीचड़ी जहानों और कामकी दुष्प्रानसे आत्माको जोखम पहुँचता है। जैसे समुद्रका अभाव पड़ हीनके दिखाई देवेपर भी तटमें पड़नामक जमी बाध करती है। ऐसे ही संसारमें यात्रा-

अग्नि जला ही करती है। जैसे समुद्र भीमासे अधिक जल पाकर गहरा उठर जाता है, वी समार पापकपी जल पाकर गहरा हो जाता है, अथात् वह मजबूत बड़ जमाता जाता है।

२ समारको दूसरी उपमा अग्निकी छागू होती है। जम अग्निसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे मागसे भी त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। जैसे अग्निसे जला हुआ जीव महा विस्फिडाइट करता है, वी समारस जल हुआ जीव अनन्त दुःखरूप भरकसे असह्य विस्फिडाइट करता है। जैसे अग्नि सब बौका भक्षण कर जाती है, वैसे ही अपने मुखमें पड़े हुएका समार भक्षण कर जाता है। जिन र अग्निसे त्यों त्यों वी और इधम हमसे जलते हैं, त्यों त्यों वह बूढ़ि पाती है, उसी प्रकार समारकप में तीव्र माहृत्य वी बार विषयकप इधनक होम करनेस बड़ बूढ़ि पाती है।

३ समारका तीसरी उपमा अधकारकी छागू होती है। जैसे अधकारमें रम्पी सर्का भान करती है वी समार सत्यकप असत्यकप बताता है। जैसे अधकारमें प्राणी इधर उधर भटककर विपत्ति उ है वैसे ही समारमें बेमुच होकर अनन आत्मायें चतुर्गुणिमें इधर उधर भटकती फिरती हैं। जमे धर्ममें कौच और हरिका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही समारकपी अधकारमें विवेक और अधिवक्ता नहीं होता। जैसे अधकारमें प्राणी औष्णिक होनेपर भी अंधे बन जात हैं, वैसे ही शक्तिसे हलपर समारमें प्राणी माहृत्य बन जात है। जैसे अधकारमें उपरू आदिका उपग्रह बड़ जाता है, वैसे ही रसे मोम, माया आदिका उपग्रह बड़ जाता है। इस तरह जनक प्रकारस इधनेपर समार अधकार वी माहृत्य होता है।

२० संसारकी चार उपमायें

(२)

१ समारका चौथी उपमा शकल चक्र अथात् गाड़ीक पहियोंकी छागू होती है। जैसे चक्का हुआ चक्र-चक्र फिरता रहता है, वैसे ही प्रवेश होनेपर समार फिरता रहता है। जैसे शकल-चक्र पुरोक नहीं चल सकता वैसे ही समार मिथ्यात्वकपी पुरोके बिना नहीं चल सकता। जैसे शकल चक्र में त्रिकोण रहता है, वैसे ही समार-शकल प्रमाण आदि कारणोंसे त्रिकोण हुआ है। इस तरह अनेक ऐसे शकल-चक्रकी उपमा भी समारको दी जा सकती है।

इसप्रकार समारका बितनी अथा उपमायें दी जा सक उतनी ही पायी हैं। मुख्य रूपसे ये उपमायें हमन जान ली अब हममेंसे हमसे लल लना बोध है —

१ जैसे सागर मजबूत माष और जलकार नाविकस भरकर पार किया जाता है, वैसे ही मदमकपी और सतृककपी नाविकसे समार-सागर पार किया जा सकता है। जैसे सागरमें विषभक्षण पुरुषोंमें विष रम्यका बूढ़कर निपटता है, वैसे ही जिन-चर भगवान्ने तत्त्वज्ञानकप निर्दिष्ट उत्तम रम्यता बनाया है।

२ जैसे अग्नि सबको भक्षण कर जाती है, परन्तु पानीन बुझ जाती है, वैसे ही विषयक-ग्रन्थमें म-अग्नि बुझ सकती है।

३ जैसे अधकारमें दीरक स जलम प्रकाश होनम हम पानोंका लल मरने है, वैसे ही धानकपी न बुझनाना दीरक समारकपी अधकारमें प्रकाश करक लल वस्तुकी बनता है।

४ जिस शक्ति भक्त जिसके बिना नहीं चल सकता, वैसे ही संसार-भक्त राम और देवके बिना नहीं चल सकता ।

इस प्रकार इस संसार-रामके निवारणके प्रतीकारका उपमाद्वारा अनुपान आदिके साथ कहा है । इसे आत्महितैषियोंको निरंतर मनन करना और दूसरोंका उपदेश देना चाहिये ।

२१ बारह भागना

वैराग्य और ऐसे ही अन्य वाग्य-हितैषी विषयोंकी सुछटा होनेके क्रिये तत्कालमियों बारह भागनाओंका चितवन करनेके क्रिये कहा है ।

१ शरीर वैश्य, उन्मी, कुटुम्ब, परिवार आदि सब विनाशी है । जीवका मूलधर्म अविनाशी है, उसे चितवन करना पड़ती अनिश्चयता है ।

२ संसारमें मरणक समय जीवका कारण रचनबाका कोई नहीं, कष्ट एक सुभ धर्मकी शरण ही सत्य है ऐसा चितवन करना दूसरी अशरणभावना है ।

३ इस आत्मान संसार-समुद्रमें फँसने करते हुए सम्पूर्ण मर्षका भोगा है । इस संसारकी अंतरात्मा में सब दुःख है । यह समार मरा नहीं, म मोक्षमयी है, ऐसा चितवन करना तीसरी संसारभावना है ।

४ यह मरा आत्मा अकल्प है, यह अकेला आया है अकल्प ही आत्मा, और अपने क्रिये हुए कर्मका अकेला ही भोगगा ऐसा चितवन करना चौथी 'अकल्पभावना' है ।

५ इस संसारमें कोई किंताका नहीं, ऐसा चितवन करना पाँचवी 'अकल्पभावना' है ।

६ यह शरीर अपवित्र है मर-मृत्की लान है, रोग और जरके रहनेका घास है इस शरीरमें मैं न्यारा हूँ ऐसा चितवन करना छठी अनुचितभावना है ।

७ राम, हय अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आश्रयके कारण है ऐसा चितवन करना सातवीं आश्रयभावना है ।

८ जो सब ज्ञान और ध्यानमें प्रवृत्त होकर नये कर्मका नहीं बीनता, ऐसा चितवन करना आठवीं संसारभावना है ।

• ज्ञानमहिम क्रिया करना निर्वाणका कारण है ऐसा चितवन करना नौवीं 'निर्वाणभावना' है ।

१ छोड़कर स्वयंकी उत्पत्ति स्थिति और विनाशका व्यर्थ विचारना वह दसवीं 'उत्पत्त्यवस्था भावना' है ।

११ संसारमें अकल्पते हुए आत्माका सम्पन्नताकी प्रमाणी प्राप्त होना दुःख है अथवा सम्पन्नता प्राप्त भी हुआ तो आदि-मर्म निरिपरिणामक धर्म-का पाना दुःख है ऐसा चितवन करना ग्यारहवीं आदिदुर्लभभावना है ।

१२ धर्मके उपदेशक तथा सुख लाभक वाचक गुह्य और इनके उपदेशक ध्वज मिथ्या दुर्लभ है, ऐसा चितवन करना बारहवीं 'धर्मदुर्लभभावना' है ।

इन बारह भागनाओंका मननपूर्वक निरंतर विचारलेने स्पष्टुद्धोंने उच्चम पदको पाया है, पाते हैं, और पाते हैं ।

२२ कामदेव धारक

महावीर महाबान्क समयमें बारह ब्रतोंको निष्ठ मानसे धारण करनेवाला, विधवा और मित्रपक्षमा नुरा कामदेव नामका एक धारक, उनका शिष्य था। एक बार सुधर्माक्षी समयमें इतने कामदेवकी धर्ममें अच्छताकी प्रशंसा की। इसमें यहाँ जा एक तुच्छ बुद्धिवाला ब्रह्म बैठा हुआ था, उसने कामदेवकी इस सुदृढताकी प्रति अविश्वास प्रगट किया, और कहा कि जबतक परीपह नहीं पड़गी, तभी तक मनी सदनशक्ति और धर्ममें हृद् दीप्तते ह। मैं अपनी इस बातका कामदेवको बलायमान करके स्मय करके पिता सकता हूँ। धमरु कामदेव उस समय कायोत्सगमें खीन था। प्रथम ही दृष्टाने क्रियासे हाथीका रूप धारण किया, और कामदेवका मूल ही मूँटा, परन्तु कामदेव अच्छ रहा। अब देखताने मूलक जैसा अग बना करके काष्ठे वर्णका सूर्य होकर भयकर पुंकार मारी, तो भी कामदेव कायोत्सगसे वेशमात्र ही बलायमान नहीं हुआ। तत्पश्चात् स्वयंमान अहंकार करते हुए पञ्चसका शरीर धारण करके अनेक प्रकारके उपसर्ग किये तो भी कामदेव कायोत्सगसे न डिगा। उसने सिंह बगराहक अनेक भयकर रूप बनाये, ता भी कामदेवके कायोत्सगमें डेशमर भी क्षीनता नहीं आयी। इस प्रकार वह देवता रक्तक शरीर पहरे उपद्रव करता रहा, परन्तु वह अपनी धारणामें सकल नहीं हुआ। इसके बाद उस देवने अवशिष्टानके उपयोगस दत्ता, तो कामदेवको मेरुके शिखरकी तरह अडोड पाया। वह देवता कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसको विनय भावसे प्रणाम करके अपने गौरवकी श्रमा मरिक्कर अपने स्थानको चला गया।

कामदेव धारककी धम-दृढता यह शिक्षा देती है, कि सत्य धम और सत्य प्रतिज्ञामें परम दृढ़ रहना चाहिये, और कायोत्सग आणिको जैसे बने तैस एकाग्र चित्तसे और सुदृढतासे निर्णय कामा चाहिये। बल-निष्ठ भावसे किया हुआ कायोत्सग आदि बहुत दोष युक्त होता है। पर्यंत्रितने इत्यक कामके लिय धर्मकी सौगंध मानवालोंकी धर्ममें दृढता करसि रह सकती है। और रह सकती हो तो किसी रहेगी, यह विचारन हुए स्पष्ट होता है।

२३ सत्य

सामान्य रूपसे यह कहा भी जाता है, कि सत्य इस जगत्का आधार है, अथवा यह जगद् सत्यके आधारपर टहरा हुआ है। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है, कि धम, नीति, राज और व्यवहार ये सब सत्यके हाग बल रहे हैं और यदि ये चारों न हों ना जगत्का रूप कितना भयंकर हो जाय। इतनेय सत्य जगत्का आधार है यह कहना कोई अतिगण्यति नैसा अथवा न मानने योग्य नहीं।

बसुराजाका एक हाथका असत्य बालमा कितना दुःखदायक हुआ था इस प्रसंगपर विचार करनेके लिये हम यहाँ कुछ कहेंगे।

राजा बसु, मारु और पर्यन इन तीनों एक गुल्फके पास बिठा पड़ी थी। पर्यन अध्यापकका पुत्र था। अध्यापकका मरण हुआ। इत्ययि पर्यन अपनी भी सहित बसु राजाक दरबारमें आएर खन गया। एक राजका पयलकी भी पाममें बनी थी तथा पर्यन और मारु हाथाम्पास पर रहे थे। उस समय पर्यन "अर्द्धरूप्य" ऐसा एक वाक्य बोला। मारुन पर्यन पर्यन, "अब किस करन दे ?"

पर्वतने कहा, “अब बर्षाई बकरा” । नारद बोला, “इस तीनों जने जिस समय तेरे पितृके पास पड़ते थे, उस समय तेरे पितृके तो ‘अब’ का अर्थ तीन वर्षों ‘शीघ्र’ बताया था, अब ए किम्वदन्त अर्थ क्यों बनता है ? इस प्रकार परस्पर बचनोंका विचार बढ़ा । तब पर्वतने कहा, “जो हमें बसुराजा कह दे, वह ठीक है ।” इस बातको नारदने स्वीकार की, और जो जाते, उसके किये एक शर्त लगाई । पर्वतकी भी जो पासमें ही बैठी थी, उसने यह सब सुना । ‘अब’ का अर्थ ‘शीघ्र’ उसे भी याद था । परन्तु शर्तमें उसका पुत्र हारेगा, इस वकसे पर्वतकी भी उत्तम उपायके पास गई और पूछा,—‘राजन् ! ‘अब’ का क्या अर्थ है ?’ बसुराजाने सवधपूर्वक कहा, “अबका अर्थ शीघ्र होता है” । तब पर्वतकी मैने राजासे कहा, “मेरे पुत्रके अन्तका अर्थ ‘बकरा’ कह दिया है, इस-लिये आरका उम्मा पक्ष बना पड़ेगा । वं लोग आगसे पूँछनेके किये आगमें ।” बसुराजा बोला, ‘म अस्तव कैसे कहूँगा, मुझसे यह न हो सकेगा ।” पर्वतकी मैने कहा, “परन्तु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष न लेंगे, तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी ।” राजा विचारमें पड़ गया, कि उसके कारण ही मैं मरिम्य सिंहासनपर अबर बैठा हूँ, लोक-समुदायका न्याय करता हूँ, और लोग भी यही जानते हैं, कि राजा सत्य गुणसे सिंहासनपर अवसीत बैठता है । अब क्या करना चाहिये ? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ, तो ब्रह्मणी मरती है और यह मेरे गुरुकी भी है । अन्तमें आचार होकर राजाने ब्रह्मणीसे कहा, “तुम केसके बान्धो, मैं पर्वतका पक्ष दूँगा ।” इस प्रकार निश्चय करकर पर्वतकी भी घर जायी । प्रयातमें नारद पर्वत और उसकी भी निहार करते हुए राजाने पास जाये । राजा अनजान होकर पूँछने लगा कि क्या बात है, पर्वत ! पर्वतने कहा, ‘रानाधिराज ! अबका क्या अर्थ है, सो कहिये ।’ राजाने नारदसे पूछा, ‘तुम इसका क्या अर्थ करते हो ?’ नारदने कहा, ‘अब’ का अर्थ तीन वर्षका ‘शीघ्र’ होता है । तुम्हें क्या याद नहीं आता ? बसुराजा बोला, ‘अब’ का अर्थ ‘बकरा’ है शीघ्र नहीं । इतना कहने ही बेचानने सिंहासनसे उछलकर बसुको नीचे गिरा दिया । बसु कान्ध-परिणाम पाकर नरकमें गया ।

इसके उपरसे यह मुख्य शिक्षा मिलती है, कि सामान्य मनुष्योंको सत्य और राजाको न्यायमें अवस्थापित और सत्य बान्धों ब्रह्म करने योग्य है ।

मर्यादामें जो पौष म्हात्मन कह है, उनमेंसे प्रथम म्हात्मनको रखने कि पौषको बार बार बाधक है, और उनमें भी पौषनी बाध सत्य म्हात्मन है । इस उसके अनेक मेटोंको सिंहासनसे प्रणय करना आवश्यक है ।

२४ संसर्ग

संसर्ग सत्य पुण्योंका मूल है । संसर्गका साम मिलते हैं उसके प्रयातमें बहिष्कृत सिद्धि हो ही जाती है । अधिकसे अधिक भी बलिष्ठ होकर किये संसर्ग अष्ट साधन है । संसर्गको एक पड़ी जितना काम देती है, उतना दुर्लभके करोड़ों वर्षों काम नहीं दे सकते । वे अधोगतिमय म्हात्मन करत हैं, और अन्तर्मी मरिज करते हैं । संसर्गका सामान्य अर्थ उत्तम योगोंका सहजता करना होता है । जैसे जहाँ अन्तर्मी हवा नहीं आती, जहाँ रोगको वृद्धि होती है, जैसे ही जहाँ संसर्ग नहीं, वहाँ अन्तर्मी हवा

है। उसे दुर्गमसे धबकाकर हम नाकमें बल लगा लेते हैं, वैसे ही कुसुमका सहवास बन करना आवश्यक है। ससार भी एक प्रकारका सुग है, और वह अनंत कुसुमरूप तथा दृग्बोधक होनेसे त्यागने योग्य है। चाहे जिस तरहका सहवास हो परन्तु जिससे आत्म-सिद्धि न हो, वह सुसुग नहीं। जो व्यापार सुखका रंग बढ़ावे, वह सुसुग है, और जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मंत्री है। उत्तम शास्त्रमें निरंतर एकप्रकार रहना भी सुसुग है। स्फुरद्विषाका समागम भी सुसुग है। जैसे मछिन बल साधुन तथा जलसे साफ हो जाता है, वैसे ही शास्त्र-बोध और स्फुरद्विषाका समागम आत्माकी मछिनताको हटाकर शुद्धता प्रदान करते हैं। जिसका साथ हमेशा परिचय रहकर राग, रग, मान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हों, वह तुम्हें चाहे कितना भी प्रिय हो, तो भी निश्चय मानो कि वह सुसुग नहीं, परन्तु कुसुग है। सुसुगसे प्राप्त हुआ एक कथन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोंका यह मुख्य उपदेश है, कि सभी सुगका परित्याग करके अन्तरगमें रहनेवाले सब विकारोंसे निरक्त रहकर एकताका सेवन करो। उसमें सुसुगका साहचर्य आ जाता है। सम्पूर्ण एकता तात्पर्यमें रहना अथवा योगान्यासमें रहना है। परन्तु जिसमें एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता हो, ऐसा समस्यमात्रीका समागम, मात्रसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्यके डोले पर भी, और परम्परका सहवास होनेपर भी, एकान्तरूप ही है और ऐसा एकान्त तो मात्र मृत-समागममें ही है। कदाचित् कोई ऐसा साधका, कि जहाँ विषयमिश्र एकत्रि होता है, वहाँ सममात्र और एक सरली वृत्ति होनेसे उसे भी एकता क्यों नहीं कहना चाहिये ! इसका समाधान तत्काल हो जाता है, कि ये लोग एक स्वभावक नहीं होने। उनमें परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसंधान होता है और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है, वहाँ एक-स्यमात्र अपना निर्णयता नहीं होती। निर्णय और समस्यमात्रीका समागम तो परम्पर शास्त्र मुनीश्वरोंका है, तथा वह धमप्यानसे प्रशस्त अत्यासमीपुर्णका भी कुछ अंशमें है। जहाँ प्रेक्षित स्वार्थ और माया-कल्प ही रहता है, वहाँ समस्यमात्रता नहीं, और वह सुसुग भी नहीं। सुसुगमें जो सुख और आनन्द मिश्रता है, वह अप्रत्यक्ष सुनिश्चित है। जहाँ धार्मिके सुख प्रभावित हों, वहाँ उत्तम ज्ञान और ज्ञानकी सुकथा हो, वहाँ स्फुरद्विषाके चरित्रोंपर विचार बनते हों, वहाँ तत्त्वज्ञानके तरंगकी लहरें छूटी हों, वहाँ सरल स्वभावसे सिद्धांत-विचारकी चर्चा हली हो, वहाँ मोक्ष विषयक कथनपर सब विचक्षण हाता हा ऐसा सख्य मिश्रता महा दुर्लभ है। यदि कोई यह कह, कि क्या सुसुग संतत्य को मायाका नहीं होता ? तो इसका समाधान यह है, कि जहाँ माया और स्वार्थ हाता है, वहाँ सुसुग ही नहीं हाता। रात्रिहंसकी ममाका कौआ यदि उग्रसे श्रेष्ठम कदाचित् न पहचाना जाय, तो स्वस्ते अक्षय पहचाना जायगा। यदि वह मान यह ता सुखकी सुत्रसे पहचाना जायगा। परन्तु वह कभी त्रिषा न रहेगा। इसप्रकार मायाकी लग्न सुसुगमें व्यापके शिथ जाकर क्या कोरा ? वहाँ पत्र भरनेकी बात ता होती नहीं। यदि व दो गद्दी बही जाकर निधानि उग हो ता सुनीपुत्र विस्मय रंग मग नहीं तो दूसरी बार उनका आसपन नहीं हाता। जिस प्रवाह जमीनपर नहीं तग जाता, उमी तरल सुसुगसे इषा नहीं जाता। जमी त्वर्मगमें चमकृति है। निरंतर जय मित्रों समागममें मायाको परर आन भी बर्ज ! कोई ही दुर्मात्री, और वह भी अमयक है।

सुसुग यह आत्माकी परम श्रितकारी आरथ है।

२७ परिग्रहका मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नहीं, वह प्राणी दुर्लभ नहीं। उसे जितना भी मिष्ट भोजन वह पोसा हो है। क्योंकि जितना उसे मिष्टता ज्ञान है उसनेसे विशेष भोजन करनेकी उसकी इच्छा होती जाती है। परिग्रहकी प्रवृत्तियोंमें जो कुछ मिष्ट हो, उसका भी सुख नहीं भोगा जाता परन्तु जो हो वह भी मर्यादित खाया जाता है। परिग्रहसे निरंतर अन्न-विषय परिणाम और पाप-भाषना रहती है। अकस्मात् ऐसी पाप-भाषनाएं यदि आयु पूर्ण हो, तो वह बहुधा भवभंगिका कारण हो जाता है। सम्पूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर ही भोग सकते हैं। परन्तु गृहस्थ भी इसकी कुछ मर्यादा कर सकते हैं। मर्यादा इनके उपरान्त परिग्रहकी उपपत्ति ही नहीं रहती। तथा इसके कारण विशेष मतभेद भी बहुधा नहीं होती, और जो मिष्ट है, उसमें समाधि रखनेकी आवश्यकता पड़ जाती है। इसके कुछ सुखसे मर्यादा होता है। न जाने कबकी आदिमें किसी विधिज्ञान है, कि जिस जिस उसका भोजन होता जाता है, उसे वेत धर्मकी इच्छा होती जाती है। धर्मसंरक्षणी कितना ही जान होनेपर और धर्मकी इच्छा होनेपर भी परिग्रहके पासमें पड़े हुए पुरुष कर्म विरह ही छूट सकते हैं। इति इसमें ही शक्य रहती है। परन्तु वह इति किसी कारणसे सुकृत्यक अथवा आत्मविनिर्णय नहीं हुई। जिसने इसकी मर्यादा थोड़ी नहीं की वह बहुत दुःख भोगी हुआ है।

जब कहेको जीतकर जाता वहनेवाला राजविप्राय चक्रवर्ती कहलाता है। इन समर्थ चक्रवर्तियोंमें सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। जब वह लड़के जीतनेके कारण चक्रवर्ती माना गया। परन्तु इतनेसे उसकी मनोबला दृढ़ न हुई, अब भी वह तरसता ही रहा। इसलिये इसने पत्तकी लंगके छह लड़के जीतनेका निश्चय किया। सब चक्रवर्ती छह लड़के जीतते हैं, और मैं भी हूँने ही जीतूँ। उसने क्या मद्राह है ? बाह्य लड़के जीतनेमें मे विरक्तता तक प्रसिद्ध रहूँगा, और समर्थ ज्ञाना जीतनेमें वह इन लड़के पर बसा सकूँगा। इस विचारसे उसने समुद्रमें चर्मरत्न छोड़ा। उसके ऊपर सब कैय आदि का आचार था। चर्मरत्न एक हजार देवता सेवक होते हैं। उनमें प्रथम एकल विचार, कि न जान इसमें किन्ने बर्षों धुन्धल्य होगा इसलिये अपनी देवमानसे तो निक आऊँ। ऐसा विचार कर वह चला गया। इसी विचारसे दूसरा देवता गया, फिर तीसरा गया। ऐसे करते करते हजारों हजार देवता चले गये। अब चर्मरत्न दूर गया। जब गज और सब सेनाके साथ सुभूम चक्रवर्ती भी दूर गया। पाप और पाप मत्तनामें ही मरकर वह चक्रवर्ती अर्न्त इसमें भरे हुए सातव तमसमयमा मरकमें जाकर पड़ा। देखो ! वह लड़का आधिपत्य तो भोगना एक और रहा परन्तु अकस्मात् और धर्मकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिसे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर इससेके डिये तो कहना ही क्या ? परिग्रह यह पापका गूँ है पापका मिता है, और अन्य अकृत्य अर्थोंमें मर्यादा देना इसका स्वभाव है। इसलिये आत्मवित्तियोंको जैसे बन कैसे इसका त्याग कर मर्यादापूर्वक आचरण करना चाहिये।

२८ तत्त्व समझना

जिसको ज्ञानके ज्ञान केंद्र हैं वेते पुरुष बहुत मिष्ट मफल है। परन्तु जिन्होंने थोड़े बचनों

पर प्रौढ और निवृत्तपूर्वक विचार कर शास्त्र जितना ज्ञान इष्टांगम किया हो, ऐसे पुरुष मिथुन दुर्लभ हैं। तत्त्वको पहुँच जाना कोई छोटी बात नहीं, यह कटकर मनुष्यके उर्ध्व जानेके समान है।

अर्थ शास्त्रक छात्रा, तत्त्व, और दाय्य, इस तरह बहुतसे अर्थ होने हैं। परन्तु यहाँ अर्थ वर्षात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निग्रय प्रवचनमें आय हुए पवित्र वचनोंको कठस्थ करते हैं, वे अपने उपाहाक बलसे सफाईका उपार्जन करते हैं। परन्तु जिन्होंने उसका मम पाया है, उनको तो इससे सुख, आनन्द, विवेक आर अन्तमें महान् फलकी प्राप्ति होती है। अपर पुरुष जितना सुदूर अक्षर और खेची हुई मिथ्या छकार इन दोनोंके भेदको जानना है, उतना ही मुक्तपाणी अन्य प्रदीक विचार और निग्रय प्रवचनको भेदरूप मानता है। क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निग्रय वचनामृतका चरण नहीं किया, और उसपर यथार्थ तत्त्व-विचार नहीं किया। यद्यपि तत्त्व-विचार करनेमें समर्थ बुद्धि-प्रमाणाकी आवश्यकता है, ता भी कुछ विचार जरूर कर सकता है। पत्थर पिचकता नहीं, फिर भी पानीसे मीठा जाता है। इसीतरह जिसने वचनामृत कल्प किया है, वह अथ सहित हा तो बहुत उपयागी हो सकता है। नहीं तो तानेबाजा राम नाम। तोतेको कोई परिचयमें आकर राम नाम कहना म्हे ही सिखजा दे परन्तु तोतेकी बड़ा जाने, कि राम अनारको कहते हैं, या अगुरको। सामान्य अर्थके समूहे बिना पंसा होता है। कच्छी कैयोंका एक दृष्टान्त कहा जाता है। वह हाम्ययुक्त कुछ अक्षय है, परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिये इसे पहाँ कहा जाता है। कच्छके किसी गाँवमें भ्रातृक-वर्मको पाछेते हुए रामशी, देवशी और खेतशी नामके तीन ओसबाळ रहते थे। वे नियमित रातिम सप्याकाळ आर प्रभातमें प्रतिक्रमण करने थे। प्रभातमें रामशी आर सप्याकाळमें देवशी प्रतिक्रमण करते थे। रात्रिका प्रतिक्रमण रामशी करता था। रात्रिके सुबहसे 'रामशी पठिक्रमण ठायमि' इस तरह उसे बुझाया पड़ा था। इसी तरह देवशीको दिनका संबध ज्ञानसे देवशी पठिक्रमण ठायमि' यह बुझाया पड़ा था। योगानुयायसे एक दिन बहुत छागोके आगहसे सप्याकाळमें खेतशीका प्रतिक्रमण बुझाने लगा। खेतशीन जहाँ 'देवशी पठिक्रमण ठायमि' आया, वहाँ 'खेतशी पठिक्रमण ठायमि' यह वाक्य उगा दिया। यह सुनकर सब हैंसने लगे और उन्होंने पूछ, यह क्या। खेतशी बोला, क्या। सबने कहा, कि तुम खेतशी पठिक्रमण ठायमि ऐसे क्यों बोझते हो। खेतशीने कहा, कि मैं गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया तो वहाँ आप लोग सुनत ही तत्पर कर बैठ। परन्तु रामशी और देवशीके लिये तो किसी दिन कोई बोझता भी नहीं। ये दोनों क्यों 'रामशी पठिक्रमण ठायमि' और देवशी पठिक्रमण ठायमि' ऐसा कहते हैं। तो फिर मैं खेतशी पठिक्रमण ठायमि' ऐसे क्यों न कहूँ। इसकी श्रुताने सबको विमोद उपमा किया। बाळम प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझानेसे खेतशी अपन मुक्त पाठ किया हुए प्रतिक्रमणसे शरमाया।

यह तो एक सामान्य बात है, परन्तु अथकी मूली ग्यारी है। तत्त्वक छात्रा उसपर बहुत विचार कर सकते हैं। याकी तो जैसे गुड़ मीठा ही लगता है, वैसा ही निग्रय वचनामृत भी अष्ट पत्थका ही देते हैं। जहाँ ! परन्तु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है।

६७ यतना

जैसे विवेक धर्मका मूल तत्त्व है, वैसा ही यतना धर्मका उपतत्त्व है। निवृत्तसे धर्मतत्त्वका प्रयण किया जाता है, तथा यतनासे वह तत्त्व शुद्ध रहता जा सकता है, और उसके अनुसार आचरण किया

जा सकता है। पौष समितिमें यतना तो बहुत भ्रष्ट है, परन्तु गृहस्थाभ्यांसे यह सर्वधारूपमें नहीं पक सकती। ता भी त्रितन अशोमें यह पकती जा सकती है, उतने अशोमें भी वे उसे साधनभांसे नहीं पक सकते। त्रितन भगवान्की उपस्था की हुई स्थिति और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ केरकराये, वहीं यह बहुत दोस्त पायी जा सकती है। यह यतनाके रखनेकी न्यूनताका कारण है। जम्ही और भगवती चाम, पानी छानकर उमके बिनछान रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठ आदि इधनका बिना छाड़े, बिना दल उपयोग, अनाजमें रहनबासे अनुजोकी अपूर्ण शोध, बिना छाड़े कुहारे रखे हुए पात्र अत्यन्त रक्म हुए कम्पे औगममें पालिका उबम्मा, गूठनका रख छाड़ना, पत्रेक बिना बधकती धानीका पीच रखना; इसमें हमें इस ओरमें अव्यवस्था, प्रतिकूलता, अनुविधा, अव्यवस्था इत्यादि पक मिलते हैं और ये पकत्तमें भी दृष्टान्तीय गृहस्थका कारण हो जाते हैं। इन्हीं पकत्तका तात्पर्य यह है, कि बस्नेमें, बटनमें उठनेमें, मोबस करनेमें और दूसरी हरेक क्रियामें पतनका उपयोग करना चाहिये। इसमें इन्ध और मांस दोनों प्रकारका काम है। चामका धोमी और गमीर रखना, पक रखना, पानीका विधि सही छानना, काष्ठ आदि इधनका छाड़कर उपयोग करना, ये कुछ हमें अनुविधा देनेवाले काम नहीं और इनमें विशेष समय भी नहीं आता। ऐसे नियमोंका दाखिल करनेके पचास पानना भी मुनिकम नहीं है। इससे विचार असम्भवा निरपराधी अनुजोकी रथा हो जाती है।

प्रत्येक कामको पतनपूर्वक ही करना यह विवेकी आवश्यक करीम्य है।

२८ रात्रिमोजन

अहिंसा आदि पौष गृहस्थाकी तरह भगवान्ने रात्रिमोजनका मत भी कहा है। रात्रिमें चार प्रकारका आहार अवश्य है। जिस आदिके आहारका रग रहता है उस आदिके तमकाम नामके जब उस आहारमें उत्पन्न होता है। इसके सिवाय रात्रिमात्रनम और भी अनेक योग हैं। रात्रिमें भोजन करनेवालेको रसेमें छिमे अति अवाणी पड़ती है। उस समय समीपकी दिवात्तर यहते हुए निरपराधी सूक्ष्म जेठु मांस पाये हैं। इधनक बास्त छाये हुए छत आदिम यहते हुए जेठु रात्रिमें न रोजनमें नाश हो जाते हैं। रात्रिमोजनमें सके बहरका मङ्गोकी मारका और मच्छर आदि सूक्ष्म अनुजोका भी मय रहता है। कभी कभी यह कुटुंब आदिके मयकर योगका भी कारण हो जाता है।

रात्रिमोजनका पुराना आदि मगमें भी सामान्य आचारको स्थिर थापा किया है फिर भी उनमें परपराधी रुढ़िको केकर रात्रिमात्रन हुआ गया है। परन्तु यह निमिद ता है ही।

सरीरक और दो प्रकारके कामक हाते हैं। वे सूक्ष्मे वलमें सुवर्धित हो जाते हैं। इसकारण रात्रिमोजनमें सूक्ष्म औषधका मक्षण होनेसे अहित होता है यह गृहयोगका कारण है। एसा बहुतसे रूपमें आसुकेका भी मग है।

उत्पन्न हो धकी दिनसे प्याइ करते हैं, आर दो धकी दिन चढ़नेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नहीं करते। रात्रिमोजनके छिये विशेष विचारोंका मुनियोक सामगमसे अथवा शम्भोस नामना चाहिये। इन सर्वमें बहुत सूक्ष्म भेदका जानना आवश्यक है।

चार प्रकारके आहार रात्रिमें त्यागन गृहस्थ पाक है, यह विनयन है।

२९ जीवकी रक्षा

(१)

दयाके समान एक भी धर्म नहीं। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। पृथिवीतलमें ऐसे अनर्घकारक धर्ममत्त प्रचलित हैं, जो कहते हैं कि जीवका बच करनेमें छेद-मात्र भी पाप नहीं होना। बहुत करो तो मनुष्य देहकी रक्षा करो। ये धर्ममतवाले लोग धर्मोन्मादी और मर्दाव हैं, और ये दयाका छेदमात्र भी स्वरूप नहीं जानते। यदि ये लोग अपने हृदय-पटको प्रकाशमें रखकर विचार करें, तो उन्हें अवश्य भाश्य होगा, कि एक सूक्ष्मे सूक्ष्म अणुका भी बच करनेसे महापाप है। जैसे मुझे मेरी आत्मा प्रिय है, वैसे ही अन्य जीवोंको उनकी आत्मा प्रिय है। मैं अपने छेदमार व्यसनके लिये अपना कामके लिये ऐसे असंख्यानों जीवोंका बेचइक बच करता हूँ, यह मुझे कितना अधिक अनंत दुःखका कारण होगा। इन लोगोंमें बुद्धिका बीज भी नहीं है, इसलिये वे लोग ऐसे सात्त्विक विचार नहीं कर सकते। ये पाप ही पापमें निराश्रित मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पंथोंमें भी सूक्ष्म दयाका कोई विचार दखनेमें नहीं आता। तो भी ये दयाको बिल्कुल ही नहीं समझनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोंकी रक्षा करना ये लोग ठीक तरहसे समझते हैं। परन्तु इन सकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं, कि जहाँ एक पुष्पकी पेंचड़ीको भी पीछा हो, वहाँ पाप है, इस वास्तविक तथ्यको समझे, और यह याग आदिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे। हम यथाशक्ति जीवोंकी रक्षा करते हैं, तथा जान-बूझकर जीवोंका बच करनेकी हमारी छशमर भी झुंझा नहीं। अनन्तकाय अमर्यसे बहुत करके हम विरक्त ही हैं। इस काळमें यह समस्त पुण्य प्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्त्वके उपदेशके योग-बलसे बढ़ा है। मनुष्य ऋद्धि पाते हैं, सुन्दर की पाते हैं आश्वत्थवर्ती पुत्र पाते हैं, बहुत बढ़ा कुटुम्ब परिवार पात है, मान-प्रसिद्धा और अभिपार पात है और यह पाना कोई दुर्लभ भी नहीं। परन्तु वास्तविक धर्म-तत्त्व, उसकी भ्रष्टा अधवा उसका पोडा अथ भी पाना महा दुर्लभ है। ये ऋद्धि इत्यादि अविश्वेकसे पापका कारण होकर अनंत दुःखमें ले जाती है, परन्तु यह योही अज्ञा-भाक्ता भी उत्तम पन्थीमें पहुँचाती है। यह दयाका स्पर्शगाम है। हमने धर्म-तत्त्व कुछ कुछमें जम पाया है, इसलिये अब जैसे बने विमल दयामय आचारमें जाना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनी इस बातका हमें सदैव ध्यानमें रखना चाहिये। इसलिये भी एही ही मुक्ति प्रयुक्तियोंसे उपदेश देना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनके लिये एक शिक्षाप्रज्ञ उत्तम मुक्ति युक्तिवाली अभयपुमारने की थी उसे मैं आगेक पाठमें कहता हूँ। इसी प्रकार तत्त्वबोधक त्रिप मुक्तियुक्त म्यापसे अनामकी समान धर्ममत्तचारियोंको हमें शिक्षा देनेका समय मित, तो हम कितने भाग्यशाली हो !

३० सब जीवोंकी रक्षा

(२)

मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराज अणिक एक समय मगध भरकर बैठा हुआ था। प्रसन्नगता वातचीतके प्रसंगमें मौस-सुख्य सामंत बोले कि आजकल मौस विशेष सुगम है। यह बात अभयपुमारने सुनी। इसके उपरान्त अभयपुमारने इन दिग्गज सामंतोंका उपदेश दत्तक निधय किया।

सौभाग्यो समा मितर्जन हुई आर राजा अन्तःपुरमें गया । तत्पश्चात् जिस जिसने अन्न-विक्रयके लिये मौसमी बात कही थी, अमरकुमार उन सबके घर गया । जिसके घर अमरकुमार गया वहाँ उन्कार किये जानेके बाद सब सामंत पहुँचने लगे, कि आपने हमारे घर पधारनेका कैसे कष्ट सँभाला ? अमरकुमारने कहा, “महापन्न अर्थिकको अकस्मात् महारोग उत्पन्न हो गया है । वैद्योंके इकट्ठे करनेपर उन्होंने कहा है कि यदि दोमश मनुष्यके कठनेका सवा पैसेभर मौस मिळे तो यह रोग मिट सकता है । तुम लोग राजाके प्रिय-मान्य हो इसलिये मैं तुम्हारे यहाँ इस मौसिक लेन आया हूँ ।” प्रत्येक सामंतने विचार किया कि कठनेका मौस बिना मेरे किस प्रकार लिया सकता है ? उन्होंने अमरकुमारसे कहा, महाराज, यह तो कैसे हो सकता है ? यह कहनेके पश्चात् प्रत्येक सामंतने अमरकुमारको अपनी बातको राजाके आगे न छोड़नेके लिये बहुतसा द्रव्य दिया । अमरकुमारने इस द्रव्यको धूल किया । इस तरह अमरकुमार सब सामंतोंके घर फिर आया । कोई भी सामंत मौस न दे सका, और अपनी बातको छिपानेके लिये उन्होंने द्रव्य दिया । तत्पश्चात् दूसरे दिन जब सभा मरी, उस समय समस्त सामंत अपने अपने आसनपर आ आकर बैठे । राजा भी सिंहासनपर विराजमान था । समस्त लोग राजासे कण्ठकी कुत्ताई पहुँचने लगे । राजा इस बातसे विस्मित हुआ । उसने अमरकुमारकी ओर देखा । अमरकुमार बोला, ‘महाराज ! कब आपके सामंतोंने सभामें कहा था, कि वानकश मौस सस्ता मिलता है । इस कारण मैं उसके घर मौस लेने गया था । सबने मुझे बहुत द्रव्य दिया, परन्तु कठनेका सवा पैसाभर मौस किसीने भी न दिया । तो इस मौसको सस्ता कहा जाय या मँगा ?’ यह सुनकर सब सामंत हमसे नीचे देखने लगे । कोई कुछ बोल न सका । तत्पश्चात् अमरकुमारने कहा ‘यह मैंने कुछ आप लोगोंको हुआ देनेके लिये नहीं किया, परन्तु उपदेश देनेके लिये किया है । हमें अपने शरीरका मौस देना पड़े तो हमें अनवश्य होता है, कारण कि हमें अपनी देह प्रिय है । इसी तरह अन्य जीवोंका मौस उन जीवोंको भी प्यार होता है । जैसे हम अमृत्यु बलुओंको देकर भी अपनी देहको रखा करते हैं, वैसे ही वे विचार पामर प्राणी भी अपनी देहको रखा करते होंगे । हम समझदार और बोद्धे ‘वाक्छे प्राणी हैं वे विचार अनाथक और निराधार प्राणी हैं । उनको सुसुख हुआ देना कितना पक्क पानका कारण है ? हमें इस वचनको निरंतर छद्ममें रक्खा चाहिये कि सब प्राणियोंको अपना अपना जीव प्रिय है, और सब जीवोंकी रक्षा करने पैसा एक भी धर्म नहीं ।” अमरकुमारका भाषणसे अर्थिक महाराजको स्तोभ हुआ । सब सामंतोंने भी शिक्षा धूल की । सामंतोंने उस दिनमें मौस न देनेकी प्रतिक्रिया की । कारण कि एक तो वह अमर्य है और दूसरे वह किसी जीवके मोरे बिना नहीं मिलता वहा अधर्म है । अतएव प्रधानका कपन सुनकर उन्होंने अमरकुमारमें कृप्य दिया ।

अमरपुत्र आत्माके परम सुखका कारण है ।

३१ प्रत्याख्यान

‘पञ्चरात्र शब्द अनेक बार तुम्हारे सुननेमें आया होगा । इसका मूल शब्द ‘प्रत्याख्यान’ है । यह (शब्द) किसी बस्तुकी तरफ विपुल न करना इस प्रकार पणसे समझकर हेतुपूर्वक नियम करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है । प्रत्याख्यान करनेका हेतु यथा उचित और सूक्ष्म है । प्रत्याख्यान नहीं

करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ, अथवा उसका मोग न करो, तो भी उससे संवरण नहीं। कारण कि हमने तत्त्वरूपसे इच्छाका रोध नहीं किया। हम राशियों में मोहन न करते हों, परन्तु उसका परि प्रत्याख्यानरूपमें नियम नहीं किया, तो यह फल नहीं देता। क्योंकि अपनी इच्छा सुखी रहती है। जैसे घरका दरवाना खुला होनेसे कुत्ते आदि जानवर अथवा मनुष्य भीतर चले आते हैं, वैसे ही इच्छाका द्वार खुला हो तो उसमें कर्म प्रवेश करते हैं। इसलिये इस ओर अपने विचार सरलतासे चले आते हैं। यह कर्म-बन्धनका कारण है। यदि प्रत्याख्यान हो, तो फिर इस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा नहीं होती। जैसे हम जानते हैं कि पीठके मध्य भागको हम नहीं देख सकते, इसलिये उस ओर हम दृष्टि भी नहीं करते, उसी प्रकार प्रत्याख्यान करनेसे हम अनुक वस्तुको नहीं खा सकते, अथवा उसका मोग नहीं कर सकते, इस कारण उस ओर हमारा कुछ स्वाभाविककर्मसे नहीं जाता। यह कर्मोंक बानेके छिपे बीचमें दौड़ता हो जाता है। प्रत्याख्यान करनेक पश्चात् विस्मृति आनि कारणोंसे कोई दोष या जाय तो उसका प्रायश्चित्तसे निवारण करनेकी आज्ञा भी मन्त्रमाओन दी है।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी बड़ा काम है। वह यह कि प्रत्याख्यानसे कुछ वस्तुओंमें ही हमारा कुछ रह जाता है, बाकी सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है। जिस जिस वस्तुका हमारे त्याग है, उन उन वस्तुओंके सबधमें फिर विशेष विचार, उनका प्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई अन्य उपाय नहीं रहती। इससे मन बहुत बिगाड़ताको पाकर नियमरूपी सबकपर चला जाता है। जैसे यदि अन्न खानेमें वा जाता है, तो फिर चाहे वह कितना ही प्रबल हो उसे अभीष्ट रससे छ जम्मा जा सकता है, वैसे ही मनके नियमरूपी खानेमें आनेके नाममें उसे चाहे जिस धुम रास्तेसे छे जाया जा सकता है, और उसमें बारम्बार पर्यटन करनेसे वह एकान्त, विचारशील, आर विवेकी हो जाता है। मनका बालन शरीरको भी निरोगी करता है। अमरुत, अनतकाय, परकी आश्रिका नियम करनेसे भी शरीर निरोगी रह सकता है। मानक पन्थ मनका कुमार्गपर छ जाते हैं। परन्तु प्रत्याख्यानसे मन बहो जाता हुआ रुक जाता है। इस कारण वह विमल होता है।

प्रत्याख्यान यह किसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इनके ऊपरस तुम समझ दोगे। इसकी विषय सबकुछ मुखसे आर शास्त्राचार्यरूपसे ममस्तेका में उपदेश करता हूँ।

३२ विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जिस समय अधिक रात्रि विराजमान था उस समय उस नगरीमें एक चडाउ रहता था। एक समय हम चडाउकी खोज गर्मे रहा। चडाउजिमीसे आम गानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उमने आमोरा सानक छिये चंदाउस पड़ा। चडाउने कहा यह आमोका मस्तम मही इसलिये मैं मिरुपाय हूँ। नहीं तो मैं आम चाहे कितने ही ऊँच हों वहीसे उन्हे अपनी निषादे बन्धे तोइकर तेरी इच्छा पूर्ण करना। चडाउजिने कहा राजकी महारानीन बागमें एक वस्त्र-मयमें फल मनेकावा आम है। उममें आबपत्र आम छग होंगे। इसलिये आप वहाँ जाकर उन आमोका छारे। अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनउर चंदाउ उस काममें गया। चडाउन धुम रंजित आमरु मयीन जाकर मर पड़कर बुधरा मयाया, आर उमरासे आन ताह छिउ। नाममें दूसरे मंत्र डाग उसे प्रेमाय तमा कर दिया। नाममें चण्डा जयन घर आया। हम तरह अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करन

झिये निरतर यह बड़ाच निचाके बहसे कहींसे जाम जाने लगा। एक दिन फिरते फिरते माझीकी दधि आगेंपर गई। जामोंकी थोरी हुई जानकर उसने भेगिक राजाके आगे जाकर मन्त्रा-पूर्णक सब हाल कहा। भेगिकको ज्ञातसे अमयकुमार नामके बुद्धिवाली प्रधानने बुलिके द्वार उस बड़ाचको हँड निकाला। बड़ाचको अपने आगे मुखाकर अमयकुमारने पूछ, इतने मनुष्य जाममें रहते हैं फिर भी तू किस रीतिसे ऊपर चढ़कर जाम तोड़कर छे जाता है, कि यह बात किसीके ज्ञानमें नहीं जाती? बड़ाचने कहा जाम मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सब सब कह देता हूँ कि मेरे पास एक बिचा है। उसके प्रभावसे मैं इन जामोंको तोड़ सका हूँ। अमयकुमारने कहा, मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता। परन्तु महाराज भेगिकको यदि तू इस बिचाको देना स्वीकार करे, तो उन्हें इस बिचाके छेनेकी अभिलाषा होनेके कारण तेरे उपकारके कष्टमें मैं तेरा अपराध क्षमा कर सकता हूँ। बड़ाचने इस बातको स्वीकार कर लिया। उत्तरवात् अमयकुमारने बड़ाचको वहाँ भेगिक राजा सिंहासनपर बैठे थे वहाँ जाकर भेगिकके सामने खड़ा किया और राजाको सब बात कह सुनाई। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बाइसे बड़ाच सामने खड़े रहकर परछाये पगसे भेगिकको उस बिचाका बोध देने लगा परन्तु वह बोध नहीं लगा। छन्दे खड़े होकर अमयकुमार बोले, महाराज! आपकी यदि यह बिचा व्यर्थ सीखनी है तो जाम सामने जाकर खड़े रहें, और इसे सिंहासन दें। राजाने बिचा छेनेके वास्ते ऐसा किया, तो लकड़ छड़ी बिचा सिद्ध हो गई।

यह बात केवल शिषा प्रवृत्त करनेके वास्ते है। एक बड़ाचकी भी निम्न क्रिये बिना भेगिक जैसे राजाका बिचा सिद्ध न हुई, इससेही श्री शार प्रवृत्त करना चाहिये कि बुद्धिवाली सिद्ध करनेके विध्य निम्न करना आवश्यक है। अहम-बिचा पानेके क्रिये यदि हम निर्णय गुह्य निम्न करें, तो कितना मजबूतपक हो।

विनय यह उत्तम बड़ीकरण है। उत्तराव्ययनमें मगबागने विनयको धर्मका मूख कहकर वर्णन किया है। गुह्यका मुनिका मित्राग्रा माता-पिताका और अपनेसे बड़ोंका विनय करना, ये अपनी उत्तमताके कारण है।

३३ सुदर्शन सेट

प्राचीन कालमें कुछ एकजनीयतके पावनेवाले अवस्थ पड़्य हो गये हैं। इनमें संकट छहकर प्रसिद्ध होनेवाले सुदर्शन नामका एक सप्रुप भी हो गया है। यह पञ्चाक्ष, सुंदर मुखाकृतिवाला कर्ति-मान और मन्त्रवन्त था। जिस मगरमें वह रहता था एक बार किसी कामके प्रसंगमें उस नगरके राज-दरबारके सामनेसे उसे निकलता पड़ा। उस समय राजाको अपना नामकी रानी अपने मरछके द्वारेमें बैठी थी। वहाँसे उसको दृष्टि सुदर्शनकी तरफ गई। सुदर्शनका उत्तम रूप और शरीर देखकर अमयाका मन लब्ध गया। अमयाने एक लक्ष्मीके मेजकर कप-मागसे निर्मल कारण बयाकर सुदर्शनको छत्रमुखाया। अनेक तरहकी बातचीत करनेके पश्चात् अमयाने सुदर्शनको मोगोंके मोगनेका आमन्त्रण दिया। सुदर्शनने बहुत उपदेश दिया तो भी अमयाका मन शंत नहीं हुआ। अन्तमें दफ्तर सुदर्शनने प्रच्छिन्नक कहा, बहिन मैं प्रकृष्ट हौन हूँ। तो भी रानीने अनेक प्रकारके हाथ-माग बताये। इन सब काम-बेजबोसे सुदर्शन असमयमान नहीं हुआ। इससे शारकर रानीने उसकी विरा किया।

एक बार इस नगरमें कोई उत्सव था। नगरके बाहर नगर-जन आनन्दसे इधर उधर घूम रहे थे, घूमनाम मच रही थी। सुदर्शन सेठके छह देवकुमार असे पुत्र भी बहों जाये थे। अमया रानी भी कपिला नामकी दासीके साथ ठाठवाग्स बहों आई थी। सुदर्शनके देवपुताछे जसे छह पुत्र उसके देसनमें जाये। उसने कपिलासे पूँछा, ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं ? कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम दिया। सुदर्शनका नाम सुनते ही रानीकी छातीमें मानों कटार छगी, उसका गहरा भाव लगा। सब घूमनाम भीत जानेके पश्चात् माया-बचन धड़क कर अमया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा, 'तुम समझते होमे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीति चलती है, मेरी प्रजा दुर्जनोसे दुखी नहीं, परन्तु यह सब मिथ्या है। अतः पुरमें भी दुर्जन प्रवेश करते हैं, यहाँ तक तो अंधेर है। तो फिर दूसरे स्थानोंके लिये तो पूँछना ही क्या ? तुम्हारे नगरके सुदर्शन सेठने मुझे भोगका आमत्रण दिया, वार नहीं कहन योग्य कथन मुझे सुनना पड़ा। परन्तु मैंने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अंधेर आर क्या कहा जाय ?' बहुतसे राजा जैसे ही कानके काने होते हैं, यह बात प्राप्त सर्वमान्य जैसी है, उसमें फिर कौन मायावी मुख बचन क्या असर नहीं करते ? गरम सेठमें ठंड अछ बाछनके समान रानीक बचनोसे राजा मोहित हुआ। उसने सुदर्शनको दूरीपर बहा देनेकी तत्काल ही आज्ञा दी, और तत्तुसार सब कुछ हो भी गया। कल सुदर्शनके दूरीपर बैठनेकी ही देर थी।

बुढ़ भी हो, परन्तु सृष्टिके दिव्य महारामे उजाडा है। सत्यका प्रभाव ठँका नहीं रहता। सुदर्शनको दूरीपर बैठते ही दूरी फटकर उसका सिद्धमिळता हुआ सोनेका सिंहासन हो गया। तैलने दुर्मुमिका नाम दिया, सर्वत्र आनन्द फैल गया। सुदर्शनका सत्पराय विष्णु-मण्डलमें सबक ठठा। सत्परायकी सत्ता जय होती है।

सुदर्शनका शीत और उत्तम इच्छा ये दोनों आमाकी पवित्र भोगीपर चढ़ाने हैं।

३४ अष्टावक्रपणिके विषयमें सुभाषित

जो नवपौकनाको देखकर छेधमर भी विषय विकारको प्राप्त नहीं हावे, जो उसे काटकी पुतलीके समान गिनते हैं, वे पुरुष मगवान्के समान हैं ॥ १ ॥

इस समान संसारकी नायकत्व रमणी सर्वा शोकत्वमय हैं, उनका बिन्दने त्याग दिया, उसने सब कुछ त्याग दिया ॥ २ ॥

जिस प्रकार एक राजाके जीत केनसे उमर सम्पन्न, नगर आर अधिकार जीत लिये जाते हैं, उसी तरह एक विषयको जीत छने समस्त संसार जीत लिया जाता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार घोडा भी मदिगान करनेसे अज्ञान छ जाता है, उसी तरह विषयकी अनुरसे ज्ञान और त्याग गढ़ जा जाता है ॥ ४ ॥

३५ अष्टावक्रपणिके सुभाषित

दास्य

निर्लीने नव शोका केव न शिष्यनिदान गये काटकी पुतली के भगवान्कमन ॥ १ ॥

का कपला केनानी रमणी कायकम ए त्यागी त्यागु कये कल टोकरमन ॥ २ ॥

एक शिष्यने राजा केनो को केनर हति जीता जीतिये, इत पुर, मे अधिकार ॥ ३ ॥

विषयक अज्ञानी छे ज्ञान मे जान; केव अतीतनयी लोच नम भजन ॥ ४ ॥

जो विद्युत् मन्त्र बाह्यपूर्वक सुखसायक शीतको धारण करता है, उसका ससार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है । हे मर्त्य ! यह तात्त्विक वचन है ॥ ५ ॥

सुंदर शीतकूपी कल्पवृक्षको मन्त्र, वचन, और कामसे जो मर मारी सेवन करेंगे, वे अगुप्त फलको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

पात्रको बिना कोई वस्तु मही खटती, पात्रमें ही आत्मज्ञान होता है, पात्र बननके छिये, हे सुनिधान् कोमो, मन्त्रचर्याका सदा सेवन करो ॥ ७ ॥

३५ नमस्कारमंत्र

जमो अरिहंतार्थ, जमो सिद्धान्त, जमो आपरिपार्ण ।

जमो उच्यन्तापार्ण, जमो ओर सृष्टिसाहूण ॥

इन पवित्र वाक्योंको निर्धन्यवचनमें नमस्कार (नमस्कार) मन्त्र अथवा पंचपरमेष्ठीमंत्र कहते हैं अर्थात् मगवान्के बाह्य गुण, सिद्ध मगवान्के आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायकी पचास गुण, और साधुके सत्त्वसिद्ध गुण, ये सब मिश्रकर एक ही आठ गुण होते हैं । अंगूठेके बिना बाकीकी चार अंगुष्ठियोंके बाह्य पोखे होते हैं, और इनसे इन गुणोंके चितवन करनेकी म्यामत्सा होनेसे बाह्यकी गतिसे गुणा करनेपर १०८ होते हैं । इसछिये नमस्कार करनेसे यह आशय माझ्य होता है कि हे मम्य ! अपनी अंगुष्ठियोंके परबसे (नमस्कार) मन्त्र में बार गिन । कार शब्दका अर्थ करनेबाज मी होता है । बाह्यकी गतिसे गुणा करनेपर चितने हों, उतने गुणोंसे मन्त्र हुआ मन्त्र नमस्कारमन्त्र है ऐसा नमस्कारलक्षण अर्थ होता है । पंचपरमेष्ठीका अर्थ इस सूक्तक अगतमें परमेश्वर पाँच वस्तुमें होता है । वे कौन कौन हैं ? तो क्वात्र देत है, कि अरिहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु । इनको नमस्कार करनेका मन्त्र परमेष्ठीमन्त्र है । पाँच परमेष्ठियोंकी एक सायमें नमस्कार होनेसे पंचपरमेष्ठी मन्त्र यह शब्द बना । यह मन्त्र बनादिशिख माना जाता है, कारण कि पंचपरमेष्ठी बनादिशिख है । इसछिये ये पाँचों पात्र आदि नम्य नहीं, ये प्रबाहसे बनादि है, और उनका अपनेबाज मी बनादिशिख है । इससे यह आप मी बनादिशिख खटती है ।

प्रश्न—इन पंचपरमेष्ठीमन्त्रके परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाते हैं, ऐसा सुशुद्ध कहते हैं । इस निषयमें आकाश क्या मत है ?

उत्तर—यह कहना म्यामपूर्वक है ऐसा मैं मानता हूँ ।

प्रश्न—इस किस कारणसे म्यामपूर्वक कहा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ यह तुम्हें मैं समझाता हूँ । मनके निषहके छिये यह सर्वोत्तम मगद्वरणके सृष्ट गुणका चितवन है । तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्थात्सत्त्वसिद्धसत्त्वसिद्ध आचार्यसत्त्वसिद्ध, उपाध्यायसत्त्वसिद्ध और साधुसत्त्वसिद्ध इनका निषेकसे विचार करनेका मी यह सूक्तक है । क्योंकि वे किन

ये मन्त्र बाह्यविद्युत्की ओर शिष्यक सुखसायक मन्त्र तेजो जन फली छे, तत्त्वचर्या ए मन्त्र ॥ ५ ॥

सुंदर शीतकूपी मन्त्र बाकी में देत । वे नरनारी केको अगुप्त फल के देत ॥ ६ ॥

पात्र बिना वस्तु न छे । किये आत्मिक ज्ञान । पात्र म्याम तेजो तदा मन्त्रचर्या मतिव्यव ॥ ७ ॥

करणसं पूजने योग्य है, ऐसा विचारमेसे इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी स्फुरूपको तो सभी वास्तविकता है। अब कहो कि यह मंत्र कितना कल्याणकारक है।

प्रत्यकार—स्फुरूप नमस्कारमंत्रको मोक्षका कारण कहते हैं, यह हनु व्याख्यानसे मैं भी मान्य रखता हूँ।

अर्थात् भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान् वाक्य बनता है। जिसका ॐ ऐसा योगविदुका स्वरूप होता है। इस लिये हमें इस मंत्रकी किम्वद भावसे जाप करनी चाहिये।

३६ अनुपूर्वी

नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन अनुपूर्विकोंके विषयका यह पाठ नहीं है, परन्तु यह 'अनुपूर्वी' नामकी एक अवधान सबकी सभ्य पुस्तकके मंत्र स्मरणके लिये है।

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस तरहकी काष्ठकेसे मरी हुई एक छेटीसी पुस्तक है, क्या उसे दान देली है।

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमें उल्टे सीधे अंक रखे हैं, उसका कुछ कारण तरी समझमें आया है।

पुत्र—नहीं पिताजी। मेरी समझमें नहीं आया इसलिये आप उस कारणको कहिये।

पिता—पुत्र! यह प्रमाण है कि मय एक बहुत अच्छा चीज है। इसे एकत्र करना बहुत ही अधिक मुश्किल है। वह जब तक एकत्र नहीं होता, तब तक आत्माकी मस्तिष्कता नहीं जाती और पापके विचार कम नहीं होते। इस एकत्रताके लिये भगवान्ने बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान् साधनोंका कहा है। मनकी एकत्रतासे मध्ययोगकी श्रेणी बढ़नेके लिये और उसे बहुत प्रकारसे निर्मल करनेके लिये स्फुरूपोंने यह एक साधनका कोष्ठक बनार्थ है। इसमें पहले पञ्चपरमेश्वरमंत्रके पाँच अक्षरोंको रखना है, और पीछे सोम-विद्योम स्वरूपसे इस मन्त्रके इन पाँच अक्षरोंका उद्भव रखकर भिन्न भिन्न प्रकारस कोष्ठके बनार्थ है। ऐसे करनेका कारण भी यही है, कि जिससे मनकी एकत्रता होकर निर्मल हो सके।

पुत्र—सिताबी ! इन्हें अनुक्रमसे छेनेसे यह क्यों नहीं बन सकता ?

सिता—यदि ये खोम-सिद्धांत हों तो इन्हें जोड़ते जाना पड़े, और नाम याद करने पड़ें। पौष्टक अंक रखनेक बाद दोका अंक आने तो 'णमो छोए सम्मसाङ्गण' के बादमें 'णमो अरिहताण' यह वाक्य छोड़कर 'णमो सिद्धाण' वाक्य याद करना पड़े। इस प्रकार पुनः पुनः उन्मयेकी दृष्टि रखनेसे मन एकाग्रता पर पहुँचता है। ये अंक अनुक्रम-बद्ध हों तो ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उस दशामें विचार नहीं करना पड़ता। इस सूक्ष्म समयमें मन परमेष्ठीमन्त्रसे निकटकर संसार-तन्त्रकी छटपटमें जा पड़ता है, और कभी परमेष्ठी जगह भारबाह भी कर बैठता है। इससे उन्मयेकी अनुपूर्वकी योजना की है। यह बहुत सुंदर है और आत्म-शांतिकी देनेवाली है।

३७ सामायिकविचार

(१)

आत्म-शाक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्पूर्णजीवका उदय करनेवाला, छुड़ समाधिभावमें प्रवेश करनेवाला, निर्बलका अमूर्त्य लाभ देनेवाला, राग-द्वेषसे मन्मथ बुद्धि करनेवाला सामायिक नामका शिक्षाप्रप्त है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग द्वेष रहित मन्मथ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस समभावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान दर्शन चारित्रिक मोक्ष-मार्गका लाभ और 'इक' का अर्थ मात्र होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक मात्र उत्पन्न हो वह सामायिक है। आर्त और रीति इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके मन, बचन और कायके पाप-मार्गोंको छोड़कर बिचेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनक पुष्ट तर्गी है। सामायिकता जब विद्वत् परिणामसे रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूख विस्पृष्टि, उन्माद श्वादिसे बचन और कायमें भी रूपन आनेसे सामायिकमें होय उगता है। मन बचन और कायके मिळकर बचीस होय उत्पन्न होता है। इस मनके, इस बचनक और बाह्य कायके द्वारा प्रकाश बचीस होयोंको जानना आत्मयुक्त है इनक जाननेसे मन साधन रहता है।

मनक दस दोय कहता है —

१ अविचेकदोय—सामायिकता स्वल्प नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था ? इससे तो जिसने पार पाया होगा, ऐसे निष्कर्मोंका नाम अविचेकदोय है।

२ पशोबंछादोय—इस स्वयं सामायिक करत है, ऐसा दूसरे मनुष्य आने तो प्रार्थना करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह पशोबंछादोय है।

३ धनबंछादोय—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनबंछादोय है।

४ गर्वदोय—मुझे लोग धर्मिया कहते हैं आर मैं सामायिक भी बैठे ही करता हूँ ऐसा अजय-वसाव जाना गर्वदोय है।

५ भयदोय—मैं बापक कुलमें जन्मा हूँ मुझ लोग बड़ा मानकर नाम देते हैं यदि मैं सामायिक न करूँ तो लोग कहेंगे कि इसकी प्रिया भी नहीं करता, ऐसी निन्दक मयसे सामायिक करना भयदोय है।

६ निदानदोष—सामायिक करके उसके पछसे घन, ली, पुत्र आदि मिष्टनेकी इच्छा करना निदानदोष है ।

७ सशयदोष—सामायिकका फल होगा अथवा नहीं होगा, ऐसा चिन्तन करना सशयदोष है ।

८ कषायदोष—क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाना, अथवा पीछेसे क्रोध, मान, माया, और लोभमें वृत्ति घमाना वह कषायदोष है ।

९ अभिनयदोष—विनय रहित होकर सामायिक करना अभिनयदोष है ।

१० अवबुद्धानदोष—महिमाव और उदगपूर्वक सामायिक न करना वह अवबुद्धानदोष है ।

३८ सामायिकविचार

(२)

मनके दस दोष कहे, अब वचनके दस दोष कहता हूँ ।

१ कुबौद्धदोष—सामायिकमें कुबोधन बोधना वह कुबौद्धदोष है ।

२ स्रष्टाकारदोष—सामायिकमें स्रष्टासे अविचारपूर्वक वाक्य बोधना वह स्रष्टाकारदोष है ।

३ असंशयदोष—वस्तुको छोटा उपदेश देना वह असंशयदोष है ।

४ निरपेक्षदोष—सामायिकमें शास्त्रकी अपेक्षा करके वाक्य बोधना वह निरपेक्षदोष है ।

५ संक्षेपदोष—सूत्रके पाठ इत्यादिको संक्षेपमें बोध जाना, पदार्थ नहीं बोधना वह संक्षेपदोष है ।

६ हेतुदोष—किन्तीसे समझा करना वह हेतुदोष है ।

७ विकल्पदोष—चार प्रकारकी विकल्पा कर बैठना वह विकल्पदोष है ।

८ हास्यदोष—सामायिकमें किन्तीकी हँसी मस्त्री करना वह हास्यदोष है ।

९ अनुदोष—सामायिकमें सूत्रपाठका मूलाधिक और अनुद बोधना वह अनुदोष है ।

१० मुग्धदोष—गह्वर भोटासे सामायिकमें इस तरह पाठका बोधना जो अपने आप भी रूप मुग्धसे समझ सकें वह मुग्धदोष है ।

ये वचनके दस दोष कहे, अब कायके बारह दोष कहता हूँ ।

१ अपोम्यवासनदोष—सामायिकमें पैरपर पैर चढ़ाकर बैठना, यह भीगु आदिके प्रति चिन्तन आसनसे बैठना पक्ष अपोम्यवासनदोष है ।

२ चससनदोष—डगमगाते हुए आसनपर बैठकर सामायिक करना, अथवा जहाँसे बार बार उठना ऐसे ऐसे आसनपर बैठना चससनदोष है ।

३ चसद्विदोष—कायोसर्गमें आँखोंका चक्क हाँका चसद्विदोष है ।

४ सप्तचक्रियादोष—सामायिकमें कोई पाप-क्रिया अथवा उसकी सजा करना साप्तचक्रिया-दोष है ।

५ आलस्यदोष—भीत आदिके सहारा लेकर बैठना जिससे वहाँ के हुए जीव जंतुओं आदिके नाश हो अथवा उन्हें पीड़ा हो और अपनेको प्रमाण्य प्रवृत्ति हो यह आलस्यदोष है ।

६ आनुचनप्रसारणदोष—हाथ पैरका स्थितिबद्धा, संवा करना आदि आनुचनप्रसारणदोष है ।

७ आश्रमशोध—अगस्त मोड़ना, उँगलियोंका चटकाना आदि आश्रमशोध है।

८ मोटनशोध—बैंगुली बगैरहवा टेढ़ी करना उँगलियोंका चटकाना मोटनशोध है।

९ मछरान—मछर भसड़कर सामायिकमें सुनाकर बैठ निकालना मछरान शोध है।

१० निमासुशोध—गर्भमें हाथ बांधकर बैठना इत्यादि निमासुशोध है।

११ निद्राशोध—सामायिकमें नींद आना निद्राशोध है।

१२ बहसंकोचनशोध—सामायिकमें ठंड बगैरके भयसे बहसे शरीरका ठिंकोइना बहसंकोचनशोध है।

इन बर्तन शोधोंसे रहित सामायिक करना चाहिये। सामायिकके पाँच अतीचारोंको हटाना चाहिये।

३९ सामायिकविचार

(१)

एकप्रता और सारथालके बिना इन बर्तन शोधोंमेंसे कोई न कोई शोध क्या करते हैं। निदान वेतात्रोंने सामायिकका अल्प प्रमाण हो चढ़ी बीचा है। यह मत साधनार्थपूर्वक करनेसे परमशक्ति देता है। बहुतसे लोगोका अब यह दो परीक्षा काय नहीं बीतता तब वे बहुत व्याकुल होते हैं। सामायिकमें खाली बैठनेसे काय बीत भी कसे सकता है! आधुनिक कायमें साधनार्थसे सामायिक करनेवात बहुत ही थोडा लोग है। जब सामायिकके साथ प्रसिद्धमण करना होता है, तब तो सम बीतना सुगम होता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग प्रतिबद्धमणको अक्षपूर्वक नहीं कर सकते, तो भी केवल खाली बैठनेको अनेका इसमें कुछ न कुछ अन्तर अल्प पड़ता है। जिन्हें सामायिक भी पूरा नहीं आता वे विचार सामायिकमें बहुत पचड़ाना हैं। बहुतसे मापिकर्मी लोग इस अवसरपर व्यवहारमें प्रपच भी पड़ जाते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होता है।

सामायिकका निषिर्षक न होना इसे बहुत उत्प्रेरका और कर्मकी बाहुम्यता समझना चाहिये। सदा पूर्ण निरुद्ध स्थिति यह बात है। अस्म्यस्त दिनसे परिपूर्ण अनंतों काखचर व्यतीत करने पर भी जो मिद नहीं होता वह दो परीक्षाके विमुक्त सामायिकसे सिद्ध हो जाता है। अक्षपूर्वक सामायिक करनेके लिय सामायिकमें प्रवेश करनेके पश्चात् चार लोगस्तसे अधिक लोगस्तका कर्षणशक्ति करके बिचकी कुछ स्थापना प्राप्त करनी चाहिये और बाह्यमें सूत्रपाठ अथवा किसी उत्तम ग्रन्थका मनन करना चाहिये। वैराग्यके उत्तम लक्षणोंका पढ़ना चाहिये पहिलेके अल्पमन किये हुएको स्मरण करना चाहिये और मूल अम्प्रास हो सक तो करना चाहिये, तथा किसीका दावाके आधारसे उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार सामायिकका काय व्यतीत करना चाहिये। यदि मुनिराजका सम्मान होता आगमकी बानी सुनना और उम्पका मनन करना चाहिये। यदि ऐसा न हो, और शम्भोका परिषय भी न हो तो विचक्षण अम्प्रासियोंका पाम वैराग्य-शोध उपदेश ग्रहण करना चाहिये अथवा कुछ अम्प्रास करना चाहिये। यदि ये सब अनुकूलताय न हो, तो कुछ भाग ध्यानपूर्वक पापामगमें लगाना चाहिये और कुछ भाग महापुरुषाकी चरित्र-कथा सुननेमें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिये परन्तु प्रेम का तेम दिव्य और उत्साह सामायिकके कष्टको व्यतीत करना चाहिये। यदि कुछ साक्षि न हो, तो पंचपरमेष्ठियकी भाग ही उत्साहपूर्वक करनी चाहिये। परन्तु कायको व्यतीत

नहीं गैबाना चाहिये । धीरजसे, शान्तिसे और यतनासे सामायिक करना चाहिये । जसे बने ठैसे सामायिकमें शास्त्रका परिचय बढ़ाना चाहिये ।

साठ घड़ीके अहोरात्रमेंसे दो घड़ी अवश्य बचाकर समाधिक तो सझावसे करो ।

४० प्रतिक्रमणविचार

प्रतिक्रमणका अर्थ पीछे फिरना—फिरसे देख जाना—होता है । मावकी अपेक्षा जिस दिन और जिस वक्त प्रतिक्रमण करना हो, उस वक्तसे पहले अथवा उसी दिन जो जो दोष हुए हों उन्हें एकके बाद एक अंतरात्मासे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके उन दोषोंसे पीछे फिरना इसको प्रति क्रमण कहते हैं ।

उत्तम मुनि बार माविक श्रावक तिनमें हुए दोषोंका सव्याकाष्ठमें और रात्रिमें हुए दोषोंका रात्रिके पिछ्छे भागमें अनुक्रमसे पश्चात्ताप करते हैं अथवा उनका क्षमा माँगते हैं, इसीका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है । यह प्रतिक्रमण हमें भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह अहमा मन, बचन और कायके यागसे अनेक प्रकारके कर्मोंको बँधती है । प्रतिक्रमण सूत्रमें इसका दोहन किया गया है । जिससे तिनरात्रमें हुए पापका पश्चात्ताप हो सकता है । छद्म भावसे पश्चात्ताप करनेसे इसके द्वारा कशमात्र पाप भी होनेपर परबोध-भय और अनुकंपा प्रगट होती है, आप्ता कोमल होती है, बार त्यागने योग्य वस्तुका श्वेद आता जाता है । मगवान्की साक्षीसे अज्ञान आदि त्रिन त्रिन दोषोंका विस्मरण हुआ हो उनका भी पश्चात्ताप हो सकता है । इस प्रकार यह निर्बरा करनेका उत्तम साधन है ।

प्रतिक्रमणका नाम आवश्यक भी है । अवश्य ही करने योग्यको आवश्यक कहते हैं; यह सत्य है । उसके द्वारा अहमाकी मलिनता दूर होती है, इसलिये इसे अवश्य करना चाहिये ।

सायकाष्ठमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसीपपडिक्रमण' अर्थात् त्रिपस स्वर्गी पापोंका पश्चात्ताप है, और रात्रिके पिछ्छे भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'रक्षपडिक्रमण' कहते हैं । 'देवसीप' और 'रक्षप' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं । पक्षमें किये जानेवाले प्रतिक्रमणको पाक्षिक और संकसरमें किये जानेवालेको सांक्षरिक (छम्छरी) प्रतिक्रमण कहते हैं । छप्पुदोंकी योजना द्वारा बोधा हुआ यह सुंदर नियम है ।

बहुतसे सामान्य बुद्धिके लोग ऐसा कहते हैं, कि दिन और रात्रिका इकट्ठा प्रायश्चित्तकूप प्रतिक्रमण सेबरे किया जाय तो कोई धुराई नहीं । परन्तु ऐसा कहना प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि यदि रात्रिमें अकस्मात् फर्ष कारण आ जाय, अथवा युत्सु हो जाय तो तिनका पवित्रण भी रह जाय ।

प्रतिक्रमण-मूत्रकी योजना बहुत सुन्दर है । इसका मूल तत्त्व बहुत उत्तम है । जसे बन ठैसे प्रतिक्रमण धीरजसे, समझमें आ सकनेवाली भाषासे, शान्तिसे, मनकी पक्षाघातास और यतनापूर्वक करना चाहिये ।

४१ भिम्यारीका पंच

(१)

एक पामर भिम्यारी जगज्जमें भटकता फिरता था । वहाँ उस भूख लगी । वह विचारा वह कहाँ हुआ एक नगरमें एक सामान्य मनुष्यक घर पहुँचा । वहाँ जाकर उसने अनक प्रकारसे प्रार्थना

की । उसकी प्रार्थनापर कृपा करके उस गृहस्थकी बत्ती उसकी घरमें जलानेसे बचा हुआ मिश्रण का कर दिया । मोहनके मित्रनेसे मिशारी बहुत आनंदित होता हुआ नगरके बाहर आया, वीर एक बृक्षके नीचे बैठ गया । वहाँ जरा साफ करके उसने एक तरफ अस्थित पुण्ड्रा खपना पानीका बहा रख दिया । एक तरफ अपनी फली पुण्ड्री भैरवी गृहस्थी रखी, और दूसरी तरफ वह स्वयं उस मोहनको लेकर बैठा । सुशी सुशीक साथ उसने उस मोहनको खाकर पूरा किया । तत्पश्चात् सिधने एक फ्लपर रखकर वह सो गया । मोहनके मन्त्रसे बरा देरमें मिशारीकी ओंसे मित्र गई । वह निद्राके बहा हुआ । इतनेमें उसे एक स्वप्न आया । उसे ऐसा लगा कि उसने मालों म्हा राजकुमारीको प्राप्त कर लिया है, सुन्दर बहामूर्ण्य धारण किये हैं, समस्त देशमें उसकी विजयका उल्लास बज गया है, समीपमें उसकी लज्जा उठानेके लिये अनुचर लोग खड़े हुए हैं, वास्तवमें छद्मद्वार क्षेत्र क्षेत्र पुष्कर रहे हैं । वह एक समीप्य महामें सुन्दर पद्मपर बैठा हुआ है, देखना बेटी लियीं उसको पेर दवा रही हैं, एक तरफसे वैलेकी म म पवन हुआ रही है । इस स्वप्नमें मिशारीकी अस्मा बज गई । उस स्वप्नका मोग करत हुए वह रोमोचित हो गया । इतनेमें मेघ महाराज बह आये, बिजली चमकने लगी, सूर्य बादलोंसे ढँक गया सब जगह अंधकार फैल गया । ऐसा माहूम हुआ कि मूसलधार बर्षा होगी और इतनेमें बिजलीकी गर्जनासे एक जोरका कड़का हुआ । बहानेकी आवाजसे भयभीत होकर वह पामर मिशारी जाग उठा ।

४० मिशारीका लेख

(२)

तो देखता क्या है कि जिस जगहपर पानीका झटा हुआ बहा पहा था, उसी जगह वह पहा हुआ है; वहाँ फली पुण्ड्री गून्की पकी थी वह वहाँ पकी है; उसने जैसे मैके और फटे हुए कपड़े पहने थे वैलेके वैले ही वे बहा उसके शरीरके ऊपर हैं । न सिक्कर कुछ बहा और न जीमर घटा; न वह देश, न वह नगरी न वह महक, न वह पर्वत; न वे चामर छत्र होरनेवाले और न वे छद्मद्वार; न वे लियीं और न वे बहानेदार; न वह वैसा और न वह पवन; न वे अनुचर और न वह लज्जा; न वह सुखमिस्त और न वह मखेन्मलता । निश्चय वह तो स्वयं वैसा या वैसाका वैसा ही िलाई दिया । इस कारण इस छप्पको देखकर उस खेर हुआ । स्वप्नमें मैने मिथ्या आडंबर देखा और उससे आनंद माना परन्तु उसमें का तो यहाँ कुछ भी नहीं । मैने स्वप्नके भोगोंको भोगा नहीं, किन्तु उसके परिणामरूप क्षेत्रों में भोग रहा हूँ । इस प्रकार वह पामर जीव पदचालापरमें पड़ गया ।

अबो मण्यो ! मिशारीके स्वप्नकी तरह ससारका सुख शक्ति है । जैसे उस मिशारीने स्वप्नमें सुख-सम्पन्नको देखा और आनंद माना इसी तरह पामर प्राणी ससार-स्वप्नके सुख-सम्पन्नमें आनंद मानते हैं । जैसे वह सुख जागनेपर मिथ्या माहूम हुआ उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होनेपर ससारके सुख मिथ्या माहूम होते हैं । स्वप्नके भोगोंको न भोगनेपर भी जैसे मिशारीको क्षेत्रोंकी प्राप्ति हुई, वैसे ही माहूम प्राणी संसारमें सुख मान बैठते हैं, और उसे भोगो हुएके समान मानते हैं । परन्तु परिणाममें

वे छेद, दुर्गति और पश्चात्ताप ही प्राप्त करते हैं। मोगोंके चपल और विनाशीक होनेके कारण स्वयंके छेदके समान उनका परिणाम होता है। इसके ऊपरसे मुदिमान पुरुष आरम्भ दितको खींचते हैं। संसारकी अनित्यताके ऊपर एक कान्य है—

उपनाति

विपुल छत्ती प्रमुता पताग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,

पुरदरी चाप अनंगरग, शू राधिये त्या क्षणनो प्रसंग ।

विशेषार्थ — छत्ती विनशीके समान है। जैसे विनशीकी चमक उत्पन्न होकर विहीन हो जाती है, उसी तरह छत्ती जाकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जैसे पतंगका रंग बार दिनकी बौदनी है, वैसे ही अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथमेंसे जाता रहता है। बाहु पानीकी छहरेंके समान है। जैसे पानीकी छहरें इधर आई कि उधर निकल गईं, इसी तरह कर्म पाया, और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, कि इतने हीमें इसे दूसरी देहमें जाना पड़ता है। काम-मोग आकाशमें उत्पन्न हुए इन्द्र-अनुपके समान हैं। जैसे इन्द्र-अनुप वर्षाकाळमें उत्पन्न होकर क्षण-भरमें निरून हो जाता है, उसी तरह जीवनमें कामके विकार फलीभूत होकर अरु-वयमें आते रहते हैं। छेदमें, हे जीव ! इन समस्त वस्तुओंका सबब क्षणमरका है। इसमें प्रेम-वचनकी सौकससे बंधकर मग क्या होता ! तात्पर्य यह है, कि ये सब चपल और विनाशीक हैं, व अस्थिर और अनित्याई है, इसलिये अपने नैसी वस्तुको प्राप्त कर, यही उपदेश यथार्थ है।

४३ अनुपम क्षमा

क्षमा व्यर्थानुको जीतनेमें खड़ग है। पवित्र जाचारकी रक्षा करनेमें बख्तर है। क्षुद्र भावसे कसब दुश्मनें सम परिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य मक-संगरसे पार हो जाता है।

दृष्टा बाहुदेवका गजसुकुमार नामका छोटा भाई महास्वरूपवान और सुकुमार था। वह केवल परब्रह्मकी कथमें मगवान् मेमिनायके पास संसार-त्यागी होकर स्मरानये उग्र प्यानमें अवस्थित था। उस समय उसने एक बहुत क्षमायुक्त शिरोसे महासिद्धि प्राप्त की उसे में यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुन्दरवर्णस्तम्भ पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगर्भ हुई थी। परन्तु विवाह होनेके पहले ही गजसुकुमार संसार त्याग कर चले गये। इस कारण अपनी पुत्रीके सुखके माद्य होनेके डेपसे सोमल ब्राह्मणकी श्रमकर क्रोध उत्पन्न हुआ। वह गजसुकुमारकी खोज करते करते उस स्मरानमें आ पहुँचा, जहाँ महा मुनि गजसुकुमार एकाम विबुध भावसे कायेस्वरुमें खीन थे। सोमलने सोमल गजसुकुमारके सिरपर चिकनी मिट्टीकी बाइ बना कर इसके भीतर धनके डूब अगारे भरे, और इसे ईशनेसे पूर दिया। इस कारण गजसुकुमारकी महाताप उत्पन्न हुआ। जब गजसुकुमारकी सोमल देह बचने लगी, तब सोमल बड़ीसे चक दिया। उस समयके गजसुकुमारके असह्य दुःखका वर्णन कैसे हो सकता है। फिर भी गजसुकुमार समभाव परिणामसे रहे। उनके हृदयमें कुछ भी श्रेष्ठ अथवा डेप उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपनी आत्माकी स्थितिस्थापक दशामें लालक यह उपदेश दिया, कि देख यदि तुने इस ब्राह्मणकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्या-दानमें तुझे पगड़ी देता। यह पगड़ी पाके पिनेमें पट जाती और अन्तमें दुःखदायक होती। किन्तु यह इसका बहुत बड़ा उपकार हुआ, कि इस पगड़ीके बदले इतने मोक्षकी पगड़ी बाँध दी। ऐसे विबुध परिणामसे अलग रहकर समभावसे असह्य

केना सहकर गनसुकुमारने सर्वज्ञ सर्वश्री होकर अर्गतनीचम सुखको पाया । कैसी अनुपम समा और कैसा उसका सुंदर परिणाम । तत्त्वज्ञानियोंका कथन है कि ब्रह्माज्योकी कबळ अपने सद्भावमें आना चाहिये और ब्रह्मा अपने सद्भावमें आयी कि मोक्ष इयेजीमें ही है । गनसुकुमारकी प्रतिष्ठा समा कैसी सिद्धा देती है ।

४४ राग

अमय भगवान् महावीरके मुख्य गणधर गातमका नाम तुमने बहुत बार सुना है । गौतम-स्वामीके उपदेश किये हुए बहुतसे शिष्योंके कबळज्ञान पानेपर भी स्वयं गौतमका कबळज्ञान न हुआ क्योंकि भगवान् महावीरके अगोपग, वर्ण रूप इत्यादिके ऊपर अब भी गौतमको मोह था । निर्भय प्रवचनका निष्पक्षपाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःकरमय होता है । राग ही मोह है और मोह ही संसार है । गौतमके हृदयसे यह राग जबतक दूर न हुआ जबतक उन्हें कबळज्ञानकी प्राप्ति न हुई । अमय भगवान् ज्ञातपुत्रने जब अनुपमैय सिद्धि पई उस समय गौतम नगरमेंसे जा रहे थे । भगवान् के निर्माण समाचार सुनकर उन्हें खेद हुआ । बिनासे गौतमने ये अनुरागपूर्ण वचन कहे

हे महावीर ! आपने मुझ साथ तो न रक्खा परन्तु मुझे बन्ध तक भी न किया । मेरी प्रीतिके सामने आपन दृष्टि भी नहीं की ऐसा आपको उचित न था । ” ऐसे विकल्प होते होते गौतमका कष्ट क्रिय और वे निरुत्सा-धणी गये । ‘ मैं बहुत मूर्खता कर रहा हूँ । ये भीतराग, निर्भिकारी और रागहीन हैं वे मुझपर मोह कैसे रख सकते हैं ’ उनकी धनु और मित्रपर एक समान दृष्टि थी । मैं इन रागहीनका सिध्दा मोह रखता हूँ । मोह संसारका प्रबल कारण है । ” ऐसे विचारते विचारते गौतम शोकको छोड़कर राग रहित हुए । तत्क्षण ही गौतमको अनंतज्ञान प्रकटसित हुआ और वे अतमें निर्माण पधार ।

गौतम मुनिका राग हमें बहुत सूक्ष्म उपदेश देता है । भगवान् के ऊपरका मोह गातम जैसे गणधरकी भी, कृत्यक हुआ तो फिर संसारका और उसमें भी पामर ब्रह्माज्योका मोह कैसा अनंत दुःख देता होगा । संसारका ही गाईक राग बार हीप रूपी दो बैल हैं । यदि ये न हों तो संसार अटक जाय । जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेष भी नहीं, यह माना हुआ सिद्धांत है । राग तीन कर्मबन्धका कारण है आर इसके हृदयसे आत्म-सिद्धि है ।

४५ सामान्य मनोरथ

माहिनीमात्रके विचारोंके अजीब होकर मरणसे परतारकी ॥ देवें, निर्मल तात्त्विक छीमकी पदाकर इस्सेक वैभवकी पथरके समान समर्थ । बाह्य ज्ञा और दीनता कारण करके स्वल्पकी विचारकर सात्विक बनें । यह मेरा सदा ध्येय करनेवाला और मक्का इरनेवाला नियम नियम अवश्य रहे ॥ १ ॥

४५ सामान्य मनोरथ

कवेता

मोहिनीमात्र विचार व्यर्थन वर्ग या निरर्थक नचने कदाही;
कथरतुम्य गनुं रसैम्य निर्मल तात्त्विक धाम समर्थ ।
हारधारण अने दीनता वीर, तात्त्विक बांड स्वल्प विचार
ए मुझ नेम सदा ध्येय केयक, निरल अवश्य हो मधारी ॥ १ ॥

उन विशालतनयको मनसे चितवन करके, ज्ञान, विवेक और विचारको बढ़ाई, नित्य ना
तमोंका विशेषन करके अनेक प्रकारके उत्तम उपदेशोंका मुखसे कथन करें, जिससे सशयरूपी वीरका
मनके भीतर उदय न हो ऐसे जिन भगवान्‌के कथनका सदा अवधारण करें। हे रामचन्द्र, सदा
मेरा यही मनोरथ है, इसे धारणकर, मोक्ष मिष्टमा ॥ २ ॥

४६ कपिलमुनि

(१)

कोसली नामकी एक नगरी थी। वहाँके राजदरबारमें राज्यका आभूषणरूप काम्यप नामका
एक शाही रहता था। इसकी शीका नाम नाम श्रीदेवी था। उसके उदरसे कपिल नामक एक
पुत्र उत्पन्न हुआ। कपिल जब पन्द्रह वर्षका हुआ उस समय उसका पिता परलोक सिंघा।
कपिल छह प्यारमें पाछे जानेके कारण कोई विशेष शिक्षा प्राप्त न कर सका, इसलिये इसके पिताकी
अगह किसी दूसरे शिक्षाको मिली। काम्यप शाही जो पूर्वी कमाकर रख गया था, उसे कमानेमें
अच्छ कपिलन साकर पूरी कर डाली। श्रीदेवी एक दिन घरके द्वारपर खड़ी थी कि इतनेमें
उसने दो चार नौकरों सहित अपने पतिकी शाहीय पदवीपर नियुक्त शिक्षाको उधरसे जाता हुआ
देखा। बड़े मनसे जाते हुए इस शाहीका देखकर श्रीदेवीकी अपनी पूर्वस्थितिका स्मरण हो आया।
जिस समय मेरा पति इस पदवीपर था, उस समय मैं कैसा सुख भोगती थी। यह मेरा सुख गया हो
गया, परन्तु मेरा पुत्र भी पूरा नहीं पड़ा। ऐसे विचारमें मूढते मूढते उसकी आँखोंमेंसे पट पट
आँसू गिरने लगे। इतनेमें फिरते फिरते वहाँ कपिल आ पहुँचा। श्रीदेवीकी राती हुई देखकर कपिलन
उसका कारण पूछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो बात थी वह कह दी। फिर कपिलने
कहा, 'देख माँ! मैं बुद्धिशाही हूँ, परन्तु मेरी बुद्धिका उपयोग प्रीसा चाहिये कैसा नहीं हो सका।
इसलिये निश्चयके बिना मैं यह पदवी नहीं प्राप्त की। अब तू नहीं कहे मैं वहाँ नाकर अपनेसे बनती
विषयको सिख दूँ।' श्रीदेवीने खेदसे कहा 'यह तुझसे नहीं हो सकता, अन्यथा आपावर्तकी
सीमापर स्थित आश्रमि नगरीमें इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है वह अनेक विचारधियोंको
निवारण देता है। यदि तू वहाँ जा सक तो इसकी सिद्धि अवश्य हो।' एक दो दिन रुककर सब
तैयारी कर 'अलु' कहकर कपिलजीन रास्ता पकड़ा।

कपिल भीतनेपर कपिल आश्रममें शाहीजीके घर आ पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके शाहीजीको
अपना इतिहास कह सुनाया। शाहीजीने अपन मित्रके पुत्रका विचारान इनके लिये बहुत आनंद लिखाया;
परन्तु कपिलने पास कोई पूँजी न थी, जिससे वह उसमेंसे माला और अभ्यास कर सकता। इस
कारण उसे नगलमें मँगनेक लिये जाना पड़ता था। मँगते मँगते उसे दुपहर हो जाता था, काममें
वह रसार्थ करता और भोजन करनेतक सोता होनेमें कुछ ही देर बाकी रह जाती थी। इस कारण वह

ते विद्यमाननय मन विनयि ज्ञान विवेक विचार बढ़ाई
नित्य विरोध करी जब तनको उत्तम वाच अनेक उपपाई;
तैयारीय उसे नहीं अंतर; वे विनय कपना अवपाई
राज्य कहा पुत्र पूज मनो मेरा अन्तर उताई ॥२॥

कुछ अभ्यास नहीं कर सकता था। पंडितजीने अभ्यास न करनेका कारण पूछा, तो कपिलने उसका जवाब दिया। पंडितजी कपिलको एक गृहस्थके पास ले गये। उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विनवा ब्रह्मणीके घर इसे हमेशा भोजन मिलते रहनेकी व्यवस्था कर दी। उससे कपिलको एक विनवा कम हुई।

४७ कपिलमुनि

(२)

जहाँ एक छोटी विनवा कम हुई, वहाँ दूसरी बड़ी जगह खड़ी हो गई। मोठा कपिल अब सुका हो गया था, और जिस विनवाके घर वह भोजन करने जाता था वह विनवा बड़ी भी सुकती थी। विनवाके साथ उसके घरमें दूसरा कोई आदमी न था। हमेशाकी परस्परकी बातचीतसे दोनोंमें सब बढ़ा, और बढ़कर हास्य विनाशक्यमें परिणत हो गया। इस प्रकार होते होते दोनोंमें गहरी प्रीति पैदी। कपिल उसमें सुख हो गया। एकदम बहुत अनिष्ट चीज है।

कपिल विनवा प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी तरफसे मिलने वाले सदैवसे दोनोंका मुक्तिपथ निर्वाह होता था कपिल केसेकी भी बाधा होने लगी। कपिल गृहस्थाश्रम जैसा बना बैठे थे। कुछ भी हो फिर भी छपुकी भी जीव होनेसे कपिलको संसारके विशेष प्रपञ्चकी खबर भी न थी। इसलिये पैसा कैसे पैसा करना इस बातको वह विचार जानता भी न था। चंचल जौने उसे एसा बताया कि पचवानेसे कुछ न होगा उपायसे सिद्ध होती है। इस गौनेके राजाका ऐसा नियम है, कि सुन्दरे सबके पहले जाकर दो ब्रह्मज उसे आशीर्वाद दे, उसे दो माथे सेना मिलेगा। यदि तुम वहाँ जा सको और पक्ष आशीर्वाद दे सको तो वह दो मासा सेना मिल सकता है। कपिलने इस बातको स्वीकार की। कपिलने आठ दिनतक उसके साथे परन्तु समय बीत जानेपर पहुँचनेसे उसे कुछ संकष्टता न मिलती थी। एक दिन उसने ऐसा निश्चय किया, कि यदि मैं भीकमें सेतूँ ला विनवाके कारण बट बैठूँगा। वह भीकमें सोचा। आधी रात बीतनेपर चन्द्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप जान मुड़ी बौधकर आशीर्वाद देनेके लिये दीड़ते हुए जाने लगी। रक्षकाने उसे चोर जानकर पकड़ लिया। छेके देने पड़ गये। प्रभात हुआ रक्षकाने कपिलको के जाकर राजाके समक्ष लड़ा किया। कपिल बेमुर बैठा लड़ा रहा। राजाको उसमें चारके क्षण दिखाई नहीं दिये। इसलिये राजासे सब बृद्ध हो रहा। चंद्रके प्रकाशका पूर्वके समान गिरनेवालेके मोड़पनपर राजाको दया आई। उसकी बलि ताको दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई इसलिये उसने कपिलसे कहा कि यदि आशीर्वाद कारण तुझे इतनी अधिक क्षमता करनी पड़ी है तो अब तू अपनी इच्छानुसार माँग के। मैं तुझे दूँगा। कपिल घोड़ी लेकर मूढ़ बैठा हो गया। इससे राजासे कहा, क्यों निद्र। माँगते क्यों नहीं। कपिलने उत्तर दिया, मेरा मन अभी स्थिर नहीं हुआ। इसलिये क्या माँगू वह मही सुछता। राजासे सामनेके बागमें जाकर वही केदकर स्वयंसाधक विचार करके कपिलको माँगनेके लिये कहा। कपिल बागमें जाकर विचार करत बना।

४८ कपिलमुनि

(१)

बिसे दो मासा सोना छेनेकी इच्छा थी वह कपिल अब तृष्णाकी तरंगोंमें बह गया। जब उसने पौंच मोहरें मँगानेकी इच्छा की ता उसे विचार आया कि पौंच मोहरोंसे कुछ पूरा नहीं होगा। इस-
 सिमे पचास मोहरें मँगाना ठीक है। यह विचार भी बग़ा। पचास मोहरोंसे कुछ पूरा बच नहीं
 होगा, इसलिये सौ मोहरें मँगाना चाहिये। यह विचार भी बढ़ा। सा मोहरोंसे दो वर्ष तक बैमब
 मोगे, फिर दु सफ़ा दु स ही है। अतएव एक हजार मोहरोंकी याचना करना ठीक है। परन्तु एक
 हजार मोहरें, बाल-बच्चोंके दो चार खर्च आय, कि कृतम हा जायँगी, ता पूरा भी क्या पड़ेगा। इस-
 सिमे दस हजार मोहरें मँगाना ठीक है, जिससे कि ज़िन्दगी भर भी बिता न हो। यह भी इच्छा
 बग़ी। दस हजार मोहरें आ जानेके बाद फिर पूँजीके बिना रहना पड़ेगा। इसलिये एक लाख
 मोहरोंकी मँगानी करूँ कि जिसके ब्याजमें समस्त बैमबको भोग सकूँ। परन्तु हे जीव ! कक्षाधिपति ता
 बहुत है, इसमें मैं प्रसिद्ध कहसि हा सकता हूँ। अतएव करोड़ मोहरें मँगाना ठीक है, कि जिससे मैं
 पञ्च शीमन्त कहा जाऊँ। फिर पीछे रग बग़ा। महान् श्रीमत्पनेसे भी बरपर अमङ्गदायी नहीं करी
 जा सकती। इसलिये राजाका आवा राज्य मँगाना ठीक है। परन्तु यदि मैं आधा राज्य मँगूँगा तो राजा
 मेरे दुष्प गिना जावेगा और इसके सिवाय मैं उसका याचक भी गिना जाऊँगा। इसलिये मँगाना ता
 फिर समस्त राज्य ही मँगाना चाहिये। इस तरह कपिल तृष्णामें डूबा। परन्तु वह था कुछ सतारी,
 इससे कितने पीछे डीठा। मछा जीव ! ऐसी कृतमता क्यों करनी चाहिये कि जो सर्व इच्छानुसार दनक
 सिवें तयार हो, उसका ही राज्य छे है और उस ही भद्र करूँ। वास्तवमें देखनेसे तो इसमें अपनी ही
 बग़ा है। इसलिये आवा राज्य मँगाना ठीक है। परन्तु इस उपाधिभी भी मुझे आनन्दपकता नहीं। फिर
 रुपये पैसेकी उपाधि ही क्या है ? इसलिये करोड़ लाख छाड़कर हा दीसो मोहरें ही मँग घना ठीक
 है। जीव ! सा लोसी मोहरें मिछीया तो फिर विषय बैमबमें ही समय बला जायगा, और बिचाम्यास भी
 पर रहगा। इसलिये अब पौंच मोहरें छ छो पीछेकी बात पीछे। अरे ! पौंच मोहरोंकी भी बनी हाकमें
 बच कार्य आनन्दपकता नहीं। व कबक दो मासा सोना छन आया था उस ही मँग छे। जीव ! यह ता
 ता बहुत है। तृष्णा-समुद्रमें दल बहुत दुबकियाँ लगाईं। समस्त राज्य मँगनेसे भी आ तृष्णा नहीं
 सुखी थी उसे कबक सतोय और बिबेकसे घटायो ता घनी। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता, ता फिर मैं
 इससे विराय क्या मँग सकता था और विशेष जबतक मैं मिछता तबतक मेरी तृष्णा भी शान्त न होती।
 जबतक तृष्णा शान्त न होती, तबतक मैं सुखी भी न होता। जब इसनेसे यह मेरी तृष्णा शान्त न हुई तो
 फिर दो मास सोनेसे कसे शान्त हो सकती है ? कपिलकी आत्मा टिकाने आर आर बह बोझा, अब
 मुझे इस दो मास सोनेका भी कुछ काम नहीं। दो मासस बकुकर मैं किननयक पहुँच गया। मुझ ता
 क्षणमें ही है। तृष्णा ससार-बुद्धका बीज है। हे जीव ! इसकी तुल्य क्या आनन्दपकता है ? विषा
 प्यन करता हुआ तू विषयमें पड़ गया विषयमें पड़नेसे इस उपाधिमें पड़ गया उपाधि के कारण तू
 अनन्त-तृष्णा समुद्रमें पड़ा। एक उपाधिमेंसे न्य ससारमें पसी अनन्त उपाधियों सहन करनी पड़नी

है। इस कारण इसका त्याग करना ही उचित है। सत्य संतोषके समान निरुपाधिक कुछ एक भी नहीं। ऐसे विचारते विचारते, तुष्णाके शमन करनेसे उस कपिकके अनेक आचरणोंका ह्य हुआ, उसका अतःकरण प्रसुरद्धित बार बहुत विवेकशील हुआ। विवेक विवेकमें ही उत्तम ज्ञानसे वह अपनी आत्मत्वा विचार कर सका। उसने अपूर्व श्रेणी चढ़कर केवलज्ञानको प्राप्त किया।

तुष्णा किसी कमिष्ठ वस्तु है। ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तुष्णा आकाशके समान अनंत है, वह निरंतर नवयौवनमें रहती है। अपनी चाह जितना कुछ मित्र कि उससे चाह और भी बढ़ जाती है। संतोष ही कल्पवृक्ष है, और यही प्रायेक मनोचञ्चलको पूर्ण करता है।

४९ तुष्णाकी विचित्रता

(एक गरीबकी बढ़ती हुई तुष्णा)

जिस समय दीनदार्थ ही उस समय जमीन्दारी पानेकी इच्छा हुई, जब जमीन्दारी मिली तो सेठई पानेकी इच्छा हुई, जब सेठई प्राप्त हो गई तो मंत्री होनेकी इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बननेकी इच्छा हुई। जब राज्य मिला, तो देश बननेकी इच्छा हुई जब देश हुआ तो म्हादेव होनेकी इच्छा हुई। क्या राज्यचन्द्र ! वह यदि म्हादेव भी हो आप तो भी तुष्णा तो बढ़ती ही जाती है, मरती नहीं ऐसा मानो ॥ १ ॥

मुँहपर सुरियों पड़ गई, गाल विचक गये, काँधी कसकी पहियों सुन्द पड़ गईं सूँजे, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रही और दौंतोकी पक्षियाँ खिर गईं अपचा घिस गईं, कमर टेढ़ी हो गई, हाथ-मोँस सूख गये, शरीरका रंग उब गया उल्टे पैरनेकी शक्ति जाती रही, और चलनेमें हापने कबड़ी खेती पड़ गई। अरे ! राज्यचन्द्र इस तरह पुनःपुनः हाथ जो बैठे, परन्तु फिर भी मनस यह रौंठ ममता नहीं मरी ॥ २ ॥

करोड़ोंके कर्देका सिरपर उका मज रहा है, शरीर सुखकर रोगसे ईँच गया है, राजा भी पीडा देनेके लिये मीठा तक रहा है और ये भी पूरी तरहसे नहीं मरा जाता। उसपर माया पिता और

४९ तुष्णाकी विचित्रता

(एक गरीबकी बढ़ती बढ़ती तुष्णा)

मनहर छंद

हरी दीनदार्थ लार लकी परेठई अने मझी परेठई लारे लकी है छटाईने।
छपटी केठई लारे लकी मँफिदई अने आपी मँफिदई लारे लकी बुझाईने।
मझी तुल्लई लारे लकी देवदार्थ अने बीडी देवदार्थ लारे लकी शंकराईने
अहा ! राज्यचन्द्र मानो मानो शंकराई मझी जब तुल्लई लोच लय न मयईने ॥ १ ॥

करोड़की पड़ी हाडी जालालनो राड बडरो काझी केठपटी लिये श्रेयता कडार्थ गईं;
देखु नामानु मे देखु ते मझी कझु तेम राड मावकी ते लयी के लवार्थ गईं।
कझी केड बाकी, हाड गवा अंगरय गवा, उडधानी आव जवा अजरी केवार्थ गईं;
अरे ! राज्यचन्द्र यम पुनानी हवार्थ यम मनकी न लोच राड मझा मयार्थ गईं ॥ २ ॥

करोड़नो करजना शरीर ईँच चगे रामकी ईँचार्थ गनु शरीर सुवार्थने
पुनर्ने नय लय बीडकने लकी यहा केड लकी केड नय शके न नुराईने।

जी अनेक प्रकारकी उपाधि मचा रहे हैं, दुःस्वप्नी पुत्र और पुत्री खाऊँ खाऊँ कर रहे हैं । अरे राघवचन्द्र ! तो भी यह जीव उषेक पुन किया ही करता है और इससे तुम्हारी छेड़कर जवान नहीं छोड़ी जाती ॥ ६ ॥

नाड़ी छीण पड़ गई, अशक्तकी तरह पड़ रहा, आर जीवन-दीपक निस्तब्ध पड़ गया । एक महीने इसे अंतिम अवस्थामें पड़ा देखकर यह कहा, कि अब इस विचारकी निरी ठंडी हो जाय तो ठीक है । इतने पर उस भुइने खींचकर हाथको हिलाकर इसारेसे कहा, कि हे मूर्ख ! चुप रह, तेरी चतुर्धापर आग लगे । अरे राघवचन्द्र ! देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है ! मरते मरते भी भुइकी मन्ता नहीं मरी ॥ ७ ॥

७० प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य, और कृपाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं ।

मगवान्ते उत्तराध्यायनसूत्रमें गीतमस कहा है, कि हैं गीतम । मनुष्यकी आयु कुशाकी मास-पर पड़ी हुई जलके बुन्दके समान है । जैसे इस बुन्दके गिर पड़नेमें देर नहीं लगाती, उसी तरह इस मनुष्य-आयुके बीतनेमें देर नहीं लगाती । इस उपदेशकी गायत्री चौथी कड़ी स्मरणमें अवश्य रखने योग्य है—‘समयं गीतम मा पमायत्’ । इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं । एक तो यह, कि हे गीतम ! समय अवधि अवसर पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिये और दूसरा यह कि क्षण क्षणमें बीतते जाते हुए काळके असह्यतामें माग अर्धात् एक समपमात्रका भी प्रमाद न करना चाहिये, क्योंकि देह क्षणमगुर है । काळ शिकापी सिरपर अनुप बाण चढ़ाकर खड़ा है । उसने शिकारको लिया अपना होगा बस यही दुनिचा हो रही है । वही प्रमाद कालसे धर्म-कर्तव्य रह जायगा ।

अति विचक्षण पुरुष संसारकी सर्वोपाधि त्याग कर तिन रात धर्ममें सन्तधान रहत है, आर फलभी प्रमाद नहीं करते । विचक्षण पुरुष अहोपत्रके घोड़े माराका भी निर्गतर धर्म-कर्तव्यमें विताते हैं, और अबसर अबसरपर धर्म-कर्तव्य करते रहत हैं । परन्तु मनु पुरुष निगा, अह्मकार, मीत्र, शीक, विषया तथा राग रगमें आयु व्यतीत कर डालते हैं । ये इससे परिणाममें अभगाति पाते हैं ।

जैसे बने तस यतना और उपयोगस धर्मका साधन करना योग्य है । सात घण्टेके अहोपत्रमें बीस घण्टी तो इन निग्रामे बिता दते हैं । बाकीकी चाखीस घण्टी उपाधि, गप शप, और इधर उधर मन्त्रनमें बिता दते हैं । इसकी अपेक्षा इस सात घण्टीके बन्तमेंसे ११ बार घण्टी विगुण धर्म-कर्तव्यके लिये उपयोगमें लगाने तो यह आसानीसे हो सकने वैसी बात है । इसका परिणाम भी वैसा सुन्दर हो ।

एत अमुष्य धीम ई । चरुचर्मी मी यणि एक पत्र पानेक लिये अपनी समस्त ऋद्धि दे दे तो

तिरु अने परती वे । मकारे अनक बेच पुत्र पुत्री म्पाने लाऊँ लाऊँ दुःस्वप्नछरिने
अरे ! राघवचन्द्र तब जीव लाया थाया करे, जेकरा छेड़ाप मरी नही दुःस्वप्नछरिने ॥ १ ॥

पर छीन नाड़ी अशक्त अतो रतो पड़ी जीवन दीपक लाम्हा केकरा संस्कारिने
छेप्पी हने पम्पे मार्यी म्पारे ल्या एम मन्त्रु । इर सारी मारी काय ना ता दीक म्पारे ।
हकन ह्मारी ल्या तो मारी मुने नृकार्य ए, बम्पा बिना केत बन्ध तागे चतुपरिने !
अरे राघवचन्द्र देखो देखो आगाताय केरा ! जरा गई नहीं होत मन्त्रा अगारिने ॥ ४ ॥

भी वह उसे नहीं पा सकता । एक पक्षको व्यर्थ खोना एक भय हार आनेके समान है । यह तत्त्वकी दृष्टि सिद्ध है ।

५१ विवेकका अर्थ

छन्दु शिष्य—मगबन् ! आप हमें जगह जगह कहते आये हैं कि विवेक महान् सेषास्त्र है । विवेक कवकारमें पड़ी हुई अहमात्मो पहचाननेके त्रिप दीपक है । विवेकसे धर्म निकला है । जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं तो विवेक किसे कहते हैं, यह हमें कहिये ।

गुरु—आपुष्मानों ! सत्यासत्यका उसको स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है ।

छन्दु शिष्य—सत्यको सत्य, और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं । ता महापुत्र ! क्या इन लोगोंने धर्मके मूलको पा लिया, यह कहा जा सकता है ?

गुरु—तुम लोग जो बात कहते हो उसका कोई द्योतक दो ।

छन्दु शिष्य—हम स्वयं कहनेको कहना ही कहते हैं, मजुरको मजुर कहते हैं, जहरको जहर और अपृतको अपृत कहते हैं ।

गुरु—आपुष्मानों ! ये समस्त द्रव्य पदार्थ हैं । परन्तु आत्माने क्या कहवत्स, क्या मित्रात्स, क्या जहर और क्या अपृत है ? इन भाव पदार्थोंको क्या इससे परीक्षा हो सकती है ?

छन्दु शिष्य—मगबन् ! इस ओर तो हमारा ध्यान भी नहीं ।

गुरु—इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सन्वसाव पदार्थको ज्ञान और अदर्शनरूपी असत् वस्तुओंमें घेर लिया है । इसमें इतनी अधिक मिश्रता आ गई है कि परीक्षा करना अशक्य ही दुर्लभ है । ससारके सुखोंको आत्माके अन्त बार भोगनेपर भी उनमेंसे किसी भी आत्माका मोह नहीं छूटता, और आत्माने उन्हें अपृतके तुल्य मिला, यह अविवेक है । कारण कि संसार कहना है तथा यह कहने विषाकको देता है । इसी तरह आत्माने कहने विषाककी औषध रूप वैद्यक्यको कहना मिला यह भी अविवेक है । ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको ज्ञानदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है उसे पहचानकर भाव-अपृतम आनेका नाम विवेक है । अब कहो कि विवेक यह कैसी वस्तु सिद्ध हुई ।

छन्दु शिष्य—जहो ! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मका रखक कहलता है, यह सत्य है । आत्माके स्वरूपको विवेकके बिना नहीं पहचान सकते यह भी सत्य है । ज्ञान शक्ति, धर्म तत्त्व और तप ये सब विवेकके बिना उलटि नहीं होते यह अत्यन्त कहना पदार्थ है । जो विवेकी नहीं, वह ज्ञानी और मूर्ख है । यही पुरुष मतमेव और मिथ्यादर्शनमें छिपटा रहता है । आपकी विवेक-संस्था शिक्षाका हम निरन्तर मनन करेंगे ।

५२ ज्ञानियोंमें वैराग्यका उपवेशा क्यों दिया ?

संसारक स्वरूपको संक्षेपमें पहले कुछ कहा है । वह तुम्हारे ध्यानमें होगा । ज्ञानियोंने इसे अनन्त सेरमय, अनन्त दुःखमय अमयविषय अविदर और अनित्य कहा है । ये विशेषण ज्ञानियोंके पहले उन्होंने संसारका सम्पूर्ण विचार किया मात्स्य होता है । अनन्त भयका पर्यन्त, अनन्त कायका ज्ञान अनन्त जीवनका व्यापक अनन्त मरण, और अनन्त शोक सहित आप्ताससार जगत्में भ्रमण किया करती है ।

ससारकी दृष्टि हुई इन्द्रधारणाके समान सुन्दर मोहिनीने आत्माको एकत्र मोहित कर बाँटा है। इसका समान सुख आत्माको कहीं भी नहीं माझ होता। मोहिनीके कारण सत्यसुख और उसका स्वरूप देखनेकी इच्छा आकाशकी भी नहीं की। जिस प्रकार पतंगकी दीपकके प्रति मोहिनी है, उसी तरह आत्माकी ससारके प्रति मोहिनी है। ज्ञानी लोग इस ससारको क्षणभर भी सुखरूप नहीं कहते। इस ससारकी तिलमर जगह भी जहरके बिना नहीं रही। एक सूअरसे लेकर चक्रवर्तिक भावकी अपेक्षसे समानता है। अर्थात् चक्रवर्तीकी ससारमें जितनी मोहिनी है, उतनी ही बन्धिका उससे भी अधिक मोहिनी सूअरकी है। जिस प्रकार चक्रवर्ती समग्र प्रजापर अधिकारका भोग करता है, उसी तरह वह उसकी उपाधि भी भोगता है। सूअरको इसमेंसे कुछ भी भोगना नहीं पड़ता। अधिकारकी अपेक्षा उच्छेदी उपाधि विशेष है। चक्रवर्तीको अपनी पत्नीके प्रति जितना प्रेम होता है, उतना ही अपना उससे अधिक सूअरको अपनी सूअरनीके प्रति प्रेम रहता है। चक्रवर्ती भोगसे जितना रस खाता है उतना ही रस सूअर भी माने हुए है। चक्रवर्तिक जितनी वैभवकी बहुलता है, उतनी ही उपाधि भी है। सूअरको इसके वैभवके अनुसार ही उपाधि है। दोनों उपाधि हुए हैं और दोनोंको मरना है। इस प्रकार मृत्यु के बिना देखनेपर क्षणिकता, रोगसे, जरा आदिसे दोनों प्रसिद्ध हैं। द्रव्यसे चक्रवर्ती समर्थ है, महा पुण्यशाली है, मुख्यरूपसे साक्षात्देवीय भोगता है, और सूअर विषाद असाक्षात्देवीय भाग रहा है। दोनोंके असाक्षात् और साक्षात् दोनों हैं। परन्तु चक्रवर्ती महा समर्थ है। परन्तु यदि यह जीवनपर्यन्त मोहोत्तम रहे तो वह विषकुल बानी हार जानेके जैसा काम करता है। सूअरका भी यही हाल है। चक्रवर्तिक शालाकायुरूप होनेके कारण सूअरसे इस रूपमें इसकी बचनी नहीं, परन्तु स्वरूपकी दृष्टिसे बराबरी है। भोगके भोगनेमें दोनों तुल्य हैं दोनोंके शरीर एक, मीठ आदि हैं, और असाक्षात् परवर्ती हैं। ससारकी यह सर्वोत्तम चीज़ ऐसी है उसमें ऐसा दुःख, ऐसी क्षणिकता, ऐसी तुल्यता, और ऐसा अंधपना है, तो फिर इसी जगह सुख कैसे माना जाय ? यह सुख नहीं फिर भी सुख गिनो तो जो सुख मयसुख और क्षणिक है वह दुःख ही है। अनन्त चाप अनन्त शोक अनन्त दुःख देखकर ज्ञानियों इस ससारको पीठ निर्मल है, यह सत्य है। इस और पीठ छीनकर देखना योग्य नहीं। वहाँ दुःख ही दुःख है। यह दुःखका समुद्र है।

वर्ण्य ही अनन्त सुखमें के जाने वाला उद्दष्ट मार्गदर्शक है।

७३ महावीरशासन

आजकल जो जिन भगवान्का शासन चल रहा है वह भगवान् महावीरका प्रणीत किया हुआ है। भगवान् महावीरको निर्वाण पञ्चारे २४०० वर्षों ऊपर हो गये। भगवत् देशके धर्मियकुल मगरमें सिद्धार्थ राजाकी रानी प्रियच्छापी धर्मियाणीकी काखसे भगवान् महावीरमें जन्म दिया था। महावीर भगवान्का बड़े भाईका नाम मन्दिर्बर्धमान था। उसकी लीला नाम यत्ताना था। वे तीस वर्ष गहरा-भ्रममें रहे। इन्होंने एकत्र शिक्षा में सारे बारह वर्ष एक पक्ष तप आदि सम्पत् आचारसे सम्पूर्ण धर्मपाति कर्मोंको जडाकर मसीभूत किया अनुसमेय कथनज्ञान और कथनज्ञानको अनुपादित नहीके निजारे प्राप्त किया कुछ सगमग बहतर वर्गकी आयुक्त भोगकर मज कर्मोंको मसीभूत कर सिद्धस्वरूपका प्राप्त किया। वर्तमान बीबीसीके ये अन्तिम दिनेश्वर थे।

इसका यह धर्मतीर्थ पक्क रहा है। यह २१,० वर्ष अर्थात् पंचमहाउमे पूर्ण होने तक पड़ेगा, ऐसा अगमतीसृजमें कहा है।

इस काळमें दस आश्वयौसे युक्त होनेके कारण ॥ श्रीधर्म-तीर्थके ऊपर अनेक विपत्तियाँ आई हैं, आती हैं, और आनेगी।

जैन-समुदायमें परस्पर बहुत मतभेद पड़ गये हैं। ये मतभेद परस्पर निंदा-मन्याहके द्वारा बजाज फैला बैठे हैं। मन्वस्य पुरुष मत मतोंतरमें न पड़कर विवेक विचारसे जिन महाबान्छी शिक्षाके मूल तत्त्वपर आते हैं उच्चम शौचबाल मुनियोंपर मर्कि रहते हैं, और सत्य एकमतसे अपनी आत्माका इम्न करते हैं।

काळके प्रयासके कारण समय समयपर शास्त्र कुछ न्यूनाधिक रूपमें प्रकाशमें आता है।

‘ब्रह्महा य पच्छिमा’ यह उचराध्ययनसूत्रका वचन है। इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य बल और जड़ होने। इस कथनकी सत्यताके विषयमें किसीको सोचनेकी गुंजायश नहीं है। हम तत्त्वका कहीं विचार करते हैं। उच्चम शौचका कहीं विचार करते हैं। निपत्ति बलको धर्ममें कहीं व्यतीत करते हैं। धर्मतीर्थके उदयके क्षिमे कहीं कष्ट रहते हैं। ज्ञानसे कहीं धर्म-तत्त्वकी खोज करते हैं। आत्मक दुःखमें अन्य केनके कारण ही आत्मक कष्ट जाते हैं, यह बात हम आत्मकी दृष्टिसे मान्य नहीं करनी चाहिये। इसक्षिमे आवश्यक आधार-ज्ञान-स्रोत अपना इतनेसे विस्तृत कोई विरोध कथन हो उसे आत्मक मानें तो यह योग्य है। अनेक प्रकारकी इत्य आदि सामान्य दया आत्मकके धरमें पैदा होती है और यह इस दयाको पाकता भी है, यह बात प्रशंसा करने योग्य है। परन्तु तत्त्वको कोई निरखे ही जानते हैं। जाननेकी अपेक्षा बहुत शंका करनेवाले अर्धदृग् भी हैं। जानकर आहंकार करनेवाले भी हैं। परन्तु जानकर तत्त्वके कर्त्तमें तोड़नेवाले कोई निरखे ही हैं। परम्पराकी आत्मामसे केवलज्ञान, सम-पर्यवज्ञान और परम अवविज्ञान विच्छेद हो गये। दृढिवादाका विच्छेद है और सिद्धांतका बहुतसा भाग भी विच्छेद हो गया है। केवल धर्मसे बचे मानपर सामान्य बुद्धिसे शंका करना योग्य नहीं। जो शंका हो उसे विशेष जाननेवालेसे पूँछना चाहिये। कहींसे संतोषजनक उत्तर न मिले तो भी जिनवचनकी प्रशंसा बल-विचार करना योग्य नहीं क्योंकि अनेकदंत शैलीके स्वरूपको निरखे ही जानते हैं।

महाबान्छके कथनरूप मणिके धरने बहुतसे पाप्म प्राणी दोषरूप सिद्धोंको सोचनेका मध्यनकर अयोग्यतिको के जानेवाले कर्मोंको बौधते हैं। इही वगैरतिके कष्टे उसे सुखाकर काममें केना किस्से और किसे विचारसे बूँद निकाला होगा? यह विषय बहुत बड़ा है। यहाँ इस संवधमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं। तत्पर्य यह है कि हमें अपनी आत्माको सार्थक करनेके क्षिमे मतभेदमें नहीं पड़ना चाहिये।

उच्चम और उच्च मुनियोंका समागम विमल आधार विवेक दया, क्षमा आदिका सेकन रना चाहिये। महावीरके तीर्थके क्षिमे हो सके तो विवेकपूर्ण उपदेश भी कारण सहित देना चाहिये। यह बुद्धिसे शक्ति नहीं होना चाहिये। इसमें अपना परम मंगल है इसे नहीं मूळना चाहिये।

५४ अष्टांगि किसे कहते हैं ?

त्रिशासु—मुझे दिन मुनियोंक आचारकी बात बहुत रुचिकर हुई है। इनके समान किसी भी दर्शनके सत्तेका आचार नहीं। चाहे जैसी शीत ऋतुकी ठंड हो उसमें इन्हें अमुक बख्ते ही निमाना पड़ता है, प्रीत्यमे कितनी ही गरमी पड़नेपर भी ये पैरमें जूता आर सिरपर छत्री नहीं छगा सकते। इन्हें गरम रेतमें आवापना बेनी पड़ती है। ये जीवनपर्यंत गरम पानी पीते हैं। ये गृहस्थके घर नहीं बैठ सकते, शुद्ध ब्रह्मचर्य पाछते हैं, फटी कौड़ी भी पासमें नहीं रख सकते, अपोम्य वचन नहीं बोल सकते, और बाहन नहीं छे सकते। वास्तवमें ऐसे पवित्र आचार ही मोक्षपादक हैं। परन्तु नब बाइमें भगवान् स्नान करनेका निषेध क्यों किया है, यह बात यथार्थरूपसे मरी समझमें नहीं बैठती।

सत्य—क्यों नहीं बैठती ?

त्रिशासु—क्योंकि स्नान न करनेसे अष्टांगि बढ़ती है।

सत्य—कौनसी अष्टांगि बढ़ती है ?

त्रिशासु—शरीर मज्जिन रहता है।

सत्य—मर्त्य! शरीरकी मज्जिताको अष्टांगि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नहीं। शरीर स्वयं कित्त चीजका बना है यह तो विचार करो। यह रक्त, पित्त, मूत्र, श्लेष्मका मंडार है। उसपर केवल लवचा हँकी हुई है। फिर यह पवित्र कैसे हो सकता है ? फिर साधुओंने ऐसा कौनसा ससार कर्तव्य किया है कि जिससे उन्हें स्नान करनेकी आवश्यकता हो ?

त्रिशासु—परन्तु स्नान करनेसे उनकी हानि क्या है ?

सत्य—यह तो शृङ्ख मुद्रिका ही प्रदान है। स्नान करनेसे कामाक्षिरी प्रतीति, व्रतका भग, परिणामका वन्दना असङ्गताओं जगुओंका विनाश, यह सब अष्टांगिता उत्पन्न होती है, आर इससे आमा मया मज्जिन होती है, प्रथम इसका विचार करना चाहिये। जीव-हितसे कुछ शरीरकी जा मज्जिता है वह अष्टांगि है। तत्त्व-विचारम तो ऐसा समझना चाहिये कि दूसरी मज्जिताओंसे तो आत्माकी उन्मज्जता होती है, स्नान करनेसे व्रतमग हटकर आमा मज्जिन होती है, आर आत्माकी मज्जिता ही अष्टांगि है।

त्रिशासु—मुझे आपन बहुत सुन्दर कारण बताया। मूत्रम विचार करनेसे विनश्वरके कथनसे शिक्षा आर अपमान प्राप्त होता है। अष्टांग, गृहस्थाश्रमियोंका संसारिक प्रवृत्तिसे अनिच्छित जोन-हिंसा आदिसे कुछ शरीरकी अपवित्रता दूर करनी चाहिये कि नहीं ?

सत्य—बुद्धिपूर्वक अष्टांगिक दूर करना ही चाहिये। जैन दर्शनक समान एक ही पवित्र दर्शन नहीं, वह यथाप पवित्रताका बोध है। परन्तु नीचार्थापका स्वल्प समझ घना चाहिये।

५- सामान्य नित्यनियम

प्रमाणक पहले जागृत होकर ममस्कारमयका स्मरणकर मनको शुद्ध करना चाहिये। पाप व्यापारकी वृत्ति रोककर रात्रिमें हुए श्लेषोंका उपयामपूर्वक प्रतिजमग करना चाहिये।

प्रतिजमग करनेके बाद यथापम भगवान्की उपामना, मुनि आर स्वाप्यापग मनक उन्मज्ज बनाना चाहिये।

माता पिताका विनय करके संसारी कामोंमें आत्म-हितका ध्यान न भूख सके, इस तरह व्यवहारिक कामोंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

स्वयं मोहन करनेसे पहले सत्पात्रको दान देनेकी परम आवश्यकता रखकर बसा योग मिथनेपर यथोचित प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

आहार विहार आदिमें नियम सहित प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

सत् शास्त्रके अव्यसक्त नियमित समय रखना चाहिये ।

साम्प्रदायमें उपयोगपूर्वक सध्यावश्यक करना चाहिये ।

निद्रा नियमितरूपसे लेना चाहिये ।

सोनेके पहले अथवा पापस्थानक, बाह्य त्योंके दोष, आर सब जीवोंको क्षमाकर, पंचपरमश्री-मन्त्रका स्मरणकर समाधिपूर्वक ध्यान करना चाहिये ।

ये सामान्य नियम बहुत मंगलकारी हैं इन्हें यहाँ संक्षेपमें कहा है । विशेष विचार करनेसे और तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे वे विशेष मंगलदायक और आनन्दकारक होंगे ।

५५ आभाषणा

हे भगवन् ! मैं बहुत भूखा मैंने आपके अमूल्य बचनोंको ध्यानमें नहीं रखा । मैंने आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वका विचार नहीं किया । आपके द्वारा प्रणीत किये उत्तम शैशिका लेखन नहीं किया । आपके कहे हुए दया शक्ति, क्षमा और पवित्रताको मैंने नहीं पहचाना । हे भगवन् ! मैं भूखा, तिरा भयंका और अनत संसारकी विवशतामें पड़ा हूँ । मैं पापी हूँ । मैं बहुत मदेन्यत और कर्म-रक्से मग्न हूँ । हे परमभगन् ! आपके कहे हुए तत्त्वोंके बिना मेरी मोक्ष नहीं होगी । मैं निरंतर प्रपन्नमें पड़ा हूँ । अज्ञानसे अवा ॥ यद्वा ॥ मुझमें विवेक-शक्ति नहीं । मैं मूढ़ हूँ मैं निराश्रित हूँ । मैं अनाथ हूँ । हे नीलरंगी परमभगन् ! अब मैं आपका आपके धर्मका और आपके सुनियोज्य शरण लेता हूँ । अपने अपराध छुप करके मैं उन सब पापोंसे मुक्त होऊँ पक्षी मेरी अभिरक्षा है । पहले किये हुए पापोंका मैं अब पश्चात्ताप करता हूँ । जैसे जैसे मैं स्वयं विचारसे गह्य उत्तरता जाता हूँ, जैसे जैसे आपके तत्त्व धर्मकार मेरे स्वल्पक प्रकाश करते हैं । आप नीलरंगी निर्मिकारी सम्बिदार्त्त-स्वरूप सद्ब्रह्मानी अनन्तानी अनन्तानी और त्रैलोक्य-प्रकाशक ह । मैं केवल अपने हितके लिये आपकी सन्धिसे क्षमा चाहता हूँ । एक पक्ष भी आपके कहे हुए तत्त्वमें शका न हो आपके बलाय हुए अपनेमें मैं अज्ञात रहूँ यही मेरी आज्ञाशा आर वृत्ति होयों । हे सर्वज्ञ भगवन् ! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ ? आपसे कुछ अज्ञात नहीं । पश्चात्तापसे मैं कर्मबन्ध पापकी क्षमा चाहता हूँ—
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

५७ वैराग्य धर्मका स्वरूप है

सूत्रमें रंगा हुआ कल्लू लूतेसे धोय जानेपर उज्ज्वल नहीं हो सकता परन्तु अधिक रंगा जाता है । यदि इस कल्लूको पानीसे धोते है तो वह मस्जिना दूर हो सकती है । इस उज्ज्वलको आत्मपर पाता है । अतः कल्लूसे आत्मा संशयरूपी लूतेसे मस्जिना है । मस्जिना इसके प्रदेश प्रदेशमें व्याप्त हो रही है । इस मस्जिनाको ॥ विषय-भूगारसे दूर करना चाहें तो यह दूर हो नहीं सकती । जिस

प्रकार स्वतः स्वतः नहीं पाया जाता, उसी तरह श्रुत्यासे विषयजन्य आत्म-महिमा दूर नहीं हो सकती। यह मानो निश्चयक है। इस जगत्में अनेक धर्ममत प्रचलित हैं। उनके सबमें नियन्त्रण होकर विचार करनेपर पड़्ये इतना विचारना आवश्यक है कि जहाँ द्वितीयका भाग करनेका उपदेश किया हो, धर्मी-धर्मिका शिक्षा दी हो, रंग, राग, गुहसान आर एवा आराम करनेके तत्त्वका प्रतिपादन किया हो, वहाँ अपनी आत्माको सदा शांति नहीं। कारण कि इसे धर्ममत गिना जाय तो समस्त ससार धर्मयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनसे भरपूर है। बाल-वध, ली, रंग, राग, तानका वहाँ जमका रहता है, आर यदि उस घरको धर्म-मंदिर कहा जाय तो फिर अवर्म-स्वान्दिते कहेंगे ! और फिर जैसे हम वर्तान करते हैं, उस तरहके वर्तान करनेसे गुण भी क्या है। यदि कोई यह कहे कि उस धर्म-मंदिरमें तो प्रभुकी मक्ति हो सकती है, तो उनके लिये कल्पपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वह परमात्म-तत्त्व और उसकी वैराग्यमय मक्तिको नहीं जानता। चाहे कुछ भी हो, परन्तु हमें अपने मूख विचारपर आना चाहिये। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे आत्मा ससारमें विषय आत्मिकी मस्तिष्कतासे पर्यन्त करती है। इस मस्तिष्कताका क्षय विधुद मासक्य जबसे होना चाहिये। अर्थात् तत्त्वस्व सत्युन और वैराग्यस्वमी जबसे उत्तम आचारक्य परस्पर आत्म-बलको बोलवाले निर्मय गुरु ही हैं।

इसमें यदि वैराग्य बल न हो, तो दूसरी समस्त सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती। अतएव वैराग्यको धर्मका स्वस्व कहा जा सकता है। अर्थात्-प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही उपदेश करता है, तो यही धर्मका स्वस्व है, ऐसा जानना चाहिये।

७८ धर्मके मतभेद

(१)

इस जगत्में अनेक प्रकारके धर्मिक मत प्रचलित हैं। ऐसे मतभेद अनात्मिकासे हैं, यह व्यापसिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ कुछ रूपान्तर पाते जात हैं। इस सबमें यहाँ कुछ विचार करते हैं।

बहुतसे मतभेद परस्पर मिश्रित हुए और बहुतसे मतभेद परस्पर विरुद्ध हैं। किन्तु ही मनन-कण्ठ तात्त्विकोंके द्वारा फैलाये हुए हैं। बहुतसे मत सामान्य नीतिका धर्म कहते हैं। बहुतसे ज्ञानको ही धर्म बताते हैं, किन्तु ही अज्ञानको ही धर्ममग मानते हैं। किन्तु ही भक्तिका धर्म कहते हैं, किन्तु ही द्विषाका धर्म मानते हैं, किन्तु ही विनयको धर्म कहते हैं, आर किन्तु ही शक्ति-सैमा-सनेको ही धर्ममत मानते हैं।

इन धर्ममतोंके स्थापकोंने यह मानकर ऐसा उपदेश किया माझस हाता है कि हम जा कहते हैं, यह सबकी वशीक्य है अपना सत्य है। बाकीक समस्त मत असत्य आर भ्रमरुपाण है। तथा उन मतवादियोंने एक दूसरेका योग्य अयोग्य मझन भी किया है। कर्मक उपदेश यही उपदेश करत है। सत्यकथ भी यही उपदेश है। बादका भी यही उपदेश है। व्यापमताका भी यही उपदेश है। बलाधिक उगोका भी यही उपदेश है। शक्ति-पथक माननका भी यही उपदेश करत

हैं; वैष्णव आदिका भी यही उपदेश है; इस्लामका भी यही उपदेश है और इसी तरह क़द्रस्तका भी यही उपदेश है कि हमारा कथन तुम्हें सब सिद्धियाँ देगा। तब हमें किस चीतिसे विचार करना चाहिये !

बादी और प्रतिबादी दोनों सचे नहीं होते, और दोनों झूठे भी नहीं होते। अधिक हुआ तो बादी कुछ अधिक सचा और प्रतिबादी कुछ चाँदा झूठा होता है; अथवा प्रतिबादी कुछ अधिक सचा, और बादी कुछ कम झूठा होता है। हौं दोनोंकी बात सचियाँ झूठी न होनी चाहिये। ऐसा विचार करनेसे तो एक चर्ममत सचा सिद्ध होता है, और शेष सब झूठे ठहरते हैं।

निर्वासु—यह एक आवश्यककारक बात है। सबको असत्य अथवा सत्य कैसे कहा जा सकता है ! यदि सबको असत्य कहाते हैं तो हम नास्तिक ठहरते हैं, तथा चर्मकी सचार्थ जाती रहती है। यह तो निश्चय है कि चर्मकी सचार्थ है, और यह सचार्थ जगत्में अक्षय्य है। यदि एक चर्ममतको सत्य और बाकीके सबको असत्य कहाते हैं तो इस बातकी सिद्ध करके क़तली चाहिये। सबको सत्य कहाते हैं तो यह रेतकी भीत बनाने वीसी बात हुई क्योंकि फिर इसने सब मतभेद कैसे हो गये ! यदि कुछ भी मतभेद न हो तो फिर जुदे जुदे उपदेशक अपने अपने मत स्थापित करनेके लिये क्यों कोशिश करें ! इस प्रकार परस्परके विरोधसे योही देखके लिये एक जाना पड़ता है।

फिर भी इस संकषमे हम यहाँ कुछ समाधान करेंगे। यह समाधान सत्य और नव्यस्व-भावनाकी दृष्टिसे किया है। एकदल अथवा एकमतकी दृष्टिसे नहीं किया। यह पक्षपाती अथवा अनि-वेदी नहीं, किन्तु उच्च और विचारने योग्य है। देखनेमें यह सामान्य मज़हब होगा परन्तु सूक्ष्म विचार करनेसे यह बहुत खासपूर्ण ज़ोगा।

५९ चर्मके मतमेव

(१)

इतना तो तुम्हें स्पष्ट मानना चाहिये कि कोई भी एक चर्म इस सत्तारमें सपूर्ण सम्मतासे कुछ है। अब एक दर्शनको सत्य कहनेसे बाकीके चर्ममतोंको सर्वथा असत्य कहना पड़ेगा ! परन्तु मैं ऐसा नहीं कह सकता। कुछ जाह्यज्ञानाता निश्चयनयसे तो ये असत्यकम सिद्ध होते हैं परन्तु व्यवहार मयसे उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता। एक सत्य है, और बाकीके अपूर्ण और स्याय हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। तथा कितने ही चर्ममत कुतर्कबादी और नास्तिक हैं वे सर्वथा असत्य हैं। परन्तु जो परलोकका अथवा पापका कुछ भी उपदेश अथवा भय बताते हैं, इस प्रकारके चर्ममतोंको अपूर्ण और सरोप कह सकते हैं। एक दर्शन बिसे निर्दोष और पूर्ण कहा जा सकता है, उसके विषयकी बात अभी एक और रहते हैं।

अब तुम्हें शंका होगी कि सरोप और अपूर्ण कथनका इसके प्रवर्तकमें किस कारणसे उपदेश दिया होगा ! इसका समाधान होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि उन चर्ममतवालोंने अर्थात्क उनको मुझकी गति पहुँची क्योंकि ही विचार किया। अनुमान तर्क और उपमान आदिके आधारसे उन्हें जो कथन सिद्ध मज़हब हुआ वह प्रत्यक्षरूपसे गाली सिद्ध है, ऐसा उन्होंने बताया।

उन्होंने जिस पक्षको छिया, उसमें मुख्य एकान्तवादको छिया। मक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान, क्रिया आदि एक पक्षको ही विशेषरूपसे छिया। इस कारण दूसरे मानने योग्य विषयोंको उन्होंने दूधित सिद्ध किये। फिर जिन विषयोंका उन्होंने वर्णन किया, उन विषयोंको उन्होंने कुछ सम्पूर्ण भावभेदसे जाना न पा। परन्तु अपनी बुद्धिके अनुसार उन्होंने बहुत कुछ वर्णन किया। तार्किक सिद्धांत इष्टत आदिसे सामान्य बुद्धिवाजोंके लिये जब मनुष्योंके लिये उन्होंने सिद्ध कर दिखाया। कौर्ति, लोक-हित अथवा भगवान् मनवानेकी आकांक्षा इनमेंसे कोई एक भी इनके मनकी भ्रमणा होनेके कारण उन्होंने अत्युत्त उद्यम आदिसे विजय पायी। बहुतसोंने शृंगार और लोकप्रिय साधनोंसे मनुष्यके मनको हरण किया। दुनियाँ मोक्षमें तो बैसै ही दूरी पड़ी है, इसलिये इस इच्छादर्शनसे मेहरूप होकर उन्होंने प्रसन्न होकर उनका कहना मान लिया। बहुतोंने नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुणोंको देखकर उस कथनको मान्य रक्खा। प्रवर्तककी बुद्धि उन लोगोंकी अपेक्षा विशेष होनेसे उनको पीछेसे भगवान् रूप ही मान लिया। बहुतोंने वैराग्यसे धर्ममत कोलकृत पीछेसे बहुतसे सुखशील साधनोंका उपदेश दाखिल कर अपने मस्की बुद्धि की। अपना मत स्थापन करनेकी महान् भ्रमणासे और अपनी अपूर्णता इत्यादि किसी भी कारणसे उन्हें दूसरेका कहा हुआ अच्छा नहीं लगा इसलिये उन्होंने एक शुद्ध ही मार्ग निकाला। इस प्रकार जनेक मतमतानोंकी जाळ उत्पन्न होती गई। चार पौष पीढ़ियोंतक किस्तीका एक धर्ममत रहा, पीछेसे बाही कुछ-धर्म हो गया। इस प्रकार जगह जगह होता गया।

५० धर्मके मतभेद

(१)

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नहीं कहा जा सकता। इस कारण जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है, उसके तत्त्व प्रमाणसे दूसरे मतोंकी अपूर्णता और एकात्मिकता देखनी चाहिये।

इन दूसरे धर्ममतोंमें तत्त्वज्ञानका यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्त्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्कर्त्ता प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। बहुतसे ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं वे एकान्तिक हैं। इसी तरह क्रियासे मोक्ष होता है, ऐसा कहनेवाले भी एकान्तिक हैं। ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे मोक्ष माननेवाले उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते और ये इन दोनोंके मेंको भ्रमणीय नहीं कह सके इसीसे इसकी सर्वज्ञताकी कमी दिखाई दे जाती है। ये धर्ममतोंके स्थापक सदेवतत्वमें कोई हुए अठाछ दूधणोंसे रहित न थे, ऐसा इनके उपदेश किये हुए शास्त्र अथवा चरित्रोपरसे भी तत्त्वस्थिते देखनेपर दिखाई देता है। कई एक मतोंमें भ्रम, अज्ञानधर्म इत्यादि अपवित्र आचरणका उपदेश है, वे तो स्वमान्य अपूर्ण और सरागीश्राव स्थापित किये हुए दिखाई देते हैं। इनमेंसे किसीने सर्वम्पन्नक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष किसीने साकार मोक्ष और किसीने कुछ काळतक रहकर पतित होनेका मोक्ष माना है। परन्तु इसमेंसे कोई भी बात उनकी सम्प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकती। निष्ठुरी तत्त्ववेत्ताओंने इनके विचारोंका अपूर्णपना दिखाया है, उसे यथास्थित जानना उचित है।

केके स्थापन दूसरे मतोंके प्रवर्तकोंके चरित्र और विचार श्रृंगारिके जानमेसे न मत अपूर्ण है, ऐसा मान्य हो जाता है। वर्तमानमें जो वेद मान्य है वे बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं, इससे इस मतकी प्राचीनता सिद्ध होती है, परन्तु वे भी हिंसासे दूषित होनेके कारण अपूर्ण हैं, और सगणियोंके वाक्य हैं यह स्पष्ट मान्य हो जाता है।

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमें यहाँ कहना है, वह जैन अर्थात् बौद्धाग्रीश्वर स्थापित किये हुए दर्शनके विषयमें है। इसके उपदेशक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। काष्ठ-मे-से होनेपर भी वह बात सिद्धांतपूर्ण मान्य होती है। दया, महाचर्य, शीघ्र, निवेक, वैराग्य, ज्ञान, किया आदि-को इनके समस्त पूर्ण सिद्धांतों में वर्णन नहीं किया। इसके साथ कुछ आत्मज्ञान, उसकी कोटियों, जीवके पतन, जन्म, गति किम्वदन्ति, मोहिहार, प्रवेश, काष्ठ उनके स्वस्वके विषयमें ऐसा सूत्र उपदेश दिया गया है कि किसी उनकी सर्वज्ञतामें शका नहीं रहती। काष्ठ-मे-से परम्परावाक्यसे केवलज्ञान आदि ज्ञान देखनेमें नहीं आते किन्तु भी जो जिनेश्वरके कहे हुए सैद्धांतिक वचन हैं, वे अर्थात् हैं। उनके कितने ही सिद्धांत इन्होंने सूत्र हैं कि जिनमेंसे एक एकपर भी विचार करनेमें सारी मिदगी बीत जाय।

जिनेश्वरके कहे हुए धर्म-तत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको केशमात्र भी वेद उत्पन्न नहीं होता। इसमें सब आत्माओंकी रक्षा और सर्वव्यवस्थाका प्रकाश समिद्धित है। इन मेलोंके फलसे, समस्तसे और बनपर अव्यक्त सूत्र विचार करनेसे आत्म-शक्ति प्रकाश पाती है और वह जैन दर्शनको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करती है। बहुत मननपूर्वक सब धर्ममतोंको जलकर पाँछसे तुलना करनेवालोंको यह कथन अवश्य श्रेष्ठ मान्य होगा।

निर्दोष दर्शनके मूल्यान्वय और सम्यक् दर्शनके मूल्यान्वयोंके विषयमें यहाँ विशेष कहनेकी आवश्यक नहीं है।

११ सुलभे विषयों विचार

(१)

एक आश्रम दक्षिणवर्षसे बहुत पीडित था। उसने तंग आकर अन्तमें देखकी उपासना करके कभी प्राप्त करकेका निश्चय किया। स्वयं विशाल होनेके कारण उसने उपासना करनेसे पहले यह विचार किया कि कान्ति-कोई देव तो सुख होगा ही परन्तु उस समय उससे क्या सुख मँगाना चाहिये? कल्पना करो कि तप करनेके बाद कुछ मँगानेके छिमे न सुख पड़े अथवा म्यूनाधिक सुख तो किया हुआ तप भी निरर्थक होगा। इसी-एक बार समस्त देशमें प्रवास करना चाहिये। सत्कारक गृहम् पुरुषोंके पास बैसन और सुख देखने चाहिये। ऐसा निश्चयकर वह प्रवातकके छिमे निकल पड़ा। भारतके जो जो रमणीय और शक्तिशाली शहर थे उन्हें उसने देखा; शक्ति-प्रयुक्तियोंसे राजाधिराजोंके अंत-पुर सुख और बैसन देखे; धीमतीके गृहस्थ कारबार बाग-बगीचे और कुटुम्ब परिवार देखे परन्तु इससे किसी तरह उसका मन न माना। किसीकी बीका दुःख किसीको पतिका दुःख किसीको अज्ञानसे दुःख, किसीको श्रमके वियोगका दुःख, किसीकी निर्धनताका दुःख, किसीको कस्तीकी उपा-धिका दुःख किसीकी शरीरका दुःख किसीकी पुत्रक दुःख, किसीकी शत्रुता दुःख, किसीकी जड़ ताकत दुःख, किसीकी भी वापक दुःख किसीकी वैभक्तका दुःख, किसीकी कुटुम्बका दुःख, किसीकी

मने नीच कुलका दुःख, किसीको प्रीतिका दुःख, किसीको ईर्ष्याका दुःख, किसीको हानिका दुःख, इस प्रकार एक दो अधिक चपचा समी दुःख जगह जगह उम विप्रके देखनर्म आय । इस कारण इसका मन किसी भी स्थानमें नहीं माना । जहाँ देखे वहाँ दुःख ता था ही । किसी जगह भी सम्पूर्ण सुख उसके देखनेमें नहीं आया । तो फिर क्या मॉगना चाहिये ? ऐसा विचारते विचारम वह एक महापनाम्मी प्रशसा सुनकर दारिका आया । उस दारिका महा भद्रिबान, बभ्रमुक्त, बभ्र-वर्गीचमें सुशोभित और बस्तस्ति भरपूर शहर लगा । सुन्दर आनन्द मय महलोंका देखने हुए और पूँछत पूँछत वह उस महापनाम्मीके घर गया । श्रीमन्त बटकस्थानमें बना था । उसने अतिथि जानकर दायनका सम्मान किया, कुनाकता पूँछी, और उसके लिये मोहनकी व्यवस्था कराई । थोड़ी दूरके बाद धीरजसे शेरने ब्राह्मणसे पूँछा, आपका आगमनका कारण यदि मुझे कहने योग्य हो तो कहिये । ब्राह्मणने कहा, वही आप क्षमा करें । पहले आपको अपने सब तरहके बभ्र, बभ्र, बभ्र-वर्गीच इत्यादि मुझ स्थाने पहुँचेंगे । इनका देखनेके बाद मैं अपने आगमनका कारण कहूँगा । शेरने इसका कुछ समयपर कारण जानकर कहा, आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छानुसार करें । मोहनके बाद ब्राह्मणने शेरको स्वयं साथमें चढ़कर बभ्र आदि बतानेकी प्रार्थना की । धनादयने उसे स्वीकार की आर स्वयं साथ जाकर बभ्र-वर्गीचा, बभ्र, बभ्र सब दिखाये । वहाँ शेरकी ही आर पुत्रोंकी भी ब्राह्मणने रखा । उन्होंने योग्यतापूर्वक उस ब्राह्मणका सम्मान किया । इनके रूप विनय आर स्वच्छता देखकर आर उनकी मधुरवाणी सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ । तत्पश्चात् उसने उसकी दूकानका फरबार देखा । वहाँ सी-एक कारवारियोंको बैठे हुए देखा । उस ब्राह्मणने उन्हें भी सद्व्यय, विनयी और दान पाया । इससे वह बहुत सन्तुष्ट हुआ । इसके मनको वहाँ कुछ सताय मिला । सुनी ता बगलने यही माझ बना है, ऐसा उसे मालूम हुआ ।

६२ सुष्मके विषयमें विचार

(२)

कैसा सुन्दर इसका घर है । कभी सुन्दर इसकी व्यवस्था और व्यवस्था है । कभी चतुर और मनोवा उसकी सुधीय की है । कैसा सज्जमान और आनन्दकाय उसका पुत्र है । कैसा प्रेम रहनरहण उसका कुटुम्ब है । जमीनी क्या भी इसने घर कभी है । समस्त मारगमें इसका समान दूसरा कोई सुनी नहीं । अब तब परक पति के कुछ मॉगू ना मन महापनाम्मी विनया ही मन कुछ मॉगूगा दूसरी इच्छा नहीं करेगा ।

निन बीन गया आर रात्रि हुई । मनेना समय हुआ । पलटाय आर ब्राह्मण पक्षमें बने थे । धनादयने प्रिये अपने आगमनका कारण कानकी प्राप्ति की ।

विप्र—मैं पाम यह विचार करके निकल पा कि जो सबम अतिर सुनी हा म मॉ और तब परके फिर उसके समान तुम मन्त्रात्म कर । मन ममम माय ना मनममम मन्त्रीप एकोका मग, परम्पु किसी रात्रिभगवत घर भी मुझ सम्पूर्ण सुख स्थानमें नहीं आया । जहाँ मग वहाँ आरि, पति, और उपाय ही मगमें आई । आरि आर आर मग मन आरि प्रशसा सुनी,

इस्थिये मैं पड़ी जामा, और मैंने संतोष भी पाया। आपके समान पक्षि सपुत्र, कर्मार्थ, भी, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमें कहीं भी नहीं आये। आप स्वयं भी धर्मशील, सद्गुणी और भिन्नतरके उत्तम उपासक हैं। इससे मैं यह मानता हूँ कि आपके समान सुख और कहीं भी नहीं है। भारतमें आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके कभी देखते याचना करेगा तो आपके सम्पन्न ही सुख-स्थितिमें याचना करेगा।

ब्रह्मन्—परितोषी! आप एक बहुत मर्मपूर्ण विचारते निकले हैं, अतएव आपको अवश्य यथार्थ स्तानुभवकी बात कहता हूँ। फिर वैसी आपकी इच्छा हो कैसे करे। मेरे घर आपने जो सुख देखा वह सब सुख भारतमें कहीं भी नहीं, ऐसा आप कहते हैं तो ऐसा ही होगा। परन्तु वास्तवमें यह मुझे समझ नहीं मानस होता। मेरा सिद्धांत ऐसा है कि वास्तवमें किसी स्थलमें भी वास्तविक सुख नहीं है। जगत् दुःखसे भर रहा है। आप मुझे सुखी देखते हैं परन्तु वास्तविक रीतिसे मैं सुखी नहीं।

विप्र—आपका यह कहना कुछ अनुभवसिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक श्रावण देखे हैं, परन्तु इस प्रकारके मर्मपूर्ण विचार ध्यानमें लेनेका परिष्कृत ही नहीं उठता। तथा मुझे ऐसा अनुभव स्वयं किये नहीं हुआ। अब आपको क्या हुआ है, वह मुझसे कहिये।

ब्रह्मन्—परितोषी! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ। वह व्याप्तपूर्णक मनन करने योग्य है और इसपरसे कोई रास्ता हुआ जा सकता है।

३३ सुन्दर सिन्दूरमें विचार

(३)

जैस स्थिति आप मेरी इस समय देख रहे हैं वैसी स्थिति कभी, कुटुम्ब और जीके संबंधमें मेरी पहले भी थी। जिस समयकी मैं बात कहता हूँ, उस समयको लगभग बीस बरस हो गये। व्यापार और वैभवकी बहुलता यह सब कारणों उठता होनेसे घटने लगा। करोड़पति कहलेशास्त्र मैं एकके बाद एक हानियोंके मार-बहान करकेसे बेचक तीन वर्षमें बग़ायी हो गया। जहाँ निवाससे सीमा दाव समस्तकर जमाया था वहीं उठता दाव पड़ा। इतनेमें मेरी जी भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई उत्तान न था। अर्द्धरात्रि तुलसीनाके मारे मुझे पछिसि निकल जाना पड़ा। मेरे कुटुम्बिणोंने यथाशक्ति रक्षा करी परन्तु वह आकाश फटनेपर बेगार जगलने बीसा था। अब और दौलतके बैर होनेकी स्थितिमें मैं बहुत आगे निकल पड़ा। जब मैं पछिसि निकला तो मेरे कुटुम्बी लोग मुझे रोकर रक्षने लगा, और कहने लगे कि एले गौनका दरवाजा भी नहीं देखा इस्थिये हम तुझे नहीं जाने देंगे। ठेरा कोमल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता और यदि वह कहीं जाकर सुखी होगा तो फिर लानेगा भी नहीं, इस्थिये इस विचारको तुझे छोड़ देना चाहिये। मैंने उन्हें बहुत तरहसे समझाया कि यदि मैं अपनी स्थितिको प्राप्त करेगा तो मैं अवश्य यही जाऊँगा—वेसा बचन देकर मैं आत्मार्थकी यात्रा करने निकल पड़ा।

प्रारम्भके पाँच बीठनेकी सैप्यारी हुई। बैनयोगसे मेरे पास एक दमड़ी भी नहीं रह गई थी। एक दो गधने उदर-योगन बचानेका साधन भी नहीं रहा था। फिर भी मैं आताम गया। वहाँ मेरी बुद्धिने प्रारम्भको स्थिर दिया। जिस जगहमें मैं बैठा था उस जगहके माधिकने मेरी चंचलता और

नम्रता देखकर अपने शेटसे मेरे दुःखकी बात कही। उस शेटने मुझे थुकाकर एक काममें लगा दिया, जिसमें मैं अपने पोषणसे चौथुना पैना करता था। इस व्यापारमें मेरा बिच जिस समय स्थिर हो गया उस समय भारतके साथ इस व्यापारके बढ़ानेका मैंने प्रयत्न किया, और उसमें सफलता मिली। दो वर्षोंमें पाँच लाखकी कमाई हुई। बादमें शेटसे रानी सुशीसे आज्ञा लेकर मैं कुछ माछ खरीदकर शरिकाकी ओर चला दिया। थोड़े समय बाद मैं यहाँ आ पहुँचा। उस समय बहुत लोग मेरा सम्मान करनेके लिये आये। मैं अपने कुटुम्बियोंसे आनदसे आ मिल। वे मेरे माम्यकी प्रशंसा करने लगे। आज्ञासे लिये हुए माछने मुझे एकके पाँच कराये। पड़ितजी। वहाँ अनेक प्रकारसे मुझे पाप करने पड़ते थे। पूरा खाना भी मुझे नहीं मिलता था। परन्तु एकबार छत्ती प्राप्त करनेकी जो प्रतिज्ञा की थी वह प्रारम्भसे पूर्ण हुई। जिस दुःखदायक स्थितिमें मैं था उस दुःखमें क्या कमी थी। बड़ी पुत्र तो ये ही नहीं; मौं बाप पहलेसे परबोक सिचार गये थे। कुटुम्बियोंके विषयसे धार बिना दमझीके जिस समय मैं आया गया, उस समयकी स्थिति अज्ञान-ग्रष्टिसे देखनपर आँखमें आँसू का देती है। इस समय भी मैं धर्ममें ध्यान रक्खा था। दिनका कुछ हिस्सा उसमें लगाता था। वह छत्ती जयवा साजसे नहीं, परन्तु संसारके दुःखसे पार उठारनेवाला यह साधन है, तथा यह मानकर कि नीतक मय क्षण भी दूर नहीं है। इसलिये इस कर्तव्यका जैसे बने शीघ्रतासे कर करना चाहिये, वह मेरा मुख्य नीति थी। दुःखकारसे कोई सुख नहीं; मनकी तृप्ति नहीं और आत्माकी मस्तिता है—इस बातकी ओर मैंने अपना ध्यान लगाया था।

६४ सुम्नके विषयमें विचार

(१)

यहाँ आनक बाग मैंने अच्छे घरकी कम्पा प्राप्त की। वह भी सुलक्षणी और मर्यादाशील निकली। इससे मुझे तीन पुत्र हुए। कारवारके प्रबल होनेसे और पैसा बसको बढ़ता है, इस नियमसे मैं दस वर्षोंमें महा करोड़पति हो गया। पुत्रोंकी नीति, विचार, और बुद्धिके उत्तम रहनेके लिये मैंने बहुत धन साधन जुगाये, जिससे उन्होंने यह स्थिति प्राप्त की है। अपने कुटुम्बियोंको पोषण स्थानोंमें लगाकर उनकी स्थितिमें सुधार किया। दुकानके मैंने अमुक नियम बँधे, तथा उत्तम मकान बनवानेका आरंभ भी कर दिया। यह कंकड़ एक मनचके बांटे किया। गया हुआ पीछे फिरसे प्राप्त किया, तथा कुछ-बड़ेपराकी प्रसिद्धि आते हुए राखी, यह बहलानके लिये मने यह सब किया। इस में सुख नहीं मानता। यद्यपि मैं दूसरों की अपेक्षा सुखी हूँ। फिर भी यह साक्षात्-मीष है, सधुख नहीं। जगतमें बहुत करके असुखाने-नीच ही है। मैंने धर्ममें अपना समय यापन करनेका नियम रक्खा है। सतसत्प्रोका वाचन मन्त्र, सपुत्रोका समागम, यम-नियम, एक महीनेमें बारह दिन जपजप, यथाशक्ति पुनःपुनः, इत्यादि धर्मों में अपना बाउ रखा है। सब व्यवहारकी उपाधियोंमेंसे बहुतसा मया बहुत जगमें मैंने छोड़ दिया है। पुत्रोंका व्यवहारमें यथापोषण बनाकर मैं निर्धन होनेकी इच्छा रखता हूँ। अपनी निर्धन नहीं हो सकना, इसमें समार-मोक्षिणी जयवा दमा ही दूसरा कुछ कारण नहीं है, परन्तु वह भी धर्मसूची ही कारण है। गृहस्थ-धर्मके आचरण बहुत कठिण हो गये हैं और मुनि लोग उन्हें नहीं सुगर मरन। गृहस्थ गृहस्थोंका विशेष उपदेश कर सकन है, आचरणस भी अमर पैना कर

सकते हैं। इमजिय बर्मके सबधमें गृहस्थवर्गको में प्राय उपदेश देकर यम-नियममें छाता हैं। प्रति स्त्राह इमार यहीं सगमग पाँचसा सद्गृहस्थोंकी सभा भरती है। आठ दिनका नया अनुमन और दोष परिष्कार वर्मानुमन में इन छोगोंको दो सौ मुहूर्त तक उपदेश करता हैं। मरी की बर्मगात्रकी कुछ जानकार जानसे यह भी बर्गको उत्तम यम-नियमका उपदेश करके सप्ताहिक सभा भरती है। मेरे पुत्र भी शास्त्रोक्त यथागम्य परिचय रखत है। विद्वानाका संगान, अतिथियोंकी विनय, और सामान्य सभ्यता—एक ही भाव—मे नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पावते हैं। इस कारण ये सब सत्ता मोहा सकते हैं। अस्मिक साथ साथ मेरी नीति, धर्म, सृष्टन और विनयन जन-समुदायर बहुत अच्छा असुर बाधा है। इतना तक हो गया है कि राजातक भी मेरी नीतिकी बातको मानता है। यह सब मैं आम-प्रशस्तको किये नहीं कह रहा, यह बात आप ध्यानमें रखें। केवळ आपकी पूर्ण हुई बातको लक्ष्यकरके किये सरोपन यह सब कहा है।

६७ मुक्त विषयमें विचार

(५)

इन सब बातसे मैं सुखी हूँ ऐसा आपको माझम हो सकेगा और स्वामन्य विचारस आप मुझे बहुत सुखी मानें भी तो मान सकते हैं। धर्म शील और नीतिसे तथा शास्त्रावलानसे मुझे जा बाल मिछता है यह अचजनीय है। परन्तु तत्कालिये मैं सुखी नहीं माना जा सकता। जबतक सब प्रकारसे बाध और बन्धनतर परिष्कार मने त्याग नहीं किया तबतक उगात्रेयका मान मीबद है। यद्यपि यह बहुत बलमें नहीं परन्तु है अल्प, इसलिये यहाँ उपाधि भी है। सर्व-सुख-परित्याग करनेकी मरी सम्पूर्ण आर्क्षता है परन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ तबतक किसी प्रियजनका नियोग व्यवहारमें इनि, कुटुम्बियोंका दुःख ये योई अंतमें मी उपाधि उत्पन्न कर सकते हैं। अपनी देहमें मौतक सिवाय अन्य नाना प्रकारके रोगोंका होना समझ है। इसलिये जबतक सम्पूर्ण निग्रह, ब्रह्माभ्यंतर परिष्कार तथा अन्धारमका त्याग यह सब नहीं हुआ तबतक मैं अपनेको सर्वथा सुखी नहीं मानता। अब वास्तव तत्काली दृष्टिये विचार करनस माझम पड़ेगा कि छसी की पुत्र अथवा कुटुम्बसे सुख नहीं होता, और यदि इसका सुग गिर्न तो जिस समय मरी स्थिति होन हो गई थी उस समय यह सुख कहाँ चम गभा था। जिसका नियोग है ओ कणमगुर है और जहाँ अभ्यासावना नहीं है वह सम्पूर्ण अपरा बहस्तनिक सुख नहीं है। इस कारण मैं अपने आपका सुखी नहीं कह सकता। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार और कारबार करता था तो भी मुझे आरामोपाधि अनीति और संशयान भी कपटका सेवन करना पड़ा था, यह तो नहीं कहा जा सगता। अनक प्रकारके आराम और कपटका मुझे सवन करना पड़ा था। आज यदि दोषोपासनासे छसी प्राप्त करनका विचार करते हो तो यह यदि पुण्य न होगा तो कभी भी यह मिछनेवाली नहीं। पुण्यसे प्राप्त की हुई अस्मिसे महारम, कपट और मान इत्यादिका बहना यह महारायका कागम है। पाप नरकम बाधता है। पापसे आपका महान् मनुष्य-देहको स्पर्ध गुमा दर्ता है। एक तो माना पुण्यका खा जाना और ऊपरसे पापका बध करना। अस्मिकी और उमक डाप समन संसारकी उपाधि योगना, मैं समझता हूँ, कि यह निवेकी आभाको मान्य नहीं है।

सकती । मैंने त्रिम कारणसे छद्मी उपादन की थी, यह कारण मैंने पहले आपसे कहा दिया है । अब आपकी वैसी इच्छा हो बैसा करें । आप विश्वास हैं, मैं विश्वासीको चाहता हूँ । आपकी अभिप्राय हो तो धर्मध्यानमें सदा होकर कुटुम्ब सहित आप यही सुखीसे रहें । आपकी आजीविकाकी सरल योजना बैसा आप कहें बैसी मैं मान्यसे कर दूँ । आप यहाँ शास्त्र अध्ययन और सद्बस्तुका उपदेश करें । मिथ्याभोपाधिको छोड़पतामैं, मैं समझता हूँ, न पछें । आगे जैसी आपकी इच्छा ।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करन योग्य आध्यात्मिका कही । आप अल्प ही कोई म्हात्मा हैं, पुण्यानुबन्धी पुण्यवान् जीव हैं, विवेकी हैं, और आपकी विचार शक्ति बहुत है । मैं दक्षिणसे तैंग आकर जो इच्छा करता था, यह इच्छा एकांतिक थी । ये सब प्रकारक विवेकपूर्ण विचार मैंने नहीं किये थे । मैं चाहे जैसा भी विश्वास हूँ फिर भी ऐसा अनुभव, ऐसी विवेक-शक्ति मुझमें नहीं है, यह बात मैं ठीक ही कहता हूँ । आपने मेरे लिये जो योजना बतलाई है, उसके लिये मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिये मैं हृदय प्रगट करता हूँ । मैं उपाधि नहीं चाहता । छद्मीका पत्र उपाधि ही देता है । आपका अनुमतिस्वरूप कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है । ससार जड़ ही रहा है, इसमें सुख नहीं । आपने उपाधि रहित मुनि-मुम्बकी प्रशंसा की यह सत्य है । यह समार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि व्याधि तथा अज्ञान भावमें रहित शाश्वत मोक्षका हेतु है ।

६६ सुखके विषयमें विचार

(६)

भगवान्—आपको मेरी बात रुचिकर हुई इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनन्द प्राप्त हुआ है । आपके लिये मैं योग्य योजना करूँगा । मैं अपने सामान्य विचारोंको कथानुसंग यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ ।

आ कष्ट छद्मीक उपादन करनेमें कष्ट काम और मायामें कैसे पड़ है, व बहुत दुःखी है । व उसका पूरा अपना अधूरा उपयोग नहीं कर सकत । वे कष्ट उपाधि ही मोगत है, वे असंस्पृष्ट पान करत है, उन्हें कष्ट अज्ञानक उठा छ जाता है, व जीव अभोगनिका प्राप्त हाकर अनंत ससारकी शक्ति करते हैं मित्र हूँ मनुष्य-मनको निर्माण्य कर डालने है, जिससे वे निरन्तर दुःखी ही रहत है ।

त्रिहोत्रि अग्नी आजीविका त्रिहोत्रि साधन मात्रका जगत्प्रथम रचना है, आ शुद्ध परमजीवन, मंगल, परमासी रक्षा, यम, नियम परोपकार अन्य राग, अन्य द्रव्यमाया, सत्य और शाश्वतध्यान रचना है आ सपुण्यगोत्री सदा करते हैं, त्रिहोत्रि निर्मथ्यताका मनारण रचना है आ बहुत प्रसारण समारम्भ स्वागीक समान रहत है त्रिहोत्रि वैराग्य और विशिष्ट उत्पन्न है ऐसे पुरुष परिवर्तनमें सुगन्धक पात्र स्थानीय करत है ।

आ मय प्रसारण आरम्भ और परिग्रहमें रहित हुए हैं आ द्वायम त्रय, कायम और भावम अग्रिकथनम विचारत है, आ शान्ति-मित्र प्रति गणत छवि रचना है आ त्रिहोत्रि पात्र शुद्ध आनन्द

ध्यानमें व्यतीत होता है, और जो स्वाध्याय एवं ध्यानमें छीन है, ऐसे चितेन्द्रिय और नितकृपाय के निर्मय परम सुखी है ।

बिन्दोने सब घनघाती कर्मोंका क्षय किया है, निगके चार वषाती-कर्म कृश पड़ गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनन्तवासी और अनन्तदशी हैं वे ही सम्पूर्ण सुखी हैं । वे मोक्षमें अनन्त जीवनके अनन्त सुखमें सर्व कर्मोंसे विरक्त होकर निरागते हैं ।

इस प्रकार सत्पुरुषोंद्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है । प्रकृता तो मुझे त्याग्य है । दूसरा वही मान्य है, और बहुत जगमें इसे ध्याण करनेका मेरा उपदेश है । तीसरा बहुत मान्य है, और चौथा तो सर्वमान्य और सबिदालन्द स्वरूप है ।

इस प्रकार पवित्रनी आपकी और मेरी सुखके संबंधमें बातचीत हुई । ज्यों ज्यों प्रसंग मिलते जायेंगे त्यों त्यों इन बातोंपर चर्चा और विचार करते जायेंगे । इन विचारोंके आपसे कबनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है । आप ऐसे विचारोंके अनुकूल हुए हैं इससे और भी आनन्दमें इन्द्रि हुई है । इस तरह परस्पर बातचीत करते करते वे इतके साय समाधि-भावमें सो गये ।

जो बिकेही इस सुखके विषयपर विचार करेंगे वे बहुत तप और आश्रमभ्रमोंकी उत्कृष्टताका प्राप्त करेंगे । इसमें कबो हुए व्यपारंगी, निराशमी और सर्वमुक्तके कष्टण ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य हैं । जैसे बने तैसे व्यपारंगी होकर समभावसे जग-समुदायक हितकी ओर काना; परोपकार, दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है । निर्मयताके विषयमें तो विशेष कबनेकी आवश्यकता नहीं । मुक्ताना अनन्त सुखमय ही है ।

६७ अमृत तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहुत पुण्यके पुंगसे इस छुम मानव बहको प्राप्ति हुई; तो भी भरे रे ! मक-बक्रका एक नी बकर दूर नहीं हुआ । सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होता जाता है इसे जरा अपने ध्यानमें लो । अहो ! इस क्षण क्षणमें शानेबाखे मयकर मान-भरणमें तुम क्यों कबजान हो रहे हो ? ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी कम्पी और सत्ता बड़ गई, तो कबो तो सही कि तुम्हारा बड़ ही क्या गया ! क्या कुटुम्ब और परिवारक कबनेस तुम अपनी कटवी मानते हो ? हरिगि ऐसा मत मानो; क्योंकि सत्कारक बड़ना मानो मनुष्य देहको हार जाना है । अहो ! इसका तुमको एक पक्षमर नी विचार नहीं आता । ॥ २ ॥

६८ अमृत तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहु पुण्यकर पुंगही छुम देह मानवनी मजसे
तोये भरे ! मकबनो आये नहि एकके उठयो;
तुल प्राप्त करता तुल दूरे के क्या ए कहे कहे;
कब छन मनेकर भवमरये का जहो रानी रों ? ॥ १ ॥
कम्पी भये आधिकार बकता छु बन्नु ते तो कहे ?
छे उड़ै के परिवारनी बकवाल्नु, ए मक मरो
बकवाल्नु लंगालु मर देहने हारी कयो
यनी विचार नहीं आहो हो ! एक पक्ष समने हयो ॥ २ ॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको, जहाँ कहींसे भी वह मिल सके वहाँसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिम्पशक्तिमान् आप्ता जैसीपैसे मिल सके। इस बातकी सगुन दया है कि परबलमें मोह नहीं करना। जिसके अन्तमें दुःख है उसे सुख कहना, यह त्यागने योग्य सिद्धांत है ॥ ३ ॥

मे फौन हूँ, कहींसे आया हूँ, मेरा सखा स्वरूप क्या है, यह सब किस्स कारणसे हुआ है, उसे रक्खूँ या छोड़ दूँ? यदि इन बातोंका विवेकपूर्वक शांत भावसे विचार किया ता आत्मज्ञानके सब सिद्धांत-तत्त्व अनुभवमें आ गये ॥ ४ ॥

यह सब प्राप्त करनेके छिये किसके बचनको सम्पूर्ण सत्य मानना चाहिये? यह जिसने अनुभव किया है ऐसे निर्दोष पुरुषका कथन मानना चाहिये। अरे, आत्माका उद्धार करो, आत्माका उद्धार करो, इसे शीघ्र पहचानो, और सब आत्माओंमें समष्टि रक्खा, इस बचनको हृदयमें धारण करो ॥ ५ ॥

६८ जिनन्दिन्यता

जबतक जीम स्वादिष्ट भाजन चाहती है, जबतक नासिकाको सुगन्ध अच्छी लगती है, जबतक कान बाजना आनिके गायन और वादित्त चाहता है, जबतक आँख बनोपबन देखनेका सख रक्खी है, जबतक त्वचाको सुगन्धि-लेपन अच्छा लगता है, तबतक मनुष्य निरामी, निर्मय, निष्परिग्रही, निरारमी, और ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। मनको बशमें कटना यह सर्वोत्तम है। इसके द्वारा सब इन्द्रियाँ बशमें की जा सकती हैं। मनको जीतना बहुत दुर्घट है। मन एक समयमें असंख्यानों योजन चलेबाड़े अन्तक समान है। इनको धकाना बहुत कठिन है। इसकी गति चपल और एकदम न आनेवाली है। महा ज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसको बशमें रक्खकर सबको जीत लिया है।

उत्तमपुन्यमयमें ममिच्छा महर्षिने शक्तेयसे ऐसा कहा है कि दसलाख सुमनोंको जीतनेपाड़े बहुतसे पड़े हैं, परतु अपनी आत्माको जीतनेपाड़े बहुत ही दुर्लभ हैं, और वे दसलाख सुमनोंका जीतने-पाड़ोंकी अपेक्षा अमुत्तम हैं।

मन ही सर्वोपाधिकी ब्रह्माला भूमिका है। मन ही बध और मोक्षक कारण है। मन ही सब संसारक माहिनीरूप है। इसको बध कर लेनेपर आत्म-स्वरूपको पा ज्ञाना उद्यमात्र भी कठिन नहीं है।

निर्दोष मुन निर्दोष आनन्द स्वो गम त्वांभी मने
ए दिम्पशक्तिमान् जेवी जैविकी नीचरे;
परबलमुं नहि युक्तता एनी दया मुन्न रही
ए त्यागता निजल के पञ्चादमुन त मुन नहीं ॥ ३ ॥
हुं चीन हुं ! वहाँकी बसो ! हुं स्वरूप ते मार्य लई !
कीना लईव वज्रगता ते ! राज के ए परिहरे !
जना विचार विवेकपूर्वक शांत मान आ क्या,
मी गर्व आत्मिकज्ञानना निहीनपर अनुमना ॥ ४ ॥
त प्राप्त करवा बचन कोनु नय केवल माननु !
निर्दोष भरनु बचन मानो तह आ अनुमनु ।
२ ! आत्म तारा ! आत्म तारा ! जीम एते भोज्या;
गर्वादमां ममति दा आ बचने हुरये म्मा ॥ ५ ॥

मनसे इन्द्रियोंकी छोड़करता है। भोजन, वादिष, सुगंधी, बीज निरीक्षण, सुंरर विस्फेन यह सब मन ही मींगता है। इस मोहिनीक कारण यह धर्मकी पाठ भी नहीं जाने देता। यह अपनेके पीछे स्वरान नहीं होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमें प्रवृत्त होता है। इसमें अब समझ नहीं होता तब सावधानीमें कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न प्राप्त होकर अज्ञा रहकर उस मनको जीतते हैं, वे सर्वथा सिद्धि पाते हैं।

मनको कोई ही अकस्मात् जीत सकता है, नहीं तो यह गृहस्थायाममें अभ्यास करके जीता जाता है। यह अभ्यास निर्मलतामें बहुत हो सकता है। फिर भी यदि कोई समान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यही है कि मन को दुरिच्छा करे, उसे मूढ़ बना, और बैठा नहीं करना। जब मन शब्द, स्पर्श आदि विकृतियों इच्छा करे तब उसे नहीं देना। छिपेमें हमें इसे प्रेरित न होना चाहिये परन्तु इसे प्रेरित करना चाहिये। मनको मोक्ष-मार्गके किन्तुमें लगाया चाहिये। किन्तु निपटा किना सब प्रकारकी उपायियों सबी ही रहती हैं, त्याग अभ्यासके समान हो जाता है; ठीक-जैसे उसे निराहता पड़ता है। अतएव अभ्यास करके भी मनको स्वाधीनतामें लेकर अभ्यास आत्म-हित करना चाहिये।

१९ ब्रह्मचर्यकी नींव

ज्ञानी लोगोंने योगे शब्दोंमें कैसे भद्र और कैसा स्वरूप बताया है? इससे कितनी जबिक आत्मोत्पत्ति होती है? ब्रह्मचर्य जैसे गभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमें अल्पतः आशुचितः शीघ्रतः कहा दिया है। ब्रह्मचर्यको एक सुपर इस और उसकी रक्षा करकेवाली नव विधियोंको उसकी बाइका रूप देकर विस्तृत आधार पाठनेमें विशेष स्थिति रह सके ऐसी संरक्षता कर दी है। इन नींवोंको पदार्थरूपमें नहीं कहा जाता है।

१ वसति—ब्रह्मचारी साधुको जो पशु अथवा नपुंसकस्थ स्तुत्य स्थानमें नहीं रहना चाहिये। जियों दो प्रकारकी हैं—मनुष्यी और इन्द्रियी। इनमें प्रत्येकके फिर दो दो भेद हैं। एक तो मूढ़ और दूसरा बीकी मूर्ति अथवा विन। इनमेंसे नहीं किसी भी प्रकारकी भी हो, ब्रह्मचारी साधुको न रहना चाहिये क्योंकि ये निवारक हेतु हैं। पशुका अर्थ तिर्यचिणी होता है। जिस स्थानमें गाय भैर इत्यादि हों उस स्थानमें नहीं रहना चाहिये। तथा जहाँ पशु अथवा नपुंसकका वास हो वहाँ भी नहीं रहना चाहिये। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेंद्र हान मात्र इत्यादि निवार मनको भद्र करते हैं।

२ रुद्रा—केवल अकेली जियोंको ही अथवा एक ही जिको ब्रह्मचारीको धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये। क्या मोहकी उत्पत्ति रूप है। ब्रह्मचारीको जिके रूप कामविहस्रसुखी प्रणियोंको नहीं पड़ना चाहिये, तथा जिससे जिस अक्षयमान हो ऐसी किसी भी तरहकी आहारसुखी वातवात ब्रह्मचारीको नहीं करनी चाहिये।

३ वासन—जियोंके साथ एक वासनपर न बैठना चाहिये तथा जिस जगत् की बैठ चुकी हो उस स्थानमें दो वहीनक ब्रह्मचारीको नहीं बैठना चाहिये। यह जियोंकी स्थितिका कारण है। इससे निवारकी उपाधि होती है, ऐसा समाधानले कहा है।

४ इन्द्रियनिरोधन—ब्रह्मचारी साधुओंको श्रियोंके भगोपांग ध्यानपूर्वक अथवा दृष्टि गहा-
गद्गकर न देखने चाहिये । इनके किन्ती अंगपर दृष्टि एकत्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है ।

५ कुर्वांतर—भीत, कनात या टाटका अतरपट रखकर जहाँ स्त्री-पुरुष मिथुन करते हों वहाँ
ब्रह्मचारीको नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शय्य, चेय्य आदि विकारसे कारण हैं ।

६ पूर्वव्रत—स्वयं ब्रह्मचारी साधुने गृहस्थावस्थामें किन्ती भी प्रकारकी दृग्गात्पूर्ण विषय-
कीड़ाकी हो तो उसकी स्मृति न करनी चाहिये । ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य भंग होता है ।

७ प्रणीत—दूध, दही, घृत आदि मधुर और सखिषण पदार्थोंका बहुधा आहार न करना
चाहिये । इससे बर्षकी वृद्धि और उन्माद पैदा होते हैं और उनसे कामकी उत्पत्ति होती है । इसलिये
ब्रह्मचारियोंको इनका सेवन नहीं करना चाहिये ।

८ अतिमात्राहार—पेट भरकर मात्रासे अधिक भोजन नहीं करना चाहिये । तथा जिसमें
अतिमात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा नहीं करना चाहिये । इससे भी विकार कृता है ।

९ निमूषण—ब्रह्मचारीको स्नान, बिलेपन करना, तथा पुष्प आदिका ग्रहण नहीं करना
चाहिये । इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है ।

इस प्रकार विमुक्त ब्रह्मचर्यके लिये भगवान् ने नी बाँधे कड़ी हैं । बहुत करक ये तुम्हारे सुननेमें
आई होगी । परन्तु गृहस्थावस्थामें अमुक अमुक िन ब्रह्मचर्य धारण करनेमें अव्यासियोंके छद्ममें रहनेके
लिये यहाँ कुछ समझाकर कहा है ।

७० सनत्कुमार

(१)

चक्षुर्तीके बन्धने क्या कमी हो सकती है ? सनत्कुमार चक्षुर्वर्ती था । उसका वर्ण आर रूप
असुचम था । एक समय सुषर्माकी समामें उसके रूपकी प्रशंसा हुई । किन्हीं दो देवोंको यह बात
अप्यो न लगी । बान्में वे दोनों देव दाक्ष-निवारण करनेके लिये विप्रके रूपमें सनत्कुमारके अंत
पुरमें गये । सनत्कुमारके गरीपर उस समय उच्यन खगा हुआ था । उसके अंगमर्दन आदि पदार्थोंका
सब जगह स्त्रिजन हो रहा था । वह एक छोट्टमा पैचा पहने हुआ था और वह स्नान-मग्नन
करनेको बैठा था । विप्रके रूपमें जाय हुए देवताओंको उसका समाहार मुग, बन्धन बर्णकी कपा,
आर चन्द्र बैसी कंठि दाकर बहुत आनन्द हुआ आर उन्होंने सिर दिखाया । यह दाकर चक्षुर्वर्ती
दूँडा, तुमने सिर क्यों दिखाया ? दबोने कहा हम आरके रूप आर बणका देरनेके लिय बहुत
अभिलाषी थे । हमन जगह जगह आरके रूप आर बर्णकी प्रशंसा सुनी थी । आज हमने उसे प्राप्य
देगा, तिसम हमें पूर्ण आनन्द हुआ । सिर दिखानका कारण यह है कि जमा मारमें क्या जाता है
वेसा ही आरके रूप है । हमने अधिक ही है परन्तु कम नहीं । सनत्कुमार अपने रूप आर बर्णकी स्तुति
सुनकर प्रमुचमें आकर बोला कि तुमन हम समय मेरा रूप रंगा मा टीर, परन्तु तिस समय मैं
गत्रसुनामें बगान्तर धारणकर मर्त्यारूपमें सुग्न दाकर सिद्धामनर बैठा हूँ उस समय मेरा रूप
आर बर्ण आर भी देरन योग्य होता है । अभी तो मैं शरीरमें उच्यन खगाकर बैठा हूँ । यदि उस

समय तुम मेरा रूप और वर्ण देखोगे तो बहुत चमत्कार पाओगे और चकित हो जाओगे। देखने कहा, तो फिर हम रात्रसमयमें आओगे। ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये। उसने बाद सनत्कुमारने उसमें ब्रह्मचर्य धारण किये। जनक उपचारोंसे निससे अपनी काया विशेष आश्चर्य उत्पन्न कर उस तरह सज होकर वह रात्रसमयमें जाकर सिंहासनपर बैठा। दोनों ओर सगर्भ मंत्री, सुम्न, विश्वामित्र और अन्य समासद लोग अपने अपने योग्य वासनपर बैठे थे। राजेश्वर चमर छत्रसे ढुकाया जाता हुआ और ध्वज सेमसे चरित्र दिया जाता हुआ विशेष शोभित हो रहा था। वहाँ वे देवता विष्णुके रूपमें आये। बहुत रूप-वर्णसे आनन्द पानके बड़े मालों उन्हें खेन हुआ है, ऐसे उन्होंने अपने सिरको ढिङ्काया। चक्रवर्तीने पूँछा, कहा भ्रातृणां। पहले समयकी अपेक्षा इस समय तुमने दूसरी तरह सिर ढिङ्काया, इसका क्या कारण है, यह मुझे कहो। अथर्विज्ञानके अनुसार विष्णुने कहा कि हे महात्मान। उस रूपमें और इस रूपमें जमीन आत्मानका फेर हो गया है। चक्रवर्तीने उन्हें इस बातको स्पष्ट समझानेका कहा। भ्रातृणांति कहा, अथिदाम। आपकी काया पहले अमृततुल्य थी, इस समय जहरके तुल्य है। जब आपका वंश अमृततुल्य था तब आनन्द हुआ, और इस समय जहरके तुल्य है इस खिन्ने खेन हुआ। जो हम कहते हैं यदि उस बातको सिद्ध करना हो तो आप तन्त्रिकों सेकें अभी उसपर मन्त्रिकों बैठेगी और वे परलोक पहुँच जायेंगी।

७१ सनत्कुमार

(२)

सनत्कुमारने इसकी परीक्षा की तो यह बात सत्य निकली। पूर्वकर्मके पापके मारामें इस कायाके मरकट मित्रावृत्त होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विरमय हो गई थी। क्लिष्टाकी और अशुचिभय कायाके ऐसे प्रपञ्चको देखकर सनत्कुमारके अंत-चरणमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह सत्सार केवल छोड़ने योग्य है। और ठीक ऐसी ही अपवित्रता की, पुत्र मित्र आदि के शरीरमें है। यह सब मोह मान करने योग्य नहीं, ऐसा विचारकर वह छह खेदकी प्रमुता त्यागकर चक निकला। जिस समय वह साधुक्रममें विचरता था उस समय उसको कोई म्भारोग हो गया। उसके स्पर्शकी परीक्षा करनेको एक देव वहाँ वैष्णवके रूपमें आया और उसने साधुसे कहा, मैं बहुत कुछ घबराव हूँ। आपकी काया रोगका मोग बनी हुई है। यदि इच्छा हो तो तत्काय ही मैं इस रोगका निवारण कर दूँ। साधुने कहा हे वैष्णव। कर्मकायी रोग महा उग्रवृत्त है इस रोगको दूर करनेकी यदि तुम्हारी सामर्थ्य हो तो तुरासि मेरे इस रोगको दूर करो। यदि इस रोगको दूर करनेकी सामर्थ्य न हो तो यह रोग मझे ही रहे। देखताने कहा यह रोग दूर करनेकी तुम्हमें सामर्थ्य नहीं है। साधुने अपनी उम्भिकी परिपूर्ण प्रवृत्तसे पूकवाली अंगुली करके उसे रोगपर फेरी कि तत्काय ही उस रोगका नाश हो गया और काया वैसी थी वैसी हो गई। उस समय देवने अपने स्वस्वका प्रगट किया और वह वन्यवध देख और वदन करके अपने स्थानको चला गया।

केन्द्रके सम्यक् सदैव कृत पीपसे क्कदाते हुए म्भारोगकी उत्पत्ति जिस क्रयाम है फलमें निनस जानेका विस्तका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममें पीने दो दो रोग होनेसे जो रोगका म्भार है,

अन्न आदिकी म्यूनाधिकतासे जो रोग प्रत्येक कालमें प्रकट होते हैं, मधुमेह, पिष्ट, हाड, मौंस, राद और श्लेष्मसे बिसकी ढोंचा निकल हुआ है, केवल तपसासे बिसकी मनोहरता है, उस कालका मोह सचमुच विघ्न ही है । सनकुमारने बिसका छेनामात्र भी मान किया, वह भी उससे सहन नहीं हुआ, उस कालमें अबो पामर ! तू क्या मोह करता है ? यह मोह मंगलदायक नहीं ।

७२ बत्तीस योग

सुसुहोने नीचेके बत्तीस योगोंका संग्रहकर अष्टांगको उज्ज्वलको बनानेका उपदेश दिया है—

- १ मोक्षसाधक यागके छिये शिष्यको आचार्यके प्रति आलोचना करनी ।
- २ आचार्यको आलोचनाको दूसरेसे प्रगट नहीं करनी ।
- ३ आपसिकालमें भी धर्मकी हकता नहीं छोड़नी ।
- ४ इस लोक और परलोकके सुखके फलकी बंछा बिना तप करना ।
- ५ शिक्षाके अनुसार यतनासे आचरण करना और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना ।
- ६ ममत्वका त्याग करना ।
- ७ गुप्त तप करना ।
- ८ निर्दोषता रखनी ।
- ९ परीयहके उपसर्गको जीतना ।
- १० सरल चित्त रखना ।
- ११ अन्नसंपन्न शुद्ध पाठना ।
- १२ सम्यक् शुद्ध रखना ।
- १३ बिसकी एकाग्र समाधि रखनी ।
- १४ कष्ट रहित आचारका पाठना ।
- १५ विनय करन योग्य पुरुषोंकी यथायोग्य विनय करनी ।
- १६ सन्तोषके द्वारा तुष्णाकी मयान कम करना ।
- १७ ब्रह्मचर्य माननेमें मिश्र रहना ।
- १८ माया रहित व्यवहार करना ।
- १९ शुद्ध क्रियामें साधन होना ।
- २० सरला धारण करना और धारका रक्षण ।
- २१ अन्न दानोंका समभारपूर्वक दूर करना ।
- २२ सब प्रपञ्चके शिष्यसे रिक्त रहना ।
- २३ मूकगुणोंमें पाँच महाप्रणोका विगुद पाठना ।
- २४ उदरगुणोंमें पाँच महाप्रणोका विगुद पाठना ।
- २५ उदरपूर्वक कायोसंग करना ।
- २६ प्रमाण रहित ज्ञान ध्यानमें लग रहना ।

२७ हमेशा भगवन्निर्गम से सूक्ष्म उपयोगसे किये रहना ।

२८ विवेचनप्रसक्त से किये एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना ।

२९ वस्तुके दृष्टसे भी भयभीत नहीं होना ।

३ कियों आदिके समको छोड़ना ।

३१ प्राप्तिधृष्टसे निमुद्रि करनी ।

३२ मरणकाश्रमे आराधना करनी ।

एक एक योग अभ्यस्य है । इन सबका संग्रह करनेवाला अन्तमें वर्णित सुखको पाता है ।

७३ मोक्षसुख

इस पृथिवीमण्डलपर कुछ ऐसी वस्तुयें आर मनकी इच्छायें हैं जिन्हें कुछ अंशमें ज्ञाननपर भी प्राप्त नहीं जा सकता । फिर भी ये वस्तुयें कुछ सपूर्ण प्राप्तत अपना अनन्त रहस्यपूर्ण नहीं हैं । जब ऐसी वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता तो फिर अनन्त सुखमय मोक्षकी तो उपमा कहाँसे मिल सकती है ! भगवान्ने वीरमत्स्यमीने मोक्षक अनन्त सुखके विषयमें प्रश्न किया तो भगवान्ने उत्तरमें कहा, गीतम ! इस अनन्त सुखको मैं जानता हूँ, परन्तु जिससे उसकी समता दी जा सके, ऐसी यहाँ कोई उपमा नहीं । भगवत्में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु अथवा सुख नहीं, ऐसा कहकर उन्होंने निम्नरूपसे एक मीथका उदाहरण दिया था ।

मिथी अगलमें एक मोक्षवाला मीठ अपने बाछ-बच्चों सहित रहता था । शहर बगीछकी सम्पत्तिकी उपपिच्छा उसे केशवमर भी मान न था । एक दिन कोई राजा अन्तर्कोशके किये फिरता फिरता वहाँ बा निकला । उसे बहुत प्यास लगी थी । राजाने इधारेसे मीठसे पानी मँगा । मीठने पानी दिया । शीतल जब पीकर राजा संतुष्ट हुआ । अपनेको मीठकी तरफसे मिले हुए अभ्युपगम जलमय मीठका चुकानेके किये मीठको सम्प्राप्तकर राजाने उसे साय किया । मगरमें जानेके पश्चात् राजाने मीठका उसकी किन्दगीम नहीं देखी हुई वस्तुओंमें रक्खा । सुपर मण्ड, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर कप फंडा स्त्राणि मोहन मद मद फल और सुगन्धी विषेयमसे उसे आनन्द आनन्द कर दिया । वह विविध प्रकारके हीरा माणिक्य मीथिक, मणिकल और रगकिरंगी अभ्युपगम चोरे निरन्तर उस मीठको देखनेके किये भेजा करता था, उसे बाग-बगीचोंमें घूमने फिरनेके किये भेजा करता था इस तरह राजा उसे सुख दिया करता था । एक रातको जब सब सोये हुए थे, उस समय मीठको अपने बाछ-बच्चोंकी पास आर्थ इतकिये वह पहँसि कुछ किये करे बिना एकाएक निकल पड़ा और अन्तर अपने कुटुम्बियोंसे मिला । उन सबोंने मिथकर पूछा कि व कहाँ था ! मीठने कहा बहुत सुखमें । वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने अनेक वस्तुयें देखीं ।

कुटुम्बी—परन्तु ये कैसी थी यह ता हमें कह ।

मीठ—क्या कहूँ, यहाँ कैसी एक भी वस्तु ही नहीं ।

कुटुम्बी—यह कैसे हो सकता है ! ये सब चीज कौनसे कौनसे सुंदर पडे है ! क्या वहाँ कोई ऐसी देखने अनेक वस्तु थी ?

मील—नहीं भर्त्स, ऐसी चीज तो यहाँ एक भी नहीं। उनके सीर्य अथवा इनारों मागतककी भी मनोहर चीज यहाँ कोई नहीं।

कुटुम्बी—तो तु पुष्पाप कैता रह। तुसे भमणा हुई है। मला इससे अच्छा और क्या होगा ? हे गौतम ! जैसे पह मील खन-बैमबके सुस भोगकर आया था, और उन्हें जानता भी था, फिर भी उपमाके योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ नहीं कह सकता था, इसी तरह अनुपमेय मोक्षको, सबिदलद स्वल्पमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असम्प्राप्तके भागको भी योग्य उपमाके न मिलनेसे मैं तुसे कह नहीं सकता।

मोक्षके स्वप्नमें शाका करनेवाले तो कुतर्कवाणी है। इनको क्षणिक सुखके विचारके कारण संसृष्टका विचार कबसे आ सकता है ? कोई आत्मिक-ज्ञानहीन ऐसा भी कहत है कि संसारसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमें नहीं रहता इसलिये इसमें जनत अप्याबाध सुख कह दिया है, इनका यह कपन विकल्पुक नहीं। निद्रा प्रत्येक मानवीको प्रिय है, परन्तु उसमें वे कुछ ज्ञान अपना देख नहीं सकते; और यदि कुछ ज्ञानमें आता भी है, तो वह केवल मिथ्या स्वप्नोपाधि जाती है। जिसका कुछ असर हो ऐसी स्वप्नरहित निद्रा जिसमें सूक्ष्म स्पृह सब कुछ ज्ञान और देख सकते हों, और निद्राविसे श्रान नीन छी जा सकती हो, तो भी कोई उसका वर्णन कैसे कर सकता है, और कोई इसकी उपमा भी क्या दे ? यह तो स्पृह द्रष्ट है, परन्तु बाधविकेकी इसके ऊपरसे कुछ विचार कर सकें इसलिये यह कहा है।

मीलका द्रष्ट समझानेक लिये माया-भेदके फेरफारसे तुम्हें कहा है।

७४ धर्मध्यान

(१)

मगबान्ते चार प्रकारके ध्यान बताये हैं—आर्त रीति, धर्म आर सुख। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य हैं। पीछेके न ध्यान आरम्भसार्थक हैं। सुतज्ञानके भेदोंका ज्ञानमेक लिये, शास्त्र-विचारमें कुशल होनेक लिये, निर्मल्य प्रवचनका तत्त्व पानेके लिये, तत्पुरुषोंद्वारा सवा करने योग्य, विचारने योग्य आर ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद हैं। पहले चार भेदोंको कहता हूँ—
१ आगाविचय (आह्वाविचय) २ अपाविचय (अपायविचय) ३ विपाविचय (विपाक-विचय) ४ सगणविचय (सस्थानविचय) । १ आह्वाविचय—आह्वा अर्थात् सर्वज्ञ मगबान्ते धर्म तत्त्वसञ्चयी जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है उसमें शाका करना योग्य नहीं। कावकी हीनतासे उत्तम ज्ञानके विच्छेद होनेक, सुदृष्टि मरतासे अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारणसे मरी समझमें ये तत्त्व नहीं आते परन्तु अहस्त मगबान्ते अरामात्र भी मायापुष्ट अपना असत्य नहीं कहा, कारण कि वे नीतरागी, त्यागी और निरदृष्टी थे। इनकी मृषा कहनका कोई भी कारण न था। तथा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होनेक कारण अज्ञानस मी वे मृषा नहीं कहेंगे। अहाँ अज्ञान ही नहीं वहाँ तत्संबंधी मृषा कहींसे हो सकता है। इस प्रकार चिंतन करना 'आह्वाविचय' नामका प्रथम भेद है। २ अपायविचय—एमा देय काम, शोभ इत्यादिसे जीवको जो दुःख उत्पन्न होता है उसमें इस भयमें भटकना पड़ता है। इसका चिंतन करना 'अपाविचय' नामका दूसरा भेद है। अत्रापक अर्थ दुःख है। ३ विपाक-

विषय—मैं धन धनमें जो जो दुःख सहन कर रहा हूँ, महाशयमें पर्यटन कर रहा हूँ, ध्यान आदि प्रसन्न कर रहा हूँ, यह सब कर्मोंके फलसे उदयसे है—ऐसा चितवन करना धर्मबोध नामका तीसरा कर्मविषयकचितवन भेद है। ४ संन्यासविषय—तीन लोकका स्वरूप चितवन करना। लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठितके आकारका है। बीच अर्धसे सर्वत्र भरपूर है; यह असंख्यात योजनकी कोट्यनुकोटिसे तिरछा लोक है। इसमें असंख्यातो हीपसमुद्र है। असंख्यातो ग्योतिषी, मचनबासी, व्यंतरो आदिका इसमें निवास है। उत्पन्न, व्यस और प्रीत्यकी मिश्रिता इसमें छाती हुई है। अर्ध हीपमें अल्प तीर्थकर बीस और उत्पन्न एकसी सत्तर होते हैं। जहाँ ये तथा केवली भगवान् और निर्धन मुनिराज निचरते हैं, उन्हें "वामि नमस्तामि, सकारेमि, समागेमि, कछाण, मगळ, देवय चेद्य, पशुवामासि" करता हूँ। इसी तरह यहाँके रहनेवाले आत्म-आधिकारोंका गुणगान करता हूँ। उस तिरछे लोकसे असंख्यातगुना अधिक कर्मभेद है। यहाँ अनेक प्रकारके देवताओंका निवास है। इसके ऊपर ईश्वर प्राप्तता है। उसके ऊपर मुक्ततामें विराजती है। उन्हें 'वामि यावत् पशुवामासि' करता हूँ। उस कर्म-लोकसे भी कुछ विशेष अचोखेक है। उसमें अनन्त दुःखोंसे मग्न हुआ नरकवास और मुचनपतियोंके मुचन आदि हैं। इन तीन लोकके सब स्थानोंको इस आत्माने सत्यस्वरूपित क्रियासे अनन्तवार जन्म-मरणसे स्पष्ट किया है—ऐसा चितवन करना संन्यासविषय नामक धर्मबोधनाम चौथा भेद है। इन चार भेदोंको निवारकर सम्बन्धसहित भुत और चारित्र धर्मकी आराधना करनी चाहिये जिससे यह अनन्त जन्म-मरण दूर हो। धर्मबोधनाके इन चार भेदोंको स्मरण रक्षना चाहिये।

७५ धर्मबोधना

(२)

धर्मबोधनाके चार लक्षणोंको कहता हूँ। १ आत्मरूपि—अर्थात् भीतराग भगवान्की आत्मा आत्मिकार करनेकी रूपि उत्पन्न होगी। २ निरुद्धरूपि—आत्मका अपने स्वामात्मिक जातिस्मरण आदि ज्ञानसे मुक्तसहित चारित्र-धर्मको धारण करनेकी रूपि प्राप्त करना उसे निरुद्धरूपि कहते हैं। ३ सूत्ररूपि—मुक्तज्ञान और अनन्त तत्त्वके भेदोंके स्थिती कहे हुए भगवान्के पवित्र बचनोंका जिनमें गौतम हुआ है, ऐसे सूत्रोंको श्रवण करने, मनन करने और मानसे पठन करनेकी रूपिका उत्पन्न होना सूत्ररूपि है। ४ उपदेशरूपि—ज्यासे उपार्जित कर्मोंको हटाने ज्ञानसे कर्मात्में और ज्ञानसे नये कर्मोंको न बौद्धि मिथ्यात्वके द्वारा उपार्जित कर्मोंको सम्यक्भावसे कर्मात्में और सम्यक्भावसे नये कर्मोंको न बौद्धि अवेद्यत्वसे उपार्जित कर्मोंको वेद्यत्वसे कर्मात्में और वेद्यत्वसे नये कर्मोंको न बौद्धि कर्मात्में उपार्जित कर्मोंको कर्मात्में दूर करके कर्मात्में और क्षमा आदिसे नये कर्मोंको न बौद्धि आशुम योगसे उपार्जित कर्मोंको शुभ योगसे कर्मात्में और शुभ योगसे नये कर्मोंको न बौद्धि पौनः इन्द्रियोंके स्वरूप आत्मसे उपार्जित कर्मोंको संवरसे कर्मात्में और उपकरण (इन्द्रिय) संवरसे नये कर्मोंको न बौद्धि—इसके स्थिती ज्ञान आदि आत्म-मार्ग छोड़कर ज्ञान आदि संवर-मार्ग ग्रहण करनेके स्थिती तीर्थकर भगवान्को उपदेशको सुननेकी रूपिके उत्पन्न होनेको उपदेशरूपि कहते हैं। धर्मबोधनाके ये चार लक्षण कहे।

धर्मबोधनाके चार आत्मन कहता हूँ—१ वाचना २ पृच्छना, ३ पठनार्जना, ४ धर्मरूपि

१ वाचना—नियम सहित निर्भर तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सूत्र-सिद्धांतके मर्म जानने वाले गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्रतत्त्वके अभ्यास करनेको, वाचना आख्यान कहते हैं।
 २ पृच्छना—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिये विनेश्वर भगवान्‌के मार्गको णिधाने तथा शका-शम्भयको निवारण करनेके लिये, तथा दूसरोंके तत्त्वोंकी मध्यस्थ परीक्षाके लिये यथायोग्य विनयसहित गुरु आदिसे प्रश्नोंके पूछनेको पृच्छना कहते हैं। ३ परावर्चना—पूर्वमें जो विमलापित सूत्रार्थ पढ़ हो उन्हें स्मरणमें रखनेके लिये और निर्भरके लिये कुछ उपयोगसहित कुछ सूत्रार्थकी बारंबार समझाव करना परावर्त्तना आख्यान है। ४ धर्मकथा—श्रीतराम भगवान्‌ने जो भाव जैसा प्रणीत किया है, उस भावको उसी तरह समझकर, प्रह्वणकर, विशेष रूपसे निश्चय करके, शका कांक्षा विरतिगिच्छासहित अपनी निर्भरके लिये सामने उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करना, जिससे सुननेवाले और श्रद्धा करनेवाले दोनों ही भगवान्‌की आज्ञाके आराधक हों, उसे धर्मकथा आख्यान कहते हैं। ये धर्मप्यानके चार अख्यान कहे। अब धर्मप्यानकी चार अनुप्रेक्षाएँ कहता हूँ—१ एकत्वानुप्रेक्षा, २ अनित्यत्वानुप्रेक्षा, ३ अशरणानुप्रेक्षा, ४ ससत्त्वानुप्रेक्षा। इन चारोंका उपदेश बाह्य भावनाके पाठमें कहा जा चुका है। यह तुम्हें स्मरण होगा।

७६ धर्मप्यान

(३)

धर्मप्यानको पूर्व आचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस प्यानसे महमा मुनित्वभावमें निरंतर प्रवेश करती जाती है।

जो जो नियम कर्पात्त भेद, लक्षण, आख्यान और अनुप्रेक्षा कहे हैं, वे बहुत मनन करने योग्य हैं। अन्य मुनीश्वरोंके कहे अनुसार मैंने उन्हें सामान्य भाषामें तुम्हें कहा है। इसके साथ निरंतर प्यान रखनेकी आवश्यकता यह है कि इनमेंसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया, अथवा कौनसे भेदकी ओर भावना रखी है। इन सोलह भेदोंमें हर कोई हितकारी और उपयोगी है, परन्तु जिस अनुक्रमसे उन्हें प्रह्वण करना चाहिये उस अनुक्रमसे प्रह्वण करनेसे वे विशेष लाभ-कारके कारण होते हैं।

बहुतेरे लोग सूत्र-सिद्धांतके अभ्ययन कटस्थ करते हैं। यदि वे उनके अर्थ, और उनमें कहे मूल-तत्त्वोंकी ओर प्यान दें तो वे कुछ सूत्र भेदोंको पा सकते हैं। वैसे केवले एक पत्रमें दूसरे और दूसरोंमें तीसरे पत्रकी चमत्कृति है, वैसे ही सूत्रार्थमें भी चमत्कृति है। इसके ऊपर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयालय मार्गिक श्रीतराम-प्रणीत तत्त्वबोधका बीज अंत-करणमें अंकुरित होगा। यह अनेक प्रकारके शास्त्रात्मकोक्तसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारस और सत्पुरुषोंके समागमसे पोषण पाकर वृद्धि होकर वृक्षरूप होगा। यह पंडित निर्भर और आत्म-प्रकाशरूप फल देगा।

ध्यान, मनन और निश्चिन्त्यासनके प्रकार वैराग्यियोंमें भी बताये हैं। परन्तु जैसे इस धर्मप्यानके प्रथम् प्रथम् सोलह भेद यहाँ कहे गये हैं वैसे तत्त्वपूर्वक भेद अप्यत्र कहाँ पर भी नहीं कहे गये, यह अपूर्व है। इसमेंसे शास्त्रोक्त श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अभ्यासको बोध करनेका, शका कांक्षा हर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका,

वैराग्य पानेका, संसारके अनंत दुःख मनन करनेका और बीतराग भगवन्तकी आज्ञासे समस्त लोका-
लोकाका विचार करनेका अर्पण उत्साह मिळता है। मेरा मेरेसे इसके और अनेक भाव समझाये हैं।

इसमें कुछ भावोंके समझनेसे तप, शक्ति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

हुम क्लेशविह्वल सोखे मेरेका पठन कर गये होंगे तो भी फिर फिरसे उसका पुनरावर्तन करना।

७७ ज्ञानके संबंधमें दो पाद्य

(१)

जिसके हाथ बहुतका स्वरूप ज्ञाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान शब्दका यही अर्थ है।
अब अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करना है कि क्या इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है? यदि आवश्यक
है तो उसकी प्राप्तिके क्या साधन हैं? यदि साधन हैं तो क्या इन साधनोंके अनुसार इन्द्रिय, देश,
काल और भाव मौजूद हैं? यदि देश, काल आदि अनुपस्थित हैं तो वे क्यों एक अनुपस्थित हैं? और
विशेष विचार करें तो इस ज्ञानके किन्तने भेद हैं? ज्ञानने योग्य क्या है? इसके भी कितने भेद हैं?
ज्ञाननेके कौन कौन साधन हैं? किम किम मार्गसे इन साधनोंको प्राप्त किया जाता है? इस ज्ञानका
क्या उपयोग अथवा क्या परिणाम है? ये सब बातें ज्ञानना आवश्यक है।

१. ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? पहले इस विषयपर विचार करते हैं। यह आत्मा इस
पौष्टिक राज्य प्रमाण लोकमें चारों गतिधामों अनाविच्छिन्नसे कर्मसंज्ञित स्थितिमें पर्यटन करती है। जहाँ
क्षममर भी सुखका भाव नहीं ऐसे नरक निगोद आदि स्थानोंको इस आत्माने बहुत बहुत काफ़तक
बारम्बार सेवन किया है; अतएव बुद्धिको पुन पुन और कबो तो अगतोत्तार सहन किया है। इस
संतापसे निरतत सतत आत्मा केवल अपने ही कर्मोंके विषयसे घूमा करती है। इस घूमनेका कारण
अनंत दुःख भेदबोधे ज्ञानावर्णीय आदि कर्म हैं; जिनके कारण आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर
सकती और विषय आदि मोहके बंधनको धरना स्वरूप मान रही है। इन सबका परिणाम केवल
उपर कहे अनुसार ही होता है अर्थात् आत्माको अनन्य दुःख अगत भावोंसे सहन करने पड़ते हैं।
कितना ही अग्रिय, कितना ही सेरगम्य और कितना ही तीव्र होनेपर भी जो दुःख अनंत कावसे
अनतवार सहन करना पड़ा, उस दुःखको केवल अज्ञान आदि कर्मों ही सहन किया, इसलिये ज्ञान
आदिको दूर करनेके लिये ज्ञानकी अवश्य आवश्यकता है।

७८ ज्ञानके संबंधमें दो पाद्य

(२)

२. अब ज्ञान-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें कुछ विचार करें। अर्पण पर्याप्तिके परिपूर्ण आत्म-ज्ञान
मिष्ट नहीं होगा इस कारण यह पर्याप्तियोंसे युक्त देह ही आत्म-ज्ञानकी सिद्धि कर सकती है। ऐसी
देह एक मानव-देह ही है। यही प्रश्न उठेगा कि जिन्होंने मानव-देहको प्राप्त किया है ऐसी अनेक
आत्माएँ हैं तो वे सब आत्म-ज्ञानको क्यों नहीं प्राप्त करती? इसके उत्तरमें हम यह मान सकते हैं कि
जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म-ज्ञानको प्राप्त किया है उनके पवित्र ब्रह्मात्म्यकी उन्हीं श्रुति मही होती। अस्तिके
विना संस्कार नहीं, और यदि संस्कार नहीं तो फिर अज्ञा कबसे हो सकती है? और जहाँ इनमेंसे

एक भी नहीं बहो ज्ञान-प्राप्ति भी किसकी हो ? इसलिये मानव-देहके साथ साथ सर्वज्ञके वचनामृतकी प्राप्ति और उसकी ग्रहण भी सामान्य है । सर्वज्ञके वचनामृत अकर्मभूमि अथवा केवल अनार्यभूमि नहीं मिलते, तो बहो मानव-देह किस कामका ? इसलिये कर्मभूमि और उसमें भी आर्यभूमि — यह भी सामान्य है । तत्त्वकी ग्रहण उत्पन्न होनेके लिये और ज्ञान होनेके लिये निर्मल्य गुरुकी आश्रयकता है । इससे जो कुछ मिश्रणकी है, उस कुछमें अम ज्ञान भी आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिमें हानिरूप में होता है । क्योंकि धर्ममत्तमेव आश्रय दुःखदायक है । परंपरासे पूर्वजोंके द्वारा ग्रहण किये हुए दशन ही सत्य मान्य होने लगते हैं । इससे भी आत्म-ज्ञान रुकता है । इसलिये अष्टम कुछ भी आश्रयक है । यह सब प्राप्त करने जितना मायशास्त्री होनेमें सपुण्य अर्थात् पुण्यानुबन्धी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन हैं । यह दूसरा साधन मेरा कहा ।

२ यदि साधन है तो क्या उनके अनुकूल देश और काल है, इस सीसरे मेदका विचार करें । भारत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उनमें भी आर्यभूमि देशरूपसे अनुकूल हैं । विज्ञान भव्य ! तुम सब इस समय भारतमें हो, और भारत देश अनुकूल है । काल मावकी अपेक्षासे मति और क्षुद्रज्ञान प्राप्त कर सकनेकी अनुकूलता भी है । क्योंकि इस दुःख पंचमकालमें परमावधि, मन-पर्यव और केवल ये पवित्र ज्ञान परम्परा आश्रयके अनुसार बिच्छेद हो गये हैं । सापेक्ष यह है कि कावकी परिपूर्ण अनुकूलता नहीं ।

३ देश, काल आदि यदि कुछ भी अनुकूल हैं तो ये कहाँ तक हैं ? इसका उत्तर यह है कि अवशिष्ट सैद्धांतिक मतिज्ञान, भुक्तज्ञान, सामान्य मतसे ज्ञान, कावकी अपेक्षासे इसीसे हजार वर्ष योग्य ; इनमेंसे अर्द्ध हजार वर्ष बीत गये, अब साढ़े अठारह हजार वर्ष बाकी हैं, अर्थात् पंचमकालकी पूर्णतत्त्व कावकी अनुकूलता है । इस कारणसे देश और काल अनुकूल हैं ।

७९ ज्ञानके सर्वधर्म दो शब्द

(१)

अब विशेष विचार करें ।

१ आश्रयकता क्या है ? इस मुख्य विचारपर अब और गंभीरतासे विचार करें तो मान्य होगा कि मुख्य आश्रयकता तो अपनी स्वस्व-स्थितिकी भणी बनना है । अनन्त दुःखका नाश, और दुःखके नाशसे आरमाके श्रेयस्कर सुखकी सिद्धि यह हेतु है, क्योंकि आमाको सुख निरन्तर ही प्रिय है । परन्तु यह सुख यदि स्वस्वस्वक सुख हो तभी प्रिय है । देश कावकी अपेक्षासे ग्रहण ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आश्रयकता, और सम्यग् मावसहित उच्चगति, बहोसे महाविदेहमें मानवदेहमें अम, बहो सम्यग् मावकी और भी उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विद्युत्ता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन, ज्ञान और उसका सत्य परिणाम, सम्पूर्णरूपसे सब दुःखोंका अभाव अर्थात् अमर, अनुपम, अनन्त शाश्वत, पवित्र मोक्षकी प्राप्ति — इन सबके लिये ज्ञानकी आश्रयकता है ।

२ ज्ञानके कितने मन् हैं, तत्त्वबन्धी विचार कहाँ हैं । ज्ञान ज्ञानक अमर मेद है ; परन्तु सामान्य दृष्टिसे समझनेके लिये सर्वत्र भगवत्प्रेमसे मुख्य पौष भेद कहे हैं, उन्हें ज्यों का त्यों कहा

हैं—पहला मति, दूसरा भुत, तीसरा अवधि, चौथा मन-पर्यव और पाँचवाँ सम्पूर्णस्वरूप केवल । इनके भी प्रतिभेद हैं और उनके भी अतीन्द्रिय स्वरूपसे अनन्त भगवाण हैं ।

२ ज्ञानने योग्य क्या है ? जब इसका विचार करें । वस्तुके स्वरूपको जाननेका नाम ज्ञान है; तब वस्तु तो अनंत हैं, इन्हें किस पंक्तिसे जानें ? सर्वज्ञ होनेपर ये संपुष्ट स्रष्टृवृत्तसे अनन्त वस्तुओंके स्वरूपको सब भेदोंसे जानते और देखते हैं, परन्तु उन्होंने इस सर्वज्ञ पदवीको किन किन वस्तुओंके जाननेसे प्राप्त किया ? जबतक अनन्त भोगियोंको नहीं जाना तबतक किस वस्तुको जानते जानते ये अनन्त वस्तुओंको अनन्तरूपसे जान पावेंगे ? इस शक्यता अब समझान करते हैं । जो अनन्त वस्तुयें मानी हैं वे जगत भोगीको अपेक्षासे हैं । परन्तु मुख्य वस्तुत्वकी दृष्टिसे उसकी दो भेदियाँ हैं—जीव और अजीव । विशेष वस्तुत्व स्वरूपसे नौ तरह अथवा छह द्रव्यकी भेदियाँ मानी जा सकती हैं । इन पंक्तिसे चढ़ते चढ़ते सर्व मानसे हाट होकर कोकरोकोके स्वरूपको हस्तान्तरणकी तरह जान और देख सकते हैं । इसीसे जानने योग्य पदार्थ तो केवल जीव और अजीव हैं । इस तरह जाननेकी मुख्य दो भेदियाँ कहें ।

८० ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(१)

१ इनके उपभेदोंको संक्षेपमें कहता हूँ । 'जीव' चैतन्य उभयपक्षोंसे एकरूप है । देहस्वरूपसे और द्रव्यरूपसे अनन्तान्त है । देहस्वरूपसे उसके इन्द्रिय आदि जानने योग्य हैं उसकी गति, विगति इत्यादि जानने योग्य हैं उसकी ससर्ग अग्नि जानने योग्य है । इसी तरह 'अजीव' के कपी कसूरी पुच्छ बाकशा आदि विचित्रमात्र काकषाक इत्यादि जानने योग्य हैं । प्रकाशरूपसे जीव, अजीवको जाननेके लिये सर्वज्ञ सर्वेश्वर ही नौ अणिरूप नव तत्त्वको कहा है —

जीव अजीव पुण्य पाप, आकाश, सार, निर्बरा वन और योद्ध ।

इनमें कुछ प्रमाण करने योग्य और कुछ ज्ञानने योग्य हैं । ये सब तत्त्व ज्ञान योग्य तो हैं ही ।

५ जाननेके साधन । यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान लिया है फिर भी कुछ विशेष विचार करते हैं । भगवान्की आज्ञा और उसके द्वारा स्वरूपको यथार्थरूपसे जानना चाहिये । स्वयं तो कोई निरले ही जाते हैं । तभी तो इस निर्भ्र-प्राप्ती गुरु कहा सकते हैं । धमाहीन ज्ञाता सर्वोत्तम है । इसीसे भगवाण जीव रोपण करनेवाला अथवा उसे पोषण करनेवाला गुरु केवल साधनरूप है । इन साधन आदिके लिये संसारकी निवृत्ति अर्थात् काम दम अकार्य आदि अन्य साधन हैं । इन्हें साधनोंको प्राप्त करनेका मार्ग कहा अथ तो भी ठीक है ।

६ इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय समझ आ गया है; परन्तु काबमेदसे कुछ कहना है और वह इतना ही कि शिर्षमें दो भविका वस्तु भी नियमितरूपसे निकलकर विनेश्वर भगवान्के कहे हुए लक्षोपदेशकी पर्यटना करो । नीतरागके एक वैज्ञानिक शब्दसे ज्ञानावर जीवका बहुत क्षोभकाम होगा ऐसा मैं निश्चित कहता हूँ ।

८१ पंचमकाश

काशवक्त्रके विचारोंको अल्प ज्ञानना चाहिये । श्री विनेश्वरने इस काशवक्त्रके दो मुख्य भेद कहे

हैं—उत्सर्पिणी और जम्बसर्पिणी । एक एक भेदके छह छह आरे हैं । ज्ञान कठका चार आर पंचमकाण्ड कहलाता है, और यह जम्बसर्पिणी का कठका पोंचपा आर है । जम्बसर्पिणी उतरते हुए काठको कहते हैं । इस उतरते हुए काठके पोंचपे आरमें इस भरतक्षेत्रमें कैसा आचरण होना चाहिये इसके धिये स्तुपुरुषेति कुछ विचार बताये हैं, उन्हें जम्बस ज्ञानना चाहिये ।

इहंति पंचमकाण्डके स्वरूपको मुख्यरूपसे इस प्रकारका बताया है । निर्मय प्रबचनके ऊपरसे मनुष्योंकी भ्रष्टा क्षीण होती जावेगी । धर्मके मूलतत्त्वोंमें मत्तमतासेतोंकी वृद्धि होगी । पाण्डवी और प्रपची मतोंका मदन होगा । जन्म-समूहकी रुचि अधर्मकी और फिरेगी । स्वयं और दया भीम भीम परमवको प्राप्त होंगे । मोक्ष आदि त्योंकी वृद्धि होती जायगी । दम्भी और पापिष्ठ गुरु पूज्य होंगे । दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने घरमें सफल होंगे । मीठे किन्तु घूर्तवत्त्व पवित्र माने जायेंगे । दुष्ट ब्रह्मचर्य आदि शीघ्रसे मुक्त पुरुष मस्तिन कहलावेंगे । आत्म-ज्ञानके भेद नष्ट होने जायेंगे । हेतुहीन क्रियाएँ बढ़ती जायेंगी । अज्ञान क्रियाका बहुधा सेवन किया जायगा । व्याकुल करनेवाले विषयोंके साधन बढ़ते जायेंगे । एकलव्यादी पक्ष सत्तावीश होंगे । शृंगारसे धर्म माना जावेगा ।

सबे धर्मियोंका बिना भूमि शोकेसे पीड़ित होगी । निर्मल्य राजवंशी वैश्याके विद्वत्त्वमें मोक्षको प्राप्त होंगे धर्म, कर्म और सखी राजनीति भूख जायेंगे, अग्न्यापकी जन्म देंगे, जसे हृष्टा जावेगा कैसे प्रजाको हूँगे स्वयं पापिष्ठ आचरणको सेवककर प्रजासे उन आचरणोंका पाछन कएवेंगे । राजवंशके नामपर शून्यता आती जायगी । नीच धर्मियोंकी मद्रा बढ़ती जायगी । ये छोरा दीन प्रजाको चूसकर मडार मरनेका राजाको उपदेश देंगे शीघ्र-भग करनेके धर्मको राजाको अगीकार कएवेंगे शौर्य आदि सद्गुणोंका नाश कएवेंगे मृगया आदि पापोंमें अब बनवेंगे । रम्पाबिकादी अपने अधिकारसे हजार गुना बहकार रनवेंगे । ब्राह्मण काष्ठकी और छोभी हो जायेंगे सद्विषाको छुपा देंगे सत्तारी सावनोको बर्म ठहरवेंगे । वैश्य लोग मायावी सर्वपा स्थायी और कठोर हृदयके होते जायेंगे । समग्र मनुष्यवर्गकी सद्गुणियाँ घटी जायेंगी । अहंता और मयकर हृदय करनेसे उनकी रुचि नहीं रुकेगी । विवेक, नियम, सरब्धता इत्यादि सद्गुण घटते जायेंगे । अनुकंपाका स्थान हीनता के छेगी । माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम बढ़ेगा । पिताकी अपेक्षा पुत्रमें प्रेम बढ़ेगा । पातिव्र्यकी नियमसे पाछनेवाली सुंदरियाँ घट जायेंगी । स्थानसे पवित्रता मानी जायगी । धनसे उत्तम कुछ गिना जायगा । शिष्य गुरुसे उछटा चवेंगे । भूमिका रस घट जायगा । संक्षेपमें कहनेका यावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता और कनिष्ठ वस्तुका उदय होगा । पंचमकाण्डका स्वरूप उक्त बातोंमेंका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है ।

मनुष्य सद्बर्तनत्वमें परिपूर्ण असाधन नहीं हो सकता, सम्पूर्ण और तत्त्वज्ञान नहीं पा सकता । अन्धूस्वामीके निर्वाणके बाद दस निर्वाणी वस्तुएँ इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छा हो गई ।

पंचमकाण्डका ऐसा स्वरूप ज्ञानकर विवेकी पुरुष तत्त्वका प्रब्रण करेंगे; काळादुस्वार धर्मतत्त्वकी भ्रष्टा प्राप्त कर उबगति साधकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेंगे । निर्मल्य प्रबचन, निर्मल्य गुरु इत्यादि धर्म तत्त्वके पानेके साधन हैं । इनकी आराधनसे धर्मकी विराधना है ।

८९ तत्त्वबोध

१

वैज्ञानिक दृष्टि से कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह बहुत समयमें कैसे स्थिर रह सकता है। इस वचनमृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनन्तताके स्वरूपको जानो, इसके ज्ञानकी अपर आवस्यकता है।

आत्मा अनन्तताका सत्य स्वरूप निर्मग्न प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन ११ तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे सत्य नहीं हैं। महाप्रज्ञान आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन उचित प्रकाशमेंसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह संपूर्ण आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्वाज्ञानकी शैली अनुपम और अनन्त मात्रामेंसे भरी है। इस शैलीको पूर्णपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं। फिर भी इनके वचनमृतके अनुसार आत्मिकी भावसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वोंका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय अन्तर्मात्रसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्मत्त और प्रामाणिक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें छोटीछोटी सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। मितनी जिसकी बुद्धिकी गति है उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचते हैं, और मात्राके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसको अनुभव करते हैं। मितका तत्त्वज्ञान उच्च और सूक्ष्म है, तथा जो धुंधलाधुंध तत्त्वज्ञानका अनुभव करते हैं वे पुरुष महान् भावशास्त्री हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें में कहा गया है। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञान आचार्योंके महान् प्रयोगोंसे व्यक्त जानना चाहिये क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष मतोंसे समझनेमें प्रज्ञान आचार्यों द्वारा विरचित ग्रन्थ सहायभूत है। ये गुरुमन्त्र भी हैं। तप, निश्चेष्ट और प्रमाणके भूत मन्त्रतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक है और उनका पर्याप्तज्ञान इन प्रज्ञावर्तोंमें बताया है।

८९ तत्त्वबोध

(२)

समस्त भगवान्ने छोटीछोटीके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा वह उनका उपदेश उद्घाटने मग्न भावोंको दिया। भगवान्ने अनन्त ज्ञानके द्वारा छोटीछोटीके स्वरूपविषयक अनन्त भाव ज्ञाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा भणी पहचान लिए उन्होंने मुख्य गुरु परार्पण बताया। इससे छोटीछोटीके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है। निर्मग्न प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वोंके दृष्टि मन्त्रमन्त्रमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस मन्त्रतत्त्व-विज्ञानका एक वशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनन्त शक्तियाँ हैं वे हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिए अर्द्ध भगवान्ने पवित्र उपदेश है। ये अनन्त शक्तियाँ उस समय प्रकट हो सकती हैं जब कि मन्त्रतत्त्व-विज्ञानका पर्याप्त ज्ञान हो जाय।

सूक्ष्म इन्द्रशक्ति ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका स्वरूप है, यह विषय विज्ञ प्रकाशसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निश्चयकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनन्त भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वशक्ति हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, श्रेय और उपादेय अथात् त्याग करने योग्य, ज्ञानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे ज्ञानकर हम क्या करेंगे ? जिस गौमें जाना नहीं है उसका नाम घूँछनेसे क्या प्रयोजन ?

उत्तर—गुह्यारी इस शाकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपञ्चोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको ज्ञाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना जा तो कभी अत्यात्म समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गौसे दूसरे गौमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गौएँ आते हों उनका रास्ता भी घूँछना पड़ता है। नही तो इस स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गौके घूँछनेपर भी उसमें टहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गौनोंको छोड़ते आते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ नवतत्त्वचर्चा

(१)

नवतत्त्वका काष्ठमण्डप जो स्रष्टृकृत शुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है, वे स्रष्टृकृत महापुण्यदात्री और चन्परादेके पात्र हैं। प्रत्येक सुख पुद्गलोंका येरा त्रिनयमात्म-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वका जयनी मुक्ति-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्‌के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपसृक्त-वर्गका कष्ट फिर गया। वे लोग केवल क्रियामार्गमें ही रम रहे, जिसका परिणाम इच्छाचार है। वर्तमान काष्ठमण्डप आपी पूर्ण त्रिपदीकी आवाजी समागम केद्वारा बकी गिनी जाती है। उसमें सब गण्डोंको मिठाकर त्रिनयन लोग कष्ट भीत छात्र हैं। ये छात्र श्रमणागतक हैं। इनमेंसे न अनुमान करता हूँ कि न। हजार पुद्गल भी मुक्तिपट्टसे नवतत्त्वको पहना जानने होंगे। मनन और विचारपूर्वक ज्ञानमार्ग पुद्गल ता उपाधियोंपर निरम छात्रक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि “सो म्याने एक मत” इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुद्गलक मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती। इसलिये तत्त्वतत्त्वचर्चा परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारक सर्वधर्म प्रत्येक मुनिपेसि मेरी विधि है कि वे विवेक और मुद्रगम्यताम इसके ज्ञानकी विचारणामुद्रा द्विदि करें, इसमें उनका परिणाम पाँच महाजन दृष्ट होंगे; त्रिनयनक बन्धनापृतक अनुपम आनन्दकी प्रमादी मित्रगी मुनिव आचार पात्रमेंसे मरन का जायगा; ज्ञान और त्रिपात्र विमुक्त रहनेसे नवतत्त्वका उद्भय भागा; और परिणाममें समागत अन होंगा।

८५ तत्त्वबोध

(४)

जो इच्छायासक्त नवतत्त्वको पहना भी नहीं जानते उन्हें उसे अवश्य जानना चाहिये । जान-
नके बाद बहुत मनन करना चाहिये । जितना समझमें आ सके, उतने गंभीर आशयको गुरुगम्यतासे
समझासे समझना चाहिये । इससे आत्म-ज्ञानकी उत्पत्ति होगी, और यमनियम आदिक बहुत
पायन होगा ।

नवतत्त्वका अग्निप्राय नवतत्त्व नामकी किसी सामान्य किन्हीं हुई पुस्तकसे नहीं । परन्तु जिस जिस
स्थल पर जिन जिन विचारोंको ज्ञानियोंने प्रणीत किया है वे सब विचार नवतत्त्वनेके किसी न किसी
एक, दो अपना विशेष तत्त्वके होते हैं । केवळी भगवान्ने इन श्रेणियोंसे सक्त जगदम्बल दिखा दिया
है । इससे जैसे जैसे नय आदिके भेदसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होगी वैसे वैसे अपूर्व आनन्द और
निर्मलताकी प्राप्ति होगी । केवल विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमादकी आवश्यकता है । यह नव तत्त्व-
ज्ञान मुझे बहुत प्रिय है । इसके रसालुनभी भी मुझे सदैव प्रिय है ।

काश्मेरसु इस समय सिर्फ मति और क्षुत् ये दो ज्ञान परतक्षेत्रमें निष्मल है, बाकीके तीन ज्ञान
व्यवच्छेद हो गये हैं; तो भी ज्यो ज्यो पूर्ण अज्ञासहित भावसे हम इस नवतत्त्वज्ञानके विचारोंकी गुफामें
उतरते जाते हैं त्यों त्यों उसके भीतर बहुत आत्मप्रकाश आनन्द, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरण, उत्तम
विनोद, गंभीर चमक और आश्चर्यचकित करनेवाले कुछ सम्यग्ज्ञानके विचारोंका बहुत अधिक उदय
करते हैं । स्वादादवचनमृतके अन्त सुंदर आशयोंके समझनेकी शक्तिके इस कक्षमें इस क्षेत्रसे
विच्छेद होनेपर भी उसका संबंधम जो जो सुंदर आशय समझमें आते हैं वे आशय व्यक्त ही गंभीर
तत्त्वसे भरे हुए हैं । यदि इन आशयोंको पुन पुन मनन किया जाय ता ये आशय अतीत-मतिके
बचल मनुष्यान्को भी सहजमें स्थिर कर देनेवाले हैं । साक्षात् यह है कि संशेपमें, सब प्रकारकी
सिद्धि, पवित्रता म्हाशक्ति सूक्ष्म और गंभीर निर्मल विचार स्वच्छ वैराग्यकी भेद, ये सब तत्त्वज्ञानसे
मिलते हैं ।

८६ तत्त्वबोध

()

एकबार एक समर्थ विद्वान्क माय निर्द्वय प्रवचनकी चमकसिके संबंधमें बातचीत हुई । इस
संबंधमें उस विद्वान्ने कहा कि इतना मैं जानता हूँ कि महाभीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष ये
उन्होंने जो उपदेश किया है उसे ग्रहण करके प्रकाश पुरुषाने जग उपांगकी योजना की है; उनके
जो विचार हैं वे अमरुतिम पूर्ण हैं । परन्तु इसके ऊपरसे इसमें छोटाछोटेका सब ज्ञान आ जाता है,
यह मैं नहीं कह सकता । ऐसा होनेपर भी यदि आज इस संबंधमें कुछ प्रमाण देते हों तो ये इस
बातपर कुछ धक्का कर सकता हूँ । इसके उत्तरमें मैंने यह कहा कि मैं कुछ तीनवचनमृतको यथार्थ
तो १५, परन्तु निधय मेड सहित भी नहीं जानता; परन्तु जो कुछ सामान्यव्यपस जानता हूँ इसके
ऊपरम भी प्रमाण अत्राप द सकता हूँ । आत्ममें नव-तत्त्वविज्ञानक संबंधमें बातचीत अभी । देने कहा

इसमें समस्त सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु उसे यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिये। उन्होंने इस कथनका प्रमाण मीमांसा में आठ कर्मोंके नाम लिये। इसका साथ ही यह सूचित किया कि इनके सिवाय इससे मित्र मानको दिखानेवाला आप कोई नौवां कर्म ढूँढ़ निकालें, पाप और पुण्य प्रवृत्तियोंके नाम लेकर मैंने कहा कि आप इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति ढूँढ़ दें। यह कहनेपर अनुत्तमसे बात चली। सबसे पहले जीवक भेद बताकर पूछा कि क्या इनमें आप कुछ म्यूनाधिक कहना चाहते हो? जीवक द्रव्यके भेद बताकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हैं? इसी प्रकार जब नवतत्त्वके संबंधमें बातचीत हुई तो उन्होंने थोड़ी देर विचार करके कहा, यह तो महावीरकी कहनेके अद्भुत चमत्कार है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता। इसी तरह पाप पुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रवृत्ति नहीं मिलती; तथा नौवां कर्म भी नहीं मिलता। ऐस ऐसे तत्त्वज्ञानक सिद्धांत जन दर्शनमें हैं, यह बात मेरे ध्यानमें न थी, इसमें समस्त सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछ अशोभे अक्षय्य आ सकता है।

८७ लक्ष्मणसौख्य

(६)

इसका उत्तर इस आरस यह दिया गया कि अमी आ आप इतना कहते हैं यह तमीतक कहत है जब तक कि जनधर्मके तत्त्व-विचार आपके ध्यानमें नहीं आये, परन्तु मैं मध्यस्थताय सत्य कहता हूँ कि इसमें जो विद्युद ज्ञान बताया गया है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है; आर सर्व मर्तेनि जो ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन 'याज्ञा' है, एकपक्षीय नहीं।

आरने कहा कि कुछ अशोभे सृष्टिका तत्त्वज्ञान इसमें अक्षय्य आ सकता है, परन्तु यह मित्र बचन है। हमारे समझनेकी अखड़तासे ऐसा अक्षय्य हो सकता है परन्तु इससे इन तत्त्वोंमें कोई अदूर्गता है, ऐसी बात तो नहीं है। यह कोई पञ्चगानयुक्त कथन नहीं। विचार करनेपर समस्त सृष्टिमें इसके सिवाय कोई दूसरा तत्त्व खोज करने पर कमी भी मिश्रनवत्ता नहीं। इस समयमें प्रसंग आने पर जब हम छोड़ोमें बातचीत आर मध्यस्थ चर्चा होगी तब समाधान होगा।

उत्तरमें उन्होंने कहा कि इसका उत्तरसे मुझे यह ता निष्कर्ष है कि जैनज्ञान एक अद्भुत दर्शन है। अतीवृक्ष आपन मुझे जब तत्त्वोंके कुछ भाग कहे हैं इससे मैं यह बेधक कह सकता हूँ कि महावीर गुणधर्मों पाये हुए पुण्य थे। इस प्रकार थोड़ीसी बातचीत करके "उपसमा" "निगमे वा पुत्रे वा यह छिपकाय उन्होंने मुझे कहा। यह कहनेके पश्चात् उन्होंने बताया कि इन शब्दोंके सामान्य अर्थमें ता कोई चमत्कारि शिष्य नहीं दली। उत्तर देनेवा नाग दाना आर अण्डाणा वगी इन तीन शब्दोंका अर्थ है। परन्तु श्रीमान् गणधर्मोंने तो ऐसा उद्देश्य लिया है कि इन कथनोंके मुख्यार्थमें अर्थय कर्मोंपर पण्यक मायिक शिष्योंके शारदाणीय आचरण ज्ञान आ जाता था। इनके त्रिप मैने कुछ विचार करके देगा भी, ता मुझे ऐसा मार्ग हुआ कि ऐसा ज्ञान अममय है; कथानि अपन मूल भाषा हुआ मैदानिक-ज्ञान इसमें बर्णन मया सकता है। इस मध्यमें क्या आप कुछ लक्ष्य परीक्षा करेंगे ?

८८ तत्त्वावबोध

(७)

उत्तरमें मैंने कहा कि इस कथनमें तीन मन्त्राङ्गोक्ता ग्राह्यमें विच्छेद हो गया है; ऐसा होनेपर मैं कोई सर्वत्र व्यपत्ता मन्त्राङ्गोक्ता नहीं हूँ तो भी मेरा जितना सामान्य कथन पहुँच सकेगा उतना पहुँचाकर कुछ समाधान कर सहेगा, यह मुझ संभव प्रतीत होता है। तब उन्होंने कहा कि यदि यह संभव हो तो यह त्रिपदी जीवपर “नास्ति” और “अस्ति” विचारसे कथ्य है। वह इस तरह कि जीव क्या उत्पत्तिरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या व्यपत्तिरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या ब्रौह्मरूप है? तो कि नहीं, इस तरह एक बार घटायें और दूसरी बार जीव क्या उत्पत्तिरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या व्यपत्तिरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या ब्रौह्मरूप है? तो कि नहीं ऐसे कथ्ये। ये विचार समस्त मंडलमें एकत्र करके योजित किये हैं। इस यत्नि परार्थ नहीं कह सकते तो अनेक प्रकारके दूषण वा सकते हैं। यदि वस्तु व्यपत्तिरूप हो तो वह भुवत्पत्ति नहीं हो सकती—यह पक्षी शक्य है। यदि उत्पत्ति व्यपत्ति और भुवत्पत्ति नहीं तो जीवका किन प्रमाणोंसे सिद्ध करेंगे—यह दूसरी शक्य है। व्यपत्ति और भुवत्पत्ति परस्पर विरोधाभास है—यह तीसरी शक्य है। जीव केवल भुवत्पत्ति उत्पत्तिमें अस्ति कहना व्यसत्य हो जायगा—यह चौथा विरोध। उत्पत्ति जीवको भुवत्पत्ति कहो तो उसे उत्पत्ति कहिये—यह पाँचवाँ शक्य और विरोध। इससे उक्त क्वादिपत्ता जाता रहता है—यह छठी शक्य है। केवल भुवत्पत्ति व्यपत्तिरूप है ऐसा कहो तो यह चार्वाक-मिथ्याचन हुआ—यह सातवाँ दोष है। उत्पत्ति और व्यपत्ति कहेंगे तो केवल चार्वाकता सिद्ध हो जायगी—यह आठवाँ दोष है। उत्पत्ति अमान व्यपत्ति अमान और भुवत्पत्ति अमान कहकर फिर तीनका अस्तित्व कहना—ये छह दोष। इस तरह मिथ्याकर सब चौदह दोष होते हैं। केवल भुवत्पत्ति निकाल देनेपर तर्ककारोंके बचन लङ्घित हो जाते हैं—यह पन्द्रहवाँ दोष है। उत्पत्ति भुवत्पत्ति अनेक कर्तृका सिद्ध होती है इससे सर्वत्रके बचन लङ्घित हो जाते हैं—यह सोलहवाँ दोष है। उत्पत्ति व्यपत्तिसे पत पृथक् वास्तविक अमान मानें तो वर्गवर्ग सकल व्यपत्ति हो जाता है—यह सत्रहवाँ दोष है। उत्पत्ति व्यपत्ति और सामान्य स्थितिसे (केवल व्यपत्ति नहीं) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है—यह अठारहवाँ दोष है।

८९ तत्त्वावबोध

(८)

इन कथनोंके सिद्ध न होनेपर इतने दोष आते हैं। एक जैन मुनिने मुझे और मेरे मित्र-मंडलमें ऐसा कहा था कि जैन सप्तमंगीनय अपूर्ण है और इससे सब परार्थ सिद्ध होते हैं। इसमें नास्ति अस्तित्वा अगम्य मेरा समिपिष्ट है। यह कथन सुनकर हम सब घर जाय फिर योजना करते करते इस समिपिकायको जीवपर घटायें। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार नास्ति अस्तित्वा दोनों मात्र जीवपर नहीं बन सकते। इससे समिपिकाय भी कथ्यशक्य हो जायेंगे। फिर भी इस और मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नहीं है।

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि आपने जो नास्ति और अस्ति कथनों जीवपर घटायेंगे विचार

किया है वह सनिश्रेय शैलीसे नहीं, अर्थात् कभी इसमें एकांत पक्षका ग्राहण किया जा सकता है । और फिर मैं कोई स्वाध्याय शैलीका यथार्थ जानकार नहीं, मनुष्यसिद्धि केधमात्र जानता हूँ । नास्ति अस्ति मयको भी आपने यथार्थ शैलीपूर्वक नहीं घटाया । इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुने ।

उत्पत्तिमें “नास्ति” की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि “जीव अनादि अनन्त है” । व्ययमें “नास्ति” की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि “इसका किसी कास्ममें नाश नहीं होता” ।

ध्रुवतामें “नास्ति” की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि “एक देहमें वह सँभले किये रहनेवाला नहीं” ।

०० तत्त्वानुसंधान

(०)

उत्पत्तिमें “अस्ति” की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि जीवको मोक्ष होनेतक एक देहमेंसे प्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है” ।

व्ययमें “अस्ति” की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि “वह जिस देहमेंसे जाया वहँसि व्यय प्राप्त हुआ, जयवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक शक्ति विषय आदि मरणसे रुकी हुई है, इस प्रकार व्यय बना सकते हैं ।

ध्रुवतामें “अस्ति” की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि “ब्रह्मकी अपेक्षासे जीव किसी कास्ममें नाश नहीं होता, वह त्रिकाल सिद्ध है ।

अब इससे अर्थात् इन अपेक्षाओंको ध्यानमें रखनेसे मुझे आशा है कि पिये हुए दोष दूर हो जायगा ।

१ जीव व्ययव्ययसे नहीं है इसलिये प्राप्ति सिद्ध हुआ—यह पहला दोष दूर हुआ ।

२ उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये मिला मिला पायेसे सिद्ध हैं अर्थात् जीवका स्वरूप सिद्ध हुआ—यह दूसरे दोषका परिहार हुआ ।

३ जीवकी सत्य स्वभावसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय मट्ट हुआ—यह तीसरे दोषका परिहार हुआ ।

४ ब्रह्ममात्रसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई—यह चौथा दोष दूर हुआ ।

५ जीव अनादि सिद्ध हुआ इसलिये उत्पत्तिस्वरूपी पौंचमी दोष दूर हुआ ।

६ उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्त्तृसंशय की छद्मे दोषका परिहार हुआ ।

७ ध्रुवताके साथ व्यय छेनेसे नाश नहीं आती, इसलिये चार्वाक-मिथ-वचन नामक सातवें दोषका निराकरण हुआ ।

८ उत्पत्ति और व्यय पूषक् पूषक् देहमें सिद्ध हुए इससे केवल चार्वाक सिद्धांत नामके आठवें दोषका परिहार हुआ ।

१४ शकाका परस्पर निरोधामास निकल जानेसे चौदह तकक सब दोष दूर हुए ।

१५ जनादि जनतता सिद्ध होनेपर त्यागद्वारा बचन सिद्ध हुआ यह पन्द्रहवें दोषका निराकरण हुआ ।

१६ कर्त्तृकि न सिद्ध होनेपर त्रिन-बचनकी सत्यता सिद्ध हुई इससे सोलहवें दोषका निराकरण हुआ ।

१७ वर्माभर्म, वेद व्याप्तिक पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवें दोषका परिहार हुआ ।

१८ ये सब बातें सिद्ध होनेपर त्रिगुणात्मक मायाके बसिद्ध होनेसे अठारहवें दोष दूर हुआ ।

०१ तत्त्वावधोष

(१०)

मुझे आशा है कि आपके द्वारा विचारकी हुई योजनाका इससे समाधान हुआ होगा । यह कुछ पर्याप्त शंका नहीं प्यार, तो भी इसमें कुछ न कुछ विनोद अल्प मिश्र सकता है । इसके द्वारा विशेष निवेदन करनेके लिए बहुत समयकी आवश्यकता है इसलिये अधिक नहीं कहता । परन्तु एक तो साक्षित बात आपसे कहानी है, तो यदि यह समाधान ठीक ठीक हुआ हो तो उनको कहूँ । नामें उनकी ओरसे सहायजनक उत्तर मिला, और उन्होंने कहा कि एक ठो बात जो आपको कहानी है उन्हें सवर्ण करो ।

नामें मैंने अपनी बातको संजीवित करके कम्बिके सचकी बात कही । यदि आप इस कम्बिके सचमें शंका करें अथवा इसे श्रेयस्कर कहें तो इन बचनोंके प्रति अन्याय होता है । इसमें अत्यन्त उच्चतम आभिकशक्ति गुणगम्यता और वैजयकी आवश्यकता है । जबतक यह नहीं तबतक कम्बिके विषय शक्य रहना निश्चित है । परन्तु मुझे आशा है कि इस समय इस सचमें जो शक्य करने निरर्थक नहीं होंगे । वे ये हैं कि जैसे इस योजनाको नास्ति अस्तिपर अत्यन्त गंभीर बैठे हैं । इसमें जो बहुत सूक्ष्म विचार करनेके हैं । एहमें ऐहकी पूषक् पूषक् उत्पत्ति, व्यवसाय, विधायन गर्माभान पर्याप्ति, इन्द्रिय, तथा ज्ञान मन्त्रा बाह्य नियम इत्यादि अनेक कर्मप्रवृत्तियोंको प्रत्येक क्षेत्रों सेनेपर जो विचार इस कम्बिके निकलते हैं वे अपूर्ण हैं । नहीतक जिसका ध्यान पहुँचता है वहैतक सब विचार करते हैं परन्तु श्रमार्थिक मत्कार्यिक मयसे समाप्त सुधिका ज्ञान इन तीन शब्दोंमें आ जाता है, उसका विचार कोई ही करते हैं यह जब सद्गुरुक मुसकी पत्रिक कम्बिकेसे प्राप्त हो सकता है तो फिर इससे आश्चर्या ज्ञान क्यों नहीं हो सकता । जगत्के कहते ही मनुष्यको एक घर एक बात एक गौ एक शहर एक देश एक खंड एक पृथिवी यह सब छोड़कर असंख्यात हीय समुद्रादिते मरपूर बहुबोध ज्ञान करते हो जाता है । इसका कारण केवल इतना ही है कि वह इस शब्दकी व्यापकताको समझे हुआ है अथवा इसका कल इसकी अमुक व्यापकतातक पहुँचा हुआ है जिससे जगत् शब्दके कहते हैं वह इतने बड़े मर्मको समझ जाता है । इसी तरह बहुत और सरल सरात्र शिष्य निर्मय गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यता प्रशस्कर आश्चर्या ज्ञान प्राप्त करते थे । इस प्रकार वह कम्बिके अन्वयता होनेपर भी निवेदने देसनेपर श्रेयस्कर नहीं है ।

१२ तत्त्वावबोध

(११)

यही नवतत्त्वके संबन्धमें है । जिस मध्यवर्षके क्षत्रिय-पुत्रने जगत् अनादि है ऐसे बेबड़क पकड़कर चर्चाका उड़ाया होगा उस पुरुषने क्या इसे कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा ? तथा इनकी निर्गोपताक विषयमें जब आप पढ़ेंगे तो निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे । कृता न था और जगत् अनादि था तो फसा उठने कहा । इनके निष्पक्ष और केवल तत्त्वमय विचारोंपर आपकी अवश्य मनन करना योग्य है । जनार्दनिक अवर्णवादी जैन दशानको नहीं जानते इससे वे इसके सत्य अन्याय करत हैं, वे ममत्वसे अधोगतिका प्राप्त होंगे ।

इसके बाद बहुतसी बातचीत हुई । प्रसंग पक्कर इस तत्त्वपर विचार करनका बचन डकार में सहर्ष बहसि उठा ।

तत्त्वावबोधके सबबमें यह कथन कहा । अनन्त भेगसि मर हुए थे तत्त्वविचार काउमन्से नितन ज्ञान आये उठने ज्ञानने चाहिये, नितन ग्रहण किये जा सकें उठन ग्रहण करने चाहिये, और नितन त्याग्य सिद्ध दें उठन त्यागने चाहिये ।

इन तत्त्वोंकी जो यथार्थ जानना है, वह अनन्त जगद्वृत्तसे विराजमान होता है, इसे सत्य समझना । इस नवतत्त्वके प्रमथार नाम रत्ननमें जीवकी मोक्षसे निकटताका आधा अभिप्राय सूचित होता है ।

१३ तत्त्वावबोध

(१२)

यह तो तुम्हारे ध्यानमें है कि जीव अजीव इस क्रमसे अन्तमें मोक्षका नाम आता है । अब इसे एकके बाद एक रखने जायें तो जीव और मोक्ष क्रमसे आदि और अन्तमें आचेंगे—

जीव, अजीव पुण्य, पाप, आत्मत्व, सत्त्व, निर्वाण, यज्ञ, मोक्ष ।

मन पकड़ें कहा था कि इन नामोंके रखनेमें जीव और मोक्षकी निकटता है, परन्तु यह निकटता ता न हुई किन्तु जीव और अजीवकी निकटता है । वस्तुतः ऐसा नहीं है । अज्ञानसे ही ता इन दोनोंकी निकटता है परन्तु ज्ञानसे जीव और मोक्षकी निकटता है, अस —



जब देखो, इन दोनोंमें कुछ निकटता है ? हाँ, निर्दिष्ट निकटता आ गई है। परन्तु यह निकटता तो श्रम्यकृपेसे है। जब भावसे निकटता आने लगी इससिद्धि होगी। श्रम्य-निकटताका साधन सपरमात्मता, सद्गुरुत्व, और सधर्मताको पहचानकर ग्रहण करना है। भाव-निकटता अपारि-केषक एक ही रूप होनेके श्रिय ज्ञान, श्रौत और चारित्र साधन रूप है।

इस पक्षसे यह भी आशंका हो सकती है कि यदि दोनों निकट है तो क्या बाकी रहे हुएको छोड़ दें ? उत्तरमें मैं कहता हूँ कि यदि सम्पूर्णतया त्याग कर सकते हो तो त्याग दो इससे मोक्षरूप ही हो जाओगे। नहीं तो इस द्वय और उपायका उपदेश ग्रहण करो, इससे आत्म-सिद्धि प्राप्त होगी।

०४ तत्त्वावबोध

(१३)

जो कुछ मैं कह गया हूँ वह कुछ कंचक जैनकुशमें जन्म पानेवालोंके श्रिय ही नहीं, किन्तु उसके श्रिये है। इसी तरह यह भी निःसंदेह मानना कि मैं जो कहता हूँ वह निष्पक्षपात और परमार्थ बुद्धिसे कहता हूँ।

मुझे तुमसे जो धर्मता कहना है वह पक्षपात अथवा स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मरा कुछ प्रयोजन नहीं। पक्षपात अपना स्वार्थसे मैं तुम्हें अधर्मताका उपदेश देकर अधोमातिकी सिद्धि क्यों करूँ ? बरम्बार तुम्हें मैं निर्ममके बचनामृतके श्रिय कहता हूँ, उसका कारण यही है कि मैं बचनामृत रूपमें परिपूर्ण हूँ। त्रिन्धयेक ऐसा कार्य भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे मैं मृदा अथवा पक्षपातयुक्त उपदेश देते, तथा वे बड़ानी भी न थे कि जिससे उनसे मृदा उपदेश दिया जाता। यहाँ हम शंका करोगे कि ये बड़ानी नहीं थे यह किस प्रमाणसे मान्य हो सकता है ? तो इसके उत्तरमें मैं इनके पत्र सिद्धांतोंके अध्ययन मन करनेको कहता हूँ। और ऐसा वा करंगा वह पुनः क्षण भी आशंका नहीं करेगा। जैनमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझ कोई राग बुद्धि नहीं है, कि जिससे पक्षपातवश मैं तुम्हें कुछ भी कह दूँ, इसी तरह अन्यमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई वैर बुद्धि नहीं कि मिया ही इनका खंडन करूँ। दोनोंमें मैं तो मरमति मध्यस्थ हूँ। बहुत बहुत मननस और मरि बुद्धि बर्होतक पौष्टीक बर्होतक विचार करनेसे मैं जैनपूर्वक कहता हूँ कि हे श्रिय मम्यो ! जैन दर्शनके समान एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नहीं; नीतरागके समान एक भी देव नहीं; शैरकरके अनन्त हुआ उस पार पना हो तो इस सर्वत्र दर्शनरूप अक्षय्यता सेवन करो।

०५ तत्त्वावबोध

(१४)

जैन दर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचार संकल्पनाओंसे भरा हुआ दर्शन है कि इसमें प्रवेश करने में बहुत समय चाहिये। ऊपर उपरसे अथवा किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे समुद्र बस्तुके स्रवसे अभिप्राय बना घना अथवा अभिप्राय दे देना यह विवेकीयोंका कर्तव्य नहीं। जैसे कोई तात्त्व्य कथा-कथ मरा हो उसका जल उपरसे समान मान्य होता है; परन्तु जैसे जैसे आगे बढ़ते जाते हैं जैसे जैसे अधिक अधिक गहराई जाना जाता है फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है। इसी तरह जगत्क सब धर्ममत एक तात्त्व्यके समान हैं उन्हें ऊपरसे सामान्य सपाट देखकर समान कह

देमा उचित नहीं। ऐसे कहनेवालोंने तत्त्वको भी नहीं पाया। जनदर्शनक एक एक पवित्र सिद्धांत ऐसे हैं कि उनपर विचार करनेमें आयु पूर्ण हो जाय तो भी पार न गिछे। अन्य सब धर्ममतोंके विचार विनम्रणीत वचनमृत-सिद्धि के आगे एक बिंदुके समान भी नहीं। जिसने जैनमतको जाना और सेवन किया, वह कबल भीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे! इसके सिद्धांत कैसे अखंड, सम्पूर्ण और दयामय हैं। इतने रूपण तो कोई है ही नहीं। सर्वथा निर्दोष तो केवल जैन दर्शन ही है। ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नहीं कि जो जनदर्शनमें न हो, और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो, एक विषयको अमर मेदोंसे परिपूर्ण करनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनमृत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। जैसे एक देखमें दो आम्हाएँ नहीं होतीं उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं। ऐसा कहनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, भीतरागिता, स्वयता और अग्राह्यविषयिता।

१६ तत्त्वावबोध

(१५)

न्यायपूर्वक इतना तो मुझे भी मानना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अणुता दिखानी चाहिये। परन्तु इन दोनों बातोंपर विवेचन करनेकी यहाँ जगह नहीं, तो भी थोड़ा थोड़ा कहना आया है। मुख्यरूपसे यही कहना है कि यह बात जिस रुचिकर माझ में होती हो अथवा असमझ लगती हो, उसे जैनतत्त्व-विद्वानों शास्त्रोंको और अन्यतत्त्व-विद्वानों शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसिद्धि मननकर न्यायके कौटिल्य पर तोड़ना चाहिये। इसके ऊपरसे अग्रद्वय इतना मझ बाक्य निकलेगा कि जो पहले ठीकी बात कहा गया था वही सच है।

जगत् मेधियावसुप्त है। धर्मके मतमें सबकी शिक्षापाठमें जैसा कहा था चुका है कि अनेक धर्ममतोंके जल फैल गये हैं। विशुद्ध आत्मा तो कोई ही होती है। विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है। इसलिये जनमतोंको अन्य दार्शनिक लोग क्यों नहीं जानते, यह बात संदे अथवा आश्चर्य करने योग्य नहीं।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि कबल कुछ परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकलरूपणउचित, मृदा कहनेका जिनके कोई विमित नहीं ऐसे पुरुषोंके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नहीं अपनी आत्माका जित तो किया नहीं परन्तु अविवेकसे मतमेदमें पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यों कहा? परन्तु ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनक तत्त्वको नहीं जानते थे। तथा इसके तत्त्वको जाननेसे अपनी अज्ञा जिग जानेगी, तो फिर लोग अपन पहले कहे हुए मतको नहीं मानेंगे, जिस दौलतिक मतक आधारपर अपनी आजीविता ठिकी हुई है, ऐसे मेद आदिकी महत्ता घटनेसे अपनी ही महत्ता घट जायगी; अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेस्वरपद नहीं चलेगा। इसलिये जनतन्त्रमें प्रवेश करनेकी रुचिकी मूलसे ही बर कलके लिये इन्होंने लोगोंको एसी भावना-पट्टी दी है कि जनदर्शन तो नास्तिक दर्शन है। लोग तो विचारों करणोंक मेड़के समान हैं इसलिये वे विचार भी कहसि करें। यह कहना किमना मृदा और अनर्थकारक है इस बातको वे

ही जान सकते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांत विवेकसे जामे है। संभव है, मेरे इस कहनेको मरुचि लोग पक्षपात मान बैठें।

९७ तत्त्वावबोध

(१६)

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलनेवाले एक मिथ्या इसीछसे जीतना चाहते हैं और यह यह है कि जैनदर्शन परमेस्वरको इस जगत्का कर्ता नहीं मानता, और जो परमेस्वरको जगत्कर्ता नहीं मानता वह तो नास्तिक ही है इसप्रकारकी मान की हुई बात मजिहजनोंको शीघ्र ही आछाती है, क्योंकि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु यदि इसके ऊपरसे यह विचार किया जाय कि फिर जैनदर्शन जगत्को बनादि अनंत किस न्यायसे कहता है? जगत्कर्ता न माननेका इच्छा क्या कारण है? इस प्रकार एकके बाद एक भेदरूप विचार करनेसे ये जैनदर्शनको पवित्रताको समझ सकते हैं। परमेस्वरको जगत् रचनेकी क्या आवश्यकता थी? परमेस्वरने जगत्को रचा तो कुछ बुझ बनानेका क्या कारण था? कुछ बुझको रचकर फिर मौतको किसछिये बनाया? यह सोचा उस किसकी बतानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहले रचनेकी इच्छा उसे क्यों न हुई? ईश्वर कौन है? जगत्क पदार्थ क्या है? और इच्छा क्या है? जगत्को रचा तो फिर इन्में एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी इस प्रकार अमजामे डाकनेकी क्या जरूरत थी? कदाचित् यह मानें कि यह उस विचारसे मूढ़ हो गई। होगी। खैर धमा करते हैं परन्तु ऐसी आवश्यकतासे अधिक बड़बन्दी उसे कहसि सुनी कि उसने अपनेको ही मूढ़से उखाड़नेवाले मूढ़ाचार जैसे पुरुषोंको जन्म दिया। इनके छोड़े हुए दर्शनको जगत्में क्यों मौजूद रखा? अपने पैरपर अपने हाथसे कुन्हाडा मारनेकी उस क्या आवश्यकता थी? एक तो मानो इस प्रकारके विचार, और अन्य दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्तकोंको क्या इससे कोई हेतु था? यदि जगत्का कर्ता होता तो ऐसा कहनेसे क्या इनके नामको कोई हानि पहुँचती थी? जगत्का कर्ता नहीं, जगत् बनादि अनंत है; ऐसा कहनेसे इनको क्या कोई मूढ़ता मिट जाती थी? इस प्रकारके अनेक विचारोंपर विचार करनेसे भास्य होगा कि जैसा जगत्का स्वरूप है उसे वैसा ही पवित्र पुरुषोंने कहा है। इसमें मिथ्याप्रसन्न कहनेको इनका उपायान्न ही प्रयोजन न था। सुझसे सुझ जगत्की रक्षाका जिसने विधान किया है एक राज-कणसे बकर समस्त जगत्के विचार जिसने सब भेदास्पक्षित कहे हैं, ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहलनेवाले किस गतिको पावेंगे यह विचारमेसे क्या जाती है।

९८ तत्त्वावबोध

(१७)

जो न्यायसे जय प्राप्त नहीं कर सकता वह पीछेसे गांधी देगे छगता है। इसी तरह पवित्र जैनदर्शनके असंख्य उपसिद्धांतोंका जब चौंकाराचार्य, व्यापानन्द सन्यासी गोरख ध्वज न कर सके तो फिर वे 'जैन नास्तिक' हैं सो चार्वाकमेंसे उलपन हुआ है — ऐसा कहने लगे। परन्तु पछों कोई प्रसन्न करे कि महाराज! यह विवेचन जय पीछेसे करे। इन शब्दोंको कहलने समय विवेक अपना

जनकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है, इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सशरीर कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बातमें जैनदर्शनसे बहुत हैं ? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मीनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सपुरुषोंके बचनानुसार और योगके बख्ते इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और मन्दाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शरीरमें रहे पथे पथे हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बहकत कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमस्वभावको पथे हुआको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं ? परन्तु अगर मोक्षसे बच है, जहाँ मतमें है वहाँ अंधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा रोग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये ?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। यह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी इष्टिमें आये वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र जाग्रत-वाकित्से जो योग्य मात्स्य हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको मझे ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

जैनदर्शनवास्तियोंने संसारके अनेक कलकौशलोंमें किस कारणसे विषय प्राप्त की है ? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मात्स्य होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मित्र जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलकौशलोंके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके श्राव स्थापित समा अपना समाजको क्या परिणाम मिला ? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि छद्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदात्तकरणके ऊपरसे इस जातिके कलकौशलोंकी छोम करनेका मैं नहीं उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वत्र भगवान्का कहा हुआ गुण तत्त्व प्रमाण-स्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्यकी रूचि हुए मन्त्र शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पथे हुए गच्छोंके मतमतान्तरको हटानेके लिये तथा धर्म-विषयोंको प्रपञ्चित करनेके लिये सन्नाचरणी श्रीमान् और भीमान् दोनोंको मित्रकर एक मन्त्र समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्थापनमण्डके हँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें आनेका अवसर प्रयत्न नहीं होता तबतक शास्त्रकी उपाधि भी नहीं होगी। संसारी कलकौशलोंसे छद्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलकौशलोंसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। मन्त्र समाजके अवर्गत्त उपसमानोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाणमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतान्तर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोके अवर्गत्त मतभेद दूर हो; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका छद्म आये और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विषय

बारम्बार जो उपदेश दिया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही सिद्धता है कि अपनाका

प्र — गुणस्थानक कितने हैं ?

उ — चौदह ।

प्र — उनमें के नाम कछिये ।

उ — १ मिथ्यात्वगुणस्थानक । २ सास्त्रात्मन (सास्त्रात्मन) गुणस्थानक । ३ मित्रगुणस्थानक । ४ अरक्षितगुणस्थानक । ५ देशविरतिगुणस्थानक । ६ प्रमत्तसंयमगुणस्थानक । ७ अप्रमत्तसंयमगुणस्थानक । ८ अयुक्तगुणस्थानक । ९ अनिष्टविनाशगुणस्थानक । १० सुखसंयमगुणस्थानक । ११ उपसंयमगुणस्थानक । १२ क्षीणमेधगुणस्थानक । १३ सयोगकेचकीगुणस्थानक । १४ अयोगकेचकीगुणस्थानक ।

१०४ विविध प्रश्न

(१)

प्र — केवली तथा तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अंतर है ?

उ — केवली तथा तीर्थंकर दृष्टिमें समान हैं, परन्तु तीर्थंकरने पछिछे तीर्थंकर नामकर्मका बंध किया है, इसलिये वे विशेषतमस बाह्य गुण और अनेक अविशेषोंसे प्राप्त करते हैं ।

प्र — तीर्थंकर धूम धूम कर उपदेश क्यों देते हैं ? वे तो वीतरागी हैं ।

उ — पूर्वमें बौद्ध हुए तीर्थंकर नामकर्मके वेदन करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐश्वर्य करना पड़ता है ।

प्र — आनन्दक प्रचक्षित शास्त्र किस्तथा है ?

उ — अमण मगवान् महावीरका ।

प्र — क्या महावीरसे पहले वैतर्हान था ?

उ — हाँ, था ।

प्र — उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ — उनके पहलेके तीर्थंकरोंने ।

प्र — उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है ?

उ — उत्पद्यिसे एक ही हैं । मिल मिल पात्रको लेकर उगता उपदेश होनेसे और कुछ कर्मने होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य महसूस होती है, परन्तु व्यापसे देखनेपर उसमें कोई भिन्नता नहीं है ।

प्र — इसका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ — उनका उपदेश यह है कि आत्मका उद्धार करो, आत्मका अनंत शक्तियोंका प्रकाश करो और इसे कर्मरूप बनात दुःखसे मुक्त करो ।

प्र — इसमें किये उन्होंने कौनसे साधन बताये हैं ?

उ — स्वच्छाचार नपसे सर्वत्र सद्गुरु और सद्गुरुका स्वरूप जानना; सर्वत्र गुणगान करना; तीन प्रकारके धर्मका आचरण करना; और निर्मल्य गुहसे धर्मका स्वरूप समझना ।

प्र — तीन प्रकारका धर्म कौनसा है ?

उ — सम्यग्ज्ञानरूप सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारिरूप ।

१०५ विविध प्रश्न

(४)

प्र — ऐसा जैनदर्शन यदि सर्वोत्तम है तो सब जीव इसके उपदेशको क्यों नहीं मानते ?

उ — कर्मकी बाहुल्यतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए मछसे और सम्प्रसागमके अभावसे ।

प्र — जैनदर्शनके मुनियोंका मुख्य आधार क्या है ?

उ — पौंच महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्रह प्रकारका सयम, दस प्रकारका वैषाद्य, नव प्रकारका ब्रह्मचर्य, बाव्ह प्रकारका तप, क्रोध आदि चार प्रकारकी कथायोंका निग्रह; इनके सिवाय ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्यका व्यापन इत्यादि अनेक भेद हैं ।

प्र — जैन मुनियोंके समान ही सम्पादियोंके पौंच याम हैं; बौद्धधर्मके पौंच महाशील हैं, इसलिये इस आधारमें तो जैनमुनि, सन्यासी तथा बौद्धमुनि एकसे हैं न ?

उ — नहीं ।

प्र — क्यों नहीं ?

उ — इनके पचयाम और पच महाशील अपूर्ण हैं । जैनदर्शनमें महाव्रतके भेद प्रतिभेद अति सूक्ष्म हैं । पहले दोनोंके स्पष्ट हैं ।

प्र — इसकी सूक्ष्मता दिखानेके लिये कोई दृष्टत दीजिये ।

उ — दृष्टत स्पष्ट है । पचयामी कामुक आदि अमक्ष खाते हैं; सुखशय्यामें सोते हैं, विविध प्रकारके बहान और पुण्योंका उपभोग करते हैं; केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं, रात्रिमें सोवन करते हैं । इसमें होनेवाला असंख्याता जीवोंका नाश, ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नहीं जानते । तथा बौद्धमुनि मीस आदि अमक्ष और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं । जैन मुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं ।

१०६ विविध प्रश्न

(५)

प्र — वेद और जैनदर्शनकी प्रतिपक्षता क्या वास्तविक है ?

उ — जैनदर्शनको इससे किसी विरोधी मानसे प्रतिपक्षता नहीं, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है, उसी तरह जैनदर्शनके साथ वेदका सम्बन्ध है ।

प्र — इन दोनोंमें आप कितने सत्य कहते हैं ?

उ — पन्नित्र जैनदर्शनको ।

प्र — के- दर्शनवाले वेदको सत्य बताते हैं, उसके विषयमें आपका क्या कहना है ?

उ — यह तो मतभेद और जैनदर्शनक तिरस्कार करनेके लिये है, परन्तु आप म्यापपूर्वक दोनोंके मूलतत्त्वोंका देखें ।

प्र — इतना तो मुझे भी खगता है कि महावीर आदि निमज्जका कथन म्यायके कौटिल्य है परन्तु वे जगत्क कचाकच निषेध करते हैं, और जगत्को अनादि अमृत कहता है, इन विषयमें कुछ कुछ शका होती है कि यह असम्भ्यत दीपसमुद्रम युक्त जगत् दिना बनाये कहींसे आ गया ।

उदार करो और उदार करनेके लिये तत्त्वज्ञानका प्रकाश करो; तथा सत्ताधिकार सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिये जो जो मार्ग बताये गये हैं वे सब मनोनिग्रहताके आश्रित हैं। मनोनिग्रहता होनेके लिये मनुष्य बहुरता करना अवश्य है। बहुरता करनेमें निम्नलिखित दोष विन्नरूप होते हैं —

१ आत्मस्य	१० अपनी बहुरता
२ अनियमित निग्रह	११ दुष्प्रवृत्ति वस्तुसे आनन्द
३ विरोध आचार	१२ रसगारवसुम्भता
४ उन्मत्त प्रवृत्ति	१३ अतिमोह
५ मायाप्रपञ्च	१४ दुस्तेज आनिष्ट आह्वान
६ अनियमित क्रम	१५ कारण बिना संचय करना
७ अकारणीय निग्रह	१६ बहुरताका स्नेह
८ मान	१७ अपात्म स्वयमेव जाना
९ मर्त्यमते अधिक काम	१८ एक ही उच्चतम नियमका नहीं पालना

अतएव इन अठारह विघ्नोसे मनका सुबध है तबतक अठारह पापके स्थान क्षय नहीं होगे। इन अठारह पापोंके मध्य होनेसे मनोनिग्रहता और अनीष्ट सिद्धि हो सकती है। जबतक इन दोषोंकी मूलसे निकटता है तबतक कोई भी मनुष्य आत्म-सिद्धि नहीं कर सकता। अति मोहके कारणोंमें केवल सामान्य मोह ही नहीं, परन्तु जिसने सर्वथा मोह-स्थाना प्रत्यक्ष धारण किया है, तथा जिसके हृदयमें इनमेंसे किसी भी दोषका मूल न हो वह सत्पुरुष मन्त्रात् माय्यशाली है।

१०१ स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

- १ नियम एक तरहसे इस जगत्का प्रवर्तक है।
- २ जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्रको रहस्यको पाता है वह परमेश्वर हो जाता है।
- ३ ब्रह्मचर्य बिना सत्य नियम हुआ नहीं हो सकता है।
- ४ बहुरताका निग्रह और योगोंका साथ अति समागत ये दोनों समान ही उपयोग्य हैं।
- ५ समस्तवर्णोंके मिश्रणको जानी भोग एकत्र करते हैं।
- ६ इन्द्रियों तुम्हें जीते और तुम सुख मानो इसकी अवस्था तुम इन्द्रियोंके जीतनेसे ही सुख आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।
- ७ रग बिना संसार नहीं और संसार बिना रग नहीं।
- ८ सुखसंस्थाना सर्व सुखका परिणाम परमपदको देता है।
- ९ उक्त वस्तुके विचारमें पूर्वोक्त कि जो वस्तु अतीन्द्रियस्वरूप है।
- १० गुणियोंके गुणोंमें अनुरक्त होओ।

१०२ विविध प्रश्न

(१)

आज तुम्हें मैं बहुरतासे प्रत्यक्ष निर्दिष्ट प्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिये सूचित हूँ।

प्र.—कहिये भर्माजी क्यों आनन्दप्रकटा है।

उ — अनादि कालसे आप्माके कर्म-बाल दूर करनेके लिये ।

प्र — जीव पहले लक्ष्मी कर्म !

उ — दोनों अनादि हैं । यदि जीव पहले हो ता इस विषय वस्तुको मछ समझकर कोई निमित्त चाहिये । यदि कर्मको पहले कहा तो जीवके बिना कर्म किया किसने ! इस म्यायसे दोनों अनादि हैं ।

प्र — जीव रूपी है अथवा अरूपी ?

उ — रूपी भी है और अरूपी भी है ।

प्र — रूपी किस म्यायसे और अरूपी किस म्यायसे, यह कहिये ।

उ — देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वभावसे अरूपी है ।

प्र — देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ — अपने कर्मोंके विपाकसे ।

प्र — कर्मोंकी मुख्य प्रवृत्तियाँ कितनी हैं ?

उ — अष्ट ।

प्र — कौन काम ?

उ — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अह्यु, नाम, गोत्र और अतराय ।

प्र — इन आठों कर्मोंका सामान्यस्वरूप कहो ।

उ — आत्माकी ज्ञानसंघी अनत शक्तिके आच्छादन हो जानेको ज्ञानावरणीय कहते हैं । आत्माकी अनत दर्शन शक्तिके आच्छादन हो जानेको दर्शनावरणीय कहते हैं । देहके निमित्तसे सत्ता, अस्वत्ता दो प्रकारके वेदनीय कर्मोंसे अज्यामात्र सुखरूप आत्माकी शक्तिके रुके रहनेको वेदनीय कहते हैं । आत्मचारित्र्य शक्तिके रुके रहनेको मोहनीय कहते हैं । अक्षय स्थिति गुणके रुके रहनेको अह्यु कर्म कहते हैं । अमूर्तिरूप निर्व्यवस्थिके रुके रहनेको नामकर्म कहते हैं । अटक अवगाहनात्मक आत्मिक शक्तिके रुके रहनेको गोत्रकर्म कहते हैं । अनत दाग, काम, रीस, भोग और उपभोग शक्तिके रुके रहनेको अतराय कहते हैं ।

१०३ विभिन्न प्रश्न

(२)

प्र — इन कर्मोंके क्षय होनेसे आत्मा कहीं जाती है ?

उ — अनंत और शाश्वत मोक्षमें ।

प्र — क्या इस आत्माकी कमी मोक्ष हुई है ?

उ — नहीं ।

प्र — क्यों ?

उ — मोक्ष-प्राप्त आत्मा कर्म-मयसे रहित है, इसलिये इसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

प्र — केवलकी क्या संश्रुण है ?

उ — चार धनधारी कर्मोंका क्षय करके और शय चार कर्मोंको कृपा करके जो पुरुष प्रयोज्य गुणस्थानकवर्ती होकर निहार करते हैं, वे केवली हैं ।

प्र — गुणस्थानक किन्तु हैं ?

उ — चौपट हैं ।

प्र — उनका नाम कहिये ।

उ — १ मिथ्यात्वगुणस्थानक । २ सात्वादन (सासादन) गुणस्थानक । ३ मिश्रगुणस्थानक । ४ अवरतिमम्पद्यगुणस्थानक । ५ देशविरतिगुणस्थानक । ६ प्रमत्तसपत्तगुणस्थानक । ७ अप्रमत्तसपत्तगुणस्थानक । ८ अपूर्वकारणगुणस्थानक । ९ अनिष्टविवाधगुणस्थानक । १० सूक्ष्मसौम्यगुणस्थानक । ११ उपशान्तमोहगुणस्थानक । १२ क्षीणमोहगुणस्थानक । १३ सयोगकेवलीगुणस्थानक । १४ अपना केवलीगुणस्थानक ।

१०४ विविध प्रश्न

(१)

प्र — केवली तथा तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अंतर है ?

उ — केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमें समान हैं परन्तु तीर्थंकरने पहिले तीर्थंकर नामधर्मका बंध किया है, इसलिये वे निरुपद्रवसे बाह्य गुण और अनेक बहिरायोंका प्रसन्न करते हैं ।

प्र — तीर्थंकर घूम घूम कर उपदेश क्यों देते हैं ? वे तो बीसछाती हैं ।

उ — पूर्वमें बौध्द हुए तीर्थंकर नामधर्मके बन्धन करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पड़ता है ।

प्र — आत्मकष्ट प्रवृत्तिन घासन किस्तका है ?

उ — समग्र महाबान् महावीरका ।

प्र — क्या महावीरसे पहले जैनार्हन् या ?

उ — हाँ या ।

प्र — उसे किसने उद्यम किया था ?

उ — उनके पहलेके तीर्थंकरोंने ।

प्र — उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है ?

उ — तत्त्वप्रतिष्ठे एक ही है । मित्र मित्र पात्रको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ कष्टमें होनेके कारण समान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य भास्य होती है, परन्तु म्यायसे देखनेपर उसमें कोई भिन्नता नहीं है ।

प्र — इसका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ — उनका उपदेश यह है कि जन्माका उद्धार करो, जन्माका अर्गत शक्तियोंका प्रकाश करो और इसे धर्मरूप अर्गत बुद्धिसे मुख करो ।

प्र — इसके लिये उन्होंने कीजसे साधन बताये हैं ?

उ — स्पर्शद्वार नष्टे श्रेष्ठ सधर्म और सद्दुःखका स्वरूप जानना, श्रेष्ठका गुणगान करना, तीन प्रकारके धर्मका आचरण करना और निर्मल्य शुद्धसे धर्मका स्वरूप समझना ।

■ — तीन प्रकारका धर्म कीजता है ?

उ — सम्पद्दानधर्म, सम्पद्दर्शनधर्म और सम्पद्चारित्रिकधर्म ।

१०५ विविध प्रश्न

(४)

प्र — ऐसा जैनदर्शन यदि सर्वोत्तम है तो सब जीव इसके उपदेशको क्यों नहीं मानते ?

उ — कर्मकी बाहुल्यतासे, मिथ्यात्वके असे हुए मछसे और सुखमागमके अभावसे ।

प्र — जैनदर्शनके मुनियोंका मुख्य आचार क्या है ?

उ — पौष महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्र प्रकारका सयम, दस प्रकारका वैयाकरण, नव प्रकारका वसत्रधर्म, बारह प्रकारका तप, कोष आदि चार प्रकारकी कर्मायोगा निवृत्ति, इनके सिवाय ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्यका आराधन इत्यादि अनेक भेद हैं ।

प्र — जैन मुनियोंके समान ही सम्प्रदायोंके पौष याम हैं; बौद्धधर्मके पौष महाशीख हैं, इसलिये इस आचारमें तो जैनमुनि, सम्प्रदायी तथा बौद्धमुनि एकसे हैं न ?

उ — नहीं ।

प्र — क्यों नहीं ?

उ — इनके पंचयाम और पंच महाशीख अपूर्ण हैं । जैनदर्शनमें महाव्रतके भेद प्रतिभेद अति सूक्ष्म हैं । पहले दोनोंके स्पष्ट हैं ।

प्र — इसकी सूक्ष्मता दिखानेके लिये कोई उदाहरण दीजिये ।

उ — उदाहरण स्पष्ट है । पचयामी कर्ममूळ आदि अभक्ष्य खाते हैं; सुखशय्यामें सोते हैं; विविध प्रकारके बहल और पुष्पोंका उपयोग करते हैं, केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं; रात्रिमें सोवन करते हैं । इसमें होनेवाला असंख्यात जीवोंका नाश, व्रतधर्मका मग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नहीं जानते । तथा बौद्धमुनि मौस आदि अभक्ष्य और सुखशीख साधनोंसे युक्त हैं । जैन मुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं ।

१०६ विविध प्रश्न

(५)

प्र — वेद और जैनदर्शनकी प्रतिपक्षता क्या वास्तविक है ?

उ — जैनदर्शनकी इस्से किसी बिरोधी भावसे प्रतिपक्षता नहीं, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है, उसी तरह जैनदर्शनके साथ वेदका सवध है ।

प्र — इन दोनोंमें आप किसे सत्य कहते हैं ?

उ — पवित्र जैनदर्शनको ।

प्र — वेद दर्शनवाले वेदको सत्य बताते हैं, उसके नियमों कायका क्या कहना है ?

उ — यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कार करनेके लिये है परन्तु आप व्यापपूर्वक दोनोंके मूलतत्त्वोंको देखें ।

प्र — इतना तो मुझे भी ज्ञाता है कि महावीर आदि विमोक्षरत्ना कथन न्यायके कौटिल्य पर परन्तु वे जगत्के कर्त्तव्य नियम करते हैं, और जगत्को जनादि जन्मत कहते हैं, इस नियममें कुछ कुछ संका होती है कि यह असंख्यात जीवसमुद्रसे कुछ जगत् बिना बनाये कहाँसे आ गया ?

उ — हमें जबतक आत्मिकी अनंत शक्तिकी केशामर भी दिव्य प्रसूदी नहीं मिलती तभीतक ऐसा क्या करता है; परन्तु तत्पश्चात् होनेपर ऐसा नहीं होगा। स्वगतिर्तक आदि प्रयोगोंका भाव अनुभव करेंगे तो यह शक्ता दूर हो जायेगी।

प्र — परन्तु समर्थ विद्वान् अपनी भूषा बातको भी दृष्टांत आदिसे सिद्धांतपूर्ण सिद्ध कर देते हैं, इसलिये यह खचित नहीं हो सकती परन्तु इसे सत्य कैसे कहा सकते हैं ?

उ — परन्तु इन्हें भूषा कहनेका कुछ भी प्रयोजन न था, और योही दरक लिये ऐसा मान भी कि हमें ऐसी शंका हुई कि यह कथन भूषा होगा, तो फिर जगत्कृत्ति ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यों दिया ? ऐसे नाम बुझानेवाले पुत्रोंका जन्म देनेकी उसे क्या जरूरत थी ? तथा ये पुरुष तो सर्वत्र जगत्कृत् कदा सिद्ध होता तो ऐसे कहनेसे उनकी कुछ हानि न थी।

१०७ जिनैबरकी बाणी

जो अनंत अनंत मात्र-मेनेसे भरी हुई है, अनंत अनंत सब निक्षेपेति तिसकी व्याख्या की गई है जो सम्पूर्ण जगत्की हित करनेवाली है, जो मोक्षको देनेवाली है, संसार-समुद्रसे पार करनेवाली है जो मोक्षमें पहुँचानेवाली है जिसे उपमा देनेकी इच्छा रखना भी व्यर्थ है, जिसे उपमा देना मर्त्ता अपनी बुद्धिका ही माप दे देना है ऐसा मैं मानता हूँ; अहो रामचन्द्र ! इस बातका बाह्य-मनुष्य व्याप्तमें नहीं छोले कि ऐसी जिनैबरकी बाणीको लिखे हों जानते हैं ॥ १ ॥

१०८ पूर्णमासिका मंगल

जो तप और ध्यानेसे रक्षित होता है और उनकी सिद्धि करके जो सोमरूपसे शोभित होता है। बाह्यमें वह ब्रह्मात्मिकी परवी प्राप्त करता है जहाँ वह बुधको प्रणाम करनेके लिये जाता है। तपसात् वह सिद्धिदायक निर्मल्य शुद्ध कर्मका पूर्ण व्याख्याता स्वयं शुद्धका स्थान ग्रहण करता है। उस दृष्टमें तीनों योग मंत्र पढ़ जाते हैं, और आत्मा स्वरूप-सिद्धिमें विचरती हुई विज्ञान लेती है।

१०९ जिनैबरकी बाणी

मनहर श्रेष्ठ

अनंत अनंत सब भैरवी भैरवी मही अनंत अनंत सब निर्मल्य व्याख्याती के लक्ष्य अनंत हितकारीणी हाथी मोह खरिणी सरासि योकेबाहिनी प्रगल्भी के; उपमा व्याख्याती केने तब उपकारी के सर्व आत्माकी निब मही सपर्य में मानी के; अहो ! रामचन्द्र बाह्य कलाक मही पाकता ए, जिनैबरकी बाणी बाणी देने जानी के ॥ १ ॥

१०८ पूर्णमासिका मंगल

उपमाति

तत्प्रेष्याने रक्षित ध्या ए लक्षित ध्या रही तुम्हारे;
मन्यु ते यंश्रुत पंक्ति पास आने पारी ते तुम्हारा अग्रिम ॥ १ ॥
निर्मल्य बाह्य शुद्ध सिद्धि वृत्ता करीत स्वयं शुद्ध पर्युक्त कलाता
विनीत त्या केमल मंत्र पाये स्वरूप सिद्धि निबिदी विनाये ॥ २ ॥

५

ॐ

भावनाषोष

उपोन्नात

सुखा सुख किस्में है ? चाहे जैसे शुष्क विषयमें प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आह्मालोकों त्वामा-
निक अमिकवि वैद्ययमें लग जानेकी ओर रखा करती है । बाह्य दृष्टिसे जबतक उज्ज्वल आह्मायें
संसारके मर्यादाय प्रपन्नमें लगी हुई दिखाई देती हैं तबतक इस कथनका सिद्ध होना शायद कठिन है,
तो भी सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण बहुत आसानीसे मिल जाता है, इसमें
सन्देह नहीं ।

सूक्ष्मसे सूक्ष्म अनुसे लेकर अनेकतः जायी तकके सब प्राणियों, मनुष्यों, और देव-
दानवों आदि सबकी त्वामानिक इच्छा सुख और आनन्द प्राप्त करनेकी है, इस कारण वे इसकी प्राप्तिके
उद्योगमें लगे रहते हैं, परन्तु उन्हें विवेक-बुद्धिके उदयके बिना उसमें भ्रम होता है । वे संसारमें
नाना प्रकारके सुखका आराधन कर लेते हैं । गहरा अवलोकन करनेसे यह सिद्ध होता है कि यह
आरोप हुआ है । इस आरोपका उद्घाटन देनेवाले विवेक मनुष्य अपने विवेकके प्रकाशका द्वारा बहुत इनके
अतिरिक्त अन्य विषयोंको प्राप्त करनेके लिये कहते आये हैं । जो सुख मयसे युक्त है, वह सुख सुख
नहीं परन्तु दुःख है । जिस वस्तुके प्राप्त करनेमें महाताप है, जिस वस्तुके भोगमें इससे भी विशेष
संताप सम्मिश्रित है, तथा परिणाममें महाताप, अनन्त शोक, और अनन्त भय छिपे हुए हैं, उस वस्तुका
सुख केवल नामका सुख है अथवा बिल्कुल ही नहीं । इस कारण विवेकी लोग उसमें अनुपगम
नहीं करते । संसारके प्रत्येक सुखसे सपन राखकर होनेपर भी सत्य तत्त्वज्ञानकी प्रसारी प्राप्त होनेके
कारण उसका त्याग करके योगमें परमानन्द मानकर अर्धहरि स्थ मनीषीरताये अन्य पामर आह्मालोकों
उपदेश देते हैं कि —

भीम रोगभयं कृल व्युत्तिभयं विरे नृपासाजय
माने दैन्यभयं बल रिपुभयं रूप तरुण्या भय ।
छात्रे वादभयं गुणे ललभयं काय कृताताजय
सर्व वस्तु भयापिबते हवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ॥ १ ॥

भावार्थ — मानमें रोगका भय है, कुलीनतामें व्युत्ति होनका भय है, छस्सीमें राजाका भय है,
मानमें दीनताका भय है, बलमें शत्रुताका भय है, रूपमें स्त्रीका भय है, छात्रमें बादका भय है,
गुणमें खलका भय है, और कायमें कलका भय है; इस प्रकार सब वस्तुमें भयसे युक्त है;
केवल एक वैराग्य ही भयरहित है !!!

महायोगी मर्त्यहरिका यह कथन सुधिमत्प्य अर्थात् समस्त उन्मत्त आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका ग्रहण और संसार शोकके स्वानुभवका अंशका ठेका बिना खींच लिया है। इन्होंने बिन बिन वस्तुओंपर भयभीत छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारकी सर्वोत्तम विभूति जो योग है, व तो रोगोंके घाम ठहरें; मनुष्य ऊँचे कुण्डोंसे सुख माननेवाला है, यहाँ भुत होनेका भय दिखाया संसार भयमें व्यवहारका ठाठ बचनेमें जो दंडस्वरूप खामी, यह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है किसी भाव्यद्वारा यशोवर्तितसे मान प्राप्त करना अपना मानना ऐसी संसारके पानर ओंको अभिमान्य रहा करती है, इसमें महादीनता और कष्टावस्थाका भय है; बड़ पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उदरगता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है उसमें शत्रुता भय रहा हुआ है; कम-अति भोगोंको मोहिनीरूप है, उसमें न्य-अति धारण करनवासी छिपी निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुरिधियोंसे भरपूर शास्त्र ज्ञानमें विज्ञानका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करनेसे जो आनंद माना जाता है, यह सब मनुष्योंकी निम्नके कारण भयान्वित है जो अनंत व्यापी क्षमता है ऐसी यह काया भी कभी न कभी काकनपी सिद्धके मुखमें पकनेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु भयक सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर अहाँ भय है यहाँ केवल शोक ही है। यहाँ शाक है यहाँ सुखका अभाव है और यहाँ सुखका अभाव है यहाँ शिरस्कार करना उचित ही है।

अनेके योगीन्द्र मर्त्यहरी ही ऐसा कह गये हैं यह बात नहीं। काकन अनुसार सुद्धिके निर्माणके समयसे लेकर मर्त्यहरिसे उत्तम मर्त्यहरिके समान और मर्त्यहरिसे क्षनिष्ठ क्षेत्रिके अक्षय्य तत्त्वानी हो गये हैं। ऐसा कोई काकन अपना आभिश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी विडकुल भी उपस्थित न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामयिकी शोकरूप बताई है। यह उनके जगत् विवेकका परिणाम है। क्याय आत्मिकि, द्वांकर शीतल पातत्रकि क्षमि, और पुत्रपुत्र द्वादादने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है —

अहो प्राणियों ! संसारकपी समुद्र जनन और अपार है। इसका पार पानके लिये पुत्रपार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो !

इस प्रकारका उपदेश देममें इनका हेतु समस्त प्राणियोंकी शोकसे मुक्त करनका था। इन सब इनिषोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र पढ़ी है कि संसार एकल और अनंत शास्त्ररूप तथा दुःखप्रद है। अहो ! भय्य लोगो ! इसमें मधुर मोहिनीका प्राप्त न होकर इससे निवृत्त होओ ! निवृत्त होओ ! !

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त उपदेशोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणश्रुत सिद्ध भी कर दिखाया है। कचन वर्णकी काया, यशो-मती त्रिती रानी अनुष्ठ साध्यायकस्त्री और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह इन्हींपर भी उनका

मोह त्यागकर और ज्ञान-दर्शन-योगमें परायण होकर उन्होंने जो अद्भुतता दिखायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराख्यनसूत्रके आठवें अध्यायनकी पन्धरी गायामें तत्त्वभिषापी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहाया है कि —

अधुवे असासयमि ससारमि दुक्खसपट्ठाए ।

किं माम् दुग्घं कम्मं जेणाहं दुग्गं न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

“अधुब और असासयत ससारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणसे दुर्गतिमें न जाऊँ ?” इस गायामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

“अधुवे असासयमि” — प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसङ्गीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें से जानेवाले हैं। अति बुद्धिशास्त्रीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशास्त्री संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशस्तीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अतमें पुत्रपार्यक सूरणाकर महायोगका साधनकर आत्मिक तिमिर-पट्टको दूर करते हैं। संसारको शोकाग्नि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी झमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान चद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान् अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा भगवन्मय है। महावीरके समान ऋषभ आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निसुहतासे उपदेश देकर जगद्भित्तियोंकी पत्नी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप है, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उषानि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, क्षांति, क्षमा, वृत्ति अप्रमुक्त, गुरुजनका विनय, निष्क, निसुहता ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सवन करना क्रोध, छोम, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, ईर्ष्या, शाफ, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना यह सब दर्शनोका सामान्य धर्मसंसार है। नीचेके दो चरणोंमें इस संसारका समावेश हो जाता है —

प्रथम भमा भीति सजा, परवी परापकजर

अरे ! यह उपदेश लुप्तिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे या समुद्र रूप दिखाते देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र धमण भगवान् पढ़िठे गम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये भिन भिन विषयोंको पढ़े कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संतुर्ण भगवन्मय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सजने आगे बढ़ गये हैं। इनके लिये वे अनंत धम्मपादके वात्र हैं।

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है ? अब इसका निगय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयाजन दुःखों की निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोमें सामान्यतया मुक्तिको अनुपम भेद कहा है। सूत्ररत्ननामक द्वितीय अंगके प्रथम भूतकथके छठे अध्यायनकी बीबीसवीं गायामें तीसरे चरणमें कहा गया है कि—

निम्नाणसेहा बाह सम्मपम्मा

सब धर्मोंमें मुक्तिको जेष्ठ कहा है

सारंग यह है कि मुक्ति ठसे कहते हैं कि संसार-शोकसे मुक्त होना, और परिणाम हीन दर्शन आदि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना । जिसमें परम सुख और परामर्शरूप अखंड निद्रा है, जन्म-मरणकी विद्वन्मत्ता जगत्ता है, शोक और दुःखका क्षय है; ऐसे इस विज्ञानसुख विषयका विशेषण किसी अन्य प्रसंगपर करेंगे ।

यह भी निर्विवाद मानना चाहिये कि उस अनंत शोक और अनंत दुःखकी निवृत्ति कहीं सांसारिक विषयोंसे नहीं होगी । जैसे बहिरसे बहिरका दान नहीं जला, परन्तु यह दान जलसे दूर हो जाता है इसी तरह शृंगारसे जलवा शृंगारविभित धर्मसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती । इसके लिये तो वैराग्य-ब्रह्मकी आत्मपक्षता नि सहाय सिद्ध होती है; और इसीस्थिमें नीतरमाके बचनोंमें अनुरक्त होना उचित है । कमसे कम इससे विषयरूपी विषयका जन्म नहीं होता । अंतमें यही मुक्तित्रय प्रकरण हो जाता है । हे अनुपम ! इन नीतरमा सर्वज्ञके बचनोंको विशेष-बुद्धिसे ध्यान, मनन और निश्चिन्ता करने के आत्मको उद्बोध कर ।

प्रथम दर्शन

वैराग्यकी और आत्मवैतैपी विषयोंकी सुदृढता होनेके लिये बाह्य भावनाओंका लक्ष्यनिर्णय उद्देश्य किया है—

१ अनित्यभावना:—शरीर, भैरव, कर्मा, अनुपम परिवार आदि सब क्षिणात्मक हैं । जीवका केवल मूलधर्म ही अनित्यता ही है ऐसा चिन्तन करना पहली अनित्यभावना है ।

२ अक्षयभावना—संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखनेवाला कोई नहीं, केवल एक ही धर्म धर्म ही शरण स्थान है, ऐसा चिन्तन करना दूसरी अक्षयभावना है ।

३ संसारभावना—इस आत्मने संसार-समुद्रमें पर्यटन करते हुए सब धोनीयोंमें अन्य स्थिर है, इस संसाररूपी जंजीरसे मैं कब छुटूंगा ? यह संसार मय नहीं मैं मोक्षमयी हूँ, इस प्रकार चिन्तन करना तीसरी संसारभावना है ।

४ एकत्वभावना—यह मेरी आत्मा अकेली है यह अकेली ही जाती है, और अकेली जायगी, और अपने किए हुए कर्मोंका अकेली ही योगी इस प्रकार अंत-करणसे चिन्तन करना यह चौथी एकत्वभावना है ।

५ अल्पत्वभावना—इस संसारमें कोई किस्तीका नहीं ऐसा विचार करना पाँचवीं अल्पत्वभावना है ।

६ अशुभभावना—यह शरीर अपवित्र है मलमूत्रकी खान है रोग और अजय्य निरासम्पत्त है । इस शरीरसे मैं त्याग हूँ, यह चिन्तन करना छठी अशुभभावना है ।

७ आश्रयभावना—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आत्मके कारण हैं इस प्रकार चिन्तन करना सातवीं आश्रयभावना है ।

८ स्वप्नभावना—ज्ञान, ध्यानमें प्रवृत्त होकर जीव नये कर्म नहीं बाँधता, यह भावना स्वप्नभावना है।

० निर्जयभावना—ज्ञानसहित क्रिया करनी निर्जराका कारण है, ऐसा चित्तबन करना नीची निर्जयभावना है।

१० लोकस्वरूपभावना—बौद्ध राम लोकके स्वरूपका विचार करना लोकस्वरूपभावना है।

११ बोधिदुर्लभभावना—संसारमें भ्रमण करते हुए आत्माको सम्पूर्णज्ञानकी प्रसिद्धी प्राप्त होना कठिन है। और यदि सम्पूर्णज्ञानकी प्राप्ति मी हुई तो चारित्र्य-सुखविरतिपरिणामरूप धर्म-का पाना तो कल्पत ही कठिन है, ऐसा चित्तबन करना यह ग्याहवी बोधिदुर्लभभावना है।

१२ धर्मदुर्लभभावना—धर्मके उपदेशक तथा कुछ शास्त्रके बोधक गुरु और इनके मुखसे उपदेशका श्रवण मिथ्या दुर्लभ है, ऐसा चित्तबन करना बाह्यधी धर्मदुर्लभभावना है।

इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है, उस वैराग्यको बढ़ करने वाली बाह्य भावनाओंमेंसे कुछ भावनाओंका इस दर्शनके अतर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाओंको अमुक विषयमें बाँट दी है और कुछ भावनाओंके लिये अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है, इस कारण उनका यहाँ विस्तार नहीं किया।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

उपमाति

विद्युत्तुलसी प्रसूता पतंग, आयुष्य ते तो जल्मा तरंग

पुरंदरी चाप अनगरग ध्रु राखिये त्यां क्षणनो प्रसंग ।

विशेषार्थः—तुलसी विद्युत्तुलसी समान है। जिस प्रकार विद्युत्तुलसी जल्द उत्पन्न होकर लक्षण ही लप हो जाती है, उसी तरह तुलसी जाकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जिस प्रकार पतंगका रंग बार दिनकी बौद्धी है, उसी तरह अधिकार केवल पाँचे काँच तक रहकर हाथसे जाता रहता है। आयु पानीकी झिजोरके समान है। जैसे पानीकी झिजोरें इधर जाई और उधर निकल गई उसी तरह जन्म पाया और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, इतनेमें ही दूसरी देहमें जाता पड़ता है। कामभोग आकाशके इन्द्रधनुषके समान है। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकाळमें उत्पन्न होकर क्षणभरमें लप हो जाता है उसी प्रकार यौवनमें कामनाके विकार फलीभूत होकर बुढ़ापेमें नष्ट हो जाते हैं। सद्योपमें, हे जीव ! इन सब वस्तुओंका सवध ध्यानकरना है। इसमें प्रेम-वचनकी सौकर्यसे बँचकर छलछीन क्या होना ? तात्पर्य यह है कि ये सब बल्ब और विनाशीक हैं, ए अर्थात् और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्तकर।

मिम्बारीका ध्वज

(देखो मोक्षमाळा पृष्ठ ४३-४५, पाठ ४१-४२)

प्रमाणसिद्धा — जिस प्रकार उस मिश्रादिन स्वप्नमें सुख-समुदाय देखे, उसका भोग किया और जमें आनन्द माला उसी तरह पामर प्राणी संसारके स्वप्नके समान सुख-समुदायको महा आनन्दरूप मान लेते हैं। जिस प्रकार मिश्रादिनको वे सुख-समुदाय जागनपर मिथ्या मान्त्रम हुए थे, उसी तरह तत्त्वज्ञानरूपी जगत्सिद्धिसे संसारके सुख मिथ्या मान्त्रम होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नके भोगोंको भोगनेपर भी उस मिश्रादिनको शांतिकी प्राप्ति हुई उसी तरह पामर भव्य संसारमें सुख मान बैठते हैं, और उन्हें भोगे हुएकी समान गिनते हैं, परन्तु उस मिश्रादिनकी तरह वे अंतमें खेद, पश्चात्ताप, और अव्योमतिको पाते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तु सत्य नहीं उसी तरह संसारकी एक भी वस्तु सत्य नहीं। दोनों ही चपल और शांकमय हैं, ऐसा विचारकर बुद्धिमान् पुरुष आनन्द-रूपमालाकी खोज करते हैं।

द्वितीय चित्र

अष्टावक्रवचन

उपशान्ति

सर्वज्ञो धर्म सुशर्म आणी, आराध्य आराध्य प्रमाण आणी

बनाय एकांत सनाय पाये, एग बिना कोई न बाय खाये ।

विशेषार्थ — हे जतन ! सर्वज्ञ त्रिवेद्यारेके द्वारा नित्यवृत्तसे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम धारणरूप जानकर मन, बचन और कर्मात्मे प्रमाणसे उसका द आराधन कर आराधना कर । द केवल बनापक्रम है उससे सनाय होगा । इसके बिना भवान् के भजन करनेमें तेरी कोई फलबोनाका कोई नहीं ।

जो अहममें संसारके मायात्म्य सुखको अथवा अवर्तनको धारणरूप मानती है, वे अव्योमतिको पार्थी है और संदेह अनाय रहती है ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनापीमुनिके चरित्रको प्रारंभ करते हैं, इससे आराध्य भक्तता सुदृढ़ होगी ।

अनापीमुनि

(देखा मोक्षमाका पृष्ठ १३-१५, पार् ५-६-७)

प्रमाणसिद्धा — अहो मध्या । महाउपशान्त, महामुनि, महाप्रज्ञावान् महावृत्तवन्त महातिर्नय और महाभुक्त अनापी मुनिम भगवद्वेषके रात्रिको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया वह सच सुच ही आराध्य मानना सिद्ध करता है । महामुनि अनापीने द्वारा सहम की हुई वेनाके समान वधवा इससे भी अप्रत्यक्ष विशेष असहा दुःखोंको अर्जत आत्मायें सामान्य दृष्टिसे भोगती हुई दीख पड़ती हैं, इनके संवेपमें हम कुछ विचार करो । संसारमें छापी हुई अनंत आराधनाका स्थापक सत्य धारणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन कर । वरमे यही मुक्तिका कारण है । जिस प्रकार संसारमें रहता हुआ अनापी अनाय या उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिसे बिना संदेह बनाय ही है । सनाय होनेके लिये पुरुषार्थ करना ही भेषरकर है ।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

उपजाति

शरीरमें व्याप्ति प्रत्यक्ष थाय, तो कोई अन्य छई ना दाकाय

ए भोगने एक स्व आत्मा पोते, एकत्व एही नय सुझ गोत ।

विशेषार्थ — शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होत हैं उन्हें लक्ष्य, कुदृष्टी, बी अथवा पुत्र कोई भी नहीं ले सकते । उन्हें केवल एक अपनी आत्मा ही स्वयं भोगती है । इसमें कोई भी मर्माधार नहीं होता । तथा पाप, पुण्य आदि सब विषयोंका अपनी आत्मा ही भोगती है । यह अकेली आती है और अकेली जाती है इस तरह सिद्ध करके विषयको मनी मोहि जानने वाले पुरुष एकत्वकी निरंतर खोज करते हैं ।

नमिराजर्षि

महापुरुषक उस व्यापको अच्छा करनेवाले नमिराजर्षि और शक्तिरूपके वैराग्यके उपदेशक स्वामिको यहाँ देत हैं । नमिराजर्षि मिथिला नगरीक राजेश्वर थे । स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःखका प्राप्त न करने पर भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्णरूपसे परिचयानमें राखेश्वरने निश्चित भी विजय नहीं किया । शक्तिरूप सबस पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमें निरागत थे, वहाँ शिवके रूपमें आकर परीक्षाके लिये अपन व्याख्यानको शुरु करता है —

शिव — हे राजन् ! मिथिला नगरीमें आज प्रबल कासाहल व्याप्त हो रहा है । इन्हीं अतः मनको उद्वेग करनेवाले विषयोंके शब्दोंसे राजमण्डिर और सब घर छपे हुए हैं । केवल तभी एक लीला ही इन सब दुःखोंका कारण है । जवन द्वारा दूसरेकी आत्माको जो दुःख पहुँचता है उस दुःखको सञ्चारके परिभ्रमणका कारण मानकर तू यहाँ जा, मोछा मन बन ।

नमिराज — (गौरव भरे बचनोंसे) हे शिव ! जो तू कहता है वह कबल अज्ञानरूप है । मिथिला नगरीमें एक बगीचा था उसके बीचमें एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे रमणीय था, वह पुत्र, पुत्र और फलोंसे सुख था और वह माना प्रकारके पशियोंका खाद्य देता था । इस वृक्षके बावुझरु कवित होनेस वृक्षमें रहनेवाले पक्षी बु खार्व और शरणरक्षित होनेसे आत्मानन्द कर रहे हैं । ये पक्षी स्वयं वृक्षक लिये विहाय नहीं कर रहे किन्तु वे अपने सुखके मद्य हानक कारण ही शोकस पीड़ित हो रहे हैं ।

शिव — परन्तु यह देख ! जमि और बापुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अत पुर, और मन्दिर जय रहे है, इसलिये यहाँ जा और इस अशिक्षो दान्त कर ।

नमिराज — हे शिव ! मिथिला नगरीके उन अत पुर और उन मन्दिरोंके जखनसे मेरा कुछ भी नहीं बच रहा । मैं उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करता हूँ जिससे मुझे मुझ हो । इन मन्दिर आदिमें मेरा अप्य मात्र भी राग नहीं । मैं पुत्र, बी आदिके व्यवहारका छोड़ दिया है । मुझे इनमें कुछ भी प्रिय नहीं, और कुछ भी अप्रिय नहीं ।

विप्र — निर्वाह करनेके लिये मिथ्या मोंगनेके कारण सुशील प्रज्ज्यामें असह्य परिश्रम सहना पड़ता है, इस कारण उस प्रज्ज्याको त्यागकर अन्य प्रज्ज्या धारण करने की रुचि हो जाती है। अतएव उस उपाधिको दूर करनेके लिये तू गृहस्थाश्रममें रहकर ही पौषध आदि श्रतोंमें तत्पर रह। हे मनुष्यके अधिपति ! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराम — (हेतु कारणसे प्रेरित) हे विप्र ! माल अविवेकी चाहे जितना भी उप तप करे परन्तु वह सम्यक् कृतधर्म तथा चारित्र्यवर्मेके बराबर नहीं होता। एकाव कछा सोछे कछाओंके समान कैसे माली जा सकती है ?

विप्र — बहो क्षत्रिय ! सुवर्ण, मणि, मुण्डकण्ड, वस्त्रालकार और बन्ध आदिकी बुद्धि करके फिर जाना।

नमिराम — (हेतु कारणसे प्रेरित) कदाचित् मेरे पूर्वजके समान सोने चाँदीके अस्त्रालों पर्यंत हो जाँय उनसे भी कौमी मनुष्यकी तुष्णा नहीं बुझती, उसे किञ्चित्मात्र भी सतोष नहीं होता। तुष्णा आकाशके समान अनन्त है। यदि धन, सुवर्ण, पद्म इत्यादिसे सफल लोक मर जाय तब सबसे भी एक कौमी मनुष्यकी तुष्णा दूर नहीं हो सकती। लोभकी ऐसी कनिष्ठता है। अतएव विवकी पुरुष सतापनिष्ठचित्तस्वी तपका आचरण करते हैं।

विप्र — (हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रिय ! मुझे अस्मत् आश्चर्य होता है कि तू नियमान भोगोंको छोड़ रहा है। बहमें तू अविद्यमान काम-भोगके सकल्य-विकल्पोंके कारणसे खेदक्षिप्त होगा। अतएव इस मुनिपनेकी सब उपाधिको छोड़ दे।

नमिराम — (हेतु कारणसे प्रेरित) काम-भोग इन्द्रियके समान हैं, काम-भोग विपके समान हैं। काम-भोग सपके दुःख हैं; इनकी बाँझ करनेसे जीव मरक आदि अवोगतिमें जाता है; इसी तरह क्रोध और मानके कारण दुर्गति होती है। मायासे स्रष्टिका विनाश होता है। लोभसे इस लोक और परलोकका भय रहता है, इसलिये हे विप्र ! इनका तू मुझे उपदेश न कर। मर्य इन्द्रिय कमी भी बढायमान होनेवाला नहीं और इस मिथ्या मोहिनीमें अभिरुचि रखनेवाला नहीं। जानबूझकर विप कौन पियेगा ! जानबूझकर दीपक लेकर कुँएमें कौन गिरेगा ! जानबूझकर बिभर्ममें कौन पड़ेगा ! मैं अपने अमृतके समान वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस जहरको प्रिय करनेके लिये मिथिलामें आनेवाला नहीं।

महर्षि नमिरामकी सुष्ठता देखकर शकेन्द्रको परमानन्द हुआ। बादमें प्रासणके रूपका छड़कर उसने इन्द्रपनेकी प्रिक्रिया धारण की। फिर वह बन्धन करके मधुर बचनोंसे राजर्षीचरकी स्तुति करने लगा कि हे महाप्रशस्ति ! बड़ा आश्चर्य है कि तूने क्रोध जीत लिया। आश्चर्य है कि तूने अहंकारको पराजित किया। आश्चर्य है कि तूने मायाका दूर किया। आश्चर्य है कि तूने लोभको बहमें किया। आश्चर्यकारी है तब सरलपना आश्चर्यकारी है तेरा निर्मलत्व, आश्चर्यकारी है तेरी प्रधान क्षमा और आश्चर्यकारी है तेरी निर्विषता। हे पूज्य ! तू इस भवमें उत्तम है और परमभवे उत्तम होगा। तू कर्मरहित

होकर एतोंब सिद्धांतिको प्राप्त करेगा । इस तरह स्तुति करते करते, प्रशंसा करते हुए ब्रह्म-महिम्ने उसने उस ऋषिके चरणकमलोंको नन्दन किया । तबधाव यह सुदूर मुकुटवाला शबेन्द्र आकाश-मार्गसे चला गया ।

प्रमाणशिष्टाः—विप्रके कर्ममें नमिपत्रको वैराग्यकी परीक्षा करनेमें इतने क्या म्यूनता की है । कुछ भी नहीं की । संसारकी जो अपेक्षायें मनुष्यको चलापमान करनेवाली हैं उन सब सोचपताओंके विषयमें महागीतकर्ण प्रश्न करनेमें उस इतने निर्मल भावनासे प्रशंसायोग्य चातुर्य दिखाया है, ता भी देखनेकी बात तो यही है कि नमिपत्र अतन्त्र केवल कचनमय रहे हैं । कुछ और अच्छा वैराग्यके योगमें अपने प्रभावित होनेको इन्होंने अपने उचरोंमें प्रदर्शित किया है । हे विप्र । तू तिन वस्तुओंको मेरी कहलाता है वे वस्तुयें मेरी नहीं हैं । मैं अकेला ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ, और केवल प्रशंसीय एकत्वकी ही चाहता हूँ । इस प्रकारके रहस्यमें नमिपत्र अपने उचरोंको और वैराग्यको बढ़ बनाते गये हैं । ऐसी परम प्रमाणशिष्टासे भग हुआ उस महावैदिक चरित्र है । दोनों महात्माओंका परस्परका स्नेह कुछ एकत्वकी सिद्ध करनेके लिये तथा अन्य वस्तुओंके त्याग करनेके उपदेशके लिये यहाँ कहा गया है । इसे भी विशेष बढ़ करनेके लिये नमिपत्रको एकवचन किन्तु तरह प्राप्त हुआ, इस विषयमें नमिपत्रको एकवचनको लक्ष्यमें यहाँ माँचे देते हैं —

ये निवेद देस जैसे मजान् राज्यके अधिपति थे । ये अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे । दर्शनमोक्षिणोंके राज्य न होनेपर भी वे ससार-कुम्भ जैसे दिखार्ह देते थे । एक बार इनके शरीरमें दाहन्तर रोगकी उत्पत्ति हुई । मामों समस्त शरीर बल रहा हो ऐसी अन्न समस्त शरीरमें व्याप्त हो गई । रोम रोममें हजार विष्णुओंके हँसने वैसी केनाके समान हुआ होने लगा । वैच-विचामें प्रवीण पुरुषोंके औपचोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया । परन्तु यह सब हुआ हुआ । यह व्याधि केवामात्र भी कम न होकर अधिक ही होती गई । सम्पूर्ण औपचोपचार दाहन्तरकी हितैषी ही होती गई । कोई भी औपचोप ऐसी न किन्ती कि जिसे दाहन्तरसे कुछ भी होय हो । निपुण वैच इत्यादि हो गये और धनेचर भी इस महाव्याधिसे तग धा गये । उसको दूर करने वाले पुरुषकी खोज चारों तरफ होने लगी । अंतमें एक महापुत्राक्ष वैच भिजा, उसने गम्भ्यागिरि चदनका केम करना बताया । रूपकन्ती रानियों चरण भित्तुमें लगा गई । चदन भित्तुमें प्रत्येक रानीके हाथमें पहिने हुए कंकणोंके समुदायसे कलमकाट होने लगा । भित्तुके लगे अगमें दाहन्तरकी एक बल्लभ केदना तो यी ही और दूसरी केदना इन कंकणोंके कोसकाटसे उत्पन्न हो गई । जब यह कलमकाट उनसे छल्ल न हो सका तो उन्होंने रानियोंको आज्ञा की कि चरण भित्तुना बन्द करो । तुम यह क्या शोर करती हो । मुझसे यह उखा नहीं जाता । मैं एक महाव्याधिसे तो प्रसित हूँ ही, और दूसरी व्याधिके समान यह कोसकाट हो रहा है, यह असह्य है । सब रानियोंने केवल एक एक कंकणको मंगल-स्वरूप रखकर बाकी कंकणोंको निकाल बाधा इससे होता हुआ कलमकाट शांत हो गया । नमिपत्रने रानियोंसे पूछा, क्या तुमने चरण भित्तुना बन्द कर दिया । रानियोंने कहा कि नहीं, केवल कोसकाट शांत करनेके लिये हम एक एक कंकणको रखकर बाकी कंकणोंका परित्याग करके चदन

विस रही है । अब हमने कंकणोंकी समूहको अपने हाथमें नहीं रक्खा इसलिये कोलाहल नहीं होता । रानियोंके इतने बचनोंको सुनते ही नमिरामके रोमरोममें एकत्र उदित हुआ—एकत्र व्याप्त हो गया, और उनका ममत्व बुर हो गया । सचमुच ! बहुतोंके मिछनेसे बहुत उपाधि होती है । देखो ! अब इस एक कंकणसे छेद्यामात्र भी सखमकाट नहीं होता । कंकणोंके समूहसे सिरको घुमा देनेवाला सखमकाट होता था । जहो चेतन ! तू मान कि तेरी सिद्धि एकत्रमें ही है । अधिक मिछनेसे अधिक ही उपाधि बढ़ती है । ससारमें अनन्त आत्माओंके सक्न्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है ! उसका त्याग कर और एकत्रमें प्रवेश कर । देख ! अब यह एक कंकण सखमकाटके बिना कैसी उत्तम शान्तिमें रम रहा है । अब जनेक ये तब यह कसी अत्यांतिका भोग कर रहा था इसी तरह तू भी कंकणरूप है । उस कंकणकी तरह तू भी जकतक स्नेही कुटुंबीरूपी कंकण-समुदायमें पड़ा रहेगा तबतक भवत्प्री सखमकाटका सेवन करना पड़ेगा । और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी तरह एकत्रकी आराधना करेगा तो सिद्धगस्तिरूपी महापवित्र शक्तिको प्राप्त करेगा । इस प्रकार बेचगपके उत्तरोत्तर प्रवेशमें ही उन नमिरामको पूर्वभवका स्मरण हो आया । वे प्रमथ्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये । प्रभातमें मालसूचक बाजों की ध्वनि हुई, नमिराम दाहन्तरसे मुक्त हुए । एकत्रका परिपूर्ण सेवन करनेवाले श्रीमान् नमिराम ऋषिको अभिषेकन हो ।

शार्ङ्गविकीर्षित

राणी सर्व मल्ली सुचंदन घसी, ने वर्षकामां हती,
बहुषो त्या ककटप्रट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति,
संवदे पण इन्द्रजी इह रघो, एकत्र साजुं कर्तुं,
एका ए मिथिलेशानु चरित आ, सम्पूर्ण अये पयु ॥ १ ॥

विशेषार्थ—सब रानियाँ मिळकर चंदन भिस्कर छेप करनेमें लगीं हुई थीं । उस समय कंकणोंका कोलाहल सुनकर नमिरामको शोक प्राप्त हुआ । वे इन्द्रके साथ सचरामें भी अच्छे रहे ; और उन्होंने एकत्रकी सिद्ध किया । ऐसे इस मुक्तिप्राप्तक महापराणी मिथिलेशका चरित्र माधनाबोध प्रपके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ ।

चतुर्थ चित्र

अन्यतन्माधना

शार्ङ्गविकीर्षित

मा मातं तन रूप काति पुबती, मा पुत्र के आत मा,
मा मातं मृत स्नेहियो स्वजन के, मा गोत्र के ज्ञात मा
मा मातं भन पाग पीवन बरा, ए मोह अज्ञानना,
रे । रे । जीव निचार एमत्र सत्ता अन्यतन्माधना ॥ २ ॥

विशेषार्थ—यह शरीर मेरा नहीं यह रूप मेरा नहीं, यह काति मेरी नहीं, यह भी मेरी नहीं, यह पुत्र मेरा नहीं, ये भर्ष मेरे नहीं, ये दास मेरे नहीं, ये स्नेही मेरे नहीं, ये संबंधी मेरे नहीं, यह गोत्र मेरा नहीं, यह ज्ञाति मेरी नहीं, यह सखी मेरी नहीं, यह महल मेरा नहीं, यह यौवन मेरा नहीं, और यह भूमि मेरी नहीं, यह सब मोह केवल अज्ञानपनेका है । हे जीव । सिद्धगति पानेके लिये अन्यतन्माधना उपदेश देनेवाली अन्यतन्माधनाका निवार कर । निवार कर ।

मिथ्या मन्त्रकी श्रवणा दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये मातृपूर्वक मन्म करके योग्य राजराजेश्वर मरतक चरित्रका यहाँ उद्धृत करते हैं —

भरतेश्वर

नितकी अध्यात्ममें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेजी वषोंका समूह शोभामान होता था। जिसकी राजशास्त्रमें अनेक जातिके मन्त्रोन्मत्त हाथी हुए रहे थे; जिसके अंत पुरमें नववीरना, सुकुम्भरिका और दुग्धा शिवों हजारोंकी सख्यामें घोषित हो रही थी, जिसके खजानेमें विद्वानोंका बचसा उपपन्न वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री कम्पी स्थिर हो गई थी जिसकी आकाश दब-देवगनामें आनीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे; जिसके वास्ते मोहन करनेके लिये गाना प्रकारके पदरस मोहन मन्त्र पक्षमें निर्मित होते थे, जिसके कोमल कर्णके निकलनेके लिये बागीक और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली बालंगनायें छपर रहती थी जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके मातृक उमासे किये जात थे; जिसकी यक्ष कीर्ति बलु रूपसे फैलकर आकाशके समान व्याप्त हो गई थी जिसके शत्रुओंको हुक्मे शयन करनेका समय न आया था। अध्यात्म जिसके हैरियोंकी बनिताओंके नयनोंमेंसे सदा मौलु ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुणा जिसके लो सोमर्ष था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगाड़ी जिसमें भी कोई समर्ष न था जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी माचना करता था जिसका रूप, कर्ति और सौंदर्य मनाहारक थे; जिसके अगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और दम पराक्रम उद्यम रहे थे जिसके शीघ्र करनेके लिये महासुगन्धिमय बाल-कान्धे और मन उपवन बन हुए थे जिसके यहाँ मुख्य कुम्भीयक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें छावों अनुचर सज होकर लड़े खा करते थे वह पुरुष यहाँ यहाँ जाता था यहाँ यहाँ खेल खेल उद्गारसे, कचनके झूठ और मोनियोंके दाखसे बर्षा दिया जाता था; जिसके कुकर्मणिके धरणकर्मकोंका स्वर्ग करनेके लिये इत्र जैसे भी तरलते रहते थे जिसकी आलुबशास्त्रमें महाशोभामान दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साक्षात्कृत अलंकार दीपक प्रकाशमान था; जिसके स्तरपर महान् छह लंबकी प्रसुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; जिसका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका जिसके दसका, जिसके नगर पुर और पवनका जिसके वैभवका और जिसके विकासका संसारमें किसी भी प्रकारसे न्यूनमात्र न था; ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर मरत अपने सुंदर आदर्श-मुक्तमें कलामूर्पणसे निर्भूत होकर मनोहर सिंहासन पर बैठे थे। बावो तरफक द्वार खुले थे; गाना प्रकारकी बूँोंका पूष सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; गाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थ जोरसे गोंक रहे थे गाना प्रकारके सुन्दर स्वरुक्त बागिच बागिच-कर्मसे स्वर वीर रहे थे शीतल, मन् और सुगन्धित बावुकी छहरे हुए रही थी। आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर मरत उस मुक्तमें अनुपम प्रेस दिखार् देते थे।

इनके हाथकी एक उँगाड़ीमेंसे उँगूटी निकल पड़ी। मरतका ध्यान उस और आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगाड़ी निष्पुत्र शोभाहीन भाग्य होने लगी। भी उँगाड़िये उँगूटियोंका जिस मनोहरताको धारण करती थी उस मनोहरतासे उचित इस उँगाड़ीको देखकर इसके ऊपरसे मरतेभरकी बहुत गंभीर

विचारकी स्वरूपा हुई। किस कारणसे यह ठेगानी ऐसी छाती है? यह विचार करनेपर उसे माझूम हुआ कि इसका कारण केवल ठेगानीमेंसे औगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी ठेगानीकी औगूठी भी निकाल ली। जैसे ही दूसरी ठेगानीमेंसे औगूठी निकाली, वैसे ही वह ठेगानी भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी ठेगानीमेंसे भी औगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई। फिर चौथी ठेगानीमेंसे भी औगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी। इस तरह भरतने क्रमसे दसों ठेगानियों वाली करवायी। खाली हो जानेसे ये सबकी सब ठेगानियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगी। इनके शोभाहीन माझूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्त्वमाधनमें गड़गड़ होकर इस तरह बोले:—

जहाँ हो। कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुल्लुखतामूर्क बननेसे मुद्रिका बनी इस मुद्रिकासे मेरी ठेगानी सुंदर दिखाई दी; इस ठेगानीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे निपरीत ही रूप दिखाई दिया। निपरीत रूपसे ठेगानीकी शोभाहीनता और नगाहन खेदका कारण हो गया। शोभाहीन माझूम होनेका कारण केवल औगूठीका न होना ही ठहरा न? यदि औगूठी होती तो मैं ऐसी जशोमा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह ठेगानी शोभाको प्राप्त हुई; इस ठेगानीसे यह हाथ शोभित होता है इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है, फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ? बड़े आश्चर्यकी बात है। मेरी इस मानी जाती हुई मनोहर कांतिकी और भी विशेष दौलत करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके व्यङ्ग्य और रगविरंगे बह ही सिद्ध हुए। यह कांति मेरी लज्जाकी शोभा सिद्ध हुई; यह लज्जा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है जहाँ हो। यह कैसी उज्ज्वली बात है। जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल लज्जासे, वह लज्जा कांतिके, और वह कांति बलात्कारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं? क्या यह केवल खरिद, मंस और हाथों का ही पबर है? और इस पबरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ। कैसी मूढ़। कैसी भ्रमणा। और कैसी विचित्रता है। मैं केवल परपुत्रकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ। किसी और चीजसे रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ? और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें मग्न मात्र रहूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और बुरा है। इस मेरी आत्मता इस शरीरसे कभी न कभी नियोग होनेवाला है। जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने लगी चापगी तब इस देहके यहाँ पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अपना मानूँ यह केवल मूर्खता ही है। जिसका कभी न कभी नियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्त्वमाधनको ही धारण किये हुए है उसमें मगल क्यों रखना चाहिये? जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है? नहीं, नहीं। जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, यह करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-मुद्रिका अर्थ है। यह समस्त सृष्टि जनत वस्तुओंसे और जनत पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर इसी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

सकती है ? कइो ! मैं बहुत भूख गया । मिथ्या मोहमें पँस गया । वे नचपीकनाये, वे माने हुए कुछ-
दीनक पुत्र, वह बहुत छद्मी, वह छद्म शङ्का महान् राज्य—मेरा नहीं । इसमेंका छेशमात्र भी मेरा
नहीं । इसमें मेरा कुछ भी भग्न नहीं । जिस क्षणसे मैं इन सब वस्तुओंका उपभोग करता हूँ,
जब वह भोग्य वस्तु ही मेरी न हुई तो मेरी दूसरी मानी हुई वस्तुयें—स्नेही, कुटुंबी इत्यादि—किर क्या
मेरे हो सकते हैं ? नहीं, कुछ भी नहीं । इस ममत्वभाषकी मुझे कोई आक्षेपकता नहीं ! यह पुत्र, यह
मित्र, यह कनक, यह वैभव और इस छद्मीको मुझे अपना मानना ही नहीं । मैं इनका नहीं और वे
मेरे नहीं ! पुण्य आदिखे साधक केरने जो जो वस्तुयें प्राप्त कीं वे वे वस्तुयें मेरी न हुईं
इसके समान सत्तरमें दूसरी और क्या स्नेहकी बात है ? मेरे उभ पुण्यत्वका क्या यही परिणाम है !
अन्तमें इन सबका विभोग ही होनेवाला है न ? पुण्यत्वके इस फलको पाकर इसकी इन्द्रिये किये किये जो
जो पाप किये उभ सबको मेरी आत्माको ही भोगना है न ? और वह भी क्या बकेड़े ही ? क्या इसमें
कोई भी सपनी न होगा ? नहीं नहीं । ऐसा अल्पत्वभावना होकर भी मैं ममत्वभाव बताकर आत्मत्व
अद्वैतीय होऊँ और इसको पैत्र नरकका मोछा बनाऊँ, इसके समान दूसरा और क्या अज्ञान है ?
पेसी कौनसी भ्रमणा है ! ऐसा कौनसा अविशेष है ? भ्रैष्ठ्य शब्दाका पुरुषोत्तम में भी एक गिना
जता हूँ, फिर भी मैं ऐसे इत्यको दूर न कर सऊँ और प्राप्त की हुई प्रभुताको भी खो बैठूँ, यह सर्वथा
अनुचित है । इन पुत्रोंका, इन प्रमदाओंका, इस राज-वैभवका, और इन बहल आदिके सुखका मुझे
कुछ भी अनुत्तरा नहीं ! ममत्व नहीं ।

राजराजेश्वर मरठके अन्त-करणमें वैराग्यका ऐसा प्रकाश पड़ा कि उनका तिमिर-पट दूर हो गया ।
उन्हें छुल्लपल प्राप्त हुआ जिससे समस्त कर्म नष्टकर मसीमृत हो गये । म्हादिव्य और सख-
किरणसे भी अनुपम कवितमाल कवचज्जाल प्रगट हुआ । उसी समय इन्होंने पञ्चमुद्रि केयकोंच किया ।
शास्त्रान्तरोंने इन्हें साधुके उपकरण प्रदान किये; और वे म्हावीररणी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति,
चौबीस दशक, तथा आग्नि, व्याधि और उपाधिसे निरक्त हुए, अप्रथ सत्तरके सम्पूर्ण सुख निवृत्तसे
इन्होंने निवृत्ति प्राप्त की, प्रिय अप्रियका भेद दूर हुआ, और वे निरन्तर स्तवन करने योग्य परमत्मा हो गये ।

प्रमाणशिक्षा—इस प्रकार छद्म सबके प्रभु वैशेषिके देखके समान, बहुत साधान्त्र्य छद्मीके मोछ,
महाभासुके बनी, अनेक एनके बारक राजराजेश्वर मरठ आदर्श-मुक्तमें केवल अल्पत्वभावनाके उत्पन्न
होनेसे छद्म वैराग्यवान् हुए ।

मरतेनरका कम्पुत मनन करने योग्य चरित्र सत्तरकी शोकार्त्तता और उन्मत्तनताका पूरा
पूरा गान उपदेश और प्रमाण उपस्थित करता है । कइो ! इनके घर किम बातकी कमी थी ? न
इनके घर नचपीकना कियेकी कमी थी न राज-आदिकी कमी थी न पुत्रोंकी समुदायकी कमी थी
न कुटुंब-परिवारकी कमी थी न विजय-सिद्धिकी कमी थी न नचनिधिकी कमी थी, न रूपकांति-
की कमी थी और न यश-कीर्ति की ही कमी थी ।

इस तरह पहले कइो हुई उनकी आदिका पुत्र स्मरण करकर प्रमाणके द्वारा हम शिक्षा-प्रसादी
यही देना चाहते हैं कि मरतेनरने निवेकसे अल्पत्वके स्वरूपको देखा जाना, बार सर्व-कंपुतवत् सत्तरका

परिपक्व करके उसके मन्त्रको मिथ्या सिद्ध कर बताया । महावैराग्यकी अवस्था, निर्ममत्व, और अहमशक्तिकी प्रपञ्चता ये सब इन महायोगीश्वरके चरित्रमें गर्भित हैं ।

एक ही पिताके सौ पुत्रोंमेंसे नित्यानेके पुत्र पङ्कजेसे ही आत्मकल्याणका साधन करते थे । सबेरे इन मरतेश्वरने अहमसिद्धि की । पिताने भी इसी कल्याणका साधन किया । उचरोत्तर होनेवाले मरतेश्वरके राज्यस्थानका भोग करनेवाले भी इसी आदर्श-मुक्तने इसी सिद्धिको पाये हुए कहे जाते हैं । यह सकल सिद्धिसाधक मङ्गल अन्त्यको ही सिद्ध करके एकरत्नमें प्रवेश कराता है । उन परमात्माओंको अभिबन्दन हो !

शार्ङ्गविश्रीवित

देखी आँखि आप एक लखी, वैराग्य बेगे गया,

छाँड़ी राजसमाजने मरतबी, कैवल्यझाली पया;

चोथु चित्र पवित्र एव चरिते, पाम्यु अहीं पूर्णता,

झानीना मन तेज रत्नम करो, वैराग्य भाये पया ॥ १ ॥

विशेषार्थ — अपनी एक उगळी शोभाहित देखकर जिसने वैराग्यके प्रवाहमें प्रवेश किया, जिसने राज-समाजको छोड़कर कैवल्यझालको प्राप्त किया, ऐसे उस मरतेश्वरके चरित्रका बतानेवाला यह चौथा चित्र पूर्ण हुआ । वह यथायोग्यरूपसे वैराग्यमात्र प्रदर्शन करके झाली पुरुषके मनको रत्नम करनेवाला होभो !

पंचम चित्र

अष्टाभिभाषना

गीतावृत

छाण मूत्र मे मरुनी, रोग जरनु निवासनु चाम;

काया एवी गणि न, मान त्यजीन कर साएक आम ॥ १ ॥

विशेषार्थ — हे चैतन्य ! इस कायाका मूत्र और मूत्रकी छाण, रोग और बृद्धताके रहनका चाम मानकर उसका निष्पामिमान त्याग करके समुत्तमकी तरह उसे समस्त कर !

इन मंगलान् समुत्तमका चरित्र यहीं अष्टाभिभाषनाकी सफला बतलानेके लिये आरम्भ किया जाता है ।

सनत्कुमार

(दण्ड गृह ६०-७१; पाठ ७०-७१)

ऐसा होनेपर भी आम चक्कर मनुष्य रहकर सब देहोंमें उत्तम रहना पड़ेगा । कहेनकर तात्पर्य यह है कि इस मिदगतिकी सिद्धि हावी है । तत्संबन्धी सब शाकाजोका दूर करनेका उद्योग यही नाममात्र ध्यात्मन किया गया है ।

जब आमार शुभकर्मका उद्योग जाता तब यह मनुष्य रह गिरा । मनुष्य अयात दा दाय, न पर, न अंग, दा कान एक मुँह, न भोट आर एक माकुरात देहका धामी मही, परन्तु इसका मर्म

पुत्र पुत्र ही है। यदि हम इस प्रकार अविवेक स्थिति में तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनने में क्या दोष है। इस विचारको ता एक पूँछ और भी अधिक प्रसन्न हुई है। परन्तु नहीं, मनुष्यत्वका भर्म यह है कि जिसके मनमें विवेक-बुद्धि उत्पन्न हुई है वही मनुष्य है, बाकी इसके सिवाय तो सभी दो पैरवाले पशु ही हैं। मेघाली पुरुष निरंतर इस मानवपनेका भर्म इसी तरह प्रकाशित करते हैं। विवेक-बुद्धिको उत्पत्ति मुल्लिके राजमार्गमें प्रवेश किया जाता है, और इस मार्गमें प्रवेश करना ही मानवदेहकी उच्चमता है। फिर भी यह बात संदिग्ध स्थानमें रखनी उचित है कि वह देह तो सर्वथा अनुचितमय और अनुचितमय ही है। इसका स्वभावमें इसके सिवाय और कुछ नहीं।

भास्वनाशेष प्रेयसे अनुचितमयत्वको उपदेशके लिये प्रथम दर्शनके पौनर्वासे विप्रमें सनत्कुमारका दृष्टान्त और प्रत्यक्षशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दोषीन पठ चित्र निवृत्ति-बोध हरिताल छन्द

अमृत सीधम नाम हु क त्वां यही न मिश्रता ।
अमृत हुः क नाम सीधम प्रेम त्वां, विविश्रता ॥
उपाह न्याय नेत्रने निहाल्ले । निहाल्ल तुं ।
निवृत्ति शीघ्रमेव धारि तं प्रवृत्ति बाळ तु ॥ १ ॥

विचारार्थ — जिसमें एकल और अनंत सुखकी तरंगें उठक रही हैं ऐसे शीघ्र-ज्ञानको केवल नाममात्रके हु कसे तग जाकर उन्हें मिश्रकृत नहीं मानता और उनको एकरस सुख मानता है। और केवल अमृत हु कस्य ऐसे संसारके नाममात्र सुखमें तेष परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी निविश्रता है। वही चेतन ! जबतु अपने व्यायकमी नेत्रोंको खोलकर देख । देख । देखकर शीघ्र ही निवृत्ति वर्षात् महावैद्यमयको वारण कर और मिथ्या काम-भोगको प्रवृत्तिको जडा दे ।

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृष्ट करनेके लिये तब वैद्यमयान् सुवराज भृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ उद्धृत किया है। तू कैसे इसको सुख मान बैठ है ! और कैसे सुखको हु क मान बैठ है ! इसे सुवराजके सुख-वचन ही यायातम्य सिद्ध करेंगे।

भृगापुत्र

नामा प्रकारके मगोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानमें सुशोभित सुवीर्यनाम्नका एक मगर था। उस नगरमें अक्षय्य नामक एक उद्यान उत्पन्न करता था। उसकी मिश्रभाषिणी पठयनिका नाम भृगा या। इस रक्षिके बहमी नामक एक कुमार उत्पन्न हुआ किन्तु सब छोम इसे भृगापुत्र कहकर ही पुकारा करते थे। वह अपने माता पिताको अत्यन्त प्रिय था। इस सुवराजने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी सपत्तिके गुणोंको प्राप्त किया था। इस कारण यह दमोदर वर्षात् पत्तिपोंमें जमेसुर गिने जाने योग्य था। वह भृगापुत्र शिखरवर्ध नामकासी प्रासादमें अपनी प्राणप्रियाको साथ योग्यहक देवके समान विभूष किया करता था। वह निरंतर प्रमोदसहित मनसे रहता था। उसके प्रासादका कर्षा चक्रवर्त्तन आदि मणि

आर विविध रत्नोंसे जड़ा हुआ था। एक दिन वह कुमार अपने छारोकेमें बैठा हुआ था। वहाँसे मगरका परिपूर्णरूपसे निरीक्षण होता था। इतनेमें मृगापुत्रकी दृष्टि चार रात्रमार्ग मिश्रनेवाले आरायफ उस सगम-स्थानपर पड़ी जहाँ तीन रात्रमार्ग मिलते थे। उसने वहाँ महाताप, महानियम, महासपन, महारीक्ष और महामुणिके धामरूप एक शान्त तपस्वी साधुको देखा। ग्यों ग्यों समय बीतता जाता था, त्यों त्यों उस मुनिको वह मृगापुत्र निरस निरसकर देख रहा था।

पंसा निरीक्षण करनेसे वह इस तरह बोध उठा—जान पड़ता है कि मैंने पंसा कम कहीं देखा है, आर पंसा बान्धते बोधते उस कुमारका द्रुम परिणामोंकी प्राप्ति हुई, उसका मोहका पड़दा हट गया, और उसके भानोंका उपशमना होनेसे उसे लक्षण जसिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वजातिका स्मरण उत्पन्न होनेसे महाकदिके माफ़ा उस मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रिका भी स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही उस विषयसे विरक्त हुआ, आर समयकी आर आह्वय हुआ। उसी समय वह माता पिताका समीप जाकर बोला कि मैंने पूर्वमन्त्रमें पाँच महाव्रतोंके विषयमें सुना था; मरकके अनन्त दुःखोंको सुना था, और तिर्यक्गतिक भी अनन्त दुःखोंको सुना था। इन अनन्त दुःखोंसे दुःखित होकर मैं उनसे निवृत्त हानका अभिलाषा हुआ हूँ। हे गुरुजनो! ससारकपी समुद्रसे पार होनेके लिये मुझ उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी आज्ञा दो।

कुमारके निवृत्तिपूर्ण बचनोंका सुनकर उसके माता पिताने उस भागोंका मागनेका आसन्न प्रिया। आमत्रणक बचनोंसे खन्निख होकर मृगापुत्र ऐसे कहन लगा, कि हे माता पिता! जिस भागोंका माग नेका आप मुझे आमत्रण कर रहे हैं उन भागोंकी मैंने सब मोग लिया है। वे भाग विषयक—विषाक वृक्षके फलक समान हैं। वे भागोंके बाद कड़वे विषाकको देते हैं, और स्वप्न दुःखान्तिक कारण हैं। यह शरीर अनित्य और सर्वथा अद्रुचिमय है। अद्रुचिस उत्पन्न हुआ है। यह जीवका वशावत बन्स है, आर अनन्त दुःखका हनु है। यह शरीर रग, जरा और स्नेहा आदिका भाजन है। इस शरीरमें मैं रति कैसे करूँ? इस बातका कार्य नियम नहीं कि इस शरीरको बाधकपनमें छोड़ देना परेगा अपना वृद्धपनमें। यह शरीर पानीके फलके बुलबुलक समान है। ऐसे शरीरमें स्नह करना कैसे पाय्य हो सकता है? मनुष्यत्वमें इस शरीरको पाकर यह शरीर कैसे, जरा बगरे व्याधिस आर जरा मरणस प्राप्त रहता है, उसमें मैं क्यों प्रेम करूँ?

जन्मका दुःख, जराका दुःख, रोगका दुःख, मरणका दुःख—इस तरह इस ससारमें कबल दुःख ही दुःख है। भूमि—क्षेत्र, घर कचन, कुटुम्ब, पुत्र प्रमत्ता, बाधक इन सबका छोड़कर कबल श्रेय पाकर इस शरीरका छोड़कर अपश्य ही जाना पड़ेगा। जिस प्रकार विषाक वृक्षके फलका परिणाम सुखान्तिक नहीं होता वैस ही मोगका परिणाम भी सुखान्तिक नहीं होता। जैसे कार्य पुण्य महाप्रव्रत पुण्य कर किन्तु साधने अम-व्रत न छ, तो आमा जाकर उसे वह भुषा-भुषासे दुःखी होता है, वस ही धर्मके आचरण न करनेस परमममें जाता हुआ पुण्य दुःखी होता है; और जन्म जरा आदिस पीडित होता है। जिस प्रकार महाप्रव्रतमें जानबाधा पुण्य अम-व्रत आदि साधने लेनस भुषा-भुषास रहित होकर सुमका प्राप्त करता है वैस ही धर्मका आचरण करनेवाला पुण्य परमममें जाता हुआ सुमका पाता है अन्य कर्मरहित होता है और अमृताभेन-न्यायस रहित होता है। हे गुरुजनो! वैस जिस समय किसी गृहस्थका घर जलन छाता है, उस समय उस घरका माडिन कबल अमृष्य वस्त्र आदिवा ही ठेकर बासीके जीर्ण वस्त्र आदिका छोड़ देता है, वस ही धर्मका जज्जा देखकर जीर्ण वस्त्ररूप जरा मरणको छोड़कर उस हाहसे (जान आज्ञा दे ता मैं) अमृष्य आमाका उबार है।

मृगापुरके ऐसे बच्चोंको छुमकर मृगापुरके माता पिता होकार्त होकर बोले, हे पुत्र ! यह क्या करता है ! चारित्रिका पाखना बहुत कठिन है । उसमें यतिपौका धमा आदि गुणोंको धारण करना पड़ता है, उन्हें निबाहना पड़ता है, वीर उमकी यत्नसे रक्षा करनी पड़ती है । संयतिको मित्र और शत्रुमें समभाव रखना पड़ता है । सपतिको अपनी और दूसरोंकी आत्माके ऊपर सममुद्रि रखनी पड़ती है, अपना सम्पूर्ण जगत्के ही ऊपर समानभाव रखना पड़ता है—ऐसे पाखनेमें दुर्धम प्राणातिपातविरति नामके प्रथम श्रतको जीवनपर्यन्त पाखना पड़ता है । सपतिको सदैव अप्रमादपनेसे मृगा बचनका त्यागना, व्रितकारी बचनका बोधना—ऐसे पाखनेमें हुक्कर दूसरे श्रतको धारण करना पड़ता है । संयतिको गृह-क्षोषणक सिधे एक लोकलक भी किना दिये हुए न लेना, निर्धन और दोषरहित मिश्राका भ्रमण करना—ऐसे पाखनेमें हुक्कर तीसरे श्रतको धारण करना पड़ता है । काम-भोगके स्वादको जानने वर अप्रसाधर्य धारण करनेका त्याग करके सपतिका ब्रह्मचर्यरूप चौथे श्रतको धारण करना पड़ता है, व्रितका पाखन करना बहुत कठिन है । धन, वाण्य, दासका स्मृदाय, परिग्रह, सम्पत्तिका त्याग, सब प्रकारके आरमका त्याग, इस तरह सर्वथा निर्वन्धनसे यह पौंचवां महाश्रत धारण करना संयतिको अल्पत ही निकट है । शत्रुनोजनका त्याग, और वृत्त आदि पश्याधिक बासी रखनेका त्याग, यह भी अति हुक्कर है ।

हे पुत्र ! २ चारित्र चारित्र क्या रहता है ? क्या चारित्र किसी दूसरी कोई भी दुःखप्र कस्तु है ? हे पुत्र ! सुधाका परिग्रह सहन करना, तृपाका परिग्रह सहन करना, टंडका परिग्रह सहन करना, उष्ण-तापका परिग्रह सहन करना, बौस मण्डका परिग्रह सहन करना, आननेश परिग्रह सहन करना, उपासका परिग्रह सहन करना, तृण आदि स्पर्शका परिग्रह सहन करना, मक्षका परिग्रह सहन करना; निश्चय मन कि ऐसा चारित्र कैसे पाखना जा सकता है ? बचका परिग्रह, वीर बचके परिग्रह कैसे निकट है ? मिश्राचरी कैसे दुर्धम है ? बाचना करना कैसा दुर्धम है ? बाचना करनेपर भी कस्तुका न मिळना यह अकाम परिग्रह कितना कठिन है ? कायर पुरुषोंके हृदयकी मेर डालनेवाला केराडोंच कैसा निकट है ? तू विचार कर, कर्म-वैरीके सिधे रौद्ररूप ब्रह्मचर्य श्रतका पाखना कैसा दुर्धम है । सचमुच, अर्वां आत्माको यह सब अति अति निकट है ।

प्रिय पुत्र ! ३ सुख भोगनेके योग्य है । तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रंजिते निर्मल लाल करनेके तां सर्वथा योग्य है । प्रिय पुत्र ! निश्चय ही तू चारित्रको पाखनेमें समर्थ नहीं है । चारित्रमें माकजीवन भी विश्राम नहीं । सपतिके गुणोंका म्हासमुदाय छोड़के तब बहुत मारी है । संयनके मारका क्खन करना अल्पत ही निकट है । जैसे आकाश-नीगाद प्रवाहक सामने जाता हुक्कर है वैसे ही यौवन कयमें समयका पाखना महादुष्कर है । जैसे बोलके निद्रा जाना कठिन है, वैसे ही यौवन कयसामें समयका पाखना महाकठिन है । जैसे मुजाअंसि समुद्रका पार करना दुष्कर है, वैसे ही पुत्रा कयमें संयमगुण-समुद्रका पार करना महादुष्कर है । जैसे रेतका कौर नीरस है वैसे ही समय भी नीरस है । जैसे काइकी धारके ऊपर चखना निकट है वैसे ही तपका आचरण करना महाशिकर है । जैसे सूर्य एकदंत बर्षात् सीपी बधिते बसता है वैसे ही चारित्रमें ईर्ष्यातमिसिके कारण एकजन्तकसे चखना महादुष्कर है । हे प्रिय पुत्र ! जैसे लोहेके बनोको चबाला कठिन है वैसे ही समयका पाखना भी कठिन है । जैसे अग्निही शिवाका पाल करना दुष्कर है वैसे ही यौवनमें यतिपना बर्गीकार करना महादुष्कर है । जैसे आपत मर सहननके धारक कायर पुरुषका पतिपनेको धारण करना और पाखना दुष्कर है, वैसे तराजूसे मेर पर्वतका तोखना दुष्कर है, वैसे ही निश्चयसे,

शंकारहित दण प्रकारके पतिधर्मका पाछना दुष्कर है। जैसे मुजाबोसे स्वयंभूरमण समुद्रका पार करना दुष्कर है वैसे ही उपशमहीन मनुष्योंका उपशमकामी समुद्रको पार कर जाना दुष्कर है।

हे पुत्र ! गन्ध, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच प्रकारके मनुष्यसंबन्धी भोगोंको भोगकर मुक्तभोगी होकर तू हृदय अवस्थामें धर्मका आचरण करना। माता पिताके भोगसंबन्धी उपदेश सुन कर वह धृगपुत्र माता पितासे इस तरह बोला —

बिसके निषयकी ओर रुचि ही नहीं उसे सपमका पाछना कुछ भी दुष्कर नहीं। इस अहमने शारीरिक और मानसिक बेदनाको असतात्पसे अनंत बार सहन की है—भोगी है। इस अहमने महादुःखसे पूर्ण भयको उत्पन्न करनेवाली अति रीढ़ बेदनाएँ भोगी हैं। जन्म, जरा और मरण ये भयके धाम हैं। क्षतुनिकारी ससार-जन्ममें भटकने हुए मैंने अति रीढ़ दुःख भोगे हैं। हे गुहजना! मनुष्य लोकमें अग्नि जो अविशम उष्ण मानी गई है, इस अग्निसे भी अमरगुनी उष्ण ताप-बेदना इस अहमने नरकमें भोगी है। मनुष्यलोकमें ठंड जो अति शीतल मानी गई है, इस ठंडसे भी अनतगुनी ठंडको असतात्पूर्वक इस अहमने नरकमें भोगी है। छोटेके याजनमें ऊपर पैर बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवताओंका प्रीतिपासे बनई हुई चपकरी हुई अग्निसमें आकंदन करते हुए इस अहमने अत्यन्त ठम दुःख भोगा है। महादुःखकी अग्नि जैसी मरुतशकी बहमप बाइके समान काल नामकी गनीकी बाइ है, पूर्वकाजमें ऐसी उष्ण बाइमें मेरी यह अहमा अनंतबार जकई गई है।

आकंदन करते हुए मुझे मोहन फलानेके भरतममें फलानेके छिये अनंतबार पटका गया है। नरकमें महारोद्र परमाधार्मिकोंने मुझे मेरे कड़वे निषाकके छिये अनंतबार ऊँचे बुझकी शाखासे बाँधा है। शब्दवहित मुझे छम्बी छम्बी आरिषोसे पीठा है अति तीव्र कण्ठसे व्याप्त ऊँचे शास्त्रिक बुझसे बाँधकर मुझे महान् खेद पहुँचाया है। पाशमें बाँधकर आगे पीछे लींचकर मुझे अत्यन्त दुःखी किया है। महा असह्य क्रोधमें ईश्वरी तरह अति रीढ़ताते आकंदन करता हुआ मैं पैका गया हूँ। यह सब जो भोगना पड़ा वह केवल अपने अधुम कर्मके अनंतबारक दरपसे ही भोगना पड़ा। राम नामके परमाधार्मिकोंने मुझे कुछा बनाया; शकश नामके परमाधार्मिकोंने उस कुचेके रूपमें मुझे जमीनपर गिराया; जौन बचकी तरह फड़ा; बुझकी तरह कट्टा; इस समय मैं अत्यन्त छपपत्ता था।

विकरत मझसे, माछेसे गया बूरे शरसे उन प्रबंहीने मेरे टुकड़े टुकड़े किये। नरकमें पातकसे जन्म लेकर महान्मे यज्ञान् दुःखोंके भोगनेमें विकरत भी कमी न रही थी। परतत्र मुझको अर्धत प्रगम्भित रूपमें रोझकी तरह जबरदस्ती जीता गया था। मैं देवताओंकी वैशिष्ट्यक अग्निसमें महिषकी तरह जकपा गया था। मैं माझमें भूला जाकर असतात्से अत्युप बेदना भोगता था। मैं ठंड और गिद नामके विकरत पश्रिषोकी सणसीके समान चोचोसे पैपा जाकर अनंत बेदमसे क्यार होकर विद्यम करता था। तुपाके कारण जल पीनकी आगुलामें बेगमे दाइते हुए मैं घुरकी धारके समान अनंत दुःख देवेबाइ बैतरणीके घालीका पाता था। वहीं मैं तीव्र यज्ञकी धारके समान पचोबाइ और महातापसे संगम ऐसे अगिनय बममें जस्ता था। बाँहोर पूर्वराजमें मुझे जनन बार डेरा गया था। मुझसे, तीव्र शयसे किटप्ये, मयमस और गन्धसे मेरा शरीर मज किया गया था। शरण रूप मुझके बिना मैं अरण्यरूप अनंत दुःखको पाता था। मुझ कजके समान घुरकी तीव्र धारसे, घुरसे और कैचीसे कटता गया था। मेरे यह यह टुकड़ किए गये थे। मुझे जका बारबार कटता गया था। बररर सट्ट करनी हुई मेरी लका उगायी गई थी। इस प्रकार मैंने अनंत दुःख पाये थे।

मैं परमात्मासे युगकी तरह अनन्तवार पाठमें पकड़ा गया था। परमाध्यात्मिकोंने मुझे मगर मण्डके रूपमें बाल बालकर अनन्तवार बुझ दिया था। मुझ बाबके रूपमें पक्षीकी तरह बालमें कैसाकर अनन्तवार बाध था। परसा इत्यादि शक्तिसे मुझे अनन्तवार बुझकी तरह काटकर मरे छोटे छोटे टुकड़े किये थे। जैसे छुड़ा इयोचों व्यापिक प्रहारसे छोड़ेको पाँटना है वैसे ही मुझे भी पूर्वजन्ममें परमाध्यात्मिकोंने अनन्तवार कूटा था। ताँबा, छोड़ा और सीतेको अग्निमें गाढ़कर उनका कलकल शब्द करता हुआ रस मुझे अनन्तवार पिनाया था। अति रूढ़तासे वे परमाध्यात्मिक मुझ ऐसा कहते बाते थे कि पूर्वजन्ममें तुझे मौस प्रिय था अब छ यह मौस। इस तरह मैंने अपने ही सरीरमें खड खड टुकड़े अनन्तवार गटके थे। मरखी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम बुझ नहीं सहने पड़े। इस तरह मैंने म्हात्मसे, म्हात्मसे और म्हादु खसे परपर कानसे हुए अनन्त केना मोगी थी। जो वेदनामें सहनेमें अति तीव्र, रूढ़ और उत्कृष्ट काळ स्थितिकी है, और जो सुमनेमें भी अति मयकर है ऐसी वेदनामें उस मरकमें भैने अनन्तवार मोगी थी। ऐसी वेदना मनुष्यजन्ममें दिखाई देती है उसमें भी अमरगुनी अधिक असातावेदनीय मरकमें थी। भैने सर्व मर्गमें असातावेदनीय मोगी है। वही क्षणमात्र भी सुख न था।

इस प्रकार मृगापुत्रने वैद्यम्यामसे संसारक परिभयणके दुःखको कहा। इसके उत्तरमें उसके माता पिता इस तरह बोले, कि हे पुत्र ! यदि तेरी इच्छा दीक्षा केनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, परन्तु आरिक्में ऐंगोत्पत्तिके समय तेरी चक्षु कील करेगा। बुद्धिनिवृत्ति कील करेगा। इसके बिना बड़ी कठिनाता होगी। मृगापुत्रने कहा यह ठीक है परन्तु आप विचार करें कि कनमें मृग और पक्षी अकेले ही रहते हैं, अब उन्हें रोग उत्पन्न होता है तो उनकी चिकित्सा कील करता है। जैसे वनमें मृग अकेले ही बिहार करते हैं वैसे ही मैं भी आरिजन्ममें बिहार करूँगा, और उन्म प्रक्षरके बुद्ध समयमें अनुपगामी होऊँगा बाह्य प्रक्षरके उपका आचरण करूँगा तथा मृगचर्यासे चिकित्सा। जब मृगकी कनमें रोगका उपद्रव होता है तो वही उसकी चिकित्सा कील करता है। ऐसा कहकर वह पुनः बोला, कि उस मृगकी कील आगवि देता है। उस मृगके आत्मन्, स्थिति और सुखको कील पूँछता है। उस मृगकी बाह्यर जल कील बनकर देता है। जैसे वह मृग उपद्रवग्रस्त होनेके बाद ग्रहण कनमें वही सुरेकर होता है, वही जाता है और वास पानी आदिवा सेवन करके फिर मयेच्छ रूपसे बिचरता है वैसे ही मैं भी चिकित्सा। समस्त यह है कि मैं इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी युगके समान संयमान होऊँगा। अनेक स्थानमें बिचरता हुआ यदि युगके समान अप्रतिबद्ध रहे। यतिको चाहिये वह युगके समान बिचरकर मृगचर्याका सेवन करके, समान हुए करके बिचरे। जैसे मृग, लूण जब आधिक्य गोचरी करता है वैसे ही यदि भी गोचरी करके संयम-मार्गसे निर्बद्ध करे। वह कुल्लारके शिष्य गृहस्थका निरस्तार अपना उच्छकी निश न करे, मैं ऐसे ही संयमका आचरण करूँगा।

एवं पुत्रो महासुखं—हे पुत्र ! जैसे तुझे सुख ही वैसे कर। इस प्रकार माता पिताने बाबा दे दी। बाबा मित्रते ही जैसे म्हात्माग चक्षुकी आगकर जला जाता है वैसे ही वह मृगापुत्र मयममालको मय करके संसारको त्यागकर संयम-धर्ममें साधना हुआ और कचन कामिनी मित्र पुत्र, शक्ति और छो सत्वियोक्ता परिणामी हुआ। जैसे वनकी शक्तिकर बुझको शाह बाधने हैं वैसे ही वह भी समस्त मर्गको त्यागकर दीक्षा केनेके लिये निकल पड़ा। वह पवित्र पौत्र म्हात्मासे मुक्त

हुआ; पौंच समितियोंसे सुदोषित हुआ त्रिगुनियोंसे गुम हुआ, बाधा और अन्यतर द्वांश तपसे समुक्त हुआ; ममस्वरहित हुआ, निरुद्धकारी हुआ, शियों आदिके सगसे रहित हुआ और इसका समस्त प्राणियोंमें समभाज हुआ। अह्मर जल प्राप्त हो अपना न हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, कोई स्तुति करा अथवा कोई निंदा करो, कोई मम करा अथवा अपमान करो, वह उन सबपर समभाजी हुआ। वह ऋद्धि, रस और सुख इन तीन गर्भोंके अहंप्रस विरक्त हुआ, मनः, वचनः और कायदंडसे निवृत्त हुआ, चार कपायोंसे मुक्त हुआ वह मायाशून्य, निगनशून्य और मित्यस्त्यशून्य इन तीन शून्योंसे विरक्त हुआ; सत महाभयोंसे भयरहित हुआ ह्याभ्य और शांतिसे निवृत्त हुआ, निगनरहित हुआ, राग द्वेषरूपी वचनसे छूट गया चौंछारहित हुआ, सब प्रकारके विडाससे रहित हुआ और कोई तलवारसे काटे या कोई चमनका विधेय करे उसपर समभाजी हुआ। उसने पापके अनेकें सब शत्रुओंको बंद कर लिया; वह भुक्त अन्न कारण सहित भ्रमभ्यास आदि व्यापारमें प्रशस्त हुआ, विनेन्द्र-शासनके तत्त्वोंमें परायण हुआ; वह हानसे, आप्यचारित्र्यसे, सम्पत्तसे, तपसे और प्रत्येक महाव्रतकी पौंच पौंच भावनाओंसे अर्थात् पौंचों महाव्रतोंकी पचीस भावनाओंसे, और निर्ममतासे अनुमम-कमसे निमृपित हुआ। अतम वह महाज्ञानी युवायुत्र मय्यक् प्रकारसे बहुत वर्णनक अहम-चारित्रकी सेवा करके एक मामका अनान करके सर्वोच्च मोक्षगतिमें गया।

प्रमाणगणिता — तत्त्वज्ञानियोंद्वारा सप्रमाण सिद्धकी हुई द्वांश भावनाओंमें की सप्ताष्टभावनाओंसे एक करनेके लिये यहाँ मृगयुत्रके चारित्रका वर्णन किया गया है। सुमार जन्मीमें परिभ्रमण करनेमें अनंत दुःख है यह विवेक-सिद्ध है और इसमें भी त्रिसमें नियममात्र भी सुख नहीं ऐसी नरक अभोगतिके अनंत दुःखोंको मुक्त इतनी योगीन्द्र मृगयुत्रने अपने माता पिताके सम्मने वर्णन किया है। वह केवल सप्ताष्टसे मुक्त होनेका वीतरागी उपदेश देता है। अहम-चारित्रके धारण करनेपर तप, परिश्रम आदिके बाव्य दुःखोंको दुःख मानना और महा अभोगतिके भ्रमणरूप अनंत दुःखका बहिर्मात्र माहिर्मात्रे सुख मानना, यह देखा फेसी अममिचित्रता है। अहम-चारित्रका दुःख दुःख नहीं, परन्तु वह परम सुख है, और अन्तमें वह अनंतसुख-तरंगकी प्राप्तिका कारण है। इसी तरह भोगविडास आदिको सुख भी धनिक और बहिर्दृश्य सुख केवल दुःख ही है, वह अन्तमें अनंत दुःखका कारण है; यह बात सप्रमाण सिद्ध करनेके लिये महाज्ञानी मृगयुत्रके वराम्मको यहाँ दिखाया है। इस महाप्रमाणान, महा यशोमान मृगयुत्रकी तरह जो साधु तप आदि और अहम चाग्रि आदिका सुबाचरण करता है, वह उत्तम साधु त्रिदाकमें प्रसिद्ध और सर्वोच्च परमसिद्धिनायक मिदगनिक पता है। तत्त्वज्ञानी सप्ताष्टके ममवक्त दुःखद्विद्वय मानकर इस मृगयुत्रकी तरह परम सुख और परमानन्दके पण्डित ज्ञान, दर्शन चारित्ररूप त्रिव्य विगामगिणी आराधना करते हैं।

महिर् मृगयुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (सप्ताष्टभावनाके रूपमें) ममार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तियोंका उपदेश करता है। इसके ऊपरसे अहम-संनका नाम निवृत्ति-बोध रगदर आहम-चारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगयुत्रका यह चरित्र यही पूर्ण होना है। तत्त्व-ज्ञानी सुना ही सप्ताष्ट-परिभ्रमणकी निवृत्ति और मारण उपकरणकी निवृत्तिका पत्रि विचार करने रहते हैं।

इस प्रकार अहम-संनिके सप्ताष्टभावनाके छंदे चित्रमें मृगयुत्र चरित्र समाप्त हुआ।

सप्तम चित्र

आश्वमेधमावना

बाह्य अनिरति, सोढव कपाय, मय भोकपाय, पाँच मियाहव और फन्हा योग ये सब मिळकर सप्तावन आश्व शर अर्थात् पायके प्रवेश होनेकी प्रनाम्निकायें हैं ।

कुंडरीक

महाविदेहमें विद्याल पुंडरीकिणी नगरीके राज्यसिंहासनपर पुण्डरीक और कुण्डरीक नामके दो मर्द्ध राज करते थे । एक समय वहाँ तत्त्वविज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये । मुनिके वैराग्य बचनानुगते कुंडरीक दीक्षामें अनुरक्त हो गया, और उसने घर आनेके पश्चात् पुंडरीककी राज्य सौंपकर चारित्रिको अंगीकार किया । राजा सूखा आहार करनेके कारण बह पाँच समयमें ही रोगग्रस्त हो गया, इस कारण अतमें उसका चारित्र भंग हो गया । उसने पुंडरीकिणी महानगरीकी अशोकवाटिकामें आकर बीधा और मुखपटी इक्षपर कटका पिये और वह इस बातका निरंतर सोच करने लगा कि अब पुंडरीक मुझे राज देगा या नहीं ? अन्तर्धाने कुंडरीकको पहराव किया । उसने आकर पुंडरीकसे कहा कि बहुत व्याकुल अवस्थामें आपका मर्द्ध अशोक वागमें छड़े हुए हैं । पुंडरीकने वहाँ आकर कुंडरीकसे मनोगत मतोंको जान लिया, और उसे चारित्रसे उगमगाते देखकर बहुतसा उपदेश दिया, और अन्तमें राज सौंपकर घर चला आया ।

कुंडरीककी आज्ञासे समस्त अपना मंत्री छोड़ कोई भी न मानते थे, और वह हजार वर्षक प्रचम्यता पावन करके पतित हो गया है, इस कारण सब कोई उसे विहारते थे । कुंडरीकने राज होनेके बाद अति आहार कर लिया, इस कारण उसे रात्रिमें बहुत पीडा हुई और बदन हुआ उसपर अनीति होनेके कारण उसके पास कोई भी न आया, इससे कुण्डरीकके मनमें प्रचंड क्रोध उत्पन्न हुआ । उसने निश्चय किया कि यदि इस रोगसे मुझे शांति मिले तो फिर मैं सुख होते ही इस सबको देख दूँगा । ऐसे म्हाकुर्म्यागते मरकर वह सातवें नरकमें अपवर्ण पाषणमें तीव्रत समारकी आसुके साथ अनन्त दुःखमें आकर उत्पन्न हुआ । कैसा निपरीत आश्वमेध-शर ! ! !

इस प्रकार सप्तम चित्रमें आश्वमेधमावना समाप्त हुई ।

आष्टम चित्र

सत्वरमावना

सत्वर मावना—जो ऊपर कहा है वह आश्वमेध-शर है । और पाप-प्रनाम्निकाको सर्व प्रकारसे रोकना (आते हुए कर्म-संग्रहको रोकना) वह सत्वरमाव है ।

पुंडरीक

(पुंडरीककी कथा अनुसंधान) कुंडरीकके मुखपटी श्रयाणि उपकरणोंकी प्रधानकर पुंडरीकने निश्चय किया कि मुझे पड़िसे मर्द्ध गुहके पास जाया जायिये और उसके बाद ही सब जय प्रधान करना जायिये ।

भी पैरसे चमकेके कारण उसके पैरोंमें कंकरो और कौंटोंके चुभनेसे लूनकी धारायें निकलने लगीं तो भी वह उत्तम भ्यागमें सम्यक्मावसे अवस्थित रहा । इस कारण वह म्हाकुमाव पुंडरीक बरकर समग्र सर्वार्थसिद्धि विमानमें तीव्रत समारकी उत्कृष्ट आसुसहित देव हुआ । आश्वसे कुंडरीककी कैदी दू नदरा हुई और सबसे पुण्डरीकको कैदी सुन्दरता मिली ।

संवरमाधना-द्वितीय दृष्टांत श्रीवज्रस्वामी

श्रीवज्रस्वामी कचन-कामिनीके इष्य-भावसे सम्पूर्णतया परित्यागी थ । किसी भीमतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशकी अधुना करके उभर आइते हैं । उसने घर आकर माता पितासे कहा कि यदि मैं इस देहसे किसीका पति बनाऊँ तो केवल वज्रस्वामीकी ही बनाऊँगी ! किसी दूसरेका साथ सख्त न जानेकी मेरी प्रतिज्ञा है । रुक्मिणीकी उसके माता पितान बहुत कुछ समझाया, और कहा कि पगली ! विचार तो सही कि कहीं मुनिराज भी विवाह करत है ! इन्होंने तो आश्व-द्वारकी सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है, तो भी रुक्मिणीन न माना । निरुपाय होकर धनवा सेटन बहुतसा इष्य आर सुकपा रुक्मिणीका साथमें लिया, और जहाँ वज्रस्वामी विराजते थे, वहाँ आकर उनसे कहा कि इस छस्मीका आप यथावधि उपयोग करें, इसे बमक-कितासमें काममें लें, और इस मेरी महासुकोमल रुक्मिणी पुत्रीमें पाणिग्रहण करें । ऐसा कहकर वह अपने घर चला आया ।

यौवन-सगरमें ठहरती हुई कपकी राशि रुक्मिणीन वज्रस्वामीकी अनक प्रकारसे भोगोंका उपन्यास किया; अनेक प्रकारसे भोगके सुखोंका वर्णन किया; मनमादक हावभाव तथा अनक प्रकारके चलायमान करनेवाले बहुतसे उपाय किये; परन्तु वे सब धुया गये । महासुंदरी रुक्मिणी अपने मोह-कलाशमें निपटत हुई । उपचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मरुकी तरह अचञ्चल और अडग रह । रुक्मिणीके मन, बचन और तनक सब उपदेशों और हावभावसे बे छशमात्र भी नहीं रिफते । पत्नी महाविशास इकता देखकर रुक्मिणी समझ गई, और उसने निश्चय किया कि ये समर्थ त्रिनेत्रिय महात्मा कभी भी चलायमान होनेवाले नहीं । छोड़े और पत्थरका पिछडाना सुख है, परन्तु इस महापवित्र साधु वज्रस्वामीकी पिछडनेकी आज्ञा निरर्थक ही है, और यह अव्ययसिद्धा कारण है । ऐसे विचार कर उस रुक्मिणीने अपने पिताकी दी हुई छस्मीकी धुम क्षेत्रमें लगाकर चारियकी ग्रहण किया; मन, बचन और कायको अनक प्रकारसे दमन करके आत्म-कल्याणकी साधना की, इस तत्त्वज्ञानी संवरमाधना कहते हैं ।

इस प्रकार अष्टम चित्रमें संवरमाधना समाप्त हुई ।

नवम चित्र निर्जराभाधना

बाह्य प्रकारके तपस करके समूहको जडाकर भग्याभूत घर इच्छनेका नाम निरवभाधना है । बाह्य प्रकारके तपमें छह प्रकारका बाध और छह प्रकारका अव्ययतर तप है । अनशन, उगा दरी वृत्तिसंशय, रसरारिष्याम, कायप्रेश और सर्जालता ये छह बाध तप हैं । प्रायश्चित्त, नियम, वैराग्य, शास्त्रपटन, ध्यान, और कायोत्सर्ग ये छह अव्ययतर तप हैं । निर्जरा ही प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा । निरवभाधनापर हम एक चित्र-पुत्रका दर्शन कहत हैं ।

इन्द्रप्रहारी

किसी बाधग्रने अपने पुत्रका समर्थसतक भक्त जानकर अपने घरसे निकलत लिया । वह वहाँमें निकल पड़ा, और जाकर चारोंकी मंडलीमें जा मिला । उस मंडलीके अगुशान उस अपने काममें पराक्रमी देखकर उसे अपना पुत्र बनाकर रक्का । यह चित्रपुत्र दुष्टोंक न्यून करनेमें इन्द्रप्रहारी सिद्ध हुआ, इसका ऊपरसे इसका उपनाम इन्द्रप्रहारी पड़ा । यह इन्द्रप्रहारी चारोंका अगुश हो गया, और अगर आर धर्मोंके नाश करनेमें प्रबल शक्तिवाला सिद्ध हुआ । उसने बहुतसे प्राणियोंके

प्राण लिये। एक समय अपने साथी बालुओंको लेकर उसने एक महानगरको छूटा। दशप्रहारी एक विप्रके घर बठाया। उस विप्रके यहाँ बहुत प्रेमभावसे धीर-भोजन बनाया गया था। उस धीर-भोजनके भोजनसे उस विप्रके अशुभी बालक चिपट रहे थे। दशप्रहारी उस भोजनका छूटने लगा। शासनीन कहा, हे मूर्खराज ! इस क्यों छूटा है ? यह फिर हमारे काममें नहीं आनेगा, तू इतना भी नहीं समझता। दशप्रहारीको इन बचनोंसे प्रचंड क्रोध आ गया, और उसने उस गीन लीको मार डाला। नष्टान नष्टान शासण सहायताके लिये भागा आया, उसने उसे भी परमेशका पहुँचाया। इतनमें धर्मसे एक गायत्री हुई गाय भायी और वह अपने सींगोंसे दशप्रहारीको मारने लगी। उस महाहठसे उसे भी काटके सुपुर्द की। उसी समय इस गायक पेटमेंसे एक बछड़ा निकलकर मौके पड़ा। उसे ठकला देव दशप्रहारीके मनमें बहुत बड़ा पधावाप हुआ। मुक्त विचार है कि मैंने महावीर हिसार कर डाली। अपने इस पापसे मेरा कब सुत्कार होगा। सबमुक्त आत्म-कल्याणके साधन करनेमें ही श्रम है।

ऐसी उच्च माननासे उसने पञ्चमुष्टि कशौँच किया। वह नगरीके किसी मुहल्लेमें आकर उम कापासगति अवस्थित हो गया। दशप्रहारी पहिले इस समस्त नगरको सजाका करण हुआ था, इस कारण लोगोंने इसे अनेक तरहसे संताप देना आरम्भ किया। आते जाने हुए लोगोंके धूम-ध्वनि और ईं पथरके फेंकनेमें आर सज्जवारकी मृदसे मारनेसे उसे अत्यन्त संताप हुआ। वहाँ लोगोंने वेद मष्टिमेतक उसका अपमान किया। बादमें जब अग पथ गये तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। दशप्रहारी वहाँस कापासगतिका पाछनकर दूसरे मुहल्लेमें वेसे ही उम कापासगति अवस्थित हो गया। उस पिछाके डगाल में उसका इसी तरह अपमान किया। उन्होंने भी उसे देव मष्टिने तंग करके छोड़ दिया। वहाँस कापासगतिका पाछनकर दशप्रहारी तीसरे मुहल्लेमें गया। वहाँके लोगोंने भी उसका इसी तरह महाअपमान किया। वहाँसे वेद मष्टिने बाद वह भीये मुहल्लेमें वेद मास्तक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिश्रमोंका सहनकर वह क्षममें डीम रहा। छह मासमें अनंत कर्म-समुपायको बढाकर अत्यन्त मुद हाते हाते वह कर्मपूजित हो गया। उसने सब प्रकारके सम्भवका त्याग किया। वह अनुपम कैवल्यज्ञान पाकर मुक्तिके अमृत सुखानंदस मुक्त हुआ। यह निर्बलमानना यह है। अब—

दशमचित्र

लोकस्वरूपमाधना

लोकस्वरूपमाधना — यह माननाका स्वरूप वहाँ संक्षेपमें कहना है। यदि कुछ दो हाथ कमपर रोककर पैगुंते बाड़े करके लड़ा हो तो बैसा ही लोकमात्र अपरा छोड़कर स्वल्प जानना चाहिये। वह लोक स्वरूप निरुक्त थातक आकारका है। अपरा लड़े दूरगक समान है। लोकके बीच सुखनपति ध्यन और साध मरक है; मध्य भागमें, अङ्ग द्वाप है। ऊपर बाण देवताक, नव भेषक, पाँच अनुसर विमान और उमक ऊपर अनन सुखमय पवित्र सिद्धगतिकी पावेसी सिद्धशिष्य है। यह लोकमात्र प्रकृताक सर्वज्ञ सर्वेश्वरी और निरुपम केरवृद्धनिपौने कहा है। संक्षेपमें लोकस्वरूप माननाको कहा।

इस दर्शनमें पाप-मनाशिकाका ऐक्यके लिये आध्यात्मिकता और सुखमाधना ताप महाद्वन्द्वके लिये निर्बलमानना और लोकस्वरूपक कुछ तत्वाक जाननके लिये लोकस्वरूपमाधनाय इस चित्रमें पूर्ण है।

दशम चित्र समाप्त

विविध पत्र आदि संग्रह

१९वें वर्ष

६

३३

वि स १९२२

हे बहिर्यो ! मुझे तुम्हारे किये एकतन्त्रता ही ज्ञानकी अपूर्णताकी निशानी दिखाई देती है । क्योंकि जैसे नवसिद्ध कवि लोग कल्पमें जैसे जैसे दोषको छिपानेके लिये 'ही' शब्दका उपयोग करते हैं, वैसे ही तुम भी नवसिद्ध ज्ञानसे 'ही' अर्थात् निश्चयपनेको कहते हो ।

हमारा मन्त्रालय इस तरह कभी भी नहीं कहेंगा । यही इसकी सत्कवि जैसी चमकती है ।

७

वचनानामृत

वि स १९२२ कार्तिक

१ यह तो अच्छा सिद्धांत मानो कि सयोग, वियोग, सुख, दुःख, खेद, आनंद, अप्रति, अनुपग इत्यादि योग किसी पक्षस्थित कारणको लेकर ही होते हैं ।

२ एकतन्त्रता ही अपना एकतन्त्र व्याप्यदोषको न मान बैठना ।

३ किसीका भी समझना करना योग्य नहीं । जबतक ऐसी दृष्टि न हो तबतक अक्षय ही स्वरूपोंके समझनाका सेवन करना ठीक है ।

४ जिस कृत्यके अन्तमें दुःख है उसका सम्मान करते हुए प्रथम विचार करो ।

५ पछिछे तो किसीका अन्तकरण नहीं देना यदि दो वा फिर उससे मित्रता नहीं रखना; यदि अन्तकरण देकर भी मित्रता रखो तो अन्तकरणका देना न देनेके ही समान है ।

६ एक भोगको भोगते हुए भी कर्मको बुझि नहीं करता, और एक भोगको नहीं भोगते हुए भी कर्मको बुझि करता है; यह आश्चर्यकारक किन्तु समझने योग्य कथन है ।

७ योगानुभवेसे क्या हुआ कृत्य बहुत सिद्धि देता है ।

८ हमने जिससे भेद-भावको पाया हो उसको सर्वस्व अर्पण करते हुए नहीं रहना ।

९ तब ही लोकपवाद सहन करना जब कि वे ही लोग स्वयं किये हुए अपवादका पुनः पत्राचार करें ।

१० हमारों उपदेशोंके वचन सुननेकी अपेक्षा उनमेंसे याद वचनोंको विचारना ही विशेष फलदायक है ।

११ नियमपूर्वक किया हुआ काम शीघ्रतासे होता है, अर्थात् सिद्धि देता है, और आनन्दका कारण होता है ।

१२ ज्ञानिपौद्राय एकत्र की हुई अहुत निधिके उपयोगी बना ।

१३ जी जातिमें बितना माया-कफ है उतना मोहावन भी है ।

१४ पठन करनेकी अपेक्षा स्मरण करनेकी और विशेष कष्ट देना ।

१५ महापुरुषके आचरण देखनेकी अपेक्षा उनका अंत-करण देखना यह अधिक उत्तम है ।

१६ बचनस्तनवीको पुनः पुनः स्मरणमें रखो ।

१७ मन्त्रमा होना हो तो उपकारबुद्धि रखो सत्पुरुषके समागममें खो अन्धार, फिर आदिमें अलुप्त और नियमित खो, सदाशक्त मनन करो, और ईश्वरी श्रेणीमें लुप्त रखो ।

१८ यदि इनमेंसे एक भी न हो तो समस्तकर आनंद रहना सीखो ।

१९ वर्तमानमें बालक बनो, स्वयंमें युवा बनो, और ज्ञानमें बृद्ध बना ।

२० पढ़िजे तो रग करना ही नहीं, यदि करना ही हो तो सत्पुरुषपर करना इसी तरह पढ़िजे तो द्वेष करना ही नहीं, और यदि करना हो तो कुत्राक्षिपर करना ।

२१ अनंतज्ञान अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्य अभिष एसी अस्माका एक प्रभ-सर भी तो विचार करा ।

२२ जिसने ममको बशमें किया, उसने जगत्को बश किया ।

२३ इस संसारका क्या करो ? अनंतवार हुई मौका ही जब हम स्वीकृतसे भोगते हैं ।

२४ निर्द्वेषता धारण करनेसे पढ़िजे पूर्ण निवार करना इसके कारण दोष लगानेकी अपेक्षा अप्यारंभी हाना ।

२५ समय पुरुष कम्पाणका स्वल्प पुकार पुकारकर कहा गया है, परन्तु वह किसी निर-लेख ही यथाथरूपसे समझमें आया है ।

२६ आँक स्वल्पपर होनेवाले माहको राउनेके छिपे लबा बिनाके उसके रूपका बरबार धिक्कन करना वाग्य है ।

२७ जिस उसमें छुब किया हुआ सखिया घरीरको नीयता करता है जैसे ही कुशत्र भी सत्पुरुषके रूपमें हुए हाथस पाय बन जाता है ।

२८ जिस निरली लौक करनेसे दो चंद्र दीप्ति पड़ते हैं उसी तरह यद्यपि अज्ञानका सत्य स्वल्प एक छुट सखि-ल-मय है तो भी वह भाँतिसे दिख ही मासित होता है ।

२९ धर्पाथ वचन ग्रहण करनेमें दम नहीं रखना, और ऐसे वचनोंके उपदेश देनेवालेका उपकार भुगना नहीं ।

३० हमने बहुत निवार करके इस मूल गलती ग्योन की है कि—‘ मूल चमत्कार ही गुरुद मध्यमें नहीं है ।

३१ बचन कृपाकर भी उसमें हाथपका मगिया ले लगा ।

३२ निर्मल लन कणम आवाक विचार करना वाग्य है ।

३३ जहाँ ' मैं ' मान रहा है वहाँ ' तू ' नहीं है, और जहाँ ' तू ' मान रहा है वहाँ ' मैं ' नहीं है ।

३४ हे जीव ! जब भोगसे शंत हो, शंत ! बरा विचार तो सही कि इसमें कितना सुख है !

३५ बहुत दुखियाबानेपर ससारमें नहीं रहना ।

३६ सखान और सतीलको साथ साथ बहाना ।

३७ किन्ती एक बस्तुसे मैत्री नहीं करना, यदि करना ही हो तो समस्त जगत्से करना ।

३८ महासौंदर्यसे पूर्ण देवमानाके श्रीवा-विष्णु निरीक्षण करनेपर भी मित्के अंतःकरणमें कष्टसे अविकारिक वैराग्य प्रस्फुरित होता ही उसे बन्य है उसे त्रिकाश नमस्कार है ।

३९ भोगके समयमें योगका स्मरण होना यह छमुकमोक्ष छक्षण है ।

४० यदि इतना हो जाय तो मैं मोक्षकी इच्छा न करूँ—समस्त सृष्टि सदात्मकी सभा करे, नियमित आयु, निरोग शरीर, अचल प्रेम करनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ, आद्यानुवर्ती अनुचर, पुष्प-दीपक पुत्र, जीवनपर्यंत बाल्यावस्था, और आत्म-तत्त्वका चिंतन ।

४१ किन्तु ऐसा तो कभी भी होनेवाला नहीं, इसलिये मैं तो मोक्षकी ही इच्छा करता हूँ ।

४२ सृष्टि क्या सर्व अपेक्षासे अमर होगी ?

४३ पुष्क निर्जनत्वस्थाको मैं बहुत मानता हूँ ।

४४ सृष्टि-जीवमें शतमानसे तपश्चर्या करना यह भी उत्तम है ।

४५ एकांतिक कथन करनेवाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता ।

४६ पुष्क अंतःकरणके बिना मेरे कथनका कौन इत्साफ़ करेगा ?

४७ ब्रह्मपुत्र भगवान्के कथनकी ही बलिहारी है ।

४८ देव देवीकी प्रसन्नताको हम क्या करेंगे ? जगत्की प्रसन्नताको हम क्या करेंगे ? प्रसन्नता-की इच्छा करो तो सत्पुरुषकी करो ।

४९ मैं सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ ।

५० यदि तुम्हें अपनी आत्माके हितके लिये प्रवृत्ति करनेकी अभिलाषा रखनेपर भी इससे निराशा हुई हो तो उसे भी अपना आत्म-हित ही समझो ।

५१ यदि अपने सुम विचारमें सफल न हो, तो स्थिर चित्तसे सफल हुए हो ऐसा समझो ।

५२ ज्ञानीजन अतरंग खेद और हर्षसे रहित होते हैं ।

५३ जहाँतक उस तत्त्वकी प्राप्ति न हो वहाँतक मोक्षका सार नहीं मिला ।

५४ नियम पाठनेकी छद्मता करनेपर भी वह नहीं पड़ता, यह पूर्वकर्मका ही दोष है, ऐसा ज्ञानियोंका कहना है ।

५५ ससाररूपी कुटुम्बके घर अपनी आत्मा पाहुनेके समान है ।

५६ माम्यशास्त्री नहीं है जो दुर्भाग्यशास्त्रीपर दया करता है ।

५७ महर्षि शुभ इध्यको शुभ मानका निमित्त कहते हैं ।

५८ फिर जिससे बर्ष और पुनरुत्थानमें प्रवृत्ति करो ।

५९ परिग्रहकी मूर्च्छा पापका मूल है ।

६० जिस इन्द्रके करते समग्र आत्मोद्धार केमें रहते हो, और जन्तमें भी पड़ते हो, तो ब्रह्मा लोग उस इन्द्रकी पूर्वकर्मका ही गेय कहते हैं ।

६१ मुझे जब स्मरण और भिन्ही जनककी दशा प्राप्त होयो ।

६२ जो स्वरूपद्वारा अंतःकरणपूर्वक आचरण किया गया है अपना कहा गया है, वही धर्म है ।

६३ जिसकी अंतरा मोहकी प्रवी नष्ट हो गई हो वही परमात्मा है ।

६४ मनुको केन्द्र उसे उच्छ्वस्तपुत्र परिणामसे मग नहीं करना ।

६५ एकमिष्टसे ज्ञानीकी अज्ञानका अन्तर्धम करनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ।

६६ जिया ही कर्म है, उपयोग ही धर्म है, परिणाम ही बंध है, भ्रम ही विपर्यय है, शोकसे स्मरण नहीं करना; ये उत्तम वस्तुयें मुझे ज्ञानियोंमें दी हैं ।

६७ जगत् तैसा है उसे तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कैसा ही देखो ।

६८ श्रीगौतमको चार केन्द्र पाठ किया हुआ दंडनक छिये श्रीमान् महावीरत्वामीने सम्पत् नेत्र दिये थे ।

६९ भगवतीमें वही हुई पुत्रक नामके परिग्रहककी कथा तत्त्वज्ञानियोंका कहा हुआ सुंदर रहस्य है ।

७० वीरके कहे हुए शास्त्रोंमें सुनहरी वचन वहाँ लखे अलग और गुप्त हैं ।

७१ सम्पत्नेत्र पाकर तुम चाहे जिस किसी धर्मशास्त्रका मनन करो तो भी उससे ही ज्ञान-हित प्राप्त होगा ।

७२ इ कुशल ! यह तेरा प्रबल अन्याय है कि मरी विचार की हुई नीतिसे तू मेरा कष्ट व्यतीत नहीं करती ! (कुशल अर्थात् पूर्वकर्म) ।

७३ मनुष्य ही परमेश्वर हो जाता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ।

७४ उत्तराध्ययन नामके जैनग्रन्थका तत्त्वार्थसे पुनः पुनः अवलोकन करो ।

७५ जहाँ हुए मद्य ना सके तो फिरसे न मरना पड़े, ऐसे धारणकी इच्छा करना योग्य है ।

७६ मुझे इन्द्रप्रभाके समान अम्य कोर्छे भी महाश्रेय नहीं लगता ।

७७ जगत्में यदि भ्रम न होगा तो यही मोक्ष थी ।

७८ वस्तुको वस्तुत्वसे देखो ।

७९ धर्मका मूल वि है ।

८० रिधा उसीका नाम है कि जिससे अविद्या प्राप्त न हो ।

८१ वीरक एक एक वाक्यको भी समझो ।

८२ अहंकार, जगत्ता, उत्पन्न-प्रत्यय, अविज्ञेय-धर्म ये दुर्गतिके कारण हैं ।

१ श्रीमद्देवाचार्य महर्षिमें आदि हुए दश धर्म विचार कहला है कि वही वि है विचार, विवेक, विनय और विद्या ये चार को भी मरे हैं । अनुवादक ।

८३ बीका कोई अग ज्ञेयमात्र भी सुखदायक नहीं तो भी उसे मेरी देह भोगती है ।

८४ देह और देहके लिये ममत्व यह भिष्यात्मका लक्षण है ।

८५ अग्निनिवेशके उदयमें प्रकृपणा न हो, उसको मैं ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ ।

८६ स्वादादौशीसे देखनेपर कोई भी मत असत्य नहीं ठहरता ।

८७ ज्ञानीजन स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते हैं ।

८८ अग्निनिवेशके समान एक भी पास्त्य नहीं है ।

८९ इस कथमें ये बातें कही हैं — बहुतसे मत, बहुतसे सत्यज्ञानी, बहुतसी माया, और बहुतसा परिग्रह ।

९० यदि तत्ताभिजापासे मुझसे पूछो तो मैं तुम्हें अवश्य रागरहित धर्मका उपदेश दे सकता हूँ ।

९१ जिसने समस्त जगत्के शिष्य होनेका छलिको नहीं जाना वह सगुरु होने योग्य नहीं ।

९२ कोई भी द्रुदाद्रुद्ध धर्म-क्रिया करता हो तो उसको करने दो ।

९३ आत्माका धर्म आत्मामें ही है ।

९४ मुझपर सब सरळमात्रसे आवा चखमें तो मैं सुधी हूँ ।

९५ मैं ससारमें ज्ञेयमात्र भी रागयुक्त नहीं तो भी उसीको भोगता हूँ, मैंने कुछ त्याग नहीं किया ।

९६ निर्बिकाटी वशापूर्वक मुझे अकेला रहने दो ।

९७ महावीरने जिस ज्ञानसे जगत्को देखा है वह ज्ञान सब आत्मार्जमें है, परन्तु उसका अभिर्माण करना चाहिये ।

९८ बहुत ऊँच जाओ तो भी महावीरकी आज्ञाका भग नहीं करना । चाहे वैसी शक्त हो तो भी मेरी तरफसे बीरकी संदेह रहित मानना ।

९९ पार्श्वनाथत्वामीत्र त्याग योगियोंको अभ्यस्य स्मरण करना चाहिये । निश्चयसे नागकी छत्र-छापाके समवक्त यह पार्श्वनाथ कुछ और ही था ।

१०० शबलकुमारकी क्षमा, और राजीवती जो रहमेयीको बाँध देती है वह बाँध मुझे प्राप्त होमो ।

१०१ मांग भोगनेतक (जहाँतक उस कर्मका उदय है जहाँतक) मुझे योग ही प्राप्त रहा ।

१०२ मुझे सब दाम्भोमें एक ही तत्त्व मिला है यदि मैं ऐसा कहूँ तो यह भग अहंकार नहीं है ।

१०३ न्याय मुझे बहुत प्रिय है । बीरकी शीखी यही न्याय है, किन्तु इसे समझना दुर्लभ है ।

१०४ पवित्र पुरुषोंकी कृपाछि ही सम्पूर्णज्ञ है ।

१०५ भर्तृहरिका कहा हुआ मात विमुक्त-मुक्तिसे विचालेस ज्ञानकी बहुत उर्वर-दशा होने तक रहता है ।

१०६ मैं किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं, मैं सब धर्मोंको पाऊँगा हूँ; आर तुम सब धर्मसे विरुद्ध हो ऐसा कहनेमें मेरा आशय उत्तम है ।

१०७ अपने माने हुए धर्मका मुझे किस प्रमाणसे उपदेश करते हो, यह जानना मुझे जरूरी है ।

१ ८ शिष्य वधन दृष्टिसे नीचे आते आते ही विस्मय जाता है । (यदि निर्भय करना जाता हो तो—)

१ ९ मुझे किसी भी शास्त्रमें संकोच न हो ।

११० ये लोग तुझे मारे हुए वैराग्य छेकर बगलको जममें डालते हैं ।

१११ इस समय मैं कौन हूँ इसका मुझे पूर्ण मान नहीं है ।

११२ तू सत्पुरुषका शिष्य है ।

११३ यही मेरी आकांक्षा है ।

११४ मुझे गजसुकुमार वैष्णव कोर्छे समय प्राप्त होओ ।

११५ कार्य रानीमती जैसा समय प्राप्त होओ ।

११६ सत्पुरुष कहते नहीं, करते नहीं, तो भी उनकी सत्पुरुषता उनकी निर्बिचार सुख-सुश्रूषे संभवती है ।

११७ सत्यानभिषयध्यान पूर्वधारियोंको प्राप्त होता होगा, ऐसा मानना योग्य मात्स्य होता है । तुम भी वसुध ध्यान करो ।

११८ अहमत्वे सम्मान और कोर्छे देव नहीं ।

११९ भान्यशाही कौन ? अनिरुति सम्पन्नद्वि अथवा विरति ।

१२ किसीकी आजीविका नहीं तोड़ना ।

८

वर्षार्थ कार्तिक १९४९

१ प्रमादके कारण आत्मा अपने प्राण हुए स्वस्वको भूल जाता है ।

२ जिस जिस काळमें जो नो करना है उस सबको सश उपयोगमें रखने रखो ।

३ फिर उसकी क्रमसे सिद्धि करो ।

४ अल्प आहार अल्प विहार, अल्प मित्र, नियमित वाणी नियमित कत्पा और अनुष्ठान, ये मनको बंध करनेके लिये उत्तम साधन हैं ।

५ केवु बलुकी शिक्षा करना यही अहमत्वाकी श्रेष्ठता है । कदाचित् यह शिक्षा पूर्ण न हो सके तो भी यह शिक्षा दाय उस श्रेष्ठताके अहमत्वे समान है ।

६ नये धर्मोंका बंध नहीं करना और पुरानोंको भोग लेना, ऐसी जिसकी अचक शिक्षा है वह तदनुसार आचरण कर सक्षम है ।

७ जिस इच्छा परिणाम धर्म नहीं उस इच्छाको करनेकी इच्छा भूलसे ही रहने देना योग्य नहीं ।

८ यदि मन संकोचशील हो गया हो तो दृष्टानुयोग का निवारण योग्य है; प्रमादो हो

मा हो तो 'चरणकरणानुयोग' का विचारना योग्य है, कपायी हो गया हो तो 'धर्मकपानुयोग' का विचारना योग्य है; और जाड़ हो गया तो 'गणितानुयोग' का विचार करना योग्य है।

९ कार्य भी काम हो उस कामकी निराशाकी इच्छा करना, फिर अन्तमें बितनी सिद्धि हो तना ही काम हुआ समझो, ऐसे करनेसे सतोषी रह सकते हैं।

१० यदि पृथ्वीसम्बन्धी क्लेश हो तो ऐसा समझना कि यह साधमें आनेवाली नहीं, उल्टा मैं उसे अपनी देहको देकर चला जाऊँगा; तथा यह कुछ भूयवान भी नहीं है। यदि लौसम्बन्धी क्लेश, शका, और मात्र हा तो यह समझकर अन्य मोक्षाभोंके प्रति हैंसना कि अरे ! तू मछ-मूत्रकी झलमें मोहित हो गया (जिस वस्तुका हम निस्प त्याग करते हैं उसमें) ! यदि धनसम्बन्धी निराशा क्लेश हो तो धनको भी ऊँचे प्रकारकी एक कैकर समझकर सतोष रखना, तो तू क्रमसे नेस्तबूही हो सकेगा।

११ तू उस बोधको पा कि जिससे तुझे समाधिमरणकी प्राप्ति हो।

१२ यदि एक बार समाधिमरण हो गया तो सर्व काळका असमाधिमरण दूर हो जायगा।

१३ सर्वोत्तम पद सर्वआगीका ही है।

९

स्वरोपबन्धन

बम्बई, कार्तिक १९४३

यह 'स्वरोपबन्धन' ग्रन्थ पढ़नेवालेके करकमलोंमें रखते हुए इस विषयमें कुछ प्रस्तावना लिखनेकी जरूरत है, ऐसा समझकर मैं यह प्रवृत्ति कर रहा हूँ।

हम देख सकते हैं कि स्वरोपबन्धनकी भाषा आधी हिन्दी और आधी गुजराती है। उसके कर्त्ता एक आत्मानुमयी मनुष्य थे; परन्तु उन्होंने गुजराती और हिन्दी इन दोनोंमें से किसी भी भाषाको नियमपूर्वक पका हो, ऐसा कुछ भी माहस नही होता। इससे इनकी वास्तवशक्ति कपचा योगदशामें कोई बाधा नहीं आती और इनकी भाषाशास्त्री होनेकी भी कोई इच्छा न थी, इसलिये इन्हें अपने आत्माको जो कुछ अनुभवगम्य हुआ उसमेंका छेगोंको मर्यात्पूर्वक कुछ उपदेश देनेकी निहासासे ही इस ग्रन्थकी उत्पत्ति हुई है, और ऐसा होनेके कारण ही इस ग्रन्थमें भाषा अपना छद्मकी टीपण्य कपचा सुक्ति-प्रयुक्तिका आधिक्य देखनेमें नहीं आता।

जगत् जब अगाधि कलत है तो फिर उसकी विविधताकी ओर क्या विस्मय करें, आज कदाचित् जड़प्राणके सिमें जो सरोपबन्धन बंध रहा है वह आत्मप्राणको उठा देनेका प्रयत्न है, परन्तु ऐसे भी अनतकाळ आये है जब कि आत्मप्राणका प्राधान्य था इसी तरह कभी जड़प्राणका भी प्राधान्य था। तत्प्राधान्य का इसका कारण किसी विचारमें पड़ नहीं आते, क्योंकि जगत्की ऐसी ही स्थिति है फिर विकल्पोद्भास आत्माका क्यों दुस्साभा ? परन्तु सब वास्तवाओंका त्याग करनेका बाज जिस वस्तुका अनुभव हुआ वह क्या वस्तु है अर्थात् अपना और पराया क्या है ? यदि इस प्रश्नके उत्तरमें इस बातका निर्णय किया कि अपना अपना ही है और पराया पराया ही है तो इसके बाज तो भेदवृत्ति रही नहीं। फल यह हुआ कि

दर्शनकी सम्यक्तासे उनकी यही मायता रही कि मोक्षार्थीन आत्मा अपने आपको भूकर चढ़ना स्वीकार कर लेती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। फिर उसका स्वीकार करना शब्दकी तत्परमें—

९

(२)

वर्तमान शताब्दमें और फिर उसके भी कुछ वर्ष व्यतीत होने तक विद्वानन्दजी आत्मज्ञ गीच्छ दे। बहुत ही समीपका समय हमेंके कारण जिसको उनका दर्शन, समागम, और उनकी दशाब्द अनुभव हुआ है ऐसे प्रतीतिवाले कुछ मनुष्योंसे उनके विषयमें कुछ माहूम हो सका है। इस विषयमें अब भी उन मनुष्योंसे कुछ जाना जा सकता है।

उनके जैनमुनि हो जानेके बाद अपनी परम निर्विकल्प दशा हो जानेसे उन्हें जान पड़ा कि वे अब कर्मपूर्वक द्रव्य—शब्द—काय—मात्रसे यम-नियमोक्त पाठन न कर सकेंगे। तत्कालामियोंकी मायता है कि जिस पदार्थकी प्राप्तिके लिये यम-नियमका कर्मपूर्वक पाठन किया जाता है उस वस्तुकी प्राप्ति होनेके बाद फिर उस श्रेणीसे प्रवृत्ति करना अवश न करना दोनों समान है। जिसको निर्मय-प्रवचनमें अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि माना है, उसमेंकी सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु केवल उनके बचनोंका मेरे अनुभव-ज्ञानक कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्रायः मध्यम अप्रमत्तदशामें थे। फिर उस दशामें यम-नियमका पाठन करना गौणतासे आ जाता है, इसलिये अधिक अस्मान्त्यके लिये उन्होंने यह दशा स्वीकार की। इस समयमें ऐसी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही थोड़े मनुष्योंका मिटना भी बड़ा कठिन है। उस अवस्थामें अप्रमत्तताविषयक बातकी कर्त-मायता आसानीसे हो जायगी, ऐसा मानकर उन्होंने अपने जीवनको अनियतफलसे और गुप्तरूपसे निवाया। यदि वे ऐसी ही दशामें रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी शिष्यवृत्ता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषकी उकटी ही छाप पड़ती। ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होंने इस दशाको स्वीकार की।

९

(३)

ॐ

जैसे कौचकी त्यागसे बिनसत नहीं जुजोग,

देह त्यागसे जीव पुनि तैस रहत अमरग—श्रीचिरानन्द

जैसे कौचकीका त्याग करनेसे सर्पका नाश नहीं होता वैसे ही देहका त्याग करनेसे जीवका भी नाश नहीं होता अर्थात् यह तो अमरग ही रहता है।

इस कथनद्वारा जीवको देहसे भिन्न सिद्ध किया है। बहुतसे लोग ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि देह और जीवकी भिन्नता नहीं है और देहका नाश होनेसे जीवका भी नाश हो जाता है, उनका यह कथन केवल विकल्पकथन है प्रमाणभूत नहीं कारण कि वे कौचकीका नाशसे सर्पका भी नाश होना समझते हैं। और यह बात तो प्रायश्च ही है कि कौचकीका त्यागसे सर्पका नाश नहीं होता। यही बात जीवक लिये भी समझनी चाहिये।

देह जीवकी कौचकीमात्र है। जबतक कौचकी सर्पके साथ जुड़ी है, तबतक जैसे जैसे सर्प

चलता है, कैसे उसे कौचकी भी साथ साथ चलनी है, उसके साथ साथ ही मुड़ती है, अर्थात् कौचकीकी सब क्रियायें सर्पकी क्रियाके आनीन रहती हैं। अ्योंही सर्पने कौचकीका त्याग किया कि उसके बाद कौचकी उनमेंकी एक भी क्रिया नहीं कर सकती। पहिले वह जो चा किया करती थी वे सब क्रियायें कचल सर्पकी ही थीं, इसमें कौचकी केवल सहायक रूप की थी। इसी तरह जैसे जीव कर्मानुसार क्रिया करता है भेष ही अर्थात् यह देह भी फरती है। यह चलती है, बढती है, उठती है, यह सब जीवकी प्रेरणासे ही होता है। उसका भ्रियोग होते ही इनमेंसे कुछ भी नहीं रहता।

९

(४)

अहर्निश अभिका प्रम लगाव, जोगानस्र धन्यादि जगाव,

अस्याहार आसन हृद पर, नयनयकी निद्रा परहर।

रत दिन ध्यान-विययमें बहुत प्रेम लगानेसे योगरूपी अग्नि (कर्मको जला देनेवाली) धनमें जगाने। (यह मानो ध्यानका जीवन हुआ।) अब इसके अतिरिक्त उसके दूसरे साधन बताते हैं।

पोषा आहार और आसनकी इच्छा करे। यहाँपर आसनसे पद्मासन, वीरसन, सिंहासन अथवा चाहे जो आसन हो, जिससे मनोगति बारबार इतर उचर न आय, ऐसा आसन समझना चाहिये। इस तरह आत्मनका जप करके निद्राका परित्याग करे। यहाँ परिपामसे एकदेश परिग्रहका आशय है। योगमें निस निद्रासे बाधा पहुँचती है उस निद्राका अर्थात् प्रमत्तमासक कारण दर्शनान्तरजीयकी बुद्धि इत्यादिसे वापस हुई निद्राका अथवा अकस्मिक निद्राका त्याग करे।

१०

जीवनतत्त्वके संयममें बिचार

१ जीव तत्त्वको एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार प्रकारसे, पाँच प्रकारसे आर छह प्रकारसे समझ सकते हैं।

अ—सब जीवोंक कमसे कम भुक्तज्ञानका अनुसर्वा भाग प्रकाशित रहता है इसलिये सब जीव चैतन्य लक्षणसे एक ही प्रकारके हैं।

जो गरमीमें छायामें आये, छायामेंसे गरमीमें जाय जिनमें जलन निरवकी शक्ति हो, जो भयवादी बलु देखकर डरस हो, ऐसे जीवोंकी जातिको श्रस कहते हैं। तथा इनके सिवायके जो जीव एक ही जगहमें स्थित रहते हैं, ऐसे जीवोंकी जातिको स्थायर कहते हैं। इस तरह सब जीव दो प्रकारोंमें आ जात हैं।

यदि सब जीवोंको केवली इच्छिसे देखते हैं ता की, पुण्य और नपुंसकवेदमें सबका समानेश हो जाता है। कोई जीव अविनमें, कोई पुरुषवेदमें और कोई नपुंसकवेदमें रहते हैं। इनके सिवाय कोई चौथा वेद नहीं है इसलिये वेदइच्छिसे सब जीव तीन प्रकारसे समझे जा सकत हैं।

बहुतसे जीव नरकगतिमें रहते हैं, बहुतसे निर्वचगतिमें रहत हैं, बहुतसे मनुष्यगतिमें रहत हैं, और बहुतसे देवगतिमें रहते हैं। इसके सिवाय कार्य पीचकी ससारी गति नहीं है इसलिय जीव चार प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

११

जीवाजीव विभक्ति

वि स १९४३

जीव और जनीवने विचारको एकत्र मनसे ग्रहण करो । जिसके जानमसे भिक्षु लोग सम्पूर्ण प्रकारसे समयमें फन करें ।

जहाँ जीव और जनीव पाये जाते हैं उसे लोक ० ० कहा है, और जनीवके कोषक आकाश वाले समाप्ति अस्मत् कहा है ।

जीव और जनीवका ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हो सकता है ।

रूपी और वर्णमयके भेदसे जनीवके दो भेद होते हैं । अरूपीके दस भेद, तथा रूपीके चार भेद कहे गये हैं ।

वर्मास्तिक्य, उसका देश और उसके प्रवेश; अवर्मास्तिक्य, उसका देश और उसके प्रदेश; आकाश, उसका दश और उसके प्रदेश तथा अर्द्धसमपकाल; इस तरह अरूपीके दस भेद होते हैं ।

धर्म और अधर्म इन दोनोंको लोक प्रमाण कहा है ।

आकाश लोकलोक प्रमाण और अर्द्धसमय अनुपपन्न-प्रमाण है । धर्म, अधर्म और आकाश ये त्रय अनन्त हैं ।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी अनन्त बनत है । सतति लयात् एक कार्यकी अपेक्षासे वह सादि सान है ।

स्वयं एक देश, उसके प्रदेश और परमाणु इस प्रकार रूपी जनीव चार प्रकारके हैं ।

परमाणुओंके एकत्र होनेसे, और जिससे वे घृण्य होते हैं उनका स्वयं कहते हैं; उसके विभागीय देश, और उसके अन्तिम अन्तिम अंशको प्रदेश कहते हैं ।

रूप क्षेत्रके एकत्र होनेसे व्यक्त है । इसके चारों ओरके विभागात् चार प्रकार कहे जाते हैं ।

ये सब निरंतर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनन्त बनत हैं; और एक क्षणकी स्थितिकी अपेक्षासे सादि सान हैं ।

१२

वर्ग १९४३ पीप नरी १० बुधवार

विशेषक स्वयंम उन्नीजे जा मिति निश्चित की है यदि इसकी विषयमें उनका आग्रह है तो वह मिति भ्रम ही निश्चित रही ।

कश्मीर प्रान्ति न होनेपर भी वह किसी पण्यकारके काममें बहुत उपयोगी हो सकती है, ऐसा माननेसे मान कारण करके मैं यहाँ उसने सर्वप्रथम उसकी सम्भवता करनेमें लगा हुआ था । हम व्यवस्थाका अभीष्ट परिणाम आनेमें बहुत समय न था परन्तु इनकी तरफका एक सम्भवभाव हीष्टता करना है जिससे सब कुछ पता हुआ छाड़कर नरी १३ या १४ (पीपकी) के रोड मईसे रवाना होना है ।

परिपक्व कर लेते हुए भी यदि कदाचित् क्षमी अवापन, बहुरापन, गूँगापन प्रमाण कर दे तो उसकी भी परवा नहीं !

अपना जो परस्परका सम्बन्ध है वह कुछ रिश्तेदारीका नहीं, परन्तु हृदय-सम्मिलनका है । यद्यपि ऐसा प्रकट ही है कि उनमें परस्पर छोड़े और चुम्बकका सा गुण प्राप्त हुआ है, तो भी मैं इससे भी निम्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ । सब प्रकारके सम्बन्धोंको और सुसप्त-योजनाको दूर करके ये विचार मुझ तत्त्वविज्ञानरूपसे बताने हैं, और उन्हें आपको स्वयं अनुकरण करना है । इतनी बात बहुत सुखद्वारा जानेपर मार्मिकरूपसे आत्मन्यरूपक विचारपूर्वक यहाँ लिखता हूँ ।

क्या उनके हृदयमें ऐसी सुन्दर योजना है कि वे छुम प्रसंगमें सन्निवेश और स्वीकृति प्रतिकूल रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो सके ? क्या आप ऐसी योजनाको करेंगे ? क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा ? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है । इसीखिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पक्षकी प्राप्ति आनन्द राश्याकी आवश्यकता विज्ञानरिषाको भी दुर्लभ और सर्वथा असम्भव है, उस विचारोंकी, उस वस्तुकी ओर उस पक्षकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है । यदि इससे कुछ क्षमायात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पक्षविद्यापी पुरुषके अस्त्रिको बड़ा कलंक लगता है । इन सब (इस समय लगनेवाले) हवाई विचारोंमें मैं केवल आपसे ही कहता हूँ ।

अंतःकरण कुछ अछूत विचारोंसे भरपूर है । परन्तु आप यहाँ रहे या मैं यहाँ रहूँ, एक ही बात है !

२०वाँ वर्य

१३ बवाणीया १९४४ प्र चैत्र सुदी ११॥ एते

अणमगुर दुनियार्य सत्पुरुषका समागम होना पही अमूल्य और अमूल्य काम है ।

१४ बवाणीया, आषाढ कदी ३ सुब १९४४

यह एक अमूल्य बात है कि—

चार पौंच दिन हुए बौद्ध बौद्धोंमें, एक छोटा चक्र जैसा बिजलीकी तरहका प्रकाश हुआ करता है, जो बौद्धोंसे अथ दूर जाकर अदृश्य हो जाता है । यह अणमग पौंच मिनिटतक होता रहता है, कपवा पौंच मिनिटतक दिखाई देता है । यह मेरी छविमें बारम्बार देखनेमें आता है । इस सबमें किसी प्रकारकी भी चमत्ता नहीं । इसका कोई निमित्तकारण भी माझमें नहीं होता । इससे बहुत आश्चर्य पैदा होता है । बौद्धोंमें दूसरा किसी भी प्रकारका विकार नहीं है किन्तु प्रकाश और चिम्बता विशेष रूपसे छा करता है । माझमें होता है कि अणमग चार दिन पहिले दुपहरके २-२० मिनिटपर एक आश्चर्यपूर्ण रूप आनेके बाद यह शुरू हुआ है । अतःकारणमें बहुत प्रकाश छा करता है । शक्ति बहुत तीव्र छा करती है । ध्यान समाधिस्थ रहता है । कोई कारण समझमें नहीं आता । यह बात गुप्त रखनेके लिये ही प्रगट करता हूँ । अब इस सबमें विशेष फिर किसीका ।

१५ बवाणीया, १९४४ आषाढ कदी ११ सोम

बौद्ध बौद्ध सगरी चमत्कारस आश्चर्यछविमें घोषा करफार हुआ है ।

१६ बवाणीया १९४४ आषाढ कदी ४ बुध

आप बर्माकी केन्द्रकारी न रखें । शरीर और आत्मिक-सुखकी इच्छा करके व्ययक्त कुछ सुकोच करोगे तो मैं समझूंगा कि मेरे ऊपर उपकार हुआ ।

भक्तिमत्ताका भाव हांगा तो मैं अनुकूल समय मिळनेपर आपके सहसंगक काम ठहल सझूंगा ।

१७ बवाणीया १९४४ आषाढ कदी १२ अमावस्या

उपाधि कम है यह बर्मावकी बात है । धर्म क्रियाके लिये कुछ वस्तु मिळता होगा ।

धर्म क्रियाका घोषा समय मिळता है । आत्म-सिद्धिका भी घोषा समय मिळता है । शास्त्र पठन और अन्य बौध्दिकता भी घोषा समय मिळता है । घोषा समय केवल क्रियामें जाता है । घोषा

प्रथम आहार-विहार क्रियामें जाता है। घोड़ा समय सीधे क्रियामें जाता है। छह घंटे निशामें आते हैं। घोड़ा समय मनोरंजन रोकते हैं। फिर भी छह घंटे बच जाते हैं। सुस्वगता छेनामात्र भी म मिथ से यह विचारी आत्मा निवेक प्रातिके छिये छनपगया करती है।

१८

वि सं १९४४

जब आत्मा सज्जन स्वभावसे मुक्त, अत्यंत प्रत्यक्ष और अनुभवस्वरूप है, तो फिर इतनी पुरुषोंको आत्मा है, आत्मा नित्य है, बच है, मोक्ष है, इत्यादि अनेक प्रकारसे निरूपण करना योग्य न था।

यदि आत्मा अगम अगोचर है तो फिर वह किसीक द्वारा नहीं जानी जा सकती, और यदि वह सुगम सुगोचर है तो फिर उसको जाननेका प्रयत्न करना ही योग्य नहीं।

१९

वि सं १९४४

नेत्रोंकी दृष्टिमें जो पुरुषियाँ हैं, वे सब रूपको देखती हैं और साक्षीभूत हैं, किन्तु वे इस अंतरको क्यों नहीं देखती? जो स्वभावको स्पर्श करती है, शीत उष्णादिकको जानती है, ऐसी वह सर्व अंगोंमें व्यक्त होकर अनुभव करती है—वैस मित्रोंमें सेव व्यापक रहता है—उसका अनुभव कोई भी नहीं करता। जो दृष्ट-श्रवण-स्पर्शके भेदोंका ग्रहण करती है, उस दृष्टशक्तिको जाननेवासी कोई न कोई सत्ता अवश्य है, जिसमें दृष्टशक्ति विचार होता है, जिसके कारण रोम खड़े हो जाते हैं, वह सत्ता दूर कैसे हो सकती है? जो अपनी जिह्वाके अग्रमें रसस्वादको ग्रहण करती है, उस रसका अनुभव करनेवासी कोई न कोई व्यंश सत्ता अवश्य है, वह सामने आये बिना कैसे रह सकती है? वेद वेदांत, सप्त सिद्धांत, पुराण, गीताशास्त्र जो वेद अर्थात् जानने योग्य आत्मा है उसको ही जब जान लिया तब विमल कैसे न हो?

२०

(१)

बम्बई, वि सं १९४४

जिस आत्मामें विशाखमुनि मन्मथता, सरलता और जितेन्द्रियता इतन गुण हों, वह आत्मा तब पलके छिये उत्तम पात्र है।

अनसवार सम्मरण कर चुकी हुई इस आत्मानी कहणा ऐसे ही उत्तम पात्रको उत्पन्न होती है, और ऐसा वह पात्र ही कर्म-मुक्त होनेका अभिप्राय कहा जा सकता है। वही पुरुष यथार्थ पार्थक्य यथार्थ स्वरूपमें समझकर मुक्त होनेक पुरुषार्थमें लगता है।

जो आत्मारो मुक्त हुई है वे आत्मारो कुछ स्वर्णद आचरणसे मुक्त नहीं हुई, परन्तु वे आप पुरुषके उपेक्षा किये हुये मार्गिक प्रवृत्ति अवलंबनसे ही मुक्त हुई हैं।

अनादि कावको महाशत्रुकी राग, द्वेष और मोहके बधनमें वह अपने संकषमें निभार नहीं कर

सकी। मनुष्यत्व बाकीछ, उत्तम कुल, शारीरिक संतति ये अपेक्षित साधन हैं, और अतएव साधन केवल मुक्त होनेकी सही अभिलाषा ही है।

यदि आ मांसे इस प्रकारकी सुखम-बोध प्राप्त करनेकी योग्यता आ गई हो, तो जो पुरुष मुक्त हुए हैं अपना कर्तव्यमार्गमें मुक्त्यनेसे अपथा आत्मज्ञान दशासे निचरते हैं उनका उपदेश किये हुए मार्गमें किसी भी प्रकारके संशयसे रहित होकर अदाशील हो सकते हैं।

तिसमें राग, द्वेष, और मोह नहीं बही पुरुष तीनों दोषोंसे रहित मार्गका उपदेश कर सकता है, अपना हा उसी पद्धतिसे निशंकित होकर आचरण करनेवाले सपुरुष उस मार्गका उपदेश दे सकत है।

सब दर्शनियों की ईर्ष्या निवार करनेसे राग, द्वेष और मोह रहित पुरुषका उपदेश किया हुआ निर्मल्य दर्शन ही विशेषरूपसे मानने योग्य है।

इन तीनों दोषोंसे रहित, महा अतिशयसे प्रतापशाली तीर्थकरदेवने मोक्षके कारणरूप तिस धर्मका उपदेश किया है, उस धर्मको चाहे जो मनुष्य स्वीकार करने हों, परन्तु वह एक पद्धतिसे होना चाहिये, यह बात शङ्क्यरहित है।

उस धर्मका अनेक मनुष्य अनेक पद्धतियोंसे प्रतिपादन करते हों और उससे मनुष्योंमें परस्पर मतभेदका कोई कारण होता हो, तो उसमें तीर्थकरदेवकी एक पद्धतिका दोष नहीं है, परन्तु उसमें उन मनुष्योंकी समस्त शक्ति का ही दोष गिना जा सकता है।

इस धर्मसे हम निर्मल्य मतके प्रकर्षक हैं, इस प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्य कहत हैं, परन्तु उनमेंसे वे मनुष्य ही प्रमाणमूल गिने जा सकत हैं जो बीतरागदेवकी आज्ञाके सत्त्वमते प्रकटक एवं प्रकर्षक हों।

यह काल दुःख नामसे प्रख्यात है। दुःखमकाल उसे कहते हैं कि तिस कालमें मनुष्य महा-दुःखसे आयु पूर्ण करते हों, तथा तिसमें धर्मावधारणमय पदार्थोंके प्राप्त करनेमें दुःखमता अर्थात् महाविघ्न बाते हों।

इस समय बीतरागदेवके नामसे जैनदर्शनमें इतने अधिक मत प्रचलित हो गये हैं कि वे मत केवल मन्दरूप ही रह गये हैं, परन्तु जबतक वे बीतरागदेवकी आज्ञाका अवलम्बन करके प्रवृत्ति न करते हों तबतक वे सर्वरूप नहीं करे जा सकतें।

इन मतोंके प्रचलित होनेमें मुख्य इतने मुख्य कारण ग्राह्य होते हैं—(१) अपनी शिथिलताके कारण बहुतसे पुरुषोंका निर्मल्यदर्शनके प्राप्ताध्यको घटा देना। (२) परस्पर दो आचार्योंका वादविवाद। (३) मोक्षनीयकर्मका उदय और तत्पुरुष आचरणका हो जाना। (४) एक बार अमुक मत प्रत्यक्ष हो जानेके बाद उस मतसे झूटनेका यदि मार्ग भिन्न भी रहा हो तो भी उसे बोधिवृद्धिमत्ताके कारण प्रमाण न करना। (५) मतिहीन स्मृतता। (६) तिसपर राग हो उसकी आज्ञामें चकमेवके अनेक मनुष्य। (७) दुःखमकाल, और (८) शास्त्र-ज्ञानका घट जाना।

यदि इन सब मतोंके लक्षणमें समाधान हो जाय और सब निर्मल्यताके साथ बीतरागकी आज्ञारूप मार्गपर चले तो महाकल्याण हो परन्तु ऐसा होनेकी संभावना कम है। तिस मोक्षकी

अभिज्ञान है, उसकी प्रवृत्ति तो उसी मार्गमें होती है, परन्तु लोक अथवा लोकदृष्टि चलेनेवाला पुरुष, तथा पूर्वी दुर्घट कर्मों के उद्बोधके कारण मनुष्यी अज्ञानमें पड़े हुए मनुष्य, उस मार्गका विचार कर सकें अथवा उसका ज्ञान प्राप्त कर सकें, और ऐसा उनके कुछ बोधिवृत्तम गुरु करने में, तथा मत्तभेद दूर करके परमात्माकी आश्रमा सम्मन्वयसे आराधन करते हुए हम उन मत्तधारियोंकी देखें, यह विषय अत्यन्त जैसी बात है। सबको समान बुद्धि उत्पन्न होकर, सुशोभन होकर, नीतप्राप्तकी आश्रमा सम्मन्वय मार्गका प्रतिपादन हो, यद्यपि यह बात सर्वथा रूपसे हमें जैसी दीखती नहीं, परन्तु फिर भी यदि सुखम-बोधि अन्तर्गत उसकी श्रेष्ठ आश्रमा प्रयत्न करती रहे तो परिणाम अवश्य ही श्रेष्ठ आवेगा, यह बात मुझ समक्ष मालूम होती है।

दुःखमकाशके प्रतापसे, जो लोग विद्याका ज्ञान प्राप्त कर सकें हैं उनको धर्मलक्षण पर भूलसे ही भ्रम नहीं होती, तथा सरलताके कारण जिनको कुछ भ्रम होता भी है, उन्हें उस विषयका कुछ ज्ञान नहीं होता यदि कोई ज्ञानवाला भी निकले तो वह ज्ञान उसको धर्मकी दृष्टिमें विप्र करनेवाला ही होता है, किन्तु सहायक नहीं होता, ऐसी ही आजकलकी दृष्टि है। इस तरह विद्या पाने हुए स्वयंके श्रेष्ठ धर्मप्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो गया है।

शिक्षाद्विष्ट लोगोंमें स्वाभाविकरूपसे एक यह गुण रहता है कि जिस धर्मको हमारे बाप दादा मानते थे उसे अपने हैं, उसी धर्मके ऊपर हमें भी चढ़ना चाहिये, और वही मत सत्य भी होना चाहिये। तथा हमें अपने गुरुके वचनोंपर ही विश्वास रखना चाहिये; फिर चाहे वह गुरु शास्त्रक नामक भी न जानता हो, परन्तु वही महाप्रज्ञा है ऐसा मानकर चढ़ना चाहिये। इसी तरह जो हम कुछ मानते हैं वही नीतप्राप्तका उपदेश किया हुआ धर्म है, बाकी तो केवल जैनमतक नामसे प्रचलित मत है और वे सब असत्य मत हैं। इस तरह उनकी समस्त ज्ञानसे वे विचारे उसी मतमें संलग्न रहते हैं। अपेक्षा रहित देखनेमें इनका भी दोष नहीं दे सकते।

जैनधर्मिक अन्तर्गत जो जो मत प्रचलित है उनमें बहुत करके जैनसम्बन्धी ही क्रियाएँ होगी, यह मानी हुई बात है। इस तरहकी समान प्रवृत्ति देखकर जो सांग जिस मतमें वे निश्चित हुए हों, उसी मतमें ही वे दीक्षित पुरुष संलग्न रहा करते हैं। दीक्षितोंकी दीक्षा भी या तो अधिकतरके कारण, या भीषण मीनने जैसी स्थितिसे चढ़ना जानेक कारण, अथवा मन्त्रानुष्ठान-वैयर्थ्यसे ही हुई दीक्षा जैसी होती है। धार्मिक शिक्षाकी सहाय्य स्वरूपासे दीक्षा स्नानसे पुरुष हुए निरुद्ध ही रहते। और यदि देखने भी तो वे उस मतसे तंग आकर केवल नीतप्राप्तकी आश्रमा संलग्न होनेक विषय ही अधिक लक्ष्य होने।

जिसकी शिक्षाकी सहाय्य स्वरूपा हुई है उसके सिवाय दूसरे निम्न दीक्षित अथवा गुरुपुत्र मनुष्य हैं वे सब स्वयं जिस मतमें पड़े रहते हैं उसीमें रूढ़ी रहते हैं। उनको विचारोत्तरी प्रेरणा करने वाला कोई नहीं मिलता। गुरु लोग अपने मतमन्त्रों नामा प्रकारक योजना करके रखे हुए विद्वत्पण्डितों, चाहे उसमें फिर कोई यथार्थ प्रमाण हो अथवा न हो, समझाकर उनको अपने मतमें रखकर उन्हें चलाते हैं।

इसी तरह स्वामी गुरुआने सिखाय जबर्दस्तीसे बन बैठे हुए महावीरदेवके मार्गात्थकम्पस गिने जानेवाले यतियोंने मार्ग चढ़ानेकी शैलीके लिये तो कुछ सोचना ही बाकी नहीं रहता। कारण कि गुरुआने तो अशुभ्रत भी होते हैं, परन्तु ये तो सौपरकरदेवकी तरह कम्पातीत पुरुष बन बैठे हैं।

सशोषक पुरुष बहुत कम हैं। मुक्त होनेकी अंताकरणमें अमिक्षया रखनबास और पुरुषार्थ करनेबासे बहुत कम हैं। उन्हें सद्गुरु, सत्संग अथवा सत्शास्त्र जैसी सामग्रीका मिश्रण दुर्लभ हो गया है। जहाँ कहीं भी पहुँचने जाओ वहाँ सब अपनी अपनी ही रास्ते हैं। फिर सबी और ईर्ष्या कोई मात्र ही नहीं पहुँचता। मात्र पहुँचनेवालेके आगे मिथ्या प्रशोचन करके वे स्वयं अपनी संसार-स्थिति बताते हैं और दूसरेको भी संसारकी स्थिति बतानेका निमित्त होते हैं।

यही सबमें पूरी बात यह है कि यदि कोई एक कोई सशोषक आत्मा है तो वे भी अशुभ-जनमूल धूमिली इत्यादि विषयोंम शाकाके कारण रुक गई हैं। उन्हें भी अनुभव-वर्मपर आमा बहुत ही कठिन हो गया है।

इसपरसे मेरा कहनेका यह अमिप्राप नहीं है कि आत्मक कोई भी जैनदर्शनका आत्मक नहीं है। अस्तव्य, परन्तु बहुत ही कम, बहुत ही कम। और जो है भी उनमें मुक्त होनेके सिवाय दूसरी कोई भी अमिक्षता न हो, और उन्होंने बीतराजकी आज्ञासे ही अपनी आत्मा समर्पण कर दी हो तो ऐसे लोग तो रैगजीपर गिनने लायक ही निकलेंगे नहीं तो दर्शनकी दशा देखकर कम्पा उत्पन्न हो जाती है। यदि स्थिर चित्तसे विचार करके देखो तो तुम्हें यह मेरा कथन समान हो सिद्ध होगा।

इन सब मतोंमें कुछ मतोंके नियमों तो कुछ सामान्य ही विचार है। किन्तु मुख्य विचार तो इस विषयका है कि एक प्रतिमाकी सिद्धि करता है, और दूसरा उसका सर्वथा खंडन करता है।

दूसरे पक्षमें पक्षिष्ठ मैं भी गिना जाता था। मेरी अमिक्षता तो केवल बीतराजदेवकी आज्ञाके आत्मन करनेकी ही ओर है। अपनी स्थिति स्वयं स्वयं स्पष्ट करके यह मैं बता देना चाहता हूँ कि प्रथम पक्ष स्वयं है अर्थात् त्रिनप्रतिमा और उसका पूजन शाकोष्ठ, प्रमाणात्थ अनुभवोष्ठ और अनुभवमें होने योग्य है। मुझे उन पक्षियोंका जिस रूपसे जान हुआ है और उस स्वयंमें मुझे जो कुछ अस्पष्ट था वही मैं भी दूर हो गई है। उस वस्तुका कुछ घोषासा प्रतिपादन करनेसे उस स्वयंमें कोई भी आत्मा विचार कर सकेगी और उस वस्तुकी सिद्धि हो जाय तो इस स्वयंमें उसका मतभेद दूर होनेसे यह सुकममोष पक्षिका भी एक कार्य होगा यह समझकर उद्यममें प्रतिमाकी सिद्धिके लिये कुछ विचारोंको खोजी कहता हूँ—

मेरी प्रतिमामें भ्रष्टा है, इसलिये तुम सब भी भ्रष्टा करो इसलिये मैं यह नहीं कह रहा हूँ परन्तु यदि उससे और भगवान्की आज्ञाका आत्मन होता निश्चय दे तो वैसा करो परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि—

आगमके कुछ प्रमाणोंकी सिद्धि होनेके लिये परंपराके अनुभव इत्यादिकी आवश्यकता है। यदि इस कहो तो मैं कुतर्कसे समस्त जैनदर्शनका भी खंडन कर दिया हूँ, परन्तु उसमें कल्पित नहीं।

प्रमाणसे और अनुभवसे बहुत सत्य सिद्ध हुई वहाँ निश्चय पुरुष अपने चाहे कसे भी इच्छा करे देते हैं ।

यदि यह महान् विचार इस कालमें न पड़ा होता तो लोगोंका धर्मकी प्राप्ति बहुत सुखम हो जाती । संशेपमें मैं इस बातको पौध प्रकारसे प्रमाणोंसे सिद्ध करता हूँ —

१ आगम प्रमाण, २ इतिहास प्रमाण, ३ परंपरा प्रमाण, ४ अनुभव प्रमाण, और ५ समाधि प्रमाण ।

१ आगम प्रमाण—

आगम किसे कहते हैं ? पहले इसकी व्याख्या होनेकी जरूरत है । जिसका प्रतिपादक मूल पुरुष अज्ञ हो और जिसमें उस आत्मपुरुषके बचन सन्निविष्ट हों, वह आगम है । गणपतोंने बीतराग देवक उपदेश किये हुए अर्थकी योजना करके संशेपमें मुख्य मुख्य बचनोंको लेकर छिपिबद्ध किया, और मैं ही आगम अथवा सूत्रके नामसे इसे कहते हैं । आगमका दूसरा नाम सिद्धांत अथवा शास्त्र भी है ।

गणपतदेवोंने तीर्थकरदेवसे उपदेशकी हुई पुस्तकोंकी योजनाको द्वादशांगीकल्पसे की है । इन बारह अंगोंके नाम कहता हूँ — आचार्यंग, सूत्ररत्नांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञानार्थमकरांग, उपासकरांग, अवलोकनरांग, अनुसारीप्राप्तिक, प्रत्यक्षकरण, विपाक, और इतिवृत्त ।

१ जिससे बीतरागकी किसी भी आकांक्षा पावनी होता हो वैसा आचरण करना, यही मुख्य उद्देश्य है ।

२ मैं पढ़िये प्रतिमाको नहीं मानता था और अब मानने लगा हूँ, इसमें कुछ पक्षपातका कारण नहीं है परन्तु मुझे उसकी सिद्धि माग्यम हुई इसलिये मानता हूँ । उसकी सिद्धि होनेपर मैं इसे न माननेसे पढ़ियेकी मान्यताकी भी सिद्धि नहीं रहती, और ऐसा होनेसे आराधकता भी नहीं रहती ।

३ मुझे इस मन अथवा उस मतकी कोई मान्यता नहीं, परन्तु राग-द्वेषरहित होनेकी परमा-कांक्षा है; और इसका छिमे जो जो साधन हो उन सबकी मनसे इच्छा करना, उन्हें कायसे करना, यही मेरी मान्यता है और इसके लिये महाश्वरके बचनोंपर मुझे पूर्ण विश्वास है ।

४ अब केवल इतनी प्रस्तावना करके प्रतिमाने सर्बपक्षों का मुख अनक प्रकारसे प्रमाण मित्र है उन्हें कहता हूँ । इन प्रमाणोंपर मनन करनेसे पहले वाचक साग वृषा करक नीबू-विचारोंको ध्यानमें रखने —

(अ) हम भी पाप पावक इच्छुष्य हो और मैं भी हूँ; दोनों ही महाश्वरके उपदेश—आत्म-क्षिपी उपदेशकी इच्छा करना है और यही म्यापयुक्त भी है । इसलिये जहाँ मय्यता है वहाँ हम दोनोंको ही निष्पक्षता द्वारा सत्यता स्वीकार करनी चाहिये ।

(आ) जबतक कोई भी बात योग्य रीतिसे समझमें न आवे तबतक उस समझमें जाना और उस संबंधमें अतिम बात कहत हुए मौन रहना ।

(इ) जमुक बात सिद्ध हो तो ही टीक दे, ऐसी इच्छा न करना, परन्तु सत्य ही सत्य सिद्ध

हो यही इच्छा करना । प्रतिमाके पूजनेसे ही मोक्ष है, अथवा उसे न माननेसे ही मोक्ष है, इन दोनों विचारोंके प्रगट करनेसे इस पुस्तकका योग्य प्रकारसे मनन करनेतक मौन रहना ।

(ई) शास्त्रकी शीर्षीसे विद्वद् अथवा अपने मानकी रक्षाके किये कदापि होकर कोई भी बात न कहना ।

(उ) जबतक एक बातको असत्य और दूसरीको सत्य माननेमें निर्दोष कारण न लिया जा सके तबतक अपनी बातको मध्यस्थदृष्टिमें रोककर रहना ।

(ऊ) किसी भी शास्त्रकारका ऐसा कहना नहीं है कि किसी अमुक धर्मको माननेवाला सम्स्त समुदाय ही मोक्ष पावेगा, परन्तु जिनको आत्मा धर्मत्वको धारण करेगी वे सभी सिद्धिको प्राप्त करेंगे, इसलिये पश्चिम स्वाध्यायके धर्म-बोधकी प्राप्ति करनी चाहिये । उसका यह भी एक साधन है उसका पराश्र किन्ना प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना मूर्तिपूजाका खडन कर डालना योग्य नहीं ।

(ए) यदि तुम प्रतिमाको माननेवाले हो तो उससे जिस द्रष्टाका स्फुट करनेकी परमात्मा आज्ञा है उसे तत्काल कर लो और यदि तुम प्रतिमाका खडन करते हो तो इन प्रमाणोंको योग्य रीतिसे विचार कर देखो । मुझे लोगोंको ही शत्रु अथवा विषमें से कुछ भी नहीं मानना चाहिये । इनकी भी एक रस है, ऐसा समझकर उन्हें इस प्रपञ्च पर आना चाहिये ।

(ऐ) इतना ही ठीक है अथवा इतनेसे ही प्रतिमाकी सिद्धि हो तो ही हम मर्त्यों के तत्त्वका आश्रय न रहना, परन्तु बीरके उपदेश किये हुए शास्त्रोंसे इसकी सिद्धि हो ऐसी इच्छा करना ।

(ओ) इन्हींलिये सबसे पहिले विचार करना पड़ेगा कि कितन कितन शास्त्रोंको बीरके उपदेश किये हुए शास्त्र कह सकते हैं अथवा मान सकते हैं, इसलिये मैं सबसे पहिले इसी संबंधमें कहूँगा ।

(आ) मुझे सङ्गल मागधी अथवा अन्य किसी मायाका भी मेरी योग्यतानुसार परिचय नहीं पना मानकर यदि आप मुझ अप्रामाणिक दृष्ट्योग्य तो यह बात न्यायके विद्वद् होगी, इसलिये मेरे कथनकी शास्त्र और आश्रम-मन्त्राध्यायों में बतलाना ।

(अ) यदि मेरे कर्तुं विचार ठीक न होगा, तो उन्हें सबर्ष मुहसत पूछना परन्तु उसके पक्ष ही उस विषयमें अपनी कल्पनाद्वारा शास्त्र बनाकर मत बैठना ।

(अ) स्तोत्रम यही कहना है कि जैसे कल्पान्त हो जैसे आचरण करनेके सबधमें यदि मेरे कहना अपायक होगा तो उसके लिये परार्थ विचार करके फिर जो ठीक हो उसीको मान्य करना । शास्त्र-मूल किन्तु है ।

१ एक पक्ष ऐसा कहना है कि आजकल पैताबीस अथवा पैताबीससे भी अधिक सूत्र और उनमें विविध भाष्य चूर्ण और टीका इन सबका भी मानना चाहिये । दूसरा पक्ष कहता है कि कुछ सूत्र बलीम ही हैं और वे बलीम ही भगवान् के उपदेश किये हुए हैं । बाकीमें कुछ न कुछ मिश्रण हो गई है तथा विविध विचारों की मिश्रण हो गई है इसलिये कुछ सूत्र बलीम ही मान्य चाहिये । इन मान्यताके संबंधमें पहिले मैं अपनी समस्त आये हुए विचारोंका कहता हूँ ।

दूसरे पक्षकी उपरि हुए आजकल आश्रम चारमी वर्ष हुए हैं । वे छान विन बलीम सूत्रों मानत हैं वे सूत्र इस प्रकार हैं—११ अंग १२ उपांग ४ सूत्र, ४ छंद, १ अक्षर्यक ।

(२)

अन्तिम अनुरोध

अब इस विषयको मैंने सर्वप्रथम पूर्ण किया। केवल प्रतिमास ही भय है, ऐसा कहने लिये अथवा प्रतिमास पूजनकी सिद्धि लिये मैंने इस छन्द प्रथम कहल नहीं कहा। प्रतिमा-पूजनके विषय मुझे जो जो प्रमाण प्राप्त हुए थे मैंने उन्हें सर्वप्रथम कह दिया है। उसमें उचित और अनुचित दखनेका काम धारक-विचक्षण और म्यायस्तव पुनर्प्राप्त है। और मान्यता या प्रामाणिक मान्यता हो उस तरह स्वयं चरना और दूसरोंको भी उसी तरह प्रवर्णन करना यह उनकी आत्माके ऊपर आधार रखता है। इस पुस्तकका मैं प्रसिद्ध नहीं करता क्योंकि जिस मनुष्यन एक बार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उसका समर्थन करे, तो इससे प्रथम फलदायक लिये बहुत लोहा होता है और यह कटपक्षका कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति यदि समय पहिच एसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकका मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अतः कारण अधिक दुःखता और उसका दुःखानेका निमित्त मैं ही होता, इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे अग्न करणमें एक पंसा विचार उत्पन्न हुआ कि तब लिये उन सर्वप्रथमके मनमें संकल्प विचार आत रहेंगे तथा तब जिस प्रमाणसे इस माना है, वह भी कदाएँ एक तेरे ही रूपमें रह जायगा, इसलिये उसकी सम्पत्तापूर्वक सिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। तब उसमेंसे बहुत ही निम्न जिस विचारकी प्रेरणा हुई, उसे सर्वप्रथम कह दता हूँ। प्रतिमाका माना, इस आत्मके लिये यह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है, तथा उन लोगोंके प्रतिमाको माननेसे मैं कुछ धनवान् ता हा ही नहीं जाऊँगा। इस संकल्पमें मेरे जो जो विचार थे—

२१वाँ वर्ष

२१

मार्गश्र, मगसिर सुदी १ शुद्ध १९४५

पत्रों से सब समाचार मिलित हुए। अपराध नहीं, परन्तु परतंत्रता है। निरन्तर सत्पुरुषों की कृपा-
वृद्धि की इच्छा करो और शोकरहित रहो, यह मेरा परम अनुरोध है, उसे स्वीकार करना। विशेष न
लिखो तो भी इस अहमाको उस बातका प्यान है। वर्षोंको सुशानिमें रक्खो। सच्चा बीरत्व करो।

(पूर्ण सुशानिमें हूँ ।)

२२

मार्गश्र, मगसिर सुदी १२, १९४५

आगतमें रागाहीनता विनय और सत्पुरुषकी आज्ञा ये न मिश्रनसे यह आत्मा अनादिकावसे
मनकरी रही, परन्तु क्या करे छायाय थी। जो हुआ सो हुआ। अब हमें पुरुषार्थ करना उचित
है। जय होओ।

२३

मार्गश्र, मगसिर सुदी ७ मीमा १९४५

जिनाय नमः

मेरी ओर माह रक्षा न रक्खो। मैं तो एक अल्पराशिवाला पत्थर मनुष्य हूँ। सुशानिमें अनेक
सत्पुरुष छिपे पड़े, हैं और निदितरूपसे भी हैं, उनका गुणका स्मरण करो, उनका पवित्र समाम
करो और आग्निद्वय कामसे मनुष्य मनको सार्थक करो यही मेरी निरन्तर प्रार्थना है।

२४

मार्गश्र, मगसिर सुदी १२ शानि १९४५

मैं ममयानुसार आनन्दमें हूँ। आजका आनन्दनन्द चाहता हूँ। एक बड़ा निश्चय यह करना है
कि जिससे हमें शोकरही स्थानता और पुरुषार्थकी अधिकता प्राप्त हो इस तरह पत्र लिखनेका
प्रयत्न करते रहें।

२५

वि सं १९४५ मगसिर

उम्हाय प्रगतमाल-भूषित पत्र मिला। जिस मार्गसे आत्मन प्राप्त हो उस मार्गकी शोच करो।
तुम मुझसे प्रसन्नमात्र छाओ ऐसा मैं पात्र नहीं तो भी यदि हम तरहसे तुमको आनन्द-शानि मिहती
हो तो कम।

२६

बृषणीमा, माघ सुदी १४ शुभ १९४५

सत्युत्पत्तिको नमस्कार

अनतानुबची कोब, अनतानुबची मान, अनतानुबची माया, और अनतानुबची छोम य चार, तथा मिष्यपत्रमाहिनी, मिष्यमाहिनी, सम्पत्त्वमोहिनी ये तीन इस तरह जबतक साम प्रवृत्तियोंका क्षयोप-
क्षम, उपशम अथवा क्षय नहीं होता तबतक सम्पत्त्व होना समय नहीं । ये सात प्रवृत्तियाँ जैसे जैसे
मर होती जाती हैं वैसे वैसे सम्पत्त्वका उत्पन्न होता जाता है । इन प्रवृत्तियोंकी प्रतीति लेना बड़ा ही
कठिन है । जिसकी यह प्रतीति नष्ट हो गई उसको आत्माका हस्तगत होना सुखम है । तत्त्वज्ञानियोंने
इसी प्रतीति के ध्यान करनेका बार बार उपदेश दिया है । जो आत्मा अप्रमादपनसे उसके भेदन करनेकी
और दृष्टि करेगी वह आत्मा आत्मबोधके अवश्य पायेगी, इसमें सन्देह नहीं ।

सद्गुरुके उपदेशके बिना आर जीवकी मयाजनाके बिना उमा होना रुका हुआ है । उसकी
प्राप्ति करके सत्त्व-राजस अत्यंत तप्त आत्माका निस्तब्ध करना यही कृतकृत्यता है ।

“ धर्म ” यह बहुत गुप्त वस्तु है । वह बाहर नज़रनेम नहीं मिलती । वह तो अपूर्व अंतर्दृष्टि
धनसे ही प्राप्त होती है । यह अंतर्दृष्टि के बिना एक महाभाग्य सद्गुरुके अनुग्रहमे प्राप्त होता है ।

सद्गुरु एक भक्ते को धर्मसे सुखके डिब्बे अनंत भक्ता अनंत दुःख वदनेका प्रपन्न नहीं करते ।

शायद यह बात भी मालूम है कि जो बात होनवाली है वह होकर ही रहेगी, और जो बात
होनवाली नहीं है वह कभी होगी नहीं; तो फिर धर्म-सिद्धिके प्रपन्न करने और आम हित साध्य करनेमें
अन्य उपायियोंके आश्रित होकर प्रमाण क्यों करना चाहिये ? ऐसा है तो भी दश, कल्प, पाप और
मात्र देखने चाहिये ।

सत्युत्पत्तिके यमत्रय जगत्का कल्याण करो ।

रागादीन श्रेणी-समुच्चयको प्रणाम

२७

बृषणीमा, माघ १९४५

विज्ञान—

आपने प्रश्नको उद्गृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपका प्रश्नका उत्तर दिया है ।

प्रश्न — ‘ व्यवहारशुद्धि क्या है मरती है ? ’

उत्तर — व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपने सप्रश्ने होगी, तो भी विदितता प्राप्त करनेके लिये
आत्मिक समझदार होना करना योग्य है कि त्रिम मगार प्रवृत्तिमें श्मशानमें और परलोकमें सुग मित्र
उमरा नाम व्यवहारशुद्धि है । सुगम शब्दों में है । जब व्यवहारशुद्धिमें सुग मित्रता है तो उमरी
आत्मिकता भी निष्कण्ट है ।

१ त्रिम धर्मका कुछ भी बाध हुआ है और त्रिम संक्षय करणकी जरूरत नहीं उतने उपाय
करके कमनेका प्रपन्न न करना चाहिये ।

२ भित्ति धर्मका बोध हुआ है, उसे फिर भी अपनी हास्यता बुझ हो तो उसे पर्याप्त रूप उपनि करके कमानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

(जिसकी सर्व-संग-परिणामी होनेकी अभिलाषा है उसे इन नियमोंसे संभव नहीं ।)

३ भित्तिसे जीवन सुखसे नील लगे इतनी यथेष्ट छद्मकी होनेपर भी जिसका मन छद्मकी अभिलाषा बहुत लक्ष्मण रहता हो उसे सबसे पहिले अपने आपसे छद्मकी बुद्धि धर्मका कारण पहुँचना चाहिये । यदि उसके उत्तरमें परीक्षाके सिवाय कुछ दूसरा उत्तर आता हो, अथवा पारिजातिक छात्रको हानि पहुँचानेके अनिच्छित दूसरा कुछ उत्तर आता हो तो मनको समझा लेना चाहिये । ऐसा हानिपर भी यदि मनको समझाया न जा सके तो अमुक मर्यादा बाँधनी चाहिये । वह मर्यादा ऐसी होनी चाहिये जो सुखका कारण हो ।

४ अन्तमें आर्त्तप्यान करनेकी अद्वारत पड़े, ऐसी परिस्थिति लगी कर छेनेकी अभिलाषा धर्म-समझ करना कहीं अशुभ है ।

५ जिसका जीवन-निर्वाह ठीक प्रकारसे चल रहा हो, उसे किसी भी प्रकारके अनाचारसे छद्मी प्राप्त न करनी चाहिये । जिस कामसे मनको सुख नहीं होता उससे कृपाकी और वचनको भी सुख नहीं होता । अनाचारसे मन सुखी नहीं होता, यह एक ऐसी बात है जो सब किसीके अनुमर्मे आ सकती है ।

जीवके दोष नहीं छाने देने चाहिये —

१ किसीके साथ महा विबासचाल

२ मित्रके साथ विबासचाल

३ किसीकी बरोहर का जाना

४ व्यसनका सेवन करना

५ मित्रों को पारोपण

६ ईटा बस्तालेन छिछाना

७ जिसमें भुलना

८ अत्याचारपूर्ण भाव कहना

९ निर्दोषीको अप्रिय मत्प्राप्ति से ही छान लेना

१० श्रुतिविधि तोड़ देना

११ एकके बदले दूसरा अथवा मित्रन करके दे देना

१२ जिससे सुख पवा

१३ जिससे अथवा अन्तर्द्वार

इन मर्गोंसे कुछ भी कामना नहीं ।

यह मर्गों जीवन-निर्वाहसम्बन्धी सामान्य व्यवहारवादि कही ।

२८

कथागीता भाग पदी ७ अङ्क १९४५

सत्पुरुषोंको समस्कार

आत्माको इस दशाको जैसे बने जैसे देखकर योग्यताके आनीन होकर उन सबको मनका समाधान करके, इस संगतिकी इच्छा करो, और यह संगति अथवा यह पुरुष उस परमात्म-तत्त्वमें ध्यान रहे, यही आर्त्तार्थ देते रहा करो । तन-मन-बचन और आत्म-सिद्धिसे समाधान । धर्मध्यान करते रहनेका मेरा अनुपेक्ष है ।

२९

बवाणीआ, माघ बदी ७ शुक्र १९४५

ॐ

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सब,—आप वैराग्यविवेक मेरी आत्म-प्रवृत्तिके विषयमें पूछत हैं, इस प्रश्नका उत्तर किन शब्दोंमें दिये ! आर उसके जिय आपको प्रमाण भी क्या दे सकूंगा ! सा भी संक्षेपमें यदि ज्ञानीके माने हुए इस (तत्त्व !) को मान लें कि उदयमें आये हुए पूर्व कर्मोंको भोग लेना और नूतन कर्म न देने देना, तो इसमें ही अपना आत्म-हित है। इस श्रेणीमें रहनेकी मेरी पूर्ण आकांक्षा है, परन्तु यह ज्ञानीमन्य है इसलिये अभी उसका एक अंश भी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अंतरंग प्रवृत्ति चाह कितनी भी रागरहित श्रेणीकी ओर जाती हो परन्तु अभी बाह्य प्रवृत्तिके आधीन बहुत रहना पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है। बोलते, चलते, बैठते, उठते आर कोई भी काम करते हुए जैविक श्रेणीको ही अनुसरण करके चलना पड़ता है। यदि ऐसा न हो सके तो ठोस तरह तरहके दुःखक कारणे क्या आयेंगे, ऐसी मुझे समाधाना माग्श होती है।

तो भी कुछ प्रवृत्ति केरफारकी रक्खी है। तुम सबको मेरी (वैराग्यमयी) प्रवृत्तिविवेक मान्यता कुछ बाधना पूर्ण लगती है, तथा मेरी उम धर्णीक लिये किसी किमीका मानना शकासे पूर्ण भी हो सकता है, इसलिये तुम सब मुझ वैराग्यमें जाने हुए राक्तेका प्रफन करो, और शका करनेबाजे उम वैराग्यसे उपेक्षित होकर माने नहीं, इसमें खे पाकर सत्पुरुषों की हृदि करनी पड़े, इसी कारण मेरी यह मान्यता है कि इस पृथिवी मण्डलपर सत्य अंग करणके दिखानेकी प्राय बहुत ही थोड़ी जगह समर्थ है।

जैसे कने बेस आत्मा आत्मामें छगकर यदि जीवनपर्यंत समाधिमात्रम मुक्त रहे, ता फिर उसे सत्पुरुषकी श्रेणमें पड़ना ही न पड़े।

अभी तो तुम जैसे देखने हो मैं वैसा ही हूँ। जो सत्पुरुष प्रवृत्ति होती है, वह करता हूँ। धर्मसंबंधी मेरी आ प्रवृत्ति उस सर्वज्ञ परमाणुको ज्ञानमें हाकलती हो वह टांक है। उसका विषयमें पूछना योग्य न था। वह पूछनेमें कही भी नहीं जा सकती। जो सामान्य उत्तर देना योग्य था वही दिया है। क्या होता है ! आर पात्रका कहीं है ! यह दाय रहा हूँ। उन्म आये हुए कर्मोंका मांग रहा हूँ, वास्तविक स्थितिमें अभी एकाध अंशमें भी आया हाऊँ, एसा कहनेमें आमदशाता जैसी बाल हो जानेकी सम्माना है।

पथाशक्ति प्रभुमाकि, मस्तुग, और सत्य व्यवहारक साथ धर्म, अर्थ धाम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्राप्त करते रहो। जिस प्रयत्नस आत्मा ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो वैसा कर।

समय समयमें क्षणिक जीवन व्यतीत होना जाना है, उसमें भी प्रसार करण है, यही महामो-हनीयक बन है।

नि रायचंदका सत्पुरुषोंको नमस्कार सहित प्रणाम

उसके बाद इस पृथ्वीपर ही ईश्वर प्राप्तगता अर्थात् सिद्धि है, यह बात सबशास्त्रोंमें मान्य है ।
(मनन करना ।) यह कथन निश्चयसिद्ध है ।

३४

मोरनी, चैत्र कटी ९, १९४५

कर्मगति निश्चित है । निरंतर मैत्री, प्रमोद, कङ्कणा और उपेक्षा मानना रहना ।

मैत्री अर्थात् सब जगत्से निर्वैर बुद्धि; प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्माका गुण देखकर हर्षित होना; कङ्कणा अर्थात् सुसुप्त-तापसे दुःखित आत्माके ऊपर दुःखसे अनुकम्पा करना, और उपेक्षा अर्थात् निरुद्ध मात्से जगत्के प्रतिबन्धको भूँछकर आत्म-हितमें डगना । ये भावनायें कर्मपाणमय और पात्र-ताकी देनेवाली हैं ।

३५

मोरनी, चैत्र कटी १, १९४५

वि —

तुम्हारे दोनोंके पत्र मिले । त्यागद्वन्द्वमका स्वरूप जाननेके लिये तुम्हारी परम जिज्ञासासे मुझे संतोष हुआ है । परन्तु यह एक बात अवश्य स्मरणमें रखना कि शास्त्रमें मर्म कहा है, मर्म नहीं कहा । मर्म तो सुन्दरपक्षी अतःपाममें ही है, इसलिये मित्रोंपर ही विशेष चर्चा की जा सकेगी ।

वर्मका उल्टा सरल स्वच्छ और सहज है परन्तु उसे विरली आत्माजोने ही पाया है, पायी है और पासगी ।

जिस काव्यके लिये तुम जिज्ञा है उस काव्यको प्रसंग पाकर भेजूंगा । दाहोंके अर्पण लिये भी ऐसा ही समझो । हृन्में तो इन चार भावनाओंका ध्यान करना —

मैत्री—सर्व जगत्के ऊपर निर्वैर बुद्धि

अनुकम्पा—उसके दुःखके ऊपर कङ्कणा

प्रमोद—आत्म-गुण देखकर आनन्द

उपेक्षा—निरुद्ध बुद्धि

इससे पात्रता आसगी ।

३६

वाराणसी वैशाख सुदी १ १९४५

तुम्हारी शरीरसुखकी शोचनीय स्थिति जानकर व्यग्रहृत्की अपेक्षा खेद होता है । मेरे ऊपर अतिरूप मात्मा रखकर चलनेकी तुम्हारी इच्छाका मैं रोक नहीं सकता परन्तु ऐसी मात्मा रखनेके कारण यदि तुम्हारे शरीरको थोड़ीसी भी हानि हो तो ऐसा न कर । तुम्हारा मेरे ऊपर रमा रहता है, इस कारण तुम्हारे ऊपर राग रखनेकी मेरी इच्छा नहीं है; परन्तु तुम एक धर्मपात्र जीव हो और मुझे धर्मपात्रोंके ऊपर कुछ विशेष अनुराग उत्पन्न करनेकी परम इच्छा है इस कारण किसी भी परिस्थिति तुम्हारे ऊपर कुछ थोड़ीसी इच्छा है ।

(२)

निरंतर समाधिभावमें रहो । मैं तुम्हारे समीप ही बैठा हूँ, ऐसा समझो । अब देह-दर्शनका ध्यान हटाकर आत्म-दर्शनमें स्थिर रहो । मैं समीप ही हूँ, ऐसा मानकर शोक कम करो—जल्द कम करो, आत्मस्थता बढ़ेगी । भिन्दगीकी सँभाल रखना । जमी हाथमें देह-स्पर्शका भय न समझो । यदि ऐसा समय होगा भी तो और बड़ ज्ञानीगम्य होगा तो जल्द पहुँचेसे कोई बड़ देगा अथवा उसका उपाय बता देगा । जमी हाथमें तो ऐसा है नहीं ।

उस पुरुषको प्रत्येक छोट्टेसे छोट्ट कामका आरम्भमें भी स्मरण करो, बड़ समीप ही है । यदि ज्ञानीरूप होगा तो थोड़े समय वियोग रहकर फिरसे संयोग होगा और सब अच्छा ही होगा ।

दशवैकालिक सिद्धांतको आजफत पुन मनन कर रहा हूँ । अपूर्व बात है ।

यदि पद्मसन छागाकर अथवा स्थिर आसनसे बैठा जा सके (अथवा छेदा जा सके तो भी ठीक है, परन्तु स्थिरता होनी चाहिये), तेह उगमग न करती हो, तो आँख मीचकर मामिके भागपर धृति पहुँचाओ, फिर उस हठिको छतर्तले मध्यमें छत्कर टेढ़ फफावके मध्यभागमें छे जाओ, और सब जगत्को गून्गामासुरूप चितवन करके, अपनी देहमें सब स्थलोंमें एक ही ठेव ध्यात हो रहा है, ऐसा ध्यान रखकर, जिस रूपसे पार्वनाथ आदि जईत्की प्रतिमा स्थिर और धक्क निश्चर्त देती है, छतर्तले मध्यभागमें बैसा ही ध्यान करो । यदि इसमेंसे कुछ भी न हो सकता हो तो सबेरेके चार पा पाँच बजे जागकर रजईको तानकर एकाग्रता बानेका प्रयत्न करना, और हो सके तो जईत् स्वरूपका चितवन करना, मही तो कुछ भी चितवन न करते हुए समाधि अथवा बोधि इन शब्दोंका ही चितवन करना । इस समय बस इतना ही । परमकल्याणकी यह एक श्रणी होगी । इसकी क्रमसे क्रम स्थिति बाह्य पक्ष और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुद्रतकी रखनी ।

३७

वि स १०४५ ईशाख

संयमि मुनिचरम

१ अयनपूर्वक चक्रनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है । (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कहुवा फल प्राप्त होता है ।

२ अयनपूर्वक स्त्रुह गहनेसे प्राणियोंकी हिंसा होगी है । (उससे) पापकर्म बँधता है उससे कहुवा फल प्राप्त होता है ।

३ अयनपूर्वक शायन करनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है । (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कहुवा फल प्राप्त होता है ।

४ अयनपूर्वक आहार करनेसे प्राणियोंकी हिंसा होगी है । (उससे) पापकर्म बँधता है, उससे कहुवा फल प्राप्त होता है ।

५ अयनपूर्वक बोधनेसे प्राणियोंकी हिंसा होगी है । (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कहुवा फल प्राप्त होता है ।

३०

बनाणीआ, माघ कदी ७, १९४५

रागाहीन पुरुषोंको नमस्कार

सन्तुष्टयोंका यह महान् उपदेश है कि उदय जाये हुए कर्मोंको भोगते हुए नये कर्मोंका बंधन हो, इससे आत्माको सुखेत्त रखना ।

यदि वहाँ तुम्हें समय मिलता हो तो विन-मक्तिमें अनिच्छाधिक उत्साहकी वृद्धि करते रहना, वार एक घड़ीभर भी सस्मय अथवा स्तब्धताका मनन करते रहना ।

(किसी समय) द्रुमास्तुम कर्मके उदयक समय हर्ष शोकमें न पड़कर भोगतेसे ही मुक्तपण है, और यह क्लृप्ति मेरी नहीं, ऐसा मानकर समभावकी भेणिको बढ़ाते रहना ।

३१

बनाणीआ, माघ कदी १० सोम १९४५

रागाहीन पुरुषोंको नमस्कार

निर्ग्रह भगवान्‌के प्रणीत किये हुए पन्नि धर्मके छिये ओ कुछ भी उपमायें दी जाये वे सब मूल ही हैं । आत्मा अनतनाह भयकी, वह केवल अपने निरुपम धर्मके भगवान्‌के ही कारण । जिसके एक रंगमें भी किंचित् भी अज्ञान मोह अथवा असमाधि नहीं रही उस सन्तुष्टयके बन्धन और बोधके छिये हम कुछ भी नहीं कह सकते उन्हींके बन्धनमें प्रशस्तभावसे पुनः पुनः अनुरक्त होना इसीमें अपना सर्वोत्तम भेय है ।

कैसी इनकी दीखी है । जहाँ आत्माके विकारमय होनेका कर्मतर्ही और भी बाकी नहीं रही ऐसी शुद्ध द्रव्यिक फल और बन्दते भी उज्ज्वल शास्त्रध्यानकी भेणीमें प्रबलरूपमें निकले हुए उस निर्ग्रहके पवित्र बन्धनोंकी मुक्त और तुम्हें त्रिकाल भ्रष्टा रहे । यही परमात्मके योगबलके आपो फल पाचना है ।

३२

बनाणीआ, फल्गुन सुनी ९ रवि १९४५

मिथ्यान्व महात्माओंको नमस्कार

मातृक मार्ग दो नहीं है । भूतकाशमें विन विन पुरुषोंने मोक्षरूप परम शांति पाई है, उन सब सन्तुष्टयोंने इसे एक ही मार्गसे पाई है वर्तमानकालमें भी उसीसे पाते हैं, और भविष्यकालमें भी उसीसे पावेंगे । उस मार्गमें मतभेद नहीं है असुरक्षता नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, भेदभेद नहीं है, और मध्यममन्यता नहीं है । वह सरल मार्ग है, वह समाधि मार्ग है, तथा वह स्थिर मार्ग है ; और वह स्वाभाविक शान्तिस्वरूप है । उस मार्गका सब कालमें अस्तित्व है । इस मार्गके, मर्मका पाने बिना किसी भी भूतकालमें मोक्ष नहीं पाव, वर्तमानकालमें कोई नहीं पा रहा, और भविष्यकालमें कोई पावेगा नहीं ।

श्रीविन भगवान्‌न इय एक ही मार्गके बगानेके छिये हजारों क्षियर, और हजारों उपदेश

दिये हैं। इस मार्गके लिये वे कियार्हे और उपदेश ग्रहण किये जायें तो वे सफल हैं, और यदि इस मार्गको भूलकर वे कियार्हे और वे उपदेश ग्रहण किये जायें तो वे सब निष्फल ही हैं।

श्रीमद्वागीश्वर जिस मार्गसे पार हुए उसी मार्गसे श्रीकृष्ण भी पार होंगे। जिस मार्गसे श्रीकृष्ण पार होंगे उसी मार्गसे श्रीमद्वागीश्वर पार हुए हैं। यह मार्ग चाहे जहाँ बैठकर, चाहे जिस कालमें, चाहे जिस धेणीमें, चाहे जिस योगमें, जब कभी मिलेगा तभी उस पवित्र और शाश्वत संपदके अनंत अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होगा। यह मार्ग सब स्थलोंमें समान है। योग्य सामग्रीको न मिलनेसे मध्यमन भी इस मार्गको पानेसे रुके हुए हैं, रुकेंगे और रुके थे। किसी भी धर्मसंबंधी मतभेदको छोड़कर एकमतभाव और सम्मग्योगसे इसी मार्गकी खोज करनी चाहिये। विशय क्या कहें? यह मार्ग स्वयं आत्ममें ही मौजूद है। जब आत्मत्वको पाने योग्य पुरुष अर्थात् निर्मल-आत्मा आत्मत्वको प्राप्तता समझकर उस आत्मत्वका अर्पण करेगा—उत्कृष्ट उदय करेगा—तभी वह उसको प्राप्त होगी, तभी वह मार्ग मिलेगा, तभी वे मतभेद आदि दूर होंगे। यत्न रखकर किसीने भी मोक्ष नहीं पाया। जिसने विचारकर मतभेदको दूर किया उसीने अतर्हीति पाकर क्रमसे शाश्वत मोक्षको पाया है, पाता है, और पावगा।

३३

बषाणीआ, फाल्गुन सुदी ९ रवि १९४५

मिरागी महात्माओंको नमस्कार

कर्म यह सब कस्तु है। ऐसा अनुभव होता है कि जिस जिस आत्माको इस सबसे जितना जितना अधिक आत्मसुखपूर्वक समागम होता है उस आत्माको उसनी उसनी ही अधिक जड़ताकी अर्थात् अज्ञानताकी प्राप्ति होती है। आधर्म्यकी बात या यह है कि कर्म स्वयं सब होनेपर भी चेतनको अचेतन बना रहा है। चेतन चेतन-आत्मको भूलकर उसको निजस्वरूप ही मान रहा है। जो पुरुष उस कर्म-सयोगको और उसके उदयमें उत्पन्न हुई पर्यायोंका निजस्वरूप नहीं मानते और जो सचामें रहनबस्ने पूर्व सयोगोंको बबरहित परिणामसे भोग रहे हैं, वे पुरुष स्वभावकी उत्तरोत्तर उन्नतिश्रेणीका पाकर छंद चेतन-आत्मका पावेंगे, ऐसा कहना सप्रमाण है; क्योंकि भूतकालमें ऐसा ही हुआ है, वर्तमानकालमें ऐसा ही हो रहा है, और अनित्यकालमें ऐसा ही होगा। जो कोई भी आत्मा उदयमें जानबूठे कर्मको भोगते हुए समता-अर्थमें प्रवेश करके अवब-परिणामस आचरण करेगी तो वह निश्चयसे चेतन-सुखको प्राप्त करेगी।

यदि आत्मा निरपी (होकर) सरल और उपयुक्तताको पाकर सर्वत्र सुखरूपक चरणकर्ममें रहे तां तब महात्माओंको नमस्कार किया गया है उन महात्माओंकी जसी शक्ति है, किसी शक्ति प्राप्त की जा सकती है।

या तो अनलकालमें संपादना ही नहीं है, अथवा मनुष्य (जिसे मनुष्य, ममता और ममता गमित है) नहीं चित नहीं ता निश्चयम ममता रूपमें ही है।

उसके बाद इस दुष्प्राप्त की ईर्ष्या प्रामाण्य अर्थात् सिद्धि है, यह बात सबशास्त्रोंको मान्य है ।
(मनन करना ।) यह कथन त्रिकालसिद्ध है ।

३४

मोरबी, चैत्र कदी ९, १९४५

कर्मगति विविध है । निरंतर मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भावना रहना ।

मैत्री अर्थात् सब जगत्से निर्वैर बुद्धि प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्माका गुण देखकर हर्षित होना करुणा अर्थात् संसार-तापसे दुःखित आत्माके ऊपर दुःखसे अनुकंपा करना और उपेक्षा अर्थात् निस्पृह भावसे जगत्के प्रतिबंधको भूखकर आत्म-हितमें लगना । ये भावनायें कल्याणमय और पान-तापी देनेवाली हैं ।

३५

मोरबी, चैत्र कदी १०, १९४५

वि —

तुम्हारे दोनोंके पत्र मिले । स्याद्वाददर्शनका स्वरूप जाननेके लिये तुम्हारी परम विद्वत्तासे मुझे संतोष हुआ है । परन्तु यह एक बात अवश्य स्मरणमें रखना कि शास्त्रमें मर्म कहा है, मर्म नहीं कहा । मर्म तो संपुरुषकी अंतरात्मामें ही है, इसलिये मिछनेपर ही विशेष चर्चा की जा सकेगी ।

धर्मका रास्ता सरल स्वच्छ और सहज है, परन्तु उसे बिरही आत्माओंने ही पाया है, पाती है और पासैगी ।

जिस कल्पके लिये तुमने किया है उस काम्यको प्रसंग पाकर भेटूंगा । दोहोंके अर्थके लिये भी ऐसा ही समझो । हाथमें तो इन चार भावनाओंका ध्यान करना —

मैत्री—सर्व जगत्के ऊपर निर्वैर बुद्धि

अनुकंपा—उनके दुःखके ऊपर करुणा

प्रमोद—आत्म-गुण देखकर आनंद

उपेक्षा—निस्पृह बुद्धि

इससे पात्रता आसगी ।

३६

कल्याणजी वैराग्य सुदी १ १९४५

तुम्हारी शरीरसंरक्षणी शास्त्रीय विधि जानकर व्यवहारकी अपेक्षा खेद होता है । मेरे ऊपर अनिश्चय भावना रमकर अश्रुनकी तुम्हारी इच्छा में रोऊ नहीं सकता परन्तु ऐसी भावना रखनेके कारण यदि तुम्हारे शरीरका पोषणी भी हानि हो तो ऐसा न कह । तुम्हारा मेरे ऊपर राग रहता है, इस कारण तुम्हारे ऊपर राग रखनेकी मरी इच्छा नहीं है परन्तु तुम एक धर्मपात्र जीव हो और मुझे धर्मपात्र ऊपर कुछ विशय अनुशासन उत्पन्न करनेकी परम इच्छा है । इस कारण किसी भी विधि तुम्हारे ऊपर कुछ पोषणी इच्छा है ।

(२)

निरंतर समाधिमात्रमें रहो । मैं तुम्हारे समीप ही बंटा हूँ, ऐसा समझो । जब देह-दर्शनका प्यान हटाकर आत्म-संन्यासमें स्थिर रहो । मैं समीप ही हूँ, ऐसा मानकर शोक कम करो—जल्द कम करो, आरोग्यता बढ़गी । बिन्दुगोकी सैमाख रक्खा । जमी हाथमें देह-त्यागका भय न समझो । यदि ऐसा समय होगा भी तो और यह ज्ञानीगम्य होगा तो जल्द पहुँचेंगे कार्य कर देगा अपना उम्मीद उपाय बता देगा । जमी हाथमें तो ऐसा है नहीं ।

उस पुरुषका प्रत्येक छोटेसे छाने काममें आरम्भमें भी स्मरण करो; यह समीप ही है । यदि ज्ञानी-सम होना तो थोड़े समय विराम रहकर निरंतर स्याम होना और सब अच्छा ही होगा ।

तत्त्वैकात्मिक सिद्धान्तको व्याजकृष्ण पुनः मनन कर रहा । । अर्घ्य बतल है ।

यदि पद्मासन लगाकर अथवा स्थिर आत्मनसे बैठा जा सके (अथवा खड़ा जा सके तो भी ठीक है, परन्तु स्थिरता ज्ञानी चाहिये), देह जगमग न करती हो, तो अल्प बीचकर नाभिके मागपर यदि पहुँचाओ, फिर उस हृदयका छातीके मध्यमें छाकर डेट कपाटके मध्यभागमें छे जाओ, और सब जगत्को गून्थाभासुरूप चितवन करके, अपनी देहमें सब स्थलोंमें एक ही क्षेत्र प्याप्त हो रहा है, ऐसा प्यान रमकर, जिस रूपमें पार्वनाथ आदि अर्द्धवृत्ती प्रतिमा स्थिर और धन्य निश्चिन्त है, छातीके मध्यभागमें बैठा ही प्यान करो । यदि इसमेंसे कुछ भी न हो सकना हो तो सबके बाज पा पोंच बजे जलकर रजर्द्धको छानकर एकप्रता छानेका प्रयत्न करना, और हा सके ता अर्द्ध स्वल्पका चितवन करना, नहीं तो कुछ भी चितवन न करते हुए समाधि अथवा बोधि इन दोनोंका ही चितवन करना । इस समय बस इतना ही । परमवन्ध्याणकी यह एक अणी हामी । इसकी कमसे कम स्थिति बाएँ पं और उम्हड़ स्थिति अर्द्धमुक्तपद्म रावनी ।

३७

वि सं १०४५ वैशाख

सपनि मुनिचर्म

१. अपनर्चक अन्तसे प्राणिपौरी दिसा होती है । (उसमें) पारक्रम बैपता है; उसमें बहुत प्रम प्राप्ता होता है ।

२. अपनर्चक गह रहनेसे प्राणिपौरी दिसा होती है । (उसमें) पारक्रम बैपता है; उसमें बहुत प्रम प्राप्ता होता है ।

३. अपनर्चक गहन करनेसे प्राणिपौरी दिसा होती है । (उसमें) पारक्रम बैपता है; उसमें बहुत प्रम प्राप्ता होता है ।

४. अपनर्चक आदर करनेसे प्राणिपौरी दिसा होती है । (उसमें) पारक्रम बैपता है; उसमें बहुत प्रम प्राप्ता होता है ।

५. अपनर्चक बोधनेसे प्राणिपौरी दिसा होती है । (उसमें) पारक्रम बैपता है; उसमें बहुत प्रम प्राप्ता होता है ।

६ कैसे बड़े ! कैसे बड़ा हो ! कैसे बैठे ! कैसे ध्यान करे ! कैसे बाहार ले ! कैसे बोले, जिससे पापकर्म न बँधे !

७ पतनासे बड़े पतनासे बड़ा रहे ! पतनासे बैठे पतनासे ध्यान करे ! पतनासे बाहार ले पतनासे बोले ! तो पापकर्मका बँध नहीं होगा ।

८ सब जीवोंको अपनी आत्माके समान देखे मन, बचन और कायासे सम्यक् प्रकारसे सब जीवोंको देखे, प्रीति (१) आकाशसे आत्माका दमन करे तो पापकर्म न बँधे ।

९ उसके सबसे पहिले स्थानमें महावीररूपने सब आत्माओंकी सम्यक् रूप, निपुण ब्रह्मसाक्षात् मन्त्रपूर्वक विधान किया है ।

१ अगस्तमें जिसने अस और त्याग पर प्राणी हैं उनका जानकर अपना अनजाने स्वयं घात न करे, और न उनका दूसरेके हाथ घात करावे ।

११ सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं, कोई मरणकी इच्छा नहीं करता । इस प्रकारसे निर्ममको प्राणियोंका मरकर बंध छेद देना चाहिये ।

१२ अपने और दूसरेके छिये मोहसे अपना भयसे, जिससे प्राणियोंको कष्ट हो ऐसा अस्वयं स्वयं न बोले और न दूसरेसे बुझावे ।

१३ मृगशर्करा सब संप्रदायोंने नियम किया है । वह प्राणियोंको अविनाश उत्पन्न करता है इसलिये उसका त्याग करे ।

१४ सचित्त अपना अचित्त घोड़ा अपना बहुत यत्नकर कि शीत कुतरेने तकके छिये भी एक हीकामात्र परिग्रहको भी बिना मँगि न ले ।

१५ सत्यता पुरुष स्वयं बिना मँगी हुई वस्तुका ग्रहण न करे, दूसरेसे नहीं छिनवावे, तथा अन्य छेनेवालेका अनुमोदन भी न करे ।

१६ इस अगस्तमें मुनि श्वाश्रव, प्रमादके रहनेका त्याग, और चारित्र्यको नाश करमवाले ऐसे अश्रमचर्यका आचरण न करे ।

१७ निर्मम अचर्मक मूक और महादोषोंकी जन्मभूमि ऐसे मनुकसंबंधी आकाश-प्रकाशका त्याग करे ।

१८ हातपुत्रके बचनमें प्रीति रखनेवाले मुनि सेवा समक समक लेख, धी, गुह्य बगैर बाह्यारके पदार्थोंको पत्रिम बासी न रखें । जो ऐसे किसी पदार्थोंको पत्रिम बासी रखना चाहते हैं वे मुनि नहीं हैं किन्तु गृहस्थ हैं ।

१९ ओमसे तुणका भी स्पर्श न करे ।

२ साधु बद्ध, पात्र कर्मक और राजाकरणको भी संयमकी रक्षाके छिये ही धारण करे, नहीं तो उनका भी त्याग ही करे ।

२१ जो वस्तु संयमकी रक्षाके छिये रखनी पड़े उसे परिग्रह नहीं करते, ऐसा छद्म कापके रक्षक हातपुत्रके कष्ट है परन्तु मूर्ख ही परिग्रह है ऐसा पूर्व महर्षिने कहा है ।

१ दण्डवत्पद उनके मूक पात्रमें प्रीति आत्मन के त्यागपर ' विद्वत्पद (विदित आत्मन) पात्र मित्रता है । विदित आत्मनका अर्थ वह प्रकारके आत्मनोका नियम करना होता है । अनुभावर ।

२२ तत्त्वज्ञानको पाये हुए मनुष्य केवल यह कार्यके जीवोंके रक्षणके लिये केवल उतने ही परिग्रहको रखते हैं, जैसे तो वे अपनी नेहमें भी ममत्व नहीं करते । (यह वेह मेरी नहीं, इस उपयोगमें ही रहते हैं ।)

२३ आश्चर्य ! जो निरंतर तपस्वर्षोत्पन्न है । और जिसका सब सर्वज्ञाने विधान किया है ऐसे सम्पत्के अवरोधरूप और जीवनको निकाये रखनेके लिये ही एक बार आहार से ।

२४ रात्रिमें त्रस और स्थावर—स्थूल और सूक्ष्म—आतिके जीव निश्चिन्त नहीं देते इसलिये वह उस समय आहार कैसे कर सकता है ?

२५ जहाँ पत्नी और बालके आश्रित प्राणी पृथ्वीपर पैड़े पड़े हों उनके ऊपरसे जब जिनमें भी बचनेका निवेद्य किया गया है तो फिर संपत्ती रात्रिमें तो भिक्षाके लिये कहाँसे जा सकता है !

२६ इन हिंसा भाषि दोषोंको देखकर ज्ञातपुत्र भगवान्ने ऐसा उपदेश किया है कि निर्दय साधु रात्रिमें किसी भी प्रकारका आहार ग्रहण न करे ।

२७ श्रेष्ठ समाधिपुत्र साधु मनसे, वचनसे और कार्यसे स्वयं पृथ्वीकायकी हिंसा न करे, दूसरोंसे न करावे, और करते हुएका अनुमोदन न करे ।

२८ पृथ्वीकायकी हिंसा करते हुए उस पृथ्वीके आश्रयमें रहनेवाले चक्षुगम्य और अचक्षुगम्य विविध त्रस प्राणियोंका घात होता है—

२९ इसलिये, ऐसा जानकर दुर्गतिक बढानेवाले पृथ्वीकायके समारम्भको दोषका आयु पर्यंतका त्याग करे ।

३० सुसमाधिपुत्र साधु मन, वचन और कार्यसे स्वयं जलकायकी हिंसा न करे, दूसरोंसे न करावे, और करनेवालेका अनुमोदन न करे ।

३१ जलकायकी हिंसा करते हुए जलके आश्रयमें रहनेवाले चक्षुगम्य और अचक्षुगम्य त्रस आश्रित विविध प्राणियोंकी हिंसा होती है—

३२ इसलिये, ऐसा जानकर कि जलकायका समारम्भ दुर्गतिको बढानेवाला दोष है, इसका आयुपर्यंतके लिये त्याग कर दे ।

३३ मुनि अग्निकायकी इच्छा न करे यह जीवके घात करनेमें सबसे भयंकर और तीव्र छद्म है ।

३४ अग्नि पूर्व, पश्चिम, ऊर्ध्व, क्षोणमें, नीच, दक्षिण और उत्तर इन सब दिशाओंमें रहते हुए जीवोंको मसम कर बाळती है ।

३५ यह अग्नि प्राणियोंका घात करनेवाली है, ऐसा संदेह रहित माने, और इस कारण उसे संपत्ति दौपके अथवा तापनेके लिये भी न जलावे ।

३६ इस कारण मुनि दुर्गतिक दोषको बढानेवाले इस अग्निकायके समारम्भको आयुपर्यंत न करे ।

३७ पहिले ज्ञान और पीछे दया (ऐसा अनुभव करके) सब संपत्ती साधु रहें । अग्नी (संपत्तिमें) क्या करेगा, क्योंकि वह तो कन्याग अथवा पापको ही नहीं जानता ।

३८ धन्य करके कन्यागको जानना चाहिये, और पापको जानना चाहिये । जनोंका धन्य कर उन्हें जाननेके बाद जो श्रेयस्कर हो उसको आचरण करना चाहिये ।

१० जो साधु जीव अर्थात् चैतन्यका स्वरूप नहीं जानता जो जजीव अर्थात् बड़का स्वरूप नहीं जानता अथवा इन दोनोंके तत्त्वको नहीं जानता, वह साधु समयकी बात कहसि जान सकता है ?

१० जो साधु चैतन्यका स्वरूप जानता है, जो बड़का स्वरूप जानता है, तथा जो इन दोनोंका स्वरूप जानता है; वह साधु समयका स्वरूप भी जान सकता है ।

११ जब वह जीव और जजीव इन दोनोंको जान लेता है तब वह अनेक प्रकारसे सब जीवोंकी गति-अगतिको जान सकता है ।

१२ जब वह सब जीवोंकी बहुत प्रकारसे गति-अगतिको जान जाता है तभी वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जान सकता है ।

१३ जब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जान जाता है, तभी वह मनुष्य और देवसर्वजीवोंकी इच्छासे निवृत्त हो सकता है ।

१४ जब वह देव और मनुष्यसंज्ञकी मोक्षसे निवृत्त होता है तभी सर्व प्रकारके बाध और बन्धन संयोगका त्याग हो सकता है ।

१५ जब वह बाधान्धन संयोगका त्याग करता है तभी वह ब्रह्म-मायसे मुक्ति होकर मुनिकी सीमा लेता है ।

१६ जब वह मुक्ति होकर मुनिकी सीमा के लेता है तभी वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मका अनुभव करता है ।

१७ जब वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मपुष्ट होता है तभी वह जीवको मर्त्य करनेवाली और मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न होनेवाली कर्मरजको दूर करता है ।

१८ जब वह मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुई कर्मरजको दूर कर देता है तभी वह सर्वज्ञानी और सम्पूर्णदर्शन मुक्त हो जाता है ।

१९ जब सर्वज्ञान और सर्वदर्शनकी प्राप्ति हो जाती है तभी वह केसकी उगारित होकर केस-छोकका स्वरूप जानता है ।

२० जब रागादीन होकर वह केसकी छोकाछोकका स्वरूप जान जाता है तभी वह तिर मन बन्धन और कापक पापको रोककर शीतशी अस्थायी प्राप्त होता है ।

२१ जब वह योगकी रोककर शीतशी अस्थायी प्राप्त हो जाता है तभी वह सब कर्मोंका अन्धकार निरन्धन होकर सिद्धगति प्राप्त करता है ।

३८ वचनार्था वैराग्य सुदी ६ संम १९४५

सत्यस्योक्तो ममस्कार

मुझे यही आजका दर्शन लगभग लगभग पहले हुआ था । धर्मके संभवमे जो थोड़ीसी

जहाँ एक निर्णयोक्ति उपरसे मैं यह मानने लगा हूँ कि इस काव्य में कोई कोई गहरा पक्ष मन्त्रों जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं और यह जानना कम्पित नहीं परन्तु सम्पन्न होता है। उत्तम तरेग, ज्ञान-योग और सत्संगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है—अर्थात् पूर्वमन्त्र प्रत्यक्ष अनुभवसे आ जाता है।

अतएव पूर्वमन्त्र अनुभवगम्य न हो। तबतक वाक्या मन्त्रिष्यकाव्यके स्मिय शक्तिमात्रसे धर्म-प्रकल किया करती है, और ऐसा सशक्ति प्रकल योग्य सिद्धि नहीं देता।

जा 'पुनर्जन्म है' इस विषयमें जिस पुरुषको परोक्ष अथवा प्रत्यक्षसे निर्वाकता नहीं हुई उस पुरुषको वाक्यज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा शङ्क-भीती नहीं कहती। पुनर्जन्मकी सिद्धिके संबंधमें कुछ ज्ञानसे प्राप्त हुआ जो आत्म्य मुझे अनुभवगम्य हुआ है उसे पोढ़सा यहाँ कहता हूँ—

(१) 'वैतन्य' और 'जड़' इन दोनोंको पहिचाननेके लिये उन दोनोंमें जो भिन्न भिन्न गुण हैं उन्हें पहिचाननेकी पहिचान आवश्यकता है। तथा उन भिन्न भिन्न गुणोंमें भी जो सबसे मुख्य भिन्नता दिखाई देती है वह यह है कि 'वैतन्य' में 'उपयोग' (अर्थात् जिससे किसी वस्तुका बोध होता है वह गुण) रहता है, और 'जड़' में वह नहीं रहता। यहाँ शायद कोई यह शंका करे कि 'जड़' में शान्ति, स्थिति, रूप, रस और गन्ध शक्तियाँ होती हैं, और वैतन्यमें ये शक्तियाँ नहीं पायी जाती, परन्तु यह भिन्नता आकाशकी अपेक्षा ऊँचेसे समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि निरव्यय, निरुक्त, अकृषी इत्यादि कई एक गुण ऐसे हैं जो आकाशकी तरह आत्मामें भी रहते हैं, इसलिये आकाशको आत्मामें समझ मिला आ सकता है, क्योंकि फिर इन दोनोंमें कोई भिन्न धर्म न रहा। इसका समाधान यह है कि इन दोनोंमें अन्तर है और वह अन्तर आत्मामें पहिचान कहा हुआ 'उपयोग' नामक गुण बताता है, क्योंकि वह गुण आकाशमें नहीं है। अब जड़ और वैतन्यका स्वरूप समझना सुगम हो जाता है।

(२) जीवका मुख्य गुण अथवा कृष्ण 'उपयोग' (किंती भी वस्तुसंबन्धी भावना बोध; ज्ञान) है। जिस जीवजन्ममें अनुग्रह और अपूर्ण उपयोग रहता है वह जीवजन्मा ('व्यक्तावनवकी अपेक्षासे'— क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने मुख गणसे तो परमात्मा ही है, परन्तु जहाँतक वह अपने स्वरूपको व्यपार्य नहीं समझी वहैतक जीवजन्मा उद्यम्य रहता है)—परमात्मप्रज्ञामें नहीं आता। जिसमें दृष्ट और सम्पूर्ण व्यपार्य उपयोग रहता है वह परमात्मप्रज्ञाको प्राप्त हुई आत्मा मानी जाती है। अनुग्रह उपयोगी होनेमें ही आत्मा कम्पित ज्ञान (अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान मान रही है; और उसे सम्यग्ज्ञानके बिना कुछ भी पुनर्जन्मका वयाप निश्चय नहीं हो पाता। अनुग्रह उपयोग होनेका कुछ भी निमित्त होना चाहिए। यह निमित्त अनुपूर्वमें जब आते हुए बाह्यमात्रसे ग्रहण किये हुए कर्म पुत्रक हैं। (इस कर्मका व्यपार्य स्वल्प सूक्ष्मासे समझने योग्य है क्योंकि आत्म्याका ऐसी दशासे किंती भी निमित्तसे ही होनी चाहिए। और वह निमित्त जबतक व्यपार्य रीतिमें समझमें न आये तबतक जिस रास्तेसे जाना है उस रास्तेपर जाना ही हो नहीं सकता।) जिसका परिणाम निर्यय हो उसका मार्ग अनुग्रह उपयोगके बिना नहीं होगा और अनुग्रह उपयोग भूतकाव्यके किंती भी संबंधके बिना नहीं होगा। हम यदि वर्तमानकाव्यमें एक एक पक्षका निवारण करें और उसपर ध्यान देते रहे तो

प्रत्येक पक्ष भिन्न भिन्न स्वरूपसे भीता हुआ माझूम होगा (उसके भिन्न भिन्न होनेका कारण कुछ तो होगा ही)। एक मनुष्यने ऐसा बड़ा सकल्प किया कि मैं जीवनपर्यंत स्त्रीका चित्तबलतक भी न करूँगा परन्तु पाँच पक्ष भी मैं भीता पाये और उसका चित्तबल हो गया, तो फिर उसका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। मुझे जो शास्त्रका अध्ययन हुआ है उससे मैं यह कह सकता हूँ कि यह पूर्वकर्मके किसी भी अशक्त उदय होना चाहिये। कैसे कर्मका ? तो कहूँगा कि मोहनीय कर्मका। उसकी किस प्रवृत्तिका ? तो कहूँगा कि पुरुषवेदका ? (पुरुषवेदकी पन्द्रह प्रवृत्तियाँ हैं।) पुरुषवेदका उदय बड़ा सकल्पसे रोकनेपर भी हो गया, उसका कारण अब कह सकते हैं कि वह कोई भूतकाशीन कारण होना चाहिये; और अनुपूर्वसे उसका स्वरूप विचार करनेसे यह कारण पुनर्जन्म ही सिद्ध होगा। इस बातको बहुसंख्ये दार्शनिकोंद्वारा कहनेकी मेरी इच्छा थी, परन्तु मितना सोचा था उससे अधिक कथन बढ़ गया है; और अन्तर्गतों जो बोध हुआ है उसे मन पर्याप्त नहीं जान सकता, और मनके बोधको बचन पर्याप्त नहीं कह सकते, और बचनके कथन-बोधको कर्म सिद्ध नहीं सकती; ऐसा होनेके कारण, और इस विषयके उदाहरणमें बहुतसे कष्ट शब्दोंके उपयोगकी आवश्यकता होनेके कारण अभी हाथ तो इस विषयको अर्द्ध छोड़ देता हूँ। यह अनुमान प्रमाण हुआ। प्रत्यक्ष प्रमाणके सबबमें यह ज्ञानीगम्य होगा तो उसे फिर, अपना भेद होनेका अबसर मिला तो उस समय कुछ कह सकूँगा। आपके उपयोगमें ही रम रहा हूँ, तो मैं आपकी प्रसन्नताके लिये एक-दो बचनोंको यहाँ लिखता हूँ—

१ स्वकी अपेक्षा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है।

२ धर्म-विषय, गति, आगति निश्चयसे हैं।

३ ज्यों ज्यों उपयोगकी दृष्टता होती जाती है त्यों त्यों आत्मज्ञान प्राप्त होता जाता है।

४ इसके लिये निर्विकार दृष्टिको आवश्यकता है।

५ 'पुनर्जन्म है' यह योगसे, शास्त्रसे और स्वभासे अनेक पुरुषोंको सिद्ध हुआ है।

इन कारणों से इस विषयमें अनेक पुरुषोंका निःशक्त नहीं होती, उसका कारण केवल सान्निध्यकाही मूलता, विविध तात्त्विकी मूर्च्छा, श्रीगान्धर्वचरित्रमें आपकी बतार्थ हुई निर्जनत्वस्याकी कमी, संस्कारका न मिटना, स्वप्न और अन्वयार्थ दृष्टि ही हैं।

आपकी अनुकूलता होगी तो इस विषयमें विशेष फिर कहूँगा। इससे मुझे आश्चर्यजनकताका पामछाभ है इस कारण आपको अनुकूलना होगी ही। यदि समय हो तो दो बार बार आपकी मनन करनेसे फल हुआ अन्य आशय भी आपको बहुत दृष्टिगोचर हो जायगा। शीघ्रके कारण विस्तारसु बुद्ध छिन्ना है, तो भी मैं समझता हूँ कि ऐसा चाहिये ऐसा नहीं समझाया जा सके परन्तु मैं समझता हूँ कि इस विषयका धीरे धीरे आपके पास सरलरूपमें रम सकूँगा।

* * * *

पुद्गमगन्धर्व जीवनचरित्र मेरे पास नहीं आया। अनुकूलना हा तो मित्रत्वकी मूलना करें। संपुत्रोंका चरित्र दर्पणरूप है। बुद्ध और जैनधर्मके उपयोगमें महान् अन्तर है।

चौथ गुणस्थानको प्राप्त पुरुषको पाण्डिताप्र प्राप्त होना माना जा सकता है। यहाँ धर्मस्थानको गौणता है। पौर्णर्षेय मध्यम गौणता है। छठेमें मुख्यता या है परन्तु वह मध्यम है। और सप्तर्षेय उसकी मुख्यता है।

इस गृहस्थाश्रममें सामान्य विधियों अधिकसे अधिक पौर्णर्षेय गुणस्थानमें तो आ सकते हैं। इसके सिवाय मात्रकी अपेक्षा तो कुछ और ही बात है।

इस धर्मस्थानमें चार मासमात्रसे भूषित होना समुचित है—

१ मैत्री—सब जगत्के जीवोंको ओर निर्भर बुद्धि।

२ प्रमोद—किसीके अशुभात् गुणको भी देखकर रोमांचित होकर उछलित होना।

३ कम्पा—जगत्के जीवोंके दुःख देखकर अनुकम्पा करना।

४ माय्यस्य अध्या अपेक्षा—शुद्ध समस्तिके कस्मिंश्चित् योग्य होना।

इसके चार आर्त्तकन हैं। इसको चार रुचि हैं। इसके चार पाये हैं। इस प्रकार धर्मस्थान अनेक मेंमें विभक्त है।

जो पवन (आस) का जप करता है, वह मनका जप करता है। जो मनका जप करता है वह आत्म-धीनता प्राप्त करता है—ऐसा भो कहा जाता है वह तो स्वच्छात्मक है। निश्चयसे निश्चय कर्षकी अपूर्व योग्यता तो सत्पुरुषका मन ही जानता है क्योंकि आसका जप करते हुए भी सत्पुरुषकी आत्मात्मक मग होनेकी समझना रहती है इसलिये ऐसा आस-जप परिणाममें सत्पुरुषकी ही बढ़ाता है।

आसका जप यही है कि नहीं वासनाका जप है। उसके दो साधन हैं—सद्रूप और स्वप्न। उसके दो अर्थियाँ हैं—पर्युपासना और पात्रता। उसके दो प्रकारसे हृदि होती है—परिचय और पुण्यानुषंगी पुष्पता। सबका मूल एक आत्माकी सत्प्राप्ति ही है। इसमें तो इस नियममें इतना ही किता है।

प्रवीणसागर स्मरणपूर्वक पढ़ा जाय या यह दक्षता देनेवाला प्रय है। नहीं तो यह अग्रजस्त रत्न-रंगीको बढ़ानेवाला प्रय है।

७० ब्रह्मणीया वि १९४५ म्यस सुदी ४ रवि

पक्षपातां न ॥ धीरे, न द्वेषः कपिष्ठादिषु।

मुक्तिमद्वयनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—श्रीहरिमहाशय

आपका वैराग्य की ९ का धर्म-पत्र मिला। उस पत्रपर विचार करनेके लिये विशेष अवकाश होनेस यह उत्तर लिखनेमें मुझसे इतना विघ्न हुआ है, इसलिये इस विघ्नके लिये क्षमा कर।

उस पत्रमें बात लिखी है कि किसी भी मार्गसे आध्यात्मिक ज्ञानका स्थापन करना यह ज्ञानियोंका उपदेश है, यह वचन मुझे भी मान्य है। प्रत्येक दर्शनमें आत्माका ही उपदेश किया

गया है, और सबका प्रयत्न मोक्षके लिये ही है। तो भी इतना तो आप भी मानेंगे कि जिस मार्गसे आत्माको आत्म्य, सम्यग्ज्ञान, और यथार्थ दृष्टि मिले वही मार्ग सत्पुरुषकी आज्ञानुसार मान्य करना चाहिये। यहाँ किसी भी दर्शनका नामोल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि जिस पुरुषका वचन पूजापर अलङ्कित है, उसके द्वारा उपदेश किया हुआ दर्शन ही पूर्णतः प्रितकारी है। जहाँसे आत्मा 'यथार्थ दृष्टि' अथवा 'बस्तुधर्म' प्राप्त करे वहीसे सम्पादित प्राप्त होता है, यह सर्वमान्य बात है।

आत्मज्ञान पानेके लिये क्या होय है, क्या उपादेय है, और क्या होय है, इस विषयमें प्रसन्न पाकर सत्पुरुषकी आज्ञानुसार आपको थोड़ा थोड़ा लिखता रहूँगा। यदि होय, होय, और उपादेयत्वसे धर्म पदार्थ—एक परमात्मा भी नहीं जाना तो वहाँ आत्मा भी नहीं जानी। महर्षीरक्त उपदेश किये हुए आचार्य आत्मके ऐक्यवैक्यता कहते हैं कि—जें एगं जानई सें सब्ब जानई, जें सब्ब मापई सें एगं जानई—अर्थात् जिसने एकको जाना उसने सब जाना, जिसने सब जाना उसने एकको जाना। यह वचनामूल ऐसा उपदेश करता है कि जब कोई भी एक आत्माका जाननेके लिये प्रयत्न करेगा, उस समय उसे सब जाननेका प्रयत्न करना होगा; और सब जाननेका प्रयत्न करके एक आत्मा ही जाननेके लिये है। फिर भी जिसने विविध जगत्का स्वरूप नहीं जाना वह आत्माको नहीं जानता—यह उपदेश अवधार्य नहीं टहरता।

जिसे यह ज्ञान नहीं हुआ कि आत्मा किस कारणसे, कस, और किस प्रकारसे बँध गई है, उसे इस बातका भी ज्ञान नहीं हो सकता कि वह किस कारणसे, कैसे, और किस प्रकार मुक्त हो सकती है। और यह ज्ञान न हुआ तो यह वचनामूल ही प्रमाणमूल टहरता है। महर्षीरक्त उपदेशकी मुख्य नीति ऊपरके वचनामूलसे शुरू होती है और उन्होंने उसका स्वरूप सर्वोपमत्तम समझाया है। इसका विषयमें यदि आपको अनुकूलता होगी तो आगे कहूँगा।

यहाँ आपका एक यह भी निवेदन कर देना चाह्य है कि महर्षीरक्त अथवा किसी भी दूसरे उपदेशके पदार्थाने कारण मरा कोई भी कथन अथवा मेरी कार्य मान्यता नहीं है। परन्तु आत्मज्ञान पानके लिये जिसका उपदेश अनुकूल है उसीके लिये मुझे प्रशंसा (।)—इतिहास—और प्रशंसा है, अथवा उसीके लिये मेरी मान्यता है, और उसीके आधारसे मेरी प्रशंसा भी है। इसलिये यदि मेरा कार्य भी कथन आत्मज्ञान का भाग पहुँचाना चाहता हो तो उसे बनावट उपकार करने रहिये। प्रत्यक्ष संस्कारों ता बहिर्गामी ही है, और वह पुण्यानुकूल पुण्यका ही फल है। ता भी अन्तर्गत ज्ञान-दृष्टिक अनुसार परात्मा ममता मित्रता रहेगा तब तक उस में अपना मजबूत ही समझूँगा।

० निर्मल शासन ज्ञानबुद्धका सौजन्य यह मानता है। ज्ञानबुद्धता, पर्यायबुद्धता इत्यादि बुद्धताये अनेक भेद हैं। परन्तु ज्ञानबुद्धताके बिना ये सब बुद्धताये केवल नामकी बुद्धताये अथवा गूँथ बुद्धताये ही हैं।

१ पुनश्च भवेत्तु मन्त्रमन्त्र विचार प्रगट् कथनक लिय आत्म वृत्तन किया था, उसका मन्त्रमे प। १२ प्रमदा श्रितना मात्र सत्तेम श्रितना है —

य कर्ष एक निर्णयोक्ति ऊपरसे है यह मानने लगा है कि इस काशमें भी कोई कोई म्हात्मा पड़े भक्तो जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं। और यह जानना कम्पित मही परन्तु सम्पत् होता है। उद्विग्न स्वभाव, ज्ञान-योग और स्वसंगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है—अर्थात् पूर्वमन् प्रत्यक्ष अनुभवसे आ जाता है।

जबतक पूर्वमन् अनुभवगम्य न हो जबतक आत्मा भविष्यकाशके किञ्च शक्तिभावसे बर्न-प्रफल किया करती है, और ऐसा सशक्ति प्रफल योग्य सिद्धि नहीं देता।

आ 'पुनर्जन्म है' इस विषयमें जिस पुरुषको परोक्ष वषषा प्रत्यक्षसे निःसंकाश नहीं हुई उस पुरुषको अज्ञानज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा शास्त्र-शेखी नहीं करता। पुनर्जन्मकी सिद्धिसे संबंधमें कुछ ज्ञानसे प्राप्त हुआ जो आत्मा मुझे अनुभवगम्य हुआ है उसे घोषणा यहाँ करता हूँ —

(१) 'चैतन्य' और 'जड़' इन दोनोंको पहिचाननेके लिये उन दोनोंमें जो भिन्न भिन्न गुण हैं उन्हें पहिचाननेकी पहिचान आवश्यकता है। तथा उन भिन्न भिन्न गुणोंमें भी जो सबसे मुख्य निष्ठा दिखलाई देती है वह यह है कि 'चैतन्य' में 'उपयोग' (अर्थात् जिससे किसी वस्तुका बोध होता है वह गुण) रहता है, और 'जड़'में वह नहीं रहता। यहाँ शायद कोई यह शंका करे कि 'जड़' में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध शक्तियाँ होती हैं, और चैतन्यमें ये शक्तियाँ नहीं पायी जाती, परन्तु यह भिन्नता आकाशकी अपेक्षा केनेसे समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि निरजल, निरुष्ण, वस्तु ही रूपान्तर कर्ष एक गुण ऐसे हैं जो आकाशकी तरह आश्रयमें भी रहते हैं, इसलिये आकाशको आश्रयके सहाय्य भिना जा सकता है, क्योंकि फिर इन दोनोंमें कोई भिन्न बर्न न रहा। इसका समाधान यह है कि इन दोनोंमें अन्तर है, और वह अन्तर आश्रयमें पहिचाने लगा हुआ 'उपयोग' नामक गुण बताता है, क्योंकि वह गुण आकाशमें नहीं है। अब जड़ और चैतन्यका स्वरूप समझना सुगम हो जाता है।

(२) जीवका मुख्य गुण वषषा 'अज्ञान उपयोग' (किसी भी वस्तुसंबंधी भावना, बोध ज्ञान) है। जिस जीवश्रममें अज्ञान और अपूर्ण उपयोग रहता है वह जीवश्रम ('व्यवहारमयकी अपेक्षासे'— क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने छुट्ट गये तो परमात्मा ही है परन्तु जहाँतक वह अपने स्वरूपको यथार्थ नहीं समझी शक्तिक जीवश्रम समझ रहता है)—परमात्मदशामें नहीं आया। जिसमें छुट्ट और सम्पूर्ण यथार्थ उपयोग रहता है वह परमात्मदशामें प्राप्त हुई आत्मा मानी जाती है। अज्ञान उपयोगी होनेसे ही आत्मा कम्पित ज्ञान (ज्ञान) को सम्प्राप्तमान मान रही है। और उसे सम्प्राप्तमानके बिना कुछ भी पुनर्जन्मका यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। अज्ञान उपयोग होनेका कुछ भी निमित्त होना चाहिये। यह निमित्त अनुपूर्वसि जले आते हुए आत्माकासे प्रवृत्ति लिये हुए कर्म पुत्रक है। (इस कर्मका यथार्थ स्वरूप स्वमतसे समझने योग्य है, क्योंकि आत्माको ऐसी यथासे किसी भी निमित्तसे ही होनी चाहिये। और वह निमित्त जबतक यथार्थ रहितसे समझमें न आये जबतक जिस रास्तेसे जाना है उस रास्तेपर जाना ही हो नहीं सकता।) जिसका परिणाम विपर्यय हो उसका प्रारम्भ अज्ञान उपयोगके बिना नहीं होता और अज्ञान उपयोग मूलकाशके किसी भी संबंधके बिना नहीं होता। हम यदि वर्तमानकाशमेंसे एक एक पक्षको निकालते जायें और उसपर ध्यान देते रहें, तो

प्रत्येक पक्ष मित्र मित्र स्वस्वसे बीता हुआ माझम होगा (उसके मित्र मित्र होनेका कारण कुछ तो होगा ही)। एक मनुष्यने ऐसा दृढ़ सकल्प किया कि मैं जीवनपर्यंत श्रीका चित्तव्रतक भी न फरेगा परन्तु पौध पक्ष भी न बीत पाये और उसका चित्तव्रत हो गया, तो फिर उसका कुछ तो फरण होना ही चाहिये। मुझे जो शास्त्रका अन्वयज्ञान हुआ है उससे मैं यह कह सकता हूँ कि वह पूर्वकर्मिक किसी भी अशुभ उदय होना चाहिये। कैसे कर्मका ? तो कहूँगा कि मोहनीय कर्मका। उसकी किस प्रवृत्तिका ? तो कहूँगा कि पुरुषवेदका ? (पुरुषवेदकी पन्ध्र प्रवृत्तियाँ हैं।) पुरुषवेदका उदय दृढ़ सकल्पसे राक्षसेपर भी हो गया, उसका कारण अब कह सकते हैं कि वह कोई मृतकाजीन कारण होना चाहिये और अनुपूर्वसे उसका स्वल्प विचार करनेसे वह कारण पुनर्जन्म ही सिद्ध होगा। इस बातको बहुतसे दृष्टान्तोंद्वारा कहनेकी मेरी इच्छा थी, परन्तु जितना सोचा था उससे अधिक कथन बढ़ गया है; और आत्माको जो बोध हुआ है उसे मन यथार्थ नहीं जान सकता, और मनके बोधका बचन यथार्थ नहीं कह सकते, और बचनके कथन-बोधको कलम लिख नहीं सकती ऐसा होनेके कारण, और इस विषयके उद्देश्योद्देशमें बहुतसे कष्ट शब्दोंके उपयोगकी आवश्यकता होनेके कारण कभी हल तो इस विषयको अपूर्ण छोड़ देता हूँ। यह अनुमान प्रमाण हुआ। प्रत्यक्ष प्रमाणके सबधमें वह ज्ञानीगम्य होगा तो उसे फिर, अथवा मेट होनेका अवसर मिला तो उस समय कुछ कह सकूँगा। आपके उपयोगमें ही रम रहा हूँ, तो भी आपकी प्रसन्नताके लिये एक-दो बचनोंको यहाँ लिखता हूँ—

१. स्वकी अपेक्षा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है।

२. धर्म-विषय, गति, आगति निश्चयसे हैं।

३. ज्यों ज्यों उपयोगकी मुद्रता होती जाती है त्यों त्यों आत्मज्ञान प्राप्त होता जाता है।

४. इसके लिये निर्विकार दृष्टिको आवश्यकता है।

५. 'पुनर्जन्म है' यह योगसे, शास्त्रसे और स्वमानसे अनेक पुरुषोंको सिद्ध हुआ है।

इस कालमें इस विषयमें अनेक पुरुषोंकी निराशा नहीं होती, उसका कारण केवल साप्ति कलाकी मृतता, विविध तापकी मूर्च्छा, शीशोद्विग्नचरित्रमें आपकी बर्तार्थ हुई निर्बलतात्पत्ताकी कमी, स्तसंगका न मिटना स्वमान और अपयार्थ दृष्टि ही हैं।

आपकी अनुकूलता होगी तो इस विषयमें निरोध फिर कहूँगा। इससे मुझे अस्वोन्मत्तताका परमहाम है, इस कारण आपको अनुकूलता होगी ही। यदि समय हो तो दो बार बार इस पत्रके मनन करनेसे बड़ा हुआ अन्य आप भी आपके बहुत दृष्टिगोचर हो जायगा। पीछीके कारण विस्तारसे कुछ लिखा है, तो भी मैं समझता हूँ कि ऐसा चाहिये ऐसा नहीं समझाया जा सका; परन्तु मैं स्पष्टता हूँ कि इस विषयका धीरे धीरे आपको पास सरलरूपमें रम सकूँगा।

* * * *

पुत्रभगवान्का जीवनचरित्र मेरे पास नहीं आया। अनुकूलता हो तो मित्रत्वकी मूर्च्छा करे। सपुत्रोक्त चरित्र दर्पणरूप है। कुछ और जीवनधर्मके उपदेशमें महान् अन्तर है।

सब गेयोंकी क्षमा माँगकर यह पत्र पूरा (अपूर्ण स्थितिसे) करता हूँ । यदि आपकी जाहा होगी तो ऐसा समय निकाला जा सकेगा कि निस्सन्देह आपका छत्र हो ।

सुगमता न होनेके कारण छेखमें दोष आना समझ है, परन्तु कुछ जाबारी थी; तबका सुरक्षाका उपयोग करनेसे आपकी विशेष इच्छा हो सकती है ।

मि धर्मजीवनका इच्छुक

रायचन्द्र रक्षजीमर्खा निनयप्रभावसे प्रशस्त प्रणाम

४१ अहमदाबाद, मि. सं १९४५ ज्येष्ठ सुदी १२ मीन

मैंने आपको बजाणीया करके पुनर्जन्मके सत्रधर्म परीक्षा ज्ञानकी अपेक्षासे एक-ही विचार लिखे थे । इस विषयमें अवकाश पाकर कुछ बातोंके बाद, उस विषयका प्रत्यक्ष अनुभवगम्य ज्ञानसे जो कुछ निश्चय मेरी समझमें आया है, वह यहाँ बताना चाहता हूँ ।

वह पत्र आपकी ज्येष्ठ सुदी ५ को मिला होगा । अवकाश मिलनेपर यदि कुछ उत्तर देना समय माग्न हो तो उत्तर देकर, नहीं तो केवल पहुँच लिखकर शान्ति पहुँचावे, यही निश्चय है ।

निर्मम्यद्वारा उपदेश किये हुए शास्त्रोंकी ओरके धिये करीब सात दिनसे मेरा यहाँ आना हुआ है ।

धर्मजीवनके इच्छुक रायचन्द्र रक्षजीमर्खा क्याविधि प्रणाम

४२ बजाणा (काठियावाड़) मि. सं १९४५ आश्विन सुदी १५ शुक्र

आपका आगम सुदी ७ का मिला हुआ पत्र मुझे कबलाण केन्पमें मिला । उसके बाद मेरा यहाँ आना हुआ, इस कारण पहुँच लिखनेमें किंञ्च हुआ ।

पुनर्जन्मसेवधी मेरे विचार आपको अनुकूल हुए इस कारण इस विषयमें मुझे आपका सहाय मिल गया ।

आपने जो अंतःकरणीय—अहममत्त्व—अभिजाया प्रगट की है वैसी वाशा स्फुरूप निरंतर रहते आये हैं । उन्होंने ऐसी दस्ताकी मन बचन काया और आत्मसे प्राप्त की है और उस दशाके प्रकाशसे दिम्प हुई अहमसे बाणीश्रुत सर्वोत्तम आध्यात्मिक बचनमूल्योंके प्रदर्शित किया है; जिनकी वाप जैसे सप्ताह मनुष्य निरंतर सेवा करते हैं; और यही अगतमकके आत्मिक दुःखों पर करनेकी परम आयुषि है ।

सब दर्शन पारिणामिक भावसे मुक्तिका उपदेश करते हैं यह निःसंशय है, परन्तु परार्थ इति हुए बिना सब दर्शनोंके तत्त्वार्थज्ञान इत्यगत नहीं होता । यह होनेके लिये स्फुरणोंकी प्रशस्तमति उनके पाठपत्र और उमक उपदेशका अवलम्बन निर्भिकार ज्ञानयोग इत्यादि जो साधन हैं वे शुद्ध उपयोगसे प्राप्त होने चाहिये ।

पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष निश्चय तथा अन्य आध्यात्मिक विचारोंको फिर कभी प्रसंगानुसृत करनेकी आज्ञा चाहता हूँ ।

मुद्रमगवान्का चरित्र मनन करने योग्य है, यह कथन पञ्चपातरहित है।

अब मैं कुछ आध्यात्मिक तत्वोंसे युक्त बचनावृत लिख सऊँगा।

धर्मोपजीवनके इच्छुक रायचन्द्रका विनयपुक्त प्रणाम

४३ बषाणीया, आपाङ्ग बदी १२ बुध १९४५

महासतीजी मोक्षमाया धारण करती हैं, यह बहुत सुख और लाभ दायक है। उनको मेरी तरफसे निम्नलिखित करना कि वे इस पुस्तकको धारण करके और उसका मनन करें। इसमें विनेश्वरके सुतर मर्मसे बाहरका एक भी अधिक बचन रखनेका प्रयत्न नहीं किया गया। जैसा अनुभवमें आया और काउमेद देखा वैसे ही मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है। मुझे आशा है कि महासतीजी इस पुस्तकको पकाप्रमावसे धारण करके आत्म-कल्याणमें वृद्धि करेंगी।

४४ भर्षाच, वि स १९४५ धारण सुदी ३ बुध

धराणा नामके गौवसे लिखा हुआ मेरा एक निमय-पत्र आपकी निष्ठा होगा।

मैं अपनी निरासमूहसे लगभग दो माससे उत्थान और स्वसंगकी वृद्धि करनेके लिये प्रयासरूपसे कुछ स्थलोंमें निहार कर रहा हूँ। लगभग एक समाहमें आपके दर्शन और समागमकी प्राप्तिके लिये मेरा बड़ा आग्रह होना समझ है।

सब शास्त्रोंको ज्ञाननेका, ज्ञियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन अपने स्वल्पकी प्राप्ति करना ही है; और यदि ये सम्पूर्ण भोगों आत्मगत हो जायें तो ऐसा होना प्रत्यक्ष संभव है, परन्तु इन वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सर्व-संग-परिष्कारकी आवश्यकता है। केवल निर्बन्धनता और योगमूर्तिमें वास करनेसे सद्गुरु समाधिगी प्राप्ति नहीं होती, वह तो नियमसे सर्व-संग-परिष्कारमें ही रहती है। देश (पक्षदेश) संग-परिष्कारमें केवल उसकी भजना ही समझ है। जबतक पूर्वकर्मके बलसे गृहवास मोगना बाकी है तबतक धर्म, अर्थ और कामको उल्लसित-उदासीन भावसे देखना योग्य है। बादमायसे गृहस्थ-भर्षा होनेपर अवतरण निर्मय-भोगीकी आवश्यकता है, और अहाँ यह हुई वहाँ सर्वसिद्धि है। इस भोगीमें मेरी आत्माभिजाता बहुत महिमोसे रहा करती है। कई एक व्यवहारोपायिके कारण धर्मोप-जीवनकी पूर्ण अभिव्यक्ति संभव नहीं हो सकती; किन्तु उससे प्रत्यक्ष ही आपका स्वप्नकी सिद्धि होती है यह बात सर्वमान्य ही है, और इसमें किसी खास वय अवकाश केवल अनेका नहीं है।

निर्मयके उपदेशको अचछमायसे और विरोधरूपसे मान्य करते हुए अन्य दर्शनोंसे उपदेशमें मध्यस्थता रखना ही योग्य है। चाहे किसी भी रूपसे आर किसी दर्शनसे कल्याण होना हा तो फिर मध्यतरकी कोई अनेका हीटना योग्य नहीं। जिस अनुपेक्षसे, जिस दर्शनसे, जिस ज्ञानसे आत्मत्व प्राप्त होना हो वही अनुपेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है; तथा जितनी आमायें पार हुई हैं, वर्तमानमें पार हो रही हैं, आर भविष्यमें पार होंगी वे सब इस एक ही भाषका पाकर हुई हैं। हम इस भाषको सब तरहसे प्राप्त करें वही इस मित्रे हुए भण जगत्की सङ्गता है।

कई एक ज्ञान-विचार स्थिते समय उदासीनताकी वृद्धि हो जानेसे जमीनरूपमें रखनेमें नहीं जा पड़े; और न उसे आप जैसेको बताया ही जा सकता है। यह किसी का कारण।

अनुरहित किसी भी रूपमें नाना प्रकारके विचार यदि आपके पास रखें तो उन्हें योग्यतापूर्वक आत्मगत करते हुए दोषके स्थिते—मनस्थिते स्थिते भी क्षमामात्र ही रखें।

इस समय अनुभवमात्रसे एक प्रश्न करनेकी आज्ञा चाहता हूँ। आपके लक्षमें होगा कि प्रत्येक पदार्थको प्रभावनीयता चार प्रकारसे होती है:—द्रव्य (उसका वस्तुत्वभाव) से, क्षेत्र (उसकी औपचारिक अथवा अनौपचारिक व्यापकता) से, कालसे और भाव (उसके गुणाधिक भाव) से। इन इनके बिना आत्माकी व्याख्या भी नहीं कर सकते। आप यदि एककाशा मिछनेपर इन प्रभावनीयताओंसे इस आत्माकी व्याख्या स्थिते तो इससे मुझे बहुत संतोष होगा। इसमेंसे एक बहुत व्याख्या निकल सकती है परन्तु आपके विचार पक्षिकेसे कुछ सहायक हो सके, ऐसा समझकर यह माचना की है।

चर्मोपजीवन प्राप्त करनेमें आपकी सहायताकी प्रायः आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु सामान्यतः वृत्तिमात्रसबकी आपके विचार जान लेनेके बाद ही उस बातको ज्ञान होना, ऐसी इच्छा है।

शास्त्र यह परोक्षमार्ग है; और प्रत्यक्षमार्ग है। इस समय तो इतना ही किञ्चित् यह पत्र नियम-मात्रपूर्वक समाप्त करता हूँ।

मि आ राजवाय राजजीमार्तक्य प्रज्ञान
यह भूमि मेड पाग-भूमि है। यहाँ मुझे एक सन्तुष्टि स्थितिका साथ रहता है।

४५

महोप, माघपद सुदी १० १९४५

जगत्में बाह्यभावसे व्यवहार करो, और अन्तरगमें एकत्र होकर शीतलीभूत अर्थात् निष्कंठ रहो, यही साम्यता और उपद्रव है।

४६

महोप, माघपद सुदी ११ १९४५

मेरे ऊपर समभावसे कुछ राग रखो, इससे अधिक और कुछ न करो। चर्मप्याल और व्यवहार इन दोनोंकी सैमात्र रखो। सोमी गुरु, गुरु-शिष्य दोनोंकी अयोग्यताका कारण है। मैं एक संसार हूँ मुझे अन्तर्धान है। मुझे कुछ गुरुकी जरूरत है।

४७

महोप, माघपद सुदी १२ १९४५

(बंदायि पादे मधुवर्द्धमान)

प्रतिमासंबंधी विचारोंके कारण यहाँके समाजगमें अनेकाने अनेक विचित्र प्रतिकूल रहते हैं। इसी मनभेदोंके कारण आत्माने अनंत कालमें और अनंत जन्ममें भी अज्ञान-धर्म नहीं पाया, यही कारण है कि सत्पुरुष उसको पसंद नहीं करते परन्तु स्वयं केजीन्दी ही इच्छा करते हैं।

पार्श्वनाथ परमात्माको नमस्कार

४८

वर्मा, आसोज २ गुरु १९४५

जगत्को सुंदर बनानेकी अनंतवार कोशिश की, परन्तु उससे वह सुन्दर नहीं हुआ; क्योंकि जबतक परिश्रमण और परिश्रमणके हेतु मौजूद रहते हैं। यदि आत्माका एक भी भव सुन्दर हो जाय, सुन्दरतापूर्वक भीत जाय, तो अनंत भवकी कसर निकल जाय; ऐसा मैं छत्रुत्वमात्रसे समझा हूँ, और यही करनेमें मेरी प्रवृत्ति है। इस महाजनमसे रहित होनेमें जो जो साधन और पदार्थ भेद धर्म उन्हीं प्रयत्न करना, यही माय्यता है। तो फिर उसके छिये जगत्की अनुकूलता-प्रतिकूलताको क्या देखना! वह चाहे जैसे बोले, परन्तु आत्मा यदि बचनरहित होती हो, समाधिमय दशा प्राप्त करती हो तो कर देना। ऐसा करनेसे सदाके छिये कीर्ति-अपकीर्तिसे छूट जा सकेंगे।

इस समय इनके और इनके पक्षके लोगोंके मेरे विषयमें जो विचार हैं वे मेरे ध्यानमें हैं; परन्तु उनको भूख जाना ही धेयस्कार है। तुम निरपेक्ष रहना, मेरे विषयमें कोई कुछ कहें तो उसे सुनकर चुप रहना, उसके छिये कुछ भी शोक-हर्ष मत करना। जिस पुरुषपर तुम्हारा प्रशस्त राग है, उसके इष्टेय परमात्मा बिन महायोगीन्द्र पार्श्वनाथ आदिका स्मरण रखना, और जैसे बने वैसे निर्मोही होकर मुक्त दशाकी इच्छा करना। जीनेके संवचमें अपना जीवनकी पूर्णताके संवचमें कोई सकल्प-विकल्प नहीं करना।

उपयोगको दृढ़ करनेके छिये जगत्के सकल्प-विकल्पोंको भूख जाना पार्श्वनाथ आदि योगी-स्वरकी दशाकी स्मृति करना, और यही अभिधिया रखने रहना, यही तुम्हें पुन पुन आशीर्वादपूर्वक मरी शिक्षा है। यह कहना आत्मा भी उसी परकी अभिधियाणी और उसी पुरुषके चरणकमलमें तल्लीन हुई दीन शिष्य है, और तुम्हें भी ऐसी ही भद्रा करनेकी शिक्षा देती है। श्रीस्वामीका उपदेश किया हुआ द्रव्य, क्षेत्र, काष्ठ मायसे सर्व-स्वरूप यथातथ्य है, यह मत भूलना। उसकी शिक्षाकी यदि किसी भी प्रकारसे विपत्ति हुई हो तो उसके छिये पश्चात्ताप करना। काष्ठकी अपेक्षासे मत, बचन, कथाको आत्ममात्रसे उसकी गोदमें अर्पण करो, यही मोक्षका मार्ग है। जगत्के सम्पूर्ण दर्शनोन्मी-मर्मोंको भद्राको भूख जाना, वैतसन्धी सब विचार भूलकर केवल उग संपुरुषोंके अद्वैत, योगसुखी चरित्रमें ही अपना उपयोग खाना।

इस अपने मांभ हुए "सम्प्राप्त्य पुरुष" के छिये किसी भी प्रकारसे हर्ष-शोक नहीं करना। उसकी इष्टा कथन संकल्प-विकल्पसे रहित होनेकी ही है। उसको इस विविध जगत्से कुछ भी सबब अपना समझ देना नहीं है; इसछिये उससे उसके छिये कुछ भी विचार बंधे अपना बोधे जाय, तो भी अब उनकी आर जानेकी इच्छा नहीं है। जगत्से जो परमात्मा पूर्वाकायमें इकट्ठ किये हैं, उन्हें धीम धीमे उसे दकार ऋणमुक्त हो जाना; यही उसकी निरंतर उपयोगपूर्ण, प्रिय, भद्र और परम अभिलाषा है—इसके सिवाय उस कुछ भी जाना ज्ञाता नहीं, और न उस दुर्मय कुछ चाहना ही है; उसका जो कुछ विचारना है वह उसके पूर्वकर्मोंके कारण ही है, ऐसा समझकर परम सत्ताप रखना। यह बात गुप्त रहना। हम क्या मन्त्रते हैं, और हम किन्तु बनाउ करण है, इस बातका जगत्का निन्दा-नर्ष जम्बरन नहीं। परन्तु आमास इनका ही धैर्यकी जम्बरन है कि यदि तु मुझको इष्टा करती

हे तो संकल्प-विकल्प, राग-द्वेषको छोड़ दे, और उसके छोड़नेमें यदि तुझे कोई बाधा माझम हो तो उसे बख। यह उसे स्वयं मान जायगी; और उसे अपने आप छोड़ देगी। जहाँ कहींसे भी रागाद्वेषहित होना मेरा धर्म है, और उसका तुम्हें भी अब उपदेश करता हूँ। परस्पर मित्रनेपुत्र यदि तुम्हें कुछ अहम्भ-साधना बतानी होगी तो बताऊँगा। बाकी तो जो मैंने ऊपर कहा है वही धर्म है और उसीका उपयोग रखना। उपयोग ही साधना है। इतना तो और बख देना चाहता हूँ कि विशेष साधना तो केवल सत्पुरुषोंके चरणकमल ही है।

अहम्भाममें सब कुछ रखना। धर्मस्थानमें उपयोग रखना। जगत्के किसी भी पदार्थका, सा संबंधिता कुटुंबी और मित्रका कुछ भी हान-शोक करना योग्य नहीं है। इस परमस्थिति पत्नी इच्छा करें वही इमाय सर्वमात्र धर्म है, और यह इच्छा करते करते ही वह मित्र आयागा, इसके स्थिे निश्चित रही। मैं किसी गण्डमें नहीं, परन्तु अहम्भमें हूँ, यह मत भूलना।

त्रिसका देह धर्मोपयोगके स्थि ही है ऐसी देहको रखनेका जो प्रयत्न करता है वह भी धर्म ही है।

वि रामचंद्र

४९

मोक्षमयी, अस्तात्र करी १० शनि १९४५

इसरी किसी बातकी खात्र न कर, कबल एक सत्पुरुषको शोककर उसके चरणकमलमें सर्वमात्र अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह। फिर यदि तुझे मोक्ष न मिले तो मुझसे घना।

सत्पुरुष वही है जो निश्चयिन अपनी आत्माके उपयोगमें लीन रहता है;—और त्रिसका कथन ऐसा है कि जो शास्त्रमें नहीं मिलता, और जो धुननेमें नहीं आया तो भी त्रिसका अनुभव किया जा सकता है और त्रिसमे अंतराग स्पष्टा नहीं, ऐसा त्रिसका गुण आचार है; बाकीका तो ऐसा निश्चयन है त्रिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

और इस प्रकार किये बिना ठेरा त्रिसाधमें भी झूठकारा होनेवाला नहीं। यह अनुभवपूर्ण बचन है, इसे व सर्वथा स्मय मान।

एक सत्पुरुषको प्रसन्न करनेमें, उसकी सब इच्छाओंकी प्रवृत्ति करनेमें, उसे ही स्मय माननेमें यदि सारी क्रियाएँ भी निकल गईं तो अविकल्पे अविकल पन्नाह भवमें व अवश्य मोक्ष जायगा।

५०

वि से १९४५

मुसकी सहली है जकली उदासीनता;

अध्यात्ममी जननी 'वि' उदासीनता।

मुझे छोटीसी उमरसे ही तत्त्वज्ञानका बोध होना पुनर्जन्मकी सिद्धि करता है, फिर भीकके गमन और आगमनके शोक करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ १ ॥

५०

मनुष्यकी अस्तित्व तथा लक्षणजननी बोध

एक क्षणके धम के बलि जायते का बोध ? ॥ १ ॥

जो संस्कार जाग्रत अभ्यास करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे सब सुख बिना किसी परिश्रमक ही सिद्ध हो गये, तो फिर अब पुनर्मरणकी क्या शका है ? ॥ २ ॥

ज्यों ज्यों बुद्धिकी अन्यता होती जाती है और मोह बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्मृत-भ्रमण भी बढ़ता जाता है और अतर्क्योक्ति मस्तिष्क में आती है ॥ ३ ॥

अनेक तरहके नास्तिक्य विचारोंपर मनन करनेपर यही निष्पत्ति पड़ता है कि अस्तित्व विचार ही उत्तम है ॥ ४ ॥

पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये यही एक बड़ा अनुकूल तर्क है कि यह सब दूसरे मनुष्यके बिना नहीं हो सकता । इनको विचारनसे आत्मवर्त्मका मूल प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

५१

मि स १९४५

श्रीसंघी मेर विचार

बहुत बहुत शान्त विचार करनेपर यह सिद्ध हुआ है कि निरुपाध सुखका आचार शुद्ध ज्ञान है, और बड़ी परम समानि भी है । कष्ट का आचरणकी दृष्टिसे भी ससारका सर्वोत्तम सुख मान ली गई है, परन्तु कलुषः ऐसा नहीं है । विवेक दृष्टिसे देखनेपर श्रीक साध सयोगजन्य सुखके भागनेका जो चिन्ह है वह कष्ट करने योग्य स्थान भी नहीं रहता । जिन जिन पदार्थोंपर हमें घृणा आती है वे सब पदार्थ श्रीक शरीरमें मांश हैं, और उनकी वह जन्मभूमि है । फिर यह सुख क्षणिक, क्षणिक, और सुखहीन रोगक समानही है । उस समयका दण्ड दण्डमें अकस्मिक यदि उसमें विचार करें तो हँसी आती है कि यह कैसी मूर्ख है । संश्रयमें रहनेका अभिप्राय यह है कि उसमें कुछ भी सुख नहीं । और यदि उसमें सुख हो तो उसकी चर्मरहित दशाका वर्णन तो कर देना ! तब उससे यही मांश होगा कि यह मांशका कष्ट मोहदशाके कारण हुई है । यहाँ मैं श्रीक भिन्न भिन्न अवस्था आदि के मांशोंका विवेचन करने नहीं बैठा हूँ, परन्तु उस ओर फिर कभी आभा न पड़े जाय, यह जो विवेक हुआ है, उसका सामर्थ्य सूचन किया है । श्रीमें कोई दोष नहीं है, परन्तु दोष तो अपनी आत्मामें है । और इन दोषोंके निकट जलसे आभा जो कुछ देखनी है वह बहुत आनन्दजन्य ही है । इतिविषय इस रूपसे रहित होना, यह परम अभिलाषा है ।

जो संस्कार क्या रहे, जिन आत्मन कायः

मिमा परिश्रम से क्या पदार्थका ही स्वर ? ॥ १ ॥

जैम जम जनि अज्जना अमे मोह उपोसः

तेज तेज पदार्थजना अज्ज अज्ज ज्ञान ॥ २ ॥

करी कल्पना हट कर माना मति-विचार

पत्र जनि से सुख पत्र पत्र निर्धार ॥ ४ ॥

आ भव वन मर उ नही एव तक अनुकूल

विचारना पामी गरा, अन्तर्धर्म सुख ॥ ५ ॥

यदि सुख उपयोगकी प्राप्ति हो गई तो फिर वह प्रतिममय पूर्वोपागित माहनीयको मस्तीभूत कर स्नेही यह अनुभवगम्य वचन है ।

परन्तु जबतक मुझसे पूर्वोपागित कर्मका संबंध है तबतक मरी किता तरहसे शक्ति हा ! यह विचारनेसे मुझे निम्न विविक्षित समाधान हुआ है ।

५२

वि सं १९४५

जगत्में जो भिन्न भिन्न मत आर दशन दखनेमें आते हैं वे सब दृष्टिके भेद मात्र हैं ।

भिन्न भिन्न जो मत दिखार्हे दे रहे हैं वह केवल एक दृष्टिका ही भेद है, वे सब मानों एक ही तत्त्वके लब्धसे प्ना हुए हैं ॥ १ ॥

उस तत्त्वकय दृष्टका मूल आत्मधर्म है जो धर्म आत्मधर्मकी सिद्धि करता है, यही उपदेय धर्म है ॥ २ ॥

सबसे पहिले आत्माकी सिद्धि करनके लिये ज्ञानका विचार करा उस ज्ञानकी प्राप्ति लिये अनुमयी शुद्धी सेवा करनी चाहिये, यही पण्डित उमांते निणय किया है ॥ ३ ॥

जिसको आत्मसेवे क्षण क्षणमें होनेवाली अस्थिरता आर वैमानिक मोह दूर हो गया है, यही अनुमयी पुरु है ॥ ४ ॥

जिस्के बाह्य और अन्तर परिग्रहकी प्रविधियाँ नहीं रही हैं उसे ही सरल दृष्टिसे परम पुरुष मानो ॥ ५ ॥

५३

वि सं १९४५

१ जिसकी मनोवृत्ति निरुपाधरूपसे बहा करती है, जिस्के संकल्प-विकल्प मर पड़ गये हैं, जिस्के पाँच विषयोसे विरक्त बुद्धिके अंकुर प्रसृजित हुए हैं, जिसने देशक कारण निर्मूल कर दिये हैं, जो अनेकजंत-द्विपुत्र एकज-दृष्टिका संकल किया करता है, जिस्को केवल यही छुटवृत्ति है, वह प्रतापी पुरुष नपवान होओ ।

२ हमें ऐसा करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

५४

भिन्न भिन्न मत वैविध्य मेरुदण्डिनो पद्मः

एक तत्त्वमा मूलमा आत्मा मनो वै ॥ १ ॥

तेह तत्त्वकयदृष्टनु, आत्मधर्म ते मूल

स्वमयगी सिद्धि करे, धर्म ते न अनुग्रह ॥ २ ॥

प्रथम आत्मसिद्धि क्या करिय ज्ञान विचार,

अनुमयि शुद्धि देखिने बुधजनमा विचार ॥ ३ ॥

ज्ञान ज्ञान के अविषया अने विमानिकमोह,

ते ज्ञानयोगी क्या, ते अनुमयि शुध ज्येव ॥ ४ ॥

बाह्य तेम अन्तर, प्रथ प्रप्ति नहि होय,

परम पुरुष तेम यही लब्ध दृष्टिही ज्येव ॥ ५ ॥

५४

वि सं १९४५

बहो हो ! कर्मकी कैसी विविध बच-स्थिति है ! जिसकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं होती वी जिसके स्थिये परम शोक होता है, उसी गमीरतारहित दशासे चटना पड़ता है ।

ये दिन-बर्दमान आदि सत्पुरुष कैसे महान् मनोविनयी थे । उन्हें मीम रहना, जमीन खाना दोनों ही सुखम थे, उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल सभी दिन समान थे, उन्हें काम-हानि दोनों समान थी, उनके ह्रम केवल अहम-समताके स्थिये ही था । कैसे आश्चर्यकी बात है कि जिस एक कल्पमात्र एक कल्पकाश्में भी अथ होना दुर्लभ है, ऐसी अनन्त कल्पनाओंको उन्होंने कल्पके अनन्तमें भागमें ही शान्त कर लिया ।

५५

वि सं १९४५

यदि दुखिया मनुष्योंका प्रदर्शन किया जाय तो निश्चयसे मैं उनके लक्षसे कम भागमें जा सकता हूँ ।

मेरे इन बचनोंको पढ़कर कोई विचारमें पड़कर जिस जिस कल्पनायें न करने लगा जाय, अथवा इसे मेरा भ्रम न मान बैठे इसस्थिये इसका समाधान यही संश्लेषमें लिखे देता हूँ —

तुम मुझे बीसबची दुःख नहीं मानना, कम्मीसबची दुःख नहीं मानना, पुत्रसबची दुःख नहीं मानना, बीसिसबची दुःख नहीं मानना, भयसबची दुःख नहीं मानना, शरीरसबची दुःख नहीं मानना, अथवा अन्य सर्वसर्वसबची दुःख नहीं मानना; मुझे किसी दूसरी ही तरहका दुःख है । वह दुःख बतका नहीं, कर्मका नहीं, विपत्तिका नहीं; शरीरका नहीं, बचनका नहीं, मनका नहीं अथवा गिनो तो इन सभीका है, और न गिनो तो एकका भी नहीं; परन्तु मेरी निश्चिन्ता उस दुःखको न गिननेक स्थिती ही है क्योंकि इसमें कुछ और ही मर्म अन्तर्हित है ।

इतना तो तुम जरूर मानना कि मैं बिना दिवानापनेके यह कलम चला रहा हूँ । मैं रामचन्द्र नामसे कहा जानेवाला ख्याणीका नामके एक छोटेसे गाँवका रहनेवाला, कस्बामें साधारण होनेपर भी आर्यरूपसे माना जानेवाला दशाश्वमीमाजी केयका पुत्र गिना जाता हूँ । मैंने इस देहमें सुस्त्यरूपसे दो मज किये हैं, गौणका कुछ विचार नहीं ।

सुप्तपकी छोटी समयमें कोन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनायें आया करती थी । सुप्तकी अविद्यया भी कुछ कम न थी; और सुप्तमें भी गहल बाग, बगीचे, ली तथा राग-रगोंके भी कुछ कुछ ही मनोरम थे, किन्तु सबसे बड़ी कल्पना इस बातकी थी कि यह सब क्या है ? इस कल्पनाका एक बार तो ऐसा फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप है, और न पुण्य है; सुखसे रहना, और संसारका मोग करना, सब यही कृतकल्पता है । इसमेंसे दूसरी छलटोंमें न पढ़कर धर्मकी वात्सनायें भी निकल जाती । किसी भी धर्मके लिखे थोड़ा बहुत भी मान अथवा अस्वामान न रहा, किन्तु थोड़ा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया ।

जैसा होनेकी मैंने कल्पना भी न की थी, तथा जिसके लिये मेरे विचारमें आनेवासा मेरा कोई प्रयत्न भी न था, तो भी अचानक फैरफार हुआ कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ और यह अनुभव ऐसा था जो प्रायः न शास्त्रोंमें ही लिखा था, और न जड़वारियोंकी कल्पनामें ही था। यह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़कर अब एक 'ए ही, ए ही' का आप करता है।

अब यहाँ समाधान हो जायगा। यह बात अक्षय आत्मकी समझमें आ जायगी कि मुझे भूतकालमें न योग हुए अथवा भविष्यकालमें भय आरिहके दुःखमें एक भी दुःख नहीं है। लोके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ सास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा ऐसा कोई भी ससारी पदार्थ नहीं है जिसमें मेरी प्रीति हो, और न किसी भी भयसे अधिक मात्रामें विरह हुआ भी नहीं है। लोके संस्कारमें मेरी अभिरुचि कुछ और है और आचरण कुछ और है। यद्यपि एक पक्षमें उसका कुछ कात्तक स्वेन करना योग्य कहा गया है फिर भी मेरी तो वहाँ सामान्य प्रीति-अप्रीति है, परन्तु दुःख नहीं है कि अभिरुचि न होनेपर भी पूर्वकर्म मुझे क्यों धरे हुए हैं। इतनेसे ही इसका अन्त नहीं होता, परन्तु इसके कारण अच्छे न छानेवाले पदार्थोंको देखना, सूचना और स्पर्श करना पड़ता है, और इसी कारणसे प्रायः उपनिषमें खना पड़ता है।

महारम, महापरिभ्र, क्रोध, मान, माया, खोम अथवा ऐसी वही अन्य बातें जगत्में कुछ भी नहीं, इस प्रकारका इनको मुखा देनेका व्यास करनेसे परमार्थ रहता है।

उसकी उपपेक्ष कारणोंसे देखना पड़ता है। यही महाभारतकी बात है। अंतरंगचर्चा भी वही प्रगट नहीं की जा सकती; ऐसे पात्रोंकी मुझे दुर्बलता हो गई है, यही वस मेरा महादुःखिना काया जा सकता है।

५६

वि १९९५

यही कुशाख्या है। आपकी कुशाख्या चाहता हूँ। आप आपका विद्यासु-पत्र भिजा। इस विद्यासु-पत्रके उत्तरके क्रममें जो पत्र भेजना चाहिये वह पत्र यह है:—

इस पत्रमें गुरुस्वात्मके संस्कारमें अपने कुछ विचार आपके समीप रहता हूँ। इनके रखनेका हेतु केवल इतना ही है कि जिससे अपना जीवन किसी भी प्रकारके उत्तम क्रममें व्यतीत हो और अच्छे उस क्रमका बारम्बार होगा चाहिये वह काळ जमी आपके द्वारा आरंभ हुआ है अर्थात् आपसे उस क्रमके बतानेका यह उचित समय है। इस तरह बताये हुए क्रमके विचार बहुत ही उत्साहपूर्ण हैं इसलिये इस पत्रद्वारा प्रकट हुए हैं। वे आपके तथा किसी भी ज्ञानयोगी अथवा प्रसन्न क्रमकी इष्ट रक्षणेवालेके अक्षय ही बहुत उपयोगी होंगे ऐसी मेरी मान्यता है।

तत्त्वज्ञानकी गहरी गुरुका यदि दर्शन करके जाँच तो वहाँ नेपथ्यमेंसे यही ज्ञान निकलेगी कि तुम कोन हो ! कहाँसे आये हो ! क्यों आये हो ! तुम्हारे पास यह सब क्या है ! क्या तुम्हें अपनी प्रतीति है ! क्या तुम विनम्रा, अनिमाणी अथवा कोई टीसरी ही राशि हो ! इस तरहके अनेक प्रश्न उस ज्ञानसे हृदयमें प्रवेश करेंगे; और जब आत्मा इन प्रश्नोंसे घिर गई तो फिर दूसरे विचारोंकी बहुत ही चोखा अवकाश रहेगा। यद्यपि यही विचारोंसे ही अन्तमें सिद्धि है; इसी विचारोंके विवेकसे जिस अन्त्यावाप

सुखकी इच्छा है उसकी प्राप्ति होती है और इन्हीं विचारोंके मनमसे अनंत काळका मोह दूर होता है, तथापि वे सबके लिये नहीं हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखनपर जो उसे अन्ततः पा सकें ऐसे पात्र बहुत ही कम हैं। काळ बगल गया है। इन वस्तुओंके अंतको जन्मदात्री अथवा अर्वाचितासे लेने जानेपर जहर निश्चयता है, और वह मायवीन अपात्र इन दोनों प्रकारके लोकसे भ्रष्ट होता है। इसलिये कुछ सतोंको अपवादरूप मानकर बाकीको उस क्रममें जानेके लिये उस गुणका दर्शन करनेके लिये बहुत सम्यक्त अन्व्यासकी आवश्यकता है। कदाचित् यदि उस गुणका दर्शन करनेकी उसकी इच्छा न हो तो भी अपने इस मन्त्रके सुखके लिये—पैना होने और मरनेके बीचके मार्गका किसी तरह बितानेके लिये भी इस अन्व्यासकी निश्चयसे आवश्यक है; यह कथन अनुभवगम्य है, वह बहुतोंके अनुभवमें आया है, और बहुतसे आर्य—संतपुरुष उसका लिये विचार कर गये हैं। उन्होंने उसपर अधिकाधिक मनन किया है। उन्होंने आत्माको खोजकर उसके अपार मार्गमें जो प्राप्ति हुई है उसकेद्वारा बहुतोंको मायशास्त्री बनानेके लिये अनेक क्रम बौध हैं। वे महात्मा अव्यक्त हों। आर उन्हें विकास नमस्कार हों।

हम योही देखके लिये तत्त्वज्ञानकी गुणको विवरण करके जब आपोद्धार उपदेश किये हुए अनेक क्रमोंपर जानेके लिये तैयार होते हैं, उस समयमें यह बता देना योग्य ही है कि हमें जो पूर्ण आन्धकार लगाता है, और जिसे हमने परमसुखकर, प्रियकर, और इष्टगम्य माना है,—वह सब कुछ उल्टी है वह अनुभवगम्य है, और यही तो इस गुणका मित्रास है, और मुझे निरंतर इसीकी अभिलाषा रहा करती है। यद्यपि अभी हासमें उस अभिलाषाके पूर्ण होनेके कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते, तो भी क्रम-क्रमसे इसमें इन कष्टोंको अथ ही मिसेगी, पेसी उसे निश्चयसे सुभाषाका है, और यह अनुभवगम्य भी है। अन्तमें ही यदि योग्य रीतिसे उस क्रमकी प्राप्ति हो जाय तो इस पत्रके लिखने जितनी बौद्ध करनेकी भी इच्छा नहीं परन्तु काळकी कठिनता है मायवीन मन्त्रा है सतोंकी श्लाघादि इष्टिगोचर नहीं है; और सुखाकी कमी है। वहाँ कुछ ही—

तो भी इसमें उस क्रमका बीजारोपण अवश्य हो गया है, और यही सुखकर हुआ है। सुखिके रूपमें भी जिस सुखके लिखनेकी आशा नहीं थी, तथा जो अनंत शांति किंती भी रीतिसे किंती भी भीषणसे, साधनसे, लीसे, पुत्रसे, मित्रसे अथवा दूसरे अनेक उपचारोंसे नहीं होनेवाली थी वह अब हो गई है। अब सुदृढ़ लिये अभिव्यक्तकी भीति बली गई है, और एक साधारण जीवनमें आचार्य करता हुआ यह दृष्टांत मित्र इसीके कारण बी रहा है, नहीं तो जीनेमें निश्चयसे शक्य ही थी। विरोध क्या करे? यह अब नहीं है, वहम नहीं है, विष्णुल सत्य ही है।

जो विकासमें एकदम परमप्रिय और जीवन वस्तु है उसकी प्राप्ति का बीजारोपण कैसे और किस प्रकारसे हुआ। इस बातका विस्तारपूर्ण विवेचन करनेका यहाँ अवसर नहीं है, परन्तु यही मुझे निश्चयसे विकासगम्य है, इतना ही मैं यहाँ कहना चाहता हूँ, क्योंकि केवल-समय बहुत थोड़ा है।

इस प्रिय जीवनको सब कोई पा जाय सब कोई इसके लिये पात्र बनें, वह सबको प्रिय छोड़, सबको इसमें रुचि हो, ऐसा भूतकालमें कभी हुआ नहीं, वर्तमानकालमें होनेवाला नहीं, और भविष्यकालमें कभी होगा नहीं, और यही कारण है कि विकासमें यह अगल विधिय बना रहता है।

जब हम मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणियोंकी आदि देखते हैं, तो उसमें इस वस्तुका निवेक नहीं पाया होता अब जो मनुष्य रहे उन सब मनुष्योंमें भी यह बात नहीं देख सकते।

२२वाँ वर्ष

५७

मार्च, नि स १९४६

मर्ह ! इतना तो तुझे अवश्य करना चाहिये —

१ इस नेहमें जो विचार करनेवाला बैठता है वह देखसे विषय है । वह सुखी है या दुःखी । यह याद कर ले ।

२ तुझे दुःख तो होता ही होगा, और दुःखके कारण भी तुझे हठिगोचर ही होते होंगे, फिर भी यदि कदप्रतिद्व न होते हों तो मेरे किसी मागको पड़ जाला, इससे सिद्धि हो जायगी । इसे दूर करनेका जो उपाय है वह केवल इतना ही है कि उससे बाह्याभ्यन्तरकी आसक्तिरहित रहना ।

३ उस आसक्तिसे रहित होनेके बाद कुछ बार ही दशाका अनुभव होता है, यह मैं प्रशिक्षणपूर्वक कहता हूँ ।

४ उस साधनके लिये सर्वसंग-परित्यागी हानिको आवश्यकता है । निर्मय सहस्रके चरणमें जाकर पड़ना योग्य है ।

५ जिस माससे चढ़ा जाय उस माससे सत्कृत्य रहनेका सबसे पहिले निश्चय कर । यदि तुझे पूर्वकर्म कञ्चन छगते हों तो अत्यागी अथवा देवतावागी ही रहे, किन्तु उस वस्तुको भूलना मत ।

६ सबसे पहिले जैसे बने जैसे थे अपने जीवनको जान । जाननेकी अकरत इसलिये है जिससे तुझे मविष्य-समाधि हो सके । इस समय अप्रमादी होकर रहना ।

७ इस जादुके मानसिक जाग्रोपयोगको केवल वैराग्यमें रख ।

८ जीवन बहुत छोटा है, उपाधि बहुत है, और उसका त्याग न हो सक्ता हो तो नाथकी बातें पुनः पुनः लक्ष्ममें रख —

१ उसी वस्तुकी अभिज्ञाया रख ।

२ संसारको बंधन मान ।

३ पूर्वकर्म नहीं हैं, ऐसा मानकर प्रत्येक धर्मका सेवन करता जा; फिर भी यदि पूर्वकर्म दुःख दें तो शोक नहीं करना ।

४ जितनी देहकी धिता रखता है उतनी नहीं किन्तु उससे अनंतपुनी अधिक आश्रयाली धिता रख, क्योंकि एक भवमें अनंतमय दूर करने है ।

५ यदि तुझसे कुछ धारण न किया जा सके तो सुननेका अभ्यासी बन ।

६ जिसमेंसे जितना कर सके उतना कर ।

७ परिणामिक विचारवाला बन ।

८ अनुसरवादी होकर रहे ।

९ प्रतिसमय अंतिम उद्देश्यको मत भूल जाना, यही अमुरीय है, और नहीं धर्म है ।

५८

बम्बई, कार्तिक वि स १९४६

समस्तपूर्वक अस्पृश्यता होनेवालेको पञ्चात्ताप करनेके बहुत ही योग्य अवसर आनेकी समावना है ।

हे नाथ ! यदि सत्यमें समतमप्रमा आमक नरककी वेदना मिठी होती तो क्वाचित् उसे स्वीकार कर लेता, परन्तु जगतकी मोहिनी स्वीकारी नहीं जाती ।

यदि पूर्वके अद्भुत कर्मका उदय होनेपर उसका वेदन करते हुए शोक करते हो तो अब इसका भी ध्यान रखो कि नये कर्मोंका बच करते हुए वैसा दुःख परिणाम देनेवाले कर्मोंका तो बच नहीं कर रहे ।

यदि आत्माको पहिचानना हो तो आत्माका परिचयी, और परब्रह्मका स्पर्शी होना चाहिये ।

जो कोई अपनी नितानी पौरुषिक बर्द्धा चाहता है उसकी उत्तमी ही आरम्भक अभोगवि हो आनेकी समावना है ।

प्रशस्त पुरुषको भक्ति करो, उसका स्मरण करो, उसका गुणचिन्तन करो ।

५९

बम्बई, वि स १९४६

प्रत्येक पण्यका अथवा निवेक करके इस बीचको उससे अखिस रखते, ऐसा निर्मय कहते हैं ।

जैसे कुछ स्तनिकमें अन्य रणका प्रतिभास होनेसे उसका मूक स्वरूप छद्ममें नहीं आता वैस ही कुछ निर्मल यह वेदन अन्य सयोगके तदनुक्रम अभ्याससे अपने स्वरूपके छद्मको नहीं पाता । इत्ये बातको योग्य बहुत फेरफारके साथ जैन, वैद्यक, सांख्य, योग आदिने भी कहा है ।

६०

बम्बई, वि स १९४६

सहज

जो पुरुष अपने 'सहज' छिन्न रहा है वह पुरुष अपने आपको ही व्यस्य करके यह सब कुछ छिन्न रहा है ।

उसकी अब अंतरंगमें ऐसी दशा है कि जिना किसी अपवाजके उसने सखी ससारी इन्द्रजनोंको भी निस्पृह कर दिया है ।

वह कुछ पा भी चुका है, और वह पूर्णता परम मुमुक्षु भी है, वह अन्तिम मार्गका नि शक अभिचारी है ।

अभी हाकमें जो आचरण उसके उदय जाये हैं, उन आचरणोंसे इसे लेद नहीं, परन्तु बलुभासमें होनेवाली संताका उसे खद है । वह बर्माकी विधि, अर्यकी विधि, और उसके आचारस मोक्षकी विधिको प्रकाशित कर सकता है । इस कथमें बहुत ही कम पुरुषोंका प्राप्त हुआ होगा, ऐसे अपोपशममात्रका धारक वह पुरुष है ।

उसे अपनी स्पृहिके छिये गर्व नहीं है, तर्कक छिये गर्व नहीं है, तथा उसके छिये उसका

पक्षपात भी नहीं है, ऐसा होनेपर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनको उसे बादाचारमें करना पड़ता है, इसके लिये उसे खेद है।

उसका जब एक नियमको छोड़कर दूसरे नियममें ठिकाना नहीं। यद्यपि वह पुरुष तीक्ष्ण उपयोगवाला है, तथापि उस तीक्ष्ण उपयोगको दूसरे किसी भी नियममें लगानेका वह शक्नुम नहीं है।

६१

कर्म, नि सं १९४१

एक बार वह स्वप्नमें बैठा था। जगत्स्य कौन मुन्नी है, उसे जरा देखूँ तो सही। फिर अपने लिये अपना विचार करे। इसकी इस अभिलाषाकी पूर्ति करानेके लिये अपना स्वयं उस समस्त स्थानको देखनेके लिये बहुतसे पुरुष (आत्माएँ), और बहुतसे पदार्थ उसके पास आये।

“इसमें कोई बड़ पदार्थ न था।” “कोई अकेली आत्मा भी देखनेमें न आई।”

फिर कुछ देहधारी हो गये। उस पुरुषको बाँका हुई कि ये मेरी निहृदिके लिये आये हैं।

बलु अग्नि, पानी और भूमि इनमेंसे कोई क्यों नहीं आया?

(नेपथ्य) वे इसका विचार तक भी नहीं कर सकते। वे विचारे हुआसे पराधीन हैं।

द्वि-निद्रिय जीव क्यों नहीं आये?

(नेपथ्य) इसका भी वही कारण है। जरा आँख उठाकर देखो तो सही। उन विचारोंको कितना अधिक हुआ है।

उनका कर्म उनको परपरछाड़, पराधीनता इत्यादि देखे नहीं आते। वे बहुत ही अधिक हुआ है।

(नेपथ्य) इसी आँखसे जब तुम समस्त जगत् देख लो। फिर दूसरी बात करो।

अन्धी बात है। दर्शन हुआ, आनंद पाया, परन्तु पीछेसे खेद उत्पन्न हुआ।

(नेपथ्य) अब खेद क्यों करते हो?

मुझे जो कुछ दिखाई दिया क्या वह ठीक था?

“हाँ”

यदि ठीक था तो फिर अकर्मता आदि हुआ क्यों दिखाई देते हैं?

“जो हुआ होते हैं वे हुआ और जो सुनी होते हैं वे सुनी दिखाई देते हैं।”

तो क्या अकर्मता हुआ नहीं है?

“वैसा देखो वैसा मानो। यदि विशेष देखना हो तो जलो मेरे साथ।”

अकर्मताके अन्तःकरणमें प्रवेश किया।

अन्तःकरण देखते हैं। मुझे महसूस हुआ कि मैं पक्षिके जो देखा था वही ठीक था। उसका अन्तःकरण बहुत हुआ था। वह अमृत प्रकारके भयोंसे परपर कोप रहा था। कमल जायुष्मकी बोरीको निगल रहा था। हाथ-भोंसमें उसकी दृष्टि थी। कँकरोंमें उसकी प्रीति थी। कोय और मालक वह उपासक था। बहुत हुआ।

वच्छा, ता क्या देवोंकी दशाको ठीक समझे ?

“ निश्चय करनेके लिये अबो इन्के अन्त कारणमें प्रवेश करें । ”

तो चलो—

(उस इन्द्रकी मध्यताने मूँचमें बाँध दिया ।) वह भी परम दुःखी था । विचारको मृत होकर किसी वीरस्य स्थलमें जन्म लेना था, इसलिये वह सेद कर रहा था । उसमें सम्पद्यष्टि नामकी देवी रहती थी । वह उसको उस सेदमें सुलभना दे रही थी । इस मन्त्रादुक्त सिवाय उसे और भी बहुतसे अव्यक्त दुःख थे ।

परन्तु (नेपथ्य) क्या सत्सारमें क्केला जब और क्केली आत्मा नहीं है ! उन्होंने मेरे इस आत्मकणको स्वीकार ही नहीं किया ।

“ जबके हाल नहीं है इसलिये वह विचारो तुम्हारे इस आत्मकणको कैसे स्वीकार कर सकता है ? सिद्ध (एकहमनामी) भी तुम्हारे आत्मकणको स्वीकार नहीं कर सकता । उसकी उन्हें कुछ भी परवा नहीं । ”

अरे ! इतनी अधिक बेपरवाही ! उन्हें आत्मकण तो स्वीकार करता ही चाहिये, तुम क्या कहते हो !

“ परन्तु इन्हें आत्मकण—अनात्मकणसे कोई संबंध ही नहीं । वे परिपूर्ण स्वरूप—सुखमें विराजमान हैं । ”

इन्हें मुझे बताओ । एकदम—बहुत जल्दीसे ।

“ उनका दर्शन बहुत दुर्लभ है । जो इस अवनको आँख से, सुसते ही उनके दर्शन हो जायेंगे । ”

अहो ! ये बहुत सुखी हैं । इन्हें भय भी नहीं, शोक भी नहीं, हास्य भी नहीं, वृद्धता भी नहीं, रोग भी नहीं, आधि भी नहीं, व्याधि भी नहीं, उपाधि भी नहीं, इत्यादि कुछ भी नहीं ।

परन्तु वे अनतान्त सच्चिदानन्द सिद्धिसे पूर्ण हैं । हम भी ऐसा ही होना चाहते हैं ।

‘ क्रम क्रमसे ही सक्रमो ’ ।

यह क्रम क्रम हमें नहीं चाहिये, हमें तो शुरुत ही यह पद चाहिये ।

“ क्या पदों कीजो ; समता रखो ; और क्रमको अंगीकार करो, नहीं तो उस पदपर पहुँचनेकी समाप्ति नहीं है ” ।

“ हँ, यहाँ पहुँचना समझ नहीं ” तुम अपने इस बचनको धारित को ।

यह क्रम शीघ्र बताओ और उस पदमें अभी शुरुत ही मेजो ।

“ बहुतसे मनुष्य आये हैं । उन्हें यहाँ बुझाओ । उनमेंसे तुम्हें क्रम मिल सकेगा ”

इच्छा की ही थी कि इतनेमें वे आ गये—

आप मेरे आत्मकणको स्वीकारकर यहाँ चले आये इसके लिये मैं आप सागोका उपकार मानता हूँ । आप लोग सुखी हैं, क्या यह बात ठीक है ? क्या आपका पद सुखयुक्त गिना जाता है ?

एक बृद्ध पुरुषने कहा —“ तुम्हारे आत्मकणको स्वीकार करना अवश्या न करना ऐसा हमें कुछ भी बचन नहीं है । हम सुखी हैं या दुःखी, यह बतानेके लिये भी हम यहाँ नहीं आये हैं । अपने

पदको स्थापना करनेके लिये भी हमारा पक्ष आना नहीं हुआ। हमारा आगमन तुम्हारे सम्पादनके लिये हुआ है। ”

इत्यादिके शीघ्र कहे कि आप मेरा क्या सम्पादन करेंगे ? इन आगमनक पुरुषोंका परिचय तो करदिये ।

उत्तरे इन प्रकार उनका परिचय देना शुरू किया—

“ इस क्रमि ४-११ ७-८९ १० १२ नंबरवाले मुख्यतः मनुष्य ही हैं। और वे सब उसी पक्षके आगमनक योगी हैं जिस पक्षको तुमने प्रिय माना है ”

“ नंबर चौथेसे लेकर वह ७ सुखरूप हैं। और बाकीकी अगत्-स्वरूपा जैसे हम मानते हैं उसी तरह वे भी मानते हैं। उस पक्षके प्राप्त करनेकी उनकी आर्थिक अभिलाषा है परन्तु वे प्रयत्न नहीं कर सकते; क्योंकि पाँच सम्पत्तक उन्हें अतयाव है। ”

अतयाव क्या ? करनेके लिये तत्पर हुए कि वह हुआ है। समझना चाहिये ।

हुआ—तुम जल्दी न करो। उसका समाधान तुम्हें अभी होनेवाला है, और हो ही जायगा। ठीक, आपकी इस बातको मैं मान लेता हूँ।

हुआ—नंबर “ ५ ” वाला कुछ प्रयत्न भी करता है, और सब बातोंमें वह न “ ४ ” के ही अनुसर है।

नंबर “ ६ ” वाला सब प्रकारसे प्रयत्न करता है, परन्तु प्रयत्न-छासे उसके प्रयत्नमें मदद आ जाती है।

नंबर “ ७ ” वाला सब प्रकारसे अप्रयत्न-छासे प्रयत्न करता है।

नंबर “ ८-९ १ ” वाले उसकी अपेक्षा कमसे उम्मेद हैं, किन्तु उसी जातिके हैं। नंबर “ ११ ” वाला पतित हो जाता है इसलिये उसका पक्ष आना नहीं हो सका। दर्शन होनेके लिये मैं बाहरमें हूँ (हाथ धामे उस पक्षको सम्पूर्ण देखने वाला हूँ) परिपूर्णता पानेवाला हूँ। वास्तु-स्थितिके पूरी होनेपर अपने देखे हुए पक्षसे एक पक्षपर तुम मुझे भी देखोगे।

सिंहाजीः—आप मन्त्राभाषणाधी हैं।

ऐस नंबर कितने हैं ?

हुआ—प्रथमके तीन नंबर तुम्हें अनुकूल नहीं आवेंगे। ग्यारहवाँ नंबर भी अनुकूल नहीं होगा। नंबर “ ११ १० ” वाले तुम्हारे पास आने ऐसा उनको कोई निमित्त नहीं रहा है। नंबर “ ११ ” धामद आजाय परन्तु कैसा तुम्हारा पूर्वकर्म हो तो ही उसका आगमन हो सकता है, अन्यथा नहीं। चौदहवेंके आनेके कारण जाननेकी इच्छा भी मत करना। उसका कारण कुछ है ही नहीं।

(मेष्य) तुम इन सबके अन्तरमें प्रवेश करो। मैं स्थायक होता हूँ।

बड़ो। नंबर ४ से लेकर ११+१२ तकमें कम क्रमसे सुखकी उत्पत्ति पर बढ़ती हुई और उमड़ रही थी

अधिक क्या कहें ? मुझे वह बहुत प्रिय लगा। और पक्षी मुझे अपना बना।

इदने मेरे मनोगत भावको जानकर कहा—बस, यही तुम्हारा कल्याण मार्ग है। इसपरसे होकर जाना चाहो तो अच्छी बात है, और अभी जाना हो तो ये तुम्हारे साथी रहे।

मैं उठकर उनमें मिल गया।

(स्वविचार भुवन, द्वार प्रथम)

६२

बन्धु, कार्तिक सुदी ७ शुद्ध १९४६

इस पत्रके साथ अष्टक और योगमिन्दु नामकी दो पुस्तकें आपकी इष्टिसे निकल जानेके लिये भेज रहा हूँ। योगमिन्दुका दूसरा पृष्ठ इदनेपर भी नहीं मिल सका, तो भी बाकीका भाग समझमें आ सकने जैसा है, इसलिये यह पुस्तक भेजी है।

योगचरितसमुच्चय नामसे भेजंगा।

परम गुरु तत्त्वको सामान्य ज्ञानमें उतार देनेकी हरिमठाचार्यकी चमत्कृति प्रशंसनीय है। किसी स्वरूप सापेक्ष खंडन भवनका भाग होगा, उसकी ओर आपकी इष्टि नहीं है, इससे मुझे आनंद है।

यदि समय मिलनेपर 'अथ' से केकर 'इति' तक अक्षरकोत्पन्न कर जायेंगे तो मेरे ऊपर क्या होगी। (जैनदर्शन मोक्षका अलङ्कार उपदेश करनेवाला और वास्तविक तत्त्वमें ही यज्ञा रखनेवाला दर्शन है कि भी कुछ लोग उसे 'मास्तिक' कहकर पढ़िसे उसका खंडन कर गये हैं, वह खंडन ठीक नहीं हुआ; इस पुस्तकके पढ़ जानेपर यह बात आपकी इष्टिमें प्राप्त आ जायगी)।

मैं आपको जैनधर्मसम्बन्धी अपना कुछ भी आप्रष्ट नहीं बताता। और आपका जो स्वरूप है वह स्वरूप उसे किसी भी उपायद्वारा मिल जाय, इसके सिवाय दूसरी मेरी कोई आंतरिक अमिछाया नहीं है। इसे किसी भी तरहसे कहकर यह कहनेकी आज्ञा माँगता हूँ कि जैनदर्शन भी एक पवित्र दर्शन है। वह केवल यही समझकर कह रहा हूँ कि जो वस्तु जिस रूपसे स्वातन्त्र्यमें आई हो, उसे उसी रूपसे कहना चाहिये।

सब स्वरूप केवल एक ही भावसे पार हुए हैं, और वह मार्ग वास्तविक आत्मज्ञान और उसकी अनुभवाणि देहकी स्थितिपर्यंत सत्त्विका अथवा रजस्व और मोहरहित दशमें रहना है; ऐसी दशा रहनेसे ही वह तत्त्व उनको प्राप्त हुआ है, ऐसा मेरा स्वकीय मत है।

आत्ममें इस प्रकार लिखनेकी अमिछाया थी इसलिये यह लिखा है। इसमें यदि कुछ म्यूना-बिक हो गया हो तो उसे क्षमा करें।

६३

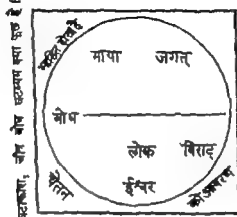
बन्धु, वि सं १९४६ कार्तिक

(१) यह पूरा कामज है, वह भागों सर्वव्यापक चेतन है।

उसके कितने भागमें माया समझे! जहाँ जहाँ वह माया हो वहीं वहाँ चेतनको बीच समझे या नहीं। उसमें कुछे कुछे जीवोंको किस तरह मानें! और उस जीवको क्या होना किस तरह मानें! उस बंधकी निवृत्ति किस प्रकार मानें! उस बंधकी निवृत्ति होनेपर चेतनके कानसे भागको माया-पणित हुआ समझे! जिस भागमेंसे पढ़िसे कुछ हुए हो क्या उस भागको निराकरण समझे या और

कुछ ! और एक जगह निराकरणपना, दूसरी जगह आवरण और तीसरी जगह निराकरण ऐसा कै-
 बन सकता है ! इसका चित्र बनाकर विचार करो ।

सर्वव्यापक आत्मा —



इस तरह तो यह ठीक ठीक नहीं बैठता ।

(२) प्रकाशस्वरूप नाम है ।

उसमें अनंत प्रकाशासे भरे हुए अंतःकरण हैं । उससे पद क्या होता है ?

पद यह होता है कि जहाँ जहाँ वे अंतःकरण व्याप्त हो जाते हैं वहाँ वहाँ माया मस्त
 होने लगती है । आत्मा सगुणित होनेपर भी सगुणित मायाम होने लगती है, अकर्ता होनेपर
 कर्ता मायाम होने लगती है । इत्यादि अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ निकलने लगती हैं ।

तो उससे होता क्या है ?

आत्माको बचकी कल्पना हो तो उसका क्या करे ?

अंतःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उसे उससे भिन्न समझे ।

भिन्न समझनेसे क्या होता है ?

आत्मा निजम्बन्धन दशामें रहती है ।

किर चाहे एकदम निराकरण हो अपना सर्वत्र निराकरण हो ।

२३वाँ वर्ष

६४

बम्बई, १९४६ कार्तिक सुदी १५

सन् १९२४ में कार्तिक सुदी १-५ को रविवारको दिन मेरा जन्म हुआ था। इससे सामान्य जनासे आज मुझ बर्ष पूरे हो गये हैं। इस बर्षमें अल्पवयमें मैंने आत्मासंबन्धी, नसबन्धी, बचनसंबन्धी, तनसंबन्धी, और धनसंबन्धी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी धिक्कता, नाना प्रकारकी सांसारिक खूबों और अगत दुःखोंके मुख्यकारण इन सबके अनेक कारणसे मुझ अनुभव हुए हैं। समर्थ तत्त्वज्ञानियोंमें और समर्थ नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं, सी तरहके अनेक विचार मैंने इसी अल्पवयमें किये हैं। महान् चक्रवर्तीशाय किये गये तृष्णापूर्ण विचार और एक निस्पृही आत्मदृष्टि किये हुए निस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किये हैं। अमरत्वकी उम्मीद और क्षणिकत्वकी सिद्धिपर मैंने मूर्ख मनन किया है। अल्पवयमें ही मैंने महान् विचार कर लिये हैं; और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। जब इन सब बातोंको बहुत गम्भीरभावसे आज मैं ध्यानपूर्वक देख जाता हूँ तब पहिलेकी उमरती हुई मेरी विचारभेणी और आत्म-दशा तथा आजकी विचारभेणी और आत्म-दशामें अफ़सोसपाताछका अंतर दिखाई देता है। वह अंतर इतना बड़ा है कि मानों उसका और इसका अन्त कभी भी मिलाया नहीं मिलेगा। परन्तु तुम सोचोगे कि इतनी सब विचित्रताओंको किसी स्थानपर कुछ छेड़न अथवा चित्रण कर रक्खा है या नहीं? तो उसका इतना ही ज़रूर दे सकता हूँ कि यह सब छेड़न-चित्रण स्वस्तिके चित्रपटपर ही अंकित है, अन्यथा छेड़नको ठीककर उन्हें जगहमें बतानेका प्रयत्न कभी नहीं किया। यद्यपि मैं यह समझ सकता हूँ कि वह अल्प-वयों जनसमूहको बहुत उपयोगी, पुनः पुनः मनन करन योग्य, और परिणाममें उनकी तरफसे मुझे अपेक्षा की प्राप्ति करानेवाली है, परन्तु मेरी स्मृतिने ऐसा परिणाम उठानेकी मुझे सूर्यया मना की थी, (संक्षिप्त) काचार होकर क्षमा माँगे देता हूँ। पारिणामिक विचारसे उस स्मृतिकी इच्छाको दबाकर उसी स्मृतिको समझाकर यत्ति हो सका तो उस वय-वर्षोंको बीरे बीरे अनन्य प्रवृत्ति परन्तु सिद्धांत।

तो भी स्मृतिव्यवस्था-वर्षोंको सुना जाता हूँ —

१ सात वर्षतक मिलात बाळवय छेड़-कूटमें बीती थी। उस समयका केवल इतना मुझे याद रहता है कि मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनायें (कल्पनाके स्वरूप अथवा हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थी। छेड़-कूटमें भी विजय पानेकी और राजपुत्रेश्वर जैसी ऊँची पन्नी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी। जब पहिलेकी स्वच्छ रहनेकी, खाने पीनेकी, सोने बैठनेकी मेरी सभी दृष्टायें बिदेही थी फिर भी मेरा हृदय कामचला था। वह दशा अब भी मुझ बहुत याद आती है। यदि आजका विवेकयुक्त ज्ञान मुझे उस अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिये बहुत अधिक अभि-कामना न रह जाती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है।

२ सात वर्षसे म्याह वर्ष तकका मेरा समय शिक्षा प्राप्त करनेमें बीता था। आज मेरी स्मृतिकी बिलगी प्रसिद्धि है उस प्रसिद्धिके कारण वह कुछ हीन जैसी अवस्था भाइय होती है, परन्तु

उस समयकी सृष्टि विद्युत् होनेसे केवल एकबार ही पाठका व्यव्यक्तम करना पड़ता था, फिर भी कैसी भी स्याति पानेका हेतु न था इसलिये उपाधि बहुत कम थी। सृष्टि इतनी अधिक प्रबल थी कि कैसी सृष्टि इस कालमें इस क्षेत्रमें बहुत ही धीरे मनुष्योंकी होगी। मैं अन्वस करनेमें बहुत प्रमाणा था, बात बनानेमें होशियार, सिखायी और बहुत आनदी जीव था। जिस समय पाठको शिक्षक पढ़ाना था उसी समय पढ़कर मैं उसका माध्या कह जाया करता था वस इतनेसे ही ।।। तरफसे सुड़ी मिला जाती थी। उस समय मुझमें प्रीति और सरल ब्रह्मस्य बहुत था मैं सबसे भिक्ता पैठ करना चाहता था सबसे चालूमात्र हो तो ही सुख है, यह विचार मेरे मनमें स्वामाधिकारसे रहा करता था। लोगोंने किसी भी प्रकारका सुधारका अकुर देखते ही मेरा अत करण ये पड़ता था। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आनत थी। आठवें वर्गमें मैं कविता की थी, जो पीछेसे जीव करनेपर छायाचित्रके नियमानुसूय ठीक निकली।

अन्वस मैंने इतनी शीघ्रतासे किया था कि जिस आदमीने मुझे पहिली पुस्तक सिखानी शुरू की थी, उसीकी मैंने गुजरणी भाषाका शिक्षण ठीक तरहसे प्राप्त करके, उसी पुस्तकको पढ़ाया था। उस समय मैंने कई एक कल्प-ग्रंथ पढ़ लिये थे, तथा अनेक प्रकारके छोटे मोटे, उछटे सीधे ज्ञान-ग्रंथ देख गया था जो प्रायः अब भी सृष्टिमें हैं। उस समयतक मैंने स्वामाधिकारसे मद्रिकताका ही सेवन किया था। मैं मनुष्यजातिका बहुत विचार था। स्वामाधिकार सृष्टि-रचनापर मुझे बहुत ही प्रीति थी।

मेरे पितामह कृष्णकी मूर्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने उनके द्वारा कृष्ण-कौर्मके फोटो, तथा कुछे जुड़े अवतारलेखी चमकदारोंको हुना था। जिससे मुझे उन अवतारोंमें मूर्तिके साथ साथ प्रीति भी उत्पन्न हो गई थी और रामरासनी नामके साधुसे मैंने बाह-अध्यामं कटी भी बैचवाई थी। मैं नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाता था। मैं उनकी बहुत बार कपायें हुनता था; जिससे अवतारोंके चमकदारोंपर बारबार मुग्ध हो जाता करता था, और उन्हें परमत्मा मानता था। इस कारण उनके रहनेका स्थल देखनेकी मुझे परम उत्कंठा थी। मैं उनके सम्प्रदायका मूल अपना त्यागी होऊँ तो किनता आनन्द मिके वस यही कल्पना हुआ करती थी। तथा अब कभी किसी धन-पैसाकी विमृष्टि देखता तो समर्थ वैभवशास्त्री होनेकी इच्छा हुआ करती थी। उसी बीचमें प्रवीणसागर नामक प्रथम भी मैं पढ़ गया था। यद्यपि उसे अधिक समझा तो न था, फिर भी कीर्तिका सुनने चीन होऊँ और निरुपाधि होकर कपायें अवण करते होऊँ तो कैसी आनन्द-दशा हो! यही मेरी प्युणा रहा करती थी।

गुजरणी भाषाका पाठ्याक्रममें कई एक जगहमें जगत्कृतिके संक्षेपमें उपदेश दिया गया है यह उपदेश मुझ पर हो गया था। इस कारण जैन लोगोंने मुझ बहुत बुराया रहा करती थी। कर्षे भी पदार्थ किता बनाये कभी नहीं बन सकता, इसलिये जैन लोग मूर्ख हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं। उस समय प्रतिमा-पूजनके ब्रह्मदास लोगोंनेकी किया भी मुझ कैसी ही निश्चय देती थी, इसलिये उन क्रियाओंके मर्जन करनेके कारण उनसे मैं बहुत दूरता था, अर्थात् वे कियारें मुझे प्रिय नहीं लगती थी।

मेरी जन्मभूमिमें मिलने पाणिक् लोग रहते थे उन सबकी कुछ-बहुत मर्यादा मर्यादा मित्र मित्र थी फिर भी यह बोधी बहुत प्रसिद्ध-मृतके अन्तर्गतके ही समान थी, इस कारण उन लोगोंको ही मुझे सुधारना था। लोग मुझे पहिचने ही समर्थ शक्तिवाला और गौणका प्रसिद्ध विचारों गिनते थे, इसलिये मैं अपनी प्रत्यक्ष कारण जानबूझकर ऐसे मजहजमें बैठकर अपनी अपनी शक्ति दिखानेका प्रयत्न किया करता था। वे लोग कटी बोलनेके कारण बारबार मेरी हास्यपूर्णक टीका करते, तो मैं उनसे वाद-विवाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न किया करता था। परन्तु धीरे धीरे मुझे उन लोगोंके प्रतिष्मरणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेकी मिली। उनमें बहुत विनयपूर्णक जगत्के समस्त जीवसि मित्रताकी भावना व्यक्त की गई थी, इससे मेरी प्रीति उनमें भी उत्पन्न हो गई और पहिचने भी रही। धीमे धीमे यह समझाना बढ़ता गया, फिर भी लच्छ रहनेके जौग दूसरे आचार-विचार मुझे वैष्णवोंके ही प्रिय थे, तथा जगत्कर्ताकी भी श्रद्धा थी। इतनेमें कंठी टूट गई, और इस दुःख में मैं नहीं बौंधी। उस समय बौध्दे ने न बौध्देका कोई कारण मिल नहीं हुआ था। यह मेरी तेरा वर्षकी बय-बया है। इसके बाद मैं अपने पिताजी दुकानपर बैठने लगा था, अपने अन्तर्गतके कारण कुछ दरबारके मजहजमें लिख-मके जिये कम कम बुझाया जाता था तब तब कहीं जाता था। दुकानपर रहते हुए मैंने नाना प्रकारकी मौख मजाये की हैं, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताये रची हैं, संसारिक वृत्ता-यें की हैं, तो मैं किसीकी भेने कम अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम म्यादा तोषकर नहीं दिया, मज मुझे बरकर पाए आ रहा है।

६५

(१)

बम्बई, कार्तिक १९४९

दो भेदोंमें विभक्त धर्मको तीर्थकारने दो प्रकारका बताया है —

१ सर्वसंगपरिपाली

२ देशपरिपाली

सर्वपरिपाली—

मात्र और अल्प

उसके अधिकारी—

पात्र, क्षेत्र, काम, मात्र

पात्र—वैश्य आदि कृषण, त्यागका कारण, और पारिणामिक मात्रकी और देखना।

क्षेत्र—उस पुरुषकी जन्मभूमि और त्यागभूमि ये दोनों।

काम—अधिकारीकी अवस्था, मुख्य पात्र काम।

मात्र—विनय आदि, उसकी योग्यता शक्ति, गुण उसको सबसे पहिचने क्या उपदेश करे, वृत्ता-वैकृतिक आचारोंग इत्यादिसबकी विचार; उसके नैतिकता होनेके कारणसे उस स्वतंत्र विचार करने देनेकी आज्ञा इत्यादि।

नित्यचर्या
वर्षकर्म
अनित्य व्यवस्था

—ये बातें परम आवश्यक हैं

देवस्थानी—

अक्षयधिया नित्यकर्म
महि अशुभ
दान, दौल, तप, भावका स्वरूप, ज्ञानके लिये उत्तका अनिहार ।

—ये बातें परम आवश्यक हैं

(२)

ज्ञानका उद्धार—

भुक्तज्ञानका उदय करना चाहिये ।

योगसूत्रकी ग्रंथ	त्यागसूत्रकी ग्रंथ
प्रक्रियासूत्रकी ग्रंथ	अध्यात्मसूत्रकी ग्रंथ
धर्मसूत्रकी ग्रंथ	उपनिषद् ग्रंथ
आत्मज्ञान ग्रंथ	ब्रह्मसुप्रीति ग्रंथ

—इसपर विभाग करने चाहिये

—उत्तका कर्म और उदय करना चाहिये

निर्ग्रन्थ धर्म	}	गन्ध
आचार्य		प्रवचन
उपाध्याय		ब्रह्मसिद्धि
मुनि		अन्य दर्शनसूत्रकी
गुरुस्थ		

—इन सबकी योजना करनी चाहिये

मत्तमात्र	मार्गकी शीघ्र
उत्तका स्वरूप	अध्यात्मका विज्ञान
उत्तकी सम्मान	उद्योग

—यह विचार ।

नामा प्रकरणके मोड़के कुछ होमसे आत्माकी छवि अपने स्वामात्मिक गुणसे उत्पन्न हुक्की प्राप्ति-
की ओर जाती है, और बादमें उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करती है, यही दृष्टि उसे उत्तकी सिद्धि
प्रदान करती है ।

६७

धर्म, कार्तिक वदी १ रवि १९४४

हम आयुके प्रमाणको नहीं जानते । बाल्यावस्था तो नास्तमहीमें व्यतीत हो गई । कल्पना करो कि १६ वर्षकी आयु है, अपना इतनी आयु है कि ब्रह्मत्वस्याका दर्शन कर सकें, परन्तु उसमें शिथिल दशाके सिवाय हम दूसरी कुछ भी बात न देख सकेंगे । अब केवल एक युवावस्था बाकी बची, उसमें भी यदि मोहनीयकी प्रवृत्ति न पड़ी तो सुखकी निद्रा न आयगी, निरोगी नहीं रहा जायगा, मिथ्या सङ्कल्प-विकल्प दूर न होंगे, और जगह-जगह मटकना पड़ेगा—और वह भी जब होगा जब कि ऋद्धि होगी, नहीं तो प्रथम उसके प्राप्त करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा । उसका इष्टानुसार मिथ्या न मिथ्या तो एक ओर रहा, परन्तु शायद पेटभर अन्न मिथ्या भी दुर्लभ हो जाय । उसीकी चिन्तामें, उसीके निष्कर्षमें, और उसको प्राप्त करके सुख भोगेंगे इसी संकल्पमें, केवल दुःखके सिवाय दूसरा कुछ भी न देख सकेंगे । इस अवस्थामें किसी कार्यमें प्रवृत्ति करनेसे सफल हो गये तो बौद्ध एकदम तिरछी हो जायगी । यदि सफल न हुए तो छोकेका ठिरस्कार और अपना निष्फल केद बहुत दुःख देगा ।

प्रत्येक समय मृत्युका भयबाधा, रोगका भयबाधा, आजीविकाका भयबाधा, यदि यथा हुआ तो उसको रखा करनेका भयबाधा, यदि अपयथा हुआ तो उसे दूर करनेका भयबाधा, यदि अपना केना हुआ तो उसे केनेका भयबाधा, यदि कर्म हुआ तो उसकी हायतोबाधा भयबाधा, यदि श्री हुई तो उसमें का भयबाधा, यदि न हुई तो उसे पानेका विचारबाधा, यदि पुत्र पौत्रादिक हुए तो उनकी क्लृप्ताका भयबाधा, यदि न हुए तो उन्हें प्राप्त करनेका विचारबाधा, यदि कम ऋद्धि हुई तो उसे बढ़ानेके विचारबाधा, यदि अधिक हुई तो उसे गोदीमें भर केनेका विचारबाधा, इत्यादि रूपसे दूसर समस्त साधनोंके लिये भी अनुभव होगा । कमसे कमो अपना अक्रमसे, किन्तु संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यही है कि सुखका समय कौनसा कहा जाय—बाल्यावस्था ! युवावस्था ! ब्रह्मत्वस्या ! निरोगावस्था ! रोगावस्था ! वनावस्था ! निर्बन्धावस्था ! गृहस्थावस्था ! या जगहस्थावस्था !

इस सब प्रकारके बाधा परिधमके बिना अन्तरगके श्रेष्ठ विचारसे जो विवेक हुआ है वही हमें दूसरी यदि कल्पकर सर्वकालके लिये सुखी बनाता है । इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यही है कि अधिक जियें तो भी सुखी, कम जियें तो भी सुखी, फिर जन्म लेना पड़े तो भी सुखी, और जन्म न हो तो भी सुखी ।

६८

धर्म, कार्तिक १९४४

ऐसा पवित्र दर्शन हो जानेके बाद फिर चाहे जैसा भी आवरण क्यों न हो परन्तु उसे तौज बधन नहीं रहता, अमृत संसार नहीं रहता, सोचबूझ भय नहीं रहते, अन्धकार दूर नहीं रहता, बाकाका निमित्त नहीं रहता और अन्तरग-मोक्षिणी भी नहीं रहती । उससे सदा सदा निरुपम, सर्वोत्तम, सुख, शान्त, अमृतमय दर्शनज्ञान, सम्पूर्ण ज्योतिर्मय, चिरकाल आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है । उस अद्भुत स्वभाव्य दर्शनकी बखिहारी है ।

अहाँ मत्तमेद नहीं, अहाँ रोका, कंठा, विविगिण्डा, मृदुष्टि, इनमेंसे कुछ भी नहीं; जो कुछ

हे उसे कष्टम दिये नहीं सकती, बचनश्राव उसका वर्णन नहीं हो सकता, और उसे मन भी नहीं मनन कर सकता—

ऐसा है वह ।

६९

बम्बई कार्तिक १९४९

सब दर्शनोंसे उच्च गति हा सकती है, परन्तु माधुके मार्गको ज्ञानियोंने उन शक्तियोंसे स्पष्ट रूपसे नहीं कहा, गौमतासे रक्षा है । उसे गौन क्यों रक्षा, इसका सर्वोत्तम कारण यही माह्न होता है जिस समय निश्चय अज्ञान, निर्धन ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति, उसकी आज्ञाका आराधन, उसके समीप सर्वत्र रहना, अपना समुदायकी प्राप्ति, ये बातें हो जैसी उसी समय आत्म-दर्शन प्राप्त होगा ।

७०

बम्बई कार्तिक १९४९

नवपद-ध्यानियोंकी वृद्धि करनेकी भी आवश्यकता है ।

७१

बम्बई मंगसिर सुदी १-२ एवि १९४९

हे गौतम ! उस कालमें जब उस समयमें मैं छद्मस्व व्यवस्थामें एकदश वर्षकी पर्याप्तसे, छद्म अहमसे, साधनान्तरोंसे साधन निरंतर उपधर्मा और समयपूर्वक आत्मपक्षकी भावना भाते हुए पूर्वावस्थासे चलते हुए, एक गौतमे दूसरे गौतमे जात हुए सुप्रसादपुर नामक नगरके अशोकवनसदृश बागके अशोकवृक्षके नीचे पूर्वाभिषेकापराज आया । वहाँ जाकर अशोकवृक्षके नीचे, पूर्वाभिषेक-पक्षके ऊपर, अग्रम मध्य मण्डल करके दोनों पक्षोंकी संयुक्ति करके हाथोंको बजा करके, एक पुरुषमें इष्टिकी स्थिर करके निमित्तहित नयनोंसे जल नीचे मुक्त रखकर, योगकी समाधिपूर्वक, सब इन्द्रियोंको गुप्त करके एक यन्त्रिकी महाप्रतिमा आराधन करके निश्चरता था । (चमर)

७२

बम्बई, मंगसिर सुदी ९ एवि १९४९

हुम्ने मेरे नियममें जो जो प्रशंसा लिखी उसपर मैंने बहुत मनन किया है । जिस तरह मैंने गुण सुष्ठमें प्रकाशित हों, उस तरहका आचरण करनेकी भी अभिलाषा है, परन्तु मैंने गुण नहीं सुष्ठमें प्रकाशित हो गये हैं ऐसा मुझे तो माह्न नहीं होता । अधिकसे अधिक यह मान सकते हैं कि मात्र उनकी इष्टि सुष्ठमें उत्पन्न हुई है । हम सब जैसे बने जैसे एक ही पक्षके इष्टिक होकर प्रयत्नशील होते हैं, और वह प्रयत्न यह है कि 'जैसे हुम्नेको हुम्ना देना' । यह सर्वसाध्य बात है । कि जिस तरह यह वंशज सुष्ठमें उस तरह हुम्ना देना ।

७३

बम्बई, पीप सुदी १ पुष १९४६

नीचेके नियमोंपर बहुत ध्यान दिया जाना चाहिये—

- १ एक बात करते हुए उसके बीचमें ही आवश्यकता बिना दूसरी बात न करनी चाहिये ।
- २ कहीं हुई बातको पूरी तरहसे सुनना चाहिये ।
- ३ स्वयं धीरे-धीरे बात उसका उत्तम उत्तर देना चाहिये ।
- ४ जिसमें आत्म-बाधा अथवा आत्म-हानि न हो वह बात कहनी चाहिये ।
- ५ धर्मके सम्बन्धमें हान्कर्ष बहुत ही कम बात करना ।
- ६ लोगोंसे धर्म-अपवादोंमें न पड़ना ।

७४

बम्बई, पीप १९४६

मुझे तेरा समागम इस प्रकारसे क्यों हुआ ? क्या कहीं तू गुप्त पड़ा हुआ था ?

सर्वगुणात्मा ही सम्पत्ति है ।

७५

बम्बई, पीप सुदी १ पुष १९४६

बहुतसे उल्लूक साधनोंसे यदि कोई ऐसा योग्य पुरुष (होनेकी इच्छा करे तो) धर्म, अर्थ और कामकी एकत्रता प्राप्त एक ही पद्धतिमें—एक ही समुदायमें—साधारण श्रेणीमें जानेका प्रयत्न करे, और वह प्रयत्न निरासमानसे

- १ धर्मका प्रथम साधन
- २ फिर अर्थका साधन
- ३ फिर कामका साधन
- ४ अन्तमें मोक्षका साधन

७६

बम्बई, पीप सुदी १, १९४६

सन्तुष्टिमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेका उपदेश दिया है । ये चार पुरुषार्थ निम्न दो प्रकारसे समझे जाते हैं —

- १ वस्तुके स्वभावकी धर्म कहते हैं ।
- २ जब और चैतन्यसंबन्धी विचारोंको अर्थ कहते हैं ।
- ३ विद्य-निरोधकी काम कहते हैं ।
- ४ सब बयनोंसे मुक्त होनेकी मोक्ष कहते हैं ।

—ये चार प्रकार सर्वसंग-परिस्वांगीकी अपेक्षासे ठीक ठीक बैठते हैं ।

सामान्य रीतिसे निम्नरूपसे—

धर्म—जो ससारमें अयोग्यतामें गिरनेसे रोककर पकड़कर रखता है वह धर्म है ।

वर्ष—श्रीकर्ममें सहायभूत वैभव, कष्टही आदि सार्वत्रिक साधन वर्ष है ।

काम—नियमित रूपसे लौका सहास करना काम है ।

मोक्ष—सब बन्धनोंसे मुक्ति हो जाना मोक्ष है ।

धर्मको सबसे पहिले रखनेका कारण इतना ही है कि 'वर्ष' और 'काम' ऐसे होने चाहिये

जिनका मूल 'धर्म' हो ।

इसीलिये वर्ष और कामको बादमें रक्खा गया है ।

गृहस्थाश्रमी सर्वेषां सपूर्ण धर्म-साधन करना चाहते तो वह उससे नहीं बन सकता । उस त्यागके लिये तो सर्वस्व-परित्याग ही आवश्यक है । गृहस्थके लिये मित्रा आदि इत्य भी योग्य नहीं हैं ।

और यदि गृहस्थाश्रम—

७७

बम्बई, पौष १९४९

त्रिसंकाशमें आर्य-मैथिलकांशोद्धार उपदेश किये हुए चार आश्रम देशके आनुषंगिक रूपसे वर्तमान थे, उस काष्ठको धर्म्य है ।

चाहें आश्रममें कर्मसे पहिला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थाश्रम, और चौथा सन्यासाश्रम है ।

परन्तु आर्यधर्मके साथ यह कहना पड़ता है कि यदि जीवनका ऐसा अनुक्रम हो तो इनका भ्रम किया जा सकता है । यदि कोई कुछ ही वर्षकी अनुसूचना अनुस्य इन आश्रमोंके अनुसार चलाया जाय तो वह अनुस्य इन सब आश्रमोंका उपभोग कर सकता है । इस आश्रमके नियमोंसे मान्य होता है कि प्राचीनकालमें अकाल मीतें कम होती होंगी ।

७८

बम्बई, पौष १९४९

प्राचीनकालमें आर्यधर्ममें चार आश्रम प्रचलित थे, अर्थात् ये आश्रम-धर्म मुख्यरूपसे फैले हुए थे । परमर्षि नामिपुत्र मारतमें निरर्थक धर्मको जन्म देनेके पहिले उस काष्ठको ओगोंको इसी आश्रमसे व्यवहारधर्मका उपदेश दिया था । कल्पवृक्षसे मनोवर्षिता पदार्थोंकी प्राप्ति होनेका उस समयके ओगोंको व्यवहार कम पड़ता जा रहा था । अर्थात् प्राणी कल्पवृक्षकी देख लिया कि मरता और व्यवहारकी कल्पवृक्ष होनेके कारण, उस ओगोंको कल्पवृक्षकी सर्वथा चेतना होना बहुत दुःखदायक होगा इस कारण प्रभुने उनपर परम कल्याणका लक्ष्य उनका व्यवहारका कम नियत कर दिया ।

जब मगवान् तीर्थकरकर्मस्थ स्थिर कर रहे थे उस समय उनके पुत्र मरतमें व्यवहारधर्मिके लिये उनके उपदेशका अनुसरणकर लक्ष्यकी निशानोद्धार चार वेदोंकी योजना करके । उनमें चार आश्रमोंके भिन्न भिन्न वर्गों तथा उन चारों वर्गोंकी नीति-रीतिका समावेश किया । मगवान् ने जो परमकल्याणसे ओगोंको भविष्य धर्मप्राप्ति होनेके लिये व्यवहार-शिक्षा और व्यवहार-मार्ग बताया था, उसमें मरतकी इस कार्यसे परम सुगमता हो गई ।

इसके ऊपरसे चार वेद, चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थोंके सबधमें यहाँ कुछ विचार करनेकी इच्छा है, उसमें भी मुख्यरूपसे चार आश्रम और चार पुरुषार्थोंके सबधमें विचार करेंगे, और अन्तमें हेयोग्रन्थके विचारके द्वारा ब्रह्म, क्षेत्र, काळ और मासपर विचार करेंगे ।

जिन चार वेदोंमें आर्य-गाहवर्गका मुख्यरूपसे उपदेश दिया गया था, वे वेद निम्नरूपसे थे—

७९

बम्बई, पीप १९४६

प्रयोजन

“ जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त कर सकनेकी इच्छा करते हों उनके विचारोंमें सहायक होना—”

इस वाक्यमें इस पत्रको लिखनेका सब प्रकारका प्रयोजन दिखा दिया है, उसे कुछ न कुछ सहजता देना योग्य है ।

इस अंगत्में भिन्न भिन्न प्रकारके देहधारी जीव हैं तथा प्रत्यक्ष और पर्यक्ष प्रमाणोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें मनुष्यरूपमें विद्यमान देहधारी आत्मायें इन चारों वर्गोंको सिद्ध कर सकनेमें विशेष सक्षम हैं ।

मनुष्य जातिमें जितनी आत्मायें हैं वे सब कहीं समान वृत्तिकी, समान विचारकी, समान अभिजात्याकी और समान इच्छावादी नहीं हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाई देती है । उनमेंसे हर किसीकी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उनमें वृत्ति, विचार, अभिजात्या और इच्छाओंकी इतनी अधिक भिन्न प्रथा मान्य होती है कि बड़ा आश्चर्य होता है । इस आश्चर्य होनेका बहुत प्रकारसे विचार करने पर यही कारण दिखाई देता है कि किसी भी जन्मात्मे के बिना सब प्राणियोंको सुख प्राप्त करनेकी इच्छा रहा करती है, और उसकी प्राप्ति बहुत कुछ अशोभे मनुष्य देहमें ही सिद्ध हो सकती है । ऐसा होनेपर भी वे प्राणी सुखके लोभसे कुछको ही ले रहे हैं, उनकी यह लोभ केवल मोहदृष्टि ही हुई है ।

८०

बम्बई, पीप १९४६

महावीरके उपदेशका पाठ कौन है ?

- १ संपुरुषके चरणोंका इच्छुक
- २ स्थिर सूक्ष्म बोधकी अभिजात्या रखनेवाला,
- ३ गुणोंपर प्रेमभाव रखनेवाला,
- ४ ब्रह्मवृत्तिमें प्रीति रखनेवाला,
- ५ अपने दोषोंको देखते ही उन्हें दूर करनेका उपयोग रखनेवाला,
- ६ प्रत्येक पक्षकी भी उपयोगपूर्वक विचारनेवाला,
- ७ पक्षान्तरासकी प्रशंसा करनेवाला,

८ तीर्थों में प्रवास करनेकी उमंग रखनेवाला,

९ बाहर निहार, और निहारका नियम रखनेवाला,

१० अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

—इन गुणोंसे युक्त कोई भी पुरुष स्वाधीनके सपरिवारका पात्र है— सम्पत्कृत्याका पात्र है ।
किर भी पहिलेके समान एक भी नहीं है ।

८१

बम्बई, पौष १९४६

प्रकाश सुचन

निश्चयसे यह सत्य है । ऐसी ही स्थिति है । हम इस बारे किये—उन्होंने रूपसे इसे कहा है । उससे भिन्न भिन्न प्रकारसे ज्ञान हुआ है और होता है, परन्तु यह विभगरूप है ।

यह बोध सम्पत् है ; तो भी यह बहुत ही सूक्ष्म है, और मोहके दूर होनेपर ही प्राप्त हो पाता है ।

सम्पत् बोध भी सम्पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है, किर भी जो कुछ बचा है वह योग्य ही है ।

ऐसा समझकर वह धाम्य मार्ग ग्रहण करो ।

कारण मत ढूँढो, मग मत करो, लक्ष-विलक्ष न करो । यह तो ऐसा ही है ।

यह पुरुष परार्थ बन्ध था । उनको अपरार्थ कहनेका कुछ भी कारण न था ।

८२

बम्बई, माघ १९४६

कुटुम्बकपी कायकपी कोट्योमी निवास करनेसे संसार कहता है । उसका चिन्ता भी सुधार करो तो भी एकदलप्रसूते चिन्ता संसारका श्रव ही सकता है उसका सौखी भाग भी उस कायकके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता । क्योंकि वह कायकका निमित्त है ; और अनधिकृतसे मोहके रहनेका पर्यंत है । वह प्रत्येक जठर गुस्सेमें जाग्रतमान है । संभव है कि उसका सुधार करनेसे मर्यादा उत्पत्ति हो जाय, इच्छिते नहीं कल्पभागी होना, अल्पव्यसती होना, अल्पपरिचयी होना, अल्पप्रेमवान् दिखाना, अल्प-मानना दिखाना, अल्पसहचारी होना, अल्पगुरु होना, और परिणामका विचार करना, यही वेपत्कर है ।

८३

बम्बई, माघ कदी २ शुक्र सं १९४६

विभगरूपको बड़े हुए परार्थ परार्थ ही है । यही इस समय व्युत्प्रेष है ।

८४

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ शुक्र १९४६

स्वभावसे ही यह है । स्वभावकी स्थितिमें स्वभावका स्वभाव ही है । यह २ को

और दूसरे तुम्हारे समान यहलक लोग धर्मकी इच्छा करते हो; यदि यह सत्यकी अंतरात्माकी इच्छा है
न तो परम कल्याणकर्म है । मुझे तुम्हारी धर्म-अभिलाषाकी यथार्थता देखकर स्तान होता है ।

अनसमझके माम्मकी अपेक्षासे यह काव बहुत ही निकट है । अधिक क्या कहूँ ? इस बातका
क अंतरात्मा जानी ही साक्षी है ।

८५

श्लोक-अलोक रहस्य प्रकाश

(१)

बम्बई, फागुन वर्ष १, १९४६

श्लोकको पुरुषके आकारका वर्णन किया है, क्या तुमने इसके आत्मको कुछ समझा है ? क्या
तुमने इसके कारणका कुछ समझा है, क्या तुम इसके समझानेकी चतुर्मुखीको समझे हो ? ॥ १ ॥

यह उपदेश शरीरको ध्वस्त करके दिया गया है, और इसे ज्ञान और दर्शनकी प्राप्तिके उद्देशसे
दिया है । इसपर मैं जो कहता हूँ वह सुनो, नहीं तो श्लोक-मुद्राका जेना देना ही ठीक है ॥ २ ॥

(२)

क्या करनेसे हम सुखी होते हैं, और क्या करनेसे हम दुःखी होते हैं ? हम स्वयं क्या हैं,
और कहाँसे आये हैं ? इसका शीघ्र ही अपने आपसे जवाब पूछो ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शका है वहाँ संताप है, और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रह सकती । जहाँ प्रभुकी
भक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है, और गुरु भगवान्द्वारा ही प्रभुकी प्राप्ति की जा सकती है ॥ १ ॥

गुरुको पक्षि-चाननेके लिये अंतरागमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और यह वैराग्य पूर्वमात्मके
उदयसे ही प्राप्त हो सकता है । यदि पूर्वकाशीन माम्मका उदय न हो तो वह स्वसंगद्यार मिष्ट सकता
है, और यदि स्वसंगकी प्राप्ति न हुई तो फिर यह किस्ती दुःखके पक्षेपर प्राप्त जाता है ॥ २ ॥

८५

श्लोक अलोक रहस्यप्रकाश

(१)

श्लोक पुरुष संस्थाने बहो पत्नी मेव तमे कई बहो ?

पत्नी करण समाना कई, के समानात्माकी चतुर्मुखी ? ॥ १ ॥

चतुर्मुखी प बहोवा ज्ञान बहो के उद्देश

धर्म जगती सुनिवे तेम बहो कई प बहो केम ॥ १ ॥

(२)

ह करवाही पेटे सुखी ? ह करवाही पेटे दुःखी ?

पेटे सु ? बहो के आर ? पत्नी मागो बहो जगती ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शंका त्या गण संताप ज्ञान तहाँ शंका भक्ति स्वाय,

प्रभुभक्ति तहाँ उत्तम ज्ञान प्रभु भगवान्द्वारा गुरु भगवान् ॥ १ ॥

गुरु व्यसंगवा बह वैराग्य ते उपमा पूर्वित माम्म,

तेम नहीं ही कई स्वसंग तेम नहीं तो कई चतुर्मुख ॥ १ ॥

(४)

सब धर्मोंमें जो कुछ तत्त्वज्ञान कहा गया है वह सब एक ही है, और सम्पूर्ण दर्शनमें यही विशेष है। ये समस्तानेकी शक्तियाँ हैं, इनमें स्वाध्यायीकी भी सत्य है ॥ १ ॥

यदि तुम मुझे मूर्ख-स्थितिके विषयमें पूछो तो मैं तुम्हें योगीको संतो देता हूँ। वह आदिमें, मध्यमें और अंतमें एकरूप है, जैसा कि अन्धेकमें छोक है ॥ २ ॥

उसमें जीव-जनोंके स्वरूपको समझनेसे आसक्तिका मात्र दूर हो गया और हाँका दूर हो गई। स्थिति ऐसी ही है। क्या इसको समझानेका कोई उपाय नहीं है ? “उपाय क्यों मही है” ! जिससे छका न रहे ॥ ३ ॥

यह एक मन्त्र आशय है। इस रहस्यको कोई बिरछा ही जानता है। जब अन्त-ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी यह ज्ञान पैदा होता है; उसी समय यह जीव सब और मुक्तिके रहस्यको समझता है, और ऐसा समझनेपर ही वह सत्ताकीन शोक एवं दुःखको दूर करता है ॥ ४ ॥

जो जीव बंधयुक्त है वह कमसि सहित है, और ये कर्म निश्चयसे पुत्रकृती ही रहना है। पहिले पुत्रकृती जान ले, उसके पश्चात् ही मयुष्य-देहमें ध्यानकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

यद्यपि यह देह पुत्रकृती ही बनी हुई है, परन्तु वास्तविक स्थिति कुछ दूसरी ही है। जब वेद निच स्थिर हो जायगा उसके बाद दूसरा ज्ञान कहीँगा ॥ ६ ॥

(५)

जहाँ राम और हेम हैं वहाँ सदा ही केश मानो। जहाँ उग्रसीमताका वास है वहाँ सब दुःखोंका नाश है ॥ १ ॥

(५)

वे मायो से लपके एक सज्ज दर्शन ए न विशेष
उमझलाना कीकी करी स्वाध्यायसमय एव करी ॥ १ ॥

मूर्ख स्थिति की बुझे मने तो लौपी बरं कोपी कने;
प्रथम जँवने मने एक ओकरस आनेके देख ॥ २ ॥

जीवाजीव स्थितिने बीर्य उज्जो ओलीटी शंकर बीर्य;
धम के स्थिति ला नहीं अपान सफल का मणि ? ” शंकर जय ॥ ३ ॥

ए आशय कने से जय जने जने प्रगटे मान;
उमने बंधयुक्तियुत जीव निरबी उज्जो शोक लगी ॥ ४ ॥

बंधयुक्त जीव कर्म लीट पुत्रकृतीका कर्म लक्षित;
पुत्रकृतीका प्रथम के जय मनेही ली पाये ज्ञान ॥ ५ ॥

जो के पुत्रकृती ए देख तो पन जोर स्थिति ला केह;
उमज्ज बीबी ली कीकी जने विशेष स्थित मने ॥ ६ ॥

(५)

जहाँ राम कने कर्म हेम लक्ष कर्म मानो कने;
उग्रसीमताको कना नाश उमज्ज उज्जो के ला मात ॥ १ ॥

वही तीनों कसक का ज्ञान होता है, और देखके रहनेपर भी वही निर्वाण है । यह दशा सत्तरवीं अंतिम दशा है । इस दशामें जलमाराम स्वप्नाममें आकर बिराजते हैं ॥ २ ॥

८६

बम्बई, फागुन १९४६

हे जीव ! तू जन्ममें मृत पड़, तुझे जितकी बात कहता हूँ ।

सुख तो तेरे अन्तरमें ही है, वह बाहर बूझनेमें नहीं मिलेगा ।

यह अन्तरका सुख अन्तरगामी सुख-भोगमें है उसमें स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका विस्मरण कर; आश्चर्य भूल ।

सम-अपीनमें रहना बहुत दुर्लभ है, क्योंकि जैसे जैसे निमित्त मिश्रते जाते हैं वैसे वैसे कृति पुन पुन बन्धित होती जाती है; फिर भी उसके बन्धित न होनेके लिये अथवा गम्भीर उपयोग रख ।

यदि यह क्रम यथायोग्यरूपसे चलता चला जाय तो तू जीवन स्वाम कर रहा है, इससे भयबाना नहीं, तू इससे निर्मय हो जायगा ।

जन्ममें मृत पड़, तुझे जितकी बात कहता हूँ ।

यह मेरा है, प्रायः ऐसे मानकी मानना न कर ।

यह उसका है, ऐसा मत मान बैठ ।

इसके लिये मरिच्यमें ऐसा करना है, यह नियम करके न रख ।

इसके लिये यदि ऐसा न हुआ होता तो अवश्य ही सुख होता, यह स्मरण न कर ।

इतना इसी तरहसे हो जाय तो अच्छा हो, ऐसा आग्रह मत करके रख ।

इसने मेरे लिये अनुचित किया, ऐसा स्मरण करना न सीख ।

इसने मेरे लिये उचित किया, ऐसा स्मरण न रख ।

यह तुझे अज्ञान निमित्त है, ऐसा विकल्प न कर ।

यह तुझे ज्ञान निमित्त है, ऐसी दृष्टि न मान बैठ ।

यह न होता तो मैं न पैदा होता, ऐसा निश्चय न कर ।

पूर्वकर्म बलवान है, इसीलिये ये सब अवसर मिले हैं, ऐसा एकदम ग्रहण न कर ।

यदि अपने पुरुषार्थको सफलता न हुई हो तो ऐसी निराशाका स्मरण न कर ।

दूसरोंके दोस्ते अपनेको बचन होता है पक्ष न मान ।

अपने निमित्तसे दूसरोंके प्रति लोभ करना भूल जाओ ।

तेरे दोस्त ही तुझे बचन है यह सतर्फी पहिली शिक्षा है ।

दूसरोंको अपना मान लेना, आर स्वयं अपने आपको भूल जाना, वस इतना ही मेरा दाव है ।

सब कर्मन्तु के लिये जन्म देह उन्हीं लोभ के निमित्त;

यस हेतव्यनी छे ए दशा यस भाय मार्जन करता ॥ २ ॥

इन सबमें तेरे प्रति कोई प्रेमभाव नहीं है, फिर भी भिन्न भिन्न स्थानोंमें तू सुख मान बटा है ।
सुख ! ऐसा न कर ।

यह तुझे तेरा दित कहा । तेरे अन्तरमें सुख है ।

अगत्में कोई ऐसी पुस्तक, ऐसा कोई खेस अथवा कोई ऐसी सान्नी नहीं है जो तुझे ही तुमको बता सके कि अमुक ही सुखका मार्ग है, अथवा तुम्हें अमुक प्रकारसे ही बचना चाहिये, अथवा अमुक क्रमसे ही चलेगें, यही इस बातको सूचित करता है कि इन सबकी गतिके पीछे कोई न प्रत्यक्ष कारण अन्तर्हित है ।

१ एक मोमी होनेका उपदेश करता है ।

२ एक मोमी होनेका उपदेश करता है ।

३ इन दोनोंमेंसे हम किसको मानें ?

४ दोनों किसकी उपदेश करते हैं ?

५ दोनों किसको उपदेश करते हैं ?

६ किसकी प्रेरणासे उपदेश करते हैं ?

७ किसीको किसीका, बार किसीको किसीका उपदेश क्यों बज्ज बगता है ।

८ इसके क्या कारण हैं ?

९ उसकी कौन सान्नी है ?

१० तुम क्या चाहते हो ?

११ वह कहीं सिखेगा अथवा वह किसमें है ?

१२ उसे कौन प्राप्त करेगा ?

१३ उसे कहीं होकर आनागे ?

१४ काला कौन सिखानेगा ?

१५ अथवा स्वयं ही सीखे हुए हो ?

१६ यदि सीखे हुए हो तो कहीं सीखे हो ?

१७ और क्या है ?

१८ और क्या है ?

१९ तुम क्या हो ?

२० सब कुछ तुम्हारी इच्छानुसार क्यों नहीं होता ?

२१ उसे कैसे कर सकते हैं ?

२२ तुम्हें बाबा प्रिय है अथवा मिराबावता ?

२३ वह कहीं कहीं और किस किस तरह है ?

इसका निर्णय करो ।

अन्तरमें सुख है । बाहर नहीं । सत्य कहता हूँ ।

हे जीव ! मूळ मत, तुझे सत्य कहता हूँ ।

सुख अंतरमें ही है, यह बाहर खूँड़नेसे नहीं मिलेगा ।

आंतरिक सुख अंतरकी स्थितिमें है, उस सुखकी स्थिति होनेके लिये तू मात्र परार्थसंबंधी आदर्शोंको मूळ ज्ञा ।

उस सुखकी स्थिति खोजनी बहुत ही कठिन है, क्योंकि जैसे जैसे निमित्त मिलते जाते हैं, धीरे धीरे बारबार वृत्ति भी चंचल हो जाया करती है, इसलिये वृत्तिका उपयोग बंद रखना चाहिये ।

यदि इस क्रमको तू यथायोग्य निबद्धता चलेगा तो तुझे कभी हताश नहीं होने पड़ेगा । तू निर्मय हो जायगा ।

हे जीव ! तू मूळ मत । कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रत्न करनेमें, किसीके श्राप चमित होनेमें, अपना मनकी निर्विच्छादके कारण दूसरेके पास ओ तू मंद हो जाता है, यह तेरी मूळ है । उसे न कर ।

८७

बम्बई, फरवरी १९४६

परम सत्य है ।

परम सत्य है ।

परम सत्य है ।

} निराश्रयोंमें ऐसा ही है ।

व्यवहारके प्रसंगको सावधानीसे, मंद उपयोगसे, और समताभावसे निभाते जाना ।

दूसरे सेव कहना क्यों नहीं मानते, यह प्रश्न तेरे अंतरमें कभी पैदा न हो ।

दूसरे सेव कहना मानते हैं, आर यह बहुत ठीक है, तुझे ऐसा स्मरण कभी न हो ।

तू सब तरहसे अपनेमें ही प्रवृत्ति कर ।

जीवन-अजीवन पर समवृत्ति हो ।

जीवन हो तो इसी वृत्तिसे पूर्ण हो ।

जबतक गहवास रहे तबतक व्यवहारका प्रसंग होनेपर भी सम्पत्ति सत्य रहो ।

गहवासमें भी उसीमें ही कष्ट रहे ।

गहवासमें अपने कुटुम्बिकोंको उचित वृत्ति रखना सिखा; सबको समान ही मान ।

उस सम्पत्तिका तेरा काज बहुत ही उचित व्यतीत होओ—

अमुक व्यवहारके प्रसंगका काज,

उसके सिपाय तत्सम्बन्धी कार्यकाज,

पूर्वकर्मोंका काज,

निद्राकाज ।

यदि तेरी स्वतन्त्रता और तेरे क्रमसे तुझे तेरे उपजीवन अर्थात् व्यवसायसंबन्धी संताप हो तो उचित प्रकारसे अपना व्यवहार बदलना ।

यदि उसकी इसके विनाशपूर्वक किसी भी कारणसे सत्तापवृत्ति न रहती हो तो उसे उसके कहे अनुसार प्रवृत्ति करके उस प्रसंगको पूरा करना चाहिये, अर्थात् प्रसंगकी पूर्णावस्थितक प्रेक्षा करनेमें मुझ संशयित न होना चाहिये ।

दोरे व्यवहारसे मे समुप रहें तो उन्मत्त वृत्तिसे नियमब्रह्मावस्थे उलङ्घन भया हो, उसे ऐसा करनेकी सलाहानी रखनी चाहिये ।

८८

वर्ण्य, पैराग्न नदी १९४६

मोक्षार्थप्रतिष्ठित वृत्तसे विवेक नहीं होता, यह ठीक बात है, अन्वया वस्तुतन्मते यह विवेक कथार्थ है । बहुत ही सूक्ष्म अवकाशन रखो ।

१ सम्पत्ते तो सत्य ही रहने दो ।

२ जितना कर सको ततना ही करो । अवश्यता न क्रियाको ।

३ एकनिष्ठ रहो ।

एकनिष्ठ रहो ।

किसी भी प्रसस्त क्रममें एकनिष्ठ रहो ।

बीतरामने क्या ही कहा है ।

हे अहम् । स्वविस्थापक दत्ता प्रसन्न कर ।

इस दुःखको किससे कहे ! और कैसे इसे दूर करें !

अपने आप अपने आपका वैरी है यह कैसी सच्ची बात है ।

८९

वर्ण्य, पैराग्न नदी ४ गुप्त १९४६

आज मुझे अनुपम उच्छास हो रहा है आज पक्का है कि आज मेरा अन्त सफल हो गया है । वस्तु क्या है उसका विवेक क्या है, उसका विवेचक बीज है इस क्रमके लक्ष्य आत्मनेसे मुझे सच्चा मार्ग सादृश हो गया है ॥ १ ॥

९०

वर्ण्य, पैराग्न नदी ४ गुप्त १९४६

होय आत्मना परिस्थिता नहिं इगमें सन्नेह ।

मात्र इष्टिकी मूक है मूक गये मत एहि ॥ १ ॥

रचना त्रिग-उपदेशकी, परमोत्तम तिलु काव ।

इगमें सत्र मन रहत हैं करते निज समाख ॥ २ ॥

८९

आज मने उच्छास अनुपम अन्तर्द्वारा जोन कथारो ।

वास्तव्य वस्तु विवेक विवेक से क्रम रख सुमार्ग कथारो ॥ १ ॥

बिन सो ही है आत्मा, अन्य होई सा कर्म;
 कर्म कहे सो बिनबचन, तखानिको मम ॥ ३ ॥
 जब जाण्यो निजरूपको, तब जान्यो सब लोक ।
 नहि जाण्यो निजरूपको, सब जाण्यो सो फोक ॥ ४ ॥
 एहि पिशाची मूडता, ह माहि बिनपै माय;
 बिनसे पाव विनु कसू, नहि छूटत दुखदाय ॥ ५ ॥
 व्यग्रहारेण देव बिन निहचरे है आप,
 एहि बचनसे समज के, बिनप्रवचनकी छाप ॥ ६ ॥
 एहि नहीं है कल्पना, एही नहीं विमग
 जब जाओगे आत्मा, तब जानोगे रग ॥ ७ ॥

९१

बम्बई, बैसाख की ४ शुक्र १९४६

मारग साधा मिळ गया, छूट गये सन्देह,
 होता सो तो जळ गया, भिन्न किया निज देह ॥ १ ॥
 समज पिछे सब सरळ है, विनु समज मुशकील,
 ये मुशकीली क्या कहूँ ? ॥ २ ॥
 खोज पिंड ब्रह्माण्डका, पता तो छग आप
 देखि ब्रह्माण्ड वासना, जब जाने तब ॥ ३ ॥
 आप आपकु मुख गया, इनसे क्या खेचर ?
 समर समर अब हस्त हैं, नहि मुखेगे फेर ॥ ४ ॥
 जहाँ कल्पना जल्पना, तहाँ मानु दुख डरि
 मिटे कल्पना जल्पना, तब बसू तिन पथ ॥ ५ ॥
 हे जीव ! क्या इच्छत हने है इच्छा दुखमूळ
 जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनारी भूळ ॥ ६ ॥
 एसी कहौंसि भति मरि, आप आप है नाहि ।
 आपनहुँ जब मुख गये, अबर कहौंसि कर्म,
 आप आप ए शोधसे, आप आप मिळ जाय;
 आप मिछन नय आपको; ॥ ७ ॥

९२

बम्बई, बैसाख की ५ शुक्र १९४६

इच्छारहित कोई भी प्राणी नहीं है । उसमें भी मनुष्यप्राणी ता विभिन्न आद्यात्मोसे पिरा हुआ

१. क्या इच्छित ? तोबच खे हैला मी पात्र है । अनुवादक ।

है। जबतक इच्छा और आपा अतृप्त रहती हैं तबतक वह प्राणी जयोतिषि मनुष्य जैसा है। इच्छाओं जय करमेवाया प्राणी ऊर्ध्वगामी मनुष्य जैसा है।

९३

बम्बई वैशाख कदी १२, १९४६

आज आपका एक पत्र मिला। यहाँ समय अनुकूल है। आपके यहाँकी समय-कुशलता चाहता हूँ।

आपको जो पत्र मेरनेकी मेरी इच्छा थी, उसे अधिक विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता होनेसे— तथा ऐसा करनेसे उसकी उपयोगिता भी अधिक सिद्ध होनेसे—उसे विस्तारसे लिखनेकी इच्छा थी, और अब भी है। तथापि कार्योपाधिकी ऐसी प्रवृत्ति है कि इतना शीघ्र आवश्यकता भी नहीं मिलती, नहीं मिल सका और कभी थोड़े समयतक लिखना भी समय नहीं। आपको इस समयके बीचमें यह पत्र मिल गया होता तो बहुत ही अधिक उपयोगी होता तो भी इसके बाद भी इसकी उपयोगिताओं तो आप अधिक ही समझ सकेंगे। आपकी विज्ञापनाओं कुछ शान्त करनेके लिये उस पत्रका संक्षिप्त सार दिया है।

यह आप जानते ही हैं कि इस जन्ममें आपसे पहिले मैं लगभग दो वर्षोंसे कुछ अधिक समय हुआ तबसे गृहस्थाश्रमी हुआ हूँ। जिसके कारण गृहस्थाश्रमी कहे जा सकते हैं उस वस्तुका और मेरा उस समयमें कुछ अधिक परिचय नहीं हुआ था; वो भी उससे परस्परकी कायिक, वाचिक और मनसिक वृत्ति मुझ वयाद्यक्ष बहुत कुछ समझमें आई है और इस कारणसे उसका और मेरा संबंध अत्यन्त-जनक नहीं हुआ। यह बतानेका कारण यही है कि साधारण तारपर भी गृहस्थाश्रमका व्याख्यान देते हुए उस संबंधमें जितना अधिक अनुभव हो उतना अधिक ही उपयोगी होता है। मैं कुछ संस्कारिक अनुभवके उद्दिष्ट होनेके ऊपरसे यह कह सकता हूँ कि मेरा गृहस्थाश्रम अवतक जिस प्रकार असतोषजनक नहीं है उसी तरह वह उचित असतोषजनक भी नहीं है। वह केवल मध्यम है; और उसके मध्यम होनेमें मेरी कुछ उदात्तवृत्ति भी सहायक है।

तत्पश्चात्तकी गुप्त गुप्तका दर्शन करनेपर अधिकतर गृहस्थाश्रमसे विरक्त होनेकी बात ही सूझा करती है; और अल्प ही उस तत्पश्चात्तका विवेक भी इसे प्रगट हुआ था। कष्टकी प्रवृत्ति अनिष्टाके कारण उसका वयाद्यक्ष समारि-संगणी प्राप्ति न होनेसे उस विवेकको महासेदके साथ गीम करना पड़ा। और सचमुच। यदि ऐसा न हो सका होता तो उसका जीवनका ही अंत आ जाता। (उसके अर्थात् इस पत्रके लेखकका)।

जिस विवेकको महासेदके साथ गीम करना पड़ा है उस विवेकमें ही विचित्र प्रसन्न रहा करती है; उसकी बाध प्रभावता नहीं रखी जा सकती इसके लिये अकथनीय खेद होता है। तथापि यहाँ कोई उपाय नहीं है यहाँ सहनशीलता ही सुव्यवस्था है, ऐसी माण्यता होनेसे पुण हो पैदा हूँ।

कभी कभी मेरी और साथी भी कुछ निमित्त होने लगते हैं। उस समय उस विवेकपर किसी तरहका आचरण आता है ता आपका बहुत ही धन्यवादी है। उस समय जीवन रहित होनेकी—

देहत्याग करनेकी—तुम्हें स्थितिकी अपेक्षा अधिक भयंकर स्थिति हो जाती है, परन्तु ऐसा बहुत सम्पत्तिक नहीं रहता, और ऐसा जब रहेगा तो अवश्य ही इस देहका त्याग कर दूंगा। परन्तु मैं असमाधिसे प्रवृत्ति न करूँ, ऐसी अवतककी प्रतिष्ठा बराबर कायम चली आई है।

९४

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ४ गुरु १०४६

हे परिचयी ! तुम्हें मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम अपने आपमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करो। मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा।

तुम मेरे अनुयायी हुए हो, और उसमें सम्मानरके योगसे मुझे प्रबलपद मिला है इस कारण तुमने मेरी आज्ञाका अवलम्बन करके आचरण करना उचित माना है।

और मैं भी तुम्हारे साथ उचितकर्मसे ही व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ, किसी दूसरे प्रकारसे नहीं।

यदि तुम पहिले जीवन-स्थितिको पूर्ण करो, तो चमके किए ही मेरी इच्छा करो। ऐसा करना मैं उचित समझता हूँ, और यदि मैं करूँ तो धर्मपत्रके कर्ममें मर स्मरण रहे, ऐसा होना चाहिये।

हम तुम दोनों ही धर्ममूर्ति होनेका प्रयत्न करें। बड़े हर्षसे प्रयत्न करें।

तुम्हारी गतिकी अपेक्षा मेरी गति अष्ट होगी, ऐसा अनुमान कर लिया है—“मतिमें”।

मैं तुम्हें उसका ज्ञान देना चाहता हूँ क्योंकि तुम बहुत ही निकटके सबबी हो।

यदि तुम उस ज्ञानको उठानेकी इच्छा करते हो, तो दूसरी कलममें कहे अनुसार तुम जल्द करोगे, ऐसी मुझे आशा है।

तुम स्वच्छताको बहुत ही अधिक चाहना, नीतराग-मलिको बहुत ही अधिक चाहना मेरी मलिको मामूली चीरसे चाहना। तुम जिस समय मेरी संगतिमें रहो, उस समय जिस तरह सब प्रकारसे मुझ आनन्द हो उस तरहसे रहना।

विश्राम्यस्ती होओ।

मुझसे विद्यापुत्र विनोदपूर्ण समापन करना।

मैं तुम्हें योग्य ठपेक्षा दूँगा। तुम उससे रूपसपन, गुणसपन और ऋद्धि तथा बुधिसपन होगा। बादमें इस दशाकी देखकर मैं परम प्रसन्न होऊँगा।

९५

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्र १०४६

सुबेरके ६ बजेसे ८ बजे तकका समय समाधिमें बीता था। अज्ञानकी विचार बहुत स्वरूप (चित्तसे बँधे, और मग्न किये थे)।

९६

बम्बई, ज्येष्ठ सु १ १२ शनि १०४६

कछ देशांशकरजी आनबाध है, इसलिये तबस मित्रवित्तित कामको पार्यप्रप्त रक्षित रखने:—

- १ कार्यप्रवृत्ति
- २ संस्कारण साधारण भाषण
- ३ दोनोके अन्तःकरणकी मिश्रित प्रीति
- ४ धर्ममुद्योग
- ५ वैराग्यकी तीव्रता

१७

बम्बई, ज्येष्ठ कदी ११ शुक्र १९४६

तुम अपना अस्तिव्य माननेमें कौनसी शक्ता है। यदि कोई शक्ता है तो यह ठीक नहीं।

१८

बम्बई, ज्येष्ठ कदी १२ शनि १९४६

कल रातमें एक अद्भुत स्वप्न आया जिसमें एक-दो पुरुषोंको इस जगत्की रचनाके स्वरूपका वर्णन किया पछिसे सब कुछ भुलकर बादमें जगतका दर्शन कराया। स्वप्नमें महावीरदेवकी पिछा प्रामाणिक सिद्ध हुई। इस स्वप्नका वर्णन बहुत सुन्दर और चमत्कारपूर्ण था इससे परमानन्द हुआ। अब उसके सबबमें अधिक फिर किन्हींगा।

१९

बम्बई, आपत्त सुदी ३ शनि १९४६

कठिक्काम्ने मनुष्यको स्वार्थपरमण और मोहके बरा कर दिया है।

जिसका इन्ध छुड़ भार सतोंके बताये हुए भासि बध्ता है यह वन्य है।

स्वसंगके बिना चढ़ी हुई आत्म-श्रेणी अधिकतर पतित हो जाती है।

१००

बम्बई, आपत्त सुदी ५ रवि १९४६

अब यह व्यक्तात्मेति म्भण की थी उस समय इसके म्भण करनेका हेतु यह था — “मनिष्काम्यमें जो उपाधि अधिक समय केगी, वह उपाधि यदि अधिक दुःखदायक भी होगी, तो भी उसे थोड़े समयमें भोग केगा, यही अधिक बेपत्कर है।”

ऐसा माना था कि यह उपाधि मिश्रबिम्बित हेतुजोति समाधिकय होगी।

“इस काममें गृहस्थात्मके नियमों बर्तनकी अधिक बातचीत न हो तो अच्छा।”

मझे ही ऐसे मुदिकल समता हो परन्तु इसी क्रमसे चर। निश्चय ही इसी क्रमसे चर। दुःखको सहन करके क्रमको समाप्तकी परिपक्व सहन करके अनुसूच-प्रतिकूल उपसर्गको सहन करके दू अचर रह। आनन्द यह कदाचित् अधिकतर कठिन माइम इत्या परन्तु अन्तमें यह कठिनता तरल हो जायगी। पत्नेमें कैसना मत। बारबार कहता हूँ कि कैसना मत। महक दुःखी होगा, और पथात्तल करेगा। इसकी अपेक्षा अगीसे इन बच्चोंको हृदयमें उतार—प्रीतिपूर्वक उतार।

१ निम्नीक भी दाप न देव। जो कुछ हाता है वह सब तेरे अपने ही दोस्ते होता है, ऐसा मान।

२. दू अपनी (आत्म) प्रशंसा नहीं करना; और यदि करेगा तो मैं समझता हूँ कि दू ही हलका है।

३. जिस तरह दूसरेको प्रिय लगे, उस तरहका अपना आचरण रखनेका प्रयत्न करना। यदि उसमें तुझे एकदम सिद्धि न मिले, अथवा विज्ञ आर्ष, तो भी दू आत्मसे धीमे धीमे उस क्रमपर अपनी निष्ठा स्थापित रखना।

४. दू जिसके साथ व्यवहारमें सम्बन्ध हुआ हो, उसके साथ असुख प्रकारसे व्यवहार करनेका निर्णय करके उससे दूर हो दे। यदि उसे अनुकूल आगे तो ठीक है अन्यथा वह जिस तरह करे उस तरहका दू बर्ताव रखना। साथ ही यह भी कह देना कि मैं आपके कर्पमें (जो मुझे सौंपा गया है उसमें) किसी तरह भी अपनी निष्ठाके द्वारा आपको हानि नहीं पहुँचाऊँगा। आप मेरे विषयमें दूसरी कोई भी शक्ति न करना। मुझे इस व्यवहारके विषयमें अन्य किसी भी प्रकारका भाव नहीं है। मैं भी आपके द्वारा इस तरहका बर्ताव नहीं चाहता। इतना ही नहीं, परन्तु कुछ यदि मन, बचन और कामसे विपरीत आचरण हुआ हो तो उसके विषे मैं पश्चात्ताप करूँगा। बैसा न करनेके विषे मैं पहिलेसे ही बहुत सावधानी रखूँगा। आपका सौंपा हुआ काम करते हुए मैं निरविमानी होकर रहूँगा। मेरी मूल्यके विषे यदि आप मुझे उपाय देंगे, तो मैं उसे स्वीकार करूँगा। जहाँतक मेरा वस चलेगा, जहाँतक मैं स्वप्नमें भी आपके साथ होय अथवा आपके विषयमें किसी भी तरहकी अपेक्ष न करना नहीं करूँगा। यदि आपको किसी तरहकी भी शक्ति हो तो आप मुझे कहें, मैं आपका उपकार माँदूँगा, और उसका सदा स्मरण करूँगा। यदि स्मरण न होगा, तो मैं चुप रहूँगा, परन्तु अत्यन्त न रोझूँगा। केवल आपसे इतना ही चाहता हूँ कि किसी भी प्रकारसे आप मेरे निमित्तसे अशुभ योगमें प्रवृत्ति न करें। आप अपनी इच्छानुसार बर्ताव करें, इसमें मुझे कुछ भी अधिक कहनेकी जरूरत नहीं। मुझे कबल अपनी निवृत्तिमें प्रवृत्ति करने दें, और इस कारण किसी प्रकारसे अपने अंतःकरणकी छेद न करें और यदि छेद करनेकी आपकी इच्छा ही हो तो मुझे अवश्य ही पहिलेसे कह दें। उस योगिका निमित्तकी मेरी इच्छा है इसविषे बैसा करनेके विषे जो कुछ करना होगा वह मैं कर हूँगा। जहाँतक बनेगा जहाँतक मैं आपको कभी कह नहीं पहुँचाऊँगा, और अन्तमें यदि यह निवृत्तिमें भी आपको अप्रिय होगी तो भैसे बनेगा बैस सावधानीसे, आपका पासमें—आपको किसी भी तरहकी हानि पहुँचाये बिना वयाशक्ति कम पहुँचाकर, और इसके बाद भी हमेशाके विषे ऐसी इच्छा रखता हूँ—मैं चक हूँगा।

१०१

मार्च, वैशाख सुदी १ १९४६

(१)

इस उपाधिमें पत्रमें आप यदि मेरा विचार-व्यय-ज्ञान-दर्शन बैसा ही रहा हो—यथार्थ ही रहा हो—तो जूयमर्मा आपका धृष्ट ९ क निम गुरुवारकी रातमें समाधिशील होकर इस धार्मिक जीवनका त्याग करके चले जायेंगे, ऐसा वह ज्ञान सूचित करता है।

(२)

बम्बई, आषाढ सुदी १० १९४९

उपाधिके कारण किमवेहजन्य ज्ञानमें थोड़ा बहुत फेरफार हुआ मात्स्य दिया । पवित्रात्मा गूढ-मर्त्यके उपरोक्त स्थितिमें परन्तु दिनमें स्वर्गवासी होनेकी आज खबर मिली है ।

इस पावन आत्माके गुणोंका क्या स्मरण करें ! जहाँ विस्तृतिको जगद्वारा नहीं, वहाँ सृष्टिको होना कैसे माला जाय !

(३)

देहधारी होनेके कारण इसका जैविक नाम ही सत्य था; यह आत्म-दत्तारूपसे तथा वैज्य ही था ।

उसकी मिथ्या बन्धना बहुत क्षीण हो गई थी; यह नीतरामका परम रागी था, संसारसे परम सुगुप्ति था; भक्तिकी प्रधानता उसके अंतरंगमें सदा ही प्रकाशित रहा करती थी, सम्पूर्ण-मात्रपूर्वक वेदनीयकर्मके अनुष्ठान करनेकी उसकी अद्भुत समता थी; मोहनीयकर्मकी प्रवृत्ता उसके अंतरमें बहुत क्षुब्ध हो गई थी; सुमुमुक्षुता उसमें उत्तम प्रकारसे दैवीभ्यमान हो उठी थी; ऐसे इस गूढात्मर्त्यकी पवित्रात्मा आज जगत्के इस भागका त्याग करके चली गई है । यह छहचारिमंति मुख हो गई है । धर्मके पूर्ण आम्हावमें उसकी अचानक ही आयु पूर्ण हो गई ।

(४)

अरे ! इस कालमें ऐसे भर्मात्माका जीवन छोड़ना होना, यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं । ऐसे पवित्रात्माकी स्थिति इस कालमें कहाँसे हो सकती है ! दूसरे साधियोंके ऐसे भाग्य कहाँ कि उन्हें ऐसे पवित्रात्माके दर्शनका काम अधिक काव्यकत मिलता रहे ! जिसके अंतरमें मोहमार्गको देन बाधा सम्पत्क प्रकाशित हुआ था, ऐसे पवित्रात्मा गूढात्मर्त्यको भगस्कार हो ! भगस्कार हो !

१०२

बम्बई, आषाढ सुदी ११ १९४९

(१) उपाधिकी विशेष प्रवृत्ता रहती है । यदि जीवन-कालमें ऐसे किसी योगके आनेकी समाप्ति हो तो मीनसे—उदासीममात्से—प्रवृत्ति कर लेना ही वैयस्कर है ।

(२) भगवत्की पाठके नियमों सहित मुमुक्षुता नीचे दिया जाता है —

सुह जीर्ण पशुधं अनारंभी; असुह जीर्ण पशुधं आयारंभी परारंभी तदुभयारंभी ।

अहमा शुभ योगकी अपेक्षासे अनारंभी; तथा अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारंभी, परारंभी, और तदुभयारंभी (आत्मारंभी और अनारंभी) होती है ।

यहाँ शुभका अर्थ पारिणामिक शुभ लेना चाहिये ऐसी मेरी दृष्टि है । पारिणामिक अर्थात् त्रिष परिणामसे शुभ अथवा नैसा चाहिये बैसा रहना ।

यहाँ योगका अर्थ मन चयन और कथा है । (मेरी दृष्टिसे ।)

रात्मकारका यह व्याख्यान करनेका मुख्य हेतु यथार्थ बलु दिखाने और शुभ योगमें प्रवृत्ति करनेका रहा होगा, ऐसा मैं समझता हूँ । पाठमें बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया गया है ।

(३) तुम मेरे मित्रपत्नी झुका करते हो, परन्तु यह किसी अनुचित काष्ठाका उदय आया है, इसलिये अपने मित्रपत्नी से मैं तुमको भेजकर हो सँभूता ऐसी बहुत ही कम आशा है ।

निम्नोक्त पत्रार्थ उपदेश किया है ऐसे भीतरागने उपदेशमें तत्पर रहो, यह मेरा विनयपूर्ण पत्र दोनों माहयोंसे और दूसरोंसे अनुरोध है ।

मोहाधीन मेरी आत्मा बाह्योपाधिसे किरानी तरङ्गसे घिरी हुई है, यह सब तुम जानते ही हो, इसलिये अधिक क्या लिखूँ ?

अभी इसमें तो तुम अपनेसे ही धर्म-शिक्षा जो, योग्य पत्र बनो, मैं भी योग्य पत्र बनूँ, अधिक फिर देखेंगे ।

१०३ बम्बई, आगस्ट सुदी १५ शुच १९४६

(१) यद्यपि कि सत्यपरायणके स्वर्गवाससूचक शब्द गयकर हैं किन्तु ऐसे धर्मोके जीवनका जन्म होना कष्टके सदा नहीं होता । धर्म-इच्छुकके ऐसे अनन्य सहायकता रहने देना, मायादेवीको योग्य न ख्या । काष्ठाकी प्रकृति इतिहे इस आश्रमके—इस जीवनके—इससमय विद्यात्मको लीच किया । इन्द्रियसे शोकका कोई कारण नहीं दीखता तथापि उनके उत्तमोत्तम गुण शोक करनेको बाध्य करते हैं । उनका बहुत अधिक स्मरण होता है अधिक लिख नहीं सकता ।

सत्यपरायणके स्मरणार्थ यदि हो सक्ता तो एक शिक्षा-प्रय लिखनेका विचार कर रहा हूँ ।

(२) “ आहार, विहार और निहारसे नियमित ” इस वाक्यका संक्षेप अर्थ यह है —

निसमें योगदशा आती है, उसमें ब्रह्म आहार, विहार और निहार (शरीरकी मक्के त्याग करनेको क्रिया), ये नियमित अर्थात् वैसी चाहिये वैसी—आत्माको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचानेवाली—क्रियासे प्रवृत्ति करनेवाला ।

धर्ममें संकल रहो यही बारबार अनुरोध है । यदि हम सत्यपरायणके मार्गका सेवन करेंगे तो अवश्यमेव सुखी होने और पार पायेंगे, ऐसी मुझे आशा है ।

उपाधिप्रस्ता रायचन्दका यथायोग्य

१०४ बम्बई, आगस्ट बनी ४ रवि १९४६

विद्याससे प्रवृत्ति करके अन्यथा वर्तन करनेवाला आज पश्चात्ताप करता है ।

१०५ बम्बई, आगस्ट बनी ७ मीम १९४६

निरंतर निर्मयपत्नीसे रहित ऐसे इस अतिरुम ससारमें भीतरागता ही अन्यथा करने योग्य है । निरंतर निर्मयपत्नीसे विचरता ही भेजकर है, तथापि काष्ठाकी और कर्मकी विविधतासे पराधीन होकर यह... करते हैं ।

त्रिंशत् माहस्य अपार है, ऐसी तीव्रकरेवकी बाणी-श्री मणि करी ।

१०६

बम्बई, आगस्ट वरी ११ शनि १९४९

(१) जिसका कोई अस्तित्व विद्यमान नहीं है, उसे बिना मींगिक इस जगत्से ता रेखो ।

बम्बई, आगस्ट वरी १२ रवि १९४९

(२) यदि ऐसी स्वप्न करो कि जिसमें मृतमते सूत्र गेय भी दिग्दर्श नहीं हैं, और उन्हें देखते ही वे क्षय किये जा सकें ।

१०७ बम्बई (नागदेवी) आगस्ट वरी १२ रवि १९४९

इसके साथ आपकी योगवासिष्ठ पुस्तक भेज रहा हूँ । उपाधिका तप शमन करनेके लिये यह शक्ति बंदन है इसके पड़ते हुए आधि-व्याधिका आगमन संभव नहीं । इसके लिये मैं आपको उपकार मानता हूँ ।

आपके पास कभी कभी जानेमें भी एक इसी नियमकी ही विज्ञाता है । बहुत बर्षोंसे आपके अत-करणमें बस करती हुई ब्रह्मविद्याका आपके ही मुखसे अणु मिले, तो अपूर्व शांति हो । किसी भी मार्गसे कल्पित ब्रह्मनामोंका नाश करके ब्रह्मयोग्य स्थिति की प्राप्ति के सिवाय दूसरी कोई भी इच्छा नहीं है; परन्तु व्यवहारके संबंधमें बहुतसी उपाधियाँ रहती हैं, इसलिये सुखसागमका जितना अवकाश चाहिये उतना नहीं मिलता । तथा मैं समझता हूँ कि आप भी बहुतसे कारणोंसे उतना समय देनेमें असमर्थ हैं और इसी कारणसे बारबार अत-करणकी अंतिम हृत्ति आपको नहीं बता सकता तथा इस संबंधमें अधिक बातचीत भी नहीं हो सकती । यह एक पुण्यकी स्थिति ही है, इससे क्या ?

व्यवहारिक संबंधमें आपके संबंधसे किसी तरहका भी लाभ उठानेकी स्थिति में हस्त नहीं की; तथा आपके समान हृत्सेसे भी इसकी इच्छा नहीं की । एक ही जगत् और यह भी योर्गे ही कष्टका उते प्रारम्भानुसार बिना रेखेमें दीनता करना उचित नहीं; यह निश्चयसे प्रिय है । स्वयं-मात्रसे आचरण करनेकी अभ्यास-प्रणालिका कुछ (योर्गेसे) बर्षोंसे आरम्भ कर रखी है, और इससे निहृदिकी वृद्धि हो रही है । इस बातको यहाँ बतानेका इतना ही हेतु है कि आप साक्षात्कृत हों; तपस्वी पूर्णरूपसे भी स्वयं-कृत रहनेके लिये जिस हेतुसे मैं आपको और देखता हूँ उसे कह दिया है; और यह सन्देशहीनता संसारसे उपासीनमात्रको प्राप्त दयाकी सहायक होगी, ऐसा मान्य होनेसे (कहा है) ।

योगवासिष्ठके संबंधमें (प्रसंग मिलनेपर) आपसे कुछ कहना चाहता हूँ ।

वैदिककालके बादसे ही मोक्ष है, इस गान्ध्याको अवस्था बहुत समयसे गूढ़ चुकी है । मुक्त-मात्रमें (!) ही मोक्ष है ऐसी मेरी धारणा है; इसलिये निवेदन है कि बातचीतके समय आप कुछ अधिक कहते हुए न सकें ।

१०८

मार्च, १९४६ आगत

जिस पुस्तकके पढ़नेसे उदासीनता, वैराग्य अथवा चित्तकी स्वस्थता होती हो, ऐसी कोई भी पुस्तक पढ़ना; ऐसी पुस्तक पढ़नेका विशेष परिचय रखना जिससे उसमें योग्यता प्राप्त हो।

धर्म-कथा लिखनेके विषयमें जो किताबें, तो वह धार्मिक-कथा मुख्यतः तो सप्तसर्गमें ही आ जाती है। इन्हीं पुस्तकके होनेसे इस कालमें सप्तसर्गका माहुर्य भी जीवके ध्यानमें नहीं आता, तो फिर धन्याय-मार्गके साधन फलित हो सकते हैं। इस बातकी तो बहुत बहुतसी क्रियाएँ आदि करने-वाले जीवकी भी खबर हो, ऐसा माहुर्य नहीं होता।

त्वामने योग्य स्वच्छदाचार आदि कारणोंमें तो जीव इतिपूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है; और जिसका अभाव करना योग्य है, ऐसे कारणतन्त्र संप्रत्यक्ष प्रसिद्ध जीव मानो निमुखताका अथवा अविश्वसनीयताका आचरण कर रहा है। और ऐसे असंशयियोंके साक्षात्सम्पर्क किसी किसी मुमुक्षुकी भी रहना पड़ता है। उन इन्हीं विषयोंमें तुम और मुनि आदि भी किसी किसी वंशसे मिले जा सकते हैं। असंशय और स्वेच्छासे आचरण न हो अथवा उनका अनुसरण न हो, ऐसे आचरणसे अविवृत्ति रखनेका विचार रख रहना ही इसका सुगम साधन है।

१०९

मार्च, १९४६ आगत

पूर्वकर्मका उदय बहुत विविध है। अब अवृत्ति आगे बढ़ीसे प्रमाद हुआ समझना चाहिये।

समय उससे आरम्भ उससे कर्मका रूप होता है। उसमें मुख्य हेतु रोग-द्वेष ही हैं। उससे परिणाममें अधिक फलदायक होता है।

शुद्ध योगमें कभी हुई आत्मा अमरानी है असुख योगमें कभी हुई आत्मा आरामी है; यह वाक्य धीरकी मगधवाणी है; इसपर मनन करना।

परस्पर ऐसे होनेसे धर्मकी मूर्छा हुई आत्माको स्थितिमें योगपदका स्मरण होता है। कर्मकी बहुलताके योगसे एक तो पञ्चमहात्म्ये उपलब्ध हुए, परन्तु किसी एक धर्म उपलब्ध जो योग मिठा है वैसे धर्मबोधका योग बहुत ही योगी आत्माओंको मिश्रता है; और वह इतिपर होना बहुत ही कठिन है। ऐसा योग केवल संप्रत्यक्षोंकी हयाधिनि है; यदि अत्यन्तकर्मका योग होगा तो ही यह मिश्र सकेगा। इसमें सशय नहीं कि जिस पुण्यको साधन मिले हो और उस पुण्यको धुमोदय भी हो तो यह निश्चयसे मिश्र सकता है; यदि फिर भी न मिले तो इसमें बहुत कर्मका ही दोष समझना चाहिये।

११०

मार्च, १९४६ आगत

धर्मध्यान अत्यन्त ही, यही आत्म-हितका मार्ग है। जिसका सकल-विकल्पोंसे रहित होना, यह महावीरका मार्ग है। अविश्वमात्रमें रहना, यह विवेकीका कर्तव्य है।

१११

बनानीजा, मा बदी ५ मीम १९४६

(नं) नं (नं) नं दिसं इच्छा (तं) न (तं) नं दिसं अपदिबदे

जो जिस जिस दिशाकी ओर जानेकी इच्छा करता है, उसके छिपे वह वह दिशा अप्रतिबन्ध
अर्थात् खुली हुई है । (उस रोक नहीं सकती ।)

जबतक ऐसी दशाका अभ्यास न हो, तबतक यथार्थ त्यागकी उत्पत्ति होना कैसे सम्भव हो
सकता है ? पौष्टिक रचनसे आत्मको स्तम्भित करना उचित नहीं ।

११२

बनानीजा, आखण बदी १३ बुध १९४६

आत्म मर्तृतरसे उत्पन्न हुआ पहिला पर्युषण आरंभ हुआ । अगले मासमें दूसरा पर्युषण आरंभ
होगा । सम्यक्-दृष्टिसे मर्तृतर दूर करके देखनेसे यही मर्तृतर हटाने कामका कारण है, क्योंकि हस्ते
हुनुना धर्म-सम्पादन किया जा सकेगा ।

चित्त गुच्छने योग्य हो गया है । कर्म-रचना विधित है ।

११३

बनानीजा प्र भाद्र सुदी ३ सोम १९४६

(१) आपके दर्शनोच्छा काम मिछे हुए अगमग एक माससे कुछ ऊपर हो गया है । बम्बई
छोड़े एक पक्ष हुआ ।

बम्बईका एक बर्षका निवास उपाधि-भाद्रा रहा । समाधिस्थ तो एक व्यपका समानाग ही या
वीर उसका भी वैसा चाहिये वैसा काम प्राप्त न हुआ ।

सबसुख ही शान्तिपोद्गात करपना किया हुआ यह कश्चित् ही है । अनसमुदायकी वृत्तियों
विषय-कषाय आदिसे विषमताका प्राप्त हो गई है । इसकी प्रवृत्ता प्रत्यक्ष है । उन्हें राजसी वृत्ति
अनुकरण प्रिय हो गया है । तात्पर्य-विशेषियोंकी ओर योग्य उपशम-यात्रोंकी तो सम्या तक भी नहीं
मिळती । ऐसे विषमताकर्में अग्यी हुई यह देखवारी आत्मा अनादिकाकर्मों परित्यक्तकी प्रवृत्तको
उत्तरने निश्चिन्ता छेनेके छिपे आर्ष्य थी, किन्तु उन्नी अविवर्तितमें कैस गई है । मानसिक चिन्ता नहीं
भी नहीं नहीं ना सकती । बिनासे इसे वह सके ऐसे पात्रोंकी भी कमी है । क्यों अब क्या करें ?

पश्चिम पथामेय उपशममात्रको प्राप्त आत्मा ससार और मोक्षपर समग्रति रखती है, अर्थात्
यह अप्रतिबन्धकसे निरुत सकती है परन्तु इस आत्माको तो अभी यह दशा प्राप्त नहीं हुई । हाँ,
उसका अभ्यास है; तो फिरउसके पास यह प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी ?

जिसको प्राप्त करनेमें आचारी है उसको उद्धार कर जाना ही मुख्यतमक है और इसी तरहका
आचरण कर भी रक्का है परन्तु जीवन पूर्ण होनेके पहिले पथामेय रीतिसे मोक्षकी दशा आनी
चाहिये —

१ मन बचन और कथने आत्माका मुख्य-मात्र ।

२ मनकी उदासीनकसे प्रवृत्ति ।

३ वचनका स्वाग्रहपना (निराग्रहपना) ।

४ कल्याणकी वृक्ष-दशा (आहार विहारकी नियमितता) ।

अपना सब सेदेहोंकी निवृत्ति, सर्व भयका छूटना; और सर्व अज्ञानका नाश ।

सतने अनेक प्रकारसे शास्त्रोंमें उसका मार्ग बताया है, साधन बताये हैं, और योगादिसे उपपन्न हुआ अपना अनुभव कहा है, फिर भी उससे यथायोग्य उपशमभाव आना दुर्लभ है । यह तो मार्ग है, परन्तु उसके प्राप्त करनेके लिये उपपन्नकी स्थिति बलवान् होनी चाहिये । उपपन्नकी कल्याण स्थिति होनेके लिये निरंतर ससुग चाहिये, और यह नहीं है ।

(२) शिष्टाचारमेंसे ही इस दृष्टिके उदय होनेसे किसी भी प्रकारका परमापाका अभ्यास नहीं हो सका । अमुक सम्प्रदायके कारण शास्त्राभ्यास न हो सका । उसारके बंधनसे उद्यापोद्वाभ्यास भी न हो सका, और यह नहीं हो सका इसके लिये कैसा भी केद या चिन्ता नहीं है, क्योंकि इनसे अहमा और भी अधिक विकल्पमें पड़ जाती (इस विकल्पकी बातको मैं उसके लिये नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे ही कहता हूँ) और विकल्प आदि वेशका तो नाश ही करनेकी इच्छा की थी, इसलिये जो हुआ वह कल्याणकारक ही हुआ परन्तु अब जिस प्रकार महत्तुभाव वसिष्ठमगवान्ने श्रीरामको इसी दोषका विस्मरण कहा था, वैसा अब कौन करे ? अर्थात् मायाके अभ्यासके बिना भी शास्त्रका बहुत कुछ परिचय हुआ है, धर्मके व्यवहारिक बातोंका भी परिचय हुआ है, तथापि इससे इस आत्माका आनन्दभरण दूर हो सके, यह बात नहीं है, एक सम्संगके सिवाय और योग-समाधिके सिवाय उसका कोई उपाय नहीं ! अब क्या करें ?

इतनी बात भी कहनेका कोई स्यात्त स्पष्ट न था । भागवतके उक्तसे आप मिले, जिसके रोम रोममें यही इच्छा है ।

(३) कल्याणकी नियमितता ।

वचनका स्वाग्रहपना ।

मनकी उन्मत्तीनता ।

आत्माकी मुक्तता ।

—यही अन्तिम समस्त है ।

११४

वाराणसी, प्रथम भाद्र सुदी ४, १९४९

आजके पत्रमें, मतांतरसे दुगुना लाभ होता है, ऐसा इस पर्युषण वर्षको सम्पूणदृष्टिसे दम्नेपर मान्य हुआ । यह बात अच्छी बनी, तथापि यह दृष्टि कल्याणके लिये ही उपयोगी है । समुदायके कल्याणकी दृष्टिसे दम्नेसे दो पर्युषणोंका होना अनुपम है । प्रत्येक समुदायमें मतांतर करने न चाहिये, किन्तु धर्म ही चाहिये ।

११५

बनानीया, प्रथम माघपूजा सुदी ६, १९४६

प्रथम सुषुप्तिसे केकर आजके दिनतक यदि किसी भी प्रकारसे मेरे मन, बचन और कायाके किसी भी योगाध्यवसायसे दुम्हारी अभिनय, आशातना और असमाधि हुई हो, तो उसका छिये मैं पुन पुन आपसे क्षमा माँगता हूँ।

अच्छाजिसे स्मरण करनेपर ऐसा कोई भी काज मायूस नहीं होता, अपना याद नहीं पड़ता कि जिस काकमें, जिस समकमें इस जीवने परिभ्रमण न किया हो, सकल्प-विकल्पका रत्न न किया हो, और इससे 'समाधि' को न भूल गया हो निरंतर यही स्मरण रहा करता है, और यही स्मरण-वैद्यको पैदा करता है।

फिर स्मरण होता है कि इस परिभ्रमणको केवल स्वच्छदत्तसे करते हुए इस जीवको उपासीतया क्यों न करें ! दूसरे जीवोंके प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, क्रोध करते हुए अपना कल्पना प्रकारसे बतान करते हुए, यह सब अनिष्ट है इसे योग्य रीतिसे क्यों न जाना ! अर्थात् इस तरह जानना योग्य था तो भी न जाना, यह भी परिभ्रमण करनेका वैद्यको पैदा करता है।

फिर स्मरण होता है कि जिसके बिना मैं एक पक्ष्मर भी नहीं जी सकता, ऐसे बहुतसे पक्ष्मर (बी आदि) को अनन्तवार छोड़ते हुए, उनका वियोग होते हुए अनन्त काज हो गया तथापि उनके बिना जीता रहा यह कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं। अर्थात् जब जब वैसा प्रीतिमान किया था तब तब यह केवल कल्पित ही था ऐसा प्रीतिमान क्यों हुआ ! यह विचार फिर फिरसे वैद्यको पैदा करता है।

फिर जिसका मुल कमी भी न देखें, जिसे मैं कमी भी ग्रहण न करूँ, उसीके घर पुत्ररूपमें, कन्यारूपमें दासरूपमें दासीरूपमें माला जंतुरूपमें मैं क्यों जन्मा ! अर्थात् ऐसे द्वेषसे ऐसे रूपमें मुझे जन्म क्या पड़ा ! और ऐसा करनेकी तो विवशता भी हुआ नहीं थी ! तो कहो कि ऐसा स्मरण होनेपर क्या इस डेचित आत्मापर प्रभुमुखा नहीं आती ! बकर आती है।

अधिक क्या करें ! एवम् किन किन भयंकरोंमें भक्तिपनेसे भ्रमण किया, उनका स्मरण होनेसे अब कैसे छिये यह बिता नहीं हो पाई है। फिर कमी भी जन्म न खना पड़े बाद फिर इस तरह न करना पड़े आत्मामें ऐसी दृष्टता पैदा होती है परन्तु बहुत कुछ लाचारी है, यही क्या करें !

जो कुछ दृढ़ता है उसे पूर्ण करना—अक्षय पूर्ण करना, वस यही रत्न खरी है, परन्तु जो कुछ भ्रम आता है उसे एक ओर हटाना पड़ता है, अर्थात् उसे दूर करना पड़ता है और उसमें ही सब काज चला जाता है सब जीवन चला जाता है अनन्तक पथाध्याय जय न हो उस सम्पत्तक इसे न जाने देना ऐसी दृष्टता है। उसके छिये अब क्या करें !

परि करावित् किनी रीतिसे उसमेंका कुछ करत भी हैं तो एसा स्थान कहाँ है कि यही आकर रहे ! अर्थात् संत कही हैं कि यही आकर इस दशामें बैठकर उसकी पुष्टता प्राप्त करें ! तो अब क्या करें !

“कुछ भी हो, कितने ही दुःख क्यों न पड़ें, कितनी भी परिपक्व क्यों न सहन करनी पड़ें, कितने ही उपसर्ग क्यों न सहन करने पड़ें, कितनी ही व्यापियों क्यों न सहन करनी पड़ें, कितनी ही आपियों क्यों न आ पड़ें, कितनी ही आपियों क्यों न आ पड़ें, चाहे जीवन-कष्ट कष्ट एक समयका क्यों न हो, और कितने ही दुर्निमित्त क्यों न हों, परन्तु ऐसा ही करना ।

हे जीव ! ऐसा किये बिना सुत्कार्य नहीं” —

इस तरह मेघपयसे उच्चर मिथ्या है, और वह योग्य ही मायूम होता है ।

क्षण क्षणमें पकटनेवाली स्वभाववृत्तिकी आवश्यकता नहीं, अमुक कालतक शून्यके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो अमुक कालतक सतोंके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं, यदि वह भी न हो तो अमुक कालतक सस्रोंके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो आर्याचरणके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं, यदि वह भी न हो तो वेदमन्त्रिमें अति शुद्धमात्रसे जीव हो जानेके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं यदि वह भी न हो तो फिर मॉर्गनेकी भी इच्छा नहीं । (आर्याचरण—आर्य पुरोहितों द्वारा किये हुए आचरण) ।

समसे बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं ।

संसारके बिना ध्यान तरंगमय हो जाता है ।

संतके बिना अतिम बातका अंत नहीं मिथ्या ।

छोक-सुझाते छोकके अग्रमें नहीं आ सकते ।

छोक-त्यागके बिना वैराग्यकी मयायोग्य स्थिति पाना दुर्लभ है ।

११६ वषाणीआ, प्र भाद्र सुदी ७ शुक्र १९४६

बंध्य क्षयादि स्थितियोंमें सहनकी हुई उपाधिके कारण, तथा यहाँ जानेके बाद पक्व आधिक अभाव (न होना), और दुष्टताकी अभियत्ताके कारण जैसे बनेगा वैसे उस तरह शीघ्र ही आऊँगा ।

११७ वषाणीआ, प्र भाद्र सुदी ११ मंग १९४६

कुछ वर हुए जन-करणमें एक महान् इच्छा रहा करती है; जिसे किसी भी स्तरपर नहीं कहा, जो नहीं कहा जा सकी नहीं कहा जा सकती; और उसको कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है । अथवा महान् परिश्रमसे ही उसमें सफलता मिल सकती है, तथापि उसका लिए बिना चरित्र उतना परिश्रम नहीं होगा, वह एक आश्चर्य और प्रमादीयता है ।

यह इच्छा स्वाभाविक ही उत्पन्न हुई थी । अतएव वह प्रायः रीतिपूर्वक न हो तबतक अपना समाधिस्थ होना नहीं चाहती, अथवा समाधिरूप न हो सकेगी । यदि कभी अवसर आवेगा तो उस इच्छाकी छाया बनानेका प्रयत्न करेंगी ।

इस इच्छाके कारण जीव प्रायः विडम्बना-रूपमें ही जीवन व्यतीत करता रहता है । यद्यपि वह विडम्बना-रूप ही कल्याणकारक ही है; तथापि दूसरोंके प्रति उतनी ही कल्याणकारक होनामें वह कुछ कमीपड़ी है ।

जल-करणसे उदय हुई वनेक उर्मियोंको बहुतबार समागममें मिले तुम्हें बतार्त है। और उन्हीं पुन-
कर उनको कुछ अशोमें धारण करनेकी तुम्हारी इच्छा देखनेमें आई है। मैं फिर अनुरोध करता हूँ
कि बिना बिना स्थलोंपर उन उर्मियोंको बताना हो, सम उन स्थलोंमें जानेपर फिर फिर उनका अधिक
स्मरण व्यक्त करना।

वज्रपा है।

वह वैसी हुई है।

वह कर्मकी कर्ता है।

वह कर्मकी मोक्ष है।

मोक्षका उपाय है।

वज्रपा उसे सिद्ध कर सकती है।

—ये सब महाप्रवचन है, इनका निरंतर मनन करना।

प्रायः ऐसा ही होता है कि दूसरेकी निबटनाका अनुग्रह नहीं करते हुए अपन अनुग्रहकी ही
इच्छा करनेवाला जय मही पाता इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुमने जो वारम्बारके अनुग्रहमें छिपे कर्माई है
उसकी दृष्टि करते रहो और इससे परका अनुग्रह भी कर सकोगे।

धर्म ही जिसकी अस्ति और धर्म ही जिसकी मर्यादा है, धर्म ही जिसका रुधिर है, धर्म ही
जिसका आसिप है, धर्म ही जिसकी लज्जा है, धर्म ही जिसकी इन्द्रियों है, धर्म ही जिसका कर्म है,
धर्म ही जिसका चरणा है धर्म ही जिसका बैठना है धर्म ही जिसका खड़ा खाना है, धर्म ही जिसका
शयन है, धर्म ही जिसकी जगति है, धर्म ही जिसका आहार है, धर्म ही जिसका निहार है, धर्म ही
जिसका निहार (१) है धर्म ही जिसका निरूपण है, धर्म ही जिसका सङ्कल्प है धर्म ही जिसका सर्वज्ञ
है उसे पुरुषकी प्राप्ति होगा दुर्लभ है; और वह मनुष्य-नेहमें ही परमात्मा है। इस दशाकी क्या हम
इच्छा नहीं करते ! इच्छा करते हैं, तो भी प्रमाण और अवस्थाके कारण उसमें छिपे नहीं देते।

आत्म-भावकी दृष्टि करना और देह-भावको घटाना।

११८ (मोरनी) बेतार, प्र भाग कदा ५ बुध १०१९

भागवतीम्नूत्रके पाठके सम्बन्धमें मुझे तो दोनोंके ही अर्थ ठीक लगते हैं। बाक-दोनोंकी अपेक्षासे
उपानिषद्के अर्थ हितकारक है; और मुमुक्षुओंके लिये तुम्हारा कथना किया हुआ अर्थ हितकारक
है; तथा संतोके लिये दोनों ही हितकारक है। जिससे मनुष्य ज्ञानके लिये प्रयत्न करे, इसके लिये
ही इस स्पष्टपर प्रत्याख्यानको दुष्टप्रत्याख्यान कहा गया है। यदि ज्ञानकी प्राप्ति वैसी चाहिये वैसी न
हुई हो तो जो प्रत्याख्यान किया है वह दण आदि गति देकर संसारका ही कारण होता है, इस-
लिये इसे दुष्टप्रत्याख्यान कहा परन्तु इस अग्रह ज्ञानके बिना प्रत्याख्यान विरुद्ध भी करना ही नहीं,
ऐसा कहना ही तीर्थकरकेका अभिप्राय नहीं है।

प्रत्याम्नान आदि क्रियाजोसे ही मनुष्यत्व मिष्टता है; उष गोत्र और आपदेशमें जन्म मिष्टता है, और उसके बाद ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिये ऐसी क्रियाको भी ज्ञानकी साधनभूत समझनी चाहिये।

११९ वर्णाश्रम, प्र मात्र वरी १३ सुक्र १९४६

सृणुपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका

स्रुणुपोंका क्षणभरका भी समागम ससाररूपी समुद्रको पार करनेमें नौकरूप होता है—यह वाक्य महात्मा डॉक्टरचार्यजीका है। और यह यथार्थ ही माझूम होता है। अतःकरणमें निरतर ऐसा ही आया करता है कि परमार्थरूप होना, और अनेकोंको परमार्थके साध्य करनेमें सहायक होना, यही कर्तव्य है, तो भी अभी ऐसे योगका समागम नहीं है।

१२० वर्णाश्रम, द्वितीय मात्र सुदी २ भाग १९४६

यहाँ जो उपाधि है, वह एक अमुक कामसे उत्पन्न हुई है, और उस उपाधिके छिये क्या होगा ऐसी कोई कल्पना भी नहीं होती, अर्थात् उस उपाधिके सबधमें कोई चिन्ता करनेकी वृत्ति नहीं है। यह उपाधि कठिनायके प्रसंगसे एक पक्षिकी सगतिसे उत्पन्न हुई है, और उसके छिये जैसा होता होगा, वह सोचें काळमें हो खेगा। ऐसी उपाधिका इस ससारमें जाना, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

ईश्वरपर विश्वास रखना यह एक सुखदायक मार्ग है। जिसका इस विश्वास होता है, वह दुःखी नहीं होता अपना दुःखी हो भी तो वह उस दुःखका अनुभव नहीं करता, उसे दुःख उकटा सुखरूप हो जाता है। आत्मेश्वर ऐसी ही रहती है कि ससारमें प्रारम्भके अनुसार चाहे किसी भी तरहका शुभ अशुभ कर्मका उत्पन्न हो, परन्तु उसमें प्रीति अप्रीति करनेका हमें सकल्पमात्र भी न करना चाहिये।

एक दिन एक परमार्थ निपयका ही मनन रहा करता है। जाहार भी यही है, निरा भी यही है, शम्भ भी यही है स्वप्न भी यही है, मय भी यही है, मोग भी यही है, परिग्रह भी यही है चकना भी यही है और आसन भी यही है, अधिक क्या कहा जाय ? हाइ, मंस और उसकी मज्जाको एक इसी रंगमें रंग दिया है। रंग रंग भी मामों इसीका निचार करता है, और उसके कारण न कुछ देखना अच्छा लगता है, न कुछ सूचना अच्छा लगता है, न कुछ सुनना अच्छा लगता है, न कुछ चकना अच्छा लगता है, न कुछ छूना अच्छा लगता है न कुछ मोचना अच्छा लगता है, न मीन खना अच्छा लगता है, न बैठना अच्छा लगता है, न उठना अच्छा लगता है, न सोना अच्छा लगता है, न जागना अच्छा लगता है, न खाना अच्छा लगता है न सूखे रहना अच्छा लगता है, न असंग अच्छा लगता है, न संग अच्छा लगता है, न कसरी अच्छी लगती है, और न अकसरी ही अच्छी लगती है; ऐसी दशा हो गई है तो भी उसके प्रति आत्मा या निपयता कुछ भी उदय होती हुई नहीं माझूम होती; वह हो तो भी ठीक और न हो तो भी ठीक यह कुछ दुःखका कारण नहीं है। दुःखकी

कारण केवल एक नियम आत्मा ही है, और यह यदि सम है, तो सब सुख ही है। इस दृष्टिके कारण समाधि रहती है। तो भी बाहरसे ग्राह्यपनेकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, देह-मात्र दिखाना नहीं स्या जाता, आत्म-मात्रसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और बाह्यमात्रसे प्रवृत्ति करनेमें बहुतसे अक्षय्य है; तो फिर अब क्या करें ? क्या परितोषी मुक्तमें भले जीव और अक्षय्य हो जीव ? यही छन रहा करती है तो भी बाह्यमात्रसे कुछ सहायी प्रवृत्ति करनी पड़ती है। उसके लिये शोक तो नहीं है, तो भी उसे सहन करनेके लिये जीव इच्छा नहीं करता। परमानन्द त्यागी इसकी इच्छा करे भी कैसे ? और इसी कारणसे श्रुतिपत्र आदिकी ओर हाथमें चित नहीं है; किसी भी तरहके मनीष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं है; तथा उनके उपयोग करनेमें भी उदासीनता रहती है। उसमें भी हाथमें तो और भी अधिक रहती है। इसलिये इस ज्ञानसर्वस्वी वृत्ति हुए प्रत्येक विषयमें चितकी स्वतन्त्रता होनेपर विचार करके फिर निर्दोषता, अथवा समागम होनेपर कहेंगे।

जो प्राणी इस प्रकारके प्रत्येक उत्तर पानेसे आनन्द मानते हैं, वे मोक्षके अर्धीन हैं, और उनका परमार्थका प्राप्त होना भी दुर्लभ है, ऐसी मायका है इसलिये ऐसे प्रसंगमें आत्मा भी अक्षय्य नहीं व्याता परन्तु परमार्थके कारण प्रवृत्ति करनी पड़ेगी, तो कुछ कहेंगे; इच्छा तो नहीं होती।

१२१ कथाजीमा, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८ पृष्ठ १९४६

देहवादीको निवृत्तता हो यह तो एक धर्म है; फिर उसमें खेद करके आत्ममात्र विस्मरण क्यों करना ?

धर्म और भक्तिसे कुछ ऐसे तुमसे ऐसी याचना करनेका योग केवल पूर्वकर्मने ही दिया है। आत्मेच्छा तो इससे कंपित है। निष्पापताके सामने सहनशीलता ही सुखदायक है।

इस क्षेत्रमें हम हाथमें इस देहवादीका जन्म होना योग्य न था। यद्यपि सब क्षेत्रोंमें जन्म केनकी इच्छाको ठसने देना ही है, तथापि प्राप्त हुए जन्मके लिये शोक प्रदर्शन करनेके लिये ऐसा... .. सिखा है। किसी भी प्रकारसे किन्हीं-दशाके बिना, यथायोग्य जीवनमुक्त-दशाके बिना, यथायोग्य निर्मल-दशाके बिना एक क्षणमरका भी जीवन रहना जीवको रुचिकर नहीं व्याता, तो फिर बाकी रही हुई शेष आयु कैसे बीतेगी ? यह आत्मेच्छाकी निवृत्तता है।

यथायोग्य दशाका अब भी मैं मुमुक्षु हूँ, कुछ तो प्राप्ति हो गई है। तो भी सम्पूर्णता प्राप्त हुए बिना यह जीव दक्षिणको प्राप्त करे, ऐसी दशा माग्य नहीं होती। एकके ऊपर रहा और दूसरेके ऊपर हो ऐसी स्थिति उसे एक योगमें भी प्रिय नहीं। अनिष्ट क्या कहा जाय ? दूसरेका परमार्थ करनेके सिवाय वेद भी तो अच्छी नहीं लगती।

आत्म-कल्याणमें प्रवृत्ति करना।

१२२ कथाजीमा, द्वितीय भाग, पृष्ठ १४ पृष्ठ १९४६

मुमुक्षुताके अशेषे प्रवृत्ति किया हुआ सुन्दरता हृदय परज संतोष देता है। अन्तरिकाच्छा

परिभ्रमण जब समाप्त हो, वस यही अभिधापा है, यह भी एक कल्याण ही है। जब कोई ऐसा योग्य समय आ पहुँचिगा, तब इस वस्तुकी प्राप्ति हो जायगी। इतियोंको निरन्तर स्थिते रहना, सिद्धांतको उच्छेदन देते रहना; तथा निम्नलिखित धर्म-कथाको तुमने श्रवण किया होगा तो भी फिर फिरसे उसका स्मरण करना।

सम्यक्-शक्ते पाँच छद्मण हैं—

शम	} अनुकथा
संवेग	
निर्देश	
आस्था	

शोक आदि कथायोंका शान्त हो जाना, उदय आई हुई कथायोंमें मंदता होना, केन्द्रीभूत की जा सके ऐसी आत्म-दशाका हो जाना, अथवा अनादिकालकी इतियोंका शान्त हो जाना ही शम है। मुक्त होनेके सिवाय दूसरी किसी भी प्रकारकी इच्छा और अभिधापाका न होना ही संवेग है। जबसे ऐसा समझमें आया है कि केवल अतिसे ही परिभ्रमण किया, तबसे जब बहुत हुआ। अरे जीव ! जब तो छद्म, ऐसा भाव होगा यह निर्देश है।

परम माहात्म्यवाले निस्सुखी पुरुषोंके वचनमें ही तर्कान रहना यही अन्धा—आस्था है।

इन सबके द्वारा यत्नमात्र जीवोंमें अपनी आत्माके समान बुद्धि होना यह अनुकथा है।

ये छद्मण अन्तर्दय मग्न करने योग्य हैं, स्मरण करने योग्य हैं, इच्छा करने योग्य हैं, और अनुभव करने योग्य हैं।

१२३ कथाणीमा, द्वितीय मात्रपद सुदी १४ रवि १९४६

आपका स्वीकारपूर्ण पत्र मिला। पत्रोंसे अधिक क्या बताऊँ। अबतक आत्मा आत्म-मात्रसे क्षम्यस्वरूपसे अर्थात् देख-भावसे आचरण करेगी, 'मैं करता हूँ' ऐसी बुद्धि करेगी, 'मैं कहूँ आदिमें अधिक हूँ' ऐसे मानेगी, शास्त्रोंको आखरूप समझेगी, मर्मके स्थिते सिध्दान्तोंको करेगी, उस समयतक उसको श्रुति मिटना दुर्लभ है। इस पत्रसे यही कहता हूँ। इसमें ही बहुत कुछ समाया हुआ है। बहुत जगह बीचा हो चुका हो तो भी इसपर अधिक कष्ट रहना।

१२४ मोरली द्वितीय मात्रपद कदी ४ गुरु १९४६

पत्र मिला। श्रुतिप्रकाश नहीं मिला।

आत्मशास्त्रोंमें प्रवृत्ति करना। योग्यता प्राप्त करना इसी तरहसे यह सिखेगी। पात्रताकी प्राप्ति अधिक प्रयास करो।

१२५ मोगली, द्वितीय मात्रपद कदी ७ रवि १९४६

(१) आत्मा हृदयक प्रदेशोंके नियमों द्वारा प्रयास प्रस्त है।

१२६ बषाणीया, द्वितीय भाग कपी १२ श्लोक १९१९

कपासमगवान् करते हैं कि—

इच्छाद्वैपविहीनेन, सर्वत्र समचेतसा ।

ममकञ्जकिपुकेन, प्रप्ता मगवती गतिः ॥

इच्छा और द्वैपके बिना सब जगह समदृष्टिसे देखनेवाले पुरुषोंने मगवान्की भक्तिसे मुक्त होकर मगवती गतिको अर्थात् निर्वाणको प्राप्त किया है—

आप देखें, इस बचनमें उन्होंने कितना अधिक परमार्थ भर दिया है ! प्रसन्नता इस वाक्यका स्मरण होनेसे इसे सिखा है ।

निरंतर साध रहने देनेमें मगवान्का क्या नुकसान होता होगा !

आशङ्कित—

१२७ बषाणीया, द्वितीय भाग कपी १३ श्लोक १०४९

पौषेकी बातोंका अन्वय करते हैं। रहना —

१ किसी भी प्रकारसे उदय कार्य ईर्ष और उन्मये जानबूझी कपासोंको सन्त करना ।

२ सब प्रकारको अमितायाको निवृत्ति करते रहना ।

३ इनमें काम्यक जो किया उस सबसे निवृत्त होजो, उसे करनेसे अब इको ।

४ तुम परिपूर्ण सुखी हो ऐसा मानो, और दूसरे प्राणिबोंपर अनुकम्पा करते रहो ।

५ किसी एक सपुङ्गवको हँसो, और उसके कैसे भी बचन हों उनमें अज्ञा रक्खो ।

ये पौषों प्रकारके अन्वय अक्षय ही योग्यता प्रदान करते हैं । पौषवैमें फिर चारों समानता हो जाते हैं ऐसा अक्षय मानो ।

अधिक क्या कहूँ ! किसी भी समय इस पौषवैको प्राप्त किया बिना इस परिभ्रमणका अन्त नहीं आयेगा ।

वाक्यक चार इस पौषवैको प्राप्त करनेमें सहायक हैं ।

पौषक अन्वयको सिधाय—उत्तमके प्रतिके सिधाय—मुझ दूसरा कार्य निर्वाणका मार्ग नहीं मूल्य, और सभी मन्त्रमात्रोंको भी ऐसा ही मूला होगा (मूला है) ।

अब मुझे जगता यात्रा माझम हा बसा करा । यह तुम सबकी इच्छा है फिर भी अधिक इच्छा करो, जल्दी न करो । जितनी जल्दी उतनी ही कष्टार्थ, और जितनी कष्टार्थ उतनी ही कष्टार्थ इस आशङ्कित कपनको ध्यानमें रखना ।

प्रारम्भसे अन्तिम राजवन्धुका कपासाय

१२८ क्वाणीआ, द्वितीय भाग, बंदी १३, १९४६

तुम तथा और जो जो दूसरे मार्ग मुझसे कुछ आत्म-छात्रकी इच्छा करते हो, वे सब आत्म-छात्रको पाओ, यही मेरी अंत करणसे इच्छा है; तो भी उस कामका प्रदान करनेकी मयायोग्यता प्राप्तमें मुझे अभी कुछ आचरण है, और उस कामको छेदनेकी इच्छा करनेवालीकी योग्यताकी भी मुझे अनेक तरहसे न्यूनता महसूस हुआ करती है, इसलिये जबतक ये दोनों योग परिपक्व न हो जाय, तबतक इस स्थितिमें विराम है, ऐसी मेरी मान्यता है। बार बार अनुकंपा आ जाती है, परन्तु निरुपयताके सामने क्या करूँ ? अपनी किसी न्यूनताको पूर्णता कैसे कहूँ ?

इसके ऊपरसे मेरी ऐसी इच्छा रहा करती है कि हाथमें अब तो जिस तरह तुम सब योग्यतामें आ सको उस तरहका कुछ निवेदन करता हूँ, और जो कोई सुखसा दूँ उसे बुद्धि-अनुसार स्पष्ट करता हूँ, अन्यथा योग्यता प्राप्त करते रहो, इसी बातको बार बार सूचित करता हूँ।

१२९ क्वाणीआ, द्वि. भाग, बंदी १३ सोम १९४६

वैतन्यका निरन्तर अभिष्टिष्ठ अनुभव प्रिय है, यही चाहिये भी, इसके सिवाय दूसरी कुछ भी इच्छा नहीं रहती; यदि रहती हो तो भी उसे रखनेकी इच्छा नहीं। बस एक 'दही तू' यही एक अस्थिरित प्रवाह निरन्तर चाहिये। अधिक क्या कहा जाय ? यह किन्हेसे सिखा नहीं जाता, और कहनेसे कहा नहीं जाता, यह केवल ज्ञानके गम्य है; अथवा यह अंगी अंगीसे समझमें आ सकता है। बाकी तो सब कुछ अल्पकालीन है।

इसलिये जिस निरुद्ध वशाका ही रहन है, उसके निरुद्धपर—इस कल्पितको भूख जानेपर ही—सुटकाय है।

१३० क्वाणीआ, आस्तान सुदी ५ रवि १९४६

ऊँच नीचनी अंतर नहीं, समझाये तो पाय्या सड़ती

तीर्थकरदेवने राग करनेका नियम किया है, अर्थात् जबतक राग रहता है तबतक मोक्ष नहीं होती; तो फिर मुझ संबंधी राग तुम सबको विलक्षणक कैसे होगा ?

किन्हेवाला अभ्युदय

१३१ क्वाणीआ, आस्तान सुदी ६ रवि १९४६

आश्रममें ही तन्मय हुए बिना परमार्थके मार्गको प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है; इसके लिये तुम क्या उपाय करोगे, अथवा तुमने क्या उपाय सोचा है ?

अधिक क्या ? इस समय इतना ही बहुत है।

उत्तराध्ययनसिद्धान्तमें जो सब प्रवेशोंसे कर्म-संबंध बताया है, उसका हेतु यह समझमें आता है कि ऐसा कहना केवल उपदेशके लिये है। 'सब प्रवेशोंसे' कहनेसे शास्त्रकर्त्ता यह निवेद्य करते हैं कि आठ रुचक प्रवेश कर्मोंसे रक्षित नहीं हैं, यह नहीं समझना चाहिये। परन्तु बात यह है कि जब असम्प्रदाय प्रवेशी ब्रह्ममें केवल आठ ही प्रवेश कर्मरहित हैं, तब असम्प्रदाय प्रवेशोंके सामने वे कौनसी गिनतीमें हैं। असम्प्रदायके सामने उनका इतना अधिक अल्पत्व है कि शास्त्रकारने उपदेशकी अधिकताके लिये इस बातको बत करणमें रखकर बाहरसे इस प्रकार उपदेश किया है। और सभी शास्त्रकारोंकी यही शैली है। उदाहरणके लिये अंतर्मुखोंका साधारण कर्म दो वर्षोंके भीतरका कोई भी समय होता है परन्तु शास्त्रकारकी शैलीके अनुसार इसका यह कर्म करना पड़ता है कि आठ समयके बाद और दो वर्षोंके भीतरका समय ही अंतर्मुख है। परन्तु भ्रष्टोंमें तो जैसे पहले कहा है इसका कर्म दो वर्षोंके भीतरका कोई भी समय समझा जाता है तो भी शास्त्रकारकी शैली ही मान्य की जाती है। जिस प्रकार यहाँ आठ समयकी बात बहुत अल्प होनेसे शास्त्रमें स्पष्ट स्पष्टकर उसका उल्लेख नहीं किया गया, इसी तरह आठ रुचक प्रवेशोंकी बात भी है, ऐसा मैं समझता हूँ और इस बातकी भगवती, प्रजापति, ढाणंग आदि सिद्धांत पुष्टि करते हैं।

इसके सिवाय मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यदि शास्त्रकारने समस्त शास्त्रोंमें न होनेवाली भी किसी बातका उल्लेख शास्त्रमें किया हो तो यह भी कुछ चिन्ताकी बात नहीं है। उसके साथ ऐसा समझना चाहिये कि सब शास्त्रोंकी रचना करते हुए उस एक शास्त्रमें कहीं हुई बात शास्त्रकारके ज्ञानमें थी। और समस्त शास्त्रोंकी अपेक्षा कोई विभिन्न बात किसी शास्त्रमें कहीं हो तो इस अधिक मनने योग्य समझना चाहिये कारण कि यह बात किसी निराले मनुष्यके लिए ही कहीं हुई होती है; बाकी कथन तो साधारण मनुष्योंके लिये ही होता है। टीका यही बात आठ रुचक प्रवेशोंको बताना पड़ती है, इसलिये आठ रुचक प्रवेश बतानेवाले हैं, इस बातका निवेद्य नहीं किया गया है, यह मेरी समझ है। बाकीके बार अस्तिकामोंके प्रवेशोंके रखकर इन रुचक प्रवेशोंको छोड़कर जो केवलके समुदाय करनेका वर्णन है वह बहुतसी अपेक्षाओंसे जीवका मूल कर्ममाल नहीं ऐसा समझनेके लिये कहा है। इस बातकी प्रसंग पाकर समागम होनेपर बर्णनको तो टीका होगा।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि ज्ञानमें कुछ ही मूल बीजद्वय पूर्ववर्ती तो अनंतनिगोत्रमें जाते हैं, और जन्म ज्ञानवाले अधिकसे अधिक फल मनोंमें मोक्ष जाते हैं; इस बातका समाधान आप कैसे करते हो।

इसका उत्तर जो मेरे हृदयमें है उसे ही कह देता हूँ, कि यह जन्म ज्ञान दूसरा है और यह प्रसंग दूसरा है। जन्म ज्ञान वर्षात् सामान्यरूपमें भी मूलवस्तुका ज्ञान अतिथय मूल होनेपर भी मोक्षका बीजरूप है इसीलिये ऐसा कहा है। तथा एकदेश कम ऐसा बीजद्वय पूर्ववर्तीका ज्ञान एक मूल-वस्तुके ज्ञानके सिवाय दूसरी सब वस्तुओंका जाननेवाला तो हो गया परन्तु वह देह-भरिमें रहनेवाले शास्त्र पदार्थकी नहीं जान सकता। और यदि यह शास्त्र पदार्थको ही न जान सकत तो फिर, जिस तरह वस्तुके बिना केवल हुआ तब जन्मवर्षकी सिद्धि नहीं करता उसी तरह यह भी स्पष्ट अर्थ हो गया। जिस वस्तुके प्राप्त करनेके लिये विनमग्नमानने बाधद्वय पूर्वके ज्ञानका उपदेश किया है, यदि वह

बसु ही न मिथी, तो फिर चौदह पूर्वका ज्ञान अज्ञानरूप ही हुआ—यहाँ 'एकदेश कम' चौदह पूर्वका ज्ञान सम्पन्नता चाहिये। यहाँ 'एकदेश कम' कहनेसे अपनी साधारण बुद्धिमें तो यही समझमें आता है पड़ते पड़ते चौदह पूर्वके अन्ततक पहुँचनेमें जो कोई एकाध अभ्ययन बाकी रह गया हो, ता उसके कारण मटक पड़े, परन्तु बसुत इसका ऐसा मतलब नहीं है। इतने अधिक ज्ञानका अभ्यास भी यदि केवल एक अल्पमात्रके कारण ही अभ्यासमें परामर्श प्राप्त करें, यह बात मानने जैसी नहीं है, अर्थात् शास्त्रकी भाषा अपना अर्थ कोई ऐसा कठिन नहीं है जो उन्हें स्मरणमें रखना कठिन पड़े, किन्तु वास्तविक कारण यही है कि उन्हें उस मूलबसुका ही ज्ञान नहीं हो सका, और यही सबसे बड़ी कमी है, और इसीने चौदह पूर्वके समस्त ज्ञानको निष्फल बना दिया। एक नयसे ऐसा विचार भी हो सकता है कि यदि तब ही प्राप्त न हुआ तो शायद—जिसे हुए पत्र—का बोझा डोना और पढ़ना इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों ही बोझोंको उठाया है। जिसने पत्रोंका बोझा डोया उसने शरीरसे बोझा उठाया, और जो पढ़ गया उसने मनसे बोझा उठाया; परन्तु वास्तविक कर्मार्थ बिना उनकी निष्कामयोगिता ही सिद्ध होती है, ऐसा समझमें आता है। जिसके घर समस्त लक्षणसमुद्र है, वह दुपा-दुरकी दुपा मिटनेमें समर्थ नहीं; परन्तु जिसके घर गीठे पानीकी कुँड्या भी है वह अपनी और दूसरे बहुतसोंकी दुपा मिटनेमें समर्थ है, और ज्ञानद्वयसे देखनेसे यह पत्र भी उसीका है।

तो भी अब दूसरे नयपर दृष्टि करनी पड़ती है; और वह यह कि यदि किसी तरह भी शास्त्राभ्यास होगा तो कुछ न कुछ पात्र होनेकी अमिछाया होगी, और काळ आनेपर पात्रता भी मिलेगी ही, और वह दूसरोंको भी पात्रता प्रदान करेगा, इसलिये यहाँ शास्त्राभ्यासके नियेच करनेका अभिप्राय नहीं, परन्तु मूलबसुसे दूर के जानेवाले शास्त्राभ्यासका नियेच करें, तो हम एकदमारी नहीं करेंगे औपरी।

इस तरह इन दो प्रश्नोंका संश्लेषमें उत्तर लिख रहा हूँ। लिखनेकी अपेक्षा बचनसे अधिक सम्प्राप्ता या सकता है; तो भी आशा है कि इससे समाधान होगा और वह पात्रताके कुछ न कुछ अंशोंकी इन्दि करेगा और एकदम-दृष्टिको घटायेगा, ऐसी मान्यता है।

अबो! अनन्त भवके पर्यटनमें किसी सपुण्यके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त हुए देहवादीको तुम चाहते हो और उसके धर्मकी श्रृंखला करते हो, परन्तु वह तो अभी किसी आश्रयकारक उपाधिमें पड़ा है। यदि वह निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी होता। अच्छा, तुम्हें उसके किये जो इतनी अधिक भ्रष्टा रहती है, उसका क्या कुछ मूलकारण मान्य हुआ है? इसके उत्तर की हुई भ्रष्टा, और इसका क्या हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नहीं लगता है न? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कमाटी करना, और ऐसे करनेमें वह प्रसन्न है; उसके साथ ही साथ तुम्हें योग्यताकी प्राप्ति होगी; आर कष्टाभित् पूर्णपर भी शकारहित भ्रष्टा ही रही तो उसको तो कैसी ही रखनेमें कम्पाण है ऐसा स्पष्ट कहना योग्य मान्य होता या, इसउपे आन कह दिया है।

आजके पत्रकी माया बहुत ही प्रामाण्य लिखी है, परन्तु उसका उद्देश केवल परमार्थ ही है। आगमके उद्देशकी इन्दि करना—बहर।

१२६ क्वाणीआ, द्वितीय भाग बंदी १२ पुक १९४९

बयासमगवान् करते हैं कि—

इच्छाहेपविहीनन, सर्वत्र समवेतता ।

ममबन्धकिपुकेन, माता भगवती गतिः ॥

इच्छा और हेतुके बिना सब जगह समझिये देखनेवाले पुरुषोंने भगवान्‌की भक्तिसे मुक्त होकर माताकी गतिके अर्थात् निर्वाणको प्राप्त किया है—

आप देखें, इस बचनमें उन्होंने कितना अधिक परमार्थ भर दिया है ! प्रसंगवश इस वाक्यका स्मरण होनेसे इसे सिखा दें ।

निरंतर साध रहने हेतुमें भगवान्‌का क्या नुकसान होता होगा !

आत्माकिंत—

१२७ क्वाणीआ, द्वितीय भाग बन्दी १३ शालि १९४९

नीचेकी बातोंका अभ्यास करते ही रहना—

१ किसी भी प्रकारसे उदय अर्थात् हृदय और उदयमें आनेवाली कयाधोंको शान्त करना ।

२ सब प्रकारकी व्यभिचारात्की निवृत्ति करते रहना ।

३ इतने कावतक जो किया उस सबसे निवृत्त होवो, उसे करनसे अब रुक्यो ।

४ तुम परिपूर्ण सुखी हो, ऐसा मानो, और दूसर प्राणियोंपर अतृप्तता करते रहो ।

५. किसी एक स्वरूपको हँडु को, और उसके कैसे भी बचन हो उनमें अज्ञा रहको ।

ये पाँचों प्रकारके अभ्यास अथवा ही योग्यता प्रदान करते हैं । पाँचवेंमें फिर बातों समावेश हो जाते हैं ऐसा अवश्य मानो ।

अधिक क्या कहूँ ! किसी भी समय इस पाँचवेंको प्राप्त किये बिना इस परिजन्मका अन्त नहीं आयागा ।

वाक्यिक चार ह्रा पाँचवेंका प्राप्त करनेमें सहायक हैं ।

पाँचवें अभ्यासके सिवाय—उसकी प्राप्तिके सिवाय—मुखे दूसरा कोई निर्वाणका मार्ग नहीं सूक्ष्म और घनी मूर्खताओंकी भी ऐसा ही सूक्षा भागा (सूक्षा है) ।

अब तुम्हें ऐसा वाक्य मान्य हो ऐसा करो । यह तुम सबकी इच्छा है कि मैं अधिक इच्छा करो कभी न करो । जिसकी बातें उतनी ही कर्तव्य और जिसकी कर्तव्य उतनी ही कर्तव्य, इस आधेधिक कथनको ध्यानमें रखना ।

प्रारम्भसे जीवित राधकन्दका मयायोग्य

१२८ बवाणीबा, त्रितीय भाद्र वरी १३, १९४६

तुम तथा और जो जो दूसरे मार्ग मुझसे कुछ आत्म-कामकी इच्छा करते हो, वे सब आत्म-कामको पाओ, यही मेरी बात करणसे इच्छा है, तो भी उस कामक प्रदान करनेकी प्रयायोग्य पात्रतामें मुझे कमी कुछ आचरण है। और उस कामको छेमेकी इच्छा करनेवालोंकी योग्यताकी भी मुझे अनेक तरहसे न्यूनता भाव्यम हुआ करती है, इसलिये जबतक ये दोनों योग परिपक्व न हो जाँय, तबतक इस सिद्धिमें विश्व है, ऐसी मेरी मान्यता है। बार बार अनुकंपा आ जाती है, परन्तु निरुपायताके सामने क्या करें ? अपनी किसी न्यूनताको पूर्णता कैसे करूँ ?

इसके ऊपरसे मरी ऐसी इच्छा रहा करती है कि इसमें जब तो जिस तरह तुम सब योग्यतामें आ सको उस तरहका कुछ निषेदन करता रहूँ, और जो कोई सुखसा पहुँचे उसे कुछ-अनुसार स्पष्ट करता रहूँ, अन्यथा योग्यता प्राप्त करते रहो, इसी बातको बार बार सूचित करता रहूँ।

१२९ बवाणीबा, दि. माघपद वरी १३ सोम १९४६

वैतन्यका निरन्तर अभिष्टिष्ठ अनुभव प्रिय है; यही चाहिये भी, इसक सिवाय दूसरी कुछ भी इच्छा नहीं रहती; यदि रहती हो तो भी उसे रकनेकी इच्छा नहीं। बस एक 'तु ही तू' यही एक अखण्डित प्रवाह निरन्तर चाहिये। अधिक क्या कहा जाय ? यह छिन्नेसे किन्ना नहीं जाता, और कहेसे कहा नहीं जाता; यह केवल हृदयके गम्य है; अपना यह बेणी बेणीसे समझमें आ सकता है। बाकी तो सब कुछ अस्मत् ही है।

इसलिये जिस गिरुह वशाका ही रत्न है, उसके छिन्नेपर—इस कल्पितको मूछ जानेपर ही—सुनकाय है।

१३० बवाणीबा आसाव सुनी ५ शनि १९४६

ऊँच नीचनी अंतर नहीं, समझा से पाय्पा सझरी

तीर्पकरदेवने राग करनेका नियम किया है, अर्थात् जबतक राग रहता है तबतक मोक्ष नहीं होती; तो फिर मुझ संबंधी राग तुम सबको हितकरक कैसे होगा ?

छिन्नेवाला अभ्यस्तथा

१३१ बवाणीबा, आसोज सुनी ६ रवि १९४६

आज्ञामें ही तम्यम हुए बिना परमार्थके मार्गकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है। इसके लिये तुम क्या उपाय करोगे, अपना तुमने क्या उपाय सोचा है ?

अधिक क्या ? इस समय इतना ही बहुत है।

१३२ कवाणीआ, वासोअ सुदी १० गुरु १९४९

(१)

बीजबाल

खोज करे तो केसबबाल

मगवान् महावीरदेव

यह कुछ बजे जाने योग्य स्वस्व नहीं ।

झाली रत्नाकर

१ ३

+

२ ४

ये सब नियतियों कितने कहीं !

हमने ज्ञानसे देखकर जैसा योग्य मात्तम हुआ वैसी व्याख्या की ।

मगवान् महावीरदेव

१०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १

(२)

करीब पौंच दिन पहले पत्र मिला था (वह पत्र जिस पत्रमें लक्ष्मी आदिकी विभिन्न दशाक्ष वर्णन किया है) ।

जब आत्मा ऐसे अनेक प्रकारके परिधायी विचारोंको पकड़ पकड़कर एकत्र बुद्धिको पाकर महात्मके समक्षी आराधना करेगी, अथवा स्वयं किसी पूर्वके स्मरणको प्राप्त करेगी तो वह इष्ट स्थितिमें पवनेगी, इसमें संशय नहीं है ।

(३)

धर्मध्यान, विद्याभ्यास इत्यादिकी बुद्धि करना ।

१३३

कवाणीआ, वि सं १९४६ आसोअ

यह मैं तुम्हें मौतकी औपनि देता हूँ ।

उपयोग करनेमें मूढ़ नहीं करना ।

तुम्हें जीवन प्रिय है ! तुम्हें पश्चिमान्नेवाला ।

ऐसा क्यों करते हो ! अभी देर है ।

कण्ट होलेबसक है यह !

हे कर्म ! तुम्हें निश्चित आशा करता हूँ कि मौति बार नेकीके ऊपर मेरा पर नहीं रखना ।

१३४

वि सं १९४६ आसोअ

तीन प्रकारका बोध कहा है —

(१) महावीर्य

(२) मन्मथीर्य

(३) अस्यवीर्य

तीन प्रकारका महापौर्य कहा है —

(१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक

तीन प्रकारका सात्विक ब्रह्म महापौर्य कहा है—

(१) सात्विक ब्रह्म (२) सात्विक धर्म (३) सात्विक मित्र

तीन प्रकारका सात्विक ब्रह्म महापौर्य कहा है —

(१) ब्रह्मज्ञान (२) ब्रह्मदर्शन (३) ब्रह्मचारिण (शील)

सात्विक धर्म दो प्रकारका कहा है —

(१) प्रयत्न (२) मसिद्ध प्रयत्न

इसे भी दो प्रकारका कहा है —

(१) पञ्चतत्वे (२) अपूर्णतत्वे ।

सामान्य केवली

तौर्यकर

मह कर्ष समर्प है ।

१३५ ब्रह्मगीता, अष्टाध्यायी ११ ब्रह्म १९७६

(१)

यह ब्रह्मा हुआ ही मोक्ष पाता है, ऐसा क्यों नहीं कहा देते ?

ऐसी किसकी इच्छा है कि कैसा होने देता है ?

जिनमगवान्को बचनको रचना अनुगत है, इसकी तो मन्त्रों कर ही नहीं सकते ।

परन्तु पाये हुए पदार्थों पर लक्ष्य उसके सामर्थ्यमें क्यों नहीं ?

क्या उसके आत्मर्ष नहीं माझल हुआ होगा, क्यों छिपला होगा ?

(२)

एक बार वह अपने शुक्लमें बैठा था प्रकाश था, किन्तु झौंझा था ।

मंथने आकर उससे कहा, आप किस विचारका कह उठा रहे हैं ? यदि वह योग्य हो तो उसे इस क्षणसे ब्रह्मकर उपहृत करें ।

१३६ ब्रह्मगीता अष्टाध्यायी ११ ब्रह्म १९७६

(१)

पद मित्र । सर्वार्थसिद्धि ही बात है ।

अनसिद्धिमें ऐसा कहा गया है कि सर्वार्थसिद्धि महाविमानकी जगत्से बाहर योजन इतर मुक्ति-मित्र है । कर्त्तृक भी प्रत्यक्ष नामसे आनन्द आनन्दमें आ गये हैं ।

यह पद बौध्दिक परमानन्द हुआ । प्रमानन्दे प्रज्ञा उद्य, उद्यी समपते कोर्षे बर्ष ही आनन्द

रहा करता था। इतनेमें एक मित्र, वीर मूकपदका अविक्षय स्मरण हुआ; एकताम हो गया। एककारुण्यिक बर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बाद बनेरफ रही। अर्ध आनन्द तो अब भी वैराग्य वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काण्ड इसी बातें (ज्ञानकी) करनेमें प्रसा गया।

“केवलज्ञान हवे पामसु, पामसु, पामसु रे के०” ऐसा एक पत्र बनाया।
हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीनके अस्तित्वका तो किसी भी काममें संशय न हो।

जीनके नित्यपनेका—निकाकमें होनेका—किसी भी समय संशय न हो।

जीनके नैतन्यपनेका—निकाक अस्तित्वका—किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बचदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बचकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

१३७ बनारसीवा, आसोज सुदी १२ छानि १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होने की कल्पना, यह बनना कठिन है।

उत्कृष्टता अन्वयकी जननी है।

१३८

मोरवी, आसोज १९४६

इससे बहुत प्रकारके साधन सुट्ये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु अन्त में मुझे कारण उठता संताप ही रहता गया ॥ १ ॥

मैंने समय पूर्वपुण्यके उपपत्ति सङ्कटका योग मित्रा उस समय बचनरूपी अमृतके कान्ठोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि पापीपर संताप नष्ट होगा। नष्ट फिर मैं एक कक्षसे नित्य ही उस सङ्कटका संसर्ग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

मोक्ष शब्द बहुत कठिन है। अन्वय अन्वयव नही उठती बन्नी उठता ॥ १ ॥

पूर्व पुण्यका उदरवर्धन मन्त्री लक्षणव शब्द। बचन-मुखा अन्वय कता, ननु हरेन लक्षणव ॥ २ ॥

निराच एव अन्वयको बन्नी नहीं उठता। नित्य कभी लक्षणव में एक कक्षकी अन्व ॥ ३ ॥

१३९

गोरखी, आसोज १०४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है ।

महान्तरदेवको नमस्कार.

- १ अन्तिम निर्णय होना चाहिए ।
- २ सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है ।
- ३ आधार, विचार और मिहानकी नियमितता ।
- ४ कार्यकी सिद्धि ।

आर्यभट्ट

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है ।

१४०

बम्बई, नि स १९४६

नित्यस्थिति

- १ जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारम्बार चिन्तन कर ।
- २ स्थान पर ठे, समाश्रित हो जा ।
- ३ व्यवहार-कार्यको विचार जा । उसमें जिस कार्यका प्रभाव हुआ है, अब उसके लिये प्रभाव न हो, ऐसा कर । जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ठे ।
- ४ तुम यह योगी हो, कैसे ही रहो ।
- ५ कोई भी छेनीसे छोटी मूढ़ तेरी स्तुतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है ।
- ६ किसीमें भी शक्ति न होना ।
- ७ महानामीर बन ।
- ८ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा ।
९. यथार्थ कर ।
- १० कार्य-सिद्धि करता हुआ बका जा ।

१४१

बम्बई, नि स १९४६

सहजप्रकृति

- १ पर-हितको ही निज-हित समझना, और परतु लको ही अपना दुःख समझना ।
- २ सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी यात्रा कल्पनायें हैं ।
- ३ क्षमा ही मोक्षका मध्यम है ।
- ४ सबके साथ मममात्से रहना ही सच्चा मूल्य है ।
५. शान स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूढ़ है ।

- ६ सचे स्नेहीकी भाव ही सज्जनताका खास लक्षण है ।
- ७ दुर्जनका कम सहवास करो ।
- ८ सब कुष्ठ विवेक-बुद्धिसे आचरण करो ।
- ९ हेवका व्रमाण करो । इस (हेव) वस्तुको विपरुष मानो ।
- १ धर्म कर्ममें वृत्ति रखो ।
- ११ नीतिकी सीमापर पैर नहीं रखो ।
- १२ ब्रितेन्द्रिय करो ।
- १३ ज्ञान चर्चा, विद्या-विकासमें तथा शास्त्राध्ययनमें रुचि रखो ।
- १४ गंभीरता रखो ।
- १५ तस्सामे खनेपर भी और नीतिपूर्वक भोग करनेपर भी झिंझो-झ्या रखो ।
- १६ परमहमका मक्तिमें रुचि रखो ।
- १७ परनिन्दाको ही सबक पाय मानो ।
- १८ दुर्जनतासे सफ़ा होना ही हारना है, ऐसा मानो ।
- १९ अहम्मान और सज्जनोंकी संगति रखो ।

१४२

बन्धु, वि. सं १९४६

बहुतसी बातें ऐसी हैं जो केवल अहम्मान हैं, और मन, बचन और कर्मासे पर हैं; तथा बहुतसी बातें ऐसी हैं जो बचन और कर्मासे पर हैं परन्तु उनका अस्तित्व है ।

श्रीमद्वान् ।

श्रीमद्वान् ।

श्रीमद्वान् ।

१४३

बन्धु, वि. सं १९४६

महावीरदेवने प्रथम तीनों काव्योंको सुझाये कर किया, अर्थात् अगत्को इस प्रकार देखा:—

उत्तमे व्रज्य वैतन्य अहमाज्जोको मुक्त देखा ।

अनन्त वैतन्य अहमाज्जोको मक्त देखा ।

अनन्त वैतन्य अहमाज्जोको मोक्षका दाव देखा ।

अनन्त वैतन्य अहमाज्जोको मोक्षका अपात्र देखा ।

अनन्त वैतन्य अहमाज्जोको अव्ययतिमें देखा ।

अनन्त वैतन्य अहमाज्जोको उर्ध्वगतिमें देखा ।

१ मन्वान् उम्हके म, व व और व इन अक्षरोंके आगेका एक एक अक्षर केनेले मन्वान् और इन अक्षरोंके पीछेका एक एक अक्षर केनेले मन्वान् शब्द बनते हैं । अनुवाचक ।

उनको पुरुषके रूपमें देखा ।

उनको जब चैतन्यात्मक स्वरूपमें देखा ।

१४४

बम्बई, कार्तिक सुदी ५ सोम १९४७

मगवान् परिपूर्ण—सर्वगुणसंपन्न—कहे जाते हैं, तो भी इनमें भी दोष कोई कम नहीं है !
विभ्र-विभ्र करमा ही इनकी लीला है ! अधिक क्या करें ?

समस्त समर्थ पुरुष अपने आपको प्राप्त हुए ज्ञानको ही कह गये हैं । इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जा रही है । मैं समझता हूँ कि केवलज्ञान प्राप्त करनेतककी मेहनत करना व्यर्थ तो नहीं जायगा । योक्तकी हमें कोई आवश्यकता नहीं । निःशक्तपनेकी, निर्मयपनेकी, निर्मोक्षपनेकी, और निस्तृष्टपनेकी जकरत थी, वह बहुत कुछ प्राप्त हुई माझस होती है, और उसे पूर्ण अंशमें प्राप्त करनेकी गुठ रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रखती है । फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रहा करती है । वहाँ विशेष क्या करें ?

अंतर-अनिमें कमी नहीं, परन्तु गाकी मोड़ेकी उपाधि अणका थोड़ा ही सुख देती है । यहाँ निवृत्तिके सिधाय दूसरा समी कुछ माझस होता है । जगत्की आर जगत्की लीलाको बेते बेते सुप्तमें ही देख रहे हैं ।

१४५

बम्बई, कार्तिक सुदी ५ सोम १९४७

सत्पुरुषक एक एक वाक्यमें, एक एक छन्दमें, अनंत आगम भरे हुए हैं, यह बात कैसे हांगी ?

नाथके वाक्य में अस्वय सत्पुरुषोंकी सम्प्रतिसे प्रमेक मुमुक्षुओंके खिये मंगलरूप माने हैं—
मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं ।

१ 'बाह' कमी ही क्यों न हो किन्तु मायामय सुखकी सब प्रकारकी बौद्धिकी छोड़े बिना कमी भी छुटकारा होनेवाला नहीं इसलिये जबसे यह वाक्य सुना है उसी समयसे उस क्लमका अन्यास करना ही योग्य है, ऐसा समझ केना चाहिये ।

२ किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी शोच करना शोच करके उसके प्रति तन, मन, बचन और आत्मासे अर्पण-बुद्धि रखना; उसीकी आज्ञाका सब प्रकारसे सकारित होकर आचरण करना, और तो ही सब मायामय वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझना ।

३ अनादिकाखके परिश्रममें अनन्तवार शास्त्र-अण, अनन्तवार विद्याभ्यास, अनन्तवार निग-दीक्षा, अनन्तवार आचार्यपना प्राप्त हुआ है, केवल एक सत् ही नहीं मिला; सत् ही नहीं सुना, सत् ही भ्रमन नहीं किया; और इसके मित्रमेपर, इसके दुःखमेपर, तथा इसका भ्रम करानेपर ही आत्मामेंसे छूटनेकी वाक्य मणकार होगा ।

४ मोक्षका मार्ग बाहर नहीं, किन्तु आत्मामें है ।

१४६ बम्बई, कार्तिक सुनी १३ सोम १९४७

१ जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता । जिसे इच्छा के सामान्य भी समझाव रहता है, उसके मनको संसारका समझाव ही बन्धन नहीं करता ॥ १ ॥

जैसे जिस समय हँसते-खेलेते हुए प्रगट रूपसे हरिको देखें, उसी समय मेरा जीवन सफल है । जीवात्मक कहते हैं कि हे उन्मुक्त आत्मन् में विहार करनेवाले ! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२ ग्याहवे गुणस्वात्मसे व्युत्पन्न हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है । ग्याहवेमें प्रकृतियोंका उपसमभाव होनेसे मन, बचन और कर्माका योग प्रबल छुसमावमें रहता है, इससे साक्षात्काय बच होता है, और वह साक्षात् बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें से जानेवाली ही होती है ।

१४६

एतुं स्वप्नो ओ दर्शन पसेरे, तेनुं मन न बडे बीडे मारेरे,
याच कुण्ठनो केह प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
इसतां समतां प्रगट हरी देखीरे, माक जीम्पु लफळ सब केसरीरे,
मुक्तात्मनो नाथ बिहारीरे जीवा जीवन्मूर्ती समारिरे ॥ २ ॥

२४वाँ वर्ष

१४७

वर्षाई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

(१)

आत्मने ज्ञान पा लिया, यह तो निःसंशय है, मयी-भेद हो गया, यह तीनों कार्योंमें सत्य बात है। सब ज्ञानियोंने भी यह बात स्वीकार की है। अब अन्तकी निर्निष्कम्पसमाधि पाना ही बाकी रही है, जो सुख्य है, और उसके पानेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृत-सागरका अन्वेषण करते हुए थोड़ीसी भी मायाका आवरण बाधा न पहुँचा सक, अक्षोक्ल-सुखका किञ्चित्मात्र भी विस्मरण न हो जाय एक 'वही व' के बिना दूसरी रत्न न रहे, और मायामय किसी भी मयका, मोहका, सकल्प और विकल्पका एक भी अंग बाकी न रह जाय।

यदि यह एकाग्र भी योग्य रीतिसे प्राप्त हो जाय तो फिर चाह जैसे आवरण किया जाय, चाहे जैसे बोझा जाय चाहे जैसे आहार-विहार किया जाय तो भी उसे किसी भी तरहकी बाधा नहीं, उसे परमात्मा भी पहुँच नहीं सकते, और उसका किया हुआ सभी कुछ ठीक है। ऐसी दशा पानेसे परमात्मके स्मिये किया हुआ प्रयत्न सफल होता है, और ऐसी दशा हुए बिना प्रगट-मार्गिक प्रकाशन करनेकी परमात्माकी आत्मा नहीं है, ऐसा मुझे माशूम होता है इसलिये इस दशाको पानेके बाद ही प्रगट मार्गको कहने और परमार्थका प्रकाश करनेका इह निश्चय किया है, तबतक नहीं; और इस दशाको पानेमें अब कुछ अधिक समय भी नहीं है। रुपयेमेंसे पन्द्रह आनेतक तो इसे पा गया हूँ, निर्निष्कम्पता तो है ही; परन्तु निश्चय नहीं है। यदि निश्चय हो तो दूसरोंके परमात्मके स्मिये क्या करना चाहिये, उसका विचार किया जा सके। उसके बाद त्यागकी आवश्यकता है, और उसके बाद ही दूसरोंके द्वारा त्याग करनेकी आवश्यकता है।

महान् पुरुषोंने कैसी दशा पाकर मार्गका उपदेश किया है, क्या क्या करके मार्गका उपदेश किया है, इस बातका आत्माको अच्छी तरह स्मरण रहा करता है, और यही बात इस बातका बिह माशूम होती है कि प्रगट-मार्गका उपदेश करने देनेकी ईश्वरीय इच्छा है। इसके लिये जमी इन्तमें तो सम्पूर्ण गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें बात करनेकी इच्छा नहीं होती। भाषकी इच्छाकी रक्षा करनेके लिये कुछ कुछ प्रवृत्ति रहती है, अथवा बहुत परिचयमें आये हुए योगपुरुषकी इच्छा-के लिये कुछ कहना अथवा लिखना पड़ता है; इसके सिवाय अन्य सब प्रकारसे गुप्तता ही रक्षनी है। अज्ञानी होकर बास करनेकी इच्छा रोक रखी है; जिससे कि अपूर्वकार्यमें ज्ञानके प्रकाश होनेपर बाधा न लगे।

इतन कारणोंसे .. क लिये कुछ नहीं लिखता। गुणगुणा श्यामिका उत्तर नहीं लिखना। मृतको छुतावक भी नहीं हूँ। केवल व्यवहारकी रक्षाके लिये थोड़ीसी पुस्तकोंक पत्र उलटता हूँ। बाकी तो सभी कुछ पत्थरपर पानीक बिज्र जैसा रस छोड़ा है। तत्त्वमसि अक्षय-योगमें लगे हो। नहीं जानता है।

और वही याचना भी है; और योग (मन, वचन और काय) ब्रह्मात्मके पूर्णकर्मको भोग रहा है । योगेयका माश होनेतक गृहस्थावासमें रहना योग्य लगता है । परमेस्वर जान बूझकर बेचरूप रहता है; कारण कि पंचमहात्म्यमें परमार्थकी पूर्णा शक्त होने देनेकी उसकी चोखी ही इच्छा माझ होती है ।

तीर्थकरने जो जो समझा अथवा जो जो प्राप्त किया है उसे इस काममें न समझ सकें अथवा न पा सकें, ऐसी कोई भी बात नहीं है; यह निर्णय बहुत समयसे कर रक्खा है । यद्यपि तीर्थकर होनेकी इच्छा नहीं है, परन्तु तीर्थकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा है, इतनी अधिक उन्मत्तता आ गई है उसके शमन करनेकी शक्ति भी आ गई है, परन्तु जान बूझकर ही शमन करनेकी इच्छा नहीं की ।

जागते निश्चि है कि कुछसे पुत्रा बनें, और इस अछल-मातृके अग्रणीके भी अग्रणी बनें । घोड़े चिल्लेको बहुत सम्झना ।

गुणव्यवस्थानि भेद कंचल समझनेके लिये किये हैं । उपशम और क्षपक ये दो तरहकी भेगियाँ हैं । उपशममें प्रत्यक्ष-दर्शनकी समाप्ति नहीं होती, किन्तु क्षपकमें होती है । प्रत्यक्ष-दर्शनकी समाप्तिके अभावमें यह जीव म्यादमें गुणस्थानतक आकर बहिसि पीछे छीटता है । उपशमभेगी दो प्रकारकी है—एक आह्वयक; और दूसरी मार्गको जाने बिना स्वामाधिक उपशम होनेकम । आह्वयक उपशम भेगीवाला आह्वयक आराधन होनेतक परित नही होता, किन्तु सिध्दा तो एकदम ठेठ पहुँच जानेके बाद भी मार्ग न जानेके कारण परित हो जाता है । यह आँखसे देखी हुई, और अहमसे अनुभव की हुई बात है । समझ है, यह किसी शस्त्रमें भिन्न भी जाय, और न भिन्न तो कोई हर्ष नहीं । यह बात तीर्थकरके हृदयमें थी, यह हमने जान लिया है ।

दशरूपघाटी इत्यादिकी आह्वयक आराधन करनेकी महावीरदेवकी शिक्षाके विषयमें जागते जो लिखा है वह ठीक है । इसने तो बहुत ही अधिक कहा था, परन्तु उसमेंसे घोड़ा ही बाकी बचा है और प्रकाशक पुरुष गृहस्थावासमें है, बाकीके गुणमें हैं । कोई कोई जानते भी हैं, परन्तु उनमें इतना योग्य नहीं ।

आधुनिक कहे जानेवाले मुनियोंका सत्कार्य सुमनेतकके भी योग्य नहीं । सूत्र लेकर उपदेश करनेकी कुछ दिनों पीछे जकरत माहीं पड़ेगी । सूत्र और उसके कोने कोने सब कुछ जाने हुए है ।

(२)

(१) निजसे मार्ग ज्ञात है, ऐसे महान् पुरुषोंके विचार, वच, निर्णयता आदि गुण भी महान् ही थे ।

एक राम्पके प्राप्त करनेमें जितने पराक्रमकी आवश्यकता है उससे भी कहीं अधिक पराक्रमकी आवश्यकता अपूर्व अभिप्रायसहित बर्ग-संस्तुतिके चक्रमेंके लिये चाहिए ।

घोड़े समय पक्षिके मुखमें बैठी तथाकथ शक्ति माझम होती थी, अभी उसमें निष्कमता देखनेमें आती है, उसका हेतु क्या होना चाहिये, यह विचार करने योग्य है ।

समय है, वह मार्ग संप्रदायकी रीतिशाय बहुतसे जीवोंको मिल भी जाय, किन्तु दर्शनकी रीतिसे तो वह निरखे जा जीवोंको प्राप्त होता है ।

यदि जिनमगबान्का अभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाय तो उसका संप्रदाय-मेदकी कोटिसे निरूपण होना बिलकुल असंभव है, क्योंकि उस मार्गकी रचनाको संप्रदायिक स्वरूपमें बना अप्पन्त कठिन है ।

दर्शनकी अपेक्षासे फिस्ती जीवका उपकारी होने जितना विरोध आता है ।

(२) या कोई महान् पुरुष हुए हैं वे पहिलेसे ही स्वस्वरूप (निवशक्ति) समझ सकते थे, माथी महान् कार्यके बीनको पहिलेसे ही अव्यक्तस्वरूपमें ब्रह्म किये रखते थे—अथवा स्वाचरणको अविरोध जैसा रखत थे ।

मुझमें यह दशा विशेष विरोधमें पड़ी हुई जैसी मान्य होती है । यह विरोध क्यों मान्य होता है, उसके कारणोंको भी यहाँ सिद्ध देता हूँ —

१ संसारकी रीतिके समान विशेष व्यवहार रहनेसे ।

२ ब्रह्मचर्यका धारण ।

(१)

बीतराग दर्शन

(१) उद्देश प्रकरण

सर्वज्ञ-मीमांसा

पदार्थान् अकठोक्त

बीतराग अभिप्राय विचार

व्यवहार प्रकरण

मुनिधर्म

अभारम्भ

मत्तमार्गान् निराकरण

उपसंहार.

(२) मन्त्रादिनिषेधन

गुणम्यानिषेधन

कर्मप्रवृत्तिनिषेधन

विचारपद्धति

अवगातिनिषेधन

बोधबीजसंरक्षित

जीवाजीवविमर्श

छादामन्त्रमात्रा

(१) अग उपनिषद् मूल छे

आशय प्रकाशिता टीका

व्यवहाराद्येतु

परमापदेश

परमार्थ गीणताकी प्रसिद्धि

व्यवहार विस्तारका पर्यवसान

अनेकांशप्रति हेतु

स्वगत मार्गान् निवृत्तिप्रदान

उपक्रम उपसंहार अभिसंधि उत्कर्षार्जन

स्पृष्टव्य हेतु

वर्तमानकाष्ठमें आमसाधन भूमिका

बीतरागदान व्याख्याका अनुक्रम

(१) मूढ

भोक्त्रसुखान !

धर्म अर्धम अस्तिकापरूप द्रव्य !

स्वामासिक अममस्य !

अनादि अनत सिद्धि !

अनादि अनतका ज्ञान किंस तरह हो !

आत्मका संकोच-विस्तार !

सिद्ध उच्छ्वसन-चेतन, खरबी तरह क्यों नहीं है !

केवलज्ञानमें कोकालोच्छ्वासा ज्ञान कैसा होता है !

कोकस्थिति मर्यादाका है !

शाश्वत बहुत खट्टन !

उत्तर

उन उन स्थानोंमें खरबेबाजी सूर्य चन्द्र आदि वस्तु
अथवा नियमित गति हो !

दुःखम सुखम आदि काय !

मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण !

अभिज्ञान आदिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न
हो जाना !

एक सिद्धमें अनत सिद्धोंकी अन्वष्टाना !

१४८

बर्मा कार्तिक १९४७

(१)

उपसामनाथ

सोख भावनाओंसे भूषित होनेपर भी जहाँ स्वयं सर्वोत्कृष्ट माना गया है, वहाँ दूसरोंकी उत्कृष्टताके कारण अपनी न्यूनता होती हो, और कहीं मसरमात्र आकर बका जाय तो वह उसके उपसामनाथ या क्षाधिक नहीं या यह नियम है ।

(२)

यह दशा क्यों धन गई ! और यह दशा कहीं क्यों नहीं ! कोकके सबधसे, मनेच्छासे, अना-गृहपनेसे और जो आदि परिवर्तनोंकी वय न करनेसे ।

जिस क्रियामें जीवको रंग लगाता है उसकी वही स्थिति होती है, ऐसा जो किनमतान्त्रिका अभिप्राय है वह सत्य है ।

प्रतीतिकरने मन्त्रमोहनीयके जो लीस स्थान करते हैं वे सत्य हैं ।

अनतज्ञानी पुरुषोंने जिसका कोर्ष भी प्राप्यभित्त नहीं कहा और जिसके त्यागकी ही एकमत आवा दी है उसे कामसे जो व्याकुल नहीं हुआ नहीं परमात्मा है ।

१४९

बर्मा कार्तिक सुदी १४ १९४७

वस्तुतत्त्वसे आत्मालोका आत्मवियपक जो भाति हो रही है यह एक अवाच्य अकृत विचार करने प्रेमी बात है । जहाँ मतिकी गति नहीं वहाँ वचनकी गति कैसे हो सकती है !

निरुत्तर उदासीनताके कमका सेवन करना; सत्पुरुषकी मर्षिमें धीन होना सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके कथनोंका चिन्तन करना; सत्पुरुषोंकी मुखावृत्तिका ध्वनसे अवबोधन

करना, उनके मन, बचन और कायकी प्रत्येक खेद्यके अन्तर्गत रहस्योंका फिर फिरसे निदिध्यासन करना और उनके द्वारा माने हुएको सर्वथा मान्य करना ।

१५० बम्बई, कार्तिक सुदी १४, शुभ १९४७

निरंतर एक ही धेणी रहती है । पूर्ण हरि-कृपा है ।

(सत् श्रद्धाको पाकर)

जो कोई दुम्हारी धर्मके निमित्तसे इच्छा करे उसका सम रखो ।

१५१ बम्बई कार्तिक वरी ३ शनि १९४७

यह हृदय विश्वासपूर्वक मानना कि यदि इसको उन्मत्तकालमें व्यवहारका बचन न होता तो यह हमें और दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितको देनेवाला होता । जो कुछ प्रवृत्ति होती है उसके कारणसे उसने कुछ विपत्ति नहीं मानी, परन्तु यदि उसे निवृत्ति होगी तो वह दूसरी व्यापारोंके क्रिये मार्ग मिन्नता कारण हो जाता । जमी उसे विस्मय होगा । पञ्चमकायकी भी प्रवृत्ति है इस मन्त्रमें मोक्ष जानेवाले मनुष्योंका समझ होना भी कम है इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा, तो उसके क्रिये कुछ खेद नहीं ।

१५२ बम्बई, कार्तिक वरी ५ सोम १९४७

संतकी शरणमें जा

सत्संग यह बड़ेसे बड़ा साधन है ।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना सुटकारा नहीं ।

इन दो विषयोंका शास्त्र इत्यादिसे उनके उपदेश करते रहना । सरसंगकी इच्छा करना ।

१५३ बम्बई नासुग मोहम्मद, कार्तिक वरी ७ शुक्र १९४७

एक ओर तो परमार्थ-मार्गको हीमतासे प्रकाशित करनेकी इच्छा है, और दूसरी ओर अत्यन्त ' सय ' में डीन हो जानेकी इच्छा रहती है । यह आत्मा असल ' तप ' में पूरी पूरी समाधि हो गई है । योगके द्वारा समावेश करना यही एक रत्न खोजी हुई है । परमार्थके मार्गको यदि बहुतस मुमुक्षु पायें, अत्यन्त-समाधि पायें, तो बहुत अच्छा हो, और इसीके क्रिये कुछ मगन भी है । दीनार्थपुकी किसी इच्छा होगी वैसा हो रहेगा ।

निरंतर ही अन्तर्गत दशा रहा करती है । हम अवभूत हुए हैं; और अवभूत करनेकी बहुतसे ओषधोंके प्रति रधि है ।

महावीरदत्तने इस कालको पञ्चमकाय कहकर दुःख कहा, भ्यासने कठिपुग कहा, इन प्रकार

अनेक महापुरुषोंने इस काखको कठिन कहा है यह बात निस्सन्देह सत्य है, क्योंकि मति और संप्रसंग विच्छेद बड़े गये हैं अर्थात् संप्रसापमें नहीं रहे, और इनके मिला बिना जीवका छुटकाय नहीं। इस काखमें इनका मिटना बु-पम हो गया है, इसीलिये इस काखको बु-पम कहा है, यह बात प्रत्यक्ष ही है। बु-पमने विषयमें कमसे कम किलनेकी इच्छा होती है परन्तु किलने जपवा बोझनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टाके ऊपरसे ही समझमें आ जाता करे ऐसी निश्चय इच्छा है।

ॐ श्रीसद्गुरुवरणाय नमः

१५४

बम्बई, कार्तिक वनी ९ शुक्ल १९३४

मुनिके संबंधमें आपका लिखना यथार्थ है। मन्त्र-स्थितिही परिष्कृता हुए बिना, दीन-बन्धुकी कृपा बिना, और संत-वरणकी सेवा बिना तीनों काखमें भी मार्गका मिटना कठिन ही है।

जीवके संसार-परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य सबसे बड़े कारण ये हैं कि स्वयं जिस ज्ञानके विषयमें शक्ति हैं उसी ज्ञानका उपेक्षा करना; प्रगल्भत्वमें उसी मार्गकी रक्षा करनी; तथा उसका सिधे हृदयमें चञ्च-विच्छेद मात्र होनेपर भी जपन ब्रह्मासुओंको उसी मार्गके यथार्थ होनेका उपदेश देना। इसी तरह यदि आप उस मुनिके सबबमें विचार करेंगे तो यह बात ठीक ठीक सम्यु होगी।

जिसका जीव स्वयं ही एकामें बुझकियाँ खाता हो, फिर भी परि वह नि शक मार्गके उपदेश कर सका हम रखकर समझ जीवन बिता दे, तो यह उसके सिधे परम शोचनीय है। मुनिके सबबमें यहाँ-पर कुछ कटोर मायामें डिक्का गया है ऐसा मान्य होता है फिर भी यहाँ वैसा अभिप्राय किशुका भी नहीं है। वैसा है बलाका बसा ही कदगर्ज विरसत सिखा है। इसी तरहसे दूसरे जनत जीव पूर्वकाखमें मरके हैं वर्तमानकाखमें मरके रहे हैं, और भविष्यकाखमें भी मरकेगे।

जो छुटनेके सिधे ही जाता है वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य नि सन्देह अनुभवपूर्ण है। बंधनका त्याग करनेपर ही छुटकाय होता है ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी हडि करके खाना, उसमें अपना महत्त्व स्थापित करना और पुण्यताका प्रतिपादन करना यह जीवकी बहुत ही अधिक मरकानेवासा है। यह बुद्धि संसार-सामाजिक निकट आये हुए जीवको ही होती है, और समर्थ चरकणी वैसी पदार्थों आच्छादनेपर भी उसका त्याग करके कर-पात्रमें विश्वा मौगकर जीने बात ऐसे जीव संत-वरणोंकी अनंत अनन्त प्रेममाफसे पूजते हैं, और वे जरूर ही छुट जाते हैं।

निरबन्धुकी पत्नी इति है कि छुटनेके इच्छुकको बाँधना नहीं और बंधनेके इच्छुकको छोड़ना नहीं। यही रिती वाक्यांश जीवका एही शक्ता हो सकती है कि जीवको तो बंधना कभी भी अच्छा नहीं लगता मगर छुटनेकी ही इच्छा रहती है तो फिर जीव क्यों बंध जाता है! इस शक्यता इनका ही समाधान है कि पण्य अनुभव हुआ है कि जिस छुटनेकी इच्छा इच्छा होती है उसको बंधनकी सेवा ही मित्र जानी है और इस बंधनका लक्ष्य यह सत्य है।

१५५

बम्बई, कार्तिक वरी १४ शुक्र १९४७

अंतरकी परमार्थ दृष्टियोंको थोड़े समयतक प्रगट करनेकी इच्छा नहीं होती । धर्मकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके पत्र, प्रश्न आदिकी तो इस समय ध्यानरूप माना है, क्योंकि बिना इच्छाओंकी अभी हाथमें प्रगट करनेकी इच्छा नहीं, उनके कुछ अंश विवश होकर इनके कारणसे प्रगट करने पड़ते हैं ।

मित्र निम्नमें तुम्हें तथा अन्य सब मार्गियोंको इस समय तो मैं इतना ही कहता हूँ कि जिस किसी भी मार्गसे धर्मतत्वात्से प्रसिद्ध आप्रवृत्ता, अपनेपनका, और असंस्पृष्टता नाग हो उसी मार्गमें इति भगवती चाहिये; यही चित्तवन रखनेसे और परमवका इह विद्यास रखनेसे कुछ अर्थोंमें जय प्राप्त हो सकेगी ।

१५६

बम्बई, कार्तिक वरी १४ शुक्र १९४७

अभी हाथमें तो मैं किसीको भी स्पष्टरूपसे धर्मोपदेश देनेके योग्य नहीं, अप्रवा ऐसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं है । इच्छा न होनेका कारण तन्मयमें रहनेवाले कर्म ही हैं । मैं तो यही चाहता हूँ कि कोई भी निश्चित हो वह धर्मप्राप्त महापुरुषसे ही धर्मको प्राप्त कर, तथापि मैं जिस वर्तमानकाळमें हूँ वह काळ ऐसा नहीं है ।

सबसे पहिले मनुष्यमें वषायोग्य निश्वासपुना आना चाहिये पूर्वके आप्रवृत्तों और असंस्पृष्टोंकी इच्छा चाहिये और जिससे धर्म प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह स्वयं भी उसे पाया हुआ है कि नहीं, इस बातकी पूर्ण जाँच करनी चाहिये; यह बातकी समझने जैसी बात है ।

१५७

बम्बई, मंगलसुनी ४ सोम १९४७

मीने एक वाक्यपर सामान्यतः व्याख्या पढ़ाया है —

“ इस काळमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस काळमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस काळमें, कोई भी इस काळमें उत्पन्न हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस काळमें, कोई भी इस काळमें उत्पन्न हुआ सर्वथा मोक्ष नहीं जाता । ”

इस काळमें कोई भी इस काळमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता । ”

अब इसके ऊपर सामान्य विचार करते हैं । पहिले एक आशयिने कहा कि इस काळमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता । ज्योंही यह वाक्य निकलता त्योंही शंका हुई कि क्या इस काळमें महाविप्रेक्षसे भी मोक्ष नहीं आने । कहाँसे तो जा सकते हैं इसविषये निरर्थक वाक्य बोझों । अब उसने दूसरी बार कहा — इस काळमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता । तब फिर प्रश्न हुआ कि जब, सुधर्मस्थानी इत्यादि कैसे मोक्ष चले गये । वह भी तो यही काळ या इसविषये निरर्थक सामान्यवादा पुरुष विचार करके बोझ — ‘इस काळमें, कोई भी इस काळमें जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता ।’ फिर प्रश्न

निरस्तुत सेवन किया करते हैं। और इनके इस दासत्वके प्रति हमारा दासत्व होनेका भी यही कारण है। मोक्ष भगत, मिश्रित कोष्ठी इत्यादि पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे ।

निरञ्जनपदको समझनेवाले निरञ्जन केसी स्थितिमें रखते हैं, यह विचारमेव उनकी अतीव्रिय गतिपर गर्वित समाधिपूर्ण होती जाती है ।

अब हम अपनी दशा किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकते फिर किन्तु तो कहेंसे सकेगे : आपका दर्शन होनेपर ही जो कुछ वाणी कह सकेगी वह कहेगी, वाणी तो जाभावी है । हमें कुछ मुक्ति तो चाहिये नहीं, और जिस पुरुषको जैनशास्त्रका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको परमेश्वर अब कौनसा पद दगा, क्या यह कुछ आपके विचारमें जाता है ? यदि जाता हो तो वाचस्पत्य करमा। अन्यथा यहाँसे किसी रीतिसे कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी समझना दिव्य वही देती ।

आप बारम्बार लिखते हैं कि दर्शनके लिये बहुत आसुरता है, परन्तु महात्मादेवने इसे पचन कहा है, और व्यासमगवान्ने कस्मिन् कहा है वह कहींसे साथ रहने दे सकता है ! और यदि रहने दे तो आपको उपाधिमुक्त क्यों न रखे ?

१६२

बम्बई, मंगस्तिर वरी १७, १९७७

यह मूमि (बम्बई) उपाधिका सोमा-स्थान है ।

आदिको यदि एकबार भी आपका स्पर्श हो जाय तो जहाँ एक छत्र करमा चाहिये वहाँ छत्र हो सकता है, अन्यथा जाना दुर्लभ है, क्योंकि हात्में हमारी बाधवृत्ति बहुत कम है ।

१६३

बम्बई, पीप सुदी ५ शुक्र १९७०

असत्त्व नाम धुनी सगी गगनमें, यमन भया मन वैराभी ।

आसम भारी घुरत हड़भारी, दिया अगम-पर डराभी ।

वरक्या असत्त्व देवाराभी ।

१६४

बम्बई, पीप सुदी १० सोम १९७०

प्रस्तव्यास्तरणमें शक्यका माहात्म्य पढ़ा है उसपर मगन भी किया था ।

हात्में हरिजनकी संगतिके अभावसे कुछ कठिमेतासे व्यतीत होता है । हरिजनकी संगतिमें भी उसके प्रति भक्ति करमा यह बहुत मिय लगता है ।

आपकी परमार्थविशयक जो परम आकांक्षा है वह ईश्वरेष्टम हुई तो किसी अपूर्व मार्गसे सत्य हो जायगी । जिसको आर्थिक कारण परमार्थका छत्र मिथ्या दुर्लभ हो गया है ऐसे भारतक्षेत्रवासी अल्पसे प्रती वह परम इत्यादि परब्रह्मा करेगा, तबल अभी तकसे जो परब्रह्मक अन्तर्गत है, ऐसा करने भी होता ।

१६५

बर्म्ह, पौष सुदी १७ शुक्ल १९४७

करना पकीरी क्या दिलागीरी; सदा मगन मन रहनाभी

मुमुक्षुओंको इस दृष्टिको अधिकधिक बहाना उचित है। परमार्थकी पिताका होना यह एक बुद्ध विषय है। अंतरंगमें व्यक्तिकारी पिताका वेग कम करना यह मार्ग पानेका एक साधन है।

हमारी दृष्टि जो करना चाहती है, वह एक निष्कारण परमार्थ ही है, और इस विषयमें आप भी बारम्बार बात ही चुके हैं तथापि कुछ समझाव कारणकी न्यूनताके कारण अभी हाथमें तो पैसा कुछ अधिक नहीं किया जा सकता इसलिये अनुरोध है कि ऐसा कथन प्रगट न करना कि हाथमें हम कोई परमार्थ-ज्ञानी हैं, अथवा समर्थ हैं, क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिष्ठा जैसा है।

हममेंसे जो कोई मार्गको समझे हैं, वे उसे साध्य करनेके लिये निरन्तर सत्पुरुषोंके चरित्रका मनन करना चाहें रक्ते उस विषयमें प्रसंग अनेकपर हमसे पूछें, तथा सत्यासता, सत्कथाका और सद्भावका सेवन करें।

वि निमित्तमात्र

१६६

बर्म्ह, पौष वदी २ सोम १९४७

हमको प्रत्येक मुमुक्षुओंका दासत्व प्रिय है इस कारण उन्होंने जो कुछ भी उपदेश किया है, उसे हमने पढ़ा है। यथायोग्य अवसर प्राप्त होनेपर इस विषयमें उत्तर लिखा जा सकेगा, तथा अभी हम जिस आधम (जिस स्थितिमें रहना है वह स्थिति) में हैं उसे छोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। हमने हमारे समग्रमार्गको जो आवश्यकता बताई वह अवश्य द्वितीय है। तथापि अभी इस दशाको पानेका योग नहीं जा सकता। यहाँ तो निरन्तर ही आनन्द है। वहाँ सबको धर्मयोगकी दृष्टि करनेके लिये विमति है।

१६७

बर्म्ह, पौष १९४७

“ जीवको मार्ग नहीं मिला, इसका क्या कारण है ”? इस बातपर बारम्बार विचार करके यदि योग्य जगह तो साधका (जीविका) पत्र पढ़ना। हमें तो भाव्य होता है कि मार्ग सरल है, सुखम है, परन्तु प्राप्तिका योग मिला ही दुर्लभ है।

सस्मरूपको अभेदभावसे और अनन्य भक्तिसे मगोनम

जो निरन्तर अमतिब्रह्मभासे निश्चरते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञाकी सत्य प्रतीतिके लिये बिना तथा उसमें लब्ध स्नेह हुए बिना सत्स्वरूपके विचारकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होती, और पैसी दृष्ट आनेसे विद्वाने उनके चरणारविन्दका सेवन किया है, वह पुरुष वही दशाको श्रम कर्मसे पा जाता है। इस मार्गका आराधन लिये बिना जीवने अनात्मिकासे परिभ्रमण किया है। जहाँतक जीवको स्वच्छद्रुपी अभाषन मीमंसा है वहाँतक इस मार्गका दर्शन नहीं होता। यह अभाषन दृष्ट-नेके लिये जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये वह मोक्षेन्द्रा करनी चाहिये; और इस विचारमें

हुआ कि किसीका मिथ्यात्व तो नाश होगा या नहीं ? उत्तर मित्रा कि हाँ, होता है। तो फिर शंकराचार्यने पूछा कि यदि मिथ्यात्व नष्ट हो सकता है तो मिथ्यात्वसे मोक्ष हुआ कहा जायगा या नहीं ? फिर सामनेवालेने जवाब दिया कि हाँ, ऐसा तो हो सकता है। अन्तमें शंकराचार्य बोला कि ऐसा नहीं, परन्तु ऐसा होगा कि 'इस काष्ठमें, कोई भी इस काष्ठमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता।'

इसमें भी अनेक भ्रम हैं। परन्तु यहाँतक कहाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो वह जैनशास्त्रके सिद्धे स्वर्गीकरण हुआ जैसा गिना जायगा। वेदान्त आदि तो इस काष्ठमें भी सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्तिका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये अभी और भी खागे जाना पड़ेगा उसके बाद कभी जाकर वाक्यकी सिद्धि हो पावे। इस तरह वाक्य बोझनेकी अपेक्षा रक्षना उचित कहा जा सकता है। परन्तु ज्ञानके उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाका स्वरूप रहना संभव नहीं, अपना हो सकता है तो वह सम्पूर्णकी कृपासे ही सिद्ध हो सकता है।

इस समय बस गयी। योरे सिद्धेको बहुत समझता। ऊपर लिखी हुईं छिद्रमुमनेवाली बातें सिद्धता मुझे पसन्द नहीं। शंकरके जीकण्ठ समझने बखाल किया है परन्तु यहाँ तो छात्रसहित अप्रवृत्ता नारी पढ़ है, इसलिये यह कैसे पसन्द जा सकता है परन्तु साथ ही इसे माफस भी नहीं किया जा सकता।

अन्तमें आज, कल और हमेशाके लिये यही कहना है कि इसका संग होनेके बाद सब प्रकारसे निर्मय रहना सीखना। आपकी यह वाक्य कैसा जगता है ?

१५८

बम्बई मंगलूर सुदी ९ चानि १९४७

ॐ सत्स्वरूप

यहाँ तो तीनों ही काळ समान हैं। बाह्य व्यक्तिकारके प्रति विषमता नहीं है, और उसके त्यागनेकी इच्छा रखी है, परन्तु पूर्ण प्रवृत्तियोंके हटाने बिना कोई छुटकाप नहीं।

काष्ठकी दुःखमता... से यह प्रवृत्ति मार्ग बहुतसे जीवोंको सत्त्व्य दर्शन करनेसे रोकता है।

तुम सबसे यही अनुपेक्ष है कि इस आत्माके सबभ्रम दूरसे कोई वास्तविक मत करना।

१५९

बम्बई, मंगलूर सुदी ११ शुब १९४७

आज हरपके जो जो उद्धार छिस्त हैं उन्हें पढ़कर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न होता हूँ, परम प्रसन्नता होती है और फिर फिरसे सत्त्वुगका स्मरण हो आता है।

आज भी जलते ही हैं कि इस काष्ठमें अनुप्योंक मन मामागप सपत्तिकी इच्छाबुद्ध हो गये हैं। किसी रिश्ते मनुष्योंका ही निर्वाण-मार्गकी रूढ़ इच्छाबुद्ध रहना संभव है। अपना वह इच्छा किसी रिश्तेमें ही सम्पूर्णकरे चरणोंके क्षम करनेसे प्राप्त होगी। इसमें स्तिह नहीं कि महा अंधकारवासे इन काष्ठमें जाना जन्म किसी कारणसे ता हुआ ही है परन्तु क्या उपाय किया जाय, इसकी तो सम्पूर्णता सब यह सुझावेगा तभी कुछ उपाय बन सकेगा।

१६०

धर्म, मंगलर सुनी १४, १९४७

आनन्दमूर्ति सत्स्वरूपको अभद्रभावस तीनों काल नमस्कार करता हूँ

जो जो इच्छाये उसमें कहीं है, वे कल्याणकारक ही हैं; परन्तु इस इच्छाकी सब प्रकारकी सुरणार्थ तो सबे पुरुषके चरणकमलकी सेवामें ही अन्तर्भूत है (यह सब अनन्तज्ञानिषोका माना हुआ नि शक वाक्य आपका शिवा है), और वह बहुधा संस्राममें ही अन्तर्भूत है।

परिभ्रमण करते हुए जीवने अनाप्तिकालसे अबतक अपूर्वकी नहीं पाया जा पाया है वह सब पूर्वानुपूर्व ही है। इन सबकी बसनाका स्वाग करनेका अभ्यास करना। एक प्रसंग और परम उद्घाममें यह अभ्यास अवसंत होगा, और वह फलकी अनुकूलता मित्रनेपर महापुरुषक योगसे अपूर्वकी प्राप्ति कपयेगा।

सब प्रकारकी त्रियाका, योगका, तपका, और इनके सिवाय अन्य प्रकारका ऐसा छत्र रखना कि अहमाद्ये सुदानक त्रिपे ही सब कुछ है। ब्रह्मके त्रिपे नहीं; जिससे ब्रह्म हो उन सबका (सामान्य त्रिपासे छेकर सब योग आदि पर्यंत) त्यागना ही योग्य है।

विष्णु नामधारीका पद्यावाम्य

१६१

धर्म, मंगलर सुनी १४, १९४७

मास हुए सत्स्वरूपको अभद्रभावस अपूर्व समाधिमें स्मरण करता हूँ

अन्तिम स्वरूपके समझनेमें और अनुभव करनेमें थोड़ीसी भी कमी नहीं रही है यह जैसे है जैसे ही सब प्रकारसे समझमें आ गया है। सब प्रकारोंका बच उल्टा छाड़कर सब सब अनुभवमें आ चुका है। एकेश भी ऐसा नहीं रहा जो समझमें न आया हो; परन्तु योग (मन, ब्रह्म, व्याप) पूरक संगतीन इनके शिपे ब्रह्मसुखी आप-वचना है और ऐसा होनेपर ही वह एकेश भी अनुभवमें आ जायगा अर्थात् उसीमें रहा जायगा परिपूर्ण आराधन-ब्रह्म उत्तम होगा; किन्तु इसे उत्तम करनेकी (पैरी) आराधना नहीं रही है ता निर वह उत्तम भी कैम होगा। यह भी आश्चर्यकारक है। परिपूर्ण स्वस्वज्ञान ता उत्तम हो चुका ही है; और इस समाधिमें निरन्तर लक्ष्मी-प्रति जाना कम होगा। यह भी बच उल्टा मुझ ही नहीं परन्तु यह शिखरवासी भी एक रास्ता जानी है।

बुद्धि और ब्रह्म की भी त्रिपेमें भी था ही क्योंकि मागसा पाये हुए वह एक पुरुष ही गरी है। जन-मुमुक्षुको उन महाभाओकी परिधान न होनेक कारण उमग का शिखर जाग ही आरंभ की शि-फर गये है औरता उन महाभाओक प्रति माह ही उत्तम न हुआ यह क्या अज्ञान इच्छा-रिगत है।

इन सबके कई अन्तिम ज्ञानको जाना न था; परन्तु उमग किन्ता उनका बहुत ही सुखी-म था। ऐसे बहुतो पुरुषोंमें एक छोरे यहाँ गये है। ऐसे पुरुषोंक प्रति बहुत गन्ध उद्गमित होगा है; और यन्त्रो निगर उनकी चालोंकी ही सदा बरने गये, यही एक आश्चर्य रहा करनी है। इतिहासों अनेक ऐसे मुमुक्षु देखकर अतिरूप उत्तम होगा है; उमग करती है कि वे ज्ञानीक चालोंका

निरन्तर सेवन किया करते हैं; और इनके इस दासत्वके प्रति हमारा दासत्व होनेका भी यही कारण है। ओम्मा मगत, निरन्त कोठी हस्तादि पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे।

निरञ्जनप्रको सम्राटनेवाले निरञ्जन कैसी स्थितिमें रखते हैं, यह विचारनेपर उनकी अतोन्मिय गतिपर गंभीर समाधिपूर्ण होती जाती है।

जब हम अपनी दशा किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकते फिर किस तो कहेंगे तर्कों ? आपका दर्शन होनेपर ही जो कुछ बाणी कह सकेगी वह कहेगी, बाकी तो काफ़ी है। हमें कुछ मुक्ति तो चाहिये नहीं, और जिस पुरुषको जैनदर्शनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको परमेश्वर जब कौन्सा पद देगा, क्या यह कुछ आपके विचारमें आता है ? यदि आता हो तो आश्चर्य करना; अन्यथा यहाँसे किसी रीतिसे कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी संभावना दिखाई नहीं देती।

आप बारम्बार कहते हैं कि दर्शनके लिये बहुत आसुरता है, परन्तु महात्मादेवने इसे पञ्चमकाष्ठ कहा है, और व्यासमहाशयने कस्मियुग कहा है यह कहेंसे साथ रखने दे सकता है। और यदि रखने दे तो आपको उपाधिमुक्त क्यों न रखे !

१६२

बर्म्ह, मगसिर बदी १४, १९४७

यह भूमि (बर्म्ह) उपाधिका शोभा-स्थान है।

.. बाहिको यदि एकबार भी आपको सर्वम हो जाय तो जहाँ एक कष्ट करना चाहिये वहाँ कष्ट हो सकता है, अन्यथा होना दुर्लभ है, क्योंकि हाउमें हमारी बन्धनता बहुत कम है।

१६३

बर्म्ह, वीथ सुदी ५ गुरु १९४७

अखस नाम धुनी खगी गमनमें, मगन भया धन मेराभी।

आसन मारी धुरव हनुवारी, दिया अगम-धर केराभी।

वरुणा अखस देवाराभी।

१६४

बर्म्ह, वीथ सुदी १ सोम १९४७

प्रदन्म्याकरणमें सत्यका माहात्म्य पढ़ा है, उसपर मनम भी किया था।

हाउमें हरिजनकी संगतिके अभावसे काक कठिनतासे व्यतीत होता है। हरिजनकी संगतिमें भी उसके प्रति मति करना यह बहुत प्रिय लगता है।

आपकी परमार्थविषयक जो परम आकांक्षा है, वह ईश्वरेष्टा हुई तो किसी जर्दू मार्गसे संभव हो जायगी। जिनकी आर्थिक कारण परमार्थका कष्ट मिटना दुर्लभ हो गया है, ऐसे भारतभेजासी मनुष्योंके प्रति वह परम हृष्टा परमहृष्टा करेगा; परन्तु अभी हाउमें कुछ समयतक उसकी इच्छा हो, ऐसा माझम नहीं होता।

१६५

बम्बई पीप सुनी १४ भुक्. १९४७

करना फकीरी क्या दिखगीरी; सदा मगन मन रहनाजी

मुमुक्षुओंको इस इष्टिको अधिकधिक बढ़ाना उचित है। परमार्थकी चिन्ताका होना यह एक ही विषय है। अठरगमसे व्यवहारकी चिन्ताका वेदन कम करना यह मार्ग पानेका एक साधन है।

हमारी इष्टि जो करना चाहती है, वह एक निष्कारण परमाप ही है, और इस विषयमें आप भी आश्चर्य जान ही चुके हैं, तथापि कुछ समझाय कारणकी न्यूनताके कारण अभी हाथमें तो बैसा कुछ अधिक नहीं किया जा सकता, इसलिये अनुरोध है कि ऐसा कथन प्रगट न करना कि हाथमें हम कोई परमार्थ-ज्ञानी हैं, अपना समर्थ हैं, क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिकूल प्रैसा है।

हमसे जो कोई मार्गको समझे है, वे उसे साम्य करनेके छिपे निरन्तर सत्पुरुषके चरित्रका मनन करना चाहें रहें; उस विषयमें प्रसंग आयेपर हमसे पूछें, तथा सत्यात्मका, सत्क्याका और सद्गुणका स्तुति करें।

वि मिमिक्षमात्र

१६६

बम्बई, पीप सुनी २ सोम १९४७

हमको प्रत्येक मुमुक्षुओंका दास्य प्रिय है; इस कारण उन्होंने जो कुछ भी उपदेश किया है, उसे हमने पढ़ा है। पद्ययोग्य अक्षर प्राप्त होनेपर इस विषयमें उत्तर लिखा जा सकेगा; तथा अभी हम जिस आश्रम (जिस स्थितिमें रहना है वह स्थिति) में हैं उसे छोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। हमने हमारे समागमकी जो आवश्यकता बताई वह अक्षय द्वितीया है तथापि अभी इस दशाका पानेका योग नहीं जा सकता। यहाँ तो निरन्तर ही आनन्द है। यहाँ सबको धर्मयोगकी इष्टि करमके लिये निमित्त है।

१६७

बम्बई, पीप १९४७

" जीवको मार्ग नहीं मिला, इसका क्या कारण है "। इस बातपर आश्चर्य विचार करके यदि योग्य ज्ञे तो साधका (जीवका) पत्र पढ़ना। हमें तो माध्यम होता है कि मार्ग सरल है, सुखम है, परन्तु प्रासिका योग मिला ही दुर्लभ है।

सत्स्वरूपका अभेदभाषसे और अनन्य यक्तिसे नमानय

जो निरन्तर अप्रतिबद्धभावे विचारते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञाकी सम्यक् प्रतीतिक रूपे विना, तथा उसमें अक्षय स्नेह रूप विना सत्स्वरूपके विचारकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होती, और वैसी तथा आनेसे जिससे उनका चरणारविन्दका स्पर्शन किया है वह पुरुष कही दशाको ब्रह्म प्रप्ते पा जाता है। इस मार्गका आश्रयन किये विना जीवने अनात्मिकासे परिभ्रमण किया है। जहाँतक जीवको स्वच्छन्दगी अभावन योग्य है, जहाँतक इस मार्गका दर्शन नहीं होगा। यह अभावन हान्य-मेके लिये जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये; वह मन्त्र-कामी चाहिये और इस विचारसे

अप्रमत्त रहना चाहिये, सभी मार्गकी प्राप्ति होकर अवापन ही सकता है। अनात्मिकायसे जीव उक्त मार्गपर चर रहा है; यद्यपि उसने ज्ञान, तप, शास्त्राध्ययन वगैरे अनन्तवार किये हैं, तपानि जो कुछ करना आवश्यक था वह उसने नहीं किया, जो कि हमने पहले ही कहा दिया है।

सूयगाइयासूत्रमें जहाँ भगवान् रूपमनेबानीने अपने ज्ञानमें पुत्रोंको उपदेश किया है, और उन्हें मोक्ष-मार्गपर बुझाया है। वहाँ इस तरहका उपदेश दिया है—हे आसुप्मानों! इस जीवने एक बात छोड़कर सब कुछ किया है; तो बताओ कि वह एक बात क्या है? तो निश्चयपूर्वक कहते हैं कि स्वरूपका कष्ट हुआ यद्यत्—उसका उपदेश इसे इस जीवने नहीं सुना, और ठीक ठीकसे नहीं धारण किया और हमने उसीको मुनियोंका सामायिक (आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।

सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामीको उपदेश देते हैं कि, जिसने समस्त जगत्का दर्शन किया है, ऐसे महावीरम्मावान्ने हमें इस तरह कहा है—गुरुके आशीर्वाद होकर आचरण करनेवाले ऐसे अनन्त पुरुषोंने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।

एक इसी जगत् नहीं परन्तु सब जगत् वार सब शास्त्रोंमें यही बात कहनेका उद्देश है।

आणाए बम्पो आणाए तबो

आज्ञाका आचरण ही धर्म है आज्ञाका आचरण ही तप है—

यह वाच्य जीवको समझमें नहीं आया, इसके कारणोंमेंसे प्रथम कारण स्वच्छन्द है।

१९८

बम्बई, पौष १९४७

सत्स्वरूपको अनेकरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसको मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है उसे सब विकल्पोंको छोड़कर कसब यही एक विकल्प फिर किरसे स्वरूप करना आवश्यक है—

अनंतकायसे जीव परिचय कर रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह निवृत्ति क्या करनेसे हो सकती है?

इस वाक्यमें अनन्त शब्द समाधि है तथा इस वाक्यमें उपरोक्त चित्तजन किये बिना और उसके किये हुए होकर तन्मय हुए बिना मार्गकी प्राप्ति किंचित् भी माल नहीं होता, पूर्वमें नहीं हुआ और मनीषकायमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसे ही बताया है इसलिये तुम सबको भी इसीकी खोज करना है; फिर उसके बाद ही दूसरा क्या ज्ञाननेकी जरूरत है उस बातका पता चलता है।

१९९

बम्बई, माघ सुदी ७ एवि १९४७

जिसे मु— परसे रहना पड़ता है ऐसे विज्ञासु।

जीवके दो बड़े संबन्ध हैं—एक स्वच्छन्द और दूसरा प्रतिबन्ध। जिसकी स्वच्छन्दता इष्टनेकी इच्छा है उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आचरण करना चाहिये; तथा जिसकी प्रतिबन्ध इष्टनेकी इच्छा है, उसे सर्व-संग्रह तपानी होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो संबन्धका नाश न होगा। जिसका स्वच्छन्द नष्ट हो

गया है, उसका प्रतिबन्ध भी जबसरेके प्राप्त होनेपर नाश होता है, इतनी शिक्षा स्मरण करने योग्य है।

यदि व्याख्यान करना पड़े तो करना, परन्तु व्याख्यान करनेकी योग्यता अभी तक मुझमें नहीं है, और यही मुझे प्रतिबन्ध है—ऐसा सम्झते हुए उपासीन भावसे व्याख्यान करना। व्याख्यान न करना पड़े इसके लिये यथाशक्त्य श्रोतवर्गको अतिने रुचिकर प्रयत्न हो सके उतमे सब करना; किन्तु यदि कैसा करनेपर भी व्याख्यान करना ही पड़े तो उपरिनिर्दिष्ट उदासीन भावसे ही करना।

१७० वर्ष, माघ सुदी ९ मौस १९४७

ज्ञान परेश है किन्ना अपरोक्ष, इस विषयको पत्रमें नहीं लिखा जा सकता, परन्तु सुप्रसिद्ध वाचको पाँडेका कुछ दर्शन हुआ है, और यदि कभी अस्मिताके साथ आपका सम्बन्ध निजा तो वह अतिम परिपूर्ण प्रकाश कर सकता है, क्योंकि उसे प्राप्त सब प्रकारसे ज्ञान मिला है और यही उसके दर्शनका मार्ग है। इस उपावियोगमें मगवान् इस दर्शनको नहीं होने देगे, इस प्रकार वे मुझे प्रेरित किया करते हैं अतएव जिस समय एकांतवासी हो सकेंगे उस समय ज्ञान बूझकर भगवान्का रक्षा हुआ पक्ष पोढ़े ही प्रयत्नसे हट जायगा।

१७१ वर्ष, माघ सुदी ११ शुक्र १९४७

सत्को अभेदभावसे नमोमनः

इससे सब प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा जीवको योग्यता प्राप्त हो, ऐसा विचार करना योग्य है; और उसका मुख्य साधन सब प्रकारके काम-मोहसे वैराग्यवर्धित सम्बन्ध है।

सम्बन्ध (समान वयवासे पुरुषोंका—समगुणी पुरुषोंका योग) में जिसको सत्का साक्षात्कार हो गया है ऐसे पुरुषके वचनोंका अनुशीलन करना चाहिये, और उसमेंसे योग्य कांछ जानेपर सत्का प्राप्त होती है।

जीव अपनी कल्पनासे किसी भी प्रकारसे सत्को प्राप्त नहीं कर सकता। सर्वाधन मूर्ति प्राप्त होनेपर ही सत् प्राप्त होता है, सत् समझमें आता है सत्का मार्ग मिलता है, और सत्पर कष्ट जाता है। सर्वाधन मूर्तिके लक्ष्यक बिना जो भी कुछ किया जाता है, वह सब जीवको बधन ही है, यही हमारा हार्दिक अनिमित्त है।

यह काष्ठ सुखमनविशेष प्राप्त होनेमें विग्रह्य है, फिर भी दूसरे काष्ठोंकी अपेक्षा अभी उसका विपश्यना बहुत कुछ कम है ऐसे समयमें जिससे वचनना और अङ्कना प्राप्त होता है ऐसे मायाकाय व्यवहारमें उदासीन होना ही भवत्कार है ... सत्का मार्ग तो कहीं भी निर्धार नहीं देता।

तुम सबको आत्रकल जो कोई जैनार्हणकी पुस्तकें पढ़नेका परिचय रहता हो, उसमेंसे जिस भागमें जगत्का विशेष वर्णन किया हो उस भागके पढ़नेका कष्ट कम करना; तथा जीवने क्या नहीं किया, और उसे अब क्या करना चाहिये, इस भागके पढ़नेका और विचारनेका विशेष कष्ट रचना।

औं कोर्ष दूसरे भी तुम्हारे स्तुति (आपक जाति) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उसका निषेध नहीं करना। जिससे हाथमें उपाधिभूषण इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुण्यको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी एक विद्यासुत ही बोधे धर्ममें करना (यह भी यदि यह इच्छा रखता हो तो) जिससे उसका कुछ मार्गकी ओर दिरे। बाकी हाथमें तो तुम सब अपनी सकलताके लिये ही मिया धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिकषका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य है नहीं, यह हमारा नियम है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य ग्रहण साधन है, और असंसर्ग ग्रहण विमल है।

१७२ बर्म्ह, माघ सुदी ११ गुक १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि छात्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसं नित्य बोधा भी अवकाश लेकर जिससे निवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेका बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके कुछ रखनेका ध्यान रखना।

नित्यता वास्तविक समय है उस संपूर्ण सम्पत्ती यदि जीव उपाधियोंमें बन्धने रखे तो मनुष्यत्वका सङ्कट होना कैसे समझ हो सकता है। मनुष्यत्वकी सकलताके लिये ही जीना कल्याण-कारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सकलताके लिये दिन दिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अन्त्यस्त लिये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मिक रूपमें मिया वास्तनाओंके स्वेयम करनेसे हुआ है; इस महात्म्यको रखते हुए ऐसी मिया वास्तनार्थ किस तरह दूर हों इसका विचार करनेका प्रयत्न चाह रखना।

१७३

बर्म्ह, माघ सुदी १९४७

(१)

बचनावली

१ जीव अपने आपको भूक गया है, और इसी कारण उसका ससुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब वर्गमें माना है।

२ ज्ञान मित्रोंसे ही अपने आपको भूकनालेखी अवलोकना नाश होता है, ऐसा स्पष्ट रहित मानना।

३ उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये, यह स्वामयिकरूपसे समझमें आनेवाली बात है तो भी जीव लोक-कथा आदि कारणसे अवलोकना आशय नहीं छोड़ता, यही अन्तस्तुल्यकी कथापत्र भूक है।

४ जो ज्ञानकी प्राप्ति इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार बचना चाहिये ऐसा विनागम जाति सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे बचते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

५ जबतक प्रत्यक्ष-ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् उसकी आज्ञानुसार नहीं चला जाय, तबतक अज्ञानीकी निवृत्ति होना समभव नहीं ।

६ ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन नहीं कर सकता है जो एकनिष्ठसे तन, मन, धनकी वास्तविकता त्याग करके उसकी भक्तिमें लगे ।

७ यद्यपि ज्ञानी योग भक्तिकी इच्छा नहीं करते, परन्तु उसको किये बिना मोक्षामिलायीको उपदेश नहीं लगाता, तथा वह उपदेश मनन और निष्पिण्डासन आदिका हेतु नहीं होता, इसलिये मुमुक्षुओंको ज्ञानीकी भक्ति अवश्य करना चाहिये, ऐसा स्वरूपोंने कहा है ।

८ कृपाम्देवकीने अपने आश्रमसे पुरोको शीघ्रसे शीघ्र मोक्ष जानेका यही मार्ग बताया था ।

९ परीक्षित राजाको कृपाम्देवकीने यही उपदेश किया है ।

१० यदि जीव अनन्त कालतक भी अपनी इच्छानुसार चक्कर परिभ्रम करता रहे तो भी वह अपने आपसे ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, परन्तु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन अन्तमुहूर्तमें भी केवल-ज्ञान पा सकता है ।

११ शास्त्रमें कहीं हुई आज्ञायें परोक्ष हैं, और वे जीवको अविकारी होनेके लिये ही कहीं गई हैं, मोक्षप्राप्तिके लिये तो ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन होना चाहिये ।

(२)

जैसे जैसे निकट मार्गसे भी यदि परमात्मामें परमस्नेह होता हो तो भी उसे करना ही योग्य है । सख मार्ग मित्रनेपर उपाधिके कारणसे तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकसरीखा स्नेह नहीं उभराता; इस कारण छोड़ा जाता है, और बारम्बार वनवासकी इच्छा हुआ करती है । यद्यपि वैराग्य तो ऐसा है कि प्रायः घर और वनमें आत्माको कोई भी भेद नहीं लगाता, परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग करनेकी बारम्बार जरूरत पड़ा करती है, जिससे कि उस समय परम स्नेहपर आचरण करना पड़ता है, और ऐसे परम स्नेह और अमन्य प्रेममत्तिके आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नहीं होती ।

यदि कदाचित् सख आत्माओंकी ऐसी ही इच्छा हो तो कैसी भी दीनतासे उस इच्छाको निवृत्त करना, किन्तु प्रेममत्तिकी पूर्ण कृप आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकता, और बारम्बार यही रटन रहनेसे हमेशा यही मन रहता है कि 'वनमें जीव' वनमें जीव' । यदि आवश्यक निरंतर सप्ताह रहा करे तो हमें घर भी वनवास ही है ।

भीमदत्ताश्रममें गोपांगनाकी सुंदर आख्यायिका दी हुई है, और उनकी प्रेममत्तिकी कर्जान किया है । ऐसी प्रेममत्ति इस कठिकाणमें प्राप्त होना कठिन है, यद्यपि यह सामान्य कथन है, तथापि कठिकाणमें निश्चय मतिसे यही रटन छापी रहे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र ही यह भक्ति प्रदान करता है । यह दशा बारम्बार याद आती है; और ऐसा उन्मत्तपणा परमात्माको पानेका परमद्वार है; यही दशा बिदेही थी ।

भरतजीको हरिणके संगसे वनकी वृद्धि हुई थी, और उससे वे जङ्गलरतके भयमें असुर होकर

बगल मी, यहाँ मायापूर्वक ही परमात्माका दर्शन है, कुछ विचारकर पग रखने जैसा लगता है; इसी क्रिये हम असंगतताकी इच्छा करते हैं, अथवा आपके सुगती इच्छा करते हैं, यह योग्य ही है।

१७७

बम्बई, माघ वदी ११ रवि १९४०

गुरु परिचयके लिये आपने कुछ नहीं लिखा, सो लिखें।

पारमार्थिक विषयमें हाथमें मीन रखनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जबतक हम असंग न होंगे, और उसके बाद उसकी इच्छा न हमी, जबतक हम प्रगट रीतिसे मार्गोपदेश न करेंगे; और सब मन्त्रात्मजोंका पेसा ही रिवाज है; हम तो केवल हीन हैं। मागवतबाड़ी बात हमने आत्म-ज्ञानसे जानी है।

१७८

बम्बई, माघ वदी ११ रवि १९४०

आत्मको मेरे प्रति परम उद्वास होता है, और उस विषयमें आप आत्मज्ञ प्रसन्नता प्रगट करते हैं। परन्तु हमारी प्रसन्नता अभीतक अपने ऊपर नहीं होती; क्योंकि किसी चाहिये किसी असंग-दशासे नहीं रहा जाता और मिथ्या प्रतिबोधमें बाध रहता है। यद्यपि परमार्थिक क्रिये परिपूर्ण इच्छा है परन्तु अभी उसमें जबतक ईश्वरेच्छाकी सम्पत्ति नहीं हुई जबतक मेरे विषयमें मन ही मनमें समझ रहना; और चाहे जैसे दूसरे मुमुक्षुओंको भी मेरा नाम लेकर कुछ न कहना। अभी हाथमें हमें ऐसी दशासे ही रहना प्रिय है।

१७९

बम्बई, माघ वदी ११, १९४०

यद्यपि किसी भी क्रियाका भग नहीं किया जाता तो भी उनको जैसा लगता है, इसका कोई कारण होना चाहिये; उस कारणको दूर करना यह कल्याणकर्म है।

परिणाममें 'सत्' को प्राप्त करानेवाली और प्रारम्भमें 'सत्' की हेतुभूत ऐसी उनकी इच्छाको प्रसन्नता देनेवाली वैराग्य-कृपाका प्रसंग पाकर उनके साधु परिचय करेंगे, तो उनके समानास्ते भी कर्मयोग ही वृद्धिगत होगा और पहिछा कारण भी दूर हो जायगा।

मिसमें प्रथिनी आधिका निस्तारसे विचार किया है, ऐसे बचनोंकी अपेक्षा वैराग्यिक 'अध्ययन' जैसे बचन वैराग्यकी वृद्धि करते हैं, और उसमें दूसरे मतवाले प्राणीको भी अरुचि नहीं होती।

जो साधु तुम्हारा अनुकरण करते हों, उन्हें समय समयपर कहते रहना कि "धर्म उसीको कहा जा सकता है जो धर्म होकर परिणमे; ज्ञान उसीको कहा जा सकता है कि जो ज्ञान होकर परिणमे; यदि हम मेरे कहनेका यह हेतु न समझो कि हम जो सब क्रियायें और वाचन इत्यादि करते हैं, वे मिथ्या हैं, तो मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ। इस प्रकार कहकर उन्हें यह कहना चाहिये कि यह जो कुछ हम करते हैं उसमें कोई ऐसी बात नहीं रह जाती है कि जिससे 'धर्म और ज्ञान' हमें अपने अपने कर्मों में ही परिणामले. तथा कदापि और

रहे थे। इसी कारणसे मुझे भी असुगता बहुत पाद जाती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि असुगताके बिना परम दुःख होता है। अनवस्थासे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगता उससे भी अधिक हमें सेव दुःखदायक लगता है। ऐसी बहुतसी अवस्थितियाँ हैं जो एक ही प्रवाहकी हैं, जो छिपी भी नहीं जाती, और उन्हें छिप्ने बिना पुण भी रहा नहीं जाता, और वायफा विमोह लगा रहता रहता है। कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता। उदयकर्म भोगसे हुए क्षीयता करना उचित नहीं। मरिष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है।

सद सद और सदके साधन स्वरूप आप नहीं हैं। अधिक क्या करें। ईश्वरकी इच्छा ऐसी ही है, और उसे प्रसन्न रखने बिना छुटकारा नहीं। नहीं तो ऐसी उपाधिपुष्ट दशामें न रहे और मनमाना करें। परम..... के कारण प्रेममयिम्प ही रहे, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रकट है।

१७४

कर्म, भाव बदी १, १९४४

सर्वथा निर्विकार होनपर भी परब्रह्म मेघमय परामर्शिके बन्ध है, यह हमें ज्ञाना,

मिसन इदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है। असुगति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन महसूस होता है। जिसका पदार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा स्वरूप जिसके इदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महामात्म्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर हुआ रहे हम ता आपकी चरण-रत्न हैं। और दोनों काममें निरबलनेसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे।

आज प्रमात्मी निरजनेदवका कोई अमृत अनुभव प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनसे इच्छित परामर्श किसी अनुभवमयमें उचित हुई है। श्रीमद्भाष्यमें एक कथा है कि गोविन्दो भगवान् वासुदेव (इष्टात्मन्) को मत्स्यकी मत्स्यमें रखकर बेचनेके लिये निकली थी, वह प्रसंग आज बहुत पाला जा रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही उद्धारक-कर्म है, और वही वह मत्स्यकी मत्स्यकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं। उदयकर्म के विचित्रविचित्र गौरीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं समस्त आत्मजोति कहती है कि 'कोई माधव को, और कोई माधव को'—अर्थात् वह इति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और वह वह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं। इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अबत प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मत्स्यमें रखकर बेचने निकली हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं। कोई ग्राहक को अबत प्रेमसे कोई ग्राहक को, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मत्स्यमें रखकर बेचनेको निकलनेका यह आशय यह है कि हमें उद्धारक-कर्ममें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं। मत्स्यका केवल नाममात्र ही है। यदि समस्त सृष्टिको मत्स्य मत्स्य मत्स्य तो वेचन एक अप्रत्याशी वासुदेवभगवान् ही मिलते हैं। इस कथाका अन्तही सूत्र स्वरूप

यही है, किन्तु उसको स्थूल बनाकर, व्यासजनि उसे इस रूपसे वर्णन किया है, और उसके द्वारा अपनी बहुत मज्जिका परिचय दिया है। इस कथाका और समस्त भागवतका अक्षर अक्षर केवल इस एकको ही प्राप्त करनेके उद्देशसे रचा पड़ा है, और वह (इमें) बहुत समय पहले सम्पन्न हो गया है। ज्ञान बहुत ही व्यापक स्मरणमें है, क्योंकि साक्षात् अनुभवकी प्राप्ति हुई है, और इस कारण ज्ञानकी दशा परम अद्भुत है। ऐसी दशासे जीव उन्नत हुए बिना न रहेगा। तथा वासुदेवद्वारे ज्ञान ब्रह्मन् कुछ समयके लिये अन्तर्धान भी हो जानेवाले लक्षणोंके चारक हैं, इसीलिये हम असंगता चाहते हैं; और आपका सबवास भी असंगता ही है, इस कारण भी वह हमें विशेष प्रिय है।

यही सत्सङ्गकी कमी है, और विकल्प स्थानमें निवास है। हरि-दृष्टपूर्वक ही घूमने फिरनेकी इच्छा रखी है, इसके कारण यद्यपि कोई खेद तो नहीं परन्तु भेदका प्रकाश नहीं किया जा सकता; यही पिता निरन्तर रहा करता है।

अनेक अनेक प्रकारसे मनन करकेपर हमें यही हृदय निश्चय हुआ है कि मक्ति ही सर्वोपरि मार्ग है और वह ऐसी अनुपम वस्तु है कि यदि उसे सत्पुरुषके चरणोंके समीप रखकर की आज्ञा तो वह क्षणभरमें मोक्ष दे सकता है।

विशेष कुछ छिन्ना नहीं जाता; परमानन्द है, परन्तु असत्सङ्ग है, अर्थात् सत्सङ्ग नहीं है।

(२)

किन्ती ब्रह्मरत्नके मोक्षको कोई विरला योगी ही जानता है।

१७५

बम्बई, माघ वरी १, १९४७

भारी हुई बचनायकीमें आपकी प्रसन्नता होनेसे हमारी प्रसन्नताको उद्येजना मिली। इसमें सत्का अनुवृत्त मार्ग प्रकाशित किया गया है। यदि वह एक ही दृष्टिसे इन वाक्योंका आराधन करेगा, और उसी पुरुषकी आज्ञामें जीन रहेगा तो अनन्तकालसे प्राप्त हुआ परिचमण मिल जायगा।

उसे मायाका विशेष मोह है, और वही मानकि मिथ्यामें मग्न प्रविष्ट माना गया है, इसलिये मेरी उससे ऐसी दृष्टियोंको धीरे धीरे कम करनेकी प्रार्थना है।

१७६

बम्बई, माघ वरी ११ शुक्र १९४७

तत्र को मोहः का शोकः एकत्वमनुपपद्यतः

जो सर्वत्र एकत्व (परमात्मस्वरूप) को ही देखता है, उसे मोह क्या और शोक क्या ?

यदि वास्तविक सुख अगत्की दृष्टिमें आया होता तो ज्ञानी पुरुषोंसे नियत किया हुआ मोक्ष स्थान सर्वशोकमें नहीं होता; परन्तु यह अगत् ही मोक्ष-स्थान होता।

यद्यपि यह बात सत्य ही है कि ज्ञानीको तो सर्वत्र ही मोक्ष है; फिर भी उस ज्ञानीको यह

(२)

कोई ब्रह्मरत्न मोयी कोई ब्रह्मरत्न मोयी।

जाके कोई ब्रह्मरत्न मोयी कोई ब्रह्मरत्न मोयी।

गाय भी, जहाँ मामापूर्वक ही परमात्माका दर्शन है, कुछ विचारकर पग रखने जैसा कगता है, इसी-
जैसे हम असमाताकी इच्छा करते हैं, अपना आपके सगकी इच्छा करते हैं, यह योग्य ही है ।

१७७

बम्बई, माघ वदी १३ रवि १९४७

गाय परिचयके छिये आपने कुछ नहीं किया, सो ठिके ।

पारमार्थिक नियममें हाथमें मीन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है । जबतक हम असमा न
होंगे, और उसके बाद उसकी इच्छा न हागी, तबतक हम प्रगट रीतिसे मार्गोपदेश न करेंगे;
और सब मन्त्रमात्रोंका ऐसा ही विशास है; हम तो केवल दीन हैं । मार्गवतताकी बात हमने आप-
हाथसे जानी है ।

१७८

बम्बई, माघ वदी १३ रवि १९४७

आपको मेरे प्रति परम उच्छास होता है, और उस विषयमें आप बारम्बार प्रसन्नता प्रगट
करते हैं; परन्तु हमारी प्रसन्नता अमीतक अपने ऊपर नहीं होती; क्योंकि जैसी चाहिये वैसी असमा-
दशासे नहीं छा जाता; और मिथ्या प्रतिबन्धमें बाध रहता है । जबकि परमात्मके छिये परिपूर्ण इच्छा
है, परन्तु अभी उसमें अबतक ईश्वरेच्छाकी सम्पत्ति नहीं हुई तबतक मेरे विषयमें मग ही मनमें सम्यक्
रखना; बार बार जैसे दूसरे मुमुक्षुओंका भी मेरा नाम लेकर कुछ न कहना । अभी हाथमें हमें ऐसी
दशासे ही रहना प्रिय है ।

१७९

बम्बई, माघ वदी १३ १९४७

जबकि किसी भी क्रियाका मग नहीं किया जाता ता भी उनको वैसा कगता है, इसका कोई
कारण होना चाहिये; उस कारणको दूर करना यह कल्याणकर है ।

परिणाममें ' सत् ' को प्राप्त करनेवाली और प्रारम्भमें ' सत् ' की हेतुभूत ऐसी वनकी कविके
प्रसन्नता देनेवाली वैराग्य-कपाका प्रसंग पाकर उनके साध परिचय करेंगे, तो उनके समामास में
कल्याण ही बुद्धिगत होगा, और पक्षित कारण भी दूर हो जायगा ।

त्रिसमें पुपिषी आदिका विचारसे विचार किया है, ऐसे वचनोंकी अपेक्षा ' वैराग्यिक ' वाक्यम
जैसा वचन वैराग्यकी बुद्धि करते है, और उसमें दूसरे मतवाले प्राणीको भी बहानि नहीं होती ।

जो साधु तुम्हारा अनुकरण करते हैं उन्हें समय समयपर कहते रहना कि " नम उसीको
कहा जा सकता है जा नम होकर परिणमे; ज्ञान उसीको कहा जा सकता है कि जा ज्ञान होकर
परिणम; परि तुम मरे कहनेका यह हेतु न समझो कि हम जो सब रित्यामें और वाचन
इत्यादि करते हैं, वे मिथ्या हैं, तो मैं तुम्हें कुछ कहना चाहता हूँ " । इस प्रकार
कहकर उन्हें यह कहना चाहिये कि यह जो कुछ हम करते हैं, उसमें कोई ऐसी बात नहीं रह
जाती है कि त्रिसमें ' धर्म ' और ज्ञान हमें अपने अपने रूपमें नहीं परिणमते, तथा कल्याण और

मेध्यात्म (सन्देह) मद नहीं होते; इसलिये हमें जीवको कल्याणका पुन पुन विचार करना चाहिये और उसका विचार करनेपर हम कुछ न कुछ फल पाये बिना न रहेंगे । हम लोग सब कुछ जाननेका तो प्रयत्न करते हैं, परन्तु हमारा 'सन्देह' कैसे दूर हो, यह जाननेका प्रयत्न नहीं करते । और जबतक ऐसा न करेंगे तबतक सन्देह कैसे जा सकता है, और जबतक सन्देह है, तबतक ज्ञान भी नहीं हो सकता, इसलिये सन्देह हटानेका प्रयत्न करना चाहिये । यह सन्देह यह है कि जीव भ्रम्य है या अभ्रम्य ? मिथ्यादीष्टि है या सम्यग्दीष्टि ? आसानीसे बोध पानेवाला है या कठिनातासे बोध पानेवाला ? निष्क संसारी है या अधिक संसारी ? जिससे हमें ये सब बातें माध्यम हो सकें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकारकी ज्ञान-कथाका उनसे प्रसंग रखना योग्य है ।

परमार्थको ऊपर प्रीति होनेमें ससुग ही सर्वोत्तम और अनुपम साधन है; परन्तु इस कालमें ऐसा संयोग मिटना बहुत ही कठिन है इसलिये जीवको इस विकटतामें रहकर पार पानेमें निष्क पुरुषार्थ करना योग्य है और यह यह कि "अनादिकावसे जितना जन्मा है उतना सबका सब अज्ञान ही है; उस सबका विम्वरण करना चाहिये ।"

'सत्' सत् ही है, सत्त्व है, और सुगम है, उसकी सर्वत्र प्राप्ति हो सकती है; परन्तु 'सत्को' बतानेवाला कोई 'सत्' चाहिये ।

नय अनन्त है । प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण-धर्म-हैं; उनमें अनन्त नय परिणमते हैं; इसलिये एक अथवा दो चार नयोंका बसुका सम्पूर्ण वर्णन कर देना संभव नहीं है; इसलिये नय भाषिमें समतावान ही रहना चाहिये । ज्ञानियोंकी वाणी 'नय' में उद्गसीन रहती है; उस वाणीको नमस्कार हो ।

१८०

बम्बई, माघ वी १३, १९४७

(१)

नय अनन्त है; प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणोंसे, और अनन्त धर्मोंसे युक्त है । एक एक गुण और एक एक धर्ममें अनन्त नयोंका परिणमन होना रहता है; इसलिये इस मार्गसे पदार्थका निर्णय करना चाहें तो नहीं हो सकता, इसका कोई दूसरा ही मार्ग होना चाहिये बहुत करके इस बातको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं; और वे नय भाषि मार्गके प्रति उन्मसीन रहते हैं इससे सिन्धी नयका एकत्र गुञ्ज भी नहीं होता, और न किसी नयका एकत्र मण्डन ही होता है । जितनी जिसकी योग्यता है उस नयकी उतनी सदा ज्ञानी पुरुषोंको मान्य होती है । जिन्हें मार्ग प्राप्त नहीं हुआ ऐसे मनुष्य 'नय' का आग्रह करते हैं; और उसमें श्रियम फलकी प्राप्ति होती है । जहाँ किसी भी नयका निरोध नहीं होता ऐसे ज्ञानियोंके बचनोंको हम नमस्कार करते हैं । श्रिमका ज्ञानीक मार्गकी इच्छा दा ऐसे प्राणीको तो नय भाषिमें उन्मसीन रहनेका ही अभ्यास करना चाहिये; सिन्धी भी नयमें आग्रह नहीं करना चाहिये; और किसी भी प्राणीको इस मार्गसे कष्ट न देना चाहिये; और जिसका यह आग्रह दूर हो गया है, वह किसी भी तरहसे प्राणीकोको कष्ट पहुँचानेकी इच्छा नहीं करना ।

(२)

मात्रा प्रकारके मय, मात्रा प्रकारके प्रमाण, मात्रा प्रकारके भगवाण, और मात्रा प्रकारके अनुपमा ये सब छद्मनाम्न ही हैं; छद्म तो केवल एक सधितानम्न है ।

१८१

बम्बई, मार्च क्री ११, १९४७

‘सत्’ कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर जगता है और यही जीविका मोह है । ‘सत्’ जो कुछ है, वह ‘सत् ही’ है, वह सरल है, सुगम है; और उसकी सर्वत्र प्राप्ति हो सकती है; परन्तु जिसके अतिरूप जावरण-रूप छया हुआ है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ! अंधकारके चक्के कितने भी मेरु क्यों न करें किन्तु उनमें कोई ऐसा मेरु नहीं आ सकता जो उभरता हो । जिसे जावरण-सिमिर म्यास है ऐसे प्राणीकी कल्पनामेंकी कोई भी कल्पना ‘सत्’ मात्र ही होती; और वह प्राणी ‘सत्’ के परस्परक भी आ सके वह समझ नहीं है । जो ‘सत्’ है वह अति नहीं है, वह अस्तित्वे सर्वथा अस्तित्विक (जुदा) है; कल्पनासे ‘पर’ (दूर) है इसलिये जिसने उसको प्राप्त करनेका हृदय निश्चय किया है उसे ‘वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता,’ ऐसा पहिले हृदय निश्चय पुष्ट विचार करना चाहिये, और बादमें ‘सत्’ की प्राप्तिके लिये ज्ञानीको धारणमें जाना चाहिये; ऐसा करनेसे कष्ट ही मार्गकी प्राप्ति होती है ।

ये जो बचन लिखे हैं, ये सब मुमुक्षुओंको परमस्वतुके समान हैं, परमस्वतुके समान हैं, और उन्हें सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर ये परमस्वतुके देनेवाले हैं । इनमें निर्मल्य प्रवचनकी समस्त हस्त्यांगी, पददर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व, और ज्ञानीके उपदेशका बीज छोड़ते सब दिया है; इसलिये फिर फिरसे उनकी तैमज्ज करना विचारना, समझना समझनेका प्रयत्न करना इनका बाबा पहुँचानेवाले दूसरे प्रकाशसे उभरती खना; और इसीमें ही इतिहास कर करना, तुम्हें और अन्य किसी भी मुमुक्षुको मुक्त रीतिसे करनेका हमार यही एक मंत्र है । इसमें ‘सत्’ ही कहा है, वह समझनेके लिये अधिकसे अधिक समय अवश्य जगाना ।

१८२

बम्बई, मार्च क्री ११, १९४७

सत्यस्वतुकी अनेकभावसे समोममः

क्या जिसे ! वह तो कुछ सुझता भी नहीं क्योंकि दया कुछ शुद्ध ही रहती है; फिर भी प्रसंग पाकर कोई स्फूर्ति प्रेरणाही पुस्तक होगी तो भेजूंगा ।

हमारे ऊपर हमारी चाले शैली भी भिन्न क्यों न हो तो भी बाबाके सब जीवोंके और नियम करके बर्तन-जीवोंके तो हम तीनों काश्म में दास हैं । इसमें तो सबको इतना ही करना चाहिये कि पुण्य छोड़ने किता तो हृदय ही नहीं; और वह छोड़ने योग्य ही है, वह माफना हृदय करना । मार्ग सरल है; पर प्राप्ति दुर्लभ है ।

१८३

वर्षा, माघ बदी १९४७

सतको नमोनम

‘काम’ शब्द बड़ा अर्थात् इच्छा, और पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

‘अनन्य’ अर्थात् जिसके समान कोई दूसरा न हो अर्थात् सर्वोत्कृष्ट। ‘अनन्यमस्तिमान’ अर्थात् जिसके समान कोई दूसरा नहीं ऐसा मत्तिपूर्वक उत्पद्यमान।

जिसके बचन-वचसे जीव निर्वाण-मार्गको पाता है, ऐसी सजीवन मूर्तिका नाम यद्यपि जीवको पूर्वकालमें अनेक बार हो चुका है, परन्तु उसकी पहिचान नहीं हुई। जीवने पहिचान करनेका प्रयत्न चाप्यद किया भी होगा, तथापि जीवको वह पकड़े रखनेवाली सिद्धि-योग आग्नि, ऋद्धि-योग आग्नि एवं इसी तरहकी दूसरी कामनाओंसे उसकी खुदकी दृष्टि मलिन थी, और यदि दृष्टि मलिन हो तो उससे सत्मूर्तिके प्रति कुछ न उगाकर वह कुछ अन्य वस्तुओंमें ही रहता है, जिससे पहिचान नहीं हो पाती, और जब पहिचान होती है तब जीवको कोई अपूर्व ही स्नेह पैदा हो जाता है, और वह ऐसा कि उस मूर्तिके विषयमें उसे एक घड़ीभर आयु भोगमा भी विद्यमानता मल्लम होती है, अर्थात् उसके विषयमें वह उदासीन मानसे उसीमें दृष्टि रखकर जीता है और इसे दूसरे पदार्थोंका संयोग और मल्लु ये दोनों समान ही हो जाते हैं। जब ऐसी दशा आ जाती है, तब जीव मार्गके बहुत ही निकट आ जाता है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसी दशा आनेमें मायाकी सगति बहुत ही विनम्र है; परन्तु इसी दशाको अनेक जिसका वह निश्चय है उसे प्राप्य करके थोड़े ही समयमें वह दशा प्राप्त हो जाती है।

तुम सब लोग इसमें तो हमें एक प्रकारका बचन करने छगे हो, उसके लिये हम क्या करें, यह कुछ भी नहीं सुझता। ‘सजीवन मूर्ति’ से मार्ग मिल सकता है, ऐसा उपदेश करते हुए हमने स्वयं अपने आपको ही बचनमें डाल दिया है, और इस उपदेशका अर्थ तुमने हमारे ऊपर ही उगाना शुरू कर दिया। हम तो सजीवन मूर्तिके केवल दास हैं, उनकी मात्र चरण-रत्न हैं। हमारी ऐसी कभी किंचिद दशा भी नहीं है कि जिस दशामें केवल असंगता ही रहती हो? हमारा उपाधिविषय तो बीसा तुम प्रत्यक्ष देखते हैंसा ही है।

ये दो अन्तर्को बातें मैंने तुम सबोंके लिये लिखी हैं। जिससे इसको अब कम बंधन हो, ऐसा करनेकी सबसे प्रार्थना है। दूसरी बात एक यह भी कहनी है कि तुम लोग हमारे विषयमें अब किसीसे कुछ भी न कहना। उदयकाल तुम जानते ही हो।

मुमुक्षु वे० योगमार्गके अच्छे परिचयी हैं, इतना ही जानता हूँ, योग्य जीव हैं। जिस ‘पद’के साक्षात्कारके विषयमें तुमने पूछा है वह उन्हें अभीतक साक्षात्कार नहीं हुआ है।

कुछ दिन पहिले उधर पिछाये विचारनेकी बात उनके मुँहसे सुनी थी, किन्तु इस विषयमें इस समय कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। यद्यपि मैं उन्हें इतना विश्वास दिला सकता हूँ कि उन्होंने तुम्हें मिथ्या नहीं कहा है।

१८७

वर्षा, फाल्गुन सुदी ४ शनि १९४०

पुराणपुरूपको नमोनमः

यह लोक विविध चापसे आच्छादित है, और ऐसा दीप्त है कि पृथगुणाके जलसे केनेके सिरे हीरे दीप्त करके उससे अपनी तथा पुष्टानेकी इच्छा करता है। यह अज्ञानिक कारण अपने स्वरूपको भूल बैठा है और इसके कारण उसे भयकर परिभ्रमण प्राप्त हुआ है। समय समयपर वह व्यस्य, रुद्ध, म्लान आदि रोग, मरण आदि भय, और नियोग आदि दुःखोंका अनुभव करता रहता है। ऐसी असह्यतावाले इस जगत्को एक सत्पुरुष ही धारण है; सत्पुरुषकी भागीनके बिना दूसरा कोई भी इस ठान और दयाको शक्त नहीं कर सकता, ऐसा निश्चय है। अतएव फिर फिरसे हम उस सत्पुरुषके चरणोंमें प्रणाम करते हैं।

सत्तत्त्व सर्वथा असत्तात्मक है। यदि किसी प्राणीको जो अल्प भी साक्षात् दीप्त पड़ती है तो वह भी सत्पुरुषका ही अनुग्रह है। किसी भी प्रकारके पुण्यके बिना साक्षात्की प्राप्ति नहीं होती; और उस पुण्यको भी सत्पुरुषके उपदेशके बिना कोई नहीं जान पाया। बहुत काल पूर्व उपदेश किया हुआ वह पुण्य आज अशुद्ध धोईसी रुबियोंमें मान लिया गया है। इस कारण ऐसा मान्य होता है कि कहीं यह भय आदि दुःख प्राप्त हुआ है, परन्तु वस्तुतः इसका मूल एक सत्पुरुष ही है। अतएव हम तो यही मानते हैं कि साक्षात्के एक वंशसे केकर तत्पूर्ण आनन्दतत्त्वकी सब समाधियोंका मूल एक सत्पुरुष ही है। इतनी अधिक सामर्थ्य होनेपर भी जिसको कोई भी स्तुता नहीं, उन्नतता नहीं, भजनात्म नहीं, गर्व नहीं, गौरव नहीं, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमाके सत्पुरुषके नामको हम फिर फिरसे स्मरण करते हैं।

त्रिकोणके माथ वरामें होनेपर भी वे किसी ऐसी ही अटपटी दशासे रहते हैं कि जिसकी सामान्य मनुष्यको पहिचान भी होना दुर्लभ है; ऐसे सत्पुरुषका हम फिर फिरसे स्तवन करते हैं।

एक समझके लिये भी सर्वथा असंग्रामसे रहना, यह त्रिकोणको बसा करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक कठिन कार्य है; जो त्रिकोणमें ऐसे असंग्रामसे रहता है, ऐसे सत्पुरुषके अतिशयणको देखकर हम उसे परम आश्चर्यसे नमन करते हैं।

हे परमात्मन्! हम तो ऐसा ही मानते हैं कि इस कालमें भी जीवको मोक्ष ही सकता है। फिर भी वैसा कि वैन र्मोंमें कहीं कहीं प्रतिपादन किया गया है कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता, तो इस प्रतिपादनको इस क्षेत्रमें तो अपने पास ही रक्क और हमें मोक्ष देनेकी अपेक्षा, हम सत्पुरुषके ही कारणका ध्यान करें और उसीके समीपमें जाएं, ऐसा योग प्रदान कर।

हे पुरुषपुत्रन्! हम तुझमें और सत्पुरुषमें कोई भी भेद नहीं समझते। तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष मान्य होता है। क्योंकि तू भी उसीके आधीन रहता है और हम सत्पुरुषको पहिचाने बिना तुझे नहीं पहिचान सकते; तेरी यही दुर्घटना हमें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योंकि तुझे बसा करनेपर भी वे सम्भव नहीं होते; और वे तुझसे भी अधिक सरल हैं। इसलिये अब तू वैसा करो वैसा करे।

हे माथ! तू कुछ न मानना कि हम तुझसे भी सत्पुरुषका ही अधिक स्तवन करते हैं। सफल

भगवत् तेरा ही स्तवन करता है, तो फिर हम भी तेरे ही सामन बैठे रहेंगे, फिर तुझे स्तवनकी कहीं चाहना है, और उसमें तेरा अपमान भी कहीं हुआ ?

(२) ज्ञानी पुरुष त्रिकाश्रयकी बात जाननेपर भी उसे प्रगट नहीं करते, ऐसा जो आपने पूछा है, इसके सर्वप्रथम ऐसा माध्यम होता है कि ईश्वरीय इच्छा ही ऐसी है कि किसी भी पारमार्थिक बातके सिवाय ज्ञानी छोटा त्रिकाश्रयकी दूसरी बात प्रसिद्ध न करें, तथा ज्ञानीकी आंतरिक इच्छा भी ऐसी ही माध्यम होती है । जिसको किसी भी प्रकारकी आकांक्षा नहीं है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको कुछ कर्तव्य नहीं रहता, इसलिये जो कुछ भी उदयमें आता है उतना ही वे करते हैं । हमें तो कहीं ऐसा ज्ञान है नहीं, जिससे तीनों काल सब प्रकारसे जाने जा सकें, और हमें ऐसे ज्ञानका कोई विशेष कष्ट भी नहीं है । हमें तो ऐसा जो वास्तविक स्वप्न है उसीकी मक्ति और असंगतता प्रिय है, यही निवेदन है ।

१८५

बम्बई, फाल्गुन सुदी ५ रवि १९४७

जनेद दशाके आये बिना जो प्राणी इस जगत्की रचना देखना चाहते हैं, वे इसमें फँस जाते हैं ।

ऐसी दशा प्राप्त करनेके लिये उस प्राणीको इस रचनाके कारणमें प्रीति करनी चाहिये, और अपनी आह्वय आंतिका परित्याग करना चाहिये । सब प्रकारसे इस रचनाके उपभोगकी इच्छा त्यागनी ही योग्य है और ऐसा होनेके लिये संपुरुषके शरण जैसी एक भी औपचि नहीं । इस निश्चय बर्ताको विचार मोहाय प्राणी नहीं जानते, इस कारण तीनों तापसे उन्हें जलते देखकर परमकरुणा आती है, और बरबस यह उद्गार मुंहसे निकल पड़ता है कि वे नाथ । व अत्युग्र करके उन्हें अपनी गतिमें मक्ति प्रदान कर ।

उदयकास्मके अनुसार चलते हैं । यदि कदाचित् मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो जाय तो यह दूसरी बात है, परन्तु हमें तो ऐसा माध्यम होता है कि इस जगत्के प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है, यदि यह सब सोनेका भी हो जाय तो भी हम तो इसे तुल्यवत् ही मानते हैं; और परमशक्तकी विभूतिमें ही हमारी मक्ति केन्द्रित है ।

आकांक्षित

१८६

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ १९४७

ये प्रश्न ऐसे पारमार्थिक हैं कि समुदाय पुरुषको उनका परिचय करना चाहिये । हमारे पुस्तकोंके पाठियों भी ऐसे प्रश्न नहीं उठते, ऐसा हम समझते हैं । उनमें भी प्रथम संस्करणके प्रश्न (जगत्के स्वरूपमें मतभेदोंपर क्यों हैं ?) को तो ज्ञानी पुरुष अपना उसकी आकांक्षा अनुसार करनेवाले पुरुष ही उद्दिष्ट कर सकते हैं । यहाँ सतोपभजनक निहित नहीं रहती, इसलिये ऐसी ज्ञानवर्ता जिन्होंने जरा विस्मय करनेकी जरूरत होती है । अंतिम प्रश्न आपने हमारे कवचस्थके विषयमें पूछा है यह प्रश्न भी ऐसा है जो ज्ञानीकी अतृप्ति जाननेवाले पुरुषके सिवाय शायद ही किसी दूसरेके द्वारा पूछा जा सके ।

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम ममस्वरूप करते हैं। कठिकाञ्चम यदि परमात्माको किसी अधिकतम पुरुषको ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं। हमें इस काममें आरक्षा सदा मित्र, और उसीसे हम भीत हैं।

१८७

कर्म काव्यगुण सूची ११ १९४७

‘सत्’ सत् है, सत्त्व है, सुगम है उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

‘सत्’ है, उसे कष्टसे बाधा नहीं, यह सबका अविच्छिन्न है, और यह बाणीसे अक्षय्य है। उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्ति का उपाय है।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका एक ‘सत्’ ही है। बाणीय अक्षय्य होनेके कारण उसे ब्रह्म-वेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भ्रम मात्स्य होता है, किन्तु बस्तुतः उसमें कोई भ्रम नहीं है।

सब काममें अनेकता स्वरूप एकता नहीं रहता; यह क्षणक्षणमें बदलता रहता है उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियों पैदा होती हैं; और अनेक रूप होती जाती हैं एक क्षणके पहिले जो रूप ब्रह्मज्ञानसे मात्स्य न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें अनेकताका अनेकता स्वरूप अज्ञानीपर अनुभूत करनेके लिये कुछ क्षुब्ध रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व काममें एकही स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप ‘सत्’ नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भांति हूँ की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है ऐसा समझमें आता है। ब्रह्म-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतस्वरूप मानकर भांतिमें पक जाते हैं परन्तु कोई संपन्न जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तग आकर ‘सत्’ की तरफ झुकता है। बहुत करके सब सुसुखजाने इसी तरहसे मार्ग पाना है। इस जगत्के ब्रह्मचार भांतिस्वरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भांति पाते हैं कि और बस्तुका स्वरूप क्या है? इस तरह जो अनन्त प्रकाशसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है? ऐसे विचार करते करते, इसको एक भांति का ही निष्पन्न मानकर, ‘जहाँसे ‘सत्’ की प्राप्ति होती है ऐसे स्वकी शरण बिना छुटकारा नहीं, ऐसा समझकर वे उसकी शोच करते हैं, और उसकी शरणमें आकर ‘सत्’ पाते हैं और सर्व सत्त्व हो जाते हैं।

अनेक विदेशी सत्त्वमें रहनेपर भी विदेशी वह रहे, यह यद्यपि एक बड़ा ब्रह्मचर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमाज्ञानमें ही जिसकी आत्मा लम्ब हो गई है। ऐसी वह लम्ब आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों आ जाय फिर भी उसको छत्रसुरा रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती। जिसकी वेदतकका भी अज्ञानता हूँ हो गया है, ऐसे उस महा-भ्रमकी देह भी मनो अज्ञानमात्रसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदबन्धी कैसे हो सकती है?

भीष्म महात्मा ये। वे ज्ञानी होनेपर भी उदयमात्रसे सत्त्वमें रहे थे, इतना तो जैन मंत्रोंसे

मी जाना जा सकता है, और वह पर्याय ही है, तथापि उनकी गतिकी सम्बन्धों का भेद बताया गया है, उसका कुछ झुदा ही कारण है।

स्वर्ग, मरक आदिकी प्रतीति का उपाय योग-मार्ग है। उसमें भी जिनकी दूरदेशी सिद्धि प्राप्त होती है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। यह प्रतीति सर्वकारोंमें प्राणियोंका दुर्लभ ही रहती है। ज्ञान-मार्गमें इस विशेष बातका उल्लेख नहीं किया, परन्तु ये सब हैं जरूर।

जितने स्थानमें मोक्ष बताया गई है वह सत्य है। कर्मसे, अतिसे, अथवा मायासे छूटनका नाम ही मोक्ष है। यही मोक्ष शास्त्रकी व्याख्या है।

जीव एक भी है, और अनेक भी है।

१८८

बम्बई, फाल्गुन वरी १ शुक्ल १९४७

“एक देखिये जानिये” इस दावेके विषयमें आपने लिखा है। इस दावेकी हमन आपकी निष्ठाका ही इजाजत होनेके लिये नहीं लिखा था परन्तु यह दावा स्वामाधिक तौरसे हमें प्रशस्त लगा इसलिये इसे आपको लिख भेजा था। ऐसी छौ तो गोपांगनाओंमें थी। श्रीमद्भागवतमें महात्मा व्यासने बालदेव मगवान्के प्रति गोपियोंकी प्रेम-मत्तिका वर्णन किया है, वह परम आनन्दक और आश्चर्यकरक है।

नारद-महामुनि नामका एक छोट्टा सा सिद्धाचार्य महर्षि नारदजीका रचा हुआ है। उसमें प्रेम-मत्तिका सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है।

१८९

बम्बई, फाल्गुन वरी ८ शुक्ल १९४७

श्रीमद्भागवत परममत्तिका ही है। इसमें जो जो वर्णन किया गया है वह सब केवल कसकी सुविध करनेके लिये है।

यदि मुनिस सर्वव्यापक अधिष्ठान—आत्माके विषयमें दृष्ट आद्य तो उनसे लक्ष्य कुछ भी उत्तर नहीं मिल सकता, और कल्पित उत्तरसे कार्य-सिद्धि नहीं होती। आत्मोपनिषद् आदिकी भी हार्जमें इच्छा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह कल्पित है और कल्पितपर हमारा कुछ भी छल नहीं है।

१९०

बम्बई, फाल्गुन वरी ८ शुक्ल १९४७

परमात्माकी कृपासे परस्पर समामम आम हो ऐसी मरी इच्छा है।

यहाँ उपायविशेष विशेष रहता है, तथापि समाधिमें योगकी अप्रियता कभी न हो, ऐसा ईश्वरका अनुग्रह रहेगा, ऐसा माश्रम होता है।

१९१

बम्बई, फाल्गुन वरी १० शनि १९४७

आज जन्मकुंडलीके साथ आत्मा पत्र मिला। जन्मकुंडलीके सम्बन्धमें अभी उत्तर नहीं मिल

सकता। मक्तिविषयक प्रश्नोंका उत्तर प्रसन्न पाकर किर्सेगा। हमने आपको जिस विस्तारपूर्ण पत्रों "अभिष्टान" के संरक्षण में लिखा था, वह आपसे मेटा होनेपर ही समझमें था सकता है।

"अभिष्टान" वर्षों के जिससे बहुत उत्पन्न हुई हो, जिसमें वह स्थिर रहे, और जिसमें वह रूप पाने। "नगत्त अभिष्टान" का वर्ष इसी व्याख्याके अनुसार ही समझना।

वैनाईनमें परम्पराको सर्वव्यापक नहीं कहा है। इस विषयमें आपके जो कुछ भी कहेंगे हो उसे लिखें।

१९२

कर्म, फरगुन की ११ रवि १९४७

ज्योतिषको कथित कहनेका यही हेतु है कि यह नियम पारम्परिक ज्ञानको अपेक्षासे कथित ही है। और पारम्परिक ही सत्य है, और उसीकी ही रचना की हुई है।

हममें ईश्वरने मेरे सिरपर उपायिका बोधा विशेष रख रखा है, ऐसे करनेमें उसकी इच्छासे सुखरूप ही मानता हूँ। नैनप्रय इस कामको पंचमकाको नामसे कहते हैं, और पुराणमें इस कथिकाको नामसे कहते हैं। इस तरह हम कामको कठिन ही कहा गया है। उसका यही हेतु है कि इस काममें जाँचकी 'समस्या और सुखा' का उपयोग मिटना बरि कठिन है और इसीसे इस कामको ऐसा उपनाम दिया गया है। हमें भी पंचमकाका अपना कथिमुग हममें तो अनुभव दे रहा है। हमारा विश्व बलिष्ठ निरुद्ध है, और हम नगत्तमें सत्य होकर रह रहे हैं। वह सब कथि-मुगकी ही इया है।

१९३

कर्म, फरगुन की १४ बुध १९४७

ईश्वरमिमाने गच्छिते, विश्वसे परमात्मनि।

मम यम मनी याति, तम यम समायमयः॥

मे कर्ता हूँ, मे मनुष्य हूँ, मे दुःखी हूँ, मे दुःखी हूँ, क्षणिक रूपसे रहनेवाला जिसका ईश-मिमान जग हो गया है, और जिसने सर्वोत्तम परमप्राप्तको जान लिया है, उसका मन नहीं बंधी भी जाता है, बल्कि वही उसको समायी ही है।

कई बार आपके विस्तृत पत्र मिलते हैं और ये पत्र पढ़कर पढ़िजे तो आपके समायममें ही रहनेकी इच्छा होती है। तथापि कारणसे उस इच्छाका किसी भी तरहसे विस्मरण करना पड़ता है; तथा पत्रका सुविस्तार उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है तो वह इच्छा भी बहुत करके शापक ही पूर्ण हो पाती है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह है कि इस विषयमें अधिक लिखने योग्य पत्रा नहीं रही; और दूसरा कारण उपभोग्य है। उपाधियोगकी अपेक्षा निश्चयान दशावस्था करण अधिक कथ्यमान है। यह दशा बहुत निरुद्ध है और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता, और उसमें भी परमापके विषयमें लिखनेकी जिये तो केवल शून्य जैसा हो जाता करता है। इस विषयमें केवल-

शक्ति तो बहुत ही अधिक शून्य हो गई है। हाँ, बाणी प्रसाद पाकर अब भी कुछ कार्य कर सकती है, और उससे आशा रखती है कि समागम होनेपर जरूर ईश्वर कृपा करेंगे।

बाणी भी वैसी पक्षि के क्रमपूर्वक बात कर सकती थी, वैसी अब नहीं माझ्म होती। केवल शक्तिके शून्यता पाने वैसी हो बानेका एक कारण यह भी है कि चित्तमें उदित हुई बात बहुत नयोंसे मुक्त होती है, और वे सब नय छिन्नभेमें नहीं आ सकते, जिससे चित्त विरक्त हो जाता है।

आपने एक बार भक्तिके नियममें प्रश्न किया था। इस संबंधमें अधिक बात तो समागम होनेपर ही हो सकती है, और बहुत करके सब बातोंके छिये समागम ही ठीक माझ्म होता है, तो भी बहुत ही संक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ।

परमात्मा और आत्माका एक रूप हो जाना (।) वह परामर्शिकी अन्तिम हद है। एक ऐसी ही तल्लीनताका रहना ही परामर्शिक है। परम महात्मा गोपांगनाथें महात्मा बासुदेवकी भक्तिमें इसी प्रकारसे जीन रही थी। परमात्माको निरजन और निर्देहकपसे चित्तबन करनेपर जीवको ऐसी तल्लीनता प्राप्त करना भक्ति कठिन है, इसलिये जिसको परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा देहधारी परमात्मा उस परामर्शिका एकतम कारण है। उस ज्ञानी पुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका छद्म होनेसे उसके हृदयमें विराजमान परमात्माका ऐक्यभाव होता है, और यही परामर्शिक है। ज्ञानी पुरुष और परमात्मामें बिच्छुड़ भी अन्तर नहीं है, और जो कोई अन्तर मानता है, उसे मार्गीकी प्राप्ति होना अव्यक्त कठिन है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहिचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये सब प्रकारसे भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्यमूर्ति—ज्ञानीरूप परमात्माकी—को नमस्कार आदि भक्तिके उपात्तर परामर्शिके अन्ततक एक तल्लीनतासे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका छद्म है। परमात्मा ही इस देहधारीरूपसे उत्पन्न हुआ है, ऐसी ही ज्ञानी पुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होनेपर भक्ति उचित होती है, और वह भक्ति क्रम क्रमसे परामर्शिकरूप हो जाती है। इस नियममें श्रीमद्भागवतमें, मगधगीतामें बहुतसे मंत्र बता करके इसी छद्मकी प्रशंसा की है; अधिक क्या करें! ज्ञानी—तीर्थकरदेवमें छद्म होनेके छिये जैनधर्ममें भी पञ्चपरमेष्ठी मंत्रमें “नमो अरिहताय” पदके बाद ही सिद्धको नमस्कार किया है; यही भक्तिके वस्त्रमें यह सूचित करता है कि प्रथम ज्ञानी पुरुषकी भक्ति करो, यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।

इसए एक प्रश्न (एकसे अधिक बार) आपने ऐसे लिखा था कि व्यवहारमें व्यापार आदिके संबंधमें इस वर्ष जैसा चाहिये वैसा काम नहीं दीक्षता और कठिनार्थ रखा करती है। जिसको परमात्माकी भक्ति ही प्रिय है ऐसे पुरुषको ऐसी कठिनार्थ न हो तो फिर उसे सबे परमात्माकी ही भक्ति नहीं है, ऐसा समझना चाहिये जबका ज्ञान ब्रह्मकर परमात्माकी इन्द्ररूप मायाने ऐसी कठिनार्थको भेजनेके कार्यका विसरण किया समझना चाहिये। जनक बिदेही और महात्मा कृष्णके नियममें मायाका विसरण हुआ माझ्म होता है तथापि ऐसा नहीं है। जनक बिदेहीकी कठिनार्थके संबंधमें यहाँ कहनेका मौका नहीं है, क्योंकि वह कठिनार्थ अग्रगट कठिनार्थ है, और महात्मा कृष्णकी सकलरूप कठिनार्थ प्रगट ही है। इसी तरह उमकी अप्रसिद्धि और नवनिधि भी प्रसिद्ध ही हैं; तथापि कठिनार्थ तो थी ही और होनी भी चाहिये। यह कठिनार्थ मायाकी है, और

परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे तो यह सरलता ही है; और ऐसा ही हो । शत्रु रामने कठोर तप करके परमात्माका आराधन किया परमात्माने उसे देहमासीके रूपमें दर्शन दिया और वर माँगनेके लिये कहा । इसपर शत्रु रामने वर माँगा कि हे भगवन् ! आपने जो ऐसी सम्पत्तिसी मुझे दी है, वह निजगुण भी ठीक नहीं; यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पवनविषयकी साधनरूप इस सम्पत्तिसीके किरसे मुझे स्वर्ण भी न हो । परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कह कर स्वधामको पधार गये ।

कर्मके वाताय यह है कि ऐसा ही योग्य है; कठिनता और सरलता, साठा और बरतारा ये भगवान्‌के मज्झको सब समान ही हैं । और सब वृत्तों को कठिनार्थ और असत्ता तो उसके लिये विशेष अनुकूल हैं, क्योंकि वहाँ मायाका प्रतिबिम्ब दृष्टिगत नहीं होता ।

आप तो यह बात जानते ही हैं; तथा कुटुम्ब आदिके विषयमें कठिनता होना ही ठीक नहीं है, यदि ऐसा करता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा ऐसा कहते हैं कि 'तुम अपने कुटुम्बके प्रति स्नेह रखते होओ, और उसके प्रति सममानी होकर प्रतिबिम्ब रहित बनो, वह तुम्हारा है ऐसा न मानो, और प्रारम्भ योगके कारण ऐसा माना जाता है; उसके हटानेके लिये ही मैंने यह कठिनार्थ नेजी है' । अधिक क्या करें ! यह ऐसा ही है ।

१९४

बम्बई, फरवरी १९४७

सत्स्वरूपको अनेक भक्तितसे नमस्कार

बासनाके उपशम करनेके लिये उनकी सूचना है और उसका सर्वोत्तम उपशम तो ज्ञानी पुरुषका योग सिखना ही है । वह मुमुक्षुता हो और कुछ काकूतक वैसा योग सिखा हो तो जीवका कल्याण हो आप ।

तुम सब सत्संग, सदाका आदिके विषयमें अभी कैसे (योगसे) रहते हो, यह सिखना । इस योगके लिये प्रमादभाव करना निजगुण भी योग्य नहीं है । हाँ, यदि पूर्वका कोई ग्राह्य प्रतिबिम्ब हो तो अहम् इस विषयमें व्यग्र हो सकती है । तुम्हारी इच्छापूर्वक लिये कुछ भी सिखना चाहिये, इस कारण प्रसंग सिखनेपर सिखता हूँ । बाकी तो अभी हाथमें छलपा सिखी जा सके, ऐसी दशा (इच्छा !) नहीं है ।

१९५

बम्बई, फरवरी १९४७

अनंतकाशसे जीवको असत् बासनाका व्य्यास है । उसमें सदाका संस्कार एकत्र स्थित नहीं होता । जैसे मज्जिन दर्पणमें वैसा चाहिये वैसा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, वैसे ही असत् बासनाबुद्ध चित्तमें भी सदाका संस्कार योग्य प्रकारसे प्रतिबिम्बित नहीं होता; कुछ अंशसे ही होता है । वहाँ जोर दिए जाने अनंतकाशके विषया व्य्यासका विकल्पमें पड़ जाता है, और इस कारण उन सर्वके अशोच भी अधिक कारण हो जाता है । सदासंवेपी संस्कारोंकी दृढ़ताके लिये सब प्रकारकी

छोक-छात्राक्षी उपेक्षा करके सम्भुगका परिचय करना ही योग्य है। किसी भी बड़े कारणकी सिद्धिमें छोक-छात्राक्षी तो सब प्रकारसे त्याग करना ही पड़ता है। सामान्यतः सम्भुगका छोक-समुद्रायमें तिरस्कार नहीं है, जिससे छोक-छात्रा दुःखान्तरक नहीं होती, केवल चित्तमें सम्भुगके छामका विचार करके निरंतर अम्यास करते रहें तो परमार्थविषयक दृष्टता होती है।

१९६

बम्बई, पत्र सुनी ५ सोम १९४७

एक पत्र मिठा, जिसमें कि 'बहुतसे जीवोंमें योग्यता तो है परन्तु मार्ग बतलानेवाला कोई नहीं,' इत्यादि बात लिखी है। इस विषयमें पढ़िठे आपको बहुत करके सुझाया किया था, यद्यपि वह कुछ गूढ़ ही था; तथापि आपमें आत्यधिक परमार्थकी उत्सुकता है, इस कारण वह सुझावा आपको विस्मरण हो जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

निर भी आपको स्मरण रहनेक उधे इतना लिखता हूँ कि जबतक ईश्वरेच्छा न होगी तबतक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक तुच्छ तृणके ही टुकड़े करनेकी भी सत्ता हममें नहीं है। अधिक क्या कहें ?

आप तो करुणामय हैं। निर भी आप हमारी कष्टनाक सन्धमें क्यों उध नहीं देत, और ईश्वरको क्यों नहीं समझाते ?

१९७

बम्बई, पत्र सुनी ७ सुब १०४७

मदमा बबीरजी तथा जरसी मेहताजी भट्टि अनन्य, असीनिक, बहुत, और सर्वोत्कृष्ट थी; ऐसा होनेपर भी वह निरुद्ध थी। ऐसी दुर्गा स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वयंमें भी आत्मनिश्चयके उधे—म्यबहारके उधे परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरेच्छानुसार म्यबहार चलता गया है, तथापि उनकी श्रद्धावस्था आवश्यक जगत्प्रसिद्ध ही है और यही उनकी सबत माहात्म्य है। परमात्मने इनका 'परमा' पूरा किया है, और वह भी इन मत्तोकी इच्छाक गिद्ध जागर किया है; क्योंकि किसी मत्तोकी इच्छा ही नहीं होगी, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें मत्तिक रहस्यकी प्रप्ति भी न हो। आप मते ही हममें जाने उधे परन्तु जबतक आप निरुद्धी नहीं हैं (अपना न हो) तबतक सब विईवना ही है।

१९८

बम्बई, पत्र सुनी ० सुब. १०४७

परमेश्वरानुभवाधिक दायदमय नहीं होता

(१) मायाका प्रत्यक्ष प्रमाण काया प्रकट है। उस प्रत्यक्षके गाररी निरुद्धि मानो किसी ब्रह्मनुभवी छापने होती है, अदवा तो कष्ट-दयाम होती है। इन दोनोंमें भी ब्रह्मनुभवी छाप प्रकट है; इसका मिश्रण तबकी निरुद्धि नहीं होगी और इस ब्रह्मनुभवी ब्रह्मनिश्चयमें दृष्टिमान

मेके लिये जीवके योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमें बाधा करनेवाला यह मायाप्रपञ्च है, जिसका परिचय ज्यों ज्यों कम हो बैसा आचरण किये बिना योग्यताका आचरण भोग नहीं होता। पग पगपर भयपूर्ण अज्ञान-भूमिमें जीव बिना निचारे ही करोड़ों योग्यता तक पहुँचा चला जाता है, वहाँ योग्यताका अवकाश कहाँसे मिल सकता है? ऐसा न होनेके लिये, किये हुए कार्यके उपद्रवको जैसे बने जैसे हटाकर के (इस नियमकी) सर्वप्रकारसे निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमें जानेका प्रयत्न करना ही उचित है। यदि सर्वथा अवगती हो तो व्यवहार करना चाहिये, किन्तु उस व्यवहारको प्रारम्भका उदय समझकर केवल निस्पृह-भूमिसे करना चाहिये। ऐसे व्यवहारको ही योग्य व्यवहार मानना। यहाँ ईश्वरसुख है।

(२) कार्यकारी जात्यों का फैलनेके बाद प्रायः प्रत्येक जीवको पश्चात्ताप होता है। कार्यके जन्म होनेके पक्षि ही विचार हो जाय और वह इस खे, ऐसा होना बहुत ही कठिन है—ऐसा जो विचक्षण मनुष्य कहते हैं वह परार्थ ही है। पश्चात्ताप करनेसे कार्यका आया हुआ परिणाम अच्छा नहीं होता, किन्तु किसी ऐसे ही इतने प्रसंगमें उससे उपदेश अवश्य मिल सकता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परिणाम करना और केवल मायाकी प्रकृत्याका विचार करना यही उत्तम है। मायाका स्वल्प ही ऐसा है कि इसमें 'सत्' प्राप्त जानी पुरुषको भी रहना मुमकिन है, तो फिर जिसमें अभी सुसुप्तताके अंशोंकी भी मन्त्रित्व है, ऐसे पुरुषको उसके स्वरूपमें स्थिर रहना कल्पित कठिन, सभ्रममें हावनेवाला एवं पश्चात्ताप करनेवाला हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है—ऐसा जरूर मानना।

१९९

बम्बई, चित्र सुदी ० शुक्र १९४७

जन्मस्वामीका दृष्टान्त प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्दकारक लिखा गया है।

सुख देनेकी इच्छा होनेपर भी, चोटीयाय व्यवहार हो जानेके कारण जन्मका त्याग है, ऐसी लोक-प्रवाहकी मान्यता परमार्थके लिये कार्यरूप है, ऐसा भी महत्तम बंधुका आशय था वह सत्य था।

इस प्रकार यहाँ इस बातका अन्त करके अब आपको प्रज्ञा होगी कि चित्तकी मायाके प्रसंगमें आनुसंधान-मुक्तता हो, और उसमें आपका स्थिति रहा करे, क्या यह ईश्वर-प्रसन्नताका मार्ग है? तथा जानी मुझसे नहीं, किन्तु लोक-प्रवाहके कारण भी अनुसंधान आदिके कारणसे शोकमुक्त होना, क्या यह सामाजिक मार्ग है? क्या हम आनुसंधान होकर कुछ कर सकते हैं? और यदि कर सकते हैं तो फिर ईश्वरपर विश्वास रखनेका क्या पाठ हुआ।

निस्पृह पुरुष क्या उपोतिव जैसे क्षणिक नियमको सामाजिक प्रसंगमें ग्रहण करते होंगे? हाँ हमें तो हमारी यही इच्छा है कि आज हम उपोतिव जानने हैं अपना कुछ कर सकते हैं, ऐसा म मानें तो ठीक हो।

२००

बम्बई, वैत्र सुदी १० शनि १९४७

सर्वात्मस्वरूपको नमस्कार

बह दशा जिसमें अपना और भिराना कुछ भी भेदभाव नहीं रहता—उसकी प्राप्ति अब समीप ही है, (इस देखमें है) ; और उसके कारण परेच्छासे रहते हैं । पूर्वमें जिस जिस विधा, बोध, ज्ञान, और क्रियाकी प्राप्ति हो गई है, उन सबको इस जन्ममें ही विसरण करके निर्बिकल्प हुए बिना छूटकारा नहीं, और इसी कारण इस तरहसे रहते हैं, तथापि आपको अत्यधिक व्याकुलता देखकर यत्किंचिद् आपको उत्तर देना पड़ा है, और वह भी स्नेहसे नहीं दिया है । ऐसा होनेसे आपसे प्रार्थना है कि इन सब मायायुक्त विधा अथवा मायायुक्त मार्गके सबधमें आपको सरफसे भेरी दूसरी दृष्टा होनेतक स्मरण न लिखा जाय, यही उत्तम है ।

२०१

बम्बई, वैत्र सुदी १४ गुरु १९४७

ज्ञानीकी परिपक्व अवस्था (दशा) होनेपर रमा-देवकी सर्वाया निवृत्ति हो जाती है, ऐसी हमारी मान्यता है ।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हा उसे होने देना, यह यक्षिमातके लिये सुख देनेवाली बात है ।

२०२

बम्बई, वैत्र सुदी १५ गुरु १९४७

परमार्थमें नीचकी बातें विशेष उपयोगी हैं —

१ पार होनेके लिये जीवको पहिछ क्या जानना चाहिये !

२ जीवके परिचमण करनेमें मुख्य कारण क्या है ?

३ वह कारण किस तरह दूर हो सकता है ?

४ उसके लिये सुगमसे सुगम वर्णात् सम्पत्कारमें ही फल देनेवाला उपाय कौनसा है ?

५ क्या ऐसा कोई पुरुष है कि जिससे इस विषयका निर्णय हो सके ? क्या हम मानते हो इस कालमें कोई ऐसा पुरुष होगा ? और मानते हो तो किस कारणोंसे ? ऐसे पुरुषके कौनसे लक्षण हो सकते हैं ? वर्तमानमें ऐसा पुरुष दुर्लभ किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ?

६ क्या यह हो सकता है कि संपुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीवको मार्ग न मिले ? ऐसा हो तो उसका क्या कारण है ? यदि इसमें जीवकी अयोग्यता जान पड़े तो वह योग्यता किस विषयकी है ?

७के समसे योग्यता जानेपर क्या उसके पाससे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है ?

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता बहुत बलवान कारण है । ईश्वरेच्छा बलवान है और सुखकारक है । बारम्बार यही शंका मनमें उठ करती है कि क्या बचनहीन कभी बचनमें फैल सकता है ? आपको इस विषयमें क्या राय है ?

२०३

बर्म्ह, पैत्र बदी १ रवि १९४०

उस पूर्णपक्षकी शानी सांग परम मेमसे उपासना करव है

समाग बार दिन पड़े आपका पत्र मिला । परममन्त्रके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है । सृष्टिमें रखनेकी आपकी इच्छा रहती है—यह पढ़कर बारम्बार आनन्द होता है । चित्तकी सरलताका वैश्य और 'सद्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा—ये प्राप्त होना परम दुर्लभ है; और उसकी प्राप्तिमें परम काय-व्य 'सर्वा' का प्राप्त होना ता और भी परम दुर्लभ है । महान् पुरुषोंने इस कायको कठिन कहा है, उसका मुख्य कारण तो यही है कि जीवको 'सर्वा' का योग मिथ्या बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे ही कायको भी कठिन कहा है । चौदह राज खेक मायात्म्य अस्मिसे प्रत्यक्षित है । उस मायामें जीवकी बुद्धि रज-पञ्च रही है, और उससे जीव भी उस विविध तान्त्रिकी अस्मिसे जन्म करता है; उसके छिये परमकायकी मूर्तिका उद्देश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुष्पक कारण उसकी प्राप्ति होना अस्पन्त कठिन हो गई है ।

परन्तु इसी वस्तुका चित्तकन रचना । 'सद्' में प्रीति, साध्याद् 'सद्' रूप स्वतन्त्र प्रीति, और उसके मार्गकी अभिलाषा—मही निरन्तर स्मरण रखने योग्य है; और इनके स्मरण रहनेमें वैश्य वापि चरित्रवाली पुस्तके, वैश्यवृत्त सरल चित्तवाले मनुष्योंका संग और अपनी चित्त-बुद्धि—य सुन्दर कारण है । इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रचना कल्याणकारक है । यहाँ समाधि है ।

२०४

बर्म्ह, पैत्र बदी ७ गुरु १९४०

आपुं सौने व असरपामरे

तपसि काय बहुत उपाधि सपुत्र जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छानुसार चकना भयस्कर और योग्य है, इसछिये जैसे चक रहा है, कैसे चाहे उपाधि हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक; हमें तो दोनों समान ही हैं ।

ऐसा तो समझमें आता है कि मेरका मेर दूर होनेपर ही वास्तविक तत्त्व समझमें आता है । परम अभेदव्य 'सद्' सर्वत्र है ।

२०५

बर्म्ह, पैत्र बदी १४ गुरु १९४०

प्रिते कगी है, उसीको ही कगी है, और उसीमें उसे जानी है, और यही "पी पी" पुकारता निरता है । यह वासी मेरका कैसे कही जाय । यहाँ कि वाणीका भी प्रवेश नहीं है । अधिक क्या करें । प्रिते कगी है उसीको ही कगी है । उसीके चरणकी कारण संगसे मिलती है; और जब मिल जाती है तभी सुखका होता है । इसके बिना बसुत सुगम मोक्षमार्ग है ही नहीं तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता । मोक्ष बड़ा बचसान है ।

२०६

बम्बई, वैशाख १९४७

सुदृढ़ स्वभावसे आत्मार्थका प्रयत्न करना। आत्म-कल्याण प्राप्त करनेमें प्रायः प्रबल परिश्रमोंके बारम्बार आनेकी सम्भावना है, परन्तु यदि उस परिश्रमोंको शांत चित्तसे सह किया जाय तो दीर्घकालमें हो सकने योग्य कल्याण बहुत अल्पकालमें ही सिद्ध हो जाता है।

मुम सब ऐसे शुद्ध आचरणसे रहना कि जिससे तुमको काल बीतनेपर, निपम दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्योंमेंसे बहुतोंको, अपनी उस दृष्टिपर फसावाप करनेका समय आवे।

धैर्य रखकर आत्म-कल्याणमें निर्भय रहना। निराशा न होना। आत्मार्थमें प्रयत्न करते रहना।

२०७

बम्बई, वैशाख सुदी ७ शुक्ल १९४७

परमेश्वर आनन्दमूर्ति है; हम उसका तीनों कार्योंमें अनुग्रह चाहते हैं

कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है। परमेश्वर-विचार तो व्योका सों रहा ही करता है। कभी कभी तो उसके खिये आनन्दकी किरणें बहुत बहुत सूरित होने लगती हैं और कुछकी कुछ (अनेक) बात समझमें आती है; परन्तु वह ऐसी है जो किसीसे कही नहीं जा सकती; हमारी यह बेदना अपना है। बेदनाके समय कोई न कोई साठा पूँछनेवाला चाहिये, ऐसा व्यावहारिक मार्ग है, परन्तु हमें इस परमार्थ-मार्गमें साठा पूँछनेवाला कोई नहीं मिलता, और जो है भी उसका वियोग रहता है।

२०८

बम्बई, वैशाख कदी २, १९४७

विद्युत्को भी सुखदायक मानना।

जैसे हरिके प्रति विद्युत्की जगनेसे उसकी साक्षात् प्राप्ति होती है, वैसे ही सत्के विद्युत् मनुष्यसे साक्षात् उसकी प्राप्ति होती है। ईश्वरेश्वरसे अपने सबधमें भी ऐसा ही सम्बन्ध।

पूर्णकाम हरिका स्वरूप है; उसमें जिसकी निरन्तर खे लगी रहती है, ऐसे पुरुषोंसे भारत क्षेत्र प्रायः शून्य जैसा हो गया है; मामा-मोह ही सर्वत्र दिखाई देता है; मुमुक्षु कबिचि ही दिखाई देते हैं; और उसमें भी मत्ततर आदिके कारणोंसे ऐसे मुमुक्षुओंको भी योगका मिटना अति कठिन हो गया है। आप जो हमें बारम्बार प्रेरित करते हो; उसके खिये हमारी जैसी चाहिये वैसी योगता नहीं है; और अबतक हरिने साक्षात् दर्शन देकर उस बातकी प्रेरणा नहीं की, तबतक उस विषयमें मेरी कोई इच्छा नहीं होती, आर होगी भी नहीं।

२९

बम्बई, वैशाख कदी ८ रवि १९४७

हरिके मतापसे जब हरिका स्वरूप मिलेगा तब समयआर्जग

जिसकी दशा वैतन्मय रह करती है; इस कारण हमारे व्यवहारके सब काम प्रायः अप्रवृत्त होते हैं। हरि-इच्छाको सुखदायक मानते हैं, इसलिये आ उपाधि-योग रहता है उसे भी हम समाधि-योग मानते हैं।

चिन्ताकी अन्वयवस्थाके कारण मुहूर्त मात्रमें हो सकनेवाले कार्यके विचार विचारमें ही फट्टा पिन निकल जाते हैं और कभी तो उस कार्यके बिना किये ही रह जाता पड़ता है। सभी प्रसङ्गमें यदि ऐसा ही होता रहे तो गी हानि नहीं मानी; परन्तु आपको कुछ कुछ ज्ञान-वर्ता कड़ी बाम तो विशेष आनन्द रहता है; और इस सबमें चिन्ताको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है; फिर भी उस स्थितिमें अभी हाक हीमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, ऐसी चिन्ताकी निरंकुश दशा हो रही है; और उस निरंकुशताकी प्रसिद्धि हरिकी परम कृपा ही कारणभूत है, ऐसा हम मानते हैं और उस निरंकुशताको पूर्ण किये बिना चिन्ता यथोचित समाधिमुक्त नहीं होता, ऐसा सम्यक् है। इस समय तो सब-कुछ अच्छा समझा है, और कुछ भी अच्छा नहीं समझा, ऐसी स्थिति हो रही है। जब सब-कुछ मात्र अच्छा ही समझा करेगा तभी निरंकुशताकी पूर्णता होगी। इसीका अपर नाम पूर्ण कामना है—जहाँ सर्वत्र हरि ही हरि स्वरूप दिखाई देते हैं। इस समय वे कुछ असाध्य जैसे दीखते हैं, परन्तु वे हैं स्वरूप, ऐसा अनुभव है।

जो उस जगत्का जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिके प्रति अतिशय की स्त्री है; और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि हम जहाँ किस रूपमें हरि-दर्शन करनेकी इच्छा करेंगे, उसी रूपमें हरि दर्शन देंगे, ऐसा मनियकाळ ईश्वरेन्द्रके कारण सिद्धा है।

हम अपने अंतरंग विचारको स्थिर करनेमें अतिशय बराबर हो गये हैं, इस कारण समाग्रामकी इच्छा करते हैं परन्तु ईश्वरेन्द्रा अभी ऐसा करनेमें असमर्थ मान्य होती है, इसलिये विवेकमें ही रहते हैं।

उस पूर्णस्वरूप हरिमें किसीकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष हाथमें दिखाई नहीं देता, इसका क्या कारण है? तथा ऐसी अति तीव्र अपना तीव्र मुमुक्षुता भी किसीमें दिखाई नहीं देती, इसका क्या कारण होना चाहिये? यदि कहीं तीव्र मुमुक्षुता दिखाई भी देती होगी तो वहाँ अनन्तगुण-गर्भर ज्ञानावतार पुरुषका कुछ कर्णों नहीं देखनेमें आता इसके कारणके सबभवे जो आपको लगे तो छिड़ना।

इससे बड़ी आनन्दकरीक बात तो यह है कि आप जैसीको सम्पन्नानके भीमकी—परमप्रिये मूढकी—प्राप्ति होनेपर भी उसके बावजूद भेद कर्णों नहीं प्राप्त होता। तथा हस्तियमक बहस सबका वैष्णव चित्तता चाहिये उठना कर्णों बुद्धिगत नहीं होता। इसका जो कुछ भी कारण आपके ध्यानमें आता हो तो छिड़ना।

हमारे चिन्ताकी ऐसी अन्वयवस्था हो जानेके कारण किसी भी समयमें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता स्मृति नहीं रहती, अपना मनर ही नहीं रहती; उसके लिये क्या करें? क्या करें? हमें हमारा आशय यह है कि व्यवहारमें रहनेपर भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप न हो, ऐसा हम क्या करें? अभी तो हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी कभी उनसे किसीको दुःख पहुँच जाता है।

हम दूसरे किसीको भी आनन्दरूप लगे इससे हरिको चिन्ता रहती है; इसलिये वे हमें करेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता प्राप्त करनेका है ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको भी उपायक होनेका तो हममें भी विचार नहीं है; हम तो सबके दास हैं, तो फिर हमें दुःखरूप कौन मनेगा!

यथापि यदि व्यवहार-प्रसंगमें हरिको माया हमको नहीं तो सामनेवालेको भी एकके बन्धे दूसरा भाव पैदा कर दे तो छायाही है, परन्तु इसके खिये भी हमें तो शोक ही होगा। हम तो हरिको सर्व-शक्तिमान मानते हैं, और उनकीसे सब कुछ सौंप रक्खा है।

अधिक क्या छिसे ? परमानन्द हरिको एक क्षणमर भी न मूछना, यही हमारी सर्व-वृत्ति, वृत्ति और छिछनेका हेतु है।

२१०

बम्बई, वैशाख कदी ८ एभि १९३७

ॐ नमः

प्रबोधशतक मेका है, वह पहुँचा होगा। इस शतकका तुम सर्वोको ध्वज, मनन और निष्प्राप्त करना चाहिये। सुननेवालेको सबसे पहिले यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि इस पुस्तकको हमने केवलतकी दया करनेके खिये नहीं भेजा; इसे किसी दूसरे ही कारणसे भेजी है, और वह कारण बहुत करके विशेष विचार करनेपर तुम जान सकोगे।

हामें तुम्हारे पास कोई ऐसा बोध करनेवाला साधन न होनेके कारण यह शतक ठीक साधन है, ऐसा समझकर इसे भेजा है। इसमेंसे तुम्हें क्या जानना चाहिये, इसका विचार तुम स्वयं कर लेना।

किसीको यह सुनकर हमारे विषयमें ऐसी शक्य नहीं करनी चाहिये कि इस पुस्तकमें जो कुछ मत बताया गया है, वही हमारा भी मत है। केवल विचक्री स्थिरताके खिये इस पुस्तकके विचार बहुत उपयोगी हैं और इसीखिये इसे भेजा है, ऐसा समझना।

२११

बम्बई, ग्रेष्ठ सुनी ७ एभि १९३७

ॐ नमः

काष्ठ काष्ठ होनेसे जीवको जहाँ अपनी वृत्ति लगाती चाहिये वहाँ वह नहीं लगा सकता।

इस कश्चमें प्रायः सत्त्वर्मका ता छेप ही रहता है, इसीखिये इस काष्ठको कठियुग कहा गया है।

सत्त्वर्मका योग सत्पुरुषके बिना नहीं होता, क्योंकि असत्त्वमें सत् नहीं होता।

प्रायः सत्पुरुषके दर्शनकी और योगकी इस कश्चमें अप्राप्ति ही दिखई देती है। जब वह दया है तो सत्त्वर्मका समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? और अमुक काष्ठ व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तो मुमुक्षुता भी कैसे रह सकती है ? मायः ऐसा होता है कि जीव जैसे परिचयमें रहता है, उसी परिचयक्य अपनेको मानने लगाता है। इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है कि अनार्य कुलमें परिचय रखनेवाला जीव अनार्यतामें ही अपनी दृढ़ता रक्ता है; और आर्यत्वमें मति नहीं करता।

इसखिये महान् पुरुषोंने बार उनके आपारसे हमने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जीवके खिये सत्संग ही मोक्षका परम साधन है।

जैसी अपनी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंके संगच्छे ही संसृंग करते हैं। अपनेसे बड़े पुरुषके संगके निवासको हम परम संसृंग करते हैं; क्योंकि इसका सम्मान कोई हितकरक साधन इस जगत्में हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्ववर्ती मन्त्र पुरुषोंका चितवन करना पक्षि कल्पानकारक है, तथापि वह स्वरूप-स्थिति का कारण नहीं हो सकता क्योंकि जीवको क्या करना चाहिये—यह बात उनके स्मरण करने मात्रसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष संयोग होनेपर बिना समझाये भी स्वरूप-स्थिति होनी हमें संभव आती है, और उससे यही निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चितवनका फल कुछ होता है; क्योंकि सर्व पुरुष ही घूर्तिमान मोक्ष है।

मोक्षगत (वर्द्धित आदि) पुरुषका चितवन बहुत बड़से मात्रानुसार मोक्ष आति फलदा देनेवाला होता है।

सम्पत्काम पुरुषका निश्चय होनेपर और योग्यताके कारणसे जीव सम्पत्त्व पता है।

२१२

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ तमि १९४७

ॐ

जीव मछिनी पूर्णता पानेके योग्य तभी होता है जब कि वह एक दृष्ट मात्र भी हरिसे नहीं भौंगता, और सब दशावस्थोंमें अक्षिप्त ही रहता है।

व्यवहार चिन्ताओंसे अक्षिप्त होनेपर संसृंगके अभावमें किसी भी प्रकारसे शान्ति नहीं होती; ऐसा जो आपने जिन्हा से ठीक ही है; तो भी व्यावहारिक चिन्ताओंकी अक्षिप्त करना उचित नहीं है।

सर्वत्र हरि इच्छा बख्शान है; यह बतानेके लिये ही हरिसे ऐसा किया है, ऐसा निस्सन्देह समझना; इसलिये जो कुछ भी हो उसे देखे आओ; और फिर यदि उससे अक्षिप्त पैदा हो तो देख डेनी। अब जब कभी समागम होगा तब इस विषयमें हम बातचीत करेंगे। अक्षिप्त मत करना। हम तो इसी मार्गसे पार हुए हैं।

छोटम डाली पुरुष थे। उनके पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है। साधारणसे हरिकी प्रगल्भ प्राप्ति इसी शब्दको मैं प्रायः प्रयोजनार्थी लिखता हूँ।

२१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ९ तमि १९४७

हरि-इच्छासे जीना है, और पर इच्छासे बचना है। अधिक क्या करें ?

आत्मनिष्ठ

२१४

बम्बई, ज्येष्ठ १९४७

हृदयमें छोटमद्वारा पर-सम्पन्न कीरख पुस्तकके बीचनेका परिचय रखना। कीरख शब्दसे ऐसी पुस्तकें समझना जिनमें संसृंग मछि, और वशिष्ठगताके गायक्यका वर्णन किया हो।

मित्रों सहसा आदिके माहस्यका वर्णन किया हो ऐसी जो पुस्तकें, पद या कथ्य हों, उन्हें बारम्बार मनन करना और उन्हें स्मृतिमें रखना उचित समझना ।

जमी हाथमें यदि बैनसूत्रोंके पढ़नेकी इच्छा हो तो उसे निश्चय करना ही ठीक है, क्योंकि उनके (बैनसूत्रोंके) पढ़ने और समझनेमें अधिक योग्यता होनी चाहिये, उसके बिना यथार्थ फलभी प्राप्ति नहीं होती; तथापि यदि दूसरी पुस्तकें न हों तो “उत्तराभ्यसन” अथवा “सूयार्ह” के दूसरे अभ्यसनको पढ़ना और विचारना ।

२१५

बम्बई, आषाढ़ सुदी १ सोम १९४७

जबतक गुरुके द्वारा मक्तिका परम स्वरूप समझा नहीं गया, और उसकी प्राप्ति नहीं हुई, तबतक मक्तिमें प्रवृत्ति करनेसे अकाल और अशुचि दोष होता है । अकाल और अशुचिक्रम महान् विस्तार है, तो भी संक्षेपमें लिखा है । ‘एकान्तमें’ प्रमातृका प्रथम पहर यह सेव्य-मक्तिके लिये योग्य काल है । स्वरूप-चितवन मक्ति तो सुभी कालमें सेव्य है । सर्व प्रकारकी शुचियोंका कारण एक केवल व्यवस्थित मन है । ब्रह्म मन्त्र आदिसे उचित तन और शुद्ध स्वयं बाणी, इसीका नाम शुचि है ।

२१६

बम्बई, आषाढ़ सुदी ८ सोम १९४७

(१)

निःशुद्धतासे निर्भयता उत्पन्न होती है; और उससे निःसंगता प्राप्त होती है

प्रकृतिके विस्तारकी दृष्टिसे जीवके कर्म अनन्त प्रकारकी विचित्रता लिये हुए हैं और इस कारण दोषोंके प्रकार भी अनन्त ही मासित होते हैं; परन्तु सबसे बड़ा दोष तो यह है कि जिसके कारण ‘तीव्र मुमुक्षुता’ उत्पन्न नहीं होती, अथवा ‘मुमुक्षुता’ ही उत्पन्न नहीं होती ।

प्राप्त करके मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्म-मतमें होती ही है और इस कारण उसे उसी धर्म-मतके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये—ऐसा वह मानती है परन्तु इसका नाम मुमुक्षुता नहीं है ।

मुमुक्षुता तो उसका नाम है कि सब प्रकारकी मोक्षशक्ति छोड़कर केवल एक मोक्षके लिये ही चल करना; और तीव्र मुमुक्षुता उसे कहते हैं कि अगम्य प्रेमपूर्वक प्रतिक्षण मोक्षके मार्गमें प्रवृत्ति करना ।

तीव्र मुमुक्षुताके विषयमें यहाँ कुछ कहना नहीं है; परन्तु मुमुक्षुताके विषयमें ही कहना है । अपने दोष देखनेमें निष्पक्षपात होना, यही मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेका लक्षण है, और इसके कारण स्वच्छका मार्ग होता है । जहाँ स्वच्छताकी योही अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी ही बोध-बीजके योग्य भूमिका पैदा होती है । जहाँ स्वच्छन्द प्रायः दब जाता है, वहाँ फिर ‘मार्गप्राप्ति’ को रोक रखनेवाले केवल तीन कारण ही मुख्यरूपसे होते हैं, ऐसा हम समझते हैं ।

इस भावकी अल्प भी सुलेख्य, परम विनयकी स्पृहा, और पशुपति का अनिर्णय, इन सब कारणोंके दूर करनेके बीजको फिर कभी कहेंगे । उसके पहिले उन्हीं कारणोंको विस्तारसे कहते हैं ।

इस बीजकी अल्प भी सुलेख्य, यह बात बहुत करके तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेके पहिले

हुआ करती है। उसके होनेके कारण ये हैं कि "यह 'सत्' है" इस प्रकारकी मि-सम्झनेसे इष्टता नहीं हुई, क्योंकि "यह परमानन्दरूप ही है" ऐसा निश्चय नहीं हुआ; अथवा तो मुमुक्षुओंमें भी कुछ ज्ञानव्यक्त अनुभव होता है, इससे बाध सत्ताके कारण भी कई बार प्रिय लगते हैं, और इस कारण इस बोधकी व्यक्त भी सुलेख्यता रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक हो जाती है।

वायातम्य परिधय होनेपर समुद्रमें परमेस्वर-सुखि रहकर उनकी अज्ञानमय चरना, इसे परम विनय कहा है। उससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। जबतक यह परम विनय नहीं जाती, तबतक जीवको योग्यता नहीं आती।

कश्चित् ये दोनों प्राप्त भी हुए हों, तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी कमीके कारण पार्यन्त-निर्णय न हुआ हो, तो चित्त व्याकुल रहता है, निम्न समता जाती है, और कश्चित् पदार्थमें 'सत्' की मान्यता होने लगती है जिससे बहुत काज स्पृहीत हो जानेपर भी उस जड़ पदार्थसमयी परम प्रेम उत्पन्न नहीं होता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

ये तीनों कारण, हमें मिले हुए कश्चित्ता मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। केवल दूसरे कारणकी पश्चिधित न्यूनता किसी किसीमें देखी है। और यदि उनमें सब प्रकारसे परम विनयकी कमीकी पूर्ति होनेका प्रयत्न हो तो योग्य हो ऐसा हम मानते हैं। परम विनय इन तीनोंमें कल्याण साधन है। अभिष्ट क्या करें? अनन्त कर्ममें केवल यही एक मार्ग है।

पश्चिधित और तीसरा कारण दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करनी और परम विनयमें रहना योग्य है।

यह कश्चियुग है, इसलिये क्षणमर भी बसुके निचार बिना न रहना देसी महात्माओंकी सिद्धा है।

(२)

मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पश्चिधान लेते हैं।

२१७

ॐ

बम्बई ज्ञानार्णव सुदी ११ १९४७

मुसना सिधु भीसहमानन्दजी, जमशेदनके जगबंदजी

धरणागतता सदा मुसकंदजी, परमस्नेही श्री परमानन्दजी।

हामें हमारा दया फैला है यह जाननेकी आज्ञाकी इच्छा है परन्तु यह जैसे निस्तारसे बाधिये जैसे निस्तारसे नहीं सिद्धी या समझती इसलिये इसे पुन पुन नहीं सिद्धी। यही संकेतमें लिखते हैं।

एक पुराण-सुखी और पुराण-सुखकी प्रेम-संपत्ति बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी भी पदार्थमें विचलित भी इच्छा नहीं रही कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यक्तार जैसे चकटा है इसका भी मान नहीं जगत् किस्त स्थितिमें है इसकी भी स्मृति नहीं रहती सर्व-मित्रमें कार्य भी भद्रभाव नहीं रहा; कोन शत्रु है और कोन मित्र है इसकी भी खबर रखी नहीं जाती। हम देहधारी हैं या और कुछ जब यह पाद करते हैं तब मुक्तिरूपसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है। यह किसीकी भी समझमें आने जैसा नहीं है; हम सभी पदार्थोंसे तदास्त हो जानेसे बाधे जैसे

मर्तते हैं; अतः नियमका भी कोई नियम नहीं रहता, मेदमात्रका कोई भी प्रसंग नहीं, हमने अपनेसे विमुख जगत्में कुछ भी माना नहीं; हमारे सम्मुख ऐसे स्रष्टाओंके न मिलनेसे खेद रहा करता है; सपत्ति भरपूर है, इसलिये सपत्तिकी इच्छा नहीं, शम्भू आदि अनुभव किये हुए विषय स्मृतिमें आ जानेके कारण—अपना चाहे उसे ईश्वरेष्ट कहो—परन्तु उसकी भी अब इच्छा नहीं रही; अपनी इच्छासे ही घोरि ॥ प्रवृत्ति की जाती है, हरिकी इच्छाका क्रम जैसे चलाता है वैसे ही चले चले जाते हैं। इन्द्रिय प्रायः शून्य ब्रह्म हो गया है; पौर्वो इन्द्रियी शून्यरूपसे ॥ प्रवृत्ति करती है, नय-प्रमाण बगेर शास्त्र-मेद याद नहीं आते; कुछ भी बौध्दधर्मे विद्यमान नहीं लगाता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी, और बोलनेकी वृत्तियाँ सब अपनी अपनी इच्छानुसार होती रहती हैं; तथा हम अपने स्वार्थमें हैं या नहीं, इसका भी यथायोग्य भान नहीं रहा है।

इस प्रकार सब तरहसे विविध उदसीनता आ जानेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति हो जाया करती है। एक प्रकारसे पूरा पागलपन है, एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं; और जिसकी मायमें उसे छिपाकर रखते हैं उतनी ही हानि है। योग्यरूपसे प्रवृत्ति हो रही है अपना अव्यक्त रूपसे, इसका कुछ भी हिसाब नहीं रहता। अग्नि-गुरुपदमें एक अलङ्कार प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्ष आदि पदार्थोंकी भी आकाङ्क्षाका नाश हो गया है, इतना सब होनेपर भी सतोपजनक उदसीनता नहीं आई, ऐसा मानते हैं। अलङ्कार प्रेमका प्रभाव तो नशेके प्रभाव जैसा प्रभावित होना चाहिये, परन्तु ऐसा प्रभावित नहीं हो रहा, ऐसा हम जान रहे हैं; ऐसा करनेसे वह अलङ्कार नशेका प्रभाव प्रभावित होगा, ऐसा निश्चयरूपसे समझते हैं। परन्तु उसे करनेमें काळ कारणभूत हो गया है; और इन सबका दोष हमपर है अपना हरिपर, उसका ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदसीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं; खेते हैं, देते हैं, खिस्ते हैं बँचते हैं; निमाते जा रहे हैं, खेपते हैं; और हँसते भी हैं; जिसका ठिकाना नहीं—ऐसी हमारी दशा है और उसका कारण केवल यही है कि जबतक हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी जबतक खेद मित्रबन्धन नहीं; यह बात समझमें आ रही है, समझ भी रहे हैं और समझेंगे भी, परन्तु सर्वत्र हरि ही कारणरूप है।

जिस मुनिको आप समझाना चाहते हो वह हाथमें योग्य है या नहीं, तो हम नहीं जानत क्योंकि हमारी दशा हाथमें मन्-योग्यको काम करनेवाली नहीं; हम ऐसी अवस्थाका हाथमें नहीं चाहते; इसे रक्ती ही नहीं; और उन सबका कारणार कसा चकता है, इसका स्मरण भी नहीं है।

ऐसा होनेपर भी हमें इन सबकी अनुकरा जाया करती है। उनमें अपना किन्हीं भी प्राणीय हमन मनसे मित्रभाव नहीं रक्ता, और रक्ता जा सकेगा भी नहीं।

भक्तिवादी पुस्तके कभी कभी बँचते हैं परन्तु जो सब कुछ करन है वह बिना विद्वानकी दशासे ॥ करते हैं।

प्रभुकी परम इया है; हमें किन्हींसे भी मित्रभाव नहीं रहा है किन्हींके भी प्रति दोष-मुक्ति नहीं आती; मुनिके विषयमें हमें कोई हयका विचार नहीं; परन्तु वे ऐसी प्रवृत्तिमें पड़े हैं, निम्नमें हरिकी प्रति उन्हें न हो। जनता बीच-झगड़ ही उनका कल्याण कर सके, ऐसी इनकी और हमारे

बहुतसे मुमुक्षुओंकी दशा नहीं है सिद्धांत-ज्ञान भी छापमें होना चाहिये । यह सिद्धांत-ज्ञान हमारे हृदयमें आधरितरुपसे पका हुआ है । यदि हरिकी इच्छा प्रगट होने देनेकी हमी छे वह प्रगट होगा ।

हमारा देस हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, विद्या हरि है सब कुछ हरि ही हरि है, और फिर भी हम इस प्रकार कारबारमें क्या हुए हैं, वह इसकी इच्छामें कारण है । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

२१८

बन्धु, आपदा वरी ४ सति १९७७

जीव स्वमात्से ही वृणित है, तो फिर उसके दोषकी ओर देखना, यह अनुकम्पात्मक काम करने जैसी बात है, और वड़े पुरुष इस तरहकी आचरण करनेकी इच्छा नहीं करते । कस्मिन्नुगमें अस्वसंग एव मात्सम्यकी कारण मूर्खसे धरे हुए रास्तेपर न चला जाय, ऐसा होना बहुत ही कठिन है ।

२१९

बन्धु, आपदा १९७७

(१)

श्रीसद्गुरु कृपा माहात्म्य

बिना नमन पावे नहीं, बिना नमस्की बात ।

सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे सम्भार ॥ १ ॥

बुझी बहल जो व्यासकी, है बुझनकी रीत

पावे नहीं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित ॥ २ ॥

एही नहीं है कल्पमा, एहि नहीं विमंग;

कवि नर पद्ममन्त्रार्थ, देखी वस्तु अमंग ॥ ३ ॥

नहिं दे तु उपदेशकुं, प्रथम छेहि उपदेश

सम्भवे न्याय अमंग है, नो ज्ञानीका देश ॥ ४ ॥

जय तप, और कताहि सब तहां अंगी जमरुम;

जहाँ अंगी गयी सतकी पर्यं कृपा अनूप ॥ ५ ॥

पापाकी ए बात है निज अंदनकी छेड़;

पिछे कमा सद्गुरुके, तो सब संभन तोड़ ॥ ६ ॥

(२)

तुपातुरकी निम्नकी मेहनत करना । जो तुपातुर नहीं उसे तुपातुर करनेकी अभिलाषा पैदा करना । जिसे यह अभिलाषा पैदा न हो उसके प्रति सदसमीन रहना ।

उपाधि इतनी अंगी हुई है कि यह काम भी नहीं हो पाता । परमेस्वरको अनुकूल नहीं जाता तो क्या करे !

२२०

बम्बई, आषाढ सुदी १ पुष १९४७

सर्वशक्तिमान हरिकी इच्छा सर्वत्र सुलभ हो जाती है, और जिसे अधिक कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुए हैं ऐसे पुरुषको तो जरूर यही निश्चय करना योग्य है कि “हरिकी इच्छा सर्व सुलभ हो जाती है”। आपका वियोग रहनेमें यी हरिकी ऐसी ही इच्छा है, और वह इच्छा क्या होगी, यह हमें किसी तरहसे मात्स्य हुआ है, जिसे समागम होनेपर कहेंगे।

हम आपसे ‘ज्ञानपाप’ सबकी घोषा भी मूक-मार्ग इस वारके समागममें करेंगे; वार वह मार्ग पूरी तरहसे इसी जन्ममें आपसे करेंगे, ऐसी हमें हरिकी प्रेरणा है, ऐसा मात्स्य होता है।

ऐसा मात्स्य होता है कि आपसे हमारे लिये ही जन्म धारण किया होगा। आप हमारे अत्यन्त उपकारी हैं, आपने हमें हमारी इच्छानुसार सुख दिया, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदल दें ?

परन्तु हमें ऐसा मात्स्य होता है कि हरि हमारे हाथसे आपको परमक्ति दिखावेगा, हरिके स्वरूपका ज्ञान करवेगा; और इसे ही हम अपना महान् मायोज्ञ समझेंगे।

हमारा चित्त तो बहुत ही अधिक हरिमय रहा करता है, परन्तु सदा सर्वत्र कठिणता ही रहता है। रात दिन मायके प्रसंगमें ही रहना होता है, इसलिये चित्तका पूर्ण हरिमय रह सकना बहुत ही कठिन होता है और तबतक हमारे चित्तका उद्वेग भी नहीं मिटता।

ईश्वरार्पण

२२१

बम्बई, आषाढ सुदी ९ पुष १९४७

चम्पकर बंताकर योगको सिद्ध करना, यह योगीका उद्योग नहीं है।

सर्वोत्तम योगी तो वही है कि जो सब प्रकारकी सृष्टिसे रहित होकर सत्यमें केवल अजन्म निष्ठसे सब प्रकारसे सत्का ही आचरण करता है, और जिसको जगत् विसृत हो गया है। हम यही चाहते हैं।

२२२

बम्बई, आषाढ सुदी ९ पुष १९४७

हमसे पाँच-सात कोसपर क्या कोई ऐसा गौत्र है कि जहाँ ब्रह्मरूपसे रहे तो अनुकूल हो ? यदि ऐसा कोई स्थल प्याममें आवे कि जहाँ सब वनस्पति और सृष्टि-रचना टूट हो ता छिन्ना। पर्युणसे पहले और आषाढ सुदी १ के बाद यहाँसे योके समयके लिये निवृत्त होनेकी इच्छा है। जहाँ हमें छोटा भूमिक संवत्से भी पहिचानते हो, ऐसे गौत्रमें भी हालमें तो प्रवृत्ति ही मानी है इसलिये हालमें समाप्त आपका निवार समय नहीं है।

हामें योके समयके लिये यह निवृत्ति लेना चाहता हूँ। जबतक सर्वकायक लिये (आनुपूर्वत) निवृत्ति पानेका प्रसंग न आया हो तबतक धर्म-संबन्धसे भी प्रगल्भ होनेकी इच्छा नहीं है। जहाँ मात्र निर्विकारपनेसे रहा जा सके ऐसी व्यवस्था करना।

समाधि

२२३

वर्मा, भाषा सुदी १९२०

इस जगत्में, चतुर्थकाष्ठ जैसे काष्ठमें भी सस्यगर्भी प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो फिर इस दुर्लभकाष्ठमें तो उसकी प्राप्ति होना अशक्य ही दुर्लभ है; ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे संसृष्टि नियोग रहनेपर भी अश्यामें गुणोत्पत्ति हो सके, उस उस प्रकारसे आभरण करनेका पुरुषार्थ बरम्बा, जब कभी भी और प्रसंग प्रसंगपर करना चाहिये; तथा निरन्तर सस्यगर्भी इच्छा—असस्यमें उदसीनता—रहनेमें उसका मुख्य कारण पुरुषार्थ ही है, ऐसा समझकर निश्चितिके जो कर्ष कारण हो उन उन कारणोंका बारम्बार विचार करना योग्य है ।

हमको इस तरह लिखते हुए यह स्मरण था रहा है कि “ क्या करें ” अथवा “ किसी भी प्रकारसे नहीं होता ” ऐसा विचार तुम्हारे विषमें बारम्बार आता रहता होगा तथापि ऐसा योग्य माझ्य होता है कि जो पुरुष दूसरे सब प्रकारके विचारको अकर्तव्यव्यय समझकर आत्म-कल्याणमें ही उद्यमी होता है, उसको कुछ न जाननेपर भी उसी विचारके परिणाममें रहना योग्य है, और ‘ किसी भी प्रकारसे नहीं होता ’ इस तरह माझ्य होनेके प्रगट होनेका कारण या तो जीवको उत्पन्न हो जाना है अथवा कृतकृत्यताका स्वल्प उत्पन्न हो जाता है ।

इसी पुरुषमें दोषपूर्ण स्थितिमें इस जगत्के जीवोंको तीन प्रकारसे देखा है —(१) जीव किसी भी प्रकारसे योग अथवा कल्याणका विचार नहीं कर सका, अथवा विचार करनेकी स्थितिमें वह बेमुच है—ऐसे जीवोंका यह प्रथम प्रकार है । (२) जीव अज्ञानतासे असंस्कृतके अन्धकारमें मग्न होनेवाले बोधसे योग करता है, और उस क्रियाको कल्याण-स्वल्प मानता है—ऐसे जीवोंका यह दूसरा प्रकार है । (३) जिसकी स्थिति मात्र उत्पत्तिके आधीन रहती है, और सब प्रकारके परस्वरूपका सम्यक् ऐसा बोध-स्वरूप जीव केवल उदसीनतासे कर्षा निश्चर्य देता है—ऐसे जीवोंका यह तीसरा प्रकार है ।

इस प्रकार इसी पुरुषमें तीन प्रकारके जीवोंका समूहको देखा है । प्रायः करके प्रथम प्रकारमें भी पुत्र मित्र धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रकारमें तद्रूप परिणामीके समान माझ्य होनेवाले जीवोंका समवेश होता है । दूसरे प्रकारमें शुभा पुत्रा धर्मोंका नाम-क्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छर परिणामी, जो अन्त आगको परमार्थ-मार्गपर चसन्नात्म मानते हैं, ऐसी बुद्धिसे गृहीत जीवोंका समवेश होता है । तीसरे प्रकारमें ऐसे जीवोंका समवेश होता है कि किन्हें भी, पुत्र, मित्र आदि प्राप्ति-अप्राप्ति आदिक मात्रमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है अथवा वैराग्य हुआ करता है, त्रिभुक्त स्वच्छर परिणाम नष्ट हो गये हैं और जो निरन्तर ही ऐसे मात्रक विचारमें रहते हैं । अन्त विचार तो ऐसा है कि त्रिभुक्त तीसरा प्रकार सिद्ध हो जाय । या विचारवान हैं उन्हें यथाबुद्धिपूर्वक, सद्प्रयत्न और संसृष्टिमें यह विचार प्राप्त होता है और उनमें अनुक्रमसे योग्यद्वितीय वैसा स्वल्प उत्पन्न होता है । यह बात फिर फिरसे स्पष्ट हुए, आगत हुए और दूसरी तरहसे भी विचारान और मनन करने योग्य है ।

२२४

राखन, भाद्र सुदी ८, १९४५

ॐ

श्रीसद्गुरुमक्ति रहस्य

हे प्रभु ! हे प्रभु ! हे दीनानाथ दयाल ! हे करुणेश ! क्या कहूँ, मैं तो अमृत दोषोंका पात्र हूँ ॥ १ ॥

मुझमें शुद्ध-भाव नहीं है, और न मुझमें तेरा पूरा रूप ही है, न मुझमें छपुता है और न दीनता है, तो फिर मैं परम-स्वरूपकी तो बात ही क्या कहूँ ? ॥ २ ॥

न मैंने गुरुदेवकी आज्ञाको हृदयमें अचछ किया है, न मुझमें आपके प्रति इह विराट् भाव है, और न परम आदर ही है ॥ ३ ॥

न मुझे सत्संगका योग है, न सत्सेवाका योग है, न सम्पूर्णरूपसे अपनेको अर्पण करनेका भाव है, और न मुझे अनुयोगका आश्रय ही है ॥ ४ ॥

मैं पामर क्या कर सकता हूँ ? मुझे ऐसा विवेक नहीं है । मरण समयतक मुझे आपकी चरण-धारणका बीरज भी तो नहीं है ॥ ५ ॥

तेरे अचिन्त्य माहात्म्यका मुझमें प्रयुक्लित भाव नहीं है, न मुझमें स्नेहका एक भी वंश ही है, और न किसी प्रकारका परम प्रभाव ही मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

मुझमें न तो अचछ आसक्ति है और न निरुद्धका ताप ही है, न तेरे प्रेमकी अकल्प्य कथा है, और न ठसका कुछ परिताप ही है ॥ ७ ॥

न मेरा भक्ति-भागिमें प्रवेश है, न मन्त्रजमें इतता है, न अपने धर्मकी समस्त ह, और न शुभ देशमें मेरा वास ही है ॥ ८ ॥

कृत्तिकाखसे काष्ठ-दोष हो गया है । इसमें मर्यादा और धर्म नहीं रहे, तो भी मुझे आकुलता नहीं है । हे प्रभु ! मेरे कर्म तो देखो ॥ ९ ॥

२२४

ॐ

श्रीसद्गुरुमक्ति रहस्य

हे प्रभु ! हे प्रभु ! हे दीनानाथ दयाल ! हे करुणेश ! क्या कहूँ, मैं तो अमृत दोषोंका पात्र हूँ ॥ १ ॥

मुझमें शुद्ध-भाव नहीं है, और न मुझमें तेरा पूरा रूप ही है, न मुझमें छपुता है और न दीनता है, तो फिर मैं परम-स्वरूपकी तो बात ही क्या कहूँ ? ॥ २ ॥

न मैंने गुरुदेवकी आज्ञाको हृदयमें अचछ किया है, न मुझमें आपके प्रति इह विराट् भाव है, और न परम आदर ही है ॥ ३ ॥

न मुझे सत्संगका योग है, न सत्सेवाका योग है, न सम्पूर्णरूपसे अपनेको अर्पण करनेका भाव है, और न मुझे अनुयोगका आश्रय ही है ॥ ४ ॥

मैं पामर क्या कर सकता हूँ ? मुझे ऐसा विवेक नहीं है । मरण समयतक मुझे आपकी चरण-धारणका बीरज भी तो नहीं है ॥ ५ ॥

अचिन्त्य माहात्म्यका मुझमें प्रयुक्लित भाव नहीं है, न मुझमें स्नेहका एक भी वंश ही है, और न किसी प्रकारका परम प्रभाव ही मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

मुझमें न तो अचछ आसक्ति है और न निरुद्धका ताप ही है, न तेरे प्रेमकी अकल्प्य कथा है, और न ठसका कुछ परिताप ही है ॥ ७ ॥

न मेरा भक्ति-भागिमें प्रवेश है, न मन्त्रजमें इतता है, न अपने धर्मकी समस्त ह, और न शुभ देशमें मेरा वास ही है ॥ ८ ॥

कृत्तिकाखसे काष्ठ-दोष हो गया है । इसमें मर्यादा और धर्म नहीं रहे, तो भी मुझे आकुलता नहीं है । हे प्रभु ! मेरे कर्म तो देखो ॥ ९ ॥

ओ सेवकसे प्रतिकूल बंधन है, उसका मैंने त्याग नहीं किया है; देह और इन्द्रियों मानसी नहीं हैं, और बल्ल बल्लपर राग किया करती है ॥ १० ॥

तेरा वियोग सुरित नहीं होता, बचन और नयनका कोई यम-नियम नहीं, तथा न मोगे हुए पदाब्जोंसे और घर आगिसे उगाड़ीन भाष नहीं है ॥ ११ ॥

मैं मैं लक्ष्मणसे रहित हूँ, न मैंने अपने धर्मका ही संशय किया है, और न मुझमें निर्मल-भाषसे अन्य धर्मके प्रति कोई निवृत्ति ही है ॥ १२ ॥

इस प्रकार मैं अनंत प्रकारसे साधनोंसे रहित हूँ । मुझमें एक भी तो सङ्गुल नहीं; मैं अपना मुँह कैसे बचाऊँ ॥ १३ ॥

हे दीनबन्धु दीनानाथ ! आप केवल करुणाकी मूर्ति हो, और मैं परम पापी बनाप हूँ । हे प्रभुजी ! मेरा हृत्प पक्षी ॥ १४ ॥

हे मगधन् ! मैं बिना ज्ञानके अनंत काकसे मगध किया, मैंने सतगुरुकी सेवा नहीं की और अग्निमानका त्याग नहीं किया ॥ १५ ॥

सतके चरणोंके आश्रयके बिना मैंने अनेक साधन जुटाये, परन्तु उनसे पार नहीं पड़ी, और विवेकका अंश मात्र भी उनसे उचित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

जितने मर साधन ये सब बंधन हो उठे और कोई उपाय नहीं रहा । जब सदा साधन ही नहीं सम्पन्ना, तो फिर बंधन कैसे बुर हो सकता है ? ॥ १७ ॥

मैं प्रभु प्रभुकी बीड़ी खींचूँ, और न सद्गुरुके पैरोंमें ॥ पड़े; जब अपने दोष ही नहीं देखे तो फिर किस उपमसे पार पा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

मैं संपूर्ण बगवन्में अधमसे अधम और पतितसे पतित हूँ । इस निश्चयपर पहुँचे बिना साधन भी क्या करेंगे ? ॥ १९ ॥

हे मगधन् ! मैं फिर किरसे तरे चरण-कमलोंमें पक्ष पक्षकर नहीं मीमांसा हूँ कि मैं ही सङ्गुल संत है, ऐसी मुझमें शकता उत्पन्न कर ॥ २ ॥

ऐसोने प्रतिकूल है, ठे बंधन नहीं त्याग; हेतुशेष माने नहीं करे बल्लपर राग ॥ १ ॥

दुःख विधायी दृष्टिहीन नहीं बचन नवन कम नाहिं नहिं उदरत कमलमल भी, तेम पदाब्जिक मद्रि ॥ ११ ॥

अहम्भवाही रहित नहिं स्वधर्मलक्ष्य नहिं, मणी निवृत्ति निर्मलमेव अन्य धर्मेति कार्य ॥ १२ ॥

एव अनन्त प्रकारकी साधन रहित हुं नहिं एक लक्षण पक्ष मुक्त पक्षों हुं ॥ १३ ॥

केवल करुणामूर्ति ओ दीनबंधु दीनानाथ; पापी परम अनाथ ऊठे पक्षी प्रभुजी हाथ ॥ १४ ॥

अनंत काकभी आश्रयों बिना भयन मगधान; कैसा मरि हुं संतने दूरतु नहिं अग्निमान ॥ १५ ॥

लज्जतल-आश्रयविना साधन कर्मा अनेक; पर न देखी पाणिपी उभयो न अंध विवेक ॥ १६ ॥

सुदु साधन बंधन बंध पक्षी न कीर्ति उपाध; उर साधन समकही नहीं स्व बंधन हुं बंध ॥ १७ ॥

मरी मरी जब अगो नहीं पक्षी न लक्षण बाध बीठा मरि निज योग ही तरिषे भोग उपाध ॥ १८ ॥

अधमधम अधिको अति लज्जक कमल्य हुं न; ए निश्चय आत्म विना साधन करों हुं ॥ १९ ॥

पक्षी पक्षी दुःख पर पक्षी चरिषी माधु एव सङ्गुल संत स्वयं दुःख ए दहता करि देव ॥ २ ॥

२२५

राज्य, माघ सुदी ८, १९४७

ॐ सत्

हुं साधन बाकी रह्युं ! कैतव्य बीज हुं !

यम निष्कम सत्रम आप कियो, पुनि त्याग विराग अपाग छोडो;
वनवास छियो मुख मौन छोडो, हठ बासन पत्र समाप दियो ॥ १ ॥
ममपीननिरोध स्वभाव कियो, हठयोग प्रयोग सुतार मयो;
अपमेद अपे तप त्योहि तपे, उरसेहि उदासि छोडी सखे ॥ २ ॥
सन शास्त्रनके मय चरि छिये, मत महन छडन मग छिये,
बह साधन बार अनंत कियो, तदपी कछु हाथ हनू त पर्यो ॥ ३ ॥
अब क्यों न विचारत है ममसें, कछु और रहा उन साधनसें ?
निम सङ्कट कोठ न मेद करे, मुख बागळ है कब बात करे ? ॥ ४ ॥
कहना हम पावत है तुमकी बह बात रही सुगुरु गमकी;
पक्षमें प्रगटे मुख बागळसें, अब सुगुरुचरनसु प्रेम बसे ॥ ५ ॥
तनसें, मनसें, भनसें, सबसें, गुह्येवकि जान स्वभाव बसे,
तब कारण सिद्ध बने अपनी, रस अमृत पावहि प्रेमकनो ॥ ६ ॥
बह सप्य सुषा दरसाहिग, चतुर्गुण है द्रवस मित्र हैं;
रस्तेब निरज्जमको विबही, गहि जेना सुगोत्रुग सो विबही ॥ ७ ॥
पर प्रेम प्रसाह बदे प्रभुसें, आगममेद सुडर बसे;
बह केवडको विव ग्यानि करे, निजको अनुनी बतझाइ लिये ॥ ८ ॥

२२६

राज्य, माघ सुदी ८, १९४७

(१) जबका जबक्य ही परिणमन होता है, और बेतनका बेतनरूपसे ही परिणमन होता है । दोनोंमें कोई भी अपने स्वभावका छोड़कर परिणमन नहीं करता ॥ १ ॥

जो जब है वह तीनों कालमें जब ही रहता है इसी तरह जो बेतन है, वह तीनों कालमें बेतन ही रहता है यह बात प्रगत्करसे अनुभवमें आई है, इसमें संशय क्यों करना चाहिये ? ॥ २ ॥

यदि किसी भी कालमें जब बेतन हो जाय और बेतन जब हो जाय, तो वह और मोक्ष नहीं बन सके, और निवृत्ति-प्रवृत्ति भी नहीं बन सक्ती ॥ ३ ॥

२२९

(१) जबक्ये जब परिकमे बेतन बेतन भव; और कोई पकडे नहीं, छोडी आत स्वभाव ॥ १ ॥

जड ते जब जन कालमें बेतन बेतन तेम प्रकट अनुभवकर छे, संशय तेमों केय ? ॥ २ ॥

जो जब जन कालमें बेतन बेतन होय; बीच मोक्ष तो नहीं बदे, निवृत्ति प्रवृत्ति भव ॥ ३ ॥

आत्मा जबतक बंध और मोक्षके संघर्षसे अज्ञात रहती है, तबतक अपने स्वभावका त्याग ही रहता है, यह त्रिनमगवान्ने कहा है ॥ ४ ॥

आत्मा अपने परकी अज्ञानतासे बंधके प्रसंगमें प्रवृत्ति करती है, परन्तु इससे आत्मा स्वयं बंध नहीं हो जाती, यह सिद्धांत प्रमाण है ॥ ५ ॥

अरूपी रूपीको पकड़ लेता है, यह बहुत आश्चर्यकी बात है, जीव बंधनको जानता ही नहीं, यह कैलाध अनुपम त्रिनमगवान्का सिद्धांत है ॥ ६ ॥

पहले देह-वृत्ति थी इससे देह ही देह दिखाई देती थी, परन्तु अब आत्मामें वृत्ति हो गई है, इसलिये देहसे खेद दूर हो गया है ॥ ७ ॥

बन्ध और चेतनका यह संयोग अनादि अनंत है, उसका कोई भी कर्ता नहीं है, यह त्रिनमगवान्ने कहा है ॥ ८ ॥

मूढद्रव्य न तो उत्पन्न हो हुआ था, और न कभी उसका नाश होा होगा, यह अनुपम सिद्ध है, ऐसा त्रिनमगवान्ने कहा है ॥ ९ ॥

जो वस्तु मौजूद है उसका नाश नहीं होता, और जिस वस्तुका सर्वथा अभाव है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, पदार्थोंकी अवस्था देखो, जो बात एक समयके लिये है वह हमेशाके लिये है ॥ १० ॥

(२) परम पुरुष, सद्गुरु, परम ज्ञान और मुक्तके चाम जिस प्रभुने निजका ज्ञान दिया, उसे सदा प्रणाम है ॥ ११ ॥

(१) जिस जिस प्रकारसे आत्माका चितवन किया हो, वह उसी उसी प्रकारसे प्रतिभासित होती है ।

विपर्यायसे मूढ़ताको प्राप्त विचार शक्तिवाले जीवको आत्माकी नित्यता नहीं भासित होती, ऐसा प्रायः सिद्धांत देता है, और ऐसा होता है यह बात ब्यपार्य ही है क्योंकि अनित्य विषयों आत्म-बुद्धि होनेके कारण उसे अपनी भी अनित्यता ही भासित होती है ।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगती है । अत्यन्तसे चितवन करनेवालेको आत्मा एतन् लगती है अनित्यतासे चितवन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगती है; और नित्यतासे चितवन करनेवालेको आत्मा नित्य लगती है ।

बन्ध मोक्ष संयोगी आत्मा अज्ञान अज्ञान एवं त्याग त्यागको मले त्रिनमगवान् ॥ ४ ॥

कैसे बंधनसेमा से निजका अज्ञान, एवं अज्ञान नहीं आत्मने ए सिद्धांत प्रमाण ॥ ५ ॥

अहं कर्त्ता कर्त्तृने ए अकारकी बात जीव बंधन बाधे नहीं केही त्रिनमगवान् ॥ ६ ॥

प्रथम देह वृत्ति होती होती अज्ञान है, ऐसे वृत्ति बन्ध आत्मने, यन्तो देहकी देह ॥ ७ ॥

अहं चेतन संयोग वा त्याग अनादि अनंत; कोई न कर्त्ता देखनी आत्मे त्रिनमगवान् ॥ ८ ॥

मूढ द्रव्य उत्पन्न नहीं, नहीं नाश एवं त्याग; अनुपमकी से सिद्ध है अज्ञाने त्रिनमगवान् ॥ ९ ॥

ऐक्य देखनी नाश नहीं नहीं तो नहीं हीन, एक समय से ही समय देह अज्ञाना अज्ञान ॥ १० ॥

(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु परम ज्ञान मुक्त अज्ञान; कैसे आत्मने अज्ञान निज देने लक्ष प्रमाण ॥ ११ ॥

२२७

संस्कृत, भाद्रपद १९२७

(१)

हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है—

जिसने नव-पूर्वको भी यह किया, परन्तु यदि उसने जीवका नहीं पहिचाना, तो यह सब व्यर्थ ही कहा गया है; इसमें आगम साक्षी है । ये समस्त पूर्व जीवको विशयस्वरूपसे निर्मल बनानेके लिये कहे गये हैं । हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ १ ॥

ज्ञानको किसी प्रयत्नमें नहीं बताया, कविकी चतुष्टका भी ज्ञान नहीं कहा; मन्त्र-तंत्रोंका भी ज्ञान नहीं बताया ज्ञान कोई भाषा भी नहीं है । ज्ञानको किसी दूसरे स्थानमें नहीं कहा—ज्ञानका ज्ञानार्थ ही देखो । हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ २ ॥

अथवा ' यह जीव है ' और ' यह वह है ' इस प्रकारका भेद माध्यम नहीं पड़ा, तबतक पञ्चखाण्ड करनपर भी उसे मोक्षका हेतु नहीं कहा । यह सर्वथा निर्मल उपदेश पूर्वार्थे आगम कहा गया है । हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ३ ॥

न केवल ब्रह्मचर्यसे, और न केवल सपत्नसे ही ज्ञान पहिचाना जाता है, परन्तु ज्ञानको केवल ज्ञानसे ही पहिचानो । हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ४ ॥

विशेष शास्त्रोंको जाने या न जाने, किन्तु उसके साथ अपने स्वभावका ज्ञान करना अपना कैसा विज्ञान करना, इसे ही ज्ञान कहा गया है । इसके लिये सन्मति आदि प्रणय देखो । हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ५ ॥

यदि ज्ञानके परमाप्ति आगम समितियोंको जान लिया, तो ही उसे माध्यायका कारण होनेसे ज्ञान कहा गया है; केवल बदली कल्पनाके लक्ष्ये करोड़ों दास्य रत्न दना, यह केवल मनका बहकार ही है । हे सब मय्या ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ६ ॥

२२७

जिनवर करे छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे—

ये हीय पूर मय्य नव पत्र जीवने ज्ञाना नहीं तो सब व व्यर्थान मय्यु लक्ष्य छ ज्ञानम नहीं
ए पूर सब कहा विवेक, जीव करवा निम्न जिनवर कर छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे ॥ १ ॥
महि मय्य मही ज्ञान मय्यु ज्ञान नहि कवि-वाणी, नहि मय्य तैवा ज्ञान ज्ञाना ज्ञान महि भाव डी
नहि मय्य स्थान ज्ञान मय्यु ज्ञान ज्ञानीया कये जिनवर कर छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे ॥ २ ॥
जा जीव जन जा रह एवा भेद जा मय्या नहीं पञ्चान कीवा त्या तुषी भाषाव ते मय्या नहीं;
ए पंचमे मय्य कये उतरवा केवल निर्मले, जिनवर कर छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे ॥ ३ ॥
कवल महि ज्ञानमय्य
केवल महि मय्यमय्य पत्र ज्ञान कवलमय्य कये जिनवर कर छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे ॥ ४ ॥
जाको विवेक नहीं पत्र जा जाविनु निबन्धन का एवा ज्ञान करवा मय्यी लक्ष्य मने;
ता ज्ञान देने मय्यिनु आ सन्मति आदि लक्ष्ये जिनवर कर छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे ॥ ५ ॥
आठ समिति आनीय का ज्ञानीया परमाप्य; ता ज्ञान मय्यु रहने, अनुसार ते माध्यायकी;
निब कवलमय्य कीवि दास्य माय मय्यी आमय्यी जिनवर कर छ ज्ञान देने सब मय्या लाम्बे ॥ ६ ॥

भार बेद तथा पुराण आदि शास्त्र सब मियाँ गाय हैं, यह बात, जहाँ सिद्धांत के योग्य वर्णन किया है, वहाँ मीमांसा में नहीं है। ज्ञान ता ज्ञानीको ही होता है, और यही टीका केला ही है। हे सब मियाँ ! मुझे, त्रिनयने इसे ही बात कहा है ॥ ७ ॥

म कोई ऋत किया, म कोई परमपूजा किया, और म किसी बन्धु का हाथ ही किंग परन्तु दानपूजा देव को, अंगिक आगे जाकर महामहार्थकर होमा। उसन अनंत मरोगे छेद किया ॥ ८ ॥

(२)

इति-रित मरु होनेक बात बाह्य आ शास्त्र हो, बाह्य आ कपन हो, बाह्य जो वचन हो, बाह्य जो रूप हो, बाह्य प्रायः अहितपत्र कारण नहीं होता।

२२८

रामच, भाष्य ११४०

(प्रश्न)

ॐ

(उत्तर)

केल्य हीन सत्ता ईश्वर !

आहत मापरी (श्रीमद् कुमुदोपपत्ति)

कल्पे हीन सत्ता न्य !

सत्ता न्य

देव कपार न्य !

इष्टपुत्री

प्रथम जीव कर्माणि आप्यो !

अध्वरामणी (श्रीमद् पुरुषोत्तममणी)

अति जीव अति क्य !

अति क्य

तने पमाय केम !

सत्तापुत्री.

२२९

बालीमा, भाष्य ११४०

ॐ " सत् "

ज्ञान नहीं है कि जहाँ एक ही अभिप्राय हो; प्रकाश घोड़ा हो अथवा अज्ञान, परन्तु प्रकाश एक ही है।

ज्ञान आदिके ज्ञानसे निस्त्वाय नहीं, परन्तु निस्त्वाय अनुमत्त-ज्ञानसे है।

भार बेद पुराण आदि शास्त्र को सिद्धान्तना श्रीनेहिमले मालिका ७ मर क्य सिद्धांतना;

पत्र ज्ञानिने के ज्ञान प्रकाश एक केकले के मिनर के के ज्ञान के के क्य मयो लोमने ॥ ७ ॥

ज्ञान नहीं पचत्ताय नहीं नहि स्वयं बलु बोर्नीने, यष्टपुत्रीबलु क्य अधिक कर्माय बोर्नीने;

केमा अनंत

॥ ८ ॥

१ नहीं प्रथम और उत्तर दोनों मिन हैं। वहीना एक प्रथम है। इस शास्त्रका मूल प्रथम शास्त्र है। इस प्रथम शास्त्रे ही प्रथम बना है। इसका मूल यह है कि मूल अक्षरके आगेका एक एक अक्षर केना बाँधे। केने प के आगे क, र के आगे क, य के आगे क, म के आगे क केना बाँधे। इस काले अक्षरों केनेसे प्रथमसे प्रथम बनाया है। इसी तरह दूसरे शास्त्रोंके मिन भी समझना पाविये। अनुस्वरक

१ परके मिन कर्माणि आरा ।

अध्वरामले (श्रीमद् पुरुषोत्तमले)

अंतमें श्रीव नहीं क्यवया ।

नहीं क्यवया.

अति केने नाया क्य ।

सत्तापुत्री

स्वार्थ नहीं है; इसलिये कह देना योग्य है कि वे प्रायः केवल 'सत्' से विमुक्त मार्गमें ही प्रवृत्ति करते हैं। जो उस तरह व्यापारण नहीं करता, वह हाथमें तो अग्रगण्य रहनेकी ही इच्छा करता है। आश्चर्यकी बात तो यह कि कठिकाकने योके समयमें परमार्थको भेरकर अनर्थको परमार्थ बना दिया है।

२३५

ब्रह्मणीया, भाष्यपद बंदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है; कुछ भी अच्छा नहीं लगाता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगाता वही अधिक मजबूर पड़ता है वही सुनाई देता है; तो अब क्या करें? मन किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इस कारण प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है; कुछ भी बौंचन, छेदन अथवा जन परिचयमें रुचि नहीं होती। प्रचलित मतके अर्थोंकी बात कानमें पड़नेसे हृदयमें मृदुसे भी अधिक बदना होती है। या तो तुम इस स्थितिमें जानते हो, या निसे इस स्थितिमें अनुभव हुआ है वह जानता है, अथवा हरि जानते हैं।

२३६

ब्रह्मणीया भाष्यपद बंदी १० रवि १९४७

जो अहममें रमण कर रहे हैं ऐसे निर्मल्य मुनि भी निष्कारण ही भगवान्की भक्तिमें प्रवृत्त रहते हैं क्योंकि भगवान्की गुण ऐसे ही हैं — श्रीमद्भागवत।

२३७

ब्रह्मणीया भाष्यपद बंदी ११ सोम १९४७

जब तक जीवनको संतुष्टा संयोग न हो तब तक मतमतांतरमें मण्यत्व रहना ही योग्य है।

२३८

ब्रह्मणीया, भाष्यपद बंदी १२ मीम १९४७

बताने योग्य तो मन है कि जो सत्स्वरूपमें अलङ्घ्य स्थिर हो गया है (जैसे नाना बौद्धिकों के ऊपर) तथापि उस दक्षाके वर्णन करनेकी सदा सर्वाचार हरिने ब्रह्मणमें पूर्णरूपसे नहीं दी और छेदमें तो उस ब्रह्मणका अनंततर्षी मग्न भी मुक्तिरूपसे जा सकता है। यह परिमित स्थिति रहनेका एकतम कारण यही है कि पुरुषोत्तमके स्वल्पमें हमारी और तुम्हारी अमन्य प्रेम-भक्ति अक्षय्य रहे; वह प्रेम-भक्ति परिपूर्ण प्रसन्न होओ वही याचना करते हुए—अब अधिक नहीं शिक्ता। ईश्वरेश्वर

२३९

ब्रह्मणीया भाष्यपद बंदी १४ बुध १९४७

ॐ सत्

परम विभ्राम सुमात्रय।

जैसे महात्मा म्यासजीका हुआ था, वैसा ही अब हमारा भी हाथ है। अहम-दर्शन जाने पर भी म्यासजी आनन्द-सम्पन्न नहीं हुए थे; क्योंकि उन्होंने हरिसे अक्षय्यरूपसे नहीं गाया था। हमारा भी

मही हाथ है। परम प्रमत्त अखंड हरिसका अखंडपनेसे अनुभव करना अभी कहींसे आ सकता है? और जबतक ऐसा न हो तबतक हमें जगत्में की एक वस्तुका एक अणु भी अच्छा समझना नहीं।

जिस युगमें भगवान् व्यासजी थे वह युग दूसरा था, यह कछियुग है; इसमें हरिसम्पद, हरिनाम, और हरिजन देखनेमें नहीं आते, सुनने तकमें भी नहीं आते; इन तीनोंमेंसे किसीकी भी स्मृति हो, ऐसी कोई भी शीघ्र देखनेमें नहीं आती। सब साधन कछियुगसे घिर गये हैं। प्रायः सभी जीव उन्मार्गमें प्रवृत्ति कर रहे हैं, अथवा समस्तके समुच्च अङ्गनेवाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। कहीं कोई मुमुक्षु हैं भी, परन्तु उन्हें अभी मार्गकी सम्यक्ता प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कर्मदोषना भी मनुष्योंमेंसे चला हिसा गया है। उन्मार्गका एक भी अङ्ग आर उल्टा सौतों बंश भी किस्तीमें नजर नहीं पड़ता; केवलज्ञानका मार्ग तो सर्वथा भित्तर्जन ही हो गया है। कौन जाने हरिकी क्या इच्छा है? ऐसा कठिन काष्ठ तो अभी ही देखा है। सर्वथा मन्द पुण्यवाले प्राणियोंको देखकर परम अनुकंपा उत्पन्न होती है, और ससृगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

बहुत बार घोड़ा घोड़ा करके कहा गया है, तो भी ठीक ठीक शब्दोंमें कहनेसे अधिक स्मरणमें रहेगा, इसलिये कहते हैं कि बहुत समयसे किसीके साथ अर्थ-संबंध और काम-संबंध बिछकुरा ही अच्छा नहीं लगता। अब तो धर्म-संबंध और मोक्ष-संबंध भी अच्छा नहीं लगता। धर्म-संबंध और मोक्ष-संबंध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छा लगता है, और हम तो उससे भी विरक्त ही रहना चाहते हैं। इसमें तो हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, आर जो कुछ अच्छा लगता भी है उसका अत्यन्त वियोग है। अधिक क्या लिखें? सहन करना ही सुगम है।

२४० ब्रह्मसिद्धि आसौज सुगी ९ गुरु १९४७

१ 'परसमय' के जाने बिना 'स्वसमय' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।

२ 'परब्रह्म' के जाने बिना 'स्वब्रह्म' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।

३ सम्पत्तिसूत्रमें श्रीसिद्धसेन लिखाकरने कहा है कि ब्रिजवन बचन-मार्ग है उतने ही नयना है, और ब्रिजने नयना है उतने ही परसमय है।

४ अश्रयमगत कविने कहा है—

कर्त्ता मने ता सृष्टि कम, ए छ महा भजननी मम।

आ तूं जीव ता कर्त्ता हरी, आ तं शिब ता बस्तु ररी।

तूं छो जीव ने तूं छो नाथ, एम कही भस्व सृजना हाय।

परि कृपासेना माय मित्र जाय तो कर्म धूर जाता है। वह महा भजनका मर्म है। यदि तू जीव है तो हरि कर्त्ता है। और तू शिब है तो बस्तु भी कर्म है। तू ही जीव है और तू ही नाथ है। एम कहकर भजन' न हाथ नरक दिया।

तुम लोग मी, जो हमें जानते हैं उन लोगोंके सिवाय अधिक लोगोंको, हमें नाम, स्थान और गोत्रसे बताना नहीं ।

एकसे अनंत है; जो अनन्त है वह एक है ।

२४४

बनारसीबा, वासोज बंदी ५, १९४७

आदि पुरुष सेस लगाकर बैठा है

एक अश्व-वृत्तिके सिवाय नया-पुण्या तो हयारे हैं क्यों ? और उसके सिन्धुने जितना मनका जलकाश भी क्यों है ? नहीं तो सभी कुछ नया ही है, और सभी कुछ पुण्या है ।

२४५ बनारसीबा, वासोज बंदी १० सेम १९४७

ॐ

(१) परमाश्व-विषयमें मनुष्योंका पत्र-व्यवहार अधिक चलता है; और हमें यह बहुत-कुछ नहीं आता । इस कारण बहुतसे उच्च तो जिसे ही नहीं जाते; ऐसी हरि इच्छा है और हमें यह बात प्रिय भी है ।

(२) एक दशासे प्रवृत्ति है; और यह दशा अभी बहुत समयतक रहेगी । उस समयतक उदयानुसार प्रवृत्ति करना बोध्य समझा है; इसलिये किसी भी प्रसंगपर पत्र आनेकी पहुँच निश्चयेमें यदि निश्चय हो जाय अथवा पहुँच न हो जाय, अथवा कुछ उत्तर न दिया जाय, तो उसके विषये लेख करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय करके ही हमसे पत्र-व्यवहार रहना ।

२४६

बनारसीबा, वासोज बंदी १९४७

(१) यही स्थिति—यही मात्र और यही स्वरूप है । मछे ही वाय कल्पना करके दूसरी रज से हैं किन्तु यदि वयार्थ चखते हो तो यह ... ओ ।

निर्मग झल-दर्शन अन्य दर्शनमें माना गया है । इसमें मुख्य प्रवर्तकोंमें जिस बर्म-मार्गक बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिये स्थाय्य मुद्राकी आवश्यकता है ।

स्वायं मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है । भुताङ्गमकी अपेक्षा स्वस्वस्थित आत्मसे कहीं हुई शिक्षा है ।

(२) पुनर्जन्म है—जकर है—इसके लिये मैं अनुभवसे ही कहनेमें आच्छ हूँ ।

(१) इस काष्ठमें मरा जन्म केना, मार्ग तो हृत्कथयक है और मार्ग तो हृत्कथयक भी है ।

(४) अब वंश कोई बौद्धन नहीं रहा कि जिसे बौद्धनकी जकरत हो । जिसके समे आत्म लक्ष्मी प्राप्ति हो जाया करती थी, ऐसे संगकी इस काष्ठमें मृतता हो गई है ।

निकरक काक । ... निकरक कर्त । ... निकरक आत्मा) ..

... .. किसे ... परंतु इस तरह ...

अथ ज्ञान रखो । यही कल्याण है ।

(५) यदि इतनी ही म्योत्र कर सकी तो सब कुछ पा जाओगे; निश्चयसे इतनी ही है। तुम्हें अनुमति है। सत्य कहता हूँ। यथार्थ कहता हूँ। निःसंशक मानो।
इस स्वल्पके संभवमें कुछ कुछ किसी स्थितिपर भ्रम छात्र है।

२४७ पञ्चमीभा, आश्विन वरी १२ शुक्र १०४७

ॐ पूणकामचित्तको नमो नमः

आत्मा ब्रह्म-समाधिमें है; मन बनमें है; एक दूसरेके आभासमें अनुक्रमसे पैदा कुछ किया करता है। इस स्थितिमें तुम दोनोंके पत्रोंका विस्तारपूर्वक और संतोषमय उत्तर कैसे किया जाय, यह तुम्हीं कहो। त्रिनका धर्ममें ही निष्ठा है, ऐसे इन सुसुशुद्धोंकी दृष्टि और शक्ति तुमको समझाने रमनी योग्य है, और अनुकरण करने योग्य है।

निरुद्ध एक समयके छिये भी बिछ न दो; इस तरहसे उत्तरांगमें ही रहनेकी इच्छा है; परन्तु यह तो हरि इच्छाका आधीन है।

कस्मिन्मयमें उत्तरांगकी परम दानि दा गई है; अस्वरूप छाया हुआ है। इस कारण उत्तरांगकी अपूर्वताका जीवको यथार्थ भास नहीं होता।

तुम सब परमार्थ विषयमें करी प्रवृत्तिमें रहते हो, यह किम्बन्ता।

किसी एक नहीं कहें हुए प्रसंगक विषयमें विस्तारसे पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उदात्ता भी निरोध करना पड़ा है। यह प्रसंग गंभीर होनेके कारण उत्तरको इतने पर्यन्तक दूरवर्गे ही रक्खा है। अब समझते हैं कि कर्तव्य, परन्तु तुम्हारी उत्तरांगविके मित्रने पर कहे ता पढ़ें।

२४८ पञ्चमीभा, आश्विन वरी १३ शुक्र १०४७

भी स्वर्गीय श्री... निरुद्धकी बेरमा हमें अधिक रहती है, क्योंकि वीतरागता विशेष है; अन्य रंगमें बहुत उद्वेगमयता है। परन्तु हरि इच्छाका अनुगमन करके प्रसंग वाकर निरुद्धमें रहना पड़ता है, और उस इच्छाको सुस्पष्टयक मानते हैं, जेगा नहीं है। भक्ति और उत्तरांगमें निरुद्ध रमनेकी इच्छा सुस्पष्टयक माननेमें हमारा निवार नहीं रहता। श्रीहरिकी ओक्षा इस विषयमें हमें अधिक स्वतंत्र है।

२४९

शुद्ध, १०४७

आर्तप्यामका ध्यान करनेकी ओक्षा धर्मप्याममें प्रति पाना, यही भेष्यकर है। और निरुद्धे छिये आर्तप्यामका ध्यान करना पड़ता हो, वहींसे या तो मनको उठा खना यादिव, अथवा उदात्तको कर रक्खना चाहिये कि जिससे निरुद्ध हुआ जा सके।

स्वच्छन्द जीवके छिये बहुत बड़ा दोष है। यह निरुद्ध दूर हो गया है, उस मार्गका क्रम जाना बहुत मुश्किल है।

वर्ष २५वीं

२५७

४३

बनगौवा, बर्धक सुदी १९४८

व्यययोग्य करने लीकर करना ।

समागम होनेपर दो-चार कारण मन खोजकर वापस बात नहीं करने देते । कर्मकाण्डकी वृत्ति, समागमी लोगोकी वृत्ति और लोक-कथा ही प्रायः इस कारणका मूख होता है । ऐसी वृत्ति प्रायः मेरी नहीं रहती कि ऐसे कारणोंसे किसी भी प्राणीके ऊपर कठोरता आवे; परन्तु हमने मेरी दशा कोई भी लोकोचर बात करते हुए रुक जानी है; क्योंकि मनका कुछ पता नहीं चलता ।

‘परमार्थ-मौल’ नामका कर्म हस्तमें भी उदरमें है, इससे अनेक प्रकारका मौल भी बंगीकार कर रक्खा है; क्योंकि अधिकतर परमार्थसंबंधी बातचीत नहीं करते । ऐसा ही उदय-काण्ड है । अजित् स्यात्सत्ता मार्गसंबंधी बातचीत करते हैं, अन्यथा इस विषयमें बाष्पित्यार, तथा परिचयार्थ मौल और हृत्यता ही प्रमाण कर रक्खी है । जबतक योग्य समागम होकर चित्त ज्ञानी पुरुषका स्वरूप नहीं जानता, तबतक ऊपर कहे हुए तीन कारण सर्वथा दूर नहीं होते, और तबतक ‘सद्’ का परमार्थ चरण भी प्राप्त नहीं होता ।

ऐसी परिस्थिति होनेका कारण, दुर्घट में समागम होनेपर भी बहुत व्यावहारिक और लोक-कथा-बुद्धि बात करनेका प्रसंग रहेगा; और उससे मुझे बहुत जरूरी है । वाप किसीके भी साथ मेरा समागम होनेके पश्चात् इस प्रकारकी बातोंमें गुंथ जाँम, इसे मिल योग्य नहीं समझा ।

२५८

४३

बानन्द, मंगसिर सुदी शुक् १९४८

(ऐसा जो) परमसत्य बसका हम ध्यान करते हैं

मगजान्को सब कुछ समर्पण किये बिना इस काळमें जीवका देशभिमित सिद्धता समझ नहीं है, इसलिये हम समासतन्त्रमरूप परमसत्यका निरन्तर ही ध्यान करते हैं । जो सत्यका ध्यान करता है, वह सत्य हो जाता है ।

२५९

बर्धक, मंगसिर सुदी १४ पौष १९४८

अंसत्

भीसहजसमाधि

यहाँ समाधि है । स्थिति रहती है; तथापि निरुपलब्धता है । अंतर्ग-वृत्ति होनेसे अनुमात्र भी उपाधि सहज हो सके, ऐसी वृत्ति नहीं है । तो भी सहज करते हैं ।

निवार करके बहको फिर फिरसे उपलब्धता; मगसे किये हुए निश्चयको संप्रदाय निश्चय नहीं मानना ।

शलीशय किये हुए निषपद्ये जनकर प्रवृत्ति करने ही कल्पा है—जिसे दो कैली
शेखर । मुद्राक निम्न होने सुन्दर नहीं है । गुन दत्तका सम्पन्न सम्पत्ति, और तब ही पद निम्न ।

२६० बन्धु, मन्त्रि वरी १४ गु. १९४८

अनुक्रमे सयम स्वर्णगोत्री, पाम्पो सायकभाष २,
संपमभेगी पृष्ठगोत्री, पूर्य पद निम्नाव रे ।

(आनाथी अनेक विद्वत्पण) उनके पदके बाद एक अनुक्रम करके आदिनाम
(अब परिचित हल) का प्रत्यय जो अतिशय प्रु, उनके निर्णय करके अनुक्रमे संपमभेगी
कल्पने प्रुद्ध है ।

कारक वचन अनिष्ट गन्त है ।

यद्यप्येवम् स्वरुपा यथापेय

२६१ बन्धु, पौत्र वरी ३ वरी १९४८

अनुक्रम सयम स्वर्णगोत्री, पाम्पो सायकभाष २,
संपमभेगी पृष्ठगोत्री, पूर्य पद निम्नाव रे ।

ईश्वर सकलना मय प्रो, आप रहे निम माधे रे,
रितकरी जनने समीपनी, चारा सह चराध रे ।

दधन न यथा जूना, ते ओष नमरन फेर रे,
एहि विरादिक वामा, समष्टि दधिन हरे रे ।

पागना बीज इहां प्रो, मिनबर शुद्ध मागो रे,
माहाचारम सैयना, मय बद्धग मुगमा रे ।

२६२ बन्धु, पौत्र वरी ५, १९४८

सायिक चरित्रको स्मरण करत है

उनके विदेशी भाग लक्ष्मण है । करसुन्दरका पत्र लक्ष्मण है ।

बोधव्यवस्था यथापेय

१ एव पदके अर्थों के दोनो ऊत नी. १४ अनुक्रम.

२ एवम् एवम् ही वदन्ते कल्पे और तब ही निम्न करने वन ए. एवम् एवम् ही निम्न करने वन ए. एवम् एवम् ही निम्न करने वन ए.

३ जो दो निम्न निम्न एवम् निम्न वन है वे केवम् केवम् ही निम्न वन है । निम्न वन है निम्न वन है निम्न वन है ।

४ एवम् एवम् ही वदन्ते कल्पे और तब ही निम्न करने वन ए. एवम् एवम् ही निम्न करने वन ए. एवम् एवम् ही निम्न करने वन ए.

२५०

बम्बई १९४७

यदि चित्तकी स्थिरता हुई हो तो ऐसे समयमें यदि सत्पुरुषोंके गुणोंका चिन्तावन, उनके बचनोका मनन, उनके चरित्रका अध्ययन, कीर्तन, और प्रत्येक चेष्टाका फिर-फिरसे निम्निष्ठासन हो सकता हो, तो इससे मनका निग्रह व्यक्त हो सकता है और मनको जीतनेकी सधमुष मही कसीटी है।

देसा होनेसे ध्याम क्या है, यह सपक्षमें आ जायगा; परन्तु उद्यासीनमात्रसे चित्त-स्थिरताके समयमें उसकी सबी साक्ष्य पड़ेगी।

२५१

बम्बई १९४७

१ उदयको अन्ध परिणामस मोगा जाय, तो ही उत्तम है।

२ दोके अंतमें रहनेवाली वस्तुको कितना भी क्यों न छे, फिर भी छेनी नहीं जाती, और भेदनेस भेदी नहीं जाती।—श्रीआचार्यगं।

२५२

बम्बई १९४७

आत्मके द्विये विचार-मार्ग और भक्ति-मार्गकी आराधना करना योग्य है; परन्तु चित्तकी विचार-मार्गकी सामर्थ्य नहीं उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नहीं, इत्यादि जो किष्ठा यह ठीक ही है।

श्री स्वामीने केवलदर्शनसंबंधी कही हुई ची शका किष्ठा उसे बाँची है। दूसरी बहुतसी बातें समझ देनेके बाद ही उस प्रकारकी शंकाका समाधान हो सकता है, अथवा प्रायः उस प्रकारको समझनेकी योग्यता आती है।

हामने ऐसी शंकाको सक्षिप्त करके अथवा हान्त करके विशेष निकट आत्मार्थका विचार ही योग्य है।

२५३ क्वाणीआ कार्तिक सुदी ४ शुक्र १९४८

अन्त विषय आ गया है। लक्ष्यका योग नहीं है और बीतरमाता विधेय है, इसलिये कहीं भी साक्षा नहीं अर्थात् मग कहीं भी विमर्शति नहीं पता। वनेक प्रकारकी विवेचना तो हमें नहीं है, तथापि निरन्तर संसंग नहीं पही कहीं माटी विवक्षमा है। अनेक-संग अन्ध नहीं समझा।

२५४ क्वाणीआ कार्तिक सुदी ७ रवि १९४८

आहे जो क्रिया, अप, तप अथवा शास्त्र-वाचन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, और यह यह है कि अगच्छे निश्चय कर देना, और सत्यके धरणमें रहना।

और इस एक ही अर्थके ऊपर प्रवृत्ति करनेसे जीवकी उसे क्या करना योग्य है और क्या करना अव्यय है, यह बात समझमें आ आती है, अथवा समझमें आने लगती है।

इस लक्ष्यके समुच्चय हुए बिना जप, तप, ध्यान अथवा दान किसीकी भी यथायोग्य सिद्धि नहीं है, और जबतक यह सही तबतक ध्यान आदि कुछ भी कामके नहीं हैं।

इसलिये इनमेंसे जो जो साधन हो सकते हों उन सबको, एकलक्षकी—मिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है—माहि होनेके लिये, करना चाहिये। जप, तप आदि कुछ निषेध करने योग्य नहीं, तथापि वे सब एकलक्षकी प्राप्तिके लिये ही हैं, और इस लक्ष्यके बिना जीवको सम्पत्कृष-सिद्धि नहीं होती। अधिक क्या कहें ? जितना ऊपर कहा है उतना ही समस्तनक लिये समस्त शास्त्र रहे गये हैं।

२५५

बघाणीवा कार्तिक सुदी ८, १९४८

ॐ

किसी भी प्रकारका दर्शन हो, उसे महान् पुरुषोंने सम्मन्धान माना है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। पार्यायिक यथार्थ-बोध प्राप्त होनेको ही सम्मन्धान माना गया है।

जिनका एक धर्म ही निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये। दर्शन आदिकी अपेक्षा यथार्थ-बोध श्रेष्ठ पदार्थ है। इस बातके कहनेका यही अभिप्राय है कि किसी भी तरहकी कल्पनासे पुन कोई भी निर्णय करते हुए निश्चय होओ।

ऊपर जो कल्पना शब्दका प्रयोग किया गया है वह इस अर्थमें है कि “हमारे लुम्हे उस समा-गमकी सम्मति देनेसे समागमी लोग बलु-ज्ञानके सबधमें जो कुछ प्ररूपण करते हैं, अथवा बोध करते हैं, वैसी ही हमारी भी मान्यता है, अर्थात् जिसे हम सत् कहते हैं, उसे भी हम हाथमें मील रहनेके कारण उनके समागमसे उस ज्ञानका बोध लुम्हे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं।”

२५६ बघाणीवा, कार्तिक सुदी ८ सोम १९४८

यदि जगत् आत्मरूप माननेमें आये; और जो कुछ हुआ करे वह ठीक ही माननेमें आये; इसके दोष देखनेमें न आये, अपने गुणोंकी उत्कृष्टता सहन करनेमें आये, तो ही इस सत्तामें रहना योग्य है, अन्य प्रकारसे नहीं।

वर्ष २५वाँ

२५७

ॐ

बनारसीआ, कार्तिक सुदी १९४८

वयासोपम्य बंदन स्वीकार करना ।

समागम होनेपर दो-चार कारण मन खोजकर बागसे बात नहीं करने देते । अनतकर्मकी वृत्ति, समागमी खेमोंकी वृत्ति और खेद-कजा ही प्राय इस कारणका मूळ होता है । ऐसी दशा प्रायः मेरी नहीं रहती कि ऐसे कारणोंसे किसी भी प्राणीके ऊपर कटुता आये; परन्तु इसमें मेरी दशा कोई भी खेदोत्तर वास्तु करते हुए रुक जाती है अर्थात् मनका कुछ पता नहीं चलता ।

परमार्प-मौल ' नामका कर्म इसमें भी उदयमें है, इससे अनेक प्रकारका मौल भी बर्गीकर कर रक्खा है अर्थात् अधिकतर परमार्पसंबंधी बातचीत नहीं करते । ऐसा ही उदय-काष्ठ है । अन्वित साधारण मार्गसंबंधी बातचीत करते हैं अन्यथा इस विषयमें बाणीझर, तथा परिषयझर मौल और धन्यता ही प्रवृत्ति कर रक्खी है । जबतक योग्य समागम होकर चित्त हानी पुरुषका स्वरूप नहीं जानता, तबतक ऊपर कहे हुए तीन कारण सर्वथा दूर नहीं होते, और जबतक ' सत् ' का यथार्थ कारण भी प्राप्त नहीं होता ।

ऐसी परिस्थिति होनेका कारण, मुझे मेरा समागम होनेपर भी बहुत व्यापारिक और खेद-कजा-युक्त बात करनेका प्रस्ताव होगा; और उससे मुझे बहुत लज्जा है; आप किसीके भी साथ मेरा समागम होनेके पश्चात् इस प्रकारकी बातोंमें गुंथ जाँय, इसे मैंने बोध नहीं समझा ।

२५८

ॐ

बानन्द, मगसिर सुदी शुद्ध १९४८

(एसा जी) परमसत्य वस्तुता हम ध्यान करते हैं

भगवान्को सब कुछ समर्पण किये बिना इस काष्ठमें जीविका लेहप्रियमाल मित्रता समझ नहीं है, इसप्रिये हम समागतनर्भरूप परमस्वरूप निरन्तर ही ध्यान करते हैं । जो स्वरूप ध्यान करता है, वह स्वयं हो जाता है ।

२५९

असत्

असिहजसमाधि

यहाँ समाधि है स्मृति रहती है; तथापि निरुपमता है । अस्म-वृत्ति होनेसे अशुभाव भी उपाधि रहम हो सके, ऐसी दशा नहीं है, तो भी स्मरण करते हैं ।

निवार करके वस्तुको फिर किरछे समझना; मनसे किये हुए मिथ्यको साक्षात् निश्चय नहीं मानना ।

हानीद्वारा किये हुए निषेधको जानकर प्रवृत्ति करनेमें ही कल्याण है—किर तो जैसी
ऐनहार । सुधाके नियममें हमें सन्देह नहीं है । तुम उसका स्वल्प समझो, और तब ही फल मिलेगा ।

२६० बर्ध, मगसिर बदी १४ गुरु १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोमी, पाम्यो सायकभाष रे,
संयमभेणी फूलदेमी, पूजू पद निप्याव रे ।

(आत्माकी अमेद चित्तनारूप) संयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभव करके ध्यायिकमात्र
(जब परिणतिका स्थान) को प्राप्त जो श्रीसिद्धार्थके पुत्र, उनके निर्मल चरण-कमलको संयम-भेणीरूप
कैसे पूजता हूँ ।

ऊपरके वचन अतिशय गंभीर हैं ।

यथार्थबोध स्वरूपका यथायोग्य

२६१ बर्ध, पीप सुदी १ रवि १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोमी, पाम्यो सायकभाष रे,
संयमभेणी फूलदेमी, पूजू पद निप्याव रे ।

दर्शन सकलना जय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे,
रितकरी जनन संगीबनी, चारा वैह चराच रे ।

दर्शन के यथा ज्ञानों, वे ओष नमरने फर रे,
दृष्टि पिराविक सहमां, समकित दृष्टिने हरे रे ।

योगनां बीज इहां ग्रह, मिनबर दृढ़ प्रणापो रे,
भाषाचारम संवना, भव लहग सुठामा रे ।

२६२ बर्ध, पीप सुदी ५, १९४८

सायिक चरित्रको स्मरण करते हैं

जनक बिदेहीकी बात समझें है । करसुनदासका पत्र समझें है ।

बोधस्वरूपका यथायोग्य

१ इस पत्रके अर्पणके लिये देना ऊपर में १६ अनुवादक

२ समस्त दर्शनको अवकाश समझ और स्वर्ण निजभाषमें लीन रहे । तथा मनुष्योंकी दिवकर संजीवनीका
वाद्य करने ।

३ जो हमें मिल मिल दर्शन दिखाई पड़ते हैं वे केवल ओष दृष्टिके दोरले ही दिखाई देते हैं । सिद्धा अर्थात्
दिव्य मेर समकित-दृष्टिने होता है ।

४ इस दृष्टिमें वेलाका बीज प्रत्यक्ष करे, तथा मिनबरकी दृढ़ प्रणाम करे, भाषाचारकी सेवा और लंगरने
उद्देश हो, बही मोक्षकी प्रवृत्ति मार्ग है ।

२६३

मन्त्र, पीप सुदी ७ गुरु १९२८

ज्ञानीकी आत्माका अवलोकन करते हैं, और वैसे ही हो जाते हैं

आपकी स्थिति कष्टमें है। अपनी इच्छा भी कष्टमें है। गुरु-अनुग्रहवादी जो बात लिखी है, यह भी सत्य है। कर्मका उदय मोगना पड़ता है, यह भी सत्य ही है। आपके पुन पुनः वसिष्ठाय स्तुत होता है, यह भी जानते हैं। आपको नियोगका अस्वा ताप रहता है, यह भी जानते हैं। बहुत प्रकारसे उद्योगमें रहना योग्य है ऐसा मानते हैं, तथापि हस्तमें तो ऐसा ही स्पष्टन करना योग्य माना है।

बादों जैसे देस-कास्में यथायोग्य रहना—यथायोग्य रहनेकी ही इच्छा करना—यही उपदेश है। तुम अपने मनकी किन्तनी भी चिन्ता क्यों न लिखो तो भी हमें तुम्हारे ऊपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी व्यपना नहीं करता व्यपना करना उसे सूझता भी नहीं; फिर दूसरे उपायकी इच्छा भी नहीं करना ऐसा निवेदन है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्ण बीतरागता होनेपर भी व्यापारसर्व्वकी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा दूसरी काने-यानेकी प्रवृत्ति मुक्तिकसे कर सकते हैं। मनको कहीं भी विग्राम नहीं मिलता प्राप्य करके वह यहाँ किसीके समग्रामकी इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थ-वास्य होखेकी इच्छा नहीं होती। किसीके पैँके हुए प्रतीकों उत्तर जाननेपर भी विश्व नहीं सकते; चित्तका भी अधिक लग नहीं है; आत्मा आत्म-भावसे रहती है।

प्रति सम्पूर्ण अलग गुणविशिष्ट आत्मभाव कहता जाता हो, ऐसी दृष्टि है। जो प्राप्य समझनेमें नहीं जाती अपचा इस ज्ञान सके ऐसे पुरुषका समग्राम नहीं है।

श्रीचरमालकी आत्मालो स्वामयिक स्मरणपूर्वक प्राप्त हुआ ज्ञान था, ऐसा माध्य होता है। पूर्ण बीतरागताका सा बोध हमें स्वामयिक ही स्मरण हो जाता है इसीलिये ० हमने ० ० लिखा था कि तुम 'पदार्थ' को समझो। ऐसा लिखनेमें और कोई दूसरा अग्रिप्राप्य न था।

२६४

मन्त्र, पीप सुदी ११ सोम १९२८

(१)

स्वल्प स्वभावमें है। ज्ञानीके चरण-सेवनके बिना जगन्तकाकृतक भी प्राप्त न हो सके, ऐसा वह दुर्बल भी है। आत्म-उपमाका स्मरण करते रहते हैं। यथास्य बीतरागताकी पूर्णताकी इच्छा करते हैं। हम और तुम हास्में प्रत्यक्षरूपसे नियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निबन्धनका कोई बड़ा प्रबंध उदयमें होनेके ही कारणसे हुआ माध्य होता है।

(२)

हम कभी कोई काम्य पद व्यपना चरण लिखकर भेजें और यदि आपने उन्हें कहीं व्यपन बोला व्यपना सुना भी हो तो भी उन्हें अपूर्ण ही समझें। हम स्वयं तो हास्में यथास्य ऐसा कुछ करनेकी इच्छा करते वैसे दशामें नहीं है।

श्रीबीरवन्धका यथायोग्य

२६५ कर्मर्षि, पीप कदी १ रवि १९४८

एक परिणामके न करता दरब दीइ,
दीइ परिणाम एक दर्ब न भरतु है;
एक करतुति दीइ दर्ब कबहूँ न करे,
दाइ करतुति एक दर्ब न करतु है;
मीम पुद्गल एक स्नेह भगवाही दाव,
अपने अपने रूप कोउ न टरतु है,
जइ परिणामनिकी करता है पुद्गल;
चिदानन्द चेतन सुभाष आधरतु है । (सम्यसार-नाटक)

२६६ कर्मर्षि, पीप कदी ९ रवि १९४८

एक परिणामक न करता दरब दीइ

(१) वस्तु अपने स्वरूपमें ही परिणमती है, ऐसा नियम है । जीव जीवरूप परिणमा करता है, और जड़ जड़रूप परिणमा करता है । जीवका मुख्य परिणमन चेतन (ज्ञान) स्वरूप है; और जड़का मुख्य परिणमन जड़त्व स्वरूप है । जीवका जो चेतन परिणाम है वह किसी भी प्रकारसे जड़ होकर नहीं परिणमता, और जड़का जो जड़त्व परिणाम है वह कभी चेतन परिणामसु नहीं परिणमता ऐसी वस्तुकी मर्यादा है और चेतन, अचेतन ये दो प्रकारके परिणाम तो अनुभवसिद्ध हैं । उन मेंसे एक परिणामको दो द्रव्य मिश्रकर नहीं कर सकते अर्थात् जीव और जड़ मिश्रकर केवल चेतन परिणामसे परिणम नहीं सकते, अथवा केवल अचेतन परिणामसे नहीं परिणम सकते । जीव चेतन परिणामसे परिणमता है और जड़ अचेतन परिणामसे परिणमता है; ऐसी वस्तुस्थिति है; इसलिये निमग्नमान् कहते हैं कि एक परिणामको दो द्रव्य नहीं कर सकते । जो जो द्रव्य है, वह सब अपनी स्थितिमें ही होता है, और अपने स्वभावमें ही परिणमता है ।

दोष परिणाम एक दर्ब न भरतु है

इसी तरह एक द्रव्य दो परिणामोंमें भी नहीं परिणम सकता, ऐसी वस्तुस्थिति है । एक जीव द्रव्य चेतन और अचेतन इन दो परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, अथवा एक पुद्गल द्रव्य अचेतन और चेतन इन दो परिणामोंसे नहीं परिणम सकता केवल स्वयं अपने ही परिणाममें परिणम सकता है । अचेतन पदार्थमें चेतन परिणाम नहीं होता, और चेतन पदार्थमें अचेतन परिणाम नहीं होता; इसलिये एक द्रव्य दो प्रकारके परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, अर्थात् दो परिणामोंको धारण नहीं कर सकता ।

एक करतुति दीइ दर्ब कबहूँ न करे

इसलिये दो द्रव्य एक क्रियाको कभी भी नहीं करते । दो द्रव्योंका सर्वथा मित्र जाना योग्य नहीं है, क्योंकि यदि दो द्रव्योंके मित्रसे एक द्रव्य उत्पन्न होने लगे तो वस्तु अपने स्वरूपका त्याग

कर दे; और ऐसा तो कभी भी हो नहीं सकता कि वस्तु अपने स्वरूपका ही सर्वथा त्याग कर जब ऐसा नहीं होता तो दो रूप्य सर्वथा एक परिणामको प्राप्त हुए बिना एक भी क्रिया न कर सकते हैं ! अर्थात् कभी नहीं कर सकते ।

दोह करतुवि एक दर्ब न करतु है

इसी तरह एक रूप्य दो क्रियाओंको भी धारण नहीं करता; क्योंकि एक समयमें दो उ नही हो सकते, इसलिये—

जीव पुद्गल एक सैत-अवगाही दीव

जीव और पुद्गलको कल्पित एक देखको रोक रक्खा हो तो भी—

अपनें अपनें रूप कोर न डरतु है

कई अपने अपने स्वरूपके सिवाय दूसरे परिणामको प्राप्त नहीं होता, और इसी कारण कहा गया है कि—

जब परिणामनिर्घ्न करता है पुद्गल

देह आदिसे जो परिणाम होते हैं, उनका कर्ता पुद्गल है; क्योंकि वे देह आदि नष्ट हैं; जब परिणाम तो पुद्गलमें ही होता है । जब ऐसा ही है तो फिर जीव भी जीव-स्वरूपमें ही रहत इसमें अब किसी दूसरे प्रमाणकी भी आवश्यकता नहीं ऐसा मानकर कहते हैं कि—

चिदानन्द चेतन सुमात्र आधारतु है

कल्पकालिक कहेनेका अभिप्राय यह है कि यदि तुम इस तरह वस्तुस्थितिमें समझो । जबसर्वथी निज-स्वरूपमात्र मिल सकता है और तो ही अपने स्वरूपका सिधेमात्र प्रगट हो सकत विचार करो स्थिति भी ऐसी ही है ।

बहुत गहन बातको यहाँ संक्षेपमें लिखा है । (यद्यपि) जिसको यथार्थ बोध है उसे तो वास्तविकता ही समझने का जायगी ।

इस बातपर कर्तव्य मनन करनेसे बहुत कुछ बोध हो सकेगा ।

(२) चित्त प्रायः करके बनें रहता है, जल्दा तो प्राय मुच्छस्वरूप भैसी लगती है ।

रागा विशेष हैं; बेगारकी तरह प्रवृत्ति करते हैं; दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं । जगत्से उदात्त हो गये हैं; कर्तासे संग आ गये हैं; दशा किसीसे भी कह नहीं सकते; कहे भी तो संसंग नहीं है; मनको ऐसा चाहें ऐसा फिर सकते हैं; इसलिये प्रवृत्तिमें रह सके हैं । किसी प्राणपूर्णक प्रवृत्ति न हो सकने भैसी दशा है और ऐसी ही बनी रहती है । जोक-परिचय अच्छा लगता; जगत्में साथ नहीं है, तथापि किये हुए कर्मोंकी निर्जरा करती है इसलिये निरुपाय है ।

यथार्थ बोधस्वरूपका यथायोग्य

जैसे बने जैसे संचिचारका परिचय करनेके लिये (उपाधिये लगे रहनेसे) जिससे योग्य र प्रवृत्ति न होनी हो, उस बातको ज्ञानियोंने कथमें रखने योग्य बताया है ।

दूसरे काममें प्रवृत्ति करते हुए भी अन्यमात्रासे वर्तन करनेका अभ्यास रखना योग्य है।
वैराग्यमात्रासे मूर्धित शाश्वतसुधारस आदि प्रथम निरन्तर चिंतन करने योग्य हैं। प्रमादमें
वैराग्यकी वृद्धि—मुमुक्षुता—को मर करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय रखना योग्य है। श्रीबोधस्वरूप

२६८

बम्बई, माघ सुदी ५ शुभ १९४८

अनलकाष्ठसे अपने स्वरूपका विस्मरण होनेसे जीवको अन्यमात्राका अभ्यास हो गया है। दीर्घ-
काष्ठका स्रस्रामें रहकर बोध मूर्धिका स्रस्र होनेसे वह विस्मरण और अन्यमात्राका अभ्यास दूर
होता है, अथात् अन्यमात्रासे उन्नीयता प्राप्त होती है। इस काष्ठके विषम होनेसे अपने रूपमें तन्म-
यता रहनी कठिन है, तथापि स्रस्रका दीर्घकालीन सेवन तन्मयता प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह
नहीं होता।

चिन्दगी व्यक्त है, और जगत् अनन्त है, सत्त्वात् घन है, और तृष्णा अनन्त है यहाँ
स्वप्न-सृष्टि समझ नहीं हो सकती, परन्तु यहाँ जगत् व्यक्त है, और चिन्दगी व्यक्त है, तथा
तृष्णा व्यक्त है, अथवा है ही नहीं, और सर्वसिद्धि है, यहाँ पूर्ण स्वरूप-स्थिति होनेकी समझ है। अमूर्त
जैसा यह ज्ञान जीवन-प्रपञ्चसे आवृत होकर बड़ा बड़ा जा रहा है। उदय बलवान है।

२६९

बम्बई, माघ सुदी १३ शुभ १९४८

(राग—प्रभाती)

जीवें नहि पुगली भैव पुगल कदा, पुगलापार नहीं वास रगी,
पर तणी ईस नहीं अपर पैर्यता, बन्धुपर्यं कदा न परसगी।

(श्रीसुमतिनाथनु स्तवन—देवचन्द्रजी)

२७०

बम्बई, माघ सुदी २ शुभ १९४८

(१)

अत्यन्त उदास परिणामसे रहनेवाले वैराग्यको, ज्ञानी लोग प्रवृत्तिमें होनेपर भी वैसा ही रखते
हैं। फिर भी ऐसा कहा गया है—

माया दुस्तर है, दुर्लभ है, क्षणमर भी—एक समयके लिये भी—सुख प्राप्त करनेमें स्थान देना
योग्य नहीं; ऐसी तीव्र दशा आनेपर अत्यन्त उदास परिणाम उत्पन्न होता है और ऐसे उदास
परिणामकी प्रवृत्ति (गहस्यपनेसे युक्त) अवल-परिणामी कह जाने योग्य है। जो बोध-स्वरूपमें स्थित
है, वह मुक्तिपक्षसे इस लक्ष्यकी प्रवृत्ति कर सकता है, क्योंकि उसको तो परम वैराग्य है।

विदेहीपनेसे जो रामा जनककी प्रवृत्ति थी, वह अत्यन्त उदास परिणामके कारण ही थी; प्रायः

उन्हें यह स्वभाव आत्मसे हुई थी, तथापि मायाके किसी वृत्त प्रसंगमें जैसे समुद्रमें नाव परिक-
षित होत्रभ्रमण होती है, वैसे ही परिणामोंका बोधवमान होना संभव होनेसे, प्रमेक मायाके प्रसंगमें
निरुद्धी सर्वथा उदात्त अवस्था थी, ऐसे निबिड अंधाधुनकी धारण स्वीकार करनेके कारण, मैं मायाको
आत्मानुस पार कर सकने योग्य हो सकें थे। क्योंकि महात्माके आत्मबलका ऐसा ही प्रारम्भ है।

(२)

(१) यदि तूय और हम ही सीकिक दृष्टिसे प्रवृत्ति करेंगे या फिर असीकिक
दृष्टिसे प्रवृत्ति करने करेंगे ?

आत्मा एक है अथवा अनेक; कर्ता है या वकर्ता अगत्ता कोई कर्ता है अथवा अगत्
स्वत ही उत्पन्न हुआ है; इत्यादि बातें क्रमपूर्वक उत्पन्न होनेपर ही समझने योग्य हैं; ऐसा समझकर
इस निषयमें हस्ते पत्रद्वारा नहीं लिखा।

सम्पत् प्रकारसे ज्ञानमें अन्तः विचार रक्तनेका फल निश्चयसे मुक्ति है।

संसारसंबंधी तुम्हें जो जो चिंतायें हैं, उन चिंतारोंको प्रायः हम जानते हैं, और इस निषयमें
तुम्हें जो अमुक अमुक विचार्य रहा करते हैं उन्हें भी हम जानते हैं। इसी तरह उत्पन्नके विपरीतके
कारण तुम्हें परमार्थ-चिन्ता भी रहा करती है, उसे भी हम जानते हैं दोनों ही प्रकारके विचार्य
होनेसे तुम्हें आनुकूल-आनुकूल रहा करती है, इसमें भी अन्तर्धर्म नहीं मत्तम होता, अथवा अंतर्धर्मका
नहीं मत्तम होती। अब इन दोनों ही प्रकारोंके निषयमें जो कुछ मेरे मनमें है; उसे तुम्हें शब्दोंमें नहीं
लिखनेका प्रयत्न किया है।

संसारसंबंधी जो तुम्हें चिन्ता है, उसे ज्यों ज्यों यह उदयमें आये, त्यों त्यों उसे वेदन करना—सहज
करना—चाहिये। इस चिन्ताके होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करनेके लिये ज्ञानी
पुरुषको प्रवृत्ति करते हुए बाधा न आये। सबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है, तभीसे किसी भी प्रकारके
सिद्धि-योगसे अथवा विचार्य योगसे निवृत्तसंबंधी अथवा परसंबंधी संचारिक स्वप्न न करनेकी प्रवृत्ति
के रक्तनी है और यह पाद नहीं पड़ता कि इस प्रवृत्तिमें अन्तर्धर्म एक एकमके लिये भी मंदता
आई हो। तुम्हारी चिन्ता हम जानते हैं, और हम उस चिन्ताके किसी भी मत्तम निवृत्ता न सके
उत्तम वेदन करना चाहते हैं परन्तु ऐसा तो कभी हुआ नहीं यह अब कैसे हो ! हमें भी उन्म-
त्तम ऐसा ही रहता है कि ज्ञानमें अन्तर्धर्म हाथमें नहीं है।

प्राणीमात्र प्रत्या काष्ठ-पानी या आते हैं, या फिर तूय जैसे प्राणीको कुटुम्बके लिये इससे
निरुद्ध परिणाम आये ऐसा सोचना कदापि योग्य ही नहीं है। कुटुम्बकी मात्र बारम्बार बीचमें
आकर या आनुकूल फल करती है, उसे चाहे तो रक्तो अथवा न रक्तो तुम्हारे लिये दोनों ही
समान हैं। क्योंकि जिसमें अन्तर्धर्म कायाही है उसमें तो जो हो सके उसे ही योग्य मानना, यही धर्म
सम्पत् है।

हमें जो निर्निष्पत्त नामकी समझि है, वह तो आत्माकी स्वभाव-परिणति रहनेके कारण ही है।
आत्माके स्वभावके सर्वप्रथम या हममें प्रायः करके निर्निष्पत्त ही रहना संभव है, क्योंकि अब भावमें
मुत्तम हमारी निवृत्त भी प्रवृत्ति नहीं है।

नित दर्शनमें बंध, मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था यथार्थरूपसे कही गई है, वह दर्शन निरन्तर मुक्ति का कारण है; और इस यथार्थ व्यवस्थाको कहन योग्य है कि किसीको विशेषरूपसे मानते हैं तो वह भीतीर्यकरदेव ही है ।

और इन तीर्यकरदेवका जो अंतर आशय है, वह प्रायः मुख्यरूपसे यदि आज्ञाफल किसीमें, इस क्षेत्रमें हो, तो वह हम ही होंगे, ऐसा हमें हृदयरूपसे भासता है ।

क्योंकि हमारा जो अनुभव-ज्ञान है उसका एक भीतरगता है, और भीतरगता कहा हुआ जो भूतज्ञान है, वह भी उसी परिणामका कारण माध्यम होता है, इस कारण हम उसके सबे वास्तविक अनुपायी हैं—सबे अनुपायी हैं ।

किसी भी प्रकारसे बन और घर ये दोनों ही हमारे लिये तो समान हैं, तथापि पूर्ण भीतरगता-भावके लिये वनमें हमें रहना अधिक रुचिकर लगता है; सुखकी इच्छा नहीं है, परन्तु भीतरगताकी इच्छा है ।

जगत्के कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेके विषयमें लिखा, तो उस पुरुषार्थ करनेकी इच्छा किसी प्रकारसे रहती भी है, तथापि उदयके अनुसार चकनेका इस अश्वत्थ के समान जैसा हो गया है, और वसा उदय-काल इन्हीं समीपमें माध्यम नहीं होता; फिर उसकी उर्ध्वा करके बैसा काष्ठ से जाने जैसी हमारी दशा नहीं है ।

“ भिक्षा मीनकर गुजर खला लेंगे, परन्तु खेदलिन न होंगे; ज्ञानके अनन्त आनन्दके सामने यह दुःख तुल्यमात्र है ”—इस आशयका जो बचन लिखा है, उस बचनको हमारा नमस्कार हो । ऐसा बचन वास्तविक वास्तवताके बिना निकटना समझ नहीं है ।

(२) “ जीव पौष्टिक पशु नहीं है, पुद्गल नहीं है, और उसका पुद्गल आधार नहीं है, और यह पुद्गलके रंगवस्त्र भी नहीं है; अपनी स्वरूप-सत्ताके सिवाय जो कुछ अन्य है, उसका वह स्वामी नहीं है, क्योंकि परका ऐश्वर्य स्व-रूपमें नहीं होता बल्कि उसकी दृष्टि देखनेपर वह सभी भी परसंगी भी नहीं है ”—इस तरह “ जीव नहीं पुगल ” आदि पन्का सामान्य अर्थ है ।

सुखदुस्वरूप करमफल जाना, निश्चय एक आनन्द है,

धैर्यता परिणाम न शून्य, धैर्य वह जिनचरों से ।

(बासुदेवप्रभन—आनन्द)

(१)

यही समाधि है । पूर्णज्ञानसे कुछ सम्पत्ति बाहर या आया करती है ।

‘ परमसत्त्व का ध्यान करते हैं । उपासी रहनी है ।

२७१

बर्ष १०४८

जहाँ आपने और उपासीकी उपासी प्रशस्ति दी रही है। ऐसे प्रसंगमें समाधि रहनी परम दुष्कर है और यह बात तो परमानी बिना दानी अद्वैत ही कहिये है । हमें भी अधर्ष दाना है, तथापि प्रायः वेमी ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा अनुभव है ।

१ बुद्ध और मुनि के बीच की कर्मक बचन ज्ञान । विधायक तो एक आनन्द ही है । (विचारमग्न करे)
२ (विचारमग्न करे)

जिसे पर्याय आत्ममान समझमें आया है, और वह उसे निश्चय रहता है, उसे ही यह समाधि प्राप्त होती है ।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य कथन शीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुमान है ।

२७२

बम्बई, माघ मदी ९ सोम १९३८

अबहीतैं पंजन विभावसौं उछटि आबु,
समे पाहू अपनी सुभाव गहि सीनो है;
तबहीतैं जो जो छैन जाग सो सी सब सीनी है,
जो जो त्यागभोग सो सी सब छाटि दीनी है ।
सैबको न रही और, त्यागिबिकों नाहीं और,
बाकी कहा उबयौं छु, करखु नवीनी है;
संग त्यागि, अग त्यागि, बचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, जाया मुख कीनी है ।

कैसी बहुत दशा है ।

२७३

बम्बई, माघ मदी १० सोम १९३८

जिस समय आत्मरूपसे केवल ज्ञात अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वत्र अभूत ही जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है ऐसा श्रौतार्थकरका भासाय है ।

जिस पदार्थको श्रौतार्थकरने "आत्मा" कहा है उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो—उस परिणामसे आत्मा सञ्ज्ञात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्पत्त्व' है, ऐसा श्रौतार्थकरका अभिप्राय है ।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निश्चय भ्रमा है, उस पुरुषको 'बीजप्रति सम्पत्त्व' है ।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधावहित निश्चयन मति प्राप्त हो, मा जीव 'माहासुखी' है ऐसा भिन्नमगवान् कहते हैं ।

हमारा देशके प्रति यदि कुछ भी अविप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थिक छिये ही है, दूसरे प्रयोगके छिये नहीं । यदि दूसरे किसी भी पदार्थिक छिये अविप्राय हो तो वह अविप्राय पदार्थिक छिये नहीं, परन्तु आत्मार्थिक छिये ही है । वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें मान्य नहीं होता । "आत्मज्ञान" इस ज्ञानिक सिद्धान्त कोई दूसरी ज्ञानि किसी भी पदार्थिक प्रज्ञा अथवा ज्ञान करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं । निरन्तर आत्मज्ञान जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य एक पुरुष केवल ही है ।

२७४

बम्बई, माघ बत्ती ११ पुष १९४८

सुदता विचार ध्याव, सुदतामें कलि करै,
सुदतामें फिर मैं अमृतपारा बरसे । (समयसार-नाटक)

२७५

बम्बई, माघ बत्ती १४ शनि १९४८

अद्भुत दशाके काम्यका जो अर्थ लिखकर भन्ना है वह यथार्थ है । अनुभवकी ज्यों ज्यों सामर्थ्य उत्पन्न होती जाती है त्यों त्यों ऐसे काम्य, शम्भु, शम्भु, शम्भु यापातम्यम्भुस परिणमन जाते हैं; इसमें आश्चर्यकारक दशाका वर्णन है ।

जीवकी संप्रभुकी पहिचान नहीं होगी और उसके प्रति भी अपने जैसी व्यावहारिक कल्पना रहती है । जीवकी यह कल्पना किम उपायसे दूर हो, सो लिखना । उपायिका प्रसंग बहुत रहता है । सप्ताहके बिना जो रहे हैं ।

२७६

बम्बई, माघ बत्ती १४ रवि १९४८

मैंकी न रही ठौर, त्यागिबकी नारी और,
बाकी कहा उषया जु, कारण नवीना है ।

स्वल्पका मान होनेसे पूर्णकामना प्राप्त हुई, इसलिये अब किसी भी जगहमें कुछ भी देनेके लिये नहीं रहा । पूर्ण भी अपने रूपका तो कभी भी त्याग करनेकी इच्छा नहीं करता, और यहाँ कबल स्वल्प-स्मिति है यहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा ही नहीं; इसलिये त्यागकी भी जरूरत नहीं रही । इस तरह जब कि लेना, देना ये दोनों ही निवृत्त हो गये तो दूसरा कोई नवीन कार्य करनेके लिये फिर क्या ही क्या ? अर्थात् जैसा हाना चाहिये वसा हा गया तो फिर दूसरी जन केनकी ब्रजल पटला हा लगती है । इसलिये वसा कहा गया है कि यहाँ पूर्णकामना प्राप्त हुई है ।

२७७

बम्बई, माघ बत्ती १४ रवि १९४८

ॐ

एक क्षणके लिये भी कोई अक्षिप्त करना नहीं चाहता, तथापि वह करना पड़ता है, यह बात ऐसा गृहीत करनी है कि पूर्वकामना कोई निरर्थक अर्थ दे ।

अविश्व समारोहका ध्यान क्षणभरके लिये भी नहीं मिलता; तथापि अनेक वर हुए विजय रूप उत्तरीकी आराधना करने जान है ।

अबतक समार है लक्षणके किसी तरहकी उत्पत्ति होना तो संभव है; तथापि अविश्व समारोहमें भिन्न जगहों पर तो वह उत्पत्ति भी काई बाधा नहीं करती अतः उमे ता गवाहि हो है ।

इस देशको धरण करके यद्यपि कोई महान् श्रमपत्ता नहीं योगी, सम्पद् आदि विषयोंका पूरा वैभव प्राप्त नहीं हुआ, कोई विशेष उत्साहविकार सहित दिन नहीं बिताये, अपने निजके शिने जानेवाले ऐसे किसी धाम-आत्मका सेवन नहीं किया, और कभी हाथमें तो गुणवत्पत्ता पश्चिम मार्ग ही चला है, तथापि इनमेंसे किसीकी हमें वातमामनेसे कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन परामर्शोंकी प्राप्ति-व्यप्राप्ति दोनों समान जानकर बहुत प्रकारसे अविकल्प समाधिका ही अनुभव करते हैं।

ऐसा होनेपर भी बारम्बार वनवासकी यात्रा जाती करती है; किसी भी प्रकारका छोक-परिचय अधिक नहीं करता; संसाराकी ही निरंतर कामना रहा करती है; और हम अव्यस्थित दशासे उपाधि योगमें रहते हैं।

एक अविकल्प समाधिके सिंहाप दूसरा कुछ वास्तविक रीतिसे स्मरण नहीं रहता, चिंतन नहीं रहता, रुचि नहीं रहती, कथवा कोई भी काम नहीं किया जाता।

व्योतिष आदि विद्या कथवा अणिमा आदि सिद्धिको याविक पदार्थ जानकर अन्तर्गत इनका अविच्छेद ही स्मरण होता है। इनके द्वारा कोई बात जानना कथवा सिद्ध करना कभी भी योग्य नहीं होता, और इस बातमें किसी प्रकारसे हाथमें निष्ठका प्रवेश भी नहीं रहा।

पूर्वनिर्बंधन जिस जिस प्रकारसे उदय आवे, उस उस प्रकारसे ० अनुकूलसे वेगन करते जाता, ऐसा करना ही योग्य बना है।

तुम भी, ऐसे अनुकूलमें भले ही घोड़ेसे घोड़े अंशमें ही प्रवृत्त क्यों न हुआ कल्प तो भी प्रवृत्ति करनेका अव्याप्त रहना और किसी भी कामका प्रसंगमें अधिक शोकमें पड़ जानेका अव्याप्त कम करना; ऐसा करना कथवा होना यही जानाकी अवस्थामें प्रवेश करनेका इत है।

तुम किसी भी प्रकारका उपाधिका प्रसंग छिछोरे हो, वह यद्यपि बौद्धमें तो जाता ही है, तथापि उस विषयका चिन्तनमें नर भी आवास न पड़नेके कारण प्रायः उत्तर छिछना भी नहीं करता; इसे आप चले दोष कछो या गुण परम्परा कह श्रमा करने योग्य है।

हमें भी संसारिक उपाधि कोई कम नहीं है; तथापि उसमें निजपत्ता नहीं रह जानेके कारण उससे अवरुद्ध पैग नहीं होती। उस उपाधिके उदय-कालके कारण हाथमें समाधिका अस्तित्व गौणसा हो रहा है; और उसके सिधे शोक रहा करता है। नीतरागमात्रका पयावीम्य

२७८

नवम्बर, माघ १९४८

दीर्घकालक यथार्थ-बोधका परिचय होनेसे बोध-बीजकी प्राप्ति होती है; और यह बोध-बीज प्रायः निश्चय सम्पन्न ही होता है।

विमलभास्करने जो बार्हस्पत्य प्रकारके परिपह कहे हैं उनमें 'दर्शन' परिपह नामका भी एक परिपह कहा गया है। इन दोनों परिपहोंका विचार करना योग्य है। यह विचार करनेकी

गुह्यारी भूमिका है। अर्थात् उस भूमिका (गुणस्थानक) के विचारनेसे किसी प्रकारसे तुम्हें यथार्थ धीरज प्राप्त होना समभव है।

यदि किसी भी प्रकारसे अपने आप मनमें कुछ ऐसा संकल्प कर लें, कि ऐसी दशामें जा जाँय, अथवा इस प्रकारका ध्यान करें तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जायगी, तो वह संकल्प करना प्रायः (ज्ञानीका स्वल्प सम्पन्ननेपर) मिथ्या है, ऐसा माश्रूम होता है।

यथार्थ-बोध किसे कहते हैं, इसका विचार करके—अनेक बार विचार करके—ज्ञानियोंने अपनी कल्पना निवृत्त करनेका ही विधान किया है।

अध्यात्मसारका बौध्दन्, धवण बाध है—यह अच्छा है। मन्त्रके अनेक बार बौध्दनेकी चिन्ता नहीं, परन्तु जिससे किसी प्रकार उसका दीर्घकालतक अनुप्रेक्षण रहा करे, ऐसा करना योग्य है।

परमार्थ प्राप्त होनेके लिये किसी भी प्रकारकी आकुञ्चता-व्याकुञ्चता रखनेको 'दर्शन' परिपक्व कहते हैं। यह परिपक्व उत्पन्न हो तो सुखकारक है; परन्तु यदि उसको धीरे-धीरे बेगन किया जाय तो उसमेंसे दर्शनकी उत्पत्ति होना संभव है।

तुम्हें किसी भी प्रकारसे दर्शनपरिपक्व है, ऐसा यदि तुम्हें समझा हो तो उसका धीरे-धीरे बेगन करना ही योग्य है; ऐसा उपदेश है। हम जानते हैं कि तुम्हें प्रायः दर्शनपरिपक्व है।

हालमें तो किसी भी प्रकारकी आकुञ्चताके बिना वैराग्य-भाषनासे—धीरे-धीरे भावसे—ज्ञानीमें परम मक्तिमात्रसे—सत्ताका आदि और ससंगका परिचय करना ही योग्य है।

परमार्थके स्वप्नमें मनसे किये हुए संकल्पके अनुसार किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; अर्थात् किसी भी प्रकारके दिव्य-लोकप्रसूत पदार्थ इत्यादि निष्कार्य देम आदिकी इच्छा, मन-कल्पित ध्यान आदि, इन सब संकल्पोंकी ओर न बने तैसे निवृत्ति करना चाहिये।

श्रुतसुधारामें कही हुई भाषना, और अध्यात्मसारमें कहा हुआ आत्मनिध्याधिकार फिर निरखे मनन करने योग्य हैं। इन दोनोंमें विशेषज्ञ मानना।

आत्मा है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय आत्मा नित्य है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; आत्मा कर्ता है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; आत्मा मोक्ष है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; मोक्ष है यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; और उसका उपाय है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय—वह बात बारम्बार विचारने योग्य है। अध्यात्मसार अथवा दूसरे किसी भी ग्रन्थमें यह बात हा तो विचारनेमें बाधा नहीं है। कल्पनाका त्याग करके ही विचारना योग्य है।

जनकविहीनता बात हालमें जाननेसे तुम्हें कोई फल न होगा।

२७९

ॐ

अर्थ, माघ १९४८

भक्तिके कारण सुखरूप भागिन होनेवाले इन सगरी प्रमोद और प्रकाशमें जबनक धीरे-धीरे प्रेम रहता है, तबनक जीवका अपने स्वभावका भागिन होना असंभव है और ससंगका माहात्म्य भी यापानप्यक्तसे भागिन होना असंभव है। जबनक यह स्मारगत प्रेम असंसारगत प्रेमरूप

नहीं हो जाता तबतक मित्रघणसे अप्रमत्तपनेसे बारम्बार पुरुषार्थका स्वीकार करना ही योग्य है; यह बात दोनों कर्ममें सीरेहृदित है, ऐसा जानकर निष्कामरूपसे लिखी है।

२८०

अर्थात्, पञ्चगुण सुदी ४ पुष १९४८

(१)

आत्म और परिग्रहका ज्यों ज्यों मोह दूर होता जाता है, ज्यों ज्यों उनसे अपनेपनका अभिमान मंद पड़ता जाता है, त्यों त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है। अनतकाशसे जिससे परिचय चला आ रहा है ऐसा यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नहीं हो जाता; इस कारण तन, मन, धन आदि जिनमें अपनापन आ गया है, उन सबको ज्ञानीके प्रति अर्पण किया जाता है; ज्ञानी प्रायः उन्हें कुछ ग्रहण नहीं करते, परन्तु उनमेंसे अपनेपनके दूर करनेका उपदेश देते हैं और करने योग्य भी नहीं है कि आत्म, परिग्रहको बारम्बारके प्रसंगमें विचार विचारकर अपना होते हुए रोकना; तभी मुमुक्षुता निर्मल होती है।

(२)

‘जीवको सत्पुरुषकी परिचाल नहीं होती; उसके प्रति भी अपने समान ही व्याख्यातिक कल्पना रहा करती है—जीवको यह दशा किस उपायसे दूर हो?’ इस प्रश्नका उत्तर यथार्थ ही लिखा है। यह उत्तर वैसा है जिसे ज्ञानी अपना ज्ञानीके आश्रयमें रहनेवाला ही जान सकता है, कह सकता है, अपना किन्तु सकता है। मार्ग कैसा होना चाहिये, यह जिसे बोध नहीं है, ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष उसका यथार्थ उत्तर न दे सकें, यह भी यथार्थ ही है। “सुखता विचारे प्याले” इस पदके विषयमें फिर कभी लिखेंगे।

अर्थात्जीवकी पुस्तकके सर्व्ववर्गमें आने विशेष बौद्धिक करके जो अभिप्राय लिखा है, उसके विषयमें बातचीत होनेपर फिर कभी कहेंगे। हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है, परन्तु हमें उनकी बातें सिद्धान्त-ज्ञानसे अलग बैठती हुई नहीं महसूस होती। और ऐसा ही है तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी वैसी है ऐसा ता कह सकते हैं। जिसे हमने सैद्धांतिक अपना यथार्थ ज्ञान माना है, वह तो अत्यन्त ही सूक्ष्म है और वह प्रसन्न हो सकनेवाला ज्ञान है। निरंतर फिर।

२८१

अर्थात्, पञ्चगुण सुदी १ पुष १९४८

‘फिर कभी लिखेंगे, फिर कभी लिखेंगे’ ऐसा बहुतबार लिखकर भी लिखा नहीं जा सका, यह धमा करने योग्य है; क्योंकि चित्तकी स्थिति प्रायः करके बिदेही वैसी रहती है; इसलिये कार्यमें सम्मत्तता हो जाती है। इसमें जैसी चित्त-स्थिति है वैसी अमुक समयतक रक्खे बिना छुटकारा नहीं है।

ज्ञानी पुरुष बहुत बहुत हो गये हैं परन्तु उनमें हमारे जैसे उपाधि-भर्त्सा और उदासीन—अत्यन्त उदासीन—चित्तस्थितिवासे प्रायः थोड़े ही हुए हैं। उपाधिक प्रसंगके कारण आत्मास्वर्गकी जो

विचार हैं वे अस्वरूपसे नहीं हो सकते, अथवा गौणतासे हुआ करते हैं, ऐसा होनेके कारण बहुत कालतक प्रपञ्चमें रहना पड़ता है, और उसमें तो अत्यन्त उदात्त परिणाम हो जानेके कारण क्षणभरके लिये भी चित्त नहीं टिक सकता; इस कारण ज्ञानी सर्वसंग-परित्याग करके अप्रतिबद्धरूपसे विचरते हैं। सर्वसंग शब्दका अर्थार्थ यह है कि ऐसा संग जो अस्वरूपसे आत्मध्यान अथवा बोधको मुख्यतासे न रख सके। यह हमने सन्धेपमें ही लिखा है; और इसी क्रमका बाधासे और अंतरसे भना करते हैं।

देह होनेपर भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है, ऐसा हमारा निश्चय अनुभव है, क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको पानेवाले हैं, ऐसा हमारी आत्मा अस्वरूपसे कहती है, और ऐसा ही है—अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरण-रज मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यन्त कठिन वीतरागता अत्यंत आश्चर्यकारक है; तथापि वह स्थिति प्राप्त हो सकती है, इसी देहमें प्राप्त हो सकती है, यह निश्चय है। उसे प्राप्त करनेके लिये हम पूर्ण योग्य हैं, ऐसा निश्चय है, इसी देहमें ऐसा हुए बिना हमारी उदासीनता मिट जायगी, ऐसा माझस नहीं होता, और ऐसा होना समभव है—अवश्य ऐसा ही है।

प्राप्त करके प्रज्ञाको उत्तर सिखना न बन सकेगा, क्योंकि चित्त-स्थिति वैसी कही है वैसी ही रहा करती है। हममें वहाँ कुछ मौजना, विचारना चाह है या नहीं, यह प्रसंग पाकर सिखना। त्यागकी इच्छा करते हैं, परन्तु होता नहीं, वह त्याग काचित् तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही करें, तथापि उतना भी चाहमें तो बनना समभव नहीं है। अभिन्न बोधमयका प्रणाम पहुँचे

२८२

बम्बई, फरवरी सुदी ११ शुभ १९४८

(१)

उदात्त परिणाम आत्माको भन्ना करता है। निरुपायताका उपाय काळ है। समझनेके लिये जो विगत छिपी है, वह ठीक है। ये बातें अवतक जीवके समझनेमें नहीं जाती, तबतक मयार्थ उदासीन परिणति भी होना कठिन लगती है।

“सत्पुरुष परिचिन्तनेन गच्छीति” श्रुत्याणि प्रज्ञाको उत्तर सहित छिपे भेदनेका विचार तो होता है, परन्तु छिन्नमें वैसा चाहिये वैसा चित्त नहीं रहता, और वह भी अप्यकायके लिये ही रहता है, इसलिये मनकी बात छिन्नमें नहीं आ पाती। आत्माको उदात्त परिणाम अत्यन्त भन्ना करता है। एक-आधी निश्चास-वृत्तिवाले पुरुषको कठिन आत्मा पिन पछिछे एक पत्र भेदनेक लिये लिखा था। बादमें अमुक कारणसे चित्तके रुक जानेपर वह पत्र क्यों का क्यों छोड़ दिया, या कि आत्माको पढ़नेके लिये भेजा है।

जो वास्तविक ज्ञानीको परिचिन्तते हैं, वे प्यास आगिही इच्छा नहीं करते, ऐसा हमारा अनुराग अभिप्राय रहा करता है। आ ज्ञानीकी ही इच्छा करता है, उसे ही परिचिन्तता है और भन्ना है, वह वैसा ही दो जाता है, और उस ही उत्तम मुमुक्षु जानना चाहिये।

(२)

विशेष करके वैराग्य प्रकरणमें, श्रीरामको जो अपने वैराग्यके कारण माहूस हुए, वे बताये हैं, वे फिर निरस्ते विचार करने जैसे हैं।

२८३ कर्मार्थ पात्रानुसूची ११॥ श्रुत १९४८

यि बहुतो स्वर्गवासीको सत्कार फलकर देव हुआ। जो जो प्राणी देह धारण करते हैं, वे सब देहका त्याग करते हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखाई देती है; ऐसा होनेपर भी अपना चित्त इस देहकी अनित्यता विचारकर नित्य पदार्थके मार्गमें नहीं चखता, इस शोचनीय बातका कारण विचार करना योग्य है।

मनको धीरे देकर उदासी छोड़े बिना काम नहीं चलेगा। निष्कामी न करते हुए धीरेसे उस दुःखको छद्म करना, यही अपना धर्म है।

इस तेहको भी कमी न कमी इसी तरह त्याग देना है, यह बात स्मरणमें लाया करती है, और संसारके प्रति निशेष वैराग्य रखा करता है।

पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हो उसे समानमात्रसे बेचन करना, यह ज्ञानीकी शिक्षा पात्र का जाती है, सो सिद्धी है। मायाकी रचना गहन है।

२८४ कर्मार्थ, पात्रानुसूची ११ श्रुत १९४८

परिणाममें अत्यंत उदासीलता रखा करती है। ओं ओं ऐसा होता है त्यों त्यों प्रवृत्ति-प्रसंग भी कहा करता है। जिस प्रवृत्तिका प्रसंग होगा, ऐसी कल्पना भी न की थी वह प्रसंग भी प्राप्त हो जाया करता है, और इस कारण ऐसा मानते हैं कि पूर्वमें बँधि हुए कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्रतासे उदयमें आ रहे हैं।

२८५ कर्मार्थ, पात्रानुसूची ११ श्रुत १९४८

किसीका दाप नहीं; हमने कर्म बँधि हैं इसलिये हमारा ही दोष है

म्योस्तिथकी आत्मापसवणी जो घोड़ीसी बातें सिद्धी ने पढ़ी हैं। उसका बहुतसा भाग जानते हैं, तथापि उसमें चित्त जरा भी प्रवेश नहीं करता; और उस नियन्त्रक फलका अथवा सुनना कदापि चम्पकप्रति भी हो तो भी मारकप ही माहूस होता है उसमें जरासी भी रुचि नहीं रखी है।

हमें तो केवल एक अपूर्ण सत्के ज्ञानमें ही रुचि रखती है; इसका जो कुछ भी करनेमें अपना अनुकरण करनेमें जाता है, यह सब आत्मसात्के बंधनके कारण ही करते हैं।

हामें जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाधा उपयोगमें चखना पड़ता है, इससे अप्रसन्न आनन्दता आ जाती है।

जो कुछ पूर्वमें बंधन किया गया है उन कर्मोंके निवृत्त होनेके लिये—भोग देनेके लिये—

योही ही काष्ठमें भोग छेनेके छिये—इस व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके छिये सेवन कर रहे हैं ।

इस कामकी प्रवृत्ति करते समय जितनी हमारी उदासीन दशा थी, उससे भी आज विशेष है ।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे, और व्यावहारिक सगमें प्रीति रखे, और परमार्थ प्राप्त हो जाय, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता । पूर्वकर्म देखते हुए तो इस कामकी निवृत्ति हाथमें ही हो जाय, ऐसा निश्चय नहीं होता ।

इस कामके पक्षे 'त्याग' ऐसा हमने ज्ञानमें देखा था और हाथमें भी ऐसा ही स्वल्प निश्चय होता है, इतनी आश्चर्यकी बात है । हमारी दृष्टिको परमार्थिक कारण अवकाश नहीं है, ऐसा होनेपर भी बहुत कुछ समय इस काममें बिताते हैं ।

२८६ बम्बई, फाल्गुन सुदी १५ रवि १९४८

जिस ज्ञानसे सबका अन्त होता है, उस ज्ञानका प्राप्त होना जीवको बहुत दुर्लभ है; तथापि वह ज्ञान, स्वल्पसे तो अत्यन्त ही सुगम है, ऐसा हम मानते हैं । उस ज्ञानक सुगमतासे प्राप्त होनेमें जिस दशाकी आवश्यकता है, वह ज्ञान प्राप्त होनी भी बहुत बहुत कठिन है, और इसके प्राप्त होनेके जो कारण हैं उनके सिवें बिना जीवको अन्तकाष्ठसे भटकना पड़ा है । इन दो कारणोंके मिश्रणसे मोक्ष होता है ।

२८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी १ गुरु १९४८

चित्तमें अविद्यमानसे रहना—समाधि रक्खना । उस बातको चित्तमें निवृत्ति करके छिये आरक्षो डिगी है । और इसमें उस जीवकी अनुकूलाने मित्राय और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है । हमें तो चाह जो कुछ भी हो ता भी समाधि ही रक्खनी पड़ता रहती है । अपने ऊपर यदि कोई आपत्ति, विघ्नना, परावृत्ति अथवा ऐसा ही कुछ आ पड़े ता उससे त्रिष सिन्धीर दोषना आचरण करनेकी हमारी इच्छा नहीं होगी । तथा उस परमाध-दृष्टि देखनेपर ता वह जीवना दी दोर है व्यावहारिक दृष्टिमें गेनेपर नहीं देखने जिहा है और बहीनक जीवकी व्यावहारिक-दृष्टि होगी है बहीनक परमाध-पिण्ड शरीरना व्यापक जाना बहुत दुष्कर है ।

मोक्षना के मुख्य कारण जैम आने जिग है व पिस ही है । विद्या निर अमिता ।

२८८ बम्बई, फाल्गुन सुदी ६ रवि १९४८

यदा भार-नमाधि तो है, इष्ट-नमाधि मानवे त्रिष पूर्वकर्मको निवृत्ति ज्ञान ज्ञाना योग्य है ।

दुःखमराजता यहमें बड़ा पिह कर्ता है । अपरा दुःखमराज रिग बहल है । अपरा उग कर्ता मुख्य मर्यादा दिवान गहन है । पदी विधि । वापसी

२८९

बर्म्ह, पञ्चम्युक्त वरी १० पुष्प १९४८

(१)

ॐ

उपाधि उदयरूपसे है। जिससे पूर्वकर्म द्वारा ही निवृत्त हों, ऐसा करते हैं।

(२)

किन्ती भी प्रकारसे ससंगका योग बने तो उसे किये रहना यही कर्त्तव्य है, और जिस प्रकारसे जीवको अपनापन विशेष हुआ करता हो अपना यह बना करता हो, तो उस प्रकारसे जैसे बने ऐसे संकोच करते रहना, यह भी ससंगमें एक देनवासी मानना है।

२९० बर्म्ह, सोमवती अमावस्या का वी सोम १९४८

ॐ

हम जानते हैं कि जो परिणाम बहुत समयमें प्राप्त होनेवाला है, वह उसमें थोड़े समयमें प्राप्त होनेके किये ही यह उपाधि-योग नियोजनसे रहता है।

हममें हम यही व्यावहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरहसे देता है; तो भी वह मन व्यवहारमें लगाता नहीं है; अपने ही नियमों रहता है। इसलिये व्यवहार बहुत बोझारूप रहता है। समस्त लोक तीनों कर्ममें दुःखसे पीड़ित माना गया है, और उसमें भी यह काठ रहता है, यह तो महादुःख काठ है और सर्वथा रिक्तिका कारण कर्त्तव्यरूप जो बीजसंग है वह तो सर्वकर्ममें प्राप्त होना दुर्लभ ही है फिर वह इस कर्ममें प्राप्त होना बहुत बहुत ही दुर्लभ हो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। हमारा मन प्रायः लोभसे मानसे, मायासे, मोहसे हास्यसे, रसिसे, वरसिसे भयसे, शास्त्रसे शत्रुतासे अपना हम्म् आदि नियमोंसे अप्रतिबन्ध बैठा है कुटुम्बसे पनसे, पुत्रसे, वैभवसे, बीसे अपना देखते मुक्त बैठा है। उस मनका भी ससंगमें बचन रहना बहुत बहुत उदा करता है।

२९१

बर्म्ह, वैश्व सुदी २ पुष्प १९४८

यह लोक-स्थिति ही ऐसी है कि उसमें सत्यकी मानना करना परम कठिन है। समस्त रचना व्यक्तिके आग्रहकी मानना करनेवाली है।

लोक-स्थिति आश्चर्यकारक है।

जानौकी सर्वसंग-परित्याग करनेका हेतु क्या होगा ?

२९२

बर्म्ह, वैश्व सुदी ९ पुष्प १९४८

किन्हीं किन्हीं दुःखके प्रसंगोंमें स्थिति हो जाती है और उसके कारण वैराग्य भी उदा करता है परन्तु बीजका सदा कल्याण और सुख वा ऐसा सम्बन्धमें मायस होता है कि इस सब स्थितिका कारण अपना

उपासना किया हुआ प्रारम्भ है, जिसे भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, और उसे समतासे भोगना ही योग्य है; इसलिये मनकी स्थानिकी जैसे बने तैसे शान्त करना और जो कर्म उपासित नहीं किये वे भोगनमें नहीं आते, ऐसा समझकर दूसरे किसीके प्रति दोष-दृष्टि करनेकी वृत्तिको जैसे बने तैसे शान्त करके समतासे प्रवृत्ति करना, यह योग्य माध्यम होता है, और यही जीवनका कर्तव्य है।

२९३

ॐ

(१)

एक समयके लिये ही अप्रमत्तभावको विसरण नहीं करनेवाला ऐसा आत्मकार मन वर्तमान समयमें उदयस्तोत्र प्रवृत्ति करता है, और जिस किसी भी प्रकारसे प्रवृत्ति होती है उसका कारण पूर्वमें बंध करनेमें आया हुआ उपाय ही है उस उदयमें प्रीति भी नहीं और अप्रीति भी नहीं, समता है, और करने योग्य भी यही है।

(२)

समस्तिकी स्थिति का वह हुई समझनी चाहिये ! उस समय किसी वशा रहती है ! इस विषयका अनुभव करके लिखना ।

संस्कारिक उपाधिका जो कुछ भी होता हो उसे होने देना यही कर्तव्य है, और यही अनिप्राय रहा करता है । धीरेधीरे उपायका केंद्र बनना ही योग्य है ।

(३)

प्रतिबन्धना दुःखदायक है ।

स्वल्पस्य यथायोग्य

२९४

बम्बई, चैत्र कदी १ पुष १९४८

आत्म-समाधिपूर्वक योग-उपाधि रहा करती है; ॥ प्रतिक्रियाके कारण हस्तमें तो कुछ भी स्थिर काम नहीं किया जा सकता ।

इसी हेतुके कारण श्रीकृष्ण आदि ज्ञानियोंने शरीर आत्माके प्रवृत्ति करनेके भानका भी त्याग किया था ।

समस्तित्त भाव

२९५

बम्बई, चैत्र कदी ५ एषि १९४८

संसार होनेके समझावकी इच्छा करने हैं परन्तु उपाधि-योगके उदयका भी वेगन किये बिना उपाय नहीं । जगत्में कोई दूसरे पन्थ तो हमें किसी भी रुचिके कारण नहीं रहे । जो कुछ रुचि रही है वह केवल एक सत्यका ग्यान करनेवाले ' सत्य ' के प्रति, जिसमें आत्माका वर्णन है ऐसे

'सत् शब्द' के प्रति, और परम्परासे परम्पराके निमित्त कारण 'दान आदि' के प्रति रही है। आत्मा तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है।

२९६

बम्बई, वीर वरी ५ रवि १९४८

जगत्तकें अभिप्रायका देखकर जीवने पदार्थका बोध प्राप्त किया है; ज्ञानीकें

अभिप्रायका देखकर नहीं प्राप्त किया। जो जीव ज्ञानीके अभिप्रायसे

बोध पाता है, उस जीवको सम्पन्मूर्धन हाता है

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं। एक उपदेश प्रासिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग। विचारसागर उपदेश-प्रासिके लिये विचारने योग्य ग्रन्थ है। जब हम जैन शास्त्रोंको बौद्धिके लिये कहते हैं तो जैनो होनेके लिये नहीं कहते; जब वेदों का शास्त्र बौद्धिके लिये कहते हैं तो वेदोंकी हमने लिये नहीं कहते; इसी तरह अन्य शास्त्रोंका बौद्धिके लिये जो कहते हैं तो अन्य हमने लिये नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल हम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं। हममें जैन और वेदोंकी आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसी नहीं है।

२९७

बम्बई, वीर वरी १२ रवि १९४८

अहाँ पूर्ण-कामता है, यही सर्वज्ञता है

जिसे बोन-बीजको उत्पत्ति हो जाती है उसे स्वरूप-सुखसे परिपूर्ण रखती है, और निन्दके प्रति अप्रकल दृष्टा रखती है।

जिस जीवनेमें क्षणिकता है, उसी जीवनेमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरबकी बात है।

यदि जीवको परिपूर्ण न रहा करती हो तो उसे अलग आत्म-बोध हुआ नहीं समझना।

२९८ बम्बई, वैशाख सुदी १ शुक्र १९४८ अक्षय तृतीया

(१)

मात्र-समाधि है बाधा उपाधि है; जो मात्रको गीय कर सके ऐसी वह स्थितिराखी है; तपानि समाधि रखती है।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके लियेमें किया है वह इस आशयसे किया है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका प्रकटा होता जाता है उस प्रमाणसे शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थसे निरूपणता जाती जाती है। आत्म-सुखके कारण परिपूर्ण रखती है। अन्य किसी भी सुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनिरय जीवनेमें नित्यता प्राप्त करता है, ऐसा जो किया है वह इस आशयसे किया है कि उसे मुक्तसे भी निर्मलता रखती है। जिस ऐसा हो जाय उस निर अनित्यता रही है ऐसा न करें, तो यह बात सत्य ही है।

जिसे सत्ता व्यक्त-मान हो जाता है उसकी 'मैं' अन्य भाषका अकर्ता हूँ' एसा बोध उत्पन्न होनेकी जो अहमप्रत्यय-सुविधि है, उसका निवृत्त हो जाता है।

ऐसा ही समुज्ज्वल आत्म-मान बारम्बार रखा करता है, तथापि त्रैलोक्य इच्छा करते हैं समाधिस्थ

२९९

बम्बई, वैशाख सुदी ५ एषि १९४८

हालमें तो अनुक्रमसे उपाधि-योग विशेष रखा करता है।

अनंतकाल व्यवहार करनेमें व्यतीत किया है, तो फिर उसकी अंशालमें, जिससे परमार्थका चिंतन न किया जाय उसी तरह वर्तन करना, ऐसा जिसका निश्चय हो गया है, उस जैसे ही होता है, ऐसा हम मानते हैं।

बनमें उदसीनतासे स्थित योगीजन और तीर्थंकर आदिके आत्म-वचकी पाठ आती है।

३००

बम्बई, वैशाख सुदी १२ एषि १९४८

१ मनमें बारम्बार विचारसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग किएकर अन्य मात्रमें अपनापन नहीं होता; और अलग-अलग आत्म-व्ययन रखा करता है, ऐसी दशामें विकृत उपाधि योगका उदय आश्चर्यकारक है। हालमें तो थोड़े क्षणोंकी निश्चिति भी मुमकिनसे ही रहती है और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो विद्य है नहीं, और हालमें ऐसी प्रवृत्ति करना यही कर्त्तव्य है, तो उदसीनतासे ऐसा करते हैं; मन कहीं भी नहीं लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

२ निरूपण आत्म-व्ययन जो तीर्थंकर आदिमें किया है, वह परम आश्चर्यकारक है। उस काउमें भी आश्चर्यकारक था। अधिक क्या कहा जाय ? 'बनकी माटी कोयल' की कहावतके अनुसार हाहा कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम पड़े हैं।

३०१

बम्बई, वैशाख सुदी ६ भाद्र १९४८

शरीरमें यदि किसी भी प्रकारसे घन आश्रित बँटा रहनी जाती है, तो जीवका दगनाशरीर्य कर्मका प्रतिबध विशेष उत्पन्न होता है। ज्ञानी ता प्राय हम तरह ही प्रवृत्ति करता है कि जिसमें अपनेसे किसीका एसा प्रतिबध न हो।

ज्ञानी अपना उपजीवन—आजीविका—भी पूर्वकर्मके अनुसार ही करता है; जिसमें हममें प्रती बदला आये हम तरहकी आजीविका नहीं करता, अथवा हम तरह आजीविका कर्मलक प्रयत्नशील इच्छा नहीं करता, ऐसा मानते हैं।

जिस ज्ञानीक प्रती सुर्वथा निवृत्त भक्ति है उसमें अपनी इच्छा पूरा होती है न दगनाशरीर्य

'सत् शास्त्र' के प्रति, और परेष्ठस परमार्थके निमित्त कारण 'दान आदि' के प्रति रही है। अतः
तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है।

२९६

कर्म, क्षेत्र की ५ रवि १९७८

जगत्के अभिप्रायको देखकर जीवने पदार्थका बीच प्राप्त किया है; श्रान्तिके
अभिप्रायको देखकर यही प्राप्त किया। जो बीच श्रान्तिके अभिप्रायसे
बीच पाता है, उस जीवको सम्पूर्णार्थ होता है

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं। एक उपदेश प्राप्ति का मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग।
विचारसागर उपदेश-प्राप्तिके लिये विचारमे योग्य प्रय है। जब हम जैन शास्त्रोंको बीचमेके लिये कहते
हैं तब जेनी होनेके लिये नहीं कहते; जब वेदांत शास्त्र बीचमेके लिये कहते हैं तो वेदांती होनेके लिये
नहीं कहते इसी तरह अन्य शास्त्रोंको बीचनेके लिये जो कहते हैं ता अन्य होनेके लिये नहीं कहते।
जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं। इसमें जैन और वेदांती
आदिके भेदका क्या करो। अतः वैसी नहीं है।

२९७

कर्म, क्षेत्र की १२ रवि १९७८

जहाँ पूर्ण समता है, वहाँ सर्वज्ञता है

जिसे मोक्ष-जीवकी उत्पत्ति हो जाती है, उसे स्वल्प-मुखसे परितुष्टि रहती है, और विषयके प्रति
अप्रयत्न दृष्टा रहती है।

जिस जीवनेमें छविकृता है, उसी जीवनेमें ज्ञानियोंने मिलता प्राप्त की है, यह अचरन्की बात है।

यदि जीवको परितुष्टि न रहा करती है तो उसे कदाह्न ज्ञान-बोध हुआ नहीं समझना।

२९८ कर्म, वैशाख सुदी १ शुक्र १९७८ अक्षय तृतीया

(१)

मात्र-समाधि है; मात्र उपाधि है; जो मात्रको गीण कर सके ऐसा वह स्थितिवादी है; तथापि
समाधि रहती है।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके विषयमें लिखा है वह इस वाक्यसे लिखा है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका
प्रकाश होता जाता है उस प्रमाणसे शब्द आदि व्याख्यातिक पदार्थोंसे निस्तुहता आती जाती है;
अपम-मुखके कारण परितुष्टि रहती है। अन्य किसी भी मुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनित्य जीवनेमें मिलता प्राप्त करता है, ऐसा जो लिखा है वह इस वाक्यसे लिखा है
कि उसे पृथक्से भी निर्मयता रहती है। जिस देखा ही जान उसे फिर अनित्यता रही है ऐसा न कर्मों
को यह बात छल ही है।

जिसे सब आत्म-मान हा जाता है उसकी - में अन्य भावका भक्तता है । ऐसा मोक्ष उत्पन्न होनेकी जो अहम्यय-बुद्धि है, उसका विन्य हा जाता है ।

ऐसा ही समुज्ज्वल आम-मान आम्बार रहा करता है, तथापि जैसे-ई इच्छा करने दें ऐसा तो नहीं ।

२९९

बम्बई, बैंगल सुनी ५ री १०४८

हामें तो अनुक्रमसे उपाधि-समा विद्योप रहा करता है ।

अनंतराउ म्यकहार करनेमें धनीत किया है, ता फिर उसकी जंवाउमें, बिम्बे परमारना विमर्दन न किया जाय उसी तरह बर्नाब करना, ऐसा बिसरना निश्चय हो गया है, उस बेमे ही जाता है, ऐसा हम मानत है ।

बनमें उगासीनतासु स्थित योगीजन आर तांधर आदिके अफमककी पा आनी है ।

३००

बम्बई, बैंगल सुनी १२ री १०४८

१ मनमें आम्बार विचारसे निश्चय हा रहा है कि किसी भी प्रकारम उपयोग फिरकर अन्य भारमें अपनादन नहीं होना; और अगउ आम-ग्यान रहा करता है, ऐसी इसमें रिक्त उपरि योगका उदय अमचयकारक है । हामें ता थाने सुजोकी निश्चय भी मुद्रिहामें ही रहती है और प्रवृत्ति पर सन्नेर्ष। पामपागता ता बिच है नहीं आर हामें ऐसी प्रवृत्ति करना पदी कचन है, तो उगासीनतासु ऐसा करते हैं; मन कभी भी नहीं लगता, आर कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।

२ निम्बम आम-ग्यान जो तांधर आदिन किया है, वह परम आधर्षकारक है । उस हामें भी आधर्षकारक था । अधिक क्या कहा जाय ? 'बनकी मागी कोयल' की कानागते अनुगार हा कानमें और हम प्रवृत्तिमें हम पड़े हैं ।

३०१

बम्बई, बैंगल सुनी ६ भाग १०४८

ज्ञानी पति किसी भी प्रकारम इन आधिकी चीज रखी जाती है, तो जौ-स दर्शनारतीय कर्मका प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है । ज्ञानी ता प्राय इन तरह ही प्रवृत्ति करता है कि जिसमें आगेम किसीका देगा प्रदिर्य न हा ।

ज्ञानी आत्मा उरजीन—आधीरिहा—भी पूरार्थक अनुगार ही करता है; जिस । ज्ञानम प्रति बाना आ । हम तरहवा आधीरिहा नहीं करता अपरा हम तरह आधीरिहा कानक प्रमाणों हुआ नहीं करता, देगा मानने है ।

जि । ज्ञानीके प्रति माया मिट्टा भक्ति है उम्मा आनी इच्छा पूरा हागी हर म देगकर भी

से दोष देना नहीं जाता, ऐसे जीवकी हानिकी आश्रयसे धीरजपूर्वक चलनेसे आपत्तिका भास जाता अथवा आपत्ति बहुत मद्ध पड़ जाती है, ऐसा मानते हैं तथापि इस काशमें ऐसी धीरज रहना बहुत कठिन है और इस कारण जैसा कि ऊपर कहा है, बहुतबार ऐसा परिणाम आनेसे रुक जाता है।

हमें तो ऐसी जवानकमें उदासीनता रहती है। हमारे भीतर निधमान परम वैराग्य-व्यवहार-विषयमें जो कमी भी नहीं धमने देता और व्यवहारका प्रतिबंध तो सारे दिन ही रहता पड़ता है। हाशमें ऐसा उदय पड़ रहा है। इसमें माझम होता है कि वह भी सुझका ही होत है।

आज पाँच मास हुए सबसे हम जगत्, ईश्वर और अन्यमात्र—इन सबसे उदासीनकसे रहते तथापि वह बात गमीर होनेके कारण तुम्हें नहीं किसी। तुम जिस प्रकारसे ईश्वर आदिक विषयमें दासीन हो, तुम्हारे स्वि उसी तरह महावि करना फकवाणकारक है। हमें तो किसी भी तरहका उदासीन न होनेके कारण सब कुछ जवानकप ही है; क्योंकि ईश्वर आदि तकमें उदासीनता होती है। हमारे इस प्रकारके झिझके पड़कर तुम्हें किसी प्रकारसे संशयमें पड़ना योग्य नहीं।

हाशमें तो हम 'अज्ञान' से रहते हैं, इस कारण किसी प्रकारकी ज्ञान-वार्ता भी नहीं स्वि करते परन्तु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकम्बपसे ही है; वह बात तो शक्यरहित है। हमारा विचारात्मक सिवाय किसी दूसरे स्वरूपपर प्रतिबद्ध होता ही नहीं; क्षणभरके क्रिये भी अन्य-मात्रमें स्थिर ही रहता—स्वरूपमें ही स्थिर रहता है। ऐसा भी हमारा आचर्यकारक स्वभाव है, वह हाशमें तो ज्ञान भी कहा नहीं जाता। बहुत मझिने भीत जानेके कारण तुम्हें शिक्कर ही सुतोय माने छेते हैं। अतस्वर बौचना। हम भेदरहित हैं।

३०२ कर्माई, वैद्याल कही ११ भीम १९४८

जिसे निरंतर ही अमेर-म्यान रहा करता है, ऐसे श्रीमोक्ष-सुखकषा यथायोग्य बौचना। यहाँ मात्राविषयक तो समाधि ही रहती ही है और ब्रह्मविषयक उपाधि-योग रहता है तुम्हारे आये हुए जिनो पत्र प्राप्त हुए हैं, और इसी कारण प्रस्तुत नहीं किया।

इस कश्ककी ऐसी निधमता है कि जिसकी बहुत समयतक सत्संगकष-सेवन हुआ हो, तो ही जीव-विषयक जोक-भावना कम हो सकती है अथवा कपको प्राप्त हो सकती है। जोक-भावनाके आचरणके कारण ही जीवको परमार्थ मात्राका प्रति उदास-परिणति नहीं होती और जबतक यह नहीं होती तबतक जोक-सहवास मनकष ही जाता है।

जो निरंतर सत्संगके सेवन करनेकी इच्छा करता है ऐसे मुमुक्षु जीवको जबतक उस योगक सिद्ध रहता है तबतक वह मात्रसे उस मात्राकी इच्छासहित प्रत्येक कार्य करते हुए निचारपूर्वक प्रवृत्ति करके अपना जो कुछ मात्राकर अपने देखनेमें आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाह करके सरलतासे वर्तन करते रहना योग्य है; और जिस कार्यके द्वारा उस मात्राकी उपरति हो ऐसी ज्ञान-वार्ता अथवा ज्ञान-उक्त अथवा प्रकषा कुछ कुछ विचार करते रहना योग्य है।

जो बात ऊपर कही है, उसमें तुम लोगोंको बाधा करनेवाले अनेक प्रसंग आया करते हैं; यह हम जानते हैं, तथापि उन सब बाधा पहुँचानेवाले प्रसंगोंमें जैसे बने वैसे संशुद्धयोगसे विचार पूर्वक प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करना, यह क्रम क्रमसे ही होने जैसी बात है। किसी भी प्रकारसे मनमें सत्ताप करना योग्य नहीं, जो कुछ पुरुषार्थ ही उसे करनेकी इच्छा रखनी ही योग्य है, और जिसे परमबोध स्वस्वकी पहिचान है ऐसे पुरुषको तो निरन्तर ही पुरुषार्थके विषयमें वैसी प्रवृत्ति करते रहनेमें व्यवधान योग्य नहीं है।

अनसक्तार्थमें भी जो प्राप्त नहीं हुआ, उसकी प्राप्तिके लिये यदि अमुक कष्ट व्यतीत हो जाय तो भी कोई हानि नहीं है। हानि केवल इसीमें है कि अनसक्तार्थमें भी जो प्राप्त नहीं हुआ, उसके विषयमें आपत्ति हो—मूढ हो। यदि परम ज्ञानीका स्वरूप समझाना हो गया है तो फिर उसके मार्गमें भी अनुक्रमसे जीवका प्रवेश हो सकता है, यह आसानीसे समझमें आ सकते जैसी बात है।

जिस तरह मन ठीक रीतिसे चले, इस तरहसे वर्तन करो। वियोग है तो उसमें कल्याणका भी वियोग है, यह बात सत्य है; तथापि यदि ज्ञानीके वियोगमें भी उसी विषयमें चिन्तित रहता है तो कल्याण है। बीरब्रह्मा त्याग करना योग्य नहीं।

श्रीत्वस्वम्मा यथायोग्य

३०३ वर्ष, वैशाख कदी १४ सुभ १९४८
(१)

मोक्षमयीस जिसकी अमोक्षरूप स्थिति है, ऐसे भी कथं यथायोग्य

"मनके कारण ही यह सब कुछ है," ऐसा जो अवतकका किया हुआ निगण विम्वर वह सामान्यरूपसे तो यायाव्य है; तथापि 'मन', 'उसके कारण ही', 'यह सब कुछ', और 'उसका निर्णय', ये जो इस वाक्यके चार भाग होने हैं, यह बहुत समयके ज्ञानसे यथार्थरूपसे समझमें आता है, ऐसा मानते हैं। जिसकी समझमें यह आ जाता है, उसके बशमें मन रहता है, यह बात निश्चयरूप है; तथापि यदि न रहता है तो भी वह अमोक्षस्वरूपमें ही रहता है। मनके बशमें होनेका यह उत्तर ऊपर लिखा है, यही सबसे मुख्य है। जो वाक्य लिखा गया है वह बहुत प्रकारसे विचारने योग्य है।

महात्माकी देह दो कारणोंसे विद्यमान रहती है—प्रारब्ध कर्मका भोगनेके लिये, और जीवोंके कल्याणके लिये; तथापि वह महात्मा इन दोनोंमें उन्मत्तरूपसे उन्मत्त आर्द्र हुई प्रवृत्ति रहता है; ऐसा मानते हैं।

प्यान, अप, तप, और यदि इन विषयोंके द्वारा ही हमारे द्वारा वह हुए वाक्यको परम फलका कारण समझते हैं और यदि उसे निश्चयसे समझते हैं तो—पीछे बुद्धि काय-सुखा, शान्त-सुखान्न न जाती हो तो—और वही गर्व हो तो वह अग्निपूर्वक जल गड़ है, यथा समझते हैं। ता—और उम वाक्यको अनेक प्रकारके धारकों विचारनकी इच्छा हो ता ही विम्वरकी इच्छा होनी है।

अभी इससे विशेषरूपसे निश्चयविषयक धारणा कथनके लिये विम्वर आत्मदयक जैसा माह्न होता है, तथापि निज अवकाशरूपसे नहीं रहता, इतिवि आ विम्वर है उसको मुख्यरूपसे मानना।

(२)

सब प्रकारसे उपाधि-योगको तो निवृत्त करना ही योग्य है; तथापि यदि उस उपाधि-योगकी पुनर्गति आदि के लिये ही इच्छा की जाती हो, तथा पिछली विच-स्थिति समभावसे रहती हो तो उस उपाधि योगमें प्रवृत्ति करना अपेक्षित है ।

अप्रतिपक्ष प्रणाम

३०४

सन् १९४८

चाहे किनकी ही विपत्तियों क्यों न पहुँचें, तथापि ज्ञानीद्वारा सांसारिक फलकी इच्छा करनी योग्य नहीं

उत्पन्न आये हुए अंतरायको सम-परिणामसे बेदन करना योग्य है, विषम-परिणामसे बचन करना योग्य नहीं ।

तुम्हारी आजीविकासम्बन्धी स्थिति बहुत समयसे माझम है यह पूर्वकर्मका योग है ।

जिसे यथार्थ ज्ञान है, ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नहीं करता; इसलिये तुमने जो आकुलताके कारण इच्छा प्रगट की है, उसे निवृत्त करना ही योग्य है ।

यदि ज्ञानोके पास सांसारिक वैभव हो तो भी सुमुमुक्षु उसकी किसी भी प्रकारसे इच्छा करना योग्य नहीं है । प्रायः करके यदि ज्ञानोके पास ऐसा वैभव होता है तो वह सुमुमुक्षु विपत्ति दूर करनेके लिये उन्मोगी होता है । पारमार्थिक वैभवसे ज्ञानी, सुमुमुक्षुको सांसारिक फल देनेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि ज्ञानी अकर्तव्य नहीं करते ।

हम जानते हैं कि तुम्हारी इस प्रकारकी स्थिति है कि जिसमें धीरे-धीरे रहना कठिन है ऐसा हृत्पथ भी धीरे-धीरे एक अदृष्टी भी ग्युलता न होने देना, यह तुम्हारा कर्तव्य है; और यही यथार्थ बाध पालेका मुख्य मार्ग है ।

हाउमें तो हमारे पास ऐसा कार्य सांसारिक साधन नहीं है कि हम उस मार्गसे तुम्हारे लिये धीरे-धीरे कारण हो सकें । परन्तु ऐसा प्रसंग सम्भवे तबको बाधोके दूरे प्रवृत्त करने योग्य ही नहीं है ।

किसी भी प्रकारका भविष्यका सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमानमें समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका एक निश्चय करना ही तुम्हें योग्य है; भविष्यमें जो होगा होगा वह होगा, वह तो अनिवार्य है ऐसा मानकर परम पुरुषार्थकी ओर संसृज होना ही योग्य है ।

जिन्ही प्रकारसे भी लोकप्रशस्तीका भयक स्थान ऐसे भविष्यका विस्मरण करना ही योग्य है । उसकी विनाश परमार्थका विस्मरण होता है; और ऐसा होना महा अपेक्षित है; इसलिये ज्ञाना ही बारम्बार विचारना योग्य है कि जिसमें वह आगति न आये । बहुत समयसे आजीविका और लोक प्रशस्ती पर तुम्हारे अन्तरमें इच्छा हो रहा है, इस विषयमें अब तो निर्भयपना ही अंगीकार करना योग्य है । निम्ने ब्रह्म है कि यही कर्तव्य है । यथार्थ बाधका यही मुख्य मार्ग है । इस स्थितिमें भ्रम गाना योग्य नहीं है ।

उत्पन्न और आजीविका विषय है । कुटुम्ब आदिका समस्त सम्पत्ति तो भी जो इला होगा

वह तो होगा ही। उसमें समता रखोगे तो भी जो होना होगा वह होगा इसलिये निःसंकाशसे निरमिमानी होना ही योग्य है—सम परिणामसे रहना योग्य है, और यही हमारा उपदेश है।

यह जबतक नहीं होता तबतक यथार्थ बोध भी नहीं होता।

३०५

धर्म, वशास्त्र १९४८

विनाशम उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप पुरुषोंने उसका उपशमके छिये प्ररूपण किया है—उपदेश किया है। वह उपशम आत्मार्थके छिये है, दूसरे किसी भी प्रयोजनके छिये नहीं। आत्मार्थके छिये यदि उसका आराधन नहीं किया गया, तो उस विनाशमका क्षण और बौचन निष्फल जैसा है यह बात हमें तो निस्सन्देह यथार्थ मान्य होती है।

दुखकी निवृत्ति सभी जीव चाहते हैं, और इस दुखकी निवृत्ति, जिससे दुख उत्पन्न होता है, ऐसे रोग, हेप और अज्ञान आदि दोषकी निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं है। उस रोग आत्माकी निवृत्ति एक आत्म-ज्ञानको छोड़कर दूसरे किसी भी प्रकारसे मूलकायमें हुई नहीं, वर्तमानकालमें होती नहीं, और भविष्यकालमें हो नहीं सकेगी ऐसा सब ज्ञानी पुरुषोंको भासित हुआ है। अतएव जीवके छिये प्रयोजनरूप जो आत्म-ज्ञान है, उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरुके भजनका भजन करना अथवा सत्यात्मका विचारना ही है। जो कोई जीव दुखकी निवृत्तिकी इच्छा करता हो—उसे दुखसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त करनी हो—तो उसे एक इसी मार्गकी आराधना करनेके सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये जीवको सब प्रकारके मतमतांतरका, कुल-वर्मका, लोक-स्वार्थका, भेषका, भोजनका, उदास भावसे सेवन करके, एक आत्म-विचार कर्तव्यरूप धर्मका सेवन करना ही योग्य है।

एक वर्षी मिश्रणकी बात तो मुमुक्षु जीवको यही करनी योग्य है कि सत्संगके समान कल्याण का अन्य कोई लक्षण कारण नहीं है। और उस सत्संगमें निरंतर प्रति समय निवास करनेकी इच्छा करना, अस्वस्वका प्रत्येक क्षणमें अन्यथाभाव विचारना, यही श्रेयस्वरूप है। बहुत बहुत करके यह बात अनुमनमें छल जैसी है।

प्रारम्भके अनुसार स्थिति है, इसलिये लक्षण उपाय-योगसे विपमता नहीं आती; अत्यंत अरुचि हो जानेपर भी, उपशम—समाधि—यथावत् रहती है तथापि निरंतर ही चित्तमें सत्संगकी भावना रहा करती है। सत्संगका अत्यंत माहुरूप जो पूर्वभवेमें वेदन किया है, वह फिर फिरसे स्मृतिमें आ जाता है और निरंतर अभगत्पसे वह भावना स्मृति रहा करती है।

जबतक इस उपाय-योगका उपाय है, तबतक समवस्थापूर्वक उसे निबाहना, ऐसा प्रारम्भ है; तथापि जो काठ व्यतीत जाता है वह प्रायः उसके त्यागके मार्गमें ही व्यतीत होता है।

निवृत्ति जैसे क्षेत्रमें चित्तकी स्थिरतापूर्वक यत्ति हाउमें सृष्ट्यर्थसम्पत्के भजन करनेकी इच्छा हो तो भजन करनेमें कोई बाधा नहीं। वह केवल जीवके उपशमके छिये ही करना योग्य है। किंतु मनकी विश्रुता है, और किंतु मन्त्री व्युत्पत्ता है, ऐसे पक्षमें पक्षके छिये समान भवता है।

ऐसा हमारा निश्चय है कि जिन पुरुषोंने इस सूत्रकृत्यांगकी रचनाकी है वे आत्मस्वरूप पुरुष थे ।

‘जीनको यह कर्मरूपी जो ज्ञेय प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो ?’ इस प्रश्नको सुमुख शिष्यके हृदयमें उद्भूत करके, वह ‘नोब प्राप्त करनेसे दूर हो सकता है’ यह सूत्रकृत्यांगका प्रथम वाक्य है । फिर शिष्यको दूसरा प्रश्न होता है कि ‘वह बचन क्या है, और वह क्या जाननेसे दूर हो सकता है, तथा उस बचनको बीरस्वामीने किस प्रकारसे कहा है ?’ इस प्रकारके वाक्यश्रारा यह प्रश्न रखा गया है, अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें यह वाक्य रखकर प्रत्यकार ऐसा कहते हैं कि हम उन्हें आत्मस्वरूप ऐसे बीरस्वामीका कहा हुआ आत्मस्वरूप कहेंगे; क्योंकि आत्मस्वरूपके लिये आत्मस्वरूप पुरुष ही अत्यंत प्रतीतिके योग्य है । इसके पश्चात् प्रत्यकार जो उस बचनका स्वरूप कहते हैं, वह फिर किससे विचार करने योग्य है । तत्पश्चात् इसपर विशेष विचार करनेसे प्रत्यकारको याद आया कि यह समाधि मार्ग आत्मके निश्चयके बिना प्राप्त नहीं होता; तथा जगत्कासी जीव ज्ञानी उपदेशकोसे जीवका अन्यथा स्वरूप जानकर—कर्मपाणक्य अन्यथा स्वरूप जानकर—अन्यथाको ही स्वरूप मान बैठे हैं उस निश्चयका मग हुए बिना—उस निश्चयमें सुनेह पड़े बिना—जो समाधि-मार्ग हमने अनुभव किया है, वह उन्हें किस प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलभीत होगा—ऐसा जानकर प्रत्यकार कहते हैं कि ‘ऐसे मार्गका त्याग करके कोई एक अमण ब्राह्मण ज्ञातपनेसे, बिना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहते हैं ।’ इस अन्यथा प्रकारके कथनके पश्चात् प्रत्यकार निवेदन करते हैं कि कोई पंचमहाभूतक्य ही अस्तित्व मानते हैं, और इन्हींसे आत्माका उत्पन्नहोना भी मानते हैं; जो ठीक नहीं बैठता; ऐसा कहकर प्रत्यकार आत्माको नित्यताक्य प्रतिपादन करते हैं । जिस बीवने अपनी निष्पत्ता ही नहीं जानी, तो फिर वह निर्वाणका फल किस प्रयोजनसे करेगा ? ऐसा अग्निप्राय कताकर नित्यता निश्कर्ष गई है । इसके पश्चात् मिम मिम प्रकारसे कल्पित अग्निप्राय त्रिसाकर यथार्थ अग्निप्रायक्य उपदेश करके पर्याप्त मार्गके बिना छुनक्य नहीं, गर्म दूर नहीं होता, जन्म दूर नहीं होता मरण दूर नहीं होता, दुःख दूर नहीं होता, आनि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नहीं होती; और कैसा हम ऊपर कह आये हैं कि ऐसे सबके सब मरवादी ऐसे ही विषयोंमें निमग्न है कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नहीं होता—इस प्रकार विशेष उपदेशक्य आत्मपूर्वक प्रथम अव्ययन समाप्त किया है । उसके पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढ़ते हुए परिणामसे आत्मार्थके लिये उपसंग-कर्मपाणक्य उपदेश दिया है । इसे कर्मपूर्वक पदना और अमण करना योग्य है । कुछ-भरके लिये सूत्रकृत्यांगक्य पढ़ना और अमण करना निश्चय है ।

३०६

कर्म, वैराग्य पृ० १९४८

श्रीसुभक्तार्पणस्ती त्रिशासुको श्री मोहमयीसे जगोहस्वरूप श्री ० ० का आत्म-समान-धारकी सृष्टिपूर्वक पद्यायोग्य योजना ।

हाथमें यही बड़ा प्रवृत्तिक्य संयोग विशेषरूपसे रहता है । ज्ञानीका देह उपार्जन लिये हुए पूर्वकर्मके निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकंपाके लिये होता है ।

जिस मायसे सस्रसकी उत्पत्ति होती है, वह मात्र जिसमेंसे निवृत्त हो गया है, ऐसा ज्ञानी भी वाय प्रवृत्तिकी निवृत्ति और सस्समागमके निवासकी इच्छा करता है। अर्थात्क इस योगका उदय प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जो प्राप्त स्थितिमें अवियमतासे रहते हैं, ऐसे ज्ञानीके चरणारविन्दकी किर किरसे सृष्टि आ जानेसे हम उनको परम विशिष्टमायसे नमस्कार करते हैं।

हालमें जिस प्रवृत्ति-योगमें रहते हैं वह बहुत प्रकारकी परेष्ठके कारणसे रहते हैं। अहम-हृदिकी अस्थिरतामें इस प्रवृत्ति-योगसे कोई बाधा नहीं आती इसलिये उदय आवे हुए योगकी ही आपवना करते हैं।

हमारा प्रवृत्ति-योग विहायके प्रति करुणा प्राप्त होनेके सम्बन्धमें किसी प्रकार वियोग-रूपसे रहता है।

जिसमें स्वरूप रहता है, ऐसे ज्ञानीमें जोर-सूहा आदिवा त्याग करके जो मायपूर्वक भी आविष्टरूपसे रहता है, वह निकटरूपसे कल्याणको प्राप्त करता है, ऐसा मानते हैं।

निवृत्तिके समागमकी हम बहुत प्रकारसे इच्छा करते हैं, क्योंकि इस प्रकारके अपने रागको हमने सर्वथा निवृत्त नहीं किया।

कावका कलिस्वरूप भव रहा है। उसमें अवियमतासे मार्गकी विहायपूर्वक, बाकी दूसरे स्थानानेके उपायोंमें उदासीनतासे वर्तन करते हुए भी जो ज्ञानीके समागममें रहता है, वह अत्यन्त निकटरूपसे कल्याण पाता है, ऐसा मानते हैं।

जगत, ईश्वर आदि सबकी प्रज्ञा हमारे बहुत विशेष समागममें समझने चाहिये।

इस प्रकारके विचार (कमी कमी) करनेमें हानि नहीं है। कदाचित् उसका यथार्थ उत्तर अमुक कालकाल न मिले तो काव्य धीरजका त्याग करनेको उचित होती हुई मतिको रोक देना योग्य है।

जहाँ अवियमतासे आत्म-ग्यान रहता है, ऐसे 'भीरवचक्र' के प्रति किर किरसे नमस्कार करके यह पत्र इस समय हम पूर्ण करते हैं।

३०७

बम्बई, वैशाख १९४८

जो आत्मामें ही रहते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष सदा प्राप्त प्रारब्धके अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं। वास्तवमें तो बात यह है कि जिस कालमें ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ, उसी कालमें ज्ञानी मुक्त हो जाता है। देह आदिमें अप्रतिबद्ध ज्ञानीको कोई भी आश्रय अथवा आसम्भन नहीं है। धीरज प्राप्त होनेके लिये उसे 'ईश्वरेष्टा आम्नि' भावनाका हाना योग्य नहीं है। मलिनताको जो कुछ प्राप्त होता है उसमें किसी प्रकारके हेतुको देखकर तत्त्व धीरज रहनेके लिये यह भावना किसी प्रकारसे योग्य है। ज्ञानीको तो प्रारब्ध ईश्वरेष्टा आदि सभी चीजोंमें एक ही भाव—समान ही भाव है। उसे शान्ता-असतामें कुछ भी किसी प्रकारसे राग-द्वेष आम्नि कारण नहीं होने वह तो दोनोंमें ही उन्मत्त है। जो उदासीन है, वह मूढस्वरूपमें निराश्रय है और निराश्रयस्वरूप उसकी उदासीनताको हम ईश्वरेष्टासे भी बलवान मानते हैं।

ईश्वरेन्द्रात्मको श्री कर्णधरसे समझना योग्य है। ईश्वरेन्द्रात्मक आत्मन, यह आश्रयरूप ऐसी छिन्ने ही योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी कुछ समान है। अथवा ज्ञानी सहज-परिणामी है सहज-स्वरूपी है; सहज-स्वभावसे स्थित है; सहज-स्वभावसे प्राप्त उदयको भोगता है; सहज-स्वभावसे ही होता है सो होता है, जो नहीं होता सो नहीं होता वह कर्तव्यपरहित है; कर्तव्यभाव उसीमें छपे जाता है इसलिये तुम्हें ऐसा जानना चाहिये कि उस ज्ञानीके स्वरूपमें आरम्भके उदयकी सहज प्राप्ति अधिक योग्य है। जिसने ईश्वरेन्द्रात्मके विषयमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित की है, उसे इच्छावान् कहना यथ्य है। ज्ञानी इच्छापरहित है या इच्छासहित, ऐसा कहना भी नहीं बनता, वह तो केवल सहज-स्वरूप है।

३०८

बम्बई, श्वेत्त सुदी १० रवि १९४८

ईश्वर वास्तविक स्वरूपमें जो निश्चय है, उस विषयमें हाथमें विचारका त्याग करके सामान्यरूपसे सम्यक्संसारका पचना योग्य है अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे हाथमें धीरज रहता है, वह धीरज उसके निश्चयमें पड़ जानेसे रहना कठिन है।

निश्चयसे अकर्ता, और व्यवहारसे कर्ता इत्यादि व्याख्याय जो सम्यक्संसारमें है, वह विचारमें योग्य है, परन्तु यह व्याख्यान ऐसे ज्ञानीसे समझना चाहिये कि जिसके बोधसर्वधी होय निरुपद्रव हो गये हैं। जो है वह स्वरूप समझने तो योग्य ऐसे ज्ञानीसे है कि जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो गई है। उसीके आश्रयसे जीवके होय गढ़ होकर उसकी प्राप्ति होती है, और वह समझमें जाता है।

उक्त मास स्मूर्ण हुए तबसे, जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे श्री को नमस्कार है।

३०९

बम्बई श्वेत्त सुदी १ शुक्र १९४८

जिसकी प्राप्ति पश्चात् अनंतकालकी याचकता दूर होकर सर्व कालके

किये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई भी हो

तो इस इम तरण-तारण मानते हैं—जसीकी भवो

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है अथवा होता है, परन्तु उस मुक्तिका दान करनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परस दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, प्राप्त दुर्लभ है।

संसारसे अकृषि प्राप्त किये हुए तो बहुत काल हो गया है; तथापि अभी संसारका प्रसंग निराप्तिको प्राप्त नहीं होता वह एक प्रकारका मन्त्रन् नमेश रहा रहता है।

हाथमें तो निर्विक होकर अपनेको श्रीहरिके हाथमें सौंप देते हैं।

हमें तो कुछ भी करनेके किये मन नहीं होता और सिद्धनेके किये भी मन नहीं होता कुछ कुछ बाणीसे प्रवृत्ति करते हैं उसमें भी मन नहीं होता। नेमक आश्रयमीन और लक्ष्यधी प्रसंगमें ही मन रहता है; और संग तो इससे भिन्न प्रकारका ही रहता है।

ऐसी ही ईश्वरेच्छा होगी । ऐसा मानकर ऐसी स्थिति प्राप्त होती है वैसे ही योग्य समझकर रहते हैं ।

मन तो मोक्षके सुखमें भी लूहायुक्त नहीं है, परन्तु प्रसंग यह रहता है । इस प्रसंगमें 'मनकी मारी कोपड़' ऐसी एक गुजरती देशी फहालत पाग्य ही है । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

३१०

बम्बई, ग्रेष्ठ १९४८

(१)

प्रभु-भक्तिमें जैसे बने ऐसे तत्पर रहना, यह मुझे तो मोक्षका धुरधर मार्ग लगा है; आगे तो मनसे भी स्थिरतापूर्वक बैठकर प्रभु-भक्ति अवश्य करना योग्य है ।

इस समय तो मनकी स्थिरता होनेका मुख्य उपाय तो प्रभु-भक्ति ही समझो । आगे भी बड़ी आर ईसा ही है, तो भी इसे लूछतासे छिस्कर बताना अधिक पाग्य लगता है ।

उत्तराध्ययनमूत्रमें दूसरा शिष्टिज अध्ययन पढ़ना । बचोसमें अध्ययनकी प्रारम्भकी चैत्रीस गाथायें मनम करना ।

इम, सवेग, निर्वेद, आत्मा, और अनुकया इत्यादि सद्गुणोंसे योग्यता प्राप्त करनी चाहिये; और किसी समय तो महात्माके संयोगसे धर्म मिट ही जायगा । ससग, सनातन और सद्गुरु, ये उत्तम साधन हैं ।

(२)

यदि मृगगण्डसूक्तकी प्राप्तिका साधन हो तो उसका दूसरा अध्ययन, तथा उत्तराध्ययनका अध्ययन पढ़नेका परिचय रखना । तथा उत्तराध्ययनके बहुतसे वैराग्य आदि चरित्रवाक्य अध्ययन पढ़ते रहना । और प्रमातमें जल्दी उठनेका परिचय रखना । पदोंमें स्थिर हाकर बैठनेका परिचय रखना । माया अर्थात् जगत्—सौरु—का जिसमें अधिक वर्णन किया गया है, ऐसी पुष्पकोके पढ़नेकी अवस्था, जिसमें स्तुतिरूपके चरित्र अथवा वैराग्य-कथा विनोदरूपमें हों, ऐसी पुष्पकोके पढ़नेकी भावना रखना ।

(३)

जिसके द्वारा वैराग्यकी वृद्धि हो ऐसी बौद्ध विचाररूपसे रहना मनमर्माणका त्याग करना; और जिससे मनमर्माणकी वृद्धि हो ऐसी पुष्पकोकी पढ़ना । अमुसंग आदिमें उत्तम क्षात्री ईश्वरिका इत्यादि विचार बारम्बार करना पाग्य है ।

३११

बम्बई, ३१४ १०४८

जो विचाररूप पुरुषको सर्वथा बह्दात्म्य भासित होता है, उसे इस सत्तासे निम्ने आत्ममात्र जन्म य उनकी निश्चय प्रतिज्ञा है । तीनों काउमें अब इसका पथार्थ इस संसारका स्वल्प अध्ययनमें भासमान होना योग्य नहीं है, और यह भासमान हा—यथा तीनों काउमें होना सुख नहीं ।

यही आत्मभावसे समाधि है । उभय-भावनके प्रति उपाधि रहती है । श्रीतीर्थकरने तत्त्वमें गुण-पालकमें रहनेवाले पुण्यका निम्नलिखित स्वरूप कहा है —

आत्मभावके क्रिये त्रिसुते सर्व सत्कार सत्कृत कर दिया है—अर्थात् जिसके सब संसारकी आठी हुई इच्छा निरुद्ध हो गई है, एवं निर्मलको—संपुरुषको—तेराहमें गुणस्थानकमें समझना चाहिये ।

ममसमित्तसे युक्त, वचनसमित्तसे युक्त, कायसमित्तसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण और त्याग करते हुए समित्तसे युक्त, दीर्घ क्षका आदिका त्याग करते हुए समित्तसे युक्त, ममका सकोच करनेवाला, वचनका संकोच करनेवाला, कायाका सकोच करनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके सकोचपनेसे अग्रभाटी, उपयोगपूर्वक करनेवाला, उपयोगपूर्वक कहा होनेवाला, उपयोगपूर्वक हैउत्प्रेषण, उपयोग पूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक शौचनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार करनेवाला, उपयोगपूर्वक आसे-च्छास करनेवाला आँसुके एक निमेषमात्र भी उपयोगरहित आचरण न करनेवाला, अथवा त्रिसुकी उपयोगरहित एक भी क्रिया नहीं है ऐसे निर्मलको एक समयमें कियाका बैध होता है, दूसरे समयमें उसका वैन होता है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित हो जाता है, अर्थात् चाँचे समयमें उसका किया-सुखी सर्व चयाये निवृत्त हो जाती है ।

श्रीतीर्थकर जीके कैंसा कथनत निम्न

(अपूर्ण)

३१२

कर्म आचार्य सुदी ९ एम १९२८

त्रिसुक्त चित्त राज्य आदि पाँच नियमोंकी प्राप्तिकी इच्छासे कथनत व्यस्त रहता है, ऐसे जीव नहीं विद्येय-पसे निर्माई देते हैं, ऐसा हुआकाल कश्चिपुग नामका काळ है । उसमें भी त्रिसे परमापके संबंधमें विद्वत्ता नहीं हुई, त्रिसेके चित्तको विशेष नहीं हुआ, त्रिसे सग्राह्य प्रवृत्ति-भेद नहीं हुआ त्रिसुक्त चित्त दूसरे प्राप्तिसे संबंधसे आहत नहीं हुआ त्रिसुक्ता निराला दूसरे कारणोंमें नहीं रहा—ऐसा जो कोई भी हो तो वह इस कालमें ' दूसरा धीराम ' ही है ।

किर भी देखकर नेत्रपूर्वक आश्चर्य होता है कि इन गुणोंसे किसी अशर्म भी सफल अल्प जीव भी इष्टिगोचर नहीं होते ।

त्रिसुक्ते सिवाय काफ़ीके समयमेंसे एकाक्ष धैर्यके सिवाय शेष समय मन, वचन और कायासे उपद्रविक योगमें रहता है । कोई उपाय नहीं है, इसलिये सम्पत्परिणतिसे संवेदन करना ही योग्य है ।

महान् आश्चर्यको प्राप्त करनेवाले ऐसे जल, वायु चन्द्र सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आने, और आने छोटेसे घरमें अथवा और भी दूसरी किसी चीजोंमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकरक स्वरूप देखकर अहभाव रहता है यह देखकर ऐसा होता है कि छोमोका अनधिकृतक दृष्टि-अम दूर नहीं हुआ । त्रिसे यह दूर हो ऐसे उपायमें जीवका अग्र ज्ञान भी नहीं रहता, और उसकी पहिचान होनेपर भी स्नेहासे वर्णन करनेकी बुद्धि बारम्बार उन्मि होती रहती है; एसे बहुतस जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझो कि यह छोका अमी अनतकालक रहनेवाला है ।

३१३

मार्च मास १९४८

सूर्य उदय-अस्त रहित है। यह केवल लोगोंको जिस समय चक्षुकी मर्यादासे बाहर चला जाता है उस समय अस्त, और जिस समय चक्षुकी मर्यादाके भीतर रहता है उस समय उषि माध्यम होता है। परन्तु वास्तवमें सूर्यमें तो उदय-अस्त कुछ भी नहीं है। ज्ञानी भी इसी तरह है, वह समस्त प्रसंगोंमें जैसा है वैसा ही है, परन्तु बात यह है कि केवल समागमकी मर्यादाको छोड़कर लोगोंको उसका ज्ञान ही नहीं रहता, इसलिये जिस प्रसंगमें जैसी अपनी दशा हो सकती है वैसी ही दशा लोग ज्ञानीकी भी कल्पना कर लेते हैं, तथा यह कल्पना जीवको ज्ञानीके परम आत्ममात्र, परितोषमात्र, और मुक्तमात्रको माध्यम नहीं होने देती, ऐसा जानना चाहिये।

हामें तो जिस प्रकारसे प्रारम्भके कर्मका उदय हो उसी तरह प्रवृत्ति करते हैं, और इस तरह प्रवृत्ति करना किसी प्रकारसे तो सुगम ही माध्यम होता है।

यद्यपि हमारा चित नेत्रके समान है—नेत्रमें दूसरे अवयवोंके समान एक रज-कण भी स्थान नहीं हो सकता। दूसरे अवयवोंका अन्य चित है। जिस चितसे हम रहते हैं वह चित नेत्ररूप है, उसमें बाष्पिका उठना, समझाना, यह करना जयवा यह न करना, ऐसा विचार होना यह बहुत मुश्किलसे बन पाता है। बहुतसी क्रियायें तो शून्यताकी तरह होती हैं, ऐसी स्थिति होनेपर भी उपाधि-योगका तो बलपूर्वक आवेदन कर लेते हैं। इसका वेदन करना कम कठिन नहीं माध्यम होता, क्योंकि यह आँखके द्वारा जमीनकी रेतको उठाने जैसा कार्य होता है; जिस तरह यह कार्य दु खसे—अत्यन्त दु खसे—होना कठिन है, वैसा ही चितको उपाधि परिणामरूप होना कठिन है। सुगमतासे चितके स्थित होनेसे वह सम्यक्प्रकारसे वेदनाका अनुभव करता है—अच्छंद समाधि रूपसे अनुभव करता है। इस बातके सिक्केका आशय तो यह है कि ऐसे उत्कृष्ट वैद्यमय ऐसे उपाधि-योगके अनुभव करनेके प्रसंगको कैसा गिना जाय ! और यह सब चित्सके छिये किया जाता है ! जानते हुए भी उसे क्यों छोड़ नहीं दिया जाता ! यह सब विचार करने योग्य है।

ईश्वरज्य जैसी होगी वैसा हो जायगा। विकल्प करनेसे खर होता है और वह तो अवतक उसकी इच्छा होगी तबतक उसी प्रकार प्रवृत्ति करेगा। सम रहना ही योग्य है।

दूसरी तो कुछ भी स्पष्ट नहीं; कोई प्रारम्भरूप स्पष्ट भी नहीं। सत्तात्म्य पूर्वमें उपरिष्ठ की हुई किसी उपाधिरूप स्पष्टाको तो अनुक्रमसे सचेदन करनी ही योग्य है। एक सप्तम-गुम्हारे सप्तमकी स्पष्टा रहा करती है और तो इधमात्रक समाधान हो गया है। इस आश्चर्यरूप बातको क्यों कहनी चाहिये ! आश्चर्य होता है। यह जो देख मिछी है यदि वह पछि कभी भी नहीं मिछी हो तो भविष्यकालमें भी वह प्रसन्न होनेवाली नहीं। जगत्-रूप—वृत्तार्थरूप ऐसे हममें उपाधि-योग देखकर सभी लोग मूढ़ करे, इसमें आश्चर्य नहीं; तथा पूर्वमें जो सत्पुरुषकी परिचाल नहीं हुई, तो वह ऐसे ही योगके कारणसे नहीं हुई। अधिक सिखना नहीं सुझता। नमस्कार पड़िये।

समस्तमय भीरायचन्द्रका यथायोग्य

३१४

बम्बई, आषाढ मसी १९४८

सम-आत्मपदेषु स्थितिसि यथायोग्य

पत्र लिखे हैं। यहाँ उपाधि नामसे प्रारम्भ उदय है।

उपाधिमें निखेपछित होकर प्रवृत्ति करना, यह बात अत्यंत कठिन है; जो खती है वह पोसे ही समझमें परिष्कृत समाधि रूप हो जाती है।

३१५

बम्बई, आषाढ सुदी १९४८

जीवको अपना स्वरूप जाने सिवाय सुठकता नहीं; तबतक यथायोग्य समाधि नहीं। यह जाननेके बिन्ने मुमुक्षुता और ज्ञानीकी पहिचान उत्पन्न होने योग्य है। जो ज्ञानीको यथायोग्यरूपसे पहिचानता है वह ज्ञानी हो जाता है—कमसे ज्ञानी हो जाता है।

आत्मपदेषु स्थितिसि यथायोग्य

जिन यह जिनन के आराधे, वे सहि जिनवर होवे रे;

मुंगी इकीकाने घटकावे, वे मुंगी अग बाध रे।

जिन होकर अर्थात् सांसारिकमात्रसंबंधी आत्ममात्र समाकर जो कार्य जिनमगबान्की अर्थात् कैवल्यज्ञानीकी—बीतलगाकी—आराधना करता है, वह निश्चयसे जिनवर अर्थात् कैवल्यपदसे उठ हो जाता है।

इसके जिन भगवती और उठका प्रत्यक्षसे समझमें आनेवाला स्थिति दिया है।

यहाँ हमें भी उपाधि योग रहता है, यद्यपि अन्य माध्यमें आत्ममात्र उत्पन्न नहीं होता और यही मुख्य समाधि है।

३१६

बम्बई, आषाढ सुदी ४ सुब १९४८

आत्मपदेषु-समस्थितिसि नपस्कार

जिसमें जगत् सोता है उसमें ज्ञानी जागता है—जिसमें ज्ञानी जाता है उसमें जगत् सोता है। जिसमें जगत् जागता है उसमें ज्ञानी सोता है—'वेसा जीहण कहते हैं'।

३१७

बम्बई, आषाढ सुदी ५ १९४८

जगत् और मोक्षका मार्ग ये दोनों एक यही है। जिसे जगत्की इच्छा, इच्छा और मायना है, उस मोक्षकी अनिच्छा अरुणि और समाधना होती है, ऐसा माध्यम होता है।

१ वा निधा सर्व भूताना तस्यां वासोर्हि लब्धः।

अथ वासो भूतानि च निधा पश्यति पुनः ॥ ग. टीका.

प्राप्ता कथे—य निधि लब्धव्यं वैश्वदेवं बोधियत तर्हि अमोहः।

अर्हि पुनः अमोह लब्धः अमु, य निधि मयिनि सुवेरु।

गोनीप्रवेश—अमोहपदार्थ १-४७।

एही अमोहा योग्य वासन आचारानुसारमें भी सिद्धता है।

—अनुवादक

३१८

बम्बई, आषाढ सुदी १० सुब १९४८

(१)

ॐ नमः

निष्काम यथायोग्य

बिन उपायित कर्मोंको भोगते हुए भविष्यमें बहुत समय व्यतीत होगा, वे कर्म यदि तीव्रतासे उत्पन्ने रहकर क्षयको प्राप्त होते हों तो कैसा होने देना योग्य है, ऐसा बहुत वर्षोंका सङ्कल्प है।

बिस्से व्यावहारिक प्रसंगसम्बन्धी चारों तरफसे चिन्ता उत्पन्न हो, ऐसे कारणोंको देखकर भी निर्मयताके आधारित रहना ही योग्य है। मार्ग इसी तरह है।

हालमें हम कुछ विशेष नहीं लिख सकते, इसके बिये क्षमा माँगते हैं।

नागरसुख पायर नब जाणे, बल्लभसुख न कुमारी रे,
अनुभवविण तेम ध्यानवर्ण सुख, कोण जाणे नर नारी रे ?।

मन महिछानुं बहाळा चपरे, बीजां काम करंत रे।

(२)

‘सत्’ एक प्रदेशमर भी दूर नहीं है, परन्तु उसके प्राप्त करनेमें अनंत अतृप्त्य रहा करते हैं और एक एक अंतर्गत झेकके बराबर है। जीवका कर्तव्य यही है कि उस सत्का अप्रमत्ततासे स्मरण, मनन, और निदिध्यासन करनेका अवलंब निश्चय रखे।

(३)

हे राम ! जिस अक्सरपर जो प्राप्त हो जाय उसीमें सतोऽपूर्वक रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है—ऐसा बसिष्ठ कहते थे।

३१९

बम्बई, आषाढ सुदी १० सुब १९४८

मन महिछानुं बहाळा चपरे, बीजां काम करंत रे,

वेम भुतपमें मन रह घरे ज्ञानासेपकर्मंत रे।

जिस पत्रमें मनुकी व्याख्याके विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें परिष्कृत पत्रेका दृष्टान्त लिखा है, जिस पत्रमें “यम नियम सयम आग कियो” इत्यादि काव्य आर्थिक विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें मन आर्थिक निरोध करनेसे शरीर आदि व्यापक उत्पन्न होनेके विषयमें सूचना की है, और इसके बादका एक सामान्य पत्र—ये सब पत्र मिश्र हैं। इस विषयमें मुख्य मस्तिष्कसम्बन्धी इच्छा और पूर्तिका प्रत्यक्ष होना, इस बातके संबंधमें प्रथम वाक्य गौणा है, यह सत्यमें है।

इस प्रश्नके सिवाय आर्थिक पत्रोंका उत्तर लिखनेका अनुक्रममें विचार होते हुए भी हाथमें हम उसे समागममें पहुँचना ही योग्य समझते हैं, क्योंकि यह बता देना हालमें योग्य माध्यम होगा है।

१ जिस प्रकार मानविक क्षेत्रोंके लक्षणोंका पालन नहीं जान सकते और बुद्धिहीन पशुओंका लक्षण नहीं जान सकते। इसी तरह अनुभवके बिना कोई भी नर वा माता व्यावहारिक लक्षण नहीं जान सकते।

३१४

बर्बर, भाषण सूरी १९४८

सम-मात्मप्रद्वन्द्व स्थितिस यथापाम्य

यत्र मित्रे है। यहाँ उपाधि नामसे प्रारम्भ उदय है।

उपाधिमै विश्वरूपिण होकर प्रकृति करता, यह बात व्यक्त कठिन है; जो खती है वह शांति हो समझने परितः समाविरूप हो जाती है।

३१५

बर्बर, भाषण सूरी १९४८

जोवकी अपना स्वल्प जाने सिवाय छुटकारा नहीं; तबतक यथापाम्य समाधि नहीं। वह जलनके विषे मुमुक्षुता और ज्ञानीकी परिचान उत्पन्न होने योग्य है। जो ज्ञानीको यथापाम्यरूपसे परिचानता है वह ज्ञानी हो जाता है—कर्मस ज्ञानी हो जाता है।

आत्मस्थानकीने एक स्वरूप ऐसा कहा है कि—

मिन यह मिनने के आराध, वे सवि मिनवर हावे रे;

भूमी ईश्वरीयान चरफाच, वे भूमी जग जीव रे।

मिन हाकर अर्थात् सांसारिकमात्सर्यकी आत्ममात्र त्यागकर जो कोई जिनमगवान्की अर्थात् वैष्णवप्राणीकी—बीतगकी—आराधना करता है, वह निश्चयस त्रिनवर अर्थात् वैष्णवप्राणसे युक्त हो जाता है।

इसके विषे अमरी और बटका प्रत्यक्षसे समझने आनेवाला चर्चन दिया है।

यहाँ हमें भी उपाधि-योग खड़ा है। यद्यपि अन्य मात्मे आत्ममात्र उत्पन्न नहीं होता; और यही मुख्य समाधि है।

३१६

बर्बर, भाषण सूरी ४ पुष्प १९४८

आत्मप्रद्वन्द्व-समस्थितिस नमस्तस्मै

त्रिसमें जगत् मोटा है उसमें ज्ञानी जगता है—त्रिसमें ज्ञानी जगता है उसमें जगत् छोटा है। त्रिसमें जगत् जगता है उसमें ज्ञानी छोटा है—ऐसा श्रीकृष्ण करते हैं।

३१७

बर्बर, भाषण सूरी ५, १९४८

जगत् और मात्सर्य मार्ग ये दोनों एक नहीं हैं। त्रिस जगत्की इच्छा इति और मात्सर्य है, उस मात्सर्यकी अनिष्टता वरुणि और अभावना होती है, ऐसा मात्सर्य होता है।

१ या निष्ठा सर्व सृष्टिना तस्या अवर्ति संवयी।

कस्या जगति सृष्टिनि ता निष्ठा परको मुनेः ॥ य खीता.

प्रज्ञा करते—आ निष्ठा तपस्वी देविर्वा बोधित तवि कयेत्।

यदि प्रभु कथाएँ तबक कथु, ता निष्ठा मयिनि मुनेर्न ॥

योगीन्द्रोक्त—परमात्मप्रद्वन्द्व १-४७।

इसी भावना योगक वाचन आचार्यपरमै भी मिलता है।

—अनुपादक

३१८

बर्मा, भाषण सुदी १० सुच १९४८

(१)

ॐ नमः

निष्काम यथायोग्य

जिन उपार्जित कर्मोंको योगते हुए भविष्यमें बहुत समय व्यतीत होगा, वे कर्म यदि तीव्रतासे उत्पन्न हुए हों तो वेसा होने देना योग्य है, ऐसा बहुत वर्षोंका सक्त्त है।

जिसे व्यावहारिक प्रसंगसम्बन्धी कारणोंसे चिता उत्पन्न हो, ऐसे कारणोंको देखकर भी निर्भयताके आश्रित रहना ही योग्य है। मार्ग इसी तरह है।

हाउमें हम कुछ विचार नहीं लिख सकते, इसके लिये हमें माँगते हैं।

नागरमुल्ल पामर नब आये, बल्लभमुल्ल न कुमारी रे,
अनुमदविण तेम ध्यानवर्णु सुल, कोण जाये नर नारी रे ?।

मन महिसानु बहाला उपर, बीमा काय करत रे।

(२)

‘सत्’ एक प्रवेशमर भी दूर नहीं है, परन्तु उसके प्राप्त करनेमें जनत अतद्यत रहा करते हैं और एक एक अतद्यत लोकके बराबर है। जीवका कर्त्तव्य यही है कि उस सत्का अप्रमत्ततासे भ्रमण, मनन, और निदिध्यासन करनेका अखण्ड निश्चय रखे।

(३)

हे राम ! जिस अवसरपर जो प्राप्त हो जाय उसीमें सतोपपूर्वक रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ स्नातन धर्म है—ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

३१९

बर्मा, भाषण सुदी १० सुच १९४८

मन महिसानु बहाला उपर, बीमा काय करत रे,

तेम भुवधर्मे मन हह परे झानासेपकरत रे।

जिस पत्रमें मन्त्री व्याख्याके विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें पाँचके पत्रोंका दृष्टान्त लिखा है, जिस पत्रमें “यम नियम संघम आग कियो” श्रृंगार काव्य आदि के विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें मन आदिके निरोध करनेसे शरीर आदि व्याधा उत्पन्न होनेके विषयमें सूचना की है, और इसके बादका एक सामान्य पत्र—ये सब पत्र मिले हैं। इस विषयमें मुख्य मल्लिकार्जुन श्रृंगार और मूर्ति का प्रत्यक्ष होना, इस बातके संबन्धमें प्रधान वाक्य बौद्ध है यह अष्टम है।

इस प्रश्नके सिवाय बाकीके पत्रोंका उत्तर लिखनेका अनुक्रमसे विचार होते हुए भी हाउमें हम उसे समागममें सूचना ही योग्य समझते हैं अर्थात् यह बता देना हाउमें योग्य भाव्य होगा है।

१ जिस प्रकार मन्त्री के लोकोके लोको के समान नहीं जान सकते और कुमारी के लोको के लोको नहीं जान सकते इसी तरह अनुमदके बिना कोई भी नर या नारी ध्यानका मुक्त नहीं जान सकते।

परि कर्म हुआ भी परमार्थसंगी विचार—ग्रन्थ—उत्पन्न हो और यदि उसे छिछकर रख सको तो छिछ रक्तीका विचार योग्य है ।

पूर्वमें आराधना की हुई, जिसका नाम केवल उपाधि है, ऐसी समाधि उदयरूपसे रहती है ।

हाथमें वहाँ बौध्दम, भ्रमण, और मननका साधन किस प्रकार रहता है ?

बानन्दधनजीके दो वाक्य यह आ रहे हैं, उन्हें छिछकर यह पत्र समाप्त करता हूँ ।

ईशविष परस्त्री मन भिसरायी, जिनवर छुण अं गाव र,

दीनबंधुनी मौर मजरबी, आनंदधन पद पावे ही ।

मछिमिन सेवक किम अचगणिय ह ।

मन महिमानु बहास उपरे, बीजा काय करत र ।

३२०

बम्बई, धावण बरी १०, १९४८

मन महिमानु बहास उपरे, बीजा काय करत र,

तेम भुतचर्म मन हव परे, हानाक्षिपकवत र ।

धन धन सासन भीमिनवरसुं ।

जिस प्रकार धारसंगी दूसरे समस्त कार्य करते हुए भी पतिव्रता (महिमा) कीका मन अपने प्रिय भर्तारमें ही जीन रहता है, उसी तरह सम्पत्ति जीनका चित्त ससारमें रहकर समस्त कर्मोंके प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी, वह जानीसे भ्रमण किये हुए उपदेश-धर्ममें ही जीन रहता है ।

समस्त ससारमें ही और पुण्यके स्नेहको ही प्रचल माना गया है; उसमें भी पुण्यके प्रति कीका प्रेम इससे भी किसी प्रकार विशेष प्रचल माना गया है; और इसमें भी पतिके प्रति पतिव्रता कीका स्नेह तो सर्वप्रचल गिना गया है । यह स्नेह ऐसा सर्वप्रचल क्यों माना गया है ? इसके उत्तरमें सिद्धांतकी प्रवक्तृत्वसे दिखानेके लिये इस दृष्टिको देनेवाले सिद्धांतकार कहते हैं कि हम उस स्नेहको सर्वप्रचल इतीहिये मानते हैं कि दूसरे सब धारसंगी (और दूसरे भी) काम करते रहनेपर भी उस पतिव्रता महिमाका चित्त पतिमें ही जीनरूपमें प्रेमरूपसे स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे और इच्छारूपसे रहता है ।

परन्तु सिद्धांतकार कहते हैं कि इस स्नेहका कारण तो संसार प्राप्यही है और यही तो असंसार प्राप्यही करनेके लिये कहनेका धर्म्य है; इसलिये जिसमें वह स्नेह जीनरूपसे प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे और इच्छारूपसे करना योग्य है—जिसमें वह स्नेह असंसार-परिष्करणको प्राप्त करता है—उस उपदेश-धर्मको कहते हैं ।

उस स्नेहको पतिव्रतारूप से मुमुक्षुको जानिसंगी भ्रमणरूप उपदेश आदि धर्ममें उसी प्रकारसे करना योग्य है; और जब जो जीन उसके लिये उसी प्रकारसे आवरण करता है, तब वह 'कदा' नामकी समकितसंगी दृष्टिमें स्थित हो जाता है, ऐसा हम मानते हैं ।

१ इस प्रकार पढ़ा करने समयमें विषय देनेवाले भिनकरका को ध्यानमान करता है वह बीजसंगी कदा दृष्टिमें आनंदते भूपर पदमें पाता है ।

ऐसे व्यक्त मरपूर ये दो पद हैं। पहिला पद भक्तिप्रधान है, परन्तु यदि इस प्रकारसे गृह आश्रयसे जीविका निर्दिष्टासून न हो, तो फिर दूसरा पद ज्ञानप्रधान नैसा भासित होता है, और तुम्हें भी भासित होगा, ऐसा समझकर उस दूसरे पदका उस प्रकारका भास-बोध-होनेके छिये फिरसे पत्रके अन्तमें केवल प्रथमका एक ही पद स्थिरकर प्रथामरूपसे भक्तिको प्रदर्शित किया है।

भक्तिप्रधान दशासे आचरण करनेसे जीवके स्वच्छ आदि दोष सुगमतासे नष्ट हो जाते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषोंका प्रधान भाव्य है।

उस भक्तिमें जिस जीवको अस्य भी निष्काम भक्ति उत्पन्न हो गई हो, तो वह बहुतसे दोषोंसे दूर करनेके छिये योग्य होती है। अन्यज्ञान, अथवा ज्ञानप्रधान-दशा, ये असुगम मार्गकी ओर, स्वच्छ आदि दोषकी ओर, अथवा फलार्थसुखकी भावितकी ओर ले जाते हैं, प्राय करके ऐसा ही होता है उसमें भी इस काष्ठमें तो बहुत काष्ठका जीवनपर्यन्त भी जीवको भक्तिप्रधान-दशाका ही आराधन करना योग्य है। ज्ञानियोने ऐसा ही निश्चय किया माझ्य होता है (हयें ऐसा माझ्य होता है, और ऐसा ही है)।

तुम्हारे हृदयमें जो मूर्खके दर्शन करनेकी इच्छा है, (तुम्हें) उसका प्रतिषेध करनेवाली तुम्हारी प्रारम्भ-रिपति है और उस स्थितिके परिणाम होनेमें अभी देरी है, फिर उस मूर्खको प्रपञ्च-रूपमें तो हाथमें गृहस्थाग्रम है, और विप्रपञ्चमें सन्यस्त-आग्रम है, यह ध्यानका एक दूसरा मुख्य प्रतिषेध है। उस मूर्खसे उस आग्रमस्वरूप पुरुषकी दशा फिर फिरसे उसके वाक्य आदिके अनुसंधानसे विचार करना योग्य है, और यह उसके हृदय-दर्शनसे भी महान् फल है। इस बातको यहाँ सक्षिप्त करनी पड़ती है।

भृंगी ईसीकाने घटकाये, ते भृंगी जग मोवे रे

यह वाक्य परम्परागत है। ऐसा होना किसी तरह संभव है, तथापि उस प्रोफेसरकी गणेषणाके अनुसार यदि मान लें कि ऐसा नहीं होता, तो भी इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि जब दृष्टान्त वैसा प्रमाण उत्पन्न कर सकता है, तो फिर सिद्धान्तका ही अनुसरण अथवा विचार करना चाहिये। प्राय करके इस दृष्टान्तके सबधमें किसीकी ही शका होगी, इसलिये यह दृष्टान्त मान्य है, ऐसा माझ्य होता है। यह लोक-दृष्टिसे भी अनुभवयोग्य है, इसलिये सिद्धान्तमें उसकी प्रवृत्तता समझकर मूल्य पुरुष उस दृष्टान्तको देते आये हैं, और किसी तरह ऐसा होना हम संभव भी मानते हैं। कदाचित् थोड़ी देरके छिये वह दृष्टान्त सिद्ध न हो ऐसा प्रमाणित हो भी जाय, या भी तीनों काष्ठमें निराशा—अर्थात्-सिद्ध बात उसके सिद्धान्त-पदकी तो है ही।

मिनस्वरूप यह मिन आराध, ते सहि मिनबर होब रे

आत्मदयामयी तथा दूसरे सब ज्ञानीपुरुष ऐसा ही कहते हैं। और फिर विनम्रगवान् और ही प्रकारसे कहते हैं कि अनन्तवार विनम्रगवान्की भक्ति करनेपर भी जीवका कल्याण नहीं हुआ। विनम्रगवान्की मर्माणि चकनेवाले भी-पुरुष ऐसा कहते हैं कि वे विनम्रगवान्की आराधना करते हैं, और उन्हींकी आराधना करते आगे हैं, अथवा उनकी आराधना करनेका उपाय करते हैं, फिर भी ऐसा माझ्य नहीं होता कि वे विनम्र हो गये हैं, तीनों काष्ठमें अक्षरान्वय सिद्धान्त तो यही खरित हा जाता है, तो फिर यह बात शंका करने योग्य क्यों नहीं है !

३२१

ॐ

बर्मा, भाषण नदी १९४८

तेम भूतधर्म मन रह धरे, ज्ञानासिपकर्मत रे

निरुद्ध निवार-ज्ञान निरोपस्थित हो गया है, ऐसा 'ज्ञानासिपकर्मत'—आत्म-कल्याणकी इच्छावाला पुरुष ज्ञानिके मुखसे श्रवण किये हुए आत्म-कल्याणका धर्ममें निश्चय परिणामसे मनको धारण करता है—यह ऊपरके पदोंका सामान्य भाव है ।

उस निश्चय परिणामका स्वभाव यहाँ कैसे बतता है, इस बातको पहले ही बता दिया है । यह इसी तरह बतता है कि जिस तरह धरके दूसरे काममें प्रवृत्ति करते हुए भी पतिव्रता कीका मन अपने प्रिय स्वामीमें ही खीन रहता है । इस पदका विशेष अर्थ पहिले लिखा है, उसे स्मरण करके सिद्धांतका ऊपरके पदके साथ उसका अनुसंधान करना योग्य है क्योंकि " मन मयिष्ठम् कदाचन उपरे " यह पद जो है वह केवल इष्टांतक ही है ।

अकण्ठ समर्थ सिद्धांतका प्रतिपादन करते हुए जीवके परिणाममें उस सिद्धांतके ठीक ठीक पैठ जानेके लिये समर्थ इष्टांत ही देना योग्य है, ऐसा मानकर मंपकर्ता इस स्वच्छर अगदमें—ससारमें—मात्र मुख्य, पुरुषके प्रति कबेदा आति भावस्थित जो जीका काम्य-मेम है उसी प्रेमको स्फुरकसे श्रवण किये हुए धर्ममें परिणमित करनेके लिये कहते हैं । उस स्फुरकप्रशय श्रवण किये हुए धर्ममें, अन्य सब पदार्थोंके प्रति जो प्रेम है, उससे उदासीन होकर एक कपसे, एक स्मरणसे, एक श्रेणीसे एक उपयोगसे और एक परिणामसे सर्व वृत्तिमें एतेनाके काम्य-मेमको हटाकर, सुतधर्मरूप करनेका उपदेश किया गया है । इस काम्य-मेमसे भी अकण्ठ गुणविशिष्ट प्रेम कुलके प्रति करना योग्य है, तिर मी इष्टांत इसकी सीमा नहीं बना सका । इस कारण अर्हंतक इष्टांत पहुँच सका, कर्तव्यका प्रेम कहा गया है यहाँ इष्टांत सिद्धांतकी चरम सीमातक नहीं पहुँच सका है ।

जनादि कामसे जीवको संसारकम अनंत परिणति प्राप्त होनेके कारण उसे अर्हंतारकम किसी भी अकण्ठ ज्ञान नहीं है । बहुतसे कारणोंका उपयोग मिलकर उस अर्ह-स्थिके प्रगट होनेका योग यदि उसे मिला भी तो इस विषम संसार-परिणतिके कारण उसे यह अकण्ठता नहीं मिलता । नकतक यह अकण्ठता नहीं मिलता तबतक जीवको निबन्धी प्राप्तिका माल कहना योग्य नहीं; और जबतक इसकी प्राप्ति न हो तबतक जीवका कोई सुख कहना योग्य नहीं है—उसे हु भी कहना ही योग्य है । ऐसा देखकर जिसे कर्णत अनंत कल्याण प्राप्त हुई है, ऐसा आत्म पुरुष, दुःख दूर करनेके जिस मार्गको उसमें जाना है, वह उस मार्गको कहता या कहता है और मरिष्यमें कहैगा । वह मार्ग यही है कि जिसमें जीवका स्वाभाविक रूप प्रगट हुआ है—जिसमें जीवका स्वाभाविक सुख प्रगट हुआ है—ऐसा ज्ञानी पुरुष ही उस अज्ञान-परिणति आर इससे प्राप्त जो दुःख-परिणाम है उससे आत्माको स्वाभाविकरूपसे सदा सकनेके योग्य है—कह सकनेके योग्य है—और वह वचन आत्मके स्वाभाविक ज्ञानपूर्वक ही दाता है, इसलिये वह उस दुःखको दूर कर सकनेमें समर्थ है । इसलिये यदि वह वचन किसी भी प्रकारसे जीवको श्रवण हो उसे अर्हमात्ररूप जानकर उसमें परम प्रेम स्थिति हो तो तत्काळ ही अपना अनुकूलसे आत्मका स्वाभाविक रूप प्रगट हो सकता है ।

३२२

ॐ

बम्बई, धानप नदी १९४८

निरन्तर ही आत्मस्वरूप रहा करता है, जिसमें प्रारम्भोदयके सिवाय दूसरे किसी भी अवकाशका योग नहीं है।

इस उदयमें कभी परमार्थ-भाषा कहनेका योग उदय जाता है, कभी परमार्थ-भाषा सिखनेका योग उदय जाता है, और कभी परमार्थ-भाषा समझानेका योग उदय जाता है। इसमें तो कैय-दशाका योग विशेषतः रहा करता है, और जो कुछ उदयमें नहीं आता उसे हाथमें तो कर सकनेकी असमर्थता ही है। जीवितस्वको केवल उदयाधीन करनेसे—ही जानेसे—विपत्ति शुरू हो गई है। हमारे प्रति, अपने प्रति और दूसरोंके प्रति किसी भी तरहका वैसाविक मात्र प्रायः उचित नहीं होता, और इसी कारण पत्र आदि कार्य करनेका परमार्थ-भाषा-योगसे अवकाश प्राप्त नहीं है, ऐसा किन्ता है, यह ऐसा ही है।

पूर्वोपासित स्वाभाविक उदयके अनुसार देखनी स्थिति है आत्मभावसे उसका अवकाश अत्यन्त अभावपूर्ण है।

उस पुरुषके स्वरूपको जानकर उसकी मूर्तिके सस्मृता महान् फल होता है, जो केवल चित्रपत्रके प्यानसे नहीं मिलता।

जो उस पुरुषके स्वरूपको जानता है, उसे स्वाभाविक अत्यन्त सुख आत्मस्वरूप प्रगट होता है। इसके प्रगट होनेके कारणमूल उस पुरुषको जानकर सब प्रकाशकी अस्मृता—संसार-कामना परित्याग रूप करके—परित्याग करके—सुख मूर्तिके उस पुरुष-स्वरूपका विचार करना योग्य है।

वैसा ऊपर कहा है, चित्रपत्रकी प्रतिमाके दृश्य-दर्शनसे महान् फल होता है—यह वास्तव चित्रपत्रपरिचित समझकर किन्ता है।

मन महिसासुं बहाला उपरे, बीजां काम करंत रे

इस पदके वस्तुतः अर्थको आत्म-परिणामरूप करके उस प्रेम-मूर्तिके संपुरुषमें अव्यक्तस्वसे करना योग्य है, ऐसा सब तीर्थकरने कहा है, कर्तव्यममें कहाते हैं, और मन्त्रियमें भी ऐसा ही कहेंगे।

उस पुरुषसे प्राप्त उसकी आत्मप्रकृति-सुख मायामें, जिसका विचार-ज्ञान निक्षेपस्थित हो गया है, ऐसा पुरुष, उस पुरुषको आत्मकल्याणके लिये जानकर, वह भुव (अव्यक्त) धर्ममें मन (आत्म) को वारण करता है—उस रूपसे परिणाम करता है। वह परिणाम किन्ता तरह करना योग्य है, इस बातको मन महिसासुं बहाला उपरे, बीजां काम करंत रे ' यह उद्यत देकर समर्पण किया है।

ठीक तो इस तरह भट्टा है कि यद्यपि पुरुषके प्रति बीजां काम्य-मेम सत्तारके अन्य मार्गोंकी अपेक्षा शिरोमणि है, फिर भी उस प्रेमसे अगत गुणविशिष्ट प्रेम, संपुरुषसे प्राप्त आत्मरूप भुवधर्ममें ही करना योग्य है, परन्तु इस प्रेमका स्वरूप जहाँ उद्यतको उद्यत कर जाता है, वहाँ बातका अवकाश नहीं है, ऐसा समझकर ही, परिशीलाभूत भुवधर्मके लिये मार्गके प्रति बीजां काम्य-मेमका उद्यत दिया है। यहाँ उद्यत सिद्धांतकी श्रम सीमातक नहीं पहुँचता इसका आगे बाणी पोछेक ही परिणामको पाकर रह जाती है, और आत्म-मूर्तिके ऐसा माहूम होता है।

३२३

कर्म, प्राण कटी ११ गुक १९९८

सुमन्त्र संपन्न मार्ग ०० सामग्री

मित्रकी आत्मस्वरूपमें स्थिति है ऐसा जो उसका निष्काम स्मरणपूर्वक ध्यायोग्य बौध्दता । उस तरफसे “आत्मकत्वं शायिक समकित गही होता” इत्यादि संबंधी व्याख्यानकी धर्माधियमक तुम्हारा विचार हुआ पत्र प्राप्त हुआ है । जो जीव उस उस प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं—उपदेश करते हैं, और उस संबंधमें जीवोंको विशेषरूपसे प्रेरणा करते हैं वे जीव यदि उतनी प्रेरणा—गवेषणा—जीवके कल्याणके नियममें करेंगे तो इस प्रश्नके समाधान इन्हेका उन्हें कभी न कभी अवश्य आसुर मिश्रण । उन जीवोंके प्रति शोच-यदि करना योग्य नहीं है, केवल निष्काम क्रूरतासे ही उन जीवोंको देखना योग्य है । इस संबंधमें किसी प्रकारका चिन्तन केवल उन्मा योग्य नहीं, उस उस प्रसंगपर जीवको उनके प्रति शोच आदि करना योग्य नहीं । कदाचित् उन जीवोंको उपदेश देकर समझानेकी तुम्हें विता होती हो तो भी उसके लिये तुम वर्तमान दशाको देखते हुए तो व्यचार ही हो, इसलिये अनुकंपा-भुक्ति और समता-भुक्ति पूर्वक उन जीवोंके प्रति कुछ परिणामसे देखना, तथा ऐसी ही इच्छा करना अधिक और यही परमार्थ मार्ग है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है ।

हासमें उन्हें जो कर्मसुखी आचरण है, उसे मग करनेके लिये यदि उन्हें स्वयं ही विता उत्पन्न हो तो फिर तुमसे अपना तुम जैसे दूसरे ससंगीके मुखसे, उन्हें कुछ भी आत्मारक्षण करनेकी उक्त-वृत्ति उत्पन्न हो; तथा किसी आत्मस्वरूप स्वरूपके सयमसे मार्गकी प्राप्ति हो परन्तु ऐसी विता उत्पन्न होनेका यदि उनका पक्ष साधन भी हो तो हासमें वे ऐसी चेष्टापूर्वक आचरण न करें । और अकस्मात् उस उस प्रकारकी जीवकी चेष्टा खाती है तबतक तीर्थकर जैसे इानी-मुस्यका वाक्य भी उसके लिये निष्काम होता है तो फिर तुम लोगोंने वाक्य निष्काम हों और उन्हें यह क्लेशरूप मात्स्य पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं । ऐसा समझकर ऊपर प्रदर्शित की हुई अंतरंग माननासे उनके प्रति कठिनाई करना और किसी प्रकारसे भी जिससे उन्हें तुम्हारेसे क्लेशका कम कारण उपस्थित हो ऐसा विचार करना, यह मार्गमें योग्य गिना गया है ।

फिर, एक दूसरा अवरोध कर देना भी स्पष्टरूपसे सिक्कने योग्य मात्स्य होता है, इनलिये सिक्के दते हैं । यह यह है कि हममें पहिले तुम लोगोंने कहा था कि जैसे बने जैसे हमारे संबंधमें दूसरे जीवोंसे कम ही बात करण । इस अनुक्रममें चम्बेका कुछ यदि विस्तृत हो गया हो तो जब तिरसे स्मरण रक्कना । हमारे संबंधमें और हमारे द्वारा कहे गये अपना सिक्के गये वाक्योंके संबंधमें ऐसा करना योग्य है और हासमें इसके कारणोंको तुम्हें स्पष्ट बता देना योग्य नहीं । परन्तु यदि यह कुछ अनुक्रमसे अनुसरण करनेमें विस्तृत होता है तो यह दूसरे जीवोंको क्लेश आदिका कारण होता है यह भी अब 'शायिककी चर्चा' इत्यादिके संबंधसे तुम्हारे अनुभवमें आ गया है । इसका परिणाम यह होता है कि जो कारण जीवको प्राप्त होतसे कल्याणके कारण हों, उन जीवोंको उन कारणोंकी प्राप्ति हो गमने होती हुई एक जाती है । क्योंकि वे तो अपनी अज्ञानतासे जिसकी परिणाम नहीं हुई ऐसे स्वरूपके संबंधमें तुम लोगोंसे जानी हुई बातसे उस स्वरूपके प्रति निमुक्त होती हैं उसके नियममें आत्मस्वरूप

दूसरी-दूसरी चेष्टाये कल्पित कर लेते हैं, और फिरसे ऐसा संयोग मिश्रणपर वैसी विमुखता प्राय करके और वञ्चन हो जाती है। ऐसा न होने देनेका छिये, और इस मन्त्रमें यदि उन्हें ऐसा संयोग अज्ञानपनेसे मिश्र भी जाय तो वे कदाचित् भयको प्राप्त कर सकेंगे, ऐसी धारणा रखकर, अंतराममें ऐसे संपुरुषको प्रगट रखकर वाद्यारूपसे गुप्त रखना ही अधिक योग्य है। यह गुप्तपना कुछ माया-कपट नहीं है, क्योंकि इस तरह बताना करना माया-कपटका हेतु नहीं है, यह भविष्य-कल्याणका ही हेतु है। यदि ऐसा हो तो यह माया-कपट नहीं होता, ऐसा मानते हैं।

जिसे दर्शनमोहनीय उदयमें वञ्चनारूपसे है, ऐसे जीवको अपनेद्वारा किसी प्रकार संपुरुष आदिके विषयमें अज्ञापूर्वक बोलनेका अवसर प्राप्त न हो, इतना उपयोग रखकर बचना, यह उसका और उपयोग रखनेवाले दोनोंके कल्याणका कारण है।

ज्ञानी पुरुषके नियममें अज्ञापूर्वक बोलना, तथा इस प्रकारके प्रसंगमें उत्साही होना, यह जीवके जनत संसारके बन्नेका कारण है ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उत्साही होना, और उसकी आज्ञामें सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिपूर्वक रहना, इसे तीर्थंकर जनत संसारका नाश करनेवाला कहते हैं और ये वाक्य विनाशमें हैं। बहुतसे जीव इन वाक्योंको प्रवण करते हैंगे, फिर भी जिन्होंने प्रथम वाक्यको निष्कल आर दूसरे वाक्यको सफल किया हो, ऐसे जीव तो क्वचित् ही दखनेमें आते हैं। जीवने जनतसार प्रथम वाक्यको सफल और दूसरे वाक्यको निष्कल किया है। उस तरहके परिणाममें आनेमें उसे बिल्कुल भी समय नहीं लगता, क्योंकि अनादि काळसे उसकी आशामें मोह नामकी मदिरा व्याप्त हो रही है; इसलिये बारम्बार विचारकर धैरे धैरे प्रसंगमें पयाशक्ति, यथावत् और तीर्थपूर्वक ऊपर कहे अनुसार आचरण करना योग्य है।

कदाचित् ऐसा मान लो कि 'इस काळमें क्षायिक समकित नहीं होता,' ऐसा जिन आशामें स्पष्ट दिखा है। अब उस जीवको विचार करना योग्य है कि 'क्षायिक समकितका क्या अर्थ होता है?' जिसके एक नवकारमत्र जितना भी मत प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी यह जीव अधिकसे अधिक तीन मन्त्रमें और नहीं तो उसी मन्त्रमें परम पदको प्राप्त करता है, ऐसी मन्त्र आकर्ष्य करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है फिर अब ऐसी यह कौनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे क्षायिक समकित कहा जाय ? 'यदि तीर्थंकर भगवान्की यह व्रदा 'का नाम क्षायिक समकित मानें तो उस व्रदाको कैसी समझनी चाहिये ? और वो व्रदा हम समझते हैं वह तो निश्चयसे इस काळमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मान्न नहीं होता कि अमुक दशा अथवा अमुक व्रदाको क्षायिक समकित कहा है, तो फिर हम कहते हैं कि विनाशमके शब्दोंका केवल यही अर्थ हुआ कि क्षायिक समकित होता ही नहीं। अब यदि ऐसा समझो कि ये शब्द किसी दूसरे आशामें कहे गये हैं, अथवा किसी पीछेके काळमें निःसर्जन दोषसे लिख दिये गये हैं तो जिस जीवने इस नियममें आप्रपूर्वक प्रतिपादन किया हो, यह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा, यह सबे कल्याणपूर्वक विचारना योग्य है।

हममें जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे कहा जाता है, उन सूत्रोंमें 'क्षायिक समकित नहीं है' ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है, तथा परम्परागत और दूसरे भी बहुतसे सूत्रोंमें यह बात बची जाती है. ऐसा हमने

प्रा है, और सुना भी है और यह वाक्य मिथ्या है अपना युवा है, ऐसा हमारा अभिप्राय : तथा वह वाक्य जिस प्रकारसे सिद्धा है वह एकतरफ़से ही सिद्धा है, ऐसा भी हमें नहीं। कदाचित् ऐसा समझो कि वह वाक्य एकतरफ़से ऐसा ही हो तो भी किसी भी प्रकारसे व्यापक योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको स्वरूपके आधारपूर्वक नहीं जाना तो व्याख्याएँ ही सफल नहीं हैं। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें, विनाशायमें सिद्धा हो कि कालकी तरह पौषमें काळमें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष होगा, तो इस बातका अर्थ करना कोई और हमारे लिये सम्भवागकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता, जिस दशामें वह मोक्ष-प्राप्ति नहीं है, उसी दशाकी प्राप्ति ही इष्ट है, उपयोगी है, और सम्भवाग्य अर्थ करना तो एक बात मात्र है, इसी तरह इससे प्रसिद्ध वाक्य भी मात्र एक बात ही दोनों ही बातें सिद्धी हों, अथवा कोई एक ही सिद्धी हो, अथवा दोनोंमेंसे एक भी बात न। कार्य भी व्यवस्था न बताई गई है, तो भी वह बंध अथवा मोक्षका कारण नहीं है।

केवल वह दशा ही बंध है, और मोक्ष दशा ही मोक्ष है, क्षांतिक दशा ही क्षांतिक है दशा ही अर्थ है जो अर्थ है वह अर्थ है, जो मन है वह मन है जो परिमाण है वह है, जो प्राप्ति है वह प्राप्ति है—ऐसा स्वरूपका निश्चय है। जो बंध है वह मोक्ष नहीं है, वह है वह बंध नहीं है, जो जो है वह नहीं है, जो जिस स्थितिमें है वह उसी स्थितिमें है। जिस बंध-मुक्ति हर रूप विना मोक्ष—जीवमुक्ति—मानना कार्यकारी नहीं है उसी तरह अस्वात्मिक क्षांतिक मानना भी कार्यकारी नहीं है। केवल मागनेका फल नहीं, फल केवल दशाका ही है।

अब यह बात है तो फिर अब अपनी अन्तर्मा हममें कौनसी दशामें है, और उस समझती जीवकी दशाका विचार करने योग्य है या नहीं, अथवा उससे उतरती हुई अथवा उससे हुई दशाको विचारको जीव वपार्थरूपसे कर सकता है अथवा नहीं। इसका विचार करना जीवको है। परन्तु अनंतकाल बीत गया फिर भी जीवने ऐसा विचार नहीं किया। उसे ऐसा विचार योग्य है ऐसा उसे मांशित भी नहीं हुआ, और वह जीव अनंतवार निष्कृष्टतासे सिद्ध-प्राप्तक तैयार कर चुका है ऊपर फले हुए उस अर्थको उसने बिना विचारे ही किया है—विचारपूर्वक विचारसे नहीं किया। जिस प्रकार जीवने पूर्वमें यथार्थ विचारके बिना ही ऐसा किया है उस वह उस दशा (यथार्थ विचारदशा) के बिना वर्तमानमें ऐसा करता है, और जबतक जीवको इसके कथक मान नहीं होगा तबतक वह मस्तिष्कमें भी इसी तरह प्रवृत्ति करता रहेगा। किसी भी महापुरुषके योगका त्याग करनेसे तथा जैसे मिथ्या उपदेशपर चरनेसे जीवका मोक्ष-बन्ध बन्ध प्राप्त हो गया है ऐसा जानकर इस नियममें सामंजस्य होकर यदि वह निराकरण होनेका करेगा तो वह कैसा उपदेश करनेसे दूसरेको प्रेरणा करनेसे और आश्रयपूर्वक बोझनेसे इतक अधिक क्या करे? एक अक्षर बोझने हुए भी अतिशय अतिशय प्रेरणासे भी बाणी मीनको ही होगी। और उस मीनको प्राप्त होनेके पक्षों ही जीवसे एक अक्षरका स्वयं बोझ जाना भी है; यह बात किसी भी प्रकारसे तीनों काळमें संदेह करने योग्य नहीं है।

तीर्थकरन भी ऐसा ही कहा है, और यह हाथमें उसके आगममें भी है, ऐसा बात है। कदाचित् यदि ऐसे कहा हुआ कार्य आगममें नहीं भी हो, तो भी जो शब्द ऊपर कहे हैं वे आगम ही हैं— निनगम ही हैं। ये शब्द राम, द्वेष और अज्ञान इन तीनों कारणोंसे रहित, प्रगटरूपसे लिखे गये हैं, इच्छिये सेवनीय हैं।

घोषसे वाक्योंमें ही लिख बाछनेके लिये विचार किया हुआ यह पत्र विस्तृत हो गया है, और यद्यपि यह बहुत ही संक्षेपमें लिखा है, फिर भी बहुत प्रकारसे अपूर्ण स्थितिसे यह पत्र जब समाप्त करना पड़ता है।

तुम्हें तथा तुम्हारे जैसे दूसरे जिन जिन भाईयोका तुम्हें समागम है उन्हें, उस प्रकारके प्रसंगमें इस पत्रके प्रथम भागको विशेषरूपसे स्मरणमें रखना योग्य है, और बाकीका दूसरा भाग तुम्हें और दूसरे अन्य मुमुक्षु जीवोंको धारम्भार विचारना योग्य है। यहाँ समाधि है। “प्रारम्भदेही”

३२४ बम्बई, भावण वदी १४ रमि १९४८

ॐ

स्वस्ति श्रीसायम्भ प्रायश्चामस्याने स्थित, परमार्थके जगद निधयी, निष्कामस्वरूप (...) के धारम्भार स्मरणरूप, मुमुक्षु पुरुषोंसे अनन्य प्रेमसे सेवन करने योग्य, परम सूरज, और शान्तमूर्ति ऐसे श्री ‘सुभाष्य’ के प्रति श्री “मोहमयी” स्थानसे निष्कामस्वरूप ऐसे स्मरणरूप स्फुररूपका कियपूर्वक यथायोग्य पहुँचे।

जिसमें प्रेम-मार्ति प्रधान निष्कामरूपसे लिखी है ऐसे तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्र अनुक्रमसे प्राप्त हुए हैं। आगमाकार-स्थिति और उपाधि-योगरूप कारणसे केवल इन पत्रोंकी पहुँच मात्र लिख सका हूँ।

यहाँ मार्त रेवास्तकरकी छापीरिक स्थिति यथायोग्य न रहनेसे, और व्यवहारसंबन्धी काम कामके बड़ जानेसे उपाधि-योग भी विशेष रहता आया है, और रहा करता है इस कारण इस बीमारोंमें बाहर निकलना अशक्य हो गया है; और इसके कारण तुम्हारा निष्काम समागम प्राप्त नहीं हो सका, और फिर दिवालीके पछि उस प्रकारका उपयोग प्राप्त होना समझ भी नहीं है।

तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्रोंमें जीव आत्मा स्वभाव और परमात्मेके बहुतसे प्राप्त लिखे हुए आते थे इसी कारणसे उनका भी प्रशुचर नहीं लिखा जा सका। इस बीचमें दूसरे भी जिज्ञासुओंके बहुतसे पत्र मिले हैं, प्राप्त करके इसी कारणसे ही उनका भी उत्तर नहीं लिखा जा सका।

हाथमें जो उपाधि-योग रहता है, यदि उस योगके प्रतिबंधके त्यागनेका विचार करें तो त्याग हो सकता है तथापि उस उपाधि-योगके सहन करनेसे जिस प्रारम्भकी निवृत्ति होती है, उसे उसी प्रकारसे सहन करनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये इसी योगसे उस प्रारम्भका निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और ऐसी ही स्थिति है।

हाथोंमें इस कष्टको कम करनेके योग्य कहा है और इस प्रकारसे कम करनेका भी करता है। मुद्रयरूपसे यह भीगता परमार्थसंबन्धी भीगता भी कही है। जिस कायमें अल्पता कठिनायसे परमार्थकी प्राप्ति हो, उस कायको दुःख काय कहना चाहिये। यद्यपि जिससे सर्वकायमें

परमार्थकी प्राप्ति होती है ऐसे पुरुषोंका समोग दुर्धर्म ही है, परन्तु ऐसे काश्र्म तो यह अत्यंत ही दुर्धर्म हो रहा है। जीवोंकी परमार्थवृत्ति क्षीण होती जा रही है, इस कारण उसके प्रति ज्ञानी पुरुषोंके उपेक्षक दृष्ट कर्म होता जाता है, और इससे परम्परसे वह उपदेश भी क्षीण होता जा रहा है—
अर्थात् अब कर्म कर्मसे परमार्थ-मार्गके सम्बन्ध होनेका काळ आ रहा है।

इस काश्र्म, और उसमें भी जाग्रत सगमना सौ वर्षोंसे मनुष्योंकी परमार्थवृत्ति बहुत घीम हो गई है, और यह बात प्रत्यक्ष है। स्वहवान्दस्वामीके समयतक मनुष्योंमें जो सख वृत्ति थी, उसमें और बावकी सख वृत्तिमें महान् क्तर हो गया है। उस समयतक मनुष्योंकी वृत्तिमें कुछ कुछ अव्यक्तारिज, परमार्थकी इच्छा, और तत्सर्वशी निश्चयमें रहता—ये बातें जैसी थीं वैसी जाब नहीं रही हैं। इस कारण ज्ञान तो बहुत ही क्षीणता आ गई है। यद्यपि अभी इस काश्र्ममें परमार्थवृत्तिका सर्वथा सम्बन्ध नहीं हुआ, तथा मूर्ख भी सपुष्पोंसे रहित नहीं हुई है, तो भी यह काळ उस-काश्र्मकी अपेक्षा अविक नियम है—बहुत विषम है—ऐसा मानते हैं।

इस प्रकारका काळका स्वरूप देखकर हृदयमें अलङ्कृतसे महान् अनुकंपा आ करती है। किसी भी प्रकारसे जीवोंकी अत्यंत दुःखकी निवृत्तिका उपाय जो सर्वोत्तम परमार्थ, यदि उस परमार्थसम्बन्धी वृत्ति कुछ बढ़ती जाती हो, तो ही उसे सपुष्पकी पहिचान होती है, नहीं तो नहीं होती। वह वृत्ति किरसे आवित हो, और किसी भी जीवोंका—बहुतसे जीवोंका—परमार्थसम्बन्धी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकंपा अलङ्कृतसे आ करती है तो भी ऐसा होना हम बहुत दुर्धर्म मानते हैं, और उसके कारण भी ऊपर बता दिये हैं।

जिस पुरुषका भीये काश्र्ममें मिलना दुर्धर्म था, ऐसे पुरुषका समोग इस काश्र्ममें हुआ है, परन्तु जीवोंकी परमार्थसम्बन्धी चिन्ता अत्यंत क्षीण हो गयी है; अर्थात् उस पुरुषकी पहिचान होना अत्यंत कठिन है। उसमें भी गृहवास आदिके प्रसंगमें उस पुरुषकी स्थिति देखकर तो जीवोंकी प्रतीति आना और भी दुर्धर्म है—अत्यंत ही दुर्धर्म है और यदि कदाचित् प्रतीति आ भी गई तो दुर्धर्म जो उसका प्रारम्भका कर्म रहता है उसे देखकर उसका निश्चय रहना दुर्धर्म है और यदि कदाचित् उसका निश्चय भी हो जाय तो भी उसका ससग रहना दुर्धर्म है; और परमार्थका जो मुख्य कारण है वह तो यही है; उसे ऐसी स्थितिमें देखकर ऊपर बताये हुए कारणोंकी अविक अवबलम्बसे देखते हैं, और यह बात देखकर फिर किरसे अनुकंपा उत्पन्न हो जाती है।

ईश्वरप्रभसे जिस किसी जीवका भी कर्मकाय वर्तमानमें होगा होगा वह तो उसी तरह होगा, और हम इस विषयमें ऐसा भी मानते हैं कि वह दूसरेसे नहीं परन्तु हमसे ही होगा। परन्तु हम ऐसा मानते हैं कि जैसी हमारी अनुकंपासुख इच्छा है, जिससे जीवोंको वैसा परमार्थ-निश्चार और परमार्थ-प्राप्ति हो सके वैसा समोग हमें किसी प्रकारसे कर्म ही हुआ है। हम ऐसा मानते हैं कि यदि यह देह गंगा यमुना आदिके प्रसंगमें अपना गृहवास देशमें उत्पन्न हुई होती—वहाँ इक्षिगत हुई होती तो यह एक कल्याण कारण होता। तथा हम ऐसा मानते हैं कि यदि प्रारम्भमें गृहवास बाकी न होता और ब्रह्मचर्य या वनवास होता तो यह भी एक दूसरा कल्याण कारण होता। कदाचित् गृहवास बाकी होता और उपाधि

योगरूप प्रारम्भ न होता, तो वह परमार्थका सीसरा बख़्तान कारण होता, ऐसा मानते हैं। पड़िये कड़े हुए दो कारण तो हो चुके हैं, इसलिये अब उनका निवारण नहीं हो सकता, फिर भी अभी ऐसा होना बाकी है कि सीसरा उपाधि-योगरूप प्रारम्भ क्षीप्रतासे निवृत्त हो—उसका निष्काम करुणा पूर्वक वेग्न हो। किन्तु यह विचार भी अभी योग्य स्थितिमें है, अर्थात् ऐसी ही इच्छा रहती है कि उस प्रारम्भका सहजमें ही प्रतीकार हो जाय, अथवा उस प्रकारका उदय विशेष उदयमें आकर घोड़े की कान्धमें समाप्त हो जाय, तो ही बसी निष्काम करुणा रह सकती है। और इन दो प्रकारोंमें तो हाथमें उदासीनतासे अर्थात् सामान्यरूपसे ही रहना है, ऐसी आत्म-मात्रना है और इस सबबमें बारम्बार महान् विचार रखा करता है।

जबतक उपाधि-योग समाप्त नहीं होता तबतक किस प्रकारके सम्प्रदायपूर्वक परमार्थ कहना, यह मौनरूपसे और अविचार अथवा निर्निचारमें ही रहना है—अर्थात् हाथमें यह विचार करनेके विषयमें उत्पन्न भाव रहता है।

आत्मकार स्थिति हो जानेसे प्राप्त करके चित्त एक अंश भी उपाधि-योगका वेग्न करने योग्य नहीं है, फिर भी यह तो जिस प्रकारसे सहज करनेको मिले उसी प्रकारसे सहज करना है, इसलिये उत्तम समाधि है। परन्तु किन्हीं जीवोंसे परमार्थसंबन्धी प्रसंग पड़ता है, तो उन्हें उस उपाधि-योगके कारण हमारी अनुकंपाके अनुसार काम नहीं मिलता, और तुम्हारी किसी हुई जो कुछ परमार्थसंबन्धी बात आती है वह भी चित्तमें मुक्तिजैसे ही प्रवेश हो पाती है, क्योंकि हाथमें उसका उत्पन्न नहीं है। इस कारण पत्र आदिके प्रसंगसे भी तुम्हारे सिन्धाय दूसरे सुमुमुक्षु जीवोंको इच्छित अनुकंपासे परमार्थवृत्ति नहीं दी जा सकती, यह बात भी चित्तको बहुत बार सगा करती है।

चित्तके वचनयुक्त न हो सकनेके कारण, जो जीव सत्सारके सबबमें भी आदिकरूपसे प्राप्त हुए हैं, उन जीवोंकी इच्छाको भी क्लेशित करनेकी नहीं होती, अर्थात् उसे भी अनुकंपासे, और मैं आप आनिके उपकार आदि क्षरणोंसे उपाधि-योगका बख़्तान रीतिसे सहज करते हैं। और जिस जिसकी जो क्षमता है उस उस प्रारम्भक उदयमें जिस प्रकारसे वह क्षमता प्राप्त होती है, जबतक वह उस प्रकारसे न हो, तबतक निवृत्ति ग्रहण करते हुए भी जीव उदासीन ही रहता है। इसमें किसी प्रकारकी हमारी क्षमता नहीं है, हम तो इस सबमें निष्काम ही हैं, फिर भी उस प्रकारके वचन रचनेरूप प्रारम्भ उदयमें रहता है। इसे भी दूसरे सुमुमुक्षु परमार्थवृत्ति उत्पन्न करनेमें हम विनम्र समझते हैं।

जबसे तुम हमें मिले हो तभीसे यह बात—जो ऊपर अनुक्रमसे लिखी है—सहजकी इच्छा थी, परन्तु उस उस प्रकारसे उसका उदय नहीं था, इसलिये ऐसा नहीं बना अब यह उत्पन्न बताने योग्य था इसलिये इसे संक्षेपमें कह दिया है, इसे तुम्हें बारम्बार विचारनेके लिये लिखा है। इसमें बहुत विचार करके सूक्ष्मरूपसे हृदयमें धारण करने योग्य बात लिखी है। तुम और गोशालाजीके सिन्धाय इस पत्रके समाचार जानने योग्य दूसरे जीव हाथमें तुम्हारे पास नहीं हैं, इतनी बात स्मरण रखनेक लिये ही लिखी है। किसी बातमें, चाहे कि सक्षिप्त होनेक कारण, यदि कुछ ऐसा माइन दे कि अभी हमें किसी प्रकारकी संसार-सुख-वृत्ति बाकी है, तो उस अर्थको निरसे विचारना योग्य है। यह निश्चय

परमार्थकी प्राप्ति होती है ऐसे पुरुषोंका संयोग दुर्लभ ही है, परन्तु ऐसे कालमें तो यह अत्यंत ही दुर्लभ हो रहा है। जीवोंकी परमार्थवृत्ति क्षीण होती जा रही है, इस कारण उसके प्रति ज्ञानी पुरुषोंके उपदेशका बड़ा कम होता जाता है, और इससे परम्परासे वह उपदेश भी क्षीण होता जा रहा है—अर्थात् अब कम कमसे परमार्थ-मार्गके व्यवस्थापन होनेका काल जा रहा है।

इस कालमें, और उसमें भी आबकाल लगभग सौ वर्षोंसे मनुष्योंकी परमार्थवृत्ति बहुत क्षीण हो गई है और यह बात प्रत्यक्ष है। सहाजालक्ष्यात्मिके समस्तक मनुष्योंमें जो सरल वृत्ति थी, उसमें और बाबकी सरल वृत्तिमें यज्ञान् अन्तर हो गया है। उस समस्तक मनुष्योंकी वृत्तिमें कुछ कुछ अज्ञानाकारित्व, परमार्थकी इच्छा, और लक्ष्यकी निश्चयमें दृढ़ता—य बाते मैसी थी मैसी आज नहीं रही है; इस कारण आज तो बहुत ही क्षीणता जा गई है। यद्यपि अभी इस कालमें परमार्थवृत्तिका सर्वथा व्यवच्छेद नहीं हुआ, तथा भूमि भी संपुरुषोंसे उचित नहीं हुई है, तो भी यह काल उस-कालकी अपेक्षा अधिक विषम है—बहुत विषम है—ऐसा मानते हैं।

इस प्रकारका कालका स्वरूप देखकर हृदयमें अस्वस्थता महान् अनुकंपा रहा करती है। किसी भी प्रकारसे जीवोंकी अत्यंत दुःखकी मित्रवृत्तिका उत्पत्ति जो सर्वोत्तम परमार्थ, यदि उस परमार्थसंबन्धी वृत्ति कुछ बढ़ती जाती हो तो ही उसे संपुरुषकी पहिचान होती है नहीं तो नहीं होती। वह वृत्ति फिरसे जीवित हो, और किसी भी जीवोंको—बहुतसे जीवोंको—परमार्थसंबन्धी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकंपा सर्वव्यापकसे रहा करती है; तो भी ऐसा होना हम बहुत दुर्लभ मानते हैं, और उसके कारण भी ऊपर बता दिये हैं।

त्रिस पुरुषका चौथे कालमें मिथ्या दुर्लभ या ऐसे पुरुषका संयोग इस कालमें हुआ है, परन्तु जीवोंकी परमार्थसंबन्धी चिन्ता अत्यंत क्षीण हो गयी है अर्थात् उस पुरुषकी पहिचान होना अत्यंत कठिन है। उसमें भी गृहवास आदिके प्रसंगमें उस पुरुषकी स्थिति देखकर तो जीवोंकी प्रतीति आता और भी दुर्लभ है—अत्यंत ही दुर्लभ है; और यदि कदाचित् प्रतीति आ भी गई तो हाथमें जो उसका प्रारम्भका क्रम रहता है उसे देखकर उसका निश्चय रहना दुर्लभ है और यदि कदाचित् उसका निश्चय भी हो जाय तो भी उसका संलग्न रहना दुर्लभ है और परमार्थका जो मुख्य कारण है वह तो नहीं है; उसे ऐसी स्थितिमें देखकर ऊपर बताये हुए कारणोंको अधिक बजालक्ष्यसे लेते हैं, और यह बात देखकर फिर फिरसे अनुकंपा उत्पन्न हो जाती है।

ईश्वरप्राप्ति त्रिस किसी जीवका भी कल्याण वर्तमानमें होना होगा वह तो उचित तथ्य होगा, और हम हम नियममें ऐसा भी मानते हैं कि वह हमसे नहीं परन्तु हमसे ही होगा। परन्तु हम ऐसा मानते हैं कि किसी हमारी अनुकंपासुख इच्छा है, जिससे जीवोंको केना परमार्थ-विचार और परमार्थ-प्राप्ति हो सके, केना संयोग हमें किसी प्रकारसे कम हो हुआ है। हम ऐसा मानते हैं कि यदि वह देह गंगा यमुना आदिके प्रदेशमें तथा गृहवास देशमें उत्पन्न हुई होनी—वही वृद्धिगत हुई होनी तो यह एक अच्छा कारण होगा। तथा हम ऐसा मानते हैं कि यदि प्रारम्भमें गृहवास बाकी न होता और महावर्ष या बज्रवास होता तो यह भी एक गुण बज्रवास कारण होगा। कदाचित् गृहवास बाकी होता और उपाधि

एक क्षणमरक छिये भी इस ससर्गमें रहना अच्छा नहीं लगता, ऐसा होनेपर भी बहुत समयसे इसे सेवन किया चले आते हैं, और अभी जमुक काष्ठतक सेवन करनेका निचार रसना पड़ा है, और तुम्हें भी यही अनुरोध कर देना योग्य समझा है। जैसे बने सैसे विनय आदि साधनसे सफ़्त होकर ससर्ग, सदाकाम्यास, और आत्मविचारमें प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

एक समयके छिये भी प्रमाण करनेकी तीर्थकरनेकी जाहा नहीं है।

३२६

बम्बई मासिक सुदी १९४८

जिस पुरुषका द्रव्यसे, क्षेत्रसे, काष्ठसे और मांससे किसी भी प्रकारकी प्रतिबद्धता नहीं रहती, वह पुरुष नमन करने योग्य है, कीर्तन करने योग्य है, परम प्रेमपूर्वक गुणगान करने योग्य है, और फिर किरसे विशिष्ट आत्मपरिणामसे ध्यान करने योग्य है।

आपके बहुतसे पत्र मिले हैं। उपाधि उपयोग इस प्रकारसे रहता है कि उसकी विद्यमानतामें पत्र छिन्नेने योग्य अवकाश नहीं रहता, अथवा उस उपाधिको उन्मूलक समझकर मुन्मूलकसे आराधना करते हुए, तब जैसे पुरुषको भी जानबूझकर पत्र नहीं छिन्ना; इसके छिये क्षमा करें।

अबसे बिचमें हम उपाधि-योगकी आराधना कर रहे हैं, उस समयसे जैसा मुक्तमात्र रहता है, वैसा मुक्तमात्र अनुपाधि-प्रसंगमें भी नहीं रहता था, ऐसी निश्चल दृष्टि भगसिर सुदी ६ से एकचारसे चली आ रही है।

३२७

बम्बई मासिक सुदी १ मीम १९४८

ॐस्तु

तुम्हारा वैराग्य आदि निचारोंसे पूर्ण एक सविस्तर पत्र कठिन तीन दिन पहले मिला था। जीवको वैराग्य उत्पन्न होना, इसे हम एक महान् गुण मानते हैं। और इसका साधन शम, दम, विवेक आदि साधनोंका अनुक्रमसे उत्पन्न होनेका योग मिले तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुखम है। जाती है, ऐसा मानते हैं। (अगरकी ध्यानमें जो योग शास्त्र लिखा है उसका अथ प्रसंग अथवा ससर्ग करना चाहिये)।

अनत काष्ठस जीव ससर्गमें परिभ्रमण कर रहा है, और इस परिभ्रमणमें इसने अनंत तप, जप, वैराग्य आदि साधन किये मात्रम होते हैं फिर भी जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका है। ऐसा मात्रम नहीं होता। ऐसे तप, जप, अथवा वैराग्य, अथवा क्रूरे साधन केवल संसारका ही रूप हैं; ऐसा जो हुआ है वह किस कारणसे हुआ? यह बात फिर किरसे विचारन योग्य है। (यहाँपर किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन सब निश्चल हैं, ऐसा कहनका अभिप्राय नहीं है, परन्तु ये जो निश्चल हुए हैं, उसका क्या हेतु होगा, यह विचार करनेके छिये यह लिखा गया है।) जिससे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है, उसे जीवको वैराग्य आदि साधन तो निश्चयसे होते ही हैं)।

हे कि लोगों का हमें हमारे सबमें यह माध्य होना कल्पित ही समझना चाहिये, अर्थात् ससार-सुख-दुःखसे हमें निरन्तर उदरभ्रम भाव ही रहता है। ये वास्तव यह समझकर नहीं जिसे कि तुम्हारा हमारे प्रति कुछ कम निश्चय है, अपवा यदि होगा तो वह निश्चित हो जायगा इन्हें किसी दूसरे ही हेतुसे सिद्धा है।

अतएव किसी भी प्रकारसे जिसकी किसी भी जीवके प्रति मेरा दृष्टि नहीं, ऐसे भी निश्चय अहमस्वकर्मका समतकार पड़िये।

“ उन्मासीन ” शब्दका अर्थ सम भाव है।

३२५

बम्बई, आग्रा १९४८

मुमुक्षुजन यदि स्वर्गमें हों तो वे निरन्तर उच्छासित परिणाममें रहकर अल्प कालमें ही आत्म-साधन कर सकते हैं, यह बात यथार्थ है। तथा स्वर्गक अवस्थामें सम परिणति रहना कठिन है; फिर भी ऐसे करनेमें ही आत्म-साधन रहता है, इसलिये चाहे जैसे मिथ्या निमित्तमें भी जिस प्रकारसे सम परिणति आ सके उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यदि इानीके आश्रयमें ही निरन्तर बाध हो तो घबरे ही साधनसे भी सम परिणति आती है, इसमें तो कोई भी विचार नहीं। परन्तु अब पूर्वकर्मके बधनसे अनुकूल न आनेवाले निमित्तमें रहना होता है, उस समय चाहे किसी भी तरह, जिससे उसके प्रति हेतुबद्ध परिणाम रहे, ऐसे प्रवृत्ति करना ही हमारी दृष्टि है, और यही शिक्षा भी है।

वे जिस तरह संसृष्टके योग्य उच्चारण भी न कर सकें उस तरह यदि तुमसे प्रवृत्ति करना बन सकता हो तो कष्ट सहकर भी उस तरह आचरण करना योग्य है। हाथमें हमारी तुम्हें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि जिससे तुम्हें उनसे बहुत तरहसे प्रतिकूल बचना पड़े। यदि किसी बात में वे तुम्हें बहुत प्रतिकूल समझते हों तो वह जीवका अनादिका बन्ध्यास है ऐसा जानकर भाँज रहना ही अधिक योग्य है।

जिसके गुणगान करनसे जीव मग्न-मुक्त हो जाता है, उसके गुणगानसे प्रतिकूल होकर योग्यतासे प्रवृत्ति करना यह जीवकी महा दुःखका हेतुवत्ता है, ऐसा मानते हैं। और अब कैसे प्रकारमें जीव जानकर फैसलें खाते हैं तो हम समझते हैं कि जीवको कोई ऐसा ही पूर्वकर्मका बधन होना चाहिये। हमें तो इस नियममें हेतुबद्ध परिणाम ही रहता है, और उनके प्रति कदवा ही आती है। हम भी इस गुणका अनुकरण करते; और जिस तरह हम लोगोंको गुणगान करनेके योग्य संसृष्टके अकर्णवाद बोधनेका अनुसार उपस्थित न हो, ऐसा योग्य मार्ग प्रदण करते यही अनुपेक्ष है।

हम स्वयं उपाधि-प्रसंगमें रहते आये हैं और यह रहे हैं, इसके ऊपरसे हम स्पष्ट जानते हैं कि उस प्रसंगमें सम्पूर्ण आत्ममात्रसे प्रवृत्ति करना दुर्लभ है। इसलिये निरुपाधिपूर्ण हृष्य, श्रेष्ठ, काठ और मांसका सेवन करना आवश्यक है। ऐसा जानते हुए भी हाथमें तो हम ऐसा ही करते हैं कि जिससे उस उपाधिका बधन करते हुए निरुपाधिका निवर्तन न हो जाय ऐसा ही करते रहे।

अब हम जैसे भी स्वर्गका सेवन करते हैं तो फिर वह तुम्हें कैसे असेवनीय हो सकता है यह जानते हैं परन्तु हाथमें तो हम पूर्वकर्मको ही मग्न रहे हैं, इसलिये तुम्हें दूसरा मार्ग हम कैसे बताते, यह हम ही विचारते।

३२९ बम्बई, माघपूर सुदी १० गुरु १९४८

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्म-भावको प्राप्त करे, वे सब धर्मकी ही भेद हैं। जिस प्रकारसे हम अन्य भावको प्राप्त करते वह भेद अन्यरूप ही है, धर्मरूप नहीं। तुमने हालमें जो वचन सुन-के पश्चात् निष्ठा अंगीकार की है, वह निष्ठा श्रेयस्कर है। वह निष्ठा आदि सुमुमुक्षुके छद्म सत्संग मिथ-पर अनुक्रमसे बुद्धिको प्राप्त होकर आत्मस्थितिरूप होती है।

जीवका, धर्मको केवल अपनी ही कल्पनासे अपना कल्पना-प्राप्त किसी अन्य पुरुषसे ग्रहण करना, लान करना अथवा आराधना करना योग्य नहीं है। जो कवच आत्म-स्थितिसे ही रहता है, ऐसे पुरुषसे ही आत्मा अपना आत्मधर्मका ग्रहण करना योग्य है—यात्राजीवन आराधना करना योग्य है।

३३० बम्बई, माघपूर सुदी १० गुरु १९४८

ससार-काष्ठसे खगाकर इस क्षणतक तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारकी अनियत, अवधि, अस-धार अपना ऐसा ही अन्य दूसरे प्रकारका कोई भी अपराध मन, वचन और कायाके परिणामसे हुआ है, उस सबको अत्यंत नम्रतासे, उस सब अपराधोंके अत्यंत छय परिणामरूप आत्मस्थितिपूर्वक, मैं सब क्षमास क्षमा माँगता हूँ, और इसे क्षमा करनेके में योग्य हूँ। तुम्हें किसी भी प्रकारसे उस अपराध शक्तिका अनुपयोग हो तो भी अन्यतरूपसे, हमारी किसी भी प्रकारसे किसी पूर्वकाउसवही मानना समझकर, इस क्षणमें अत्यतरूपसे क्षमा करने योग्य आत्मस्थिति करनेके श्रेय क्षुब्धतासे प्रार्थना है।

३३१ बम्बई, माघपूर सुदी १० गुरु १९४८

इस क्षणपर्यंत तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारसे पूर्व आदि काष्ठमें मन वचन और कायाके योगस से जो जो कुछ अपराध आदि हुए हों उन सबको अत्यंत आत्मभावसे विस्मरण करके क्षमा चाहता हूँ। इसके बाद किसी भी काष्ठमें तुम्हारे प्रति उस प्रकारके अपराधका हाना अनुभव समझता हूँ ऐसा होनेपर भी किसी अनुपयोग भावसे देहपर्यंत, यदि वह अपराध कभी हा भी जाय ता उस विषयमें भी मैं अत्यंत नम्र परिणामसे क्षमा चाहता हूँ और उस क्षमाभावरूप हृत् पत्रका विचारते हुए बारम्बार स्मरण करते तुम भी हमारे पूर्वकाष्ठके उस सर्व प्रकारके अपराधको भूल जाने योग्य हो।

३३२ बम्बई, माघपूर सुदी १२ रवि १९४८

परमार्थ शीघ्र प्रकाशित होनेके विषयमें तुम दानोऊ अग्रहपूर्ण वचन प्राप्त हुआ; तथा तुमन जो ध्येच्छा-विताके विषयमें शिक्षा, और उसमें भी सक्रमभाव निवेशन किया, यह भी आग्रहपूर्वक प्राप्त हुआ है।

हालमें ता हम सबके विवेकन कर देनरूप उन्मीलता ही रहती है, और उस सबको ईश्वर धर्मक आपन ही सीप देना योग्य है। हालमें ये दानो जाने जबनक हम निरम न श्रेयें तबतक विमरण ही करने योग्य है।

निरंतर हमारे सम्मुख रहनेके संबंधमें जो तुम्हारी इच्छा है, उस विषयमें हममें कुछ छिन्न रहना असंभव है। तुम्हें मालूम हुआ होगा कि हमारा जो यहाँ रहना होता है वह उपाधिपूर्वक ही होता है, और यह उपाधि इस प्रकारसे है कि पक्ष प्रसंगमें धीर्तायैकर जैसे पुरुषके नियमों में कुछ निर्णय करना हो तो भी कटिग्न हो जाय, क्योंकि अनादि काष्ठसे जीवको केवल बाह्य प्रवृत्तिको अथवा बाह्य निवृत्तिको ही पहिचान हो रही है, और इसीके आधारसे ही वह सत्पुरुषको असत्पुरुष कल्पना करता पाया है। कदाचित् किसी सम्पङ्गके योगसे यदि जीवको ऐसा ज्ञानमें आया भी कि “यह सत्पुरुष है”, तो भी फिर निरंतर उनके बाह्य प्रवृत्तिको योगको देखकर जैसा चाहिये वैसा निश्चय नहीं रहता, अथवा निरंतर वृद्धिगत होता हुआ भक्तिभाव नहीं रहता, और कभी तो जीव सदैवको प्राप्त होकर जैसे सत्पुरुषके योगको त्यागकर, वितर्क केवल बाह्य निवृत्ति ही मालूम होती है, ऐसे असत्पुरुषका दृग्महत्त्वपूर्वक सेवन करने लगता है। इसलिये जिस काष्ठमें सत्पुरुषको निवृत्ति-मसंग रहता हो, जैसे प्रसंगमें उसके समीप रहना, यह जीवको हम विशेष दितकर समझते हैं—इस बाधका इस समय इससे अधिक विज्ञा ज्ञाना असंभव है। यदि किसी प्रसंगपर हमारा समग्र हो तो उस समय तुम इस विषयमें पहुँचना, और उस समय यदि कुछ विचार करने योग्य प्रसंग होगा तो उसे कह सकना संभव है।

यदि दोषा केनेकी बारम्बार इच्छा होती हो तो भी हममें उस प्रवृत्तिको शान्त हो करना चाहिये। क्या कल्याण क्या है और वह किस तरह हो सकता है, इसका बारम्बार विचार और गवेषणा करनी चाहिये। इस क्रममें अनन्त काष्ठसे भूख होती जाती है, इसलिये क्षणिक विचारपूर्वक ही पैर उठाना योग्य है।

३२८ बर्म्स मद्रास सुदी ७ सौम १९४८

सत्य वैलकर सदाशिव मही शाना

ससारका सेवन करनेके आरंभ काष्ठमें लगाकर आगतक तुम्हारे प्रति जो कुछ अविनय, अनभिष्ट और अपराध भाषि दोष उपयोगपूर्वक अथवा अनुपयोगसे हुए हों, उन सबको अस्मत् मन्त्रसे क्षमा चाहता हूँ।

भीतीर्मकरने जिसे धर्म-धर्म गिनने योग्य माना है, ऐसी इस बर्षकी सफलता व्यतीत हुई। किसी भी जीवके प्रति किसी भी प्रकारसे किसी भी काष्ठमें अस्मत् अथ दोष भी करना योग्य नहीं ऐसी बात जिसकेद्वारा परमेश्वरकापसे निश्चित हुई है, ऐसे इस विचारको नमस्कार करते हैं और इस वाक्यको एक मात्र स्मरण करने योग्य ऐसे तुम्हें ही विज्ञा है; इस वाक्यको तुम निश्चयपूर्वकसे जानते हो।

‘तुम्हें एविवारको पत्र लिखूँगा’ ऐसा विज्ञा या परम्य नहीं विज्ञा सत्य, यह ज्ञान करने योग्य है। तुमने व्यवहार-प्रसंगके विवेचनके संबंधमें जो पत्र लिखा था उस विवेचनको पत्रमें उठाने और विचारनेकी इच्छा थी, परन्तु वह इच्छा धिक्के आभासकार हो जानेसे निष्फल हो गई है, और इस समय कुछ विज्ञाना का सके ऐसा मालूम नहीं होता इसके लिये अस्मत् मन्त्रपूर्वक क्षमा माँगकर इस पत्रको समाप्त करता हूँ।

सत्यवन्ध

३२९ बम्बई, माघपद सुदी १० गुरु १९४८

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्म-भावको प्राप्त करे, वे सब धर्मिक ही भेद हैं। जिस प्रकारसे आत्मा अन्य भावको प्राप्त करे वह भेद अन्यरूप ही है, धर्मरूप नहीं। हमने हस्तमें जो वचन सुन नके पश्चात् निष्ठा अंगीकार की है, वह निष्ठा अत्यन्त है। वह निष्ठा आदि सुमुमुक्षुको दृढ़ सत्संग मिष्ट-मेघर अनुक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर आत्मस्थितिरूप होती है।

जीविका, धर्मको केवल अपनी ही कल्पनासे अथवा कल्पना-प्राप्त किसी अन्य पुरुषसे श्रवण करना, मनन करना अथवा आराधना करना योग्य नहीं है। जो केवल आत्म-स्थितिसे ही रहता है, ऐसे पुरुषसे ही आत्मा अथवा आत्मधर्मका श्रवण करना योग्य है—यावज्जीवन आराधना करना योग्य है।

३३० बम्बई, माघपद सुदी १० गुरु १९४८

सत्सार-काष्ठसे छायाकर इस क्षणतक तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारकी अभिनय, अमक्ति, असत्कार अथवा ऐसा ही अन्य दूसरे प्रकारका कोई भी अपराध मन, वचन और कृत्यात्मके परिणामसे हुआ हो, उस सबको अत्यन्त नम्रतासे, उन सब अपराधोंके अत्यन्त क्षय परिणामरूप आत्मस्थितिपूर्वक, मैं सब प्रकारसे क्षमा माँगता हूँ और इसे क्षमा करनेके मैं योग्य हूँ। तुम्हें किसी भी प्रकारसे उस अपराध आदिका अनुपयोग हो तो भी अत्यन्तकृपेसे, हमारी किसी भी प्रकारसे वैसी पूर्वाकाष्ठसंबन्धी भावना सम्बन्धित, इस क्षणमें अत्यन्तकृपेसे क्षमा करने योग्य आत्मस्थिति करनेके स्थिति छुटतासे प्रार्थना है।

३३१ बम्बई, माघपद सुदी १० गुरु १९४८

॥ क्षणपर्यन्त तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारसे पूर्ण आदि काष्ठमें मन वचन और कृत्यात्मके योगसे जो जो कुछ अपराध आदि हुए हों उन सबको अत्यन्त आत्मभावसे विस्मरण करके क्षमा चाहता हूँ। इसके बाद किसी भी काष्ठमें तुम्हारे प्रति उस प्रकारके अपराधका होना असंभव समझता हूँ, ऐसा होनेपर भी किसी अनुपयोग भावसे देहपर्यन्त, यदि वह अपराध कभी हो भी जाए तो उस विषयमें भी पूर्ण अत्यन्त नम्र परिणामसे क्षमा चाहता हूँ और उस क्षमाभावरूप इस पत्रको विचारते हुए बारम्बार चिंतन करके तुम भी हमारे पूर्वाकाष्ठको उस सर्व प्रकारके अपराधको भूल जाने योग्य हो।

३३२ बम्बई, माघपद सुदी १२ रवि १९४८

परमार्थ शीघ्र प्रकाशित होनेके विषयमें तुम दोनोंका आग्रहपूर्ण वचन प्राप्त हुआ तथा तुमने जो व्यवहार-विश्वासके विषयमें विश्वास और उसमें भी सत्कामभाव निवेशन किया, वह भी आग्रहपूर्वक प्राप्त हुआ है।

हालमें ता इस सबके विश्लेषण कर देनेक्या उदासीनता ही रहती है, और उस सबको ईश्वर के आधीन ही सौंप देना योग्य है। हालमें ये दोनों बातें जबतक हम किरत न उठें तबतक विस्मरण ही करने योग्य है।

नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मा में पूर्ण छद्मता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—महत्तरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुमत्तरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारोंके अन्त-रूपसे वह होनेके विषये शास्त्रों में वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको महत्तरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता; परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान ता होता है, और महत्तर भी स्पष्ट माह्य होता है। अपने तथा परके भव आगनेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका भ्रम-बाध नहीं है।

तीर्थंकरको भिक्षाके विषये आते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-मुद्रि ह्वालि हो ही हो—ऐसा शास्त्रोंके कहनेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रोंमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो वह सप्रेम ही है। यह वाक्य छेक-आपाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा' जैसे उसका यह कहना सप्रेम है—यथार्थ है, परन्तु वह शब्दोंके मातामसि ही यथार्थ है, शब्दोंके मूळ अर्थमें यथार्थ नहीं है। इसी तरह तीर्थंकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रमात्मके बरसे यह होना अत्यंत समचित है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं है कि सर्वत्र ही ऐसा हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है, जहाँ सर्व-महत्-प्रमात्म-योगा अभिव्यक्तसे रहता है, यह निश्चयशून्य बात है—निःसन्देह अनिश्चित करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है जहाँ यदि सर्व-महत्-प्रमात्म-योग न रहता हो तो फिर वह दूसरी कौनसी जगह रहे! यह विचारने योग्य है। उस प्रकारका दूसरा तो कोई स्थान होना संभव नहीं, तो फिर सर्व-महत्-प्रमात्म-योगका अभाव ही होगा। परन्तु अब पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना भी अभावरूप नहीं है, तो फिर महत्-प्रमात्म-योगका अभाव तो कहाँसे हो सकता है। और यदि कदाचित् ऐसा कहा जाय कि आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होना तो योग्य है किन्तु महत्-प्रमात्म-योगकी प्राप्ति होना योग्य नहीं, तो यह कहना एक विचित्राद पैदा करनेके सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह कहने-वाला कुछ आत्मस्वरूपके महत्त्वमेंसे अव्यत हीन ऐसे प्रमात्म-योगको म्हात् समझता है—भंगीकार करता है; और यह ऐसा सुचित करता है कि वह वस्तु आत्मस्वरूपका जाननेवाला नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी म्हात् नहीं है। जो प्रमात्म-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो। इस प्रकारका इस सूत्रमें कोई प्रमात्म-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं परन्तु इस प्रमात्म-योगमें आत्मस्वरूपको कोई प्राप्ति करीब नहीं है, यह बात तो व्यक्त है; और यदि उसे उस प्रमात्म-योगमें कोई करीब माह्य होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यंत अज्ञानमें ही रहता है, ऐसा मन्ते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मस्वरूप महाभाग्य तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्रमात्म योग होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक वशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किसी स्वामात्मिक पुण्यके प्रमात्मसे सुवर्ण-मुद्रि ह्वालि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरोंके वाच्यकारक भी नहीं है। जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रमात्म वादि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मस्वरूप तीर्थंकर कहे जाने योग्य नहीं, ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।

जो जिनमगवान्‌के कहे हुए शास्त्र माने जाते हैं, उनमें कुछ बोझोंके विच्छिन्न हो जानेका कथन है, और उनमें केवलज्ञान आदि दस बोझ मुख्य हैं, और उन दस बोझोंके विच्छिन्न हुए दिशानेका आशय यही बतातेका है कि इस काकमें 'सर्वथा मुक्ति नहीं होती'। ये दस बोझ जिसे प्राप्त हो गये हों, अथवा जिसे इनमेंका एक भी बोझ प्राप्त हो गया हो तो उसे चरम-शरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर इस बातको निष्ठेदरूप माना है। फिर भी एकांतसे ऐसा ही कहना योग्य नहीं—ऐसा हमें मान्य होता है, और ऐसा ही है। क्योंकि इन बोझोंमें क्षायिक समकितका भी निषेध है, और वह चरम शरीरीके ही हो, ऐसा तो ठीक नहीं, अथवा ऐसा एकांत भी नहीं है। महाभारतमें क्षेणिकके क्षायिक समकित होनेपर भी वे चरम-शरीरी नहीं थे, इस प्रकार उन्हीं जिनमगवान्‌के शास्त्रोंमें कथन है। तथा जिनकल्पी साधुके विहारका व्यवच्छेद कहना श्रेयान्तरोंका ही कथन है, दिगम्बरोंका कथन नहीं। 'सर्वथा मोक्ष होना' इस काकमें समझ नहीं है, ऐसा दोनोंका ही अविश्रय है; और वह भी अल्पत एकांतरूपसे नहीं कहा जा सकता। हम मानते हैं कि इस काकमें चरम शरीरीपना नहीं है, परन्तु यदि अशरीरी-भावरूपसे अस्म-स्थिति है, तो वह मानवसे चरम-शरीरीपना ही नहीं किन्तु सिद्धपना भी है। और वह अशरीरी-भाव इस काकमें नहीं है—यदि यहाँ ऐसा कहे तो यह यह कहनेके तुल्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं हैं। निरोध क्या कहे? यह सर्वथा एकांत नहीं है। कदाचित् यह एकांत हो भी तो वह, जिसने आत्मको कहा है, उसी आशयी संपुरणप्राप्त समझने योग्य है, और यही आत्मस्थितिका उपाय है।

(२)

पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे 'हाँ' कहनेमें अचल हूँ।

(३)

परम प्रेमरूप मलिके विना ज्ञान शून्य ही है। जो अन्का है वह केवल योग्यताकी कमीके ही कारण अटका हुआ है।

ज्ञानके पाससे ज्ञानकी इच्छा करनेकी अपेक्षा बोध-स्वरूप समझकर मलिकी इच्छा करना, यह परम फलदायक है। जिसपर ईश्वर कृपा करे उसे कछिपुर्णमें उस पदार्थकी प्राप्ति हो। यह महाकठिन है।

३३८

बम्बई, आठोम वरी ६, १९२८

ॐ

(१) यहाँ अहमाकारता रहती है। आत्माके आत्म-स्वरूपभावसे परिणामके होनेको अहमाकारता कहते हैं।

(२) जो कुछ होता है उसे होने देना। न उन्नीस होना। न अनुबन्धी होना। न परमात्मासे ही इच्छा करनी, और न व्याकुल होना। यदि अहमात्म रुकावट बाधता हो तो जितना बने उसको रोकना; और ऐसा होनेपर भी यदि वह दूर न होता हो तो उसे ईश्वरके लिये अर्पण कर देना। परन्तु दीप्तता न आने देना। बागे क्या होगा, इसका विचार नहीं करना, और जो हो उसे करते रहना। अधिक उपेक्ष-बुन करनेका प्रयत्न नहीं करना। अन्न भी भय नहीं रखना। जो कुछ करनेका अभ्यास हो गया है उसे निस्मरण लिये रहना—तो ही ईश्वर प्रसन्न होगा—तो ही परममक्ति पानेका फल मिलेगा—तो ही हमाध और तुम्हारा संयोग हुआ योग्य है।

३३३

चर्मर्षि, माघपद वरी १ छत्र. १०४८

घाँसि छिड़े हुए पत्रके तुम्हें निकसे होनेवाले आनन्दको निषेदन करते हुए, तुम्हें हाथमें दीक्षासूत्रकी वृष्टिके क्षोभ प्रसन्न करनेके नियममें जो लिखा, सो वह क्षोभ हाथमें योग्य ही है।

क्षोभ आदि अनेक प्रकारके योगोंके क्षय हो जानेपर ही संसार-त्यागरूप दीक्षा सेना योग्य है, अपना किसी महान् पुरुषके सयोगसे कर्ष्य योग्य प्रसन्न आनेपर ऐसा करना योग्य है। इसके सिवाय किसी दूसरी प्रकारसे दीक्षाका धारण करना कार्यकारी नहीं होता और जीव वैसी दूसरी प्रकारकी दीक्षाका भक्तिसे प्रसन्न होकर अर्च्य कल्याणको च्युक्ता है अथवा जिससे विशेष अन्तराय उपस्थित हो ऐसे योगका उपार्जन करता है; इसलिये हाथमें सो तुम्हारे क्षोभको हम योग्य ही समझते हैं।

यह हम जानते हैं कि तुम्हारी यही समागममें आनेकी विशेष इच्छा है; फिर भी हाथमें तो उस संयोगकी इच्छाका निरोध करना ही योग्य है; अर्थात् वह संयोग बनना असंभव है; और इस बातका सुकृष्ण जो प्रथमके पत्रमें लिखा है, उसे तुम्हें पता ही होगा। इस तरह आनेकी इच्छामें तुम्हारे बहों आदिका जो निरोध है हाथमें उस निरोधको उल्लंघन करनेकी इच्छा करना योग्य नहीं।

मनामहमें बुद्धिका उपासीन करना ही योग्य है; और हाथमें तो गृहस्थ चर्मको अनुसरण करना भी योग्य है। अपना हितरूप जानकर अथवा समझकर आराम-परिग्रहका सेवन करना योग्य नहीं। और ह्य परमार्थके आरम्भार विचार करके सम्प्रत्यक्ष बोधन, प्रवण, और मनन आदि करना योग्य है।

निष्काम यथायोग्य

३३४

चर्मर्षि, माघपद वरी ८ बुध १०४८

अभ्यन्तर

जिस जिस काथमें जो जो प्रारम्भ उदय आये उस सबको स्मरण करते जाना, यही ज्ञानी पुरुषोंका सनातन आचरण है और यही आचरण हमें उपाय रखा करता है अर्थात् जिस संसारमें स्नेह नहीं रहा, उस संसारके कार्यकी प्रवृत्ति उदय रहता है और उस उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। उदयके ह्य क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होता और हम ऐसा मानते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंका भी यही सनातन आचरण है फिर भी जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हो गई है अथवा निवृत्त होने आई है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे कारणरूपसे प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं रही इस कारण अन्तर्गाममें निवृत्ति ही रखा करती है। ऐसा होनेपर भी जिससे उसके अनेक प्रकारके सग-असगमें प्रवृत्ति करना पड़े ऐसे पूर्वमें किसी प्रारम्भका उपार्जन किया है, जिसे हम सग परिणामसे स्मरण करते हैं परन्तु अभी भी कुछ समयतक वह उदयमें है, ऐसा जानकर कभी कभी खेद होता है, कभी कभी निराश खेद होता है। और उस खेदका कारण विचारकर देखनेसे तो वह परानुष्मका ही माध्यम होता है। हाथमें तो उस प्रारम्भको स्वामा भिन्न उदयके अनुसार वेदन किये बिना अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती तथापि उस उदयमें हम दूसरे किसीको सुख, दुःख राग, द्वेष, क्रम और अक्रमके कारणरूपसे माध्यम होते हैं; इस माध्यम होनेमें लोक-प्रसंगकी विविध भाँति देखकर खेद होता है। जिस संसारमें साक्षी कर्त्तव्य रूपसे माना

जाता है, उस सत्तामें उस साक्षीसे साक्षीरूप रहना, और कर्त्तारूपसे भासमान होना, यह बुधारी तत्त्वधारपर चढ़नेके समान है।

ऐसा होनेपर भी यदि वह साक्षी-पुरुष आतिमुक्त छोड़ोको, किसीको छेद, दुःख और अज्ञानका कारण माझ्म न पड़े, तो उस प्रसंगमें उस साक्षी-पुरुषका अत्यंत कठिनार्थ नहीं है। हमें तो अत्यंत कठिनार्थके प्रसंगका उदय रहता है।

इसमें भी उदासीनभाव ही ज्ञानीका सुनाउन धर्म है (यहाँ धर्म शब्द आचरणके अर्थमें है)।

एक बार जब एक तुच्छ तिनकेके दो भाग करनेकी क्रियाके कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, उस समय जो ईश्वरेच्छा होगी वही होगा।

अविच्छिन्नतास्वरूप

३३५

बम्बई, आसोब सुदी १ बुध १९४८

जीवके कर्त्तृत्व-अकर्त्तृत्वको समागममें ग्रहण करके निश्चिन्तासुन करना योग्य है।

मनस्सति आदिके समोससे पारेका बंधकर चौदो गौह रूप हो जाना संभव नहीं होता, यह बात नहीं है। योग-सिद्धिके भेदसे किसी तरह ऐसा हो सकता है, और जिस उस योगके आठ अंगों मेंसे पाँच अंग प्राप्त हो गये हैं, उसे सिद्धि-योग होता है। इसके सिवाय कोई दूसरी कल्पना करना केवल काल्पनिकरूप ही है। यदि उसका विचार भी उत्पन्न हो तो वह भी एक कौतुकरूप ही है, और कौतुक आत्म-परिणामके विषये योग्य नहीं है। पारेका स्वाभाविकरूप पापपन ही है।

३३६

बम्बई, आसोब सुदी ७ मंग १९४८

प्रगत आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे सेवन करने योग्य है।

वास्तविक बात तो ऐसी है कि किये हुए कर्म बिना भोगे निवृत्त होते नहीं, और नहीं किये हुए किसी कर्मका फल मिळता नहीं। किसी किसी समय अकस्मात् किसीको बर अथवा शाप देनेसे जो क्षम अथवा अक्षम फल मिळता हुआ देखनेमें आता है, वह किसी नहीं किये हुए कर्मका फल नहीं है—वह भी किसी प्रकारसे किये हुए कर्मका ही फल है।

एकेन्द्रियका एकाग्रतापीना अपेक्षासे समझने योग्य है।

३३७

बम्बई, आसोब सुदी १०, १९४८

ॐ

(१)

मगधती आदि सिद्धांतोंमें जो किसी किसी जीवोंके मगधतरका वर्णन किया है, उसमें कुछ संशय होने वैसी बात नहीं। तीर्थंकर या महा पूर्ण आत्मस्वरूप हैं परन्तु जो पुरुष केवल योग, ध्यान आदिके अभ्यासके बलसे रहते हों, उन पुरुषोंमें भी बहुतस पुरुष मगधतरको जान सकते हैं और ऐसा होना कुछ कल्पित बात नहीं है। जिस पुरुषको आत्माका निश्चयमयक ज्ञान है उसे मगधतरका ज्ञान होना योग्य है—होता है। कश्चित् ज्ञानके तारतम्य—अयोपशम—भेदसे वैसा कभी

नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण छुट्टा रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको है—मन्त्रांतरको प्राप्तता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारके रूपसे वह होनेके विषये शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको मन्त्रांतरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि नि आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, मन्त्रांतर भी स्पष्ट माध्यम होता है। अपने तथा परके भव जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका बाध नहीं है।

तीर्थंकरको मिश्रके विषये जाते समय प्रात्येक स्थानपर सुवर्ण-वृद्धि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शास्त्रके मेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। जयवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो। सापेक्ष ही है। यह वाक्य सोम-भाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पु आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज बहुतका मेघ बरसा' जैसे उसका वह कहना सापेक्ष है—मय परन्तु वह शब्दके भावार्थसे ही यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं है। इसी तरह तीर्थंकर आ मिश्रके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावके यह होना अत्यंत संभवित है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं है कि सर्वत्र ही ऐसा हुआ है, परन्तु वह अनिश्चित यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है, वहाँ सर्वत्र प्रभाव-योग अभिव्यक्तिरूपसे रहता है, यह निश्चयवाक्य बात है—नि सन्देह अगोचर करने योग्य बात वहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व-महत्-प्रभाव-योग न रहता हो तो फिर वह दूसरी कं अगह रह। यह विचारने योग्य है। उस प्रकारका दूसरा तो कोई स्थान होना संभव नहीं, तो फिर महत्-प्रभाव-योगका अभाव ही होगा। परन्तु जब पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना भी अभावरूप। तो फिर महत्-प्रभाव-योगका अभाव तो कहाँसे हो सकता है? और यदि कदाचित् ऐसा कहा जा आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होना तो योग्य है, किन्तु महत्-प्रभाव-योगकी प्राप्ति होना योग्य नहीं, यह कहना एक निस्सन्देह फैला करनेके सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह न वाक्य छद्म आत्मस्वरूपके महत्त्वमेंसे व्यपेत होन ऐसे प्रभाव-योगको महत्त्व समझता है—अग करता है; और यह ऐसा सूचित करता है कि वह वज्र आत्मस्वरूपका जाननेवाला नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महत्त्व नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न इस प्रकारका इस सूत्रमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और जाने उत्पन्न होगा परन्तु इस प्रभाव-योगमें आत्मस्वरूपको कोई प्रवृत्ति कार्यमें नहीं है यह बात तो अवश्य है; और उसे उस प्रभाव-योगमें कोई कार्यमें माध्यम होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके व्यपत्त अज्ञानमें ही है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अग्रिप्राय यह है कि आत्मरूप महात्माय तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्र-योग होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हीं योग्य नहीं।। स्वाभाविक पुष्पके प्रभावसे सुवर्ण-वृद्धि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरप बाधाकारक भी नहीं है। जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं न और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थंकर को जाने योग्य नहीं, ऐसा मानते हैं और ऐसा भी है।

जो जिनमगवान्के कहे हुए शास्त्र माने जाते हैं, उनमें कुछ बोलोंके विभिन्न हो जानेका कथन है, और उनमें केवलज्ञान आदि दस बाध मुख्य हैं; और उन दस बोलोंके विभिन्न हुए निष्ठा-नेका आशय यही बतानेका है कि इस कालमें 'सर्वथा मुक्ति नहीं होती'। ये दस बाध जिसे प्राप्त हो गये हों, अथवा जिसे इनमेंका एक भी बाध प्राप्त हो गया हो तो उसे चरम-शरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर इस बातको निष्ठेदरूप माना है। फिर भी एकतसे ऐसा ही कहना योग्य नहीं—ऐसा हमें मान्य होता है, और ऐसा ही है। क्योंकि इन बोलोंमें ध्यायिक समकितका भी निषेध है, और वह चरम शरीरीक ही हो, ऐसा तो ठीक नहीं, अथवा ऐसा एकत भी नहीं है। महाभाग्य श्रेणिकके ध्यायिक समकित होनेपर भी वे चरम शरीरी नहीं थे, इस प्रकार उन्हीं जिनमगवान्के शास्त्रोंमें कथन है। तथा जिनकल्पी साधुके निवारका व्यक्त्येद कहना वेताम्बरोपा ही कथन है, दिग्भारोंका कथन नहीं। 'सर्वथा मोक्ष होना' इस कालमें समय नहीं है, ऐसा दोनोंका ही अभिप्राय है; और वह भी अत्यंत एकतरूपसे नहीं कहा जा सकता। हम मानते हैं कि इस कालमें चरम-शरीरीपना नहीं है, परन्तु यदि अशरीरी-भावरूपसे आत्म-स्थिति है, तो वह भावनयसे चरम-शरीरीपना ही नहीं किन्तु सिद्धपना भी है। और वह अशरीरी-भाव इस कालमें नहीं है—यदि यहाँ ऐसा करें तो यह यह कहनेके मुख्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं हैं। विशेष क्या करें? यह सर्वथा एकतर नहीं है। फलान्वित यह एकतर हो भी तो वह, जिसने आगमको कहा है, उसी आशयी सत्पुरुषद्वारा समझने योग्य है, और यही आत्मस्थितिका उपाय है।

(२)

पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके सिधे मैं अनुभवसे 'हाँ' कहनेमें अबल हूँ।

(१)

परम प्रेमरूप मक्तिके बिना ज्ञान शून्य ही है। जो अन्धका है वह केवल योग्यताकी कमीके ही कारण अटका हुआ है।

ज्ञानीके पाससे ज्ञानकी इच्छा करनेकी अपेक्षा बोध-म्यरूप समझकर भक्तिपी इच्छा करना, यह परम फलदायक है। जिसपर ईश्वर कृपा करे उसे कश्चिदुपगमं उस पन्थार्थी प्राप्ति हो। यह महाकठिन है।

३३८

बम्बई, आमात्र बनी ६, १९४८

ॐ

(१) यहाँ आग्रहाकारता रहती है। आग्रहाके आग्रह-स्वरूपमायसे परिणामक होनेको आग्रहाकारता कहते हैं।

(२) जो कुछ होगा है उसे होने देना। न उत्तरस्थित होना। न अनुपमी होना। न परमात्मसे ही इच्छा करनी, और न म्यायुक्त होना। यदि अहमाय दृक्प्राप्त होयता हो ता जितना बने उसकी रोचना; और ऐसा होनेपर भी यदि वह दूर न होना हो ता उस ईश्वरके त्रिव अर्पण कर देना। परन्तु दीनता न जाने देना। भाग क्या होगा, इसका विचार नहीं करना, और जो हो उसे करते रहना। अधिक उपेक्ष-मुक्त करनेका प्रयत्न नहीं करना। अन्य भी भय नहीं रहना। जो कुछ करमका अभ्यास हो गया है उसे विस्मरण भिजे रहना—नो ही ईश्वर प्रसन्न होगा—नो ही परमभक्ति पानेका कष्ट मित्रगा—ता ही हमारा और गुहारा सयोग हुआ योग्य है।

और उपाधिमें क्या होता है, यह आगे चखकर देख लेंगे। देख लेंगे—इसका अर्थ बहुत गंभीर है। सर्वश्रेष्ठ हरि समर्प है। मर्त्य पुरुषोंकी कृपासे निर्विक्र मति कम ही रहती है। वरपि आपने उपाधि-योगमें छद्म रखा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह सब सर्वश्रेष्ठको ही हाथ है। और वह सत्ता निश्चयसे आकाङ्क्षाहित ऐसे ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जबतक उस सर्वश्रेष्ठ हरिकी इच्छा असे हो, वैसे ज्ञानीको भी चखना, यह आकाङ्क्षा धर्म है।

ऊपर जो उपाधिमेंसे आह्वानके छोड़नेके बचन मिले हैं, उनके ऊपर आप पीछे समय विचार करें। आपकी उसीमें उस प्रकारकी दशा हो जाए ऐसी आपकी मनोवृत्ति है। फिरसे निवेदन है कि उपाधिमें जैसे बने वैसे निःशंक रहकर उचम करना। जाना क्या होगा, यह विचार छोड़ देना।

३३९

बम्बई, आसोज वरी ८, १९४८

छोक-न्यायक अवकारमें अपनेद्वारा प्रकाशित ज्ञानी पुरुष ही पापात्तप्य देखते हैं। छोककी शब्द जादि कामनाओंके प्रति देखते हुए भी उदासीन रहकर जो केवल अपनेको ही स्पष्टरूपसे देखते हैं, ऐसे ज्ञानीको हम नमस्कार करते हैं, और इस समय इतना ही छिन्नकर ज्ञानसे स्फुरित आह्वानमात्रके उत्तर करते हैं।

३४०

बम्बई, आसोज १९४८

ॐ

(१) जो कुछ उपाधि की जाती है वह कुछ निज-मात्रके कारण करनेमें नहीं जाती—उस प्रकारसे नहीं की जाती। वह जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे बेचन करने योग्य ऐसा प्रारम्भ करने है। जो कुछ उदयमें आपे उसका अविश्वार परिणामसे बेचन करना, इस प्रकार जो ज्ञानीका बोध है, वह हममें निश्चय रहता है—अर्थात् हम उसी प्रकारसे बेचन करते हैं। परन्तु इच्छा तो ऐसी रहती है कि कल्प कल्पमें ही—एक समयमें ही—यदि वह उदय असत्ताकी प्राप्त होता हो तो हम इन सबमेंसे उठकर बड़े जौन—आत्मामें इतनी स्वतंत्रता रखा करती है। फिर भी मित्र-काष्ठ, मोहन-काष्ठ तथा अनुक्त अवकाश-हाथके सिवाय उपाधिक प्रसंग रखा करता है और कुछ निश्चय नहीं होता, तो भी किसी भी प्रस्तावर आत्मोपयोग अप्रयत्नमात्रका संचन करते हुए देखा जाता है, और उस प्रसंगपर धातुके शोकेसे भी अधिक शोक होता है, यह बात निश्चयेष्ट है।

ऐसा होनेके कारण और जबतक गृहस्थ-प्रत्ययी प्रारम्भ उदयमें रहे तबतक सर्वथा अया-चक मात्रक सेचन कराममें चित्त रहनेमें ही ज्ञानी पुरुषोंका मार्ग रहता है, इस कारण इस उपाधिका सेचन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी हम ज्ञानीका विधाय नहीं करते, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उसकी उपेक्षा करें तो गृहस्थ अवस्था भी वनवस्तुक्रमसे संचन होने लग जाय, ऐसा तीव्र बेचम्य रखा करता है।

सर्व प्रकारके वर्त्तमानमें उदासीनता ऐसे हमसे यदि कुछ ही सम्पत्ता हो तो एक मही हो सकना

कि पूर्वोक्त कर्मका समता भावसे वेदन करना, और जो कुछ किया जाता है वह उसकी आधारसे किया जाता है, ऐसी दशा रहती है।

(२) हमें ऐसा हो जाता है कि हम यद्यपि अप्रतिषद्भासे रह सकते हैं तो भी हमें ससारके बन्ध प्रसङ्गकी, अन्तर प्रसङ्गकी, और कुटुम्ब आदिके स्नेहके सेवन करनेकी इच्छा नहीं होती, तो फिर हम जैसे मार्गच्छान्तको—जिसे प्रतिषद्भास्वरूप भयंकर यमका साहचर्य रहता है—उसके दिन-रात सेवन करनेका अत्यन्त भय क्यों नहीं छूटता ?

हानी पुरुषसे सहमत होकर जो ससारका सेवन करता है, उसे तीर्थंकर अपने मार्गसे बाहर कहते हैं। कणाधिव्र जो हानी पुरुषसे सहमत होकर ससारका सेवन करते हैं, यदि वे सब तीर्थंकरके मार्गसे बाहर ही कहे जाने योग्य हों, तो फिर श्रेणिक आदिको मिथ्यात्वका होना समझ होता है, और तीर्थंकरके बचनमें विसंवाद आता है। यदि तीर्थंकरका बचन विसंवादयुक्त हो तो उन्हें फिर तीर्थंकर कहना ही योग्य नहीं।

तीर्थंकरके कहनेका आशय यह है कि जो हानी-पुरुषसे सहमत होकर आश्रमावसे, स्वच्छन्दतासे, कामनासे, अनुष्ठासे, हानीके बचनकी उपेक्षा करके, अनुपयोग परिणामी होकर ससारका सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थंकरके मार्गसे बाहर है।

३४१

बम्बई, अक्टोबर १९४८

हम किसी भी प्रकारके अपने आत्मिक-बचनके कारण ससारमें नहीं रह रहे हैं। जो भी है उससे पूर्वमें बँधे हुए मोक्ष और कर्मको निवृत्त करना है, और जो कुटुम्ब है उसका पूर्वमें किया हुआ कर्त्रे वापिस देकर निवृत्त होनेके लिये उसमें रह रहे हैं। उनके लिये, धर्मके लिये, योगके लिये, सुखके लिये, स्वर्गके लिये अथवा अन्य किसी तरहके आत्मिक-बचनके कारण हम ससारमें नहीं रह रहे हैं। जिस जीवको माया निकटतासे न रहता हो, वह जीव ऐसे अन्तरंग भेदको कैसे समझ सकता है ?

किसी दुःखके भयसे हमने ससारमें रहना स्वीकार किया है, यह बात भी नहीं है। माल-अपमालका तो जो कुछ भेद है वह सब निवृत्त ही हो गया है।

३४२

बम्बई, अक्टोबर १९४८

(१)

(१) जिस प्रकारसे यहाँ कहा गया था, यहाँ उससे भी सुगमरूपसे ध्यानका स्वरूप लिया है।

१ किसी निर्मल पराधर्म के लिये स्थापित कर्मका अभ्यास करके प्रथम उस अचञ्छतादित स्थितिमें जाना।

२ इस तरह कुछ स्थिरता प्राप्त हो जानके बाद गहिनी ओंखमें मूर्ध और बँधुमें चन्द्र ध्यान है, इस प्रकारकी भावना करना।

३ इस भावनासे तबतक सुदृढ़ बनाना, जबतक कि यह भावना उस पदार्थके आकार आदिके दर्शनको उत्पन्न न कर दे।

४ उस प्रकारकी सुखता हो जानेके पश्चात् जन्मको दहिनी ओंखमें और सूर्यको बाँध ओंखमें स्थापित करना ।

५ इस भावनाकी जबतक सुख घटना, जबतक यह भावना उस पदार्थके आकार आदिके दर्शनको दायम न कर दे । (यह जो दर्शन कहा है, उसे मात्स्यमात्र-दर्शन समझना ।)

६ इन दोनों प्रकारोंकी उल्टी-सीधी भावनाओंके सिद्ध हो जानेपर मूकुटीके मध्य भागमें उन दोनोंको चितवन करना ।

७ पछिछे इस चितवनको बाँध खोलकर करना ।

८ उस चितवनके अनेक तरहसे छद्म हो जानेके बाद बाँध बंद रखकर, उस पदार्थके दर्शनको भावना करनी ।

९ उस भावनासे दर्शनके सुख हो जानेके पश्चात् हरपमें एक अष्टवक्त्र कमण्डलु चितवन करके उन दोनों पदार्थोंको अनुक्रमसे स्थापित करना ।

१० हरपमें इस प्रकारका एक अष्टवक्त्र कमण्डलु माना गया है, परन्तु वह ऐसा माना गया है कि वह विमुक्तकण्ठसे खड़ा है, इसलिये उसे सम्मुखकण्ठसे अर्थात् सीधी तरहसे चितवन करना ।

११ उस अष्टवक्त्र कमण्डलुमें पछिछे चन्द्रके तेजको स्थापित करना, फिर सूर्यके तेजको स्थापित करना, और फिर अक्षर दिव्याकार अक्षिकी ग्योति स्थापित करना ।

१२ उस भावके दृढ़ हो जानेके बाद, उसमें जिनका ज्ञान, दर्शन और आत्मचारित्र पूर्ण है ऐसे श्रीबीतरंगादेवकी प्रतिमाका महातेजोमय स्वरूपसे चितवन करना ।

१३ उस परम प्रतिमाका न नाम, न पुत्रा और न वृद्ध, इस प्रकार शिष्यस्वरूपसे चितवन करना ।

१४ ऐसी भावना करना कि संपूर्ण ज्ञान-दर्शन अवलोकनेसे श्रीबीतरंगादेव यही स्वरूप समाधिमें विद्यमान हैं ।

१५ ऐसी भावना करना कि स्वरूप-समाधिमें स्थित बीतरंगा आत्मालोक स्वरूपमें ही उदयकर हैं ।

१६ ऐसी भावना करना कि उनके मूर्धन्यामसे उस समस्त अकारकी आनि निकल रही है ।

१७ ऐसी भावना करना कि उन भावनाओंके छद्म हो जानेपर वह अकार सब प्रकारके कण्डम-ज्ञानका उपदेश कर रहा है ।

१८ जिस प्रकारके सम्भवगतिसे बीतरंगादेवने बीतरंगा-निष्कलताको प्राप्त किया है, ऐसा ज्ञान उस उपदेशका रहस्य है, ऐसा चितवन करते करते वह ज्ञान क्या है, ऐसी भावना करना ।

१९ उस भावनाके दृढ़ हो जानेके पश्चात् उम्होंने जो द्रव्य आदि पदार्थ कहे हैं, उनको भावना करके वास्तवका निश्च स्वरूपमें चितवन करना—सर्वांगसे चितवन करना ।

(२) ध्यानके अनेकानेक भेद हैं । इन सबमें श्रेष्ठ ध्यान तो यही कहा जाता है जिसमें आत्म्य मुख्यमात्रसे खड़ी है, और प्रायः करके आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके बिना यह आत्म-ध्यानकी प्राप्ति नहीं होती । इस प्रकार वास्तवज्ञान यथार्थ बोधकी प्राप्तिके सिवाय उत्पन्न नहीं होता । इस यथार्थ बोधकी प्राप्ति प्रायः करके कम कमसे बहुतसे पीढ़ियोंकी होती है और उसका मुख्य मार्ग बोधस्वरूप ऐसे ज्ञानी पुरुषका आत्म्य बध्ना संग, और उसके प्रति बहुमान—प्रेम—है । ज्ञानी पुरुषका उस उस प्रकारका संग

जीवको अनतकालमें बहुत बार हो चुका है, परन्तु 'यह पुरुष ज्ञानी है, इसलिये अब उसका आश्रय ग्रहण करना ॥ कर्तव्य है' ऐसा ज्ञान इस जीवको नहीं हुआ, और इसी कारण जीवको परिभ्रमण करना पड़ा है, हमें तो ऐसा स्वतन्त्रापूर्वक माध्यम होता है ।

(१) ज्ञानी-पुरुषकी परिचालन न होनेमें प्रायः करके जीवके हम तीन महान् दोष मानते हैं —

(१) एक तो 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ', इस प्रकारसे जीवको मान रहता है, यह मान ।

(२) दूसरे, ज्ञानी पुरुषके ऊपर राग करनेकी अपेक्षा परिग्रह आदिमें विशेष राग होना ।

(३) तीसरे, डोक-भयके कारण, अपकीर्ति-भयके कारण, और अपमान-भयके कारण ज्ञानीसे

निमुख रहना—उसके प्रति निस प्रकार विनयान्वित होना चाहिये उस प्रकार न होना ।

ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अज्ञात ही रखते हैं । जीवकी ज्ञानीमें भी अपने समान ही कल्पना रहा करती है अपनी कल्पनाके अनुसार ॥ ज्ञानीके विचारका और शास्त्रका भी माप किया जाता है, प्रयोगों के पठन आदिसे थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त हो जानेसे, जीवको उसे अनेक प्रकारसे निखानेकी इच्छा रहा करती है—इत्यादि दोष ऊपर बताये हुए तीन कारणोंमें ही गर्भित हो जाते हैं; और इन तीनों दोषोंका उपाद्राज कारण तो एक 'स्वच्छ' नामका महादोष ही है; और उसका निमित्त कारण असंख्य है ।

जिसको तुम्हारे प्रति 'तुम्हें किसी प्रकार कुछ भी परमार्थकी प्राप्ति हो' इस प्रयोजनके सिद्धान्त दूसरी कोई भी सूझ नहीं, ऐसा मैं इस बातको यहाँ स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि तुम्हें अभी ऊपर बताये हुए दोषोंके प्रति प्रेम रहता है । 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ', यह दोष अनेक-बार प्रवृत्तिमें रहा करता है; असार परिग्रह आदिमें भी महत्ताकी इच्छा रहती है—इत्यादि जो दोष हैं, वे ध्यान और ज्ञान इन सबके कारणमूल ज्ञानी पुरुष और उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेमें बाधा डालते हैं । इसलिये ऐसा मानते हैं कि जैसे बने जैसे आपमें वृत्ति करके उनके कम करनेका प्रयत्न करना, और अजैविक मायनाके प्रतिबंधसे उद्धार होना यही कल्याणकारक है ।

(२)

शरीरमें यदि पहिले आश्रमावना होती हो तो उसे होने देना, ब्रह्मस्तरि प्राणमें आश्रमावना करना फिर इन्द्रियोंमें आश्रमावना करना, फिर संकल्प-विकल्पका परिणाममें आश्रमावना करना, और फिर स्थिर ज्ञानमें आश्रमावना करना—यही सब प्रकारकी अन्य आश्रमोंमें रहित स्थिति करना चाहिये ।

(३)

प्राण,	}	सोह	उसका ध्यान करना ।
बाणी,			
रस		अनहद	

कितना कष्ट, किस किस तरह इस राग-दोषका विशेषरूपसे नाश हो उस उस तरह आचरण करना, यही निनेशरदेवकी आज्ञा है।

३४७

बम्बई, मासोज १९४८

(१)

जिस पदार्थमेंसे नित्य ही विशेष व्यय होता है और आय कम हो, तो वह पदार्थ क्रमसे अपने पनका त्याग कर देता है, अर्थात् नाश हो जाता है—ऐसा विचार रखकर ही इस व्यवसायका प्रसंग रखना चाहिये।

पूर्वमें उपर्युक्त किया हुआ जो कुछ प्रारम्भ है, उसके वेदन करनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और योग्य भी इसी रीतिसे है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारम्भ उदयमें जाता है, उसे सम परिणामसे वेदन करना ही योग्य है, और इसी कारणसे यह व्यवसाय-प्रसंग योग्य है।

जिसमें किसी रीतिसे उस व्यवसायका कर्तव्य नहीं मान्य होनेपर भी, वह व्यवसाय केवल सेदका ही हेतु है, इस प्रकार परमार्थका निश्चय होनेपर भी, प्रारम्भकर्म होनेसे स्वस्व आदि योगका अप्रधानभावसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमें इच्छा-अनिच्छा कुछ भी नहीं है, परन्तु आत्माको इस निश्चय प्रवृत्तिके संभवको देखकर खेद होता है, और इस विषयमें बारम्बार विचार रखा करता है।

(२)

इन्द्रियके नियन्त्रणी क्षेत्रकी बलीयस जीतनेमें तो आत्मा असमर्थता बताती है, और समस्त पूर्णके अंत छेनेमें समर्थताका विचार करती है, यह कैसा आश्चर्यकारक है !

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नहीं कर सकती, ऐसा कहना केवल एक बहाना मात्र है। यदि छोड़े समयके क्रिये भी प्रवृत्ति छोड़कर आत्मा प्रमत्तचित्त होकर हमें निवृत्ति ही विचार किया कते, तो उसका वह प्रवृत्तिमें भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि हरेक वस्तुका अपने कम-ज्यादा वस्तुके अनुसार ही अपना अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मात्त पदार्थ दूसरी वस्तुके साथ मिश्रणसे अपने असली स्वभावके परिणमन करनेको नहीं भूछ जाता, वसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावको नहीं भूलता। इसलिये हरेक जीवको प्रमाद रहित होकर, योग्य कष्टमें निवृत्तिके मार्गका ही निरंतर विचार करना चाहिये।

(३)

व्रतके संरक्षणमें

यदि किसी जीवको व्रत केना हो तो स्पष्टभाषसे दूसरेकी सहायसे ही छना चाहिये, उसमें निरलेशसे प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। अतमें यह सक्नेवाली यदि कोई छूट रक्खी हो और किसी कारणविशेषसे यदि उस वस्तुका उपयोग करना पड़ जाय तो वैसा करनेके स्वयं अधिकारी न बनना चाहिये। जानीकी आज्ञाके अनुसार ही आचरण करना चाहिये नहीं तो उसमें शिथिलता आ जाती है, और व्रतका भंग हो जाता है।

बीतराग पुरुषका मूढमार्ग जाय श्रीमद्देन अनन्त कृपा करके मुझे प्रदान किया। इस अनन्त उपकारके प्रत्युपकारका बन्धा चुकानेके लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। फिर आप श्रीमद् कुछ भी छेमेक लिये सर्वथा निस्पृह हैं। इसमें मैं मन, बचन और कामाकी एकप्रतापसे आपके चरणारविन्दमें नमस्कार करता हूँ। आपकी परमपति और बीतराग पुरुषके मूढ धर्मकी उपासना मेरे हृदयमें अभ्यर्पित अलङ्काररूपसे जागत छा करे, इतना ही चाहता हूँ, यह सफल होयो ! ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

३४४

विक्रम संवत् १९४८

भयबासी मूढकथा

- (१) रविके लदीत अस्त होत दिन दिन घटि,
 लोभसीके जीवन क्यों जीवन पट्यु है;
 काँके प्रसत छिन छिन होत छिन तन,
 आँके ललत मानी फटसी फट्यु है;
 पते परि मूरख न लोभे परमारखकी,
 स्वारथके हेतु भ्रम भारत उद्यु है;
 छोड़ि फिरे लोगनिहीं पनो परे लोगनिहीं,
 बिपैरस लोगनिहीं नेह न ह्यु है ॥ १ ॥

- (२) जैसे भूग मत्त वृषादिस्वकी तपत माँहि,
 तुषारवंत वृषाजक कारन मय्यु है;
 तेसैं भयबासी मायाहीसैं हित मानि मानि,
 ठानि ठानि भ्रम भ्रम नाटक मय्यु है;
 आँकेका मुक्त पाह पीके बछरा लपाह;
 जैसे नैन हीन नर बेबरी बय्यु है,
 तेसैं मूढ भयन मुकुट करतवि करै,
 रीबत हँसत फल सोषत सय्यु है ॥ २ ॥

(समयसार—नाटक)

३४५

वर्षा, १९४८

संसारमें ऐसा क्या सुख है कि जिसके प्रतिबन्धमें जीव रहनेकी इच्छा करता है ?

३४६

वर्षा, १९४८

कि बहुला इह आह आह, रागहीसा कहुँ बिस्मिन्नति,
 तह तह पयडिभन्ध, एसा आणा मिणिशान्णम् ।

कितना बड़े, जिस जिस तरह इस राग-दोषका विशेषरूपसे नाश हो उस उस तरह आचरण करना, यही विनियमरदेवकी आज्ञा है।

३४७

बम्बई, जसोत्र १९४८

(१)

जिस पदार्थमेंसे निम्न ही विशेष व्यव होता हो और आप फल हो, तो वह पदार्थ क्रमसे अपने पत्रका त्याग कर देता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है—ऐसा विचार रखकर ही इस व्यवसायका प्रसंग रखना चाहिये।

पूर्वमें उपर्युक्त किया हुआ जो कुछ प्रारम्भ है, उसके वेदन करनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और योग्य भी इसी रीतिसे है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारम्भ उद्यममें जाता है, उसे सम परिणामसे वेदन करना ही योग्य है, और इसी कारणसे यह व्यवसाय-प्रसंग योग्य है।

नियममें किसी रीतिसे उस व्यवसायका कर्तव्य नहीं मान्य होनेपर भी, यह व्यवसाय केवल स्वेच्छा ही होता है, इस प्रकार परमार्थका निश्चय होनेपर भी, प्रारम्भक्य होनेसे स्वसंग आदि योगका अप्रधानभावसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमें इच्छा-अनिच्छा कुछ भी नहीं है, परन्तु आत्माको इस निम्न प्रवृत्तिके सबको देखकर खेद होता है, और इस विषयमें बारम्बार विचार रखा करता है।

(२)

इन्द्रियके विषयरूपी क्षणिकी जमीनके जीतनेमें तो अहम्मा असमर्थता बताती है, और समस्त पृथ्वीक जीत देनेमें समर्थताका विचार करती है, यह कैसा आश्चर्यकारक है।

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नहीं कर सकती, ऐसा कहना केवल एक कहाना मात्र है। यदि कोई समझके छिपे भी प्रवृत्ति छोड़कर आत्मा प्रमादरहित होकर इच्छा निवृत्तिका ही विचार किया करे, तो उसका वह प्रवृत्तिमें भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि हरेक वस्तुका अपने कल ग्यादा वस्तुके अनुसार ही अपना अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मानक पदार्थ दूसरी वस्तुके साथ मिलनसे अपने असली स्वभावके परिणामन करनेको नहीं भूल जाता, उसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावका नहीं भूलता। इसलिये हरेक जीवको प्रमाद रहित होकर, योग्य कालमें निवृत्तिके मार्गका ही निरंतर विचार करना चाहिये।

(३)

घातके संघर्षमें

यदि किसी जीवको मृत होना हो तो स्वभावसे दूसरेकी सार्थसे ही मरना चाहिये, उसमें फिर स्वेच्छासे प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। मृतमें रह सकनेवाली यदि कोई छुट रक्ती है और किसी कारणविशेषसे यदि उस वस्तुका उपयोग करना पड़ जाय तो ऐसा करनेके स्वयं अधिकारी न बनना चाहिये। ब्रह्माग्नी आशुके अनुसार ही आचरण करना चाहिये नहीं तां उसमें स्थितिगत आ जाती है, और मृतका मग हो जाता है।

(४)

मोह-कपाय

हरेक जीवकी अपेक्षासे जाननि क्रोध, मान, माया और छोम—यह कम रक्खा है। यह कम इन कपायोंके क्षय होनेकी अपेक्षासे रक्खा है।

पश्चिमी कपायके क्षय होनेसे क्रमसे दूसरी कपायोंका क्षय होता है। तथा अमुक अमुक जीवोंकी अपेक्षासे मान, माया, छोम और क्रोध ऐसा जो कम रक्खा गया है वह देख, कुछ और क्षेत्रको देखकर ही रक्खा गया है। पश्चिमे जीवको अपने आपको दूसरेसे ऊँचा समझनेसे मान उत्पन्न होता है; फिर उसके स्थिते वह क्रोध-क्षय करता है, और उससे पैसा पैदा करता है; और पैसा करनेमें निष्ठ करनेवालेके ऊपर क्रोध करता है। इस तरहसे कपायकी प्रकृतियों अमुकमसे बँपती हैं; जिसमें छोमकी तो इतनी प्रबल मिश्रित है कि जीव उसमें अपने मानवत्तको भी भूख खाता है, और उसकी परवाहतक भी नहीं करता; इसस्थिते मानरूपी कपायके कम करनेसे अमुकमसे दूसरी कपाय भी इसके साथ साथ कम हो जाती है।

(५)

जास्या और अज्ञा

हरेक जीवको जीवके अस्तित्वसे जगाकर मोहवत्तकी पूर्णरूपसे अज्ञा रखनी चाहिये। इसमें जग भी शंका नहीं रखनी चाहिये। इस जगह अज्ञा रक्खना, यह जीवके पतित होनेका कारण है, और यह इस प्रकारका स्वात्मक है कि कहीं भी गिर जानेसे फिर कोई भी स्थिति नहीं रह जाती।

एक अंतर्मुखमें उत्तर मोहवाकी सीमाकी स्थिति बँपती है; जिसके कारण जीवको असंख्यातों मेंमें अमग करना पड़ता है।

परित्रासे गिरा हुआ तो ठिगाने जग भी जाता है, पर दर्शनमोहसे गिरा हुआ ठिगाने नहीं खाता। कारण यह है कि समझमें फेर होनेसे करनेमें भी फेर हो जाता है। वाँतरगारूप जानिके बचनमें अल्पवामाव होना संभव नहीं है। उसके अकर्मममें रहकर मारों बहुत ही निष्काङ्क्ष हो, हाँ रीतिसे अज्ञाकी जग भी स्थूल नहीं करना चाहिये। जब जब शाक्तके उपस्थित होनेका प्रसंग उपस्थित हो, तब तब जीवकी निवारना चाहिये कि उसमें अपनी ही भूख होती है। जिस मतिसे वाँतरगार पुरुषनि ज्ञानको कहा है वह मति इस जीवमें है ही नहीं और इस जीवकी मति तो यदि शाक्तमें नमक कम पड़ा हो तो इतने मात्रमें ही रुक जाती है; तो फिर वाँतरगारके ज्ञानकी मतिकर मुक्तमन तो वह कहीं कर सकता है। इस कारण वाँतरगार गुणव्यापकके वाँतरगार भी जीवको ज्ञानीका अवलंबन लेना चाहिये, ऐसा कहा है।

अधिकारी न होनेपर भी जो ऊँचे ज्ञानका उपदेश दिया जाता है, वह केवल इस जीवको अपनेको ज्ञानी और वाँतर मान लेनेके कारण—उसके मान गड़ करनेके कारण—ही दिया जाता है; और जो मतिके स्थानकोसे बात कही जाती है, वह केवल इसस्थिते कही जाती है कि वैसा प्रसंग प्राप्त होनेपर भी जीव नीचेका नीचे ही रहे।

विनाशमें इस काजकी जो 'दुःख' सजा करी है, वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है, क्योंकि जो 'दुःख'से प्राप्त होने योग्य हो' उसे दुःख कहते हैं। उस दुःखसे प्राप्त होने योग्य तो मुख्यरूपसे एक परमार्थ-मार्ग कहा जा सकता है और उस प्रकारकी स्थिति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। यद्यपि परमार्थ मार्गकी दुर्लभता सर्व काळमें है, परन्तु इस काळमें तो काळ भी विशेषरूपसे दुर्लभताका कारणभूत है।

यहाँ कहनेका यह प्रयोजन है कि प्रायः करके इस क्षेत्रमें वर्तमान काळमें पूर्वमें जिसने परमार्थ-मार्गका आचरण किया है, वह देह-भरण नहीं करता। और यह सत्य है, क्योंकि यदि उस प्रकारके जीवोंका समूह इस क्षेत्रमें देहवारीरूपसे रहता होता, तो उन्हें और उनके समागममें आनेवाले अनेक जीवोंको परमार्थ-मार्गकी प्राप्ति सुखपूर्वक होसकी होती, और इससे फिर इस काळको दुःख काळ कहनेका कोई कारण न रह जाता। इस प्रकार पूर्वोक्त जीवोंकी अल्पता इत्यादि होनेपर भी वर्तमान काळमें यदि कोई भी जीव परमार्थ-मार्गका आचरण करना चाहे तो वह अप्रत्यक्ष ही आचरण कर सकता है, क्योंकि दुःखपूर्वक भी इस काळमें परमार्थ-मार्ग प्राप्त तो हो सकता है, ऐसा पूर्वज्ञानियोंका कथन है।

वर्तमान काळमें सब जीवोंको मार्ग दुःखसे ही प्राप्त हो, ऐसा एकान्त अभिप्राय नहीं समझना चाहिये परन्तु प्रायः करके मार्ग दुःखसे प्राप्त होता है ऐसा अभिप्राय समझने योग्य है। उसके बहुतसे कारण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं —

(१) प्रथम कारण यह है जैसा ऊपर बताया है कि प्रायः करके जीवकी पूर्वकी आचरकता नहीं है।

(२) दूसरा कारण यह है कि उस प्रकारकी आचरकता न होनेके कारण वर्तमान देहमें उस आचरक-मार्गकी चीज भी पहिंचे न समझनेसे, अनाचरक-मार्गको ही आचरक-मार्ग मानकर जीवकी प्रवृत्ति होती है।

(३) तीसरा कारण यह है कि प्रायः करके कहीं ही संस्तमागम अथवा सद्गुरुका योग होता है, और वह भी बहिष्कृत ही होता है।

(४) चौथा कारण यह है कि असंस्तम आदि कारणोंसे जीवको सद्गुरु आत्मीकी पहिचान होना भी दुष्कर होता है, और प्रायः करके असद्गुरु आदिमें ही सत्य प्रतीति मानकर जीव कहीं कुछ जाता है।

(५) पाँचवा कारण यह है कि बहिष्कृत समागमका संयोग बने तो भी अन्तर्-वीर्य आत्मीकी इस प्रकारकी विधिधृता रहती है कि जीव तत्काल्य मार्गको ग्रहण नहीं कर सकता, अथवा उसे समझ नहीं सकता, अथवा असंस्तम आदिसे या अन्तर्-कल्पनासे मिथ्यामें सत्यरूपस प्रतीति कर बैठता है।

प्रायः करके वर्तमानमें जीवने या तो दृष्ट-क्रियायी प्रधानतामें माध्वमार्गकी कल्पना की है, अथवा वाद-क्रिया और दृष्ट व्यपहार-क्रियाके उपायन करनेमें मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है, अथवा

अपनी बुद्धिको कल्पनासे व्यक्तत्वके प्रयोगोंको पढ़कर कल्पनामय व्याख्यान पाकर मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है। ऐसे कल्पना कर लेनेसे जीवको सम्प्रसादाय आति हेतुमें उस मायताका व्यापक भाषा उपस्थित करके परमार्थकी प्राप्तिमें स्तम्भक होता है।

जो जीव द्रुक्-क्रियाकी प्रभावतामें ही मोक्ष-मार्गकी कल्पना करते हैं, उन जीवोंको तत्पक्ष उपदेशका आचार भी उहा करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इस तरह चार तरहसे मोक्ष-मार्गके कहे जानेपर भी पहिलेके दो पद तो उनके विस्तृततन्त्र ही होते हैं। और चारित्र सम्प्रदाय अर्थ वेप तथा केवल ब्रह्म-वैदिकमें ही समझे हुएके समान होता है। तथा तप शब्दका अर्थ केवल उपवास आदि स्वका करना भी केवल ब्रह्म-सम्प्रदायमें ही समझे हुएके समान रहता है। तथा यदि कमी ज्ञान दर्शन पद कहने भी पक्ष जीव तो यहाँ भीदिक-कल्पनके समान मार्गोंके कल्पनको ज्ञान, और उसकी प्रतीति अथवा उस कहनेवालेकी प्रतीतिमें ही दर्शन शब्दका अर्थ समझे हुएके समान रहता है।

जो जीव ब्रह्म-क्रिया (ज्ञान आदि) और द्रुक् व्यक्ताव-क्रियाके उत्पादन करनेको ही मोक्ष-मार्ग समझते हैं, वे जीव शास्त्रोंके किसी एक बचनको गहनमूर्तसे ही ग्रहण करके समझते हैं। यदि ज्ञान आदि क्रिया किसी अङ्कार आदिसे, निवृत्त बुद्धिसे, अथवा जहाँ उस प्रकारकी क्रिया संभव न हो ऐसे छोटे गुणव्याप्त आदि स्थानमें की जाय, तो वह संसारका ही हेतु है, ऐसा शास्त्रोंका मूल आशय है। परन्तु ज्ञान आदि क्रियाओंके मुख्य ही उत्पादन कर ब्रह्मके शास्त्रोंका अभिप्राय नहीं है; इसे जीव केवल अपनी मूर्तकी कल्पनासे ही निषेध करता है। तथा व्यक्ताव दो प्रकारका है—एक परमापेक्षितमूल व्यक्ताव और दूसरा व्यक्तावकय व्यक्ताव। पूर्वमें इस जीवके वनर्तनार आशय करनेपर भी आशय नहीं हुआ ऐसे शास्त्रोंमें वाक्य हैं। उन वाक्योंको पढ़कर जीव अपने आपको व्यक्तावका विकृतुल ही उत्पादन करनेवाला समझा हुआ मान लेता है; परन्तु शास्त्रकारने तो ऐसा कुछ भी नहीं कहा। जो व्यक्ताव परमापेक्षितमूल व्यक्ताव नहीं और केवल व्यक्तावजैत व्यक्ताव है, शास्त्रकारने उसीके हुएप्रकाश निषेध किया है। जिस व्यक्तावका फल चतुर्गति होता है वह व्यक्ताव व्यक्ताव हेतु कहा जा सकता है अथवा जिस व्यक्तावसे आत्माकी विचार-दशा दूर होने योग्य न हो, उस व्यक्तावको व्यक्तावजैत व्यक्ताव कहा जा सकता है। इसका शास्त्रकारने निषेध किया है, और वह भी एकतरसे नहीं किया। केवल हुएप्रकाशसे अथवा उसीमें मोक्ष-मार्ग माननेवालेको उसे अपने व्यक्तावके ऊपर करनेके लिये इसका निषेध किया है। और परमापेक्षितमूल व्यक्ताव—सम, संवेग, निर्देश, वृत्तव्या, आस्था अथवा सद्गुरु स्थापना और मनबचन आदि समिति, तथा गुप्ति—का निषेध नहीं किया। और यदि उसका निषेध करने योग्य होता तो फिर शास्त्रोंका उपदेश करके वाक्य क्या समझने बैठा रहे जाता या अथवा फिर किन साधनोंको करनेका उपदेश करना बाकी रहे जाता या जिससे शास्त्रोंका उपदेश किया। अर्थात् उस प्रकारके व्यक्तावसे परमार्थ प्राप्त किया जाता है, और जीवको उस प्रकारका व्यक्ताव अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये, जिससे वह परमार्थ प्राप्त करे, ऐसा शास्त्रोंका आशय है। द्रुक्-व्यक्ताव अथवा उसके समागमों इस आशयके समझे बिना ही उस व्यक्तावका उत्पादन करके अपने और दूसरेकी बोधि-दुर्लभता करते हैं।

शाम, सवेरा आदि गुणोंके उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष, मिथ्याज्ञता होनेपर, कर्माय आदिके कृत्वा होनेपर अथवा किसी भी प्रज्ञाविशेषसे समझनेकी योग्यता होनेपर, जो सद्गुरुके पाससे समझने योग्य अन्त्यात्म प्रयोगोंको—जो बहोतक प्रायः करके प्राप्त जैसे हैं—अपनी कल्पनासे जैसे जैसे पढ़कर निश्चय करके, उस प्रकारके अंतर्महोके उत्पन्न हुए बिना ही अथवा दशाके बदले बिना ही, विभावके दूर हुए बिना ही, अपने आपमें ज्ञानकी कल्पना कर लेता है, तथा किया और गुप्त व्यवहाररहित होकर प्रकृति करता है—यह झुठ-अध्यात्मिका तीसरा भेद है। जीवको जगह जगह इस प्रकारका संयोग मिथ्या आया है, अथवा झलरहित गुरु या परिष्कृत आधिके इच्छुक गुरु, केवल अपने मान पूजा आदिकी कल्पनासे छिन्नेवाले जीवोंको, अनेक प्रकारसे कुमार्गपर चला देते हैं और प्राप्त करके कोई ही पेसी जगह होती है, जहाँ ऐसा नहीं होता। इससे ऐसा भाव्य होता है कि कालकी दुःपमता है।

यह जो दुःपमता किसी है वह कुछ जीवको पुरुषार्थरहित करनेके लिये नहीं लिखी, परन्तु पुरुषार्थकी जगृदिके लिये ही लिखी है।

अतुच्छ संयोगमें तो जीवको कुछ कम जागृति हो तो भी कदाचित् हानि न हो, परन्तु जहाँ इस प्रकारका प्रतिकूल योग रहता हो वहाँ मुमुक्षुको अवश्य ही अधिक जागृत रहना चाहिये, जिससे तपास्व्य परामर्श न हो, और वह उस प्रकारके किसी प्रज्ञासे प्रभावित न हो जाय।

यद्यपि वर्तमान कालको दुःपम काल कहा है, फिर भी यह ऐसा भी है कि इसमें अनंत भवको छेदकर केवल एक भव बाकी रखनेवाला एकाव्यतापीयमा भी प्राप्त हो सकता है। इसलिये विचारवान जीवको इस लक्ष्यको रखकर, ऊपर कहे हुए प्रज्ञाओंमें न पड़ते हुए, पञ्चाशक्ति वैराग्य आदिका अवश्य ही आचरण करके, सद्गुरुका योग प्राप्त करके, कर्माय आदि दोषको नष्ट करनेवाले और अज्ञानसे रहित होनेके सत्य मार्गको प्राप्त करना चाहिये। मुमुक्षु जीवमें जो शम आदि गुण कहे हैं, वे गुण अवश्य समझ होते हैं, अथवा उन गुणोंके बिना मुमुक्षुता ही नहीं कही जा सकती।

नित्य ही उस प्रकारका परिचय रखते हुए, उस उस बातको भ्रमण करते हुए, निचारते हुए, फिर फिरसे पुरुषार्थ करते हुए वह मुमुक्षुता उत्पन्न होती है। उस मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेपर जीवको परमार्थ-मार्ग अवश्य समझमें आता है।

३४९

बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९४९

प्रसादके कम होनेका उपयोग इस जीवको मार्गिक निचारमें स्थिति करता है, और निचार मार्गमें स्थिति करता है। इस बातको फिर फिरसे निचार करके उस प्रफलको वहाँ किसी भी तरह दूर करना योग्य है। यह बात मूखने योग्य नहीं है।

३५०

बम्बई, कार्तिक वदी १२ सुप १९४९

“पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे ही कहनेमें अच्छा हूँ,” यह वाक्य पूर्वभवेके किसी संयोगके स्मरण होते समय सिद्ध होनेसे लिखा है। जिसको पुनर्जन्म काि मानव्य किया है उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर ही यह वाक्य लिखा गया है।

३५१

बम्बई मगसिर नं० ९ खेम १९७९

(१) उपाधिके सहन करनेके लिये जितनी चाहिये उतनी कठिनाई भेरेमें मानी है, इसलिये उपाधिसे व्यर्थ मित्रता पानेकी इच्छा खा करती है, फिर भी उन्मत्त जमाने पर वयाशक्ति स्थान होती है ।

परमार्थका दुःख मित्रनेपर भी संसारका प्रासंगिक दुःख तो खा ही करता है और वह दुःख वास्तवी इच्छा आदिके कारण नहीं, परन्तु दूसरेकी अनुकम्पा तथा उपकार आदिके कारण ही रहता है, और उस निश्चयमें चित्त कभी कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है ।

इतने वेदके ऊपरसे वह उद्वेग स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता; कुछ अंशमें तुम्हें समझमें आयेगा । इस उद्वेगके सिवाय हमें दूसरा कोई भी संसारके प्रसंगका दुःख नहीं मान्य होता । जितने प्रकारके संसारके प्रसंग हैं, यदि उन सबमें निरुद्धता हो और उद्वेग रहता हो, तो वह अन्यकी अनुकम्पा अपना उपकार अपना इसी प्रकारके किसी कारणसे रहता है, ऐसा मुझे निश्चयरूपसे मान्य होता है ।

इस उद्वेगके कारण कभी तो जीर्णोर्णों जीर्ण आ जाते हैं, और उन सब कारणोंके प्रति प्रवृत्ति करनेका मार्ग अनुक अंशमें परतंत्र ही निश्चय देता है, इसलिये समान उदासीनता आ जाती है ।

ज्ञानके मार्गका विचार करनेपर मान्य होता है कि यह देह किसी भी प्रकारसे मूर्च्छा करनेके योग्य नहीं है; उसके दुःखसे इस आत्माको शोक करना योग्य नहीं । आत्माको आत्म-व्यसनसे शोक करनेके सिवाय उसे दूसरा कोई शोक करना योग्य नहीं है । प्रगल्भरूपसे समझने समझने पर भी जिसकी देहमें मूर्च्छा नहीं आती, उस पुरुषको नमस्कार है । इसी बातका चिंतन करना, यह हमें तुम्हें और सबको योग्य है ।

देह आत्मा नहीं है । आत्मा देह नहीं है । जैसे घरेको देखनेवाला घरेसे निश्च है, इसी तरह देहको देखनेवाली, जाननेवाली आत्मा देहसे निश्च है, बर्णात् वह देह नहीं है ।

विचार करनेसे यह बात प्रगल्भ अनुभवसे सिद्ध होती है, तो फिर इससे भिन्न देहके स्वाभाविक क्षय-वृद्धिक्रम आदि परिणामको देखकर हर्ष-शोक कुछ होना किसी भी प्रकारसे योग्य नहीं है; और तुम्हें और हमें उसका निर्धारण करना-रखना-योग्य है, और यही ज्ञानके मार्गको मुख्य जानी है ।

(२) व्यापारमें यदि कोई पणिक व्यापार शुरू पड़े तो आत्मिक कुछ काम होना समभव है ।

३५२

बम्बई, मगसिर नं० ११ छानि १९७९

मान्यता स्तुत्याभ्युपगमने पञ्चाशमें केवल पौन मिलितके भीतर देहको त्याग दिया है । संसारमें उदासीन रहनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

३५३

बम्बई, मगसिर नं० १२ गुफ १९७९

हम सब मनुष्योंके प्रति मन्त्रदासे पण्ययोग्य पण्य । हम निरन्तर ज्ञानी पुरुषकी सेवाकी इच्छा

करते हैं, परन्तु इस दुःपथ काष्ठमें तो उसकी प्राप्ति परम दुःपथ देखते हैं, और इससे हानी पुरुषके आत्मपथमें जिसकी सुखी स्थिर है, ऐसे मुमुक्षुजनमें सत्सङ्गपूर्ण भक्तिभावसे रहनेकी प्राप्तिको महामार्ग रूप मानते हैं; फिर भी हाथमें तो उससे विपर्यय ही प्रारम्भोन्मय रहता है। इसारा सत्सङ्गका सञ्च आश्रममें ही रहता है, फिर भी उदयाधीन स्थिति है, और वह हाथमें इस प्रकारके परिणामसे रहती है कि तुम मुमुक्षुजनके पत्रकी पहुँचमात्र भी बिखरसे दी जाती है। परन्तु किसी भी स्थितिमें हमारे अपरव्य-योग्य परिणाम नहीं है।

३५४

बम्बई, माघ वरी ७ सुब १९४९

यदि कार्य मनुष्य हमारे विषयमें कुछ कहे तो उस अर्हताक बन गमीर मनसे सुन रहना, इतना ही मुख्य कार्य है। वह बात ठीक है या नहीं, यह जाननेके पहिले कार्य हय-विपाद बैसा नहीं होता।

मेरी विशुद्धि-विषयमें जो कमी कमी लिखा जाता है, उसका वर्ण परमार्थके ऊपर उना चाहिये, और इस लिखनेका वर्ण व्यवहारमें कुछ मिथ्या परिणामका दिखाना योग्य नहीं है।

परे हुए सम्कारोंका मिटना दुर्लभ होता है। कुछ कल्याणका कार्य हो अपना चितवन हो, यही साधनका मुख्य कारण है, बाकी ऐसा कोई भी विषय नहीं कि जिसके पीछे उपाधि-तापसे दीन तापपूर्ण अपना योग्य हो, अथवा इस प्रकारका कोई भय रहना योग्य नहीं कि जो अपनेका केवल स्नेह-सहासे ही रहता हो।

३५५

बम्बई, माघ वरी ११ रवि १९४९

ॐ

यहाँ मनुष्य-उत्पत्ति समधि ॥

प्रमात्तके विषयमें जो आपका विचार रहते हैं वे कल्याणभावके कारण रहा करते हैं, ऐसा हम मानते हैं। कोई भी जीव परमार्थके प्रति केवल एक अंशसे भी प्राप्त होनेके कारणको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण कल्याणार्थि श्रममें आदि तीर्थकरने भी किया है। क्योंकि संपुर्णके संप्रदायकी पत्नी ही सनातन कल्याणस्था होती है कि समयमात्रक अनवकाशसे समस्त लोक आत्मावस्थाके प्रति सम्मुख हो, अन्तस्वरूपके प्रति सम्मुख हो, आत्मसमाधिके प्रति सम्मुख हो आर अन्य अवस्थाके प्रति सम्मुख न हो, अन्य स्वरूपके प्रति सम्मुख न हो, अन्य अधिके प्रति सम्मुख न हो जिस ज्ञानस स्वात्मस्य परिणाम होता है, वह ज्ञान सब जीवोंको प्रगट हो, अनवकाशरूपसे सब जीव उस ज्ञानके प्रति कविसम्पन्न हो—यही प्रकारका जिसका कल्याणार्थि स्वभाव है, वह सनातन पुरुषोंका संप्रदाय है।

आपके अंत-करणमें इसी प्रकारकी कल्याण-वृत्ति प्रमात्तके विषयमें बारम्बार विचार आया करता है। और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो, अथवा उस फल प्राप्त होनेका एक अंशमात्र भी कारण उत्पन्न हो, तो इस पञ्चम काष्ठमें तीर्थकरका मार्ग बहुत अँधोसे प्रगट होनेका बराबर है; परन्तु

ऐसा होना सम्यक् नहीं, और यह इस मार्गसे होना योग्य नहीं, ऐसा हमें लगता है। जिससे यह समझ होना योग्य है, अथवा इसका जो मार्ग है, वह बाह्यमें तो प्रवृत्तिके उदयमें है, और अन्तरिक वह कारण उदयके अन्तर्गते न आ जाय, तबतक कोई दूसरा उपाय प्रतिपद्य रूप ही है—नि संशय प्रतिपद्य रूप ही है। और यदि अज्ञान-परिणामी हो तो जिस तरह उस अज्ञानको नियमितरूपसे व्यापन करनेसे कल्याण नहीं है, उसी तरह मोक्षरूप मार्ग अथवा इस प्रकारका जो इस अक्षयकभी मार्ग है, वह मात्र संसार ही है। उसे फिर चाहे जिस आकारमें रखो तो भी वह संसार ही है। उस संसार परिणामसे स्थित करनेके लिये जब असंसारगत बाधोंका अन्तर्मुख परिणामसे व्यापन प्राप्त होता है उस समय उस संसारका अन्तर्गत निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी इच्छाके अनुसार दूसरा प्रतिपद्य किया करते हैं, तथा अपनी उस इच्छासे यदि वे ज्ञानके वचनकी भी व्यापनमा करें तो कल्याण होना योग्य मन्स नहीं होता।

इसलिये हम उन्हें ऐसा बिलो कि यदि तुम किसी कल्याणके कारणके लक्ष्य होनेके उपायकी इच्छा करते हो, तो उसके प्रतिपद्यका कम होनेका उपाय करो; और नहीं तो कल्याणकी दुष्प्रकृति त्याग करो। शायद तुम ऐसा समझते हो कि जैसे तुम स्वयं व्यापन करते हो वैसे ही कल्याण है, मात्र जो अन्तर्मुख हो गई है, वही एक अकल्याण है। परन्तु यदि ऐसा समझते हो तो वह पर्याप्त नहीं है। वास्तवमें जो तुम्हारा व्यापन है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जब जब जिस जिस जीवको उस उस प्रकारका प्रवृत्तिपति आदि योग समीपमें हो, तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। समस्त समझमें ही कल्याण मान लेना योग्य नहीं है और यदि ऐसे कल्याण होता हो तो उसका फल संसारमें ही है। क्योंकि पूर्वमें इससे जीव संसारी रहता जाया है। इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा तब आवेगा। इसमें तुम अपनी इच्छाके अनुसार अथवा जो तुम्हें भास होता है, उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हो इस विषयमें सहज ही, किसी प्रकारका मानकी इच्छाके बिना ही स्वार्थके इच्छाके बिना ही तुम्हें ऐसा उपाय करनेकी इच्छाके बिना ही, मुझे जो कुछ विषयमें लगता है उसे फल देता हूँ।

जिस मार्गसे कल्याण होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमें आते हैं। एक तो यह कि जिस सम्प्रदायमें आचार्यके लिये ही सम्पूर्ण असंगतापुत्र किमार्थें हो—दूसरे किसी भी प्रयोजनकी इच्छासे न हो आर निरंतर ही ज्ञान-दशाके उत्तर जीवोंका चित्त रहता हो, उसमें अक्षय ही कल्याणके उपाय होनेका योग मानते हैं। यदि ऐसा न हो तो योगका मिथ्या समझ नहीं है। यहाँ तो अन्त-संज्ञा, ओष-संज्ञासे मानके लिये पूजाके लिये, परके महत्त्वके लिये आत्मक ज्ञानिके अपनेपनके लिये, अथवा इसी तरहके किसी दूसरे कारणोंसे अथ, तब आदि व्याख्यात आदिके करनेकी प्रवृत्ति चढ पड़ी है परन्तु वह किसी भी तरह आचार्यके लिये नहीं है—आचार्यके प्रतिपद्य रूप ही है। इसलिये यदि तुम कुछ इच्छा करते हो तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण चाहते हैं, उसके असंगतसे उपाय होनेपर किसी समय भी कल्याण होना समझ है।

असंगता अर्थात् आचार्यके सिवाय संग-प्रसंगमें नहीं पड़ना—शिष्य आदि बननेके कारण संसारके साधियोंके संगमें वातचीत करनेका प्रसंग नहीं रहना, शिष्य आदि बनानेके लिये गृहवासी

वेपथुल्लेखे साधमें नहीं सुमाना । 'दीक्षा छे छे तो तेरा कल्याण होगा', इस प्रकारके वाक्य तीर्थकरदेव भी नहीं कहते थे । उसका हेतु एक यह भी था कि ऐसा कहना भी—उसका दीक्षा छेनेका विचार होनेके पहिले ही उसको दीक्षा देना—कल्याणकारक नहीं है । जिसमें तीर्थकरदेवने भी इस प्रकारके विचारसे प्रवृत्ति की है, उसमें हम छह छह मास दीक्षा छेनेका उपदेश जारी रखकर उसे शिष्य बनाते हैं, यह केवल शिष्यके लिये ही है, आत्मार्थके लिये नहीं । इसी तरह यदि पुस्तकको ज्ञानकी आय-वमाके लिये, सब प्रकारके अपने ममत्वभावसे रहित होकर रक्खा जाय तो ही आत्मार्थ है, नहीं तो वह भी एक म्हात् प्रतियोग है, यह भी विचारने योग्य है ।

यह क्षेत्र अपना है, और उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये चातुर्मासमें बहों रहनेके लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्र-प्रतियोग है । तीर्थकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, काखसे और मांससे—इन चार प्रतिवर्षोंसे यदि आस्था होता हो, अथवा निर्ग्रह हुआ जाता हो, तो वह तीर्थकरके मार्गमें नहीं है, परन्तु ससारके ही मार्गमें है ।

३५६

बम्बई, फाल्गुन सुदी ७ शुक्र १९४९

आत्माको विभावसे अनकार्यमुक्त करनेके लिये और स्वभावमें अनकार्यरूपसे रहनेके लिये यदि कोई भी मुख्य उपाय हो तो वह आत्माराम जैसे ज्ञानी-पुरुषका निष्काम बुद्धिसे मक्ति-योगरूप सग ही है । उसे सफल बनानेके लिये निवृत्ति-क्षेत्रमें उस प्रकारका संयोग मिळना, यह किसी म्हात् पुण्यका योग है, और उस प्रकारका पुण्य-योग प्रायः ज्ञान अगत्में अनेक अवसरोंसे मुक्त दिखाई देता है । इसलिये हम समीपमें ही हैं ऐसा बारम्बार याद करके जिसमें इस ससारकी उद्यसीनता कही हो, उसे हाथमें बाँधो और उसका विचार करो । आत्मा केवल आत्मरूपसे ही रहे ऐसा चिंतन करना, यही क्य है और शास्त्र परमार्थरूप है ।

इस आत्माको पूर्वमें अनतकाल व्यतीत करनेपर भी नहीं जाना, इसपरसे ऐसा माझूम होता है कि उसके जाननेका कार्य सबसे कठिन है; अथवा जाननेका तपाकरूप योग मिळना परम दुर्लभ है । जो अनतकालसे ऐसा ही समझ करता है कि मैं अनुक्तको जानता हूँ अनुक्तको नहीं जानता, परन्तु ऐसा नहीं है । ऐसा होनेपर भी जिस रूपसे वह स्वयं है उस रूपका तो निरन्तर ही विस्मरण भवा जाता है—यह अधिकाधिक प्रकारसे विचार करने योग्य है, और उसका उपाय भी बहुत प्रकारसे विचार करने योग्य है ।

३५७

बम्बई, फाल्गुन सुदी १४, १९४९

(१)

जिस कालमें परमार्थ-धर्मकी प्राप्तिके कारण, प्राप्त होनेमें अथवा दुःख हो, उस कालमें तीर्थकरदेवने दुःख का कहना है; और इस कालमें यह बात स्पष्ट दिखाई देती है । सुगमसे सुगम ऐसा जो कल्याणका उपाय है, वह भी जीवको इस कालमें प्राप्त होना अत्यंत ही कठिन है । प्रत्यक्षता प्रत्यक्ष

निवृत्ति, सुख आदि साधनोंको इस काष्ठमें परम दुर्धम जामकर, पूर्वके पुरुषोंने इस काष्ठको ' इरा वनसर्पिणी ' कहल कहा है, और यह बात स्पष्ट भी है। प्रथमके तीन साधनोंका उपयोग तो कहीं भी हमने किसी काष्ठमें प्राप्त हो जाना सुगम था, परन्तु सर्वसंग तो सभी काष्ठमें दुर्धम ही मान्य होता है; तो फिर इस काष्ठमें तो वह सर्वसंग कहींसे सुखम हो सकता है। प्रथमके तीन साधनोंको भी किसी रीतिसे जीव इस काष्ठमें पा जाय, तो भी वन्य है। काष्ठसंघर्षी तीर्थकारकी भाणीका स्वर्य करनेके लिये हमें इस प्रकारका उदय रहता है, और वह समाधिकपक्षे सहन करने योग्य है।

व्यक्तमस्वरूप

(२)

बर्क, पञ्चम वदी १४, १९४९

इसके साथ मणिरत्नमाला तथा योगकन्याद्वय पक्षके लिये भेजे हैं। जो कुछ बॉक्स हुए हैं, उनको मोटो किता कोर्न उपाय नहीं है। चित्तमहित परिणामसे जो कुछ उन्पमें आये, उसे सहन करना, इस प्रकारका श्रीतीर्थकार आदि हानियोंका उपदेश है।

३५८

ॐ

(१)

बर्क, चैत्र सुदी १, १९४९

समता रमता चरमता, शायकता सुखमास।

वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविश्वास।

जिस तीर्थकारके लक्षणप्रथम अन्तमस्वरूप होकर, वन्यमस्वरूपसे—जिस प्रकारसे वह अन्तना कही जा सकती है उस प्रकारसे—उसे अन्तना यथायोग्य कहा है, उस तीर्थकारको दूसरी सब प्रकारकी अपेक्षाओंका त्याग करके हम नमस्कार करते हैं।

पूर्वमें बहुतसे शास्त्रोंका विचार करनेसे, उस विचारके फलमें स्वरूपमें जिसके वचनसे मणि उत्पन्न हुई है उस तीर्थकारके वचनको हम नमस्कार करते हैं।

बहुत प्रकारसे जीवका विचार करनेसे, वह जीव वन्यमस्वरूप पुरुषके किता जाना जाय, वह सम्यक् नहीं, इस प्रकारकी निश्चय श्रद्धा उत्पन्न करके उस तीर्थकारके मार्ग-बोधको हम नमस्कार करते हैं।

निम्न निम्न प्रकारसे उस जीवका विचार करनेके लिये—उस जीवके प्राप्त होनेके लिये—योग आदि अनेक साधनोंके प्रबल परिश्रम करनेपर भी जिसकी प्राप्ति न हुई ऐसा वह जीव, जिसके द्वारा सुख ही प्राप्त हो जाता है—वही कहनेका जिसका उद्देश है—उस तीर्थकारके उपदेश-वचनको हम नमस्कार करते हैं—

(अन्त्य)

(२)

इस जगत्में जिसमें वाणीरहित विचार-शक्ति मौजूद है ऐसा मनुष्य-प्राणी कल्याणका विचार करनेके लिये सबसे अधिक योग्य है। फिर भी प्रायः जीवको अन्तर्गत मनुष्यता प्राप्त होनेपर भी वह कल्याण सिद्ध नहीं हुआ, जिससे अन्तर्गत अन्त-मरणके मार्गका आराधन करना पड़ा है। अतएव इस लोके जीवोंकी संख्या अनन्त-कोटी है। उन जीवोंकी प्रति समय अन्तः प्रकारकी अन्त मरण

आदि स्थिति होती रहती है, इस प्रकारका अनतत्वात् पूर्वमें भी स्वीकृत हुआ है। इन अनत-कोटी जीवोंमें जिसने आत्म-कल्याणकी आराधना की है, अथवा जिसे आत्म-कल्याण प्राप्त हुआ है—ऐसे जीव अल्पत ही पाये हैं। वर्तमानमें भी ऐसा ही है, और भविष्यमें भी ऐसी ही स्थिति होना सम्भव है—ऐसा ही है। अर्थात् जीवोंको सीनों काळमें कल्याणकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है—इस प्रकारका जो धीतीर्थ-कर आदि ज्ञानीका उपदेश है वह सत्य है।

इस प्रकारकी जीव-समुदायकी भांति जनादि सयोगसे खड़ी जा रही है—ऐसा ठीक है—ऐसा ही है। वह भांति जिस कारणसे होती है, उस कारणके मुख्य दो भेद माह्रूम होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा म्याह्रारिक। और दोनों भेदोंका एकत्र जो अभिप्राय है वह यही है कि इस जीवको सच्ची समुदायता नहीं आई, जीवमें एक भी सत्य अक्षरका परिणाम नहीं हुआ, जीवको सत्पुरुषके दर्शनके लिये रुचि नहीं हुई, उस उस प्रकारके योगके मिश्रणसे समर्थ अंतःकरणसे जीवको वह प्रतिबन्ध रहता आया है। और उससे सबसे महान् कारण असत्सुगकी वास्तवसे अन्तःप्राप्ति निज-इच्छामात्र और असत्दर्शनमें सत्दर्शनरूप भांति है।

किन्तीका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। कोई दर्शनवाले ऐसा मानते हैं कि आत्मा नामक पदार्थ केवल संयोगिक ही है। दूसरे दर्शनवालोंके कथन है कि देखके रहते हुए ही आत्मा रहती है, देखके नाश होनेपर नहीं रहती। आत्मा अणु है, आत्मा सर्वव्यापक है, आत्मा शून्य है, आत्मा साकार है, आत्मा प्रकाशरूप है, आत्मा स्वतन्त्र नहीं है, आत्मा कर्ता नहीं है, आत्मा कर्ता है मोक्ष नहीं है, आत्मा कर्ता नहीं है मोक्ष है, आत्मा कर्ता भी नहीं मोक्ष भी नहीं, आत्मा जड़ है, आत्मा इन्द्रिय है, इत्यादि जिसके अनन्त भय हो सकते हैं, इस प्रकारके अभिप्रायकी भातिके कारण असत्दर्शनके आराधन करनेसे, पूर्वमें इस जीवने अपने वास्तविक स्वस्वको नहीं जाना। उस सबको ऊपर कहे अनुसार एकत्र—त्रयवर्ण्यरूपसे जानकर आत्मामें अथवा आत्मामें नामपर ईश्वर आदिमें पूर्वमें जीवने अग्रह किया है। इस प्रकारका जो असत्सुग, निज-इच्छामात्र, और मिथ्यादर्शनका परिणाम है वह जड़तक नहीं मिटता, तबतक यह जीव अज्ञानरहित सुख असत्सुग प्रवेशरूपक मुक्त होनेके योग्य नहीं है, और उस असत्सुग आदिकी निवृत्ति करनेके लिये सत्सुग, ज्ञानीकी आज्ञाका अत्यंत अंगीकार करना, और परमार्थस्वरूप को अग्रहमात्र है उसे जानना योग्य है।

पूर्वमें होनेवाले तीर्थकर आदि ज्ञानी-पुरुषोंने ऊपर कही हुई भांतिका अत्यंत विचार करके, अन्त एकप्रकारसे—तन्मयतासे—जीवका स्वरूप विचार करके जीवके स्वस्वमें सुख स्थिति की है। उस अग्रह और दूसरे सब पदार्थोंको सब प्रकारकी भांतिरहित जाननेके लिये धीतीर्थकर आदिने अत्यंत दुष्कर पुरुषार्थका आराधन किया है। आत्मामें एक भी अणुके आहार-परिणामसे अन्तःप्राप्ति करके उन्होंने इस देखने लगे ऐसी 'अज्ञात-आत्मा'को स्वस्वसे जीवित रहनेवाला देखा है। उसे देखनेवाले तीर्थकर आदि ज्ञानी स्वयं ही सुखाला हैं, तां फिर उनका भिन्नरूपसे जो देखना कहा है, वह यद्यपि योग्य नहीं है, फिर भी वाणी भर्मेसे ऐसा कहा है।

इस तरह अन्त प्रकारसे विचारनेके बाद भी जानने योग्य 'अज्ञात-आत्मा'को जीवित रहनेवाला देखा है।

प्रकारसे कहा है, जिसे सत्पुरुषसे जानकर, विचारकर, स्मरण करके जीव अपने स्वरूपमें स्थिति करे। तीर्थंकर वाणि ज्ञानीने प्रत्येक पदार्थको नष्टन्य और अवच्छिन्न्य इस तरह दो प्रकारके व्यवहार-धर्मसुख माना है। जो अवच्छिन्न्यरूपसे है वह यहाँ अवच्छिन्न्य ही है। जो नष्टन्यरूपसे जीवका धर्म है, उसे तीर्थंकर वाणि तब प्रकारसे कहनेके विषये समर्थ हैं, और वह जीवके विष्णुख परिणामसे अपना सत्पुरुषसे जानने योग्य केवल जीवका धर्म ही है। और वही धर्म उस क्षणसे अमुक मुख्य प्रकारसे इस दोहेमें कहा गया है। वह व्याख्या परमार्थके अत्यंत अम्याससे अत्यंत स्पष्टरूपसे समझमें आती है, और उसके समझ देनेपर अत्यंत आत्मस्वरूप भी प्रगट होता है, तो भी यथावकाश यहाँ उसका अर्थ लिखा है।

(१)

समता रमता सरवता, ज्ञायकता सुखमासः।

वेदकता चैतन्यता, ए सप्त जीवविकासः।

श्रीतीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि इस अंगत्वेमें ११ जीव नामके पदार्थको चाहें जिस प्रकारसे कहा हो, परन्तु यदि वह प्रकार उसकी स्थितिके विषयमें हो, तो उसमें हमारी उदासीनता है। जिस प्रकार निष्कार रूपसे उस जीव नामके पदार्थको हमने जाना है उस प्रकारसे उसे हमने प्रगटरूपसे कहा है। जिस क्षणसे उसे हमने कहा है, वह सब प्रकारसे निर्बाध ही कहा है। हमने उस आत्माको इस प्रकार जाना है, देखा है स्पष्ट अनुभव किया है, और प्रगटरूपसे हम वही जाना है। वह आत्मा 'समता' क्षणसे मुख है। वर्तमान समयमें जा उस आत्माकी असंख्य-प्रदेशात्मक चैतन्यस्थिति है, वह सब पहिछेके एक, दो तीन, चार, दस, संख्यात असंख्यात और अनंत समयमें थी; वर्तमानमें है; और भविष्यमें भी उसकी स्थिति उसी प्रकारसे होगी। उसके असंख्य प्रदेशात्मकता, चैतन्यता अकल्पित रूपान्ति समस्त स्वभाव कभी भी छूटने योग्य नहीं है। जिसमें ऐसा समपना—समता 'है वह जीव है।

पञ्च, षष्ठी, मनुष्य आदिकी देखने और कुछ आदिमें जो कुछ रमणीयता दिखाई देती है, अपना जिससे वह सब प्रगट स्वरूपसुख मान्य होता है—प्रगट सुखरतामुख मान्य होता है—वह 'रमणीयपना—रमता जिसका अर्थ है, वह जीव नामक पदार्थ है। जिसको मीनद्वारीके बिना समस्त अंगत्वात्पत्त्यत् मान्य होता है, जिसमें ऐसी रम्यता है—वह अर्थ जिसमें पठता है—वह जीव है।

कोई भी जाननेवाला कभी भी, किसी भी पदार्थको अपनी गौरीमूर्तगीसे जान के, यह बात होने योग्य नहीं है। पहिछे अपनी मीनद्वारी होनी चाहिये और किसी भी पदार्थके प्रमाण, श्रमा आदि अपना उदासीन ज्ञान होनेमें अपनी गौरीमूर्तगी ही कारण है। दूसरे पदार्थके अंगीकार करनेमें, उसके कल्पनात्र भी ज्ञानमें यदि पहिछे अपनी मीनद्वारी हो तो ही वह ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार सकते पहिछे छानेवाला जो पदार्थ है वह जीव है। उसे गीण करने अर्थात् उसके बिना ही यदि कोई कुछ भी जानना चाहे तो वह संभव नहीं है। केवल वही मुख्य हो तो ही वृत्त कुछ जाना जा सकता है। इस प्रकार जिसमें प्रगट उच्चता-धर्म 'है उस पदार्थको श्रीतीर्थंकर जीव कहते हैं।

प्रगट जड़ पदार्थ और जीवये दोनों जिस कारणसे परस्पर भिन्न पड़ते हैं, जीवका वह अर्थ 'ज्ञायकता' नामक गुण है। किसी भी समय ज्ञायकत्वहित भावसे यह जीव-पदार्थ किसीका भी अनु

नहीं कर सकता, और इस जीव नामक पदार्थके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थमें ज्ञापकता हो सकती। इस प्रकार अत्यंत अनुभवका कारण जिसमें 'ज्ञापकता' क्लृप्ता है, उस पर करने जीव कहा है।

एक आदि पौष विषयसम्बंधी अपवा समाधि आदि योगसम्बंधी जिस स्थितिमें सुख होना उसे जिस मिश्ररूपसे देखनेसे अन्तमें केवल उन सबमें सुखका कारण एक जीव पदावत है। इसलिये तीर्थंकरने जीवका 'सुखमास' नामका क्लृप्ता कहा है, और व्यवहार द्वाारा यह प्रगट माह्य होता है। जिस निग्रामे दूसरे सब पदार्थोंसे रहितपना है, वहाँ भी 'मै' ऐसा जो ध्यान होता है, वह वाक्की वषे हुए जीव पदार्थका ही है, दूसरा और कोई नहीं कि नहीं है, और निग्रामे सुखका आभास होना तो अत्यंत स्पष्ट है। वह जिससे मासित होता है क्लृप्ता जीव नामके पदार्थके सिवाय दूसरी किसी भी जगह नहीं देखा जाता।

यह स्फुटरहित है, यह मोठा है, यह सड़ा है, यह साफ है, मैं इस स्थितिमें हूँ, मैं ऊबने लगा हूँ, गरमी पड़ रही है, मैं ठुकी हूँ, मैं ठुका अनुभव करता हूँ—इस प्रकारका जो स्पष्ट वेदनान—अनुभवान—अनुभवपना यदि किसीमें भी हो तो वह जीव-पदमें ही है, अपवा वह बि क्लृप्ता हो वह पदार्थ जीव ही होता है, यही तीर्थंकर आदिका अनुभव है।

स्पष्ट प्रकाशपना—अनवामल-कोटी तेजस्वी दीपक, मणि, कज्र, सूर्य आदिकी कांति—जि प्रकारके बिना प्रगट होनेके किये समर्थ नहीं है; अर्थात् वे सब अपने आपकी बताने अपवा ज्ञान योग्य नहीं हैं जिस पदार्थके प्रकाशमें चैतन्यरूपसे वे पदार्थ जाने जाते हैं—स्पष्ट मासित होते हैं वे पदार्थ प्रकाशित होते हैं—वह पदार्थ जो कोई है तो वह एक जीव ही है। अर्थात् उस जीवका क्लृप्ता—प्रगटरूपसे स्पष्ट प्रकाशमान अवलोकन निरुभाव प्रकाशमान चैतन्य—उस जीवके। उपयोग क्लृप्तासे प्रगट—प्रगटरूपसे दिखाई देता है।

यं जो क्लृप्ता कहे हैं, इन्हें फिर फिरसे विचार करनेसे जीव निरुभावरूपसे जाना जाता है जिसके ज्ञानसे जीव जाना गया है, उन क्लृप्ताओंको तीर्थंकर आदिने इस प्रकारसे कहा है।

३५९

ॐ

बम्बई, वैशाख सुदी ६ शुक्ल १९१

उपाधिक योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा होती जाती हैसे हैसे उपाधिकी प्रशिक्षण योग विशेष दिखाई पड़ता है। चारों तरफसे उपाधिकी ही भीड़ है। वं ऐसी जिहा इस समय माह्य नहीं होती कि जहाँ इसी समय इसमेंसे छूटकर चले जाना हो तो किसी अपराधी न गिने जाय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके मुख्य अपराधमें पकड़ा जाना स्पष्ट सं निवृत्ति देता है; और यह वर्तमान अवस्था उपाधि-रहितपनेके अत्यंत योग्य है। प्रारम्भकी व्यवस्था इसी प्रकार प्रवर्ध किया गया होगा।

३६०

(१)

वर्ग्य, चैत्र सुदी ९, १९४९

आरम, परिग्रह, अस्तसंग आदि कल्याणमें प्रतिष्ठा करनेवाले कारणोंका, जैसे बने ऐसे कम ही परिचय हो, और उनमें उदासीनता प्राप्त हो—यही विचार हात्ममें मुख्यरूपसे रहना योग्य है ।

(२)

हात्ममें उस तरह आशक्तों आदिके होनेवाले समागमके सर्वप्रथम समाचार पड़े हैं । उस प्रसंगमें जीवको कवि अपना अरुचि उत्पन्न नहीं हुई, इसे श्रेयका कारण मानकर, उसका अनुसरण करके, निरंतर प्रवृत्ति करनेका परिचय करना योग्य है । और उस अस्तसंगका परिचय, जैसे कम हो जैसे, उसकी अनुकूलताकी इच्छा करके रहना योग्य है । जैसे बने जैसे अस्तसंगके संयोगकी इच्छा करना और अपने दोषको देखना योग्य है ।

३६१

वर्ग्य, चैत्र सुदी १ रवि १९४९

धार तरवारनी सोहली होहली, चौदमा भिनवणी चरणसीधा;

धारपर नाचवा देल बाजीगरा, सेबना-धारपर रहे न देवा ।

(आनंदघन—अनंतभिन-स्तवन)

इस प्रकारके मार्गको किन्तु कारणसे अव्यक्त कहिन कहा है, यह विचारने योग्य है ।

३६२

वर्ग्य, चैत्र सुदी ९ रवि १९४९

जैसे संसारसंबन्धी कारणोंके पदार्थोंकी प्राप्ति सुखमत्तसे निरंतर हुआ करे, और कोई बचन न हो, यदि ऐसा कोई पुरुष है तो उसे हम तीर्थंकरकल्प मानते हैं । परन्तु प्रायः इस प्रकारकी सुख प्राप्तिके योगसे जीवको अन्य काजमें संसारसे अव्यक्त वैराग्य नहीं आता और स्पष्ट अज्ञान उत्पन्न नहीं होता—ऐसा मानकर जो कुछ उस सुखम-प्राप्तिको हानि करनेवाला संयोग मिळता है, उसे उपकारका कारण मानकर, सुकूर्पक रहना ही योग्य है ।

३६३

वर्ग्य, चैत्र सुदी ९ रवि १९४९

सेसादी-नेहसे रहते हुए भीमती स्थितिसे व्यग्रता करें तो ठीक हो, ऐसा कदाचित् मासित हो तो भी उस व्यग्रताका करना तो आरम्भके ही आधीन है । किसी प्रकारके किसी रोग, श्रेय अपना अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय ही महत्त्व होता है ।

अहमे सामाजिक शीतलता है, परन्तु सूर्य आदिके तापके संबन्धसे वह उष्ण होता हुआ दिखाई

१ उन्मादकी कारणता तो स्पष्ट है, परन्तु बीमारी तीर्थंकरके चरित्रोंकी सेवा करना कहिन है । चरित्ररोग तो उन्मादकी कारणता नहीं है बल्कि वह है जो कि उन्माद के कारण ही उत्पन्न होता है ।

देता है, उस तापका संबंध दूर हो जानेपर वही जड़ फिर शीतल हो जाता है। बीचमें जो जड़ शीतलतासे रहित मादस होता था, वह केवल तापके सयोगसे ही मादस होता था। ऐसे ही हमें भी प्रकृतिका सयोग है, परन्तु हाकमें तो उस प्रकृतिके वेदम किये बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है।

३६४

बम्बई, चैत्र वदी ९, १९४९

जो मु यहाँ जातुर्मासके छिये आना चाहते हैं, यदि उनकी जामा बुझित न हो तो उनसे कहना कि उन्हें इस क्षेत्रमें आना निवृत्तिकर नहीं है। कदाचित् यहाँ उन्होंने सस्त्रगकी हृष्टासे आनेका विचार किया हो तो वह संयोग बनना बहुत कठिन है, क्योंकि यहाँ हमारा आना-जाना बने, यह समझ नहीं है। यहाँ ऐसी परिस्थिति है कि यहाँ उन्हें प्रकृतिके बलवान कारणोंकी ही प्राप्ति हो, ऐसा सम्भवकर यदि उन्हें कोई दूसरा विचार करना सुगम हो तो करना योग्य है। हाकमें तुम्हारी वहाँ कैसी दशा रहती है? यहाँ विशेषरूपसे सस्त्रगका समागम करना योग्य है। आत्मस्थित

३६५

बम्बई, वैशाख वदी ६ रवि १९४९

(१) प्रत्येक प्रदेशके जीवके उपयोगको आकर्षित करनेवाले संसारमें, एक समयके छिये भी अवकाश देनेकी हानी पुरुषोंमें ही नहीं कही—इस विषयका सर्वथा निषेध ही किया है। उस आकर्षणसे यदि उपयोग अवकाश प्राप्त करे तो वह उसी समय आत्मरूप हो जाता है—उसी समय आत्मामें वह उपयोग अन्तर्ग हो जाता है।

इत्यादि अनुमत्त-वार्ता जीवको सस्त्रगके एक निश्चयके बिना प्राप्त होनी अत्यंत कठिन है। उस सस्त्रगको जिसने निश्चयरूपसे जान लिया है, इस प्रकारके पुरुषको भी इस हू पत्र काकमें उस सस्त्रगका संयोग रहना अत्यंत कठिन है।

(२) जिस चिंताके उपरपसे तुम घबड़ाने हो, उस चिंताका उपब्रह्म कोई शत्रु नहीं है।
प्रेम-मण्डिते नमस्कार।

३६६

बम्बई, वैशाख वदी ८ भाग १९४९

जहाँ कोई उपाय नहीं, वहाँ खोज करना योग्य नहीं है।

ईश्वरेष्टाके अनुसार जो हो उसमें समता रहना ही योग्य है, और उसके उपायका यदि कोई विचार सुझ पड़े तो उसे करते रहना, मात्र इतना ही अपना उपाय है।

कवित् संसारके प्रसंगोंमें जबतक अपनेको अनुकूलता रहा करती है, तबतक उस संसारका स्वल्प विचारकर त्याग करना योग्य है, प्रायः इस प्रकारका विचार हरयमें आना कठिन है। उस संसारमें जब अधिकधिक प्रतिकूल प्रसंगोंकी प्राप्ति होती है, तो कदाचित् जीवको पक्षिष्ठ वे हाउर कर न होकर पीडेते देखिये जाता है, उसके बाद आत्म-समर्पणकी सूझ पड़ती है। और परमज्ज्ञा

हमारे समागमका अंतराय आकर चित्तको प्रमादका अवकाश देना योग्य नहीं, परस्पर मुमुक्षु भव्योक्ति समागमको अभ्यवस्थित होने देना योग्य नहीं, निवृत्तिके क्षेत्रके प्रसंगको मूल होने देना योग्य नहीं, क्षमतापूर्वक प्रवृत्ति करना उचित नहीं—ऐसा विचारकर जैसे बने तैसे अप्रमत्तताका, परस्परके समागमका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करना चाहिये।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह इस प्रकारकी है कि उसे दूसरे किसी मांसि चक्रेपर भी छोड़ी नहीं जा सकती—यह सहन ही करने योग्य है। इसलिये उसका अनुसरण करते हैं, फिर भी स्वस्थता तो अभ्यासावस्थितिमें बरसती होती है।

आज यह हम आठवीं पत्र लिखते हैं। इसे तुम सब विज्ञासु भव्योक्ति आरम्भार विचार करनेके लिये लिखा है। बिच इस प्रकारके उदयका कभी कभी हो जाता है। आज उस प्रकारका अनुक्रमसे उदय होनेसे उस उदयके अनुसार लिखा है। जब हम भी स्वर्गकी तथा निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर यह हम सबको रखनी योग्य हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब हम भी व्यवहारमें रहते हुए क्षमतापूर्वक और अभ्यवस्थितको, प्रारम्भ निवृत्तिरूपसे चाहते हैं, तो फिर तुम्हें उस तरह स्तब्ध करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं। इस समय ऐसा नहीं सूझता कि समागम होनेके उपयोगका नियमित समय लिखा जा सके।

१६९

कर्म, श्लोक १५ भीम १०४९

जीव तु जीव सोचना परे ? कृष्णने करुण होय ते करे;

जीव तु जीव सोचना परे ? कृष्णने करुण होय ते करे।

‘पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं उन ज्ञानियोंमें बहुतसे ज्ञानी-पुरुष सिद्धि-योगवाले नहीं हो गये हैं, यह जो कथित-कथन है वह सचा है या झूठ?’ यह आपका प्रश्न है। और ‘यह सचा मात्स्य होता है’ ऐसा आपका अभिप्राय है। तथा यह साक्षात् देखनेमें नहीं आता, यह आपकी निश्चिन्ता है।

फिरने ही मार्गानुसार पुरुष और ज्ञान-योगी पुरुषोंमें भी सिद्धि-योग होता है। प्रायः करके वह सिद्धि-योग उनके चित्तकी अभ्यवस्थितसे अपना सिद्धि-योग आदिसे ज्ञान-योगसे सुरक्षा प्रदान करनेसे प्रवृत्ति करता है।

सम्पत्कृति पुरुष—जिनके जीवा गुणस्थान होता है—जैसे ज्ञानी-पुरुषोंके कथित सिद्धि होती है और कथित सिद्धि नहीं होती। जिनके होती है उनके उसके प्रगट करनेकी प्राप्ति इच्छा नहीं होती; और प्रायः करके अब इच्छा होती है तब उस समय होती है जब जीव प्रमादके बन्ध होता है; और यदि उस प्रमादकी इच्छा हुई तो वह सम्पत्कृति गिर जाता है। प्रायः पौर्णमे और छोटे गुणस्थानमें भी उत्तरोत्तर सिद्धि-योग निरोध समझ होता जाता है; और यहाँ भी यदि प्रमाद आदिसे वागसे जीव सिद्धिमें प्रवृत्ति करे तो उसका प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

सातवें आठवें नवमें और दशमें गुणस्थानमें, प्रायः करके प्रमादका अवकाश कम होता है। ग्राह्यमें गुणस्थानमें सिद्धि-योगका जोष संभव होनेके कारण, यहाँसे प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

वाणी जितने सम्पन्नत्वके स्थानक हैं, और जहाँतक आत्मा सम्पन्न-परिणामी है, वहाँतक उस एक भी योगमें त्रिकालमें भी जीवकी प्रकृति होना समझ नहीं है।

सम्पन्नज्ञानी पुरुषोंसे जोगोंने जो सिद्धि-योगके चमत्कार जाने हैं, वे सब ज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए समझ नहीं मध्यम होते, वे सिद्धि-योग स्वभावसे ही प्रगटित हुए रहते हैं। दूसरे किसी कारणसे ज्ञानी-पुरुषमें वह योग नहीं कहा जाता।

मार्गानुसारी अथवा सम्पन्नसिद्धि पुरुषके अत्यंत सरल परिणामसे बहुतसी बार उनके फल हुए बचनके अनुसार बात हो जाती है। जिसका योग अज्ञानपूर्वक है, उसके उस आवरणके उदय होनेपर, अज्ञान प्रगट होकर, वह सिद्धि-योग अल्प कालमें ही फल दे देता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषसे तो वह केवल स्वामाधिकारसे प्रगट होनेपर ही फल देता है, किसी दूसरी तरहसे नहीं।

जिस ज्ञानीद्वारा स्वामाधिक सिद्धि-योग प्रगट होता है, वह ज्ञानी पुरुष, जो हम करते हैं उस तरहके, तथा उसी प्रकारके दूसरे अनेक तरहके चारित्रिक प्रतिबन्धक कारणोंसे मुक्त होता है; जिन कारणोंसे अहमात्मक ऐश्वर्य विशेष स्मरित होकर मन आदि योगमें सिद्धिके स्वामाधिक परिणामको प्राप्त करता है। कहीं ऐसा भी मानते हैं कि किसी प्रसंगसे ज्ञानी-पुरुषद्वारा भी सिद्धि-योग प्रगट किया जाता है, परन्तु वह कारण अत्यंत बलवान होता है। और वह भी सम्पूर्ण ज्ञान-शाका कार्य नहीं है। हमने जो यह लिखा है, वह बहुत विचार करनेपर समझमें आवेगा।

हमारी वास्तव मार्गानुसारीपना कहना योग्य नहीं है। अज्ञान-योगीपना तो जवसे इस देहको धारण किया तभीसे नहीं है, ऐसा माध्यम होता है। सम्पन्नसिद्धिपना तो अक्षय्य समझ है। किसी भी प्रकारके सिद्धि-योगको सिद्ध करनेका हमने कभी भी समस्त जीवनमें अल्प भी विचार किया हो, ऐसा याद नहीं आता, अर्थात् साधनसे उस प्रकारका योग प्रगट हुआ हो, यह माध्यम नहीं होता। हाँ, अहमात्मक विशुद्धताके कारण यदि कोई उस प्रकारका ऐश्वर्य हो तो उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। वह ऐश्वर्य कुछ अंशमें समझ है। फिर भी यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी दृष्टि हुई है, नहीं तो बहुत कालसे यह बात स्मरणमें ही नहीं; तो फिर उसे प्रगट करनेके लिये कभी भी इच्छा हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है।

तुम और हम कुछ दुःखी नहीं है। जो दुःख है वह तो रामके बीरह क्योंकि दुःख एक निम्न भी नहीं, पाँचवेंके स्तरह क्योंकि दुःखकी एक चढ़ी भी नहीं, और गजसुखुमारके ध्यानकी एक फल भी नहीं; तो फिर हमको इस अत्यंत कारणको कभी भी बताना योग्य नहीं। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जो हो मात्र उसे देखते रहो—इस प्रकार निश्चय रखनेका विचार करो; उपयोग करो और साधनानीसे रहो। यही उपदेश है।

३७०

बम्बई, प्रथम आगस्ट १९४०

गुरुदेव मंगासिर महीनेमें जबसे यहाँ आना हुआ उस समयमें उपाधि-याग उत्तरातर विभागद्वारा ही होता आया है, और प्रायः करक वह उपाधि-याग निम्न प्रकारके उपयोगसे सदन करना पड़ा है।

प्रीत्यर्थके बचनके अनुसार मुमुक्षु जीवको वे सब प्रसंग, जिन प्रसंगोंके कारण आत्म-साधन सूझता है, सुखदायक ही मानने योग्य हैं ।

अब एक समयात्क अनुकूल प्रसंगयुक्त सत्कारमें कदाचित् यदि सत्संगका सयोग हुआ हो, तो भी इस काममें उससे वैराग्यका वैसा आह्विये वैसा वेदना होना कठिन है । परन्तु उसका नाम यदि कोई प्रसंग प्रतिकूल ही प्रतिकूल बनता जब आप तो उसके विचारसे—उसके पक्षाघातसे—सत्संग हितकारक हो जाता है, यह जानकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसंगकी प्राप्ति हो, उसे आत्म-साधनका कारणरूप मानकर समाधि रखकर जागृत रहना चाहिये ।

कस्मिन्नात्मने किसी प्रकारसे यूँके हुएके समान नहीं है ।

३६७

बम्बई, बैशाख करी ९, १९४९

श्रीमद्वागीश्वरके गौतम आदि मुनिजन पूछते थे कि ॥ पूज्य ! मज्झिम भ्रमण, मित्र और निर्मम इन शब्दोंका क्या अर्थ है, सो हमें कहिये । उसके उत्तरमें श्रीतीर्थकार इस अर्थको विस्तारसे कहते थे । वे अनुक्रमसे इन बातोंकी बहुत प्रकारकी शीतरूप व्यवस्थाओंका विशेष-वृत्ति विशेषरूपसे कहते थे, और इस तरह क्षिप्त उस शब्दके अर्थको वारण करते थे ।

निर्ममकी अनेक दशाओंको कहते समय निर्ममके तत्परिकर 'आत्मवादप्रसंग' इस प्रकारका एक शब्द कहत थे । टीकाकार श्रीलंकाचार्य उस 'आत्मवादप्रसंग' शब्दका अर्थ इस प्रकार कहते हैं— 'उपयोग जिसका उच्छेद है असम्पन्न-प्रदेशी, संकोच-निकासका मानन, अपन किये हुए कर्मोंका मोक्षा, व्यवस्थासे द्रव्य-मर्मादिक, निष्प-जनित्य आदि अनत धर्मरूपक ऐसी आत्माको जाननेवाला आत्म-वादप्रसंग' है ।

३६८

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्ल १९४९

एक परमार्थके साधनोंमें परम साधन सत्संग—सत्पुरुषके चरणोंके समीप निवास—ही । सब काममें उसकी कठिनता है । और इस प्रकारके विषय काममें तो ज्ञानी पुरुषोंमें उसकी अवगत ही कठिनता मानी है ।

ज्ञानी-पुरुषोंकी प्रवृत्ति, प्रवृत्ति जैसी नहीं होती । जैसे गरम पानीमें अम्लिका मुक्त गुण नहीं कहा जा सकता वैसा ही ज्ञानीकी प्रवृत्ति है; फिर भी ज्ञानी-पुरुष भी किसी प्रकारसे निवृत्तिको ही इच्छा करता है । पूर्वकाममें आश्रयन किये हुए निवृत्तिक क्षेत्र, वन, उपवन, योग समाधि और सत्संग आदि ज्ञानी-पुरुषकी प्रवृत्तिमें होनेपर भी आरम्भार यात्रा जा जाते हैं; फिर भी ज्ञानी उदय-मस्त प्रारम्भका ही अनुसरण करते हैं । सत्संगकी रक्ति रहती है, उसका उक्त रहता है, परन्तु वह समय यहाँ नियमित नहीं है ।

कम्पायविषयक जो जो प्रतिबन्धक कारण हैं, उनका जीवको आरम्भार निवार करना योग्य है । उन सब कारणोंको आरम्भार निवार करके बुरा करना योग्य है और इस मार्गमें अनुसरण किये बिना कम्पायकी प्राप्ति नहीं होती । यह विशेष और अज्ञान के जीवनके अनादिमें तीन दोष हैं । ज्ञानी पुरुषोंके बचनकी प्राप्ति होनेपर, उसका यथायोग्य निवार करनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है । उस

अज्ञानकी सतति बलवान होनेसे, उसका निरोध करनेके लिये और ज्ञानी-पुरुषके बचनोंका यथायोग्य विचार करनेके लिये, मग्न और विक्षेपको दूर करना योग्य है। सरलता, श्रमा, स्व-दोषका निरीक्षण, अस्परश, परिग्रह इत्यादि ये मग्न दूर करनेके साधन हैं। ज्ञानी-पुरुषकी अत्यन्त मक्ति यह विक्षेप दूर करनेका साधन है।

यदि ज्ञानी-पुरुषके समागमका अंतराय रहता हो तो उस उस प्रसंगमें धारम्भार उस ज्ञानी-पुरुषकी दशा, चेष्टा, और उसके बचनोंका सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण करना, उनका याद करना और विचार करना योग्य है। और उस समागमके अंतरायमें—प्रवृत्तिके प्रसंगोंमें—अत्यन्त सावधानी रखना योग्य है, क्योंकि एक तो समागमका ही बन्ध नहीं, और दूसरी अनादि अभ्यासवाली सहजाकार प्रवृत्ति रहती है, जिससे जीवपर आवरण का जटो है। घरका, वातिका, अथवा दूसरे उस तरहके कामोंका कारण उपस्थित होनेपर उदासीनभावसे उन्हें प्रतिबध्द रूप जानकर, प्रवृत्ति करना ही योग्य है, उन कारणोंको मुख्य मानकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं, और ऐसा हुए बिना प्रवृत्तिसे अवकाश नहीं मिलता।

मिम मिम प्रकारकी कल्पनाओंसे आत्माका विचार करनेमें, छोक-सड़ा, ओच-सड़ा और अस-सग ये भी कारण हैं, इन कारणोंमें उदासीन हुए बिना नि स्वयं ऐसी छोकसर्बची अप, तप आदि क्रियाओंमें साक्षात् मोक्ष नहीं है—परंपरा भी मोक्ष नहीं है। ऐसा माने बिना नि स्वयं असत्वात् और असद्गुरुको—जो आत्मस्वरूपके आवरणके मुख्य कारण हैं—साक्षात् आत्म-यातक जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत कठिन है—अत्यन्त कठिन है। ज्ञानी-पुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कज्ञेबास्ते बचन भी उन कारणोंके सबसे ही जीवक स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते।

जब यह निश्चय करना योग्य है कि जिसको आत्मस्वरूप प्राप्त है—प्रगट है—उस पुरुषके बिना दूसरा कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कज्ञेनेके योग्य नहीं है, और उस पुरुषसे आत्माके जाने बिना दूसरा कोई कल्याणका उपाय नहीं है। उस पुरुषसे आत्माके जाने ही आत्माको जान लिया है, इस प्रकारकी कल्पनाका मुमुक्षु जीवका सर्वथा त्याग ही करना योग्य है। उस आत्मरूप पुरुषके सज्जनाकी निरंतर कामना रखते हुए जिससे उदासीनभावसे छेक-बर्मसबबसे और कर्मसबबसे छूट सकें, इस प्रकारसे व्यवहार करना चाहिये। जिस व्यवहारके करनेमें जीवको अपनी गह्रा आत्माकी इच्छा उत्पन्न हो, उस व्यवहारका करना योग्य नहीं है।

हाथमें अपने समागमका अंतराय जानकर निरताभावको प्राप्त होते हैं, फिर भी बैसा करनेमें ईश्वरेष्टा जानकर, समागमकी कामना रखकर, जितना मुमुक्षु भव्योका परस्पर समागम बने उतना करना चाहिये; जितना बने उतना प्रवृत्तिमें विरक्तभाव रखना चाहिये संपुरुषक परिश्र और मार्गावसारी (सुंदरदास, प्रीतम, असा, कबीर आदि) जीवोंके बचन, और जिनका मुख्य उद्देश्य आत्म-विषयक कथन करना ही है ऐसे (विचारसागर, सुंदरदासके ग्रन्थ, आत्मन्दधनवी, बनारसीदास, बसा आदिके ग्रन्थ) ग्रन्थोंका परिचय रखना; और इन सब साधनोंमें मुख्य साधन श्रीसुपुरुषके समागमको ही मानना चाहिये।

हमारे समग्रामका अंतराय जानकर चित्तको प्रमादका अवकाश देना योग्य नहीं, परस्पर मुमुक्षु मार्गियोंके समग्रामको अव्यवस्थित होने देना योग्य नहीं, निवृत्तिके क्षेत्रके प्रसंगको म्यून होने देना योग्य नहीं, कामनापूर्वक प्रवृत्ति करना उचित नहीं—ऐसा विचारकर जैसे बने तैसे अप्रमत्तताका, परस्परके समग्रामका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करना चाहिये।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह इस प्रकारकी है कि उसे दूसरे किसी मार्गसे चकनेपर भी छोड़ी नहीं जा सकती—यह सङ्ग ही करने योग्य है। इसलिये उसका अनुसरण करते हैं, फिर भी स्वस्थता तो अव्याज्वाब स्थितिमें जैसीकी ऐसी ही है।

जब यह हम आँखों पर निम्नते हैं। इसे हम सब विज्ञात मार्गोंके बारम्बार निवार करनेके लिये लिखा है। चित्त इस प्रकारके उदयका कभी कभी होता है। जब उस प्रकारका अनुमत्त उदय होनेसे उस उदयके अनुसार लिखा है। जब हम भी सासुगकी तथा निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर यह हम सबको रखनी योग्य हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब हम भी व्यवहारमें रहते हुए अव्यवस्थित और अन्य परिस्थितियों, प्राप्त्य निवृत्तिकरूपसे चाहते हैं, तो फिर हमें उस तरह कर्त्तव्य करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं। इस समय ऐसा नहीं सूझता कि समग्राम होनेके सयोगका नियमित समय लिखा जा सके।

१६९

अर्थात्, ग्रेट्ट ह्वी १५ मील १९४९

जीव तुं जीव सोचना चरे ! कृष्णने करवुं होय ते करे

जीव तुं जीव सोचना चरे ! कृष्णने करवुं होय ते करे !

पूर्वमें बाली-पुरुष हो गये हैं उन इन्द्रियोंमें बहुतसे बाली-पुरुष सिद्धि-योगवाले भी हो गये हैं, यह जो औत्तिक-कपल है वह सबा है या छूट ? यह आपका प्रश्न है; और 'यह सबा मरून होता है', ऐसा आपका अभिप्राय है; तथा यह साक्षात् देखनेमें नहीं आता, यह आपकी विज्ञात है।

फिरने ही मार्गानुसार पुरुष और अवज्ञा-योगी पुरुषोंमें भी सिद्धि-योग होता है। प्रायः करके वह सिद्धि-योग उनके चित्तकी अव्यवस्थित सरलतासे अथवा सिद्धि-योग आदिको अवज्ञा-योगसे सुरक्षा प्रदान करनेसे प्रवृत्ति करता है।

सम्पृक्त पुरुष—जिनके जीवा गुणस्थान होता है—जैसे बाली-पुरुषोंके कविर् सिद्धि होती है, और कविर् सिद्धि नहीं होती। जिनके होती है, उनको उसके प्रगट करनेकी प्राप्ति इच्छा नहीं होती; और प्राप्ति करके जब इच्छा होती है तब उस समय होती है जब जीव प्रमादके बरा होता है; और यदि उस प्रकारकी इच्छा हुई तो वह सम्पत्तसे गिर जाता है। प्रायः जीवोंमें और छोटे गुणस्थानमें भी उचपेतर सिद्धि-योग विशेष संभव होता जाता है, और यहाँ भी यदि प्रमाद आदिके योगसे जीव सिद्धिमें प्रवृत्ति करे तो उसका प्रथम गुणस्थानमें जा जाना संभव है।

सातवें, आठवें, नवमें और दशवें गुणस्थानमें, प्राप्ति करके प्रमादका अवकाश कम होता है। व्याख्या गुणस्थानमें सिद्धि-योगका जीव संभव होनेके कारण, यहाँसे प्रथम गुणस्थानमें जा जाना संभव है।

बाकी मिलने सम्पत्तिके स्थानक हैं, और अर्होतक आत्मा सम्पत्कृ-परिणामी है, अर्होतक उस एक भी योगमें शिकायमें भी जीवकी प्रवृत्ति होना समझ नहीं है।

सम्पत्कृती पुरुषोंसे लोगोंमें जो सिद्धि-योगके चमत्कार जाने हैं, वे सब ज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए समझ नहीं मान्य होते, वे सिद्धि-योग स्वभावसे ही प्रगटित हुए रहते हैं। दूसरे किसी कारणसे ज्ञानी-पुरुषमें वह योग नहीं कहा जाता।

मार्गानुसारी अथवा सम्पत्कृति पुरुषके अत्यंत सरल परिणामसे बहुतसी बार उनके कहे हुए वचनके अनुसार बात हो जाती है। जिसका योग अज्ञानपूर्वक है, उसके उस आधारभूत उदय होनेपर, अज्ञान प्रगट होकर, वह सिद्धि-योग अल्प कालमें ही फल दे देता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषसे तो वह केवल स्वामाधिकारसे प्रगट होनेपर ही फल देता है, किसी दूसरी तरहसे नहीं।

जिस ज्ञानीद्वारा स्वामाधिक सिद्धि-योग प्रगट होता है, वह ज्ञानी पुरुष, जो हम करते हैं उस तरहके, तथा उसी प्रकारके दूसरे अनेक तरहके चारित्रिक प्रतिबन्धक कारणोंसे मुक्त होता है; जिन कारणोंसे अहमात्मक ऐश्वर्य विशेष सुरित होकर मन आदि योगमें सिद्धिके स्वामाधिक परिणामको प्राप्त करता है। कहीं ऐसा भी मानते हैं कि किसी प्रसंगसे ज्ञानी-पुरुषद्वारा भी सिद्धि-योग प्रगट किया जाता है, परन्तु वह कारण अत्यंत बलवान होता है। और वह भी सम्पूर्ण ज्ञान-दशाका कार्य नहीं है। हमने जो यह लिखा है, वह बहुत विचार करनेपर समझमें आवेगा।

हमारी बात मार्गानुसारीपना कहना योग्य नहीं है। अज्ञान-योगीपना तो जबसे इस देहको धारण किया तभीसे नहीं है, ऐसा मान्य होता है। सम्पत्कृतिपना तो अवश्य समझ है। किसी भी प्रकारके सिद्धि-योगको सिद्ध करनेका हमने कभी भी समस्त जीवनमें अल्प भी विचार किया हो, ऐसा याद नहीं आता; क्योंकि सावनेसे उस प्रकारका योग प्रगट हुआ ही, यह मान्य नहीं होता। हाँ, अहमात्मिक विमुक्तिके कारण यदि कोई उस प्रकारका ऐश्वर्य हो तो उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। वह ऐश्वर्य कुछ अंशमें समझ है। फिर भी यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी स्मृति हुई है, नहीं तो बहुत कष्टसे यह बात स्मरणमें ही नहीं, तो फिर उसे प्रगट करनेके लिये कभी भी इच्छा हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है।

तुम और हम कुछ दुःखी नहीं हैं। जो दुःख है वह तो हमके चौदह बरोंके दुःखका एक दिन भी नहीं, पाँचबरोंके तेरह बरोंके दुःखकी एक घड़ी भी नहीं, और गजसुखमारके स्थानकी एक पल भी नहीं; तो फिर हमका इस अत्यंत कारणको कभी भी बताना योग्य नहीं। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जो हो मात्र उसे देखते रहो—इस प्रकार निश्चय रखनेका विचार करो; उपयोग, करो और सावधानीसे रहो। यही उपदेश है।

३७० बर्म्ह, प्रथम आश्विन १९४०

गतवर्ष भगवत्सिद्धि-महोत्सवमें जबसे यहाँ आना हुआ, उस समयसे उपाधि-योग उत्तरोत्तर नियोज्यमान हो होता जाया है, और प्राप्त करके वह उपाधि-योग विशेष प्रकारके उपयोगसे सहन करना पड़ा है।

हमारे समग्रमन्त्रा अंतर्गत जानकर निष्कर्ष प्रमाण अवकाश देना योग्य नहीं, परस्पर सुसुक्ष्म मार्गयोंके समागमको अभ्यवस्थित होने देना योग्य नहीं, निवृत्तिके क्षेत्रके प्रसंगको न्यून होने देना योग्य नहीं, कामनापूर्वक प्रवृत्ति करना उचित नहीं—ऐसा विचारकर जैसे बने तैसे अभ्यवस्थाका, परस्परके समागमका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आचरण करना चाहिये।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह इस प्रकारकी है कि उसे दूसरे किसी मांससे बसनेपर भी छोड़ी नहीं जा सकती—वह छूटन ही करने योग्य है। इसलिये उसका अनुसरण करते हैं, फिर भी स्वस्वता को अभ्यासाय स्थितिमें बैसीकी बैसी ही है।

आज यह हम आठवीं पत्र लिखते हैं। इसे तुम सब विद्वान् मार्गयोंके आचरण निवार करनेके लिये लिखा है। निच इस प्रकारके उपायवाक्य कभी कभी ही रहता है। आज उस प्रकारका अनुकूलसे उदय होनेसे उस उदयके अनुसार लिखा है। जब हम भी सुसुप्तकी तथा निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर यह तुम सबको रखनी योग्य हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब हम भी व्यवहारमें रहते हुए व्यापारको और अन्य परिश्रमको, प्रारम्भ निवृत्तिरूपसे चलाते हैं, तो फिर तुम्हें उस तरह कृतार्थ करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं। इस समय ऐसा नहीं सूझता कि समागम होनेके समयका नियमित समय लिखा जा सके।

३६९

वर्ष, श्रेष्ठ सुदी १५ मीम १०४९

जीव तुं शीघ्र धोचना धरे ! कृष्णने कहाँ होय ते कर

जीव तुं शीघ्र धोचना धरे ! कृष्णने कहाँ होय ते करे ।

पूर्वमें ब्रह्मी-पुरुष हो गये हैं उन ब्रह्मियोंमें बहुतसे ब्रह्मी-पुरुष सिद्धि-योगवाले भी हो गये हैं, यह जो औचित्य-कथन है वह सचा है या झूठा ? यह आपका प्रश्न है; और 'यह सचा माझ होता है', ऐसा आपका अभिप्राय है; तथा 'यह सत्वाय देखनेमें नहीं जाता', यह आपकी विज्ञप्ति है।

कितने ही मार्गसुसुप्ती पुरुष और ब्रह्म-योगी पुरुषोंमें भी सिद्धि-योग होता है। प्रायः करके यह सिद्धि-योग उनके निष्कर्षी अन्यतः सरलतासे अथवा सिद्धि-योग आत्मिको ब्रह्म-योगसे सुसुप्त प्रयत्न करनेसे प्रवृत्ति करता है।

सम्यक्प्रवृत्ति पुरुष—जिनके जीवा गुणस्थान होता है—जैसे ब्रह्मी-पुरुषोंके कश्चित् सिद्धि होती है, और कश्चित् सिद्धि नहीं होती। जिनके होती है, उनको उसके प्रगट करनेकी प्राप्ति इच्छा नहीं होती और प्राप्ति करने जब इच्छा होती है तब उस समय होती है जब जीव प्रमादके बध होता है; और यदि उस प्रकारकी इच्छा हुई तो वह सम्यक्त्वसे मिर जाता है। प्राप्ति पौषमें और छोटे गुणस्थानमें भी उच्छेदित सिद्धि-योग विशेष संभव होता जाता है; और वहाँ भी यदि प्रमाद आदिमें पानसे जीव सिद्धिमें प्रवृत्ति करे तो उसका प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

साठवें, आठवें नवमें और दशवें गुणस्थानमें प्राप्ति करके प्रमादका अवकाश कम होता है। प्रमादमें गुणस्थानमें सिद्धि-योगका श्रेष्ठ संभव होनेके कारण, यहाँसे प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

वाक्य जितने सम्यक्त्वके स्थानक हैं, और जहाँतक आत्मा सम्यक्-परिणामी है, वहाँतक उस एक भी योगमें त्रिकल्ममें भी जीवकी प्रवृत्ति होना समभव नहीं है।

सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंसे जोगोंने जो सिद्धि-योगके चमत्कार आने हैं, वे सब ज्ञानी पुरुषोंसे किये हुए समभव नहीं मादृश होते, वे सिद्धि-योग स्वभावसे ही प्रगटित हुए रहते हैं। दूसरे किसी कारणसे ज्ञानी-पुरुषमें यह योग नहीं कहा जाता।

मार्गानुसारी अपना सम्यग्दृष्टि पुरुषके अर्पित सख परिणामसे बहुतसी बार उनके कहे हुए वचनके अनुसार बात हो जाती है। जिसका योग अज्ञानपूर्वक है, उसके उस आचरणके उदय होनेपर, अज्ञान प्रगट होकर, यह सिद्धि-योग अल्प कालमें ही फल दे देता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषसे तो यह केवल स्वामाबिकरूपसे प्रगट होनेपर ही फल देता है, किसी दूसरी तरहसे नहीं।

जिस ज्ञानीशाय स्वामाबिक सिद्धि-योग प्रगट होता है, वह ज्ञानी पुरुष, जो हम करते हैं उस तरहके, तथा उसी प्रकारके दूसरे अनेक तरहके चारित्रिक प्रतिबन्धक कारणोंसे मुक्त होता है; बिन कारणोंसे अहमत्का ऐश्वर्य विशेष स्पष्ट होकर मन आदि योगमें सिद्धिके स्वामाबिक परिणामको प्राप्त करता है। कहीं ऐसा भी मानते हैं कि किसी प्रसंगसे ज्ञानी-पुरुषद्वारा भी सिद्धि-योग प्रगट किया जाता है, परन्तु यह कारण अव्यक्त बलवान होता है। और यह भी सम्पूर्ण ज्ञान-दशाका कार्य नहीं है। हमने जो यह लिखा है, यह बहुत विचार करनेपर समझमें आयेगा।

हमारी बाबत मार्गानुसारीपना कहना योग्य नहीं है। अज्ञान-योगीपना तो जबसे इस देशको धारण किया तभीसे नहीं है, ऐसा मादृश होता है। सम्यक्दृष्टिपना तो अवश्य समभव है। किसी भी प्रकारके सिद्धि-योगको सिद्ध करनेका हमने कभी भी समस्त जीवनमें अप्य भी विचार किया हो, ऐसा याद नहीं आता। अर्थात् साधनसे उस प्रकारका योग प्रगट हुआ हो, यह मादृश नहीं होता। हाँ, अहमत्की विद्युत्प्रकाशके कारण यदि कोई उस प्रकारका ऐश्वर्य हो तो उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। यह ऐश्वर्य कुछ अंशमें समभव है। फिर भी यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी स्मृति हुई है, नहीं तो बहुत कालसे यह बात स्मरणमें ही नहीं; तो फिर उसे प्रगट करनेके लिये कभी भी इच्छा हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है।

तुम और हम कुछ हुआ ही नहीं है। जो हुआ है वह तो रामके जोरह वरोंके हुआ एक दिन भी नहीं, पांडवोंके तेरह वर्षके हुआ एक घड़ी भी नहीं, और गजसुनुमारके प्लानकी एक फल भी नहीं; तो फिर हमको इस अव्यक्त कारणको कभी भी बताना योग्य नहीं। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जो हो मात्र उसे देखते रहो—इस प्रकार निश्चय रखनेका विचार करो; उपयोग, करो और साधनानिसे रहो। यही उपदेश है।

३७० बम्बई, प्रथम आगस्ट वनी ३ एचि १९४०

गतवर्ष मंगसिर महीनेमें जबसे यहाँ आना हुआ, उस समयमें उपाधि-योग उत्पत्तिर विशेषाकार ही होता आया है, और प्रायः फलक यह उपाधि-योग विगण प्रकारके उपयोगसे सहन करना पड़ा है।

इस काज्जो तीर्थकर वादिने स्वभावसे ही दुःख काज्ज कहा है। उसमें भी विशेष करके व्यवहारमें अनर्थात्तके योग्यमूल ऐसे इस क्षेत्रमें तो यह काज्ज और भी बखानकरूपसे रहता है। क्षेत्रोंकी व्यवहारप्रत्ययके योग्य-बुद्धि अत्यंत घाटा होने योग्य हो गई है। इस प्रकारके सब तरहके दुःख योगमें व्यवहार करते हुए परमार्थका भूक जाना अत्यंत सुखम है, और परमार्थकी स्मृति होना अत्यंत अत्यंत दुर्लभ है। इस क्षेत्रकी दुःखमत्ताकी अपनी विशेषता है जिसकी कि आत्मन्दधनजीने बीदहने निगमगान्तके स्तबममें कही है—और आत्मन्दधनजीके काज्जकी अपेक्षा तो वर्तमान काज्ज और भी विशेष दुःखम-परिणामी है। उसमें यदि आत्म-प्रत्ययी पुरुषके बचने योग्य कोई उपाय हो तो केवल एक निरंतर अविच्छिन्न धारसे छलसंगकी उपासना करना ही माध्यम होता है।

जिसे प्राप्त सब कामनाओंके प्रति उदात्तनिश्चय है, ऐसे हमें भी यह सब व्यवहार और काज्ज अप्रति, गोते बाते बाते संसार-समुद्रसे मुक्तिपक्षे ही पार होने देता है। फिर भी प्रति समय उस परिप्रमत्त अत्यंत लंब उत्पन्न हुआ करता है। और संताप उत्पन्न होकर छलसंगकप काज्जकी अत्यंत रूपसे तथा रहा करती है; और यही एक दुःख माध्यम हुआ करता है।

ऐसा होनेपर भी इस प्रकार व्यवहारको सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेष-परिणाम करना योग्य नहीं है—इस प्रकार जो सर्व ज्ञानी-पुरुषोंका अविश्राम है, वह उस व्यवहारको प्राप्त समताभावसे करता है। ऐसा क्या करता है कि आत्मा उस नियममें मानों कुछ करती ही नहीं।

निवार करनेसे ऐसा भी नहीं कहा कि यह जो उपाधि उदयमें है, वह सब प्रकारसे काज्जक ही है। जिससे पूर्वोक्तित प्रारम्भ शास्त्र होता है, उस उपाधि-परिणामको आत्म-प्रत्ययी कहना चाहिये।

मनमें हमें ऐसा रहा करता है कि अन्य काज्जमें ही यह उपाधि-योग्य बुर होकर बाधान्तर निर्मयता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है, परन्तु यह बात अन्य काज्जमें हो सके, ऐसा नहीं सूझता; और जबतक ऐसा न हो तबतक उस चित्तका बुर होना संभव नहीं है।

यदि वर्तमानमें ही इसका सम्पन्न व्यवहार छोड़ दिया हो, तो यह सब सकता है। बां-तान उदयके व्यवहार इस प्रकारके रहते हैं कि जो भोगसे ही मिश्रित हो सकते हैं; और वे इस प्रकारके हैं कि काज्जमें भी उस विशेष काज्जकी स्थितिमेंसे अन्य काज्जमें उसका योग्य नहीं किया जा सकता; और इस कारण हम मूलकी तरह ही इस व्यवहारका सेवन किया करते हैं।

किसी इच्छा, किसी क्षेत्रमें, किसी काज्जमें और किसी भावमें स्थिति हो जाय, ऐसा प्रस्ता मानो कभी भी निर्णय नहीं देता। उसमेंसे केवल सब प्रकारका अप्रतिबद्धभाव होना ही योग्य है, फिर भी निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-काज्ज, संसंग और आत्म-निवारण हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है।

वह योग किसी प्रकारसे भी जैसे कने जैसे ही काज्जमें हो जाय—इसी चित्तकर्ममें एकाग्र रहा करते हैं।

३७१

ॐ

बम्बई, प्र जापान न°१४ सोम १९४९

जिसे प्रीतिसे ससारको सेवन करनेकी स्पष्ट इच्छा होती हो, तो उस पुरुषने ज्ञानीके बचनोंको ही नहीं सुना है, अपना उसने ज्ञानी-पुरुषका दर्शन भी नहीं किया, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

त्रिसूत्री कर्मर दृष्ट गर्ह है उसका प्राय समस्त बख खीण हो जाता है। जिसे ज्ञानी-पुरुषके बचनरूप छद्मकीका प्रहार हुआ है, उस पुरुषमें उस प्रकारका संसारसंबंधी बख होता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

ज्ञानी-पुरुषको देखनेके बाद भी यदि बीको देखकर राग उत्पन्न होता हो, तो ऐसा समझो कि ज्ञानी-पुरुषको देखा ही नहीं।

ज्ञानी-पुरुषके बचनोंको सुननेके पश्चात् बीका सजीवन क्षीर जीवनरहित रूपसे मासित हुए बिना न रहे, और घन आदि संपत्ति वास्तवमें पृथ्वीके विकाररूपसे भासमान हुए बिना न रहे।

ज्ञानी-पुरुषके सिवाय उसकी अहमा दूसरी किसी भी जगह क्षणमर भी टहरनेक छिये इच्छा नहीं करती।

इत्यादि बचनोंका पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष मार्गानुसार पुरुषको बोध देते थे; जिसे जलकर—मुनकर सरख बीच उसे अहममें धारण करते थे। तथा प्राप्तप्राप्त जैसे प्रसंग आनेपर भी वे उन बचनोंको अप्रधान न करने योग्य मानते थे, और वैसा ही आचरण करते थे।

सबसे अधिक स्मरण करने योग्य बातें तो बहुतही हैं, फिर भी ससारमें एकदम उठासीनता होना, दूसरोंके अल्प गुणोंमें भी प्रीति होना, अपने अल्प गुणोंमें भी अल्प क्लेश होना, दोषके नाश करनेमें अल्पत भीमका स्फुरित होना—ये बातें सप्तममें अखण्ड एक धारणागत्यरूपसे ध्यानामें रखने योग्य हैं। जैसे बने जैसे निवृत्ति-काख, निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-द्रव्य और निवृत्ति-मात्रका संचन करना। तीर्थंकर, गौतम जैसे ज्ञानी-पुरुषको भी स्मोचन करते थे कि 'हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है'।

३७२

बम्बई, प्र जापान न°१३ सोम १९४९

अनुकृष्टता-प्रतिकृष्टताके कारणमें कोई निपमता नहीं है। सप्तमके इच्छा करनेवाले पुरुषको यह क्षेत्र निपममुच्य है। किसी किसी उपनिषद्में योगका अनुक्रम हमें भी रखा करता है। इन दो कारकोंकी विसृति करते हुए भी जो चरमें रहता है, उसमें कितनी ही प्रतिकृष्टतायें हैं, इसलिये हाथमें हम सब भाव्योंका विचार कुछ स्थगित करने योग्य (दीसा) है।

३७३

बम्बई, प्र जापान न°१४ सोम १९४९

प्राय करके प्राणी आत्मासे ही जीते हैं। जैसे जैसे सद्मा विशेष होती जाती है, जैसे जैसे विशेष आत्माके बखसे जीवित रहता होता है। जहाँ मात्र एक आत्मविचार और आत्मज्ञानरूप उल्लेख

होता है, वही सब प्रकारकी आसानी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जीवित रहा जाता है। जिस वस्तुकी कोई भी गलुष्य इच्छा करता है, वह उसकी प्राप्तिकी भविष्यमें ही इच्छा करता है; और इस प्राप्तिकी इच्छाकरूप आससे ही उसकी कल्पना जीवित रहती है; और वह कल्पना प्राप्त करके कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवको वह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो, तो उसकी दुःखचक्रक मयकर स्थितिका अकल्पनीय हो जाना समझ है।

सब प्रकारकी आस—और उसमें भी आसनाके सिवाय दूसरे अन्य पदार्थोंकी आसमें, समाधि जिस प्रकारसे प्राप्त हो, यह क्या ?

३७४ बर्खा, द्वितीय पात्रक सूरी ६ पुत्र १९४९

रक्षा हुआ कुछ रहता नहीं और छोड़ा हुआ कुछ जाता नहीं—इस प्रकार परमार्थ विचार करके किसीके प्रति दानता करना अपना विशेषता दिखाना योग्य नहीं है। समाधानमें दानभाव नहीं आता चाहिये।

३७५ बर्खा, द्वितीय पात्रक सूरी ६, १९४९

श्रीकृष्ण आत्मिक क्रिया उदासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्पत्त्य उत्पन्न हो जाय, उसे उसी समय सब प्रकारकी संसारिक क्रियायें न हों, यह कोई नियम नहीं है। हाँ, सम्पत्त्य उत्पन्न हो जानेके बाद संसारिक क्रियाओंका उत्सर्जन हो जाना संभव है। प्रायः करके ऐसी कार्य भी किया उस जीवकी नहीं होती जिससे परमार्थमें अति उत्पन्न हो; और जबतक परमार्थमें अति न हो, तबतक दूसरे क्रियाओंसे सम्पत्त्यको बाधा नहीं आती। इस अगत्के खरा संस्कारों पूजते हैं, परन्तु वे वास्तविक पूज्य-मुक्तिसे उसे नहीं पूजते, किन्तु मयसे पूजते हैं—मायसे नहीं पूजते और इहलोकको जोग कथित भावसे पूजते हैं। इसी प्रकार सम्पत्त्यजीव इस संसारका जो सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वमें यौने हुए प्रारम्भ-कर्मसे ही दिखाई देता है—वास्तविक दृष्टिसे मात्पूर्वक उस संसारमें उसे कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता, वह केवल पूर्वकर्मके अवशेष मयसे ही है इत्यादि। जितने अंशसे मात्-प्रतिबन्ध न हो उतने अंशसे ही उस जीवके सम्पत्त्यजिपना होता है।

अनंतानुबन्धी क्रोध, माय, माया और लोभका सम्पत्त्यके सिवाय माया होमा समझ नहीं है, ऐसा जो कहा जाता है वह यथार्थ है। संसारी पदार्थोंमें जीवको तीव्र स्नेहके बिना क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं होते जिससे जीवको संसारका अनंत अनुबन्ध हो। जिस जीवको संसारी पदार्थोंमें तीव्र स्नेह रहता हो उसे किसी प्रसंगमें भी अनंतानुबन्धी वस्तुत्वमें किसीका भी उदय होमा संभव है; और जबतक उन पदार्थोंमें तीव्र स्नेह हो तबतक जीव अत्यन्त ही परमार्थ-मार्गविज्ञा नहीं होता। परमार्थ-मार्ग उसे कहते हैं कि जिसमें अपरमार्थका सेवन करता हुआ जीव सब प्रकारसे सुखमें अपना दुःखमें क्षयर हुआ करे। इसमें कायरता होमा तो कदाचित् दूसरे जीवोंको भी संभव है, परन्तु संसार-सुखको प्राप्तिमें भी क्षयरता होमा—उस सुखका वस्तु नहीं जगत्—उसमें नीरसता होमा—यह परमार्थ-मार्ग पुरुषके ही होता है।

जीवको उस प्रकारकी मीरसता परमार्थ-ज्ञानसे अथवा परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयसे होना समझ है, दूसरे प्रकारसे होना समझ नहीं। अपरमार्थरूप संसारको परमार्थ-ज्ञानसे जानकर फिर उसके प्रति तीव्र क्रोध, मान, माया अथवा लोभ कौन करे अथवा वह कहेंसे हो ? जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे दूर हो गया है, फिर उस वस्तुके लिये अमरत केश नहीं रहता। संसारमें भ्रातिरूपसे जाना हुआ सुख, परमार्थ-ज्ञानसे भ्राति ही भासित होता है, और जिसे भ्राति भासित हुई है, फिर उसे वस्तुका क्या माहात्म्य माझम होगा ? इस प्रकारकी माहात्म्य-दृष्टि परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चययुक्त जीवको ही होती है, और इसका कारण भी यही है। कदाचित् किसी ज्ञानके आवरणके कारण जीवको व्यवच्छेदक ज्ञान न हो, तो भी उसे ज्ञानी-पुरुषकी सदाशक्त सामान्य ज्ञान तो होता है। यह ज्ञान बड़ेकी जीवकी तरह परमार्थ-वस्तुका बीज है।

तीव्र परिणामसे और संसार-मयसे रहित भावसे ज्ञानी-पुरुष अथवा सम्मगृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया अथवा लोभ नहीं होता। जो संसारके लिये अनुबंध करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे भ्रातिगत परिणामसे, जो असद्गुरु, देव और धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्राप्य करके अनतानु-बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ होता है; क्योंकि दूसरी संसारकी क्रियाएँ प्राप्य करके अनंत अनुबन्ध करनेवाली नहीं हैं। केवल अपरमार्थको परमार्थ जानकर जीव आप्रहसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके प्रति, देवके प्रति और धर्मके प्रति निरादर है—ऐसा कहना प्राप्य परार्थ है। यह सद्गुरु, देव और धर्मके प्रति, असद्गुरु आदिके आप्रहसे, मिथ्या-बोधसे, आसक्ततासे, उपेक्षापूर्वक प्रवृत्ति करे, यह समझ है। तथा उस मिथ्या संगसे उसकी संसार-वास्तविक परिच्छिन्न न होनेपर भी उसे परिच्छेदरूप मानकर वह परमार्थके प्रति उपेक्षक ही रहता है, यही अनंत क्रोध, मान, माया और लोभका चिह्न है।

३७६

बर्मा, दि आप्त बदी १० सोम १९४९

शारीरिक वेदनाको, दहका धर्म जानकर और बौद्ध हुए कर्मका फल समझकर सम्यक्प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदनाका विशेष बख रहता है, उस समय जैसे ऊपर कहा है, उस तरह सम्यक्प्रकारसे भ्रष्ट जीवोंको भी स्थिर रहना कठिन हो जाता है। फिर भी हृदयमें बारम्बार उस बातका विचार करते हुए, और आत्माकी नित्य ओषध, अमेध, और जरा, मरण आदि धर्मसे रहित भावना करते हुए—विचार करते हुए—कितनी ही तरहसे उस सम्यक्प्रकारका निश्चय जाता है। बड़े पुरुषोंद्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिपक्वके प्रसंगोंकी जीवमें स्थिति उत्पन्न करके, उसमें उनके रहनेवाले अलक्ष निश्चयको फिर फिरसे हृदयमें स्थिर करने योग्य जाननेसे, जीवका वह सम्यक्-परिणाम फलीभूत होता है; और फिर वेदना—वेदनाके क्षण-काण्डके निवृत्त होनेपर—यह वेदना किसी भी कर्मका कारण नहीं होती। जिस समय शरीर व्याधिरहित हो उस समय जीवने यदि उससे अपनी निष्ठा समझकर, उसका अनित्य आदि स्वरूप जानकर, उससे मोह ममत्व आदि स्वप्न किया हो, तो यह महान् भ्रम है। फिर भी यदि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधिके उत्पन्न

होता है, वही सब प्रकारकी आशाकी समानि होकर जीवके स्वल्पसे जीवित रहा जाता है। जिस वस्तुकी काद भी मनुष्य इच्छा करता है, वह उसकी प्राप्तिकी मन्थिष्यमें ही इच्छा करता है और इस प्राप्तिकी इच्छात्मक आत्मसु ही उसकी कल्पना जीवित रहती है और वह कल्पना प्राप करके कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवका वह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो, तो उसकी इच्छाकारक मयकर स्थितिवा अकल्पनीय हो जाना समभव है।

सब प्रकारकी आशा—और उसमें भी आप्ताके सिवाय दूसरे कल्प पन्थीकी आशामें, सम्यग्नि जिस प्रकारसे प्राप्त हो, वह कहा ?

३७४ बर्ष, द्वितीय भाग्य सुनी ६ बुध १९१९

रक्ता हुआ कुछ रहता नहीं और छाया हुआ कुछ जाता नहीं—इस प्रकार परमार्थ विचार करके किसीका प्रति दीनता करना अपना विचारना निश्चय योग्य नहीं है। समागममें दीनता नहीं जाना चाहिये।

३७५ बर्ष, द्वितीय भाग्य सुनी ६, १९१९

श्रीरक्षा आदि की क्रिया उपासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्पत्ति उत्पन्न हो जाय, उस उसी समय सब प्रकारकी सामारिक विषयों में न रहे, वह कोई नियम नहीं है। हाँ, सम्पत्ति उत्पन्न हो जानेके बाद सामारिक विषयोंको स्मरित हो जाना समभव है। प्रायः करके ऐसी कोई भी क्रिया उस जीवकी नहीं होती जिसमें परमार्थमें अति उत्पन्न हो और जबकि परमार्थमें अति न हो, तबतक दूसरी विषयोंसे सम्पत्ति की जाना नहीं जानी। इस कारण उपासीन सर्वज्ञ प्रकृति हैं परन्तु वे सामारिक पुनः-पुनः उपासीन नहीं प्रकृति, किन्तु मयसे प्रकृति हैं—मायसे नहीं प्रकृति; और इन्द्रियोंके योग अल्प मात्रमें प्रकृति हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति जीव इस संसारका जो सेवन करता हुआ निर्वर्ण होता है, वह पूर्वमें बने हुए प्रारम्भ-कर्मसे ही निर्वर्ण होता है—सामारिक स्थिति में प्रारम्भिक उस संसारमें उस कोई भी प्रतिक्रिया नहीं होता, वह केवल पूर्वकर्मसे उत्पन्न मयसे ही है होता। जिसने पहले माय-प्रतिक्रिया न हो उत्पन्न अशरीर ही उस जीवक सम्पत्तिस्थिति होता है।

अर्जुनानुबन्धी शोध मात्र, माया और शोधक सम्पत्तिके सिवाय मात्र होना समभव नहीं है ऐसा जो कहा जाता है वह पण्य है। संसारी पन्थीमें जीवका तीव्र स्नेहक बिना शोध, मात्र माया और शोध नहीं होना जिसमें जीवका सामारिक अर्जुन अनुबन्ध हो। जिस जीवका संसारी पन्थीमें तीव्र स्नेह रहता हो उसे किसी प्रसंगमें भी अर्जुनानुबन्धी अनुबन्धसे किसीका भी उपासीन होना समभव है और जबकि उस पन्थीमें तीव्र स्नेह हो, तबतक और अल्प ही परमार्थ-मार्गवाच्य नहीं होता। परमार्थ-मार्ग उसे कहते हैं कि जिसमें अस्मार्थका सेवन करता हुआ जीव सब प्रकारसे सुखमें अपना सुखमें बाधर हुआ करे। सुखमें बाधरता होना तो कदाचित् दूसरे जीवोंके भी समभव है, परन्तु संसार-सुखकी प्रतिक्रिया भी बाधरता होना—उस सुखका अज्ञा नहीं लगना—उसमें नीरसता होना—वह परमार्थ-मार्ग प्रकृति ही होता है।

जीवको उस प्रकारकी मीरसता परमार्थ-ज्ञानसे अथवा परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयसे होना समझ है, दूसरे प्रकारसे होना समझ नहीं। अपरमार्थरूप ससारको परमार्थ-ज्ञानसे जानकर फिर उसके प्रति तीव्र क्रोध, मान, माया अथवा क्रोध कौन करते अथवा वह क्योंसे हो ? जिस वस्तुका माहात्म्य इतिमेंसे दूर हो गया है, फिर उस वस्तुके लिये अत्यंत श्रेष्ठ नहीं रहता। ससारमें अतिरूपसे जाना हुआ सुख, परमार्थ-ज्ञानसे अति ही मासित होता है, और जिसे अति मासित हुई है, फिर उसे वस्तुका क्या माहात्म्य मान्य होगा ? इस प्रकारकी माहात्म्य-इष्टि परमाथ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयमुक्त जीवको ही होती है, और इसका कारण भी यही है। कदाचित् किसी ज्ञानके आवरणके कारण जीवको व्यवच्छेदक ज्ञान न हो, तो भी उसे ज्ञानी-पुरुषकी अज्ञान्य सामान्य ज्ञान तो होता है। यह ज्ञान बचके जीवकी तरह परमार्थ-वस्तुका बीच है।

तीव्र परिणामसे और ससार-मयसे रहित मात्रसे ज्ञानी-पुरुष अथवा सम्यग्दृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया अथवा स्नेह नहीं होता। जो ससारके लिये अनुबध्न करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे आतिगत परिणामसे, जो असद्वृत्त, देव और धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्रायः करके अनन्तानुबध्न की क्रोध, मान, माया, क्रोध होता है क्योंकि दूसरी ससारकी क्रियायें प्रायः करके अनन्त अनुबध्न करनेवाली नहीं हैं। केवल अपरमार्थको परमार्थ जानकर जीव आप्तसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके प्रति, देवके प्रति और धर्मके प्रति निरुद्ध है—ऐसा कहना प्रायः पर्याप्त है। यह सद्गुरु, देव और धर्मके प्रति, असद्वृत्त आदि के आग्रहसे, मिथ्या-बोधसे, आसातनासे, उपेक्षापूर्ण प्रवृत्ति करे, यह समझ है। तथा उस मिथ्या सगसे उसकी ससार-वस्तुनाके परिच्छिन्न न होनेपर भी उसे परिच्छेदरूप मानकर वह परमार्थके प्रति उपेक्षक ही रहता है, यही अनन्त क्रोध, मान, माया और क्रोधका बिह्व है।

३७६

गर्भ, दि. आगत कटी १० सोम १९४९

शारीरिक वेदनाको दहका धर्म जानकर और यदि हुए कर्मका फल समझकर सम्यक्प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदनाका विशेष कष्ट रहता है, उस समय जैसे उत्तर कहा है, उस तरह सम्यक्प्रकारसे भेद जीवोंको भी स्थिर रहना कठिन हो जाता है। फिर भी हृदयमें आन्तरिक उस बातका विचार करते हुए, और आत्माकी लिये अन्धेय, अमेय, और जरा, मरण आदि धर्मसे रहित मानना करते हुए—विचार करते हुए—कितनी ही तरहसे उस सम्यक्प्रकारका निश्चय आता है। बड़े पुरुषोंद्वारा सहन किया हुए उपसर्ग तथा परिपक्वके प्रसर्गोंकी जीवमें स्थिति उत्पन्न करके, उसमें उनके रहनेवाले अज्ञान निश्चयको फिर फिरसे हृदयमें स्थिर करने योग्य जाननेसे, जीवका वह सम्यक्-परिणाम फलीभूत होता है। और फिर वेदना—वेदनाके क्षय-कालके निवृत्त होनेपर—वह वेदना किसी भी कर्मका कारण नहीं होती। जिस समय शरीर व्यापिरहित हो उस समय जीवने यदि उससे अपनी मिश्रता समझकर, उसका अनित्य आदि स्वरूप जानकर, उससे मोह मग्न आदिका त्याग किया हो, तो यह महान् भोग है। फिर भी यदि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्यापिके उत्पन्न

होनेपर, उस प्रकारकी भावना करते हुए जीवको प्रायः निष्कल कर्मबन्धन नहीं होता, और महात्म्याधिकी उत्पत्तिके समय तो जीव देहके समस्तका जलज त्याग करके, ज्ञानी-पुरुषके मार्गको विचारपूर्वक आचरण करे, यह श्रेष्ठ उपाय है। यद्यपि देहका उस प्रकारका समस्त त्याग करना अथवा उसका कम करना, यह महाकठिन बात है, फिर भी जिसका फैसा करनेका निश्चय है, वह जल्दी या देरमें कभी न कभी अवश्य सफल होता है।

अबतक देह जालिसे जीवको आत्मकल्याणका साधन करना बाकी रहा है, तबतक उस देहमें अपरिणामिक समताका सेवन करना ही योग्य है; अर्थात् यदि इस देहका कोई उपचार करना पड़े, तो वह उपचार देहमें समस्त करनेकी इच्छासे नहीं करना चाहिये, परन्तु जिससे उस देहसे ज्ञानी-पुरुषके मार्गका व्यापन हो सके, इस प्रकार किसी तरह उसमें खानेपाने कामके लिये, और उसी प्रकारकी बुद्धिसे, उस देहकी व्याप्तिके उपचारमें प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है। जो कुछ समता है वह अपरिणामिक समता है, अर्थात् परिणाममें समता स्वल्प है, परन्तु उस देहकी प्रियताके लिये, सांसारिक साधनोंमें जो वह प्रयत्न योग्यता हेतु है, उसका त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार आर्त्तव्यानसे किसी प्रकारसे भी उस देहमें बुद्धि न करना, यह ज्ञानी-पुरुषोंके मार्गकी शिक्षा आत्मकर, आत्मकल्याणके उस प्रकारके प्रसंगमें स्पष्ट रखना योग्य है।

श्रीतीर्थकर जैसेले सब प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमें बुद्धि रखकर निर्यस्तता और कैदरहित भावसे सेवन करनेकी शिक्षा की है, और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारणसे इस संसारमें भेदित होना योग्य नहीं। अविचार और अज्ञान, यह सब क्लेशोंका मोहका और दुःखात्मिका कारण है। सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मसाक्षात्कार का कारण है। उसका प्रथम साक्षात् उपाय, ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाका विचार करना ही माझम होता है।

३७७

अर्थ आत्मज्ञान सूची ४ भाग १९४९

जब किसी सामान्य सुमुख जीवका भी इस संसारके प्रसंगमें प्रवृत्तिसूचकी नीर्य मंद पड़ जाता है तो हमें तत्संबंधी अविचार भ्रमता हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं माझम होता। फिर भी किसी पूर्व कलमें प्राप्तके उद्योग करनेका इसी प्रकारका ज्ञान रहा होगा, जिससे कि उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करना रहा करे, परन्तु वह किस प्रकार रहा करता है? वह कम इस प्रकार रहा करता है कि जो कोई वास्तव संसार-सुखकी इष्टप्रयुक्त हो उसे भी उस तरह करना अनुकूल न आवे। यद्यपि यह बात केन्द्र करने योग्य नहीं और हम उपासीनताका ही सेवन करते हैं। फिर भी उस कारणसे एक दूसरा केन्द्र उत्पन्न होता है। यह वह कि सृष्टि और निवृत्तिकी अप्रयोज्यता रहा करती है; और जिसमें परम इच्छा है, इस प्रकारके आत्मज्ञान और आत्मवार्ताकी किसी भी प्रकारकी इष्टप्रयुक्त बिना कश्चित् त्याग देना ही रहना पड़ता है। आत्मज्ञानके केन्द्र होनेसे व्यपन्ना नहीं होती परन्तु आत्म-वार्ताका नियोग व्यपन्ना पैदा करता है। संसारकी ग्राह्य देगकर बिना नहीं करना। यदि चित्तमें समता रहे तो वह आत्मचित्तन देती ही है।

३७८

बम्बई, श्रावण सुदी ५, १९४९

(१) जँहरी ओग ऐसा मानते हैं कि यदि एक साधारण सुपारी जैसे उतम रंगक, पानीगर और चाटदार माणिक (प्रायश्च) दोषरहित हो, या उसकी करोड़ों रूपय भी कीमत मिले तो भी वह कीमती होती है। यदि विचार करें तो इसमें केवल ओंखके टहरने और मनकी इच्छाकी कम्पित मान्यताके सिवाय दूसरी और कोई भी बात नहीं है। फिर भी इसमें एक ओंखके टहरनेकी लूँके लिये और उसकी प्राप्तिके दुर्लभ होनेके कारण ओग उसका बहुत महत्त्व बताते हैं और जिसमें अपना स्थिर रहती है, ऐसे अनारि दुर्लभ सम्पत्तियों साधनमें ओगोंकी कुछ भी अप्रत्यक्ष रुचि नहीं है, यह आश्चर्यकी बात विचार करने योग्य है।

(२) असम्पत्तियों उदासीन रहनेके लिये जब जीवका अप्रयत्नरूपसे निश्चय हो जाता है, तभी सन्तान समझा जाता है। उसके पहिले प्राप्त होनेवाले बोधमें बहुत प्रकारका अतृप्य रहा करता है।

३७९

बम्बई, श्रावण सुदी १५ रवि १९४९

प्राप्त करके अहममें ऐसा ही रहा करता है कि जबतक इस व्यापार प्रसंगमें काम-काज करना पड़े, तबतक धर्म-कथा आदिके प्रसंगमें और धर्मके ज्ञानकारके रूपमें किसी प्रकारसे प्रगट्ठपमें न आया जाय, यही कर्म यथायोग्य है। व्यापार प्रसंगके रहनेपर भी भिन्नक प्रति सक्रियता रहता है, उसका समाप्त भी इसी क्रमसे करना योग्य है कि जिसमें अहममें जो ऊपर कहा हुआ कर्म रहा करता है, उस क्रममें कोई बाधा न हो।

विनम्रवत्तके कहे हुए मेक आदिके सबधमें और अंग्रेजोंकी कही हुई धृष्टि आदि सबधमें समाप्त होनेपर बातचीत करना।

हमारा मन बहुत उदासीन रहता है, और प्रतिबन्ध इस प्रकारका रहा करता है कि जहाँ यह उदासीनता सम्पूर्ण गुण जैसा करके सहन न किया जाय, इस प्रकारके व्यापार आदि प्रसंगमें उपाधि योग सहन करना पड़ता है; यद्यपि साम्प्रतिकरूपसे तो आप्ता समाधि-प्राप्त्यपी है।

३८०

बम्बई, श्रावण सुदी ५ १९४९

गुरुर्ष मगसिर सुदी ९ को यहाँ आना हुआ था, सबसे छागाकर आबतक अनक प्रकारका उपाधि-योग सहन किया है, और यदि मगसिरपा न हो तो इस फालमें उस प्रकारका उपाधि-योगमें पहले ऊपर सिरका रहना भी कठिन हो जाय ऐसा होते हुए बहुत बार देखा है; और जिसमें आप्ता-सम्पत्त बान लिया है ऐसे पुरुषका और इस ससारका भेद भी न लाय, यही अभिन निश्चय हुआ है।

हानी-पुरुष भी अत्यंत निश्चय उपयोगमें वर्तित करते करते भी कबचित् भ्रम परिणामी हो जाय, ऐसी इस ससारकी रचना है। यद्यपि आप्तास्वरूपसम्पत्ती बोधका मात्र तो सही दाना, फिर भी आप्तास्वरूपके बोधके विना परिणामने प्रति एक प्रकारका आचरण होमरूप उपाधि-योग दाना है। इस या उस उपाधि-योगसे अभी त्रास ही पाया करत है; और उस उपाधि योगमें आप्ता और मुगमें मरम्प बानि प्रमुक्त नाम रजकर मुदिकसे ही कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते हैं। यद्यपि सम्पत्त अचान

बोधविषयक अति प्रायः नहीं होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखाई देता है। और उससे आत्मा अनेकवार व्याकुल होकर त्यागका सेवन करती थी; फिर भी उपार्जित कर्मकी स्थितिको सम परिणामसे, अर्थीनतासे, अन्धालुब्धतासे सहना करना, यही ज्ञानी-पुरुषोंका मार्ग है, और हमें भी उसका ही सेवन करना है—ऐसी सृष्टि होकर स्थिरता रहती है; अर्थात् आकुलता आदि मातृकी होती हुई विशेष घबराहट समझ होती थी।

जबतक सारे निम्न निहितिके ही योगमें कुछ न व्यतीत हो तबतक सुख न मिले—इस प्रकारकी हमारी स्थिति है। 'आत्मा आत्मा', 'उसका विचार', 'ज्ञानी पुरुषकी सृष्टि', 'उसके महत्त्वकी कथा-बार्ता', 'उसके प्रति अग्रत मति' 'उसके अनवकाश आत्म चरित्रके प्रति मोह'—यह हमको अभी आकर्षित किया ही करता है, और उस काङ्क्षा सेवन करते हैं।

पूर्वकालमें जो जो कुछ ज्ञानी-पुरुषके सपनागममें व्यतीत हुआ है, वह कुछ घन्य है; वह क्षेत्र अन्यत बलत घन्य है उस अणवको, अणवके कर्तृको और उसमें भक्तिमाद्युक्त जीवोंको त्रिधातु ईदवत् हो। उस आत्मस्वरूपमें मति, चित्त, आत्म-व्याख्यातकी ज्ञानी-पुरुषकी वाणी, अपना ज्ञानिके शाब्द अपना मार्गसुसारी ज्ञानी-पुरुषके सिद्धांतकी अपूर्वताको हम अति मतिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

जबकि आत्म-धुनकी एकता उस बातको हमें अभी प्रकाशपूर्वक सेवन करनेकी अप्यत आनुरता छा करती है और दूसरी ओरसे इस प्रकारका क्षेत्र, इस प्रकारका लोक-प्रकाश, इस प्रकारका उपाधि योग और दूसरी उस उस तरहकी बातोंको देखकर विचार मूर्च्छाकी तरह हो जाता है। ईदरेण्य।

३८१

फेब्रुअरी मध्यपद वारी १ १९७९

ॐ

१ जिसके पाससे धर्म मँगना उस प्रसन्न किये हुएकी पूर्ण चौकसी करनी—इस वाक्यका स्थिर विच्छेद विचार करना चाहिये।

२ जिसके पाससे धर्म मँगना, यदि उस पूर्ण ज्ञानीकी परिचयान नीतिको हुई हो तो उस प्रकारके ज्ञानियेका सत्संग करना और यदि संसारा हो जाय तो उसे पूर्ण पुण्यका उद्भव समझना। उस सत्संगमें उस परम ज्ञानीके उपदेश किये हुए शिक्षा-बोधको ग्रहण करना—जिससे कष्टप्रद, मतमत्तार, निवासभक्त और असत्यचम इत्यादि का तिरस्कार हो—अर्थात् उन्हें ग्रहण नहीं करना, मतका आग्रह छोड़ देना। आत्माका धर्म आत्ममें ही है। आत्मत्व-प्राप्त पुरुषका उपदेश किया हुआ धर्म आत्म-मार्गक होता है, बाकीके मार्गिके मथमें नहीं पड़ना।

३ इतना होनेके बाद संसारा होनेपर भी यदि नीचेसे कष्टप्रद मतमत्तार आदि दोष न छोड़े जा सकें तो फिर हमसे दृष्टिके आत्मा भी न करनी चाहिये। हम स्वयं किसीको आदेश-वात अर्थात् ऐसा क्यों यह नहीं कहते। बारम्बार पूछे तो भी यह बात सृष्टिमें रहती है। हमारे संगमें बाये हुए किसी जीवोंको अर्थात्क भी हममें ऐसा नहीं कहा कि इस प्रकार जलो या यह करो। यदि कुछ कहा होगा तो वह केवल शिक्षा-बोधके रूपमें ही कहा होगा।

४ हमारा उद्देश्य इस प्रकार रहता है कि इस तरहकी उपदेशकी बात करते हुए बाणी पीछे स्थित जाती है। हाँ, कोई सामाजिक प्रश्न पूछे तो उसमें बाणी प्रकाश करती है, और उपदेशकी बातमें तो बाणी पीछे ही स्थित जाती है; इस कारण हम ऐसा मानते हैं कि अभी उस प्रकारका उद्देश्य नहीं है।

५ पूर्ववर्ती जनताहानी यद्यपि महाहानी हो गये हैं, परन्तु उससे जीविका कोई दोष दूर नहीं होता। अर्थात् यदि इस समय जीवने मान हो तो उसे पूर्ववर्ती ज्ञानी कहनेके डिये नहीं आते; परन्तु हममें जो प्रत्यक्ष ज्ञानी विद्यमान हों, वे ही दोषको बताकर दूर करा सकते हैं। उदाहरणके डिये दूरेके क्षीरसमुद्रसे यहाँके तुषातुरकी तुषा शान्त नहीं हो सकती, परन्तु वह यहाँके एक मीठे पानीके कणसे ही शान्त हो सकती है।

६ जीव अपनी कल्याणसे कल्याण कर लेता है कि ध्यानसे कल्याण होगा, समाधिसे कल्याण होगा, योगसे कल्याण होगा, अपना इस इस प्रकारसे कल्याण होगा, परन्तु उससे जीविका कोई कल्याण नहीं हो सकता। जीविका कल्याण तो ज्ञानी पुरुषके कणमें रहता है, और वह परम सत्संगसे ही समझमें आ सकता है। इसलिये ऐसे विकल्पोंका करना छोड़ देना चाहिये।

७ जीवको सबसे मुख्य बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यदि सत्संग हुआ हो तो सत्संगमें भ्रमण किये हुए शिक्षा-बोधके निष्पन्न होनेसे, सहजमें ही जीवके उत्पन्न हुए कल्याण आदि दोष तो छूट ही जाने चाहिये, जिससे दूसरे जीवोंको सत्संगके अर्पणवादके बोझनेका प्रसंग उत्पन्न न हो।

८ ज्ञानी-पुरुषने कुछ कहना बाकी नहीं रक्खा है, परन्तु जीवने करना बाकी रक्खा है। इस प्रकारका योगानुयोग किसी समय ही उद्देश्यमें आता है। उस प्रकारकी बाँझसे रहित महात्माकी भक्ति तो सर्वथा कल्याणकारक ही होती है परन्तु किसी समय महात्माके प्रति यदि उस प्रकारकी बाँझ हुई और उस प्रकारकी प्रवृत्ति हो चुकी हो, तो भी वही बाँझ यदि असत्पुरुषके प्रति की हो, और उससे जो फल होता है, उसकी अपेक्षा इसका फल भुग्न ही होना समझ है। यदि सत्पुरुषके प्रति उस कल्याणमें निश्चकता रही हो तो कदा अनन्तर उनके पाससे समाधिकी प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकारसे हमें अपने आप इसके डिये बहुत शोक रहता था, परन्तु उसके कल्याणका विचार करके शोकको विमरन कर लिया है।

९ मन बचन और कायाके योगसे जिसका कवचीत्यक्त्य भाव होकर अहमात्र दूर हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषके परम उपशमकम चरणार्चनकी नमस्कार करके, बारम्बार उसका चिंतन करके, तुम उसी मार्गमें प्रवृत्तिकी इच्छा करत रहो—यह उपदेश देकर यह पत्र पूरा करता हूँ।

विपरीत कल्याणमें अरुण होनेका कारण उन्माद ।।।

३८२

ॐ

गंगाधर माधव १९४९

अनात्मिकासे विपर्यय बुद्धि होनेसे, और ज्ञानी-पुरुषकी बहुतसी वस्तुओं अज्ञानी-पुरुष जनी ही निर्माई देनेसे ज्ञानी-पुरुषमें विभ्रम बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। अपना जीवको ज्ञानी-पुरुषके प्रति उस उस प्रकारका विकल्प भाषा करता है। यदि ज्ञानी-पुरुषका दूसरी दृष्टिसे पर्याप्त निश्चय हुआ हो

तो यदि किसी निश्चयको उत्पन्न करनेवाली ज्ञानीकी उन्मत्त आदि मान्युक्त चेष्टा प्रत्यक्ष देखनेमें आये, तो भी दूसरी दृष्टिके निश्चयके बलके कारण वह चेष्टा अविकल्पिक ही होती है। व्यपका ज्ञानी पुरुषकी चेष्टाका कोई अनात्मपना ही इस प्रकारका है कि वह अपूर्ण अवस्थासे अथवा अपूर्ण निश्चयसे जीवको विभ्रम और विकल्पका कारण होता है। परन्तु वास्तविकरूपमें तथा पूर्ण निश्चय होनेपर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं है, इसलिये इस जीवको जो ज्ञानी-पुरुषके प्रति अपूर्ण निश्चय है, यही इस जीवका दोष है।

ज्ञानी-पुरुष सम्पूर्ण रीतिसे अज्ञानी-पुरुषसे चेष्टारूपसे समान नहीं होता, और यदि हो तो फिर वह ज्ञानी ही नहीं है। इस प्रकारका निश्चय करना वह ज्ञानी-पुरुषके निश्चय करनेका यथार्थ कारण है। फिर भी ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषमें किसी इस प्रकारसे निष्कण्ठ कारणोंका भेद है कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानीका किसी प्रकारसे एकरूप नहीं होता। अज्ञानी होनेपर भी जो जीव ज्ञानीका स्वरूप मनवाता हो उसका निष्कण्ठतासे निश्चय किया जाता है; इसलिये प्रथम ज्ञानी-पुरुषकी निष्कण्ठताका ही निश्चय करना योग्य है। और यदि उस निष्कण्ठ कारणका स्वरूप जानकर ज्ञानीका निश्चय होता है, तो फिर कश्चित् अज्ञानीके समान जो जो ज्ञानी-पुरुषकी चेष्टा देखनेमें आती है, उस विषयमें निर्बिकल्पता होती है; और नहीं तो ज्ञानी-पुरुषकी वह चेष्टा उसे विशेष मति और स्नेहका कारण होती है।

प्रत्येक जीव अर्थात् पण्डित ज्ञानी-अज्ञानी समस्त अवस्थाओंमें समान ही हों तो फिर ज्ञानी-अज्ञानीका भेद नामनाशका भेद रह जाता है; परन्तु वैसा होना योग्य नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषमें व्यक्त्य ही निष्कण्ठता होनी चाहिये। जिस निष्कण्ठताके यथार्थ निश्चय होनेपर जीवको ज्ञानी-पुरुष समझमें आता है जिसका योवासा स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है। मुसमु जीवको ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषकी निष्कण्ठता, उनकी अर्थात् ज्ञानी-अज्ञानी पुरुषकी दशादशा ही समझमें आती है। उस दशाकी निष्कण्ठता जिस प्रकारसे होती है, उसे बता देना योग्य है। जीवकी दशाके दो भाग हो सकते हैं—एक मूखता और दूसरी उत्तरदाता।

३८३

बम्बई, माघपद १९४९

यदि अज्ञान-ज्ञान रहती हो और जीवने भ्रम आदि कारणसे उस ज्ञान-दशा मान ली हो, तो देखको उस उस प्रकारके दुःख पड़नेके प्रसंगोंमें अथवा उस तथ्यके दूसरे कारणोंमें जीव देखकी साक्षात्के सेवन करनेकी इच्छा करता है और जैसे ही वर्तन करता है। पण्डित ज्ञान-दशा हो तो उसे देखकर दुःख-प्रतिके कारणोंमें विषमता नहीं होती और उस दुःखको दूर करनेकी इतनी अधिक विचार भी नहीं होती।

३८४

बम्बई, माघपद वरी १९४९

जिस प्रकार हम आत्माके प्रति दृष्टि है उस प्रकारकी दृष्टि जगत्की सर्व अन्तर्मात्रोंके प्रति है। जिस प्रकारका स्नेह इस आत्माके प्रति है, उस प्रकारका स्नेह सर्व अन्तर्मात्रोंके प्रति है। जिस

प्रकारकी इस आत्माकी सहजानन्द स्थिति चाहते हैं, उसी प्रकार सर्व आत्माओंकी चाहते हैं। जो कुछ इस आत्माके छिये चाहते हैं, वह सब, सब आत्माओंके छिये चाहते हैं। जिस प्रकार इस देहके प्रति मान रखते हैं, उसी प्रकार सर्व देहोंके प्रति रखते हैं। जिस प्रकार सब देहोंके प्रति वर्तव्य करनेका क्रम रखते हैं, उसी प्रकार इस देहके प्रति क्रम रखता है। इस देहमें विशेष-बुद्धि और दूसरी देहोंमें विषम-बुद्धि प्रायः करनेकी मी नहीं हो सकती। जिस क्षियों आदिका निजरूपसे सन्ध गिना जाता है, उन क्षियों आदिके प्रति जो कुछ स्नेह आदि है अथवा समता है, उसी प्रकार प्रायः सबके छिये रहता है। केवल आत्मस्वरूपके कार्यमें प्रवृत्ति होनेसे जगत्के सब पदार्थोंके प्रति जिस प्रकारकी उदासीनता रहती है, उसी प्रकार निजरूपसे गिने जानेवाले क्षियों आदि पदार्थोंके छिये रहती है।

पारम्परिके योगसे क्षियों आदिके प्रति जो कोई उदय हो, उससे विशेष प्रवृत्ति प्रायः करके आत्मासे नहीं होती। कर्माचित् कर्णामसे कुछ उस प्रकारकी प्रवृत्ति होती हो तो उस प्रकारकी प्रवृत्ति उसी क्षणमें उन उदय-प्रतिबद्ध आत्माओंके प्रति रहती है, अथवा समस्त जगत्के प्रति रहती है। किसीके प्रति कुछ विशेष नहीं करना, अथवा कुछ न्यून नहीं करना, और यदि करना हो तो फिर उस प्रकार एक ही बातकी प्रवृत्ति समस्त जगत्के प्रति करना—यह ज्ञान आत्माको बहुत समयसे रह है—निश्चयस्वरूप है। किसी स्थितिमें न्यूनता, विशेषता, अथवा ऐसी कोई सम-विषम चेष्टापूर्वक प्रवृत्ति दृष्टी जाती हो तो वह अवश्य ही आत्मस्थितिसे—आत्मबुद्धिसे नहीं होती, ऐसा माझ्म होता है। पूर्वमें बौध्द रूप पारम्परिके योगसे उस प्रकार कुछ उन्मत्तभावसे होता हो तो उसमें मी समता ही है। किसीके प्रति न्यूनता या अधिकता आत्माको कुछ मी अच्छा नहीं लगता, नहीं फिर दूसरी अवस्थाका विकल्प होना योग्य नहीं है।

सबसे अमिष भावना है। जिसकी वितनी योग्यता है, उसके प्रति उतनी ही अमिष भावकी स्मृति होती है। कर्माचित् कर्णामसे विशेष स्मृति होती है। परन्तु विषमतासे अथवा विषय परिग्रह आदि कारण प्रत्यक्षसे उसके प्रति प्रवृत्ति करनेका आत्मामें कोई सकल्य माझ्म नहीं होता। अविकल्प रूप स्थिति है। विशेष क्या करें? हमारे कुछ हमात्त नहीं है, अथवा दूसरेका नहीं है, अथवा दूसरा नहीं है। वैसा है वैसा ही है। वैसी आत्माकी स्थिति है वैसी ही है। सब प्रकारकी प्रवृत्ति निष्कपटभावसे उदयमें है। सम-विषमता नहीं है। सहजानन्द स्थिति है। जहाँ वैसा हो वहाँ दूसरे पदार्थमें आत्म-बुद्धि योग्य नहीं—होती नहीं।

३८५

अम्बई, आसोन पुनी १ मीम १९७९

“ज्ञानी पुरुषके प्रति अमिष बुद्धि हो, यह कर्माजक मझ्म निश्चय है”—इस प्रकार सब महात्मा पुरुषोंका अमिषप्राय माझ्म होता है। तुम तथा वे—जिनका देह हाथमें अन्य वेरसे रहता है—दोनों ही जिस तरह ज्ञानी-पुरुषके प्रति विशेष निर्मलभावसे अमिषता हो, उस तरहकी प्रसंगोपात् बात करते; वह योग्य है। और परस्पर अर्थात् उनके और तुम्हारे बीचमें जिससे निर्मल प्रेम रहे, वैसा प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है, परन्तु वह प्रेम जस्यतर होना चाहिये। वह प्रेम इस तरहका न होना चाहिये वैसा ही-पुरुषका काम आदि कारणोंसे प्रेम होता है। परन्तु ज्ञानी-पुरुषके प्रति स्नेहोका

महि-भाग है, इस तरह दोनों ही अपनेको एक गुरुके शिष्य समझकर, और निरन्तर दोनोंका उत्साह रहा करता है यह जानकर, मैं वैसी बुद्धिसे यदि उस प्रकारसे प्रेमपूर्ण रहा जाय तो यह बात निरीत योग्य है। ज्ञानी-गुरुपक्षे प्रति मिथ्यापक्षको सर्वथा दूर करना योग्य है।

३८६

बम्बई, आसोन सुदी ५ शनि १९४९

आत्मपक्षे सम्प्राप्तिय होनेके लिये—आत्मलक्ष्यमें स्थिति होनेके लिये—विस मुझमें सुखतत्त्व भरसता है वह एक अद्वय आधार है। इसलिये किसी प्रकारसे उसे बीच-झग भी कहाँ तो कोई नहीं। केवल इतना ही मर है कि ज्ञानी-गुरुपक्ष जो उससे आगे है, यह जाननेवाला होना चाहिये कि यह ज्ञान आत्मा है।

द्रव्यसे द्रव्य नहीं मिश्रता यह जाननेवालेका कोई कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह किस समय ! वह उसी समय जब कि स्वप्नपक्षको द्रव्य, क्षेत्र, बाह और मायसे पृथक्स्थित समझ लेनेपर, स्वप्नपक्ष स्वप्न-परिणामसे परिणमित होकर, अन्व द्रव्यक प्रति सर्वथा उदात्त होकर, कृतकम होनेपर, कुछ कर्तव्य नहीं रहता ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

३८७

बम्बई, आसोन सुदी ९ बुध १९४९

(१)

मुझे पत्रमें सुचारसके नियममें प्राप्त तरह ही सिखा था, उसे जान-बूझकर सिखा था। ऐसा अभिप्रेत उद्वेग परिणाम आनेवाला नहीं यह जानकर ही सिखा था। इस बातको कुछ कुछ चर्चा करनेबाद बीचको यदि यह बात पत्रमें जान तो यह बात उससे सर्वथा निष्पत्ति हो जाय, यह नहीं हो सकता। परन्तु यह हो सकता है कि जिस पुरुषन ने वाक्य लिखे हैं, वह पुरुष किसी अपूर्व मार्गका ज्ञाता है और उससे इस बातका निराकरण होना मुझपक्षसे समझ है। यह जानकर उसकी उस पुरुषके प्रति कुछ भी भावना उत्पन्न हो। कदाचित् ऐसा नाम है कि उसे उस पुरुषविषयक कुछ कुछ ज्ञान हो गया हो और इस तरह वेदक पत्रसे उसे विशेष ज्ञान होकर, स्वयं अपने आप ही वह निश्चयपर पहुँच जाय, परन्तु यह निश्चय इस तरह नहीं होता। उसके समर्थ स्वप्नपक्ष जान केना उससे नहीं हो सकता, और उस कारणसे यदि बीचको नियमकी उपपत्ति हो कि यह ज्ञान किसी प्रकारसे जान भी जाय तो अच्छा है, तो उस प्रकारसे भी, जिस पुरुषन सिखा है उसके प्रति उसकी भावनाकी उपपत्ति होना समझ है।

सौमरा प्रकार इस तरह समझना चाहिये कि 'यदि सपुरुषकी वाणी स्वप्नपक्षसे भी उठती गई हो तो भी जिसे उमका परमार्थ—सपुरुषका सत्संग—आत्मकिङ्कपक्ष नहीं हुआ उसे समझाना कठिन होता है' इस प्रकार उस पक्षनेवालेका कभी भी तरह ज्ञान जाना संभव है। यद्यपि हमने तो अनि तरह नहीं सिखा था तो भी उन्हें इस प्रकार कुछ संभव मान्य होना है। परन्तु हम तो ऐसा समझते हैं कि यदि अनि तरह सिखा हो तो भी माय करके समझमें नहीं आया, जबकि निरीत ही समझमें

जाता है, और अन्तमें फिर उसे विशेष उत्पन्न होकर सन्मार्गमें भावना होना समझ होता है। इस पत्रमें हमने इष्टापूर्वक ही स्पष्ट सिखाया।

सहज स्वभावसे भी न विचार किया हुआ प्रायः परमार्थिक स्वभावमें नहीं लिखा जाता, अथवा खी मोटा जाता, जो अपरमार्थरूप परिणामको प्राप्त करे।

(२)

उस ज्ञानके विषयमें हमारा लिखनेका जो दूसरा आशय है, उसे यहाँ विशेषतासे सिखाया है।

(१) जिस ज्ञानी-पुरुषको स्पष्ट आत्माका किसी अपूर्व लक्षणसे, गुणसे और वेदनरूपसे अनुभव हुआ है, और जिसकी आत्मा तद्रूप हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुषने यदि उस सुधारसका ज्ञान लिया हो तो उसका परिणाम परमार्थ-परमार्थस्वरूप है।

(२) और जो पुरुष उस सुधारसको ही आत्मा मानता है, यदि उससे उस ज्ञानकी प्राप्ति हुई हो, तो वह व्यवहार-परमार्थस्वरूप है।

(३) वह ज्ञान कदाचित् परमार्थ-परमार्थस्वरूप ज्ञानीने न दिया हो, परन्तु उस ज्ञानी-पुरुषने जीवको इस प्रकार उपदेश किया हो, जिससे वह सन्मार्गके सन्मुख आकर्षित हो, और यदि वह जीवको अधिकार हुआ हो तो उसका ज्ञान परमार्थ-व्यवहारस्वरूप है।

(४) तथा इसके सिवाय शास्त्र आदि ज्ञाता जो सामान्यप्रकारसे मार्गानुसार ही वैसी उपदेशकी व्यवस्था करते, उसकी भ्रष्टा करना, वह व्यवहार-व्यवहार स्वरूप है। इस तरह सुगमतासे समझनेके लिये ये चार प्रकार होते हैं।

परमार्थ-परमार्थस्वरूप मोक्षका निष्ठा उपाय है। इसके बाद परमार्थ-व्यवहारस्वरूप परंपरा सर्वचसे मोक्षका उपाय है। व्यवहार-परमार्थस्वरूप बहुत काममें किसी प्रकारसे भी मोक्षके साधनके कारणमूल होनेका उपाय है। व्यवहार-व्यवहारस्वरूपका फल आत्मप्रत्ययी होना संभव नहीं। इस बातको फिर किसी मतगपर विशेषरूपसे लिखेंगे, इससे वह विशेषरूपसे समझमें आयेगी। परन्तु यदि इतने विशेषसे विशेष समझमें न आवे तो व्याकुल नहीं होना।

जिसे लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप माझम हुआ है, उसे ध्यानका यह एकताम उपाय है, जिससे आत्म-प्रदेशकी स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। जिसने लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप नहीं जाना, ऐसे मुमुक्षुको यदि ज्ञानी-पुरुषका बताया हुआ ज्ञान हो तो उसे अनुक्रमसे लक्षण आदिका बोध सुगमतासे होता है। मुखरस और उसका उत्पत्ति क्षेत्र यह कोई अपूर्व-कारणरूप है, यह हम निश्चयसे समझना। उसके बाद ज्ञानी-पुरुषका मार्ग जिसे केशवशक्त न हो, इस प्रकार हमें ज्ञानी-पुरुषका समागम हुआ है, इससे उस प्रकारका निश्चय रखनेके लिये कहा है। यदि उसके बादका मार्ग क्लेशरूप होता हो, और यदि उसमें किसीको अपूर्व कारणरूपसे निश्चय हुआ हो तो किसी प्रकारसे उस निश्चयको पीछे हटाना ही उपायस्वरूप है, इस प्रकार हमारी आत्मामें कुछ रखा करता है।

कोई अज्ञानमात्रसे फलकी स्थिरता करता है, परन्तु आसोपासका निरोध करना उसे कम्पा-प्राप्त होता नहीं होता। और कोई ज्ञानीकी आसोपासका आसोपासका निरोध करता है, तो उसे उस

मक्ति-प्राप्त है, इस तरह दोनों ही अपनेको एक गुरुके शिष्य समझकर, और निरन्तर दोनोंका सत्संग रहा करता है यह जानकर, भर्षा जैसी बुद्धिसे यदि उस प्रकृतिसे प्रेमपूर्वक रहा जाय तो यह बात विरोध योग्य है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति मिथ्याभावको सर्वथा दूर करना योग्य है।

३८६

बम्बई, आसोन सुब ५ शनि १९४९

आत्माको समाविष्ट होनेके लिये—आत्मसंस्कारमें स्थिति होनेके लिये—जिस मुझमें सुभारस बरसता है, यह एक अपूर्व आचार है। इसलिये किसी प्रकारसे उसे धीन-ज्ञान भी कहो तो कोई हानि नहीं। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुष जो उससे आगे है, यह जाननेवाला होना चाहिये कि यह ज्ञान आत्मा है।

ब्रह्मसे ब्रह्म नहीं भिन्नता, यह जाननेवालेका कोई कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह किस समय ? यह उसी समय जब कि स्वप्नको ब्रह्म, क्षेत्र, काळ और मातृसे यथावस्थित समझ लेनेपर, स्वप्न स्वल्प-परिणामसे परिणमित होकर, अन्य ब्रह्मके प्रति सर्वथा उदास होकर, कृतकृत्य होनेपर, कुछ कर्तव्य नहीं रहता ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

३८७

बम्बई, आसोन सु ९ बुध १९४९

(१)

सुते पत्रमें सुभारसके विषयमें प्राप्त स्पष्ट ही शिक्षा था, उसे जान-बूझकर शिक्षा था। ऐसा छिहनेसे उठना परिणाम आनेवाला नहीं, यह जानकर ही शिक्षा था। इस बातकी कुछ कुछ चर्चा करनेवाले जीवको यदि वह बात पहलेमें आगे तो वह बात उससे सर्वथा निवारित हो जाय, यह नहीं हो सकता। परन्तु यह हो सकता है कि जिस पुरुषने ये वाक्य किये हैं, वह पुरुष किसी अपूर्व मार्गका ज्ञाता है, और उससे इस बातका निराकरण होना मुख्यतः सम्भव है। यह जानकर उसके उस पुरुषके प्रति कुछ भी मानना उत्पन्न हो। कदाचित् ऐसा मान के कि उसे उस पुरुषविषयक कुछ कुछ ज्ञान हो गया हो और इस स्पष्ट लेखके पत्रमेंसे उसे विरोध ज्ञान होकर, स्वयं अपने आप ही यह निश्चयपर पहुँच जाय, परन्तु यह निश्चय इस तरह नहीं होता। उसके विचार्य स्वयंका ज्ञान कैसा उसके नहीं हो सकता, और उस कारणसे यदि जीवको विरोधकी उत्पत्ति हो कि यह बात किसी प्रकारसे जान ही जाय तो अच्छा है; तो उस प्रकारसे भी जिस पुरुषने शिक्षा है उसके प्रति उसकी माननाकी उत्पत्ति होना संभव है।

तीसरा प्रकार इस तरह समझना चाहिये कि 'यदि सपुरुषकी वाणी स्पष्टकरसे भी शिक्षा गई हो तो भी जिसे उसका परमार्थ—सपुरुषका सत्संग—आह्वानितकरसे नहीं हुआ, उसे समझना कठिन होता है। इस प्रकार उस पत्रनेवालेका कमी भी स्पष्ट ज्ञान होगा संभव है। परन्तु हमने तो अति स्पष्ट नहीं शिक्षा था तो भी उन्हें इस प्रकार कुछ समझ मान्य होता है। परन्तु हम तो ऐसा समझते हैं कि यदि अति स्पष्ट शिक्षा हो तो भी माय करके समझमें नहीं आता, अथवा निरीत ही समझमें

जाता है, और अन्तमें फिर उसे विशेष उत्पन्न होकर सन्मार्गमें भावना होना संभव होता है। इस पत्रमें हमने इष्टपूर्वक ही स्पष्ट सिखाया था।

सब स्वभावसे भी न विचार किया हुआ प्रायः परमार्थिक सर्वधर्मों नहीं सिखा जाता, अपना नहीं घोटा जाता, जो अपरमार्थरूप परिणामको प्राप्त करे।

(२)

उस ज्ञानके विषयमें हमारा सिखनेका जो दूसरा आशय है, उसे यहाँ विशेषतासे सिखा है।

(१) जिस ज्ञानी-पुरुषको स्पष्ट आत्माका किसी अपूर्व लक्षणसे, गुणसे और वेदनरूपसे अनुभव हुआ है, और जिसकी आत्मा तद्रूप हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुषने यदि उस सुचारुका ज्ञान दिया हो तो उसका परिणाम परमार्थ-परमार्थस्वरूप है।

(२) और जो पुरुष उस सुचारुको ही आत्मा जानता है, यदि उससे उस ज्ञानकी प्राप्ति हुई हो, तो वह व्यवहार-परमार्थस्वरूप है।

(३) वह ज्ञान कदाचित् परमार्थ-परमार्थस्वरूप ज्ञानने न दिया हो, परन्तु उस ज्ञानी-पुरुषने जीवको इस प्रकार उपदेश किया हो, जिससे वह सन्मार्गके समुच्च आकर्षित हो, और यदि वह जीवको सचिकर हुआ हो तो उसका ज्ञान परमार्थ-व्यवहारस्वरूप है।

(४) तथा इसके सिवाय शास्त्र आदिका ज्ञाता जो सामान्यप्रकारसे मार्गानुसार जीवों वपदेशकी बात करे, उसकी भ्रष्टा करना, यह व्यवहार-व्यवहार स्वरूप है। इस तरह सुगमतासे समझनेके लिये ये चार प्रकार होते हैं।

परमार्थ-परमार्थस्वरूप मोक्षका निकट उपाय है। इसके बाद परमार्थ-व्यवहारस्वरूप परंपरा सर्वधर्म मोक्षका उपाय है। व्यवहार-परमार्थस्वरूप बहुत कष्टमें किसी प्रकारसे भी मोक्षके साधनके कारणवत् होनेका उपाय है। व्यवहार-व्यवहारस्वरूपका पक्ष अहमप्रत्ययी होना संभव नहीं। इस बातको फिर किसी प्रसंगपर विशेषरूपसे लिखेंगे, इससे वह विशेषरूपसे समझमें आवेगी। परन्तु यदि इतने संक्षेपसे विनैव समझमें न आवे तो व्याकुल नहीं होना।

जिसे कष्टान्ते, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप भास हुआ है, उसे ध्यानका यह एकतम उपाय है, जिससे आत्म-प्रवेशकी स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। जिसने लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप नहीं जाना, ऐसे सुमुमुक्षुको यदि ज्ञानी-पुरुषका बताया हुआ ज्ञान हो तो उसे अनुक्रमसे लक्षण आदिका बोध सुगमतासे होता है। मुम्बस और उसका उत्पत्ति क्षेत्र यह कोई अपूर्व-कारणरूप है, यह हम निश्चयसे समझना। उसमें बाद ज्ञानी-पुरुषका मार्ग जिसे क्लेशरूप न हो, इस प्रकार हमें ज्ञानी-पुरुषका समागम हुआ है, इससे उस प्रकारका निश्चय रखनेके लिये कहा है। यदि उसमें बाद मार्ग क्लेशरूप होता हो, और यदि उसमें निम्नीक अपूर्व कारणरूपसे निश्चय हुआ हो तो किसी प्रकारसे उस निश्चयका पीछे हटाना ही उपायरूप दे, इस प्रकार हमारी आत्मामें स्थिर रखा करता है।

कोई अज्ञानभावसे धनकी स्थिरता करता है, परन्तु आत्माप्राप्तका निरोध करना उसे कष्टका देण नहीं होता। और कोई ज्ञानीकी आत्मापूर्वक आत्माप्राप्तका निरोध करता है, तो उसे उस

कारणसे जो स्थिरता आती है, वह आत्माको प्रगट करनेका हेतु होती है। आत्मोन्मासकी स्थिरता होना, यह एक प्रकारसे बहुत कठिन बात है। उसका सुगम उपाय एकतरा मुखरस करनेसे होता है, इसलिये वह विशेष स्थिरताका साधन है। परन्तु वह सुधारस स्थिरता अज्ञानभावसे पत्नीभूत नहीं होती, अर्थात् कल्याणरूप नहीं होती तथा उस नीच-ज्ञानका ध्यान भी अज्ञानभावसे कल्याणरूप नहीं होता इतना हमें विशेष निश्चय भासित हुआ करता है। जिसमें वेदनरूपसे आत्माको जान लिया है, उस ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे वह कल्याणरूप होता है, और वह आत्माको प्रगट होनेका अव्यक्त सुगम उपाय है।

यहाँ एक वृत्ती भी कर्तव्य बात लिखना सूझती है। आत्मा एक चंदन वृक्षके समान है। उसके पास जो जो वस्तुयें विशेषतासे रखी हैं, वे सब वस्तुयें उसकी सुगंधका विशेष बोध करती हैं। जो वृक्ष चन्दनके पासमें होता है, उस वृक्षमें चन्दनकी गंध विशेषरूपसे सुगन्धित होती है। जैसे जैसे वृक्ष दूर होता जाता है, वैसे वैसे सुगंध मंद होती जाती है और अमुक स्थानको पश्चात् अल्प गंधरूप वृक्षोंका वन आरंभ हो जाता है, अर्थात् उनमें चंदनकी सुगंध नहीं रहती। इसी तरह जबतक यह अज्ञान-विमल-परिणामका सेवन करती है, तबतक उसे चंदन-वृक्ष कहते हैं, और उसका सबके साथ अमुक अमुक सूख वस्तुका संबंध है, उसमें उसकी अमर्याद सुगंध विशेष पड़ती है। जिसका ज्ञानीकी आज्ञासे ध्यान होनेसे आत्मा प्रगट होती है।

चंदनकी अपेक्षा भी सुधारसमें आत्मा विशेष सगीर रहती है, इसलिये उस आत्माकी विशेष छाया-सुगंधका ध्यान करना योग्य उपाय है। यह भी विचाररूपसे समझने योग्य है।

३८८

ॐ

कनई आश्वीन वरी १ १९४९

प्रायः व्याकुलताके समय विषय व्याकुलताको दूर करनेकी शीघ्रतामें योग्य होता है या नहीं, इस बातकी खोज साधना की जायित सुमुख जनको भी कम हो जाती है; परन्तु यह बात योग्य हो इस तरह है कि उस प्रकारक प्रसंगमें कुछ योग्य समयके लिये चाहे जैसे काम-कानमें उसे मीनक समान—निष्क्रियकी तरह—कर डालना। व्याकुलताको बहुत कठोर समयतक क्षयमान रहनेवाली समझ पैटना योग्य नहीं है। और यदि वह व्याकुलता बिना धीरनके खोज की जाती है या वह अल्पकालीन होनेपर भी अधिक व्यग्रता रहनेवाली हो जाती है। इसलिये इच्छेच्छ और “वयायोग्य” समझ कर मीन रहना ही योग्य है। मीनका अर्थ यह करना चाहिये कि अंतरमें निष्क्रिय और सत्ताप न किया करना।

३८९

ॐ

कनई आश्वीन वरी १९४९

आत्मभावना मावता, जीव सोई कैवल्यज्ञान है।

३९०

बम्बई, आसोज वरी ११ एषि १९४९

आपके समयसारके कवित्तसहित दो पत्र मिळे हैं। मित्रकार-साकार नेतनविषयक कवि-
तका ऐसा अर्थ नही है कि उसका मुखरससे कोई संबंध किया जा सके। उसे हम फिर छिछेंगे।

सुदता विचारे ज्यानि, सुदतामें केहि करै,
सुदतामें फिर नै, अमृतपारा बरसे।

इस कवितामें सुधारसका जो माहस्य कहा है, वह केवल एक विमर्श (सब प्रकारके अन्य
परिणामसे उचित अस्तित्वात-प्रदेशी आत्मद्वय) परिणामसे स्वल्पस्य और अप्रुतस्य अस्तका वर्णन है।
उक्त परमार्थ यथार्थरूपसे हृदयगत है, जो अनुक्रमसे समझमें आवेगा।

३९१

बम्बई, आसोज १९४९

जे अमुदा महाभाग बीरा असमत्तर्दसिणो।
अमुदं तसि परकंठं सफळं हाई सम्भसो ॥ १ ॥
जे य मुदा महाभाग बीरा सम्मत्तर्दसिणो।
मुदं तसि परकंठं अफळ हाई सम्भसो ॥ २ ॥

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफळ' शब्द है वहाँ 'अफळ' ठीक माझूम होता है, वीर जहाँ
'अफळ' शब्द है वहाँ 'सफळ' ठीक माझूम होता है; इसलिये क्या इसमें छेस-दोष रह गया है, या
ये गाथायें ठीक हैं? इस प्रश्नका समाधान यह है कि यहाँ छेस-दोष नहीं है। जहाँ सफळ शब्द है
वहाँ सफळ ठीक है, और जहाँ अफळ शब्द है वहाँ अफळ ठीक है।

मिथ्याद्विकी क्रिया सफळ है—फलसहित है—अर्थात् उसे पुण्य-पापका फल भोगना है।
सम्पन्नद्विकी क्रिया अफळ है—फलरहित है—उसे फल नहीं भोगना है—अर्थात् उसकी निर्बल
है। एककी (मिथ्याद्विकी) क्रियाका संसाधेतक सफळपना है, वीर दूसरेकी (सम्पन्नद्विकी)
क्रियाका संसाधेतक अफळपना है—ऐसा परमार्थ समझना चाहिये।

३९२

बम्बई, आसोज १९४९

(१) स्वल्प स्वभाषमें है। वह ज्ञानीकी चरण-सेवाके बिना जनत काष्ठक प्राप्त न हो,
ऐस कठिन भी है।

हम वीर तुम हाथमें प्रत्यक्षरूपसे तो नियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निबधनक किसी
महान् प्रतिबंधके उदयमें होने योग्य कारण है।

(२) हे राम। जिस अवसरपर जो प्राप्त हो जाय उसमें सतोषसे रहना, यह संपुर्णकोश
कहा हुआ समाधान बर्त है, ऐसा बतिस कहते थे।

(३) जो ईश्वरेष्ट होगी वह होगा। मनुष्यका काम केवल प्रयत्न करना ही है; और उससे
जो अपने प्रारम्भमें होगा वह मिळ जायगा। इसलिये मनमें संकल्प-विकल्प नहीं करना चाहिये।

२७वाँ वर्ष

३९३

बम्बई, कार्तिक सु ९ सुक्र १९५०

“सिएर राजा है” इतने शक्तिके उद्घाटन (विचार) से गर्भ-भीमता श्रीश्याम्भिर, वही समयसे ही आदिके परिचयके स्थापन करनेका प्रारम्भ करते हुए।

यह देखकर श्रीश्याम्भिरके मुखसे वैराग्यके स्वाभाविक वचन उद्गम होते हुए कि “नित्य प्रति एक एक जीका त्याग करके अलोकसे वह श्याम्भिर वहीसे शिष्योंका त्याग करना चाहता है। इस प्रकार श्याम्भिर वहीसे दिव्यका काव-शिकारीका विज्ञान करता है, यह मन्त्र आत्मवर्ष है।”

यह सुनकर श्याम्भिरकी वही वीर वनाभिरकी पत्नी वनाभिरके प्रति इस प्रकार सहज वचन कहती हुई कि “आप जो ऐसा कहते हो, परन्तु यह हमें मान्य है, परन्तु आपको भी उस प्रकारसे त्याग करना कठिन है।” यह सुनकर विचित्र किंहीं प्रकारसे स्वेच्छित हुए बिना ही श्रीश्याम्भिर उस ही समय त्यागकी शरण लेते हुए, वीर श्रीश्याम्भिरसे कहते हुए कि तुम किस विचारसे कष्टका विज्ञान करते हो? यह सुनकर, शिष्यका विचित्र आत्मरूप हो गया है। ऐसा वह श्रीश्याम्भिर वीर वनाभिर का प्रकटसे गृह आदिको छोड़कर ससारका त्याग करते हुए कि “ममों किसी निग उन्होंने अपना कुछ किया ही नहीं।”

इस प्रकारके सपुत्रके वैराग्यको सुनकर भी यह जीव बहुत बर्षों आग्रहसे कावका विज्ञान कर रहा है, वह कौनसे कष्टसे करता होगा—यह विचारकर देखना योग्य है।

३९४

बम्बई मंगलवार सुदी १ १९५०

बागीका समय करना योग्य है परन्तु व्यवहारका सर्वत्र इस तरहका रहता है कि यदि सर्वपात्रसे उस प्रकारका समय रखें तो समागममें जानेवाले जीवोंको वह हेतुका हेतु हो इसलिये बहुत करके यदि प्रयोगनके सिद्धाय भी समय रक्खा जाय, तो उसका परिणाम किसी तरह अपेक्ष्यमाना समर्थ है।

जीवके मनुष्यका फिर फिरसे प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक समागममें विचार करनेमें यदि सावधानी न रखनेमें धर्म तो इस प्रकार जो संयोग बना है वह भी बुद्धा ही है।

३९५

बम्बई पीपल १४ एप्री १९५१

हमने निरोपकरते नहीं किया जाता। उसमें उपाधिकी अपेक्षा विचित्र संश्लेषमात्र निरोप कारणरूप है। (विचित्र शब्दक्रममें किसी प्रवृत्तिकी संश्लेष हो जाना—गुल हो जाना—उसे यहाँ संश्लेषमात्र किया है।)

हमने ऐसा अनुभव किया है कि जहाँ जहाँ भी प्रमत्त-वृत्ता हो वहाँ आत्ममें जगत्-मत्तयी कामका

अवकाश होना योग्य है। जहाँ सर्वथा अप्रमत्तता है, वहाँ आत्माके सिवाय दूसरे किसी भी भावका अवकाश नहीं रहता। यद्यपि धीर्यकर आदि सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद किसी तरहकी देह-क्रिया सहित दिखाई देते हैं, परन्तु यदि आत्मा इस क्रियाका अवकाश प्राप्त करे तो ही वह उस क्रियाको कर सकती है। ज्ञान होनेके पश्चात् इस प्रकारकी कोई क्रिया नहीं हो सकती, और ता ही वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान होना योग्य है, यह ज्ञानी पुरुषोंका सन्देह रहित निश्चय है—ऐसा हमें छगता है। जैसे अगर आदि रोगमें बिचक्रे कोई स्नेह नहीं होता, उसी तरह इन मार्गमें भी स्नेह नहीं रहता—छगभग स्पष्ट रूपसे नहीं रहता, और उस प्रकारके प्रतिबन्धके रहितपनेका विचार हुआ करता है।

३९६

मोहमयी, माघ वदी ४ शुक १९५०

तुम्हारा पत्र मिला है। उसके साथ जो प्रश्नोंकी सूची उत्तरकर भेजी है वह भी मिली है।

उन प्रश्नोंमें जो विचार प्रगट किये हैं, वे पहिले विचार-भूमिकामें विचारने योग्य हैं। जिस पुरुषने यह प्रश्न बनाया है, उसने बेदंत आदि शास्त्रके अमुक प्रपञ्चके अवलोकनके ऊपरसे ही वे प्रश्न सिद्धे हैं। इसमें कोई अत्यन्त आश्चर्यकी बात नहीं मिली है। इन प्रश्नोंका तथा इस तरहके विचारोंका बहुत समय पहिले विचार किया था, और इस प्रकारके विचारोंका विचार करनेके लिये तुम्हें तथा को कहा था। तथा दूसरे उस प्रकारके सुमुझ्झको भी इस प्रकारके विचारोंके अवलोकन करनेके विषयमें कहा था, अथवा अब भी कहते हैं, जिन विचारोंके करनेसे अनुक्रमसे सत्-वसत्का पूरा विवेक हो सके।

हामें साठ-आठ दिनसे शरीर जरसे प्रसूत था, अब दो दिनसे ठीक है।

जो कविता भेजी वह मिली है। उसमें आजापिकाव्यमें तुम्हारा नाम बताया है, और कविता करनेमें जो कुछ बिचक्षणता चाहिये, उसे दिखानेका विचार रक्खा है। कविता ठीक है।

कविताका कवितायुक्त लिये आशयन करना योग्य नहीं—सुसम्पूर्णके लिये आशयन करना योग्य नहीं। यदि उसका प्रयोजन भगवान्‌के मन्त्रके लिये—आत्मकल्याणके लिये—हो तो जीवको उस गुणकी क्षुधोपशमताका फल मिलता है। जिस विषयसे उपशम गुण प्रगट नहीं हुआ—विवेक नहीं आया, अथवा समाधि नहीं हुई, उस विषयके विषयमें श्रेष्ठ जीवको आशय करना योग्य नहीं है।

हामें अब प्रायः करके मोटीकी खरीद कर ही रहती है। जो विषयवर्तते हैं उनका भी प्रसन्न रूपसे ध्यान देनेका विचार कर रक्खा है। यदि यह प्रसन्न न होता तो उस प्रसन्नमें उत्पन्न होनेवाली संशय और उसका उपशमन न होता। अब वह स्वमेव-निरूपसे अनुभवमें आया है। वह भी एक प्रकारकी प्रारम्भिक निश्चितिकर है।

३९७

मोहमयी, माघ वदी ० शुक १०८०

पहिले उपाधि-मंडनमें कुछ विशेष सहजशीलतासे रहना पड़े, इस प्रकारकी भीसम होनेके

कारण वास्तवमें गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है। प्रायः करके सबसे यदि बने तो नियमितरूपसे कर्म ससंगकी बात छिन्ना।

३९८

बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ रवि १९५०

बारंबार वरुणि हो जाती है, फिर भी प्रारम्भ-योगसे उपाधिसे दूर नहीं हुआ जा सकता।

(२)

हृदयमें वेद-दो मन्त्रिने हुए उपाधिके प्रसंगमें विशेष विशेषरूपसे सत्कारके स्वरूपका वेदन हुआ है। यद्यपि इस प्रकारके अनेक प्रसंगोंका वेदन किया है, फिर भी प्रायः इन्द्रपूरक केन नहीं किया। इस देखने और उस पहिनेकी बीच-बीच हेतुवाजी देखने किया हुआ वेदन मोक्ष-कार्यमें उपयोगी है।

३९९

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि १९५०

“तीर्थक्षरदेव प्रमादको कर्म कहते हैं, और अप्रमादको उससे विपरित अर्थात् अकर्मरूप आत्म-स्वरूप कहते हैं। इस प्रकारके मेरसे ब्रह्मानी और ज्ञानीका स्वरूप है (कहा है)”—सुगण्डसूक्त-वीर्य-अभ्यपन।

‘जिस कुलमें जन्म हुआ है, और जीव जिसके सहवासमें रहता है, उसमें यह ब्रह्मानी जीव ममता करता है, और उसीमें निमग्न रहा करता है’—(सुगण्ड—अथमाध्यमन)

जो ज्ञानी-गुरुप भूतकायमें हो गये हैं, और जो ज्ञानी-गुरुप भविष्यकायमें होंगे, उन सब पुरुषोंने शांति (समस्त विमल परिणामसे एक जगत्—निवृत्त हो जाना) को सब धर्मोंका आधार कहा है। जैसे मृतमात्रको पूष्णी जागरूक है, अर्थात् जैसे प्राचीमात्र पूष्णीके ही जागरूक रहते हैं—प्रथम उनको उसका आधार होना योग्य है—जैसे ही पूष्णीकी तरह, ज्ञानी-गुरुपोंने सब प्रकारके कल्याणका आधार शांति ही कहा है”—(सुगण्ड)

४००

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि १९५०

ॐ

(१)

गुणवारको एक पत्र छिन्नो, नहीं तो रविवारको विस्तारसहित पत्र छिन्नो, ऐसा सिखा पा; उसे छिन्ने समय धितमें यह आया या कि तुम मुमुक्षुओंको कर्म नियम वैसी स्थिरता होनी चाहिये, और उस नियममें कुछ छिन्ना सुने तो छिन्ना चाहिये। छिन्ने समय ऐसा हुआ कि जो कुछ सिखा जाता है उसे ससंगक समागममें विस्तारसे कहना योग्य है, और वह कुछ फलस्वरूप होने योग्य है।

(२)

इतनी बातका नि-बय रचना योग्य है कि ज्ञानी-गुरुप भी प्रारम्भ कर्मके योगे बिना निवृत्त नहीं होता, और बिना योगे निवृत्त होनेकी ज्ञानीको कर्म इच्छा भी नहीं होती। ज्ञानीके सिवाय दूसरे

जीवोंको भी इस तरहके बहुतसे कर्म हैं, जो भोगनेपर ही निवृत्त होते हैं—अर्थात् वे प्रारम्भ जैसे होते हैं। परन्तु दोनोंमें इतना भेद है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति तो मात्र पूर्वोपरिष्ठ कारणसे होती है, और दूसरेकी प्रवृत्तिका उद्देश भविष्य-संसार है; इसलिये ज्ञानीका प्रारम्भ शुद्ध ही पड़ता है।

इस प्रारम्भका यह निदृश्य नहीं कि वह निवृत्तिरूपसे ही उदय आवे। उदाहरणके लिये श्रीकृष्ण आदि ज्ञानी-पुरुषोंके प्रवृत्तिरूप प्रारम्भ होनेपर भी उनकी ज्ञान-दशा थी, जैसे गहस्थानस्थानमें श्रीतीर्थंकर की थी। इस प्रारम्भका निवृत्त होना केवल भोगनेसे ही संभव होता है। ज्ञानी-पुरुषकी प्रारम्भ-स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि जो उसका स्वरूप जाननेके लिये जीवोंको संहारका हेतु हो, और उसके लिये ज्ञानी-पुरुष प्राप्त करके अब—मौन-दशा रखकर अपने ज्ञानीपनेको अत्यष्ट रखता है। फिर भी प्रारम्भके वशसे यदि वह दशा किसीके लपट जाननेमें आ जाय, तो फिर उसे उस ज्ञानी पुरुषका विभिन्न प्रारम्भ संहारका कारण नहीं होता।

४०१ बर्बर, फाल्गुन वरी १० सनि १९५०

श्रीशिक्षापत्र प्रथम बौद्ध-निचारनेमें हाथमें कोई बाधा नहीं है। जहाँ कोई शकाका हेतु उपस्थित हो वहाँ विचार करना, अपना कोई प्रथम सूँझने योग्य हो तो सूँझनेमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

सुदर्शन सेट पुरुषत्वमें था, फिर भी वह रानीके समामगमें व्याकुलतासे रहित था। आपत अशम-वशसे कामके उपशम करनेसे कामेन्द्रियमें अनागृतपना ही संभव होता है। और यदि उस समय पाने कदाचित् उसकी देहका सहवास करनेकी इच्छा भी की होती, तो भी अभिसुदर्शनमें कामकी वगृहीत देखनेमें न आती—ऐसा हमें लगता है।

४०२ बर्बर, फाल्गुन वरी ११ रवि १९५०

शिक्षापत्र प्रथम मुख्य मन्त्रिका प्रयोजन है। मन्त्रिके आधाररूप विवेक, धैर्य और आत्मन इन तीन गुणोंकी उसमें विशेष पुष्टि की है उसमें धैर्य और आत्मनका विशेष सम्पत्प्रकारसे प्रतिपादन किया है, निनका विचार करके मुमुक्षु जीवको उन्हें अपना गुण बनाया चाहिये।

इसमें श्रीकृष्ण आदिके जो जो प्रसंग आते हैं, वे इस प्रकारके हैं कि वे शाप संहारके हेतु हों, फिर भी उसमें श्रीकृष्णके स्वरूपको समझनेका ढेर समझकर उपेक्षित रहना ही योग्य है। मुमुक्षुका प्रयोजन केवल हित-मुक्तिसे बौद्ध-निचारलेका ही होता है।

४०३ बर्बर, फाल्गुन वरी ११ रवि १९५०

उपाधि दूर करनेके लिये दो प्रकारसे पुरुषार्थ हो सकता है—एक तो निस्ती भी व्यापार आदि कार्यसे, और दूसरे निषा, मग्न आदि साधनसे। यद्यपि इन दोनोंमें पहिले जीवको अंतर्गतके दूर होनेकी शक्यता होती चाहिये। यदि पहिला बताया हुआ पुरुषार्थ किस्ती तरह बने तो तब मग्नसे

हमें हाथों प्रतिबन्ध नहीं है, परन्तु दूसरे पुरुषार्थके विषयमें तो सर्वथा उदासीनता ही है, और इसके स्मरणमें आ जानेसे भी चिन्तमें सेना हो जाता है इस तरह उस पुरुषार्थके प्रति अनिच्छा ही है।

बितनी आकुश्लता है उतना ही मार्गका विरोध है, ऐसा जानी-पुरुष कह गये हैं।

४०४

ॐ

वर्षा, फाल्गुन १९५०

तीर्थंकर आरम्भार नीच कहा हुआ उपदेश करते थे —

हे जीव ! तू सत्त्वो ! सम्यक्प्रकारसे समझो ! मनुष्यता मिथ्या बहुत दुर्लभ है, और पापों गतिथी मयसे व्याप्त हैं, ऐसा जानो। ज्ञानसे सद्विषयकका पाना कठिन है, ऐसा समझो। समस्त लोक एकल दृष्टिसे बंध रहा है, ऐसा मानो। और सब जीव अपने अपने कर्मोंसे विपर्यस्त मानस अनुभव करते हैं उसका विचार करो। (सुगण्ड अध्यायन ७-१२)

बिसका सर्व दृष्टिसे मुक्त होनेका विचार हुआ हो, उस पुरुषको आत्मज्ञानी गवेषणा करनी चाहिये, और यदि आत्माकी गवेषणा करना हो तो यम नियम आदि सब साधनोंके आत्मज्ञको अभिधान करके स्वस्वकी गवेषणा एवं उपासना करनी चाहिये। बिसे स्वस्वकी उपासना करना ही उसे स्वस्वकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अपने समस्त अभिप्रायका त्याग करके अपनी सर्व शक्तिसे उस स्वस्वकी आत्माकी उपासना करनी चाहिये। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आत्माकी उपासना करता है, वह अवश्य ही स्वस्वकी उपासना करता है। इस प्रकार जो स्वस्वकी उपासना करता है वह अवश्य ही आत्माकी उपासना करता है और आत्माकी उपासना करनेवाला सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। (आश्वमेधीका अष्टावसु)।

ऊपर जो उपदेश लिखा है, वह गाथा सुगण्डमें निम्नरूपसे है:—

समुत्सृष्टा अवबो माणुसर्ष, दहर्द्ध भयं वाक्सिर्गणे अशंभी ।

एवंतदुक्तं जरिणं व सोप, सकम्पुणा विपरिया सुवेह ॥

सब प्रकारकी उपाधि आवि और व्यापिते यदि मुक्तभावसे रहते हों तो भी स्वस्वमें सन्निविष्ट भक्ति, हमें दूर होना कठिन साध्य होती है। स्वस्वकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें दिन-रात रखा करती है फिर भी उद्यम-योग प्रारम्भसे उस प्रकारका अंतराय रखा करता है। प्रायः करके हमारी आत्मामें किसी बातका क्षेत्र उत्पन्न नहीं होता फिर भी प्रायः करके स्वस्वको अंतरायका क्षेत्र तो दिन-रात रखा करता है। सर्व भूमि सब मनुष्य सब काम सब बात-चीत आदिके प्रसंग, स्वाभाविकरूपसे अज्ञान जैसे सर्वथा परके, उदासीन जैसे अयोग्य और रक्षरहित भासित होते हैं। केवल जानी-पुरुष, मुमुक्षु पुरुष अपना मार्गानुसार पुरुषोंका स्वस्व ही ज्ञात, निमका, प्रीतिकर सुन्दर आकर्षक और रक्षकरूप भासित होता है। इस कारण हमारा मन प्रायः करके अप्रतिबद्धताका रोपन करते करते हम जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धता प्राप्त करता है।

४०५

ॐ

बम्बई, फरवरी १९५०

मुमुक्षु जीवको इस कालमें ससारकी प्रतिकूल दशाओंका प्राप्त होना, वह उसे ससारसे पार होनेके बराबर है। अनन्तकालसे अभ्यसित इस ससारके स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल समागममें अधिक होता है, यह बात निश्चय करनी योग्य है।

यदि प्रतिकूल समागम समतार्प्यक सहन किया जाय तो वह जीवको निर्वाणकी समीपताका साधन है।

ध्यावहारिक प्रसंगोंकी नित्य चित्र-विचित्रता है। उसकी ऐसी स्थिति है कि उसमें केवल कल्पनासे ही सुख वार कल्पनासे ही दुःख है। अनुकूल कल्पनासे वह अनुकूल भासित होता है, प्रतिकूल कल्पनासे वह प्रतिकूल भासित होता है और झानी-पुरुषोंने ये दोनों ही कल्पनायें करनेकी मना की है। विचारबानको शोक करना ठीक नहीं—ऐसा वीतीर्थकर कहते थे।

४०६

(१)

बम्बई फरवरी १९५०

अनन्य धारणके देनेवाला श्रीसद्गुरुदेवको अत्यंत भाक्तिसे नमस्कार है।

किन्हींने शुद्ध आत्मस्वरूपको पा लिया है, ऐसे झानी-पुरुषोंने नीच कहे हुए उह पणोंको सम्पदार्थनके निवासस्थ सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहा है —

प्रथम पत्र — 'आत्मा है'। जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं वैसे ही आत्मा भी है। अमुक पुरुषोंके होनेके कारण जैसे घट, पट आदिके होनेका प्रमाण मिलता है, वैसे ही जिसमें हर-हर प्रकाशक चैतन्य सदाका प्रत्यक्ष गुण मौजूद है, ऐसी आत्माके होनेका भी प्रमाण मिलता है।

दूसरा पत्र — 'आत्मा नित्य है'। घट, पट आदि पदार्थ अमुक कालमें ही रहते हैं। आत्मा त्रिकास्रवर्ती है। घट, पट आदि संयोगजन्य पदार्थ हैं। आत्मा स्वामाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिये कोई भी संयोग अनुभवमें नहीं आता। किसी भी संयोगी द्रव्यसे घटन-सृष्टा प्रगट होने योग्य नहीं है, इसलिये वह अनुत्पन्न है। वह अममोगी होनेसे अविनाशी है, क्योंकि जिसकी किसी संयोगसे उत्पत्ति नहीं होती, उसका किसीमें नाश भी नहीं होता।

तीसरा पत्र — 'आत्मा कर्ता है'। सब पदार्थ कर्ष-क्रियासे उत्पन्न हैं। सभी पदार्थोंमें कुछ न कुछ क्रियासहित परिणाम देखनेमें आता है। आत्मा भी क्रिया-सत्त्व है। क्रिया-सत्त्व होनेके कारण वह कर्ता है। शक्तिभगवान्ने इस कर्तारनेका तीन प्रकारसे विवेचन किया है — परमाप्ति आत्मा (वर्माव-परिणतिसे निजस्वरूपका कर्ता है। अनुवर्णित (अनुभवमें आने पर—विशेष मध्यस्थिति) ध्यावहासे आत्मा द्रव्य-कर्मका कर्ता है। उच्चारसे आत्मा पर नगर आदिका कर्ता है।

चौथा पत्र — 'आत्मा मोक्ष है'। जो जो कुछ क्रियायें होती हैं, वे सब किसी प्रयोजनपूर्वक

ही होती है—निरर्थक नहीं होती। जो कुछ भी किया जाता है उसका फल अवश्य भोगनेमें जाता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। जिस तरह भिप खानेसे भिपका फल, मिर्ची खानेसे मिर्चीका फल, अग्निसे स्पर्श करनेसे अग्नि-स्पर्शका फल, हिमके स्पर्श करनेसे हिम-स्पर्शका फल मिळे बिना नहीं रहता, उसी तरह कृपाय आदि कृपाया अकृपाय आदि जिस किसी परिणामसे भी आत्मा प्रवृत्ति करती है, उसका फल भी मिळना योग्य ही है, और वह मिळता है। उस क्रियाका कर्ता होनेसे आत्मा मोक्ष है।

पौनर्वा पद — 'मोक्षपद है'। जिस अनुपचरित-व्यवहारसे जीवके कर्मका कर्तृत्व निरूपण किया और कर्तृत्व होनेसे योग्यतः निरूपण किया, वह कर्मदूर भी अवश्य होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष कृपाय आदिकी तीव्रता होनेपर भी उसके अनन्याससे—अपरिचयसे—उसके उपशम करनेसे—उसकी मरता निवर्त देती है—वह क्षीय होने योग्य मान्य होता है—क्षीय हो सकता है। उस सब बंध-मात्रके क्षीय हो सकने योग्य होनेसे उससे रहित जो कुछ आत्मभाव है, उसका मोक्षपद है।

छद्म पद:—'उस मोक्षका उपाय है'। यदि कथित ऐसा हो कि इनेका कर्मका बंध ही बंध हुआ करे, तो उसको निवृत्ति कभी भी नहीं हो सकती। परन्तु कर्मबन्धसे विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, यक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं; जिस साधनके बन्धसे कर्म-बन्ध शिथिल होता है—उपशम होता है—क्षीय होता है; इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्ष-पदके उपाय हैं।

जीवानी पुरुषोद्धार सम्पन्दर्शनके मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छह पदोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है। समीप-मुक्तिगामी जीवको स्वाभाविक विचारमें ये पद प्रामाणिक होने योग्य हैं—परम निश्चयरूप जानने योग्य हैं, उसको आत्मामें उमका सम्पूर्णरूपसे विस्तारसहित विवेक होना योग्य है। ये छह पर संदेहरहित हैं ऐसा परम पुरुषने निरूपण किया है। इन छह पदोंका विवेक जीवको निजस्वरूप समझनेके लिये कहा है। अनादि स्वप्न-दशाके कारण उत्पन्न हुए जीवके बहामात्र-मत्त्वमात्रको दूर करनेके लिये ज्ञानी-पुरुषने इन छह पदोंकी देशना प्रकाशित की है। एक केवल अपना ही स्वरूप उस स्वप्नदशासे रहित है यदि जीव ऐसा विचार करे तो वह छहव्याप्तमें जागत होकर सम्पन्दर्शनको प्राप्त हो; सम्पन्दर्शनको प्राप्त होकर निज स्वभावरूप मोक्षको प्राप्त करे। उसे किसी विनाशी बह्वच और अव्ययत्वमें हर्ष शोक और संयोग उत्पन्न न हो, उस विचारसे निज स्वरूपमें ही निरन्तर छुड़ता, सम्पूर्णता, अनिनाशीपना अर्थात् आनन्दपना उसके अनुभवमें जाता है। समस्त विभाव पर्यायोंमें केवल अपने ही अन्याससे एकता हुई है उससे अपनी सर्वथा भिन्नता ही है यह उसे स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अस्पष्ट प्रत्यक्ष—अपरोक्ष अनुभव होता है। विनाशी कृपाया अन्य कृतार्थके संयोगमें उसे हृद-अनिष्ट-मात्र प्राप्त नहीं होता। जन्म, जरा, मरण, रोग आदिकी बाधा रहित, सम्पूर्ण माहत्म्यके स्वात एसे निज-स्वरूपको जानकर—अनुभव करके—वह बुद्धार्थ होता है। जिन जिन पुरुषोंको इन छह पदोंके प्रमाणभूत ऐसे परम पुरुषके बचनेसे आत्माका निश्चय हुआ है उन सब पुरुषोंने सर्व स्वरूपको पा लिया है वे आधि, ध्याधि, उपाधि और सर्वसंगस रहित हो गये हैं, होते हैं, और अनिश्चयमें भी बैठे ही होंगे।

जिन सपुरुषोंने जन्म, जरा और मरणका माता करकेवाला निज स्वरूपमें सहज-अवस्थापन होनेका उपदेश दिया है, उन सपुरुषोंको आपत्त मन्त्रिते भयस्कार है। उनको निश्चरण कदमसे

नित्य प्रति निरंतर स्तब्ध करनेसे भी आत्म-स्वभाव प्रगटित होता है। ऐसे सब सत्पुरुष और उनके चरणारविंद सदा ही हृदयमें स्थापित रहो।

जिसके बचन अजीबकार करनेपर, छह पदोंसे सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहजमें ही प्रगटित होता है, जिस आत्म-स्वरूपके प्रगट होनेसे सर्वकाममें जीव संपूर्ण आनंदको प्राप्त होकर निर्मय हो जाता है, उस बचनके कहनेवाले ऐसे सत्पुरुषके गुणोंकी व्याख्या करनेकी हममें असामर्थ्य ही है। क्योंकि जिसका कोई भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता ऐसे परमात्मभावको, उसने किसी भी हृदयके बिना, केवल निष्कारण करुणासे ही प्रदान किया है। तथा ऐसा होनेपर भी जिसने दूसरे जीवको 'यह मेरा शिष्य है, अपना मेरा भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है' इस तरह कभी भी नहीं देखा—ऐसे सत्पुरुषको अमृत भक्तिसे फिर फिरसे नमस्कार हो।

जिन सत्पुरुषोंने जो सद्गुरुकी भक्ति निकमण की है, वह भक्ति केवल शिष्यके कल्याणके लिये ही की है। जिस भक्तिके प्राप्त होनेसे सद्गुरुकी आज्ञाकी चेष्टामें इति रहे, अपूर्ण गुण छिद्दिगोचर होकर कल्प स्वच्छ दूर हो, और सहजमें आत्म-बोध मिले, यह समझकर जिसने भक्तिका निकमण किया है, उस भक्तिको और उस सत्पुरुषोंको फिर फिरसे विचार नमस्कार हो।

यद्यपि कभी प्रगट रूपसे वर्तमानमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके बचनके विचार योगसे केवलज्ञान शक्तिरूपसे मौजूद है, यह स्पष्ट जान लिया है—इस प्रकार भदात्मसे केवलज्ञान हुआ है—विचार-दशासे केवलज्ञान हुआ है—हृदय-दशासे केवलज्ञान हुआ है—मुक्त नयके हेतुसे केवलज्ञान रहता है, जिसके योगसे जीव सर्व अव्यापार सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञानको, सहज-भावमें पानेके योग्य हुआ है, उस सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्तम भक्तिसे नमस्कार हो। नमस्कार हो।

(२)

सम्पददर्शनस्वरूप श्रीनिजनेके उपदेश किये हुए निज क्लिप्त छह पदोंका आभाषी जीवको अति-शयरूपसे विचार करना योग्य है।

आत्मा है, क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध है—यह अस्तिपद।

आत्मा नित्य है—यह नित्यपद। आत्माके स्वरूपका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना और विनाश होना समझ नहीं।

आत्मा कर्मका कर्ता है—यह कर्तापद।

आत्मा कर्मका मोक्ष है।

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे साधन निश्चित हैं।

४०७

ॐ

बम्बई, पत्र सुदी १९५०

हामें यहाँ बड़ा उपाधि कुछ कम रहती है। तुम्हारे पत्रमें जो प्रश्न लिखे हैं, उनका समाधान नीचे लिखा है, विचार करना।

पूर्वकर्म दो प्रकारके हैं। अपना जीवसे जो जो कर्म किये जाते हैं, वे दो प्रकारसे किये जाते हैं। एक कर्म इस तरहके है कि उनका कुछ आदिको जिस तरह स्थिति है, वह उसी प्रकारसे भोगी जा सके। दूसरे कर्म इस प्रकारके हैं कि जो कर्म ज्ञानसे—विचारसे—निवृत्त हो सकते हैं। ज्ञानके होनेपर भी जिस तरहके कर्मोंको अवश्य भोगना चाहिये, वे प्रथम प्रकारके कर्म कहे हैं, और जो ज्ञानसे दूर हो सकते हैं, वे दूसरे प्रकारके कर्म हैं।

केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी देह रहती है। उस देहका रहना कोई केवलज्ञानीको इच्छासे नहीं, परन्तु प्रारम्भसे होता है। इच्छा सम्पूर्ण ज्ञान-बन्ध होनेपर भी उस देहकी स्थिरिके बेदन किये बिना केवलज्ञानी भी नहीं छूट सकता, ऐसी स्थिति है। यद्यपि उस प्रकारसे छूटनेके लिये कोई ज्ञानी-पुरुष इच्छा नहीं करता, परन्तु यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी-पुरुषको भी वह कर्म भोगना योग्य है। तथा अन्तर्गम्य आदि अमुक कर्मोंको इस प्रकारकी व्यवस्था है कि वह ज्ञानी-पुरुषको भी भोगनी योग्य है। यथात् ज्ञानी-पुरुष भी उस कर्मको भोगे बिना निवृत्त नहीं कर सकता। सब प्रकारके कर्म इसी तरहके हैं कि वे फलप्रदित नहीं आते; केवल उनका निवृत्तिके क्षममें ही कर होता है।

एक कर्म तो जिस प्रकारसे स्थिति बगैरुच्छा बच किया है, उसी प्रकारसे भोगने योग्य होता है। दूसरे कर्म ऐसा होता है, जो जीवके ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होता है। ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होनेवाले कर्मोंको निवृत्ति ज्ञानी-पुरुष भी करते हैं; परन्तु भोगने योग्य कर्मोंको ज्ञानी-पुरुष सिद्धि आदि प्रयत्नसे निवृत्त करनेकी इच्छा न करते, यह संभव है।

कर्मोंको यथायोग्यरूपसे भोगनेमें ज्ञानी-पुरुषको संकोच नहीं होता। कोई ज्ञानदशा होनेपर भी अपनी ज्ञानदशा समझनेवाला जीव कदाचित् भोगने योग्य कर्मोंको भोगना न चाहे, तो भी छूटकर या भोगनेपर ही होता है, ऐसा नियम है। तथा यदि जीवका किया हुआ कृत्य बिना भोगे ही फलप्रदित बसा जाता हो, तो फिर बच-भोगकी व्यवस्था भी कदाचित् बन सकती है।

जो वेदनीय आदि कर्म हैं तो उन्हें भोगनेकी हमें अनिच्छा नहीं होती। यदि कदाचित् अनिच्छा होती हो तो चित्तमें केव्ही हो कि जीवको देहाभिमान है; उससे उपार्जित कर्म भोगते हुए वेद होता है, और उससे अनिच्छा होती है।

मन आदिसे, सिद्धिसे और दूसरे उस तरहके अमुक कारणोंसे अमुक धर्मकारका हो सकता असंभव नहीं है। फिर भी जैसे हमने ऊपर बताया है जैसे भोगने योग्य जो 'निश्चित कर्म' हैं वे किसी भी प्रकारसे दूर नहीं हो सकते। कदाचित् अमुक सिद्धि कर्म' की निवृत्ति होती है, परन्तु ऐसा नहीं है कि वह कुछ उपार्जित करनेवालेके केवल किये बिना निवृत्त हो जाता है; आकस्मिके पेरसे उस कर्मका वेदन होता है।

कोई एक इस प्रकारका सिद्धि कर्म होता है कि जिसमें अमुक समय चित्तकी स्थिरता रहे तो वह निवृत्त हो जाय। उस तरहके कर्मका ठन मन आदिमें स्थिरताके संभवसे निवृत्त होना संभव है। अपना किसीके किसी पूर्वायका कोई इस प्रकारका बंध होता है जो केवल उसकी योग्यता ही कृपासे फलीभूत हो जाय—यह भी एक सिद्धि पैदा है। तथा यदि कोई अमुक मन आदिके प्रयत्नमें हो, और अमुक पूर्वायक बंध होनेका प्रसंग समीपमें हो, तो भी मन आदिसे कार्यकी सिद्धि होना बाना

जा सकता है परन्तु इस बातमें कुछ शोका भी बिच होनेका कारण नहीं। यह निष्कल बात है। इसमें आत्मके कर्मपात्रका कोई मुख्य प्रसंग नहीं है। ऐसी कथा मुख्य प्रसंगकी विस्फुटिका ही कारण होती है, इसलिये उस प्रकारके विचारके अथवा खोजके निर्णय करनेकी इच्छा करनेकी अपेक्षा उसका त्याग करना ही उचित है और उसके त्याग होनेपर उसका स्मरणमें विषय हो जाता है।

जिससे आत्मामें विशेष आतुरता न हो वैसे रहना। जो होने योग्य होगा वह तो होकर रहेगा, और आतुरता करनेसे भी जो होने योग्य होगा वह तो अवश्य होगा, उसके साथ आत्मा भी अपराधी बनेगी।

४०८

बम्बई, चैत्र बड़ी ११ मीम १९५०

जिस कारणके नियममें लिखा था, बिच अभी उस कारणके विचारमें है; और अभीतक उस विचारके बिचके समाधानरूप जर्पात् पूर्ण न हो सकनेसे तुम्हें पत्र नहीं लिखा। तथा कोई प्रमाद-दोष जैसा कोई प्रसंग-दोष रहा करता है, जिसके कारण कुछ भी परमार्थकी बात लिखनेके समयमें बिच फटकर छिड़ते हुए एकत्र एक जाता है। तथा जिस कार्यकी प्रवृत्ति रहती है, उस कार्यकी प्रवृत्तिमें और अपरमार्थके प्रसंगमें मानों भेरेसे यथायोग्य उदासीन बक नहीं होता। ऐसा कर्गसे, अपने दोषके विचारमें पड़ जानेसे पत्र लिखना रुक जाता है, और प्रायः करके उस विचारका समाधान नहीं हुआ, ऐसा जो ऊपर लिखा है, उसका यही कारण है।

यदि किसी भी प्रकारसे बने तो इस कष्टरूप ससारमें अधिक व्यक्तसाय न करना—संलग्न करना ही योग्य है।

मुझे ऐसा लगता है कि जीवको मूलरूपसे देखते हुए यदि मुमुक्षुता आई हो तो नित्य प्रति उसका ससार-बन्ध घटता ही जाय। ससारमें बग आदि सपत्तिका घटना या न घटना तो अनियत है, किन्तु ससारके प्रति जीवकी जो भावना है वह यदि मंद होती चली जाय, तो वह अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो। इस कालमें प्रायः करके यह बात देखनेमें नहीं आती। किसी विषय स्वल्पमें मुमुक्षुको और किसी विषय ही स्वल्पमें मुनि योग्यको देखकर विचार जाता है कि इस प्रकारके संगसे जीवकी ऊर्ध्व दशा होना योग्य नहीं, किन्तु अधोदशा होना ही योग्य है। फिर जिस संसृगच्छ कुछ समामम हुआ है, काष्ठ-दोषसे ऐसे जीवकी व्यवस्थाको भी फटनेमें देर नहीं लगती। इस प्रकार स्पष्ट देखकर बिचमें खेद होता है; और अपने बिचकी व्यवस्था देखकर मुझे भी ऐसा होता है कि मुझे किसी भी प्रकारसे यह व्यक्तसाय करना योग्य नहीं—अवश्य योग्य नहीं। जल्द—अत्यंत जल्द—इस जीवका कुछ प्रमाद है; नहीं तो त्रिसे प्रगटरूपसे जान लिया है, ऐसे जल्दको पानेमें जीवकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है! अथवा यदि ऐसा न हो तो फिर उसमें उदासीन प्रवृत्ति ही हो। तो भी उस प्रवृत्तिकी वज्र यदि किसी प्रकारसे भी समाप्ति हो तो यह होने योग्य है, नहीं तो जल्द किसी भी प्रकारसे जीवका ही दाव है। अधिक नहीं लिखा जा सकता, इससे बिचमें खेद होता है। अथवा तो प्रगटरूपसे किसी मुमुक्षुको, इस जीवका दोष भी त्रितनी प्रकारसे बने उतनी प्रकारसे प्रकट करके, जीवका उतना ता खेद दूर करना चाहिये, और उस प्रकट दोषकी परित्यागिके लिये उसके संगम्य उत्कारकी इच्छा करना चाहिये।

मुझे अपने हाथके लिये बातम्हार ऐसा लगता है जिस दोपके बलको परमात्मा देखते हुए मैंने यह कहा है। परन्तु दूसरे वायुनिक जीवोंके दोपके सामने अपने दोपकी अप्रत्यक्ष अन्यायता भास्य होती है, यद्यपि ऐसा माननेकी कोई इच्छा नहीं है, फिर भी स्वभावसे कुछ ऐसा ही भास्य होता है। ऐसा होनेपर भी किसी विचार्य अपराधीकी तरह जबतक हम यह व्यवहार करते हैं तबतक अपनी आत्मामें ही छोड़ेंगे। हमें और तुम्हारे संगमें रहनेवाले किसी भी मुमुक्षुको यह बात कुछ भी विचारने योग्य अन्याय भास्य नहीं है।

(२)

यह त्यागी भी नहीं अत्यागी भी नहीं। यह उमी भी नहीं, नीतरुमी भी नहीं।

अपना कर्म निबल करे। उसके चारों ओर निरुद्ध भूमिका रखे।

यह जो दर्शन होता है, क्या यह हुआ चला जाता है। इसका विचार पुनः पुनः करते हुए पूर्णता का आती है।

सतजनने अपना कर्म नहीं छोड़ा है, जिन्होंने छोड़ दिया है, उन्होंने परम असमाधिक्य पाया है। सतपना अति अति दुर्लभ है। आनेके बाद सतका मिथ्या कठिन है। सतपनेकी विद्यमानता अनेक है परन्तु दुर्लभ सतपना तो दुर्लभ ही है।

(१)

आपोपसमिक ज्ञानके निकल होते हुए क्या देर लगती है।

(२)

यदि इस जीवने उस वैमानिक परिणामको क्षीण न किया तो यह इसी भवमें प्रत्यक्ष दुःखका भेदन करेगा।

४०९

कर्म्य वैश्व बरी १२ १०५०

जो मुमुक्षु जीव गृहस्थके व्यवहारमें रहता हो उसे पहिले तो आत्ममें असह नीतिका मूल स्थापित करना चाहिये, यही तो उपदेश आत्मिकी निष्कलता ही होती है।

इस्य आदि पैदा करने आदिमें संगोपयोग न्यायसंगत रहनेका नाम नीति है। इस नीतिके छोड़ते हुए प्राण जानेकी दशा जानेपर त्याग वैराग्य सबे स्वरूपमें प्रगट होते हैं और बड़ी जीवको सपुण्यके बचनके तथा अज्ञान-धर्मके अज्ञात सामर्थ्य, महात्म्य और रहस्यको समझता है; और इससे सब वृत्तियोंके निग्रहमें प्रवृत्ति करनेका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

प्रायः करते हमें दशा, काउ संग आदिका विपरीत उपयोग रहता है; इसलिये बातम्हार, प्रत्येक पक्षमें और प्रत्येक कार्यमें साधारणसे नीति आदि धर्मोंमें प्रवृत्ति करना योग्य है। तुम्हारी तरह जो जीव कम्पागकी आशंका रखता है और जिसे प्रत्यक्ष सपुण्यका निश्चय है, उसे प्रथम भूमिकामें यह नीति परम आधार है। जो जीव ऐसा मानता है कि उसे सपुण्यका निश्चय हुआ है परन्तु उसमें यदि ऊपर कहीं हुई नीतिका प्राबल्य न हो और वह उससे कम्पागकी वाचना करे, तथा बान करे, तो

यह निश्चय केवल सत्पुरुषको ठगनेके ही बराबर है। यद्यपि सत्पुरुष तो आकाशप्रसिद्ध है, अपरि-
उत्सका ठगा जाना संभव नहीं, परन्तु इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले जीव बहस्य अपराधी होते हैं।
इस बातपर बारम्बार तुम्हारे तथा तुम्हारे समागमकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओंको उत्त-
रचना चाहिये।

यह बात कठिन है इसलिये नहीं हो सकती, यह कल्पना मुमुक्षुओंको अहितकारी है और त्याग्य है।

४१०

बम्बई, चैत्र कृती १४ शुक्र १९५०

उपदेशकी आकांक्षा रखा करती है। उस प्रकारकी आकांक्षा मुमुक्षु जीवको हितकारी है—
जगत्सिद्धि हेतु है। ज्यों ज्यों जीवमें त्याग, वैराग्य और आत्मय-भक्तिको बल बढ़ता जाता है,
त्यों त्यों सत्पुरुषके बचनका अपूर्व और अद्भुत स्वस्व मासित होता है और बच-निवृत्तिके उपाय
छद्ममें ही सिद्ध हो जाते हैं। यदि प्रत्यक्ष सत्पुरुषके चरणार्चिदका सयोग कुछ समयतक रहे तो फिर
उसके विषयमें भी त्याग, वैराग्य और आत्मय भक्तिकी कल्पना चारा रहती है; यही तो मिथ्या प्रे-
षा, क्लृप्त, स्या आदिके संयोगसे सामान्य वृत्तिके जीव, त्याग, वैराग्य आदिके बलमें नहीं बढ़ सकते, अपर-
न्तः पड़ जाते हैं, अपर्या उसका सर्वथा नाश ही कर देते हैं।

४११

बम्बई, वैशाख सुदी १ रवि १९५०

योगवासिष्ठके पढ़नेमें हानि नहीं है। जारामको संसारका स्वरूप काउम्बरकी तरह बारम्बार
प्रतिबिम्ब मासित हुआ करे, यह मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है। योगवासिष्ठ आदि जो जो ग्रन्थ उस
कारणके पोषक हैं, उनका विचार करनेमें हानि नहीं है। मूल बात तो यह है कि जीवको वैराग्य
बानेपर भी जो उसकी अत्यन्त शिथिलता है—ढींखापन है, उसे दूर करना, उसे अत्यन्त कठिन मायूम
होता है; और चाहे जिस तरहसे भी हा, प्रथम इसे ही दूर करना योग्य है।

४१२

बम्बई, वैशाख सुदी ९ रवि १९५०

जिस व्यवसायसे जीवकी भाव-निद्रा न बढ़ती हो, उस व्यवसायको यदि किसी प्रारम्भके योगसे
करना पड़ता हो तो उसे फिर फिर पीछे हटकर, 'मैं महान् भयंकर हिंसापुच्छ दुष्ट क्रमका ही किया
करता हूँ', इस प्रकारसे फिर-फिरसे विचारकर और 'जीवमें ढींखापनसे ही प्रायः करके मुझे यह
प्रतिबिम्ब है', यह फिर-फिरसे निश्चय करके, जितना बने उतना व्यवसायको कम करते हुए प्रवृत्ति
हो, तो बोधका सफल होना संभव है।

४१३

बम्बई, वैशाख सुदी १० रवि १९५०

यहाँ उपाधिकरण व्यवहार रहता है। प्रायः आम-समाधिकी स्थिति रहती है; ता भी व्यवहार-
के प्रतिबिम्बसे छूटनेकी बात बारम्बार स्थितिमें आया करती है। उस प्रारम्भकी निवृत्ति होनतक तो
व्यवहारका प्रतिबिम्ब रहना योग्य है, इसलिये समविचारपूर्वक स्थिति रहती है।

योगवास्थि आदि ग्रंथका बौध्म होता हो तो यह वित्ताकारी है। विनागममें 'मित्र मित्र' अथवा मानकर परिणाममें 'अनंत आत्मायें' कही हैं और वेदांतमें उसे 'मित्र मित्र' कहकर 'ओ सर्वत्र चतन-सत्ता दिख्यै देती है यह एक ही आत्माकी है, और आत्मा एक ही है' ऐसा प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही बातें समुद्र पुरुषको लेकर विचार करने योग्य हैं, और यथाशक्ति इन विचारकर निश्चय करना योग्य है, यह बात नि सन्देह है। परन्तु जबतक प्रथम वैराग्य और उपशमका सब बीजमें द्रुक्पक्ष न आया हो, तबतक उस विचारसे विचित्र समाधान होनेके बड़े उच्छेदी चपकता ही होती है, और उस विचारका निर्णय नहीं होता। तथा पित्त निश्चित होकर ब्रह्ममें यथार्थरूपसे वैराग्य-उपशमको कारण नहीं कर सकता। इसलिये जानी-पुरुषमें ओ इस प्रसङ्गका समाधान किया है कि उसे समझनेके लिये इस बीजमें वैराग्य-उपशम और सुखसंगके बन्धको हटाने तो बहुत ही योग्य है—इस प्रकार विचार करके बीजमें वैराग्य आदि सब बन्धनेके साधनोंका आगमन करनेके लिये नित्य प्रति विशेष पुरुषार्थ करना योग्य है।

विचारकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् बर्धमानात्मा जैसे मज्जाया पुरुषने भी फिर किरसे विचार किया कि इस बीजके जनादि काष्ठसे बाते गलियोंने अनन्तानन्तर जन्म-मरण होनेपर भी, जमी यह जन्म-मरण आदि स्थिति क्षीय नहीं होती। उसका जब किस प्रकारसे क्षय करना चाहिये। और ऐसी कोसली भूख इस बीजकी रहती आई है कि जिस भूखका जबतक परिणाम होता रहा है। इस प्रकारसे फिर फिर अनन्त एकप्रकारसे सुखोपके बर्धमान परिणामसे विचार करते करते ओ भूख मगनान्ते दबो है, यह विनागममें जगह जगह कही है। जिस भूखको समझकर समुद्र बीज उससे उचित हो सके। बीजकी भूख देखनेपर तो यह अनन्त विरोध कगती है, परन्तु सबसे पहिले बीजको सब भूखों की ब्रह्मभूत भूखका विचार करना योग्य है जिस भूखके विचार करनेसे सब भूखोंका विचार होता है, और जिस भूखके दूर होनेसे सब भूखें दूर होती हैं। कोई बीज कदाचित् नाना प्रकारकी भूखोंका विचार करके उस भूखसे छूटना चाहे तो भी यह करना योग्य है और उस प्रकारकी अनेक भूखोंसे छूटनेकी इच्छाका भूख ही भूखसे छूटनेका सबब कारण होता है।

एकमें ओ ज्ञान बताया गया है, यह ज्ञान दो प्रकारसे विचार करने योग्य है—एक उपदेष्ट-ज्ञान और दूसरा सिद्धांत-ज्ञान। जन्म-मरण आदि प्रेक्षणीय ज्ञान सत्ताका त्याग करना ही योग्य है। अस्तित्व पदार्थोंमें विवेकी पुरुषको कथि नहीं करनी चाहिये। माता, पिता, स्वजन आदि सबका स्वार्थरूप सर्वत्र होनेपर भी यह बीज उस जगत्तका ही आश्रय किया करता है, यही उसका अविनेक है प्रत्यक्षरूपसे इस संसारके विविध तापक्रम मात्रम होते हुए भी भूख बीज उसीमें विद्यति चाहता है। परिष्क आरम और संग-ये सब जगत्तके हेतु हैं, इत्यादि शिक्षा उपदेष्ट-ज्ञान है। आत्मका अस्तित्व, निरपता, एकत्व अपना अनेकत्व जगत् आदि मात्र, मोक्ष, आत्माकी सब प्रकारकी अवस्था पदार्थ और उसकी अवस्था इत्यादि बातोंको जिस प्रकारसे छाँतोसि सिद्ध किया जाता है, यह सिद्धांत ज्ञान है।

समुद्र बीजको प्रथम तो वेदांत और विनागम इन सबका व्यवस्थित उपदेष्टाकी ज्ञान-प्राप्ति के लिये ही करना चाहिये; क्योंकि सिद्धांत-ज्ञान विनागम और वेदांतमें मित्र मित्र दिख्यै देता है। और उस भिन्नताको देखकर समुद्र बीज अविद्या—यौक्य करता है; और यह हाँका चित्तमें असमाधि

करती है। इस प्रकार प्रायः होना योग्य ही है; क्योंकि 'सिद्धांत-ज्ञान' तो जीवके किसी अत्यन्त उच्च स्तरपर होनेपर और उद्गुरुके बचनकी आराधनासे उद्भूत होता है। 'सिद्धांत-ज्ञान'का कारण 'उद्देश-ज्ञान' है। पहिले उद्गुरु अथवा सत्यानासे जीवमें इस उपदेश-ज्ञानका दृढ़ होना योग्य है, जिस उपदेश-ज्ञानका फल वैराग्य और उपशम है। वैराग्य और उपशमका बल बढ़नेसे जीवमें स्वाभाविक उपशमकी निर्मलता होती है, और यह सद्बल हीमें सिद्धांत-ज्ञान होनेका कारण होता है। जीवमें अतंग-दशा आ जाय तो आत्मस्वरूपका समझना सर्वथा सुखम हो जाता है; और उस अतंग-दशाका हेतु वैराग्य-उपशम है; जो फिर फिरसे बिनाशममें तथा वेदंत आदि बहुतसे चीजोंमें कहा गया है—विस्तारसे गया है। इसलिये निःसंशयसे वैराग्य-उपशमके कारण गणसिद्धि आदि सुदृश्य विचारने चाहिये।

हमारे पास ज्ञानमें किसी किसी प्रकारसे तुम्हारे परिचयी श्री "का मन डकता था, और उस डकती डकतावट होना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रारम्भके बशसे हमें ऐसा व्यवहारका उदय रहता है कि हमारे विषयमें सद्बल ही शक्ता उत्पन्न हो जाय, और उस प्रकारके व्यवहारका उदय देखकर प्रायः हमने वैराग्यकी सगमें छौकिक — छेकोत्तर प्रकारसे परिचय नहीं किया, जिससे हमोंको हमारे इस व्यवहारके समझमका विचार करनेका कम अवसर उपस्थित हो। तुमसे अथवा श्री " से अथवा किसी दूसरे मुझसे यदि हमने कोई भी परमार्थकी बात की हो तो उसमें परमार्थकी सिखाय कोई दूसरा कारण नहीं है। इस संसारके विषय और मयंकर स्वरूपको देखकर हमें उसकी निवृत्तिके विषयमें बोध हुआ है, जिस बोधसे जीवमें इष्टि आकर समाधि-दशा हुई है वह बोध इस जगत्में किसी अनन्त पुण्यके फलसे ही जीवको प्राप्त होता है—ऐसा महात्मा पुरुष फिर फिरसे कहा गया है। इस दुःखमयजगत्में विचार प्रगट होकर बोधका मार्ग आचरण-प्राप्त होने जैसा हो गया है। उस काळमें हमें देह-योग हुआ, इससे किसी तरह खेद होता है फिर भी परमार्थसे उस खेदका समाधान किया है। परन्तु उस देह-योगमें कभी कभी किसी मुमुक्षुके प्रति खोद-मार्गिक प्रतीकारको फिर फिरसे कहनेका मन होता है; जिसका संयोग तुम्हारे और श्री " क सबधमें सद्बल ही हो गया है। परन्तु उससे तुम हमारे अन्तर्मुखमें मान्य करा, इस आग्रहके लिये कुछ भी कहना नहीं चाहता। केवल दिलचस्पी जानकर ही उस बातका आग्रह हुआ करता है, अथवा होता है—यदि इतना कुछ पड़े तो किसी तरह सगका फल मिलना संभव है।

जैसे बने ऐसे जीवका अपने दोषके प्रति कुछ करके दूसरे जीवोंके प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रतीति करना और जिससे वैराग्य-उपशमका आराधन हो जाता करना, यह स्मरण करने योग्य रहितनी बात है।

(२)

एक क्षणमें यह सब किस तरह पड़ता है।

४१४

सम्बन्ध विज्ञान क्री ७, रवि १९५

प्रायः विनागममे 'सर्वविरति' साधुको पत्र-समाचार आदि किसनेकी आवाज नहीं है, और यदि सी सर्वविरति भूमिकामें रहकर भी साधु पत्र-समाचार आदि किसना चाहे तो वह अतिचार समझा जाय। इस तरह साधनप्रतया धारका उपदेश है, और वह मुख्य मार्ग तो योग्य ही मान्य होता है। फिर भी विनागमकी रचना पूर्वापर अनिश्चय मान्य होती है, और उस अविरतकी रचनाके विषये पत्र-समाचार आदि किसनेकी आवाज भी किसी प्रकारसे विनागममें है। उसे हमारे चिन्तके समाधान के लिये यहाँ संक्षेपसे लिखता हूँ।

विनागमबालकी जो जो आवाजें हैं वे सब आवाजें, जिस तरह सर्व प्राणी अर्थात् विनाकी आवाजके कल्याणके लिये कुछ ह्छा है उन सबको, वह कल्याण प्राप्त हो सके, और जिससे वह कल्याण बुद्धिगत हो, तथा जिस तरह उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस तरह की गई है। यदि विनागममें कोई ऐसी आवाज कही हो कि वह आवाज अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और मात्रके संप्रेषणसे न पड़ सकती हुई आत्माको बाधक होती हो तो यहाँ उस आवाजको गौण करके—उसका निषेध करके—श्रीतत्पुरुषके दूसरी आवाज की है।

जिसने सर्वविरति की है ऐसे मुनिको सर्वविरति करनेके समयके अवसरपर "सम्बन्ध पाण्डित्यं पञ्चकामि, सम्बन्धं मुसामि पञ्चकामि, सम्बन्धं अन्तःप्राणं पञ्चकामि, सम्बन्धं मेघुपार्थं पञ्चकामि सम्बन्धं परिग्राह्यं पञ्चकामि" इस उपदेशके बचनोंको बोलनेके लिये कहा है। अर्थात् 'सर्व प्राणातिपातसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मृगान्तरसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके अन्तःप्राणसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मेघुनसे मैं निवृत्त होता हूँ,' और 'सर्व प्रकारके परिग्रहसे मैं निवृत्त होता हूँ,' (सर्व प्रकारके रात्रि-मोहनसे तथा दूसरे उस उस तरहके कारणोंसे मैं निवृत्त होता हूँ—इस प्रकार उसके साथ और भी बहुतसे त्यागके कारण समझने चाहिये), ऐसे जो बचन कहे हैं वे सर्वविरतिकी भूमिकामें कथन कहे हैं। फिर भी उन पाँच महाप्रतोंमें—मैत्रुन-त्यागको छोड़कर—चार महाप्रतोंमें पीछेसे भगवान् ने दूसरी आवाज की है जो आवाज यद्यपि प्रत्यक्ष रूपसे तो महाप्रतकी कदाचित् बाधक मान्य हो परन्तु ज्ञान-बुद्धिसे देखनेसे तो वह पोषक ही है।

उदाहरणके लिये 'मैं सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस तरह पञ्चकाम्य होनेपर भी मनुष्यको पार करने जैसे प्राणातिपातक प्रसङ्गकी आवाज करनी पड़ी है। जिस आवाजा, परि शोकसमुदायक विशेष समायम करके, साधु आराधन करेगा, तो पञ्च महाप्रतोंके निर्मूल होनेका समय आयागा—यह जानकर भगवान् ने नहीं पार करनेकी आवाज दी है। वह आवाज प्रत्यक्ष प्राणातिपातक्य होनेपर भी पाँच महाप्रतकी रक्षाका अभ्युपदेष्टा होनेसे प्राणातिपातकी निवृत्तिक्रम ही है; क्योंकि पाँच महाप्रतोंकी रक्षाका हेतुभूत जो कारण है वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपात होनेपर भी मनुष्यको पार करनेकी अप्राणातिपातक्य आवाज होती है फिर भी 'सर्व प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस वाक्यको एक बार धृति पहुँचती है। परन्तु यह धृति फिरसे विचार करनेपर तो उसकी विशेष दृष्टताके लिये ही मान्य होती है। इसी तरह दूसरे प्रतोंके लिये भी है।

‘मैं परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ,’ इस प्रकारका मत होनेपर भी बल, पात्र और पुस्तकका संबंध देखा जाता है—इन्हें अंगीकार किया ही जाता है। उसका, परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणका किसी प्रकारसे रखणरूप होनेसे ही निधान किया है, और उससे परिणाममें अपरिग्रह ही होता है। मूर्च्छा-रहित भावसे त्रिय आत्म-दशाकी वृद्धि होनेके लिये ही पुस्तकका अंगीकार करना बताया है। तथा इस काममें शरीरके संश्रुनकी हीनता देखकर पढ़िये विषयकी स्थितिके समभाव रहनेके लिये ही बल, पात्र आदिका प्रमाण करना बताया है, अर्थात् जब आत्म-हित देखा तो परिग्रह रखनेकी आज्ञा दी है। यद्यपि त्रियाकी प्राप्तिको प्राणातिपात कहा है, परन्तु भावकी दृष्टिसे इसमें अन्तर है। परिग्रह बुद्धिसे अथवा प्राणातिपात बुद्धिसे इसमेंका कुछ भी करनेके लिये कमी मगवान्ने आज्ञा नहीं दी। मगवान्ने जहाँ सर्वथा निवृत्तिकरूप पौष महाप्रतोंका उपदेश दिया है, वहाँ भी दूसरे जीवोंके हितके लिये ही उनका उपदेश दिया है; और इसमें उसके त्यागके समान दिखाई देनेवाले अपवादकी भी आत्म-हितके लिये ही कहा है—अर्थात् एक परिणाम होनेसे जिसका त्याग कहा है, उसी क्रियाका प्रमाण करवाया है।

मैयुन-रयाममें जो अपवाद नहीं है, उसका कारण यह है कि उसका राग-द्वेषके बिना भग नहीं हो सकता और राग-द्वेष आत्माको अहितकारी है, इससे मगवान्ने उसमें कोई अपवाद नहीं बताया। नदीका पार करना राग-द्वेषके बिना ही सकता है; पुस्तकका प्रमाण करना भी राग-द्वेषके बिना होना संभव है; परन्तु मैयुनका सेवन राग-द्वेषके बिना नहीं हो सकता। इसलिये मगवान्ने इस बातको अपवादरहित कहा है, और दूसरे मतोंमें आत्माके हितके लिये ही अपवाद कहा है। इस कारण जिस तरह जीवका—संयमका—रक्षण हो उसी तरह कहनेके लिये त्रिनागमकी रचना की गई है।

पत्र लिखने अथवा समाचार आदि कहनेका जो निषेध किया है, उसका भी पक्ष है। जिससे अनेक-समाचारकी वृद्धि न हो, प्रीति-अप्रीतिके कारणकी वृद्धि न हो, कियों आदिके परिचयमें जानेका प्रयोजन न हो, संयम विधिभ्रंश न हो जाय, उस उस प्रकारका परिग्रह बिना कारण ही स्वीकृत न हो जाय—इस प्रकारके सम्मिश्रित अनंत कारणोंको देखकर पत्र आदिका निषेध किया है, परन्तु वह भी अपवादरहित है। जैसे बृहत्संहितामें अनार्य-भूमिमें विचारनेकी मना की है, और वहाँ क्षेत्रकी मर्यादा बौधी है परन्तु ज्ञान, दर्शन और संयमके कारण वहाँ भी विचारनेका निषेध किया गया है। इसी अर्थके ऊपरसे यह मात्स्य होता है कि यदि कोई ज्ञानी-पुरुष दूर रहता हो—उनका समागम होना मुमकिन हो, और यदि पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो तो फिर आत्म-हितके सिवाय दूसरी सब प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके उस प्रकारके ज्ञानी-पुरुषको आज्ञासे अथवा किसी मुमुक्षु-संलग्नीकी सामान्य आज्ञासे ऐसा करनेका त्रिनागमसे निषेध नहीं होता, ऐसा मात्स्य होता है। इसका कारण यह है कि जहाँ पत्र-समाचारके लिखनेसे आत्म-हितका नाश होता हो वहाँ उसका निषेध किया गया है। तथा जहाँ पत्र-समाचार न होनेसे आत्म-हितका नाश होता हो, वहाँ पत्र-समाचारका निषेध किया हो, यह त्रिनागमसे बन सकता है या नहीं, वह अब विचार करने योग्य है।

इस प्रकार विचार करनेसे त्रिनागममें ज्ञान, दर्शन और संयमकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदि व्यवहारमें भी स्वीकार करनेका समावेश होता है। परन्तु किसी कामके लिये, किसी महान्

प्रयोजनके लिये, मन्त्रास्मा पुरुषोंकी आत्मासे अपना केवल जीवके कल्याणके उद्देश्यसे ही, उसका किसी पात्रके लिये उपयोग बताया है, ऐसा सम्प्रदान चाहिये। नित्यप्रति और साधारण प्रसंगमें पत्र-समाचार आदि व्यवहार करना योग्य नहीं है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति उसकी आत्मासे ही नित्यप्रति पत्र आदि व्यवहार करना ठीक है, परन्तु दूसरे औक्तिक जीवके प्रयोजनके लिये तो वह सर्वथा निषिद्ध ही मान्य होता है। फिर काल ऐसा आ गया है कि जिसमें इस तरह करनेसे भी विषम परिणाम आना संभव है। लोक-मार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु कौरवके मनमें यह व्यवहार-मार्गका नाश करनेवाला भ्रमजन्य होना सम्भव है। तथा इस मार्गके प्रतिपादन करनेसे अनुक्रमसे बिना कारण ही पत्र-समाचार आदिका नाश होना संभव है, जिससे साधारण इष्ट-स्थानकी भी हिरा होने लगे।

यह जानकर इस व्यवहारको प्राप्त श्री से भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे भी व्यवस्थापका बचना ही संभव है। यदि तुम्हें सर्व पक्षकाज हो, तो फिर जो पत्र न लिखनेका साधुने पक्षकाज दिया है वह नहीं दिया जा सकता; परन्तु यदि दिया हो तो भी हानि नहीं समझनी चाहिये। वह पक्षकाज भी यदि ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे स्फूर्तिरहित हुआ होता तो हानि न थी, परन्तु वह जो साधारणकर्मसे स्फूर्तिरहित हुआ है, वह योग्य नहीं हुआ। यहाँ मूल-स्वामानिक-पक्षकाज-की व्याख्या करनेका अवसर नहीं है; लोक-पक्षकाजकी बातका ही अन्तर है; परन्तु उसे भी साधारण-तया कभी इच्छासे तोड़ बाँटना योग्य नहीं—इस समय तो इस प्रकारसे ही दृढ़ विचार रचना चाहिये। जब धर्मके प्रगट होनेके साधनमें विरोध होता हो, तब उस पक्षकाजको ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे अपना मुमुक्षु जीवके समागमसे तत्त्व स्वरूपमें फेरफार करके रास्तेपर खाना चाहिये क्योंकि बिना कारणके धर्ममें शका पैदा होने देनेकी कोई बात करना योग्य नहीं है। वह पापक जीव दूसरे जीवको बिना कारण ही अहितकर होता है—इत्यादि बहुतसे कारण समझकर क्योंकि वह पत्र आदि व्यवहारका कम करना ही योग्य है। हमारे प्रति कदाचित् ऐसा व्यवहार करना तुम्हें हितकर है, इसलिये करना योग्य मान्य हो तो उस पत्रको भी श्री—जैसे किसी सूर्यगति के बाधका ही भेजना, जिससे 'ज्ञान चपत्ति सिवाय इसमें कोई दूसरी बात नहीं,' यह उनकी समझी तुम्हारी आज्ञाको दूसरी प्रकारके पत्र-व्यवहारको करनेसे रोकनेके लिये संभव हो। मेरे विचारके अनुसार इस बातमें श्री—विरोध न समझे। कदाचित् उन्हें विरोध मान्य होता हो तो किसी प्रसंगपर हम उनकी हृदय वाक्यको निरुद्ध कर देंगे, फिर भी तुम्हें प्रायः विशेष पत्र-व्यवहार करना योग्य नहीं। ॥ कथको न पूछना ॥

प्राप्त शब्दका अर्थ केवल इतना ही है, जिससे हितकर ही प्रसंगमें पत्रका जो कारण बताया गया है, उसमें बाधा न आवे। विशेष पत्र-व्यवहार करनेसे यदि वह हानिकारक नहीं होगी तो भी लोक-व्यवहारमें बहुत सी हानि कारण होगी। केवल जिस तरह प्रसंग प्रसंगपर जो अज्ञान-हितार्थके लिये हो उसका विचारना भार उसकी ही बिना करनी योग्य है। हमारे प्रति किसी ज्ञान-मार्गके लिये पत्र लिखनेकी यदि तुम्हारी इच्छा हो तो वह श्री—से पूछकर ही लिखना, जिससे तुम्हें गुप्त उपाय हमें कम बाधा उपस्थित हो।

तुम्हारे ही — जो पत्र छिन्नानेके विषयमें वर्षा हुई, वह यद्यपि योग्य नहीं हुआ; फिर भी मे पंक्ति प्राप्तकरि दे तो उसे छे छेना, परन्तु किसी ज्ञान-वाचक स्वयं छिन्नानेके बदले तुम्हें उसे छिन्नानेमें श्रान करना चाहिये, ऐसा साधमें यथायोग्य निर्मल अंत करणसे कहना योग्य है—जो बात केवल श्रित करनेके लिये ही है। पर्युषण आदिमें साधु दूसरेसे छिन्नाकर पत्र-व्यवहार करते हैं, जिसमें श्रित वैसा तो यद्यपि थोड़ा ही होता है, परन्तु वह कड़ी बल जानेके कारण लोग उसका निषेध करते। हम उसी तरह उस कड़ीके अनुसार आचरण रखोगे, तो भी हानि नहीं है—जिससे त्र छिन्नानेमें अवचन न हो और लोगोंको भी संदेह न हो।

हमें उपमाही कोई सार्थकता नहीं। केवल तुम्हारी विचकी समाधिके लिये ही तुम्हें छिन्नानेका प नहीं किया।

४१५

बम्बई, वैशाख वदी ९, १९५०

सूरतसे मुनिजी का पहिले एक पत्र आया था। उसके प्रत्युत्तरमें यहाँसे एक पत्र लिखा उसके पश्चात् पाँच छह दिन पहिले उनका एक पत्र मिला था, जिसमें तुम्हारे प्रति जो पत्र लिखना हुआ, उसके सवधमें होमेवाली कोक-वर्षा विषयक बहुतसी बातें थी। इस पत्रका उत्तर यहाँसे लिख दिया है। वह संक्षेपमें इस तरह है —

"प्राणातिपात आदि महाव्रत सर्वस्यागके लिये हैं, अर्थात् सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त, सब प्रकारके मृपलाभसे निवृत्त होना—इस तरह साधुके पाँच महाव्रत होते हैं। और जब साधु व्रतके अनुसार चले, तब वह मुनिके सम्प्रदायमें रहता है, ऐसा मगवान्ने कहा है। इस प्रकारसे पाँच व्रतोंके उपदेश करनेपर भी जिसमें प्राणातिपात कारण है, ऐसी नदीके पार करीख करनेकी आज्ञा जिनमगवान्ने दी है। वह इसलिये कि जीवको नदी पार करनेसे जो बच होगा, उसकी अपेक्षा क्षेत्रमें निवास करनेसे बड़बान बच होगा, और परंपरसे पाँच महाव्रतोंकी हानिका अन्तर उपस्थित।—यह देखकर—जिसमें उस प्रकारका ब्रह्म-प्राणातिपात है, ऐसी नदीके पार करनेकी आज्ञा जिनमगवान्ने दी है। इसी तरह जब पुस्तक रखनेसे यद्यपि सर्वपरिग्रह-विरमण व्रत नहीं रह सकता, भी देखकी साताके लिये त्याग करकर आत्मार्थकी साधना करनेके लिये देखकी साधनरूप समस्तकर, सि सम्पूर्ण मूर्च्छा दूर होनेतक जिनमगवान्ने बलके निस्पृह सवधका और विचार-बलकी इष्टि होने पुस्तकके रखनेका उपदेश किया है। अर्थात् सर्वस्यागमें प्राणातिपात तथा परिग्रहका सब प्रकारसे त्याग करनेका निषेध होमेपर भी, इस प्रकारसे जिनमगवान्ने अगीकार करनेकी आज्ञा दी है। वह रूप इष्टिसे देखनेपर कदाचित् विषम मान्य होगा, परन्तु जिनमगवान्ने तो सम ही कहा है। दोनों बात जीवके कल्याणके लिये ही कही गई हैं। जिस तरह सामान्य जीवका कल्याण हो वैसे विचार है। कहा है। परन्तु इस प्रकारसे मैयुन-त्याग व्रतमें अपवाद नहीं कहा, क्योंकि मैयुनका सेवन राग-के बिना नहीं हो सकता, यह जिनमगवान्ने अभिमत है। अर्थात् राग-वैषयो अपरमार्थरूप जानकर ही अपवादके ही मैयुन-त्यागका सेवन बताया है। इसी तरह गृहकल्पसूत्रमें अहाँ साधुके विचरण

करनेकी भूमिका प्रमाण कहा है, यहाँ चारों दिशाओंमें अमुक नगरराजकी मर्यादा बतार्ह है, फिर भी उसके पश्चात् अनार्य-क्षेत्रमें भी ज्ञान, दर्शन और समझकी दृष्टिके स्थिति विचरण करनेका अन्वय बताया गया है। क्योंकि धार्य-भूमिमें यदि किसी योग्यता ज्ञानी-गुरुवक्ता समीपमें विचरता न हो और प्रारम्भ-योगसे ज्ञानी-गुरुवक्ता अनार्य-भूमिमें ही विचरता हो, तो जहाँ जानेमें भगवान्की प्रतिपादित आज्ञा भंग नहीं होती।

इसी प्रकार यदि साधु पत्र-समाचार आदिक समामग रखे तो प्रतिबन्धकी दृष्टि हो, इस कारण भगवान्ने इसका निषेध किया है। परन्तु वह निषेध ज्ञानी-गुरुवक्ताके साथ किसी उस प्रकारके पत्र-समाचार करनेमें अन्वयरूप मध्यम होता है; क्योंकि निष्क्रमणरूपसे ज्ञानकी आराधनाके लिये ही ज्ञानीके प्रति पत्र-समाचारका व्यवहार होता है। इसमें दूसरा कोई संसार-प्रयोजनका उद्देश नहीं, बल्कि उच्छादित संसार-प्रयोजन दूर होनेका ही उद्देश है तथा संसारका दूर करना इतना ही तो परमार्थ है; जिससे ज्ञानी-गुरुवक्ता अमुकसे अपना किसी उत्तरी जनकी अमुकसे पत्र-समाचारका कारण उपस्थित हो तो वह संयमके विरुद्ध ही है, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी तुम्हें साधुने जो प्रत्याज्ञा दीया था, उसके भंग होनेका दोष तुम्हारे ही सिरपर आरोपण करना योग्य है। यहाँ पञ्चमहायज्ञ स्वरूपका विचार नहीं करना है, परन्तु तुमने उन्हें जो प्रगट विचारसे विचार्य है, उसके भंग करनेका क्या हेतु है? यदि उस पञ्चमहायज्ञके लक्षमें तुम्हारा यथायोग्य विचार नहीं था, तो तुम्हें वह केना ही योग्य न था; और यदि किसी ओक-द्वन्द्वसे पैदा हुआ तो फिर उसका भंग करना योग्य नहीं; और यदि भंग करनेका जो परिणाम है वह भंग न करनेकी अपेक्षा आज्ञाका निषेध दित करनेका ही हो, तो भी उसे स्वेच्छसे भंग करना योग्य नहीं। क्योंकि जीव राज-रूप अपना अज्ञानसे छान ही व्यपगवी होता है उसका विचार किया हुआ विचारित विचार बहुलकर विपर्यय होता है। इस कारण तुमने जिस प्रकारसे उस पञ्चमहायज्ञका भंग किया है, वह व्यपगवके योग्य है; और उसका प्रापञ्चित किसी भी तरह केना योग्य है। 'परन्तु किसी तरहकी संसार-बुद्धिसे यह कार्य नहीं हुआ, और संसार-कार्यके प्रसंगसे पत्र-समाचारके व्यवहार करनेकी मेरी इच्छा नहीं है, तथा वह जो कुछ पत्र आदिक लिखना हुआ है, वह मात्र किसी जीवके कल्याणको वास्तविक विषयमें ही हुआ है। और यदि वह न किया गया होता तो वह एक प्रकारसे कल्याणरूप ही था; परन्तु इसी प्रकारसे विचारों व्यपगव उत्पन्न होकर अन्तरमें क्रेश होता था, इसलिये जिसमें कुछ संसार-प्रयोजन नहीं, किसी तरहकी दूसरी इच्छा नहीं—केवल जीवके हितका ही प्रसंग है—ऐसा समझकर इसका लिखना हुआ है। अज्ञानके द्वारा दिया हुआ पञ्चमहायज्ञ भी मेरे हितके लिये था जिससे मैं किसी संसारी प्रयोजनमें न पड़ जाऊँ; और उसके लिये उनका उत्पन्न था। परन्तु मैंने सार्वजनिक प्रयोजनसे यह कार्य नहीं किया है—आपके स्यादके प्रतिबन्धको तोड़नेके लिये यह कार्य नहीं किया है। तो भी वह एक प्रकारसे मेरी भूल है जब उसे अन्य साधारण प्रापञ्चित लेकर खमा करना योग्य है।' पूर्वपण आदि ५५में साधु केना अन्वयसे आज्ञाके नामसे पत्र लिखवाते हैं उसके सिवाय किसी दूसरी तरहसे वह प्रवृत्ति न की जाय, और ज्ञान-वर्षा किसी जाय तो भी बाधा नहीं है —इत्यादि मात्र लिखा है।

तुम भी उसे तथा [॥] पत्रको विचारकर जैसे क्रेश उत्पन्न न हो जैसे करना। किसी भी

प्रकारसे सहन करना ही भेद्य है। ऐसा न बने तो सहन कारणमें ही उत्कृष्ट देशरूप ही परिणाम आना सम्यक् है। जहाँतक बने यदि प्रायश्चित्तका कारण न बने तो न करना, नहीं तो फिर योद्धा प्रायश्चित्त क्षेत्रमें भी जाना नहीं है। वे यदि प्रायश्चित्त बिना दिये ही कदाचित् इस बातकी उपेक्षा कर दें तो भी तुम्हारे अर्थात् साधु को चित्तमें इस बातका इतना पथात्ताप करना सो योग्य है कि इस तरह करना ही योग्य न था। अब इसके बाद साधु जैसेकी समुद्रतापूर्वक व्यापकके पाससे यदि कोई छिन्नेबाधा हो तो पत्र छिन्नानेमें बाधा नहीं—इतनी व्यवस्था उस सम्प्रदायमें चला करती है, इससे प्रायश्चित्त निरोध नहीं करेंगे। और उसमें भी यदि निरोध जैसा माझूम हो तो हममें उस बातके छिये भी धीरज प्रह्व करना ही बित्तकारी है। छेक-समुदायमें कष्ट उतपन्न न हो—हममें इस छतको चूकना योग्य नहीं है; क्योंकि उस प्रकारका कोई व्यवधान प्रयोजन नहीं है।

श्री " का पत्र बीचकर सारिषक हर्ष हुआ है। जिस तरह मित्रासाका वक्तव्य उस तरह प्रफल करना यह प्रथम मूमि है। वैय्य और उपरामके हेतु योगवासिष्ठ आदि ग्रंथोंके पढ़नेमें बाधा नहीं है। अनापत्तिबोका बनाया हुआ विचारमात्रा नामका ग्रंथ सहीक अवलोकन करने योग्य है। हमारा चित्त नित्य सखंगकी ही इच्छा करता है, परन्तु स्थिति प्रारम्भके आधीन है। तुम्हारे समागमी मार्गसे चित्तना बने उतना समुद्रस्थोका अवलोकन हो, वह अप्रामाण्यपूर्ण करने योग्य है। और जिससे एक दूसरेका नियमित परिचय किया जाय उतना कष्ट रहना योग्य है।

प्रसाद सब कर्मोंका हेतु है।

४१६

वर्म्ब, वैशाख १९५०

मनका, बचनका तथा कृत्याका व्यवसाय, चित्तना समाहते हैं, उसकी अपेक्षा इस समय निरोध रखा करता है; और इसी कारण तुम्हें पत्र आदि छिन्नना नहीं हो सकता। व्यवसायकी प्रियताकी इच्छा नहीं होती, फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है, और ऐसा माझूम होता है कि वह व्यवसाय अनेक प्रकारसे बेचन करने योग्य है, जिसके बेचनसे फिरसे उसकी उत्पत्ति सर्वत्र दूर होगा—वह निवृत्त होगा। यदि कदाचित् प्रकटरूपसे उसका निरोध किया जाय तो भी उस निरोधरूप देशके कारण, आत्मा आत्मरूपसे जिसका परिणामकी तरह परिणामन नहीं कर सकती, ऐसा क्कता है। इसलिये उस व्यवसायकी जिस प्रकारसे अनिच्छारूपसे प्राप्ति हो, उसे बेचन करना, यह किसी तरह निरोध सम्पत् माझूम होता है।

किसी प्रगट कारणका अवलोकन केकर—विचारकर—परोक्षरूपसे चले जाते हुए सर्वत्र पुरुषको केवल सम्यग्दर्शितनेसे भी पहिचान किया जाय तो उसका महान् फल है और यदि ऐसे न हो तो सर्वत्रको सर्वत्र कष्टनेका कोई आत्मसम्बन्धी फल नहीं, ऐसा अनुभवमें आता है।

प्रत्यक्ष सर्वत्र पुरुषको भी यदि किसी कारणसे—विचारसे—अवलोकनसे—सम्यग्दर्शितस्वभावसे भी न जाना हो तो उसका आत्म-प्रत्ययी फल नहीं है। परमापेक्षे उसकी सेवा-अपेक्षासे जीवको कोई प्राप्ति ()—अज्ञ नहीं होता; इसलिये उसे कुछ समझ कारणरूपसे ज्ञानी-पुरुषने स्वीकार नहीं किया, ऐसा माझूम होता है।

बहुतसे प्रत्यक्ष वर्तमानोंके ऊपरसे ऐसा प्रगट माहस होता है कि यह कुछ नियम अपना हुआ मरणा कश्चिमुग है। कष्ट-बन्धके परावर्तनमें दुःखमकाष्ट पूर्वमें अनन्तर आ चुका है, फिर भी ऐसा दुःखमकाष्ट कभी कभी ही आता है। केताम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकारकी परंपरागत बात कही जाती है कि 'असपत्नी-पूजा' नामसे आश्वयुक्त 'हुंड'—छोट—इस प्रकारके इस पञ्चमकाष्टको तीर्थकर आश्विने अनेककाष्टमें आश्वयुक्त रूप माना है, यह बात हमें बहुत करके अनुभवमें आती है—सम्प्रदाय मानों ऐसी ही माहस होती है।

काष्ठ ऐसा है। क्षेत्र प्रायः अनार्य जैसा है। उसमें स्थिति है। प्रसाद, इन्द्र काष्ठ आदि कारणसे सख होमेपर भी ओष्ठ-संज्ञाकसे ही गिनने योग्य है। इन्द्र, क्षेत्र, काष्ठ, और भावके अन्तर्गत बिना निरुपारकसे मिस तरह आश्वयुक्त सेवन किया जाय उस तरह यह आश्वयुक्त सेवन करती है, इसका उपाय ही क्या है।

४१७

वैशाख १९५

नित्यनियम

ॐ श्रीमत्परमशुद्धि नामः

सबसे ठोकर ईर्ष्यायुक्त प्रतिक्रिया करके एक-दिवसमें जो कुछ पापके अन्तरस्थ स्थानोंमें प्रवृत्ति हुई हो; सम्प्रदान, दर्शन और आश्वयुक्तकी जो कुछ अपराध हुआ हो किसी भी जीवके प्रति किञ्चिन्मात्र भी अपराध किया हो, वह जानकर हुआ हो अपराध अनन्तरमें हुआ हो, उस सबके क्षमा करनेके लिये उसको निरा करनेके लिये—विशेष निरा करनेके लिये, आश्वयुक्तसे उस अपराधका निवर्तन करके निःशून्य होना चाहिये (उत्तिमें स्पष्ट करते समय यी इसी तरह करना चाहिये)।

श्रीसुन्दरके दर्शन करके चार घड़ीके लिये सर्वसाधक व्यापारसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठना चाहिये। उस समयमें "परमशुद्धि" शब्दकी पाँच मात्राये गिनकर सन्तुष्टि अर्पण करना चाहिये। उसके पश्चात् एक घड़ी कायोत्सर्ग करके श्रीसुन्दरके चरणोंको कायोत्सर्गमें अर्पण करके सन्तुष्टिका ध्यान करना चाहिये। उसके बाद आजी घड़ीमें यक्षिणी वृत्तिको जागत करनेवाले पदों (आश्वयुक्त) को बोलना चाहिये। आजी घड़ीमें "परमशुद्धि" शब्दको कायोत्सर्गरूपसे अर्पण चाहिये और "सर्वज्ञेय" नामकी पाँच मात्राये फेरनी चाहिये।

[शब्दों अर्पण करने योग्य सूत्र — वैराग्यरातक, इन्द्रियपराजयरातक, सर्वसुखा-रस अपाङ्गमकप्रभुप, योगवृत्तिसमुच्चय, जस्तल मूकप्रवृत्ति कर्मप्रण, वरीविन्दु, आश्वयुक्तसन्, माननाबोध, मोक्षमार्गप्रकाश, मोक्षमात्रा, उपमितिमकप्रवृत्तिका अर्पणस्यार, श्रीमानंदपनबीकी श्रीबी-सीमें जीवके स्थान — १, २, ५, ७, ८, ९, १, १२, १५, १६, १७, १९, २२]

छात्र व्यसन (जुआ, मीस, मदिरा केसागमन शिखार, चोरी पराधी) का त्याग।

जुआ आदिप मदिरा दारी, आसुरिक चोरी परनारी;

परी सात बिसन दुस्वर्दा, इरित मूख दुरमातिके मारि।

रात्रिभोजनका त्याग । कुलको छोड़कर सर्व वनस्पतिको त्याग । कुछ स्थितियोंमें सिना त्यागी हुई वनस्पतिको प्रतिबंध । अमृत रसका त्याग । अन्नसंश्लेषका त्याग । परिग्रह-परिमाण । [शरीरमें विशेष आदिके उपप्रभसे, वेदुषिसे, राजा अथवा देव आदिके बलात्कारसे यहाँ बताये हुए नियमोंमें प्रवृत्ति देनेके लिये यदि समर्थ न हुआ जाय तो उसके लिये पश्चात्तापका स्थान समझना चाहिये । उस समयमें स्वेच्छापूर्वक न्यूनाधिकता कुछ भी करनेकी प्रतिज्ञा करना । संपुरुषको ब्रह्मसे नियममें रक्षार करनेसे नियम भंग नहीं होता] ।

४१८

बम्बई, वैशाख १९५०

श्रीतीर्थकार आदि महात्माजीने ऐसा कहा है कि जिसे विपर्यास दूर होकर देह आदिमें होने-वाली ब्रह्म-बुद्धि और आत्म-मात्रमें होनेवाली देह-बुद्धि दूर हो गई है—अर्थात् जो ब्रह्म-परिणामी बन गया है—ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी जबतक प्रारम्भिक व्यवस्था है, तबतक ज्ञानस्थितिमें रहना ही योग्य है क्योंकि अवकाश प्राप्त होनेपर हमें वहाँ भी अनादि विपर्यास भावका हेतु मात्स्य हुआ है । जहाँ चार महापाती कर्म छिन्न हो गये हैं, ऐसे सहजस्वरूप परमात्मामें तो सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण जागृतिस्वरूप भावस्था ही रहती है—अर्थात् वहाँ अनादि विषयस्तके निर्वीजपनेको प्राप्त हो जानेसे वह विपर्यास किसी भी प्रकारसे उद्भव हो ही नहीं सकता, परन्तु उससे न्यून ऐसे विरति आदि गुणत्यागकमें रहने से ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक क्षणमें ब्रह्म-जागृति होना ही योग्य है । प्रमत्तके कारण रहनेसे ब्रह्म पूर्णता कुछ बढ़ासे भी न्यून ज्ञान प्राप्त किया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी अनतकाल विभ्रमण हुआ है, इसलिये जिसको व्यवहारमें अनासक्त बुद्धि हुई है, उस पुरुषको भी यदि उस प्रकारके प्रारम्भिक उदय हो तो उसकी क्षण क्षणमें निवृत्तिका चिंतन करना, और निज भावकी प्रवृत्ति रक्खनी चाहिये ।

इस प्रकारसे ज्ञानी पुरुषको भी महाज्ञानी श्रीतीर्थकार आदिने अनुपपन्न किया है, तो फिर जिसका मार्गांतुसाथी अवस्थामें भी धमी प्रवेश नहीं हुआ, ऐसे जीवको तो इस सब व्यवस्थासे विशेष विशेष निवृत्त भाव रहना और विचार-जागृति रक्खना योग्य है—ऐसा बताते जैसा भी नहीं रहता, क्योंकि वह तो सहजमें ही समझमें आ सकता है ।

ज्ञानी पुरुषोंने दो प्रकारका बोध बताया है—एक सिद्धांत-बोध, और दूसरा उस सिद्धांत-बोधके होनेमें कारणभूत उपदेश-बोध । यदि उपदेश-बोध जीवके अंतःकरणमें स्थिर न हुआ तो उसे केवल सिद्धांत-बोधका भ्रम ही भ्रमण हो, परन्तु इसका कुछ फल नहीं हो सकता । पदार्थके सिद्धभूत स्वरूपको सिद्धांत-बोध कहते हैं । ज्ञानी पुरुषोंने निष्कर्ष निकालकर जिस प्रकारसे अन्तमें पदार्थको ज्ञाता है—वह जिस प्रकारसे वाणीशिरा कहा जा सके उस तरह बताया है—इस प्रकारका जो बोध है, उसे सिद्धांत-बोध कहते हैं । परन्तु पदार्थके निर्णय करनेके लिये जीवका अंतःकरण उसको अनादि विपर्यास भावको प्राप्त बुद्धि, व्यक्त्यपसे अथवा अप्यक्त्यपसे विपर्यास भावसे पदार्थके स्वरूपका निश्चय कर लेनी है; उस विपर्यास बुद्धिका बन्ध धरनेके लिये, यथावत् बलस्वरूप जाननेके विषयमें प्रवेश होनेके लिये, जीवको वैराग्य और उपशम नामके साधन पड़े हैं; और इस प्रकारके

जो जो साधन जीवको संसारका भय दूर करते हैं उन उन साधनसंबन्धी जो उपदेश कहा है, वह उपदेश-बोध है।

यहाँ यह विचार होना संभव है कि उपदेश-बोधको अपेक्षा सिद्धांत-बोधको मुख्यता मान्य होती है, क्योंकि उपदेश-बोध भी उसीके छिपे है, तो फिर यदि सिद्धांत बोधका ही परिच्छेद अवगाहन किया हो तो वह जीवको परिच्छेद ही उपसंका हेतु है। परन्तु यह विचार होना मिया है क्योंकि उपदेश-बोधसे ही सिद्धांत-बोधका जन्म होता है। जिस वैराग्य-उपशम सबकी उपदेश-बोध नहीं हुआ, उसे बुद्धिका विपर्यास भाव रहा करता है; और जबतक बुद्धिका विपर्यास भाव रहे जबतक सिद्धांतका विचार करना भी विपर्यास भावसे ही संभव होता है। जैसे बहुरंगे बितनी मन्त्रिणा रहती है, वह उतना ही फार्पको मन्त्रि देखती है और यदि उसका पटल जलपत बज्जान हा तो उसे मूक फार्प ही निर्धार नहीं देता तथा जिसको बहुरंग बयावत् सपूर्ण तेज विद्यमान है, वह फार्पको बयावत् देखता है। इसी प्रकार जिस जीवको गान विपर्यास बुद्धि है, उसे तो कितनी भी तरह सिद्धांत-बोध विचारमें नहीं आ सकता। परन्तु जिसकी विपर्यास बुद्धि मर हो गई है उसे उस प्रमाणमें सिद्धांतका अवगाहन होता है और जिसने विपर्यास बुद्धिका विशेषरूपसे क्षय किया है, ऐसे जीवको विशेषरूपसे सिद्धांतका अवगाहन होता है।

गृह-कुटुम्ब परिग्रह आदि भावमें जो बहता—ममता—है और उसकी प्रसि-अप्रसिद्धे प्रमाणों जो रग-रूप कपाय है, वही विपर्यास-बुद्धि है। और जहाँ वैराग्य-उपशम उत्पन्न होता है, यहाँ बहता—ममता तथा कपाय मंद पड़ जाते हैं—जो अनुक्रमसे नारा होने योग्य हो जाते हैं। गृह-कुटुम्ब आदि भावविषयक जगत्सक बुद्धि होना वैराग्य है और उसकी प्रसि-अप्रसिद्धे निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले कपाय-केसक मर होना उपशम है। अर्थात् ये दो गुण विपर्यास बुद्धिको पर्याप्ततर करके सद्बुद्धि पैदा करते हैं और वह सद्बुद्धि जीव बर्जीव आदि फार्पको व्यक्त्वा मैत्री मान्य होती है—इस प्रकार सिद्धांतका विचार करना योग्य है। जैसे बहुर पटक आदि अतत्पके दूर होनेसे वह फार्पको बयावत् देखती है, उसी तरह बहता आदि पटककी मदता होनेसे जीवको डाली-मुकपके कड़े हुए सिद्धांत-भाव—आत्मभाव—विचार बहुरसे निर्धार देते हैं। जहाँ वैराग्य और उपशम बज्जान हैं वहाँ प्रकृताते विवेक होता है। जहाँ वैराग्य-उपशम बज्जान न हो वहाँ विवेक बज्जान नहीं होता कया बयावत् विवेक नहीं होता। जो सद्बुद्ध आत्मस्वरूप है ऐसा केसकजान भी प्रथम मोहनीय कर्मके रूपके बर ही प्रगट होता है, और इस बातसे जो ऊपर सिद्धांत कताया है वह स्पष्ट समझमें आ जायगा।

फिर डाली-मुकपोंकी विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशमका बोध करानेवाली देखनेमें आती है। जिन मगजानके बागमपर इष्टि डालनेसे यह बात विशेष स्पष्ट जाती आ सकेगी। सिद्धांत-बोध अर्थात् जिस बागममें जीव बर्जीव फार्पका विशेषरूपसे बितना कथन किया है उसकी अपेक्षा विशेषरूपसे यदि विशेषरूपसे वैराग्य और उपशमका कथन किया है, क्योंकि उसकी सिद्धि हो जानेके पश्चात् सद्बुद्धमें ही विचारकी निर्मलता होती है और विचारकी निर्मलता सिद्धांतरूप कथनको सद्बुद्ध ही में अपना बोध ही परिच्छेदसे अंगीकार कर सकती है—अर्थात् उसकी भी सद्बुद्ध ही सिद्धि होती है; और

बैसा होनेके कारण जगह जगह इसी अधिकारका व्याख्यान किया गया है। यदि जीवको आरम-परिग्रहकी विशेष प्रवृत्ति रहती हो तो, और वैराग्य और उपशम हो, तो उसका भी मग्न हो जाना समझ है, क्योंकि आरम-परिग्रह अवैराग्य और अनुपशमका मूल है, वैराग्य और उपशमका फल है।

श्रीठाण्णसुधमें इस आरम और परिग्रहके बन्धको बतानेके पश्चात् उससे निवृत्त होना योग्य है, यह उपदेश करनेके लिये इस भाषसे प्रिमगी कही है —

- १ जीवको मतिज्ञानावरणीय कबतक होता है ? जबतक आरम और परिग्रह हो तबतक।
- २ जीवको मुक्तज्ञानावरणीय कबतक होता है ? जबतक आरम और परिग्रह हो तबतक।
- ३ जीवको अवधिज्ञानावरणीय कबतक होता है ? जबतक आरम और परिग्रह हो तबतक।
- ४ जीवको मन-पर्यवज्ञानावरणीय कबतक होता है ? जबतक आरम और परिग्रह हो तबतक।
- ५ जीवको केवलज्ञानावरणीय कबतक होता है ? जबतक आरम और परिग्रह हो तबतक।

ऐसा कहकर दर्शन आदिके भेद बताकर उस बातको समझाकर बताई है कि वे आवरण तबतक रहते हैं जबतक आरम और परिग्रह होता है। इस प्रकार आरम-परिग्रहका बन्ध बताकर फिर अर्थापत्तिक्रमसे किरसे उसका बहीपर कथन किया है।

- १ जीवको मतिज्ञान कब होता है ? आरम-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।
- २ जीवको मुक्तज्ञान कब होता है ? आरम-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।
- ३ जीवको अवधिज्ञान कब होता है ? आरम-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।
- ४ जीवको मन-पर्यवज्ञान कब होता है ? आरम-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।
- ५ जीवको केवलज्ञान कब होता है ? आरम-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।

इस प्रकार समस्त भेदोंको किरसे कहकर, आरम-परिग्रहकी निवृत्तिको फल, जहाँ अन्तमें केवलज्ञान है, बहोतक दिया है। और प्रवृत्तिके फलको केवलज्ञानतकके आवरणका हेतुत्प कहकर, उसका अत्यन्त वक्षानपना बताकर, जीवको उससे निवृत्त होनेका ही उपदेश किया है। फिरकिसे ज्ञानी-पुरुषोंके बचन जीवको इस उपदेशका ही निश्चय करनेके लिये प्रेरणा करनेकी इच्छा करते हैं किर भी अनादि असंख्यसे उत्पन्न हुई दुष्ट इच्छा आदि भावमें मग्न हुआ यह जीव बोध नहीं प्राप्त करता और उन भावोंकी निवृत्ति किये बिना अथवा निवृत्तिको प्रयत्न किये बिना ही भेषकी इच्छा करता है; जो कभी भी समझ नहीं हुआ, वर्तमानमें होता नहीं, और भविष्यमें होगा नहीं।

४१९

बम्बई, म्येष्ठ सुदी १४ एवि १९५०

ॐ

(१)

चित्तमें उपाधिके प्रसंगके लिये बारम्बार रोद होता है। यदि इस प्रकारका उपाय इस देहमें बहुत समयतक रहा करे तो समाधि-दशापूर्वक जो कष्ट है, वह कष्ट वैमनस्य ऐसा ही व्यग्रमानस्यसे रहना पड़े, और चित्तमें अत्यन्त अप्रमान-योग रहना योग्य है, उसमें प्रमाद-योग हो जाय।

कल्पित ऐसा न हो तो भी 'इस संसारमें किसी प्रकार कृषि-योग माझम नहीं होता—यह प्रत्यक्ष रसद्वित स्वरूप ही निश्चय पड़ता है। उसमें कमी भी सुविचारवान जीवको कल्प भी कृषि नहीं होती,' यह निश्चय रहा करता है। बारम्बार संसार मयकम कगता है। मयकम कगनेका दूसरा कोई कारण माझम नहीं होता। इसका हेतु केवल यही है कि इसमें कुछ अश्वत्थकृष्णको व्यग्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, उससे मज्जन् कष्ट रहता है; और मित्य छुनकाय पानेका कष्ट रहा करता है। फिर भी कमी तो अवश्य रहता है और प्रविश भी रहा करता है। तथा उसी तरहके दूसरे अनेक विकल्पोंसे बारे कगनेकाके इस संसारमें हम नहीं कठिमावृत्ति रह रहे हैं।

(२)

आत्म-परिणामको विशेष स्थिरता होनेके किये उपयोगपूर्वक बाणी और कथाका सयम करना योग्य है।

४२०

मोक्षमयी आपाज सुदी ६ रवि १९५

(१)

जीव और काया परार्थकपसे जुड़े जुड़े हैं। परन्तु जबतक उस देहसे जीव कर्म मोगता है, तबतक वे दोनों सर्ववत्पसे सङ्गच्छी हैं। शीविनमगामान्ने जीव और कर्मका संवेग क्षीर-नीरके सर्व भक्ष्य तपह बताया है। उक्तका हेतु भी यही है कि यद्यपि क्षीर और नीर एकज स्पष्ट दिखाई देते हैं, परन्तु परमावृत्ति वे जुड़े जुड़े हैं—परार्थकपसे वे भिन्न हैं। अस्तिका प्रयोग करनेपर वे फिर स्पष्ट जुड़े जुड़े हो जाते हैं। उसी तरह जीव और कर्मका संवेग है। कर्मका मुख्य स्वरूप किसी प्रकारकी देह ही है, और जीवको इन्द्रिय आणि हाथ किया करता हुआ देखकर यह जीव है, ऐसा सामान्यकपसे कहा जाता है। परन्तु ज्ञान-दशा जाये किना जीव और कायाकी वो स्पष्ट सिक्ता है वह भिन्नता जीवके ज्ञाननेमें नहीं जाती; परन्तु यह भिन्नता क्षीर-नीरकी तरह ही है। ज्ञानके सत्कारसे वह भिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाती है। अब यहाँ ऐसा प्रश्न किया गया है कि 'यदि ज्ञानसे जीव और कायाको भिन्न भिन्न जान किया है तो फिर केनाका सङ्गन करना या मानना किस कारणसे होता है। यह फिर न होना चाहिये'। इस प्रश्नका समाधान भिन्न प्रकारसे है—

जैसे सूर्यसे तथा हुआ फपर सूर्यके जलत होनेके बाद भी बापुक समयतक लठ रहता है, और पीछेसे अपने स्वरूपमें जाता है; उसी तरह पूर्वके ज्ञान-संस्कारसे उपादित किये हुए केदमा जाति तापका इस जीवसे संवेग है। यदि ज्ञान-प्रसिद्धा कोई कारण भिन्न जाय तो फिर ज्ञानका मास हो जाता है, और उससे उत्पन्न होनेवाला माजी कर्म नाश होता है परन्तु उस ज्ञानसे उत्पन्न हुए केदनीय कर्मका—उस ज्ञानके सूर्यकी तरह, उसके अस्त होनेके पश्चात्—फपरकमी जीवके साय संवेग रहता है जो बापु कर्मके मास होनेसे ही नाश होता है। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-मुक्तको कथामें आत्म-मुक्ति नहीं होती, और अश्यामें काय-मुक्ति नहीं होती—उसके ज्ञानमें दोनों ही स्पष्टकपसे भिन्न भिन्न माझम पड़ते हैं। मात्र जैसे फपरको सूर्यके तापका संवेग रहता है, उसी तरह पूर्वसंवेगके

रहनेसे वेदनीय कर्म आयु पूर्ण होनेतक अभियममात्रसे सहन किया जाता है। परन्तु उस वेदनाको सहन करते हुए जीवके स्वरूप-ज्ञानका भग नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उस जीवके उस प्रकारका स्वरूप-ज्ञान ही समर्थ नहीं होता। आत्म-ज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्मका नाश हो ही आता, ऐसा कोई नियम नहीं है। वह अपनी स्थितिपूर्वक ही नाश होता है। फिर वह कर्म ज्ञानको आवरण करनेवाला नहीं है—अध्याभावमात्रको ही आवरणरूप है। अथवा तबतक संपूर्ण अध्याभावपना प्रगट नहीं होता, परन्तु पूर्ण-ज्ञानके साथ उसका विरोध नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञानीको आत्मा अध्याभाव है, इस प्रकार निबन्धसे अनुभव है; फिर भी तबतक देखते हुए उसका अध्याभावपना वेदनीय कर्मसे अद्रुक मात्रसे रुका हुआ है। यद्यपि उस कर्मसे ज्ञानीको अहम-बुद्धि न होनेके कारण अध्याभाव गुणको भी मात्र तबतक ही आवरण है—साक्षात् आवरण नहीं है।

वेदना सहन करते हुए जीवको थोड़ा भी विषमभावका होता, यह अज्ञानका लक्षण है, परन्तु जो वेदना है वह अज्ञानका लक्षण नहीं है—वह पूर्वोपार्जित अज्ञानका ही फल है। वर्तमानमें वह केवल प्रारम्भरूप है, उसको सहन करते हुए ज्ञानीको अभियममात्र रहता है—अर्थात् जीव और काया भिन्न भिन्न हैं, ऐसा जो ज्ञान-योग है वह ज्ञानी-पुरुषको निर्वाच ही रहता है। मात्र कितना विषमभावसे रहितपना है वह ज्ञानको बाधक नहीं है, जो विषमभाव है वही ज्ञानको बाधकाकारक है। जिसकी देहमें देह-बुद्धि और अहमामें अहम-बुद्धि है उसे देहसे उदासीनता है और अहमामें निरुक्ती स्थिति है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको वेदनाका उदय प्रारम्भके सहन करनेरूप ही है, वह नये कर्मोंका हेतु नहीं है।

इसप्रकार यह है कि 'परमात्मस्वरूप सब जगह एकसा है, सिद्ध और संसारी जीव एकसे हैं, फिर सिद्धकी स्तुति करनेसे क्या कुछ बाधा आती है ?'

पश्चिमे परमात्मस्वरूपका विचार करना योग्य है। व्यापकरूपसे परमात्मस्वरूप सर्वत्र है या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

सिद्ध और संसारी जीव समान सत्तायुक्त स्वरूपसे मौजूद हैं, यह ज्ञानी-पुरुषमें जो निश्चय किया है, वह सार्थक है। परन्तु दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धोंमें वह सत्ता प्रगटरूपसे है, और संसारी जीवोंमें वह सत्ता केवल सत्तारूपसे है। जैसे दीपकमें अग्नि प्रगटरूपसे है, और चकमक पत्थरमें वह सत्तारूपसे है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे दीपकमें और चकमक पत्थरमें जो अग्नि है, वह अग्निरूपसे समान है—व्यक्तिरूप (प्रगटरूप) से और शक्तिरूप (सत्तारूप) से भिन्न है, परन्तु उसमें बलुकी जातिरूपसे भेद नहीं है; उसी तरह सिद्धके जीवमें जो चेतन-सत्ता है, वही सत्ता सब संसारी जीवोंमें है, भेद केवल प्रगट-अप्रगटफनेका ही है। जिसे वह चेतन-सत्ता प्रगट नहीं हुई ऐसे संसारी जीवको, उस सत्ताके प्रगट होनेके हेतुरूप, प्रगट-सत्तायुक्त ऐसे सिद्धमगवान्का स्वरूप विचार करने योग्य है—ध्यान करने योग्य है—स्तुति करने योग्य है; क्योंकि उससे आत्माको निबन्ध-स्वरूपका विचार—ध्यान—स्तुति करनेका भेद प्राप्त होता है; जो अवश्य करने योग्य है। अहमस्वरूप सिद्धस्वरूपके समान है, यह विचारकर और वर्तमानमें इस अहमामें उसकी अप्रगटना है, उसका अभाव करनेके लिये उस सिद्ध-स्वरूपका विचार—ध्यान—स्तुति करना योग्य है। यह भेद समझकर सिद्धकी स्तुति करनेमें कोई बाधा नहीं माध्य होती।

‘ब्रह्मस्वरूपमें ब्रह्म नहीं है,’ यह बात वेदांतमें कही है, अथवा ऐसा योग्य है। परन्तु ‘ब्रह्म ब्रह्म नहीं है,’ यह अर्थ केवल जीवको उपशम होनेके लिये ही मानने योग्य माना जा सकता है।

इस प्रकार इन तीन प्रश्नोंका संक्षिप्त समाधान सिद्ध है, इसका विशेषरूपसे विचार करना। कुछ विशेष समाधान करनेकी इच्छा हो तो विस्तार।

मित्र तरह वैराग्य-उपशमकी इच्छा हो, काममें तो उसी तरह करना चाहिये।

(२)

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदांत उसे म्यासकता कहता है।

४२१

बम्बई, आगस्त सुबो ६ रवि १९५०

ब्रह्म-वृत्तियोंका उपशम करनेके लिये और निवृत्ति करनेके लिये जीवको अभ्यास—सतत अभ्यास—करना चाहिये; क्योंकि बिना विचारके, बिना प्रयासके, उन वृत्तियोंका उपशम अथवा निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? कारणके बिना कोई कार्य होना संभव नहीं है तो फिर यदि इस जीवने उन वृत्तियोंके उपशम अथवा निवृत्ति करनेका कोई उपाय न किया हो, अर्थात् उसका ब्रह्मत्व न हो तो यह बात स्पष्टरूपसे संभव है। बहुत बार पूर्वकालमें वृत्तियोंके उपशमका तथा निवृत्तिकर जीवने अभिप्राय किया है परन्तु उस प्रकारका कोई साधन नहीं किया, और अन्ततः भी उस काममें जीव अपना कोई विचारना नहीं करता—अर्थात् अभी भी उसे उस अभ्यासमें कोई रुचि नहीं देता। तथा कदाचित् माहूम होनेपर भी उस कदाचित्के ऊपर पैर रखकर, यह जीव उपशम-निवृत्तिमें प्रवेश नहीं करता। इस बातका इस बुद्ध-मरिणामी जीवको बारम्बार विचार करना चाहिये—यह बात किसी भी तरह विस्मरण करने योग्य नहीं।

मित्र प्रकारसे पुत्र बापि उपस्थित हैं इस जीवको मोह होता है, वह प्रकृत सर्वथा नीरस और निवर्तनीय है। यदि जीव अब भी विचार करे तो स्पष्ट माहूम हों। अन्य कि इस जीवने किसीमें पुत्र-फनेकी मात्ता करके अपने बलित करनेमें कमी नहीं रखी और किसीमें पितामात्र मानकर भी ऐसा ही किया है और कोई जीव वर्तमानक यो पिता-पुत्र हो सका हो यह देखा नहीं गया। सब कहते हैं कहते आते हैं कि यह इसका पुत्र है यह इसका पिता है परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट माहूम होता है कि यह बात किसी भी कालमें संभव नहीं। अनुपम इस जीवको पुत्ररूपसे गणना, अथवा उसे मन्वन्तरेकी इच्छा रहना यह सब जीवकी मूर्खता है; और यह मूर्खता किसी भी प्रकारसे सत्सङ्गकी इच्छाका जीवको करना योग्य नहीं है।

जो हमने मोह आदिने मेरके निषयमें लिखा, वह दोनोंको अमणका हेतु है—अर्थात् विद्वन्मतात्त हेतु है। इली-मुक्त भी यदि इस तरह आचरण करे तो वह ज्ञानके ऊपर पौन रखने वैसा है, और वह सब प्रकारसे अज्ञान-निवृत्त ही हेतु है। इस मेरका विचार करके दोनोंको सब माल करना चाहिये। यह बात अभ्यासकालमें ही आगत करने योग्य है।

जितना बने उतना तुम अपना दूसरे दूसरे सत्यगियोंको निवृत्तिका अन्वेषण करना चाहिये, यही जीवको विवर्तनीय है।

४२२

मोहमयी, आपत्त सुदी ६ रवि १९५०

ॐ

(१)

इस जीवने पूर्वकाष्ठमें जो जो साधन किये हैं, वे सब साधन ज्ञानी-गुरुपकी आज्ञासे किये हुए माझम नहीं होते—यह बात शकारहित माझम होती है। यदि ऐसा हुआ हो तो जीवको ससार-परिभ्रमण ही न हो। ज्ञानी-गुरुपकी जो आज्ञा है वह ससारमें परिभ्रमण करनेके लिये मार्ग प्रतिबंधके समान है; क्योंकि जिसे आत्मार्थिक सिखाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं और आत्मार्थ सिद्ध करके भी जिसकी देह केवल प्रारम्भके बरते ही मीझ रहती है, ऐसे ज्ञानी-गुरुपकी आज्ञा सम्मुख जीवको केवल आत्मार्थमें ही प्रेरित करती है और इस जीवने तो पूर्वकाष्ठमें कोई आत्मार्थ जाना ही नहीं—बल्कि उक्त आत्मार्थ विस्मरणरूपसे ही चला आता है। यदि वह अपनी कल्पनामात्रसे आत्मार्थ साधन करे, तो उससे आत्मार्थ नहीं होता, बल्कि उक्त 'आत्मार्थका साधन करता हूँ' इस प्रकार दुष्टमिमान उत्पन्न होता है, जो जीवको ससारका मुक्त्य हेतु है। जो बात स्वप्नमें भी नहीं आती, उसे जीव यदि निरर्थक कल्पनासे साक्षात्कार सुखी मान ले तो उससे कल्याण नहीं हो सकता। तथा इस जीवके पूर्वकाष्ठसे अब रहते हुए भी यदि वह अपनी कल्पनामात्रसे ही आत्मार्थ मान भी ले तो उसमें सफलता न मिले, यह बात ऐसी है जो निष्पुच्छ समझमें आ सकती है।

इससे इतना तो माझम होता है कि जीवके पूर्वकाष्ठीन समस्त मिथ्या साधन—कल्पित साधन दूर करनेके लिये अपूर्व ज्ञानके सिखाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और उसका अपूर्व विचारके बिना उत्पन्न होना समभव नहीं है, और वह अपूर्व विचार अपूर्व गुरुपकी आज्ञाबना किये बिना दूसरी किस तरह जीवको प्राप्त हो, यह विचार करते हुए अगमें यही सिद्ध होता है कि ज्ञानी-गुरुपकी आज्ञाका आज्ञावन, यह सिद्धि-पदका सर्वश्रेष्ठ उपाय है और जबस इस बातको जीव मानने लगता है, तभीसे दूसरे दोषोक्त उपशान होना—निवृत्त होना शुरु हो जाता है।

श्रीविनमगबान्ने इस जीवके अज्ञानकी जो जो व्याख्या की है, उसमें प्रतिसमय उसे अनंत कर्मका व्यवसायी कहा है, और वह अनादि काष्ठसे अनंत कर्मका बंध करता चला आया है, ऐसा कहा है। यह बात सत्यार्थ है। परन्तु यहाँ आपको एक शक्य हुई है कि तो फिर उस तरहके अनंत कर्मके निवृत्त करनेके लिये चाहे जैसा बंधान साधन होनेपर भी अनंत कष्ट बौननेपर भी उसमें सफलता नहीं मिल सकती ?

इसका उत्तर यह है कि यदि सर्वा ऐसा ही हो ता जैसा तुमने श्रिया है वैसा संभव है। परन्तु विनमगबान्ने प्रकाशसे जीवको अनंत कर्मका बन्धी कहा है—वह अनंतकाष्ठसे कर्मका कटा चला आया है, ऐसा कहा है। परन्तु यह नहीं कहा कि वह प्रतिसमय, जो अनंत काष्ठतक योगना पड़े ऐसे कर्मको आगामी काष्ठके लिये उपार्जन करता है। किसी जीवकी ओशासे हम बान्ने दूर रखकर, विचार करते हुए ऐसा कहा है कि सब कर्मोंका मूळमूल जो अज्ञान-ग्रह परिणाम है, वह अभी जीवमें ऐसाका एसा ही चला आया है, जिस परिणामसे उसे अनंत काष्ठतक परिभ्रमण हुआ है; और यदि यह परिणाम अभी भी रहा

करे तो अभी भी उस ही तरह अनन्त कालतक परिभ्रमण चकता चला जाय। अग्निके एक सुस्मिमें इतनी सामर्थ्य है कि वह समस्त लोकको जला सकता है, परन्तु उसे जैसा जैसा संयोग मिश्रता है, वैसे वैसे उसका गुण फलपुत्र होता है। उसी तरह अज्ञान-परिणाममें जीव अनन्ति कालसे मरकता रहा है; तथा संभव है कि अभी अनन्त कालतक भी चौराह रात्रू लोकमें प्रत्येक प्रदेशमें उस परिणामसे अनन्त जन्म-मरण होना समभव हो। फिर भी जिस तरह सुस्मिमाकी अग्नि संयोगके आधीन है, उसी तरह व्यञ्जनके कर्म परिणामकी भी कार्य प्रकृति होती है। उदाहरणसे उदाहर यदि एक जीवको मोक्षनीय कर्मका बंध हो तो सुख कोहाकोहीलक हो सकता है, ऐसा विनम्रमानने कहा है। उसका हेतु स्पष्ट है कि यदि जीवको अनन्त कालका बंधन होता हो तो फिर जीवको मोक्ष ही न हो। यह बंध यदि अभी निवृत्त न हुआ हो, परन्तु अगमग निवृत्त होनेके लिये व्याप्य हो, तो कदाचित् उस प्रकारकी दूसरी स्थितिक बंध होना संभव है, परन्तु इस प्रकारके मोक्षनीय कर्मको—बिसर्गी काज-स्थिति ऊपर कही है—एक समयमें अधिक बौधना समभव नहीं होता। अनुक्रमसे अतीतक उस कर्मसे निवृत्त होनेके पहिले दूसरा उसी स्थितिक कर्म बँधे तथा दूसरेके निवृत्त होनेके पहिले तीसरा कर्म बँधे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चत्वार्य, पाँचवाँ छठा इस तरह सबके सब कर्म एक मोक्षनीय कर्मके संबंधसे उसी स्थितिको बँधते रहें ऐसा नहीं होता। क्योंकि अतीतको इतना अवकाश नहीं है। इस प्रकार मोक्षनीय कर्मकी स्थिति है। तथा वास्तव कर्मकी स्थिति श्रीविनम्रमानने इस तरह कही है कि एक जीव एक देशमें रहते हुए, उस देशकी भित्तनी बाध है उसके तीन मार्गमेंसे दो मार्ग व्यतीत हो जानेपर आगामी मरकती वास्तु बँधता है, उससे पहिले नहीं बँधता। तथा एक भवमें आगामी कालके दो मरकती वास्तु नहीं बँधता, ऐसी स्थिति है। अर्थात् जीवको अज्ञान-मातसे कर्म-संबंध बंधा जा रहा है फिर भी उन उन कर्मोंकी स्थितिके कितनी भी निर्वहमाकूप होनेपर, अनन्त दुःख और मरकता हेतु होनेपर भी जिस जिसमें जीव उससे निवृत्त हो उतने अमुक प्रकारको निकाल देनेपर सब अवकाश ही अवकाश है। इस बातको विनम्रमानने बहुत सूक्ष्मरूपसे कहा है उसका विचार करना योग्य है; जिसमें जीवको मोक्षका अवकाश कहकर कर्मबंध कहा है। यह बात व्यापको संक्षेपमें लिखी है। उसे फिर फिरसे विचार करनेसे कुछ समाधान होगा और क्रमसे व्यपना समागमसे उसका एकदम समाधान हो जायगा।

जो सर्वसा है वह कामके जलानेका प्रबल उपाय है। सब ज्ञानी-पुरुषोंने कामके जीवनेको अत्यंत कठिन कहा है यह सर्वथा सिद्ध है; और ज्यों ज्यों ज्ञानादि बचनका अभावाहन होता है। त्यों त्यों कुछ कुछ करके पीछे हटनेसे अनुक्रमसे जीवका नीर्य प्रबल होकर जीवसे कामकी सामर्थ्यको मात्र करता है। जीवने ज्ञानी-पुरुषके बचन सुनकर कामका स्वरूप ही नहीं जाना; और यदि जाना होता तो उसकी उस विषयमें सर्वथा भीरुता हो गई होती।

(२)

नभी विचारार्थ निम्नवाणं

जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधक है, उस महात् पुरुषको बन्ध है।

जिस मत्तमेदसे वह जीव मत्त हो रहा है वही मत्तमेद ही उसके स्वरूपका मुख्य कारण है।

बीतराग पुरुषके समागम बिना, उपासना बिना इस जीवको सुमुखता कैसे उत्पन्न हो ? सम्पन्नान कहेंसे हो ! सम्पन्दर्शन कहेंसे हो ! सम्पक्षारित्र कहेंसे हो ! क्योंकि ये तीनों वस्तुएँ अन्य स्थानमें नहीं होती।

हे सुमुख ! बीतराग पुरुषके जमावके समान यह वर्तमान काष्ठ है।

बीतराग-यद बारबार विचार करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, और ध्यान करने योग्य है।

४२३ मोहमयी, आगत सुदी १५ भाद्र १९५०

ॐ

प्रश्न — भगवान्ने ऐसा प्रतिपादन किया है कि चाँदह रात्रू ओकमें कावठके कुर्की तरह सूख एकेन्द्रिय जीव मरे हुए हैं। ये जीव इस तरहके कहे गये हैं जो जलनेसे जलत नहीं, छेन्नेसे छिदते नहीं और मारनेसे मरते नहीं। उन जीवोंके आहारिक शरीर नहीं होता, क्या इस कारण उनका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता ? अथवा औद्यारिक शरीर होनेपर भी क्या उसका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता ? तथा यदि आहारिक शरीर हो तो फिर उस शरीरका अग्नि आदिसे क्यों व्याघात नहीं होता ?

इस प्रश्नको पढ़ा है। विचारके लिये उसका यही संक्षेपमें समाधान लिखा है।

उत्तर — एक देहको त्यागकर दूसरी देह धारण करते समय जब कोई जीव रास्तेमें रहता है, उस समय अथवा अपर्याप्त अवस्थामें उसे केवल तैजस और कर्माण ये दो ही शरीर होते हैं। बाकीकी सब अवस्थायोंमें अर्थात् कम्बसहित स्थितिमें सब जीवोंको श्रीनिभभगवान्ने कर्माण तैजस, तथा औद्यारिक अथवा वैश्विक इन दो शरीरोंमेंसे किसी एक शरीरको समाधान बताया है। केवल भागमें रहनेवाले जीवको ही कर्माण और तैजस ये दो शरीर होते हैं; अथवा जबतक जीवकी अपर्याप्त स्थिति है, तबतक उसका कर्माण और तैजस शरीरसे निर्वाह हो सकता है, परन्तु पर्याप्त स्थितिमें उसका नियमस तीसरा शरीर होना समझ है। आहार आदिके ग्रहण करनेरूप ठीक ठीक सामर्थ्यका होना, यह पर्याप्त स्थितिका लक्षण है और इस आहार आदिकर आ कुछ भी ग्रहण करना है, वह तीसरे शरीरका प्रारंभ है अर्थात् यहीसे तीसरा शरीर उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। भगवान्ने जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कहे हैं, उनका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता। उन जीवोंके पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय होनेसे यद्यपि उनके तीन शरीर होते हैं, परन्तु उनके जो तीसरा औद्यारिक शरीर है, वह इतनी सूक्ष्म अवगाहमायुक्त है कि उसे शत्रु आदिका स्पर्श नहीं हो सकता। अग्नि आदिका जो स्पृष्ट है, और एकेन्द्रिय शरीरका जो सूक्ष्म है वह इस प्रकारका है कि तिस एक दूसरेका स्पर्श नहीं हो सकता। अर्थात् यदि ऐसा कहे कि यदि उनका साधारण संवेग हो, तो भी अग्नि शत्रु आदिमें जो अरकाश है, उस अरकाशमेंसे उन एकेन्द्रिय जीवोंका गुगमनाय गमनागमन हो सकनेके कारण, उन जीवोंका नाश हो सके, अथवा उनका व्याघात हो, अथवा उस प्रकारका उन्हें अग्नि

राख आदिका संवत्त हो, यह नहीं होता। यदि उम जीवोंकी स्मृत्त अगगाहना हो, अथवा अग्नि आदिका अत्यंत सूक्ष्मता हो, जिससे उनकी भी एकेन्द्रिय जीव जैसी सूक्ष्मता गिनी जाय, तो वे एकेन्द्रिय जीवका स्थापान करनेमें समर्थ सिने जाँय, परन्तु ऐसा तो है नहीं। यहाँ तो जीवोंका अत्यंत सूक्ष्म है, और अग्नि शक्त आदिका अत्यंत स्मृत्त है, इस कारण उनमें स्थापान करने योग्य संवत्त नहीं होता, ऐसा मगजान्ने कहा है। परन्तु इस कारण जीवोंकी शरीरको अविनाशी कहा है, यह बात नहीं है। उसका स्वभावे क्षयघात होनेसे अथवा उपार्जित किये हुए उम जीवोंके पूर्वकर्मके परिणामसे औदारिक शरीरका नाश होता है। यह शरीर कुछ दूसरेसे माद्य किया जाय तो ही उसका नाश हो, यह भी नियम नहीं है।

यहाँ हाथमें स्थापारसर्वभी प्रयोजन रहता है, इस कारण तुरत ही बोधे समयके किये भी निष्कृत सकला करिण है, क्योंकि प्रसंग इस प्रकारका है कि जिसमें समागमके लोग मेरी मौजूदगीको आनन्दक समझते हैं। उनके मनको चोट न पहुँच सके, अथवा उनके काममें यहूति मेरे दूर चले जानेसे कोई प्रवृत्ति न हो सके, ऐसा व्यवसाय हो तो ऐसा करके बोधे समयके किये इस प्रवृत्तिसे अकाल्य केनेका चित्त है। परन्तु तुम्हारी तरफ आनेसे लोगोंके परिचयमें जाना जरूर ही संभव होगा, इसलिये उस तरफ आनेका चित्त होना करिण है। इस प्रकारका प्रसंग रहनेपर भी यदि लोगोंके परिचयमें बर्मे प्रसंगसे जाना पड़े, तो उसे निरोध संका योग्य समझकर जैसे बने ऐसे उस परिचयसे बर्मे-प्रसंगके नामसे विशेषरूपसे दूर रहनेका ही चित्त रखा करता है।

जिससे वैराग्य-उपशमके बढकी वृद्धि हो, उस प्रकारके संसृता-संसाधका परिचय करना, यह जीवको परम हितकापी है। दूसरे परिचयको जैसे बने ऐसे निवृत्त करना ही योग्य है।

४२४

बम्बई, माघ सुदी ११ ति १९५०

ॐ

योगवासिष्ठ आदि ग्रंथोंके बौध्दे-विचारनेमें कोई दूसरी बाधा नहीं। हमने पहिले लिखा था कि उपदेश-मप समझकर इस प्रकारके ग्रंथोंके विचारनेसे जीवको गुण प्रगट होता है। प्रायः ऐसे ग्रंथ वैराग्य और उपशमके किये हैं। उपरुक्तसे जानने योग्य सिद्धांत-ज्ञानको जानकर जीवमें सरलता, निर्दिमानता आदि गुणोंके उद्भूत होनेके किये योगवासिष्ठ, उपशमप्ययन, मूखहतांग आदिके विचारनेमें कोई बाधा नहीं, इतना स्मरण रहना।

वेदों और किन-सिद्धांत इन दोनोंमें अनेक प्रसंगसे ये हैं।

वेदों एक ब्रह्मसम्पत्तिसे सृष्टिस्थितिको कहाता है विनागममें उससे सिद्ध ही रूप कहा गया है। समझार पाठे हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मायतात्म्य सिद्धांत हो अल्प है। बहुत गुणगम तथा वैराग्य और उपशमका ब्रह्म विचारनेसे बढनेके पश्चात् सिद्धांतका विचार करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो जीव दूसरे मार्गमें आत्मज्ञ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। एक ब्रह्मसम्पत्ति के विचार करनेमें बाधा नहीं अथवा अनेक अस्मा ' के विचार

करनेमें भी बाधा नहीं । तुम्हें तथा दूसरे किसी मुमुक्षुका मात्र अपने स्वरूपका जानना ही मुख्य कर्तव्य है, और उसके जाननेके शम, सतोष, विचार और ससंग ये साधन हैं । उन साधनोंके सिद्ध हो जानेपर और वैराग्य-उपशमके परिणामकी वृद्धि होनेपर ही, 'आत्मा एक' है अथवा 'आत्मा अनेक है,' इत्यादि भेदका विचार करना योग्य है ।

४२५ बम्बई, धातण सुदी १४, १९५०

नि सारताको व्यक्तित्वसे जाननेपर भी व्यवसायका प्रसंग आत्म-वीर्यकी कुछ भी भ्रष्टाका ही कारण होता है; यह होनेपर भी उस व्यवसायको करते हैं । जो आत्मासे सहन करने योग्य नहीं, उसे सहन करते हैं । यही विनती है ।

४२६ बम्बई, धातण सुदी १४, १९५०

जिस तरह आत्म-बल अप्रमादी हो, उस तरह ससंग-सहवासका समग्रान्तर नित्यप्रति करना योग्य है । उसमें प्रमाण करना योग्य नहीं—अवश्य ऐसा करना योग्य नहीं ।

४२७ बम्बई, धातण सुदी १, १९५०

जैसे पानीके स्वभावसे शीतल होनेपर भी उसे यदि किसी बरतनमें रखकर नीचे अग्नि जकती हुई रख दी जाय, तो उसकी श्रृंखला न होनेपर भी वह पानी उष्ण हो जाता है; उसी तरह यह व्यवसाय भी समाधिसे शीतल ऐसे पुरुषके प्रति उष्णताका कारण होता है, यह बात हमें तो स्पष्ट छाती है ।

वर्तमानस्वामीने गृहवासमें ही यह सर्व व्यवसाय अन्तर है—कर्तव्यरूप नहीं है—ऐसा ज्ञान दिया था, तथापि उन्होंने उस गृहवासको त्यागकर मुनि चर्चा प्रवृत्त की थी । उस मुनित्वमें भी आत्म बलसे समर्थ होनेपर भी, उस बलकी अपेक्षा भी अत्यंत अधिक बलकी जगत्परत है । ऐसा जानकर उन्होंने मीन और अनिद्राका उग्रमग्न सान्ने बाह्य वर्तक सेवन किया है, जिससे व्यवसायरूप अग्नि तो प्राय पैदा न हो सके ।

जो वर्तमानस्वामी गृहवासमें होनेपर भी अमोही जैसे थे—अव्यवसायी जैसे थे—निरुद्ध थे—और सहज स्वभावसे मुनि जैसे थे—आत्मस्वरूप परिणामयुक्त थे, व वर्तमानस्वामी सर्व व्यवसायमें अन्तरता जानकर—भीरुता जानकर भी दूर रहे, उस व्यवसायको करते हुए दूसरे जीवन उसमें किस प्रकारसे समाधि रखनेका विचार किया है, यह विचार करने योग्य है । उसे विचारकर फिर फिरसे उस चर्चाको प्रत्येक कार्यमें, प्रत्येक प्रवृत्तिमें, स्मरण करके व्यवसायके प्रसंगमें रहती हुई इस रुचिका माग करना ही योग्य है । यदि ऐसा न किया जाय तो प्राय करके ऐसा लगता है कि अर्थात् इस जीवन मुमुक्षुत्वमें यथायोग्य अभिधाना नहीं हुई, अथवा यह जीवन मात्र छोट-संज्ञासे ही कल्याण हो जाय, इस प्रकारकी मानना करना चाहता है । परन्तु उसे कल्याण करनेकी अभिधाना करना योग्य नहीं है, क्योंकि दानों ही जीवनके एकत्र परिणाम हों और एकत्र बंध हा, दूसरेका बंध न हा, ऐसा विरक्त्यमें भी होना योग्य नहीं ।

४२८

श्रीमान् महावीरस्वामी जैसेने भी अप्रतिबद्ध पद रखकर गृहवासरूपका बैधन किया, गृहवस्तुसे निवृत्त होनेपर भी सत्के बारह (बरस) जैसे दीर्घ काष्ठतक यौन रक्षता; निश्चय छोड़कर विषम पत्नीय छजन किये, इत्यादि क्या होता है? और यह जीव इस प्रकार वर्तान करता है, तथा इस प्रकार करता है, इसका क्या होता है?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके बिना केवल अपनी कल्पनासे ही अज्ञान-स्वरूपका निषेध करे वह केवल अपने स्वप्नके उदयका केन्द्र करता है—ऐसा विचार करना योग्य है।

जो जीव सद्गुरुके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके ही आश्रयसे बैठे, वह जीव छद्ममात्रसे मग्न-बुद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि वह अन्तर होनेके लिये नजर पीता है।

४२९

कर्मार्थ, आरण्य बटी ७ १९५०

सुन्दरी और इनसे सुमुमुक्षु लोगोंकी चित्तकी दशा माध्यम की है। हानी-सुरूपसे अप्रतिबद्धताके ही प्रधान मार्ग कहा है और समस्त अप्रतिबद्ध दशाका कन्ध रखकर ही प्रवृत्ति रहती है, तो भी सत्संग आदिमें वसी हमें भी प्रतिबद्ध बुद्धि रखनेका ही चित्त रहता है। हाथमें हमारे समग्रामका प्रसंग नहीं है ऐसा जानकर तुम सब मार्गियोंको, जिस प्रकारसे जीवको शांति दत्तमात्र उद्धृत हो, उस प्रकारसे बौध्दिक आदिमात्र समग्राम करना योग्य है—यह बात हृदय करने योग्य है।

४३०

कर्मार्थ, आरण्य बटी ९ शनि १९५०

जीवमें जिस तरह त्याग वैराग्य और उपशम गुण प्रगट हों—उन्मिष्ट हों, उस क्रमको ध्यान रखनेकी जिस पक्षमें सूचना मिली थी, वह पक्ष प्राप्त हुआ है।

जबतक ये गुण जीवमें स्थिर नहीं होते तबतक जीवसे वयार्थरूपसे अज्ञानस्वरूपका निषेध विचार होना कठिन है। अज्ञाना कमी है या अकृपी है? इत्यादि विकल्पोंका जो ठससे पक्षिष्ठ ही विचार किया जाता है वह केवल कल्पना जैसा है। जीव कुछ भी गुण प्राप्त करके यदि शीतल हो जाय तो फिर उसे निरोध विचार करना चाहिये। अज्ञान-दर्शन आदि प्रसंग, तीन सुमुमुक्षुताके उत्पन्न होनेके पक्षिष्ठ प्राप्त करके कल्पितरूपसे ही समग्रमें आते हैं; जिससे हाथमें इस विषयकी सत्काका शान्त करता ही योग्य है।

४३१

कर्मार्थ, आरण्य बटी ९ शनि १९५०

(१) प्राक्क-कशते प्रसंगाकी चारों दिशाओंके दबावसे कुछ व्यक्ततापुस्तक कार्य होते हैं। परन्तु चित्तके परिणामके साधारण प्रसंगमें माहृति करते हुए विशेष संकुचित रहनेके कारण, इस प्रकारका पक्ष आदि विवक्षना बौराह नहीं हो सकता, जिससे अविक्रम नहीं किया, इसलिये दोनों जने क्षमा करें।

(२) इस समय किसी भी परिणामकी ओर ध्यान नहीं।

४३२

बम्बई, श्रावण वदी १५ गुरु १९५०

तुम्हें कुछ ज्ञान-वाचक प्रसंगमें उपकारक प्रश्न उठते हैं, उन्हें तुम हमें लिखकर सूचित करते हो, और उनके समाधानकी तुम्हारी विशेष इच्छा रहती है। इससे किसी भी प्रकारसे यदि तुम्हें उन प्रश्नोंका समाधान लिखा जाय तो ठीक हो, यह विचार चित्तमें रहते हुए भी उदय-योगसे बैसा नहीं बनता। पत्र लिखनेमें चित्तका स्थिरता बहुत ही कम रहती है; अथवा चित्त उस कार्यमें अल्पमात्र छाया बैसा ही प्रवेश कर सकता है। जिससे तुम्हें विशेष विस्तारसे पत्र नहीं लिखा जाता। चित्तकी स्थितिके कारण एक एक पत्र लिखते हुए दस-दस पौंच-पौंच बार, दो-दो बार बार छापन लिखकर उस पत्रको अधूरा छोड़ देना पड़ता है। क्रियामें रुचि नहीं है, तथा हृदयमें उस क्रियामें प्रारम्भ-बलके भी विशेष उदयपुलक न होनेसे तुम्हें तथा दूसरे मुमुक्षुओंको विशेषरूपसे कुछ ज्ञान चर्चा नहीं सिखी जा सकती। इसके लिये चित्तमें खेप रहता करता है, परन्तु हृदयमें तो उसका उपशम करनेका ही चित्त रहता है। हृदयमें इसी तरहकी कार्य अन्त-दशाकी स्थिति रहती है। प्रायः ज्ञान-वृद्धिकरके कुछ करनेमें नहीं आता, अर्थात् प्रमाद आदि दोषके कारण यह क्रिया नहीं होती, ऐसा नहीं माझ्म होता।

समयसार प्रयकी कविता आदिका तुम जो मुखरससम्बन्धी ज्ञानविषयक अर्थ समझते हो वह बैसा ही है; ऐसा सब जगह है, ऐसा कहना योग्य नहीं। बनारसीदासने समयसार प्रयकी हिन्दी भाषामें करते हुए बहुतसे कविच, सवैया वगैरहमें उस प्रकारकी ही बात कही है; और वह किसी तरह बीज-ज्ञानसे मिश्रित हुई माझ्म होती है; फिर भी कहीं कहीं उस प्रकारके शब्द उपमात्म्यसे भी आते हैं। बनारसीदासने जो समयसार बताया है, उसमें जहाँ जहाँ वे शब्द आये हैं वहाँ वहाँ सब जगह वे उपमात्म्यसे ही हैं, ऐसा माझ्म नहीं होता; परन्तु बहुतसी जगह वे शब्द वस्तुत्वसे कहे हैं, ऐसा माझ्म होता है। यद्यपि यह बात कुछ आगे चखनेपर मिश्र सत्यही है, अर्थात् तुम जिस बीज-ज्ञानमें कारण मानते हो, उससे कुछ आगे बढ़ती हुई बात अथवा बड़ी बात उसमें विशेष ज्ञानसे अंगीकार की हुई माझ्म होती है।

उनकी समयसार प्रयकी रचनाके ऊपरसे माझ्म होता है कि बनारसीदासको कोई उस प्रकारका स्याग बना होगा। नृक्ष समयसारमें बीज-ज्ञानके विषयमें इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई नहीं माझ्म होती, और बनारसीदासने तो बहुत जगह वस्तुत्वसे आर उपमात्म्यसे वह बात कही है। जिसके ऊपरसे ऐसा माझ्म होगा है कि बनारसीदासको, सायम् अपनी आत्माके विषयमें जो कुछ अनुभव हुआ है, उन्होंने उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है, जिससे वह बात किसी निश्चयजग जीवनके अनुभवको आभारभूत हो—उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो।

ऐसा भी सगता है कि बनारसीदासने सधुग आदिमें भेत्स जीरफा विषय निश्चय किया था, और उस उस सधुग आदिके सगत मनन होते रहनेमें, उनका अनुभवमें आम-स्वरूप कुछ दीर्घात्म्यसे आया है और उनकी अल्पत्वत्वसे आम-दृष्टिकार भी स्पष्ट हुआ है और उस अल्पत्व स्पष्टि उन्मोक्त उस बीज-ज्ञानको गाया है। 'अल्पत्व स्पष्टि' का अर्थ यों यह है कि चित्त-वृत्तिके विशेषत्वसे आम-विचारमें छन्द रहनेसे, बनारसीदासको जिस अर्थमें परिणामही निर्मल थात प्रगट हुई

है, उस निर्मल प्रारण के कारण अपना निजका यही प्रथम है, ऐसा यद्यपि स्पष्ट ज्ञानमें नहीं आया, तो भी अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्थानाधिकरूपसे भी उनकी आत्मामें यह छाया भासमान है। व, और जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकती है। और आग जानकर यह बात उन्हें सहज ही प्रथम स्पष्ट हो गई हो, प्रायः उनकी ऐसी दशा उस प्रथम के स्थिते समय रही है।

श्रीहृगुरुके अंतर्गते जो केन्द्र रहता है, वह किसी प्रकारसे योग्य ही है; और वह केन्द्र प्रायः उन्हें भी रखा करता है, वह हमारे ज्ञानमें है। तथा दूसरे भी बहुतसे मुमुक्षु जीवोंको इस प्रकारका केन्द्र रखा करता है। यह ज्ञानेपर भी और 'तुम सबका यह केन्द्र हूँ किया जाय तो ठीक है' ऐसा मनमें रखनेपर भी, प्रारब्धका वेदन करते हैं। तथा हमारे चित्तमें इस विषयमें अत्यंत कष्टान्न केन्द्र रहता है। जो केन्द्र दिनमें प्रायः अनेक प्रसंगोंपर सुखित हुआ करता है और उसे उपशान्त करना पड़ता है। और प्रायः तुम लोगोंको भी हमने विशेषरूपसे उस केन्द्रके विषयमें नहीं किया, अपना नहीं बताया। हमें उसे बताना भी योग्य नहीं लगाया था। परन्तु हममें श्रीहृगुरुके ज्ञानसे प्रसन्न पाकर उसे बताना पड़ा है। तुम्हें और हृगुरुको जो केन्द्र रहता है, उस विषयमें हमें उससे अस्पर्श गुणविशिष्ट केन्द्र रहता होगा, ऐसा लगाता है। क्योंकि जिस जिस प्रसंगपर वह बात ज्ञान-प्रदेशमें स्मरण होती है, उस उस प्रसंगपर समस्त प्रदेश शिथिल जैसे हो जाते हैं, और जीवका 'मित्र सम्पन्न होनेसे, जीव इस प्रकारका केन्द्र करते हुए भी जाता है—इस प्रकार एकत्र केन्द्र होता है। फिर परिणामस्वरूप होकर थोड़े अवकाशमें भी उसकी बात प्रत्येक प्रदेशमें सुखित होकर निकलती है, और वैसीकी वैसी ही दशा हो जाती है। फिर भी ज्ञानपर अत्यंत धृति करके उस प्रकारको हममें तो उपशान्त करना ही योग्य है—ऐसा जानकर उसे उपशान्त किया जाता है।

श्रीहृगुरुके अपना तुम्हारे चित्तमें यदि ऐसा होता हो कि साधारण कारणोंके सबसे हम इस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करते, तो यह योग्य नहीं है। यदि यह तुम्हारे मनमें रहता हो तो प्रायः वैसा नहीं है, ऐसा हमें लगाता है। नियमप्रति उस बातका विचार करनेपर भी उसके साथ अभी कष्टान्न कारणोंका संबंध है, ऐसा जानकर जिस प्रकारकी तुम्हारी इच्छा प्रभावके हेतुमें है, उस हेतुको बन्द करना पड़ता है। और उसके अवरोधक कारणोंके क्षीण होने देनेमें आत्म-वीर्य कुछ भी फलीभूत होकर स्वस्थितिमें रहता है। तुम्हारी इच्छाके अनुसार हममें जो प्रवृत्ति नहीं की जाती, उस विषयमें जो कष्टान्न कारण अवरोधक हैं उनको तुम्हें विशेषरूपसे बतानेका विधि नहीं होता क्योंकि अभी उनके विशेषरूपसे ज्ञानमें अवकाशको जाने देना ही योग्य है।

जो कष्टान्न कारण प्रभावके हेतुके अवरोधक हैं, उनमें हमारा बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रयत्न हो ऐसा किसी भी तरह संभव नहीं है। तथा अल्पकालसे अर्थात् नहीं ज्ञानेपर भी जो जीवसे सहजमें हुआ करता हो, ऐसा कोई प्रमाण हो यह भी मान्य नहीं होता। फिर भी किसी अंशमें उस प्रभावके संभव समझते हुए भी उससे अवरोधकता हो, ऐसा मान्य हो सके यह बात नहीं है। क्योंकि आत्माकी निश्चय धृति उससे सम्मुख नहीं है।

लोगोंमें उस प्रवृत्तिको करते हुए मानसंग होनेका प्रसंग आये तो उस मानसंगपनेके सहज न हो सकनेके कारण प्रभावके हेतुकी अपेक्षा की जाती ही ऐसा भी नहीं लगाता, क्योंकि उस मान-

मानमें प्रायः करके चित्त उदासीन जैसा है, अथवा उस क्रममें चित्तको विशेष उदासीन किया हो, तो हो सकता संभव है।

शब्द आदि विषयोंके प्रति कोई भी बलवान् कारण अवरोधक हो, ऐसा भी माझस नहीं होता। यद्यपि यह कहनेका प्रयोजन नहीं है कि उन विषयोंका सर्वथा क्षाधिक भाव ही है, फिर भी उसमें अनेक रूपसे नीरसता भासित हो रही है। उदयसे भी कभी मन्दरुचि उत्पन्न होती हो, तो वह भी विशेष अवस्था पानेके पहिले ही नाश हो जाती है, और उस मंद रुचिका वेदन करते हुए भी आत्मामें खेद ही रहता है; अर्थात् उस रुचिके आवाजहीन होती जानेसे वह भी बलवान् कारणरूप नहीं है।

दूसरे और भी अनेक प्रमाणक पुरुष हुए हैं, उनकी अपेक्षा किसी रीतिसे हममें विचार-दृष्टा आदिका प्राक्तन्य ही होगा। ऐसा समता है कि उस प्रकारके प्रमाणक पुरुष जान माझस नहीं होते; और मात्र उपदेशकरूपसे नाम जैसी प्रमाणतासे प्रवर्तन करते हुए कोई कोई ही देखनेमें—सुननेमें आते हैं। उनकी विषयमानताके कारण हमें कोई अवरोधकता हो, ऐसा भी माझस नहीं होता।

४३३

बम्बई, माघ सुदी ३ रवि १९५०

जीवको ज्ञानी-पुरुषकी पहिचान होनेपर, तत्पक्षकारस अनतलुम्बी श्रेष्ठ, मान, माया, सोमका शिथिल होना योग्य है, जिसके होनेपर अनुक्रमसे उसका क्षय होता है। ज्यों ज्यों जीवकी स्फुरणकी पहिचान जाती है, त्यों त्यों मवाभिप्राय, दुराग्रह आदि भाव शिथिल पड़ने लगते हैं, और अपने दोषोंको देखनेकी ओर चित्त फिर जाता है, जिसका आदि भावमें नीरसता समने समती है, अथवा सुगुप्ता उत्पन्न होती है। जीवको अनित्य आदि माननाके चित्तन करनेके प्रति, बल-वर्धक स्फुरित होनेमें जिस प्रकारसे ज्ञानी-पुरुषके पास उपदेश सुना है, उससे भी विशेष बलवान् परिणामसे वह पञ्च विषय आदिमें अनित्य आदि मानको दृढ़ करता है।

अर्थात् स्फुरणके मिछनेपर, यह स्फुरण है, इतना जानकर, स्फुरणके जाननेके पहिले जिस तरह आत्मा पञ्चविषय आदिमें आसक्त थी, उस तरह उसके पश्चात् आसक्त नहीं रहती, और अनुक्रमसे जिससे वह आसक्ति-भाव शिथिल पड़े, इस प्रकारके वैराग्यमें जीव प्रवेश करता है। अथवा स्फुरणका संयोग होनेके पश्चात् आत्मज्ञान कोई दुर्लभ नहीं है, फिर भी स्फुरणमें—उसके बचनमें—उस बचनके आशयमें, जबतक प्रीति-मर्छि न हो तबतक जीवमें आत्म-विचार भी प्रगट होना योग्य नहीं; और स्फुरणका जीवको संयोग हुआ है, इस प्रकार ठीक ठीक जीवको भासित हुआ है, ऐसा कहना भी कठिन है।

जीवकी स्फुरणका संयोग मिछनेपर तो ऐसी भावना होती है कि अबतक मेरे जो प्रयत्न कल्याणके किये थे, वे सब निष्फल थे—अशुके बिना छोड़े हुए बगलकी तरह थे, परन्तु अब स्फुरणका अर्पण संयोग मिला है, तो वह मेरे सब साधनोंक सफल होनेका हेतु है। शोक-प्रसंगमें रह कर अबतक जो निष्फल—कष्टाहित साधन किये हैं, अब उस प्रकारसे स्फुरणके संयोगमें म करते हुए अन्तर-अन्तरमें विचारकर दृढ़ परिणाम रखकर, जीवको इस संयोगमें—बचनमें जागृत होना योग्य

है—जागृत रहना योग्य है और उस उस प्रकारसे भावना करके जीवको दृढ़ करना चाहिये, जिससे उसको प्राप्त हुआ संयोग निष्कल म भ्रष्टा जाय, और सब प्रकारसे आत्मामें यही गड़ बसाना चाहिये कि इस संयोगसे जीवको अपूर्व फलका होना योग्य है। उसमें अतयाय करमेवाले—

“ मैं जानता हूँ ’ यह मेरा अभिमान,

बुद्ध-धर्म, और जिसे करते हुए चले जाते हैं उस क्रियाका कैसे त्याग किया जा सकता है, ऐसा जोक-मय,

सत्पुरुषकी मक्ति आदिमें भी कौनिक मात्र

आर कदाचित् किसी पञ्चविषयाकार कर्मको ज्ञानीके उदयमें देखकर उस तरहके भावनात्मक आश्रय करना ”—इत्यादि जो मेर हैं, वही अनन्तानुबन्धी ब्रजे, मान, माया, जेम है। इस मेरको विशेषरूपसे समझना चाहिये। फिर भी इस समय जितना सिखा जा सका उतना सिखा है।

उपशम, क्षयोपशम और ध्यायिक सम्पत्तिको किये संश्लेषमें जो व्याख्या कही गयी, उससे मिलती हुई व्याख्या के स्मरणमें है।

जहाँ जहाँ इस जीवने जन्म लिया है—मनके रूप धारण किये हैं, जहाँ जहाँ तयाप्रकारके अभिमानसे ही इस जीवने आचरण किया है—जिस अभिमानको निवृत्त किये बिना ही इस जीवने उस उस देहका और देहके संबन्धमें जानेवाले परार्थोंका त्याग किया है; अर्थात् अभी तक उस मानको उस ज्ञान-विचारके द्वारा गड़ नहीं किया, और ये वे पूर्व सञ्चारे इस जीवके अभिमानमें बनी बैसीकी बैसी ही पड़ती बठी आती हैं—यही इसे समस्त जोककी अधिकरण कियेका हेतु कहा है।

४३४

बर्मा मास सुदी ४ सोम १९५०

कबीर साहबके दो पद और आरिजसागरके एक पदको उन्हीं निर्मयतासे कहा है, यह जो लिखा है उसे पढ़ा है। श्रीआरिजसागरके उस प्रकारके बहुसे पद पढ़िसे भी पढ़नेमें आवे हैं। बैसी निर्मय बानी मुमुक्षु जीवको प्राय धर्म-मुक्त्यर्थमें बखाना बनाती है। हमारे हाथ उस प्रकारके पद अपना काम्य रख हुए देखनेकी जो तुम्हारी इच्छा है उसे हाथमें उपरान्त करना ही योग्य है। क्योंकि हाथमें बैठे पद जीवने-विचारने अपना बनानेमें उपयोगका प्रवेश नहीं हो सकता—छायाके समान भी प्रवेश नहीं हो सकता।

४३५

बर्मा मास सुदी ४ सोम १९५०

(१)

तुम्हारी विद्यमानतामें प्रयत्नके हेतुकी तुम्हें जो विशेष जिज्ञासा है, और यदि वह हेतु उत्पन्न हो तो तुम्हें या अतीत हर्ष उत्पन्न होगा उस विशेष जिज्ञासा और अतीत हर्षसंबन्धी तुम्हारी चित्त चरित्र हम समझते हैं।

अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर—तथा वे जीव अपना कल्याण करते हैं अथवा अपना कल्याण होगा, इस प्रकारकी भावनासे अथवा इच्छासे, उन्हें अज्ञान-मार्ग प्राप्त करते हुए देखकर—उसके जिये अत्यंत करुणा होती है, और किसी भी प्रकारसे इसे दूर करना ही योग्य है, ऐसा हो जाता है। अथवा उस प्रकारका मात्र चित्तमें बैसाका बैसा ॥ रखा करता है, फिर भी वह जिस प्रकार होने योग्य होगा उस प्रकारसे होगा, और जिस समय वह बात होने योग्य होगी उस समय होगी—यह बात भी चित्तमें रखा करती है। क्योंकि उस करुणामावका चित्तवन करते करते आत्मा बाह्य माहात्म्यका सेवन करे, ऐसा होने देना योग्य नहीं, और अभी कुछ उस प्रकारका मय रखना योग्य लगाता है। हाकमें तो प्राय दोनों ही बातें नित्य विचारनेमें आती हैं, फिर भी बहुत समीपमें उसका परिणाम आना समझ नहीं माझ्म होता, इसलिये जहाँतक कना कहींतक तुम्हें नहीं सिखा अथवा कहा नहीं है। तुम्हारी इच्छा होनेसे वर्तमानमें जो स्थिति है, उसे इस सर्वधर्म संश्लेषसे लिखी है; और उससे तुम्हें किसी भी प्रकारसे उदास होना याग्य नहीं, क्योंकि हमें वर्तमानमें उस प्रकारका उदय नहीं है, परन्तु हमारा अहम परिणाम उस उदयको अल्प-कालमें ही दूर करनेकी ओर है। अर्थात् उस उदयकी काष्ठ-स्थिति किसी प्रकारसे अधिक इकतासे केदत करनेसे घटती हो तो उसे घटानेमें ही रहती है। बाह्य माहात्म्यकी इच्छा अहमको बहुत समयसे नहीं बैसी ही हो गई है। अर्थात् बुद्धि बाह्य माहात्म्यको प्राय इच्छा करती हुई नहीं माझ्म होती, फिर भी बाह्य माहात्म्यके कारण, जीव जिससे थोड़ा भी परिणाम-भेद प्राप्त न करे, ऐसी स्वस्थतामें कुछ न्यूनता कबली योग्य है और उससे जो कुछ मय रहता है, वह तो रहता ही है; जिस भयसे द्रुत ही मुक्ति होगी, ऐसा माझ्म होता है।

(२)

प्रश्न—यद्यपि सोनेकी आकृतियाँ सुनी सुनी होती हैं, परन्तु यदि उन आकृतियोंको आगमें डाल दिया जाय तो वे सब आकृतियाँ मिटकर एक केवल सोना ही अवशेष रह जाता है, अर्थात् सब आकृतियाँ जुने जुने द्रव्यत्वका त्याग कर देती हैं, और सब आकृतियोंकी आतिका सज्जातीयता होनेसे वे मात्र एक सोनेरूप द्रव्यत्वको प्राप्त होती हैं। इस तरह द्रव्यत्व अस्मत्कार आत्माकी मुक्ति और द्रव्यके सिद्धांतके ऊपर जो प्रश्न किया है, उस संबंधमें संश्लेषमें निम्न प्रकारसे कहना योग्य है।

उत्तर:—सोना औपचारिक द्रव्य है, यह जिनमगलामका अभिप्राय है; और जब वह अनंत परमाणुओंके समुदायरूपसे रहता है, तब चक्षुगोचर होता है। उसके जो जुदा जुदा आकार बन सकते हैं, वे सब संयोगसे होनेवाले हैं, और उनका जो पीछेसे एकत्त्व किया जा सकता है वह भी उही संयोगजन्य है। परन्तु यदि सोनेके मूल स्वस्वका विचार करते हैं तो वह अनंत परमाणुओंके समुदाय है। जो प्रत्येक अलग अलग परमाणु हैं, वे सब अपने अपने स्वस्वमें ही रहते हैं। कोई भी परमाणु अपने स्वस्वको छोड़कर दूसरे परमाणुओंसे किसी भी तरह परिणमन करने योग्य नहीं, मात्र उन सबके सजातीय होनेके कारण और उनके ऐसी गुण होनेके कारण उस ऐसीक सम्मिलन सपाममें उनका मिटना हो सकता है, परन्तु वह मिटना कोई इस प्रकारका नहीं कि जिसमें किसी भी परमाणुने

अपने स्वल्पका त्याग कर दिया हो। करोड़ों प्रकारसे उन अनंत परमाणुका सोनेके आकारोंको परि एक स्वरूप करो तो भी वे सब परमाणु अपने ही स्वरूपमें रहते हैं; अपने इन्ध्र, क्षेत्र, काक और भावको नहीं छोड़ते, क्योंकि वह होना किसी भी तरहसे अनुभवमें नहीं आ सकता।

उस सोनेके अनंत परमाणुओंकी तरह सिद्धोन्नी अनंतकी अवगाहना गिनो तो कोई बाधा नहीं है, परन्तु उससे कुछ कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवकी साथ केवल एकस्वरूपसे मिल गया है, यह बात नहीं है। सब अपने अपने मार्गमें स्थितिपूर्वक हो रह सकते हैं। जीवकासे जीवकी एक जाति हो, इस कारण कोई एक जीव अपनापन त्याग करके दूसरे जीवोंके समुदायमें मिलकर स्वल्पका त्याग कर दे, इसका क्या हेट है? उनके निकले इन्ध्र क्षेत्र, काक, भाव, कर्मवच और मुख्यवस्था, वे जानासे मिश्र हैं, और यदि फिर जीव मुख्यवस्थामें, उस इन्ध्र, क्षेत्र, काक और भावका त्याग कर दे तो फिर उसका अपना स्वरूप ही क्या रहा? उसका अनुभव ही क्या रहा? और अपने स्वरूपके मग्न हो जानेसे उसकी कर्मसे मुक्ति हुई अपना अपने स्वरूपसे ही मुक्ति हो गई! इस भेदका विचार करना चाहिये। इत्यादि प्रकारसे निगमगान्धने सर्वथा एकत्वका निषेध किया है।

४३६

तीर्थकारने सर्वसंगको महाभक्तकम कहा है, यह सत्य है।

इस प्रकारकी मित्र गुणस्थान जसी स्थिति कबतक रखनी चाहिये? वो बात चित्तमें नहीं है उसे करना और वो चित्तमें है उसमें उदात्त रहना, यह व्यवहार किस तरह हो सकता है?

वैश्य-वेषसे और निर्मयभावसे रहते हुए छोटाकोटी विचार हुआ करते हैं।

वेध और उस वेस्संकी व्यवहारको देखकर कोकट्टि उस प्रकारसे माने यह ठीक है, और निर्मयभावसे रहनेवाले चित्त उस व्यवहारमें पर्याय प्राप्ति न कर सके यह भी सत्य है। इसलिये इस तरहसे दो प्रकारकी एक स्थितिपूर्वक वर्तन नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रथम प्रकारसे रहते हुए निर्मयभावसे उदात्त रहना यदि तो ही पर्याय व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और यदि निर्मय भावसे रहे तो फिर वह व्यवहार काहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी ही योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाय तो निर्मयभावकी प्राप्ति हुए बिना न रहे।

उस व्यवहारके त्याग किये बिना वधवा अर्थात् अव्य किये बिना पर्याय निर्मयता नहीं रहती, और उदात्तकम होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता।

इस सब विमल-योगके दूर हुए बिना इगारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं छगता।

यह विमल-योग दो प्रकारका है—एक पूर्वमें मिश्रण किया हुआ उदात्तस्वरूप, और दूसरा आत्मसुखपूर्वक उदात्तचित्त किया जाता हुआ मातस्वरूप।

आत्मभावपूर्वक विमलसुखकी योगकी उपेक्षा ही भेषकर माहूम होती है। उसका नित्य ही विचार किया जाता है। उस विमलकासे रहनेवाले आत्मभावको बहुत कुछ परिशील्य कर दिया है, और जमी भी यही परिणति रहा करती है।

उस सम्पूर्ण विमान-योगके निवृत्त किये बिना चित्त विग्रसि प्राप्त करे, ऐसा नहीं मायूम होता; और हृस्ममें तो उस कारणसे विशेष ज्ञेय ही सहन करना पड़ता है । क्योंकि उदय तो विमान-क्रियाका है, और इच्छा आश्रयमात्रमें स्थिति करनेकी है ।

फिर भी ऐसा रखा करता है कि यदि उदयकी विशेष काष्ठतक प्रवृत्ति रहे तो आश्रयमात्र विशेष बन्धन परिणामको प्राप्त होगा । क्योंकि आश्रयमात्रके विशेष अनुसंधान करनेका अवकाश उदयकी प्रवृत्तिके कारण प्राप्त नहीं हो सकता, और उससे वह आश्रयमात्र कुछ शिथिलताको प्राप्त होता है ।

जो आश्रयमात्र उत्पन्न हुआ है, उस आश्रयमात्रपर यदि विशेष लक्ष्य किया जाय तो अन्य काष्ठमें ही उसकी विशेष वृद्धि हो, और विशेष जागृत अवस्था उत्पन्न हो, और योद्धा ही काष्ठमें हितकारी उक्त आश्रय-दशा प्रगट हो, और यदि उदयकी स्थितिके अनुसार ही उदय-काष्ठके रहन देनेका विचार किया जाय तो अब आश्रय-शिथिलता होनेका प्रसंग आवेगा, ऐसा ख्याता है । क्योंकि दीर्घ काष्ठका आश्रयमात्र होनेसे इस समयतक चाहे जैसा उदय-बन्ध होनेपर भी वह आश्रयमात्र नष्ट नहीं हुआ, परन्तु कुछ कुछ उसकी अजागृत अवस्था हो जानेका समय आया है । ऐसा होनेपर भी यदि अब केवल उदयपर ही ध्यान दिया जायगा तो शिथिलता उत्पन्न होगी ।

ज्ञानी-पुरुष उदयके बन्ध होकर वेदादि धर्मकी निवृत्ति करते हैं । यदि इस तरह प्रवृत्ति की हो तो आश्रयमात्र नष्ट न होना चाहिये । इसलिये उस बातका लक्ष्यमें रखकर उदयका वेगन करना योग्य है, ऐसा विचार करना भी अब योग्य नहीं । क्योंकि ज्ञानके सारतत्त्वकी अपेक्षा यदि उदय-बन्ध बढ़ता हुआ देखनेमें आवे तो नहीं ज्ञानीको भी जरूर जागृत दशा करनी योग्य है, ऐसा श्रीसर्वज्ञने कहा है ।

यह अत्यंत दुःख काष्ठ है इस कारण, और हत-पुण्य लोगोंने इस मरत-क्षेत्रको घेर रक्खा है इस कारण, परम सत्संग, सत्संग अपना सरल परिणामी जीवोंका समागम मित्रता भी दुर्लभ है, ऐसा मानकर जैसे अन्य काष्ठमें सावधान हुआ जाय, वैसा करना योग्य है ।

४३७

क्या मीनदशा धारण करनी चाहिये ?

व्यवहारका उदय ऐसा है कि जिस तरह वह धारण की हुई दशा लोगोंका कपायका निमित्त हो, वैसा व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

तब क्या उस व्यवहारको छोड़ देना चाहिये ?

यह भी विचार करनेसे कठिन मायूम होता है । क्योंकि उस तरहकी कुछ स्थितिके वेगन करनेका चित्त रखा करता है, फिर यह चाहे शिथिलतासे हो, उत्पन्न हो, परेशमसे हो अथवा जमा सर्वज्ञ दत्ता है उससे हो । ऐसा होनेपर भी अन्य काष्ठमें व्यवहारका घटनेमें ही चित्त है ।

वह व्यवहार किस प्रकारसे धनया जा सकेगा ?

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे धननेमें आता है । व्यापारस्वरूपसे, कुटुम्ब-प्रतिबन्धसे, प्रशासना-प्रतिबन्धसे, दयात्मकतासे, विकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे—इत्यादि धारणोंसे वह व्यवहार विस्ताररूप मायूम होता है ।

मैं ऐसा मानता हूँ कि जब अनन्तरात्मसे आप्राप्तकी तरह आत्मस्वरूपको केवलज्ञान केवलदर्शन-स्वरूपसे अंतर्मुखित हो उत्पन्न कर लिया है, तो फिर वर्ष—यह मासको समयमें इतना यह व्यवहार कैसे न निवृत्त हो सकेगा ! उसकी स्थिति केवल वागुक्तिके उपयोगांतरसे है, और उस उपयोगके बलका नित्य ही विचार करनेसे व्यर्थ काजमें यह व्यवहार निवृत्त हो सकने योग्य है । तो भी उसकी किस प्रकारसे निवृत्ति करनी चाहिये, यह अभी विशेषरूपसे मुझे विचार करना योग्य है, ऐसा मानता हूँ । क्योंकि दीर्घसंवादी दशा कुछ मंद रहती है । उस मंद दशाका क्या होय है ?

उसके बलसे ऐसा परिचय—मात्र परिचय ही—प्राप्त हुआ है, ऐसा कहनेमें क्या कोई कष्ट है ! उस परिचयकी विशेष—अति विशेष अवधि रहती है । उसके होनेपर भी परिचय करना पड़ा है । यह परिचयका दोष नहीं कहा जा सकता, परन्तु निश्चय ही दोष कहा जा सकता है । अस्मिन् होनेसे इच्छाका दोष न कहकर उदयरूप दोष कहा है ।

४३८

बहुत विचार करके निश्चयसे समाधान होता है ।

एकलक्ष इष्य एकलक्ष क्षेत्र एकलक्ष काक और एकलक्ष मानस संयमकी आपाधना किये बिना चित्तकी शान्ति न होगी, ऐसा कहा है—ऐसा निश्चय रहता है ।

उस योगका अभी कुछ दूर होना संभव है, क्योंकि उदयका वह देखनेपर उसके निवृत्त मोहेतक कुछ विशेष समय होगा ।

४३९

अभि अप्यगो वि वैर्मि, नापरंति मयार्थं

—(महाभारत पुरुष) अपनी देहमें भी मग्न नहीं करते ।

४४०

काम, मान और कसौबाकी इन तीनोंका विशेष संयम करना योग्य है ।

४४१

हे जीव ! असारमृत जगन्मोहाके इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो निवृत्त ।

उस व्यवसायके करनेमें जादे निरुता मज्जान प्रारब्धोदय विस्तार देता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

यद्यपि श्रीसर्वज्ञने ऐसा कहा है कि जीवहमें गुणस्वानमें रहनेवाला जीव भी प्रारब्धके केवल किये बिना मुक्त नहीं हो सकता, तो भी तू उस उदयका आश्रयस्वरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अप्रपंत टीकासे विचार करके उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

मात्र केवल प्राप्त हो, और दूसरी कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारम्भ सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है। परन्तु वह केवल प्रारम्भ उसी समय कहा जा सकता है जब प्राणोंके अंततक भी निष्कामेद-दधि न हो, और तबसे सभी प्रसंगोंमें ऐसा होता है, इस प्रकार जबतक सम्पूर्ण निश्चय न हो जबतक यही भ्रमस्वरूप है कि उसमें त्याग बुद्धि करनी चाहिये। इस बातका विचार करके, हे जीव ! अब तू अन्य कामों ही निवृत्त हो, निवृत्त !

४४२

हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिकर काळकी प्रतिष्ठा कर, प्रतिष्ठा !

यदि सर्वथा संग-निवृत्तिकर प्रतिष्ठाका विशेष अवकाश देखनेमें आवे तो एकदेश संग निवृत्तिकर इस व्यवसायका त्याग कर।

जिस ज्ञान-दशामें त्याग-अत्याग कुछ भी समझ नहीं, उस ज्ञान-दशाकी जिसमें सिद्धि है, ऐसा तू सर्वसंग त्याग दशाका यदि कल्प काळमें ही वेदन करेगा, तो यदि तू सम्पूर्ण जगत्के समागममें रहे तो भी तबसे वह बाधरूप न हो, इस प्रकारसे आचरण करनेपर भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है, क्योंकि कल्पम आदि सब परम पुरुषोंने अतमें ऐसा ही किया है।

४४३

बम्बई, मध्य सुदी १० रवि १९५०

यह ज्ञानमात्र है और यह अन्यमात्र है, इस प्रकार जोष-बीनके ज्ञानमें परिणमित होनेसे अन्यमात्रमें स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उस अन्यमात्रसे सर्वथा मुक्त करती है। इसके पश्चात् जिसने निज और परके भावको जान लिया है ऐसे ज्ञानी-पुरुषको पर-भावके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है, उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी उससे उस ज्ञानीका स्वयं छूट ही करता है, उसमें हित-बुद्धि होकर प्रतिबन्ध नहीं होता।

प्रतिबन्ध नहीं होता, यह बात एकांत नहीं है। क्योंकि जहाँ ज्ञानका विशय प्राप्त न हो, वहाँ पर-भावके विशेष परिचयका उस प्रतिबन्धरूप हो जाना भी समझ होता है और इस कारण भी श्रीमद्भिन जगद्गुरुने ज्ञानी-पुरुषके लिये भी निज ज्ञानसे स्वयं रखनेवाले पुरुषार्थका बखान किया है। उसे भी प्रमाद करना योग्य नहीं, क्योंकि पर-भावका परिचय करना योग्य नहीं, क्योंकि वह भी किसी अंशसे ज्ञान-मात्रको प्रतिबन्धरूप करे जाने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमाद बुद्धि समझ नहीं है, ऐसा यद्यपि सामान्यरूपसे श्रीमद्भिन आदि महात्माओंने कहा है, तो भी उस पदको चाहे गुणस्थानसे समझ नहीं माना, उसे जागे जाकर ही समझित माना है। जिससे विचारवान जीवको तो अवश्य ही जैसे बने जैसे पर-भावका परिचित कार्यसे दूर रहना—निवृत्त होना ही योग्य है।

प्रायः करके विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती है। फिर भी किसी कारणसे —

पर-मात्रका परिचय ब्रह्मज्ञानरूपसे उदयमें हो तो निज-एक बुद्धिमें स्थिर रहना कठिन है, ऐसा मानकर निम्न ही निवृत्त होनेकी बुद्धिकी विशेष माचना करनी चाहिये ऐसा महात्मा पुरुषोंने कहा है।

कल्प काष्ठमें अग्न्यावाध स्थिति हमेंके छिये तो अत्यन्त पुरुषार्थ करके जीवको पर-परिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है। धीमे धीमे निवृत्त होनेके कारणोंके ऊपर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकारसे शीघ्रतसे निवृत्ति हो जाय उस विचारको करना चाहिये। और वैसा करते हुए यदि कदाता वादि वायसि-योगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी पर-परिचयसे शीघ्रतसे दूर होनेका मार्ग प्रद्वेष करना चाहिये—यह बात भूक्त ज्ञाने योग्य नहीं।

ज्ञानकी ब्रह्मज्ञान सारतत्पत्ता होनेपर तो जीवको पर-परिचयमें कभी भी स्वात्मबुद्धि होना सम्यग नहीं, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञान-ब्रह्मसे उसे एकतरफ़से ही विहार करना योग्य है। परन्तु जिसकी उससे निज दशा है, ऐसे जीवको तो अवश्य ही पर-परिचयका संदेन करके उत्सर्ग करना चाहिये; जिस उत्सर्गसे सदा ही अग्न्यावाध स्थिति का अनुभव होता है।

ज्ञानी-पुरुष—जिस एकदममें विचारते हुए भी प्रतिबन्ध सम्यग नहीं—भी उत्सर्गकी निरन्तर इच्छा रहता है। क्योंकि जीवको यदि अग्न्यावाध समाधिकी इच्छा हो तो उत्सर्गके समान अन्य कोई भी सदा उपान नहीं है।

इस कारण दिन प्रतिदिन प्रत्येक प्रसंगमें बहुत बार प्रत्येक क्षणमें उत्सर्गके आशयन करनेकी ही इच्छा बुद्धिगत हुआ करती है।

४४४

कर्म, मध्य कवी ५ गुप्त १९५

ॐ

योगवासिष्ठ आदि जो जो श्रेष्ठ पुरुषोंके वचन हैं, वे सब अद्वैतिका प्रतीकार करनेके छिये ही हैं। जिस जिस प्रकारसे अपनी भ्रांति कल्पित की गई है, उस उस प्रकारसे उस भ्रांतिको समझकर उत्सर्गकी अभिमालको निवृत्त करना यही सब तीर्थकर महात्माओंका कथन है; और उसी वाक्यके उत्तर जीवको विशेषरूपसे स्थिर होना है—विशेष विचार करना है और उसी वाक्यको मुख्यरूपसे अनुप्रेक्षण करना योग्य है—उसी कार्यकी सिद्धि के छिये ही सब साधन कहे हैं। अद्वैति आदिके बहनेके छिये, बाधा किया जपना बतके लक्षणके छिये सम्प्रणाय चरानेके छिये जपना पूजा-आषा प्राप्त करनेके छिये किसी महापुरुषका कोई उपदेश नहीं है और उसी कार्यको करनेकी ज्ञानी पुरुषकी सर्वथा अज्ञा है। अपनी वात्सल्यमें प्रादुर्भूत प्रशस्तनीय गुणोंसे उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नहीं, परन्तु अपने अल्प होयको भी देखकर फिर फिरसे पश्चात्ताप करना ही योग्य है और अप्रमाद भावसे उससे पीछे फिरना ही उचित है यह उपदेश ज्ञानी-पुरुषके वचनमें सर्वत्र उपस्थित है। और उस भावके प्राप्त होनेके छिये उत्सर्ग उत्तुङ्ग और उत्प्राप्त आदि जो साधन कहे हैं वे अपूर्व निमित्त हैं।

जीवको उस साधनकी आशयना निवृत्तरूपक प्राप्त करनेके कारणरूप ही है परन्तु जीव यदि जहाँ भी वचना-बुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी भी कल्याण न हो। वचना-बुद्धि अर्थात् उत्सर्ग उत्तुङ्ग आदिने

सबे आत्मभावस जो माहात्म्य बुद्धि करना योग्य है, उस माहात्म्य बुद्धिका न होना, और अपनी आत्माको अज्ञानता ही रहती चली आई है, इसलिये उसकी अन्यव्रता—सधुता विचारकर अज्ञातमात्र बुद्धि नहीं करना । उसका (माहात्म्यबुद्धि आदि) ससंग-सद्रूप आदिमें आभाषन नहीं करना भी बचना-बुद्धि है । यदि जीव वहाँ भी खपुता धारण न करे तो जीव प्रत्यक्षरूपसं मन्-अमणसे मयमात नहीं होता, यही विचार करने योग्य है । जीवको यदि प्रथम इस बातका अधिक उक्त हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहज ही सिद्ध होना समझ है ।

४४५

बम्बई, आसोज सुनी ११ सुब १९५०

जिसे स्वप्नमें भी ससार-सुखकी इच्छा नहीं रही, और जिसे ससारका सम्पूर्ण स्वरूप निस्तारमूल प्राप्त हुआ है, ऐसा ज्ञानी-पुरुष भी बारबार आत्मावस्थाका बारम्बार स्मरण कर करके जो प्रारम्भका उदय हो उसका केन करता है, परन्तु आत्मावस्थामें प्रमाद नहीं होने देता । प्रमादके अवकाश-योगमें ज्ञानीको भी किसी अशमें ससारस आ व्यामोहका समझ होना कष्ट है, उस ससारमें साधारण जीवकी रहत हुए, औक्तिक भावसे उसके व्यवसायको करते हुए आत्म-हितकी इच्छा करना, यह न जाने जैसा ही कार्य है । क्योंकि आत्मिक भावके कारण वहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ दूसरी तरहसे हित-विचार होना संभव नहीं । यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना संभव है । अहितक हेतुमूल ससारसबकी प्रसंग, औक्तिक-भाव, ओक्त-वेष्टा, इन सबकी सैमात्माका जैसे बने उसे दूर करके—उसे कम करके—आत्म-हितको अवकाश देना योग्य है ।

आत्म-हितके लिये ससंगके समान दूसरा कोई बखान् निमित्त माध्यम नहीं होता । फिर भी उस ससंगमें भी जो जीव आत्मिक भावसे अवकाश नहीं देता, उसे प्रायः यह निष्पन्न ही होता है, और यदि सहज ससंग पड़बाल हुआ हो तो भी यदि विशेष-अनि विचार आकाशेश रहता हो तो उस पड़क निर्मूल हो जानेमें दर नहीं लगती । तथा भी, पुत्र, आरम, परिष्क प्रसंगमें यदि निवृत्ति-बुद्धिको इतनेका प्रयास न किया जाय तो ससंगका पड़बाल होना भी कैसे संभव हो सकता है ! जिस प्रसंगमें महाज्ञानी पुरुष भी सैमक सैमकर चमते हैं उसमें फिर इस जीवको तो अप्यत अप्यत सैमात्पूर्वक—मूलतःपूर्वक चमत्ता चाहिये, यह बात कभी भी भूलन योग्य नहीं है । ऐसा निश्चय करके, प्रत्येक प्रसंगमें, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक परिणाममें उसका उक्त स्मरण जिससे उसस सुखाय हो जाय उसी तरह करते रहना, यह हमन अधिर्मानमान्यमीकी उद्यम्य मुनिधर्मीके इशारेस कहा या ।

४४६

बम्बई आमात्र ११ सुब १०५०

(१)

‘मगत् बगपत्की सैमाय करेगा पर उसी समय करेगा जब जीव अज्ञा अहमाय छोड़ देगा,’ इस प्रकार जो मद्रवनीस बचन है, वह भी विचार करनेस हितकारी है ।

(२)

एग, द्वेप और अहानका आत्यंतिक अमान्य करके जो सहज छुड़ आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया है वह स्वल्प हमारे स्मरण करनेके, ध्यान करनेके और पानेके योग्य स्थान है ।

(३)

सर्वज्ञ-प्रकाश ध्यान करो ।

४४७

ॐ

बम्बई, आसोब बरी ६ रानि १९५०

सत्यरूपको नमस्कार

आहमायीं, गुणग्राही ससंज्ञ-योग्य माई श्रीमोहनकाकके प्रति श्री वरचन, श्री बम्बई स्थिति श्रीमनुजकाके इच्छुक उपपन्नका आत्मस्वरूपके पदात्मोप पौष्टि ।

तुम्हारे किछे हुए पत्रमें जो आत्म आत्मिक निपटमें प्रमन हैं, और जिन प्रश्नोंके उत्तर जान मेरी तुम्हारे चित्तमें विशेष अक्षरता है, उन दोनोंके प्रति मेरा सहज सहज अनुमोदन है । परन्तु जिस समय तुम्हारा वह पत्र मुझे मिला उस समय मेरी चित्तकी स्थिति उसका उत्तर किछ सकने कैसी न थी, और प्राय बैसा होनेका कारण भी यह था कि उस प्रसंगमें बाध्योपधिके प्रति निष्ठप वैरूप्य परिणाम प्राप्त हो रहा था । इस कारण उस पत्रका उत्तर किछने जैसे कार्यमें भी प्रवृत्ति हो सकना संभव न था । योही समयके पश्चात् उस वैरूप्यमेंसे अक्षरता केकर भी तुम्हारे पत्रका उत्तर किछीगा, ऐसा विचार किया था । परन्तु पीछेसे बैसा होना भी असंभव हो गया । तुम्हारे पत्रकी पहुँच भी मेरे न सिम्बी थी, और इस प्रकार उत्तर किछ मेजनेमें जो निम्न्य हुआ, इससे मेरे मनमें खेद हुआ था, और इसमेंका बहुतक मात्र अवगत भी रहा करता है । जिस अवसरपर निष्ठप करके यह खेद हुआ उस अवसरपर यह सुननेमें आया कि तुम्हारा विचार ठुल ही इस देशमें बनेका है । इस कारण कुछ चित्तमें ऐसा आया कि तुम्हें उत्तर किछनेमें जो निम्न्य हुआ है वह भी तुम्हारे समागम होनेसे विशेष लाभकारक होगा । क्योंकि केवलशुच बहुते उत्तरोका समझाना कठिन था; और तुम्हें पत्रके तुरत ही न मिल सकनेके कारण तुम्हारे चित्तमें जो अक्षरता उत्पन्न हुई, वह समागम होनेपर उत्तरकी तुरत ही समाप्त सकनेके लिये एक बेध कारण मानने योग्य था । अब प्रारम्भके उदयसे अब समागम हो तब कुछ भी उस प्रकारकी ज्ञान-वार्ता होनेका प्रसंग आये, वह जाग्रता एकर संज्ञामें तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर लिखता हूँ । इन प्रश्नोंके उत्तरोंका विचार करनेके लिये निरंतर उत्सर्गशी विचारकम अन्व्यासकी आवश्यकता है । वह उत्तर लक्ष्यमें लिखा गया है, इस कारण बहुतसे सीखोंकी निष्ठि होना तो कदाचित् कठिन होगी तो भी मेरे चित्तमें ऐसा पछता है कि मेरे बचनोंमें तुम्हें कुछ भी विशेष विचार है, इससे तुम्हें भीरज रह सकेगा, और वह प्रश्नोंके पदात्मोप सम्यक्ता होनेका अनुपपत्ति कारणभूत होगा, ऐसा मुझे लगा है । तुम्हारे पत्रमें २७ प्रस हैं, उनका उत्तर सद्यमें नीचे लिखता हूँ—

१ प्रश्नः—आत्मा क्या है ? क्या वह कुछ करती है ? और-उसे कर्म हुआ देता है या नहीं ?

उत्तर—(१) जैसे घट पट आदि जब वस्तुमें हैं, उसी तरह आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घट पट आदि अनित्य हैं—त्रिकात्ममें एक ही स्वरूपसे स्थिरतापूर्वक रह सकनेवाले नहीं हैं। आत्मा एक स्वरूपसे त्रिकात्ममें स्थिर रह सकनेवाली नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे न हो सकती हो वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोगसे उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मान्य नहीं होता। क्योंकि जबके चाहे कितने भी संयोग क्यों न करो तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो धर्म जिस पदार्थमें नहीं होता, उस प्रकारके बहुतसे पदार्थोंके इच्छे कर भेदे भी उसमें जो धर्म नहीं है, वह धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसा सबको अनुभव हो सकता है। जो घट, पट आदि पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप देखनेमें नहीं आता। उस प्रकारके पदार्थोंका यदि परिणामांतर पूर्वक संयोग किया हो अथवा संयोग हुआ हो, तो भी वह उसी तरहकी अविक्रम होता है, अर्थात् वह जड़स्वरूप ही होता है, ज्ञानस्वरूप नहीं होता। तो फिर उस तरहके पदार्थोंका संयोग होनेपर आत्मा अथवा जिसे ज्ञानी-मुक्त मुक्त्य 'ज्ञानस्वरूप कश्चिन्मुक्त' कहते हैं, उस प्रकारके (घट पट आदि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) पदार्थोंके किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नहीं। 'ज्ञानस्वरूप', यह आत्माका मुख्य क्खण है, और जबका मुख्य क्खण 'उसके अभावस्वरूप' है। उन दोनोंका क्खण स्वरूप स्वभाव है। ये, तथा इसी तरहके दूसरे हजारों प्रमाण आत्माको 'नित्य' प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करनेपर निष्कर्षसे सदाज्ञस्वरूप आत्मा अनुभवमें भी आती है। इस कारण कुछ-कुछ व्यक्ति योगनेवाले, उससे निवृत्त होनेवाले, विचार करने वाले, प्रेरणा करनेवाले इत्यादि मात्र जिसकी विद्यमानतासे अनुभवमें आते हैं, ऐसी वह आत्मा मुख्य चेतन (ज्ञान) क्खणसे युक्त है। और उस भावसे (स्थितिसे) वह सब काममें रह सकनेवाली 'नित्य पदार्थ' है। ऐसा माननेमें कोई भी दोष अथवा बाधा मान्य नहीं होती, बल्कि इससे स्वयंके स्वोत्तर करनेका गुणकी ही प्राप्ति होती है।

यह प्रश्न तथा दुन्दुहे दूसरे बहुतसे प्रश्न इस तरह हैं कि जिनमें विशेष किन्हीं, कहने और समझानेकी आवश्यकता है। उन प्रश्नोंका उस प्रकारसे उत्तर लिखा जाना चाहिये कि जिनमें कठिन होनेसे प्रश्न दुन्दुहे परस्परानसमुच्चय प्रश्न भेजा जा, जिसके बीचों बीच और विचार करनेसे दुन्दुहे किसी भी वंशमें समाधान हो; और इस पत्रमें भी कुछ विशेष अर्थमें समाधान हो सकता समझ है। क्योंकि इस सबमें जनेक प्रश्न उठ सकते हैं, जिनके फिर-फिरसे समाधान होनेसे, विचार करनेसे समाधान होगा।

(२) ज्ञान दर्शाने—अपने स्वरूपमें यथार्थ बोधसे उत्पन्न हैं दर्शाने—यह आत्मा निज मायाका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निश्चय) और सदाज्ञ-समाधि परिणामका कर्ता है; अज्ञान दर्शाने श्रोत्र, घ्राण, माया, कोम इत्यादि ग्रहणयोग्यता कर्ता है; और उस भावके पराध्या मोक्ष होनेसे प्रकाशका घट पट आदि पदार्थोंका निमित्तस्वरूपसे कर्ता है। अर्थात् घट पट आदि पदार्थोंका मूल इच्छाका वह कर्ता नहीं, परन्तु उसे किसी आकाशमें अनेकम क्रियाका ही कर्ता है। यह जो पाठे रखा गयी है, जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है, वेदान्तदर्शन उसे 'मांति' कहता है, और दूसरे

दर्शन में इससे मिलते जुलते इसी प्रकारके शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे वास्तविक पद वास्तविक तथा बोध आदिका कर्ता नहीं हो सकती, वह केवल निजस्वरूप ज्ञान-परिणामका ही कर्ता है—ऐसा स्पष्ट समझमें आता है।

(१) ज्ञानमात्रसे किए हुए कर्म प्रारम्भ काण्डसे जीवरूप होकर सम्यक्ता योग पाकर फलरूप वृद्धके परिणामसे परिणमते हैं; अर्थात् उन कर्मोंको आत्माको मोगना पड़ता है। जैसे अग्निसे स्पर्शित उष्णताका संबन्ध होता है और वह उसका स्वाभाविक वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे ही आत्माको बोध आदि मात्माके कर्तापनेसे जन्म, जरा, मरण आदि वेदनारूप परिणाम होता है। इस बातका तुम विशेषरूपसे विचार करना और उस संबन्धमें यदि कोई प्रश्न हो तो किञ्चना। क्योंकि इस बातको समझकर उससे निवृत्त होनेका कार्य करनेपर जीवको मोक्ष दशा प्राप्त होती है।

२ प्रश्न—ईश्वर क्या है? वह जगत्का कर्ता है, क्या यह सत्य है?

उत्तर—(१) हम तुम कर्म-बन्धनमें कैसे रहनेवाले जीव हैं। उस जीवका सृजनस्वरूप अर्थात् कर्म रचितपना—मात्र एक आत्मस्वरूप—जो स्वरूप है, यही ईश्वरपना है। जिसमें ज्ञान आदि ऐश्वर्य है वह ईश्वर कहे जाने योग्य है और वह ईश्वरपना आत्माका सृजन स्वरूप है। जो स्वरूप कर्मके कारण मात्मा नहीं होता परन्तु उस कारणको अन्य स्वरूप ज्ञानकर जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, तभी अतुल्यसे सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य उसी आत्मामें मात्मा होता है। और इससे विशेष ऐश्वर्यसुक्त कोई पदार्थ—कोई भी पदार्थ—देखनेपर भी अतुल्यमें नहीं आ सकता। इस कारण ईश्वर आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है। इससे विशेष सत्तासुक्त कोई पदार्थ ईश्वर नहीं है। इस प्रकार निश्चयसे स्पष्ट अभिप्राय है।

(२) वह जगत्का कर्ता नहीं; अर्थात् परमाणु आकाश आदि पदार्थ निरूप ही हैं तत्त्व हैं, वे किसी भी वस्तुमेंसे कल्पने समर्थ नहीं। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेंसे बने हैं तो यह बात भी योग्य नहीं मात्मा होती। क्योंकि यदि ईश्वरको चेतन मानें तो फिर उससे परमाणु, आकाश वगैरह कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? क्योंकि चेतनसे जबकी उत्पत्ति कभी संभव ही नहीं होती। यदि ईश्वरको जब माना जाय तो वह सृजन ही अनैक्यमान ठहरता है। तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। यदि ईश्वरको जब और चेतन सम्यक्ता मानें तो फिर जगत् भी जब-चेतन सम्यक्ता होना चाहिये। फिर तो यह उसका ही दूसरा नाम ईश्वर रखकर सतोप रखने देना होता है। तथा जगत्का नाम ईश्वर रखकर सतोप रख देनेकी अपेक्षा जगत्को जगत् कहना ही विशेष योग्य है। कदाचित् परमाणु आकाश आदिको निरूप मानें और ईश्वरको कर्म आदिके फल हेतुमान मानें, तो भी यह बात सिद्ध होती हुई नहीं मात्मा होती। इस विषयपर पदार्थनिरूपणमें स्पष्ट प्रमाण दिये हैं।

३ प्रश्न—मोक्ष क्या है?

उत्तर—जिस बोध आदि ज्ञानमात्रसे वेद आदिमें आत्माको प्रतिबोध है, उससे सर्वथा निवृत्ति होना—मुक्ति होना—उसे ज्ञानियोग मोक्ष-पद कहा है। उसका बोधसा विचार करनेसे वह प्रमाणमूल मात्मा होता है।

४ प्रश्नः—मोक्ष मिलेगा या नहीं? क्या यह इसी देहमें निश्चितरूपसे जाता जा सकता है?

उत्तर—जैसे यदि एक रस्तीके बहुतसे बंधनोंसे हाथ बाँध दिया गया हो, और उसमेंसे क्रम क्रमसे ज्यों ज्यों बंधन सुलठते जाते हैं त्यों त्यों उस बंधनकी निवृत्तिका अनुभव होता है, और वह रस्ती बख्शीन होकर स्वतंत्रतावाक्यको प्राप्त होती है, ऐसा मादृश होता है—अनुभवमें आता है; उसी तरह आत्माको अज्ञानभावके अनेक परिणामरूप बंधनका समागम लगा हुआ है, वह बंधन ज्यों ज्यों छूटता जाता है, त्यों त्यों मोक्षका अनुभव होता है। और जब उसकी अत्यन्त अल्पता हो आती है तब सहज ही आत्मामें निजभाव प्रकाशित होकर अज्ञानभावरूप बंधनसे छूट सकनेका अवसर आता है, इस प्रकार स्पष्ट अनुभव होता है। तथा सम्पूर्ण आत्मभाव समस्त अज्ञान आदि भावसे निवृत्त होकर इसी देहमें रहनेपर भी आत्माको प्रगट होता है, और सर्व सबचसे केवल अपनी निष्कला ही अनुभवमें आती है, अर्थात् मोक्ष-पद इस देहमें भी अनुभवमें आने योग्य है।

५ प्रश्न—ऐसा पड़नेमें आया है कि मनुष्य, देह छोड़नेके बाद कर्मके अनुसार जानवरोंमें जन्म लेता है; वह पत्थर और वृक्ष भी हो सकता है, क्या यह ठीक है?

उत्तर—देह छोड़नेके बाद उपार्जित कर्मके अनुसार ही जीवकी गति होती है, इससे वह तिर्यक् (जानवर) भी होता है, और पृष्णीकाय अर्थात् पृष्णीरूप शरीर भी धारण करता है, और बाकीकी दूसरी चार इन्द्रियोंके बिना भी जीवको कर्मके भोगनेका प्रसंग आता है, परन्तु वह सर्वथा पत्थर अपना पृथिवी ही हो जाता है, यह बात नहीं है। वह पत्थररूप काया धारण करता है, और उसमें भी अल्पकाल भावसे जीव जीवरूपसे ही रहता है। वहाँ दूसरी चार इन्द्रियोंका अल्पकाल (अप्रगट) पला होनेसे वह पृष्णीकायकम जीव बने जाने योग्य है। कम कर्मसे ही उस कर्मको भोगकर जीव निवृत्त होता है। उस समय केवल पत्थरका दृक् परमाणुरूपसे रहता है, परन्तु उसमें जीवका संवध पञ्च आता है, इसलिये उसे आहार आदि संज्ञा नहीं होती। अर्थात् जीव सर्वथा अङ्ग—पत्थर—ही जाता है, यह बात नहीं है। कर्मकी विषमतासे चार इन्द्रियोंका अल्पकाल समागम होकर केवल एक स्पर्शन इन्द्रियरूपसे जीवको जिस कर्मसे देहका समागम होता है, उस कर्मके भोगते हुए वह पृथिवी आदिमें जन्म लेता है, परन्तु वह सर्वथा पृष्णीरूप अपना पत्थररूप नहीं हो जाता; जानवर होते समय सर्वथा जानवर भी नहीं हो जाता। जो देह है वह जीवका वेधपाटीपना है, स्वरूपपना नहीं।

६-७ प्रश्नोत्तर—इसमें छठे प्रश्नका भी समाधान आ गया है।

इसमें सातवें प्रश्नका भी समाधान आ गया है, कि केवल पत्थर अपना पृष्णी किसी कर्मका कर्त्ता नहीं है। उनमें बाहर उत्पन्न हुआ जीव ही कर्मका कर्त्ता है, और वह भी दूध और पानीकी तरह है। जैसे दूध और पानीका संयोग होनेपर भी दूध दूध है और पानी पानी ही है, उसी तरह एकेश्वर आदि कर्मबंधसे जीवका पत्थरपणा—अवपना—मादृश होता है, तो भी वह जीव अंतरमें तो जीवरूपसे ही है, और वहाँ भी वह आहार भय आदि संज्ञापूर्वक ही रहता है, जो अल्पकाल जैसी है।

८ प्रश्नः—आर्यधर्म क्या है? क्या सबकी उत्पत्ति वेन्दे ही हुई है?

उत्तर — (१) आर्यधर्मकी व्याख्या करते हुए सबके सब अपने अपने पक्षको ही आर्य-धर्म कहना चाहते हैं। जैन जनधर्मको, बौद्ध बौद्धधर्मको, वेदाती वेदांतधर्मको आर्यधर्म करें, वह साधारण बात है। फिर भी ज्ञानी-पुरुष तो जिससे आत्माको निज स्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग है उसे ही आर्यधर्म कहते हैं, और ऐसा ही योग्य है।

(२) सबकी उत्पत्ति केदमेंसे होना समझ नहीं हो सकता। केदमें ब्रितना ज्ञान कहा गया है उससे हजार गुना आश्चर्यपूर्ण ज्ञान औत्तोर्यकर आदि गूढ़ज्ञानको कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें जाता है और इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि व्यक्त वस्तुमेंसे सम्पूर्ण वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण केदमेंसे सबकी उत्पत्ति मानना योग्य नहीं है। हाँ, वैष्णव आदि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति उसके आग्रहसे माननेमें कोई बाधा नहीं है। जैन बौद्धके अन्तिम मन्त्रावर आदि मन्त्रात्मको पूर्व केद विद्यमान थे, ऐसा मान्न होता है। तथा केद बहुत प्राचीन प्रप है, ऐसा भी मान्न होता है। परन्तु जो कुछ प्राचीन हो वह सब सम्पूर्ण हो जपना सत्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता तथा जो धर्मोत्पत्ति उत्पन्न हो वह सब असम्पूर्ण और असत्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। बाकी तो केदके समान अग्निप्राय और जैनके समान अग्निप्राय अनादिसे कहा जा रहा है। सर्व मातृ अनादि ही हैं, मात्र उनका रूपान्तर हो जाता है; सर्वथा उत्पत्ति कथना सर्वथा नास्त नहीं होता। केद, जैन, और दूसरे सबके अग्निप्राय अनादि हैं, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है फिर उसमें किस बातका विवाद हो सकता है। फिर भी इन सबमें विशेष बलवान् सत्य अग्निप्राय किस्तका मानना योग्य है, इसका हमें अपने सबको विचार करना चाहिये।

९ प्रश्न.—केद किस्तने बनाये? क्या वे अनादि हैं? यदि केद अनादि हों तो अनादिता क्या अर्थ है?

उत्तर — (१) केदोंकी उत्पत्ति बहुत समय पहिले हुई है।

(२) पुस्तकस्मृति कोई भी शास्त्र अनादि नहीं; और उसमें कहे हुए अर्थके अनुसार तो सभी शास्त्र अनादि हैं। क्योंकि उस उस प्रकारका अग्निप्राय भिन्न भिन्न जीव भिन्न भिन्न स्वरूप कहते जाये हैं और ऐसा ही होना समझ है। क्रोध आदि मातृ भी अनादि हैं और धर्मा आदि मातृ भी अनादि हैं। हिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं और अहिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं। केवल जीवको दितकारी क्या है इतना विचार करना ही कार्यकारी है। अनादि तो दोनों हैं, फिर कभी किसीका कम मात्रामें कह होता है और कभी किसीका विशेष मात्रामें कह होता है।

१ प्रश्न —गीता किस्तने बनाई है? वह ईश्वरकृत तो नहीं है? यदि ईश्वरकृत ही तो क्या उसका कोई प्रमाण है?

उत्तर —ऊपर कहे हुए उत्तरोंसे इसका बहुत कुछ समाधान हो सकता है। अर्थात् ईश्वर का अर्थ ज्ञानी (सम्पूर्ण ज्ञानी) करनेसे तो वह ईश्वरकृत हो सकती है; परन्तु निज निश्चय आग्रहसे तो वह ईश्वरके व्यापक स्वीकार करनेपर उस प्रकारकी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना संभव नहीं। क्योंकि वह तो साधारण कार्य है, जिसका कर्तृत्व आर्यमूर्ख ही होता है—अनादि नहीं होता।

गीता वेदव्यासजीकी रची हुई पुस्तक मानी जाती है, और महात्मा श्रीकृष्णने अर्जुनको उस प्रकारका बोध किया था, इसलिये मुख्यरूपसे श्रीकृष्ण ही उसके कर्ता कहे जाते हैं यह बात संभव है। प्रश्न छेष्ट है। उस तरहका आशय बनादि काजसे चला आ रहा है, परन्तु वे ही श्लोक अनादिसे चले आते हों, यह संभव नहीं है, तथा निष्क्रिय ईश्वरसे उसकी उत्पत्ति होना भी संभव नहीं। यह किया किसी सक्रिय अर्थात् देवतादिसे ही होने योग्य है, इसलिये जो सम्पूर्ण ज्ञानी है वह ईश्वर है, और उसके द्वारा उपदेश किये हुए शास्त्र ईश्वरीय शास्त्र हैं, यह माननेमें कोई बाधा नहीं है।

११ प्रश्न — पशु आदिके यज्ञ करनेसे योद्धाता भी पुण्य होता है, क्या यह सच है ?

उत्तर — पशुके बचसे, होमसे अपना उसे योद्धाता भी कुछ देनेसे पाप ही होता है, तो फिर उसे यज्ञमें करो अपना चाहे तो ईश्वरके पाममें बैठकर करो। परन्तु यज्ञमें जो दान आदि कियामें होती हैं, वे कुछ पुण्यकी कारणभूत हैं। फिर भी हिंसा-मिश्रित होनेसे उनका भी अनुमोदन करना योग्य नहीं है।

१२ प्रश्न — जिस धर्मको आप उत्तम कहते हो, क्या उसका कोई प्रमाण दिया जा सकता है ?

उत्तर — प्रमाण तो कोई दिया न जाय, और इस प्रकार प्रमाणके बिना ही यदि उसकी उत्तम-ताका प्रतिपादन किया जाय तो फिर तो अर्थ-अनर्थ, धर्म-अधर्म समीचीन उत्तम ही कहा जाना चाहिये। परन्तु प्रमाणसे ही उत्तम-अनुत्तमकी पहिचान होती है। जो धर्म संसारके क्षय करनेमें सबसे उत्तम हो और निजस्वभावमें स्थिति करनेमें बलवान हो, वही धर्म उत्तम और वही धर्म बलवान है।

१३ प्रश्न — क्या आप सिस्तीधर्मके विषयमें कुछ जानते हैं ? यदि जानते हैं तो क्या आप अपने विचार प्रगट करेंगे ?

उत्तर — सिस्तीधर्मके विषयमें मैं साधारण ही ज्ञानता हूँ। भरतखण्डके महात्माजोंने जिस तरहके धर्मकी शोच की है—विचार किया है, उस तरहके धर्मका किसी दूसरे देशके द्वारा विचार नहीं किया गया, यह तो योनेसे अग्न्याससे ही समझमें आ सकता है। उसमें (सिस्तीधर्ममें) जीवकी सदा परब्रह्मता कही गई है, और वह दृष्टा मोक्षमें भी इसी तरहकी मानी गई है। जिसमें जीवके अनादि स्वल्पका यथाव्योम्य विवेचन नहीं है, जिसमें कर्म-बन्धकी व्यवस्था और उसकी निवृत्ति भी जैसी चाहिये वैसी नहीं कही, उस धर्मका मेरे अभिप्रायके अनुसार सर्वोत्तम धर्म होना संभव नहीं है। सिस्ती-धर्ममें जैसा मैंने ऊपर कहा, उस प्रकारका जैसा चाहिये वैसा समाधान देखनेमें नहीं आता। इस वाक्यको मैंने मतभेदके बंधा होकर नहीं लिखा। अधिक दूँ देने योग्य माग्न हो तो दूँ—यह विशेष समाधान हो सकेगा।

१४ प्रश्न — वे लोग ऐसा कहते हैं कि बाइबल ईश्वर-प्रेरित है। ईसा ईश्वरका अवतार है—यह उसका पुत्र है और या।

उत्तर — यह बात तो अज्ञाते ही मान्य हो सकती है, परन्तु यह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। जो बात गीता और वेदके ईश्वर-कार्यूलके विषयमें लिखी है, वही बात बाइबलके सचधर्मों भी समझना चाहिये। जो अन्य-मरणसे मुक्त हो, वह ईश्वर अवतार थे, यह संभव नहीं है। क्योंकि राम-

हेतु आदि परिणाम ही उसके हेतु हैं; ये जिसके नहीं हैं, ऐसा ईश्वर जन्मतः धारण करे, यह बात विचारनेसे यथार्थ नहीं माझूम होती। 'यह ईश्वरका पुत्र है और या' इस बातको भी यदि किसी व्यक्तिसे तीव्र विचार करें तो ही यह कदाचित् ठीक बैठ सकती है, नहीं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे नाशित है। मुक्त ईश्वरके पुत्र हो, यह किस तरह माना जा सकता है? और यदि मानें भी तो उसके उत्पत्ति किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं? यदि दोनोंको जमादि मानें तो उनका पिता-पुत्र संबंध किस तरह ठीक बैठ सकता है? इत्यादि बातें विचारणीय हैं। जिनके विचार करनेसे मुझे ऐसा लगा है कि यह बात यथायोग्य नहीं माझूम हो सकती।

१५. प्रश्न — पुराने क़तराने जो मन्विष्य कहा गया है, क्या यह सब ईसाके नियमों ठीक उतरा है?

उत्तर — यदि ऐसा हो तो भी उससे उन दोनों सार्वभौमिक नियमों विचार करना योग्य है। तथा इस प्रकारका मन्विष्य भी ईसाको ईश्वरानुसार कहनेमें प्रबल प्रमाण नहीं है; क्योंकि न्यूतिव बाप्टिसे भी मन्विष्यको उत्पत्ति जानी जा सकती है। अथवा मने ही किसी ज्ञानसे वह बात कही हो परन्तु वह मन्विष्य-वेदा सम्पूर्ण मोक्ष-मार्गका ज्ञाननेवाला था, यह बात जबतक ठीक ठीक प्रमाणभूत न हो, तबतक वह मन्विष्य बाप्टिसे केवल एक भ्रम-मया प्रमाण ही है; और वह दूसरे प्रमाणोंसे नाशित न हो, यह बुद्धिमें नहीं जा सकता।

१६. प्रश्न — इस प्रश्नमें 'ईसासीध'के चमत्कारके नियमों लिखा है।

उत्तर — जो जीव कायामेंसे सर्वथा निकटकर चला गया है उसी जीवको यदि उसी कायामें दाम्निष्ठ किया गया हो अथवा यदि दूसरे जीवको उसी कायामें दाम्निष्ठ किया हो तो यह होना संभव नहीं है और यदि ऐसा हो तो फिर कर्म आदिकी व्यवस्था भी निष्फल ही हो जाय। बाकी योग आदिकी सिद्धिसे बहुतसे चमत्कार उत्पन्न होते हैं; और उस प्रकारके बहुतसे चमत्कार ईसाको हुए हैं तो यह सर्वथा निष्पत्ति है, अथवा अक्षम है ऐसा नहीं कह सकते। उस तरहकी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके सामने जल्य हैं—अप्रमत्त ऐश्वर्यका महत्त्व इससे अनंत गुना है। इस नियमों सम्प्रदाय होनेपर घूटना योग्य है।

१७. प्रश्न — जगो चमत्कार कीनसा कम होगा, क्या हुआ बातकी इस सबमें खबर पड़ सकती है? अथवा पूर्वमें कीनसा कम था इसकी कुछ खबर पड़ सकती है?

उत्तर:—हाँ यह हो सकता है। जिसे निर्मल ज्ञान हो गया हो उसे वैसा होना संभव है। जैसे बारह इत्यादिके बिन्दुओं के ऊपरसे बरसातका अनुमान होता है वैसा ही इस जीवको इस मन्विष्य के ऊपरसे उसके पूर्व कारण कैसे होने चाहिये यह भी समझमें जा सकता है—जैसे धोबे की आँखोंसे समझमें आये। इसी तरह वह चेष्टा मन्विष्यमें किस परिणामको प्राप्त करेगी, यह भी उसके स्वभावके ऊपरसे जाना जा सकता है, और उसके विशेष विचार करनेपर मन्विष्यमें किस भ्रमका होना संभव है, तथा पूर्वमें कीनसा भ्रम था यह भी अच्छी तरह विचारमें जा सकता है।

१८. प्रश्न — हमारे मरकी गहर किसे पड़ सकती है?

उत्तर:—इस प्रश्नका उत्तर ऊपर जा चुका है।

१९ प्रश्न —जिन मोक्ष-प्राप्त पुरुषोंके नामका आप उल्लेख करते हो, वह किस आधारसे करते हो ?

उत्तर —इस प्रश्नको यदि मुझे खास तौरसे उत्तर करके पहुँचते हो तो उसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जिसकी सत्कार दशा अत्यंत परीक्षीण हो गई है, उसके बचन इस प्रकारके समर्थ हैं उसकी चेष्टा इस प्रकारकी समर्थ है, इत्यादि व्यक्तसे भी अपनी आत्मामें जो अनुभव हुआ हो, उसके आधारसे उन्हें मोक्ष कहा जा सकता है; और प्रायः करके यह धारणा ही होता है। ऐसा माननेमें जो प्रमाण हैं वे भी शास्त्र आदिसे आने जा सकते हैं।

२० प्रश्न —बुद्धदेवने भी मोक्ष नहीं पाई, यह आप किस आधारसे कहते हो ?

उत्तर —उनके शास्त्र-सिद्धांतोंके आधारसे। जिस तरहसे उनके शास्त्र सिद्धांत हैं, यदि उसी तरह उनका अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पूर्वापर-विरुद्ध भी दिखाई देता है, और वह सम्पूर्ण ज्ञानका अन्वय नहीं है।

जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता वहाँ सम्पूर्ण रम-क्षेपका नाश होना समर्थ नहीं। जहाँ कैसा हो वहाँ सत्कारका होना ही समर्थ है। इसलिये उन्हें सम्पूर्ण मोक्ष मिळी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और उनके कहे हुए शास्त्रोंमें जो अभिप्राय है उसको छोड़कर उनका कुछ दूसरा ही अभिप्राय था, उसे दूसरे प्रकारसे उन्हें और हमें जानना कठिन पड़ता है; और फिर भी यदि कहें कि बुद्धदेवका अभिप्राय कुछ दूसरा ही था तो उसे कारणपूर्वक कहनेसे वह प्रमाणभूत न समझा जाय, यह बात नहीं है।

२१ प्रश्न —दुनियाकी अन्तिम स्थिति क्या होगी ?

उत्तर —सब जीवोंको सर्वथा मोक्ष हो जाय, अपना इस दुनियाका सर्वथा नाश ही हो जाय, ऐसा होना मुझे प्रमाणभूत नहीं मालूम होता। इसी तरहके प्रवाहमें उसकी स्थिति रहती है। कोई भाव रूपान्तरित होकर क्षीण हो जाता है, तो कोई वर्धमान होता है वह एक क्षेत्रमें बढ़ता है तो दूसरे क्षेत्रमें घट जाता है, इत्यादि रूपसे इस सृष्टिकी स्थिति है। इसके ऊपरसे और बहुत ही गहरे विचारमें उतरनेके पश्चात् ऐसा कहना समर्थ है कि यह सृष्टि सर्वथा नाश हो जाय, अपना इसकी प्रकृति ही जाय, यह होना समर्थ नहीं। सृष्टिका अर्थ एक इसी पृथिवीसे नहीं समझना चाहिये।

२२ प्रश्न —इस अनीतिसे सुनीति उद्भूत होगी, क्या यह ठीक है ?

उत्तर —इस प्रश्नका उत्तर सुनकर जो जीव अनीतिकी इच्छा करता है उसके लिये इस उत्तरको उपयोगी होने देना योग्य नहीं। नीति-अनीति सर्व प्रायः अनाति हैं। फिर भी हम तुम अनीतिकी त्याग करके यदि नीतिकी स्वीकार करें, तो इसे स्वीकार किया जा सकता है, और यही अहमाका कर्तव्य है। और सब जीवोंकी अपेक्षा अनीति दूर करके नीतिके स्थापन किया जाय, यह बचन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एकांतसे उस प्रकारकी स्थितिका हासिल करना समर्थ नहीं।

२३ प्रश्न —क्या दुनियाकी प्रकृति होती है ?

उत्तर —प्रकृति का अर्थ यदि सर्वथा नाश होना किया जाय तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि पदार्थका सर्वथा नाश हो जाना समर्थ ही नहीं है। यदि प्रकृतिके अर्थ सब पदार्थोंका ईश्वर आदिमें

धीन होना किया जाय तो किसी व्यक्तिप्रत्यये यह बात स्वीकृत हो सकती है, परन्तु मुझे यह समझ नहीं आती। क्योंकि सब पदार्थ सब जीव इस प्रकार सम परिणामको प्राप्त तरह प्राप्त कर सकते हैं, जिससे इस प्रकारका उपयोग बने। और यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग आपसे भी तो फिर विषमता नहीं हो सकती। यदि व्यक्तिकरूपसे जीवमें विषमता और व्यक्तिकरूपसे समताके होनेको प्रथम स्वीकार करें तो मैं देख आता हूँ कि सबके बिना विषमता किस आधारपर रह सकती है? यदि देख आता हूँ कि सब मानें तो सबको एकत्रियपना माननेका प्रसंग आपसे; और वैसा माननेसे तो बिना कारण ही इसी गतिरूपसे नियम मानना चाहिए—अर्थात् ऊँची गतिके जीवको यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग दूर होने आया हो तो उसके प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हो, ह्यादि बहुतसे विचार उठते हैं। अतएव सर्व जीवोंको अपेक्षा प्रथम होना समझ नहीं है।

२४ प्रश्न:—अनपेक्षाको मक्ति करनेसे मोक्ष मिलती है, क्या यह सच है?

उत्तर—मक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अज्ञान-ज्ञान न हो यदि उसे अनपेक्षा कहा हो तो उसे मक्ति प्राप्त होना असंभव है, यह कोई बात नहीं है। प्रत्येक जीव ज्ञान-स्वभावसे युक्त है। मक्तिके बन्धने ज्ञान निर्यक्त होता है। निर्यक्त ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानको आत्मविज्ञान द्वारा सर्वथा मोक्ष हो जाय, ऐसा मुझे माह्य नहीं होता; और वही सम्पूर्ण ज्ञान है वही सर्व भाषा-ज्ञान समा जाता है यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। भाषा-ज्ञान मोक्षका हेतु है तथा वह जिसे न हो उसे आत्म-ज्ञान न हो यह कोई नियम नहीं है।

२५ प्रश्न—कृपावतार और रामवतारका होना क्या यह सही बात है? यदि हो तो वे कौन थे? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके बन्ध थे? क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है?

उत्तर—(१) ये दोनों महात्मा पुरुष थे यह तो मुझे भी निश्चय है। अज्ञान होनेसे वे ईश्वर थे। यदि उनके सर्व कारण दूर हो गये हों तो उन्हें सर्वथा मोक्ष माननेमें निश्चय नहीं है। कोई जीव ईश्वरका बन्ध है, ऐसा मुझे नहीं माह्य होता। क्योंकि इसके विरोधी हवायें प्रमाण देखनेमें आते हैं। तथा जीवको ईश्वरका बन्ध माननेसे वह मोक्ष सब व्यर्थ हो हो जायेंगे। क्योंकि फिर तो ईश्वर ही अज्ञान आदिका कर्त्ता हुआ और यदि वह अज्ञान आदिका कर्त्ता हो तो वह फिर ऐश्वर्यशक्ति होकर वह अपना ईश्वर ही हो बैठे; अर्थात् जीवका स्वामी होनेका प्रयत्न करते हुए ईश्वरको उन्मत्त हानिके सहन करनेका प्रसंग उपस्थित हो। तथा जीवको ईश्वरका बन्ध माननेका बाद पुरुषार्थ करना जिस तरह योग्य हो सकता है। क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-कर्त्ता सिद्ध हो नहीं सकता। ह्यादि विरोध जानेसे किसी जीवको ईश्वरके बन्धकरूपसे स्वीकार करनेकी भी भेरी बुद्धि नहीं होती। तो फिर श्रीकृष्ण अपना राम धर्मसे महात्माओंके साथ तो उस संबंधके माननेकी बुद्धि कैसे हो सकती है? वे दोनों व्यक्त ईश्वर थे ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। फिर मैं उन्हें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

(२) क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है इस प्रश्नका उत्तर सत्य है। जीवके सब राम, ब्रह्म और वज्रानन्द ब्रह्म होना अर्थात् उनसे छूट जानेका नाम ही मोक्ष है। यह जिसके उपदेशसे

हो सके, उसे मानकर और उसका परमार्थ स्वरूप विचारकर अपनी आत्मामें भी उसी तरहकी निष्ठा रखकर उसी महत्त्वाकी आत्माके आकारसे (स्वरूपसे) प्रतिष्ठान हो, तभी मोक्ष होनी संभव है। बाकी दूसरी उपासना सर्वथा मोक्षका हेतु नहीं है—यह उसके साधनका ही हेतु होती है। यह भी निश्चयसे हो ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२६ प्रश्न — ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे ?

उत्तर—सृष्टिके हेतुरूप तीन गुणोंको मानकर उनके आश्रयसे उनका यह रूप बताया हो, तो यह बात ठीक कैद सकती है, तथा उस प्रकारके दूसरे कारणसे उन ब्रह्मा आदिका स्वरूप समझमें आता है। परन्तु पुरुषोंमें जिस प्रकारसे उनका स्वरूप कहा है, वह स्वरूप उसी प्रकारसे है, ऐसा माननेमें मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके किये कहे हैं, ऐसा भी मान्य होता है। फिर भी हमें उनका उपदेशके रूपमें काम लेना, और ब्रह्मा आदिके स्वरूपका सिद्धांत करनेकी बजायमें न पड़ना, यही मुझे ठीक लगता है।

२७ प्रश्न — यदि मुझे सर्प काटने वाले तो उस समय मुझे उसे काटने देना चाहिये या उसे मार डालना चाहिये ? यहाँ ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटानेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

उत्तर—सर्पको तुम्हें काटने देना चाहिये, यह काम पक्षि स्वयं करके बतानेसे विचारमें प्रवेश कर सकता है, फिर भी यदि तुमने यह ज्ञान लिया हो कि देह अनित्य है, तो फिर इस असारमूल देहकी रक्षाके लिये, जिसको उसमें प्राप्ति है, ऐसे सर्पको मारना तुम्हें कैसे योग्य हो सकता है ? जिसे आत्म-हितकी चाहना है, उसे तो फिर अपनी देहको छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् यदि किसीको आत्म-हितकी इच्छा न हो तो उसे क्या करना चाहिये ? तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसे नरक आदिमें परिभ्रमण करना चाहिये; अर्थात् सर्पको मार देना चाहिये। परन्तु ऐसा उपदेश हम कैसे कर सकते हैं ? यदि अनार्य-वृत्ति हो तो उसे मारनेका उपदेश किया जाय, परन्तु वह तो हमें और तुम्हें स्वप्नमें भी न हो, यही इच्छा करना योग्य है।

अब संक्षेपमें इन उत्तरोंको लिखकर पत्र समाप्त करता हूँ। पट्टदर्शनसमुच्चयके समझनेका विशेष प्रयत्न करना। मेरे इन प्रश्नोंके लिखनेके सकोचसे तुम्हें इनका समझना विशेष अनुसृतता बनक हो, ऐसा यदि जग भी मान्य हो, तो भी विशेषतः विचार करना, और यदि कुछ भी पत्रद्वारा पहुँचने योग्य मान्य हो तो यदि पहुँचने तो प्रायः करके उसका उत्तर लिखूँगा। विशेष समाधान होनेपर समाधान होना अधिक योग्य लगता है।

सिद्धि आत्मस्वरूपमें नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी वितामें खनेवाले उपपन्नका प्रणाम।

४४८

बम्बई, कार्तिक सुदी १, १९५१

मतिज्ञान आदिके प्रश्नोंके विषयमें पत्रद्वारा समाधान होना कठिन है। क्योंकि उन्हें विशेष रीतिसे या उत्तर लिखनेकी आवश्यक प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

कर्म होना किया जाय तो किसी व्यक्तिप्रायसे यह बात स्वीकृत हो सकती है, परन्तु मुझे यह संभव नहीं लगती। क्योंकि सब पदार्थ सब जीव इस प्रकार सम परिणामको किस तरह प्राप्त कर सकते हैं, जिससे इस प्रकारका संयोग बने ? और यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग जाये भी तो फिर निषमता नहीं हो सकती। यदि अन्यत्वन्यपक्षे जीवमें विषमता और व्यक्त्यपक्षे समताके होनेको प्रकृत्य स्वीकार करें तो भी देह आदि सबभके बिना निषमता किस आधारसे रह सकती है ? यदि देह आदिक सबभ मानें तो सबको एकेन्द्रियपणा माननेका प्रसंग जाये; और वैसा माननेसे तो विषय कारण ही दूसरी गतिर्योका निषेध मानना चाहिए—अर्थात् तैत्तिरीय गणिके जीवको यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग दूर होने काया हो तो उसके प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हो इत्यादि बहुतसे विचार उठते हैं। अतएव सर्व जीवोंकी अपेक्षा प्रकृत्य होना संभव नहीं है।

२४ प्रश्न—अनपदको भक्ति करनेसे मोक्ष मिलती है, क्या यह सच है ?

उत्तर—भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षर-ज्ञान न हो यदि उसे अनपद कहा हो तो उसे भक्ति प्राप्त होना असम्भव है, यह कोई बात नहीं है। प्रत्येक जीव ज्ञान-स्वभावसे युक्त है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी आवश्यकता हुए बिना सर्वथा मोक्ष हो जाय, ऐसा मुझे माह्य नहीं होता और जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ सर्व माय-ज्ञान समा जाता है यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। माय-ज्ञान मोक्षका हेतु है तथा वह जिसे न हो उसे अज्ञान-ज्ञान न हो, यह कोई नियम नहीं है।

२५ प्रश्न—वृष्णात्मतार और रामानन्दारका होना क्या यह सही बात है ? यदि हो तो वे कौन थे ? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके अवंश थे ? क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है ?

उत्तर—(१) ये दोनों महात्मा पुरुष थे, यह तो मुझे भी निश्चय है। अज्ञान होनेसे वे ईश्वर थे। यदि उनके सर्व अक्षरत्व दूर हो गये हों तो उन्हें सर्वथा मोक्ष माननेमें विवाद नहीं है। कोई जीव ईश्वरका अवंश है, ऐसा मुझे नहीं माह्य होता। क्योंकि इसके विरोधी हजारों प्रमाण देखनेमें आते हैं। तथा जीवकी ईश्वरका अवंश माननेसे वह मोक्ष सब व्यर्थ ही हो जायेंगे। क्योंकि फिर तो ईश्वर ही अज्ञान आदिका कर्ता हुआ, और यदि वह अज्ञान आदिका कर्ता हो तो वह फिर ऐश्वर्यश्रित होकर वह अपना ईश्वरत्व ही खो बैठे; अर्थात् जीवका स्वामी होनेका प्रमाण करते हुए ईश्वरको सत्ता हानिके सहन करनेका प्रसंग उपस्थित हो। तथा जीवको ईश्वरका अवंश माननेके बाद पुरुषार्थ करना किस तरह योग्य हो सकता है ? क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्ता-कर्ता सिद्ध हो नहीं सकता। इत्यादि विरोध जानेसे किसी जीवको ईश्वरके अवस्थापसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नहीं होती। तो फिर जीवक्या अपना राम बीसे महात्माओंके साथ तो उस सबभके माननेकी बुद्धि कैसे हो सकती है ? वे दोनों अत्यन्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। फिर भी उन्हें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हुआ या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

(२) 'क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है' इस प्रश्नका उत्तर सख्त है। जीवके सब पण, द्वेष और अज्ञानका समाप्त होना अर्थात् उनसे छुट जानेका नाम ही मोक्ष है। वह जिसके उपदेशसे

हो सके, उसे मानकर आर उसका परमार्थ स्वरूप विचारकर अपनी आत्मामें भी उसी तरहकी निष्ठा रखकर उसी महात्माकी आत्माके आकारसे (स्वरूपसे) प्रतिष्ठान हो, तभी मोक्ष होनी समभव है। माफ़ी दूसरी उपासना सर्वथा मोक्षदायक हेतु नहीं है—यह उसके साधनका ही हेतु होती है। यह भी निश्चयसे हो ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२६ प्रश्न —ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे ?

उत्तर—सृष्टिके हेतुरूप तीन गुणोंको मानकर उनके व्याप्यसे उनका यह रूप बताया हो, तो यह बात ठीक बैठ सकती है, तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंमें उन ब्रह्मा आदिका स्वरूप समझमें आता है। परन्तु पुरुषोंमें जिस प्रकारसे उनका स्वरूप कहा है, वह स्वरूप उसी प्रकारसे है, ऐसा माननेमें मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके लिये कहे हैं, ऐसा भी मान्य होता है। फिर भी हमें उनका उपदेशके रूपमें ज्ञान लेना, और ब्रह्मा आदिके स्वरूपका सिद्धांत करनेकी कंज्याओंमें न पड़ना, यही मुझे ठीक लगता है।

२७ प्रश्न:—यदि मुझे सर्व कान्ते आने तो उस समय मुझे उसे काटने देना चाहिये या उसे मार बाधना चाहिये ? यहाँ ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटानेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

उत्तर—सर्वको तुम्हें कान्त देना चाहिये, यह काम यद्यपि स्वयं करके बतानेसे विचारमें प्रवेश कर सकता है, फिर भी यदि तुमने यह ज्ञान किया हो कि देह अनित्य है, तो फिर इस असारभूत देहकी रक्षाके लिये, जिसको उसमें प्रीति है, ऐसे सर्वको मारना तुम्हें कैसे योग्य हो सकता है ? जिसे आत्म-हितकी चाहना है, उसे तो फिर अपनी देहको छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् यदि किसीको आत्म-हितकी इच्छा न हो तो उसे क्या करना चाहिये ? तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसे नरक आदिमें परिभ्रमण करना चाहिये; क्योंकि सर्वको मार देना चाहिये। परन्तु ऐसा उपदेश हम कैसे कर सकते हैं ? यदि अनार्य-वृत्ति हो तो उसे मारनेका उपदेश किया जाय, परन्तु वह तो हमें और तुम्हें स्वप्नमें भी न हो, यही इच्छा करना योग्य है।

अब संक्षेपमें इन उत्तरोंको लिखकर पत्र समाप्त करता हूँ। पदार्थनसमुच्चयके समझनेका विशेष प्रयत्न करना। मेरे इन प्रश्नोंको लिखनेके संकोचसे तुम्हें इनका समझना विशेष अनुत्पत्ता-जनक हो, ऐसा यदि जरा भी मान्य हो, तो भी विशेषतः विचार करना, और यदि कुछ भी पत्रद्वारा पहुँचने योग्य मात्र दे तो यदि पहुँचेंगे तो प्रायः करके उसका उत्तर लिखूँगा। विशेष समाप्त होनेपर समाधान होमा अधिक योग्य लगता है।

लिखित आत्मस्वरूपमें नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी चित्तमें रहनेवाले रायचन्द्रका प्रणाम।

४४८

बम्बई, कार्तिक सुदी १, १९५१

मतिष्ठान आदिके प्रश्नोंके विषयमें पत्रद्वारा समाधान होना कठिन है। क्योंकि उन्हें विशेष चीजोंकी भाँति उत्तर लिखनेकी आवश्यक प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

तो ही अनुक्रमसे अज्ञानको निवृत्ति होगी, क्योंकि यही निश्चित उपाय है, और यदि जीवकी निवृत्ति होनेकी मुक्ति है तो फिर वह अज्ञान निराधार ही जानेपर किन्तु तरह तरह कर सकता है ।

एक मात्र पूर्व कर्मके योगके सिवाय यहाँ उसे कोई भी आधार नहीं है । वह तो जिस जीवसे उत्सर्ग-सत्पुरुषका संयोग हुआ है, और जिसका पूर्व कर्मकी निवृत्ति करनेका ही प्रयोजन है, उससे क्रमसे दूर हो सकता है । ऐसा विचार करके सुषुप्त जीवको उस अज्ञानसे होनेवाली आनुसंग्यभ्रष्टताको धीरे-धीरे सहज करना चाहिये—इस तरह परमार्थ कहकर परिग्रहको कहा है । यहाँ हमने स्वेष्टमें उन दोनों परिग्रहोंका स्वरूप लिखा है । इस परिग्रहका स्वरूप जानकर उत्सर्ग-सत्पुरुषके संयोगसे जिस अज्ञानसे प्रसरण होती है, वह निवृत्त होगी—यह निश्चय रखकर, यथाउदय जनक मगवान्ते धीरज रखना ही बताया है । परन्तु धीरजको इस अर्थमें नहीं कहा कि उत्सर्ग सत्पुरुषके संयोग होनेपर प्रमादके कारण विवश करना वह धीरज है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है ।

श्रीतीर्थकार आदिने फिर फिरसे जीवोंको उपदेश दिया है परन्तु जीव पिछा-मूढ़ ही रहना चाहता है तो फिर यहाँ कोई उपाय नहीं चल सकता । उन्होंने फिर फिरसे ठीक ठीककर कहा है कि यदि यह जीव एक इसी उपदेशको समझ जाय तो मोक्ष सहज ही है, नहीं तो अनन्त उपायोंसे भी मोक्ष नहीं मिलती और वह समझना भी कोई कठिन नहीं है । क्योंकि जीवका जो स्वरूप है केवल उसे ही जीवको समझना है और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं कि कभी दूसरा उसे छिपा ले अपना न बताये, और हाथ धारण वह समझमें न आ सके । अपने आपसे अपने आपका गुण रहना भी किन्तु तरह हो सकता है । परन्तु जिस तरह जीव स्वप्न दशामें असामान्य अपनी मूल्यको भी देखता है, जैसे ही अज्ञान दशात्म स्वप्नरूप योगसे यह जीव जो स्वप्न निवृत्त नहीं है, ऐसे दूसरे प्रयोगोंमें निवृत्तना मूल रहा है । और यह सामान्यता ही उत्तर है, यही अज्ञान है, नरक वाणि गतिका हेतु भी यही है, यही जन्म है मरण है, और यही वेद है, यही देहका विकार है; यही पुत्र, यही मित्र, यही सन्तु, यही मित्र आदि मात्मीय कल्पनाका कारण है; और यहाँ उसकी निवृत्ति हुई यहाँ स्वप्न ही मोक्ष है । तथा इसी निवृत्तिके लिये उत्सर्ग-सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं, और यदि इन साधनोंमें भी जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये धीरे-धीरे भगवत् तो ही सिद्धि है । अधिक क्या कहें ? इतना स्वेष्ट कथन ही यदि जीवको कम जाय तो वह सर्व ज्ञत धर्म, नियम, अप्र यात्रा, भक्ति, शास्त्र-ज्ञान आदिसे मुक्त हो जाय इसमें कोई संशय नहीं है ।

४५३

वर्षा, कार्तिक सुदी ७ १९५१

हृण्वात्मके चित्तकी व्यग्रता देखकर हमारे सबके मनमें केन्द्र रहता है यह होना सामानिक है । यदि कने तो योगव्यतिष्ठ धन्यको तीसरे प्रकरणसे उन्हें वैचाल्य अपना अपना करना । और प्रवृत्ति केमसे जिस तरह अवकाश मिले तथा उत्सर्ग हो, उस तरह करना । जिसमें जिससे वैसा अधिक समय अवकाश मिल सके उतना कष्ट रहना योग्य है । हृण्वात्मके चित्तमेंसे विवेककी निवृत्ति करना उचित है ।

४५४

बम्बई, कार्तिक सुदी ९ शुच १९५१

साफ मनसे सुखासा किया जाय ऐसी गुम्हारी इच्छा रहा करती है। उस इच्छाके कारण ही साफ मनसे सुखासा नहीं किया जा सका, और जब भी उस इच्छाके निरोध करनेके सिवाय तुम्हें दूसरा कोई विशेष कर्तव्य नहीं है। हम साफ विचारसे सुखासा करेंगे, ऐसा समझकर इच्छाका निरोध करना योग्य नहीं, परन्तु सत्पुरुषके समके माहात्म्यकी रक्षा करनेके लिये उस इच्छाको शान्त करना योग्य है, ऐसा विचार कर उसका शान्त ही करना उचित है। सत्संगकी इच्छासे ही यदि सत्कारके प्रतिबन्धके दूर होनेकी दशाके सुधार करनेकी इच्छा रहती हो, तो भी हममें उसे दूर करना ही योग्य है। क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि तुम जो बारबार लिखते हो वह बुद्धिमोह है, स्वच्छेद परिणाम है, और किसी अशसे असाता सहज न करनेकी ही बुद्धि है। और जिस पुरुषको वह बात किसी मच्छत्रने लिखी हो तो उससे उसका रास्ता बनानेके लिये ऐसा होता है कि जबतक इस प्रकारकी निदानबुद्धि रहे तबतक सम्यक्त्वका विरोध ही रहता है। ऐसा निश्चयकर खेद ही होता है। उसे तुमको लिखना योग्य नहीं है।

४५५

बम्बई कार्तिक सुदी १४ सोम १९५१

(१)

सब जीव आपसमें समन्वयाधीन हैं। दूसरे पक्षमें जीव यदि निजबुद्धि करे तो वह परिभ्रमण दशाको प्राप्त करता है, और यदि निजके विषयमें निजबुद्धि हो तो परिभ्रमण दशा दूर होती है। जिसके विषयमें इस मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसकी आज्ञामें वह ज्ञान प्रकाशित हो गया है, उसकी आज्ञानुसरणसे अनन्य मति करना ही परम श्रेय है।

और उस आज्ञानुसार मतिमानकी मति प्राप्त होनेपर जिसमें कोई विषमता नहीं जाती, उस ज्ञानीको धन्य है। उतनी सर्वांग दशा जबतक प्रगट न हुई हो तबतक अज्ञानीको कोई गुरुवरुणसे आराधना करे तो प्रथम उस गुरुवरुणको छोड़कर उस शिष्यमें ही अपनी आज्ञानुदास्ता करना योग्य है।

(२)

हे जीव ! स्थिर इष्टिपूर्वक ८ अवतारमें देख, तो समस्त पर ब्रह्मसि सुष्ठु तेरा परम प्रसिद्ध स्वरूप तुझे अनुभवमें आवेगा।

॥ जीव ! असम्यग्दर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे भासित नहीं होता। उस स्वरूपमें तुझे शका है क्योंकि हे और मय है।

सम्यग्दर्शनका योग मिथनेसे उस अज्ञान आदिकी निवृत्ति होगी।

॥ सम्यग्दर्शनसे मुक्त ! सम्यक्चारित्र्यको ही सम्यग्दर्शनका फल मानना योग्य है, इसलिये उसमें अग्रगण्य हो।

जो प्रमत्तमान उत्पन्न करता है वह तुझे कर्म-जबकी सुप्रतीतिका कारण है।

हे सम्यक्चारित्र्यसे मुक्त ! अब शिथिलता करना योग्य नहीं। जो बहुत अवयव पा वह तो अब निवृत्त हुआ, फिर अब अवयववहित परमें किसलिये शिथिलता करता है ?

महात्मक विचकी स्थिरता भी जिसमें रहनी कठिन है, ऐसे दुःखमकरालमें तुम सबपर अनुकम्प आती है यह विचारकर सोचनेके आशेमें प्रवृत्ति करते हुए मुझे तुम्हें जो प्रदत्त आत्ति सिक्कनेकर विचमें अन्वेषण प्रदान किया, इससे मेरे मनको सुतोप हुआ है ।

४४९

वर्ष, कार्तिक सुदी १ बुध १९५१

श्री सत्सुरूपको नमस्कार

श्री सूर्यपुरम्पित, वैराग्यविषय, सख्यग-योग्य श्री "के प्रति—श्री मोक्षमयी मूर्तिसे जीवन्मुक्त दशाके इच्छुक श्री का आरम्भसूतिपूर्वक यथायोग्य पहुँचे । विशेष किमती है कि तुम्हारे स्थिते हुए तीनों पत्र पोषे पोषे दिमके अन्तरसे निकले हैं ।

यह जीव अक्षय्य मायके आचरणसे दिशा-मूढ हो गया है, और उस सबसे उसकी परम्पर-हृदि प्रगट नहीं होती—अपरमार्थमें परमार्थका छद्म आच्छाद हो गया है, और उससे बोध प्राप्त होनेके सबसे भी जिससे उसमें बाधका प्रवेश हो सके, ऐसा माय सुरित नहीं होता, इत्यादि ब्रह्मसे जीवकी बिम्ब दशा कदाकर प्रभुके प्रति दीनता प्रगट की है कि ' हे नाथ ! जब मेरी कोई गति (मार्ग) मुझ नहीं दिखाई देता । क्योंकि मैंने सर्वान्व सृष्टि देने जैसा काम किया है, और स्वामाविक ऐश्वर्यके होते हुए प्रकट करनेपर भी उस ऐश्वर्यसे विपरीत मार्गका ही मैंने आचरण किया है, उस उस सबसे मेरी निवृत्ति कर और उस निवृत्तिका सर्वोत्तम सुदुपायमूल जो सद्गुरुके प्रति शरण माग है, वह जिससे उत्पन्न हो ऐसी ह्या कर । इस मायके बीच दोहे हैं किमते " हे प्रभु ! हे प्रभु ! कु कछु ' दीनमाय दयल ' यह प्रथम वाक्य है । वे दोहे तुम्हें याद होंगे । जिससे इन दोहोंकी विशेष अनुपेक्षा हो कैसे करेगी तो यह विशेष गुणावृत्तिका हेतु है ।

उनके साथ दूसरे आठ श्लोक छत्रोंकी अनुपेक्षा करना भी योग्य है, जिसमें इस जीवको क्या आचरण करना बाकी रहा है और जो जो परमार्थके नामसे आचरण किया वह अवसक हुआ ही हुआ तथा उस आचरणमें मिथ्या आच्छादको निवृत्त करनेके स्थिते जो उपदेश दिया है वह भी अनुपेक्षा करनेसे जीवको विशेष पुण्यार्पण हेतु है ।

योगवासिष्ठका बौध्द पत्र हो गया हो तो बाँके समय उसको बन्द रखकर वर्षादि अव किरते उसका बौध्दना बन्द करके उत्तराध्ययनसूत्रका विचार करना । परन्तु उसका कुछ-सम्प्रदायके आच्छादके निवृत्त करनेके स्थिते ही विचार करना । क्योंकि जीवको कुछ-योगसे जो सम्प्रदाय प्राप्त हुआ पड़ा है वह परमार्थरूप है या नहीं ऐसा विचार करनेसे छद्म भागो नहीं चकती और सत्य ही उसे ही परमार्थ मानकर जीव परमार्थसे चूक जाता है । इसस्थिते सुमुमुक्षु जीवका तो यही कर्तव्य है कि जीवको सद्गुरुके योगसे कल्याणकी प्राप्ति अल्प कक्षमें ही होनेके साधनमूल कैवल्य और उप-शान्ते स्थिते योगवासिष्ठ उत्तराध्ययन आदिका विचार करना योग्य है । तथा प्रत्यक्ष पुरुषके ब्रह्ममोक्ष प्राप्त करके मात्र जाननेके स्थिते विचार करना योग्य है ।

४५०

बम्बई, कार्तिक सुदी १ सुब १९५१

श्रीहृष्ण चाहे जिस गतिकी प्राप्त हुए हों, परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट माझम होता है कि वे ब्रह्ममात्रमें उपयोगस्थित थे। जिन श्रीहृष्णने कानूनकी दारिकाका, छपन करोड़ पादलोंके समूहका और पञ्चविषयके आकर्षित करनेवाले कारणोंके संयोगमें स्वामीपनेका भोग किया, उन कृष्णने जब देहको छोड़ा, तब उनकी क्या दशा थी, यह विचार करने योग्य है। और उसे विचारकर इस जीवकी जरूर आनुष्ठानसे मुक्त करना योग्य है। कुछका सहार हो गया है, दारिका मल हो गई है, उसके शोकसे बिह्वल होकर वे अनेक बने भूमिके ऊपर सो रहे हैं। यहाँ जराकुमारने जब बाण मारा, उस समय भी निम्ने धीरेजको रक्खा है, उस कृष्णकी दशा विचार करने योग्य है।

४५१

बम्बई, कार्तिक सुदी ४ सुब १९५१

मुमुक्षु जीवकी दो प्रकारकी दशा रहती है—एक विचार-दशा और दूसरी स्थितिप्रब-दशा। स्थितिप्रब-दशा, विचार-दशाके जगमग पूरी हो जानेपर अथवा सम्पूर्ण हो जानेपर प्रगट होती है। उस स्थितिप्रब-दशाकी प्राप्ति होना इस कालमें कठिन है; क्योंकि इस कालमें प्रचलितया ब्रह्म-परिपालनका व्यापारकर्म ही संयोग रहता है, और उससे विचार-दशाका संयोग भी सद्गुरुके-सत्संगके अंतर्गतसे प्राप्त नहीं होता—ऐसे कालमें कृष्णदास विचार-दशाकी इच्छा करते हैं, यह विचार-दशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है। और जैसे जीवकी भय, भिन्ता, परमेश आदि भावमें निज बुद्धि करना योग्य नहीं है। तो भी धीरेजसे उन्हें समाधान होने देना, और चित्तका निर्मय रहना ही योग्य है।

४५२

बम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

मुमुक्षु जीवकी अर्थात् विचारवान जीवकी इस ससारमें ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई भी भय नहीं होता। एक ज्ञानकी निवृत्तिकी इच्छा करनेका जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं होती, और पूर्व कर्मके बलसे कोई ऐसा उदय हो तो भी विचारवानके चित्तमें 'संसार कायप्रह है, समस्त लोक हुआ खो पीवित है, मयसे आतुर है, राग-द्वेषके प्राप्त फलसे प्रमथित है'—यह विचार निश्चयसे रहता है। और 'ज्ञान-प्राप्तिका कुछ अवसर है, इसलिये यह कायप्रहकर्म संसार मुझे मयका डेढ़ है, और मुझे जोकरका समागम करना योग्य नहीं,' एक पक्षी भय विचारवानको रहना योग्य है।

महत्मा श्रीतीर्थकरने निर्मयको प्राप्त हुए परिपक्व सहज करनेका बारम्बार उपदेश दिया है। उस परिपक्वके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए ज्ञानपरिपक्व और दर्शनपरिपक्व इस प्रकार दो परिपक्वोंका प्रतिपादन किया है। अर्थात् किसी उदय-योगका प्राबल्य हो और सत्संग-सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवकी ज्ञानके कारणोंको दूर करनेमें हिम्मत न चढ़ सकती हो धबकाहट पैदा हो जाती हो, तो भी धीरेज रहना चाहिये; सत्संग-सत्पुरुषके संयोगका विशेष विशेषरूपसे आचरण करना चाहिये—

तो ही अनुक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी, क्योंकि यही निश्चित उपाय है, और यदि जीवकी निवृत्ति होनेकी सुविधा है तो फिर वह अज्ञान निराधार ही होनेपर किस तरह ठहर सकता है ?

एक मात्र पूर्व कर्मके योगके सिवाय यहाँ उसे कोई भी आचार नहीं है। वह तो जिस जीवकी ससृग्-समुद्रकका संयोग हुआ है और जिसका पूर्व कर्मकी निवृत्ति करनेका ही प्रयोजन है, उसीके क्रमसे दूर हो सकता है; ऐसा निवार करके मुमुक्षु जीवकी उस अज्ञानसे होनेवाली आसु-भ्याकुलताको धीरे-धीरे दूर करना चाहिये—इस तरह परमार्थ कहकर परिपक्वको कहा है। यहाँ हमने संक्षेपमें उन दोनों परिपक्वोंका स्वरूप किया है। इस परिपक्वता स्वरूप जानकर ससृग्-समुद्रकके संयोगसे, जिस अज्ञानसे कबल-कल होती है वह निवृत्त होगी—यह निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर मग्नमानने धीरे-धीरे रहना ही बताया है। परन्तु धीरे-धीरे नहीं बल्कि कि ससृग्-समुद्रकके संयोग होनेपर प्रमत्तके कारण विवश करना वह धीरे-धीरे और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है।

श्रीतीर्थकर आदिने फिर फिरसे जीवोंको उपदेश दिया है परन्तु जीव निश्चिन्त ही रहना चाहता है तो फिर यहाँ कोई उपाय नहीं कर सकता। उन्होंने फिर फिरसे ठोका ठोकर कहा है कि यदि वह जीव एक इसी उपदेशको समझ जाय तो मोक्ष सहज ही है नहीं तो अनन्त उपायोंसे भी मोक्ष नहीं मिलती और वह समझना भी कोई कठिन नहीं है। क्योंकि जीवका जो स्वरूप है केवल उसे ही जीवको समझना है और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं कि कभी दूसरा उसे किया के अपना न बताने और इस कारण वह समझमें न आ सके। अपने आपसे अपने आत्मा गुप्त रहना भी किस तरह हो सकता है? परन्तु जिस तरह जीव स्वप्न दृष्टांतमें असमाज्य अपनी शृंगारों भी देखता है, ऐसे ही अज्ञान दशात्म स्वरूप संयोगसे वह जीव जो स्वप्न निवृत्त नहीं है, ऐसे दूसरे दृष्टांतमें निजपत्ता मान रहा है। और यह माया ही संसार है यही अज्ञान है नरक आदि गतिका हेतु भी यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही वेद है यही देहका विचार है यही पुत्र-पत्नी मित्र, यही शत्रु यही मित्र आदि मायाकी कल्पनाका कारण है। और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ स्वप्न ही मोक्ष है। तथा इसी निवृत्तिके लिये ससृग्-समुद्रक आदि साधन कहे हैं और यदि इन साधनोंमें भी जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये और बचावे तो ही सिद्धि है। अधिक क्या कहें? इतना स्वेप कथन ही यदि जीवको दया जाय तो वह सर्व अतः यम नियम अप यात्रा, भक्ति शास्त्र-ज्ञान आदिसे मुक्त हो जाय, इसमें कोई संशय नहीं है।

४५३

वर्ष, मार्तिक सुनी ७ १९५१

हृष्यदासके चित्तकी व्याप्ति देखकर तुम्हारे सबके मनमें अंदर रहता है, यह होना स्वाभाविक है। यदि बने तो योगवर्तित प्रत्यक्षी तीसरे प्रकरणसे उन्हें वैभवा कायका श्रवण करना; और प्रवृत्ति-धर्मसे जिस तरह अन्तर्यामि के तथा एतद्वत् ही, उस तरह करना। दिनमें जिससे वैसा अधिक समय अन्तर्यामि के उनके उतना कष्ट रहना योग्य है। हृष्यदासके चित्तमेंसे विशेषकी निवृत्ति करना उचित है।

४५४

बम्बई, कार्तिक सुदी ९ सुभ १९५१

साफ मनसे सुखसा किया जाय ऐसी तुम्हारी इच्छा रहा करती है। उस इच्छाके कारण ही साफ मनसे सुखसा नहीं किया जा सका, और अब भी उस इच्छाके निरोध करनेके सिवाय तुम्हें दूसरा कोई विशेष कर्तव्य नहीं है। हम साफ चित्तसे सुझावा करेंगे, ऐसा समझकर इच्छाका निरोध करना योग्य नहीं, परन्तु संपुरणके सगके माहात्म्यकी रक्षा करनेके लिये उस इच्छाको शान्त करना योग्य है, ऐसा विचार कर उसका शान्त ही करना उचित है। सत्सगकी इच्छासे ही यदि सत्सगके प्रतिबन्धके दूर होनेकी दशाके सुचार करनेकी इच्छा रहती हो, तो भी बाधमें उसे दूर करना ही योग्य है। क्योंकि हमें ऐसा क्वाता है कि तुम जो बारबार लिखते हो वह कुटुम्ब-मोह है, सक्जेश परिणाम है, और किसी अशसे असाता सहन न करनेकी ही बुद्धि है। और जिस पुरुषको वह बात किसी मलजनने किसी हो तो उससे उसका रास्ता बनानेके बदले ऐसा होता है कि जबतक इस प्रकारकी निदानबुद्धि रहे तबतक सम्पत्तिका निरोध ही रहता है। ऐसा विचारकर खेद ही होता है। उसे तुमको छिड़ना योग्य नहीं है।

४५५

बम्बई कार्तिक सुदी १४ सोम १९५१

(१)

सब जीव आत्मरूपसे समत्वभावी हैं। दूसरे पदार्थमें जीव यदि निबद्धुद्धि करे तो वह परिभ्रमण दशात्मे प्राप्त करता है, और यदि निबद्धुद्धि निपयमें निबद्धुद्धि हो तो परिभ्रमण दशा दूर होती है। जिसके चित्तमें इस मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसकी आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हो गया है, उसकी दासानुसत्तारूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम धेय है।

और उस दासानुसत्तारूपसे भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर जिसमें कोई निपयता नहीं आती, उस ज्ञानीको धन्य है। उतनी सर्वादा दशा जबतक प्रगट न हुई हो तबतक आत्माकी कर्ष गुरुरूपसे आपचना करे तो प्रथम उस गुरुपनेकी छोड़कर उस शिष्यमें ही अपनी दासानुसत्ता करना योग्य है।

(२)

हे जीव ! स्थिर इष्टिपूर्वक व अतर्गम्य देख तो समस्त पर द्रव्यसे मुक्त तेरा परम प्रसिद्ध स्वरूप तुझे अनुभवमें आवेगा।

हे जीव ! असम्पददर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे मासित नहीं होता। उस स्वरूपमें तुझे शक्य है, व्यामोह है और भय है।

सम्पददर्शनका योग मिथ्यासे उस अज्ञान जादिकी निवृत्ति होगी।

हे सम्पददर्शनसे मुक्त ! सम्पदकारिणकी ही सम्पददर्शनका फल मानना योग्य है, इसलिये उसमें अमन हो।

जो प्रमत्तमान उत्पन्न करता है वह तुझे कर्म-बन्धकी सुप्रतीति का कारण है।

हे सम्पदकारिणसे मुक्त ! अब शिथिलता करना योग्य नहीं। जो बहुत अतर्पण या वह तो अब निवृत्त हुआ, फिर अब अतर्पणरहित परमै किसलिये शिथिलता करता है ?

वर्ष २८वाँ
परमपद-प्राप्तिकी भाषना
(अंतर्गत)
गुणभेणीस्वरूप

४५६

ॐ

बम्बई, कार्तिक १९५१

ऐसा अपूर्व कस्तर कब प्राप्त होगा ? कब मैं बाह्य और अन्त्यतरसे निर्मम्य करूँगा ? समस्त संवत्सरे वीक्षण बचनको छेदकर कब मैं मगान् पुष्पोंके पथपर विचरण करूँगा ? ऐसा अपूर्व कस्तर कब प्राप्त होगा ? ॥ १ ॥

समस्त मार्गसि उदासीन वृत्ति होकर, देह भी केवल सुषुम्ने ही हेतु रहे; तथा अन्य किसी कारणसे अन्य कुछ भी कल्पना न हो, और देहमें किंचिन्मात्र भी मूर्छामात्र न रहे । ऐसा अपूर्व कस्तर कब प्राप्त होगा ? ॥ २ ॥

दर्शनमोहनीयके नाश होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न हो तथा देहसे मिश्र कुछ चैतन्यके झलसे चारित्र्यमोहनीयको झीग हुआ देखे । इस तरह कुछ स्वरूपका ध्यान रहा करे । ऐसा अपूर्व कस्तर कब प्राप्त होगा ? ॥ ३ ॥

तीनों योगोंके मंद हो जानेसे मुख्यरूपसे देहपर्वत आत्म-स्थिरता रहे । तथा इस स्थिरताका जोर परिष्कारसे अथवा उपसर्गोंके भयसे कभी भी अंत न आ सके । ऐसा अपूर्व कस्तर कब प्राप्त होगा ? ॥ ४ ॥

सुषुम्ने हेतु ही योगको प्रवृत्ति हो और वह भी दिनभरायातकी आवाजके आवाज होकर निज-स्वरूपके छलसे हो । तथा वह भी प्रसिद्धन बनती हुई स्थितिमें हो, जो अन्तमें निज स्वरूपमें लीन हो जाय । ऐसा अपूर्व कस्तर कब प्राप्त होगा ? ॥ ५ ॥

४५७

अपूर्व कस्तर एवो कबसे आये ? कबसे यह सब वास्तव निर्मम्य हो ?

तब संवत्सु संकन स्थिर होकर विचरते कब मृत्युस्थिति पथ ली ? अपूर्व ॥ १ ॥

तब मगनी औरतम्यवृत्ति कटी मात्र देह के संवत्सरेतु होय ली ?

अन्य कारणे अन्य कटी कबसे नहीं देह वन किंचित् मूर्छा नय लीय ली ? अपूर्व ॥ २ ॥

दर्शनमोह लीय वरु उपसर्गों लीय ली देह मिश्र केवल चैतन्यतु ज्ञान ली ?

तेनी प्रवीण चारित्र्यमोह विमोहिले वरु एतु छलस्वरूपतु ध्यान ली ? अपूर्व ॥ ३ ॥

आत्मस्थिरता नय संकित योगनी मुख्यस्थिति ली वरु देहपर्वत ली ?

जोर परिष्कार के उपसर्गमें कटी आनी छलसे नहीं ते स्थिरतामें अंत ली ? अपूर्व ॥ ४ ॥

संवत्सरा हेतु ही मगनीवर्तना स्वरूपतु विमोहना आवाज ली ?

ते वन वन वन कटी आनी स्थितिमें अंत कटी निजस्वरूपमें लीन ली ? अपूर्व ॥ ५ ॥

पौष विषयोंमें राग-द्वेषका अभाव हो, और पञ्चप्रमादके कारण मनमें क्षोभ न हो । तथा द्रव्य, क्षेत्र, काष्ठ और भावके प्रतिष्ठम विना ही ओमरहित होकर उदयके आधीन विचरण करें । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ६ ॥

क्रोधके प्रति क्रोध स्वभाव रहे, मानके प्रति सरलताका मान रहे, मायाके प्रति सत्ता-भावका माया रहे, और क्षोभके प्रति उसके समान क्षोभ न रहे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ७ ॥

बहुत उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी क्रोध न रहे, यदि चक्रवर्ती भी कदमा करे तो भी मान न हो; देह नाश होती हो तो भी एक रोममें भी माया उत्पन्न न हो, तथा प्रबल सिद्धि का कारण होनेपर भी क्षोभ न हो । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ८ ॥

नम्रभाव, मुहम्व, स्नानभाव, अद्वय-धोवन, इत्यादि परम प्रसिद्ध छत्रणरूप जो द्रव्यसंपन्न है; तथा केश, रान, नख अपना शरीरका शृंगार न करनेरूप जो भावसंपन्न है, उस द्रव्य-भाव सुयममय पूर्ण निर्मय अवस्था रहे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ९ ॥

शत्रु-मित्रके प्रति समदर्शिता रहे, मान-अपमानमें समभाव रहे, धीन-मरणमें म्यूनाधिक मात्र न हो, तथा ससार और मोक्षमें द्वन्द्व समभाव रहे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १० ॥

स्मृतिमानमें अकेले विचरण करते हुए, पर्वतमें बाध सिंहके उपयोगमें रहते हुए, मनमें क्षोभको प्राप्त न होकर अकेले आत्मनसे स्थिर रहें, और ऐसा समझें कि मानो परम मित्रका ही सवय प्राप्त हुआ है । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ११ ॥

भोर तपश्चर्यामें भी मनको उत्थाप न हो, स्वादिष्ट भोजनमें भी मनको प्रसक्तता न हो, तथा रज-क्लणसे लेकर वैमानिक देवोंकी अश्रितक समीको एक पुत्ररूप मानें । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १२ ॥

पक्ष विषयमां रागद्वेष विरहितता पक्ष प्रत्यक्ष न मळे मननो क्षोभ हो;

द्रव्य क्षेत्र नै काष्ठ भाव प्रतिष्ठमवय विचरतु उदयाधीनपत्र वीतक्षोभ हो । अपूर्व ॥६॥

क्रोधप्रत्ये तो वरें क्रोधस्वभावता मनप्रत्ये तो धीनपमलु मान हो;

मायाप्रत्ये माया ताई भावनी क्षोभप्रत्ये नहीं क्षोभ समान हो । अपूर्व ॥७॥

बहु उपसर्ग-कर्त्ताप्रत्ये पक्ष क्षोभ नहीं बरि चक्रि तथापि न मळे मन हो;

देह आप पत्र माना बाध न रोममां क्षोभ नहीं हो प्रबल सिद्धि निरुत्त हो । अपूर्व ॥८॥

नम्रभाव मुहम्वर वर अमानता अद्वयधोवन आदि परम प्रसिद्ध आ;

केश रोम मन्त्र के अंगे शृंगार नहीं द्रव्यमय संवममय निमग्न सिद्ध हो । अपूर्व ॥९॥

शत्रु मित्रप्रत्ये वरें समदर्शिता मन अमाने वरें ते न स्वभाव हो;

अश्रित के मरने नहीं म्यूनाधिकता मय मोक्ष पत्र द्वन्द्व वरें समभाव हो । अपूर्व ॥१०॥

एककी विचरतो कभी स्मृतिमानमां कभी पर्वतमां बाध सिंह संयोग हो;

अदोत आत्मन, ये मनमां नहीं क्षोभता परम मित्रनी आन पाया योग हो । अपूर्व ॥११॥

भोर तपश्चर्यामां पक्ष मनने तार नहीं उत्त अवध नहीं मनने प्रसक्तभाव हो;

रजद्रव्य के कर्म वैमानिक देवनी, तर्ने माया पुत्र एक रूपभाव हो । अपूर्व ॥१२॥

इस तरह चारिप्रमोहगीयका परमजय करके यहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान है उस दशाको प्राप्त करें, तथा क्षयक्रेपी वाक्छ होकर अतिशय श्रद्धा स्वभावका अपूर्व धितन करें। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १३ ॥

स्वयंभूरमणिकपी मोह-समुद्रको पार करके क्षीणमोह गुणस्थानमें आकर रहें, और यहाँ अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण बीतराग-स्वरूप होकर अपने केवलज्ञानको सजानेकी प्रगट करें। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १४ ॥

जहाँ चार जनघाटी कर्मोंका नाश हो जाता है, जहाँ ससारके बीजका आत्यंतिक नाश हो जाता है, ऐसी सर्वमायकी ज्ञाता ब्रह्मा ब्रह्म, ब्रह्महृत्प्रभु, और जहाँ अनंत वीर्यका प्रकाश रहता है, उस अवस्थाको प्राप्त करें। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १५ ॥

जहाँपर जमी हुई रस्तीकी आहस्तिके समान बेदनीय आदि चार कर्म ही बाकी रह जाते हैं। उनकी स्थिति देहकी आयुके आधीन है और आयु कर्मका नाश होनेपर उनकी भी मारा हो जाता है। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १६ ॥

जहाँ मन, बचन, काय, और कर्मकी वर्गजाकर समस्त पुत्रछोंका स्वयं छूट जाता है, ऐसा यहाँ अयोगकेवली नामका महाभाम्य, सुखदायक पूर्ण और बंधरहित गुणस्थान रहता है। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १७ ॥

जहाँ एक परमागुमायकी भी सर्वाता नहीं है, जो पूर्ण कर्मकरहित जड़ोत्तरूप है, जो ब्रह्म, निरंजन चैतन्यमूर्ति, अनन्यमय अगुरुप्रभु, जगद्गौर सहजपदक है। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १८ ॥

पूर्वप्रयोग आदि कारणोंसे जो ऊर्ध्व-गमन करके सिद्धात्मको प्राप्त होकर सुस्थित होता है, और दृष्टि-अनंत अनंत समाधि-सुखमें विराजमान होकर अनंत दर्शन और अनंत ज्ञानपुष्ट हो जाता है। ऐसा अपूर्व बनसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १९ ॥

एक परमजय करीने चारिप्रमोहनों जाते त्वां वनां कल्प अपूर्व मय्ये यो;

देवी क्षयक्रेपी करीने बासकता जगन्मधितम अतिशय श्रद्धा स्वभाव यो। अपूर्व ॥१३॥

मोह स्वयंभूरमण लुप्त रही करी स्थिति त्वां वनां क्षीणमोह गुणस्थान यो;

अंत समय त्वां पूर्णलक्ष्य बीतराग वह प्रयत्नसे निज केवलज्ञान निधान यो। अपूर्व ॥१४॥

चार कर्म जनघाटी से व्यक्तकेर त्वां मयनां बीजघातो आत्यंतिक नाश यो

सर्वभय ब्रह्मा ब्रह्म तत् ब्रह्मा ब्रह्महृत्प्रभु बीर्य अनंत प्रकाश यो। अपूर्व ॥१५॥

बेदनीयवदि चार कर्म कर्ते अहा, यमी तीक्ष्णकर आहस्ति मय यो;

ते देहायु आधीन केनी स्थिति च आहुत पूर्वे मय्ये वैदिकप्राप्त यो। अपूर्व ॥१६॥

मन बचन कदा मे कर्मनी वर्जना कृते त्वां लक्ष्य पुत्रछ लीन यो;

एतुं अयोगेति गुणस्थानक त्वां वर्तुण महाभाम्य सुखदायक पूर्वं अवयव यो। अपूर्व ॥१७॥

एक परमायु मायनी मये न सर्वाता पूर्वं कर्मकरहित जड़ोत्तरूप यो;

ब्रह्म निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय अगुरुप्रभु जगद्गौर सहजपदक यो। अपूर्व ॥१८॥

पूर्व प्रयोगादि कारणेना कोवली ऊर्ध्वगमन सिद्धात्म प्राप्त सुस्थित यो;

यदि अनंत अनंत समाधिपुनर्मय, अनंतदर्शन ज्ञान अनंत लक्षित यो। अपूर्व ॥१९॥

इस पदको धीसर्वज्ञने ज्ञानमें देखा है, परन्तु श्रीमद्भगवान् भी इसे कह नहीं सके । फिर इस स्वरूपको अन्य वाणीसे तो क्या कहा जा सकता है ? यह ज्ञान केवल अनुभव-गोचर ही ठहरता है । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ २० ॥

जिस परमपत्नी प्राप्तिमें मैंने ध्यान किया है, वह इस समय शक्ति बगैर यद्यपि केवल मनो-रूप ही है, तो भी यह रायचन्द्रके मनमें निश्चयसे है इसलिये प्रभुकी आज्ञासे उस स्वरूपको अवश्य पाऊँगा । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ २१ ॥

४५७

केवल समस्थित शुद्ध चेतन ही मोक्ष दे ।

उस स्वभावका अनुसन्धान ही मोक्ष-मार्ग है ।

प्रतीतिके रूपमें वह मार्ग जहाँ शुरू होता है वहाँ सम्पत्दर्शन है ।

एक देश आचरणरूपसे उस आचरणको धारण करना यह पंचम गुणस्थानक है ।

सर्व आचरणरूपसे उस आचरणको धारण करना यह छठा गुणस्थानक है ।

अप्रमत्तरूपसे उस आचरणमें स्थिति होना यह सप्तम गुणस्थानक है ।

अपूर्व आत्म-जागृतिका होना यह अष्टम गुणस्थानक है ।

सत्तागत स्थूल कपयोंका बन्धपूर्ण निजस्वरूपमें रहना यह नौवाँ गुणस्थानक है ।

” सूक्ष्म ” ” ” ” दसवाँ ”

” उपशान्त ” ” ” ग्यारहवाँ ”

” क्षीण ” ” ” बारहवाँ ”

४५८

ज्ञानी पुरुषोंकी प्रतिसमय अनंत समय-परिणामोंकी वृद्धि होती है—ऐसा सर्वज्ञने कहा है, यह सत्य है ।

वह समय, विचारकी तीव्र परिणतिसे तथा ज्ञानरसमें स्थिर होनेसे प्राप्त होता है ।

४५९

आकिञ्चिनरूपमें विचरते हुए
तन्मयप्रमत्तरूपमें रह जाऊँगा ।

एकदंत मीनके द्वारा जिनभगवान्के समान ध्यानपूर्वक में

वे एक भीलके पीछे जानमा कहीं राक्या नहीं पर ते भीमभगवान् भो;

तेह स्वप्नमें अन्य वाणी ते मुं करे । अनुभवगोचर ग्याय यह ते ज्ञान भो । अपूर्व ॥ २० ॥

पर परमपरमातिष्ठ कर्तुं ध्यान में गजानगर में हाथ मनोरथकम भो;

तो एक निश्चय राक्याक मनने श्रो प्रभुमाहाय बाई ते ज स्वप्न भो । अपूर्व ॥ २१ ॥

४६०

एक बार विशेष बातें हुए बिना बरि समीप जाने दे सकने योग्य अपूर्व समय प्रकट नहीं होगा। कैसे, क्यों, स्थिति करें।

४६१ बर्म्ह, कार्तिक सुदी १५-मीमा १९५१

श्रीलक्ष्मीनारायणकी एक श्रीमगीका उत्तर पक्षों संक्षेपमें लिखा है—

(१) जो आत्माका तो भ्रमोंत करे किन्तु दूसरेका न करे, वह प्रत्येकदुःख अपना अयोग्या केवली है। क्योंकि वे उपदेश-मार्ग नहीं चलाते हैं, ऐसा व्यवहार है।

(२) जो आत्माका तो भ्रमोंत नहीं कर सकता किन्तु दूसरेका भ्रमोंत करता है, वह अपरिम-सरीर आचार्य है, अर्थात् उसको कुछ मय धारण करना अभी और बाकी है। किन्तु उपदेश मार्गको धारणको द्वारा उसको पहिचान है इस कारण उसके द्वारा उपदेश सुनकर श्रोता जीव उसी मयसे इस संसारका अंत भी कर सकता है और आचार्यको उसी मयसे भ्रमोंत न कर सकनेके कारण उसे दूसरे मयमें रक्खा है। अपना कोई जीव पूर्वकालमें ज्ञानराजन कर प्रारब्धोदयमें मय धारणरामसे कर्मफलमें मनुष्य देह पाकर जिसने मार्ग नहीं जाना है, ऐसे किसी उपदेशकके पाससे उपदेश सुनने-पर पूर्व संस्कारसे—पूर्वक कालसे—ऐसा विचार करे कि यह प्रकृष्टता अत्यंत ही मोक्षदा है नही है, क्योंकि उपदेश अपनेसे मार्गको प्रकृष्टता कर रहा है अपना यह उपदेश देनेवाला जीव स्वयं अपरिमानी रहकर उपदेश दे रहा है, यह मया अनर्थ है—ऐसा विचार करते हुए उसका पूर्णराजन ज्ञान हो उठे, और वह उदयका माय कर मयका अंत करे—इसीसे निमित्तकूप प्रमाण कर ऐसे उप-देशका समाप्त भी इस मयमें किया होगा ऐसा मान्य होता है।

(३) जो स्वयं भी तरे और दूसरोंको भी तरे, वे श्री तीर्थकरादि हैं।

(४) जो स्वयं भी तरे नहीं और दूसरोंको भी तार न सकें वे कमल या दुर्मय जीव हैं।

इस प्रकार यदि समाधान किया हो या विनाशमय निरोधको प्राप्त न हो।

४६२

बर्म्ह, कार्तिक १९५१

कल्पसर्वश्री जो तादात्म्यपन है, वह तादात्म्यपन यदि निवृत्त हो जाय तो सदा स्वमात्रसे आत्मा मुक्त ही है—ऐसा श्रीकृष्णमादि अनंत ज्ञानी-गुरुक कह गये हैं। जो कुछ है वह सब कुछ उसी कर्मसे समाया हुआ है।

४६३

बर्म्ह, कार्तिक सुदी ११-मि १९५१

जब प्रारब्धोदय इत्यादि कारणोंमें निर्बंध हो तब विचारबाल जीवको विशेष प्रवृत्ति करना योग्य नहीं, अपना आत्मरासकी प्रवृत्ति बहुत संभावे करनी उचित है, केवल एक ही काम देखते रहकर प्रवृत्ति करना उचित नहीं है।

दुविधाके द्वारा किसी कर्मकी निवृत्तिकी इच्छा करते हैं तो वह नहीं होती, और आर्त्तभ्यान होकर ज्ञानकी मार्गपर पग रक्खा जाता है ।

४६४

वर्षा, मंगसिर सुदी ३ शुक्ल १९५१

प्रश्न —उत्सव गन्ध नहीं, अर्घ नहीं, और वह अशेष तथा अमेघ है, इत्यादि रूपसे श्रीजिन भगवान् परमायुकी व्याख्या कही है, तो इसमें अनन्त पर्याय किस तरह बट सकती हैं ? अथवा पर्याय यह एक परमायुका ही दूसरा नाम है या आर कुछ ? इस प्रश्नसूचक पत्र मिला था । उसका समाधान इस प्रकार है —

उत्तर —प्रत्येक पदार्थकी अनन्त पर्यायें (अवस्थाएँ) होती हैं । अनन्त पर्यायवर्धित कोई पदार्थ हा ही नहीं सकता—ऐसा श्रीजिनभगवान्का अभिमत है, और वह पर्याय ही माझम होता है । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमें अवस्थान्तरको प्राप्त करता हुआ प्रत्यक्ष निरुद्ध होता है । जिस तरह आत्मामें प्रतिक्षण सकल्प-विकल्प परिणतिपेकि कारण अवस्थान्तर हुआ करती हैं, उसी तरह परमायुमें भी वर्ष, गण, रस, रूप अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं । ऐसी अवस्थान्तरोंकी प्राप्ति होनेस उस परमायुके अनन्त भाग हुए, ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि वह परमायु अपने एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगा-हितको छोड़े बिना ही उस अवस्थान्तरोंको प्राप्त होता है । एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहितके अनन्त भाग हो नहीं सकते । एक ही समुद्रमें जिस तरह तरंगें उठती रहती हैं और वे तरंगें उसीमें समा जाती हैं; उसी तरहकि कारण उस समुद्रकी उसी अवस्थाएँ होनेपर भी जिस तरह समुद्र अपने अवगा-हित क्षेत्रको नहीं छोड़ता और न कहीं उस समुद्रके अनन्त भिन्न भिन्न हिस्से ही होते हैं, मात्र अपने ही स्वरूपमें वह क्रैवा करता है । उचित होना यह समुद्रकी एक परिणति है । यदि जल घात हो तो घातता उसकी एक परिणति है—कोई न कोई परिणति उसमें होनी जरूर चाहिए । उसी तरह वर्ष, गणदि परिणाम परमायुमें बदलते रहते हैं, किन्तु उस परमायुके कहीं टुकड़े हो जानेका प्रसंग नहीं आता । वे मात्र अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं । जैसे सोना कुड़काकारको छोड़कर मुकुटाकार होता है, उसी तरह परमायुकी भी एक समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी अवस्थामें कुछ अन्तर हुआ करता है । जैसे सोना दोनों पर्यायोंको धारण करनेपर भी सोना ही है, जैसे ही परमायु भी परमायु ही रहता है । एक पुरुष (जीव) बाह्यरूप छोड़कर जवान होता है, जवानी छोड़कर बुढ़ होता है, किन्तु पुरुष बही रहता है इसी तरह परमायु भी पर्यायोंको प्राप्त होता है ।

आकृति भी अनन्त पर्यायी है और स्थिति भी अनन्त पर्यायी है—ऐसा जिनभगवान्का अभिमत है । इसमें विरोध नहीं माझम होता । वह बहुत कुछ मेरी समझमें आया है, किन्तु विरोधरूपमें नहीं किसे या सुननेके कारण, जिससे तुमको वह बात विचार करनेमें कारण हो, इस तरह ऊपर ऊपर से सिद्धि है ।

औरमें मेघ-उन्मेष जो अवस्थाएँ हैं, वे उसकी पर्यायें हैं । दीपककी हलन बलन स्थिति उसकी पर्याय है । आत्मामें सकल्प-विकल्प दशा अथवा ज्ञान-परिणति यह उसकी पर्याय है । उसी तरहसे वर्ष गण परिणमनको प्राप्त हो, यह परमायुकी पर्याय है । यदि इस तरहका परिणमन न हो तो यह

बगल इस विषयका कोई प्रश्न न हो सके, क्योंकि यदि एक परमाणुमें पर्याप्त न होगी तो सभी परमाणुओंमें भी पर्याप्त न होगी। संयोग, वियोग, एकत्व, द्वयकृत्य इत्यादि परमाणुकी पर्याप्तता है और वे सभी परमाणुओंमें होती हैं। जिस तरह मेघ-उन्मेषसे चक्रवर्ती नारा नहीं होता, उसी तरह यदि इन भावोंका प्रति समय उसमें परिवर्तन होता रहे तो भी परमाणुका व्यय (मात्र) नहीं होता।

४६५ मोहमयी (मन्वी) मगसिर कती ८ पुत्र १९५१

यहसि निवृत्त होनेके बाद बहुत करके बचायीका अर्थात् इस मन्वीके अन्तःप्रमाणमें साधारण व्यावहारिक प्रसंगसे जानेकी जरूरत है। चित्तमें बहुत प्रकारसे उस प्रसंगक छूट सकनेका विचार करनेसे उससे छुट्टा जा सकता है, यह भी समझ है। फिर भी बहुतसे जीवोंको व्यर्थ कारणों से ही कभी अधिक सचेत होनेकी भी सम्भावना होती है। इसलिये अप्रतिबन्ध भावको विशेष ध्यान करके यहाँ जानेका विचार है। यहाँ जानेपर एक मन्वीसे अधिक समय क्या जाना संभव है। कदाचित् दो मन्वी भी लग जाँय। उसके बाद फिर यहाँसे जाकर इस क्षेत्रकी तरफ जाना हो सकेगा, फिर भी यहाँ तक हो सकेगा यहाँ तक दो-एक मन्वीका एकत्रितमें निवृत्ति योग निक सके तो ऐसा करनेकी इच्छा है, और वह योग अप्रतिबन्ध भावसे हो सके इसका विचार कर रहा हूँ।

सब व्यावहारिकसे निवृत्त हुए बिना चित्त ठिक्काने नहीं बैठता ऐसे अप्रतिबन्ध—असंगभावका चित्तमें बहुत कुछ विचार किया है। इस कारण उसी प्रसङ्गमें रहना होता है। किन्तु उपर्युक्त प्रारम्भके निवृत्त होनेपर ही ऐसा हो सकता है इतना प्रतिबन्ध पूर्वज्ञता है—अज्ञानकी इच्छाका प्रतिबन्ध नहीं है।

सर्व समान्य लोक व्यावहारिकसे निवृत्तिसंबन्धी प्रसंगके विचारको किसी दूसरे प्रसंगपर बतानेके लिये रखकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेकी विषय इच्छा रहा करती है। किन्तु वह भी उदयके सामने नहीं बनता। फिर भी वह तिन पाँच विन्तन रहा करता है तो समझ है कि थोड़े समय बाद यह हो जाय। इस क्षेत्रके प्रति कुछ भी होय मान नहीं है, तथापि संगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयोजन बिना यहाँ रहना अज्ञानके कुछ विशेष कामका कारण नहीं है, ऐसा जानकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है।

यद्यपि प्रवृत्ति भी निवृत्तिसिद्धिसे किसी भी तरह प्रयोजनमूलक नहीं लगती है, तो भी उदयानुसार काम करते रहनेके ज्ञानके उपदेशको अंगीकार कर उदयको सामनेके लिये हमें प्रवृत्ति-योग देना पड़ा है।

ज्ञानपूर्वक अज्ञानमें उत्पन्न हुआ यह निश्चय कभी भी नहीं गलतता है कि समस्त संग बड़ा माघ अज्ञान है; बहुतों देखते प्रसंग करते एक समयमात्रमें यह निजभावको विस्मरण करा देता है; और वह बात प्रापञ्च देखनेमें भी आई है जाती है और जा सकती है। इस कारण वह तिन इस बड़े आद्यप्रमाण समस्त संगमें उठाया मान रहता है और वह तिन प्रतिदिन बहुत ही जाता है इसलिये विशेष परिणामको प्राप्त कर सब संगोंसे निवृत्ति हो, ऐसी अपूर्व कारण-योगसे इच्छा रहा करती है।

समझ है यह पत्र प्रारम्भसे व्यावहारिक स्वभावमें लिखा गया मन्त्रम हो किन्तु इसमें यह बात निवृत्त भी नहीं है। असंगभावके विषयमें अज्ञान-भावनाका योद्धान्ता विचारमात्र यहाँ लिखा है।

४६६

नवम्बर मंगलवार ० शुक्र १९५१

ॐ

ज्ञानी पुरुषका सात्त्विक होनेसे—निश्चय होनेसे—और उसका मार्गका आराधन करनेसे जीवका दर्शनमोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है अथवा क्षय हो जाता है, और क्रम क्रमसे सर्वज्ञानकी प्राप्ति होकर जीव कृतज्ञत्व होता है—यह बात यद्यपि प्रकट सत्य है किन्तु उससे उपाशित प्रारम्भ भी नहीं भोगना पड़ता, यह सिद्धांत नहीं हो सकता। जिसके केवलज्ञान हुआ है, ऐसे बीतरुपाको भी जब उपाशित प्रारम्भस्वरूप चार कर्मोंको भोगना पड़ता है, तो उससे भीची भूमिकामें स्थित जीवोंको प्रारम्भ भोगना ही पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। जिस तरह उस सर्वज्ञ बीतरुपाको चनघाटी चार कर्मोंको, उनका नाश हो जानेके कारण, भोगना नहीं पड़ता है, और उन कर्मोंके पुनः उत्पन्न होनेके कारणोंकी स्थिति उस सर्वज्ञ बीतरुपामें नहीं है, उसी तरह ज्ञानीका निश्चय होने पर अज्ञान मात्रसे जीवको उदासीनता होती है और उस उदासीनताके कारण ही अभिव्यक्तिके उस प्रकारका कर्म उपाशन करनेका उस जीवको कोई मुख्य कारण नहीं रहता। यदि कदाचित् पूर्वानुसार किसी जीवको निरपेक्ष उदय हो जाय, तो भी वह उदय क्रमशः उपशान्त एवं क्षय होकर, जीवको ज्ञानीके मार्गकी पुनः प्राप्ति होती है और वह अर्धपुत्र-परावर्तनमें अवश्य ही संसार-मुक्त हो जाता है। किन्तु समकाली जीवको, अथवा सर्वज्ञ बीतरुपाको, अथवा अन्य किसी योगी या ज्ञानीका ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे उपाशित प्रारम्भ न भोगना पड़े, अथवा दुःख न हो, यह सिद्धांत नहीं हो सकता।

तो फिर हमको तुमको जहाँ मात्र सत्त्वका अभ्यस ही लाभ होता है, वहाँ सब सांसारिक दुःख निवृत्त हो जाने चाहिये—ऐसा मानने लगे तब तो केवलज्ञानाणि निरर्थक ही हो जायेंगे। क्योंकि उपाशित प्रारम्भ यदि बिना भोगे ही नष्ट हो जाय तो फिर सब मार्ग हूँट ही हो जाय। ज्ञानीके संसर्गसे अज्ञानीके प्रसंगकी कृति मुरझा जाती है एवं सत्त्वासत्त्वका विभेद होता है अनन्तानुबन्धी प्रोधाणि खप जाते हैं; और क्रम क्रमसे सब राग-द्वेष क्षय हो जाते हैं—यह सब कुछ होना समझ है, और ज्ञानीका निश्चय-ज्ञान यह अव्यक्तिके ही अथवा सुगमगमसे हो जाता है यह सिद्धांत है। तो भी जो दुःख इस तरहसे उपाशित किया हुआ है कि जिसका भागे बिना नाश न हो उसे तो भागना ही पड़ेगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

मेरी आन्तरिक मायता तो यह है कि यदि परमार्थके हस्तुस किसी सुमुमुक्षु जीवको मेरा प्रसंग हो और वह अवश्य मुझसे परमार्थिक हस्तुकी ही इच्छा करे या ही उसका कल्याण हो सकता है। किन्तु यदि द्रष्टाणि कारणकी कुछ भी इच्छा रहे अथवा वैस व्यवसायका मुझ उसका भाग पता चले जाय, तो फिर वह जीव अनुक्रमसे मन्त्रिण पासनाको प्राप्त होकर मुष्णुताका नाश करता है—यमा मूख निश्चय है। और इसी कारणसे तुम्हारी तरफसे जब जब व्यावहारिक प्रसंग विन्ना आया है तब तब तुमका कष्ट बार उपाशित देकर मूखिण भी किया या कि मेरे प्रति तुम्हारे द्वारा इस प्रकार व्यवसाय व्यक्त न किया जाय, इसका तुम अवश्य ही प्रयत्न करना। और हमें याद आ रहा है कि तुमने मेरी इस सूचनाको स्वीकार भी की थी, किन्तु तत्पुनःसुता योही समपन्न ही हुआ। हमें अब फिर व्यवसायिक संघर्षमें तुम ठिक्के लगे हो, या आनेके हमारे पत्रपर मनन कर अवश्यमेव उस बातका

तुम छोड़ देना और यदि नित्य बैठी ही वृत्ति रखना करोगे तो यह अवश्य ही तुम्हारे लिये हितकारी होगा। उससे मुझे ऐसा भास्य होगा कि तुमने मेरी वाग्वर्तिष्ठको उल्लासित करनेका कारण दिया है। संसारक प्रसंगमें कोई भी ऐसा करे तो मेरा चित बहुत निवारमें पड़ जाता है अथवा घबरा जाता है, क्योंकि 'परमार्थको नाश करनेवाली यह मानना इस जीवनके उदयमें बर्बाद,' ऐसा भाव, जब जब तुम व्यवसायके सन्धयमें खिसा करते हो तब तब मुझे प्राय हुआ करता है। फिर भी आपकी वृत्तिमें विशेष परिवर्तन होनेके कारण थोड़ी बहुत कबरावृत्त चितमें कम हुई होगी। तुमको परमार्थकी इच्छा है इसलिये इस बातपर तुमको अवश्य स्थिर होना चाहिये।

४६७

कर्म मगसिर कदी ११ रवि १९५१

परसोंके दिन लिये हुए पत्रमें जो गमीर आचार्य लिखा है वह विचारवान् जीवनको अन्तर्गत परम द्वैतीय है। हमने तुम्हें यह उपदेश अनेक बार दोहरा-बहुत किया है। फिर भी आजीविकाके कष्टसे उत्पन्न देशक कारण तुम बहुत बार उसे भूल गये हो अथवा भूल जाते हो। हमारे प्रति माताके समान तुम्हारा अधिकार है ऐसा मानकर खिन्नेमें कोई हानि नहीं है। तथा कुछ सख्त करनेकी असमर्थताके कारण हमारेसे जैसे व्यवहारकी याचना तुम्हारे द्वारा दो प्रकारसे हुई है—एक तो किसी सिद्धि-योगसे कुछ मिटाया जा सके इस मत्कबकी, और दूसरी याचना किसी व्यापार रोजगार आदिकी। इन दोनों प्रकारकी तुम्हारी याचनाओंमेंसे एक भी हमारे पास करना वह तुम्हारी अन्तर्गत हितके कारणकी रोक्नेवाला और अनुक्रमसे यकिन वास्तविक कारण होगा। क्योंकि जिस मूमिमें जो करना अनुचित है, और यदि कोई जीव वही उसमें करे तो उस समिकार्य उस अवश्य ही त्याग करना पड़ेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। तुम्हारी हमारे प्रति निष्काम मक्ति होना चाहिये, और तुमका कितना भी कुछ क्यों न जा पड़े फिर भी तुम्हें उसे पूर्णपूर्वक ही सख्त करना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो भी उसके एक अक्षरकी भी सूचना हमको न करनी चाहिये—यही तुमको सर्वथा योग्य है। और तुमको बैठी स्थितिमें देखनेकी बितनी मेरी इच्छा है और कितना तुम्हारा उस स्थितिमें हित है वह पर्याप्त अथवा वचनशून्य हमसे बताया नहीं जा सकता। फिर भी पूर्वमें किसी उसी उदयके कारण तुम उस बातको भूल जाते हो। जिससे तुम्हें हमको सिद्धकर सूचित करनेकी इच्छा बनी रहती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओंमें प्रथम कहीं हुई याचना तो किसी भी निष्काम-मध्यको करनी योग्य ही नहीं है और यदि कदाचित् कल्पमान हो भी तो उस मूलसे ही कष्ट वाचना उचित है। क्योंकि वह उन्कोतर सिद्धिवाक्य कारण है ऐसा कार्यकारिण निश्चय है और वह हमको भी समान्य मान्य होता है। दूसरी प्रकारकी याचना भी करना योग्य नहीं है, क्योंकि वह भी हमारे लिये परिश्रमका कारण है। हमका व्यवहारका परिश्रम लेकर व्यवहार निमाना यह इस जीवनकी सद्गतिकी बहुत ही अप्यता वातना है। क्योंकि हमारे लिये परिश्रम करके तुम्हें व्यवहारका चला लेना पड़ता हो तो वह तुम्हारे लिये हितकारी है, और हमारे लिये भी बेशुद्ध निमित्तका कारण नहीं है। ऐसी परिस्थिति होनेपर भी हमारे

चित्तमें ऐसा विचार रहा करता है कि जबतक हमसे परिग्रह आदिका छेद देनेका व्यवहार उत्पन्न हो तबतक स्वयं उस कार्यको करना चाहिये, अपना उसे व्यवहारसम्बन्धी नियमोंसे करना चाहिये। किन्तु मुमुक्षु पुरुषको तत्सर्वभी परिग्रह न करनी चाहिए, क्योंकि उस कारणसे जीवके मस्तिष्क बाधनाका पैदा हो आना समझ है। कदाचित् हमारा चित्त सुदृढ़ हो रह सकता हो, किन्तु फिर भी काष्ठ ही कुछ ऐसा है कि यदि द्रव्यसे भी छुट्टि रखें तो दूसरे जीवमें नियमता पैदा न होन पावे, और अशुद्ध इच्छित्त जीव भी तदनुसार वर्तन कर परम पुरुषोंके मार्गका नाश न करे—इत्यादि विचारपर मेरा चित्त खड़ा रहता है।

तो फिर जिसका परमार्थ-बोध अपना चित्त-शुद्धिमात्र हमसे कम है। उस तो अवश्य ही उम-समाणांकी मजबूत बनाये रखनी चाहिये, यही उसके छिये प्रबल श्रेय है, और तुम्हारे जैसे मुमुक्षु पुरुषका तो अन्तर्गत ही बैसा करना उचित है। क्योंकि तुम्हारा अनुकरण सब ही दूसरे मुमुक्षुओंके हितहितका कारण हो सकता है। प्रायः जानेकी नियम अवस्थामें भी तुमको निष्कामता ही रखनी चाहिये—हमारा यह विचार तुम्हारी आजीविकाके कारण चाहे जैसे कुछ लोगोंके प्रति अनुकम्पा होनेपर भी भिन्न नहीं है किन्तु उच्छा और क्लेशाल होता है। इस विषयमें निश्चय क्षण देकर तुम्हें निश्चय कराना ही इच्छा है और वह निश्चय तुम्हें हमारा ही, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

इस प्रकार तुम्हारे अपना दूसरे मुमुक्षु जीवोंके हितके छिये मुझ ओं ठीक लगा वह ठीका है। इतना छिन्नके बाद मेरे आत्मार्थके संबंधमें मेरा कुछ दूसरा ही निजी विचार है, जिसका छिन्नना उचित न था। किन्तु तुम्हारी आज्ञाको दुखाने जैसा मैंने तुम्हें कुछ ठीका है, इसछिन्न उसका छिन्नना योग्य मानकर हूँ। उस यही ठीका है। वह इस प्रकार है कि जबतक परिग्रहात्मिका लगा दमा हो—जैसा व्यवहार हमारे उदयमें था, तबतक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु अपना सत्पात्र जीवकी अपना उसकी हमारे द्वारा अनुकम्पा मात्रकी ओं कुछ भी सेवा-आचारी, उसको कहे बिना ही, की जा सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करनी चाहिये। क्योंकि इस मार्गको श्रम आदि महापुरुषोंने भी कही कही जीवकी गुण-नियमताके छिये आवश्यक माना है। यह हमारा अपना निष्काम विचार है और बैसा आचरण सत्पुरुषोंके छिये निषिद्ध नहीं है, किन्तु किसी प्रकारसे वह कल्प्य ही है। यदि उस विषय या सेवा-आचारीमें उस जीवके परमार्थका निरोध जागा हो तो उसका भी सत्पुरुषको उपशमन ही करना चाहिये।

४६८

कनई मंगलिक १०५१

श्रीविमल आत्म-परिणामकी स्वस्थताका समाधि, और आत्म-परिणामकी अत्यन्तताका अनुमानि कष्ट है। यह अनुभव-ज्ञानसे अत्यन्त परम सत्य सिद्ध होता है।

अत्यन्त कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्म-परिणामका अत्यन्त रचना, ०मी नियम प्रवृत्ति कीतीर्थरर जैसे ज्ञानीज्ञान भी बनना कठिन कही है, तो फिर दूसरे औरत इस उम बाधका मेमचित कर गिगाना कठिन हो हमन कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

किसी भी पर पार्यके किये इच्छाकी प्रवृत्ति करना, और किसी भी पर पार्यमें नियोगकी चिन्ता करना, उसे श्रीब्रिन आध्यात्मन कहते हैं, इसमें सन्देह करना योग्य नहीं है।

तीन बर्तके उपरि-योगसे उत्पन्न हुए विक्षेप भावको मिटानेका विचार रहता है। जो प्रवृत्ति एवं वरम्पणनके चिन्तको भाषा कर सकती है वह प्रवृत्ति यदि अदृष्ट वरम्पणन जीवको कल्याणके सम्मुख न होने दे तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

संसारमें कितनी परिणतियोंका सारभूत माना गया है, उतनी ही आश्रम-ज्ञानकी न्यूनता भीतीय कारण करी है।

परिणाम अब हाता है ऐसा सिद्धांत नहीं है। चेतनको चेतन परिणाम होता है और अचेतनको अचेतन परिणाम होता है, ऐसा ब्रिनमगवान्ने अनुमन किया है। परिणाम अथवा पर्यावरणित कोई भी पदार्थ नहीं है ऐसा श्रीब्रिनने कहा है और यह सत्य है।

श्रीब्रिनने जो आमानुमन किया है और पदार्थके स्वभावको साक्षात्कार कर जो निरूपण किया है वह सब सुमुख जीवोंको अपने परम कल्याणके किये अवश्य ही विचार करना चाहिये। ब्रिन मगवान्द्वारा कथित सब पार्यके भाष एक अग्रवाको प्रकट करनेके लिये ही हैं और माध्यमार्ग प्रवृत्ति तो कबल दाकी ही होती है — एक आश्रम-ज्ञानीकी और एक आश्रम-ज्ञानीक आश्रमपथनकी — पसा श्रीब्रिनने कहा है।

बेनकी एक मुक्तिमें कहा गया है कि आत्माको सुनना चाहिये, विचारना चाहिये, मनन करना चाहिये अनुमन करना चाहिये अर्थात् यदि केवल यही एक प्रवृत्ति की जाय तो जीव संसार सागरको तैरकर पार पा जाय ऐसा लगता है। वास्तु तो भीतीयकारके समान ज्ञानीके बिना हर चिह्नोंको इस प्रवृत्तिको करने हुए कल्याणका विचार करना उसका निश्चय होना तथा अश्रम-स्वयत्ताका प्राप्त होना दुःख है।

४६९

बर्म्स मंगसिर १९५१

ईश्वरेच्छा बलवान् है और काष्ठ भी बड़ा विषम है। पहिल ही जानत थे और स्पष्ट अज्ञान था कि ज्ञानी-पुरुषको सकल भाषसहित भगवत्से आत्माका प्रतिवेक होता है और बहुत दूर तो ऐसा होता है कि परमाप दृष्टि मष्ट होकर संसारार्थ दृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसा दृष्टि होनेसे पुन सुख-मोक्षिता प्राप्त होना बड़ी कठिन बात है ऐसा जानकर कोई भी जीव सकल भाषसे समागम न कर, हमी प्रचारण आचरण ही रहा था। हमने तुमका तथा श्री -- आदिको इस मार्गके संरंभमें कहा था किन्तु हमारे दूसरे उपदेशोंकी भीति किसी पूर्ण प्रारम्भ योगस सकल ही उसका प्रवृत्ति नमको मही लग्य था। हम अब कभी भी तत्संबंधी कुछ भी कहत थे तब पूर्वके आचार्योंने ऐसा आचरण दिया है—अर्थात् प्रकारक प्रयुक्त दिव जाने थे। उन उत्तरोंमें हमारे चिन्तमें इसलिये बड़ा गम होना था कि यह गुरुत्व-वृत्ति दुःख कायक प्रारणणमें सुमुख पुरुषमें भी भाव है नहीं ता उमरा गममें भी होना संभव न था। यद्यपि उस सकल-वृत्तिस्व तुव परमार्थ दृष्टिमात्रको भूय जाओगे पसा

संशय नहीं होता था, फिर भी प्रसंगानुसार परमार्थ इष्टिके लिये शिक्षितताका कारण होनेकी समावना निम्न देती थी । किन्तु उसको देखते हुए कहा देना ता इसलिये होता था कि इस समुच्चयी पुनःपुनः सम्प्रयुक्ति विशेष होगी और परमार्थ इष्टि भिट जायगी, अथवा उसकी उत्पत्तिकी समावना दूर हो जायगी, और इस कारणसे दूसरे बहुतसे जीवोंको वह स्थिति परमार्थकी अप्राप्तिये हेतुभूत होगी । फिर सकाममात्से यत्नेवालेकी इष्टिको प्राप्त करना हमारे द्वारा होना कठिन बात है, इसलिये सकामी जीवोंको पूर्वापर विरोध बुद्धि होने अथवा परमार्थ—पूज्यभावना दूर हो जानेकी समावना हमें जो निम्न देनी थी, वह वर्तमानमें न हो, उसका विशेष उपयोग रहे, इसीलिये उसे सामान्यरूपसे लिखा है । पूर्वापर इस बातका माहुर्य समझा अन्य और दूसरे जीवोंका उपकार हो बैसा विशेष उच्छर रखना ।

४७०

बम्बई, पाप सुनी १ पुनः १९५१

मिस किसी प्रकार असंगतताद्वारा आममात्र साम्य हो उसी प्रकारका आचरण करना, यही त्रिनमगवान्की आज्ञा है ।

इस उपाधिन्त्य व्यापारि प्रसंगसे दूरनेका बारबार विचार रहा करता है, तो भी उसका अप रिक्त काक समझकर उदयके कारण व्यवहार करना पड़ता है । किन्तु उपरि-लिखित त्रिनमगवान्की आज्ञा प्राप्त विस्मरण नहीं होती है, और हाइमें तो हम तुमको भी उसी भावक विचार करनेके लिये कहते हैं ।

४७१

बम्बई पाप सुनी १० एप्री १९५१

प्रत्यक्ष जटिलता होनेपर भी उसकी त्याग करनेकी जीवकी इच्छा नहीं होती, अथवा वह अत्याचार्य शिक्षितताको त्याग नहीं सकता, अथवा वह त्याग बुद्धि होनेपर त्याग करने करत कान् यापन करता जाता है—इस सब विचारोंको जीव वीस दूर करे, अन्यथायमें बैसा करना कठिन है, इस विषयमें हो सके तो पत्रद्वारा लिखना ।

४७२

बम्बई, पाप सुनी २, १९५१

*२-२-१मा—१९५१

इस,

एक सध

क्षेत्र

माइमपी

काठ

—मा ४ ८१

मात्र

उत्तमार्थ

* १०वीं पृष्ठ—१-१-१मा—१ ५१=[१=दिशिया २=उत्तम वर ३=वीर मा=मात्र १ ५१=जन्म १९ १]=वीर वरी १ १ ५१

इस=पत्र

एक लक्ष=एक लाख

क्षेत्र=क्षेत्र

माइमपी=बम्बई

काठ=काठ

मा ४ ८-१=एक वर्ष और आठ महीने

—हम विचारना क्षेत्र वरी १ १९५१ के दिन निम्नी गह है कि इस-वारा एक लक्ष पत्रोंकी कान् बम्बईमें एक वर आठ महीने निराल करना और देनी हिन हानन भी उदयमार्थके अनुसार प्रशति करना । —अनुसार

अर्थ— एक कथ	उदासीन
छेद— मोक्षमयी	
कथ— ८-१	इच्छा
मात्र— उन्मत्त	प्रारब्ध

४७३

बम्बई पौष कदी १० रवि १९५१

(१)

विषम संसारके बंधनको तोड़कर जो बन्ध निकलै, उन पुरुषोंको अनन्त प्रणाम है

चित्तकी व्यवस्था क्यायोग्य न होनेसे उदय प्रारम्भके सिवाय अन्य सब प्रकारमें अस्वभाव रखना ही योग्य माह्य होता है; और यह बहोतक कि जिनके साथ ज्ञान-पहिचान है, उनको भी हाथमें मूख जाँच तो अच्छी बात। क्योंकि सुगसे निष्कारण ही उपाधि कहा करती है और किसी उपाधि सहन करने योग्य हाथमें मेरा चित्त नहीं है। निरुपपत्तके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेकी इच्छा माह्य नहीं होती है; और जो व्यापार व्यवहारकी निरुपपत्ता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चित्ता रहा करती है। वही तरह मनमें दूसरेको बोध करनेके उपपत्त मेरी योग्यता हाथमें मुझे नहीं लगती, क्योंकि जबतक सब प्रकारके विषम व्यापारोंमें समष्टि न हो तबतक धर्माध्य आश्रयन नहीं कहा जा सकता और जबतक ऐसा हो तबतक तो निज व्यापारकी रक्षा करना ही योग्य है और हाथमें उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं इसी प्रकार रहा रहा हूँ यह धम्म है। क्योंकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

(२)

वेदांग जगत्को सिद्धा कहा है इसमें अस्त्य ही क्या है।

४७४

बम्बई पौष १०५१

३३

यदि ज्ञानी-पुरुषके वह आश्रयसे खोलेख्य मोक्षपद सुखम है तो फिर प्रतिकूल आश्रययोगको स्थिर करने योग्य यह करिज मार्ग उस ज्ञानी-पुरुषके वह आश्रयसे होना सुखम क्यों न हो। क्योंकि

करी इस वदय चित्त विचार किना माह्य होता है —

प्रश्न—एक कथ क्या चित्त तरह प्राप्त हो ?

उत्तर—उदासीन रहनेसे।

प्रश्न—बम्बईमें चित्त तरह निवात हा ?

उत्तरमें कुछ नहीं कहा गया।

प्रश्न—एक वर्ष और आठ महीनेका कथ चित्त तरह ज्ञानी किना क्या ?

उत्तर—इच्छाप्रवृत्ति।

प्रश्न—उदयप्रवृत्ति क्या है ?

उत्तर—प्रारब्ध।

—अनुपम

उस उपयोगकी एकप्रताके बिना तो मोक्षपदकी उत्पत्ति है ही नहीं। ज्ञानी-पुरुषके बचनका वह आश्रय जिसको हो आप उसको सर्व साधन सुखमें ही जाते हैं, ऐसा अस्वस्थ निधय संपुरुषमें किया है। ता फिर हम कहते हैं कि इन वृत्तियोंका जय करना ही योग्य है। उन वृत्तियोंका जय क्यों नहीं हो सकता ? इतना तो सत्य है कि इस दुःख काष्ठमें सत्सगकी समीपता अथवा वह आश्रम अधिक चाहिये, और वत्सलसगसे-अत्यन्त निवृत्ति चाहिये; तो भी मुमुक्षुके लिये तो यही उचित है कि कठिन से कठिन आश्रम-साधनकी ही प्रथम इच्छा करे, जिससे सर्व साधन अल्पकाष्ठमें ही कष्टीभूत हो जाय।

श्रीतीर्थकरने तो इतनातक कहा है कि जिस ज्ञानी-पुरुषकी ससार-परिक्षीण दशा हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुषके परपरा-कर्मबंध होना समझ नहीं है, तो भी पुरुषार्थका ही मुद्रय रखना चाहिये, जो दूसरे जीवके लिये भी आत्मसाधनके परिणामका हेतु हो।

ज्ञानी-पुरुषको आत्म-प्रतिबन्धरूपमें ससार-सेवा होती नहीं किन्तु प्रारब्ध-प्रतिबन्धरूपमें होती है, फिर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामकी प्राप्ति ही ज्ञानीकी रीति हुआ करती है। जिस रीतिका आश्रय करते हुए आज तीन बर्षोंसे विशेषरूपसे बसा किया है, और उसमें अक्षयमेव आत्म-शाकी मुक्तिके समझ रहे ऐसे उद्यमको भी यथाशक्य समभावसे सुझ किया है। यद्यपि उस बदन काष्ठमें सत्सग निवृत्ति किसी भी प्रकारसे हो जाय तो बड़ी अच्छी बात हो, ऐसा सत्य प्यार रहा है। फिर भी सर्वसग निवृत्तिसे जैसी दशा होनी चाहिये, वह दशा उदयमें रहे, तो अल्पकाष्ठमें ही विनोद कर्मकी निवृत्ति हो जाय, ऐसा जानकर जितना हो सका उसना उस प्रकारका प्रयत्न किया है। किन्तु मनमें अब यों रहा करता है कि यदि इस प्रसंगसे जर्वात् सकल गृहस्थासे दूर न हुआ जा सके, तो न सही, किन्तु यदि व्यापारिण प्रसंगसे निवृत्त-दूर-हुआ जा सके तो उत्तम हो। क्योंकि अहमभावसे परिणामकी प्राप्तिमें ज्ञानीकी आ दशा होनी चाहिये, वह दशा इस व्यापार-व्यवहारसे मुमुक्षु जीवका दिव्य नहीं पत्ती है। इस प्रकार जो लिखा है उसके विषयमें अभी हाथमें कमी कमी विचार विचार उचित होता है उनका जो कुछ भी परिणाम आवे सा ठीक।

४७५

बम्बई, माघ सुदी २ रवि १०५१

चित्तमें कौद् भी विचारवृत्ति परिणामी है, यह जानकर हृदयमें आनंद हुआ है। असार एवं वैशाल्य आरंभ परिग्रहके कार्यमें रहन हुए यदि यह जीव कुछ भी निधय अथवा अज्ञात रह तो बहुत बर्षोंक उपसिद्धि वैराग्यके भी निष्फल भव जानेकी दशा हो जाती है। इस प्रकार नित्य प्रति निधयको याद करके निरुपाय प्रसंगमें हरने कोजत हुए चित्तम अनिवाच्यरूपमें प्रवृत्त होना चाहिये—इस बातका मुमुक्षु जीवके प्रत्येक कार्यमें क्षण क्षणमें आर प्रत्येक प्रसंगमें उत्पन्न रहना बिना मुमुक्षुता रहनी दुःख है और एही त्यागका अनुभव किये बिना मुमुक्षुता भी समझ नहीं है। मेरे चित्तमें हाथमें यही मुख्य विचार हो रहा है।

४७६

बन्धु, माघ सुदी ३ सोम १९५१

जिस प्रारम्भको भोगे बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है, वह प्रारम्भ ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अततक आत्मार्थको त्याग करनेकी इच्छा न करे, इतनी ही मित्रता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है, वह सत्य है।

४७७

माघ सुदी ७ शनिवार विह्वल सप्त १९५१ के बाद डेढ़ बरसों अधिक स्थिति नहीं आए उत्तम काममें उसके बादका जीवनका कितना तरह भोगा जाए, उसका विचार किया जायगा।

४७८

बन्धु, माघ सुदी ८ रवि १९५१

तुम्हें पत्रमें जो कुछ लिखा है, उसपर बारबार विचार करनेसे जागृति रखनेसे, जिनमें एक विद्ययादिका अङ्गुलि-स्पर्श एक वर्षम किया हो, ऐसे शास्त्रों एवं स्युद्धोंके जटिलोंको विचार करनेसे तथा प्रत्येक कार्यमें सत्य रहकर प्रवृत्त होनेसे जो कुछ भी उदात्त भावना हमी उचित है सो होगी।

४७९

बन्धु फाल्गुन सुदी १२ बुध १९५१

जिस प्रकारसे बचनोसे छूटा जा सके, उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करना यह हितचक्षु की काम है। ब्रह्म परिचयको विचारकर निवृत्त करना यह हृदयका एक मार्ग है। और इस बातको धिन्नी विचार करेगा उतना ही ज्ञानी-पुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आता जायगा।

४८०

बन्धु, फाल्गुन सुदी १४ रवि १९५१

अशरण इस संसारमें निश्चित बुद्धिसे व्यवहार करना जिसको योग्य न समझा हो और उस व्यवहारके सबको निवृत्त करने एक काम करनेमें विशेष काळ व्यतीत हो जाया करता हो तो उस कामको व्यवसायमें करनेके लिये जीवनको क्या करना चाहिये? समस्त संसार धूल आदि मयोंके कारण अशरण है वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना केवल भ्रम-तृष्णाके जालके समान है। विचार कर करके अतीत्यकर जैसे महापुरुषोंने भी उससे निवृत्त होना—भ्रम जाना—याही उपाय है। उस संसारके मुख्य कारण प्रेम-बचन तथा द्वेष-बचन सब ज्ञानियोंमें स्वीकार किये हैं। उनकी व्यक्तिके कारण जीवनको निजका विचार करनेका अवकाश ही प्राप्त नहीं होता है और यदि होता भी है तो उस योगसे उन बचनोंके कारण अग्रणीय प्रवृत्ति नहीं कर सकता और वह समस्त प्रमादका हेतु है। और सब प्रमादसे केशमात्र-समयकाष्ठ—भी निर्मय लपटा अज्ञात रहना यह इस जीवनकी अतिशय निर्विकृता है, अतिशयिता है आति है और उसके दूर करनेमें अति कठिन मोक्ष है।

समस्त संसार दो प्रकारसे वह रहा है—प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना दूधसे

दृष्ट नहीं जाता, और प्रेमसे निरक्त पुरुषसे सर्व समासे निरक्त हुए बिना व्यवहारमें रहकर अप्रेम (उदत्त) दशा रखनी एक भयंकर बात है। यदि केवल प्रेमका त्याग करके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जाय तो कितने ही जीवोंकी दयाका, उपकारका एवं स्वार्थका भग्न करने जैसा होता है, और वसा निवारक यदि दया उपकारादिके कारण कोई प्रेमदशा रखनेसे विवेकीको चित्तमें भ्रेश भी हुए बिना न रहना चाहिये, तो उसका विशेष विचार किस प्रकारसे किया जाय ?

४८१

बम्बई, फागुन सुदी १५, १९५१

श्रीधीतरागको परम भक्तिसे नमस्कार

श्रीधिन जैसे पुरुषने गृहवासमें जो प्रतिबन्ध नहीं किया, वह प्रतिबन्ध न होनेके लिये जाना अथवा पत्र लिखना नहीं हो सका, उत्तम लिये अत्यन्त दीनमात्रस क्षमा माँगता हूँ। सपूर्ण नीतत्माका मैं होनेसे इस प्रकार वर्तन करता हुए अन्तरमें विशेष हुआ है और यह विशेष मैं शान्त करना चाहिये इस प्रकार जानीने मार्ग देखा है। अष्टमाका जो अन्तर्परिणाम (अन्तर परिणामकी बात) है वही बन्ध और मोक्ष (कर्मसे अष्टमाका बन्ध होना तथा उससे आत्माका छुट जाना) की व्यवस्थाका हेतु है, मात्र शरीर चेष्टा बन्ध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नहीं है।

विशेष रागादिके संबन्धसे ज्ञानी-पुरुषके शरीरमें भी निबन्धता मद्धता, स्थूलता, रूप, स्पर्श, मृच्छा, वायु-विजय आदि दिखार्ह होते हैं, तथापि जितनी ज्ञानद्वारा बोधद्वारा वृत्त्यद्वारा अष्टमाकी निर्मलता हुई है, उतनी निर्मलता होनेपर उस रोगको अन्तर्परिणामसे ज्ञानी स्नेहन करता है और स्नेहन करते हुए क्लेशविह्वल वाक्स्थिति वमन दिखार्ह देती है, फिर भी अन्तर्परिणामके अनुसार ही कर्मबन्ध अपना निवृत्ति होती है।

४८२

बम्बई फागुन बनी ५ शनि १९५१

सुख भर्ष श्रीमोहनदासके प्रति, श्री वरधन।

एक पत्र मिला है। मैं मैं उपाधिका त्याग होता जाता है त्यों त्यों समाधि-मुख प्रगट होता जाता है। मैं मैं उपाधिका ग्रहण होता जाता है त्यों त्यों समाधि-मुख कम होता जाता है। विचार करनेपर यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाती है।

परि इस संसारके फलार्थका कुछ भी विचार किया जाय तो उनके प्रति वृत्त्य उत्पन्न हुए बिना न रहे क्योंकि अविचारके कारण ही उनमें मोहबुद्धि हो रही है।

अष्टमा है अष्टमा निवृत्ति है अष्टमा कर्मका कथा है अष्टमा कर्मका मोक्ष है, इससे वह निवृत्त हो सकती है, और निवृत्त हो सकनेके साधन हैं—इन छह कारणोंकी निम्ने विचारपूर्वक सिद्धि कर ली है उसको विवेकज्ञान अथवा सम्पूर्णज्ञानकी प्राप्ति हुई समझ लेनी चाहिये, ऐसा श्रीधिनमगवान्ने निरूपण किया है, और उस निरूपणका मुमुक्षु जीवको विद्यपक्षसे अभ्यास करना चाहिये।

पूर्वकि किसी विशेष अभ्यास-वृत्तसे ही इन छह कारणोंका विचार उत्पन्न होता है, अथवा स्वयं गक आद्यपसे उस विचारके उत्पन्न होनेका योग बनता है।

अनेक पदार्थों के प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, निश्चय, एवं अस्मात्मा समाधिमुख मार्गमें मही जाता है। उससे मोहबुद्धिमें जीवको अमादिकाछत्र ऐसी एकप्रकार चषी आ रही है कि उसका निकट करते करते जीवको बार बारकर पीछे झुट्टा पड़ता है; और उस मोह भ्रमोंको नाश करनेका समर्थक होनेके पीछे ही उस निकटको छोड़ बैठनेका योग पूर्वकाक्रमे बनेकवार बना है। क्योंकि जिसका अमादिकाछत्र अन्त्यास पड़ गया है उस, अल्पत पुनर्जायके बिना अल्पतक्रमे ही छोड़ा छोड़ी जा सकता।

इसक्रमे पुन पुन ससंग, सहायक, और अपनेम सरल विचार दशा करके उस विषयमें विरोध कम करना योग्य है, जिसके परिणाममें निम्न शास्त्रत और सुखस्वरूप आत्मज्ञान होकर निम्न स्वल्पका आचरित्व होता है। इसमें प्रथमसे ही उत्पन्न होनेवाला संशय, धैर्य एवं विचारसे शांत हो जाता है। अर्थात् अधिकांश टट्टी कल्पना करनेसे जीवको केवल अपने हितको ही त्याग करनेका अवसर आता है और अनित्य पदार्थका रग रहनेसे उसके कारणसे पुन पुनः संसारके भ्रमणका योग रखा करता है।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा तुमको रखा करती है—यह जानकर बहुत सन्तोष हुआ है। उस सन्तोषमें मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं है। मात्र तुम समाधिके मार्गपर चला जाओ, इस कारण संसार-कैससे निवृत्त होनेका तुमको प्रसंग प्राप्त होगा इस प्रकारकी संभवता देखकर स्वाभाविक सन्तोष होता है—यही प्रार्थना है। ता० १६-२-९५ आ स्व प्रणाम।

४८३

अन्त्य फलश्रुति कपी ५ शनि १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १ ८ जीव मुख होते हैं। जोक-स्थितिमें विभागमें स्वीकार किया है; और प्रत्येक समयमें एक ही आठ एक ही आठ जीव मुख होते ही रहते हैं, ऐसा मानें तो इस क्रमसे तीनों काक्रमे जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें उतने जीवोंकी जा जनत संख्या हो उस संख्यामें ही संसारी जीवोंकी संख्या विभागमें जनतशुनी प्रकटित की गई है। अर्थात् तीनों काक्रमे जितने जीव मुख होते हैं उनकी अपेक्षा संसारमें जनतशुन जीव रहते हैं क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है। और इस कारण मोक्ष-मार्गका प्रवाह सदा प्रवाहित रहते हुए भी संसार-मार्गका उच्छेद हो जाना कभी संभव नहीं है, और उससे बंध-मोक्षकी व्यवस्थामें भी विरोध नहीं आता। इस विषयमें अधिक बंधा समागम होनेपर कारण तो कोई बाधा नहीं।

जोकी बंध-मोक्षकी व्यवस्थाके नियममें संशेपमें एक किता है। सबकी अपेक्षा हाथम विचार करन योग्य बात तो यह है कि उपाधि तो करते रह और तथा सर्वथा असंग रखे, ऐसा होना अवश्य कटिब है। तथा उपाधि करते हुए आत्म-परिणाम बंधक न हो ऐसा होना अवश्य देखा है। उदाहरण शान्तिप्रदायक इस सबकी तो यह बात अधिक उत्तम रहन योग्य है कि आत्मामें जितनी असम्पूर्ण समानि रहती है अपना जो रह सकती है उसका उच्छेद ही करना चाहिये।

४८४

कर्मर्षि, फाल्गुन वदी ७ रवि १९-११

सर्व विमानसे उदासीन वार अत्यंत शुद्ध निम्न पर्यायको सदाशक्तसे आत्माके सेवन करनेको प्रतिनिधित्व तीव्र ज्ञानदशा कही है। इस दशाके आये बिना कोई भी जीव बंधनसे मुक्त नहीं होता, यह जो सिद्धांत धीमिनने प्रतिपादन किया है, वह अर्थात् सत्य है।

कोई निरुद्ध ही जीव इस गहन दशाका विचार कर सकने योग्य होता है, क्योंकि अनादिसे अत्यंत अज्ञान दशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्तिके एकदम अस्त्य और विसार समझमें आनेसे उसकी निवृत्ति करनेकी बात सूझे, यह होना बहुत कठिन है। इसलिये विनमगवान्ने ज्ञानी-पुरुषका आश्रय करेकरूप मक्तिमार्गका निरूपण किया है, जिस मार्गके आराधन करनेसे सुखमतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।

ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनके स्थापित किये बिना मक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता। उससे फिर निरसे विनागममें ज्ञानीकी आज्ञाके आराधन करनेका जगह जगह कथन किया है।

ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनका स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परन्तु बचनकी अपूर्व तासे उस बचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीके प्रति अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे, मनका स्थापित होना सुखम होता है।

ज्ञानी-पुरुषके आश्रयमें विरोध करनेवाळ पञ्चविषय आदि दोष हैं। उन दोषोंके जानके साधनसे जैसे बने बैठे दूर ही रहना चाहिये, और प्राप्त साधनमें भी उदासीनता रखनी चाहिये, अपवा उन उन साधनमेंसे वह बुद्धि इत्यादि ठहरे योग्य समझकर ही प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका इस प्रकारके प्रसंगमें विशेष उदय होता है क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिये उसे अपन स्मृत्युल काती है, उसका स्वस्वतन्त्र कर उसे आकर्षित करती है, और जगृतिमें छिपि करके अपनेमें एकाम बुद्धि कय देती है। वह एकाम बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि 'मुझे इस प्रवृत्तिसे उस प्रकारकी विशेष बाधा नहीं होती मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ दूँगा और पहिलेकी अशेषा जागृत रहूँगा'। इस्यादि अज्ञान-शक्तो वह दोष उत्पन्न करता है। इस कारण जीव उस दोषका संभव नहीं छोड़ता, अपवा वह दोष बढ़ता ही जाता है, इस बातका जीवको छेद नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है—एक ता उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति करना और दूसरा विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिये प्रथम इस पञ्चविषय आदिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता है।

उस पञ्चविषय आदि साधनकी सर्वा निवृत्ति करनेके लिये यदि जीवका बल न पड़ता है तो कम क्रमसे घोड़ा घोड़ा करके उसका त्याग करना योग्य है—परिमह तथा योगोपमागके पदार्थोंका अप्य परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मर पड़े, आश्रय-मक्ति इत्यादि ज्ञानीके बचन अहममें परिणम कर तीव्र ज्ञानदशा प्रगट होकर जीव मुक्त हो सकता है।

जीव यदि कभी कभी इस बातका विचार करे तो उससे अनादि अम्यासदा बल पाना कठिन

हो जाय परन्तु दिन प्रतिदिन हरेक प्रसंगमें, और हरेक प्रवृत्तिसे यदि वह फिर-फिरसे विचार करे तो कानादि अम्यासका बड़ा घटकर अपूर्ण अम्यासकी सिद्धि होनेसे शुद्ध आत्म-प्रतिभा सिद्ध हो सकता है।

४८५ बम्बई फागुन वरी १२ शुक्र १९५१

जन्म जरा मरण आदि दुःखोंसे समस्त सुख अशरण है। जिसने सर्व प्रकारसे संसारकी आस्था छोड़ दी है वही निर्मय हुआ है, और उसने आत्म-स्वभावकी प्राप्ति की है। यह दशा विचारके बिना जीवको प्राप्त नहीं हो सकती और संगके मोहसे पगचीन ऐसे इस जीवको यह विचार प्राप्त होना कठिन है।

४८६

बम्बई फागुन १९५१

ॐ

अर्थात्क बने तुष्णाको कम हो करना चाहिये। जन्म, जरा मरण किसके होते हैं? जो तुष्णा रहता है उसे ही जन्म, जरा और मरण होते हैं। इसलिये जैसे बने तैसे तुष्णाको कम हो कर आत्मा चाहिये।

४८७

अस्तक पदार्थ सम्पूर्ण निजस्वरूप प्रकाशित हो, तबतक निजस्वरूपके निशिष्यासनमें स्थिर रहनेके लिये ज्ञानी-पुरुषके बचन आधारभूत हैं—ऐसा परमपुरुष तीर्थकरने जो कहा है, वह सत्य है। वास्तवमें गुणस्थानमें रहनेवाली आत्माको निशिष्यासनरूप स्थानमें सुखान्न वर्षात् मुक्तभूत ज्ञानके बचनोंका आशय वही आधारभूत है—यह प्रमाण विनमरमि बारंबार कहा है। बोधबीजकी प्राप्ति होनेपर निर्वाणमार्गकी पदार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्गमें अघासित स्थिति होनेके लिये ज्ञानी-पुरुषका आत्म-मुक्त साधन है और वह ठेठ पूर्ण दशा होनेका रहता है नहीं तो जीवको पतित हो जानेका भय है—ऐसा माना गया है। तो फिर स्वयं अपने आपसे अनादिसे आत जीवको छद्मके उपयोगके बिना निजस्वरूपका भाव होना अशक्य हो इसमें साराय कैस हो सकता है? जिसे निजस्वरूपका यह निश्चय रहता है वह ऐसे पुरुषको भी प्रत्यक्ष जगत्का व्यवहार बारंबार मुका देनेके प्रसंगको प्राप्त कर देता है तो फिर उससे न्यून दशामें बूझ जा जानेमें तो आश्चर्य ही क्या है? अपने विचारके कर्मपूर्वक जिसमें संसर्ग-संशयका आधार न हो ऐसे समागममें यह जगत्का व्यवहार विद्येय जोर मारता है और उस समय बारंबार औत्तुहका माहुरम्प और आत्मवक्ता स्वरूप तथा सत्यकता कथत अपरोक्ष रूप दिव्य देत है।

४८८

बम्बई, चैत्र सुदी ६ सोम १९५१

आज एक पत्र मिला है। यहाँ कुशलता है। पत्र लिखते लिखते कपड़ा कुछ कड़से कड़ते बारम्बार चिचकी अग्रवृत्ति होती है—और ‘कल्पित वातक इतना अविक माहात्म्य ही क्या है?’ कड़ना क्या? जानना क्या? सुनना क्या? प्रवृत्ति कैसी!’ इत्यादि विशेषसे चिचकी उसमें अग्रवृत्ति होती है और परमार्थके सुवर्णमें कड़ते हुए, लिखते हुए उससे दूसरे प्रकारके विशेषकी उत्पत्ति होती है। जिस विशेषमें मुख्य इस तीव्र प्रवृत्तिके निरोधके बिना उसमें—परमार्थ कथनमें—मी हाजमें अग्रवृत्ति ही श्रेयस्कर लगती है। इस वाक्य पहिले एक सविस्तर पत्र लिखा है, इसलिये यहाँ विधाय किस्से जैसा कुछ नहीं है। यहाँ मात्र चिचमें विशेष स्फूर्ति होनेसे ही यह लिखा है।

मोतीके व्यापार वगैरहकी प्रवृत्तिके अविक न करना हो सके तो ठीक है, ऐसा जो लिखा है यह यथार्थमेव है; और चिचकी इच्छा भी नित्य ऐसी ही रह करती है। जोमके हेतुसे यह प्रवृत्ति होती है या और किसी हेतुसे? ऐसा विचार करनेपर जोमका निदान माझूम नहीं होता। विषय आन्तिकी इच्छासे यह प्रवृत्ति होती है ऐसा भी माझूम नहीं होता। फिर भी प्रवृत्ति तो होती है इसमें सन्देह नहीं।

नगर कुछ डेनेके लिये प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिये ही होती होगी, ऐसा माझूम होता है। यहाँ का यह माझूम हाथा है, सो यह यथार्थ होगा या नहीं? उसके लिये विचारबल पुरुष जो कहे सो प्रमाण है।

४८९

बम्बई, चैत्र सुदी १३, १९५१

हाजमें यदि किन्हीं वेदान्तसुबधी प्रयोगका बौध्द अथवा अग्रण करना रहता हो तो उस अभिप्रायका विशेष विचार होनेके लिये बोद्धसमयके लिये श्रीवाचारंग, सुपगडंग तथा उत्तराध्ययनका बौध्दना-विचारना हो सक तो करना।

वेदान्तके सिद्धान्तमें तथा विनायकके सिद्धान्तमें निश्चय है तो भी विनायकको विशेष विचारका स्पष्ट मानकर वेदान्तका धृष्टकरण करनेके लिये उन आगमोंका बौध्दना-विचारना योग्य है।

४९०

बम्बई, चैत्र पत्नी ८ सुप १९५१

चेतनकी चेतन पर्याय होती है, और जड़की अज पर्याय होती है—यही पदार्थकी स्थिति है। प्रत्येक समय जो जो परिणाम होते हैं वे सब पर्याय हैं। विचार करनेसे यह बात यथाय माझूम होगी।

लिखना कम हो सकता है इसलिये बहुतसे विचारोंका कड़ना कम नहीं सकता। तथा बहुतसे विचारोंके उपशम करनेका प्रवृत्तिका उदय होनेसे किसीको स्पष्टकल्पसे कड़ना भी नहीं हो सकता। हाजमें यहाँ इतनी अधिक उपाधि नहीं रहती तो भी प्रवृत्तिरूप समा होनेसे तथा क्षेत्रक संतापरूप होनेसे बोरे पिनके लिये यहाँसे निवृत्त होनेका विचार होता है। अब इस विषयमें जो हो सा ठीक है।

पूर्ण हानी श्रीकृष्णमोक्ष आदि पुरुषोंको भी प्रारम्भोत्पन्न भोगोंपर ही क्षय हुआ है तो फिर हम जैसोंको वह प्रारम्भोत्पन्न भोगना ही पड़े इसमें कुछ भी संशय नहीं है। खेर केवल इतना ही होता है कि हमें इस प्रकारके प्रारम्भोत्पन्न श्रीकृष्णमोक्ष आदि जैसी वशिष्ठमता रहे इतना बख गयी है और इस कारण प्रारम्भोत्पन्न होनेपर बारबार उससे अपरिपक्व काष्ठीय भी छूटनेकी कामना हो जाती है कि यदि इस निष्पन्न प्रारम्भोत्पन्न किस्ती भी उपयोगका वयातत्त्वभाव न रहा तो फिर आत्म-स्थिरता होते हुए भी कबसूर ईदना पड़ेगा, और पदबाधापूर्वक देह छूटेगी—ऐसी चिन्ता बहुत बार हो जाती है।

इस प्रारम्भोत्पन्न के दूर हानिपर निवृत्तिकर्मिक बेहम करनेका प्रारम्भका उदय होनेका ही विचार रखा करता है परन्तु वह तुरत ही अर्थात् एकसे बेड़ बर्षके भीतर हो जाय ऐसा तो दिखाई नहीं देता, और पक्ष पक्ष भी बौद्धिक कठिन पड़ती है। एकसे बेड़ बर्ष बाद प्रवृत्तिकर्मिक बेहम करनेका सर्वथा क्षय हो जायगा—ऐसा भी नहीं माहूम होता। कुछ कुछ उदय विशेष मग पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गतवर्षका मोतियोंका व्यापार लगभग निवृत्ति आता है। इस वर्षका मोतियोंका व्यापार गतवर्षकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। गतवर्षकी उच्छ्रित उसका कोई परिणाम आना कठिन है। पोंडे निनोंकी अपेक्षा इसमें ठीक है, और इस वर्ष भी उसका गतवर्ष जैसा नहीं तो भी कुछ परिणाम ठीक आवेगा यह समझ है। परन्तु उसके विचारमें बहुत समय व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके दिव्य शोक होता है कि इस एक परिणामकी कामनाकी जो बखाना प्रवृत्ति जैसी होती है, उसे शांत करना योग्य है और उसे कुछ कुछ करना पड़े, ऐसे कारण रहते हैं। अब उसे ऐसे करके वह प्रारम्भोत्पन्न तुरत ही क्षय हो जाय तो अच्छा है, ऐसा बहुत बार मनमें आया करता है।

यही जो आह्वान तथा मोतियोंका व्यापार है उसमेंसे मेरा छूटना हा सके अथवा उसका बहुत समागम कम होता समय हो उसका कोई यस्ता ब्याजमें आवे तो स्थिरता। चाहे तो इस निष्पन्न समागममें विशेषतास कह सको तो कहना। यह बात कष्टमें रहना।

लगभग तीन बरस ऐसा रखा करता है कि परमार्थसम्बन्धी अथवा व्यवहारसम्बन्धी कुछ भी अग्रिम हुए बढ़ाचि हो जाती है और विज्ञाते स्थिरते कल्पित जैसा लगनेसे आत्मा अर्पूर्ण छेड़ देनेका ही मन होता है। जिस समय जिस परमार्थमें एकप्रवृत्ति हो उस समय यदि परमार्थसम्बन्धी स्थिरता अथवा कहना हो सके तो वह वचार्थ कहा जाय परन्तु जिस यदि अस्थिरवृत्ति हा और परमार्थसम्बन्धी स्थिरता अथवा कहा जाय ता वह केवल उदीरणा जैसा ही होता है। तथा उसमें अंतर्निहित पाषाणव्य उपवास ज हावेस वह आत्म-गुह्यसे स्थिति अथवा कथित न होनेसे कल्पितरूप ही कहा जाता है। जिससे तथा उस प्रकारके तूमे कारणोंसे परमार्थके सम्बन्धमें स्थिरता अथवा कहना बहुत ही कम हो गया है। इस स्थितिपर सहज प्रत्यक्ष होगा कि जिसके अस्थिरवृत्ति हो जानेका क्या हुआ है? जा जिस वचमार्थमें विशेष एकप्रवृत्ति रहता था उस जिसके परमार्थमें अस्थिरवृत्ति हा जानका कुछ ता कारण हाना ही चाहिये। यदि परमार्थ संशयका हेतु माहूम हुआ हा ता जैसा हाना संभव है, अथवा किमी वचमार्थमें चाहिये मद होनेका तब प्रारम्भोत्पन्न के कष्टों जैसा हो सकता है। इन हा

हेतुओंसे परमार्थका विचार करते हुए, सिखते हुए, अथवा कहते हुए चित्तका अस्थिरत्व रहना समझ है ।

उसमें पड़िछे करे हुए हेतुका होना संभव नहीं । केवल जो दूसरा हेतु कहा है, वही समझ है । अहमवैयक्तिक मन होनेका ही प्रारम्भ होनेसे उस हेतुको दूर करनेका पुनर्प्राप्त होनेपर भी काळक्षेप हुआ करता है, और उस प्रकारके उद्यतक वह अस्थिरता दूर होनी कठिन है, और उससे परमार्थस्वरूप चित्तके बिना तत्सम्बन्धी सिखना या कहना, यह कल्पित प्रेसा ही समझा है । तो भी कुछ प्रसंगोंमें विशेष स्थिरता रहती है ।

व्यवहारके सञ्चयमें कुछ भी सिखते हुए उसके असामर्थ्य और साक्षात् आतिरूप लगनेसे उसके सञ्चयमें कुछ सिखना अथवा कहना तुच्छ है, वह आत्माको विकलताका हेतु है, और जो कुछ सिखना या कहना है, वह न कहा हो तो भी चक सकता है । इसलिये जबतक वसा रहे तबतक तो व्यक्त्य वैसा करना योग्य है, ऐसा जानकर बहुतसी व्यावहारिक बातें सिखने, करने अथवा कहनेकी आदत नहीं रही है । केवल जिस व्यापार आदि व्यवहारमें ही प्रारम्भोदयस प्रवृत्ति है, वही कुछ कुछ प्रवृत्ति होती है । यद्यपि उसकी भी यथार्थता मालूम नहीं होती ।

श्रीजिन बीतरुग्गने ब्रह्म-भाव संयोगसे फिर फिर दृष्टनेका उपदेश दिया है, और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानको भी नहीं करना चाहिये, यह निश्चय मार्ग जिन्होंने कहा है, उन श्रीजिन बीतरुग्गने चरण-कमलमें अत्यन्त नम्र परिणामसे नमस्कार है ।

दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चन्द्रके स्वयम्भके ऊपर विचार करोगे तो वह विचार केवलज्ञानसे पार्य प्रकाशित होते हैं, ऐसा जो कहा है, उसे समझनेमें कुछ कुछ उपयोगी होगा ।

४९५

केवलज्ञानसे पदार्थ किस तरह दिखते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर समागममें समझनेसे स्पष्ट समझमें आ सकता है । तो भी संक्षेपमें नीचे लिखा है —

जैसे जहाँ जहाँ दीपक होता है, वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे होता है उसी तरह जहाँ जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे ही होता है । जैसे दीपकका सहज स्वभाव ही पदार्थको प्रकाश करनेका होता है, वैसे ही ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थको प्रकाश करनेका है । दीपक ब्रह्मका प्रकाशक है, और ज्ञान ब्रह्म-भाव को प्रकाशक है । जैसे दीपकका प्रकाश होनेसे उसका प्रकाशकी सीमामें जो कोई पदार्थ होता है वह पदार्थ कुतरती ही दिखाई देता है, उसी तरह ज्ञानकी सीमाद्वारा पदार्थ स्वाभाविकरूपसे दिखाई देते हैं । जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ व्यापक आर स्वाभाविकरूपसे दिखाई देते हैं, उसे केवलज्ञान कहा है । यद्यपि परमाप्ति ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुभवमें तो केवल अस्मानुभवका ही कला है, वह व्यवहाररूपसे ही बोकाओका प्रकाशक है । जैसे दर्पण, दीपक और चन्द्र पदार्थके प्रकाशक हैं, उसी तरह ज्ञान भी पदार्थका प्रकाशक है ।

४९१

कर्म, चैत्र की ८, १९५१

आत्म-वीर्यके प्रवृत्ति करनेमें और संकोच करनेमें बहुत विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है।

दुष्प्रवृत्ति सप्तम मर्ष — के प्रति । उस ओर जानेके संभवमें भी छिछोरी परिस्थिति है ।

जिससे लोगोंको स्नेह हो इस तरहके बड़ा व्यवहारका उदय है, और उस प्रकारके व्यवहारका साथ बहाना निर्मय पुरुष जैसा उपदेश करना, वह मार्गका विरोध करने जैसा है; और ऐसा समझकर तथा उनके समान दूसरे कारणोंके स्वल्पका विचार कर प्रायः करके जिससे लोगोंको स्नेहका हित हो, वैसे समागममें मेरा जाना नहीं होता । कदाचित् कभी कभी कोई समागममें जाता है, और कुछ स्वामयिक कहना-करना होता है । इसमें भी चिन्ता इच्छित प्रवृत्ति नहीं है ।

दूसरी पधास्थित विचार किये बिना जीवने प्रवृत्ति की, इस कारण इस प्रकारके व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है इससे बहुत बड़ा भित्तमें शोक रहता है । परन्तु उसे पथास्थित सम परिणामसे स्मरण करना ही योग्य है—ऐसा जानकर प्रायः करके उस प्रकारकी प्रवृत्ति रहती है । फिर भी अन्तर्मनके विशेष स्थिर होनेके किये असंगतमें लक्ष्य रखा करता है । इस व्यापार वाणि उदय-व्यवहारसे जो जो संग होता है उसमें प्रायः करके असंग परिणामकी तरह प्रवृत्ति होती है क्योंकि उसमें कुछ सारमूल नहीं माहस होता । परन्तु जिस धर्म-व्यवहारके प्रसंगमें जाना हो, वहाँ उस प्रवृत्तिके अनुसार चला योग्य नहीं । तथा कोई दूसरा आशय समझकर प्रवृत्ति की जाय तो हाजमे उठनी समर्पता नहीं । इससे उस प्रकारके प्रसंगमें प्रायः करके मेरा जाना कम ही होता है और इस क्रमको बढ़ा देना, यह हाजमें चिन्ता नहीं बैठता । फिर भी उस ओर जानेके प्रसंगमें वैसा करनेका मैंने कुछ भी विचार किया या परन्तु उस क्रमको बढ़ा देनेसे दूसरे विषय कारणोंका उपस्थित होना जानो जाकर समझ होगा, ऐसा प्रत्यक्ष माहस होनेसं काम करनेके संभवमें वृत्तिके उपशम करने योग्य जगहसे वैसा किया है । आशयके स्थिति उस ओर न जानेके संभवमें चिन्ता दूसरा आशय भी है । परन्तु किसी शोक-व्यवहारका कारणस्तः जानेके विषयमें विचारका नहीं ज्ञेय है ।

चित्तपर बहुत दबाव देकर यह स्थिति छिछोरी है । इसपर विचार कर यदि कुछ आवश्यक जैसा माहस हो तो कभी इतनजीमार्गको लक्ष्य करना । मेरे जाने न जानेके विषयमें यदि किसी बातका कथन न करना समझ हो तो कथन न करनेके किये ही चिन्ता है ।

४९२

कर्म, चैत्र की १, पृष्ठ-१९५१

एक आत्म-परिणतिके स्थाय दूसरे विषयोंमें चित्त अव्यवस्थितरूपसे रहता है; और उस प्रकारका अव्यवस्थितपना शोक-व्यवहारसे प्रतिकूल होनेसे शोक-व्यवहारका रोक करना इच्छित नहीं जगता और साथ ही छोड़ना भी नहीं जगता । इस वेदगता प्रायः करके सारे ही दिन स्नेहन होता रहता है ।

कानेके संभवमें पीनेके संभवमें बोलनेके संभवमें सोनेके संभवमें, छिन्ननेके संभवमें अपराध दूसरे व्यावहारिक कार्योंके संभवमें वैसा बाह्ये वैसा मानसे प्रवृत्ति नहीं की जाती और उन प्रसंगोंके

रहनेसे आत्म-परिणतिका स्वतंत्र प्रगटरूपसे अनुसरण करनेमें विपत्तियाँ आया करती हैं, और इस विषयका प्रतिक्षण दुःख ही रहा करता है।

निश्चय आत्मरूपसे रहनेकी स्थितिमें ही चित्तेष्टम रहती है, और उपरोक्त प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण उस स्थितिका बहुतसा भ्रमोन्मूलन होता है, और वह विषय मात्र परेष्टम ही रहा है, ऐष्टमके कारणसे नहीं रहा—यह एक गभीर वेदना प्रतिक्षण हुआ करती है।

इसी मर्मे और योके ही समय पहिले व्यवहारके विषयमें भी तीव्र स्मृति थी। वह स्मृति अब व्यवहारमें कथित ही मन्त्ररूपसे रहती है। योके ही समय पहिले अर्थात् योके वर्षों पहिले वाणी बहुत बोल सकती थी। ब्रह्मरूपसे कुशलतासे प्रवृत्ति कर सकती थी। वह अब मदतासे अल्पवस्थासे रहती है। योके वर्ष पहिले—योके समय पहिले—छन्दसादि अति उग्र थी और आत्म न्यायिनी, इसका सुखने सुखनेमें ही दिनके दिन व्यतीत हो जाते हैं, और फिर भी जो कुछ लिखा जाता है, वह इच्छित अथवा योग्य व्यवस्थायुक्त नहीं लिखा जाता—अर्थात् एक आत्म-परिणामक सिद्धांत दूसरे समस्त परिणामोंमें उदासीनता ही रहती है। और जो कुछ किया जाता है, वह जैसा चाहिये वैसे मात्रके सीमें अश्वसे भी नहीं होता। यों त्यों कुछ भी कर लिया जाता है। लिखनकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा वाणीकी प्रवृत्ति कुछ ठीक है इस कारण जो कुछ आपको सुनेकी इच्छा हो—ज्ञानकी इच्छा हो—उसके विषयमें समागममें कहा जा सकता है।

कुन्दकुमारचार्य और आनन्दचन्द्रजीका सिद्धांतविषयक ज्ञान तीव्र था। कुन्दकुमारजी तो आत्म-स्थितिमें बहुत स्थिर थे। जिसे केवल नामका ही दर्शन हो वे सब सम्प्रदायानी नहीं कहें जा सकते।

४९३

बम्बई, पत्र बनी ११ शुक्र १९५१

जय निर्मलता रे रत्न स्फटिकवणी, तपन जीवस्वभाव रे,
ते जिन वीर रे धर्म प्रकाशियो, प्रबल कपाय अभाव रे।

सुख-दुःखके अत्यन्त प्रकाशित होनेपर अर्थात् समस्त कर्मोंका क्षय होनेपर जो अलगता और सुख-स्वकृपता कही है, ज्ञानी-पुरुषोंका वह बचन अत्यन्त सत्य है। क्योंकि उन बचनोंका स्पष्टगम प्राप्त—अत्यन्त प्रगट—अनुभव होता है।

निर्विकल्प उपयोगका स्थान, स्थिरताका परिचय करनेसे होता है। सुधारसे, सुसमागम, सुदास, सद्बिचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरताके हेतु हैं।

४९४

बम्बई, पत्र बनी १२ रवि १९५१

३३

अधिक विचारका साधन हानक सिद्ध यह पत्र लिखा है।

१ जिस तरह दृष्टिकरनकी निर्मलता होती है उसी तरह जीविका स्वभाव है। वीर जिनकरन प्रबल कपायक अभावको ही धर्म प्रकाशित किया है।

पूर्ण ज्ञानी श्रीकृष्णदेव आणि पुरुषोत्तम भी प्रारम्भोदय भोगनेपर ही क्षय हुआ है, तो फिर हम किसीको यह प्रारम्भोदय भोगना ही पड़े इसमें कुछ भी संशय नहीं है। लेकिन केवल इतना ही होता है कि हमें इस प्रकारके प्रारम्भोदयमें श्रीकृष्णदेव और जैसी अनिमित्तता रहे, इतना बक नहीं है; और इस कारण प्रारम्भोदयके होनेपर बारबार उससे अपरिपक्व कष्टमें ही घटनेकी क्षमता हो जाती है कि यदि इस विषय प्रारम्भोदयमें किसी भी उपयोगका मर्यादात्मक न रहा तो फिर अस्मिन्स्थिति होते हुए भी अन्तर हीना पड़ेगा और पदबाधापूर्वक देह छूटेगी—ऐसी चिंता बहुत बार हो जाती है।

इस प्रारम्भोदयके दूर होनेपर निवृत्तिकर्मके बैधन करनेका प्रारम्भका उदय होनेका ही निवारण करता है परन्तु यह तुरत ही अथात् एकसे डेढ़ वर्षके भीतर हो जाय, ऐसा तो निश्चय नहीं देता, और एक एक भी बीतनी कठिन पड़ती है। एकसे डेढ़ वर्ष बाद प्रवृत्तिकर्मके बैधन करनेका सर्वथा क्षय हो जायगा—ऐसा भी नहीं मान्य होता। कुछ कुछ उन्मत्त विक्षेप भेद पड़ेगा, ऐसा समझा है।

अस्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गतवर्षका मातियोका व्यापार समागम निकलने जाय है। इस वर्षका मातियोका व्यापार गतवर्षकी अपेक्षा समागम दुगुना हो गया है। गतवर्षकी तरह उसका कोई परिणाम जाना कठिन है। चौदह दिनोंकी अवकाशकालमें ठीक है, और इस वर्ष भी उसका गतवर्ष जैसा नहीं तो भी कुछ परिणाम ठीक आयेगा यह समझ है। परन्तु उसके निवारणमें बहुत समय व्यतीत होने जैसा होता है और उसके क्रिये शोक होता है कि इस एक परिणामकी कालान्तर की ओर व्यवधान प्रवृत्ति होती होती है उसे शांत करना योग्य है और उसे कुछ कुछ कामा पर्व, ऐसे कारण रहते हैं। जब जैसे उसे करके यह प्रारम्भोदय तुरत ही क्षय हो जाय तो अच्छा है, ऐसा बहुत बार मनमें आया करता है।

पहली को बाइत तथा मातियोका व्यापार है उसमेंसे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत समागम कम होना समझ हो उसका कोई उस्ता ध्यानमें आये तो चिन्तना। जाहे तो इस विषयमें समागममें विशेषतासे बह सको तो बहना। यह बात लक्ष्यमें रखना।

समागम तीन वर्षों पंसा रहा करता है कि परमार्थसम्बन्धी अथवा व्यवहारसम्बन्धी कुछ भी छिन्नत हुए बरुचि हो जाती है और छिन्नते छिन्नते कल्पित जैसा अनेकसे बारम्बार अपूर्ण श्रेय देनेका ही मन होता है। जिस समय चित्त परमार्थमें एकजगत् हो उस समय यदि परमार्थसम्बन्धी छिन्नता अथवा बहना हो सके तो यह अपार्य कष्ट जाय, परन्तु चित्त यदि अस्थिररत् हो और परमार्थसम्बन्धी छिन्ना अथवा बहना जाय तो यह कष्ट उदीरणा जैसा ही होता है। तथा उसमें व्यतीतिक्रम यातात्म्य उपयोग न होनेसे यह अहम-भुक्तिसे विक्षिप्त अथवा कल्पित न होनेसे कल्पितरूप में बहना जाता है। जिससे तथा उस प्रक्रमके दूसरे कारणोंसे परमार्थिक सम्बन्धमें छिन्नता अथवा बहना बहुत ही कम हो गया है। इस स्पष्टपर सहज प्रश्न होगा कि चित्तके अस्थिररत् हो जानेका क्या हेतु है जो चित्त परमार्थमें विशेष एकजगत् रहता था उस चित्तके परमार्थमें अस्थिररत् हो जानेका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। यदि परमार्थ सहायका हेतु मान्य हुआ हो तो जैसा होना समझ है, अथवा किसी तथाविध आत्मवर्तिक न होनेका तीन प्रारम्भोदयके सबसे जैसा हो सकता है। इस दो

हेतुकोसे परमार्थका विचार करते हुए, स्थिते हुए, अथवा कहते हुए चित्तका अस्थिरवत् रहना समव है ।

उसमें पक्षिष्ठे करे हुए हेतुका होना समव नहीं । केवल जो दूसरा हेतु कहा है, वही समव है । आत्मनोयके मद होनेरूप तीव्र प्रारम्भोदय होनेसे उस हेतुको दूर करनेका पुरुषार्थ होनेपर भी वास्तव्येण हुआ करता है; और उस प्रकारके उदयतक वह अस्थिरता दूर होनी कठिन है और उससे परमार्थस्वरूप चित्तके बिना तत्सर्वथा छिन्नता या कहना, यह कल्पित जैसा ही लगता है । तो भी कुछ प्रसंगोंमें विशेष स्थिरता रहती है ।

व्यवहारके सबधमें कुछ भी स्थिते हुए उसके असारमूत और साक्षात् भातिरूप छानेसे उसके सबधमें कुछ छिन्नता अथवा कहना तुच्छ ही है, वह आत्माको विकलताका हेतु है और जो कुछ छिन्नता या कहना है, वह न कहा हो तो भी शक्य सकता है । इसलिये अवतक जैसा रहे तबतक तो व्यक्त्य जैसा करना योग्य है, ऐसा जानकर बहुसंख्य व्यावहारिक बातें छिन्नते, करने अथवा कहनेकी आदत नहीं रही है । केवल जिस व्यापार आदि व्यवहारमें तीव्र प्रारम्भोदयसे प्रवृत्ति है, वहाँ कुछ कुछ प्रवृत्ति होती है । यद्यपि उसकी भी यथार्थता मायूम नहीं होती ।

श्रीविन वीतरागने ब्रह्म-भाव संयोगसे फिर फिर छूटनेका उपदेश दिया है, और उस संयोगका विनाश परम ज्ञानकी भी नहीं करना चाहिये, यह निश्चय मार्ग जिन्होंने कहा है, उन श्रीविन वीतरागके चरण-कमलमें अत्यंत नम्र परिणामसे नमस्कार है ।

दर्पण, जल दीपक, सूर्य और चक्षुके स्वरूपके ऊपर विचार करेंगे तो वह विचार केवलज्ञानसे पदार्थ प्रकाशित होते हैं ऐसा जो कहा है, उसे समझनेमें कुछ कुछ उपयोगी होगा ।

४९५

केवलज्ञानसे पदार्थ किस तरह दिखाई देते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर समागममें समझनेसे स्पष्ट समझमें आ सकता है । तो भी संक्षेपमें नीचे लिखा है —

जैसे जहाँ जहाँ दीपक होता है, वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे होता है; उसी तरह जहाँ जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे ही होता है । जैसे दीपकका सहज स्वभाव ही पदार्थको प्रकाश करनेका होता है, वैसे ही ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थको प्रकाश करनेका है । दीपक ब्रह्मका प्रकाशक है और ज्ञान ब्रह्म-भाव दोनोंका प्रकाशक है । जैसे दीपकका प्रकाश होनेसे उसके प्रकाशकी सीमामें जो कोई पदार्थ होता है, वह पदार्थ कुरुरती ही दिखाई देता है, उसी तरह ज्ञानकी सीमादुर्गासे पदार्थ स्वाभाविकरूपसे प्रकाशित होते हैं । जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ यायातम्य और स्वाभाविकरूपसे प्रकाशित होते हैं, उसे केवलज्ञान कहा है । यद्यपि परमार्थसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुमयमें तो केवल आत्मन्युपपत्तिका ही कर्ता है, वह व्यवहारमयसे ही लोकादिक प्रकाशक है । वैसे दर्पण, दीपक और चक्षु पदार्थके प्रकाशक हैं, उसी तरह ज्ञान भी पदार्थका प्रकाशक है ।

४९६

कर्म, चैत्र वरी १२ रवि १९५१

श्रीमिनि बीतरागने द्रव्य मान सपागसे फिर फिर छूटनेका उपदेश किया है, और उस सयोगका विश्वास परम ज्ञानीका भी नहीं करना चाहिये, यह अर्सेद मार्ग जिसने कहा है, पैसे श्रीमिनि बीतरागक चरण-कमलक प्रति अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार है।

आत्म-स्वरूपक निश्चय होनेमें जीवको अमाप्ति कष्टसे मुक्त होता जाता है। समस्त भूतजान स्वल्प ज्ञानागमे सबसे प्रथम उपदेश करने योग्य आचार्यगुरु है। उसके प्रथम भूतस्वरूपमें प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशके प्रथम वाक्यमें जो श्रीमिनिने उपदेश किया है, वह समस्त अंगोंके समस्त भूतजानका सारभूत है—मोक्षका बीजभूत है—सम्पत्स्वरूप है। उस वाक्यमें उपयोग स्थिर होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानी-गुरुपद समाप्तकी उपासनाके बिना जीव जो कुछ स्वच्छन्दसे निश्चय कर ले वह छूटनेका मार्ग नहीं है।

सभी जीवोंका स्वभाव परमान्तरूप है, इसमें सन्देह नहीं तो फिर श्री — अपनेको परमहमस्वरूप मानें ता यह बात असम्भव नहीं। परन्तु जबतक वह स्वल्प पापात्म्य प्रगट न हो तबतक सुमुमुक्षु-विज्ञान-प्राप्ति ही अधिक उत्तम है, और उस रास्तेसे यथार्थ परमहमस्वरूप प्रगट होता है; जिस माँको छोड़कर प्रवृत्ति करनेसे उस पन्था मान नहीं होता तथा श्रीमिनि बीतराग सर्वत्र पुरुषोत्तम आत्मज्ञान करनेका प्रवृत्ति होती है। दूसरा कुछ मत-मद नहीं है।

पुरुषका आगमन अवश्य है।

४९७

जुमें अन्तर्निपत्यक ग्रन्थके बीचमेका अध्याय उस प्रस्तावकी वास्तविकताके अन्वेषण करनेका सम्प्रदान होता है, जो जिससे उस बीचनस तथा अन्वेषणसे जीवन वैराग्य और उपरानकी इच्छा हो ऐसा करना योग्य है। उसमें प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतका यदि निश्चय होता हो तो करनेमें हानि नहीं, फिर भी ज्ञानी-गुरुपद समाप्तकी उपासनासे सिद्धांतका निश्चय किये बिना अल्प-विरोध ही होना समभव है।

४९८

कर्म, चैत्र वरी १२ बुध १९५१

२३

चारित्र—(श्रीमिनिके अग्रिमार्गके अनुसार चारित्र क्या है? यह विचारकर समवर्धित होना)—
ग्रासिंभी अनुपेक्षा करनेसे जीवमें स्वस्थता उत्पन्न होती है। विचारधारा उत्पन्न हुई चारित्र-परिणाम स्वभावस्वरूप स्वस्थताक विद्या ज्ञान निष्पन्न है यह जो मिलनगगनका अमिमत है वह अन्वेषण स्वयं है।

एकसंकी अनुपेक्षा बहुतवार रहनेपर भी चारित्र परिणतिके हेतु उपाधि-योगके तीव्र उदय-रूप होनेसे पित्तमें प्राय करके लेदसे जैसा रहता है और उस सेन्से शिथिलता उत्पन्न होकर कुछ निरोध नहीं कहा जा सकता। बाकी कुछ करनेके नियमों तो विद्यमें बहुत बार रहता है। यही निती है।

४९९

बम्बई चैत्र १९५१

विषय आदि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे प्रवृत्ति करनेसे आगे बढ़कर उस विषय-मूर्च्छाका उत्पन्न होना समझ न हो, यह होना कठिन है क्योंकि ज्ञान दशावस्था बिना विषयकी निर्मूल्यता जाना समझ नहीं।

विषयोका केवल उदय भोगनेसे ही नाश होना सम्भव है, परन्तु यदि ज्ञान-प्राप्ति न हो तो विषय-सेवन करनेमें उत्सुक परिणाम हुए बिना न रहे, और उससे पराजित होनेके बख्ते उन्ही विषयकी वृद्धि ही होना समझ है।

जिन्हें ज्ञान-दशा है, वैसे पुरुष विषयकांक्षासे व्यथित विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, और यदि वे इस तरह प्रवृत्ति करनेकें छिये उचित हों तो ज्ञानपर भी अवरोध आ जाना समझ है। मात्र प्रारम्भसखी उन्मत्त हो, अपात् दृष्ट्युन आ सके, उसीसे ज्ञानी-पुरुषकी भोग-प्रवृत्ति है। वह भी पूर्व और पश्चात्में पश्चात्तापयुक्त और मन्तम परिणामयुक्त होती है।

सामान्य मुमुक्षु जीवको वैराग्यके उद्भवके छिये विषयका आराधन करनेसे तो प्रायः करके बधनमें पड़ जाना ही समझ है क्योंकि ज्ञानी-पुरुष भी उस प्रसङ्गको बहुत मुदिरुद्धसे जीव सकता है; तो फिर जिसकी केवल विचार-दशा है ऐसे पुरुषकी शक्ति नहीं है कि वह उस विषयको इस प्रकारसे जीव सके।

५००

जिस जीवको मोहनीय कर्मरूपी कषायका त्याग करना हो, और 'जब वह उसका एकत्रम त्याग करनेका विचार करेगा तब कर सकेगा' इस प्रकारके विचारसे ऊपर रहकर, जो उसका क्रम क्रमसे त्याग करनेका विचार नहीं करता, तो वह एकत्रम त्याग करनेका प्रसङ्ग आनेपर मोहनीय कर्मके बलके सामने नहीं टिक सकता। कारण कि कर्मरूप शत्रुको धीरे धीरे निर्विक्रम किये बिना उसे निकाल बाहर करना एकत्रम असंभव होता है। अहमाकी निर्विक्रमताके कारण उसका ऊपर मोहका प्राक्कल्प रहता है। उसका और कम करनेके छिये यदि आत्मा प्रयत्न करे तो एक बारगी ही उसके ऊपर जय प्राप्त कर लेनेकी आशामें वह ठगा जाती है। अन्ततः मोह-वृत्ति छड़नेके छिये सामने नहीं आती तभीतक मोहके बरा होकर आत्मा अपनी बलवत्ता समझती है, परन्तु उस प्रकारकी कसौटीका अन्तर उपस्थित होनेपर आत्माको अपनी कायरता समझमें आ जाती है। "सल्लिये जैसे बने तेसे पौणों इन्द्रियोको बशमें करना चाहिये। उसमें भी मुख्यतया उपस्थ इन्द्रियको बशमें करना चाहिये। इसी प्रकार अनुक्रमसे दूसरी इन्द्रियो-

(अपूर्ण)

५०१

स १०५१ वैशाख सुदी ५ सोमवारके दिन—सायकाण्डसे प्रत्यास्थान

स १०५१ वैशाख सुदी १४ भागवारके दिन

५०२

बर्मा, बैशाख सुदी ११ रवि १९५१

(१)

धर्मको नमस्कार
 भीतरागको नमस्कार
 भीसस्युक्तोंका नमस्कार
 (२)

सो धर्मो मत्स्य दया, दसहदासा न बस्स सौ देसो,
 सो हु एक बी नाणी, भारंमपरिम्माह विरमो ।

५०३

(१) सर्व ज्ञेयसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक ज्ञान-ज्ञान है । विचारके बिना ज्ञान-ज्ञान नहीं होता और अस्तसंग तथा असप्रसंगसे जीवका विचार-बन्ध प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें किंचिन्मात्र भी सहाय नहीं ।

वार्म-परिम्माहकी कल्पना करनेसे असप्रसंगका बन्ध घटता है । अस्तसंगके आश्रयसे अस्तसंगका बन्ध घटता है । असप्रसंगका बन्ध घटनेसे ज्ञान-विचार होनेका अवसर प्राप्त होता है । ज्ञान-विचार होनेसे ज्ञान-ज्ञान होता है । और ज्ञान-ज्ञानसे निबन्ध स्वभावक, सर्व ज्ञेय और सर्व दुःखरहित मोक्ष प्राप्त होती है—यह बात सर्वथा सत्य है ।

जो जीव मोक्ष-निर्वाण सो रहे है वे बुद्धि हैं, मुनि तो निरंतर ज्ञान-विचारपूर्वक जागृत ही रहते हैं । प्रमादकी सर्वथा मय है अप्रमादकी किसी तरहका भी मय नहीं, ऐसा ब्रह्मिन्ने कहा है ।

समस्त पदार्थोंके स्वस्व ज्ञानके एक मात्र ही ज्ञान-ज्ञान प्राप्त करना है । यदि ज्ञान-ज्ञान न हा तो समस्त पदार्थोंके ज्ञानकी निष्पत्ति ही है ।

जितना ज्ञान-ज्ञान हो उतनी ही ज्ञान-समाधि प्रगट हो ।

किसी भी लपटाव उपयोगका पाकर जीवको यदि एक क्षणभर भी अतर्क-अवगति हो जाय तो उसे मोक्ष विशेष दूर मही है ।

अप्य परिणाममें जितनी तात्काल्यवृत्ति है उतनी ही मोक्ष दूर है ।

यदि कोई ज्ञानयोग बन जाय तो इस मनुष्यताका किसी तरह भी मूल्य नहीं हो सकता । प्रायः मनुष्य देखके बिना ज्ञानयोग मही बनता—ऐसा जानकर अर्थात् निश्चय करके इसी देखमें ज्ञानयोग उत्पन्न करना योग्य है ।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्य परिणामसे पीछे हट जाय तो उसे सहजमें—अभी—ज्ञानयोग प्रगट हो जाय ।

१ कही गया है कही नहीं है; जिनके अन्तरात् खोप नहीं वह देख है; तथा जो कभी और आरंभ-परिणामसे रहित है वह एक है ।

अस्वस्वगतके समागमका विशेष विचार है, और यह जीव उससे अनतिक्रान्त हीनस्वत्व हो जानेके कारण उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये, अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिए जैसे बने जैसे यदि स्वस्वगतका आश्रय करे तो वह किसी तरह पुरुषार्थ-योग्य होकर विचार-दशाको प्राप्त कर सकता है।

निरु प्रकाशसे इस सत्तारक्षी अनित्यता असत्ता अत्यन्तरूपसे मासित हो, उस प्रकारसे आत्म-विचार उत्पन्न होता है।

इस समय इस उपाधि-आपत्ति छूटनेके लिये विशेष जति विशेष पीड़ा रहा करती है, और यदि इससे छूटे बिना जो कुछ भी काष्ठ व्यतीत होता है, तो वह इस जीवकी गिरिधरा ही है, ऐसा समझा है, अथवा ऐसा निश्चय रहा करता है।

जनक आदि जो उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावसे रहते थे, उनकी ऐसे आत्मजनके प्रति कभी भी बुद्धि न होती थी। 'श्रीभिन जैसे अकल्याणी भी जिसे छोड़कर चला गये, ऐसे भयके हेतुरूप उपाधि-योगक्षेत्र निवृत्तिको करते करते यदि यह पामर जीव काष्ठ व्यतीत करेगा तो अज्ञेय होगा,' यह मय जीवक उपयोगमें रहता है, क्योंकि ऐसा ही कर्तव्य है।

जो राग-द्वेष आदि परिणाम अज्ञानके बिना समन्वित नहीं होते, उन राग-द्वेष आदि परिणामोंके होनेपर, जीवन्मुक्तिको सर्वथा मानकर, जीव जीवन्मुक्त दशाकी आसक्तता करता है—इस प्रकार मनुष्य करता है उन राग द्वेष परिणामोंका सर्वथा ख्या करना ही कर्तव्य है।

जहाँ अत्यन्त ज्ञान हो, वहाँ अत्यन्त त्याग होता है। अत्यन्त त्यागक प्रगट हुए बिना अत्यन्त ज्ञान नहीं होता, ऐसा भीतीर्यकरने स्वीकार किया है।

आत्म-परिणामपूर्वक जितना अन्य पदार्थका तादृश्य—अभ्यास—निवृत्त किया जाय, उसे श्रीभिनूने त्याग कहा है।

उस तादृश्य—अभ्यास—निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये ॥॥ बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारक है—कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अत्यर्थाग नहीं कहा—ऐसा होनेपर भी इस जीवक अत्यन्तागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारक मानना योग्य है।

हम नित्य छूटनेका ही विचार करते हैं, और जैसे बने जिससे वह कार्य तुरन्त ही निवृत्त जाय वैसी आप जपा करते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और आप अभी तथारूप नहीं है—शिथिल है इसलिये अत्यन्त विचार और उग्रतासे उस आपके आराधन करनका अत्यन्तार्थमें सयोग्य बुद्धिमान योग्य है—ऐसा रहा करता है।

प्रसंगपूर्वक कुछ परस्परके सङ्घर्ष जैसे बचन इस पत्रमें लिखे हैं। उनका विचारमें स्थिर होनेसे, उन्हें स्व-विचार-वृत्तकी वृद्धिके लिये और गुम्हारे बौद्धिक-विचारनेके लिये प्रियता है।

(२) जीव, प्रवेश, पर्याय, संस्कार, असंस्कार अनन्त आदिके विषयमें तथा उसकी व्यापक ताके विषयमें कमपूर्वक समझना योग्य होगा।

५०४

बम्बई, वैशाख सुदी १९५१

श्री - "से सुभारसुखकी बातचीत करनेका तुम्हें अबसर प्राप्त हो तो करना ।

जो दह पूर्व युवावस्थामें जीव सम्पूर्ण आरोग्यतायुक्त निःशर्मा देनेपर भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें ? जगत्क समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह भी दुःखी ही होता है, ता फिर दूसरे पदार्थमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना ? जिन पुरुषोंने, जैसे मक शरीरस मित्र ह इसी तरह आत्मासे शरीर मित्र है—यह ज्ञान लिया है, वे पुरुष अन्य हैं। यदि दूसरेकी वस्तुका करने द्वारा पक्ष हो गया हो, तो जिस समय यह मायूम हो जाता ह कि यह वस्तु दूसरेकी है, उसी समय आत्मा पुरुष उसे वापिस छीट देता है ।

दुःख कम है, इसमें संशय नहीं । तथापि परमज्ञानी आनन्द-पुरुषका प्राप विरह ही है । विरह ही जीव सम्पूर्णद्विमात्र प्राप्त करे, ऐसी काम-स्थिति हो गई है । जहाँ सख-सिख-आत्म-चारित्र्य दशा रहती है, ऐसा कककज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसमें संशय नहीं ।

प्रकृति मिश्रान्त नहीं होती विरहमात्र अविक रहता है । जन्में अपना एकजंतमें स्वयं स्वरूपका अनुभव करती हुई आत्मा निर्बिषय रहे, ऐसा करनेमें ही समस्त इच्छा रुकी हुई है ।

५०५

बम्बई, वैशाख सुदी १५ पुष १९५१

आत्मा अव्यक्त सख स्वयता प्राप्त करे, यही श्रीसर्वज्ञने समस्त ज्ञानका सार कहा है ।

अनादिकात्मसे जीवने निरंतर अस्वस्थताकी ही आशयमा की है जिससे जीवको स्वस्थताकी आर आना कठिन पड़ता है । श्रीमिनने ऐसा कहा है कि 'यथाप्रवृत्तिरुप'तक जीव कान्त वार का युक्त है परन्तु जिस समय प्रवी-भेद होनेतक आगमन जाता है, उस समय वह क्षोभ पाकर पीछे सदा-परिणामी हो जाया करता है । प्रवी-भेद होनेमें जो शीर्ष-गति चाहिये उसके होनेके लिये जीवको नित्यप्रति सस्तमागम सविचार और सर्पधका परिचय निरंतररूपसे करना अपेक्षित है ।

इस दहकी आयु प्रपञ्च उपाधि योगसे व्यतीत हुई जा रही है इसलिये अव्यक्त शोक होता है और उसका यदि अन्तपादमें ही उपाय न किया गया तो हम जैसे अधिचारी लोग भी बोधे ही समझने चाहिये ।

जिस ज्ञानस काम नारा हो उस ज्ञानको अत्यन्त अधिकसे नमस्कार हो ।

५०६

बम्बई, वैशाख सुदी १५ पुष १९५१

सबकी अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता ह ऐसी यह काया रोग अब आदिसे जल्दी ही वरमाकी दुःखप्राप्त हो जाती ह तो फिर उसमें दूर ऐसे भन आदिसे जीवको तथापि (यथायोग्य) सुख-वृत्ति हो ऐसा विचार करनेपर विचारवानकी बुद्धिको अचर्य क्षोभ होना चाहिये और उसे किसी दूसरे ही विचारकी ओर जाना चाहिये—ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंने जो निर्णय किया है वह पापात्म्य ह ।

५०७

बम्बई, वैशाख वी ७ गुरु १९५१

ॐ

वेदन्त आदिमें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उस विचारणाकी अपेक्षा श्रीजिनागममें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा है, उसमें भेद आता है।

सर्व-विचारणाका फल आत्माका सहज स्वभावसे परिणाम होना ही है।

सम्पूर्ण रंग-रूपके ध्वज हुए बिना सम्पूर्ण आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता, ऐसा जो जिनभगवान्ने निर्धारण कहा है, वह वेदन्त आदिमें अपेक्षा प्रत्यक्षरूपसे प्रमाणभूत है।

५०८

सबकी अपेक्षा बीतरंगक वचनको सम्पूर्ण प्रतीतिका स्थान मानना योग्य है। क्योंकि जहाँ रंग आदि दोषोंका सम्पूर्ण ध्वज हा गया हा वहीं सम्पूर्ण ज्ञान-स्वभावके प्रगट होनेके छिपे योग्य निश्चयका होना समभव है।

श्रीजिनको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट बीतरंगताका होना समभव है। क्योंकि उनका वचन प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिस किसी पुरुषको नितने अशमें बीतरंगता होती है, उतने ही अशमें उस पुरुषके वाक्य मानने योग्य हैं।

संक्षेप आदि दर्शनमें बंध-मोक्षकी जिस जिस व्याख्याका उपस्था किया है, उससे प्रबल प्रमाणसे सिद्ध व्याख्या श्रीजिन बीतरंगने कही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

५०९

हमारे चित्तमें बारम्बार ऐसा आता है और ऐसा परिणाम स्थिर रहा करता है कि जैसा आत्म कल्याणका निर्धारण श्रीजिनमान स्वामीन अपना श्रीकृष्णमंत्र आदिने किया है, वसा निधारण दूसरे सम्प्रदायमें नहीं है।

वेदन्त आदि दर्शनका उक्त भी आत्म-ज्ञानकी ओर सम्पूर्ण मोक्षकी ओर जाता हुआ देखनेमें आता है, परन्तु उसमें सम्पूर्णतया उसका पथयोग्य निर्धारण मायूम नहीं होता—अग्रे ही मायूम होता है, और कुछ कुछ उसका भी पर्यायानर मायूम होता है। यद्यपि वेदन्तमें जगह जगह आत्म चर्याका ही विवेचन किया गया है, परन्तु वह चर्या स्वयंस्वरूपसे अविरुद्ध है, ऐसा अभी तक नहीं मायूम हो सका। यह भी होना समभव है कि कदाचित् विचारक किसी उद्यम-मन्त्रसे वेदन्तका आराधन मिश्ररूपसे सम्प्रसे आता हो, और उससे विराध मायूम होता हा ऐसी जागाकी भी फिर फिरसे चित्तमें की है, विशेष अति विशेष आत्मचार्यको परिणामकर उस अनिरोधी रंगनेक छिपे विचार किया गया है फिर भी ऐसा मायूम हुआ है कि वेदन्तमें जिस प्रकारसे आत्मव्यख्या कहा है उस प्रकारसे वेदन्त सर्वथा अविरोध भावका प्राप्त नहीं हा सकता। क्योंकि जिस तरह यह कहता है,

आत्मस्वरूप उसी तरह नहीं है—उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है, और उस उस प्रकारसे संक्षिप्त चरित्र दर्शनेमें भी भेद देखा जाता है ।

मात्र एक शीघ्रिनेने जो आत्मस्वरूप कहा है वह विशेषातिशेय अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे भेदम करनेमें आता है । बिनमगबान्का कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्णतया अविरोधा होता उचित है ऐसा मान्य होता है । परन्तु वह सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता उसका हट केवल इतना ही है कि कभी सम्पूर्णतया आत्मत्वमया प्रगट नहीं हुई । इस कारण जो अवस्था अग्रगट है उस अवस्थाका वतमानमें अनुमान करते हैं जिससे उस अनुमानको उसपर अक्षत मार न देने योग्य मानकर वह विशेषातिशेय अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा समझता है ।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी तो पुरुषमें प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्मामें निधन प्रतीति-भाव आता है । और वह कसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, वह विचार करनेसे वह बिनमगबान् सबसे पुरुषको प्रगट होना चाहिये, यह स्पष्ट मान्य होता है । इस सुष्ठिमहत्त्वमें यदि किसीमें भी सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम शीघ्रवर्धमान स्वामीमें प्रगट होने योग्य समझता है, अथवा उस दशाक पुरुषोंमें सबसे प्रथम सम्पूर्ण आत्मस्वरूप—(अरूप)

ॐ

५१०

बन्ध, वैद्याल वरी ? रवि १ ५१

‘ अन्तर्धर्म उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेको आत्म-परिणतिको किस विचारमें खाना पसप है जिससे वह उपाधिरहित हो सके ’ यह प्रश्न हमने किया था । इसके उत्तरमें हमने लिखा कि जबतक तत्वाका बंधन है तबतक उपाधिरहित नहीं हुआ जाता । और जिससे वह बंधन आत्म परिणतिसे कम पड़ जाय वैसी परिणति रहे तो अन्तर्धर्म ही उपाधिरहित हुआ जा सकता है—इस तरह जो उत्तर दिया है वह पथार्थ है ।

यही प्रश्नमें हमने विशेषणा है कि यदि बन्धपूर्वक उपाधि-योग प्राप्त होता है, उसके प्रति राग-द्वेष आदि परिणति कम हो उपाधि करनेके लिये जिसमें आश्चर्य स्वर रहता हो और उस उपाधिक त्याग करनेमें परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदय-बहते यदि उपाधि प्रसेग रहता हो तो उसकी किम उपाधसे निवृत्ति की जा सकती है ? इस प्रश्नविषयक आ लघु पट्टे से तो ज्ञाना ।

आचार्यप्रसाद प्रप हसन पड़ा है । उसमें सप्रशस्त्यक विज्ञानका कुछ कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है परन्तु आत्ममय वह आत्मनिक ज्ञानवाक्यकी रचना नहीं ऐसा मुझे समझता है ।

श्रीगुरुने ‘ अग्रे पुरुष एक ब्रह्म है ’ यह आ संकेता लियाया है वह बर्णना है । श्रीगुरुका हा गुरुवाक्य शिष्य अनुभव है परन्तु इस गुरुवाक्यमें भी प्रायः करक छाया उद्देश दानमें आता है और उक्त अनुभव ही निर्णय दिया जा सकता है और कभी जा निजव किया जाय ता वह ब्रह्मवाक्य आचार्य ही रहता है—यथा प्रायः करक लघुमें नहीं आता । और पुरुषार्थ-धर्मता इस प्रकारकी

भाणी अनेक तरहसे बलवान बनाती है, इतना उस भाणीका उपकार बहुतसे जीवोंके प्रति होना समझ है।

हमारे आजके पत्रमें अतमें श्रीहरने जो साखी लिखाई है—‘अप्यहारनी जाळ पांढर पांढरे परमळी’—यह जिसमें प्रथम पं है, यह यथाय है। यह साखी उपाधिसे उदासीन चित्तको धीरजका कारण हो सकती है।

५११

बम्बई, वैशाख बनी १४ गुठ १९५१

शरण (आश्रय) और निश्चय कर्तव्य है। अवैयसे छेद नहीं करना चाहिये। चित्तमें देह आदि भयका विक्षय भी करना योग्य नहीं। अस्थिर परिणामका उपशम करना योग्य है।

५१२

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी २ एवि १९५१

अपारकी तरह ससार-समुद्रसे तारनेवाले ऐसे सद्धर्मका निष्कारण करुणासे मिसन उपदेश किया है, उस हानी-पुरुषक उपकारको नमस्कार हा ! नमस्कार हा !
मुझे प्राय करके निवृत्ति मिल सकती है, परन्तु यह क्षेत्र स्वभावसे विशेष प्रवृत्तिपुष्ट है; इस कारण निवृत्ति क्षेत्रमें जैसे सप्तमागमसे आश्रय-परिणामका उत्कर्ष होता है, वसा प्राय करके विशेष प्रवृत्तिवाले क्षेत्रमें होना कठिन पड़ता है। कभी विचारवानको तो प्रवृत्ति क्षेत्रमें सप्तमागम विशेष आम्नायक हो जाता है। हानी-पुरुषको भीष्ममें निर्मल दशा दिखाई देती है। इत्यादि निमित्तसे भी वह विशेष आम्नायक होता है। पर-परिणामिके कार्य करनेका प्रसंग रहे और स्व-परिणाममें स्थिति रखने रहना यह आनन्दजननीने जो बौद्धर्षे विनमगवान्की सेवा कही है, उससे भी विशेष कठिन है।

हानी-पुरुषके जिस समयसे नवकाइसे विपुल ब्रह्मचर्य दशा रहे, उस समयसे जो सयम-सुख प्रगट होता है, वह अवर्णनीय है। उपदेश-मार्ग भी उस सुखके प्रगट होनेपर ही प्ररूपण करने योग्य है।

५१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० एवि १९५१

ॐ

बहुत बड़े पुरुषोंके ऋद्धि-योगके सचमें शास्त्रमें बात आती है तथा लोक-कथनमें भी वैसी बातें सुनी जाती हैं, उस विषयमें आपको संशय रहता है; उसका उत्तर संक्षेपमें इस तरह है—

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कही हैं, ‘ॐ’ आदि जो मन्त्र-योग कहा है, वह सब सत्य है। परन्तु आध्यात्मिकीके सामने यह सब तुच्छ है। जहाँ आत्म-स्थिरता है, वहाँ सब प्रकारका सिद्धि-योग रहता है। इस कारणमें कैसे पुरुष दिखाई नहीं देते, उससे यह उसकी अप्रतीति होनेका कारण हो जाता है। परन्तु वर्तमानमें किसी किसी जीवमें ही उस तरहकी स्थिरता देखनेमें आती है। बहुतसे जीवोंमें सत्त्वकी न्यूनता रहती है, और उस कारणसे वेस चमत्कार आदि दिखाई नहीं देते, परन्तु

उनका अस्तित्व ही नहीं यह बात नहीं है। तुम्हें इस बातकी शक्ती रहती है, यह आश्चर्य मात्र है। जिसे अश्वप्रतीति उत्पन्न हो जाय उसे सहज ही इस बातकी निश्चयता होती है। क्योंकि ज्ञानमै जो समर्थता है, उस समर्थताके सामने सिद्धि-उन्निवर्तकी कोई भी विरोधता नहीं।

ऐसे प्रश्नोंको आप कभी कभी छिस्तो हो इसका क्या कारण है, सो छिस्तना। इस प्रश्नके प्रश्नोक्त विचारबानको होना कैसे समझ हो सकता है ?

५१४

मनमें जो रामा द्वेष आणिका परिणाम हुआ करता है, उसे समझ जादि पर्याय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समय अत्यन्त सूक्ष्म है, और मनके परिणामोंकी बेसी सूक्ष्मता नहीं है। पदार्थका अर्थसे व्युत्पन्न सूक्ष्म परिणतिका जो प्रकार है वह समय है।

रामा-द्वेष आदि विचारोंका उत्पन्न होना, यह जीवके पूर्वोन्निवर्त सिधे हुए कर्मके संभवसे ही होता है। वर्तमान कालमें अश्वप्रतीति पुनरावृत्ति उसमें कुछ भी हानि-हानिमें कारणरूप है, फिर भी वह विचार विरोध गहन है।

धीरेधीरे जो स्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है। उस उस प्रसंगपर प्राण आणिका कुछ सन्निवेश होता है। उस समय चित्तमें सामान्य प्रकारसे विरोधका निमित्त होता है जिसा आदि योगका प्रसंग होता है अपना वह प्रसंग कोमल परिणाममें विनश्यत कारण होता है, इत्यादि अनेकानेके स्वाध्यायका निरूपण किया है।

अनुक विरता होनेतक विरोध छिस्तना नहीं बन सकता, तो भी चित्तना बना उठना प्रयास करके य तीन पत्र लिखे हैं।

५१५

बम्बई स्पेस सुदी १५ शुक्र १९५१

वह तथ्यावयव गंभीर वाक्य नहीं है, तो भी वाक्यक गंभीर होनेसे एक वैकिक बचन हानिमें अश्वप्रतीति बहुत पार पार हो आता है। वह वाक्य इस तरह है—राही रूप, माटी रूप, पक्ष सत्त भरतारवाजी तो मादुन न उपाह। यद्यपि इस वाक्यके गंभीर न हानिसे छिस्तनेमें प्रवृत्ति न होती, परन्तु आशयके गंभीर होनेसे और अपन विषयमें विरोध विचार करना दिक्कत बनके कारण तुम्हें पत्र लिखनका स्मरण हुआ इसविषय यह वाक्य लिखा है। इसका ऊपर यथाशक्ति विचार करना।

५१६

बम्बई स्पेस सुदी २ रवि १९५१

विचारबानको देह छूनेके संबंधमें दर्प-निगार करना योग्य नहीं। अश्वप्रतीतिबानका विचारबान ही हानि और बड़ी सुख्य मरण है। स्वभाव-सम्पुष्टता और उस प्रकारकी इच्छा वह दर्प-विचारको दूर करती है।

५१७

वर्ष १९५१

सबसे सम-भावकी इच्छा रहती है ।

ऐं भीषाज्जनों रासकरवाँ, ज्ञान अमृत रस बुझो रे । मृग० । (श्रीपञ्चविजयजी)

तीव्र वैराग्यवानको, जिस उदयका प्रसंग शिथिल करनेमें बहुत बार फटीमूत होता है, वैसे उदयका प्रसंग देखकर जिसमें अत्यन्त उत्साहमान जाता है । यह संसार किस कारणसे परिचय करने योग्य है ? तथा उसकी निवृत्तिकी इच्छा करनेवाले विचारवानको प्रारम्भवासे उसका प्रसंग रहा करता हो ता वह प्रारम्भ किसी दूसरी प्रकार शीघ्रतासे वेदन किया जा सकता है अथवा नहीं ? उसका तुम तथा श्रीगुरु विचार करके लिखना ।

जिस तीर्थकरने ज्ञानका पत्र बिरति कहा है, उस तीर्थकरको अत्यन्त मर्त्यसे नमस्कार हो !

इच्छा न करते हुए भी जीवको भोगना पड़ता है यह पूर्वकर्मके सबको यथार्थ सिद्ध करता है ।

५१८

वर्ष १९५१

ज्ञानीक मार्गक आश्रयकी उपदेश करनवाले वाक्य—

१ सहज स्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे जीवितरूप मोक्ष कहते हैं ।

२ जीव सहज स्वरूपसे स्थिति नहीं, परन्तु उस सहज स्वरूपका जीवको केवल मान नहीं है यह मान होना, यही सहज स्वरूपसे स्थिति है ।

३ सगके योगसे यह जीव सहज स्थितिकी मूढ गया है, सगकी निवृत्तिसे सहज स्वरूपका अपरोक्ष मान प्रगट होता है ।

४ इसीस्थिसे सब तीर्थकर आदि ज्ञानियोंने असगताको ही सर्वोत्तम कहा है जिसमें सब अहम-साधन समिन्विष्ट हो जाते हैं ।

५ समस्त विमलामने कहे हुए वचन एकमात्र असगतामें ही समा जात हैं; क्योंकि उसीके होनेके लिये वे समस्त वचन कहे हैं । एक परमाश्रय केरु श्रीगुरु राम् ओम्की और मेघ-उम्मेरसे लेकर शीघ्रता अस्तित्वकी जो सब क्रियाओंका वर्णन किया गया है, उनका इसी असगताके समझानेके लिये वर्णन किया है ।

६ सर्व मायसे असगता होना यह सबसे कठिनसे कठिन साधन है और उसके आश्रयका बिना सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है—ऐसा विचारकर श्रीतीर्थकरने संप्रसंगका उसका आधार कहा है, जिस संप्रसंगके सबसे जायको सहज स्वरूपमूल असगता उत्पन्न होती है ।

७ वह संप्रसंग भी जीवको बहुत बार प्राप्त होनेपर भी पकड़ान नहीं हुआ, ऐसा श्रीगुरु-रामने कहा है; क्योंकि उस संप्रसंगका पहिचानकर हुए जीवने उसे परम दिगच्छरी नहीं समझा—परम चाहते उसकी उपमाणा नहीं की—आर प्राप्तकी भी अप्राप्त पकड़ान होने योग्य सदास छोड़

१ ११ श्रीगुरुके रामको निम्नसे हुए ज्ञानमूल रख करता है ।

प्रत्येक तथ्य, स्वेच्छामार्ग तथा औतंग्यको विशेष विचार करना चाहिये । अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे केवलज्ञान काटिका स्वरूप कहा है और नैमदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उन दोनोंमें बहुत कुछ मुख्य में देखनेमें जाता है, उसका सबको विचार होकर समाधान हो जाय तो यह आह्मिक कल्याणका वगभूत है इसलिये इस विषयपर अधिक विचार किया जाय तो अच्छा है ।

२. 'वसति' इस पक्ष से लेकर सब भाव आह्मिकके लिये ही विचार करने योग्य हैं । उसमें जो निज स्वल्पकी प्रामिका होत है, उसका ही मुख्यतया विचार करना योग्य है । और उस विचारके लिये अन्य पदार्थिक विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसके लिये उसका भी विचार करना उचित है ।

परस्पर दर्शनमें बड़ा में देखनेमें जाता है । उन सबकी तुलना करके बहुत दर्शन सदा है यह निश्चय सब मुमुक्षुओंको होना चाहिये, क्योंकि उसकी तुलना करनेकी क्षमतामयकि किसी किसी जीवको ही होती है । फिर एक दर्शन सब अर्थोंमें स्वयं है और दूसरा दर्शन सब अर्थोंमें असत्य है यह बात यदि विचारसे सिद्ध हो जाय तो दूसरे दर्शनके प्रवर्धककी दशा वाणि विचारने योग्य है । क्योंकि जिसका वैराग्य उपपन्न बलवान है, उसने सर्वथा असत्यका ही निरूपण क्यों किया होगा ! इत्यादि विचार करना योग्य है । किन्तु सब जीवोंको यह विचार होना चाहिये और यह विचार कार्यकारी भी है—करने योग्य है—परन्तु यह किसी महात्म्यवानको ही हो सकता है । फिर बाकी जो मोक्षके इच्छुक जीव हैं, उन्हें उस सर्वथामें क्या करना चाहिये, यह भी विचार करना उचित है ।

सब प्रकारके सर्वांग समाधानके हुए बिना सब कर्मसे मुक्त होना असम्भव है यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है और सब प्रकारके समाधान होनेके लिये यदि अनतकाल प्रयत्न करना पड़ता हो तो प्रायः करके कोई भी जीव मुक्त न हो सके । इससे ऐसा गम्य होता है कि अल्पकालमें ही उस सब प्रकारके समाधानका उपाय हो सकता है । इससे मुमुक्षु जीवोंको कोई निराशाका कारण भी नहीं है ।

१. आनन्दसुखी ५-९ के वाक्य यहाँसे निवृत्त होना बने, ऐसा गम्य होता है । यहाँ केवल-सर्वज्ञता होगी वही स्थिति होगी ।

५२७

वेदांत जैन सांख्य योग भैयाधिक, बौद्ध

आह्मिक—

निज

अनित्य + + + + +

परिणामी + + + + ,

अपरिणामी

साक्षी

साक्षी—कर्ता

५२८

१. सान्ध्यदर्शन कहता है कि बुद्धि जड़ है। पातञ्जल और वेदान्तदर्शन भी ऐसा ही कहते हैं। विनन्दन कहता है कि बुद्धि भेद्य है।

२. वेदान्तदर्शन कहता है कि आत्मा एक ही है। विनन्दन कहता है कि आत्मा अमर है। जाति एक है। सान्ध्यदर्शन भी ऐसा ही कहता है। पातञ्जलदर्शन भी ऐसा ही कहता है।

३. वेदान्तदर्शन कहता है कि यह समस्त विश्व ब्रह्माके पुत्रके समान है, विनन्दन कहता है कि यह समस्त विश्व शास्त्र है।

४. पातञ्जलदर्शन कहता है कि नित्य मुक्त ईश्वर एक ही होना चाहिये। सान्ध्यदर्शन इस बातका निषेध करता है। विनन्दन भी निषेध करता है।

५२९

बम्बई, आगस्त बंदी ११ सुब १०५१

मिस विचारवान पुरुषकी दृष्टिमें समारम्भ स्वल्प नित्यप्रति ज्ञेश्वररूप मामूल होता हो संसारिक योगोपमागमें बिसे नीरसता जैसी प्रवृत्ति होती है, उस विचारवानका दूसरी तरफ लोक-म्यष्टुर आदि, व्यापार आदिका उदय रहता है, ता वह उन्मत्त-प्रतिबन्ध इन्द्रियक सुख छिये नहीं किन्तु अहमहितायें दूर करनेके छिये हो, ता उसे दूर कर सफनेका क्या उपाय करना चाहिये? इस-सबमें कुछ कहना हो तो कहना।

५३०

बम्बई, आगस्त बंदी १४ सुब १०५२

३०

मिस प्रकारसे सदैव ही बन जाय, उस करनेक छिये परिणति रहा करता है, अपना जन्ममें यदि कोई उपाय न कर तो ब्रह्मान कारणका जिससे बाधा न हो वैसी प्रवृत्ति हारी है। बहुत समय-म्याहारीक प्रसंगाकी अधिकके कारण यदि कोई समय भी निवृत्तिसे छिटी तयारूप क्षणमें रहा जाय ता अच्छा, ऐसा चित्तमें रहा करता था। तथा यही अधिक समय रहमक कारण, जो देहक कमके निमित्त कारण है उस माता पिता आदिके बचनक छिये उनक बिचपी प्रियताके अभ्योमक छिये, तथा कुछकुछ दुर्गोके बिचपी अनुग्रहाके छिये भी बाह्य निरुक्त बाल ब्याणीजा जानेका विचार उन्मत्त हुआ था। उन दोनों बाह्यके छिये कभी सुभाग मिल ता अच्छा ऐसा विचार करनेसे कुछ यथाप्राय समाधान न होता था। उसके छिये विचारकी सदैव उद्भूत विचारमसे हस्तमें जो कुछ विचारकी अस्ति स्थिरता हुई, उसे तुम्हें बताया था। सब प्रकारके अनुग्रह-कृतक विचारका यहाँसे अप्रसंग समझकर दूर रखकर अत्यन्त-उत्तम अमृताका हस्तमें कुछ विचार रक्खा है, वह भी सदैव स्वामके उपायानुसार ही हुआ है। आगस्त बंदी ११ स माघपद सुब १० क लगभग तक छिटी निवृत्ति क्षणमें रहना हो तो वैस, यथाशक्ति उन्मत्त उपाय वैसा रखकर प्रवृत्ति करना चाहिये; यद्यपि विशेष निवृत्ति ता उन्मत्त स्वल्प दमनसे प्राप्त हानी कठिन जान पड़ती है।

न हो, यह बात ही ब्रह्मण है, और निष्पत्ति सिद्धा प्रकृति हीण होती रहे, यही सत्य इच्छा प्रकृति
 पक्ष है । यदि सिद्धा प्रकृति कुछ भी हो न हो तो सत्यका ज्ञान भी समझ नहीं ।

० देखो-कैसे जो मनुष्यलोकमें जाय, उसे अधिक खोम होता है—क्यापि जा सिद्ध है, वह
 समान्यरूपसे सिद्धा है, पक्षकपसे नहीं ।

५२१

बर्खा, बापस सुनी १ छि १११

यस असुक बनारसिकी असुक जगुमें ही उत्पत्ति होती है, जैसे ही असुक जगुमें ही सत्य
 निवृत्ति भी होती है । समान्य प्रकारसे आपके रस-स्वादकी आर्द्रा नक्षत्रमें निवृत्ति होती है । जो
 आर्द्रा मध्यमक बाद जो आम उत्पन्न होता है, उसकी निवृत्तिका समय भी आर्द्रा मध्यम ही हो, वह ही
 नहीं है । किन्तु सामान्यरूपसे वीर वैशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी ही आर्द्रा नक्षत्रमें ही
 क्षान्ता समझ है ।

५२२

बर्खा, बापस सुनी १ छि १११

निन पण प्राप्त करके विचार-इच्छा ही खा करती है । जिसका सरोसे भी सिद्धा नहीं
 सकना । समझाने कुछ प्रसन्न पक्षर कहा जा सकेगा तो पैदा करनेकी इच्छा रहती है, जैसे
 उसमें हमें भी दितकारक स्थिरता होगी ।

कबीरपदी यही भाव है उनका समागम करनेमें बाधा नहीं है । तथा यदि उनकी कोई बात
 मुझे पचावतार न लगती हो तो उस बातपर अधिक लक्ष्य न देते हुए उनके विचारका कुछ अनुभव
 कान्ता धर्म क्या ना विचार करना । जो नेत्रमगणन है, तात्ता समागम अनेक प्रकारसे ज्ञान-अर्थ
 उपनि करता है ।

कारुण्यकी समग्रता विशेष उदात्त भाव रहता है । तथा ६५१। जैसे योगक विना किल्ली है
 प्रहृष्टिपोक निपट करना नहीं बन सकना ।

५२३

बर्खा, बापस सुनी ११ जु १९५

(१) जिस कथाय पवित्राण । न । तोताका वन हो उस कथाय एतितानको विन्यासकसे
 अर्धगात्रुरी संज्ञा कही है । जिस कथायमें त्रयगतो ज्ञानान (वि वा) भावों तोर उद्बोधने आसक्ति
 प्रकृति होती है वने अमला (वनी) शानक समान है । जो वन को स्थानक पक्षी कहा है उस स्थान-
 कमें उस कथायकी सिद्धा ही प्रकृति है । तात्ताकाय सारे सत्य और सत्यका बोध कान्ता हा उत्तरी
 अर्द्धा हाती शानक उत्तरीविनु भाव होनाहै ता प्रकृति १५१ भाग १५१ अर्द्धा
 पक्षी जिग प्रसन्न म अर्थ हाताहा तात्ताकी प्रकृति १५१ भाग १५१ अर्द्धा
 अर्धगात्रुरी कथाय उत्तरी हा अर्थ है १५१ भाग १५१ अर्द्धा

इष्टा करते हुए अविनाशी परिणाम कहा है, उस परिणामस प्रवृत्ति करते हुए भी अनतानुबधीका होना समझ है। सत्त्वमें अनतानुबधी कपायकी व्याख्या इस तरह माध्य होती है।

(०) ' जा पुत्र आदि वस्तुएँ जोक-सहासे इष्ट करने योग्य मानी जाती हैं, उन वस्तुओंका दुःखदायक और असारभूत मानकर—प्राप्त होनेके बाद नाश हो जानेसे—वे इष्ट करने योग्य नहीं समझी थी, वेसे पत्नीकी हानिमें इष्ट उत्पन्न होती है, और उससे अनित्य भाव जैसे बलवान हो बसा करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है '—इत्यादि जो उदाहरणसहित लिखा, उसे बौद्धा है। जिस पुरुषकी हानि-दशा स्थिर रहने योग्य है, ऐसे हानी-पुरुषको भी यदि ससार-समागमका उदय हो तो जागृतत्वसे ही प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसा वीतरागने जो कहा है, वह अल्प नहीं है और हम सब जागृत भावसे प्रवृत्ति करनेमें कुछ शिथिलता रखें तो उस ससार-समागमसे बाधा होनेमें देर न लगे—यह उपदेश इन बचनोंद्वारा आह्वानमें परिणत करना योग्य है, इसमें श्रय करना उचित नहीं। प्रसङ्गकी सर्वथा निवृत्ति यदि अशक्य होती हो, तो प्रसङ्गको न्यून करना योग्य है, और प्रसङ्गपूर्वक सर्वथा निवृत्तिरूप परिणाम जाना ही उचित है, यह मुमुक्षु पुरुषका भूमिका-धर्म है। ससार-संसारक सयोगसे उस धर्मका विशेषरूपसे आचरण समझ है।

५२४

बम्बई, आगस्ट २१ १९५१

श्रीमद् वीतरागाय नमः

- (१) केवलज्ञानका स्वरूप किस प्रकार घटता है ?
- (२) हम मरतत्त्वमें इस कालमें उसका होना समझ हो सकता है या नहीं ?
- (३) केवलज्ञानमें किस प्रकारकी आत्म-स्थिति होती है ?
- (४) सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मज्ञानके स्वरूपमें किस प्रकारसे भेद हो सकता है ?
- (५) सम्यग्ज्ञानपुरुष पुरुषकी आत्मस्थिति कैसी होती है ?

उपर कहे हुए बचनोंपर पद्यादिकी विचार विचार करना योग्य है। इसके संबंधमें पत्रद्वारा तुममें जो लिखा जा सके सा लिखना।

हामें यहाँ उपाधिकी कुछ स्थिति है।

५२५

बम्बई, आगस्ट २१ १९५१

श्रीमद् वीतरागाय नमः

समागम और समागमके नामका आह्वानमें मुमुक्षुओंको आत्म परिणत और समागम आदि प्रतिष्ठा स्थापना करना योग्य है ऐसा श्रीमद् वीतरागाय महामु पुरुषोंने कहा है। जबकि अपना पत्र विचारकर उसे कम करने में प्रवृत्ति नहीं हो जाय तबकि सपुरुषके कहे हुए मागका पत्र प्राप्त करना कठिन है। हम मागद् मुमुक्षु जीरको विचार विचार करना चाहिये।

५२६

बम्बई, आगस्ट २१ १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

१ हम मरतत्त्वमें इस कालमें समागम समझ है या नहीं ? इत्यादि का प्रश्न है। प, उनके उत्तरमें तुम्हारे तथा श्री लक्ष्मणोंके विचार, प्राप्त हुए पत्रम विवेकपूर्ण माध्य है। इन

दिया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है उमी बातके विचारसे, जिससे हमारी आत्मामें अत्म-गुण अभिर्मूल होकर स्रजन समाधिपूर्वक प्राप्त हुआ, ऐसे स्रसगका मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८ अवश्य ही इस जीवको प्रथम सब साधनोंको गाण मानकर निर्वाणके मुख्य हेतु ऐसे स्रसगकी ही सर्वार्थरूपसे उपासना करना योग्य है जिससे सब साधन सुखम होत हैं—ऐसा हमारा आत्म-साक्षात्कार है।

९ उस स्रसगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है क्योंकि उस स्रसगके अपूर्व अद्वय और अत्यंत दुर्लभ ऐसे सयोगमें भी उसने उस स्रसगके सयोगको बाधा करनेवाले ऐसे मिथ्या कारणोंका त्याग नहीं किया।

१० मिथ्याग्रह, स्वच्छता, प्रमाण और इन्द्रिय विषयोंसे यदि उपेक्षा न की हो तो भी स्रसग फलवान नहीं होता अपना स्रसगमें एकनिष्ठा अपूर्व भक्ति न की हो, तो भी स्रसग फलवान नहीं होता। यदि एक इस प्रकारकी अपूर्व भक्तिसे स्रसगकी उपासना की हो तो अवश्यतासे ही मिथ्याग्रह वारिका नाश हो और अनुक्रमसे जीव सब दोषोंसे मुक्त हो जाय।

११ स्रसगकी पहिचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान् पुण्यके योगसे उसकी पहिचान होनेपर निश्चयसे यही स्रसग-सत्पुरुष है, ऐसा जिसे साक्षात्मात्र उत्पन्न हुआ हो उस जीवको तो अवश्य ही प्रवृत्तिज्ञ सत्कोष करना चाहिये अपने दोषोंको प्रतिक्षण, हरेक कार्यमें हरेक प्रसंगमें तत्त्व उपयोगपूर्वक देखना चाहिये और देखकर उनका क्षय करना चाहिये, तथा उस स्रसगके चिपे यदि देह व्याप करना पड़ता है तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये। परन्तु सबसे किसी पण्यमें विशेष भक्ति—स्नेह—होने से ना योग्य नहीं। तथा प्रमाणसे रसगारव भावि दोषोंसे उस स्रसगके प्राप्त होनेपर पुण्यार्थ-धर्म में रहता है और स्रसग फलवान नहीं होता यह ज्ञानकर पुण्यार्थ-धर्मका गुप्त रहना योग्य नहीं।

१२ स्रसगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहिचान होमपर भी यदि वह सयोग निरन्तर न रहता हो तो स्रसगसे प्राप्त उपदेशको प्रमथ सत्पुरुषके मुख्य समक्षकर उसका विचार तथा आराधन करना चाहिये जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्पत्ति उत्पन्न होता है।

१३ जीवको सबसे मुख्य और सबसे आवश्यक यह निश्चय रहना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह जो आत्माके कल्याणरूप हो उसे ही करना है और उसीके छिपे इन तीन योगोंको उदय-अस्तसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना तो भी अन्तमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके छिपे उस प्रवृत्तिज्ञ सत्कोष करते करते जिससे उसका क्षय हो जाय नहीं उपाय करना चाहिये। वह उपाय मिथ्या आग्रहका त्याग स्वच्छताका त्याग प्रमाण और इन्द्रिय-विषयका त्याग यह मुख्य है। उसको स्रसगके सयोगमें अवश्य ही आराधन करते रहना चाहिये और स्रसगकी परोक्षतासे तो उसका अवश्य अवश्य ही आराधन करते रहना चाहिये। क्योंकि स्रसगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ स्थूलता भी हो तो उसके निवारण होनेका साधन स्रसग ही है। परन्तु स्रसगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्म-बल ही साधन है। यदि वह आत्म-बल स्रसगसे प्राप्त बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरण करनेमें होनेवाले प्रयासको न छोड़े, तो कभी भी जीवका कल्याण न हो।

संश्लेषमें स्थित हुए ज्ञानीके मार्गके आशयको उद्देश कलेवाले इन भाष्योक्त सुसुप्त जीवको अपनी आत्मामें निरन्तर ही परिणमन करना योग्य है किन्तु हमने आत्म-गुणको विशेष विचारनेके लिये साम्प्रदायिक विचार है ।

५१९

वर्म्ह, अष्टम सुदी १० रवि १९५१

(१)

ज्ञानी-पुरुषको जो सुख रहता है वह निज स्वभावमें स्थिरताका ही सुख रहता है । बाह्य पदार्थमें उस सुख-बुद्धि नहीं होती । स्थिति उस उस पदार्थसे ज्ञानीका सुख-दुःख आदिकी विशेषता अथवा न्यूनता नहीं कही जा सकती । यद्यपि सामान्यरूपसे शरीरको स्वस्थता आदिसे साता और स्वर आदिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको ही होती है, परन्तु ज्ञानीको वह सब प्रसंग हर्ष-विषादका हेतु नहीं होता अथवा यदि ज्ञानकी उत्तमतामें न्यूनता हो तो उससे कुछ कुछ हर्ष-विषाद होता है फिर भी सर्वथा असागतभावको पाने योग्य हर्ष-विषाद नहीं होता । उदय-वस्यसे कुछ कुछ वैसा परिणाम होता है तो भी विचार जागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके लिये ही ज्ञानी पुरुषका परिणाम रहता है ।

जैसे वायुको दिशा बाध जानेसे जहाँन दूसरी तरफको चले जाता है, परन्तु जहाँन चलेनावाका उस जहाँनको असीम मार्गकी ओर रखनेके ही प्रयत्नमें रहता है, उसी तरह ज्ञानी-पुरुष मन-वचन आदि योगको निजभावमें स्थिति होनेकी ओर ही आता है । फिर भी उदयरूप वायुके समानसे यन्त्रिचक्र दिशाका फेर हो जाता है, तो भी परिणाम—प्रयत्न—तो करने ही धर्ममें रहता है ।

ज्ञानी निर्धन ही हो अथवा धनवान ही हो, आर अज्ञानी निर्धन ही हो अथवा धनवान ही हो, यह कोई नियम नहीं है । पूर्वमें निष्पन्न हुआ अज्ञान कर्मके अनुसार ही दोनोंको उदय रहता है । ज्ञानी उदयमें सम रहता है अज्ञानीको हर्ष-विषाद होता है ।

अहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ तो शिवा आदि परिग्रहका भी अप्रसंग है । उससे न्यून भूमिकाकी ज्ञान-दशामें (यद्यपि पूर्वमें गुणम्यानमें जहाँ उस योगका मिश्रण समझ है, उस दशामें) रहनेवाला ज्ञानी—सम्पत्तिको ही—शिवा आदि परिग्रहकी प्राप्ति होती है ।

(२)

पर पदार्थसे मिलने आने हर्ष-विषाद का उतना ही ज्ञानका उत्तमत्व कमती जाता है, ऐसा सर्वज्ञने कहा है ।

५२०

वर्म्ह, आषाढ सुदी १ रवि १९५१

१ स्वप्नका ज्ञान हानिक पञ्चात् मिथ्या प्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नहीं जाना । क्योंकि जितने अंशमें स्वप्नका ज्ञान हो उतने ही अंशमें मिथ्याभाव प्रवृत्तिका दूर जाना समझ है, यह विनमगवान्ता निश्चय है । कभी पूर्ण प्रारम्भस यद्यपि बाध प्रवृत्तिका उदय रहता है, तो भी मिथ्या प्रवृत्तिमें तात्कालिक

न हो, यह ज्ञानका लक्षण है और नित्य प्रति मिथ्या प्रवृत्ति क्षीण होती रहे, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। यदि मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो तो सत्यका ज्ञान भी समझ नहीं।

२ देखनेक्रमसे जो मनुष्यको क्रमसे आने, उसे अविक्रम कोम होता है—इत्यादि जो किता है, वह सामान्यक्रमसे किता है, एकताक्रमसे नहीं।

५२१

कर्म, आत्म सुदी १ रवि १९५१

जैसे अमुक बनस्पतिकी अमुक प्रवृत्ति होती है वैसे ही अमुक प्रवृत्ति होती है उसकी विकृति भी होती है। सामान्य प्रकारसे आत्मके रस-स्वादि अर्थात् मन्त्रमें विकृति होती है। परन्तु अर्थात् मन्त्रके बाद जो आत्म उत्पन्न होता है, उसकी विकृतिका समय भी अर्थात् मन्त्र ही हो, यह बात नहीं है। किन्तु सामान्यक्रमसे जो वैशाल्य आदि मांसमें उत्पन्न होनेवाले आत्मकी ही अर्थात् मन्त्रमें विकृति होना समय है।

५२२

कर्म, आत्म सुदी १ रवि १९५१

जिन रात प्रायः करके विचार-वृत्ति हो रहा करती है। जिसका सचेतने भी किम्बत्ता नहीं बन सकता। समग्रममें कुछ प्रसंग पाकर कहा जा सकेगा तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है, क्योंकि उससे हम भी हितकारक स्थिरता होगी।

कहीरपयी नहीं आये हैं उनका समागम करनेमें बाधा नहीं है। तथा यदि उनकी कोई प्रवृत्ति पूर्ण यथायात्न न लगायी हो तो उस बातपर अविकल ध्यान न देते हुए उनके विचारका कुछ अनुकरण करता योग्य जो ता विचार करना। जो वैशाल्यवान् हों उसका समागम अनेक प्रकारसे अहम-भावकी उत्पत्ति करता है।

कोकसवर्षी समागमसे विशेष उत्पन्न भाव रहता है। तथा पकड़ते जैसे योगके बिना कितनी ही प्रवृत्तिपक्ष निरूपण करता नहीं बन सकता।

५२३

कर्म, आत्म सुदी ११ बुध १९५१

(१) जिस कथाय परिणामम अनन्त समारम्भ न हो उस कथाय परिणामकी त्रिप्रवचनमें अनन्तानुबन्धी सेवा कही है। जिस कथायमें तन्मयतासे अप्रशस्त (मिथ्या) भावमें तीव्र उपयोगसे आत्माकी प्रवृत्ति होती है नहीं अनन्तानुबन्धी स्थानक समय है। मुख्यतः जो स्थानक यहाँ कहा है उस स्थानकमें उम कथायकी विशेष समरता है—जिस प्रकारसे सदैव सद्गुरु आर सद्गुरुका प्रोब होता हो उनकी अच्छाई ही। हा तथा उनसे विमुक्त भाव होता है इत्यादि प्रवृत्तिस तथा असत्त्व अमर्ष गुरु और भगवत् धर्मका जिस प्रकारसे आत्म होता है। तत्त्वकी कृतकृत्यता माय्य हा इत्यादि प्रवृत्तिसे आचरण करते हुए अनन्तानुबन्धी कथाय उत्पन्न होती है। अथवा ज्ञानीके वचनमें ली-गुण आदि मानेमें जो मर्त्यपक्ष पक्ष

इष्टा करते हुए अविनाशी परिणाम कहा है, उस परिणामसे प्रवृत्ति करते हुए भी अन दोना समर्थ है। सन्धेमें अनतानुबन्धी कपायकी व्याख्या इस तरह माझस होती है।

(२) ' जो पुत्र आदि वस्तुएँ लोक-सङ्घासे इष्टा करने योग्य मानी जाती हैं, उन ह्वात्तक और असारमूर्त मानकर—प्राप्त होनेके बाद माया हो जानेसे—न इष्टा करने लगती थी, कैसे पदार्थोंकी ह्वात्तमें इष्टा उत्पन्न होती है, और उससे अनित्य मात्र जैसे बैसा करनेकी अभिलाषा उद्भूत होती है '—इत्यादि जो उदाहरणसहित लिखा, उसे बाँबा पुरुषकी ज्ञान-दशा स्थिर रहने योग्य है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी यदि ससार-समागमका उ जागृतकृपसे ही प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसा बीतरागने जो कहा है, वह अल्पपा नहीं है सब जागृत मात्रसे प्रवृत्ति करनेमें कुछ शिथिलता रखें ता उस ससार-समागमसे बाधा होँ ल्यो—यह उपदेश इन बचनोंद्वारा आत्मामें परिणाम करना योग्य है, इसमें संशय करना उा प्रसंगकी सर्वथा निवृत्ति यदि अशक्य होती हो, तो प्रसंगको न्यून करना योग्य है, औ सर्वथा निवृत्तिकर परिणाम छाना ही उचित है यह मुमुक्षु पुरुषका भूमिका-धर्म है। सत्स संयोगसे उस धर्मका विशेषरूपसे आराधन समर्थ है।

५२४

बर्मा, आयाङ्क सुदी १३ गु

श्रीमद् बीतरागाय नमः

- (१) केवलज्ञानका स्वरूप किस प्रकार घटता है ?
- (२) इस भरतक्षेत्रमें इस काष्ठमें उसका होना समर्थ हो सकता है या नहीं ?
- (३) केवलज्ञानमें किस प्रकारकी जलम-स्थिति होती है ?
- (४) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञानके स्वरूपमें किस प्रकारसे भेद हो स
- (५) सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुषकी आत्मस्थिति कैसी होती है ?

उपर कहे हुए बचनोंपर यथाशक्ति विशेष विचार करना योग्य है। इसके सर्वजने प जो लिखा जा सके तो लिखना।

ह्वात्तमें यहाँ उपायिकी कुछ न्यूनता है।

५२५

बर्मा, आयाङ्क की २ र्ति

श्रीमद् बीतरागको नमस्कार

ससमागम और सत्ताकके कामको बाह्येवाले मुमुक्षुओंकी आर्य परिग्रह की आदिका प्रतिबन्ध न्यून करना योग्य है, ऐसा श्रीविग आदि महान् पुरुषोंने कहा है। जब दोष विचारकर उसे कम करनेके लिये प्रवृत्तिशील न हुआ जाय, तबतक सपुरुषके कहे। फल प्राप्त करना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीवको विशेष विचार करना चाहिये।

५२६

बर्मा, आयाङ्क की ३ र्ति

प्रत्येक तथ्य, अथवा तथ्य तथा भीष्मिको विशेष विचार करना चाहिये। अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे केवलज्ञान आदिका स्वरूप कहा है और जैनदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उन दोनोंमें बहुत कुछ मुख्य भेद देखनेमें आता है, उसका सबको विचार होकर समाधान हो जाय तो यह आत्मिक अध्ययनका अंगभूत है। इसलिये इस विषयपर अधिक विचार किया जाय तो अच्छा है।

२ 'अस्ति' इस परसे लेकर सब भाव आत्मिकके लिये ही विचार करने योग्य हैं। उसमें जो निज स्वरूपकी प्राप्ति है वह उसका ही मुख्यतया विचार करना योग्य है। और उस विचारके लिये अन्य पदार्थिक विचारकी भी अपेक्षा रहती है। उसके लिये उसका भी विचार करना उचित है।

परम्पर दर्शनमें कहा भेद देखनेमें आता है। उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन ठीक है, यह निश्चय सब मुमुक्षुओंको होना कठिन है, क्योंकि उसकी तुलना करनेकी क्षमतावाला किती किसी जीवको ही होती है। फिर एक दर्शन सब अर्थोंमें सत्य है और दूसरा दर्शन सब अर्थोंमें असत्य है यह बात यदि विचारसे सिद्ध हो जाय तो दूसरे दर्शनोंक प्रवर्तककी दशा आदि विचारने योग्य हैं। क्योंकि जिसका वैराग्य उपपन्न हुआ है, उसने सर्वथा असत्यका ही निरूपण क्यों किया होगा? इसलिये विचार करना योग्य है। किन्तु सब जीवोंको यह विचार होना कठिन है। और यह विचार कार्याकारी भी है—करने योग्य है—परन्तु यह किसी महात्म्यवानको ही हो सकता है। फिर अन्यो जो मोक्षके इच्छुक जीव हैं, उन्हें उस सबमें क्या करना चाहिये, यह भी विचार करना उचित है।

सब प्रकारके सर्वांग समाधानके हुए बिना सब कर्मोंसे मुक्त होना असंभव है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है और सब प्रकारके समाधान होनेके लिये यदि अनतकाल प्रवृत्त करना पड़ता हो तो प्राय करके कोई भी जीव मुक्त न हो सके। इससे ऐसा मान्य होता है कि अन्त्यकालमें ही उस सब प्रकारके समाधानका उपाय हो सकता है। इससे मुमुक्षु जीवको कोई निरालस्य करने भी नहीं है।

३ अथवापुनरी ५-६ के बात यहलिये निश्चय होना बने ऐसा मान्य होता है। जहाँ जैन-स्थिति होगी वही स्थिति होगी।

५२७

आत्मा—	वैश्व	जैन	छात्र	योग	नैपायिक,	वीर
निज						
अनिज	+	,	+	+	+	+
परिणामी	+		+	+	+	
अपरिणामी						
साक्षी						
साक्षी-कर्ता						

५२८

१ सांख्यदर्शन कहता है कि बुद्धि चक्षु है। पातञ्जल और वेदान्तदर्शन भी ऐसा ही कहते हैं। जिनदर्शन कहता है कि बुद्धि चेतन है।

२ वेदान्तदर्शन कहता है कि आत्मा एक ही है। जिनदर्शन कहता है कि आत्मा अनन्त है। जाति एक है। सांख्यदर्शन भी ऐसा ही कहता है। पातञ्जलदर्शन भी ऐसा ही कहता है।

३ वेदान्तदर्शन कहता है कि यह समस्त विश्व ब्रह्माके पुत्रके समान है, जिनदर्शन कहता है कि यह समस्त विश्व शाश्वत है।

४ पातञ्जलदर्शन कहता है कि नित्य मुक्त ईश्वर एक ही होना चाहिये। सांख्यदर्शन इस बातका निषेध करता है। जिनदर्शन भी निषेध करता है।

५२९

बम्बई, आपाङ्ग नं० ११ मुक १९५१

जिस विचारबल पुरुषकी दृष्टिमें ससारका स्वरूप नित्यप्रति डेहास्वरूप मात्मान होता हो, ससारिक मोगोपमोगमें जिसे नीरस्ता जैसी प्रवृत्ति होती हो, उस विचारबलको दूसरी तरफ ओक-म्यवाहुर आदि, व्यापार आदिका उदय रहता हो, तो वह उदय-प्रतिबन्ध इन्द्रिकों सुखके छिये नहीं, किन्तु आत्महितार्थ दूर करनेके छिये हो, तो उसे दूर कर सकनेका क्या उपाय करना चाहिये? इस सबमें कुछ कहना हो तो कहना।

५३०

बम्बई, आपाङ्ग नं० १४ रवि १९५१

ॐ

जिस प्रकारसे सृष्टि ही बल जाय, उसे करनेके छिये परिणति रहा करती है अथवा अन्तमें यदि कोई उपाय न चले तो कबान कारणको जिससे बाधा न हो वैसी प्रवृत्ति होती है। बहुत समयके व्यावहारिक प्रसंगाकी अकस्मिक कारण यदि थोड़े समय भी निवृत्तिसे किसी तथारूप क्षेत्रमें रहा जाय तो अन्त, ऐसा निश्चयमें रहा करता था। तथा यहाँ अधिक समय रहनेके कारण, जो देखके अन्तके निमित्त कारण हैं ऐसे माता पिता आदिके बचनके छिये, उनके चित्तकी प्रियताके अक्षोभके छिये, तथा कुछ कुछ दूसरोंके चित्तकी अनुप्रेषाके छिये भी थोड़े दिनका बाते कबाणीया जानेका विचार उत्पन्न हुआ था। उन दोनों बातोंके छिये कभी सयाग मिळ तो अन्त, ऐसा विचार करनेसे कुछ यथायोग्य समाधान न होता था। उसके छिये विचारकी सृष्टि उद्भूत विशेषतासे हाथमें जो कुछ विचारकी अल्प स्थिरता हुई, उसे तुम्हें बताया था। सब प्रकारके असम-अक्षके विचारको, यहाँसे व्यपसग समझकर, दूर रखकर अस्पष्टाकी अल्प असंगताका हाथमें कुछ विचार रक्खा है वह भी सृष्टि स्वभावसे उदयानुसार ही हुआ है। भाषण नं० ११ से भाषण सुदी १० के लगभग तक किसी निवृत्ति क्षेत्रमें रहना हो तो बैसे यथाशक्ति उदयको उपशम जैसा रखकर प्रवृत्ति करना चाहिये यद्यपि विशेष निवृत्ति तो उदयका स्वरूप देखनेसे प्राप्त होनी कठिन जान पड़ती है।

किसी भी प्रसङ्गमें प्रवृत्ति करते हुए तथा छिड़ते हुए जो प्रायः निष्क्रिय परिणति रहती है, उस परिणतिक कारण हाठमें निष्कारका बराबर कहना नहीं बनता । सहजतत्त्वस्वरूपसे यथायोग्य

५३१

कर्म आचार्य वरी १५ सोम १०५१

उन्मेषा वीतरागाय

(१) सर्व प्रतिक्रियसं मुक्त हुए बिना सर्व दुःखसे मुक्त होना सम्भव नहीं ।

(२) जन्मम विसे मरि क्षुत् और अथि य र्त्तल हान थे, और अस्मापयोगी वैराग्यदृष्टि थी, तथा अस्वच्छासे भोग-कर्मका क्षीण करके संपन्नता प्रप्ति करत हुए मन-पर्यवसान प्राप्त किया था ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी भी वारद करे और साह उह महीनेतक मान रहकर निश्चरते रहे । इस प्रकारका उनका आचरण उस उपनिषद्-मार्गका प्रचार करनेमें किसी भी जीवको अत्यन्त रूपसे निष्कार करके प्रवृत्ति करना सम्यक् है, ऐसा अगुड शिक्षाका उत्पन्न करता है । तथा विनम्रगणान् जैसेने जिस प्रति-बंधकी निवृत्तिमें त्रिप प्रयत्न किया उस प्रतिक्रियमें अजगुत रहने योग्य कोई भी जीव नहीं होता ऐसा बताया है, और अनन्त आचार्यका उस आचरणस प्रमाण दिया है—उस क्रमक प्रति निष्कारके शिरा निधरण रहती है—उस रचना सम्यक् है ।

जिस प्रकारका पूर्व प्रारम्भ भगवान् निवृत्ति होने योग्य है, उस प्रकारका प्रारम्भका उत्पत्तिवत्ता बन करना उचित है जिससे उस प्रकारका प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई अस्वच्छ प्राप्त होता है, उस उस अवसरपर जगुत उपयोग न होता जीवका समारिधी निवृत्तिवा हाते हुए देर न लगे । इस-विषय में गगनभारती मन्त्रण पर विचारने भोग बिना सुखाय न हो सक, ऐसे प्रसङ्गके प्रति प्रवृत्ति हान र्त्तना सम्यक् है ता भी उस प्रकारका करत हुए विमल सहायमें असंगता उत्पन्न हो उस प्रकारका ही मान करना उचित है ।

पुनः सम्यक् महत्त्व प्रवृत्ति और उशील-प्रवृत्ति ' इस भेदसे प्रवृत्ति रहा करती है । सुखद्वय । ग व प्रवृत्ति रहती है । सम्यक् प्रवृत्ति उग कर्त्त है आ प्रारम्भादयन उपपन्न है । अतः जिसमें कर्त्तव्य विचारण नहीं होता । दूसरी उत्तरण प्रवृत्ति वह है जो प्रवृत्ति पर पदार्थ अति-महत्त्व वाली है । तन्म दूसरी प्रवृत्ति हानमें आमा म हाता है । क्वाकि अतः सम्यक्-योग्यता उग कारण भी प्रवृत्ति हाता है । यथा गुना या और सम्यक्ता या और हानमें येम तत्त्वत्त्वम वेन । ता है । ३ मय कारणम अति-महत्त्वम आन त्त्व अति । पुन भी प्रवृत्तिपर अति क विचारण मय प्रवृत्ति म यमा अति क विचारण-कर्मके भी म हा ज-भेरी पयापरा आमा सम्यक्ता है । इस प्रवृत्ति हान में बिना अतः सम्यक्ता प्रवृत्ति हाता मानना था । यथा हानपर भी प्रवृत्ति म प्रवृत्ति मही है ।

५३२

कर्म आचार्य वरी १५ सोम १०५१

अन्य ५३१ । दूसरा ५३१ । अगुड शिक्षा निवृत्ति । ६ ।

५३१ । अगुड शिक्षा निवृत्ति म विचारण म यमा अति क विचारण मय प्रवृत्ति म

समय तक हानीकी आकापर पैर रखकर प्रवृत्ति होना समझ नहीं। किन्तु जहाँ भोग आदिमें सीमा तन्मयतासे प्रवृत्ति हो नहीं हानीकी आकाकी कोई अनुज्ञाता समझ नहीं—निमग्नतासे भोग प्रवृत्ति ही समझित है। जो जनिनाशी परिणाम कहा है, वैसा परिणाम नहीं रहे, नहीं भी अनतानुबन्धी समझ है। तथा 'मैं समझता हूँ, मुझे बाधा नहीं है' और इसी तरहकी बेहोशीमें रहे, तथा 'भोगसे निवृत्ति समझ है' और फिर भी वह कुछ भी पुरुषार्थ करे तो उस निवृत्तिका होना समझ होनेपर भी, विध्या ज्ञानसे ज्ञान-माला मानकर वह भोग आदिमें प्रवृत्ति करे तो नहीं भी अनतानुबन्धी समझ है।

जगत् अस्तित्वमें जैसे जैसे उपयोगकी पुष्टता होती है जैसे जैसे स्वप्नदशाका परित्यक्त होना समझ है।

५३३

ब्रह्मणीया भाषण सुदी १०, १९५१

सोमवारको एत्रिमें लगभग ग्याह बजेके बाद मेरे द्वारा जो कुछ बचन-योग प्रकाशित हुआ था, वह यदि स्मरणमें रहा हो, तो वह यथासाक्षि जिज्ञा आ सके तो लिखना।

जो पर्याय है, वह उस पर्यायका विशेष स्वरूप है, इसलिये मन-पर्यवसानको भी पर्यायार्थिक ज्ञान मानकर उसे विशेष ज्ञानोपयोगमें गिना है। उसके सामान्य ग्रहणरूप नियमके मसित न होनेसे उसे दर्शनोपयोगमें नहीं गिना, ऐसा सोमवारकी शेषरहके समय कहा था। तदनुसार जैनदर्शनका अभिप्राय भी आज देखा है।

यह बात अधिक स्पष्ट लिखनेसे समझमें आ सकने जैसी है, क्योंकि उसके बहुतसे दृष्टत आदिसे कहना योग्य है; किन्तु नहीं ता वैसा जाना असमर्थ है।

मन-पथके संबन्धमें जो प्रसंग लिखा है, उस प्रसंगको बचा करनेक मात्तस नहीं लिखा।

५३४

ब्रह्मणीया, भाषण सुदी १० शुभ १९५१

'यह जीव निमित्तवासी है यह एक सामान्य बचन है। वह सग-प्रसंगासे होती हुई जीवकी परिणतिके नियममें सम्मिलित प्राय सिद्धांतक रूप मान्य हो सकती है।

५३५

ब्रह्मणीया भाषण सुदी १५ सोम १९५१

आत्मार्थिके त्रिप विचार-भाग और मक्ति-मार्गकी आपत्तना करना योग्य है, किन्तु विचार मार्गके योग्य जिसकी सामर्थ्य नहीं, उसे उस मार्गका उपदेश करना उचित नहीं इत्यादि आदि लिखा है वह योग्य है, तो भी उस नियममें हाथमें कुछ भी लिखना बिलम्ब नहीं आ सकता।

श्री—ने केवलदर्शनके संबन्धमें कहा हुई जो दाका त्रिप है, उसे पढ़ी है। दूसरे अनेक भद्रोंक समझनेके पश्चात् उस प्रकारकी शक्य निवृत्ति होती है अथवा वह क्रम प्राय करके समझने योग्य होता है। देसी शक्यता हाथमें कम करके अथवा उपाय करके विशेष निष्कर्ष ऐय आमापक ही विचार करना योग्य है।

५३६

ब्रह्मगीता भाषण पदो ६ परि १०५१

ॐ

यहाँ प्रत्यक्ष पूर्ण होने तक रहना संभव है। केवलज्ञान आदिका क्या इस कालमें होना संभव है? त्वादिक प्रश्न पहिले किसे ये उक्त प्रश्नोंपर यथाशक्ति अनुपेक्षा तथा श्री... आदिके साथ परस्पर प्रश्नोंपर करना चाहिये।

‘गुणके समुदायसे मिला गुणीका स्वरूप होना संभव है अथवा नहीं?’ गुण लोगोंसे हो सके तो इस प्रश्नक ऊपर विचार करना। श्री...को तो अवश्य विचार करना योग्य है।

५३७

ब्रह्मगीता भाषण पदो ११ प्रक १९५१

यहाँसे प्रसंग पाकर किसे हुए जो चार प्रश्नोंका उत्तर किन्ना सो बीचा है। पहिलेके दो प्रश्नोंक उत्तर सङ्ग्रहमें है, फिर भी यथायोग्य है। तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, फिर भी उस प्रश्नका उत्तर विशेष सूक्ष्म विचारसे किन्ना योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है —

‘गुणके समुदायसे मिला गुणीका स्वरूप होना संभव है अथवा नहीं?’ अर्थात् ‘क्या समस्त गुणीका समुदाय ही गुणी अर्थात् ब्रह्म है? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी अन्य ब्रह्मका अस्तित्व मौजूद है?’ इसके उत्तरमें ऐसा किन्ना है कि वास्तव गुणी है उसके गुण ज्ञान दर्शन बगैर मिश्र हैं—इस प्रकार गुणी और गुणकी विभक्ता की है। परन्तु यहाँ विशेष विवक्षा करनी योग्य है। यहाँ प्रश्न होता है कि फिर ज्ञान दर्शन आदि गुणसे मिला ब्रह्मकी वास्तव्य ही क्या रह जाता है? इसलिये इस प्रश्नका यथाशक्ति विचार करना योग्य है।

बीचा प्रश्न यह है कि इस कालमें केवलज्ञान होना संभव है या नहीं? इसका उत्तर इस तरह किन्ना है कि प्रमाणसे देखनेसे तो यह संभव है। यह उत्तर भी संक्षिप्त है। इसपर बहुत विचार करना चाहिये। इस बीचे प्रश्नके विशेष विचार करनेके लिये उसमें इतना विशेष और सम्मिश्रित करना कि जिस प्रमाणसे जैन आश्रममें केवलज्ञान माना है अथवा कहा है वह केवलज्ञानका स्वरूप वास्तव्य ही क्या है—क्या ऐसा मान्य होता है या किसी दूसरी तरह? और यदि ऐसा ही केवलज्ञानका स्वरूप हो ऐसा मान्य होता हो तो वह स्वरूप इस कालमें भी प्रगट होना संभव है अथवा नहीं? अथवा जो जैन आश्रम कहता है उसके कहनेका क्या कोई शुद्ध ही कारण है? और क्या केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरी प्रकारसे होना और समझा जाना संभव है? इस बातपर यथाशक्ति अनुपेक्षण करना उचित है। इसी तरह जो तीसरा प्रश्न है वह भी अनेक प्रकारसे विचार करने योग्य है। विशेष अनुपेक्षा—पूर्वक इन दोनों प्रश्नोंक उत्तर किन्ना बने तो किन्ना। प्रथमके दो प्रश्नोंक उत्तर संक्षेपमें किसे हैं उन्हें विशेषतासे किन्ना बग सके तो उन्हें भी किन्ना।

प्रश्नमें पाँच प्रश्न किसे हैं। उनमेंके तीन प्रश्नोंका उत्तर यहाँ संक्षेपसे किन्ना है।

प्रथम प्रश्न — वास्तव्यमात्र ज्ञानवाक्य अनुपपन्न पहिलेके भक्ती किस तरह जान होता है?

उत्तर:—जिस तरह धृष्टकर्ममें कोई गौं बसू आदि देखी हो और बड़े होनेपर किसी प्रसंगपर जिस समय उक्त गौं आदि का आश्रय स्पष्ट होता है उस समय उक्त गौं आदिक काश्रयमें

मान होता है, उसी तरह जातिस्मरण ज्ञानवाञ्छेको भी पूर्वमरण मान होता है । क्याचित् यहाँ यह प्रश्न होगा कि ' पूर्वमरणे अनुमय किये हुए देह आदिका जैसा ऊपर कहा है वैसा मान होना समझ है—इस बातको यदि पापातथ्य मानें तो भी पूर्वमरणे अनुमृत देह आदि अथवा कोई देवछोक आदि निवास-स्थान जो अनुमय किये हों, उस अनुमयकी सृति हुई है, और वह अनुमय पापातथ्य हुआ है, यह किस आधारसे समझना चाहिये ? ' इस प्रश्नका समाधान इस तरह है—अमुक अमुक चेष्टा, क्रिया तथा परिणाम आदिसे अपने आपको उसका स्पष्ट मान होता है, किन्तु दूसरे किसी जीवको उसकी प्रतीति होनेके लिये तो कोई नियम नहीं है । कश्चित् अमुक देशमें अमुक गाँवमें अमुक घरमें पूर्वमें देह धारण किया हो, और उसके बिहू दूसरे जीवको बतानेसे, उस देश आदिकी अथवा उसके निवास आदिकी कुछ भी विद्यमानता हो, तो दूसरे जीवको भी प्रतीतिका कारण होता समझ है, अथवा जातिस्मरण ज्ञानवाञ्छेकी अपेक्षा जिसका ज्ञान विशेष है, उसका उसे जानना समझ है । तथा जिसे जातिस्मरण ज्ञान है, उसकी प्रवृत्ति आदिको जाननेवाला ऐसा कोई विचारवान् पुरुष भी जान सकता है कि इस पुरुषको किसी जैसे ज्ञानका होना समझ है, या जातिस्मरण होना समझ है अथवा जिसे जातिस्मरण ज्ञान है, कोई जीव उस पुरुषके पूर्वमरणे सबधमें आया हो—विशेषरूपसे आया हो, उसे उस सबधके बतानेसे यदि कुछ भी सृति हो तो भी दूसरे जीवको प्रतीति जाना समझ है ।

दूसरा प्रश्न —जीव प्रतिसमय मरता रहता है, यह किस तरह समझना चाहिये ?

उत्तर —जिस प्रकार आत्माको स्थूल देहका वियोग होता है—जिसे मरण कहा जाता है—उसी तरह स्थूल देहको आत्मा आदि सूक्ष्म पर्यायका भी प्रतिसमय हानि-परिणाम होनेसे वियोग हो रहा है, उससे वह प्रतिसमय मरण कहा जाता है । यह मरण व्यवहारमन्यसे कहा जाता है । निश्चयन्यसे या आत्मिक स्वाभाविक ज्ञान दर्शन आदि गुण-पर्यायको, विनाश परिणामके कारण, हानि हुआ करती है और वह हानि आत्माके नित्यता आदि स्वत्पन्नो भी पकड़े रहती है—यह प्रतिसमय मरण कहा जाता है ।

तीसरा प्रश्न —कलङ्कजालदर्शनमें भूत और भविष्यकाळके पदार्थ वर्तमानकाळमें वर्तमानस्वरूप ही चिन्तित होते हैं, अथवा किसी दूसरी तरह ?

उत्तर —जिस तरह वर्तमानमें वर्तमान पदार्थ चिन्तित होते हैं, उसी तरह भूतकाळके पदार्थ भूतकालमें जिस स्वरूपसे वे उसी स्वरूपसे वर्तमानकाळमें दिखाई देते हैं, और वे पदार्थ भविष्यकाळमें जिस स्वरूपसे होंगे उसी स्वरूपसे वर्तमानकाळमें दिखाई देते हैं । भूतकाळमें जो जो पदार्थ पदार्थमें रहता है, वे कारणरूपसे वर्तमान पदार्थमें मौजूद हैं, और भविष्यकाळमें जो जो पदार्थ रहेंगी, उनकी योग्यता वर्तमान पदार्थमें मौजूद है । उस कारणका और योग्यताका ज्ञान वर्तमानकाळमें भी केवलज्ञानीको पदार्थ स्वरूपसे हो सकता है । यद्यपि इस प्रश्नके विषयमें बहुतसे विचार बताना योग्य है ।

५३८ ब्रह्मणा मातृ १२ धनि १९५१

गत धनिवारको सिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमें मुख्यतया तीन प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर निम्नरूपसे है—

पहला प्रश्न—एक मनुष्य-प्राणी दिनके समय ब्रह्मण्डके गुणोंका अनुभव नपायातक देख सकता है और रात्रिके समय अंधेरेमें कुछ भी नहीं देख सकता। फिर दूसरे दिन इसी तरह देखता है, बार रात्रिके कुछ भी नहीं देखता। इस कारण इस तरह एक दिन रात्रिके, अविच्छिन्नरूपसे प्रदर्शित ब्रह्मण्डके गुणके उत्तर, ब्रह्मण्डके बन्धे बिना ही, क्या नहीं देखनेका आशय आ जाता होगा। अपना देखना यह आत्माका गुण ही नहीं, और सुननेसे ही सब कुछ सिखा देता है, इसीसे ब्रह्मण्डका गुण होनेके कारण उसकी अनुपस्थितिमें कुछ भी सिखा नहीं देता। और फिर इसी तरह सुननेके द्वारा ब्रह्मण्डको यथास्थान न रखनेसे कुछ भी सुना नहीं देता, तो फिर ब्रह्मण्डका गुण कैसे सुना दिया जाता है।

उत्तर—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मका अनुभव क्षयोपशम होनेसे इन्द्रियकर्म उत्पन्न होती है। यह इन्द्रियकर्म सामान्यरूपसे पाँच प्रकारकी होती आ सकती है। स्पर्शन इन्द्रियसे अल्प इन्द्रियकर्म सामान्यरूपसे मनुष्यको पाँच इन्द्रियोंकी कर्मिका क्षयोपशम होता है, उस क्षयोपशमकी शक्तिके अभावसे अनुभव व्यापकता हो जाती है मनुष्य ब्रह्म देख सकता है। देखना यह बहुत इन्द्रियकर्म गुण है परन्तु अंधकारसे अपना ब्रह्मण्डके अनुभव दूरीपर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमें नहीं आ सकता क्योंकि बहुत इन्द्रियकी क्षयापशम-कर्मिके उस अवस्थाका आकार बन जाता है। अर्थात् सामान्यरूपसे क्षयोपशमकी इतनी ही शक्ति है। दिनमें भी यदि विशेष अंधकार हो अपना कोई वस्तु बहुत अंधकारमें रखी हुई हो अपना अनुभव सीमासे दूर हो तो यह बहुतसे सिखा नहीं दे सकता। तथा दूसरी इन्द्रियोंकी भी कर्मिके सर्वत्र क्षयोपशम शक्तिके ही उनके विषय ज्ञान-दर्शनकी प्रवृत्ति है। अनुभव व्यापक होनेका ही है स्पर्श कर सकती है, सूँघ सकती है, स्वाद पहिचान सकती है या सुन सकती है।

दूसरा प्रश्न—ब्रह्मण्डके अन्तर्गत प्रदेशोंके समस्त शरीरमें व्यापक होनेपर भी, ब्रह्मण्डके बीचके भागकी पुच्छसे ही देखा जा सकता है; इसी तरह समस्त शरीरमें व्यापक प्रदेशोंके व्यापक होनेपर भी एक छोट्टेसे कालसे ही सुना जा सकता है; अनुभव स्वानसे ही गन्धकी परीक्षा होती है अनुभव बगहसे ही रसकी परीक्षा होती है। उपर्युक्तलिखे विभिन्न स्वाद-गन्ध-रस-पौष नही जानते जीव ही जानती है। ब्रह्मण्डके समस्त शरीरमें समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अनुभव मात्रसे ही ज्ञान होता है, इसका क्या कारण होगा।

उत्तर—जीवको ज्ञान दर्शन यदि क्षणिक मात्रसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशोंसे उसे तथा-प्रकारका निष्कारणपना होनेसे एक समयमें सर्व प्रकारसे सर्व भावका व्यापकमान होना संभव है परन्तु यहाँ क्षयोपशम मात्रसे ज्ञान दर्शन रहते हैं यहाँ विषय विषय प्रकारसे अनुभव नपायातक व्यापकमान होता है। जिस जीवको अर्थात् अल्प ज्ञान-दर्शनकी क्षयोपशम शक्ति रहती है उस जीवको अन्तर्गत अनेकमें मात्रा विविधता व्यापकमान होता है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शन इन्द्रियकी कर्मिके

कुछ कुछ विशेष व्यक्त (प्रगट) होती है; उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शन और रसना इन्द्रियकी कृमि उत्पन्न होती है, इस प्रकार विरोधतासे उत्तरोत्तर स्पर्श, रस, गन्ध, वण और द्रव्यको प्रमाण करने योग्य पञ्चेन्द्रियसम्बन्धी क्षयोपशम होता है। फिर भी क्षयोपशम दशामें गुणकी सम-विपमता होनेसे, सर्वांगसे वह पञ्चेन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान-दर्शन नहीं होता, क्योंकि शक्ति का रसा तारत्वम् (सत्त्व) नहीं है कि वह पौष्टो नियम सर्वांगसे प्रमाण करे। यद्यपि ध्वनि आदि ज्ञानमें ऐसा होता है, परन्तु यहाँ तो सामान्य क्षयोपशम और वह भी इन्द्रिय-सापेक्ष क्षयोपशमकी बात है। अमुक नियत प्रदेशमें ही उस इन्द्रियकृमिका परिणाम होता है, उसका हेतु क्षयोपशम तथा प्रसृत योनिका सम्बन्ध है, जिससे नियत प्रदेशमें (अमुक मर्ग—मार्गमें) जीवको अमुक अमुक विषयका ही प्रमाण होना सम्भव है।

तृतीय प्रश्न —जब घटीरके अमुक भागमें पीड़ा होती है तो जीव वही संक्रम हो जाता है, इससे किस भागमें पीड़ा है, उस भागकी पीड़ा सहन करनेके कारण क्या समस्त प्रदेश वही सिंच आते होंगे ? जगत्में भी कहावत है कि जहाँ पीड़ा हा जीव वही संक्रम रहता है।

उत्तर —उस वेदनाके सहन करनेमें बहुतसे प्रसंगोंपर विशेष उपयोग करता है, और दूसरे प्रदेशोंका उस ओर बहुतसे प्रसंगोंपर स्वामासिक आकर्षण भी होता है। किसी अवसरपर के नाश बाहुन्य हो तो समस्त प्रदेश मूर्च्छागत स्थितिको प्राप्त करते हैं और किसी अवसरपर वेदना अवस्था भयकी बहुव्यतिसे सर्व प्रदेश अर्थात् आत्माके दशम द्वार आदिही एक स्थानमें स्थिति होती है। यह होनेका हेतु भी यही है कि अम्माबाध नामक जीव-स्वभावके तत्त्वप्रकारसे परिणामी न होनेके कारण, विविधतायके क्षयोपशमकी किसी सम-विपमता होती है।

इस प्रकारके प्रश्न बहुतसे मुमुक्षु जीवोंको विचारकी दृष्टिके लिये करने चाहिये, और वस प्रश्नोंका समाधान बतानेकी विषयमें कवि सदन इच्छा भी रखती है परन्तु लिखनेमें विशेष उपयोगका रुक सकता बहुत मुदिरूपसे होता है।

५३९ कालीदास, व्याख्यान बड़ी १४ सोम १९५१

प्रथम पत्रमें ऐसा कहा है कि ' हे मुमुक्षु ! एक आत्माको जानते हुए तू समस्त लोकांशको जानेगा, और सब कुछ जाननेका पत्र भी एक आत्म-प्राप्ति ही है। इसलिये आत्मासे भिन्न ऐसे दूसरे भाषिक जाननेकी बारम्बारकी इच्छासे तू निवृत्त हो और एक निवृत्तकर्ममें दृष्टि दे; जिस दृष्टिसे समस्त सृष्टि हेतुत्वसे तुझे अपनेमें दृष्टिगोचर होगी। तत्त्वभारत सत्-तत्त्वमें बड़े हुए मार्गका भी यह तत्त्व है, पन्था तत्त्वज्ञानियोन कहा है, किन्तु उपयोगपूर्वक उसे विषयमें उगारना कठिन है। यह मार्ग जुग ६, और उसका स्वरूप भी जुग ६ मात्र ' कथन-ज्ञानी ' ऐसा कहते हैं वह ऐसा नहीं, इसलिये जगह जगह जाकर क्या दूँडा है; क्योंकि उस अर्धभावका अथ जगह जगहसे प्राप्त नहीं हो सकता।

दूसरे पत्रका संक्षिप्त अर्थ —' हे मुमुक्षु ! पम, नियम आदि जो साधन शयकोमें बड़े हैं वे उपरोक्त अर्थसे निवृत्त द्योगे यह बात भी नहीं है। क्योंकि वे भी किसी कारणसे लिये ही कहें हैं। यह कारण इस प्रकार है —जिससे आत्मज्ञान यह सबके ऐसी पात्रा प्राप्त होनेका लिये, और जिससे

उसमें स्थिति हो बैसी योग्यता हमें के किये इन कारणोंका उपदेश किया है। इस कारण तत्त्वज्ञानीने इस हेतुसे ये साधन कहे हैं परन्तु जीवकी समझमें एक साथ फेर हो जानेसे वह उन साधनोंमें ही अटक रहा, अथवा उसने उन साधनोंको भी अभिविवेश परिणामसे ग्रहण किया। जिस प्रकार बालकको ठेंगाईसे चम्र दिखाया जाता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानियोंने इस तत्त्वका सार कहा है।'

५४० कर्मात्मा, ज्ञातृमा १४ सोम १९५१

प्रश्न — 'कर्मजन्मेको अपेक्षा पुत्रावस्थामे इन्द्रिय-विचार विशेष उत्पन्न होता है, इसका क्या कारण होना चाहिये ? ऐसा जो किन्ना है उसके किये संश्लेषमें इस तरह विचारमा योग्य है।

उत्तर — ज्यों ज्यों कर्मसे अवस्था बदली जाती है त्यों त्यों इन्द्रिय-बल भी बढ़ता है तथा उस बलको विचारके कारणभूत निमित्त मिलते हैं, और पूर्व भयमें वसे विचारके संस्कार खाते जाये हैं; इस कारण वह निमित्त आदि योग्यता पक्कर विशेष परिणामसुक्त होता है। जिस तरह बीज तथाकथ्य कारण पक्कर वृक्षाकार परिणमता है, उसी तरह पूर्वके बीजभूत संस्कारोंका कर्मसे विशेषाकार परिणमन होता है।

५४१ कर्मात्मा मध्य सुती ९ गुह १९५१

निमित्तपूर्वक जिसे दर्श होता है निमित्तपूर्वक जिसे शोक होता है, निमित्तपूर्वक जिसे इन्द्रिय-जन्य विषयके प्रति कार्यरत होता है निमित्तपूर्वक जिसे इन्द्रियके प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष होता है निमित्तपूर्वक जिसे उत्कर्ष जाता है निमित्तपूर्वक ही जिसे कष्ट उत्पन्न होती है, ऐसे जीवको यमा-शक्ति उन सब निमित्तवासी जीवोंका संग त्याग करना योग्य है और नित्यप्रति संसृति करना उचित है; संसृतिमें न भिन्नसे उस प्रकारके निमित्तसे दूर रहना योग्य है। प्रतिक्षण प्रत्येक प्रसंगपर और प्रत्येक निमित्तमें अपनी निज इच्छाके प्रति उपयोग रखना योग्य है।

आन्तरिक सर्वभावपूर्वक क्षमा योग्यता है।

५४२

अनुमानप्रमाण प्रयोजिते श्रीप्रसादजीके प्रति सद्गुरुदेवका कहा हुआ वो उपदेश-प्रमाण लिख्य, वह वास्तविक है। तथाकथ निर्बिकल्प और लक्ष्य निरन्तररूपसे अभिज्ञान ज्ञानको सिद्धाव सर्व दुःख दूर करनेका अन्य कोई उपाय ज्ञानी-गुरुओंने नहीं जाला।

५४३ राणपुर (बडमतीका) मध्य बदी १३ भीम १९५१

अंतिम पत्रमें प्रश्न लिखे थे वह पत्र कहीं गुप्त गया मग्न होता है। संश्लेषमें निम्न लिखित उत्तरका विचार करना।

(१) चर्म कर्षण इत्येव एवमाव-परिणामी होनेसे निश्चित कहे गये हैं। परमार्थसे ये द्रव्य भी

सक्रिय है। व्यवहार नपसे परमात्मा, पुण्ड्र और सत्तायी जीव सक्रिय हैं, क्योंकि वे अपने स्वभाव आदिसे एक परिमाणकी तरह संबद्ध होते हैं। नष्ट होना—विच्छेद होना—यह यावत् परमात्मा धर्म कदा है.....परमार्थसे गुणवर्ग आदिका पञ्चमा और स्वधका विस्तर जाना

(६)

५४४ राधापुर, आसोज सुदी २ सुक्र

कुछ भी बने तो वही अहन्कारकी चर्चा होती हो वही जाना जाना और कथन स्मरण करना योग्य है। चाहे तो जैनदर्शनके सिध्दय दूसरे दर्शनकी स्मृति होती हो तो विचारक छिपे अवग कराना योग्य है।

५४५ श्रीवृन्दात आसोज सुदी

सत्यसत्त्वधी उपदेशका सार

बस्तुको वयार्थ स्वरूपसे जैसे जानना—अनुभव करना—उसे उली तह कइना है। यह सत्य दो प्रकारका है—एक परमार्थ सत्य और दूसरा व्यवहार सत्य।

परमार्थ सत्य अर्थात् ज्ञानाके सिध्दाय दूसरा कोई पदार्थ ज्ञानाका नहीं हो सत्त्व निष्कप सनसकर भावा बोधनमें व्यवहारसे देह, जी, पुत्र मित्र, धन, धर्म, गृह आदि सबधमें बोधनेके पक्षिरे एक ज्ञानाका छोड़कर दूसरा कुछ भी भेद नहीं है—यह उपदेश चाहिये। अन्य ज्ञानाका सबधमें बाधसे समय उस ज्ञाननमें जाति टिग और उस प्रकारकः भेद न होनेपर भी केवल व्यवहारनपसे प्रयोजनके छिपे ही उसे संबोधित किया जाता है—उपपत्तापूर्वक बोधा ज्ञान तो वह परमार्थिक भाषा है ऐसा समझना चाहिये।

जैसे कोई मनुष्य अपनी आश्रयित देहकी चरकी कीकी पुत्रकी अपवा अन्य पदा स्मय बात करता हो, उस समय स्वरूपसे उन सब पदार्थोंसे बोधनेछात्रा में निज है भेद नहीं है इस प्रकार बोधनेछात्रेको स्वरूपसे मान हो तो वह सत्य कदा : जिस प्रकार कोई प्रपकार शक्ति धना और चेतना रानीका वर्णन करता हा, तो ज्ञाना धे, और केवल श्रेणिकके मरकी अवेशास ही उनका तपा जी, पुत्र धन, धर्म सबध या, इस बातके लक्ष्यमें रखनेके पश्चात् बोधनेकी प्रवृत्ति करे—यही परमार्थ सत्य है सत्यके भावे बिना परमार्थ सत्य बचनका बोधना नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहार सत्यको नि जानना चाहिये—

व्यवहार सत्य —जिस प्रकारसे बस्तुका स्वरूप देखनेसे, अनुभव करनसे, धनन करे बोधनत हमें अनुभवमें आया हो, उसी प्रकारसे याथावश्यकतय बस्तुका स्वरूप कइने प्रसंगपर बचन बोधनका नाम व्यवहार सत्य है। जैसे किसीने किसी मनुष्यका हात धो गिनेके बाद बड़े देखा हो, और किसीके घुँवनेपर उसी तरह याथावश्यक बचन बोध

व्यवहार सत्य है। इसमें भी यदि किसी प्राणीके प्राणोंका नाश होता हो, और उन्मत्ततासे बचन बोलन गया हो—यद्यपि वह बचन सत्य ही हो—ता भी वह व्यक्त्यके ही समान है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना चाहिये। जो सत्यसे विपरीत हो उसे असत्य कहा जाता है।

श्रेय मान, माया, क्रोध, हास्य, रति बरति शोक, भय दुरुज्झये अहम् आदिसे ही बोलें बोलें हैं। वास्तवमें श्रेय आदि मोहनीयके ही अंग हैं। उसकी स्थिति दूसरे समस्त कर्मोंसे अधिक अर्थात् उत्तर कोड़ाकोड़ी समारब्ध है। इस कर्मके सत्य हुए बिना ज्ञानावरण आदि कर्म सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं हो सकते। यद्यपि सिद्धान्तमें पहिले ज्ञानावरण आदि कर्मोंको ही गिनया है, परन्तु इस कर्मकी श्रेया अधिक है, क्योंकि सत्ताके मूकमूत राग-द्वेषका यह मूकस्थान है। इसलिये सत्तामें भ्रमण करनेमें इसी कर्मकी मुख्यता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी प्रकृति है कि र भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे केनीय कर्म भोगे बिना निष्कल नहीं होता सो बात इस कर्मके नियममें नहीं है। मोहनीय कर्मकी प्रवृत्तिरूप क्रोध, मान, माया और क्रोध आदि कथाय तथा लोकपापका भव्यकर्मसे समा, नम्रता, निर्दिमानता, सरलता अवमता, और सतोष आदिकी विपक्ष भावनाओंसे, अर्थात् केवल विचार करनेमात्रसे उत्पन्न बलार्थ हुई कथाय निष्कल की जा सकती है। लोकपाप भी विचार करनेसे क्षय की जा सकती है; अर्थात् उसके लिये बल्य कुछ नहीं करना पड़ता। 'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर बचन बोलनेसे ही सत्य है। प्राय करके प्रयोजनके बिना नहीं बोलनेका नाम ही मुनिपना है। राग द्वेष और अज्ञानके बिना पर्याप्तित बस्तुका स्वरूप कहते हुए या बोलते हुए भी मुनिपना—मौनमात्र—सम्माना चाहिये। पूर्व तीर्थकर आदि महात्माओंने इसी तरह विचार कर मौन धारण किया था; और अगमग सत्ते बाह्य बर्ष मौन धारण करनेवाले भगवान् और प्रभुने इसी प्रकारके उत्कृष्ट विचारपूर्वक अग्रामोंसे फिरा फिरकर मोहनीय कर्मके संवचको निवारण बहुर करके केवलज्ञानदर्शन प्राप्त किया था।

अगम विचार करे तो सत्य बोलना कुछ कठिन नहीं है। व्यवहार सत्य-माया अनेकवार बोलनेमें जाती है किन्तु परमार्थ सत्य बोलनेमें नहीं आया इसलिये इस बीचको संसारका भ्रमण मिता नहीं है। सम्पूर्ण होमके बाद अगमसे परमार्थ सत्य बोला जा सकता है और बादमें निरीय अगमसत्पूर्वक आत्मविक उपयोग रखा करता है। असत्यके बोले बिना माया नहीं हो सकती। निरासृज्य करनेका भी असत्यमें ही समावेश होता है। श्रुते अस्तित्वेय विमानेको भी असत्य जानना चाहिये। तप-महान मान आदिकी भावनासे अहम्-हितार्थ करने बीसा होम बनाता उसे भी असत्य समझना चाहिये। कर्मक सम्पत्तिरूप प्राप्त हो तो ही सम्पूर्णरूपसे परमार्थ सत्य बचन बोलना जा सकता है; अर्थात् ता ही अग्रामोंसे अन्य पन्थाओंसे भिन्नरूप उपयोग होनेसे बचनकी प्रवृत्ति हो सकती है। यदि कोई मूर्ख वि सोच समझत क्यों कहा गया है, तो उसका कारण क्या है रत्नकर यदि कोई बोले ता वह सत्य ही समझा जाय।

व्यवहार सत्यके भी दो विभाग हो सकते हैं—एक सर्वथा व्यवहार सत्य और दूसरा देश व्यवहार सत्य। निधन सत्यपर उपयोग रत्नकर प्रिय अर्थात् जो बचन अगमके अथवा त्रितके मेषधर्मे

बोझ गया हो उसे प्रीतिकर हो, पण्य और गुणकारी हो, इसी तरहके सत्य वचन बोलनेवाला प्रायः सर्व विरति त्यागी हो सकता है। संसारके ऊपर भाव न रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकर्मसे अथवा किसी दूसरे कारणसे उत्तारमें रहनेवाले गृहस्थको एक देशसे सत्य वचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। वह मुख्यरूपसे इस तरह है—गनुष्यसबधी (कन्यासबधी), पशुसबधी (गायसबधी), भूमिसबधी (पृथ्वीसबधी), झूठी गवाही, और धूर्तीको अर्थात् मरोसे—विनाशसे—रखने योग्य दिये हुए द्रव्य वादि पदार्थको बापिस मैगा खेना, उसके बारेमें झूठकार कर देना—ये पाँच स्थूल भेद हैं। इन वचनोंके बोलते समय परमार्थ स्वरूपके ऊपर ध्यान रखकर यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तुओंका स्वल्प यथार्थ हो उसी तरह कहनेका, एकदेश वत धारण करनेवालेको अवश्य नियम करना योग्य है। इस कहे हुए स्वरूपके विषयमें उपदेशको विचार कर उस क्रममें जाना ही लाभदायक है।

५४६

एवमूत दृष्टिसे ऋतुसूत्र स्थिति कर। ऋतुसूत्र दृष्टिसे एवमूत स्थिति कर।
नैगम दृष्टिसे एवमूत प्राप्ति कर। एवमूत दृष्टिसे नैगम विमुक्त कर।
संग्रह दृष्टिसे एवमूत हो। एवमूत दृष्टिसे संग्रह विमुक्त कर।
व्यवहार दृष्टिसे एवमूतके प्रति जा। एवमूत दृष्टिसे व्यवहारकी निवृत्ति कर।
शब्द दृष्टिसे एवमूतके प्रति जा। एवमूत दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर।
सममिच्छ दृष्टिसे एवमूत अवलोकन कर। एवमूत दृष्टिसे सममिच्छ स्थिति कर।
एवमूत दृष्टिसे एवमूत हो। एवमूत स्थितिसे एवमूत दृष्टिको शमन कर।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

५४७

मैं केवल शुद्ध चतन्यस्वरूप साहज निब अनुभवस्वरूप हूँ।
मात्र व्यवहार दृष्टिसे ॥॥ वचनका वक्ष्य हूँ।
परमार्थसे तो केवल मैं उस वचनसे व्यञ्जित भूछ कार्यरूप हूँ।
तुम्हारेसे अगत् मित्र हूँ अमित्र हूँ मित्रामित्र हूँ।
मित्र, अमित्र मित्रामित्र यह अवकाश-स्वरूपसे नहीं हूँ।
व्यवहार दृष्टिसे ही उसका निरूपण करते हैं।

—अगत् मरमे मासमान होनेसे अमित्र है परन्तु अगत् अगत्स्वरूप है। मैं निबस्वरूप हूँ, इस कारण अगत् मेरेसे सर्वा मित्र हूँ। उन दोनों दृष्टियोंसे अगत् मरमे मित्रामित्र है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प चैतन्य

५४८ बर्खा, वासोव सुदी १२ सोम १९५१

वैभवात् भूमी ठले सो सर्व दुःखनो क्षय वाय—

ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा होनेपर भी उसी 'साफ दिखार्ह देनवाली भूख' के प्रभावमें ही जीव बड़ा चला जा रहा है। ऐसे जीवोंको इस अवस्थामें क्या कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे—आधारसे—वह प्रभावमें न बने ?

५४९ बर्खा, वासोव सुदी १२ १९५१

बर्खादर्शन कहता है कि वायु अलग है। विमर्शन भी कहता है कि परमार्थनयसे वायु अलग ही है। इस अस्मिताका सिद्ध होना—परिणत होना—यह मोक्ष है। प्रायः करके उस प्रकारकी सम्प्राप्ति अस्मिता सिद्ध होनी असम्भव है और इसीस्थितिमें ज्ञानी-गुरुजनों जिसे सब दुःख क्षय करनेकी इच्छा है ऐसे मुमुक्षुको ससंगकी नित्य ही उपस्थान करनी चाहिये ऐसा जो कहा है वह अत्यंत सत्य है।

५५० बर्खा, वासोव सुदी १३ मीम १९५१

सम्मत जिस प्रायः करके पर-कथा और पर-वृत्तिमें बड़ा चला जा रहा है, उसमें रखकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो ? उसे अमूर्त्य मुमुक्षुमयको एक समय भी पर-वृत्तिसे जाने देना योग्य नहीं, और कुछ भी ऐसा हुआ करता है, उसका उपाय कुछ विशेषरूपसे खोजना चाहिये।

ज्ञानी-गुरुजनों निश्चय होकर अवयवों न रहे तो अल्प-प्राप्ति सर्वथा सुखम है—इस प्रकार ज्ञानी पुकार पुकार कर कह गये हैं फिर भी न मानस लोग क्यों भूखते हैं ?

५५१ बर्खा, वासोव सुदी १३, १९५१

जो कुछ करने योग्य कहा हो वह विस्मरण न हो जाय, इतना उपयोग करके क्रमपूर्वक भी उसमें अवश्य परिणति करना योग्य है। मुमुक्षु जीवमें त्याग वैराग्य, उपवास और मन्त्रिके उद्भव समावृत्त किय बिना अल्प-प्राप्ति कैसे जाने ? किन्तु सिद्धिवासे प्रमाणसे यह बात विद्वत् हो जाती है।

५५२ बर्खा, वासोव सुदी १४ रवि १९५१

अनपेक्षित विपरीत अवस्था चला जा रहा है उससे वैराग्य उपवास आदि मार्गोंकी परिणति पक्कम नहीं हो सकी अथवा होनी कठिन पड़ती है; फिर भी निरन्तर उन मार्गोंके प्रति स्थिर रहनेसिद्धि अल्प होनी है। यदि ससमागमका याग न हो तो वे भाव जिस प्रकारसे वृद्धिगत हों उस प्रकारके इष्ट क्षेत्र आदिकी उपस्थान करनी सत्साधनका परिचय करना योग्य है। सब कार्योकी

प्रथम भूमिका ही कठिन होती है, तो फिर अनतकालसे अनन्यस्त ऐसी मुमुक्षुताके लिये वैसा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सहजालस्यरूपसे प्रणाम।

५५३

मोहमयी, आसोज वरी ११, १९५१

‘समस्या ते श्मार्हि रथा’ तथा ‘समस्या तं श्मार्हि गया’—इन वाक्योंका क्या कुछ भिन्न अर्थ होता है? तथा दोनोंमें कौनसा वाक्य विशेषार्थका वाचक मात्स्य दाता है, तथा समझने योग्य क्या है? अतः शान्त किसे करना चाहिये? तथा समुच्चय वाक्यका एक परमार्थ क्या है? यह विचार करने योग्य है—विशेषरूपसे विचार करने योग्य है। और जो विचारमें आवे तथा विचार करनेसे उन वाक्योंका विशेष परमार्थ लक्ष्यमें आया हो तो उसे सिखना बने तो सिखना।

५५४

जो सुखकी इच्छा न करता हो वह या तो नास्तिक है या सिख है अपना ब्रह्म है।

५५५

दुःखके नाश करनेकी सब जीव इच्छा करते हैं।

दुःखका आत्यंतिक अभाव कैसे हो? उसे न बतानेसे दुःख उत्पन्न होना संभव है। उस मार्गको दुःखसे छुड़ानेका उपाय जीव समझता है।

जन्म, जरा, मरण यह मुख्यरूपसे दुःख है। उसका बीज कर्म है। कर्मका बीज रग-द्वेष है। अथवा उसके निम्न पाँच कारण हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग।

पक्षि के कारणका अभाव होनेपर दूसरेका अभाव, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, और अन्तमें पाँचवें कारणका अभाव होता है, यह अभाव होनेका शून्य है।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है। अविरति गीण मोह है।

प्रमाद और कषायका अविरतिमें अवर्धन हो सकता है। योग सहजापनेसे उत्पन्न होता है। चापके नाश हो जानेक बाद भी पूर्ण हेतुसे योग हो सकता है।

५५६

बम्बई, आसोज १०५१

सब जीवोंको अश्रिय होनेपर भी त्रिश दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिये। इस भूमिकासे मुद्रयनया विचारणाकरी विचारवेगी उन्नि होनी है, और उसीतरसे रूपसे जन्मा कर्म परलोक, मोक्ष आदि भावोंका स्वल्प सिद्ध हुआ हो ऐसा मात्स्य होता है।

वर्तमानमें जो अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमें भी उसकी विद्यमानता इन्नी चाहिये और भविष्यमें भी वसा ही होना चाहिये। इस प्रकारके विचारका आशय मुमुक्षु जीवको करना

उचित है। किसी भी वस्तुका पून-पश्चात् अस्तित्व न हो तो उसका अस्तित्व मयमें भी नहीं होता—यह अनुभव विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं होता—उसका अस्तित्व सर्वकाष्ठमें है अथवा परिणाम ही हुआ करता है, वस्तुधर्म परिवर्तन नहीं होता—यह औन्निका जो अभिमत है, यह विचारने योग्य है।

पद्मार्जुनसमुच्चय कुछ कुछ गहन है तो भी फिर धिसे विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा।

ज्यों ज्यों चित्तकी दृष्टि और स्थिरता होती है त्यों त्यों ज्ञानिक वचनोंका विचार पथायोग्य रीतिसे हो सकता है। सर्वज्ञानका एक भी आत्म-स्थिरता होना ही है, ऐसा बीतग पुरुषोंने जो कहा है वह अत्यंत सत्य है।

५५७

निर्वाणमार्ग आगम अगोचर है, इसमें संशय नहीं। अपनी शक्ति, सद्गुरुके आश्रय बिना उस मार्गकी खोज करना असंभव है ऐसा बारबार दिखई देता है। श्रमा ही नहीं, किन्तु धीसद्गुरु-चरणके आश्रयपूर्वक बिसे बाध-बीजकी प्राप्ति हुई हो, ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके समामासका नित्य आचरण करना चाहिये। जगत्के प्रसन्नको देखनेसे ऐसा माह्न्य पड़ता है कि कैसे समागम और आश्रयके बिना निरुच्छ बोधका स्थिर रहना कठिन है।

५५८

३३

इन्द्रको जिसने अहङ्ग्य किया और अहङ्ग्यको इन्द्र किया ऐसे ज्ञानी-पुरुषोंका आश्चर्यकारक अन्त ऐश्वर्य बौर्य-आर्मास कहा जा सकता समर्थ नहीं।

५५९

बीती हुई एक पक्ष भी पीछे नहीं मिळती और वह अमूल्य है, तो फिर समस्त आत्मा भित्तिकी तो बात ही क्या है। एक पक्षका भी हीन उपयोग यह एक अमूल्य कौस्तुभ को देनेके अपेक्षा भी निरोध ज्ञानिचरक है, तो फिर ऐसी सत्त पक्षकी एक पक्षीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिये। इसी तरह एक दिन एक पक्ष एक मांस एक बर्ष और अनुक्रमसे समस्त आत्म-स्थितिका हीन उपयोग यह कितनी हानि और कितने अशेषका कारण होना समर्थ है यह विचार छद्म इन्द्रसे करनेसे शुरुत ही जा सकेगा।

सुख और आनन्द सब प्राणियों सब जीवों सब सत्त्वों और सब जगत्तोंको निरन्तर प्रिय है फिर भी वे दुःख और आनन्दको योगते हैं इसका क्या कारण होता चाहिये। तो उत्तर मिळता है कि अज्ञान और उसके द्वारा जिनगीका हीन उपयोग होते हुए रोकनेक श्रिय प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होती चाहिये। परन्तु किन्तु साधनके द्वारा ॥

५६०

जिन पुरुषोंकी अतर्मुखादि हो गई है, उन पुरुषोंको भी शीघ्रतयागने सतत सागृतिरूप ही उपदेश किया है क्योंकि अनतकाष्ठके जम्पासयुक्त पदार्थोंका जो संग रहता है, वह न जाने किस दृष्टिको आकर्षित कर ले, यह भय रखना उचित है।

जब पेसी मूमिक्षमें भी इस प्रकार उपदेश दिया गया है तो फिर जिसकी विचार-दशा है ऐसे मुमुक्षु जीवको सतत जागृति रखना योग्य है, ऐसा न कहा गया हो, तो भी यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षु जीवको जिस जिस प्रकारसे पर-जम्पास होने योग्य पदार्थ आदिक त्याग हो, उस उस प्रकारसे अवश्य करना उचित है। यद्यपि आरम परिग्रहका त्याग स्पष्ट दिखाई देता है, फिर भी अतर्मुखादिका हेतु होनेसे बारम्बार उसके त्यागका ही उपदेश किया है।

२९वाँ वर्ष

५६१

बम्बई, कार्तिक १९५२

आश्रमभरतपको वदमप्रिबल पदमका नाम समझना है। तथा उससे अन्य विद्वत्से रचित उपदेशांक इसका नाम शान्त करना है। वास्तवः दामो एक ही हैं।

जैसा है वैसा समस्त समस्त उपयोग मित्रस्वरूपमें समा गया, और आत्मा स्वभावमय हो गई—यह 'समझीने छुमाई रहा' इस प्रथम वाक्यका अर्थ है।

अन्य पदोंके उपयोगमें जो अभ्यास हो रहा था, और उस अभ्यासमें जो अहमात्म मान रक्खा था वह अभ्यासकप अहंभाव शान्त हो गया—यह 'समझीने छुमाई गया' इस दूसरे वाक्यका अर्थ है।

पर्यायान्तरसे इनका मिला अर्थ हो सकता है। वास्तवमें तो दोनों वाक्योंका एक ही परमार्थ विचार करने लायक है।

जिस जिसने समस्त दिया उस सबने मेरा', 'मेरा' इत्यादि अहंभाव-ममत्वभाव-शान्त कर दिया। क्योंकि वैसा कार्य भी मित्रस्वभाव देखा नहीं गया और मित्रस्वभावको तो अश्वित्य अभ्यासप्रत्यक्षरूप सर्वथा मिला ही ऐसा इसलिये सब कुछ उसमें समाविष्ट हो गया।

आमाके सिवाय पर परार्थमें जो मित्र मान्यता थी, उसे दूर करके परमार्थमें मीनभाव हुआ। तथा बाणीद्वारा यह इसका है' इत्यादि कथन करनेकप व्यवहार, बचन आदि योगके रहनेकप कथित रहा भी किन्तु आश्रममेंसे यह दूर हो यह विद्वत्पुत्र सर्वथा शान्त हो गया—जैसा है वैसा अश्वित्य स्वातन्त्र्य गोचर पदमें छिन्नता हो गई।

य पदों वाक्य जो लोक-आश्रममें व्यवहृत हुए हैं वे आश्रम-मार्गमेंसे आये हैं। जो ऊपर कहा है तानुसार जिसने शान्त नहीं किया वह समझा भी नहीं—इस तरह इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ। अथवा जिसने अश्वित्य जिसने शान्त किया उत्तम ही अर्थसे उसने समझा इतना मिला अर्थ हो सकता है फिर भी मुख्य अर्थमें ही उपयोग लगाया उचित है।

अनंतकालसे यम नियम शाखाचलोरन आदि कार्य करनेपर भी समस्त देना और शान्त करना यह भर आश्रममें आया नहीं और उसमें परिश्रमकी निवृत्ति हुई नहीं।

जो सपत्तने और शान्त करनेका पक्षीकरण करे वह स्वाभाविकमें रहे—उसका परिश्रम निवृत्त हो जाय। सदाशिव आश्रमके विचारों में जो भी उस परमार्थको जाना नहीं और जाननेके प्रतिपक्ष करनेवाले अश्वित्य स्वच्छन्द आर अविचारका निराश किया नहीं जिससे समझना और शान्त करना इन लोका पक्षीकरण में हुआ—यह निश्चय प्रसिद्ध है।

पदोंमें आरंभ करके यदि ऊपर ऊपरकी भूमिकाकी उपयोगमा करे तो जीव समस्तकर शान्त हो जाय, इसमें सन्देह नहीं है।

अनंत ज्ञानी-पुरुषोक्ता अनुमति किया हुआ यह शास्त्रत सुगम, माधुर्यपूर्ण जीवके छत्रमें नहीं जाता, इससे उत्पन्न हुए क्षेत्रसहित आभार्यको भी यहाँ शास्त्र करते हैं। सत्सग सन्निधारसे शास्त्र करनेवालेके समस्त पद अत्यंत सत्य हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और सम्प्रदायित हैं। ॐ ॐ ॐ ॐ

५६२ बम्बई कार्तिक सुदी १ सोम १०५२

श्रीवेदान्तमें निरूपित सुमुख जीवका उन्नयन तथा श्रीविद्याया निरूपित सम्प्रदायि जीवका उन्नयन मनन करने योग्य है (यदि उस प्रकारका याग न हो तो बौचने योग्य है) विशेषरूपसे मनन करने योग्य है—आत्मामें परिणामने योग्य है। अपने क्षुपोपशम-बलको कम जानकर, अई समता आदिके परामर्श होनेके छिये नित्य अपनी न्यूनता देखना चाहिये—विशेष सग-प्रसगाको कम करना चाहिये।

५६३ बम्बई कार्तिक सुदी ११ गुरु १०५२

(१) आत्म-हेतुमूल सगके सिवाय सुमुख जीवको सर्वसगका घटना ही योग्य है क्योंकि उसके बिना परमार्थका आविर्भाव होता कठिन है। और उस कारण श्रीविनम यह व्यवहार—द्रव्यसयमरूप सांप्रत्य उपदेश किया है। सहजात्मस्वरूप

(२) अंतर्लक्ष्यकी तरह हाथमें जो वृत्ति वर्तन करती हुई दिखई देती है वह उपकारक है और वह वृत्ति कमपूर्वक परमार्थकी यथार्थतमें विशेष उपकारक होती है। हाथमें सुदरात्मजाके प्रथ अथवा श्रीयोगवासिष्ठ बौचना। अस्तीमाग यही हैं।

१० १ १८९५

(३) निश्चयिन नैनमें नींद न आवे, नर तबहि नारायण पावे।

—सुंदरात्मजी

५६४ बम्बई मगसिर सुदी १० मंगळ १९ २

बिस्त्रित प्रकाशसे परद्रव्य (बस्तु) के कार्यकी अभ्यता है। निम्नके दोष देखनेमें यह छद्म रहे, और सत्समागम सत्ताक्रममें बढ़ती हुई परिणतिमें परम भक्ति रहा को उस प्रकारका आत्ममत्त करते हुए तथा ज्ञानीके बचनोक्ता विचार करनेसे अज्ञान-विशेष प्राप्त करते हुए या यथार्थ समाधिमें योग्य हो, ऐसा कष्ट रहना—यह कहा था।

५६५

सुमेध, विचार ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमें सर्वसगका परिणाम बनवान उपकारी है, यह समस्तकर ज्ञानी-पुरुषोंने अनगात्मका निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थमें सत्समाग-परिणाम यथार्थ बोध होनेपर प्राप्त होना सम्य है यह जानत हुए भी यदि नित्य सम्भ्रम ही निराश हो तो।

ऐसा समय प्राप्त हो सकता है, ऐसा जामकर ज्ञानी-पुरुषोंने सामान्य रीतिसे बाह्य सर्वसंग-परिव्यामका उपदेश दिया है, जिस निहृदिके संयोगसे हृदयेच्छावान जीव सत्पुरुष संपुरुष और सत्ताजकी यथा-योग्य उपासना कर यथार्थ बोधको प्राप्त करे ।

५६६

बम्बई पौष सुदी ६ तबि १९५२

दो अभिनिवेशोंके मार्ग-प्रतिबंधक रहनेसे जीव मिथ्यात्वका त्याग नहीं कर सकता । वे अभिनिवेश दो प्रकारके हैं—एक औक्तिक और दूसरा शास्त्रीय । कम कमसे सस्वभावमक संयोगसे जीव यदि उस अभिनिवेशका छोड़ दे तो मिथ्यात्वका त्याग होता है—इस प्रकार ज्ञानी-पुरुषोंने शास्त्र आदिद्वारा बारम्बार उपदेश दिये जानेपर भी जीव उसे छोड़नेके प्रति क्यों उपेक्षित होता है ? यह बात विचारने योग्य है ।

५६७

सब हू सोचा मूल संयोग (संबध) है, ऐसा ज्ञानरत्न तीर्थकरोंने कहा है । समस्त ज्ञानी-पुरुषोंने ऐसा देखा है । वह संयोग मुख्यरूपसे दो तरहसे कहा है—अंतरसंबधी और बाह्यसंबधी । अंतरसंयोगका विचार होनेके लिए ज्ञानको बाह्य संयोगका अपरिचय करना चाहिये, जिस अपरिचयकी उपरमर्त्य इन्द्र ज्ञानी-पुरुषोंने भी की है ।

५६८

मंदाज्ञान छायां छे ती पज, जो नबि जाय पमायो रे ;

बंध्य तक उपम वै पामे संयम ठाज भो नायो रे ।

मायो रे, गायो, भले वीर बमत् शुभ गायो ।

५६९

बम्बई पौष सुदी ८ मीम १९५२

अज्ञानके सिवाय जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके इत्यार्थता मान रखी है, वह सब शास्त्रीय अभिनिवेश है । स्वच्छता तो बुर नहीं हुई, और सस्वभावमक संयोग प्राप्त हो गया है, उस योगमें भी स्वच्छताके निर्वाहके लिए शास्त्रके किसी एक बचनको जो बहुबचनके समान बताया दे तथा शास्त्रको मुख्य साधन ऐसे सस्वभावमक समान कहता है जयवा उसपर उससे भी अधिक भार देता है उस जीवको भी अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है ।

१ कहा और ज्ञानके रत्न कर ज्ञेयस भी तथा संयमठ युक्त होनेपर भी यदि अज्ञानका नाश नहीं हुआ तो जीव अपेक्षित स्वयं उपमको प्राप्त होता है ।

अहमके समझनेके लिए शास्त्र उपकारी हैं, और वे भी स्वच्छ रहित पुरुषोंको ही हैं—
इतना कुछ रखकर यदि सदाशास्त्रा विचार किया जाय तो वह दासकीय अभिनिवेश गिने जाने योग्य
नहीं है। संक्षेपसे ही लिखा है।

५७०

मोहमयी क्षेत्रसूची उपायिका परिस्थान करनेके अंगी आठ महीने और दस दिन बाकी हैं,
और उसका परिणाम होना समय है।

दूसरे क्षेत्रमें उपायि (व्यापार) करनेके अभिप्रायसे मोहमयी क्षेत्रका उपायिके त्याग करनेका
विचार रखा करता है, यह बात नहीं है।

परन्तु अबतक सर्वसंग-परिणामरूप योगका निरूपण न हो, तबतक जो गृहाग्रम रहे, उस
गृहाग्रममें काष्ठ व्यतीत करनेके विषयमें विचार करना चाहिये क्षेत्रका विचार करना चाहिये
जिस व्यवहारमें रहना है, उस व्यवहारका विचार करना चाहिये। क्योंकि पूर्णपर अविरोध मात्र न
हो तो रहना कठिन है।

५७१

मू —	अक्ष
स्थापना —	ध्यान
मुख —	योगबल
अक्षप्रदण	निर्णय आदि सम्प्रदाय
ध्यान	निरूपण
योगबल	मू स्थापना मुख सर्वदर्शन अविरोध
स्थान-स्थिति	
अक्षमक्ष	

५७२

अक्षारका अक्ष	मित्रता जय
आसनका जय	वास्तव्य
विनोदविष्ट अक्षमध्यान	

विनोदविष्ट अक्षमध्यान किस तरह हो सकता है ?

विनोदविष्ट ज्ञानके अनुसार ध्यान हो सकता है, इसलिये ज्ञानका तारतम्य चाहिये।

क्या विचार करते हुए, क्या मानते हुए क्या दृष्टा रहते हुए भीष्मा गुणस्थानक कहा जाता है ?

किसके द्वारा भीष्मे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानमें आते हैं ?

५७३

बम्बई, पौन वरी १०५२

योग असस के जिन कथा, पंगमादि सिद्धि दाम्नी रे ।

नवपद् तमम आणजा, आतमराम छ सासी रे ॥

श्रीधरपाठक

५७४

ॐ

गृह आदि प्रवृत्तिके योगसे उपयोगका विशेष बंधन रहना संभव है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वसंग-परित्यागका उपदेश करते हुए ।

५७५

ॐ

बम्बई पौन वरी २, १९५२

सब प्रकारके भयक निवास-स्थानरूप इस संसारमें प्राप्त एक बराम्य ही भयम है महान् मुनियोंका भी जो बराम्य-रक्षा प्राप्त होती दुष्कम है, वह वैराग्य-रक्षा तो प्राप्त जिन्हें गृहवास्तव ही रहती थी ऐसे श्रीमद्वागीश्वर स्वयं आदि पुरुष भी त्यागको प्रवृत्त करके घर छोड़कर चले गये यही त्यागको उद्बुद्धता बताई गई है ।

जबतक गृहस्थ आदि व्यवहार रहे तबतक आत्मज्ञान न हो जपवा विज्ञे, आत्मज्ञान हो उसे गृहस्थ आदि व्यवहार न हो ऐसा नियम नहीं है । वैसा होनेपर भी ज्ञानीको भी परम पुरुषसे व्यवहारके त्यागका उपदेश किया है क्योंकि त्याग आत्म ऐश्वर्यको स्पष्ट स्पष्ट करता है । उससे और लोकको उपनारमृत होनेके कारण त्यागको अकर्षण-व्यवस्था करना चाहिये इसमें सन्देह नहीं है ।

निजस्वरूपमें स्थिति होनेको परमार्थ समय कहा है । उस समयके कारणमृत ऐसे अन्य निमित्तोंको प्रवृत्त करनेको व्यवहार संयम कहा है । किसी भी ज्ञानी पुरुषने उस संयमका नियम नहीं किया । किन्तु परमार्थका उपेक्षा (बिना कसते) से जो व्यवहार संयममें ही परमार्थ समयको मजबूत रखते, उसका अभिनिवेश दूर करनेके ही लिए उसका व्यवहार संयमका नियम किया है । किन्तु व्यवहार संयममें कुछ भी परमार्थका निमित्त नहीं है—ऐसा ज्ञानी-पुरुषाने नहीं कहा ।

परमार्थके कारणमृत व्यवहार संयमको भी परमार्थ संयम कहा है ।

१ श्रीधरपाठकमें निम्न दो पत्र हल लखे दिने हुए हैं—

जब एकल लम्बिनी कथमादि कहि दासी रे । तिम नवपद् कहि कथमो आतमराम के सासी रे ॥

योग कर्तव्य से तिम कथम नवपद् सुख से जानो रे । यह लख कथमने आतमज्ञान प्रमत्तो रे ।

जकी—जिम लख अधिमा महिम आदि जाठ सिद्धिवाँकी लम्बिनी कथमें दिखाई गई है, उही लख नवपद् की कथिमें भी कथमें ही लम्बिनी आदि—एकही बातवा लखी है ॥ श्रीधरपाठकाने दो कर्तव्यगत योग कथे हैं उन लखमें हल नवपद्को मुख्य लम्बिनी आदिने । नवपद् हल नवपद्के लम्बिनीने दो कथम-कथन कथना है यही प्रमाण है ।

जगुमारक

‘प्राप्त्य है’, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा मान्य नहीं जाना। परन्तु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाध कारण रोक्ते हैं। इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिव्य देता है, फिर भी वह उसकी निवृत्तिके लक्ष्यका नित्य सतन करता है।

५७२

बम्बई, गीत बनी ९ गुरु १०५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंका अत्यन्त भक्तिपूर्वक भिकास नमस्कार ही

ज्ञानी-पुरुषोंने आत्म-परिग्रहके त्यागकी उत्पत्ति कही है और फिर फिरसे उस ‘यागका उपदेश किया है, आर प्राय’ करके स्वयं भी ऐसा ही आचरण किया है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषको अवश्य ही उसकी अवस्था करना चाहिये, इसमें संदेह नहीं है।

कौन कौनसे प्रतिबन्धसे जीव आत्म-परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता, और वह प्रतिबन्ध किस तरह दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षु जीवको अपने चित्तमें विशेष विचार अतुर उत्पन्न करके कुछ भी तपास्वरूप फल खाना योग्य है। यदि वेसे न किया जाय तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्राप्त कहा जा सकता है।

आत्म और परिग्रहका त्याग होना किस प्रकारसे कहा जाय इसका पढ़ते विचार कर, पाँछमे उपरोक्त विचार अतुरको मुमुक्षु जीवको अपने अर्थ कारणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है।

५७७

बम्बई पाप बनी १३ छेदे १९५२

उत्कृष्ट सचिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पण्डितों के हैं उन सरस्वती ज्ञानिन्व ज्ञानकर विचारान पुरुष उन्हें छोड़कर चला दिये हैं। अवश्या प्रारम्भोन्मये यदि उनका ज्ञान उपने हुआ भी ता उन्होंने अनर्गल रूपसे उदासीनमात्रसे उसे प्रारम्भोन्मय समझकर ही आचरण किया है और त्याग करनेका ही लक्ष्य रक्का है।

५७८

महत्मा बुद्ध (गौतम) जय, दारिद्र्य रोग आर मृत्तु इन चारोंका, एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सब उपायोंसे अत्रेय समझकर, उनकी उत्पत्ति हेतुभूत संसारका छोड़ कर चला जाने हुए। भीक्षुवर्ग आदि अर्थात् ज्ञानी-पुरुषोंने भी इसी उपायरी उपायना की है और सब चीजोंका उस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानका प्रायः दुर्लभ भवकर निष्कारण कल्याणिक उन सत्पुरुषोंने भक्ति-मार्गका प्रकाश किया है, जो सब अजरणका निवृत्ति कारणरूप और सुगम है।

५७९

बम्बई, माघ सुदी ४ रवि १९५२

असंग आत्मस्वरूपको सर्वसंगका संयोग मिश्रणपर सबसे सुष्ठु कहना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। सब इानी-गुरुपणे अविताररूपसे जो सर्वसंगका ग्राह्यत्व करता है, वह वयार्थ है। इसमें विचार जानको किसी तरहका विकल्प करना उचित नहीं है।

५८०

बम्बई फल्गुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

इानीका सब व्यवहार परमार्थ-गुरुत्व होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्मकार प्रवृत्ति करेगा, उस दिनको रूप है।

सर्व दुःखोंसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय जो आत्मज्ञान कहा है वह इानी-गुरुपणेका वचन सत्ता है—अस्तव सत्ता है।

अतएव जोन्को तत्कारण आत्मज्ञान न हो तत्काल आत्मसिद्धि बंधनकी निवृत्ति होना समझ नहीं इसमें संशय नहीं है।

उस आत्मज्ञानक होनेतक जोन्को वर्तमान आत्मज्ञान स्वरूप 'सद्गुरुपणेका आत्म्य निरन्तर अस्तव ही करना चाहिये, इसमें संशय नहीं है। जब उस आत्मपक्षा वियोग हो तब निर्य ही आत्म्य मानना करनी चाहिये।

उदयके योगसे तत्कारण आत्मज्ञान होनेके पूर्व यदि उपदेश कार्य-करना पड़ता हो तो विचारवान् सुष्ठु परमार्थ मार्गके अनुसरण करनेके हेतुमूल एसे सद्गुरुपणी माफि, सद्गुरुपणे गुणगान, सद्गुरुपणे प्रति प्रमोदभावना और सद्गुरुपणे प्रति अनित्य भावनाका क्षेत्रोंको उपदेश देता है जिस तरह सत्-सर्वस्वरूपका अनिमित्त ब्रह्म हो और सद्गुरुपणे वचन प्रवृत्ति करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमान कालमें उस क्रमकी विशेष इानी होगी, ऐसा समझकर इानी-गुरुपणे इस कालको दुःखमका कहा है। और वैसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

सब कार्यमें कर्तव्य केवल आत्मार्थ ही है—यह मानना सुष्ठु जोन्को नित्य करनी चाहिये।

५८१

बम्बई फल्गुन सुदी १० १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

(१) हाथों विस्तारपूर्वक पत्र लिखना नहीं होता उससे चित्तमें वैराग्य उपशम आदिके विराज प्रवृत्ति रहनेमें सत्ताकाही ही एक विशेष आचारमूल नियमित समझकर श्रीसुंदरदास आदिके प्रयोग हो सके तो दोसे चार चतुर्धक जिससे नियमित वाचना-गुरुत्व हो वैसा करनेके लिए किता पा। श्रीसुंदरदासजीके प्रयोग आदिसे केकर अतएव हाथों विराज अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिए निवृत्ति है।

(२) कालको रहनेतक माया (अर्थात् कल्प आदि) संभव रहे ऐसा भी को कहा है वह अनिर्वाण प्राण (बहुत करके) तो वयार्थ ही है। तो भी किसी पुरुष

निरोधमें सर्वथा—सब प्रकारकी—सम्पन्न आदि कषायका जमाव होना समझ मायूस होता है, और उसके जमाव हो सकनेमें संदेह नहीं होता । उससे कामके होनेपर भी कषायपरहितपना समझ है—अर्थात् सर्वथा रोग-रूपरहित पुरुष हो सकता है । यह पुरुष रोग-रूपरहित है, इस प्रकार सामान्य जीव बाह्य चेतसे जान सके, यह समझ नहीं । परन्तु इससे यह पुरुष कषायरहित—सम्पूर्ण भीतरगत—न हो, ऐसे व्यक्तिपक्षो विचारवान सिद्ध नहीं करते । क्योंकि बाह्य चेतसे ज्ञान-दशाकी स्थिति सर्वथा समझमें आ सके, यह नहीं कहा जा सकता ।

(३) श्रीसुन्दरदासने बाह्यबाह्यत-दशामें 'सूतन अंग' कहा है, उसमें विशेष उल्लासित-परिणतिसे शूरवीरताका निरूपण किया है—

मारि काम कोप गिनि सोप मोह पीसि डरि, इन्द्रीक कतल करि कियो रजपूती ह;
मार्यो महामत्त मन मार्यो अहकार मीर, मारे यह मच्छर ह, ऐसो रन कटौ है ।
मारी आसा दुष्णा सोऊ पापिनी सापिनी दोऊ, सबको प्रहार करि निज पद पहतौ है;
सुंदर कहत ऐसो साधु कोऊ सूरवीर, बैरी सब मारिके निबिठ होइ मृतौ है ।

श्रीसुन्दरदास—सूतन अंग ११वें कवित्त

५८२

ॐ नमः

सर्वज्ञ

बिन

भीतरगत

सर्वज्ञ है

रोग-रूपका जपत लप हो सकता है ।

ज्ञानक प्रतिबन्धक रोग-रूप है ।

ज्ञान, जीवका स्वामृत धर्म है ।

जीव एक ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्म होनेसे उसका ज्ञान सामर्थ्य-सम्पूर्ण है ।

५८३

सर्वज्ञ-पद आम्हार आश्रय करने योग्य बीचने योग्य, विचार करने योग्य, छत्र करने योग्य और स्नानमन्त्र-सिद्ध करने योग्य है ।

५८४

सर्वज्ञदेव

निर्मल गुरु

उपशममूल धर्म

सर्वज्ञदेव

निर्मल गुरु

न्यामूल धर्म

सर्वज्ञेय
निर्भय गुरु
सिद्धांतमूल धर्म

सर्वज्ञेय
निर्भय गुरु
विनाशमूल धर्म

सर्वज्ञता स्वरूप
निर्भयता स्वरूप
धर्मका स्वरूप
सम्यक् क्रियावत्

५८५

ॐ नमः

प्रज्ञा }
सम्य }
परमात्मा }

दृश्य }
गुण }
पर्याय }

जड़ }
चेतन }

५८६

कर्मई फाल्गुन सुदी ११ रवि १९५२

श्री सद्गुरु प्रसाद

पथार्थ ज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले ही जिन जीवोंको उपदेशकपना रहता हो उन जीवोंको जिस प्रकारसे वैराग्य उपसम और भक्ति का रुझा हो, उस प्रकारसे समागममें जाते हुए जीवोंको उपदेश देना योग्य है और जिस तरह उन्हें नाना प्रकारक जल आच्छादना तथा सर्वथा बेप म्यच्छाद आदि का अमिनिवेश कम हो उस प्रकारसे उपदेश फलीभूत हो जैसे आत्मार्थ विचार कर कहना योग्य है। कम क्रमसे वे जीव जिसे पथार्थ मार्गिक समुक्त हों ऐसा वयाशक्ति उपदेश करना चाहिये।

५८७

कर्मई फाल्गुन सुदी ३ सोम १९५२

देहधारी होनेपर भी जो निरावरण ज्ञानसहित रहते हैं, ऐसे महापुरुषोंको
निरावरण समझकर ही

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानी-पुरुषमें सर्व कथापका अभाव होना समझ है यह जो हमने
लिखा है सो उस प्रसंगमें अभाव सम्पूर्ण अर्थ रूप समझकर ही लिखा है।

प्रश्न — जगत्प्राप्ती जीवको राग-द्वेष नाश हो जानकी खबर नहीं पड़ती। बार जा महान् पुरुष
है वे जान केते हैं कि इस महत्त्वा पुरुषमें राग-द्वेषका अभाव अथवा उपशम रहता है—ऐसा लिखकर
आपने धक्का भी है कि 'जैसे महत्त्वा पुरुषको ज्ञानी-पुरुष अथवा एक मुमुक्षु जीव जान केते हैं उसी
तरह जगत्के जीव भी क्यों नहीं जानते? उदाहरणके लिये मनुष्य आदि प्राणियोंको देखकर जैसे जगत्
प्राप्ती जीव जानते हैं कि वे मनुष्य आदि हैं उसी तरह महत्त्वा पुरुष भी मनुष्य आदि को जानते हैं इन

जायोंको देखनेसे दोनों ही समनरूपसे जानते हैं, और प्रस्तुत प्रसंगमें ता जाननेमें भेद पाया जाता है, उस भेदके होनेका क्या कारण है, यह मुख्यरूपमें विचार करना योग्य है ।'

उत्तर — मनुष्य आधिको जो जगत्वासी जीव जानते हैं वे दैहिक स्वरूपस तथा दैहिक चेष्टासे ही जानते हैं । एक दूसरेकी मुद्रामें आकारमें और इन्द्रियोंमें जा भेद है उसे चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जगत्वासी जीव जान सकते हैं, और उन जीवोंके कितने ही अभिप्रायोंको भी जगत्वासी जीव अनुमानस जान सकते हैं, क्योंकि वह उनके अनुभवका विषय है । परन्तु जो ज्ञानदशा अथवा बीतराग दशा है, वह मुख्यरूपसे दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टाका विषय नहीं है — वह अतत्त्वमाका ही गुण है । और अतत्त्वमात्र बाह्य जीवोंके अनुभवका विषय न होनेसे, तथा जिन्हें तथारूप अनुमान भी हो ऐसे जगत्वासी जीवोंको प्राप्य करके वैसा सम्कार न होनेसे वे ज्ञानी अथवा बीतरागको नहीं पहिचान सकते । कोई कोई जीव ही सत्समागमक सयोगसे, सहज शुभ कर्मके उत्पत्तसे और तथारूप कुछ संस्कार प्राप्त कर ज्ञानी अथवा बीतरागको यथायाकि पहिचान सकते हैं । फिर भी सभी सभी पहिचान तो वह मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर तथारूप सत्समागमसे प्राप्त उपदेशका अवधारण करनेपर, और अन्तरात्म-वृत्ति परिणमित होनेपर ही जीव, ज्ञानी अथवा बीतरागको पहिचान सकता है । जगत्वासी कर्षात् जो जगत्-वृष्टि जीव हैं उनकी दृष्टिसे ज्ञानी अथवा बीतरागकी सभी सभी पहिचान कदापि हो सकती है । जैसे अन्धकारमें पड़े हुए पत्राचको मनुष्य चक्षु नहीं देख सकता, उसी तरह देहमें रहनेवाले ज्ञानी अथवा बीतरागको जगत्-वृष्टि जीव नहीं पहिचान सकता । जैसे अंधकारमें पड़े हुए पदार्थको देखने के लिये प्रकाशकी अपेक्षा रहती है उसी तरह जगत्-वृष्टि जीवोंको ज्ञानी अथवा बीतरागकी पहिचानके लिये विशेष शुभ संस्कार और सत्समागमकी अपेक्षा होना योग्य है । यदि वह सयोग प्राप्त न हो तो जैसे अंधकारमें पड़ा हुआ पत्राच और अंधकार दोनों ही एकरूप भासित होते हैं—उनमें भेद नहीं भासित होता—उसी तरह तथारूप योगक बिना ज्ञानी अथवा अन्य सत्सारी जीवोंकी एकरूपता भासित होती है—उनमें भेद आदि चेष्टास प्राप्य करके भेद भासित नहीं होता । जा देहधारी सर्व ज्ञान और सर्व कर्मायवहित हो गया है उस देहधारी महात्माको त्रिस्तम्भ परमभक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! वह महात्मा नहीं रहता है, उस वृद्धका, भूमिको धरको, मर्मको अस्तन आदि सबको नमस्कार हो ! नमस्कार हा !

५८८

कर्म जीव मुद्रा १ रवि १९१२

(१)

प्राग्भांड्यसे जिस प्रकारका व्यवहार प्रसंगमें रहता है उसके प्रति दृष्टि रखते हुए जिस पत्र आदि स्थितिमें अस्मत्तासे प्रवृत्ति जाती है वैसा अधिक योग्य है—यह अभिप्राय प्राप्य करके रखा करता है ।

आत्माके वास्तविकरूपसे उपकारमूल ऐसे उपदेश करनेमें ज्ञानी-पुरुष अन्यथासे वर्णन न करें, ऐसा प्राप्य करके होना सम्यक् है, फिर भी निम्न दो कारणोंद्वारा ज्ञानी-पुरुष भी उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करते हैं —

(१) उस उपदेशका जिज्ञासु जीवमें जिस तरह परिणमन हो ऐसे सयोगोंमें वह जिज्ञासु जीव रहता हो, कथवा उस उपदेशके विस्तारमें करनेपर भी उसमें उसका ग्रहण करनेकी तत्पारूप योग्यता हो, तो ज्ञानी-पुरुष उन जीवोंको उपदेश करनेमें अन्यमात्रसे प्रवृत्ति करता है ।

(२) कथवा अपनेकी बाह्य व्यवहार ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवको परिणमन होनेमें प्रतिबधक हो कथवा तत्पारूप कारणके बिना वैसा जतावि कर वह मुख्य-मार्गके श्रेष्ठरूप कथवा सहायके हेतुरूप होनेका कारण होता हो तो भी ज्ञानी-पुरुष उपदेशमें अन्यमात्रसे प्रवृत्ति करता है कथवा मौन रहता है ।

(२)

सर्वसंग-परिणाम कर लिये जानेसे भी जीव उपाधिरहित नहीं होता । क्योंकि जबतक अर्तर्पण-तिष्ठति न हो और तत्पारूप मार्गमें प्रवृत्ति न हो, तबतक सर्वसंग-परिणाम भी नाम मात्र ही होता है । और वैसे अवसरमें भी अर्तर्पण-तिष्ठति न होनेका मान जीवको आना कठिन है । तो फिर ऐसे गृह-व्यवहारमें औक्तिक अभिनिवेशपूर्वक रहकर अर्तर्पण-तिष्ठति न होनेका किन्तु कुछ साध्य होता चाहिये उसपर भी विचार करना योग्य है । तथा वैश्व व्यवहारमें रहकर जीवको अर्तर्पण-तिष्ठति केतना बढ़ रक्खना उचित है, वह भी विचारना चाहिये, और अन्यत्र वैसा करना चाहिये ।

अधिक क्या किम्बे ! जितनी अपनी शक्ति हों उस सर्व शक्तिसे एक कदम रहकर, औक्तिक अभिनिवेशको अन्य कर कुछ भी अपूर्व नियन्त्रणपना दिखाई नहीं देता, इसलिये समस्त केन्द्र केन्द्र अभिमान ही है । इस प्रकार जीवको समझाकर जिस प्रकारसे जीव ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें सतत जागृत हो उसीके करनेमें वृत्ति कमाना और रात दिन उसी चिंतनमें प्रवृत्ति करना यही विचारवान जीवका कर्तव्य है । और उसके लिये सधुग, सहायक और सहायता आदि निबगुण उपकारमूलक है ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना उचित है ।

जबतक औक्तिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि ज्ञेय, तत्त्वा दैहिक-मान, बुद्धि, जाति आदिसंबंधी मोह कथवा भिद्येय मान हो उस बातका त्याग न करना है, अपनी बुद्धिसे-स्वच्छमसे-अमुक गच्छ आदिका आग्रह रक्खना हो तबतक जीवको अपूर्व गुण कैसे उलग हो सकता है ! उसका विचार सुगम है ।

हाथमें कबिक किछा आ सके इस प्रकारका यही उपाय नहीं है । तथा अधिक किछना कथवा कदना भी किसी किसी प्रसंगमें ही होने देना योग्य है ।

तुम्हारी विशेष जिज्ञासुसे प्राप्तोद्देश्यका बेरन करते हुए जो कुछ किछा आ सकता था उसकी अपेक्षा भी कुछ कुछ उदाहरण करके विशेष ही किछा है ।

५८९

सर्वत्र चैत्र सुदी २ सोम १९५२

३

शिममें धन मरने हर्ष और धन मरने शोक हो जाने ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानी-पुरुष सम दशामें रहते हैं उन्हें कथित मधिम धन्य मानते हैं ; और सर मुमुक्षु जीवोंको इसी दशाकी उपासना करना चाहिये ऐसा निश्चय समझकर परिणति करना योग्य है ।

५९०

वर्ष, चैत्र सुदी ११, १९५२

ॐ सद्युगुरुवरणाय नमः

१ जिस ज्ञानमें देह आदि अभ्यास दूर हो गया है, और दूसरे पदार्थमें अहंता-ममता नहीं रही, तथा उपयोग निरुत्पन्न स्वभावमें परिणमता है, अर्थात् ज्ञानस्वरूपताका सेवन करता है, उस ज्ञानको 'निरुत्तरण-ज्ञान' कहना चाहिये।

२ सब जीवोंको अर्थात् सामान्य मनुष्योंको ज्ञानी-अज्ञानीकी बाणीका भेद समझना कठिन है, यह बात यथार्थ है। क्योंकि बहुतसं श्रुत्यज्ञानी शिक्षा प्राप्त करके यदि ज्ञानी जैसा उपदेश करें, तो उसमें बचनकी समानता देखनेसे, सामान्य मनुष्य श्रुत्यज्ञानीको भी ज्ञानी मान लें, और मंद-दशावाले सुमुक्त जीवोंको भी उन बचनोंसे भ्रंति हो जाय। परन्तु उत्कृष्ट दशावाले सुमुक्त पुरुषको, श्रुत्यज्ञानीकी बाणीको शब्दसे ज्ञानीकी बाणी जैसी समझकर प्रायः भ्रंति करना योग्य नहीं है। क्योंकि आशयसे, श्रुत्यज्ञानीकी बाणीसे ज्ञानीकी बाणीकी तुलना नहीं होती।

ज्ञानीकी बाणी पूर्णपर अभिरुद्ध, आत्मार्थ-उपदेशक और कर्षण अर्थका निरूपण करनेवाली होती है और अनुमत्सहित होनेसे यह आत्माको सतत जागृत करती है।

श्रुत्यज्ञानीकी बाणीमें तथारूप गुण नहीं होते। सबसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्णपर अभिरुद्धत्व है वह श्रुत्यज्ञानीकी बाणीमें नहीं रह सकता, क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थका दर्शन नहीं होता, और इस कारण जगह जगह उसकी बाणी कल्पनासे युक्त होती है।

इत्यादि नाना प्रकारके भेदोंसे ज्ञानी और श्रुत्यज्ञानीकी बाणीकी पहिचान उत्कृष्ट सुमुक्तों ही हो सकती है। ज्ञानी-पुरुषको तो सहज स्वभावसे ही उसकी पहिचान है क्योंकि वह स्वयं मानसहित है और मानसहित पुरुषके बिना इस प्रकारके आशयका उपदेश नहीं दिया जा सकता, इस बातका वह सहज ही जानता है।

जिसे ज्ञान और अज्ञानका भेद समझमें आ गया है उसे ज्ञानी और ज्ञानीका भेद सहजमें समझमें आ सकता है। जिसका अज्ञानके प्रति मोह शान्त हो गया है ऐसे ज्ञानी-पुरुषको श्रुत्यज्ञानीके बचन किंतु तरह भ्रंति उत्पन्न कर सकते हैं? हाँ सामान्य जीवोंको अथवा मंद-दशा और मध्यम-दशाके सुमुक्तोंको श्रुत्यज्ञानीके बचन समानरूप दिखाने देनेसे दोनों ही ज्ञानीके बचन हैं, ऐसी भ्रंति होना सम्भव है। उत्कृष्ट सुमुक्तोंको प्रायः करके वैसी भ्रंति सम्भव नहीं, क्योंकि उसे ज्ञानीके बचनकी परीक्षाका बख विशेषरूपसे स्थिर हो गया है।

पूर्वकारमें जो ज्ञानी हो गये हों और मात्र उनकी मुख-बाणी ही बाकी रही हो, तो भी वर्तमान कालमें ज्ञानी-पुरुष यह जान सकते हैं कि वह बाणी ज्ञानी-पुरुषकी है। क्योंकि यदि दिवसके भेदकी तरह ज्ञानी और ज्ञानीकी बाणीमें आशयका भेद होता है, और आत्म-दशाके तत्त्वमयके अनुसार आशययुक्त बाणी ज्ञानी-पुरुषकी ही निकलती है। वह आशय उसकी बाणीके ऊपरसे 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष' को स्वाभाविक ही छटिगाँवर होता है, और कहनेवाले पुरुषकी दशाका तत्त्वमय कष्टमें आता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष' छिपा है, वह किसी विशेष प्रज्ञापूर्वक प्रगट-बोध-बीजसहित-पुरुष

शुद्धके ही अर्पित किया है। ज्ञानीके बचनकी परीक्षा यदि सब जीवोंका सुखम होनी या निर्धनमी सुखम ही हो जाता।

३ विनियाममें ज्ञानके गति भुग आदि पौंच मेर कहे हैं। व ज्ञानके मेर सख हैं—उपमावाचक नहीं हैं। कबहि मन-पर्यव आदि ज्ञान वर्तमान काखमें व्यवच्छेद सरीले माझूम होते हैं; उतक ऊपरसे उन ज्ञानोंको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य जीवोंको चारित्र्य पर्यायके विभुद तारतम्यसे उत्पन्न होते हैं। वर्तमान काखमें वह विभुद तारतम्य प्राप्त होना कठिन है; क्योंकि कसबद प्रत्यक्ष स्वल्प चारित्र्यमोहनीय आदि प्रकृतिपोंके विरोध बलसहित प्रवृत्ति करता हुआ देखनेमें आता है।

सामान्य अहमचारित्र्य भी किसी किसी जीवमें ही रहना समभव है। एमे काखमें उस ज्ञानीकी कल्पि व्यवच्छेद वैसी हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; इन्म उस ज्ञानको उपमावाचक समझना योग्य नहीं। अहमस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी अर्धभक्ता दिखाई नहीं देती। जब सभी ज्ञानोंकी पिनिका क्षेत्र आत्मा है तो फिर कबहि मन-पर्यव आदि ज्ञानका क्षेत्र अहम है। तो इसमें सशय करना कैसे उचित है? कबहि शास्त्रक यथास्थित परमार्थमे वह जीव जिस प्रकारसे व्याख्या करते हैं वह व्याख्या विरोधयुक्त हो सकती है किन्तु परमार्थसे उस ज्ञानका होना समभव है।

विनियामम उसकी जिस प्रकृतिके आतायमे व्याख्या कही हो वह व्याख्या और बहानी जीव आतायके बिना जले ही जो व्याख्या करे उन दोनोंमें गड़बड़ मेर हो तो इन्में आश्चर्य नहीं आर उस भेदक कारण उस ज्ञानके नियममें सशय होना यम्य है। परन्तु अहम-हाउसे देखनेसे वह सशेहक स्थान नहीं है।

४ कसबद मूसमे सुख विभाग समय है। कसी पार्श्वका सुखसे सुख विभाग 'परमाणु' है, और अरुणी पार्श्वका सुखसे सुख विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ही ऐसे सुख हैं कि कल्पत निर्मल ज्ञानकी स्थिति ही उनके स्वल्पको भ्रष्टण कर सकती है। सामान्यरूपसे सुसज्जी जीवका उपयोग अर्धभक्ता समभवती है उस उपयोगमें साम्राट्कसमे एक समयका ज्ञान समभव नहीं। यदि वह उपयोग एक-समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साम्राट्कस समयका ज्ञान हो सकता है। उस उपयोगका एक-समयवर्तिन कपाय आदि कमाकसे होता है; क्योंकि कपाय आदि के योगसे उपयोग मुदता आदि प्रथम करता है तथा असम्भवात् समयवर्तिनको प्राप्त करता है। उम कपाय आदि कमाकसे उपयोगका एक समयवर्तिन होता है। अर्थात् कपाय आदि के संभवसे उसे असम्भवात् समयमें एक एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य नहीं थी उस कपाय आदि के अमाकमे वह एक एक समयको अलग करक अवगहन करता है। उपयोगका एक-समयवर्तिन कपायपरहितपना ज्ञानक बर ही होता है। इसलिये एक समयका एक परमाणुका और एक प्रदेशका जिसे ज्ञान हो उस कसबद प्रगट होता है ऐसा जो कहा है, वह सख है। कपायपरहितपनेके बिना केवलज्ञानका होना समभव नहीं है और कपायपरहितपनेके बिना उपयोग एक समयको साम्राट्कस भ्रष्ट नहीं कर सकता। इन्मिये जबबह एक समयको भ्रष्ट करे उस समय कल्पत कपायपरहितपना होना चाहिये; और वही अपन कपायका व्यापक है वही केवलज्ञान होता है। इसलिये यह कहा है कि एक समय एक परमाणु आर एक प्रदेशका जिसे अनुभव हो उस

केवलज्ञान प्रगट होता है। जीवको विशेष पुरुषार्थके लिये इस एक सुगम साधनका ज्ञानी-पुरुषने उपदेश किया है। समयकी तरह परमाणु और प्रवेशकी सूक्ष्मता होनेसे तौनोंको एक साथ प्रवृत्त किया गया है। अतर्विचारमें प्रवृत्ति करनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने असंख्यात पात्र कहा है, उ के बीचका एक यह 'विचारयोग' भी कहा है ऐसा समझना चाहिये।

५. शुभेच्छामें लगाकर सर्व कर्मरहितपनेसे निवस्वरूप-स्थिति होनेतक अनेक मूर्धिकायें हैं। जो जो आत्मायाँ जीव हो गये हैं और उनमें जिस जिस अवस्थासे अज्ञानाच्छा उत्पन्न हुई है, उस उस दशाके भेदसे उन्होंने अनेक भूमि-मार्गोंका आराधन किया है। अन्तर्हीन सुदरदत्त आदि साधुजन आत्मायाँ गिने जाने योग्य हैं और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना समझ है। अन्तर् निवस्वरूप स्थितिके लिये उनकी आगुति और अनुभव भी अल्पमें आता है। इससे विशेष स्पष्ट अभिप्राय हासमें देनेकी इच्छा नहीं होती।

६. केवलज्ञानके स्वरूपका विचार कठिन है, और श्रीहृग उसका एकान्त कोटीसे निरूपण करते हैं, उसमें यद्यपि उनका अभिनिवेश नहीं है, परन्तु वैसा उन्हें भासित होता है इसलिये वे कहते हैं।

मात्र एकान्त कोटी ही है और भूत-अविष्यका कुछ भी ज्ञान किन्हींको होना समझ नहीं ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। भूत-आविष्यका परार्थ ज्ञान हो सकता है परन्तु वह किन्हीं निरक्षे पुरुषोंको ही और वह भी विमुक्त चरित्रक चरित्तम्यसे ही होता है। इसलिये वह सदेहरूप लगाता है, क्योंकि वैसी विमुक्त चरित्रकी तरतमता वर्तमानमें नहीं ऐसी ही रहती है।

वर्तमानमें शास्त्रवेत्ता मात्र शब्द-बोधसे जो केवलज्ञानका वर्ण करते हैं, वह यथाय नहीं ऐसा यदि श्रीहृगको लगाता हो तो वह समझ है। तथा भूत-अविष्य जाननेका नाम ही केवलज्ञान है, यह व्याख्या शास्त्रकारने भी मुख्यरूपसे नहीं करी। ज्ञानके अर्थमें शुद्ध होनेको ही ज्ञानी-पुरुषोंने केवलज्ञान कहा है और उस ज्ञानमें अज्ञान-स्थिति और अज्ञान-समाधि ही मुख्यतः करी है। अगत्का ज्ञान होना ह्यदि जो कहा गया है, वह सामान्य जीवोंसे अपूर्व विषयका प्रवृत्त होना वर्तमान जानकर ही कहा गया है क्योंकि जगत्के ज्ञानके ऊपर विचार करते करते आत्म सामर्थ्य समझमें आ सकती है।

श्रीहृग महत्त्वा श्रीअध्यात्म आत्मिके विषयमें एकान्त कोटी न करते हैं और उनके आत्मा बर्तियों (जैसे महावीरत्वामाके दर्शनमें पौषसी मुमुक्षुओंन कवलज्ञान प्राप्त किया) को जो केवलज्ञान कहा है उस केवलज्ञानको एकान्त कोटी कहने हों तो यह बात किसी तरह योग्य है। किन्तु केवलज्ञानका श्रीहृग एकान्त निषेध करें तो वह आत्माके ही निषेध करनेका बराबर है।

अग्रे हासमें जो केवलज्ञानकी व्याख्या करते हैं वह केवलज्ञानमाकी व्याख्या विरोधी मान्य होती है, ऐसा उन्हें लगाता हो तो वह भी संभव है। क्योंकि वर्तमान प्रवृत्तियोंमें मात्र जगत्-ज्ञान ही केवलज्ञानका विषय कहा जाता है। इस प्रकारक समाधानक विस्तरे समय अनेक प्रकारका विरोध दृष्टिगोचर होता है। और उम विरोधोंको दृष्टाकर उसका समाधान लिखना हासमें शुरुत बनना असंभव है। उसमें सम्भवसे ही समाधान लिखा है। समाधानका समुदायार्थ इस तरह है —

“अज्ञात जिस समय अत्यंत शुद्धज्ञान-स्थितिके अन्तर्न करे, उसका नाम मुख्यतः केवलज्ञान है। सब प्रकारक राग-द्वेषका अभाव होनेपर अत्यंत शुद्धज्ञान-स्थिति प्रगट हो सकती है। उस

यसिमें जो कुछ जाना जा सके, वह केवलज्ञान है और वह संशुद्ध करने योग्य नहीं है। शीघ्रतर से एकदम कोटी करते हैं, वह भी मन्वीरस्वामीके समीपमें रहनेवाले आज्ञावर्ती पौंसों केवली पैसोंके संगमें ही होना समझ है। जगत्के ज्ञानका सख छोड़कर जो कुछ आत्मज्ञान है, वही केवलज्ञान—ऐसा विचार करते हुए आत्मशशा विशेषमात्रका सेवन करती है” —इस तरह इस प्रश्नके समाधानका सुझाव आशय है।

वैसे बने वैसे जगत्के ज्ञानका विचार छोड़कर जिस तरह स्वल्पज्ञान हो, वैसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। जगत्के ज्ञान होनेको मुख्यार्थरूपसे केवलज्ञान मानना तोय्य नहीं। जगत्के औरोंका विशेष सख होनेके लिये बारम्बार जगत्के ज्ञानको संगमें लिया है, और वह कुछ कमियत है, यह बात नहीं है। परन्तु उसके प्रति अनिनिषेध करना योग्य नहीं है। इस यक्षप्र विशेष किन्हेको इच्छा होती है और उसे रोकनी पड़ती है, तो भी संशुद्धमें फिरसे किन्हे हैं।

वाग्मर्मेस सब प्रकारका अन्य व्यास दूर होकर स्फुटिककी तरह अज्ञा अत्यंत सुवृत्तका उभन करे—यही केवलज्ञान है, और बारम्बार उस विमलाममें जगत्के ज्ञानरूपसे कहा है उस वाग्मर्मेसे वाग्मर्मेस जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करे, यही उसका हित है।

५९१

वर्ष, पंच मही ७ रवि १९५२

सत्समागमक ब्रह्मके अक्षररूप तो विशेष करके आरंभ परिच्छेसे इति न्यून करनेका अन्यस रक्षकर जिनमें त्याग-वैराग्य आदि परमार्थ-साधनका उपदेश किया है वैसे प्रत्येक बौद्धके परिचय करना चाहिये और अज्ञानचक्रासे अपने योगोंका बारम्बार देखना ही योग्य है।

५९२

वर्ष, पंच मही १४ रवि १९५२

अन्य पुरुषकी इष्टिमें, जगत् व्यनहार सत्ताय।

इंद्रावन अब अब नहीं, को व्यनहार बताय।

—विहार इंद्रावन

५९३

वर्ष, वैशाख सुदी १ मीन १९५२

करनेके प्रति इति नहीं है अथवा कुछ क्षण भर भी भिन्न करना मासित नहीं होता और करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति भिन्नकी उदासीनता है वैसे कोई अन्य पुरुष तथाकृत्य प्रारम्भ-योगसे परिच्छे सयोग अग्निमें प्रवृत्ति करता हुआ देखा जाता हो और जिस तरह इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे उत्पन्न करे वैसे कार्यसहित कर्त्तव्य करते हुए देखनेमें जाता हो तो उस पुरुषमें ज्ञान-दृष्टा है यह किस तरह जाना जा सकता है? अर्थात् वह पुरुष ज्ञात-परमार्थके लिये प्रतीति करने योग्य—ही अवस्था इन्हीं है यह किस कथनसे पहिचाना जा सकता है? कदाचित् किसी मुमुक्षुकसे दूसरे किसी पुरुषके संस्तवयोगसे

यह ज्ञाननभे आया भी हो, तो जिससे उस पहिचानमें आति हो, वैसा व्यवहार जो उस सपुत्रमें प्रायश्चित्त देता है, उस आतिके निवृत्त होनाके लिये मुमुक्षु जीवको उस पुरुषको किस प्रकारसे पहिचानना चाहिये, जिससे उस उस तरहके व्यवहारमें प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञान-स्वरूपता उसका लक्ष्यमें रहे !

सर्व प्रकारसे जिस परिग्रह आदि सयोगके प्रति उदासीन भाव रहता है, अर्थात् जिसे सधाम्य सयोगोंमें अहता ममताभाव नहीं होता, अथवा वह भाव जिसका परिधीन हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको 'अनतानुबन्धी प्रवृत्ति' रहित मात्र प्रारम्भके उदयसे ही जो व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके समुत्पत्तिको स्पष्टका कारण होकर उसके उपकारमूल होनेमें निरोधरूप होता हो, उसे वह ज्ञानी-पुरुष जानता है, और उसके लिये भी परिग्रह सयोग आदि प्रारम्भोदय व्यवहारको क्षीणताकी ही इच्छा करता है वैसा होनेतक उस पुरुषने किस प्रकारसे वर्तन किया है, तो उस सामान्य समुत्पत्तिको उपकार होनेमें हानि न हो !

५९४

बवाणीआ, वैशाख बदी ९ रवि १९५२

आर्य श्रीमाणिक्य आदिके प्रति, श्रीस्तमतीर्ष

श्रीसुन्दरदासके वैशाख बदी १ को देह छोड़ देनेकी जो खबर मिली है, वह बौर्षा है। अधिक समयकी मौरागीके बिना ही पुत्रावस्थामें अकस्मात् देह छोड़ देनेके कारण, उसे सामान्यरूपसे पहिचान नैवास्ते लोगोंको भी उस बातसे खेद हुए बिना न रहे, तो फिर जिसने बुद्धिमान् आदि सम्बन्धक ज्ञानसे उसमें मूर्च्छा की हो जो उसके सहवासमें रहा हो, जिसने उसके प्रति आश्रय-भावना रखी हो, उसे खेद हुए बिना कैसे रह सकता है ! इस संसारमें अनुस्यू-प्राणीको जो खेदके अकथनीय प्रसंग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अकथनीय प्रसंगोंमेंका यह एक महान् खेदकारक प्रसंग है। उस प्रसंगमें मयार्थ विचारवान् पुरुषोंके सिवाय सभी प्राणी विशेष खेदको प्राप्त होते हैं, और यथार्थ विचारवान् पुरुषोंको विशेष वैयर्थ होता है—उन्हीं संसारकी अनिष्टता, अनित्यता और असरता विशेष दृष्ट होती है।

विचारवान् पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छामात्रसे खेद करना, वह मात्र कर्म-बन्धका हेतु मासित होता है; और वैयर्थ्यसे खेदके कर्म-संगकी निवृत्ति मासित होती है, और वह सत्य है। मूर्च्छा-मात्रसे खेद करनेसे भी जिस सङ्गीतका नियोग हो गया है उसकी किरसे प्राप्ति नहीं होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविवारदशाका फल है ऐसा विचारकर विचारवान् पुरुष उस मूर्च्छामात्रप्राप्यही खेदको शांत करते हैं, अथवा प्रायः करके वैसा चेष्टा उन्हीं नहीं होता। किसी भी तरह उस संसारकी हितकारी-पना देखनेमें मही आया, और आकस्मिक घटना खेदका निमित्त होती है, इसलिये कैसे अवसरपर विचारवान् पुरुषोंको, जीवको हितकारी चेष्टा ही उत्पन्न होता है। सर्व सङ्गीत अनिष्टता, अनित्यता, और तुच्छता तथा अल्पत्वपना देखकर अपने आपको विशेष प्रविशेष होता है कि 'ह जीव ! तूमें कुछ भी इस संसारविषयक उभय आदि भावमें मूर्च्छा रहती हो तो उसे त्याग कर'—त्याग कर, उस मूर्च्छाका कुछ भी पत्र मही है। उस समारमें कभी भी दारण्य आदि भाव प्राप्त होनेवाला नहीं, और अविवारमात्रके बिना उस समारमें मोह होना योग्य नहीं; जो याह अनन्य जन्म प्राण और प्रायश्चित्त चेष्टा हेतु है, कुछ और हेतुका बीज है, उस शीघ्र पर—उसका क्षय कर। हे जीव ! इसके

बिना कोई दूसरा हितकर उपाय नहीं है' इत्यादि, पवित्र आत्मासे विचार करनेपर वैराग्यको दृढ़ और निश्चल करता है। जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे मायूम होता है।

इस जीवको देख-सुख हो जानेके बाद यदि मृत्यु न होती, तो इस संसारके सिंघाय दूसरी अगह उसकी हृदिके बगानेकी इच्छा ही न होती। मुख्यतया मृत्युके भयसे ही परमार्थरूप दूसरे स्वामने जीवने हृदिको प्रेरित किया है, और यह भी किसी निरले जीवको ही प्रेरित हुई है। बहुतेरे जीवोंको तो ब्रह्म विमिच्छसे मृत्यु-भयके ऊपरसे ब्रह्म धुनिक वैराग्य प्राप्त होकर, उसके विशेष कार्यकारी हुए बिना ही, वह हृदि मारा हो जाती है। मात्र किसी किसी विचारवान् अपना सुख-मोघी या कष्टुकनी जीवकी ही उस भयके ऊपरसे अविनाशी नि शेषस पदके प्रति हृदि होती है।

मृत्यु-भय होता, तो भी यदि वह मृत्यु नियमितरूपसे ब्रह्मस्थानमें ही प्राप्त होती, तो भी जितने पूर्वमें विचारवान् हो गये हैं, उतने न होते; अर्थात् ब्रह्मस्वात्मक तो मृत्यु-भय है ही नहीं, ऐसा समझकर जीव प्रमादसहित ही मृत्ति करता। मृत्युका अक्षय आगमन देखकर, उसका अनियतरूपसे आगमन देखकर, उस प्रसंगके प्राप्त होनेपर स्वप्न आदि सबसे अपना अरक्षण देखकर, परमार्थके विचार करनेमें अप्रमत्तमान ही हितकर मायूम हुआ है और सर्वसंग अहितकार मायूम हुआ है। विचारवान् पुरुषोंको यह निश्चय निःसन्देह सत्य है—तीनों काकमें सत्य है। मूर्खमानके खेदका त्याग कर विचारवान्को अस्वप्न-प्रत्ययी खेद करना चाहिये।

यदि इस संसारमें ब्रह्म प्रकारके प्रसंग न हुआ करते, अपनेको अपना परको जैसे प्रसंगोंकी अप्रति दिखई दी होती, अकारण आदि मात्र न होता, तो पञ्चत्वयके सुख-साधनकी किन्हीं प्राप्त कुछ भी न्यूनता न दी ऐसे श्रीकृष्णदेव आदि परमपुरुष, और मरत जैसे चक्रवर्ती आदि उसका क्यों त्याग करते ! एकान्त असंगमात्मका वे किस कारणसे सेवन करते !

हे आर्य मामेकचक्षुः आदि ! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण, पुत्र आदि मात्रकी कल्पना और मूर्खके कारण तुम्हें कुछ भी विर्राप खेद प्राप्त होना समझ है, तो भी उस खेदका होनेको कुछ भी हितकारी फल न होनेसे मात्र असंग विचारके बिना किसी दूसरे उपायसे हितकारीपना नहीं है, ऐसा विचारकर होते हुए खेदकी यथाशक्ति विचारसे ज्ञानी-पुरुषोंके बचनानुसारे, तथा साधु पुरुषके आज्ञा समागम आदिसे और विपत्तिसे बचनानुसार करना ही कर्तव्य है।

५९५

गोहमयी द्वितीय क्लेश सुदी २ शनि १९५२

४३

जिस हेतुसे अर्थात् शास्त्रीयक योगविशेषके कारण तुम्हारे निधनमें छूट भी, वह योगविशेष रहता है, इससे उस छूटको मरण करते हुए आत्माका भग्न अपना अतिक्रम होना समझ नहीं। क्योंकि तुम्हारा नियम उसी प्रकारसे प्रारंभ हुआ था। किन्तु यही कारणविशेष होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे उस छूटका मरण करना हो तो आत्माका भग्न अपना अतिक्रम होना समझ है।

सर्व प्रकारके कारण तथा परिणामके संभवके मुख्य खेद करनेके शिष्ये समर्थ ब्रह्मचर्य परम साधन है।

सत्कारका जो अक्षरण आदि मात्र लिखा है वह यथार्थ है। वैसी परिणति अस्मद रहे तो ही जीव उत्कृष्ट वैराग्यको पाकर निजस्वरूप-ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। कभी कभी किसी निमित्तसे वैसे परिणाम होते हैं, परन्तु उनको भिन्न करनेवाले सग-प्रसंगमें जीवका निवास होनेसे वह परिणाम अस्मद नहीं रहता, और सत्कारके प्रति अभिरुचि हो जाती है। इससे अस्मद परिणतिके इच्छापान पुनर्मुक्तो उसके किये नित्य समागमका आग्रह करनेकी परम पुरुषने शिक्षा दी है।

जबतक जीवको वह संयोग प्राप्त न हो तबतक कुछ भी वैसे वैराग्यको आनारके हेतु तथा अप्रसिद्ध निमित्तरूप वैसे पुनर्मुक्त जनका समागम तथा सहायका परिचय करना चाहिये। दूसरे सग-प्रसंगसे दूर रहनेकी बारम्बार स्मृति रखनी चाहिये, और उस स्मृतिको प्रवृत्तिमान करना चाहिये—बारम्बार जीव इस बातको भूल जाता है, और उससे इच्छित साधन तथा परिणामको प्राप्त नहीं करता।

५१६ वर्ष, द्वितीय अष्टक ६ गुरु १९५२

ॐ

‘वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती,’ ऐसा भिनागमें कहा है और वेदांत आदि दर्शन ऐसा कहते हैं कि ‘इस कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है’।

‘वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती,’ इसके सिवाय दूसरे भी बहुतसे मार्गोंका भिनागमें तथा उसके आश्रयसे लिखे गये आचार्योंद्वारा रचित शास्त्रोंमें लिखे कहा है। केवलज्ञान, मन-पर्यवसान, अवधिज्ञान, पूर्वज्ञान, यथाज्ञात चरित्र, सूक्ष्मसाधन चरित्र, परिहारविमुक्ति चरित्र, क्षांतिक समकित और पुष्पाकृति ये मात्र मुख्यरूपसे लिखे माने गये हैं।

‘वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे आचार्यकी कौन कौन मुख्य भूमिका उत्कृष्ट अधिकारीको प्राप्त हो सकती है, और उसके प्राप्त होनेका क्या मार्ग है?’ इन प्रश्नोंके परामर्शके प्रति विचारका कष्ट रहना।

५१७ वर्ष, आप्तक सुत्र २ रवि १९५२

ज्ञान क्रिया और भक्तियोग

मनुष्यके साथ जिसकी मित्रता हो, अपना मनुष्य भागकर जो पूरा सकता हो, अथवा ‘मैं नहीं मर्हंगा’ ऐसा जिसे निश्चय हो, वह मने ही सुलभरूप साथे—(भीतीपर्यकर—छह जीवनिर्वाण अप्ययन)। ज्ञान-मार्ग कठिनतासे आचरण करने योग्य है। परमावगाह-ज्ञाना पावनेके पक्षिसे उस मार्गसे प्युत होनेके अनेक स्थान हैं।

संवेद, विकल्प, स्वच्छा-ता, अतिपरिणामीयना इत्यादि कारण जीवको बारम्बार उस मार्गसे प्युत होनेके हेतु होते हैं, अथवा ये हेतु ऊर्ध्व भूमिका प्राप्त नहीं होने देत।

क्रिया-मार्गमें असद् अभिमान, व्यवहार आप्त, सिद्धि-मोह, पूजा स्मरण आदि योग, और वैदिक-क्रियामें अग्रमनिष्ठा आदि दान संभव हैं।

किसी किसी पक्षमाको छोड़कर बहुतसे विचारवान जीवोंने उन्हीं कारणोंमें भक्ति-मार्गका

आत्मप सिद्धा है और जाहायितमान बनया परमपुरुष सङ्गमें सर्वाणि-स्वाधीनमात्रको सिरसे बरमीय माना है, और कैसे ही प्रवृत्ति की है। किन्तु ऐसा योग प्राप्त होना चाहिये, नहीं तो जिसका चित्तमणिके समान एक एक समय है, एसी मनुष्य-देहका उम्मा परिभमणकी इच्छा ही हेतु होना समझ है।

५९८

४४

श्री के अग्रिमपूर्वक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र तथा श्री का लिखा हुआ पत्र मिल है। श्री के अग्रिमपूर्वक श्री ने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे ही त्रिनागम तथा वेदोंत आदि दर्शनमें वर्तमान काळमें इस क्षेत्रस मोक्षका नियम तथा विचलनका कहा जाना समझ है— यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखई देता है और — ने लिखा है कि वर्तमान काळमें सचपण आदिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो नियम किया है, वह भी अपेक्षित है।

यहाँ निरोपत्यके कर्ममें आनेके लिये गत पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टरूपसे लिखते हैं —

जिस प्रकार त्रिनागमसे केवलज्ञानका अर्थ वर्तमानमें, वर्तमान जैनसम्प्रदायमें प्रचलित है, उसी तरहका उसका अर्थ तुम्हें यथार्थ माझूम होता है या कुछ दूसरा अर्थ माझूम होता है? उन देश काळ आदि का ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा त्रिनागमका वर्तमानमें कथि-अर्थ है। दूसरे दर्शनमें यह सुस्पष्ट नहीं है और त्रिनागमसे ऐसा मुख्य अर्थ लोगोंमें वर्तमानमें प्रचलित है। यदि वहाँ केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विशेष दिखई देता है। उस सबको यहाँ किंचित समझना नहीं बन सकता। तथा जिस विचारको लिखा है उसे भी विशेष विस्तारसे लिखना नहीं बना। क्योंकि उसे यथानुसार ही लिखना योग्य माझूम होता है। जो लिखा है वह उपकार इधरसे लिखा है, यह ऊँच रहना।

योगवाच्यता अर्थात् मन बचन और कायसहित स्थिति होनेसे, आहार आदिके लिये प्रवृत्ति होते समय उपयोगांतर हो जानेसे, उसमें कुछ भी इच्छिका अर्थात् उपयोगका निरोध होना समझ है। एक समयमें किसीको दो उपयोग नहीं रहते जब यह सिद्धांत है तो आहार आदिको प्रवृत्तिके उपयोगमें रहता हुआ केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके रूपक प्रति रहना समझ नहीं और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिष्ठत कहा है वह प्रतिष्ठत हुआ माना जाय। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे ही केवलज्ञानमें सर्व देश काळ प्रतिबिम्बित होते हैं। तथा केवलज्ञानी उनमें उपयोग लगाकर उन्हें जानता है यह बात नहीं है किन्तु सख स्वभावसे ही वे पदार्थ प्रतिमासित हुआ करते हैं, इसलिये आहार आदिमें उपयोग रहते हुए सख स्वभावसे प्रतिमासित ऐसे केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है तो यहाँ प्रश्न है कि दर्पणमें प्रतिमासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नहीं होता और यहाँ तो ऐसा कहा है कि केवलज्ञानीको उन पदार्थोंका ज्ञान होता है। तथा उपयोगके सिवाय आत्मका ऐसा कीलसा दूसरा स्वरूप है कि जब आहार आदिमें उपयोग रहता हो तब उससे केवलज्ञानमें प्रतिमासित होने योग्य रूपको ज्ञाना बन उठे।

यदि सर्व दश काळ आत्मा ज्ञान जिस कबखीको हो उस कबखीको 'सिद्ध' माने तो यह समझ माना जा सकता है, क्योंकि उस योगधारीपना नहीं कहा है। किन्तु इसमें भी यह समझना चाहिय कि फिर भी योगधारीकी अपेक्षासे सिद्धमें ऐसे केवलज्ञानकी सम्पत्ता हो ता यागवर्द्धितपना ज्ञानसे उसमें सब देना काळ आत्मा ज्ञान समझ हो सकता है—इतना प्रतिपादन करनेके लिये ही यह लिखा है, किन्तु सिद्धको ऐसा ज्ञान होता ही है, इस अर्थकी प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा। यद्यपि विनागमके लब्धी-अर्थक अनुसार देखनेसे तो 'देहाधी कबखी' और 'सिद्ध'में केवलज्ञानका भेद नहीं होता — जनोंको ही सर्व दश काळ आत्मा सम्पूर्ण ज्ञान होता है, यह कभी-अर्थ है। परन्तु दूसरी अपेक्षासे विनागम देखनेसे कुछ भिन्न ही सादृश पड़ता है। विनागममें निम्न प्रकारसे पात्र देखनेमें आता है —

“ केवलज्ञान दो प्रकारका कहा है—सयोगीमवस्थ-केवलज्ञान और अपयोगीमवस्थ-केवलज्ञान। सयोगी केवलज्ञान दो प्रकारका कहा है—प्रथमसमय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी-केवलज्ञान, और अप्रथमसमय अर्थात् अपयोगी होनेके प्रथम समयके पड़िछेका केवलज्ञान। इसी तरह अपयोगीमवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकारका पड़ा है—प्रथमसमयका केवलज्ञान और अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेके पड़िछेके अन्तिम समयका केवलज्ञान। ”

इत्यादि प्रकारसे केवलज्ञानके भेद विनागममें करे हैं, उसका परमार्थ क्या जाना चाहिये ? यथाचित् यह समाधान करें कि बाह्य कारणकी अपेक्षासे केवलज्ञानका ये भेद बताये हैं, तो यहाँ एसी शंका हो सकती है कि 'जहाँ कुछ भी पुनर्याप सिद्ध न होगा हो, और जिसमें विस्मयरा अवस्था न हो उसमें भ्रम करनेकी प्रवृत्ति ज्ञानीय बचनेमें समझ नहीं है। प्रथमसमय-केवलज्ञान और अप्रथमसमय केवलज्ञान इस प्रकारका भेद करनेमें यदि केवलज्ञानका तात्पर्य धरता ब्रह्मा हो ता वह भेद समझ है, परन्तु तात्पर्यमें तो ऐसा होता नहीं ता फिर भ्रम करनेका क्या कारण है ? —इत्यादि प्रश्न यहाँ दाने हैं, उनके ऊपर और प्रथम पत्रके ऊपर यथावधि विचार करना चाहिये।

५९९

हेतु अलक्ष्य !

एकमे दित्तर तद्वत् पर्यवसान हा सरुता द ! अपना दाता ही नहीं !

स्वयदा-रचना की द एमा क्या सिमी दनुम सिद्ध दाना दे !

६००

मर्यादित—ज्ञान-गाम्भीर्य—विचार तथा उमरा उदयमान ।

उमरा पधान् लोकोत्तरक प्रवृत्ति । लोकोत्तरक प्रवृत्ति का नियम

पर्यायाने (दान्ते) विम तद्वत् प्रवृत्ति करना उचित है ।

६०१

तौनों काजमें जा बन्धु जायतार न हो, उसे धीमिन द्रव्य कहते हैं ।

कोई भी द्रव्य पर परिणामसे परिणमन नहीं करता—अपनेपनका त्याग नहीं कर सकता ।

प्रत्येक द्रव्य (द्रव्य, क्षेत्र, काख, भावसे) स्व-परिणामी है ।

यह निपट बनारि मर्माश्रमसे रहता है ।

जो चेतन है वह कर्मा अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है वह कर्मा चेतन नहीं होता ।

६०२

हे योग,

६०३

चेतनकी उत्पत्तिके कुछ भी सवांग निश्चय नहीं देते, इस कारण चेतन अनुपम है । उस चेतनके नाश होनेका कोई अनुभव नहीं होता, इसलिये वह अनिनाशी है । निस्प अनुभवस्वरूप होनेसे वह नित्य है ।

प्रति समम परिणामोत्तर प्राप्त करनेसे वह अनित्य है ।

निश्चयस्वरूपका त्याग करनेके लिये असमर्थ होनेसे वह मूक द्रव्य है ।

६०४

सबकी अपेक्षा बीतपगके बचनको सम्पूर्ण प्रतीतिका त्याग कहना योग्य है; क्योंकि जहाँ रंग बानि दोनोंका सम्पूर्ण क्षय हो वही सम्पूर्ण ज्ञान-स्वभाव नियमसे प्रगट होने योग्य है ।

धीमिनको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट बीतपगवा होना समझ है । उनके बचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं इसलिये जिस किसी पुरुषको चित्तने जसमें बीतपगवा समझ है, उसने ही अद्यमें उस पुरुषका वाच्य माननीय है ।

संक्षेप वाणि दर्शनोमि बंध-मोक्षकी ओं जो व्याख्या कही है उससे प्रथम प्रमाण-सिद्ध व्याख्या धीमिन बीतपगने कही है ऐसा मानता हूँ ।

शब्द — जिस विनमरावान्ने हैतका निरूपण किया है आत्माको संह द्रव्यकी तरह बताया है, कर्ता मोक्ष कहा है और जो निर्बिकल्प समानिके अतद्यप्यमें मुख्य कारण हो ऐसी पदार्थकी व्याख्या कही है उस विनमरावान्की शिक्षा प्रथम प्रमाणसे सिद्ध है ऐसा कैसे कहा जा सकता है ! केवल अद्वैत और सहज निर्बिकल्प समाधिके कारणमूढ ऐसे वेदन्त वादि मार्गका उसकी अपेक्षा अल्प ही विशेष प्रमाणसे सिद्ध होना समझ है ।

उपर.—एक बार जैसे हम कहते हो जैसे यदि मान भी लें, परन्तु सब दर्शनोकी शिक्षाकी

अपेक्षा दिनमगवान्की कही हुई सब मोक्षके स्वरूपकी शिक्षा जितनी सम्पूर्ण प्रतिमासित होती है, उतनी दूसरे दर्शनोंकी प्रतिमासित नहीं होती, और जो सम्पूर्ण शिक्षा है वही प्रमाणसे सिद्ध है।

शुद्धा — यदि तुम ऐसा समझते हो तो किसी तरह भी निर्णयका समय नहीं आ सकता, क्योंकि सब दर्शनोंमें, जिस जिस दर्शनमें जिसकी स्थिति है, उस उस दर्शनके लिये सम्पूर्णता मानी है।

उत्तर — यदि ऐसा हो तो उससे सम्पूर्णता सिद्ध नहीं होती, जिसकी प्रमाणद्वारा सम्पूर्णता हो नहीं सम्पूर्ण सिद्ध होता है।

प्रश्न — जिस प्रमाणके द्वारा तुम दिनमगवान्की शिक्षाको सम्पूर्ण मानते हो, उस प्रकारको तुम कहो; और जिस प्रकारसे वेदोंत आदिकी सम्पूर्णता तुम्हें समझ माध्यम होती है, उसे भी कहो।

६०५

प्रत्यक्षसे अनेक प्रकारके दुःखोंको देखकर, दुःखी प्राणियोंको देखकर तथा जगत्की विचित्र रचनाको देखकर, कैसे होनेका हेतु क्या है? उस दुःखका मूलस्वरूप क्या है? और उसकी निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तथा जगत्की विचित्र रचनाका अवर्त्मस्वरूप क्या है? इत्यादि भेदमें जिसे विचार-दृष्टा उत्पन्न हुई है ऐसे सुमुमुक्षु पुरुषने, पूर्ण पुरुषोद्धार ऊपर कहे हुए विचारोंसबकी जो कुछ अपना समाधान किया था अथवा माना था, उस विचारके समाधानके प्रति भी यथाशक्ति आलोचना की। उस आलोचनाके करते हुए विविध प्रकारके मतमतांतर तथा अनिप्रायसबकी यथाशक्ति विशेष विचार किया। तथा नाना प्रकारके रामानुज आदि सम्प्रदायोंका विचार किया। तथा वेदान्त आदि दर्शनका विचार किया। उस आलोचनामें अनेक प्रकारसे उस दर्शनके स्वरूपका मथन किया, और प्रसंग प्रसंगपर मथनकी योग्यताको प्राप्त ऐसे जैनदर्शनके सूत्रचम अनेक प्रकारसे जो मथन हुआ, उस मथनसे उस दर्शनके सिद्ध होनेके लिये, जो पूर्वापर विरोध जैसे माध्यम होते हैं, ऐसे नाने किन्हे कारण ढिंछाई दिये।

६०६

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायके अक्षयी होनेपर भी ये रूपी पदार्थको सामर्थ्य प्रदान करते हैं, और इन तीन द्रव्योंको स्वभावसे परिणामी कहा है, तो ये अक्षयी होनेपर भी रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं?

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एक क्षेत्र-अवगाही हैं, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमें गतिशील वस्तुके प्रति स्थिति-सहायतात्मकसे और स्थितिशील वस्तुके प्रति गति-सहायतात्मकसे विरोध क्यों नहीं आता?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा—ये तीनों असम्प्रयात प्रवेशी हैं, इसका क्या कोई दूसरा ही रहस्य है?

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्ताकारसे है—ऐसा होनेमें क्या कुछ रहस्य है?

लोकसुखानके सदा एक स्वल्पस रहनेमें क्या कुछ रहस्य है ?

एक ताप भी घट-बढ़ नहीं होता, ऐसी अनापि स्थितिको किस कारणसे मानना चाहिये ?

शान्तताका व्याख्या क्या है ? आत्मा अथवा परमाणुको कदाचित् शाश्वत माननेमें मूढ़ द्रव्य कारण है; परन्तु ताप, चन्द्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है ?

६०७

सिद्ध-आत्मा लोकालोक-प्रकाशक है, परन्तु लोकालोक-व्यापक नहीं है, व्यापक तो अपनी अव-गाहना प्रमाण ही है—जिस मनुष्येइसे सिद्धि प्राप्त की, उसका तीसरा भाग कम जन-प्रदेशाक्षर है। अर्थात् आत्मद्रव्य लोकालोक-व्यापक नहीं, किन्तु लोकालोक-प्रकाशक अर्थात् लोकालोक-ज्ञापक है। लोकालोकके प्रति आत्मा नहीं आती, और लोकालोक भी कुछ आत्मामें नहीं आता, सब अपनी अपनी अवगाहनामें अपनी अपनी सत्तासे मौजूद हैं; वैसा होनेपर भी आत्माको उसका ज्ञान-दर्शन किस तरह होता है ?

यहाँ यदि द्रष्टा दिया जाय कि जिस तरह दर्पणमें वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही आत्मामें भी लोकालोक प्रकाशित होता है—प्रतिबिम्बित होता है, तो यह समाधान भी अधिकोपी निवार्य नहीं देता, क्योंकि दर्पणमें तो निवृत्त-परिणामी पुद्गल-राशिसे प्रतिबिम्ब होता है।

आत्माका अगुरुत्व धर्म है उस धर्मके देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानती है, क्योंकि समस्त द्रव्योंमें अगुरुत्व गुण समान है—ऐसा कहनेमें आता है, तो अगुरुत्व धर्मका क्या धर्म समझना चाहिये ?

६०८

वर्तमान काळकी तरह यह अगत् सर्वकाळमें है।

यह पूर्वकाळमें न हो तो वर्तमान काळमें भी उसका अस्तित्व न हो।

यह वर्तमान काळमें है तो भविष्यकाळमें भी उसका अत्यंत नाश नहीं हो सकता।

पदार्थमात्रके परिणामी होनेसे यह अगत् पर्याप्ततरङ्गसे दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मूल-स्वभावसे उसकी सदा ही निधमालता है।

६०९

जो वस्तु समयमात्रके लिये है, वह सर्वकाळके लिये है।

जो मात्र है वह मौजूद है जो मात्र नहीं वह मौजूद नहीं।

जो प्रकाशका पदार्थ स्वभाव निमात्रपूर्वक स्पष्ट दिखार्थ देता है—जब-स्वभाव और चेतन-स्वभाव।

६१०

गुणप्रतिशयता किसे कहते हैं ? उसका किस तरह आराधन किया जा सकता है ?

केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है ? तीर्थतरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या है ?

यदि त्रितुल्यत केवलज्ञानको लोकालोका-ज्ञापक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियायें किन्तु तरह हो सकती हैं।

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें प्राप्ति न होनेका क्या हेतु है।

६११

मति, ध्रुत, अवधि, मन-पर्यव, परमावधि, केवल

६१२

परमावधि ज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य विचार करने योग्य है।

अनादि अनन्त कायका, अनन्त अवलोकका—गणितसे अतीत अथवा असंख्यातसे पर ऐसे जीव-समूह, परमाणुसमूहके अनन्त होनेपर अनन्तपनेका साक्षात्कार हो उस गणितशीलपनेके होनेपर—साक्षात् अनन्तपना किन्तु तरह जाना जा सकता है। इस विरोधका परिहार ऊपर कहे हुए रहस्यसे होने योग्य मान्य होता है।

तथा केवलज्ञान निर्भिकम्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग करना पड़ता नहीं। सहज उपयोगसे ही यह ज्ञान होता है; यह रहस्य भी विचार करने योग्य है।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है। प्रथम जीव-पर्याय कौनसी है। प्रथम परमाणु-पर्याय कौनसी है। यह केवलज्ञान-गोचर होनेपर भी अनादि ही मान्य होता है। अर्थात् केवलज्ञान उसका आधिक्य नहीं प्राप्त करता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ भी नहीं है, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। उनका सम-धान परमावधिके विचारसे तथा सहज उपयोगके विचारसे समझमें आने योग्य दृष्टिगोचर होता है।

६१३

कुछ भी है।

क्या है।

किन्तु प्रकाशसे है।

क्या वह जानने योग्य है।

जाननेका फल क्या है।

बनका हेतु क्या है।

कैव प्रकाशके भिन्नितसे है अथवा जीवके दोनसे है।

त्रिस प्रकाशसे समझते हैं उस प्रकाशसे कब नहीं हटाना जा सकता, ऐसा सिद्ध होता है; इसमें मोक्ष-पदकी हानि होती है। उसका नाशित्व रहता है।

अमूर्तता कोई वस्तु है या अवस्तु ?

अमूर्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं ?

मूर्त पृष्ठरूपा और अमूर्त जीवका संयोग कैसे हो सकता है ?

धर्म अधर्म और जीव द्रव्यका क्षेत्र-व्याप्ति बिना प्रकारसे विनमगवान् कहते हैं, उस प्रकार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका मध्यम-परिणामीपना है ।

धर्म अधर्म और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, और गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वकी भी भिन्न भिन्न मानना ही ठीक है ?

द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण-वर्णायक बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

कवचज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काक मानका श्रवक ठहरे तो सब वस्तुएँ निर्यात-मर्यामें जा जाय—उनकी अनन्तता सिद्ध न हो क्योंकि उनका अनन्त-अनादिपना समझमें नहीं जाता अर्थात् कवचज्ञानमें उनका किन्तु रीतिसे प्रतिमास हो सकता है । उसका विचार बचकर ठीक ठीक नहीं बैठता ।

६१४

ब्रह्मदर्शन किसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे सर्वव्यापकता कहता है ।

इस वस्तुके ऊपरसे कवचका विचार खोज करने योग्य है ।

विनमगवान्के अभिप्रायसे आत्मको स्वीकार करनेसे यहाँ किसे हुए प्रसंगोंके ऊपर अधिक विचार करना चाहिये —

१ असत्प्राप्त प्रदेशका मूल परिमाण

२ संकोच-विक्षाप्तवादी जो व्याप्य स्वीकार की है, वह संकोच विक्षाप्त क्या अरूपमें हो सकता है ? तथा वह किन्तु प्रकार हो सकता है ?

३ निर्गुण अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४ सर्व द्रव्य क्षेत्र व्यापिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तत्त्व केवलज्ञान-स्वभावी है, या निज-स्वरूपमें अवस्थित निवृत्तज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

५ आत्मामें योगसे विपरिणाम है, स्वभावेसे विपरिणाम है । विपरिणाम आत्माली मूल सत्ता है संयोगी सत्ता है । उस सत्ताका कैमला द्रव्य मूल कारण है ?

६ वेदान्त हीमाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निज स्वभावका ? पृष्ठ संयोगका ? अपना उससे कुछ भिन्न ही ?

७ जिस तरह मोक्ष-पदमें आत्ममात्र प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें, तो आत्मको लोक-व्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

८ ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है इस सिद्धांतको पढ़ाते हुए आत्मको ज्ञानसे कपंचित भिन्न किन्तु अपेक्षासे मानना चाहिये ? अवलम्बमात्रसे अपना अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

९ मध्यम-परिणामवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह संभव है ?

१० शुद्ध चेतनमें अनेककी सङ्ख्याका भेद कैसे घटित होता है ?

६१५

सामान्य चेतन

सामान्य चैतन्य

विशेष चेतन

विशेष चैतन्य

निर्विशेष चेतन

(चैतन्य)

स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव)—निर्गन्ध

सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव)—वैदान्त

६१६

बहु अप्राप्त्यकारी

मन अप्राप्त्यकारी

चेतनका बाह्य आगमन (गमन न होना)

६१७

ज्ञानी-मुकुटोंको समय समयमें अनन्त समय-परिणाम बृद्धिगत होते हैं, ऐसा जो सर्वजने कहा है वह सत्य है। वह समय विचारकी तीव्रता परिणतिसे तथा ज्ञानरसके प्रति स्थिरता करनेसे उत्पन्न होता है।

६१८

धीवीर्षकर आत्माको संकोच-विकासका भावना प्रगटशामें मानत है वह सिद्धांत विद्यार्थ्यपक्षे विचारणीय है।

६१९

बम्बई आगस्ट सुदी ४ मौस १९५२

अंगपनी प्रकृति ता सर्वे आश्रित, समीप रहे पण शरीरनो नहीं सग ना;

एकनि बसई है, एकज आसनि, मूम पद ता पद भजनया भंग ना।

मोपबजी भवज्या त सापन थु कर !

१ ज्ञेय (विषयिक प्रत्यक्षके साधुओंका वर्ग) साधुओंकी दलीलकी ता तब जानते हैं। संन्यसे रहनर मी उन्हें धर्मका संग नहीं रहता। परन्तु वह तो यह है कि एकान्तमें एक ही आनन्द देना चाहिये क्योंकि वे भूष हो ज्ञान का मन्त्रमें बाधा होता समझते हैं। वे आचर्य, मैं अथवा उन कीनत साधनोंकी स्वीकार करूँ।

६२०

बम्बई आपस सुदी ५ बुध १९५२

३

प्रश्न — 'श्रीसहजानन्दके वचनानुसारमें आत्मस्वरूपके साथ अहर्निश प्रत्यक्ष समाधानकी भक्ति करना, और उस भक्तिको स्वधर्ममें रूढ़ कर देना इस तरह अगह अगह मुष्करूपसे बात आती है। अब यदि 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'आत्मस्वभाव' अथवा 'आत्मस्वरूप' होता हो तो फिर स्वधर्मसहित भक्ति करना, यह कहनेका क्या कारण है ?' ऐसा जो तुमने किन्ना उसका उत्तर यहाँ किन्ना है —

उत्तर — स्वधर्ममें रूढ़ कर भक्ति करना ऐसा जो कहा है, वहाँ स्वधर्म शब्दका अर्थ वर्णाश्रमधर्म है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमें देह उत्पन्न हुई हो, उस वर्णकी कुति-सृष्टिमें कहे हुए धर्मका आचरण करना यह वर्णधर्म है; और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा कुति-सृष्टिमें कही गई है उस मर्यादासहित उस उस आश्रममें प्रवृत्ति करना, यह आश्रमधर्म है।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मण वर्णमें वर्ण-धर्मका आचरण इस तरह करना चाहिये, ऐसा जो कुति-सृष्टिमें कहा हो, उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है और यदि उस प्रकार आचरण न करे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे तो वह परधर्म कहा जाता है। इस प्रकार जिस किस वर्णमें देह प्राण की हो, उस उस वर्णकी कुति-सृष्टिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना यह स्वधर्म कहा जाता है और यदि दूसरे वर्णके धर्मका आचरण किया जय तो वह परधर्म कहा जाता है।

यही बात आश्रमधर्मके नियममें भी है। जिस वर्णको कुति-सृष्टिमें ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-सहित प्रवृत्ति करनेके नियम कहा है उस वर्णमें प्रथम नीचोच्च वर्णतक गृहस्थाश्रममें रहना उपबोध करनेसे वानप्रस्थ और सन्यस्त आश्रममें आचरण करना इस तरह आश्रमका सामान्य क्रम है उस उस आश्रममें आचरण करनेकी मर्यादाके समझमें यदि कोई दूसरे आश्रमके आचरणको प्रवृत्ति करे तो वह परधर्म कहा जाता है; और यदि उस उस आश्रममें उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है। इस तरह वेदाहित मार्गमें वर्णाश्रमधर्मको स्वधर्म कहा है। उस वर्णाश्रम धर्मको ही स्वधर्म शब्दसे समझना चाहिये, क्योंकि सहजानन्दस्वामीने यहाँ वर्णाश्रमधर्मको ही स्वधर्म शब्दसे कहा है।

भक्तिप्रधान संप्रदायोंमें प्रायः अगहभक्ति करना ही जीविका स्वधर्म है ऐसा प्रतिपादन किया है। परन्तु यहाँ उस अर्थमें स्वधर्म शब्दको नहीं कहा। क्योंकि भक्तिका स्वधर्ममें रूढ़ कर देना चाहिये ऐसा कहा है। इसलिये स्वधर्मको मुद्रारूपसे प्रवृत्ति किया है और उसे वर्णाश्रमधर्मके अर्थमें ही प्रवृत्ति किया है। जीविका स्वधर्म भक्ति है यह कतानेके नियम तो भक्ति शब्दके बन्ने के अन्तर्गत ही इन संप्रदायोंमें स्वधर्म शब्दका प्रयोग किया गया है; और श्रीसहजानन्दके वचनानुसारमें भक्तिके बरके स्वधर्म शब्द संज्ञा-वाचकत्वसे भी प्रयुक्त नहीं किया, हाँ कहीं कहीं जीविकमाचार्यने तो यह प्रयोग किया है।

६२१

बर्ध, आगु बनी ८ रवि १०५२

भूमाके द्वारा जो स्वर्णभूषण समुद्रको तिर गया है, तैरत है और तैरते,

उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिस भिक्काल नमस्कार हा

एक घासे वेदन करने योग्य प्रारम्भके सहन करते हुए, कुछ एक परमार्थ-व्यवहारके प्रवृत्ति इतिमी जैसी सगती है, और उन कारणोंसे पहुँचमात्र भी नहीं छिपी। चित्तको जो सहज ही अवलंबन है, उसे खींच खनसे आर्तमात्र होगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबन्धसे इस पत्रका लिखा है।

सुखसंगम्य और बाह्यसंगम्य दुस्तार स्वर्णभूषण समुद्रको जो वर्धमान आदि पुरुष सुभासे तिर गये हैं, उन्हें परमभक्तिये नमस्कार हा। श्रुत हलके भयकर स्थानकमें सावधान रहकर, तथाकथ सामर्थ्य विस्तृत करक जिसमें सिद्धिको साधा है, उस पुष्पापको पात्र करके रोमांचित, अनंत और मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

६२२

प्रारम्भके दुस्तार प्रतिबन्ध रहता है, उसमें कुछ खिलना अथवा कहना इतिमी जैसा ही मात्रम होता है, और उससे हाथमें पत्र आदिभी पहुँचमात्र भी नहीं छिपी। बहुतस पत्रोंके जिये पैसा ही हुआ है, इस कारण चित्तको निष्ठान्त व्यक्तता होगी, उस विचारके दयाके प्रतिबन्धसे यह पत्र लिखा है। अहमाको जो मूखज्ञानसे जलायमान कर डाले, ऐसे प्रारम्भका बन्धन फटत हुए पता प्रतिबन्ध उस प्रारम्भके उपकारका हेतु होता है; और किसी किसी कठिन अस्तरपर कमी ता वह अहमाको मूखज्ञानके बन्धन कटा पतककी स्थितिमें प्राप्त करा दता है, ऐसा समझकर, उससे डरकर ही आचरण करना योग्य है। यह विचारकर पत्र आदिकी पहुँच नहीं छिपी। उसे धमा परनकी मन्त्रता सहित प्रार्थना है।

अहा! झली-पुष्पाप आग, गीमरीता, धीरज और उपशम। अहा! अहा! बारम्बार अहो! ॐ

६०३

बर्ध, आगु बनी १५ साम १०५२

मुझे तथा दूसरे किसी समुदायमकी निष्ठान्त भाव्योक्त हमारे समुदायकी अभिप्राता रही परती है, वह बात जाननेमें है, परन्तु उस विषयक असुख कारणोंका विचार करने हुए प्रवृत्ति मदी होगी। प्रायः चित्तमें ऐसा रहा करना है कि हाथमें अधिक मनागम भी कर सकते योग्य गता मदी है। प्रथमसे ही इन प्रसारका विचार रहा करना था, और ता विचार अधिक धरम्पर गगता था। शिन्तु उपपत्तिस बहुतम भाव्योक्त मनागम होनेका प्रथम हुआ; जिसे पत्र प्रसारम प्रतिबन्ध हान प्रेमा मयता था, और हाथमें कुछ भी रमा हुआ मात्रम टाता है। वर्धमान अहमाका दयालु रूप उतना प्रतिबन्ध होने देने वाक्य मना मुक्त मंथरित मदी है। जो प्रथम-कुछ कुछ पत्र अथ पत्र दना उचित है।

इस अहमामें गुणका विशेष प्राकट्य समझकर, तुम सब किन्हीं मुमुक्षु भर्त्सकों की मक्ति खती हो ता भी उससे उस मक्तिकी योग्यता मेरे विषयमें समझ है, ऐसा समझनेकी योग्यता मेरी नहीं है ।

यहाँ एक प्रापना कर देना योग्य है कि इस आहमामें तुम्हें गुणका प्राकट्य भासमान होता हो और उससे अदरमें मक्ति खती हो तो उस मक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे तुम्हें योग्य भासता हो वैसा करना यत्न है । परन्तु इस आहमामें सबमें हाथमें बाहर किसी प्रसङ्गकी चर्चा होने देना योग्य नहीं । क्योंकि अनिर्विण्ण रूप होनेसे गुणका प्राकट्य हो, तो भी वह लोगोको भासमान होना कठिन पड़े, और उससे उसकी विराजना होनेका कुछ भी कारण होना समझ है; तथा इस अहमामें पूर्ण मनुष्यरूपके बलका कठिन करनेके समान कुछ भी प्रवृत्तिका समझा जाना समझ है ।

६२४

बम्बई भाषण सन् ५ शुक्र. १९५२

ॐ

१ प्रश्न — विभागमें अग्निस्तिकाय आदि छह रूप कहे गये हैं, उनमें काष्ठको भी रूप कहा है; और अस्तिकाय पाँच कहे हैं, काष्ठको अस्तिकाय नहीं कहा—इसका क्या कारण होना चाहिये ? कदाचित् काष्ठका अस्तिकाय न कहनेमें यह हेतु हो सकता है कि अग्निस्तिकाय आदि प्रेशके समूहमें हैं और पुण्ड-परमायु भी वैसी ही यमयन्त्रालया रूप है, और काष्ठ वैसा नहीं है । वह मात्र एक समयका है उससे काष्ठको अस्तिकाय नहीं कहा । यहाँ ऐसी आशंका होती है कि एक समयके बाद दूसरी फिर तीसरी इन तरह समयकी चार चकती हो खती है, और उस चारमें बीचमें अचरणा नहीं होता उससे एक दूसरे समयका सपन अपना समझमझपना होना समझ है, जिसमें काष्ठ भी अग्निस्तिकाय कहा जा सकता है । तथा सर्वज्ञता तीन चकती जान होता है वैसा जो पड़ा है, उसमें भी ऐसा भासता है कि सब काष्ठ-समूह ज्ञान-वाचक होता है, और सर्व समूह ज्ञान-वाचक होता है ता काष्ठका अग्निस्तिकाय होना समझ है, और विभागमें उसे अस्तिकाय माना नहीं ।

उत्तर — विभागमें ही प्रापना है कि काष्ठ आचारिक रूप है स्वाभाविक रूप नहीं ।

आ पाँच अस्तिकाय हैं मुख्यतः उनमें वर्तमान नाम ही काष्ठ है । उस वर्तमान रूप का नाम वर्णन भी है । जिस अस्तिकाय एक समयमें अमेरिका प्रेशके समूहमें भासता होता है उसे काष्ठ समूह में भासता नहीं होता । जब एक समय रहकर यह हो जाता है तो दूसरा समय उत्पन्न होता है । वह समय दूसरी यन्त्रालया नामक मुख्य भाग है ।

मार्गदर्शक काष्ठ जान होता है ऐसा आचार है उसका मुख्य अर्थ तो यह है कि उन्हें वैयक्तिकता के अन्तर्गत जाना जायता है और भाषा में आचार काष्ठ की मक्ति काष्ठका ज्ञान कहा जाता है । एक समयमें काष्ठ भी एक समयका है भाषा दर्शा दे और भूतका अपना भागीदार भाषा नहीं दर्शा । यदि वे दर्शा भी भाषा है । ता वह भी वर्तमानका ही कहा जाय ।

सर्वत्र मृतकावको ' उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने ' और मावीकावको, ' आग अमुक तरह होगा ' क रूपमें देखते हैं ।

परन्तु मृतकाव द्रव्यमें समा गया है, आग मावीकाव सत्कारूपसे सन्निविष्ट है, दोनोंमेंसे एक भी वर्तमानरूपसे नहीं है, मात्र एक समयरूप ही वर्तमानकाव रहता है, इसलिये सर्वत्रको ज्ञानम भी उसी प्रकार भासमान होता है ।

जैसे किसीने एक घड़ेको अभी देखा हो, उसके बाद वह दूसरे समयमें नाश हो गया है, और उस समय वह घड़ेरूपसे विद्यमान नहीं है, परन्तु देवनेवालेको वह चढ़ा जैसा या बैसा ही ज्ञानमें भासमान होता है । इसी तरह इस समय मिट्टीका कोई पिंड पड़ा हुआ है, उसमेंसे योद्धा समय बीतनेपर एक बड़ा उत्पन्न होगा, ज्ञानमें ऐसा भी भासमान हो सकता है, फिर भी मिट्टीका पिंड वर्तमानमें कुछ घड़ेरूपसे नहीं रहता । इसी तरह एक समयमें सभ्रको त्रिकाव-ज्ञान होनेपर भी वर्तमान समय तो एक ही है ।

सूर्यके कारण जो दिन और रात्रिरूप काव समझा जाता है, वह व्यवहारकाव है, क्योंकि सूर्य स्वाभाविक द्रव्य नहीं है ।

दिगम्बर कालके असम्प्राप्त अणु स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका एक दूसरेके साथ सन्ध है, ऐसा उनका अभिप्राय नहीं है, और इससे उन्हेंनि कावको अस्तिकायरूपसे स्वीकार नहीं किया ।

२ प्रत्यक्ष सत्समागममें भावि बैरघ्य आदि इह साधनसहित मुमुक्षुको, सद्गुरुकी आज्ञासे द्रव्य-नियोगका विचार करना चाहिये ।

३ श्रीवैद्यनृसीहज अभिनन्दन मगवान्की स्तुतिका पत्र लिखकर जो उसका अर्थ पूछाया है, उसमें—'पुद्गलभनुमव त्यागयी, करषी ज भू परतीत हा'—ऐसा जो लिखा है, वह मूल्य नहीं है । मूल्यत्र इस तरह है—'पुद्गलभनुमव त्यागयी, करषी जसु परतीत हा'—अर्थात् वर्ण गव आदि पुद्गल-गुणके अनुमवका अर्थात् रसका त्याग करनेसे, उसका प्रति उणासीन होनेसे, 'जसु' अर्थात् जिसकी (आत्माकी) प्रतीति होती है ।

६२५

जिद्व अनदि है । जीव अनदि है ।

पुद्गल-परमाणु अनदि है । जीव और कर्मका सन्ध अनदि है ।

संयोगीभावमें तात्त्व्य—अध्यास—होनेसे जीव जन्म-मरण आदि दुःखोंका अनुमव करता है ।

६२६

जीव अस्तिकायरूप छोक अर्थात् विश्व है । शैतन्य कण्ठ जीव है ।

कर्म, गंध, रस और स्पर्शपुण्ड्र परमाणु हैं, वह सन्ध स्वल्पसे नहीं, विभाव्यरूपसे है ।

६२७

कम्मादम्मेहिं सर्म, सजोगी भी हीई नीयस्स ।

सो बंपो णायम्भो, तस्स वियोगी भवमोकखी ।

६२८

बर्मा भाषण १९५२

३

पंचास्तिकायका सञ्चित स्वरूप कहा है —

जीव पुद्गल, धर्म अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं ।

अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक वस्तु । एक परमाणु प्रमाण अपूर्ण वस्तुके मापको प्रदेश कहते हैं । जो वस्तु अनेक प्रदेशात्मक हो उसे अस्तिकाय कहते हैं ।

एक जीव असंख्यात प्रदेश प्रमाण है ।

पुद्गल-परमाणु यद्यपि एक प्रदेशात्मक है परन्तु दो परमाणुओंसे बनाकर असंख्यात, अनंत परमाणु एकत्र हो सकते हैं । इस तरह उसमें परस्पर मिश्रणकी शक्ति रहनेसे वह अनंत प्रदेशात्मकता प्राप्त कर सकता है, जिससे वह भी अस्तिकाय कहे जाने योग्य है ।

धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण, अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण, और आकाश द्रव्य अनंत प्रदेश प्रमाण होनेसे वे भी अस्तिकाय हैं । इस तरह पाँच अस्तिकाय हैं । इन पाँच अस्तिकायके एकमेकरूप स्वभावसे इस लोककी उत्पत्ति है अर्थात् लोक इन पाँच अस्तिकायमय है ।

प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेश प्रमाण है । वे जीव अनंत हैं ।

एक परमाणुके समान अनंत परमाणु हैं । दो परमाणुओंके एकत्र मिश्रणसे अनंत त्रि-अणुक स्वरूप होते हैं, तीन परमाणुओंके एकत्र सम्मिश्रित होनेसे अनंत त्रि-अणुक स्वरूप होते हैं । चार परमाणुओंके एकत्र सम्मिश्रित होनेसे अनंत चार-अणुक स्वरूप होते हैं । पाँच परमाणुओंके एकत्र सम्मिश्रित होनेसे अनंत पाँच-अणुक स्वरूप होते हैं । इसी तरह छह परमाणु सात परमाणु, आठ परमाणु, नौ परमाणु, दस परमाणुओंके एकत्र सम्मिश्रित होनेसे ऐसे अनंत स्वरूप होते हैं । इसी तरह ग्याह परमाणुसे ही परमाणु, स्रग्मात परमाणु असंख्यात परमाणु, तथा अनंत परमाणुओंसे मिश्रकर बने हुए ऐसे अनंत स्वरूप होते हैं ।

धर्म द्रव्य एक है, वह असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोक-व्यापक है ।

अधर्म द्रव्य एक है, वह भी असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोक-व्यापक है ।

आकाश द्रव्य एक है, वह अनंत प्रदेश प्रमाण है, वह लोकालोक-व्यापक है । लोक प्रमाण आकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है ।

१ जीवके धर्मके साथ संबन्ध होनेकी वीच और उनके विभाग होनेकी योग्य करते हैं ।

काळ द्रव्य इन पाँच अस्तिकायोंकी वर्तना पर्याय है, अर्थात् वह औपचारिक द्रव्य है। वस्तुतः तो वह पर्याय ही है। और पञ्च विषयसे अगाधक वर्षादि पर्याय जो काळ सूर्यकी गतिकी ऊपरसे समझा जाता है, वह व्यावहारिक काळ है, ऐसा येताम्बर आचार्य कहते हैं। गिम्बर आचार्य भी ऐसा ही कहते हैं, किन्तु वे इतना निरोध कहते हैं कि ओकाकाशक एक एक प्रदेशमें एक एक काळानु विद्यमान है, जो अर्घ्य, अगध, अरस और अपर्श है, अगुरुस्थु स्वभावसे युक्त है। ये काळानु वर्तना पर्याय और व्यावहारिक काळके निमित्तोपकारी हैं। वे काळानु द्रव्य कहे जाने योग्य हैं, परन्तु अस्तिकाय कहे जाने योग्य नहीं। क्योंकि एक दूसरेसे मिलकर वे अणु, क्रियाकी प्रवृत्ति नहीं करते; जिससे बहुप्रदेशात्मक न होनेसे काळ द्रव्यको अस्तिकाय कहना ठीक नहीं, और पञ्चास्तिकायके विवेचनमें भी उसका गांज स्वल्प कहा है।

आकाश अनन्त प्रदेश प्रमाण है। उसमें असंख्यान्त प्रदेश प्रमाणमें धर्म अवर्ग द्रव्य व्यापक है। धर्म अजम द्रव्यका यह स्वभाव है कि जीव और पुद्गल उसकी सहायताके निमित्तसे गति और स्थिति कर सकते हैं, जिससे धर्म अवर्ग द्रव्यकी व्यापकतातक ही जीव और पुद्गलकी गति-स्थिति है, और उससे ओककी मर्यादा होती है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अवर्ग और द्रव्यप्रमाण आकाश ये पाँच द्रव्य जहाँ व्यापक है, वह ओक कहा जाता है।

६२९

बम्बई, माघ १९५२

(१) दुर्लभ मनुष्य देह भी पूर्वमें अनन्तवार प्राप्त हुई तो भी कुछ भी सफलता नहीं हुई, परन्तु हठार्थता तो उसी मनुष्य देहकी है कि जिस मनुष्य देहमें इस जीवने इन्हीं-पुरुषको पहिचाना और उस महात्मनका आश्रय किया। जिस पुरुषक आश्रयसे अनेक मिथ्या प्रकारके अन्ध आशिकी मरता हुई उस पुरुषके आश्रयसे वह देह छूट जाय, यही सार्थकता है। जन्म, अर, मरण आशिकी नाश करने वाला अरमझान जिसमें रहता है, उस पुरुषका आश्रय ही जीवकी जन्म, अर, मरण आशिकी नाश कर सकता है, क्योंकि वही अपासम्भ उपाय है। स्वयं सबसे इस देहके प्रति इस जीवको जो प्रारम्भ होगा, उसके निवृत्त हो जानेपर उस देहका समागम निवृत्त होगा। तथा उत्तम कभी न कभी तो वियोग निश्चय है, किन्तु आश्रयपूर्वक देह छूटने वही जन्म सार्थक है; जिस आश्रयको पाकर जीव उसी मर्मे अपना मन्त्रियमे छोड़े ही काळमें निजस्वल्पमें स्थिति कर सके।

(२) तुम तथा श्रीमुनि प्रसन्नवश -- ...के यहाँ जाते रहना। वसत्यर्थ, अगिरिष्ठ आशिकी पयाशक्ति धारण करनेकी उन्हें समाधान माग्य है। तो मुनिको ऐसा करनेमें प्रतिबंध नहीं।

(३) श्रीसद्गुरुने कहा है कि ऐसे मिथ्य मार्गका सत्ता ही आश्रय रहे। मैं वह आदि स्वल्प नहीं हूँ और देह, जी, पुत्र आदि कोई भी मरा नहीं है; मैं पुनः शैतन्यस्वल्प अविनाशी आत्मा हूँ। इस तरह अरममात्रना करते हुए राग-द्वेषका क्षय होना संभव है।

६३०

कावित्व व्याख्यान कटी १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है । इसलिये असंग भावना रखना योग्य है ।

६३१

रत्न, भाषण कटी ११ सन्नि १९५२

३३

१ प्रश्न — अमुक पर्यायिक गमनागमन आदिके प्रसंगमें पर्यायिकाय आदिके अमुक प्रश्नमें ही क्रिया होती है, और यदि इस तरह हो तो उनमें विभाग होना संभव है, जिससे वे भी काव्यके समयकी तरह अस्तिकाय नहीं करे जा सकते ।

उत्तर — जिस तरह पर्यायिकाय आदिके सर्व प्रदेश एक समयमें वर्तमान हैं, अर्थात् विषयान है, उसी तरह काव्यके सर्व समय कुछ एक समयमें विद्यमान नहीं होते, और फिर द्रव्यकी वर्तना पर्यायिके सिद्धांत काव्यका कोई हिस्सा द्रव्यत्व नहीं है, जिससे उसका अस्तिकाय होना संभव हो । अमुक प्रदेशमें पर्यायिकाय आदिके क्रिया हो, और अमुक प्रदेशमें न हो, इससे कुछ उसके अस्तिकाय होनेका भेग नहीं होता । वह द्रव्य केवल एक प्रदेशात्मक हो और उसमें समग्रतात्मक होनेकी योग्यता न हो, तो ही उसके अस्तिकाय होनेका भेग हो सकता है अर्थात् तो ही वह अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता । परमाणु एक प्रदेशात्मक है तो भी उस तरहके दूसरे परमाणु निकलकर वह समग्रतात्मकत्व होता है, इसलिये वह अस्तिकाय (पुरुषास्तिकाय) कहा जाता है । तथा एक परमाणुमें भी अमर पर्यायिकात्मकता है, और काव्यके एक समयमें कुछ अनंत पर्यायिकात्मकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायिका है । एक पर्यायिका होनेसे वह द्रव्यत्व नहीं छूटता, तो फिर उसे अस्तिकाय-त्व माननेका विकल्प करना भी संभव नहीं है ।

२ मूक अल्पाधिक जीवोंका स्वरूप अल्पत सुख होनेसे, सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है तो भी पर्यवेक्षणसमुच्चय प्रथममें, जो ज्ञानमें ही प्रसिद्ध हुआ है, १७१ से १७१ पृष्ठतक उसका कुछ स्वरूप समझाया गया है । उसका विचारना हो सके तो विचार करना ।

३ अग्नि जपना दूसरे ज्ञानान्तर शब्दसे अप्रकाशिक मूक जीवोंका ज्ञान हो जाना संभव है ऐसा समझमें आता है । यहाँसे माय आदिकार्य होकर जो पानी ऊपर वातावरणमें वाष्पस्वरूपसे एकत्रित होता है वह माय आदिकार्य होनेसे अविष्ट मायत्व होता है, परन्तु वाष्पस्वरूप होनेसे वह फिरसे संचित हो जाता है । वही अग्निरूपसे जमीनपर पथमेपर भी वह संचित हो जाता है । मिट्टी आदिके सत्य मिश्रणसे भी वह संचित रह सकता है । सामान्यरूपसे मिट्टी अग्निके समान जलवाय शक्त नहीं है, इसलिये ऐसा हो तो भी उसका संचित रहना संभव है ।

४ जीव जलतक बोये जानेसे जलमेंही योग्यता रहता है तबतक निर्जीव नहीं होता, वह जलीव ही कहा जाता है । अमुक अवधिसे पश्चात् अर्थात् सामान्यरूपसे जीव (जल आदि) तीन वर्तित जीव रह सकता है । इसके जीवमें उसमेंही जीव अन्त भी हो सकता है, परन्तु उस अवधिसे

वीतनेके पश्चात् उसे निजीय अर्थात् निजीय हो जाने योग्य कहा है। कदाचित् उसका बीज जैसा आकार हो, मी परन्तु वह बीजसे उगनेकी सम्भवताविश्व हो जाता है। सभी बीजोंकी अवधि तीन बपकी नहीं होती, कुछ ही बीजोंकी होती है।

५. फ्रैच विद्वान्द्राष्ट्र खोज किये हुए यत्रकी विगतके बारेमें जो समाचार भेजा है, उसे धोखा है। उसमें उस यत्रका जो 'आत्माके देखनेका यत्र' नाम रक्खा है, वह यथार्थ नहीं है। ऐसा किसी भी दर्शनकी व्याख्यामें आत्माका समावेश नहीं हो सकता। हमने स्वयं भी उसे आत्माके देखनेका यत्र नहीं समझा है, ऐसा मानते हैं। तथापि 'उससे कार्माण अथवा तैजस शरीर दिखाई दे सकते हैं, अथवा कोई दूसरा ज्ञान हो सकता है,' यह ज्ञानकी तुम्हारी विज्ञाता माझूम होती है। परन्तु कार्माण अथवा तैजस शरीर भी उस तथ्यसे नहीं देखे जा सकते। किन्तु चक्षु, प्रकाश वह यत्र, मरने बाछेकी देह, और उसकी छाया अथवा किसी आमासविशेषसे पैदा होना समझ है। उस यत्रविषयक अधिक विवरण प्रसिद्ध होनेपर, यह बात पूर्णपर अधिकतर ज्ञानमें आयेगी।

हमारे परमाणुओंके दिखाई देनेके विषयमें भी उनका लिखनेकी अथवा देखे हुए स्वरूपकी व्याख्या करनेमें कुछ कुछ पर्याय-भेद माझूम होता है। हवास गमन करनेवाले किसी परमाणु स्वरूपका (व्यावहारिक परमाणु—कुछ कुछ विशेष प्रयोगसे जो छटिगोचर हो सकता हो) छटिगोचर होना समझ है, जमी उनकी अधिक कृति प्रसिद्ध होनेपर विशेष समाधान करना वास्तव माझूम होता है।

६३२

राज्य, आषण कटी १४ रवि १९५२

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होनेतक धृत्त्युकी नित्य समीप समस्तकर ही मनुषि करते हैं

प्रायः उत्पन्न किये हुए कर्मकी रहस्यरूप मति धृत्त्युके समय ही होती है। दो प्रकारके मान हो सकते हैं—एक तो कथित, दोहा ही, परिचित होनेपर परमार्थरूप मान; और दूसरा नित्य परिचित निज रूपमा आदि मानसे कृष्टि-धर्मका ग्रहणरूप मान। सहिचारसे यथार्थ आत्मदृष्टि अथवा वास्तविक उन्मत्तमता तो सब जीवसमूहको देखनेपर, किसी किसी विरले जीवको ही कथित कथित होती है; और दूसरा जो अनादि परिचित मान है, वही प्रायः सब जीवोंमें देखनेमें आता है; और देखत होनेके प्रसंगपर भी उसीका प्राक्क्य देखा जाता है, ऐसा जानकर धृत्त्युके समीप आनेपर विचारवान पुरुष तथाकृत परिणति करनेका विचार छोड़कर पहिलेसे ही उस क्रममें रहता है। हम स्वयं भी ब्रह्म क्रियाक विभिन्न-भिन्नके आत्मज्ञको निदर्शनवत् करके, अथवा उसमें अंतर्परिणामस उदासीन होकर देह और तद्विषयक सबभक्त बारम्बारका विज्ञेय छोड़कर यथार्थ आत्मभावके विचार करनेका लक्ष्यमें रहता तो ही साधकता है। अन्तिम अवसर आत्मपर अन्तःकरण आदि संस्तर आदि, अथवा मन्त्रेन । आदि क्रियाये कथित करने या न मी कने ता मी जो जीवको ऊपर कहा है, वह मान जिसके काम उनका रूप सफल है और वह क्रमसे नि धियसुकी प्राप्त होता है।

तुमको बाध किया जायिके कितने ही कारणोंसे विशेष विधि-निषेधका बन्ध देखकर हमें खेद होता था कि इसमें कुछ व्यतीत होनेसे आत्मात्मा कितनी स्वरूप स्थिति को खेद करती है, और वह किस पदार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है कि तुम्हें उसका इतना अधिक परिचय लेना कारण मान्य नहीं होता। सहजमात्र ही जिसमें उपयोग लयाया हा ता वह किसी तरह ठीक कहा जा सकता है, परन्तु उसमें जो समझ आगति-कायका अधिक माग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किस द्विये ? और उसका क्या परिणाम है ? वह क्यों तुम्हारे ध्यानमें नहीं आता ? इस विषयमें कश्चित् कुछ प्रेरणा करनेकी इच्छा हुई है किन्तु तुम्हारी तपास्म कवि और स्थिति न देखनेसे प्रेरित करते करते हृदिको संकुचित कर दिया है। अभी भी तुम्हारे चित्तमें इस बातको अवकृता देने योग्य अस्तर है। खोम अपनेको विचारवान् बतवा सम्पद्यति समर्थ, कबल उससे कल्याण नहीं है, अथवा बन्ध व्यवहारके अनेक विधि निषेध करनेके माहुर्यमें भी कुछ कल्याण नहीं है ऐसा हमें तो लगा है। यह कुछ लक्ष्यिक हृदिये सिखा है अथवा इसमें और कोई हेतु है, विचारको स्नेहकर जो कुछ उन बचनोंसे अतर्मुल्लङ्घित होनेकी प्रेरणा हो उसे करनेका विचार रखना ही सुविचार-वृत्ति है।

‘श्लेष-समुदाय कोई मध्य होनेवाला नहीं है अथवा स्तुति-निन्ताके प्रयत्नके द्विये विचारवान्को इस देहकी प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है। बाध कियाकी अतर्मुल्लङ्घित विधि-निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। गच्छ जायिके मेदका निर्बाह करनेमें, माना प्रकाशके विकल्प सिद्ध करनेमें, जानाको आवरण करनेके बराबर है। अनेकविक्रम मार्ग भी सम्पत् एकाग्र निबन्धकी प्राप्ति करनेके सिवाय दूसरे किसी रूप हेतुसे उपकारक नहीं है।’ ऐसा समझकर जो सिखा है वह केवल अनुकंपा बुद्धिसे, निष्प्रयत्नसे निष्कप्यमात्रसे अदममात्रसे, और हितके द्विये ही सिखा है—परि तुम पदार्थ विचार करोगे तो यह हृदियोग्य होगा और यह बचनके ग्रहण अथवा प्रेरणाके होनेका कारण होगा।

६३३

ध्यान मात्रपद सुदी ८ १९५२

१ प्रश्न — प्राय करके सभी मार्गमें मनुष्यमनको मोक्षका एक साधन मानकर उसका बहुत ब्यान किया है, और जीवनको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् जिससे उसकी वृद्धि हो, उस तरह बहुतसे मार्गमें उपदेश किया मान्य होता है। विमोक्ष मार्गमें जैसा उपदेश किया मान्य नहीं होता। वेदोक्त मार्गमें अपुनकी गति नहीं होती इत्यादि कारणोंसे तथा चार आश्रमोंका क्रम-पूर्वक विचार करनेसे जिससे मनुष्यकी वृद्धि हो जैसा उपदेश किया हुआ हृदियोग्य होता है। विमोक्ष मार्गमें उससे उक्त ही देखा जाता है अर्थात् जैसा न करते हुए, जब कभी भी जीवनको वैराग्य हो जाय तो संसारका त्याग कर देना चाहिये—ऐसा उपदेश देखनेमें आता है। इससे बहुतसे श्रेयोवैराग्य गृहस्थाश्रमका ग्रहण किंचि विना ही त्यागी हो जाना और उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाता संभव है क्योंकि उनके अप्यामसे जो कुछ उनके सनातनस्थितिकी समाधाना रहती वह अब न होगी और उससे बँधके मात्र होने जैसा हो जायगा। इससे दुर्बल मनुष्यमनको जो मोक्षका साधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिये निगमग्रन्थका जैसा अभिप्राय कसे हो सकता है।

उत्तर — भौतिक और अजैविक (ओकोतर) दृष्टिमें महान् भेद है, अथवा ये दोनों दृष्टियों ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली हैं। भौतिक दृष्टिमें व्यवहार (सांसारिक कारण) की मुख्यता है, और अजैविक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है। इसलिये अजैविक दृष्टिको भौतिक दृष्टिके फलके साथ प्रायः (बहुत करके) मिला देना योग्य नहीं।

जैन और दूसरे सभी मार्गमें प्रायः मनुष्य देहका जो विशेष महत्त्व बताया है, अर्थात् मोक्षके साधनका कारणरूप होनेमें उसे जो चिन्तामणिके समान कहा है, वह सत्य है। परन्तु यदि उससे मोक्षका साधन किया हो, तो ही उसका यह महत्त्व है, नहीं तो वास्तविक दृष्टिसे पशुके देह बितनी भी उसकी कीमत मान्य नहीं होती।

मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना, यह विचार मुख्यरूपसे भौतिक दृष्टिको है। परन्तु उस देहको पाकर अवश्य मोक्षका साधन करना, अथवा उस साधनका निश्चय करना, मुख्यरूपसे यही विचार अजैविक दृष्टिको सम्पन्ना चाहिये। अजैविक दृष्टिमें मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना यह जो नहीं बताया है, उससे उसमें मनुष्य आदिके नाश करनेका आशय है, ऐसा न समझना चाहिये। भौतिक दृष्टिमें तो युद्ध आदि अनेक प्रसंगोंमें हजारों मनुष्योंके नाश हो जानेका समय आता है, और उसमें बहुतसे जंग वधोद्दिष्ट ही जाते हैं; किन्तु परमार्थ अर्थात् अजैविक दृष्टिमें ऐसा कार्य नहीं होता, जिससे प्रायः वैसा होनेका समय आवे। अर्थात् इस जगह अजैविक दृष्टिसे निर्वैराग्य, अविरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंकी रक्षा और उनके वंशकी मौजूदगी, वह स्वतः ही बन जाता है और मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करनेका भिन्नका हेतु है ऐसी भौतिक दृष्टि, उन्हीं उस जगह वैर, विरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश और उन्हें वधोद्दिष्ट करनेवाली ही होती है।

अजैविक दृष्टिको पाकर, अथवा अजैविक दृष्टिके प्रभावसे, कोई भी मनुष्य छेनी अवस्थामें त्यागी हो जाय, तो उससे जिसने गृहत्याग्नम ग्रहण न किया हो उसके वंशका, अथवा जिसने गृहत्याग्नम ग्रहण किया हो और पुत्रकी उत्पत्ति न हुई हो उसके वंशका नाश होनेका समय आना समझ है, और उतने ही मनुष्योंका कम उत्पन्न होना समझ है; जिससे मोक्ष-साधनके हेतुभूत मनुष्य देहकी प्राप्तिके रोक्ने वैसा हो जाय। किन्तु यह भौतिक दृष्टिसे ही योग्य हो सकता है, परमार्थ दृष्टिसे तो वह प्रायः करके कल्पनामात्र ही लगता है।

कल्पना करो कि किसीने पूर्वमें परमार्थ मार्गका आराधन करके यहाँ मनुष्यमय प्राप्त किया हो, और उसे छोटी अवस्थासे ही त्याग-वैराग्य तीव्रतासे उदयमें आते हों तो ऐसे मनुष्यको सत्तानकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् त्याग करनेका उपदेश करना अथवा उसे आश्रमके क्रममें रखना यह यथार्थ नहीं मान्य होता। क्योंकि मनुष्य देह तो केवल बाह्य दृष्टिसे अथवा अपेक्षारूपसे ही मोक्षकी साधनभूत है, मूढकारसे तो यथार्थ त्याग-वैराग्य ही मोक्षका साधन समझना चाहिये। और जैसे कारणोंके प्राप्त करनेसे मनुष्य देहकी मोक्ष-साधकता सिद्ध नहीं होती, फिर उन कारणोंके प्राप्त होनेपर उस देहसे भोग आदिमें पड़नेकी मान्यता रखना, यह मनुष्य देहको मोक्षके साधनरूप करनेके बराबर कहा जाय, अथवा उसे स्वयंके साधनरूप करनेके बराबर कहा जाय, यह विचारणीय है।

बेदोक्त मार्गों को चार आश्रमों की व्यवस्था की है, वह एकतरफ़ से नहीं है। वामदेख, छत्रदेख, बड़भरतजी इत्यादि आश्रमों के क्रम बिना ही त्यागरूप से बिचरे हैं। जिससे बेसा होना अशक्य हो, वे परिणाम में यथार्थ त्याग करनेवाले छत्र रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्य रीति से ठीक है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु आश्रमों ऐसी क्षणमगुरता है कि बेसा क्रम भी किसी निरुद्धको ही प्राप्त होनेका अवसर आता है। कदाचित् किसी जायु प्राप्त हुई भी हो, तो किसी वृत्ति से अर्थात् कैसे परिणाम में यथार्थ त्याग हो सके, ऐसा छत्र रखकर प्रवृत्ति करना तो किसी किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गों का भी ऐसा एकतरफ़ सिद्धांत नहीं कि चाहे जिस अवस्थामें चाहे जिस मनुष्यको त्याग कर देना चाहिये। तपाक्रम उत्सव और सङ्गुणिके योग होनेपर, उस आश्रम से किसी पूर्विक उत्सवरात्रा अर्थात् निवेद्य वैराग्यभाव पुङ्गव, गृहस्थाश्रमके प्रवृत्ति करनेके पहिले ही त्याग कर दे, तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धांत प्राप्त करता है। क्योंकि अपूर्व साधनोके प्राप्त होनेपर भी योग आदि के योगनेके विचारमें पड़ना, और उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करके, अपनेको प्राप्त आश्रम-साधनको गुना देने बैसा करना, और अपनेसे जो संतति होगी वह जो मनुष्यदेह पावगी वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथमात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यमत्तकी उत्तमता दूर करके उसे पतुष्ट करनेके ही समान है।

इन्द्रियों आदि जिसकी संतति नहीं हुई, और ज्ञानी-पुरुषकी दृष्टिमें जो अभी त्याग करने योग्य नहीं, ऐसे किसी मर जपना मोक्ष-वैराग्यवान् जीवको त्याग देना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धांत कुछ एकतरफ़ से नहीं है। तथा प्रथमसे ही जिसे उत्तम उत्सवपुङ्गव वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् त्यागका परिणाम में छत्र रखकर आश्रमपूर्वक आचरण करे, तो उसने एकतरफ़ से गूढ़ ही की है, और उसने त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धांत नहीं है। केवल मोक्षके साधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस अवसरको गुना न देना चाहिये यही जिनमन्त्रवाक्यका उपदेश है।

उत्तम उत्सवरात्राके पुङ्गव गृहस्थाश्रम लिये किया ही त्याग कर दें तो उससे मनुष्यकी वृत्ति रुक जाय, और उससे मोक्ष-साधनके कारण भी रुक जाय यह विचार करना अल्प दृष्टिसे ही योग्य मान्य हो सकता है। किन्तु तपाक्रम त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर मनुष्य देहकी सफ़लता होनेके लिये उस योगका अग्रमत्तरूपसे, बिना विचारके काम प्राप्त करना यह विचार तो पूर्वपर अविकल्प और परमार्थ दृष्टिसे ही सिद्ध कहा जा सकता है। जायु सम्पूर्ण होगी और अपने संतति हों तो वे अरु मोक्षका साधन करेंगी यह निश्चय कर तथा संतति होगी ही यह मानकर और पीछेसे ऐसेका ऐसेही त्याग प्रवृत्ति होना ऐसे मनुष्यकी कल्पना कर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौन विचारवान् एकतरफ़ से योग्य समझेगा ? अतएव अपने वैराग्यमें जिसे मद्धता न हो और ज्ञानी-पुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हों उसे दूसरे मनोरथमात्र कारणोंके जपना अनिश्चित कारणोंके विचारको छोड़कर, निश्चित और प्राप्त उत्तम कारणोंका आश्रय करना, यही उत्तम है और यही मनुष्यमत्तकी सार्थकता है; बाकी वृत्ति आदिको तो बचल कल्पनामात्र है। सबे मोक्षके मार्गका नाम कर मात्र मनुष्यकी वृत्ति कर नेकी कल्पना करने बैसा करें तो यह होना सरल है।

तथा जिस तरह हाथमें पुत्रोत्पत्तिके लिये इस एक पुरुषको इकना पड़े बैसा ही उसे (होमवाक्य

पुत्रको) भी रुकना पड़े, उससे तो किसीको भी उत्कृष्ट त्यागरूप मोक्ष-साधनके प्राप्त होनेका संयोग न जाने देने जैसा ही होता है।

तथा जब किसी किसी उत्तम संस्कारवान् पुरुषोंके गृहस्थाश्रमके पहिलेके त्यागसे ब्रह्मचर्यके रोक-नेके विचारको छेते हैं, तो जैसे उत्तम पुरुषके उपदेशसे, अनेक जीव जो मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश करते हुए नहीं बरते हैं, वे उपदेश प्राप्त करके वर्तमानमें उस तरहसे मनुष्य आदिका नाश करते हुए क्यों नहीं रुक सकते, तथा झुमझुटिके प्राप्त करनेसे फिरसे वे मनुष्यमय क्यों नहीं प्राप्त कर सकते? और इस रीतिसे तो मनुष्यकी रक्षा और वृद्धि होना ही समभव है।

जैविक दृष्टिसे तो मनुष्यकी हानि-वृद्धि आदिका विचार मुख्य नहीं है, कल्याण-अकल्याणका ही विचार मुख्य है। जैसे कोई राजा यदि जैविक दृष्टि प्राप्त कर ले तो वह अपने मोहसे हजारों प्राणि-योंके युद्धमें नाश होनेके हेतुको देखकर, बहुत बार बिना कारण ही उसे युद्ध न करे, जिससे बहुतसे मनुष्योंका बचान हो और उससे बड़ाकी वृद्धि होकर बहुतसे मनुष्य बड़े जाँय, यह भी विचार क्यों नहीं किया जा सकता?

इत्यादि अनेक प्रकारसे विचार करनेसे जैविक दृष्टि दूर होकर जैविक दृष्टिसे विचारकी जागृति होगी।

(इत्यादि अनेक कारणोंसे परमार्थ दृष्टिसे जो बोध किया है, वही योग्य माह्न होता है। इस प्रकारके प्रयोचरमें विशेष करके उपयोगको प्रेरित करना कठिन होता है, तो भी संक्षेपमें जो कुछ लिखना बना है उसे उद्गारणाकी तरह करके लिखा है।)

जबतक बने जबतक हानि-मुखके बचनोंको जैविक आशयमें न उतारना चाहिये। अथवा जैविक दृष्टिसे ही विचार करना योग्य है। और जबतक बने जबतक जैविक प्रयोचरमें भी विशेष उपकरणके बिना पढ़ना योग्य नहीं, जैसे प्रसंगोंसे कितनी ही बार परमार्थ दृष्टिके शोभ प्राप्त करने जैसा परिणाम आता है।

२. बड़े बड़े अथवा पीपलकी पीपलकी कुछ उनके बंशकी वृद्धिके करनेके हेतुसे, उनके रक्षणके हेतुसे, उन्हें अमर कहा है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु उनमें कोमलता होती है, इसलिये उनमें अमरत्वका होना समभव है, तथा उसके बड़े बड़े बहुतसी बीजोंसे निष्पापकपसे रखा जा सकता है, फिर भी उसके अग्राकार करनेकी इच्छा रखना, यह वृष्टिकी तुच्छता होती है, इस कारण इन्हें अमर कहा है, यह यथार्थ माह्न होता है।

३. पानीकी किन्तुमें असह्यता जीव है यह बात ठीक है। किन्तु ऊपर कहे अनुसार जो बड़े बड़े बौरहके कारण है वे कारण इसमें नहीं हैं, इस कारण उसे अमर नहीं कहा। यद्यपि जैसे पानीके क्षममें डेनेकी भी आवा है, ऐसा नहीं कहा; और उससे भी अमुक पाप होना ही समभव है, ऐसा उपदेश किया है।

४. पहिलेके पत्रमें जीवके सचित्त-अचित्तके संबन्धमें समाधान लिखा है, उसे किसी विशेष हेतुसे

इस किया है। परंपरा रूढ़ि के अनुसार शिक्षा है फिर भी उसमें जो कुछ कुछ विशेष भेद सम्मिलित है उस नहीं शिक्षा। शिक्षने योग्य न समझनेसे उसे नहीं शिक्षा। क्योंकि वह भेद कष्ट विषय है और उसमें कुछ उस तरहका उपकार गर्मित हुआ नहीं जान पड़ता।

५. नाना प्रकारके प्रदोषरोंका बख्श एक मात्र अपायार्थके किये हो, तो आह्मसाक्ष बहुत उपकार समझ हो।

६३४ सप्तमीर्षिके पास बचका मात्र सुदी ११ शुक्र १९५२

सहजहमसम्पत्ते यथायोग्य पौर्वि ।

तीस पत्र मिले हैं। 'कुछ भी इति रोक्ठे हुए विशेष अभिमान रहता है'। तथा 'दृष्टाके वचनेसे उसमें बह जाते हैं और उसकी गतिसे रोक्ठेकी सामर्थ्य नहीं रहती,' इत्यदि तथा क्षमापना और कर्कशी उल्लासीके योगवासिष्ठके प्रसङ्गकी, जगत्का भ्रम दूर होनेका किये, शेषता' स्थिती, उसे पढ़ी है। इसमें शिक्षनेमें विशेष उपयोग नहीं रह सकता, इससे पक्की भी शिक्षनेसे रह जाती है। सद्योपमे उन पत्रोंका उत्तर निम्नरूपसे विचारने योग्य है।

१. इति आदिकी म्यूनता अभिमानपूर्वक होती हो तो करना योग्य है। विशेषता इतनी है स अभिमानपर निरन्तर के रहना हो सके तो कमपूर्वक इति आदिकी म्यूनता हो सकती है, उत्तरांभी अभिमानका भी म्यून होना समझ है।

२. अनेक स्वर्णपर विचारवान पुढोर्षिने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, दुष्टा मात्र निर्मूल हो जाते हैं, वह सत्य है। फिर भी उन बचनोंका ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान पूर्व के मन्त्र न पढ़ें अपना काम न हो। यद्यपि उनका समूह केवल वा ज्ञानके हाथ ही होता है जबतक कृपा आदिकी मंदता अपना म्यूनता न हो जबतक प्रायः करके ज्ञान उत्पन्न ही नहीं। ज्ञान प्राप्त होनेमें विचार मुख्य साधन है। और उस विचारके वैराग्य (मोहके प्रति अना-) तथा उपवास (कृपा आदिकी अत्यन्त मंदता, उसके प्रति विशेष केर) ये दो मुख्य आधार ऐसा आलस्य उत्पन्न निरन्तर बख्श रहकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सपुत्रकके बचनके यथार्थ म्हाण किये बिना प्रायः करके विचारका उद्भव नहीं होता। और तबके बचनका यथार्थ म्हाण—सपुत्रककी प्रतीति—यह कल्पान होनेमें सर्वोत्कृष्ट निमित्त होनेसे अनन्य आत्म-मति परिणमित होनेसे होता है। प्राय करके ये दोनों परस्पर अन्योन्यात्मके हैं। कहीं किसीकी मुख्यता है, और कहीं किसीकी मुख्यता है, फिर भी ऐसा तो अनुभवमें आता है जो सदा मुमुक्षु हो उसे सपुत्रककी आत्ममति, आह्मत्व आदि का केन करनेके किये और काममें विचारदृष्टाके फलीमूल होनेके किये उत्कृष्ट कारणरूप होती है।

मोहमें बनासक्ति हो तथा बीजिक विशेषता दिखानेकी शक्ति कम की जाय, तो दुष्टा निर्मूल जाती है। यदि बीजिक मात्र आदिकी दुष्टता समझमें आ जाय तो उसकी विशेषता मात्रम् , और उससे उसकी इच्छा उत्पन्न हो जाय, ऐसा यथार्थ मात्रम् होता है। बहुत ही

कठिनतासे आजीविका चखती है। तो भी मुमुक्षुको वह बहुत है। क्योंकि विशेषका कुछ आवश्यक उपयोग (कारण) नहीं है—ऐसा जबतक निश्चय न किया जाय, तबतक तुम्हा नाना प्रकारसे आश्रय किया हो करती है। औक्तिक विशेषतामें कुछ सारगर्भता नहीं है, यदि ऐसा निश्चय करनेमें आ जाय, तो मुद्रिकसे आजीविका जितना मिछता हो तो भी तृप्ति रह सकती है। मुद्रिकसे आजीविका जितना नहीं मिछता हो, तो भी मुमुक्षु जीव प्राय करके आर्तभ्यान होने नहीं देता, अथवा होनेपर उसपर विशेष खेद करता है, और आजीविकामें निरुद्य होता हुआ भी यथावर्ष उपार्जन करनेकी मंद कल्पना करता है, इत्यादि प्रकारसे बर्ताव करते हुए तुम्हाका परामर्श क्षीण होने योग्य मान्य होता है।

१. प्राय व्यापारिक साधन भी सत्पुरुषके बचनको आत्मज्ञानका हेतु होता है, क्योंकि 'परमार्थ आत्मा' धात्रमें रहती नहीं, सत्पुरुषमें ही रहती है। यदि मुमुक्षुको किसी सत्पुरुषका आश्रय प्राप्त हुआ हो तो प्राय ज्ञानकी याचना करनी योग्य नहीं; मात्र तपास्वरूप वैराग्य, उपवास आदि प्राप्त करनेका उपाय करना ही योग्य है। उसके योग्य प्रकारसे सिद्ध होनेपर ज्ञानीका उपदेश सुखम होता है, और वह यथार्थ विचार तथा ज्ञानका हेतु होता है।

२. जबतक कम उपाधियुक्त क्षेत्रमें आजीविका चखती हो तबतक विशेष प्राप्त करनेकी कल्पनासे मुमुक्षुको, किसी एक विशेष अजौक्तिक हेतुके बिना, अधिक उपाधियुक्त क्षेत्रमें जाना योग्य नहीं, क्योंकि उससे बहुत सी सद्वृत्तियाँ मंद पड़ जाती हैं, अथवा रुद्धिगत ही नहीं होती।

५. योगवासिष्ठके पहिलेके दो प्रकरण और उस प्रकारके मंत्रोंका मुमुक्षुको विशेष करके अध्ययन करना योग्य है।

६३५

मत्सरग्र आत्मा होनेवाले ज्ञानके विषयमें प्रथम बन्धु पत्र मिठा था। इसमें उस विपकी विगतका यहाँ दूसरा पत्र मिठा है। वह सब ज्ञान होना समझ है ऐसा कहनेमें कुछ कुछ समझके भ्रमसे व्याख्या भ्रम होता है। श्री का तुम्हें समागत है, ता उनके हाथ उस मार्गका यथाशक्ति विशेष पुरुषार्थ होता हो तो करने योग्य है। वर्तमानमें उस मार्गके प्रति हमारा विशेष उपपाय रहता नहीं। तथा पत्रद्वारा उस मार्गका प्राय विशेष उक्त बताया जा सकता नहीं।

आत्माकी कुछ कुछ उच्छ्रितताके विषये उसका अस्तित्व तथा माहात्म्य आदि प्रतीतिमें आनेके विषये, तथा आत्मज्ञानके अधिकारी होनेके विषये वह साधन उपकारी है। इसका विचार प्राय दूसरी तरह उपकारी नहीं; इतना कुछ अवश्य रखना योग्य है।

६३६

राज्य, मादय १०५२

बेन्सनकी पदविसे देखनेपर सम्पन्न, और बेन्सनी पदविसे देखनेपर हमें केवलज्ञान समझ है।

चैनमार्गमें जो केन्द्रज्ञानका स्वरूप दिखा है, उसे उसी तरह समझना मुश्किल होता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीमें नियोज किया है, जिससे तात्संबंधी प्रयत्न करना भी संभव नहीं मान्य होता। चैन समागममें हमारा अधिक भिन्नता हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसेके द्वारा विरोधरूपसे हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषरूपसे समझने वाला है, हृदयदि। वर्तमानमें चैनमार्गमें इतनी अधिक अव्यवस्थित व्यवस्था विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मालो त्रिनमगणनाका $\times \times \times$ पता गया है, और छोटा मार्ग प्रकटित करते हैं। बड़ा मापानकी बहुत बड़ा दी है, और अंतमार्गका ज्ञान प्रायः बिच्छेद पैदा हो गया है। बेदोख मार्गमें तो दोस्रो चारसौ वर्षोंसे कोई कोई महान् आचार्य हुए भी देखनेमें आते हैं, जिससे लाखों मनुष्योंको बेदोख पद्धतिकी आगुति हुई है तथा साधारणरूपसे कोई कोई आचार्य कथना उस मार्गकि ज्ञाननेवाले भेद पुरुष इसी तरह होते रहते हैं; और चैनमार्गमें बहुत वर्षोंसे पैदा हुआ मान्य नहीं होता। चैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी ही बाकी रही है, और उसमें भी संकटों भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूकमार्गकि सम्मुख होनेकी बात भी उनके कर्ममें नहीं पड़ती, और वह उपदेशकके भी कर्ममें नहीं—ऐसी स्थिति हो रही है। इस कारण चित्तमें ऐसा आया करता है कि जिससे उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो पैदा करना नहीं तो उसमें रहनेवाली समस्याको मूकमार्गरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत कठिन है। तथा चैनमार्गको स्वयं चित्तमें उतारना तथा समझना कठिन है। उसे चित्तमें उतारते समय बहुतसे कारण मार्ग-प्रतिकूल हो जाय, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्तिको करते हुए हर मान्य होता है। उसके साथ साथ यह भी होता है कि यदि यह कार्य आकाशमें हमारेसे कुछ भी बने तो बन सकता है नहीं तो हाथमें तो मूकमार्गकि सम्मुख होनेके लिये किसी दूसरेका प्रयत्न काममें आते, ऐसा मान्य नहीं होता। प्रायः करके मूकमार्ग दूसरे किसीके कर्ममें ही नहीं है। तथा उस हेतुके दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें परमसुख आदि गुण आवश्यक हैं। इसी तरह बहुतसे अवतरण गुणोंकी भी आवश्यकता है। वे नहीं मीठ हैं, ऐसा स्वरूपसे मान्य होता है।

इस रीतिसे यदि मूकमार्गको प्रयत्नरूपमें करना हो तो प्रगट करनेवालेको सर्वसमाज परिपालना करना योग्य है क्योंकि उससे वास्तविक समर्थ उपकार होनेका समय आ सकता है। वर्तमान दशाको देखते हुए सत्ताके कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए, कुछ समय पश्चात् उसका उदयमें आना समझ है। हमें स्वयं-स्वरूप ज्ञान है जिससे योग-साधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उत्तम प्रवृत्ति नहीं की; तथा वह सर्वसमा-परिपालनामें व्यवस्था विस्तृत देश-परिपालनामें साधन करने योग्य है। इससे योगोक्त बहुत उपकार होता है; जबकि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानके बिना इसका कुछ नहीं है। हाथमें हो वर्तमान तो यह योग-साधन विशेषरूपसे उदयमें आते पैदा दिखाई नहीं देता। इस कारण इसके बारके समर्थकी कल्पना की जाती है, और तीनोंसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत करनेमें आते तो १६ में वर्ष सर्वसमा-परिपालना उपदेशरूपका समय आ सकता है और योगोक्त कल्याण होता हो तो वह हो सकता है।

छोटी उन्नति मार्गका उद्धार करनेके संबंधमें आभिजापा थी । उसके पश्चात् ज्ञान-दशाके आने पर क्रमसे यह उपशम जैसी हो गई । परन्तु कोई कोई भोग परिषयमें आये, उन्हें कुछ विशेषता प्राप्त होनेसे उसका कुछ मूढमार्गपर खड़ा आया, और इस ओर तो सबको और हटारें मनुष्य-मात्रमें आये, जिनमेंसे कुछ समझवाले तथा उपदेशकोंके प्रति आस्थावाले ऐसे सौ-एक मनुष्य निकले । इसके ऊपरसे यह देखनेमें आया कि भोग पार होनेकी इच्छा करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उन्हें वैसा संयोग नहीं मिलता । यदि सबे सबे उपदेशक पुरुषका संयोग मिले तो बहुतसे जीव मूढमार्गको पा सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत होना समझ है । ऐसा माझूस होनेसे कुछ भेषमें आता है कि यदि इस कार्यको कोई करे तो अच्छा है । परन्तु यदि वास्तवसे बसा को पुरुष ध्यानमें नहीं आता । इसलिये कुछ सिखनेवालेकी ओर ही रुचि जाती है, परन्तु सिखनवाला जन्मसे ही यह इस तरहका रहा है कि इन पदके समान एक भी जोखम-भरा पद नहीं है, और जहाँतक उस कार्यकी, अपनी जैसी चाहिये वैसी योग्यता न रहे, वहाँतक उसकी इच्छामात्र भी न करनी, और अन्य अवतक उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें आर्य है । मार्गका घोड़ा बहुत स्वल्प भी किसी किसीको समझाया है, फेर भी किसीको एक ब्रत—पञ्चस्नातक—भी दिया नहीं, अपना तुम मेरे शिष्य हो, और हम गुरु हैं, यह मेद प्राप्त प्रदर्शित किया नहीं । कहनेका अभिप्राय यह है कि सर्वसंग-परित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज-स्वभावसे उत्पन्न होने तो करनी चाहिये, ऐसी ही मात्र कल्पना है ।

(२) उसका सचा सत्वा आश्रय नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञान-ममात्र रहता है, इससे कभी कभी यह वृत्ति उठती है, अपना अन्त्यासे ही अगमें वह वृत्ति है, फिर भी वह स्वार्थन है । हम समझते हैं कि यदि उस तरह सर्वसंग-परित्याग हो तो हमारे भोग उस मूढमार्गको प्राप्त करें । और हटारें भोग उस समार्गका आग्रहण कर सज्जितके पार्श्व, ऐसा हमारेसे होना समझ है । हमारे समीप त्याग करनेके स्थिति अनेक जीवोंकी वृत्ति हो, ऐसा अगमें त्याग है ।

धर्म स्थापित करनेका मान बढ़ा है । उसकी स्पृहासे भी कश्चित् ऐसी वृत्ति रह सकती है, परन्तु अहमको अनेक बार देखनेपर उसकी समझता, इस समयकी दशामें कम ही माझूस होती है । और वह कुछ कुछ सचमें रही होगी तो वह भी क्षीण हो जायगी, ऐसा अवश्य माझूस होता है । क्योंकि जैसी चाहिये वैसी योग्यताके बिना देह छूट जाय, वैसी यह कल्पना हो, तो भी मार्गका उपदेश करना नहीं, ऐसा अहम-निश्चय नित्य रहता है । एक इस बखान कारणसे ही परिमल आदिके त्याग करनेका विचार रखा करता है । मेरे मनमें ऐसा रहता है कि यदि केनेक धर्मका प्रकाशन करना अपना स्थापित करना हो तो मेरी दया पयायोग्य है, परन्तु जिनके धर्म स्थापित करना हो तो अभी इतनी योग्यता नहीं, तो भी विशेष योग्यता है, ऐसा माझूस होता है ।

६३७

(१)

हे नाथ ! या ता धर्मोन्नति करनेका इच्छाका सहजभावसे समाधान हो, ऐसा हा जाय, अपना यह इच्छा अवश्य कार्यरूप परिणत हो जाय !

उसका कार्यरूप होना अक्षय बहुत दुष्कर माध्यम होता है । क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें भी बहुत मठभेद है, और उसका मूक बहुत गहरा है । मूकमार्गसे लोग काखों कोसे दूर हैं । इत्यादि मही, परन्तु उन्हें यदि मूकमार्गकी विज्ञानता उत्पन्न करानी हो, तो भी बहुत कामका परिचय होनेपर भी, वह होनी कठिन पड़े, ऐसी उनकी दुरावस्था आदिसे जबप्रभाव पड़ा रहती है ।

(२)

उभयसिद्धि साधनोंकी स्मृति करता हूँ —

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूकमार्गके अनुसार अगह अगह हो ।

अगह अगह मठभेदसे कुछ भी कल्पना नहीं, यह बात फैले ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आकांक्षे ही बर्ण है यह बात ठकुरों आने ।

इत्थानुयोग—आत्मविद्याका—प्रकाश हो ।

स्वामि बैराग्यकी विशेषतत्पूर्वक साधु लोग विचरे ।

नवतत्त्वप्रकाश

साधुधर्मप्रकाश

आत्मकधर्मप्रकाश

समूहपदार्थ-विचार,

बाह्य बातोंकी अनेक जीवोंको प्राप्ति

६३८

ॐ

बबबा मङ्गल सुदी १५ ऐमा १९५२

(ज्ञानकी अपेक्षासे) सर्वव्यापक सविधानन्द ऐसी में आत्मा एक हूँ—ऐसा विचार करना—
ध्यान करना ।

निर्मल, अत्यन्त निर्मल परम शुद्ध चैतन्यधन, प्रगट आत्मस्वरूप है ।

सब कुछ पट्टते घटते जो अवाच्य अनुभव रहता है, वही आत्मा है ।

जो सबको जानती है वह आत्मा है ।

जो सब भावोंका प्रकाश करती है वह आत्मा है ।

उपयोगमय आत्मा है ।

अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है ।

आत्मा है । आत्मा अत्यन्त प्रगट है क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है ।

अनुरक्त और अमयिनिस्वरूप होनेसे आत्मा निरूप है ।

आत्मिकपद परमादिक कर्ता है ।

उत्तरे कलक ' मोक्ष है ; मान होमेपर ' स्वभाव परिणामी है ।

सर्वा स्वभाव-परिणाम वह माध है ।

सद्गुरु सत्यं सदाशिव, सद्गुरु और सत्य आदि ' उसके साधन हैं ' ।

आत्मोपेक्षासे अगाध निर्वाणतकके पद सबे हैं—अर्थात् सबे हैं, क्योंकि ये प्रगट अनुभवमें आते हैं ।

आतिरूपसे आत्माके परमात्मका कर्त्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है । कर्मके फल होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगता है । इसलिये उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभतक अनाधिक पर्याप्त भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है ।

निजस्वभाव ज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज-स्वभावसे, निर्विकल्परूपसे जो आत्मा परिणमन करती है, वह 'केवलज्ञान' है ।

तथाकृम प्रतीतिभावसे जो परिणमन करे, वह 'सम्पत्त्य' है ।

निरन्तर बड़ी प्रतीति रखा करे, उसे 'व्यापिक सम्पत्त्य' कहते हैं ।

कचित् न, कचित् तीव्र, कचित् बिस्मरण, कचित् स्मरणरूप इस तरह प्रतीति रहे, उसे 'उपोपशम सम्पत्त्य' कहते हैं ।

उस प्रतीतिको जबतक सत्तागत आवरण उदय नहीं आया, तबतक उसे 'उपशम सम्पत्त्य' कहते हैं ।

आत्माको जब आवरण उदय आवे, तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़ती है, उसे 'सालादन सम्पत्त्य' कहते हैं ।

अत्यंत प्रतीति होनेके योग्य जहाँ सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना जाती रखा है, उसे 'वेदक सम्पत्त्य' कहते हैं ।

तथाकृम प्रतीति होनेपर अन्य भावसंबन्धी अह-मत्त्व आदि ईर्ष्या, शोक, क्रम क्रमसे क्षय होते हैं । मूलरूप योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रिकी आत्मावधान करता है, वह सिद्धि पाता है और जो स्वकृम-स्थिरताका सेवन करता है, वह स्वभाव स्थितिको प्राप्त करता है ।

निरन्तर स्वरूप-ज्ञान, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव, अन्तरात्म्य क्रमके क्षय होनेपर प्रगट होते हैं ।

जो केवल स्वभाव-परिणामी ज्ञान है, वह केवलज्ञान है । ॐ सविदानन्दाय नमः ।

६३९

आनन्द मास बनी १२ रवि १९५२

पत्र मिला है । " मनुष्य आत्मा प्राणियोंकी वृद्धि " के सम्बन्धमें तुमने जो प्रश्न किया था, वह प्रश्न जिस कारणसे किया गया था, उस कारणको प्रश्न मिछनेके समय ही सुना था । ऐसे प्रश्नसे विशेष आश्चर्य सिद्ध होता नहीं जयथा नृणा कावक्ष्येय जैसा ही होता है । इस कारण आश्चर्यके प्रति कुछ होनेके लिये, तुम्हें उस प्रकारके प्रश्नके प्रति जयथा उस तरहके प्रश्नोंके प्रति उदासीन रहना ही योग्य है, यह सिद्ध था । तथा यहाँ उस तरहके प्रश्नके उत्तर लिखने जैसी प्रायः वर्तमानमें दशा रहती नहीं, ऐसा किया था ।

अनिपमित और अन्य आसुबासी इस देहमें आश्चर्यका कुछ सबसे प्रथम करना योग्य है ।

६४०

उत्तर, माघ १९५२

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमांसा ये पाँच आस्तिक वर्णात् बध-मोक्ष आदि मात्को स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं। नैयायिकोंके अभिप्रायक समान ही वैशेषिकोंका अभिप्राय है; संस्कृत समान ही योगका अभिप्राय है—इनमें मोक्ष ही भेद है, इससे उन दर्शनोंका भ्रम निवार नहीं किया। मीमांसाने पूर्व और उत्तर इस तरह दो भेद हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें विशेष निवार-भेद है, फिर भी मीमांसा शब्दसे दोनोंका बोध होता है। इस कारण यहाँ मीमांसा शब्दसे दोनों ही समझने चाहिये। पूर्वमीमांसा वैमिनीय और उत्तरमीमांसा वेदवत् नामसे भी प्रसिद्ध है।

बौद्ध और जैनदर्शनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदोंके मुख्य मानकर ही चलते हैं, इसलिये वे वेदाभित दर्शन हैं; और वे वेदार्थको प्रभावित कर अपने दर्शनके स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैनदर्शन वेदके अभित नहीं—वे स्वतन्त्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला चार्वाक नामका छद्म दर्शन है। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—

१ सौख्यिक, २ मार्क्यिक, ३ शून्यवादी और ४ विद्वानवादी। ये भिन्न भिन्न प्रकारसे मार्क्यी व्यवस्था स्वीकार करते हैं।

जैनदर्शनके योग्य ही प्रकारसे दो भेद हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर।

पाँच आस्तिक दर्शन जगत्को अनादि मानते हैं। बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाने मत्तनुसार सृष्टिका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है।

नैयायिकोंके अनुसार ईश्वर तत्त्वस्वरूपसे कर्ता है। वेदवत्के मतानुसार आत्मामें जगत् किर्तृरूप वर्णात् कल्पितरूपसे मानित होता है, और उस रीतिसे उसने ईश्वरको भी कल्पितरूपसे ही कर्ता स्वीकार किया है।

योगके अभिप्रायके अनुसार ईश्वर निवृत्तरूपसे पुरुषविशेष है।

बौद्ध मतानुसार निश्चय और वस्तुस्वरूप आत्मा नहीं है—वाणिक है। शून्यवादी बौद्धके मतानुसार वह विज्ञानमात्र है; और विज्ञानवादी बौद्धके मतके अनुसार कुछ आत्मा तब है। उनमें विज्ञान रूप धर्मिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकोंके मतके अनुसार सर्वव्यापक असंख्य जीव हैं। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा जलिका मतके साक्षिणसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्यके मतानुसार सर्वव्यापक असंख्य आत्मा है। वे निवृत्त अपरिणामी और किन्मात्र स्वरूप हैं।

१ शून्यवादी बौद्ध ही मध्यम-मार्गीय सिद्धांतको स्वीकार करनेके कल्प मार्क्यिक भी करते हैं। इसमें मार्क्यिक और शून्यवादी के दोनों एक ही हैं। भिन्न भिन्न नहीं। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद निम्नरूपसे हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर, शून्यवादी और विद्वानवादी।

२ शून्यवादी श्वेताम्बरके अनुसार एक ही एक ही है। विद्वानवादीके स्वीकार नहीं करते। विज्ञानवादी बौद्ध ही

जैनके मतानुसार अनन्त द्रव्य आत्मा हैं । प्रत्येक आत्मा भिन्न भिन्न है । ज्ञान दर्शन आदि चेतनास्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्माको असंख्य अष्टादशी स्वशरीर-अवगाहवर्ती माना है ।

पूर्वमीमांसाके मतानुसार भी अस्मत् अस्मत् हैं, चेतन हैं ।

उत्तरमीमांसाके मतानुसार एक ही आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दमय त्रिकाशवाम्ब है ।

६४१

आनन्द, आसोच १९५२

ॐ

आस्तिक मूल पाँच दर्शन आत्माका निरूपण करते हैं, उनमें जो भेद देखनेमें आता है, उसका क्या समाधान है ?

जिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमें आता है, और वर्तमानस्वामीके होनेके पश्चात् पोछे ही बर्षोंमें उसमें नाना प्रकारके भेद हुए दिखाई देते हैं, उन सबके क्या कारण हैं ?

हरिमन्द आदि आचार्योंने नवीन योजनानकी तरह धुनधुनकी उत्पत्ति की माफ़ूम होती है, परन्तु छोक-समुदायमें जैनमा का अधिक प्रचार हुआ दिखाई नहीं देता, अथवा तथारूप अतिशय-उत्पन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमें उत्पन्न होना कम ही दिखाई देता है, उसके क्या कारण हैं ?

बह, वर्तमानमें क्या उस मार्गकी उत्पत्ति होना समभव है ? और यदि हो तो किस तरह होना समभव है, अर्थात् उस बातका कहसि उत्पन्न होकर, किस रीतिसे, किस पक्षसे, कैसी स्थितिमें प्रचार होना समभवित जान पड़ता है ? फिर जाने वर्तमानस्वामीके समयके समान, वर्तमान काळके योग आदिके अनुसार वह धर्म प्रगट हो, ऐसा क्या दीर्घ-दृष्टिसे समभव है ? और यदि समभव हो तो किस किस कारणसे समभव है ?

जो जैनसूत्र हाथमें विद्यमान हैं, उनमें उस दर्शनका स्वरूप बहुत अपूर्ण सिखा हुआ देखनेमें आता है, वह विषय किस तरह दूर हो सकता है ?

उस दर्शनकी परंपरामें ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकाळमें केवलज्ञान नहीं होता आर केवलज्ञानका विषय समस्त काळमें झोकाझोका द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानना माना गया है, क्या वह यथार्थ जान पड़ता है ? अथवा उसके लिये विचार करनेपर क्या कुछ निर्णय हो सकता है ? उसकी व्याख्यामें क्या कुछ फेरफार दिखाई देता है ? और मुक्त व्याख्याके अनुसार यदि कुछ दूसरा अर्थ होता हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमें केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है या नहीं ? आर उसका उपदेश दिया जा सकता है अथवा नहीं ? तथा दूसरे ज्ञानोंकी जो व्याख्या कही गई है, क्या वह भी कुछ फेरफारवाली माफ़ूम होती है ? और वह किन कारणोंसे ?

धर्मोक्तिकार, अधर्मोक्ति-रूप द्रव्य मध्यम अवगाह, सकोच-विशालकी मानन आत्मा; महा-निरेह आदि धर्मकी व्याख्या—वे कुछ अपूर्व रीतिसे अथवा कभी हुई रीतिसे अप्रत्यक्ष प्रमाणसहित सिद्ध होने योग्य जान पड़ते हैं या नहीं ?

गण्डके मत्तमत्तान्तर बहुत ही छाने छोट चियोंमें प्रबल आगही होकर मित्र मित्ररूपसे दर्शन-मोहनीयके कारण हो गये हैं; उसका समाधान करना कठिन है। क्योंकि उन लोगोंकी मतिमें, विशेष कारणको प्राप्त किये बिना ही इतन अल्प कारणोंमें बलवान आग होना संभव नहीं।

अविष्टि, देशविष्टि, सर्वविष्टि, इनमेंके कौनसे आशयवाले पुरुषसे विशेष उद्यति होती सम्भव है ?

सर्वविष्टि बहुतसे कारणोंमें प्रतिबन्धके कारण प्रवृत्ति कर सकता नहीं। देशविष्टि और अविष्टि तत्पारूप प्रतीति होना मुश्किल है और फिर जैनमार्गमें भी उस बातका सम्मेलन कम है।

यह किन्तु हमें क्यों उठता है ? आर उस शयन कर देनेका चित्त है, उसे शयन किये देते हैं।

६४२

ॐ जिनाय नमः

(१) मगधान् जिनके कहे हुए लोकसम्मान आदि मात्र आध्यात्मिक दृष्टिसे ही सिद्ध हो सकते हैं।

चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टि ही समझमें आ सकता है।

मनुष्यकी औचारिक प्रमाण आदिमें भी ऐसा ही है।

काष्ठप्रमाण आदि भी उसी तरह चले हैं।

निगोद आदि भी उसी तरह चले सकते हैं।

सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे मनन करने योग्य मान्य होता है।

लोकशास्त्रका अर्थ अनेकांत शास्त्रका अर्थ आध्यात्मिक है। सर्वज्ञ शास्त्रका समझना बहुत गूढ़ है। अर्थकथात्मक चरित आध्यात्मिक परिभाषासे अलङ्कृत मान्य होते हैं। अमूर्त आदिका वर्णन भी आध्यात्मिक परिभाषासे निरूपित किया मान्य होता है।

(२) अर्तन्त्रिप ज्ञानके जिनमगधान्मे लो मेर बताये हैं — नैराश्रयश्च आर सर्व प्राप्य देश प्रपञ्चके दो मेर हैं — अश्वि और मन-पर्यव। इच्छितरूपसे अवलोकन करत हुए जन्मान्ते, इन्द्रिय अलङ्कन बिना ही अमुक मर्यादाके जाननेको अश्वि कहते हैं। अनिच्छितरूपसे मानसिक निष्ठ शिखर कठसे जाननेको मन-पर्यव कहते हैं। सामान्य विशेष चित्त-अज्ञानदृष्टिमें परिनिष्ठित पुत्र केवल-ज्ञान सब प्रपञ्च है।

(३) श्रीजिनमगधान्के कहे हुए मात्र अभ्यात्म-परिभाषात्मक होनेसे समझमें आने कठिन है। परमपुरुषका सयोग प्राप्त होना चाहिये। जैन परिभाषाके विचारका यथावकाश विनिश्चास्य करना योग्य है।

* उपदेश-छाया

(१)

— श्री, पुत्र, परिग्रह आदि माणिके प्रति मूढज्ञान हानेके पश्चात् यदि ऐसी मानना रहे कि 'जब मैं जाँहूँगा तब इन श्रियों आदिके समामागक त्याग कर सकूँगा,' तो वह मूढज्ञानके ही बमन कर देनेकी बात समझनी चाहिये, अर्थात् उससे मूढज्ञानमें पचपि भेद नहीं पड़ता, परन्तु वह आवरणरूप हो जाता है। तथा सिष्य आदि अपवा यत्कि करनेबाटे मार्गसि श्रुत हो जावेंगे अपवा अटक जावेंगे, ऐसी माननासे यदि ज्ञानी-गुरुप भी आचरण करे तो ज्ञानी-गुरुपको भी निग्रवरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है और उससे ही वर्तमान आदि ज्ञानी-गुरुप अनिद्रापूर्वक सदा बाह्य कर्पतक रहे; उन्होंने सर्वथा असंगतको ही श्रेयस्कर समझा एक शब्दके भी उच्चारण करनेको पर्याप्त नहीं माना और सर्वथा निग्रवरण, योगरहित, योगरहित और मपरहित ज्ञान होनेके बाद ही उपदेशक कार्य वारम किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहेंगे तो ठीक है, अपवा इसे इस तरह न कहा जाय तो सिष्या है,' इत्यादि विकल्पोंको साधु मुनियोंको न करना चाहिये।

आचरणके समपमें मनुष्योंकी कुछ आयु तो शीक पास चली जाती है, कुछ निद्रामें चली जाती है, कुछ चंचेमें चली जाती है, और जो कुछ पोड़ीसी बाकी रहती है, उसे कुतूहल छट केते हैं। अर्थात् मनुष्य-मन निरर्थक ही चला जाता है।

(२)

भाषण नदी ३

प्रथम — केवलज्ञानीने जो सिद्धांतोंका प्रकृषण किया है वह 'पर-उपयोग' है या 'स्व-उपयोग'? शास्त्रने कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमें ही रहते हैं।

उत्तर — तीर्थंकर किसीको उपदेश दे तो इससे कुछ 'पर-उपयोग' नहीं कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको करते हुए रति, अरति, हर्ष और अहकार होते हैं। ज्ञानी-गुरुपको तो तत्परम्य संन्य होना नहीं, जिससे उपदेश करते हुए उसे रति अरति नहीं होते। रति-अरतिकर होता वह 'पर-उपयोग' कहा जाता है। यदि ऐसा हो तो केवली जीकाओंको जानते हैं—देखते हैं, उन्हें भी 'पर-उपयोग' कहा जाय। परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि उनमें रति-अरतिमात्र नहीं है।

सिद्धांतकी रचनाके विषयमें यह समझना चाहिये कि यदि अपनी बुद्धि न पहुँचि, तो इससे वे बचन असत्य हैं, ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि जिसे ज्ञान असत्य कहते हो, उसे ज्ञान पहिचे शास्त्रसे ही जीव अजीव कहना सीखे हो। अर्थात् उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे ही, ज्ञान जो कुछ जानत हो उसे

* संस्कृत १९५२ अक्षर-मध्यपर मध्यमें श्रीमद्भगवद्गीता आदर्शक आचरण काविका यमन बरवा आदि रचयोंमें निरूपितके श्रिये रहे थे। उस समय उनके कपीत्वाकी मर्द अक्षराय अक्षर-रचयों स्तुतिमें श्रीमद्भगवद्गीता-विचारोंकी जो छायामान रर मर्द, उनके आधारसे उन्होंने उस छायाका सार मित्र मित्र स्वर्णन बहुत अतून भार अक्षर-रचयन रूपमें लिख किया था। वही सार वहाँ उपदेश-छायाके रूपमें दिया है। — अक्षर-रचय

हुमने जाना है, तो फिर उन्हें बसत कहना, यह उपकारके बल्ले होय करनेके बराबर ही गिना जायगा। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे, इस कारण वे सिद्धांतके नियमों में झगड़े थे। सिद्धांत महावीरस्वामीके बहुत वर्ष पश्चात् लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें बसत कहना होय गिना जायगा।

इानीकी भाषासे बख्तेवाले अधिक मुमुक्षु जीवको, यदि मुझे 'ब्रह्मचर्यके पाठसे अर्थात् श्रियो आदिके समामर्शमें न जानेकी' आज्ञा दी हो, तो उस बचनपर हृदय विचार कर, वह भी उस उस स्थानकमें नहीं जाता जब कि जिसे मात्र व्यापारिक शास्त्र आदि बौचकर ही मुमुक्षुता हो गई हो, उसे ऐसा बहकार रहा करता है कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है।'—ऐस ही रामचन्द्रके कारण वह उन श्रियों आदिके समामर्शमें जाता है। कदाचित् उस समामर्शसे एक-दो बार वह बच भी जाय, परन्तु पीछेसे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है,' ऐसे करते करते उसे उसमें जान्न बनने लगता है, और उससे वह श्रियोंका सेवन करने लगता है।

मोक्षामात्र जीव तो इानीकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है अर्थात् वह दूसरे विकल्पोंको न करते हुए बैसे प्रसंगमें कभी भी नहीं जाता। इस प्रकार जिस जीवको, इस स्थानकमें जाना योग्य नहीं 'ऐसे इानीके बचनोक्त हृदय विचार है वह ब्रह्मचर्य मतमें रह सकता है। बर्बाद वह इस कक्षामें प्रवृत्त नहीं होता; जब कि जिसे इानीकी आज्ञाकारिता नहीं, ऐसे मात्र व्यापारिक शास्त्र बौचकर होनेवाले मुमुक्षु बहकारमें फिर करते हैं, और समझा करते हैं कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है।' ऐसी मान्यताको लेकर वह जीव प्युत हो जाता है और जाने बड़ नहीं सकता। वह जो क्षेत्र है वह निवृत्तिवाक्य है, किन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे ही तो है। तथा जो सत्ता इानी है, उसके सिवाय दूसरा कोई ब्रह्मचर्यके बस न हो यह केवल कथनमात्र है। जैसे जिसे निवृत्ति मही हुई, उसे प्रथम तो ऐसा होता है कि यह क्षेत्र भेद है यहाँ रहना योग्य है' परन्तु फिर ऐसे करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे दृष्टि क्षेत्राकार हो जाती है। किन्तु इानीकी दृष्टि क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि एक तो क्षेत्र निवृत्तिवाक्य है, और दूसरे उसने स्वयं भी निवृत्तिमात्र प्राप्त किया है, इससे दोनों योग अनुकूल हैं। शुद्धइानीयोंको प्रथम तो ऐसा ही अभिमान रहा करता है कि इसमें जीतना ही क्या है? परन्तु पीछेसे वह धीरे धीरे श्रियों आदि पदार्थोंमें कैस जाता है, जब कि सबे इानीको वैसा नहीं होता।

इसमें सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थकरने उपदेश दिया हो यह कोई बात नहीं है। परन्तु जैसे किसी समय किसीने वाचना पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेषा और चर्यक्रमके नियमों पैदा हो, उस समय लक्ष्मणी, बाल, बह, बतार्द; फिर किसीने पैदा कि बर्गकथा कितन प्रकारकी है तो बह। कि बार प्रकारकी—आशेषणी, विवेचणी, निर्वेदणी, सवेगणी। इस इस तरह जब बातें होती हैं या उनके पास जो गणधर होते हैं, वे उन बातोंको ध्यानमें रक लेते हैं और अनुक्रमसे उनको रचना करते हैं। जैसे यहाँ भी कोई मनुष्य कोई बात करनेसे ध्यानमें रसकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है। बाकी तीर्थकर कितना कोई उतना कुछ सचका सब उनके ध्यानमें मही रहता—केवल अभिप्राय ही ध्यानमें रहता है। तथा गणधर भी मुद्रिमान थे, इसलिये उन तीर्थकरोंका बड़े हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं जाय, यह बात भी नहीं है।

सिद्धांतोंके नियम इतने अधिक सख्त हैं, फिर भी यदि लोगोंको उससे विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं। उपाधरणके लिये कहा गया है कि साधुओंको लेख डालना नहीं चाहिये फिर भी वे लोग डालते हैं। इसमें कुछ ज्ञानीकी बाणीका दोष नहीं है, किन्तु जीवकी समझनेकी शक्तिका ही दोष है। जीवमें सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमें भी उसको उल्टा माझम होता है, आर यदि सद्बुद्धि हो तो सीमा मासित होता है।

प्राप्त = ज्ञानप्राप्त पुरुष। वास्त = विद्यास करन योग्य पुरुष।

सुमुखमात्रको सम्पन्नि जीव नहीं समझ लेना चाहिये, जीवके मुखके स्थानक अनेक हैं। अस्त्रिये विशेष विशेष जागति रखनी चाहिये; व्याकुल होना नहीं चाहिये, मरता न करनी चाहिये, पुरुषार्थ-धर्मको वर्धमान करना चाहिये।

जीवको सत्पुरुषका संपाग मिटना कठिन है। अपना शिष्य यदि दूसरे धर्ममें चला जाय तो अपारमार्थिक गुरुको ग़रब आता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है' यह भाव होता नहीं। कोई कुगुरु-आश्रित जीव जोषके ग्रहण करनके लिये कभी किसी सद्गुरुके पास गया हो और फिर वह अपने उसी कुगुरुके पास आवे, तो वह कुगुरु उस जीवको अनेक विविध विकल्प देता है, जिससे वह जीव फिरसे सद्गुरुके पास जाता नहीं। उस विचारे जीवको तो सत्-असत् बाणीकी पड़ोश भी नहीं, इसलिये वह टगा जाता है, और सम्मार्गसे प्युत हो जाता है।

(१) राखन आश्रण पक्ष ६ शनि १९५२

मक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। मक्तिसे वहकार दूर होता है, स्वच्छन्द मार्ग होता है, आर सीधे मार्गमें गमन होता है, अन्य विकल्प दूर होते हैं—ऐसा यह मक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्रश्न —आत्मा किसके अनुमर्शमें आई कही जानी चाहिये ?

उत्तर —जिस तरह लखवारको व्याजमेंसे निकालनेपर वह उससे भिन्न माझम होती है, उसी तरह जिसे अज्ञान देहसे लपट भिन्न माझम होती है, उसे आत्माका अनुमर्श हुआ कहा जाता है।

जिस तरह दूध और पानी मिळे हुए हैं उसी तरह आत्मा और देह मिळे हुए रहते हैं। दूध और पानी क्रिया करनसे जब भिन्न भिन्न हो जाते हैं तब वे भिन्न कह जाते हैं। उसी तरह अज्ञान और देह क्रियासे भिन्न हो जानेपर भिन्न भिन्न कहे जाते हैं। जबतक दूध दूधकी आर पानी पानीकी पर्यायको प्राप्त न कर छ तबतक क्रिया माननी चाहिये। यदि आत्माको ज्ञान क्रिया हो तो निरपेक्ष पर्यायसे छगाकर समस्त निजस्वरूप सककी प्राप्ति होती नहीं। अपना दोष कम हो आचरण दूर हो, तो ही समझना चाहिये कि ज्ञानीक बचन सचे हैं। हमें मय्य अमय्यकी जिता न रखते हुए, हाममें ता जिससे उगकार हो ऐस सामग्रा धर्म-म्याहार करना चाहिये।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-नोकरके समयमें उपस्थित रहे; अर्थात् जिससे दय शोक न हो। सम्पन्न हर्ष नोकर बन्धिके समागममें एककार होता नहीं। उसके अन्त परिणाम हास नहीं। अज्ञान जागर उठा हुआ कि वह जानते ही उसे मुरग म्हा देता है; बहुत ही जागृति होती है। मय अज्ञानका ही है। जैसे कोई सिंह चला आ रहा है और उससे सिंहनीको मय छाता नहीं, किन्तु उसे

मात्र होता है कि मानो कोई कृपा ही बना या रहा है; उसी तरह पौत्रस्तिक-संयोगको ज्ञानी समझता है। स्वयंके मित्रनेपर आनंद होता है तो वह अज्ञान है।

ज्ञानीको दया बहुत ही बहुत है। पापात्प कल्याण जो समझमें आया नहीं, उसका कारण बचनको आचरण करनेवाला दुरात्मभाव—कपाय है। दुरात्मभावके कारण मिथ्यात्व क्या है वह समझमें आता नहीं। दुरात्मको छोड़ दें तो मिथ्यात्व दूर भागने लगे। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझ केमा मिथ्यात्व है। दुरात्म आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वप्न बचानेपर भी समझमें आता नहीं। कपाय दुरात्म आदिको छोड़ा न जाय तो फिर वह निरंतर प्रकट रहे पीड़ा देता है। कपाय सत्तात्मसे मौजूद रहता है, और जब निमित्त आता है तब वह कभी हो जाती है तबतक कभी होती नहीं।

प्रश्न — क्या विचार करनेसे समझा जाता है ?

उत्तर:—विचारबलको पुत्रस्वमें सम्मग्रा—तादत्म्यभाव—होता नहीं। अज्ञानी यदि पौत्रस्तिक-संयोगके हर्षका पत्र बोलें तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखाई देने लगता है, और यदि मयका पत्र बोलें तो उदास हो जाता है।

सर्व देखकर जब आत्महृदिमें मयका कारण उपस्थित हो उस समय तादत्म्यभाव क्या आता है ? जिस सम्मग्रा ही उसे ही हर्ष-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये बिना नहीं रहता। मिथ्यात्वके मन्त्रमें साक्षी (ज्ञानकपी) नहीं है॥

देह और आत्मा दोनों मिम मिम हैं, ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है। ज्ञानीके मन्त्रमें साक्षी है। ज्ञान यदि जगृति हो तो ज्ञानके वेगसे जो जो निमित्त मित्रें उन्हीं पीछे हटा सकता है।

जीव जब विमान परिणाममें रहे उसी समय कर्म बीजता है, और जब स्वभाव परिणाममें रहे उस समय कर्म बीजता नहीं।

स्वच्छ दूर हो तो ही मोक्ष होती है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना आत्माकी जीवके आसो-पूसासे विभाव दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता ऐसी विनम्रगमनकी आज्ञा है।

प्रश्न — पौत्र इन्द्रियो किसे तरह क्या होती है ?

उत्तर — पदार्थके ऊपर तुच्छभाव जानेसे। क्योंकि सुझानेसे उनको सुगंधि घोंघे ही सम्म-तक रहकर भाग्य हो जाती है। कुछ कुतूहल आता है, और उससे कुछ सत्य हो जाता नहीं। उसी तरह तुच्छ भाव जानेसे इन्द्रियोंके नियममें सुस्पष्टता होती नहीं।

पौत्र इन्द्रियोंमें निद्रा इन्द्रियके बराबर जानेसे बाकीकी बार इन्द्रियों सहज ही बरा हो जाती है।

प्रश्न:—शिष्यने ज्ञानी-गुरुपसे प्रश्न किया कि बारह वर्षों तो बहुत गहन है और इससे वे मेरी समझमें नहीं आ सकते; इसलिये कृपा करके बारह वर्गोंका सार ही बतलाये कि जिसके अनुसार आचरण करें तो मेरा कल्याण हो जाय।

उत्तर:—आत्म धीमन् रात्रयन्त्र की शुद्धी आधुनिक युगमें ही लोचक मन्त्रगुरुम रवीन्द्र मारि मेरुमें निद्रकमें किया है:—मिथ्यात्वको विपरीतभावे आचरण करो हुए भी कोई एक लक्ष्यबल नहीं। अर्थात् विचारको कोई मन नहीं। —अनुसार

१) उत्तर —सहज कहें —‘वृत्तियोंका क्षय करना ही बाह्य उपायोंका सार है’।

ये वृत्तियाँ दो प्रकारकी कही गई हैं —एक बाह्य और दूसरी अंतरंग। बाह्यवृत्ति अर्थात् आत्मासे बाहर आचरण करना। तथा आत्माके भीतर परिणमन करना, उसमें समा जाना, वह वृत्ति है। पदार्थकी शुद्धता मात्मान ही हो तो अवृत्ति रह सकती है। जिस तरह घोड़ीसी काम-तेके मिष्टीके घड़ेके छूट जानेपर, बाह्यमें उसका त्याग करते हुए आत्मवृत्तिमें क्षोभ होता नहीं, कारण कि उसमें शुद्धता समझ रखी है, इसी तरह ज्ञानीको जगत्के सब पदार्थ शुद्ध भासमान होते हैं। ज्ञानीको एक रूपसे उभाकर सुख्य इत्यादितक सब पदार्थोंमें सर्वथा मिष्टीपना ही भासित होता है।

जी हाह-मौसका पुतला है, यदि यह स्पष्ट ज्ञान किया है, तो इससे उसमें विचारवानकी वृत्तिमें क्षोभ होता नहीं। तो भी साधुको ऐसी आशा की है कि जो हजारों देवगनाओंसे भी बलायमान न हो सके ऐसे मुनिका भी, जिसके नाक-कान काट दिये हों एसी सोबरसही हुआ भीके पास भी रहना नहीं चाहिये; क्योंकि वह वृत्तिको सुख्य करती ही है, ऐसा ज्ञानीने जाना है। तथा साधुको इतना ज्ञान नहीं कि वह उससे चम्कमान न हो सके, ऐसा सोचकर ही उसके पास रहनेकी आशा नहीं की। इस बचनके ऊपर स्वयं ज्ञानीने विशेष भार दिया है, इसलिये यदि वृत्तियों पन्थोंमें क्षोभको प्राप्त करें, तो उन्हें तुरत ही वापिस भीचकर उन बाह्य वृत्तियोंका क्षय करना चाहिये।

जो चौदह गुणस्थानक बताये हैं, वे असा असासे आत्माके गुण बताये हैं और अन्तमें वे जिस तरहके हैं, यह बताया है। जिस तरह किसी हीरेकी यदि चौदह कड़ी बताओ, तो अनुक्रमसे उसमेंसे विशेष बलि विशेष कान्ति प्रगट होती है और चौदह कड़ी बना देनेपर अन्तमें हीरेकी सम्पूर्ण कान्ति प्रगट होती है; इसी तरह सम्पूर्ण गुणोंके प्रगट होनेसे आत्मा सम्पूर्णरूपसे प्रगट होती है।

चौदह पूर्वपाठ बहसि (ग्याहमेंसे) जो पीछे गिर आता है, उसका कारण प्रमाद है। प्रमादके कारणसे वह ऐसा मानता है कि ‘अब मुझे गुण प्रगट हो गया है’। ऐसे अभिमानसे वह प्रथम गुणस्थानकमें जा पड़ता है; और उसे अर्न्तकालका समझ करना पड़ता है। इसलिये जीवको अवश्य जागृत रहना चाहिये कारण कि वृत्तियोंकी ऐसी प्रवृत्ति है कि वह हरेक प्रकारसे टग डेती है।

जब ग्याहमें गुणस्थानकमेंसे श्रुत हो जाता है उसका कारण यह है कि वृत्तियों प्रथम तो समझती है कि ‘हा समय यह शरारतमें है, इसलिये जपना बंद चलनेवाला नहीं है’ और इस कारण सब जप होकर दबी हुई रहती है। परन्तु वृत्तिने जहाँ समझा कि ‘वे कोषसे भी टगी नहीं औपगी, मानसे भी टगी नहीं औपगी, तथा मायाका वह भी चलनेवाला नहीं है’, वहाँ तुरत ही क्षोभ उदयमें आ जाता है। उस समय मेरेमें कहीं कहीं सिद्धि और ऐश्वर्य प्रकट हुए हैं,’ एसी वृत्ति होनेपर, उसका काम हो जानेसे जीव बहसि श्रुत हो जाता है, और पीछे गुणस्थानमें आ पड़ता है।

इस कारणसे वृत्तियोंको उपशम करनेकी अपेक्षा उनका क्षय ही करना चाहिये जिससे वे फिरसे उदृत हो न सकें। जिस समय ज्ञानी-पुरुष त्याग करनेके लिये कहे कि हा पदार्थको त्याग दे, तो वृत्ति गागिरि हो जाती है कि ठीक है मैं तो तिन पश्चात् त्याग करूँगी। वृत्ति इस तरहके बोझमें प्रवृत्त होती है कि वह समझती है, ‘जबो ठीक हुआ, नातुक समयका बचा हुआ तो बर्य जाता है।’

इतनेमें ही वहाँ सिपिबन्धके कारण भिंके कि वृत्तियाँ यह कहकर ठग जाती हैं ' इसके त्याग करनेसे रोगके कारण उत्पन्न होंगे, इसलिये इस समय नहीं परन्तु फिर कभी त्याग करैँगी । '

इस तरहसे अनात्मिकाको जीव ठगाया जा रहा है । किसीका बीज वर्षकत्र पुत्र मर गया हो तो उस समय तो उस बीजको ऐसी कहवाइत जगाती है कि यह ससार मिथ्या है । किन्तु होता क्या है कि दूसरे ही दिन इस निचारको ब्रह्म वृत्ति यह कहकर विस्मरण करा देती है कि ' इसका पुत्र कब बड़ा हो जायगा; ऐसा तो होता ही जाता है; किया क्या बाप । ' परन्तु यह नहीं होय जिस तरह वह पुत्र मर गया है उस तरह मैं भी मर जाऊँगा । इसलिये समझकर वैद्यस्य केसर चक्रे जातों तो अच्छा है—ऐसी वृत्ति नहीं होती । वहाँ वृत्ति ठग लेती है ।

बीज ऐसा मन बैठता है कि ' मैं पंडित हूँ, शास्त्रका वेत्ता हूँ, होशियार हूँ, गुणवान हूँ, जेना मुझे गुणवान कहते हैं ' परन्तु जब उसे कुछ पदार्थका संयोग होता है, उस समय तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर खिंच जाती है । ऐसे बीजको झाली कहते हैं कि ए बरा निचार तो सही कि कुछ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा भी तेरी कीमत कुछ है । जैसे एक पार्सकी चार बीड़ी मिलती हैं—अर्थात् पात्र पार्सकी एक एक बीड़ी हुई—उस बीड़ीका यदि मुझे ब्मसन हो और ए बहूँ झालीके बचन श्रवण करता हो, तो यदि वहाँ भी कहींसे बीड़ीका पैँजा जा गया हो तो तेरी आत्मामें से पैँजा निकलने लगता है, और झालीके बचनोंपरसे प्रेम जाता रहता है । बीड़ी जैसे पदार्थमें, उसकी क्रियामें वृत्तिके आच्छाद होनेसे वृत्तिका छोम निवृत्त होता नहीं । जब पात्र पार्सकी बीड़ीसे भी ऐसा हो जाता है तो फिर ब्मसनीकी कीमत तो उससे भी कुछ हुई—एक एक पार्सकी चार चार आत्मामें हुई । इसलिये हरेक पदार्थमें वृत्तितत्त्वा निचारकर वृत्तिके बाहर जाते हुए ऐक्यता चाहिये और उसका धन करना चाहिये ।

अनात्म्यासक्तीने कहा है कि ' एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है । '

उत्तम जाति, जायजिन्न उत्तम कुल और उत्तम ज्ञ्यादि प्रचारसे आत्म-गुण प्रगट होते हैं ।

तुम बैठा मानते हो बैठा आत्माका मूख स्वभाव नहीं है । इसी तरह आत्मामें कर्मोंने कुछ सर्वथा आवृत्त कर नहीं रक्खा है । आत्मामें पुरुषार्थ-वर्त्मका मार्ग तो सर्वथा खुल चुका है ।

बाजरे और गेहूँके एक होनेको यदि एक काल वर्षतक रख छोड़ा हो (इतने दिनोंमें वह सब जापगा यह बात हमारे ध्यानमें है) परन्तु यदि उसे पानी मिठी आत्मिका संयोग न भिंके तो उसका उगना समझ नहीं है । उसी तरह स्वर्ग और निचारका संयोग न भिंके तो आत्मामें गुण प्रगट होता नहीं ।

भेषिक राजा नरकमें है परन्तु समझाकर दे, समझिती है इसलिये उसे दुःख नहीं है ।

चार ककदापीकी तरह बीज भी चार प्रकारके होते हैं:—

कोई चार ककदापीने फंगलमें गये । पहिले पहिले सबने ककदापियों उठा लीं । बहोसि जागे चक्रे पर चंदन आया । वहाँ तीनने तो चंदन के छिया और उनमेंसे एक कहने लगा कि यह सब नहीं कि इस तरहकी ककदापियों भिंकेगी या नहीं, इसलिये मुझे तो इन्हें नहीं लेना है । हम जो रोज खेते हैं,

मुझ तो वे ही छकड़ियों बण्डी हैं।' आगे बखनेपर चौंटी-सोना थापा। उन तीनमेंसे दो जनोंने जन्मदमके फेंक दिया, और सोना-चौंटी छ डिया। एकने सोना चौंटी नहीं डिया। बड़ोंसे आगे चले कि चिन्तामणि रत्न थापा। इन दोमेंसे एकने सोना फेंककर चिन्तामणि रत्न ठठा डिया, और एकने सोनेको ही रखने दिया।

१ यहाँ इस तरह द्वायत घटाना चाहिये कि जिसने केवल छकड़ियों ही सी, और दूसरा कुछ भी न डिया था—ऐसा एक तरहका जीव होता है; जिसने अलौकिक क्षमोंको करते हुए ज्ञानी-पुरुषको पहिचाना नहीं, दर्शन भी किया नहीं। इससे उसका जन्म, जरा, मरण भी दूर हुआ नहीं, गति भी सुचरी नहीं।

२ जिसने जन्म ठठा डिया और छकड़ियोंको फेंक दिया—यहाँ इस तरह द्वायत घटाना चाहिये कि जिसने घोड़ा भी ज्ञानीको पहिचाना, उसके दर्शन किये, तो उससे उसकी गति घेष्ट हो गई।

३ जिसने सोना आदि ग्रहण किया, वह द्वायत इस तरह घटाना चाहिये कि जिसने ज्ञानीको उस प्रकारसे पहिचाना उसे देवगति प्राप्त हुई।

४ जिसने चिन्तामणि रत्न डिया, उस द्वायतको इस तरह घटाना चाहिये कि जीवको ज्ञानीकी यथार्थ पहिचान हुई कि जीव भवमुक्त हुआ।

कल्पना करो कि एक वन है। उसमें बहुतसे माहात्म्यपुष्प फलार्थ हैं। उनकी जैसे जैसे पहिचान होती है, उतना ही उनका माहात्म्य माश्रम देता है, और उसी प्रमाणमें मनुष्य उनकी ग्रहण करता है। इसी तरह ज्ञानी-पुरुषकारी वन है। उस ज्ञानी पुरुषका माहात्म्य अगम अगाध है। उसकी नितनी नितनी पहिचान होती है, उतना ही उसका माहात्म्य माश्रम होता है, और उस उस प्रमाणमें जीवका कल्याण होता है।

संसारिक लेदके कारणोंको देखकर, जीवको कदबखट माश्रम होनेपर भी वह बेराग्यके ऊपर पौन रखकर चला जाता है, किन्तु बेराग्यमें प्रवृत्ति करता नहीं।

सोम ज्ञानीका मोक-दृष्टिसे देखें तो उसे पहिचानते नहीं।

आहार आगमें भी ज्ञानी-पुरुषकी प्रवृत्ति बाध रहती है। किस तरह ! जैसे किसी आगमीको पानीमें धरे रहकर, पानीमें छटि रखकर, बाग साधकर ऊपर टेंगे हुए पदका बेधन करना रहता है। सोम तो समझते हैं कि बेधन करनेवालेकी दृष्टि पानीमें है किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उस आगमीको पदेका बेधन करना है। इसउपे उसपर लज्ज करनेक वास्ते, बेधन करमवाजीकी छटि आकाशमें ही रहती है। इसी तरह ज्ञानीकी पहिचान किसी निवारणको ही होगी है।

इद निधय करना कि बाहर आती हुई वृत्तियोंका क्षय करना चाहिये—अग्नय क्षय करमा चाहिये यही ज्ञानीकी आज्ञा है।

एत प्रीतिमें संसार करनेकी इच्छा होगी हो ता समझना चाहिये कि ज्ञानी-पुरुषको देमा ही नहीं। जिस तरह प्रपम संगारमें रसुद्विग आचरण करना हो उस तरह, ज्ञानीका संयोग होनेपर फिर आचरण करे—यही ज्ञानीका स्वभाव है।

इानीको ज्ञान-दृष्टिसे—वर्तारिसे—नेहनेके पश्चात् स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न हुआ महीं। क्योंकि इानीका स्वरूप विषम-सुखकी कल्पनासे जुड़ा है। जिसमें अनन्त सुखको ज्ञान किया हो उसे राग होता नहीं, और जिसे राग होता नहीं, उसने इानीको देखा है; और उसीको इानी-पुरुषका वर्णन करनेके पश्चात् स्त्रीका समीकन शरीर अनन्तनरूपसे मासित हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि उसने इानीके बच्चोंको पयार्थ रीतिसे स्पर्श जाना है। जिसने इानीके समीप, देह और आत्माके मिश्र-पूरण-पूरण-ज्ञान किया है, उसे देह और आत्मा भिन्न भिन्न मासित होते हैं; और उसने स्त्रीका शरीर और आत्मा कुछ कुछ मासित होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको मौस, मिठी, हठी आदिका पुलका ही समझा है, इसलिये उसे उसमें राग उत्पन्न होता नहीं।

समस्त शरीरका ऊपर नीचेका सब कमरके ऊपर ही रहता है। जिसको कमर टूट गई है, उसका सब सब नष्ट हो गया है। विषय आदि जीवकी तुल्य है। संसारकामी शरीरका सब इस विषय आदिकरूप कमरके ऊपर ही रक्खा हुआ है। इानी-पुरुषके बोधके ज्ञानसे विषय आदिकरूप कमरका भंग हो जाता है, अर्थात् विषय आदिकी तुल्यता मासित होने लगती है; और उस प्रकारसे संसारका सब बरता है, अर्थात् इानी-पुरुषके बोधमें ऐसी सामर्थ्य है।

महामास्वीरस्वामीको संगम नामके देखाने बहुत ही ऐसे ऐसे परीष्ट दिखे कि जिनमें प्राण-प्राण होते हुए भी देर न लगे। यहाँ कैसी अद्भुत समता रक्खी! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिसने वर्णन करनेसे कल्याण होता हो, नाम स्मरण करनेसे कल्याण होता हो, उसीके समानामें आकर इस जीवको अनन्त संसारकी वृत्तिका कारण होता है। ऐसी अनुकम्पा आनेसे जीवमें मौस आ गये। कैसी अद्भुत समता है! दूसरेकी दया किम तरह संकुचित हो निकली थी। उस समय मोक्षप्राप्ति के लिए जो भी ब्रह्मा जगत्मा होता तो कुछ ही तीर्थकरपना समझ न रहता; और कुछ नहीं तो देवता के भाग ही जाता। जिसने मोक्षनीयके मन्त्रों मूँठे नाश कर दिया है, अर्थात् मोक्षको भीत किया है, वह मोक्ष कैसे कर सकता है।

श्रीमद्मास्वीरस्वामीके पास गोशास्त्रमें आकर दो साधुओंको जवा दाय उस समय उन्होंने बरि जरा भी सामर्थ्यपूर्वक साधुओंकी रक्षा की होती तो उन्हें तीर्थकरपनेको छिसे करना पड़ता। परन्तु जिसे 'मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है' ऐसी मानना ही नहीं है उसे ऐसा कुछ भी करना नहीं पड़ता। उन्होंने ऐसा विचार किया कि 'मैं शरीरके रहणका दाताम नहीं केवल माय-उपदेशका ही दाताम हूँ। यदि मैं इनकी रक्षा करूँ तो मुझे गोशास्त्रकी भी रक्षा करनी पड़लिये अन्यथा समस्त जगत्की ही रक्षा करनी शकित है'। अर्थात् तीर्थकर ऐसा मन्त्र करते ही नहीं।

वेदान्तमें इस काममें चरमशरीरी होना कहा है। भिनमगवान्के मतानुसार इस काममें एकात्मता जीव होते हैं। यह कोई घोषी बात नहीं है; क्योंकि इसके पश्चात् कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर लगती नहीं। कुछ घोषा ही बाकी रह जाता है और जो रहता है वह फिर स्वयम् ही दूर हो जाता है। ऐसे पुरुषकी दया-वृत्ति—कैसी होती है! अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ सन्त हुई रहती हैं; और इानी अनेक शान्ति हुई रहती है कि राग-द्वेष सब नाश होने योग्य हो जाते हैं—उपशान्त जाते हैं।

सद्गुरुओंके उत्पन्न होनेके लिये जो जो कारण—साधन—बताये होते हैं, उन्हें न करनेकी ज्ञानी कभी कहते ही नहीं। वैसे रात्रिमें सोवना करना ब्रह्मसाक्षात्कारण मायूम होता है, इसलिये ज्ञानी कभी भी आह्वा नहीं करते कि रात्रिमें सोवना कर। परन्तु जिस जिस अहमावसे आचरण किया हो, और रात्रिसमाजनोंसे ही अथवा 'इस अनुकूलते ही मोक्ष होगी, अथवा इसमें ही माय है' ऐसा दुराग्रहसे मान्य किया हो, तो वैसे दुराग्रहको धुनानेके लिये ज्ञानी-गुरु कहते हैं कि 'इसे छोड़ दे; ज्ञानी-गुरुओंकी आह्वसे वैसा (रात्रिसोवना-त्याग आदि) कर;' और बैसा करेगा तो कल्याण हो जायगा। अनादि कष्टसे दिनमें और रातमें सोवना किया है, परन्तु जीवको मोक्ष हुई नहीं।

इस कालमें आरुचकताके कारण घटते जाते हैं, और विरुचकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथ स्वामीके शिष्य थे, तो भी उन्होंने पौंच महाव्रत स्वीकार किये थे।

केशीस्वामी और गौतमस्वामी महाविचारवान थे, परन्तु केशीस्वामीने यह नहीं कहा कि 'मैं दीर्घमैं बड़ा हूँ, इसलिये तुम मेरेसे पारिव्रज्य ग्रहण करो'। विचारवान और सरल जीवको, जिसे तुरत ही कल्याणपुरुष हो जाना है, इस प्रकारकी बातका आग्रह होता नहीं।

कई साधु जिसने अज्ञान-अवस्थापूर्वक आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानी-गुरुपक्षा समागम होनेपर, वह ज्ञानी-गुरु यदि साधुको आह्वा करे कि जिस स्थानमें तुने आचार्य-पनेसे उपदेश किया हो, वहाँ जाकर सबसे पीछे एक कोनेमें बैठकर सब ओरोंसे ऐसा कह कि 'मैंने अज्ञानमावसे उपदेश दिया है, इसलिये तुम लोग मुझ खाना नहीं;' तो साधुको उस तरह किये बिना मुक्त्यप्राप्त नहीं है। यदि वह साधु यह कहे कि 'मेरेसे ऐसा नहीं हो सकता; इसके बगैरे यदि आप कहो तो मैं पहाड़के ऊपरसे गिर जाऊँ, अथवा अन्य जो कुछ कहो सो करूँ परन्तु वहाँ तो मैं नहीं जा सकता'—तो ज्ञानी कहता है कि 'कदाचित् तू छाय बार भी पर्वतके ऊपरसे गिर जाय तो भी वह किसी कामका नहीं है। वहाँ तो यदि बैसा करेगा तो ही मोक्षकी प्राप्ति होगी। बैसा किये बिना मोक्ष नहीं है। इसलिये यदि तू आकर क्षमा माँगे तो ही तेरा कल्याण हो सकता है'।

गौतमस्वामी पार झलके धारक थे। आनन्द ध्याक उनके पास गया। आनन्द ध्याकने कहा कि 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है'। उत्तरमें गौतमस्वामीने कहा कि 'नहीं, नहीं, इतना सब हो नहीं सकता, इसलिये तुम क्षमापना छो'। उस समय आनन्द ध्याकने विचार किया ये मेरे गुरु हैं; संभव है, इस समय ये मुझ करते हो, ता भी आप मुझ करते हो', यह कहना योग्य नहीं। ये गुरु हैं इसलिये इनसे श्रुतिसे ही बोलना ठीक है। यह सोचकर आनन्द ध्याकने कहा कि महाशय! सद्वृत्तवचनका 'मिच्छामि दुःख' अथवा असद्वृत्तवचनका 'मिच्छामि दुःख'। गौतमने कहा कि असद्वृत्तवचनका ही 'मिच्छामि दुःख' होता है। इसपर आनन्द ध्याकने कहा कि महाशय! मैं 'मिच्छामि दुःख' लेने योग्य नहीं हूँ'। इतनेमें गौतमस्वामी बहोते खड गये और उन्होंने जाकर महाशयस्वामीसे पूछा। यपनि गौतमस्वामी स्वयं उसका समाधान कर सकते थे, परन्तु गुरुके मीमांसा रहते हुए बैसा करना ठीक नहीं, इस कारण उन्होंने महाशयस्वामीके पास जाकर यह

सब बात कह दी। महात्मास्वामीने कहा कि 'हे गौतम ! हौं, जान-र जैसा समझता हूँ वैसा ही है, और तुम्हारी मूल है, इसलिये तुम जान-रके पास जान-र खमा मँगो'। गौतमस्वामी 'तबस्त' कहकर खमा मँगनेके लिये चक दिये। यदि गौतमस्वामीने मोह नामक महासुभक्तको परमत्र न किया होता तो वे कहीं जते ही नहीं। और कहावित ऐसा कहते कि 'ज्वालाब ! आपके जो इतने सव शिष्य हैं, उनको मे जाकरी कर सकता हूँ, पर कहीं तो मैं न आऊँगा,' तो वह बात स्वीकृत न होती। गौतमस्वामीने स्वयं कहीं जाकर खमा मँगी।

'सात्त्वान्तसमकित' अर्थात् बचन किया हुआ समकित—अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, इसका यदि आचरण या काम तो भी सिम्पल और समकितकी क्षमता उसे मिल मिल माहूम होती है। जैसे छत्रमेंसे पहिले मन्त्रको निकाल केनेपर परीक्षा उसे छत्रमें बाँके, तो मन्त्रन और छत्र पहिले जैसे एकमेक थे जैसे एकमेक थे फिर नहीं होते उसी तरह समकित सिम्पलकी साथ एकमेक होय नहीं। अथवा जैसे हीरामणिकी क्षमता हो गई हो उसके सामने यदि शिखोरका टुकड़ा जाने तो उसे हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आती है—यह प्यार भी पार्श्व पड़ता है।

सद्गुरु सदेव और केवलीके प्रकटित किये हुए धर्मको सम्पत्त कहा है, परन्तु सदेव और केवली ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्मल गुरु अर्थात् ऐसे उचित गुरु नहीं, परन्तु जिसका प्रथिमेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान होना व्यक्तित्वसे प्रथिमेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने शिखोरका कोई टुकड़ा लेकर विचार किया मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर बादमणि पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर बादमीने उससे भी बहुत बढ़िया बढ़िया अधिक अधिक क्षमताकी मणिया बतकर कहा कि देख इनमें कुछ फुरक माहूम देता है। बग़र देख। उस मनुष्यने जबाब दिया कि 'हौं इनमें फुरक तो माहूम पड़ता है। इसके बाद उस चतुर गुरुने हाक-फन्स बतकर कहा कि 'देख, तेरी वैसी मणियाँ तो हजारों मिलती हैं। सब हाक फन्स दिखानेके पचाह् जब उसे उस गुरुने असली मणि बतर् तो उसे उसकी ठीक ठीक क्षमता माहूम पड़ी और उसने उस मणिको निकाल मन्त्री समझकर फेंक दी। बादमें फिर किसी दूसरे बादमीने मिलनेपर उससे कहा कि ऐसे जिस मणिको असली समझ रक्खा है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारके आचरणसे वहम या जानेसे जीव मूल जाता है परन्तु पनेसे उसे वह झूठा ही समझता है—जिस तरह असलीकी क्षमता हुई हो उसी तरहसे समझता है—जो सत ही आनुरितमें जाता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आचरण तो होता है, परन्तु पहिलेकी जो पहिचान है वह मूल जाती नहीं। इसी प्रकार विचारवान सद्गुरुका संयोग होनेपर तत्त्व-मतीति होती है परन्तु बादमें सिम्पलकी संयोग आचरण या जानेसे उसमें शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्व-प्रतीति मय नहीं हो जाती किन्तु उसे आचरण या जाता है। इसका नाम सात्त्वान्तसम्पत्त है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन जितना अन्तर है।

एक जीवरी या। उसके पास व्यापारमें अधिक मुक्तान हो जानेसे कुछ भी अन्य बाकी क्या नहीं। जब मरणेश समय मन्त्रीका या पहुँचा, तो वह जीव बाकी विचार करने लगा कि मेरे

पास कुछ भी तो द्रव्य नहीं है; किन्तु यदि अभी इस बातको कहूँ तो छद्मका छोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जायेगी। नीने सामने देखा और पूछा कि कुछ कहना चाहते हैं? पुरुषने कहा 'क्या कहूँ?' नीने कहा कि जिससे मेरा और बर्बोका उदर-पोषण हो ऐसा कोई मामा बताइये, और कुछ कहिये? उस समय उस पुरुषने सोच विचारकर कहा कि घरमें जवाहरातके सन्दूकमें कीमती नगकी एक डिविया है। उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े, तो निकालकर मेरे माँफि पास जाकर बिकवा देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायगा। इतना कहकर वह पुरुष काष्ठ-धर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनों बाद बिना पैसेके उदर-पोषणके छिथे पीड़ित हुआ वह छद्मका, अपने पिताके कहे हुए उस जवाहरातके नगको छकर अपने काका (पिताके भर्त्स जौहरी) के पास गया, वार कहा कि काकाजी मुझे इस नगको बेचना है, उसका जो पैसा आने उसे मुझे दे दो। उस जौहरी भर्त्सने पूछा, 'इस नगको बेचकर तुझे क्या करना है?' छद्मकेने उत्तर दिया कि 'उदर भरनेके लिये पैसेकी जरूरत है।' इसपर उस जौहरीने कहा 'यदि सौ-पचास रुपये चाहिये तो दू छे छे, रोम मेरी हुकानपर आ, और खर्च लेता रह। इस समय इस नगका रहने दे।' उस छद्मकेने उस जौहरी काकाकी बातको कबूठ कर लिया, और उस जवाहरातको वापिस ले गया। तत्पश्चात् वह छद्मका रोम जौहरीकी हुकानपर जाने लगा, और धीरे धीरे जौहरीके समामनेसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सबकी परीक्षा करना सीख गया, और उसे उन सबकी कीमत माझ्य हो गई। अब उस जौहरीने कहा 'दू जो पहिले अपने जवाहरातको बेचने लाया था उसे ला, उसे अब बेच दोगे।' इसपर छद्मकेने धरसे अपनी जवाहरातकी डिविया काकर देखी तो वह मग नकली माझ्य लिया, इससे उसने उसे तरत ही फेंक दिया। जब उस जौहरीने उसके फेंक देनेका कारण पूछा, तो छद्मकेने जबाब दिया कि वह तो बिबकुल नकली था, इसलिये फेंक दिया है।

देखो, उस जौहरीने यदि उसे पहिले ही नकली बताया होता तो वह छद्मका मानता नहीं, परन्तु जिस समय अपने आपको बलुकी कीमत माझ्य हो गई और नकलीको नकलीकसे समझ लिया, उस समय जौहरीको कहना भी पड़ा नहीं कि यह नकली है। इसी तरह अपने आपको सद्गुरुकी परीक्षा हो जानेपर यदि असद्गुरुको असद् जान लिया तो जीव असद्गुरुको छोड़कर सद्गुरुके चरणमें जा पड़ता है; अर्थात् अपने आपमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास हर रोम जाकर वह जीव एकेन्द्रिय आदि जीवोंके सबधमें अनेक प्रकारकी शक्तयें और कम्पनायें करके पूछा करता है, परन्तु किसी दिन भी वह पूछता नहीं कि एकेन्द्रियसे क्याकर पञ्चेन्द्रियको जाननेका परमार्थ क्या है? एकेन्द्रिय आदि जीवोंसबकी कम्पनाओंसे कुछ निष्पत्त्यरूपी प्रयोगका छेदन होता नहीं। एकेन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप जाननेका हेतु तो दयाका पाठन करना है। मात्र प्रयत्न करनेके लिये बैसी बातें करनेका कोई फल नहीं। वास्तविकत्वसे तो समकित प्राप्त करना ही उस सबका फल है। इसलिये गुरुके पास जाकर व्यर्थके प्रयत्न करनेकी अपेक्षा गुरुको कहना चाहिये कि आज एकेन्द्रिय आदिकी बात आज जान ली है अब उस बातको आप कसके दिन न करें, किन्तु समकितकी व्यवस्था करें—इस तरह कहे या किसी दिन निश्चय हो सकता है। परन्तु रोम रोम एकेन्द्रिय आदिकी मायापत्ती करें तो इस जीवका कल्याण कब होगा?

सब बात कह दी। महावीरस्वामीने कहा कि 'हे गोतम ! हाँ, जानन्द बसा समझता है केन्द्र ही है, और तुम्हारी भूख है, इसलिये तुम जानन्दक पास जाकर क्षमा माँगो'। गोतमस्वामी 'अप्यम्' कहकर क्षमा माँगनक लिये थक गये। यदि गोतमस्वामीने माह नामक महाभुक्की परामर्श न किया होता तो वे कहीं जाते ही नहीं; और कदाचित् ऐसा कहते कि 'महापराह ! जाकरके जो इन्ने सब शिष्य हैं उनको मैं बाकरी कर सकता हूँ पर कहीं तो मैं न जाऊँगा,' तो वह बात स्वीकृत न होती। गोतमस्वामीन रूप्य कहीं जाकर क्षमा माँगी।

'सत्त्वान्नसमर्पित' अर्थात् वनन किया हुआ समर्पित—अर्थात् जो पीछा हुई ची, उत्तर यत्न आचरण का कार्य तो भी निष्पत्त्य और समर्पितकी क्षमता उसे भिन्न भिन्न मान्य होती है। जैसे छत्रमेंसे पहिले मस्तकको निष्काश केनेपर पीछेसे उसे छत्रमें डालें तो मस्तक और छत्र पहिले जैसे एकमेक प जैसे एकमेक वे फिर नहीं होते उसी तरह समर्पित निष्पत्त्यकी साथ एकमेक होता नहीं। अथवा जिस हीरण्यकी क्षमता हो गई हो उसके सामने यदि बिहीरका टुकड़ा लावे तो उसे हीरण्यनि सत्त्वार्थ अनुभवमें जाती है—यह छत्र तो नहीं चरता है।

सद्गुरु सर्व और केवलीके प्ररूपित किये हुए धर्मको सम्पत्त्य कहा है परन्तु सर्वत्र और कबभी ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्गुण गुरु अर्थात् ऐसे उचित गुरु नहीं परन्तु जिसका प्रथिमेद हो गया है ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान जाना व्यवहारसे प्रथिमेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने शिखीरका कार्य टुकड़ा लेकर विचार किया मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर ज्ञानमिक पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर ज्ञानमीने उससे भी बहुत बड़िया बड़िया अधिक अधिक क्षमताकी मणिया बताकर कहा कि देख इनमें कुछ फरक मान्य देता है। बराबर देख। उस मनुष्यने जवाब दिया कि 'हाँ इनमें फरक तो मान्य पड़ता है। इसके बाद उस चतुर पुरुषने छाड़-छान्न्स बताकर कहा कि देख तेरी जैसी मणियाँ तो हजारों मिलती हैं। सब छाड़ छान्न्स दिखानेके पश्चात् जब उसे उस पुरुषने असली मणि बतर्ष तो उसे उसकी टीक टीक क्षमता मान्य पड़ी और उसने उस मणिको शिखीरक नकली समझकर फेंक दी। बादमें फिर किसी दूसरे ज्ञानमीने शिखीरके उससे कहा कि तुने जिस मणिका असली समझ रक्ता है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारक आचरणसे ब्रह्म का जानेसे जीव भूख जाता है परन्तु पीछेसे उसे वह हटा ही समझता है—जिस तरह असलीकी क्षमता हुई हो उसी तरहसे समझता है—यह गुण ही ज्ञानमीने जाता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आचरण तो होता है परन्तु पहिलेकी ओ पहिचान है वह भूख जाती नहीं। इसी प्रकार विचारणाल सद्गुरुका उपयोग होनेपर तत्त्व-मार्गीति होती है परन्तु ज्ञानमें निष्पत्त्यकी संगसे आचरण का जानसे उसमें शका हो जाती है। यद्यपि तत्त्व-प्रदीपित नय नहीं हो जाती किन्तु उसे आचरण का जाता है। इसका नाम सत्त्वान्नसम्पत्त्य है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन बितना अंतर है।

एक बीरवी पा। उसके पास व्यापारमें जिनक लुकसान हो जानेसे कुछ भी प्रत्य जाती नया नहीं। जब मरनेका समय नजदीक आ पहुँचा तो वह बी बखोब विचार करने लगा कि मेरे

प्रश्न—उदयकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—ऐश्वर्यपद प्राप्त होते समय उसे चक्का मारकर पीछे निकाल बाहर करे, कि 'यह मुझ बाहिये नहीं मुझे इसका करना क्या है' कोई राजा यदि प्रधानपद दे तो भी स्वयं उसके खेनेकी इच्छा करे नहीं। 'इसका मुझे करना क्या है' चरसंबंधी उपाधि हो तो बड़ी बहुत है—'इस तरह उस पदको मना कर दे। ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा फिर फिरसे देनेकी इच्छा करे, और इस कारण वह ऊपर जा ही पड़े, तो उसे विचार होता है कि 'देख, यदि तेरा प्रधानपद होगा तो बहुतसे जीवोंकी दया पड़ेगी, बिसा कम होगी, पुस्तक-शास्त्रायेँ सुझेगी, पुस्तकें छपाई जायेंगी'—इस तरह धर्मके बहुतसे कारणोंको समझकर वैराग्य भावनासे बेदन करना, उसे उदय कहा जाता है। इच्छासहित तो मांग करे, और उसे उदय बतावे तो वह शिथिलता और संसारमें मटकनेका ही कारण होता है।

बहुतसे जीव मोह-गर्भित वैराग्यसे और बहुतसे दुःख-गर्भित वैराग्यसे दीक्षा ले डेते हैं। 'दीक्षा खेनेसे अच्छे अच्छे नगर और गाँवमें फिरनेको मिलेगा। दीक्षा खेनेके पचास अच्छे अच्छे पार्ष्व खानेको मिलेंगे। कत मुद्रिक एक इतनी ही है कि गरमीमें नगे पैरों चक्का पड़ेगा, किन्तु इस तरह तो साधारण किसान अपना पटेल ओंग भी गरमीमें नगे पैरों चक्के हैं, तो फिर उनकी तरह यह भी आसानीसे ही हो जायगा। परन्तु वार किसी दूसरी तरहका दुःख नहीं है, और कल्याण ही है'—ऐसी भावनासे दीक्षा खेनेका जो वैराग्य है वह मोह-गर्भित वैराग्य है। पूनमके दिन बहुतसे ओंग झाँकोर जाते हैं, परन्तु कोई यह विचार करता नहीं कि इससे अपना कल्याण क्या होता है ? पूनमके दिन रणजोरजीके दर्शन करनेके लिये उनके पास दाने जाते थे, इसलिये उनके छक्के बड़े भी जाते हैं। परन्तु उसके हेतुका विचार करते नहीं। यह भी मोह-गर्भित वैराग्यका मेर है।

जो संसारिक दुःखसे संसार-त्याग करता है, उसे दुःख-गर्भित वैराग्य समझना चाहिये।

जहाँ नामो नहीं कल्याणकी ही बुद्धि हो, ऐसी वह बुद्धि करती चाहिये। कुछ-गण्डके आग्रहको सुझाना, यही ससंगके माहत्म्यके सुननेका प्रमाण है। मत्तमदर्शन आदि, धर्मके बड़े बड़े अनंतातुल्यकी पर्यंतके फाटकाही तरह कभी मिलते ही नहीं। कर्माग्रह करना नहीं और जो कदाग्रह करता हो तो उसे धीरजसे समझाकर सुझा देना ता ही समझनेका फल है। अनंतातुल्यकी मान, कल्याण होनेमें कौनसे स्तम्भक कहा गया है। जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो वहाँ वहाँ विचारवान और उसका सग करनेके लिये कहता है। अज्ञानीके अज्ञान सीकिक भाषके होते हैं। जहाँ जहाँ दुराग्रह हो उस उस जगहसे छूटना चाहिये। 'इसकी मुझे आवश्यकता नहीं,' यही समझना चाहिये।

(४) राख्य भाद्रपद सुनी ६ रति १९५२

प्रमदसे योग उत्पन्न होता है। अज्ञानीको प्रमद है। योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो, तो वह ज्ञानीमें भी समझ है इसलिये ज्ञानीको मांग होता है, परन्तु प्रमाद होता नहीं।

'स्वभावमें रहना और विभावसे छूटना,' यही मुख्य बात समझनेकी है। बाह्य-जीविके समझनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने सिद्धान्तोंके बड़े मागका वर्णन किया है।

समुद्र क्षारा है। एकत्र तो उसका क्षारपन दूर होता नहीं। उसके दूर करनेका उपाय यह कि उस समुद्रमेंसे एक एक जखका प्रवाह लेकर उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका क्षारपन दूर हो और उसमें मिथुन-आ जाय ऐसा क्षार डालना चाहिए। उस पानीके सुखानेके दो उपाय हैं—एक व सूर्यका ताप और दूसरी जमीन। इसलिये प्रथम जमीन ठेप्यार करना चाहिये और बादमें नाबिरोध पानी के जाना चाहिये और पीछेसे क्षार डालना चाहिए, जिससे उसका क्षारपन दूर हो जायगा। तब तब मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदापि आदिरूप क्षारपन है, इसलिये कुछधर्मरूपी प्रवाह योम्यतात्मक जमीनमें के बाहर उसमें स्फुटधर्मरूपी क्षार डालना चाहिये—इससे समुद्ररूपी तब क्षारपन दूर होगा।

• दुर्बल देखने यास उपवासी, जो छे पापारग है,
तो पण गर्म अनता सधे, बाछे बीजु भग है।

+ बितनी आन्ति अधिक उठना ही अधिक मिथ्यात्व। सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपस्वी करना तब तब उस स्वच्छंदसे न करना, बाह्यकारसे न करण ओगोंके लिये न करना। जीवको जो कुछ करना है उसे स्वच्छंदसे न करना चाहिये।

'मैं होशियार हूँ' यह जो मान रखना, वह किस अर्थके लिये? 'मैं होशियार नहीं', इस तरह मिले समझ किया वह मोक्षमें गया है। सबसे मुख्य विग्रह स्वच्छंद है। जिसके दुष्टात्मका केदन हो गया है, वह ओगोंको भी प्रिय होता है—कदापि छोड़ दिया हो तो दूसरे ओगोंको भी प्रिय होता है। इसलिये कदापि छोड़ देनेसे सब फल मिलना संभव है।

गीतमस्यामीने महावीरस्यामीस केदसबजी प्रल दूँडे। उन प्रलोक्ष, जिसने सब होमोंका क्षय कर दिया है ऐसे उन महावीरस्यामीने केदक ह्योत देकर समाधान (सिद्ध) कर बताया।

दूसरेको उस गुणोंमें बचाना चाहिये किन्तु किसीकी निन्दा करनी नहीं। किसीको स्वच्छंदतासे कुछ भी कहना नहीं। कुछ कहने योग्य हो तो बाह्यकारहित भावसे ही कहना चाहिये। परमार्थ इष्टिसे प्रति रग-रूप घट गये हों तो ही फलदायक है, क्योंकि व्यपकारसे तो मोक्ष जीवोंमें भी रग-रूप बने हुए रहते हैं परन्तु परमार्थसे रग-रूप मीट पड़ गये हों तो वह कल्याणका कारण है।

महात्मा पुरुषोंकी इष्टिसे दक्षिणसे सब दर्शन एकते हैं। जैन दर्शनमें बीसछात्र जीव मतमतान्तरे पड़े हुए हैं। बानीकी इष्टिसे भेदाभेद होता नहीं।

जिस जीवको अन्ततानुबन्धीका उदय है, उसे सन्ने पुरुषकी बात भी रुचिकर होती नहीं, जबकि सन्ने पुरुषकी बात भी सुनना उसे अच्छा लगता नहीं।

मिथ्यात्वकी जो प्रथि है उसकी सत्त प्रकृतिर्षी है। मान आने तो सत्तों छाप छाप जाती हैं; उसमें अन्ततानुबन्धीका क्षार प्रकृतिर्षी अक्षयवर्षिक समान है। ये किसी भी तरह प्रथिमेंसे निकलने देती नहीं। मिथ्यात्व रक्खाका (रक्षणा) है। समस्त आत्मा उसकी सेवा चाहती करता है।

• दुर्बल देख है और एक एक बातका उपपत्त करता है परन्तु यदि अन्तरमें यथा है तो भी जीव अन्ततानुबन्धीका क्षार दूरी अन्तमें कहा गया है।

+ वही स्वच्छंदसे केवल ह्योत ही है—अन्तर्भी आन्ति बचने तेरुं बचने। —अनुवादक.

होम हवन आदि बहुतस लौकिक रिवाजोंको प्रचलित देखकर तपिकरमगबान्धन अपने समयमें दयाका बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे वर्णन किया है। जैनदर्शनके समान दयासंबंधी विचार कोई दर्शन अथवा संप्रदायवाले लोग नहीं कर सके। क्योंकि जैन लोग पंचेन्द्रियका घात ता करते हैं नहीं, किन्तु उन्होंने एकेन्द्रिय आदिमें भी जीवके अस्तित्वको विशेष अतिविशेष दृष्ट करके, दयाके मार्गाका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छरसे, मिथ्यात्वसे और सहायसे ही किया है, ऐसा कहा गया है। ये बचन बहुत ही भारी बिन्दु हैं। यहाँ बहुत अधिक विचार कर पीछेसे वर्णन किया है कि अन्य दर्शन-वेद आदि-के जो प्रत्य हैं उन्हें यदि सम्मसृष्टि जीव बँधे तो सम्यक् प्रकारसे परिणामन करता है, और जिनमगबान्धनके अथवा चहे जिस तरहके प्रत्योंके यदि मिथ्यासृष्टि बँधे करे तो वह मिथ्यात्वकप्रसे परिणामन करता है।

जीवको ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्व बचनोंके सुननेसे अपूर्व उच्छ्वास-परिणाम आता है, परन्तु बादमें प्रमादी हो जानेसे अपूर्व उच्छ्वास जाता नहीं। जिस तरह हम यदि अग्निकी सिगड़ीके पास बैठे हों तो ठंड लगती नहीं, और सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है; उसी तरह ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्व बचनोंके श्रवण करनेसे प्रमाद आदि नष्ट हो जाते हैं, और उच्छ्वास-परिणाम आता है; परन्तु पीछेसे फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पूर्वके सत्कारसे वे बचन अर्पण-परिणामको प्राप्त करें तो दिन प्रतिदिन उच्छ्वास-परिणाम बहुत ही आस; और यथार्थ रीतिसे मान हों। अज्ञानके दूर होनेपर समस्त भूख दूर हो जाती है—स्वल्प आगुत्तिमान होता है। बादरसे बचनोंके सुननेसे अन्तर्परिणाम होता नहीं; तो फिर जिस तरह सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगाने लगती है, उसी तरह उसका दोष घटता नहीं।

केशीस्वामीने परदेशी राजाको बोध देते समय जो उसे 'जड़ जैसा' 'मूर्ख जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामें पुरुषार्थ आगूत करनेका था। जबका-नृत्ता-के दूर करनेके लिये ही यह उपदेश दिया है। ज्ञानीके बचन अपूर्व परमार्थको छोड़कर दूसरे किसी कारणसे होते नहीं। बाह्य-जीव ऐसी बातें किया करते हैं कि छद्मस्यमावृते हैं। केशीस्वामीने परदेशी राजाके प्रति ऐसे बचन कहे थे; परन्तु यह बात नहीं। उनकी बाणी परमार्थके कारण ही निकली थी।

जब पदार्थको छेने-रखनेमें उन्मात्से प्रवृत्ति करे तो उसे असंयम कहा है। उसका कारण यह है कि अन्द्रशब्दसे छेने-रखनेमें आत्माका उपयोग भूलकर तात्पर्यमात्र हो जाता है। इस कारण उपयोगके भूल जानेको असंयम कहा है।

अहकारसे आचार्यमात्र धारण कर दंड रखे और उपदेश दे तो पाप लगता है। अश्मवृत्ति रखनेके लिये ही उपयोग रखना चाहिये।

श्रीआचार्यमह सूर्यमें कहा है कि 'जो आश्रय हैं वे परिश्रय हैं' और जो 'परिश्रय हैं वे आश्रय हैं।' जो आश्रय है वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो परिश्रय है वह सब होनेपर भी अज्ञानीको बंधका हेतु होता है—ऐसा स्पष्टत्वसे कहा है। उसका कारण ज्ञानीमें उपयोगकी आगति करना है, और वह अज्ञानीमें है नहीं।

किसीके ऊपर रोष करना नहीं तथा किसीके ऊपर प्रसन्न होना नहीं। ऐसा करनेसे एक शिष्यको दो चरामों के मध्य प्रगट होनेका शास्त्रमें वर्णन आता है।

व्रित्तना रोग होता है, उसनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। नीचको समझना ही तो सब ही विचार प्रगट हो जाय परन्तु मिष्यात्मकपी महान् रोग मौजूद है इसलिये समझनेमें बहुत कष्ट व्यतीत होना चाहिये। शास्त्रमें जो सोच्य रोग कहे हैं, वे सब इस जीवको मौजूद हैं, ऐसा समझना चाहिये। जो साधन बताये हैं, वे सर्वथा सुकम हैं। स्वच्छन्दसे, बहकारसे, जेक-बावसे कुछभी रक्षणके लिये तपश्चर्या करनी नहीं—आत्मार्थके लिये ही कली। तपश्चर्या बाह्य प्रकारकी नहीं है। आहार न केना आति ये बाह्य प्रकार हैं। संसाधन करनेके लिये जो कुछ बताया हो उसे छपुसके आश्रयसे करना चाहिये। अपने नामसे प्रवृत्ति करना नहीं स्वच्छ है, ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञासे बिना दशास्त्राचारसे क्रियाके बिना अन्य कुछ भी करना नहीं।

साधुको छपुसका भी गुरुसे पूँछकर ही करनी चाहिये, ऐसी ज्ञानी-गुरुकी आज्ञा है। स्वच्छन्दारसे शिष्य बनाना हो तो साधु जाड़ा साँगता नहीं, क्यथा उसकी कल्पना ही कर केता है। मरोपकार करनेमें मिष्या कल्पना रहा करती हो और जैसे ही जेके निष्कर्षोदाय को स्वच्छर छोड़े नहीं वह ब्रह्मानी आज्ञाको विभ्र करता है। तथा वह इसी तरह सब बसोंका ध्वन करता है, और परमार्थके रास्तेका उल्लंघन कर वाणी बोलता है। यही अपनी होशियायी है, और उसे ही स्वच्छर कहा गया है।

बाह्य ऋतको अधिक जेमेसे मिष्यात्मकता नाश कर देगे—ऐसा जीव विचार करे, तो यह सम्य नहीं। क्योंकि जैसे एक मैसा जो हजारों ज्वर-बावरेके पूँछे पूँछे खा गया है वह एक दिनकेसे बरता नहीं; उसी तरह मिष्यात्मकपी मैसा, जो पूँछेकी अनंतानुबंधी कथायसे अनंतों चारित्रि खा गया है, वह दिनकेरूपी बाह्य ऋतसे कैसे बर सकता है! परन्तु जैसे मैसेको यदि किसी बधनसे बाँध दें तो वह बधन ही जाता है, वैसा ही मिष्यात्मकपी मैसेको आज्ञाके बधनकी बधनसे बाँध देनेसे वह बध ही जाता है अर्थात् जब आज्ञाका बध बढ़ता तो मिष्यात्म घटता है।

अनभिज्ञानके लब्धानके कारण व्रित्तना काल व्यतीत हुआ, उसका काल मोक्ष होनेके लिये चाहिये नहीं। कारण कि पुरुषार्थका बध कर्मोंकी अवस्था अनिष्ट है। कितने ही जीव दो चरामों के मध्य कर गये हैं। सम्यग्दर्शि किसी भी तरह हो आज्ञाको ठीके ल आता है—अर्थात् सम्यक्त्व आज्ञा जीवकी छवि बढ़ा जाती है।

मिष्यादृष्टि समकित्तिके अनुसार ही जप तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिष्यादृष्टिके जप तप आदि मोक्षके कारणमूल होते नहीं संसारके ही कारणमूल होते हैं। समकित्तिके ही जप तप आदि मायिक कारणमूल होते हैं। समकित्ता उन्हें दम रहित करता है अपनी आज्ञाकी ही शिष्या करता है, और कर्म करनेके कारणोंसे पीछे हटता है। यह करनेसे उसके बहकार आदि स्वानिष्ट स्वप्न ही घट जाते हैं। आज्ञाकी समस्त जप तप आदि बाईकारकी वृद्धि करते हैं, और संसारके हटु हटु हैं।

जैनश्राममें कहा है कि लभियी उत्पन्न होती है। जैन और वैश्वदर्शन ज्यमेसे ही लभते जात हैं परन्तु हम बातची तो दानों ही जेने कबूल करते हैं इसलिये यह सम्य है। जब आज्ञा साधी देता है उसी समय आज्ञामें उत्तास-गरिमाय आता है।

इस जीवकी साथ राग-द्वेष रुग्ण हुए हैं। जीव यद्यपि वर्ततज्ञान-दर्शनसहित है, परन्तु राग द्वेषके कारण वह उससे रहित ही है, यह बात जीवके ध्यानमें आती नहीं।

सिद्धको राग-द्वेष नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंका भी स्वरूप है। जीवको केवल अज्ञानके कारण यह ध्यानमें आता नहीं। उसके किमि विचारवानको सिद्धके स्वरूपका विचार करना चाहिये, जिससे अपना स्वरूप समझमें आ जाय।

जैसे किसी मनुष्यके हाथमें चिंतामणि रत्न आया हो, और उसे उसकी (पहिचान) है तो उसे उस रत्नके प्रति बहुत ही प्रेम उत्पन्न होता है, परन्तु जिसे उसकी खबर ही नहीं, उसे उसके प्रति कुछ भी प्रेम उत्पन्न होता नहीं।

इस जीवकी अनादिकाहकी जो मूळ है, उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीवको बड़ीसे बड़ी मूळ क्या है? उसका विचार करना चाहिये, और उसके मूळका छेदन करनेकी ओर ध्यान रखना चाहिये। जबतक मूळ रहती है तबतक वह बढ़ती ही है।

‘मुझे किस कारणसे बधन होता है?’ और ‘वह किससे दूर हो सकता है?’ इसके ज्ञान नेके लिये शास्त्र रच गये हैं, जोगमें पुत्रनेके लिये शास्त्र नहीं रचे गये।

इस जीवका स्वरूप क्या है?

जबतक जीवका स्वरूप जाननेमें न आवे, तबतक अमन्त जन्म मरण करने पड़ते हैं। जीवको क्या मूळ है? वह अमीतक ध्यानमें आती नहीं।

जीवका डेरा नष्ट होगा तो मूळ दूर होगी। जिस दिन मूळ दूर होगी उसी दिनसे छानुपना कष्टा जायेगा। यही बात ध्याकफनेके लिये समझनी चाहिये।

कर्मकी कर्मा जीवको दूध और पानीके संयोगकी तरह है। जिसके संयोगसे जैसे पानीके कुछ जलेपर दूध बाली रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी जलसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें वहमात्र माना हुआ है इस कारण जीवकी मूळ दूर होती नहीं। जीव देहकी साथ एकत्र हो जानेसे ऐसा मानने लगता है कि ‘मैं बनिया हूँ,’ ‘ब्राह्मण हूँ,’ परन्तु छुट्ट विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि ‘मैं छुट्ट स्वरूपमय हूँ’। आत्माका नाम ठम कुछ भी नहीं है—जीव इस तरह विचार करे तो उसे कोई गाली बगैर दे तो भी उससे उसे कुछ भी लगता नहीं।

जहाँ जहाँ कहीं जीव प्रपन्न करता है वहाँ वहाँ उसकी मूळ है। उसके दूर करनेके लिये ही शास्त्र रचे गये हैं।

जैसे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह बैराग्य है। जहाँ जहाँ ‘यह मेरा मर्द बन्धु है’ इत्यादि याचना है, वहाँ वहाँ कर्म-बन्धका कारण है। इसी तरहकी याचना यदि साधु भी अपने चेहरेके प्रति रखे तो उसका आचार्यपना मास हो जाय। वह अदमता, निर्दोषकरता करे तो ही ब्रह्माका कल्याण हो सकता है।

पौष इन्द्रियों किस तरह बन्ध होती हैं? वस्तुओंके ऊपर गुच्छ भाव करनेसे। जैसे कुत्रमें यदि सुगंध हो तो उससे मन सतुष्ट होता है, परन्तु वह सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और कुछ बुझका जाता है, फिर मनको कुछ भी सतोष होता नहीं। उसी तरह सब पदार्थोंमें गुच्छभाव

उपयोग का प्रकारके कहे हैं — १. स्वयं उपयोग २. माय उपयोग

वैसी सामर्थ्य सिद्धमगवानकी है, वैसी सब चीजोंको हो सकती है। केवल अज्ञानके कारण ही यह ज्ञानमें जाती नहीं। जो विचारवान जीव हो उसे तो नित्य ही तत्सम्बन्धी विचार करना चाहिये।

जीव ऐसा समझता है कि मैं जो किया करता हूँ इससे मोक्ष है। किया करना ही भय कष्ट है, परन्तु उसे यह जोर-सहासे करे तो उसका फल मिलता नहीं।

वैसे किसी आदमीके हाथमें वितामपि रत्न आ गया हो किन्तु यदि उसे उसकी खबर न हो तो वह निष्फल ही रहता जाता है और यदि खबर हो तो ही उसका फल मिलता है। इसी तरह यदि बीरको ज्ञानीकी सभी सभी खबर पड़े तो ही उसका फल है।

जीवकी अनापिच्छकसे मूक बन्नी जाती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो मूक-निष्कल-है, उसका मूकसे ही छेदन करना चाहिये। यदि उसका मूकसे छेदन किया जाय तो वह फिर अकृति होती नहीं, अपन्या वह फिरसे अकृति हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें यदि कुछकी जड़ बाकी रह गई हो तो वह फिरसे उग जाता है। इसलिये जीवकी वास्तविक मूक क्या है, उसका विचार विचार कर उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किस कारणसे बधन होता है' ? 'वह किस तरह दूर हो सका है' ? यह विचार पहले करना चाहिये।

पत्रि-भोजन करनेसे आक्स-प्रसन्न उत्पन्न होता है, जागृति होती नहीं, विचार जाता नहीं, इसलिये अनेक प्रकारके रोग पत्रि-भोजनसे पैदा होते हैं। मैयुन करनेके पश्चात् भी बहुतसे रोग उत्पन्न होते हैं।

कोई हरियली मिनारवा हो तो वह हमसे देखा जा सकता नहीं। तथा आत्मा उज्ज्वला प्राप्त करे तो बहुत ही अनुकंपा बुझि रहती है।

ज्ञानमें सीधा ही भाषित होता है, उल्टा मासित नहीं होता। ज्ञानी मोहको प्रवेश करने देता नहीं। उसके जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जिस तरहका परिणाम हो वैसा ही ज्ञानीको कार्य होता है। तथा जिस तरह अज्ञानीका परिणाम हो वैसा ही अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका बचना सीधा बचना सीधा और सब कुछ सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उल्टा ही होता है कर्त्तव्यके विरुद्ध होते हैं।

मोक्षका उपाय है। जोय-मायसे खबर होगी विचारमायसे प्रतीति आयेगी।

अज्ञानी स्वयं नहीं है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम मोक्ष आनि पड़ते हैं। ज्ञानी उसका वैध है। ज्ञानीके हाथसे जाग्रि प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाय। ज्ञानी जो जो ज्ञत दे वे सब डेट अन्ततः के जाग्र पार उतारनेका है। सयकित अनेक पथात् जगया समानिको प्राप्त करेगी, क्योंकि अब यह सभी हो गई है।

(५)

माद्रपर सुदी ९ १९५२

प्रश्न — ज्ञानसे कार्यकी निर्जटा होती है क्या यह टर्क है ?

उत्तर — सार ज्ञानकेको ज्ञान कहते हैं और सार न-ज्ञानकेको अज्ञान कहते हैं। हम किसी भी पामे निरुद्ध हो, अपना कम्पाज्य प्रकृति करे यह ज्ञान है। परमार्थको स्मृतकर करना चाहिये। अद्वैतपरिणत कोरुम्प्राहित आत्ममे प्रकृति करनेका नाम 'निर्जटा' है।

प्रश्न — अहमा एक है अथवा अनेक ?

उत्तर — यदि अहमा एक ही हो तो पूर्वमें जो रामचन्द्रजी मुक्त हो गये हैं, उससे सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये । अर्थात् एककी मुक्ति हुई हो तो सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये, और तो फिर दूसरोंको स्तब्ध सहृद आदि साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं ।

प्रश्न — मुक्ति होनेके पश्चात्, क्या जीव एकाकार हो जाता है ?

उत्तर — यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुमन आनन्दका अनुमन करे नहीं । कोई पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह बिदेह-मुक्त हो गया । बान्में दूसरा पुरुष यहाँ आकर बैठा, वह भी मुक्त हो गया । परन्तु इस तरह तीसरे चौथे सबके सब मुक्त हो नहीं जाते । अहमा एक है उसका आशय यह है कि सब आत्मायें वस्तुरूपसे तो समान हैं, परन्तु स्वतन्त्र हैं, स्वानुमन करती हैं । इस कारण अहमा भिन्न भिन्न है । “अहमा एक है, इसलिये कुछे कोई दूसरी भ्रांति रखनेकी बकरत नहीं । जगत् कुछ चीज ही नहीं, ऐसे अन्तिरीहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है” — ऐसा जो कहता है, उसे विचारना चाहिये कि तब तो एककी मुक्तिसे बकर सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये । परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये अहमा भिन्न भिन्न है । जगत्की भ्रांति दूर हो गई इससे ऐसा समझना नहीं कि चन्द्र सूर्य आदि ऊपरसे नीचे गिर पड़ते हैं । इसका आशय यही है कि आत्माकी विषयसे आन्ति दूर हो गई है । कइसे कोई कल्याण नहीं । आत्माके शुद्ध विचारको प्राप्त किये बिना कल्याण होता नहीं ।

माया-रूपसे झूठ बोझनेमें बहुत पाप है । वह पाप दो प्रकारका है । मान और धन प्राप्त करनेके लिये झूठ बोले तो उसमें बहुत पाप है । आजीविकाके लिये झूठ बोझना पड़ा हो, और पश्चात्ताप करे तो उसे पहिलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है ।

बाप स्वयं पचास बरसका हो और उसका बीस बरसका पुत्र मर जाय तो वह बाप उसके पास जो आभूषण होते हैं उन्हें निकास देता है । पुत्रके देहान्त-क्षणमें जो वैराग्य था वह स्मरण वैराग्य था ।

भगवान्ने किसी भी पदार्थको दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा दी नहीं । देहको धर्मका साधन मानकर उसे निबहनेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है, उतनी ही आज्ञा दी है; बल्की दूसरेको कुछ भी देनेकी आज्ञा दी नहीं । आज्ञा दी होती तो परिग्रहकी वृद्धि ही होती, और उससे अनुक्रमसे अन्न पान आदि लोभकर कुटुम्बका अथवा दूसरोंका पोषण करके वह बड़ा दानवीर होता । इसलिये मुनिको विचार करना चाहिये कि तीर्थकरने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है वह केवल तैरे अपने लिये ही है और वह भी औक्तिक दृष्टि धुङ्गलकर समयमें खानेके लिये ही दी है ।

कोई मुनि गृहस्थके घरसे सुई छाना हो, और उसके सो जानेसे वह उसे बापित न दे, तो उसे तीन उपवास करने चाहिये — ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है । उसका कारण यही है कि वह मुनि उपयोगशून्य रहा है । यदि इतना अधिक बोझा मुनिके शिरपर न रखना जाता, तो उसका दूसरी वस्तुओंके भी अनेका गम होता, और वह कुछ समय बाद परिग्रहकी वृद्धि करके मुनिपनेको ही गुमा बैठता । ज्ञानी इस प्रकारके जो कठिन मार्गका प्ररूपण किया है उसका यही कारण है कि वह मानता है कि यह जीव विनाशका पात्र नहीं है । कारण कि वह भ्रांतिवाला है । यदि कुछ दृष्ट दी

कामसे इन्द्रियोंको प्रियता होती नहीं, और उससे कामसे इन्द्रियों वशमें होती हैं। तथा पाँच इन्द्रियों में बिना इन्द्रियके वश कामसे बाकीको बार इन्द्रियों सहज ही वश हो जाती हैं। दुष्ट ब्रह्म करना चाहिये। किसी रसको पदार्थकी ओर प्रेरित होना नहीं। बसिष्ठ ब्रह्मर करना नहीं।

जैसे किसी वर्णनमें लून, मौस, इष्टी, चमका, वीर्य, मङ्ग, और मूत्र ये सप्त धातुएँ पड़ी हुई हैं, और उसका ओर कोई देखनेके छिपे रहे तो उसके ऊपर वरुचि होती है, और ब्रह्मात्मक भी नहीं जाता उसी तरह जी-मुद्रणके धारीकी रचना है। परन्तु उसमें ऊपर ऊपरसे रमणीयता देखकर जीवको मोह होता है और उसमें वह दुष्प्राप्त्यर्थक प्रेरित होता है। अज्ञानसे जीव भ्रूयता है—ऐसा विचार कर, दुष्ट समस्तकर, पण्यकि ऊपर वरुचिमान बनाना चाहिये। इसी तरह हरेक धातुकी दुष्टता समझनी चाहिए। इस तरह समस्तकर मनका निरोध करना चाहिये।

तार्किकरने उपवास करनेकी आज्ञा की है, वह केवल इन्द्रियोंको वश करनेके लिये ही की है। अच्छे उपवासके क्रमसे इन्द्रियों वश होती नहीं, परन्तु यदि उपयोग हो तो—विचारसहित ही तो—वश होती हैं। जिस तरह कष्टरहित बाण व्यर्थ ही चला जाता है, उसी तरह उपवासरहित उपवास आत्मार्थके लिये होता नहीं।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई अपनी स्तुति करे, और यदि उससे अपनी आत्मामें आहंकार उत्पन्न हो तो वह पीछे हट जाती है। अपनी आत्माकी निन्दा करे नहीं अन्यतर दोष विचारने नहीं, तो जीव कीदिक मात्में चला जाता है। परन्तु यदि अपने दोषोंका निरोधन करे अपनी आत्माकी निन्दा करे, आहंकारसे रहित होकर विचार करे, तो सपुत्रके आत्मसे आत्मसुख होता है।

मनकि पानमें अनन्त अन्तराव है। उनमें तिर 'मैंने यह किया' 'मैंने यह ऐसा सुन्दर किया' इस प्रकारका अभिमान होता है। 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं' यह यदि रहनेसे ही वह अभिमान दूर होता है।

कीदिक और वकीदिक इस तरह दो भाग होते हैं। कीदिकसे सुख और वकीदिकसे मोह होती है।

बाह्य इन्द्रियोंको वश किया हो तो सपुत्रके आत्मसे अंतर्मुख हो सकता है। इस कारण बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इन्द्रियों वशमें हो जाय और सपुत्रका आत्मन न हो तो कीदिकमात्में चक जानेकी समायना रहती है।

उपाय लिये बिना कोई रोग मिटता नहीं। इसी तरह जीवको कोमलगी जो रोग है उसका उपाय लिये बिना वह दूर होता नहीं। ऐसे रोगके दूर करनेके लिये जीव जग में उपाय करता नहीं। यदि उपाय करे तो वह रोग हाथमें ही पाग जल। कारणको लक्ष्य करने तो ही कार्य होता है। कारण बिना कार्य नहीं होता।

सबे उपायको जीव कोशता नहीं। जीव ज्ञानी-मुद्रणके वचनोंको श्रवण करे तो उसकी पशुमें प्रतीति होती नहीं। सबे जीव छोड़ना है, ऐसी बीजमूल मात्मा हो तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे बीज-कान प्रगट होता है।

प्रश्न—आत्मा एक है अथवा अनेक ?

उत्तर—यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वमें जो रामचन्द्रजी मुक्त हो गये हैं, उससे सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये। अर्थात् एककी मुक्ति हुई हो तो सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये, और तो फिर दूसरोंको सहाय सहाय आदि साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—मुक्ति होनेके पश्चात्, नया जीव एकाकार हो जाता है ?

उत्तर—यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुभव आनन्दका अनुभव करे नहीं। कोई पुरुष यहाँ जाकर बैठा, और वह भिदेह-मुक्त हो गया। बादमें दूसरा पुरुष यहाँ आकर बैठा, वह भी मुक्त हो गया। परन्तु इस तरह तीसरे चौथे सबके सब मुक्त हो नहीं जाते। आत्मा एक है उसका आशय यह है कि सब आत्मामें वस्तुत्वसे तो समान हैं, परन्तु स्वतंत्र हैं, स्वानुभव करती हैं। इस कारण आत्मा भिन्न भिन्न हैं। “आत्मा एक है, इसलिये तुम्हें कोई दूसरी भ्रांति रखनेकी जरूरत नहीं। जगत् कुछ बीज ही नहीं, ऐसे अनिश्चित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है”—ऐसा जो कहता है, उसे विचारना चाहिये कि तब तो एककी मुक्तिसे जरूर सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न हैं। जगत्की अंति दूर हो गई, इससे ऐसा समझना नहीं कि चन्द्र सूर्य आदि ऊपरसे नीचे गिर पड़ते हैं। इसका आशय यही है कि आत्मामें विषयसे भ्रांति दूर हो गई है। हमसे कोई कल्याण नहीं। आत्मामें शुद्ध विचारको प्राप्त किये बिना कल्याण होता नहीं।

मान्य-कष्टसे छूट बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और घन प्राप्त करनेके लिये छूट बोले तो उसमें बहुत पाप है। आजीवनिकके लिये छूट बोलना पड़ा हो, और पश्चात्ताप करे तो उसे पहिलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है।

बाप स्वयं पचास बरसका हो, और उसका बीस बरसका पुत्र मर जाय तो वह बाप उसके पास जो आनन्द प्राप्त करते हैं उन्हें निकाल केता है। पुत्रके देहान्त-क्षणमें या वैराग्य था, वह स्मृति वैराग्य था।

मगधन्ते किसी भी पण्यको दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा दी नहीं। देहको बर्मेष्ट साधन मानकर उसे निवारनेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है, उतनी ही आज्ञा दी है; बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी आज्ञा दी नहीं। आज्ञा दी होती तो परिग्रहकी बुद्धि ही होती और उससे अनुक्रमसे अन्न पान आदि जाकर पुण्यकर्म अथवा दूसरोंका पोषण करके वह बड़ा दानवीर होता। इसलिये मुनिको विचार करना चाहिये कि तीर्थकरने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है वह केवल तेरे अपने लिये ही है और वह भी वैश्विक छद्म सुहाकर संपन्नमें जगन्मत्त लिये ही दी है।

कोई मुनि गृहस्थके घरसे हँस जाया हो, और उसके सो जानेसे वह उसे धांस न दे, तो उसे तीन उपवास करने चाहिये—ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है। उसका कारण यही है कि वह मुनि उपयोगशून्य रहा है। यदि इतना अधिक बोधा मुनिके सिरपर न रखा जाता, तो उसका दूसरी वस्तुओंकी भी जानेका मन होता, और वह कुछ समय बाद परिग्रहकी बुद्धि करके मुनिपनेका ही गुमा बैठता। ज्ञानीने इस प्रकारक जो कठिन मार्गका प्रवर्णन किया है उसका यही कारण है कि वह जानता है कि यह जीव विनाशका पात्र नहीं है। कारण कि वह अतिप्रकाश है। यदि कुछ दूध दी

होगी तो काष्मणसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति होगी यह जानकर ज्ञानीने दूँइ बैसी निर्भीक बन्तुके संक्षयमें भी इस तरह आचरण करनेकी आज्ञा की है। जोकनहीं इधमें तो यह बात साधारण है। परन्तु ज्ञानीको इधमें उतनी छूट भी नबसूकते पास कर सके इतनी बड़ी मायूस हाती है।

अपमन्दबन्दीके पास आज्ञानबै पुत्र यह कहनेके अतिप्राप्तसे आये थे कि 'हमें राज प्राप्त करो।' यहाँ तो अपमन्दबन्ते उपदेश देकर आज्ञानबैके अज्ञानबैको ही मूँड लिया। देखो मन्त्र पुष्पाक्ष करुणा।

केशीत्वामी और गौतमत्वामी कैसे सरल थे। दोनोंने ही एक मार्गको जाननेसे पौंच महाप्रत प्रह्व किये थे। जानकके समक्षमें दोनों पखोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने। जानकके इच्छित और तैय्या, तथा हरेक जुदे छुने संपाद्योंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने उसमें कितना ही कष्ट व्यतीत हो जाय। यद्यपि उसमें है कुछ भी नहीं, परन्तु असररक्तके कारण वह सत्य ही नहीं।

सुपुरुष कुछ सत् अनुष्ठानका त्याग करते नहीं, परन्तु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करनेके लिये उसका एक बार त्याग करते हैं। आग्रह दूर होनेके बाद पीछेसे उसे वे प्रवृत्ति करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये हैं। कोई चक्रवर्ती राजा हो उसने राज्यका स्थापन कर दीक्षा प्रवृत्ति की हो और उसकी कुछ मूढ़ हो गई और कोई ऐसी बात हो कि उस चक्रवर्तीके राज्य-काष्ठका दासीका कार्य पुत्र उस भूखको सुचारु सञ्चाल हो, तो उसके पास जाकर, चक्रवर्तीको उसके कर्मके प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की गई है। यदि उसे उस दासीके पुत्रके पास जाते समय ऐसा हो कि मैं दासीके पुत्रके पास कैसे जाऊँ तो उसे मटक मटककर मरना है। ऐसे कारणोंके उपस्थित होने-पर जोक-ज्ञानको ग्रहणनेका ही उपदेश किया है; अर्थात् यहाँ आत्माको उच्च के जानेका कोई अवसर हो यहाँ जोक-ज्ञान नहीं मानी गई। परन्तु कोई मुनि विषय इच्छासे वेष्टाने पर जाय और यहाँ जाकर उसे ऐसा हो कि मुझे जोग देख जोग तो मेरी निष्ठा होगी, इसलिये यहाँसे वापिस लौट चक्रवर्ती चाहिये। तो यहाँ जोक-ज्ञान रखनेका विधान है। क्योंकि ऐसे स्थानमें जोक-ज्ञानका भय जानेसे अक्षय्य रहता है जो उपकारक है।

हितकारी क्या है उस समझना चाहिये। वाठमकी तकसारकी स्थितिमें लिये करना नहीं, परन्तु हरियालीके रक्षणके लिये ही स्थिति पावनी चाहिये। हरियालीके रक्षणके लिये वाठम बाँटि स्थिति करी गई है कुछ स्थितिमें लिये वाठम वापिसको कहा नहीं। इसलिये वाठम वापि स्थितिमें कटावको दूर करना चाहिये। जो कुछ कहा है वह कटावके करनेके लिये कहा नहीं। अज्ञानको मुश्तिसे जितना करोगे उतना ही हितकारी है। जितना अज्ञानसे करोगे उतना ही अहितकारी है इसलिये मुश्तिपूर्वक सङ्कटका सेवन करना चाहिये।

हमें तो आराधन, वैष्णव आह जो हो सब समान हैं। कोई जैन कहा जाता हो और मम्म मम्म हो तो वह अहितकारी है, मतारहित ही हितकारी है।

सामाजिक शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखनी होगी, तो पीछेसे विचार करेगा; नियम नहीं बाँचा हो तो हमारे काममें वह जायगा उंठा समझकर उस प्रकारका नियम बाँचा।

जैसा मनका परिणाम हो वैसा ही सामायिक होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो तो कर्मबन्ध होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो और सामायिक किया हो तो उसका पक्ष कैसा हो !

कर्मबन्धको थोड़ा थोड़ा छोड़नेकी इच्छा करे तो छूटे। जैसे कोई कोठी मरी हो, और उसमेंसे कण कण फरके निकाला जाय तो वह अतमें खाड़ी हो जाती है। परन्तु वह इच्छासे कर्मको छोड़ना ही सार्थक है।

आवश्यक छह प्रकारके हैं—सामायिक, चौबीसघण्टे, बदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्यास्थान। सामायिक अर्थात् सात्वत-योगकी निवृत्ति।

बचना (बौधना) पृच्छना (पूछना), परिचर्चना (फिर फिरसे विचार करना) और धर्मकथा (धर्मविषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं, और अनुप्रेक्षा ये भाव हैं। यदि अनुप्रेक्षा न आवे तो पहिले चार द्रव्य हैं।

अज्ञानी लोग ' आवकछ केवलज्ञान नहीं है, मोक्ष नहीं है ' ऐसी हीन पुरुषार्थकी बातें करते हैं। ज्ञानीका बचन पुरुषार्थ प्रेरित करनेवाला होता है। अज्ञानी शिथिल है, इस कारण वह ऐसे हीन पुरुषार्थके बचन कहता है। पंचम काव्यकी, भवस्थितिकी अथवा आयुकी बातको मनमें अना नहीं और इस तरहकी बाणी सुनना नहीं।

कोई हीन-पुरुषार्थी बातें करे कि उपपन्न कारणकी क्या जरूरत है? पूर्वमें अशोष्याकेबली हो ही गये हैं। तो ऐसी बातेंसे पुरुषार्थ-हीन न होना चाहिये। सत्संग और सत् साधनके बिना कर्मों भी कल्याण होता नहीं। यदि अपने आपसे ही कल्याण होता हो, तो मिष्टीमेंसे स्वयं ही घड़ा उत्पन्न हो जाता। परन्तु काखों काँच म्यतीत हो जायें फिर भी मिष्टीमेंसे घड़ा स्वयं उत्पन्न होता नहीं। उसी तरह उपपन्न कारणके बिना कल्याण होता नहीं। शास्त्रका बचन है कि तीर्थस्नानका संयोग हुआ और फिर भी कल्याण नहीं हुआ उसका कारण पुरुषार्थ-रहितपना ही है। पूर्वमें उन्हें ज्ञानीका संयोग हुआ या फिर भी पुरुषार्थके बिना जैसे वह योग निष्कल चला गया उसी तरह जो ज्ञानीका योग निष्कल है, और पुरुषार्थ न करे तो वह योग भी निष्कल ही चला जायगा। इसलिये पुरुषार्थ करना चाहिये और तो ही कल्याण होगा। उपपन्न कारण यष्ट है।

ऐसा निश्चय करना चाहिये कि संपुरुषके कारण—निमित्तसे—जनत जीव पार हो गये हैं। कारणके बिना कोई जीव पार होता नहीं। अशोष्याकेबलीको जागे पाछे वैसा संयोग निष्कल होगा। सत्संगके बिना समस्त जगत् हूबही गया है।

मीरभार्थ महामतिज्ञान थी।

छुदर आचरणवाले सुन्दर समागमसे समता आती है। समताके विचारके लिये दो बड़ी सामायिक करना कहा है। सामायिकमें मनक मनोरथको उरुग सीधा चित्त करे तो कुछ भी फल न हो। सामायिकका मनके दोहरे हुए थोड़ेको थकनेके लिये प्ररूपण किया है। एक पक्ष, संवत्सरके षडसप्तमी शोधकी तिथिका आग्रह करता है, और दूसरा पक्ष पौषमासी तिथिका आग्रह करता है। आग्रह करनेवाले दोनों ही निष्पत्ती हैं। ज्ञानी-पुरुषोंने तिथियोंकी मर्यादा आत्माके लिये ही की है। क्योंकि यदि कोई एक दिन निदिधित न किया होता तो व्यावहारिक विधियोंका निषेध रहता नहीं। अहमार्थके लिये तिथिकी

मर्यादा का ध्यान देना चाहिये। बाकी विधि-विधिके भेदको छोड़ ही देना चाहिये। ऐसी कल्पना करना नहीं, ऐसी भगवान्‌लक्ष्मी पड़ना नहीं।

वान्प्रधानीने कहा है —

फल अनेकांत सोचन न देखे,

फल अनकांत किरिया करी बापदा, रहबहे चार गतिमाहि सेसे।

अर्थात् जिस क्रियाके कारणसे अनेक फल हों वह क्रिया मोक्षके लिये नहीं है। अनेक क्रिया-बोझ फल मोक्ष ही होना चाहिये। अहमाके बंधोंके प्रगट होनेके लिये क्रियाबोझ वर्जन किया गया है। यदि क्रियाबोझ वह फल न हुआ हो तो वे सब क्रियाएँ ससारकी ही हेतु हैं।

‘निदामि गरिहामि अप्याण बोसिरामि’ ऐसा जो कहा है, उसका हेतु कथायन्त्रे विस्मरण करानेका है परन्तु भोग तो विचार एकदम अहमाको ही विस्मरण कर देते हैं।

जीवको देवगणिकी मोक्षके सुलक्ष्म, और अन्य उस तरहकी कामनाकी इच्छा न रखनी चाहिये। पंचमहायन्त्रके गुरु कैसे होते हैं उसका एक सन्यासीका इष्टान्त —

कोई सन्यासी अपने शिष्यके घर गया। ठंड बहुत पड़ रही थी। मोहन करने बैठनेके समय शिष्यने स्नान करनेके लिये कहा, तो गुरुने मनमें विचार किया कि ठंड बहुत पड़ रही है और इसमें स्नान करना पड़ा, यह विचार कर सन्यासीने कहा कि ‘मैंने तो ज्ञान-गंगाजलमें स्नान कर लिया है। शिष्य बुद्धिमान् था वह समझ गया और उसने ऐसा रास्ता पकड़ा जिससे गुरुकी कुछ शिष्टा मिले। शिष्यने गुरुजीको मोहन करनेके लिये मानपूर्वक बुला कर उन्हें भोजन कराया। प्रसाद लेनेके बाद गुरु महाप्राण एक कमरेमें सो गये। गुरुजीको जब प्यास लगी तो उन्होंने शिष्यसे जल माँगा। इसपर शिष्यने तुरत ही जवाब दिया ‘महाप्राण आप ज्ञान-गंगामें ही जल लें। जब शिष्यने ऐसा कटिल रास्ता पकड़ा तो गुरुने स्वीकार किया कि ‘मेरे पास ज्ञान नहीं है। देहकी सत्ताके लिये ही मैंने स्नान न करनेके लिये ऐसा कहा दिया था।’

मिथ्यापद्धतिके पूर्वके अप-तप अमीत्यन भी एक अग्रगणितार्थके लिये हुए नहीं।

अहमा मुष्पत्तरामे अभ्यन्ममात्से आचरण करे यह ‘अभ्यासज्ञान’। मुरुपत्तरसे जिसमें अहमाका वर्जन किया हो वह अभ्यासज्ञान। अन्तर (घाट) अभ्यासकी मोक्ष होता नहीं। जा गुण अष्टमें कहे गये हैं वे गुण यदि आत्ममें रहें तो मोक्ष हो जाय। सपुरुषमें माय-अभ्यास प्रगट रहता है। कबल बागीके सुननेके लिये ही जो बचनोंको सुने उसे शब्द-अभ्यासी कहना चाहिये। शब्द-अभ्यासी भोग अभ्यासकी बातें करते हैं और महा अवर्ण्यकारक आचरण करते हैं। इस कारण उन त्रैलोक्यो ज्ञान-रूप कहना चाहिये। ऐसे अभ्यासियोंको सुपुत्र और अज्ञानी समझना चाहिये।

ज्ञानी-गुरुज्योती सूर्यके प्रगट होनेके पश्चात् सवे अभ्यासकी सुपुत्र शक्तिसे आचरण करते नहीं वे माय-अभ्यासमें ही प्रगटकरसे रहते हैं। अहमामें सवे सवे गुणोंके उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होनी है। इस कारण अभ्यास-अभ्यासी ज्ञानरूप बहुत हैं। अभ्यास-अभ्यासी केवल मरिचके कलशकी शामाके समान हैं।

मोह आदि विकार इस तरहके हैं कि जो सम्पत्तिको भी चलायमान कर सकते हैं, इसलिये तुम्हें तो ऐसा समझना चाहिये कि मोक्ष-मार्गके प्राप्त करनेमें ऐसे अनेक विघ्न हैं। आयु तो थोड़ी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस प्रकार नौका तो छोटी हो और बड़ा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है और ससाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए हैं, उन पुरुषोंको धन्य है। अज्ञानी जीवका खबर नहीं कि अमुक जगह गिरनेकी है, परन्तु वह ज्ञानियोंश्रय देखी हुई है। अज्ञानी-द्रव्य-अध्यायी-कहते हैं कि मेरेमें कपाय नहीं है। सम्पत्ति चैतन्य-संयोगसे ही है।

कोई मुनि गुप्तमें ध्यान करनेके लिये जा रहे थे। वहाँ एक सिंह निक गया। मुनिके हाथमें एक छकरी थी। 'सिंहके सामने यदि छकरी उठाई जाय तो सिंह भाग जायगा,' इस प्रकार मनमें होनेपर मुनिको विचार आया कि 'मैं अहमा अजर अमर हूँ, देहस प्रेम रखना योग्य नहीं। इसलिये हे जीव ! यही खड़ा रह। सिंहका जो भय है वही अज्ञान है। देहमें मूच्छाके कारण ही भय है,' इस प्रकारकी भावना करते करते वे दो चरितक वहाँ खड़े रहे, कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिये विचार विचार दशार्थ बहुत ही अन्तर है।

उपयोग जीवके बिना होता नहीं। जब और चैतन्य इन दोनोंमें परिणाम होता है। देहवशी जीवमें अल्पवसायकी प्रवृत्ति होती है, सकल्य-विकल्य उपस्थित होते हैं, परन्तु निर्विकल्यपना ज्ञानसे ही होता है। अल्पवसायका ज्ञानसे क्षय होता है। यही ध्यानका इतु है। परन्तु उपयोग रहना चाहिये।

धर्मध्यान और श्रुतध्यान उत्तम कहे जाते हैं। आर्त और रौद्रध्यान मिथ्या कहे जाते हैं। वाक् उपधि ही अल्पवसाय है। उत्तम धन्या हो तो ध्यान कहा जाता है, और अहमा सम्पत् परिणाम प्राप्त करती है।

माणिक्यदासजी एक वेदान्ती थे। उन्होंने मोक्षकी अपेक्षा सम्पत्तिको ही अधिक परार्थ माना है। उन्होंने कहा है —

निम छदनस ना मिठे, हीरा बैकुण्ठ पाय ।

सतकृपासे पाईये, सो हरि सबसे ठाम ।

कुतूह और अज्ञानी पाण्डित्योंका इस काव्यमें पार नहीं।

बड़े बड़े बरघोड़ा चढ़ाने, और प्रभु खर्च करे—यह सब ऐसा जानकर कि मेरा कल्याण होगा। ऐसा समझकर हजारों रुपये खर्च कर बाँधता है। एक एक पैसेको झूठ बोल बोलकर तो इकट्ठा करता है और एक ही साथ हजारों रुपये खर्च कर देता है। देखो, जीवका कितना अधिक अज्ञान ! कुछ विचार ही नहीं आता।

आत्माका जैसा स्वरूप है उसके उसी स्वरूपको 'यथास्थाय चाहिष' कहा है। भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहीनीका होता नहीं। नागका भय नागिनीको होता नहीं। इसका कारण यही है कि उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जबतक सम्पत्त्य प्रगट न हो तबतक मिथ्यात्व है और जब मिथ्य गुणस्थानकका नाश हो तब तब सम्पत्त्य कहा जाता है। समस्त अज्ञानी पहिले गुणस्थानकमें हैं।

संशय-सद्वृत्तों के वाग्व्यसे जो समय होता है, उसे 'समसमय' कहा जाता है। निश्चित अनिश्चितस्थानकका कन्तर पड़े तो समसमयमेंसे 'बीतसमय' पैदा होता है। उस निश्चित अनिश्चित दोनों ही बराबर हैं। स्वप्नसे कल्पना होना 'भाति' है। 'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' इस प्रकारका भाव 'शंका' है। समझनेके लिये विचार करके पूछनेको 'आशंका' कहते हैं।

अपने आपसे जो समझमें न आवे, वह 'आशंका मोहनीय' है। सच्चा ज्ञान किया हो और फिर भी सच्चा सच्चा भाव न आवे, वह भी 'आशंका मोहनीय' है। अपने आपसे जो समझमें न आवे उसे पूछना चाहिये। मूढस्वभाव जाननेके पश्चात् उत्तर विषयके स्वयंमें वह किन्तु ठग होना, इस प्रकार जाननेके लिये जिसकी आकांक्षा हो उसका सम्यक्त्व नष्ट होता नहीं बर्षात् वह पतित होना नहीं। मिथ्या भास्तिका होना शंका है। मिथ्या प्रतीति जनतन्मुखीमें ही गर्भित हो जाती है। मत्त-महोत्तरे दोषका देखना मिथ्यात्व है। ध्येयपथम बर्षात् तप और उपवास हो जाना।

(६) रक्तवज्र बाध प्रवेश ब्रह्मके नीचे दोषरके दो बने

परि ज्ञान-मार्गका आराधन करे तो रास्ते चकटे हुए भी ज्ञान हो जाता है। समझमें वह भाव तो आत्मा सहजमें ही प्रगट हो जाय, नहीं तो चिन्तनी बीत जाय तो भी प्रगट न हो। केवल माहात्म्य समझना चाहिये। निष्काम बुद्धि और मति चाहिये। अंतःकरणकी छद्मि हो तो ज्ञान स्वतः ही उत्पन्न हो जाता। परि ज्ञानीका परिचय हो तो ज्ञानी प्राप्ति होती है। यदि किसी बीनको योग्य देखे तो ज्ञानी उसे कहता है कि समस्त कल्पना छोड़ देने बैठी हो है। ज्ञान क। ज्ञानीको जीव यदि ओष-स्वासे पहिचाने तो मयार्थ ज्ञान होता नहीं।

जब ज्ञानीका त्याग—छद्म त्याग—आवे बर्षात् वैसा चाहिये वैसा परार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे, तो माया मुक्त होती है, इसलिये बराबर जागृत रहना चाहिये और मायाको दूर करते रहना चाहिये। ज्ञानीके त्याग—ज्ञानीके बताये हुए त्याग—के लिये कमर कसकर तैयार रहना चाहिये।

जब संसृंग हो तब माया दूर रहती है। और संसृंगका संयोग दूर हुआ कि वह फिर तैयार-रकी तैयार कही है। इसलिये बाध उपाधिको कम करना चाहिये। इससे विरोध संसृंग होता है। इस कारणसे बाध त्याग करना श्रेष्ठ है।

ज्ञानीका दुःख नहीं। अज्ञानीको ही दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचारणका सेवन करना चाहिये। जो नकली रंग दे वह तो गच्छी ही है। असली रंग ही सदा रहता है। ज्ञानीके मित्रनके पश्चात् देह दृष्ट गर्ह, बर्षात् देह धारण करना नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानीके बचन प्रथम तो कहुने लगते हैं, परन्तु पीछेसे माधुम होता है कि ज्ञानी-गुरु संसारके अन्तर्गत इन्होंने दूर करता है। जैसे बीनक कहुनी तो होती है, परन्तु वह दीर्घकालके रोगको दूर कर देती है।

त्यागके ऊपर हमेशा छद्म रहना चाहिये। त्यागको शिथिल नहीं रहना चाहिये। भावकको तीन मनोरथ चितवन करने चाहिये। सत्यमार्गकी आराधना करनेके लिये मायासे दूर रहना चाहिये। त्याग करती ही जाना चाहिये। माया किस तरह मुझ देती है, उसका एक दृष्टान्त —

एक सन्यासी पञ्चा करता था कि 'मैं मायाको घुसनेतक मौ न दूँगा, मैं नम होकर निचकूँगा'। मायाने कहा कि 'मैं तेरे आगे आगे चकूँगी'। सन्यासीने कहा कि 'मैं जगलमें अकेला निचकूँगा'। मायाने कहा 'मैं सामने आ जाऊँगी'। इस तरह वह सन्यासी जगलमें रहता, और 'मुझे कम्बु और रेत दोनों समान हैं' यह कहकर रेतपर सोया करता। एक दिन उसने मायासे पूछा कि 'बोल अब तू कहाँ है?' मायाने समझ लिया कि इसे गर्व बहुत बढ़ रहा है, इसलिये उसने उत्तर दिया कि 'मेरे आनेकी जरूरत क्या है?' मैं अपने बड़े पुत्र अहंकारको तेरी खिदमतमें मेज डाल चुकी हूँ।

माया इस तरह ठगती है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि 'मैं सबसे न्याय हूँ, सर्वथा स्वामी हो गया हूँ, अभवत हूँ नम्र हूँ, तपस्वियाँ करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दगा बहुत ही श्रेष्ठ है। माया मुझे देखेगी नहीं' ऐसी मात्र कल्पनासे मायाझरा ठगाये जाना नहीं चाहिये।

स्वच्छन्दमें अहंकार है। जबतक राग-द्वेष दूर होते नहीं तबतक तपस्वियाँ करनेका फल ही क्या है! 'जनकविन्दोमें विन्दोपना हो नहीं सकता, यह केवल कल्पना है। संसारमें विन्दोपना रहता नहीं,' ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। अपनापन दूर हो जानेसे उस तरह रहा जा सकता है। जनकविन्दोकी दशा उचित है। जब बसिष्ठजीने रामको उपदेश दिया, उस समय राम गुरुको राम्य वर्णन करने लगे, परन्तु गुरुने राम्य किया ही नहीं। शिष्य और गुरु ऐसे होने चाहिये।

अज्ञान दूर करना है। उपदेशसे अपनापन दूर इटाना है। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख खत्म गया।

ज्ञानी गृहत्यागसमे बाध उपदेश मत देते नहीं। जो गृहत्यागसमे हो ऐसे परमज्ञानी मार्ग चलाते नहीं; मार्ग चलातेकी रीतिसे मार्ग चलाने नहीं; स्वयं अविरत रहकर मत प्रवृत्त करते नहीं, क्योंकि ऐसा करनेसे बहुतसे कारणोंमें विरोध आना संभव है।

सत्यम भक्तिसे ज्ञान होता नहीं। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अमृतता है। वे अनिच्छामात्रसे उपदेश देते हैं, शृङ्खलित होते हैं। उपदेश ज्ञानका माहुरम्य है। माहुरम्यक कारण अनेक जीव कोष पाते हैं।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है; जो संसारके फलका कारण है। जगत्में अज्ञानीका मार्ग अधिक है। ज्ञानीको मिथ्याभार धुप हो गया है; आईभाष दूर हो गया है। इसलिये उसके अमृत्य बंधन निकलते हैं। बाध-जीवोंको ज्ञानी-अज्ञानीकी पहिचान होती नहीं।

आचार्यजीने जीवोंकी स्वभावस प्रमाणी जाणकर, दा दा तीन तीन तिनके अन्तरसे नियम पाठनेका आदेश की है। निधियोंके लिये मिथ्याग्रह म रम उस छोड़ना ही चाहिये। कल्पद्रुमके रम निधियों बनाई हैं परन्तु उमके बढ़ते उसी तिन कल्पद्रुम बढ़ता है। हाथमें बहुत बरतसे पम्पनमें निधियोंकी भाति चला करती है। निधियोंक नियमोंका मरुतर तरार करना मोक्ष ज्ञानका रास्ता नहीं। अविद्य पञ्चमखा तिन न पात्र जाय, और कार्य छक्का तिन पात्रे

और आत्ममें कोमलता हो तो वह फलदायक होता है। जिससे वास्तवमें पाप समाता है, उसे रोचना अपने हृदयमें है, यह अपनेसे बन सकने जैसा है; उसे जीव रोमता नहीं और दूसरी शिथिल अवस्था पोंही फिक्र किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप रस, गंध और स्पर्शका मोह छाटा जाता है, उस मोहका दूर करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरलितके पापकी चिन्ता होती हो उससे यहाँ खा ही कैसे आ सकता है !

स्वयं त्याग कर सकता नहीं और बहाना बनाये कि मुझे क्लेशरूप बहुत है। जब धर्मका प्रसंग आवे तो कहता है कि 'उत्थ है'। 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुत्रेमें गिर पड़ता नहीं। गाँवमें बैठा हो और गङ्गा का पाने तो सञ्चनमें सैमककर बैठता है। उस समय उदयकी मूख जाता है। अर्थात् अपनी तो शिथिलता हो, उसके बदले उदयका दोष निकालता है।

भौतिक और अलोचर विचार जुदा जुदा होता है। उदयका दोष निकालना यह भौतिक विचार है। अनादि क्लेशके कर्म तो दो बहीमें नाश हो जाते हैं इसलिये कर्मका दोष निकालना चाहिये नहीं; आत्मकी ही निन्दा करनी चाहिये। धर्म करनेकी बात आवे तो जीव पूर्ण कर्मके दोषकी बातको जगो कर देता है। पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। पुरुषार्थको पहिंके करना चाहिये। दिव्यत्व, प्रभव और अश्रुम योगका त्याग करना चाहिये।

कर्मके दूर किये बिना कर्म दूर होनेवाले नहीं। इतनेके लिये ही ज्ञानियोंने शास्त्रोंकी रचना की है। शिथिल होनेके साधन नहीं बताये। परिणाम कैसे आने चाहिये। कर्म उदयमें आवेगा, वह मनमें रहे तो कर्म उदयमें जाता है। बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाय। जिससे उपकार हो वही छुड़ रखना चाहिये।

(७) ब्रह्मा सुमे ११ बजे भाषण सुदी १ शुक्र १९५२

कर्म गिन गिनकर माया लिये नहीं आते। ज्ञानी-पुरुष तो एक साथ ही सबके सब इच्छे कर माया कर देता है।

विचारवानको दूसरे आश्रयन छोड़कर जिससे आत्मके पुरुषार्थका अर्थ हो वैसा आश्रयन लेना चाहिये। कर्म-बन्धनका आश्रयन नहीं लेना चाहिये। आत्मामें परिणाम हो वह अनुपेक्षा है।

निर्दिष्ट धर्म करनेकी सत्ता है परन्तु जब दैव अथ कुम्हार आदि इच्छे हो तभी तो। इसी तरह आत्मा मिश्ररूप है उसे सहस्रगुण आत्मिका साधन मिले तो ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह पूर्वकाशीन ज्ञानियोंने जो ज्ञान संपादन किया है उसके साथ और वर्तमानमें जो ज्ञान ज्ञानी-पुरुषोंने संपादन किया है उसके साथ पूर्णपर सबल होना चाहिये, नहीं तो आत्मज्ञानको ही ज्ञान मान लिया है ऐसा कहा जायगा।

ज्ञान दो प्रकारका है—एक बीजभूत ज्ञान वार दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों ही समान हैं उनमें भेद नहीं। वृक्षभूत—सर्वथा निराश्रय ज्ञान—हो तो उही भयसे मोक्ष हो जाय और बीजभूत ज्ञान हो तो अन्तमें फलदायक भयमें मोक्ष हो।

आमा अन्तरी है अर्थात् वह वर्ण गन्ध रस और स्पर्शरहित वस्तु है—अचल नहीं।

जिसे परार्थानुशीलता होती है उसमें बहुत कठिनायिका उपयोग किया है।

वच अनक अपेक्षाओंसे होता है, परन्तु मूख प्रकृतियों आठ हैं। वे कर्मकी धौंटीको उधबनके लिये आठ प्रकारकी कही हैं।

वासु कर्म एक ही भवका बँधता है। अधिक भवकी वासु बँधती नहीं। यदि अधिक भवकी वासु बँधि ता किसीको भी केवलज्ञान उत्पन्न न हो।

ज्ञानी-पुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताता है, वह उपकारके लिये ही बताता है। ज्ञानी-पुरुष मार्गमें मूढे मटके हुए जीवको सीधा रास्ता बताते हैं। जो ज्ञानीक मार्गसे चले उसका कल्याण हो जाय। ज्ञानीके बिछ होनेक पश्चात् बहुत काज बजा जानेसे अर्थात् अवकार हो जानेसे अज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है, और ज्ञानी-पुरुषोंके बचन समझमें नहीं आते। इससे लोगोंको उस्त्य ही भासित होता है। समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना छेदे हैं। गच्छके भेद ज्ञानियोंने बनाये नहीं। अज्ञानी मार्गका छोप करता है। ज्ञानी हो तो मार्गका उधोत करता है। अज्ञानी ज्ञानीके सामने होते हैं। मार्गके समुत्पन्न होना चाहिये।

बाह और अज्ञानी जीव छोटी छोटी बातोंमें भेद बना छेदे हैं। शिक्षक और मुँहपसी बैगल्लके आप्रह्ममें कल्याण नहीं। अज्ञानीको मतभेद करत हुए देर लगाती नहीं। ज्ञानी-पुरुष कर्म-मार्गके वृक्षके छुद-मार्गका प्ररूपण करते हैं तो ही जीवको शुद्ध भासित होता है, और वह समझता है कि यह अपना धर्म नहीं। जो जीव कदाप्रवृत्ति हो वह शुद्ध मार्गका आदर करता है। विचारवानोंको तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है। अज्ञान मार्गके अनन्त भेद हैं।

जैसे अपना छबका कुजड़ा हो और दूसरेका छबका अतिरूपवान हो, परन्तु प्रेम अपने छबके-पर ही होता है, और वही अच्छ भी लगता है उसी तरह जो कुज-धर्म अपने आपने स्वीकार किया है, वह चाह कैसा भी रूपयुक्त हो, तो भी वही सन्धा लगता है। वैष्णव, बौद्ध, शैतान्बर, निगम्बर जैन आदि जादे कर्मों में हो परन्तु जो कदाप्रवृत्ति भावसे शुद्ध समतासे आचरणोंको धन्यता उसीका कल्याण होगा।

(कायाकी) सामायिक कायाके रोगको रोकती है। आत्माके निर्मल करनेके लिये कायाके योगको रोकना चाहिये। रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है। कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा एकवार तो आत्माकी सामायिक करो। ज्ञानी-पुरुषके बचन सुन सुनकर गौंठ बाँधो तो आत्माकी सामायिक होगी। मोक्षका उपाय अनुभवगोचर है। जैसे अम्यास करते करते आगे बढ़ते हैं, वैसे ही मोक्षके लिये भी समझना चाहिये।

जब आत्मा को भी क्रिया न करे तब अर्बण कहा जाता है।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त हो। अनन्तकालके कर्म हों और यदि जीव पपार्थ पुरुषार्थ करे, तो कर्म यह नहीं कहता कि मैं मही जाता। दो घड़ीमें अनन्त कर्म मास हो जाते हैं। आत्माकी पहिचान हो तो कर्मका मास हो जाय।

प्रश्न —सम्पन्न किससे प्रगट होता है ?

उत्तर —आत्माका यथार्थ ब्रह्म हो उससे। सम्पन्न दो तरहका है —१ व्यच्छार और २

परमार्थ । सदृशके बचनोंका सुनना उस बचनोंका निवार करना, उनको प्रतीति करना, वह 'व्यपहार सम्पत्त्व' है । अज्ञातकी पहिचान होना वह 'परमार्थ सम्पत्त्व' है ।

अन्तःकरणकी धुसिके बिना बोध असर करता नहीं; इसलिये प्रथम अन्तःकरणमें कोमल बानी चाहिये । व्यपहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें आग्रहहित रहना चाहिये—असल मानते रहना चाहिये । अज्ञातके स्वभावका जो आचरण है, उस बानी 'कर्म' कहते हैं ।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो उस समय सम्पत्त्व प्रगट होता है । अन्तःसुखकी चार कथन, मिथ्यात्वबेज्ज्ञानीय, मिथ्योद्घनीय, समकितमोद्घनीय, ये सात प्रकृतियों जब क्षय हो औप उस सप्त सम्पत्त्व प्रगट जाता है ।

प्रश्न —क्याय क्या है ?

उत्तर —सुपुरुष मित्रनेपर जीवको बताते हैं कि तू जो निवार किये बिना करता जरा है, उसमें कल्याण नहीं, फिर भी उसे करनेके लिये जो दुरुप्रह रहता है, वह क्याय है ।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने, और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने वह 'मिथ्यात्व मोद्घनीय' है । उन्मार्गसे मोक्ष होता नहीं इसलिये मार्ग कोई दूसरा ही होना चाहिये—ऐसे मानको 'मित्र मोद्घनीय' कहते हैं । अज्ञात वह होगी—ऐसा ज्ञान होना 'सम्पत्त्व मोद्घनीय' है । 'अज्ञात है'—ऐसा निश्चयमान 'सम्पत्त्व' है ।

नियमसे जीव कोमल होता है । दया जाती है । मनके परिणाम उपयोगसहित हो तो कर्म कम लगेंगे; और यदि उपयोगसहित हो तो अधिक कम । अन्तःकरणको कोमल करनेके लिये—पुरुष करनेके लिये—अन्तःकरण करनेका निधान किया है । स्वार-मुद्रिको कम करनेके लिये नियम करना चाहिये । कुक्ष-धर्म नहीं वहाँ देखते हैं वही वहाँ रहतेमें जाता है ।

(८) बहवा भाष्य सुदी ११ वानि १९५२

औक्तिक दृष्टिमें वैतथ्य मक्ति नहीं है पुरुषार्थ करना और स्वयं रीतिसे आचरण करना अलग ही जाता नहीं । उसे तो श्रेय मूक ही गये हैं ।

जैसे जब बरसात जाती है तो पानीको टंकीमें भरकर रख लेते हैं वैसे ही मुमुक्षु जीव इतना इतना उपदेश सुनकर उसे जरा भी ग्रहण करता नहीं वह एक आधर्म्य है । उसका उपकार किस तरह हो ?

ज्ञानियोंने दोनके घटनेके लिये अनुभवके बचन कहे हैं, इसलिये कैसे बचनोंका स्मरण कर पाएँ उन्हें समझा जाय—उनका ज्ञान-मनन हो—तो सहज ही अज्ञात उग्रह हो जाय । ऐसा करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है । उन बचनोंका निवार न करे तो कभी भी दोष घटे नहीं ।

सदाचार सेवन करना चाहिये । ज्ञानी-पुरुषाने दया सत्य, अद्वैतब्रह्म ब्रह्मचर्य परिष्कृत परिमाण बौद्धका सदाचार कहा है । ज्ञानियोंन जिन सदाचारोंका सेवन करना बताया है, वे पर्याप्त हैं—सेवन करने योग्य हैं । बिना साधार्थिक जीवको ब्रह्म-नियम करने चाहिये नहीं ।

नियम बन्धन आदि गेयोंके गये बिना जब सामान्य आशयवाले दया आदि भी जाने नहीं तो फिर

गहन आशयवाले दया कराए तो कहाँस जाते ? विषय कपायसहित मांश जाते नहीं । अतः करणकी शुद्धिके बिना आत्मज्ञान होता नहीं । मरि सव दोषोंका छय करनेवासी है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट है ।

जीवको विकल्पका व्यापार करना चाहिये नहीं । विचारबानका अविचार और अकाम करते हुए शोभ होता है । अकार्य करते हुए भिसे शोभ न हो वह अविचारवान है ।

अकार्य करते हुए प्रथम भितना कष्ट रहता है उतना कष्ट दूसरी बार करते हुए रहता नहीं । इसलिये पहिलेसे ही अकार्य करनेसे रुकना चाहिये—इह निश्चय कर अकार्य करना चाहिये नहीं ।

सत्पुरुष उपकारक छिय जो उपदेष्ट करते हैं, उसे श्रवण करे और उसका विचार करे, तो अक्षय ही जीवके दोष घटे । पारस भणिका सयोग हुआ, और पत्थरका सोना न बना, तो या तो अक्षय पारसमणि ही नहीं, या अक्षय पत्थर ही नहीं । उसी तरह जिसका उपदेष्टसे अपना सुवर्णमय न हो, तो या तो उपदेष्ट ही सत्पुरुष नहीं और या उपदेष्ट खेनेवाला ही योग्य जीव नहीं । जीव योग्य हो और सत्पुरुष सदा हो तो गुण प्रगट हुए बिना नहीं रहें ।

औकिक आत्मन कमी करना ही नहीं चाहिए । जीव स्वयं जागृत हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जायें । जैसे कोई पुरुष घरमें नींदमें पड़ा सो रहा है उसके घरमें कुत्ते निछिरी बौराए घुस कर नुक्सान कर जायें, और बागमें जागनेके बाद वह पुरुष नुक्सान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणियोंका दोष निकाले, किन्तु अपना दोष निकाले नहीं कि मैं सो गया था इसीलिये ऐसा हुआ है इसी तरह जीव अपन दोषोंको देखता नहीं । स्वयं जागृत रहता हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जायें, इसलिये स्वयं जागृत रहना चाहिये ।

जीव ऐसा कहता है कि मेरे लुप्ता, व्यर्थकार, शोभ आदि दोष दूर होते नहीं, अर्थात् जीव अपने दोष निकालता नहीं और दोषोंके ही दोष निकालता है । जैसे गरमी बहुत पड़ रही हो और इसलिये बाहर न निकल सकते हों, तो जीव सूर्यका दोष निकालता है, परन्तु वह छतरी और जूते को मूर्खतासे बचनेके लिये बताय है उनका उपयोग करता नहीं । इतनी-गुरुयोंने औकिक मात्र छोड़कर जिस विचारसे अपने दोष घटाये हैं—नाश किये हैं—उन विचारोंको और उन उपायोंको ज्ञानियोंने उपकारके लिये कहा है । उन्हें श्रवण कर जिससे आत्मामें परिणाम हो ऐसा करना चाहिये ।

किस तरहसे दोष घट सकता है ? जीव औकिक मार्गोंको तो किये चला जाता है, और दोष क्यों घटते नहीं ऐसा कहा करता है ।

मुमुक्षुओंको जगत् अति जगत् होकर वैराग्यका बहाना चाहिये । सत्पुरुषके एक बचनको सुनकर यदि अन्तर्में दोषोंके रहनेके कारण बहुत ही खेद करेगा, और दोषको घटावेगा तो ही गुण प्रगट होगा । सर्वज्ञ-समागमकी आवश्यकता है । वाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक मार्गदर्शक दूसरे मार्ग दर्शकोंको रास्ता बताकर चला जाता है उसी तरह रास्ता बताकर चला जाता है । शिष्य बनानेकी सत्पुरुषकी इच्छा नहीं । जिसे दुष्टमाह दूर हुआ उसे आत्माका माल होता है । भ्रान्ति दूर हो तो तुरत ही सम्पत्ति उत्पन्न हो जाय ।

बाहुबलियोंको, जैसे केवलज्ञान प्राप्तमें ही—अन्तरमें ही—या कुछ बाहर न था, उसी तरह सम्पत्ति अपने पास ही है ।

जीव अहंकार रखता है, असत् बचन मोखता है, भ्रान्ति रखता है, उसका उसे किञ्चुड़ भी मान नहीं। इस मानक हुए बिना निस्तारा होनेवाला नहीं।

घरदार बचनोंको दूसरा एक भी बचन नहीं पहुँचता। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझने नहीं आता। बह्मण कलकलत काहता हो तो उसे छोड़ देना चाहिये। कलाम्हमें कुछ भी हित नहीं। हिम्मत करके आम्ह—कलाम्हसे—दूर रहना चाहिये, परन्तु बिरोध करना चाहिये नहीं।

जब ज्ञानी-पुरुष होते हैं, तब मतभेद करताम्ह बना देते हैं। ज्ञानी अनुकंपाके लिये झर्झर बोल करता है। अज्ञानी कुगुरु अगह अगह मतभेदको बढ़ाकर कलाम्हको सतर्क कर देते हैं।

सबे पुरुष सिधे और वे जो कल्याणका मार्ग बतावें उसीके अनुसार जीव आचरण करे, उसे अक्षय करायाम हो जाय। मार्ग विचारवानसे पूँटना चाहिये। सत्पुरुषके आश्रयसे श्रेष्ठ आचरण काम चाहिये। छोटी बुद्धि सबको हैरान करनेवाली है, वह पापको करनेवाली है। जहाँ मन्द्य हो वहाँ सिध्यत्व है। भ्रातृ सब दयालु होते हैं। कल्याणका मार्ग एक होता है, सौ दोसी नहीं होते। मतिरका दोष नास्त होगा, और सम-परिणाम आयेगा तो ही कल्याण होगा।

जो मतभेदका छेदन करे वही सत्पुरुष है। जो सम-परिणामके रास्तेमें बढ़ते वही सत्पुरुष है। विचारवानका मार्गका भेद नहीं।

हिन्दू और मुसलमान समान नहीं हैं। हिन्दूको बर्मगुरु जो बर्म-बोध करा गये थे, वे उसे बहुत उपकारक लिये कहा गये थे। वैसा बोध पीरणा मुसलमानोंके शास्त्रोंमें नहीं। आत्मप्रेमसे तो कुन्नी, बनिय मुसलमान कुछ भी नहीं हैं। उसका भेद जिसे दूर हो गया वही छुट है मेरा मासित होना, यही जगदिकी मूक है। कुम्हारकारके अनुसार जो सचा मान लिया वही कथ्य है।

प्रश्न:—मोक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर:—आत्माकी अपन सुखता ज्ञानसे छूट जाता, सब कर्मसि मुक्त होना मोक्ष है। पापातम्य ज्ञानके प्रगट होनेपर मोक्ष होता है। जबतक भ्रान्ति रहे तबतक आत्मा जगदमें रहती है। अनात्मिकाका जो धेतन है उसका समाप जानना—ज्ञान—है फिर भी जीव जो मूक जाता है वह क्या है? जाननेमें म्यूनता है। पापातम्य ज्ञान नहीं है। वह म्यूनता किसे तब दूर हो? उस जानने-म्य स्वभावको मूक न जाय उसे बारबार हड़ करे तो म्यूनता दूर हो सकती है।

ज्ञानी-पुरुषके बचनोंका अलक्ष्यण छेमेसे ज्ञान होता है। आ साधन दें वे उपकारके हान हैं। अपिज्ञपीरना सत्पुरुषके आश्रयसे वे तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे बचनस ज्ञान होता है। सत्पुरुषके बचनोंके आश्रयमें निष्पन्न होनेपर सिध्यत्व अज्ञत प्रमाद अज्ञम वेग श्रानि समान दान अनुक्रमसि शिथिल पद आते हैं। अज्ञमज्ञान विचारनेसे दोष मास होते हैं। सत्पुरुष पुरुष पुनारकर कहा गय है। परन्तु जीवको तो लक्ष-मार्गमें ही पका रहना है और लोकावर कष्टप्रता है। और दोष क्यों दूर होते नहीं केवल एमा ही कहते रहना है। छात्रका भय

१. दीपका नामका मुनयमानाका एक बच है जिसके हिन्दू और मुनयमान दोनों अनुकंपी होते हैं। श्रीगुरु गिरा जगदगण केदारगण शरितका कहता है कि जगदगणकारण कुछ जीवके शान्तिपर दीपका नामक एक शीत है। तब रत कोयेकी कर्त्ता तब कर्त्ता है।—अनुसारक

छोड़कर सत्पुरुषोंके वचनोंको आत्मामें परिणामन करे, तो सब दोष दूर हो जायें । जीवको अपनापन जाना ही न चाहिये । बड़ाई और महात्ता छोड़े बिना आत्मामें सम्पत्त्वके मार्गका परिणाम होना कठिन है ।

वेदतन्त्रशास्त्र वर्तमानमें स्वच्छदत्तासे पढ़नेमें आते हैं, और उससे झुप्कता नैसा हो जाता है । पद्दर्शनमें शगड्ग नहीं, परन्तु आत्माको केवल मुक्त-दृष्टिसे देखनेपर तार्थिकरने छया विचार किया है । मूल छछ होनेसे जो आ वच्छकों (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा माझ्म होगा ।

आत्मको कमी भी बिकार उत्पन्न न हो, तथा राग-द्वेष परिणाम न हो, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है । पद्दर्शनवालोंने जो विचार किया है, उससे आत्माका उम्हें मान होता है—तारतम्य मात्रमें भेद पड़ता है । पद्दर्शनको अपनी समझसे बैठानें तो कमी भी बैठे नहीं । उसका बैठना सत्पुरुषके आग्रहसे ही होता है । जिसने आत्माका असंग निश्चय विचार किया है, उसे ज्ञान्ति होती नहीं—सत्य होता नहीं, आत्माके अस्तित्वके समझमें शक्य रहती नहीं ।

प्रश्न —सम्पत्त्व कैसे माझ्म होता है ?

उत्तर —जब भीतरसे दशा बढ़े, तब सम्पत्त्वकी कसर स्वयं ही पड़ती है । सदेव अर्थात् राग-द्वेष आर अज्ञान जिसके छप हो गये हैं । सद्गुरु कौन कहा जाता है ? मिष्यत्वकी प्रवृत्ति जिसकी स्थिति हो गई है । सद्गुरु अर्थात् निरर्प । सदर्भ अर्थात् ज्ञानी-पुरुषोंशर बोध किया हुआ धर्म । इन तीनों तत्वोंको यथार्थ रीतिसे जाननेपर सम्पत्त्व हुआ समझा जाना चाहिये ।

अज्ञान दूर करनेक छिये कारण (साधन) बताये हैं । ज्ञानका स्वरूप जिस समय ज्ञान के उस समय मोक्ष हो जाय ।

परम वैराग्यी सद्गुरु मिळे और उपदेशरूपी दवा आत्मामें लग तो रोग दूर हो । परन्तु उस दवाको जीव यदि अन्तरमें न उतारे, तो उसका रोग कमी भी दूर होता नहीं । जीव सचे सचे साधनोंको करता नहीं । जैसे समस्त कुटुम्बको पहिचानना हो तो पहिले एक आदमीको जाननेसे सबको पहिचान हो जाती है उसी तरह पहिले सम्पत्त्वकी पहिचान हो तो आत्माके समस्त गुणोंरूपी कुटुम्बकी पहिचान हो जाती है । सम्पत्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन बताया है । बाह्य वृत्तियोंको कम करके जीव अतर्परिणाम करे तो सम्पत्त्वका मार्ग आवे । चढते चढते ही गँव जाता है, बिना चले गँव नहीं जा जाता । जीवको यथार्थ सत्पुरुषोंकी प्रतीति हुई नहीं ।

बहिरात्मामेंसे अन्तरात्मा होमेके पदवात् परमहममात्र प्राप्त होना चाहिये । जैसे दूध और पानी जुदा जुग हैं उसी तरह सत्पुरुषके आग्रहसे—प्रतीतिसे—देह और आत्मा जुदा जुग हैं, ऐसा मान होता है । अन्तरमें अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी जुदे जुदे होते हैं, उसी तरह देह और आत्मा जब भिन्न माझ्म हो उस समय परमहममात्र प्राप्त होता है । जिसे आत्माका विचाररूपी प्यान है—सतग निरन्तर प्यान है, जिसे आत्मा स्वप्नमें भी जुग ही मासित हाती है, जिसे किसी भी समय आत्माकी आप्ति होती ही नहीं उसे ही परमहममात्र होता है ।

अन्तरात्मा निरन्तर कपाय आदि दूर करनेक छिये पुरुषार्थ करती है । चौदहवें गुणस्थानतक यह विचाररूपी क्षिया रहती है । जिसे वैराग्य-उपसम रहता हो, उसे ही विचारपान कहाते हैं । आत्मामें मुक्त

होनेके पश्चात् सत्तरमें जाती नहीं । आत्मा स्थानुमन्-गोचर है, वह प्रभुसे निराल देती नहीं; स्थिरसे स्थिर ज्ञान ही उसे जानता है । जो आत्म्याके उपयोगका मनन करे वह मन है । सकलताके कर्म मन विग्रह कहा जाता है । सकल-विकल्प त्याग देनेको 'उपयोग' कहते हैं । ज्ञानका वापर करनेवाका निष्काशित कर्म जिसने न बोधा हो उसे संपुरुषका बोध क्षमता है । आसुक्ष्म मन हा उसे वह सकता नहीं ।

जीवने अज्ञान पकड़ रक्खा है, इस कारण उपदेश क्षमता नहीं । क्योंकि वापरमके कर्म क्षमताका कार्य रहता ही नहीं । जबतक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते छोड़ तबतक ब्रह्म ऊँची उठती नहीं और तबतक कल्याण भी होता नहीं । बहुतसे जीव संपुरुषके बोधको सुनते हैं, परन्तु उन्हें निवार करनेका योग बनता नहीं ।

इन्द्रियोंके निग्रहका न होना कुछ-धर्मका आग्रह, मान-छायाकी कामना, अमन्यत्वमात्र वह कष्टग्रह है । उस कष्टग्रहको जीव जबतक नहीं छोड़ता तबतक कल्याण होता नहीं । मन पूर्णको पत्र तो भी जीव सत्का ! नीग्रह उज्ज्वल जगत् परन्तु देखमें रहनेवाली आत्माको न पहिचान, इस कारण भटका ! ज्ञानी-पुरुष समस्त स्रष्टाजोका निवारण कर सकता है । परन्तु पार होनेका साधन तो संपुरुषको छोड़िसे बचना ही है, और तो ही दुःख मान्य होता है । आज भी जीव यदि पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान हो जाय । जिसे आत्म-ज्ञान नहीं उससे कल्याण होता नहीं ।

व्यपहार विरुद्ध परमार्थ है, जैसे आत्म-ज्ञानीकी आवासे बचनेपर ब्रह्मा कर्ममें जाती है—कल्याण होता है ।

आत्मज्ञान छान नहीं । पंचीकरण, निवारणमारको पशुकर कल्पनमात्र माननेसे ज्ञान होना नहीं । जिसे अनुमन हुआ है ऐसे अनुमनीके वाद्ययसे उसे समस्तकर उसकी आवाजनुसार वापर करे तो ज्ञान हो । समझे बिना रहता बहुत भिन्न है । हीरा निकालनेके बिने खानके छोड़नेमें तो मेहनत है पर हीरेके खेनेमें मेहनत नहीं । उसी तरह व्यापारसंबंधी समस्तका आना दुर्लभ है, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं मान नहीं इससे वह दूर माध्यम होती है । जीवको कल्याण करने न करनेका मान नहीं है, और अपनेपनकी रक्षा करनी है ।

चौथे गुणस्थानमें प्रथि-येन होता है । जो ग्यातर्हमें स्थि पवता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहा जाता है । जीम चारित्रके प्रियनेवाका है । चौथे गुणस्थानमें उपशम और ध्यायिक दोनों होते हैं । उपशम वर्धात् सप्तममें आचरणका रहता । कल्याणके सम्ये सम्ये कारण जीवके विचारमें नहीं । जो धातु इष्टिको स्थूल करे नहीं इष्टिको संतुष्टित करे नहीं परन्तु उन्नी उसकी इष्टि ही करे जैसे शास्त्रोंमें न्याय कहाँ हो सकता है ?

अतः देनेवाके और अतः देनेवाके दोनोंको ही निवार तथा उपयोग रक्खा चाहिये । उपयोग रखे नहीं और मात्र रखे तो निष्काशित कर्म बंधे । 'कर्म करना परिग्रहकी मर्यादा करनी यह जिसके मनमें हो वह विधिक कर्म बौधाय है । पाप करनेपर कोई मुक्ति होती नहीं । केवल एक मर्यादा केकर जो अज्ञानको दूर करना चाहता है ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे कितना ही चारित्र में आ गया है, उसमें यह या क्या बड़ी बात है ।

जो साधन कोई बतावे, वे साधन पार होनेके साधन हों तो ही वे ससाधन हैं, बाकी तो सब निष्फल साधन हैं । व्यवहारमें अनन्त बाधमें जाती हैं तो फिर पार किस तरह पड़े ? कोई आदमी नन्दी नन्दी बोले तो यह कपायी कहा जाता है, और कोई धीरजस बोले तो उसमें शक्ति मालूम होती है, परन्तु अंतर्परिणाम हो तो ही शक्ति कही जा सकती है ।

जिसे सोनेके सिमे एक विस्तृत-भर चाहिये, वह दस घर फाछर रखे तो उसकी छवि कम संकुचित होगी ! जो छवि रोके उसे पाप नहीं । बहुतसे जीव ऐसे हैं जो इस तरहके कारणोंको इकट्ठा करते हैं कि जिससे छवि न रुके—इससे पाप नहीं रुकता ।

(९)

मध्यपद सुदी १५, १९५२

चौदह रागू ओकली जो काममा है वह पाप है, इसलिये परिणाम देखना चाहिये । कदाचित् ऐसा करो कि चौदह रागू ओकली तो खबर भी नहीं, तो भी बितनेका विचार किया उठना तो निश्चित पाप हुआ । मुनिको एक तिनकेके म्रहण करनेकी भी छूट नहीं । गृहस्थ इतना म्रहण करे तो उसे उठना ही पाप है ।

जब और आत्मा तन्मय नहीं होते । सूतकी औंटी सूतसे कुछ जुड़ी नहीं होती, परन्तु औंटी खोलनेमें कठिनाता है, यद्यपि सूत घटता बहता नहीं है । उसी तरह आत्मामें औंटी पड़ गई है ।

सत्पुरुष और सत्याज्ञ यह व्यवहार कुछ कल्पित नहीं । सद्गुरु-सत्याज्ञरूपी व्यवहारसे जब निम-स्वरूप छुड़ हो जाय, तब केवलज्ञान होता है । निम-स्वरूपके जाननेका नाम समकित है । सत्पुरुषके बचनका सुनना दुर्लभ है, भ्रमज्ञान करना दुर्लभ है, विचार करना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो, इसमें नवीनता ही क्या है !

उपदेष्टा-ज्ञान अनति काष्ण्डे पठा जाता है । अकेली पुस्तकसे ज्ञान नहीं होता । यदि पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकको ही मोक्ष हो जाय । सद्गुरुकी आज्ञानुसार अर्थमें भूख हो जाय तो पुस्तक केवल व्यवस्थानरूप है । भेतन्यमात्र स्वयमे वा जाय तो भेतनता प्राप्त हो जाय; भेतनता अनुभवगोचर है । सद्गुरुका बचन श्रवण करे, मनन करे और उसे आत्मामें परिणामसे तो कल्पना हो जाय ।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष हो जाय । व्यवहारका नियम करना नहीं चाहिये । अकेले व्यवहारको ही छोड़ना नहीं चाहिये ।

आत्म-ज्ञानकी बात, जिससे वह सामान्य हो जाय—इस तरह करनी योग्य नहीं । आत्म-ज्ञानकी बात एकलमें कहनी चाहिये । आत्माका अस्तित्व विचारमें आवे तो अनुभवमें आता है, नहीं तो उसमें शका होती है । जैसे किसी आदमीको अधिक पटक होमेसे दिखाई नहीं देता, उसी तरह आभरणकी समझताके कारण आत्माको दिखाई नहीं देता । गीर्धमें भी आत्माको सामान्यरूपसे जागृति रहती है । आत्मा सम्पूर्णरूपसे सोती नहीं, उसे आभरण आ जाता है । आत्मा हो वा ज्ञान होना संभव है, जब हो तो फिर ज्ञान किसे हो ।

अपनेको अपना मान होना—अपनेको अपना ज्ञान होना—यह जीवमुक्त होना है ।

होनेके पश्चात् संसारमें जाती नहीं । आत्मा स्थानुमन-गोचर है, वह बहुतसे दिक्कार देती नहीं; इन्द्रिये स्थित ज्ञान ही उसे जानता है । जो आत्मामें उपयोगका मनन करे वह मन है । संकल्पान्ते कारण मन निभ कहा जाता है । संकल्प-निरास्य त्याग देनेको 'उपयोग' कहते हैं । ज्ञानका कारण करनेवाला निरूपित कर्म जिसमें न बाधा हो उसे संपुरुषका बोध कहा जाता है । आनुका बंध हा तो वह कहता नहीं ।

जीवने ब्रह्मज्ञान पकड़ रक्खा है, इस कारण उपदेश कहा जाता नहीं । क्योंकि कारणके कारण ज्ञानका कोई रास्ता ही नहीं । जबतक लोकमें अग्निविशेषकी कल्पना करते रहो तबतक ब्रह्मा ऊँची उठती नहीं और तबतक कल्याण भी होता नहीं । बहुतसे जीव संपुरुषके बोधको सुनते हैं, परन्तु उन्हें निवार करनेका योग बनता नहीं ।

इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुछ-बर्गका आग्रह, मान-छत्रापाकी कामना, अमन्यस्पृहाय वह कहा जाता है । उस कहा जाता है जीव जबतक नहीं छोड़ता तबतक कल्याण होता नहीं । नव पूर्वको पता तो भी जीव मटका । पीछे वह एक जाना परन्तु देखते रहनेवाली आत्माको न पहिचान, इस कारण भ्रष्ट । ज्ञानी-पुरुष समस्त शकाओंका निवारण कर सकता है । परन्तु पार होनेका साधन तो संपुरुषकी दृष्टिसे चलना ही है और तो ही हुआ नाश होता है । जान भी जीव यदि पुरुषपर करे तो ब्रह्मज्ञान ही ज्ञाप्य । जिसे ब्रह्म-ज्ञान नहीं उससे कल्याण होता नहीं ।

स्वच्छर मित्रका परमार्थ है, कैसे ब्रह्म-ज्ञानीकी ब्रह्मसे चखनेपर ब्रह्मा उन्हें जाती है—कल्याण होता है ।

आत्मज्ञान सख्त नहीं । पंचमीकरण, विचारसंगारको पकड़ कर मनमात्र माननेसे ज्ञान होना नहीं । जिसे अनुमन हुआ है, ऐसे अनुमनीके आग्रहसे उसे समझकर उसकी ब्रह्माज्ञानसे आचरण करे तो ज्ञान हो । समझे बिना रास्ता बहुत निकट है । हीरा निकालनेके लिये खानके कोदनेमें तो मेहनत है पर हीरेके केनेमें मेहनत नहीं । उसी तरह आत्मसंखी समझका जाना दुर्लभ है, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं, मान नहीं इससे वह दूर गम्य होता है । जीवको कल्याण करने न करनेका मान नहीं है, और अपनेपनकी रक्षा करनी है ।

चापे गुणस्थानमें प्रथि-मेन होता है । जो ग्यारहमेंसे पड़ता है उसे उपशम सम्बन्ध कहा जाता है । लोभ चारित्रके गिरनेवाला है । चापे गुणस्थानमें सफाई और क्षयिक दोनों होते हैं । उपशम अर्थात् सत्तामें आचरणका रहना । कल्याणके लक्ष्मि लक्ष्मि कारण जीवके विचारमें नहीं । जो शस्त्र हृदिक मूल करे नहीं हृदिक सङ्कलित करे नहीं परन्तु उसकी उसकी हृदि ही करे, उसे शस्त्रमें स्थापन करे हो सकता है ।

अन देनेको और अत लनेको दोनोंको ही विचार तथा उपयोग रहना चाहिये । उपयोग करने मदी और मार करने तो निरूपित कर्म हैं । 'कर्म करना' परिग्रहकी मर्पादा करनी पर जिसके मनमें हा वह निषिद्ध कर्म बाँधता है । पाप करनेपर कोई मुक्ति होती नहीं । केवल एक कर्मको केवल जो ब्रह्मज्ञानका दूर करना चाहता है ऐसे जीवको ब्रह्मज्ञान कहता है कि तेरे अन्तर्मा ही चारित्र में ग्य गया है । उसमें वह ता क्या बड़ी बात है ।

बन्धा नहीं, तो फिर मरणका भय क्या है ? जिसकी देहकी मूर्च्छा नहीं गई है उसे आत्म-ज्ञान हुआ कहा जाता है ।

प्रश्न —जीवको किस तरह बर्ताव करना चाहिये ?

उत्तर —जिस तरह सस्यंगके योगसे आत्माको शुद्धता प्राप्त हो उस तरह । परन्तु सस्य-गका योग नहीं मिलता । जीवको योग्य होनेके लिये हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, मित्रादि दान-दाना, ब्रह्मचर्य पाबना, परिग्रहकी मर्यादा करनी, रात्रिमोजन नहीं करना—इत्यादि सदाचरणको, ज्ञानियोंने शुद्ध अच-करणसे करनेका विधान किया है । वह भी यदि आत्माका उच्च रखकर किया जाता हो तो उपकारी है, नहीं तो उससे केवल पुण्य-योग ही प्राप्त होता है । उससे मनुष्यमत्त्व मिलता है, देवगति मिलती है, राज मिलता है, एक भवका सुख मिलता है, और पीछेसे चारों गतियोंमें भटकना पड़ता है । इसलिये ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियायें आत्माके उपकारके लिये, अहङ्काररहित भावसे करनेके लिये कही हैं, उन्हें परमज्ञानी स्वयं भी जगत्के उपकारके लिये निश्चयपूर्वकसे सेवन करता है ।

महावीरस्वामीने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नहीं किया, ऐसा किसी भी ज्ञानीने नहीं किया । फिर भी जोगिके मनमें यह न हो कि ज्ञान होनेके पश्चात् खाना-पीना सब एक-सा है—इतनेके लिये ही अन्तिम समय तककी आवश्यकता बतानेके लिये उपवास किया; दानके सिद्ध करनेके लिये बीछा देनेके पछि स्वयं एकवर्षीय दान दिया । इससे जगत्को दान सिद्ध कर दिखाया, माता-पिताकी सेवा सिद्धकर दिखाई । दीक्षा जो छोटी वयमें न की वह भी उपकारके लिये ही, नहीं तो अपनेको करना न करना दोनों ही समान हैं । जो साधन कहे हैं, वे आत्मसुख करनेके लिये हैं । परके उपकारके लिये ही ज्ञानी सदाचरण सेवन करता है ।

हाथमें जैनदर्शनमें बहुत समयसे अव्यवहृत कुँएकी तरह आचरण आ गया है, कोई ज्ञानी-पुरुष नहीं है । कितन ही समयसे कोई ज्ञानी नहीं हुआ, अन्यथा उसमें इतना अधिक कटाव नहीं हो जाता । इस पंचमकाशमें संपुङ्गवा माग मिलना दुर्लभ है, और उसमें हाथमें तो विशेष दुर्लभ देखनेमें आता है । प्रायः पूर्ण सम्पत्ती जीव देखनेमें आते नहीं । बहुतसे जीवोंमें कोई कोई ही सबा मुमुक्षु—विज्ञातु—देखनेमें आता है । बाकी तो तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं; जो ब्रह्म लक्ष्यसे मुक्त हैं —

१ 'क्रिया करना नहीं चाहिये; क्रियासे बस देवगति मिलती है, उससे अन्य कुछ प्राप्त नहीं होता । जिससे चार गतियोंका भ्रमण दूर हो, वही सत्य है'—ऐसा कहकर सदाचरणको केवल पुण्यका हेतु मान उसे नहीं करते, और पापके कारणोंका सेवन करते हुए भटकते नहीं । ऐसे जीवोंको कुछ करना ही नहीं है, और बस वही वही चारों करना है । इन जीवोंको 'ब्रह्मज्ञानी' रूपसे रक्खा जा सकता है ।

२ 'एकान्त क्रिया करना चाहिये उसीसे कल्याण होगा,'—इस प्रकार माननेवाले एकान्त व्यवहारमें कल्याण मानकर कटाव नहीं छोड़ते । ऐसे जीवोंको 'क्रियावादी' अथवा 'क्रियामग्न' समझना चाहिये । क्रिया-जड़को आत्माका उच्च नहीं होता ।

चैतन्य एक हो तो चान्ति किसे हुई समझनी चाहिये ! मोक्ष किसे हुई समझनी चाहिये ! समस्त चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यका स्वतन्त्ररूपसे जुदा चैतन्य है । चैतन्य स्वभाव एक है । मोक्ष स्वातन्त्र्य-गोचर है । निराकरणमें भेद नहीं । परमाणु एकत्रित न हों, वर्षा आत्मा और परमाणुका संबंध न होना सुखी है; परस्वरूपमें मिश्रणका नाम मुक्ति नहीं है ।

कन्याग करने न करनेका तो मान नहीं, परन्तु जीवको अपनापन रहसा है । बंध स्वतन्त्र होता है ! जीव चैतन्य न हो स्वतन्त्र । एकेन्द्रिय आदि योनिमें भी जीवका ज्ञान-स्वतन्त्र सर्वथा छुल नहीं हो पाता, वंशसे सुखा ही रहता है । अगादि कात्मे जीव बंधा हुआ है । निराकरण होनेके पश्चात् वह बँधता नहीं । 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो अभिमान है वही चैतन्यका आद्यस्वरूप है । इस जगत्में बंध और मोक्ष न होता तो फिर मुक्तिका उपदेश किसके लिये होता ! आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है । जिस समय निर्विकल्प समाधि होती है उसी समय निष्क्रियता कही है । निर्विकल्परूपसे वेदान्तके विचार करनेमें बाधा नहीं । आत्मा कर्तृ-पक्ष विचार करे तो कर्तृ हो जाय । सिद्धपक्षका विचार करे तो सिद्ध हो जाय । आचार्यपक्ष विचार करे तो आचार्य हो जाय । उपाध्यायपक्ष विचार करे तो उपाध्याय हो जाय । बीरपक्ष विचार करे तो आत्मा भी हो जाय; अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तबूय मात्रात्मा हो जाती है । आत्मा एक है अपना अनेक हैं, इसकी चिन्ता नहीं करना । हमें तो इस विचारकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ' । जगत्प्रको इकड़ा करनेकी क्या जरूरत है ! एक-अनेकका विचार बहुत दूर दूराने पहुँचनेके पश्चात् करना चाहिये । जगत् और आत्माको स्वयंमें भी एक नहीं मानना । आत्मा अंध है, निराकरण है । वेदान्त सुनकर भी आत्माको पहिचानना चाहिये । आत्मा सर्वव्यापक है, अपना आत्मा देह-व्यापक है, यह अनुमन प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है ।

सब बर्गोंका तत्पर्य नहीं है कि आत्माको पहिचानना चाहिये । दूसरे जो सब साधन हैं वे जिस जगत् चाहिये (योग्य हैं), उन्हें इलाकी आह्वानपूर्वक उपयोग करनेसे अधिकारी जीवको फल होता है । दया आदि आत्मके निर्मल होनेके साधन हैं ।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अज्ञत, अशुभ योग, ये अनुक्रमसे दूर हो जाँय तो तत्पुरुषका बचन आत्ममें प्रवेश करे; उससे समस्त दोष अनुक्रमसे नाश हो जाँय । आत्मज्ञान विचारसे होता है । तत्पुरुष से पुकार पुकार कर कह गये हैं; परन्तु जीव जोक-मार्गमें पड़ा हुआ है और उसे छोड़कर मार्ग मान रहा है । इससे किसी भी तरह दोष दूर नहीं होता । छोड़कर मग्न छोड़कर तत्पुरुषके बचन आत्ममें प्रवेश करे तो सब दोष दूर हो जाँय । जीवको आह्वान काना नहीं चाहिये । मान-वर्धन और कष्टाके कर्मों बिना सम्यक्मार्ग आत्ममें प्रवेश नहीं करता ।

ब्रह्मचर्यके नियमों:—परमार्थके कारण मदी उत्तरलेके लिये मुनिको ठंडे पानीकी आवाज दी है, परन्तु ब्रह्मचर्यकी आवाज नहीं दी; और उसके लिये कहा है कि अस्य आहार करना, उपवास करना, एकस्तर करना, और अन्तमें जहर खाकर मर जाना, परन्तु ब्रह्मचर्य भोग नहीं करना ।

जिसे देहकी लूणी हो उसे ब्रह्मपाण जिस तरह मात्स्य हो सकता है ! सर्व काठ लय और मर न हो तो समझना चाहिये कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है । आत्मा अमर अमर है । 'मैं' मरने-

१, 'हमको अश्रमज्ञान है। आत्माको भ्रान्ति होती ही नहीं, आत्मा कर्ता भी नहीं, और मोक्षा भी नहीं, इसलिये वह कुछ भी नहीं'—इस प्रकार बोझनेवाले 'शुद्ध अव्यक्ती' शून्य ज्ञानी होकर कलाचार सेवन करते हुए रुकते नहीं।

इस तरह हाथमें लीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं। जीवको जो कुछ करना है, वह अश्रमके उपकारके लिये ही करता है—यह बात वे भूल गये हैं। हाथमें जिनमें जोरसीसे ली गन्ध हो गये हैं। उन सन्नें कदमझ हो गया है, फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्म हमारा है'।

पश्चिक्कामि, निगमि' आदि पाठका लोकमें वर्तमानमें ऐसा अर्थ हो गया माध्यम होता है कि 'मैं आत्माको विस्मरण करता हूँ'। अर्थात् त्रिसुका अर्थ—उपकार—करना है, उसीको—आत्मा—को ही—विस्मरण कर दिया है। जैसे बाणत बड़ गई हो, और उसमें तरह तरहके वैभव बौछ सब कुछ हों। परन्तु यदि एक बर न हो तो बाणत शोभित नहीं होती, बर हो तो ही शोभित होती है। उसी तरह किया वैश्य आदि, यदि आत्माका ज्ञान हो तो ही शोभाको प्राप्त होते हैं, नहीं तो नहीं होते। जैनमें इसमें आत्माकी विसृति हो गई है।

सुख बौद्ध पूर्वोक्त ज्ञान मुनिपना, भक्तपना, हजारों तरहके सदाचरण, उपकार्य आदि जो जो साधन, जो जो मेहनत, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहिचाननेके लिये हैं। यह प्रयत्न यदि आत्माको पहिचाननेके लिये—छोब निकालनेके लिये—आत्माके लिये ही तो सफल है, नहीं तो निष्फल है। यद्यपि उससे बड़ा ज्ञान होता है, परन्तु चार गतिपोंका नाश होता नहीं। जीवको सपुष्पका योग मिले, और कुछ हा तो वह जीव सदायमें ही योग्य हो जाय, और बादमें यदि सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्पत्क उपपन्न हो।

शम=श्रीव आनिका कृष्ण पद ज्ञान।

सवेग=मोक्षमार्गके सिवाय अन्य किसी इच्छाका न होना।

निर्बैद=ससारसे पक्क ज्ञान—ससारसे अटक जाना।

आस्था=स्वये गुरुकी—सद्गुरुकी—आस्था होना।

अनुकम्पा=सब प्राणिपोंपर समभाव रहना—निर्भर बुद्धि रहना।

ये गुण समकित्वा जीवमें स्वाभाविक होते हैं। प्रथम स्वे पुरुषकी पहिचान हो तो बादमें ये चार गुण आते हैं। केवलतमें निवार करनेके लिये बद् सपत्तियों वतर्ज हैं। विवेक वैश्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य—गुगुह—कहा जाता है।

समकित्वा जो है वह देशाचरित है—एक देशसे केवलज्ञान है। शास्त्रमें इस कथमें मोक्षका सर्वथा निषेध नहीं। जैसे रेष्मादीके रास्तेसे इस मार्गपर जल्दी पहुँच जाते हैं और पैदलके रास्ते देरमें पहुँचते हैं, उसी तरह इस कथमें मोक्षका रास्ता पैदलके रास्तेके समान हो और इससे ज्यों न पहुँच सकें यह कोई बात नहीं है। जल्दी चलें तो जल्दी पहुँच जाँय—रास्ता कुछ बर नहीं है। इसी तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं। ज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मार्ग स्वच्छ कल्याण कर जीवोंका पार होना बंद कर देता है। ज्ञानीके उगी मोक्षमात्रे जीव ज्ञानीके कहे अनुसार चलते

हैं। और उस प्रकारके कर्मसे बँधि हुए दोनों कुगतिको प्राप्त होते हैं। ऐसी मुद्रिका अतः लोगोंमें विशेष हो गई है।

मय ब्रह्मके समझनेके लिये कहे हैं, परन्तु जीव तो नयबादमें ही गुँथ जाते हैं। ब्रह्मको समझते हुए नयमें गुँथ जानेसे वह प्रयोग स्रुष्टा ही हो गया। समकितदृष्टि जीवको 'केवलज्ञान' कहा जाता है। उसे वर्तमानमें मान हुआ है, इसलिये 'देश-केवलज्ञान' कहा जाता है; बाकी तो ब्रह्मका मान होना ही केवलज्ञान है। वह इस तरह कहा जाता है—समकितदृष्टिको अब ब्रह्मका मान हो तब उसे केवलज्ञानका मान प्रगट हुआ; और जब उसका मान प्रगट हो गया, तो केवलज्ञान व्यक्त होना चाहिये, इसलिये इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् समान बोझकर बौद्ध हो दिया; हस्त हुआ, फल आये, फल थोड़े ही खाये, और खाते खाते आयु पूर्ण हो गई, तो फिर अब दूसरे भयमें फल खानेगे। इसलिये 'केवलज्ञान' इस कालमें नहीं—नहीं, ऐसा निपट मान नहीं लेना, और नहीं कहना। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे जनतमब दूर होकर एक भव बंधी रह जाता है, इसलिये सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। ब्रह्ममें केवलज्ञान है, परन्तु आवरण दूर होनेपर केवलज्ञान होता है। इस कालमें सम्पूर्ण आवरण दूर नहीं होता—एक भव बाकी रह जाता है; अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणीय दूर हो, उतना ही केवलज्ञान होता है। समकित आनेपर, मोतरमें—अंतरमें—एशा बदल जाती है। केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है। सद्गुरु बिना मार्ग नहीं, ऐसा मन्त्रां पुरुषोंने कहा है। यह उपदेश बिना कारण नहीं किया।

समकित अर्थात् मिथ्यात्वसे मुक्त केवलज्ञानी अर्थात् चारित्र्यवरणसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त, और सिद्ध अर्थात् वेद आदिसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त।

प्रश्न:—कर्म किस तरह कम होते हैं ?

उत्तर:—झोव न करे, मान न करे, माया न करे, सोम न करे—उससे कर्म कम होते हैं।

ब्रह्म किया कहेगा तो मनुष्य जन्म मिछेगा, और किसी दिन सत्पुरुषका संयोग होगा।

प्रश्न:—व्रत-नियम करने चाहिये या नहीं ?

उत्तर:—व्रत-नियम करने चाहिये। परन्तु उसकी साथ सगवा, कसब, कबके कबे, और धर्ममें मायमारी नहीं करना चाहिये। ठीकी दशा पानेके लिये ही व्रत-नियम करने चाहिये।

सर्वे-सुठेकी परीक्षा करनेके ऊपर एक सुठे भक्तका छान्त —

एक राजा बहुत अतिवाला था। वह मछोंकी बहुत सेवा किया करता था। बहुतसे मछोंको वन-वन आदिसे पोषण करनेके कारण बहुतसे मछ इकट्ठे हो गये। प्रधानमें सोचा कि राजा विचार लेना है, और मछ लोग ठग हैं; इसलिये इस बातकी राजाको परीक्षा करनी चाहिये। परन्तु इस समय तो राजाको इनपर बहुत प्रेम है, इसलिये वह मायेगा नहीं, इसलिये किसी दूसरे बखसपर बात कहेगा। ऐसा विचार कुछ समय ठहरकर किसी बखसरके मिछेनेपर उसने राजासे कहा—'आप बहुत सम्पत्ति सब मछोंकी एक-ही सेवा चाकरी करते हैं। परन्तु उनमें कोई बड़ा होगा और कोई छोटा होगा; इसलिये सबकी परीक्षा करके ही भक्ति करना चाहिये।' राजाने इस बातकी स्वीकार किया और पूछा कि तो फिर क्या करना चाहिये। राजाकी आज्ञा लेकर प्रधानने जो दो हजार मछ ये उन सबको

इच्छा करके कहलबाया कि आप सब लोग दरबारके बाहर आवें, क्योंकि राजाको देखनी जरूरत है इसलिये आज भक्त-सेठ निकलना है। तुम सब लोग बहुत िनोंसे राजाके माझ-मसाके खड़े हो, तो आज राजाका इतना काम तुम्हें क्लेश्य करना चाहिये। जब भक्तोंने, धाणीमें जातकर सेठ निकालनेकी बात सुनी तो सबके सब मग गये और अदस्य हो गये। उनमें एक सभा यज था, उसने विचार किया कि राजाका नमस्कार क्या है तो उसकी नमस्कारापी कैसे की जा सकती है? राजाने परमार्थ समझकर मन दिया है, इसलिये राजा चाहे कुछ भी करे, उसे करने देना चाहिये। यह विचार कर धर्मके पास जाकर उसने कहा कि 'आपको भक्त-सेठ निकालना ही तो निकलिये'। प्रबलने राजासे कहा—'देखिये आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे, परन्तु आपको सबे-सूटेकी परीक्षा न थी'। देखो, इस तरह सच्चे जीव तो बिरहे ही होते हैं, और कैसे बिरहे सच्चे सद्गुरुकी भक्ति अपेक्षार है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन बचन और कृपासे करनी चाहिये।

एक बात जबतक समझमें न आवे जबतक दूसरी बात सुनना किस्स कामकी? सुने हुएको भूलना नहीं। जैसे एक बार जो मोहन किया है, उसके पक्षे बिना दूसरा मोहन नहीं करना चाहिये। तब वगैरह करना कोई आभारत बात नहीं, इसलिये तप करनेवालोंको कार्यकर करना नहीं चाहिये। तप यह छोटेमें छोटा हिस्सा है। पूरे मरणा और उपवास करनेका नाम तप नहीं। भीतरसे कुछ अंतःकरण हो तो तप कहा जाता है; और तो मोहमासि होती है। बाह्य तप शरीरसे होता है। तप यह प्रकारका है—१ अंतर्बुद्धि होना, २ एक आत्मनसे कृपाको बैठाया, ३ कम आहार करना, ४ गीस आहार करना और वृत्तियोंका सुकुचित करना, ५ संजीवना और ६ वाह्यरक्षण त्याग।

सिपिके बिने उपवास नहीं करना, परन्तु आत्माके बिने उपवास करना चाहिये। बाह्य प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना इस तपको विद्या इन्द्रियको बंध करनेका उपाय समझकर कहा है। विद्या इन्द्रिय बंध की तो यह समस्त इन्द्रियोंके बंधमें होनेका निमित्त है। उपवास करो तो उसकी बात बाहर न करो दूसरेको निम्न न करो, श्रेष्ठ न करो। यदि इस प्रकारके दोष कम हों तो गृहस्थ काम हो। तप बाह्य आत्माके बिने ही करने चाहिये—अपनेके विद्याके बिने नहीं। कष्टयक बटनेको तप कहा है। औक्तिक वृत्तियों भूख वाला चाहिये।

सब कोई सामायिक करते हैं और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सत्य है। समकित होना या नहीं उसे भी यदि ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परन्तु ज्ञानी क्या स्वीकार करे? अज्ञानी स्वीकार करने जैसा ही तुम्हारा सामायिक, मत और समकित है। अर्थात् वास्तविक सामायिक मत और समकित तुम्हारेमें नहीं। मन बचन और कृपा अन्धकार-समयमें स्थिर रहे, यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग महसूस होता है फिर भी बहुत बंध स्थिर नहीं है और इस कारण वह समसा भी नहीं है। मन बचन और कृपा बंध गुरुस्थान-तक होते हैं; मन तो कार्य बिने बिना बैठता ही नहीं। केवलकी मनयोग अपक होता है, परन्तु आत्मा अपक नहीं होती। आत्मा जीये गुरुस्थानमें अपक होती है, परन्तु सर्वथा नहीं। 'ज्ञान अर्थात् आत्माको वाचात्म्य अलगना। दर्शन' अर्थात् आत्माको वाचात्म्य प्रतीति।

‘चारित्र’ अर्थात् आह्ममाका स्थिर होना । आत्मा और सद्गुरुको एक ही समझना चाहिये । यह बात विचारसे ग्रहण होती है । वह विचार यह कि देह अपना देहके समान दूसरा मात्र सद्गुरु नहीं, परन्तु सद्गुरुकी आत्मा ही सद्गुरु है । जिसने आत्मस्वरूप धृष्टान्तसे, गुणसे, और वेदनसे प्रगट वतुमन किया है, और वही परिणाम जिसकी आह्ममाका हो गया है, वह आत्मा और सद्गुरु एक ही हैं, ऐसा समझना चाहिये । पूर्वमें जो ज्ञान झुका किया है, वह दूर हो तो ज्ञानीकी अपूर्व चणी समझने आवे ।

मिथ्यावासना—धर्मके मिथ्या स्वरूपका सच्चा समझना ।

तब आदि भी ज्ञानकी कसौटी है । साता-शील आचरण रक्खा हो और असाता वा आप तो ज्ञान मद हो जाता है ।

विचार बिना इन्द्रियों बरा नहीं होती । अविचारसे इन्द्रियों दीव्रती हैं । निश्चितिके लिये उपवास करना बताया है । हाकमें बहुतसे ज्ञानां जीव उपवास करके दुकानपर बैठते हैं, और उसे पौषन करते हैं । ऐसे कल्पित पौषन जीवने अनादिकाकसे किये हैं । उन सबको ज्ञानियोंने निष्कल ठहराया है । जब बी, घर, बाह-बच्चे भूख आप, उसी समय सामायिक किया कहा जाता है । व्यवहार-सामायिक बहुत लियेव करने पौषन नहीं, यद्यपि जीवने व्यवहारकस सामायिकको एकदम जब बना बाठा है । उसे करनेवाले जीवोंको खबर भी नहीं होती कि इससे कल्याण क्या होगा ? पहिले सम्यक्त्व चाहिये । जिस बचनके सुननेसे आत्मा स्थिर हो उस सद्गुरुका बचन ग्रहण हो तो पीछेसे सम्यक्त्व होता है । सामान्य विचारको लेकर इन्द्रियों बरा करनेके लिये छह कायका आरंभ कायसे न करते हुए जब इति निर्मल होती है, तब सामायिक हो सकता है ।

मवस्थिति, पंचमकाकमें मोक्षका अभाव आदि धाकाओंसे जीवने बाध इति कर रखी है । परन्तु यदि जीव ऐसा पुरुषार्थ करे, और पंचमकाक मोक्ष होते समय हाथ पकड़ने आवे, तो उसका उपवास हम कर देंगे । वह उपवास कोई हाथी नहीं, अथवा जात्यन्वयमान अग्नि नहीं । मुफ्तमें ही जीवको बचा रक्खा है । जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसको लेकर बहाना ईदना है । इसे अपना ही दोष समझना चाहिये । समताकी वैराग्यकी बातें सुननी और विचारनी चाहिये । बाध बातोंको कैसे बने कैसे छोड़ देना चाहिये । जीव पार होमेका अभिजायी हो, और सद्गुरुकी आज्ञाने प्रवृत्ति करे तो समस्त वासनार्य दूर हो जाय ।

सद्गुरुकी आज्ञामें सब सामन समा गये हैं । जो जीव पार होमेके अभिजायी होते हैं, उनमें सब वासनार्यका नाश हो जाता है । कैसे कोई सी पचास कोस दूर हो, तो वह दो बार दिनमें घर आकर मिला सकता है, परन्तु जो सार्को कोस दूर हो वह एकदम घर आकर कैसे मिला सकता है ? उसी तरह यह जीव कल्याणमार्गसे चोड़ा दूर हो तो वह कभी कल्याण प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि वह एकदम ही उठे राखे हो तो कहाँसे पार हो सकता है ?

देह अदिका अभाव होना—मूर्च्छाका नाश होना—ही मुक्ति है । जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देखकी इतनी अधिक जिता ठहिर नहीं । अज्ञान दूर होनेके पश्चात् एक भवकी कुछ कीमत नहीं । कालों भव चले गये तो निर एक भव तो किस दिसावने है ।

किन्तीको हो तो मिथ्यात्व और माने वह छद्म-साक्ष्यों गुणस्थानक, तो उसका क्या करना ? भोय गुणस्थानकी स्थिति कैसी होती है ? गणत्रयके समान मोक्षमार्गकी परम प्रतीति अने (ऐसी) ।

पार होनेका अभिजायी हो वह सिर काटकर देते हुए पीछे नहीं बटता । जो शिथिल हो वह जो घोड़े कुल्लुण्ण हो उन्हें भी नहीं छोड़ सकता । बीतरुम भी जिस वचनको कहते हुए बरे हैं, उसे क्खानी स्वच्छन्दतासे कहता है, तो वह फिर कैसे छूटेगा ?

महावीरस्वामीके दीक्षाके बरघोषकी बातका स्वल्प यदि विचारें तो वैराग्य ही । यह बात बहुत है । वे भगवान् अग्रमानी थे । उन्हें चारित्र्य रहता था, परन्तु जिस समय उन्होंने बाल्य चारित्र्य ग्रहण किया, उस समय वे मोक्ष गये ।

अविरति शिष्य हो तो उसका आदर सुस्कार कैसे किया जाय ? कोई रज-द्रव्य नाश करनेके छिये निकले और उसे तो काममें ही खे किया, तो रज-द्रव्य कहींसे दूर हो सकते हैं ? जिनमगवान्के आगमका जो समागम हुआ हो वह अपने अयोग्यताके अनुसार होता है, परन्तु वह सद्गुरुके अनुसार नहीं होता । सद्गुरुका योग मिलनेपर जो उसकी आज्ञानुसार चला, वसुका रज-द्रव्य सचमुच दूर हो गया ।

गमीर रोगके दूर करनेके छिये अस्त्री दवा दुरत ही फल देती है । अगर तो एक ही दो दिनमें दूर हो जाता है ।

मार्ग और उन्मार्गकी परीक्षा होनी चाहिये । 'पार होनेका अभिजायी' इस शब्दका प्रयोग करो तो अस्म्यका प्रश्न ही नहीं उठता । अभिजायीमें भी भेद है ।

प्रश्न — सत्पुरुषकी किस तरह परीक्षा होती है ?

उत्तर :— सत्पुरुष अपने कथनसे पहिचाने जाते हैं । सत्पुरुषके कथन—उमकी बाणीमें पूर्णतः अविरत होता है । वे क्रोनका जो उपाय बताते, उससे शोध दूर हो जाता है ; मानका जो उपाय बताते, उससे मान दूर हो जाता है । ज्ञानीकी बाणी परमार्थरूप ही होती है । वह अद्वैत है । ज्ञानीकी बाणी दूसरे क्खानीकी बाणीके ऊपर ऊपर ही होती है । जबतक ज्ञानीकी बाणी सुनी नहीं तबतक सूत्र भी नीचसे कैसे मान्य होते हैं । सद्गुरु और असद्गुरुकी परीक्षा, सोने और पीतलकी कडीकी परीक्षाकी तरह होगी चाहिये । यदि पार होनेका अभिजायी हो, और सद्गुरु मिल जाय तो कर्म दूर हो जाते हैं । सद्गुरु कर्म दूर करनेका कारण है । कर्म बाँचनेके कारण मिछें तो कर्म बँचते हैं, और कर्म दूर होनेके कारण मिछें तो कर्म दूर होते हैं । जो पार होनेका अभिजायी हो वह भवस्थिति आदिके वास्तविकता मिथ्या कहता है । पार होनेका अभिजायी कितने कहा जाय ? जिस पदार्थके ज्ञानी अगर कोई उसे जहर समझकर छोड़ दे और ज्ञानीकी आज्ञाका आचरण करे, उसे पार होनेका अभिजायी कहा जाता है ।

उपदेश सुननेके छिये सुमनके अभिजायीने कर्मरूप गुदड़िया जोड़ रखी है, उससे उपदेशरूप ककड़ी नहीं बगती । तथा जो पार होनेका अभिजायी है उसने चोटोकर कर्म जोड़ रखे हैं, इससे उसपर उपदेशरूप ककड़ी आदिमें ही असर करती है । शास्त्रमें अस्म्यके तात्पर्यसे पार हो जाय, ऐसा नहीं कहा । श्रीमद्गीते में यह कर्म नहीं है । बुद्धिवाजोंके धरमशी नामक सुनिने इसकी टीका की है ।

सब ठो पार हुआ नहीं और दूसरोंको पार उतारता है, इसका कर्ष अचमत्ता बताने जैसा है। इस प्रकारका मिथ्या आच्छन्न देते हैं* ।

जन्महीनप्रवृत्ति नामक जैनसूत्रमें ऐसा कहा है कि इस काष्ठमें मोक्ष नहीं। इसके ऊपर समझना चाहिये कि मिथ्यात्वका दूर होना और उस मिथ्यात्वके दूर होनेका भी मोक्ष नहीं है। मि दूर होनेका मोक्ष है, परन्तु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहबद्धित मोक्ष नहीं है। इसके ऊपरसे यह सकता है कि इस काष्ठमें सब प्रकारका केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु इसका कर्ष यह नहीं है कि इस सत्यत्व भी न होता हो। इस काष्ठमें मोक्षके न होनेकी ऐसी बातें कर्ष करे ता उन्हें सुनना मं स्फुरूपकी बात पुरुषार्थको मंद करनेकी नहीं होती—पुरुषार्थको उचैवन देनेकी होती है

जहर और अमृत दोनों समान हैं, ऐसा जानियोंने कहा हो, तो वह अपेक्षित ही है। ज अमृतको समान करनेसे कुछ जहरका प्रहण करना बताया है, यह बात नहीं। इसी तरह ह बधुम क्रियाओंके सबबमें समझना चाहिये। धुम और अधुम क्रियाका निषेध किया हो मोक्षार्थ अपेक्षासे ही है। किन्तु उससे धुम और अधुम दोनों कित्वायें समान हैं, यह समझ क्रिया भी नहीं करना चाहिये—ऐसा ज्ञानी-पुरुषका कपन कभी भी नहीं होता। स्फुरूपक कभी अवर्तमें वर्म स्थापन करनेका नहीं होता।

जो क्रिया करना उसे अर्द्धमपनेसे, निरहंकारपनेसे करना चाहिये—क्रियाके फलकी नहीं रखनी चाहिये। धुम क्रियाका कोई निषेध किया ही नहीं, परन्तु जहाँ जहाँ केवल बाध ही मोक्ष स्वीकार किया है, वही उसका निषेध किया है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे, यह भी एक तरहकी है। सहज-समाधि अर्थात् बाध कारणरहित समाधि। उससे प्रमाद आदिक्रम नाश होता है। मि समाधि रहती है, उसे कोई बाध रूपसे दे तो भी उसे आनन्द नहीं होता, अपवा उससे को जवर्दस्ती छीन ले तो भी उसे के नहीं होता। त्रिसे सत्ता-असावा दोनों समान हैं, उसे सम्प्राप्ति कही गई है। समकितघटिको अज्य हर्ष, अज्य शोक कभी हा भी त्राप, परन्तु पीछे राप्त हो जाता है। उसे अगका हर्ष नहीं रहता जिस तरह उसे के हो वह उस तरह उसे पीछ केता है। वह विचारता है कि 'इस तरह होना योग्य नहीं', और वह अस्माकी निन्दा करता है हर्ष-शोक हों तो भी उसका (समकितघट) मुक्त नाश नहीं होता। समकितघटिको अशसे प्रतीतिके होनेसे सत्ता ही समाधि रहती है। पतंगकी बोरी जैसे हाथमें रहती है, उसी तरह स घटिकी हस्तिकपी बोरी उसके हाथमें ही रहती है।

समकितघटि जीवको सहज-समाधि है। सत्तामें कर्म जाती रहे हों, उसे फिर भी समाधि ही है। उसे बाध कारणोंसे समाधि नहीं, किन्तु आत्मासे जो मोक्ष दूर हो गया वही है। मिथ्याघटिके हाथमें बोरी नहीं, इससे वह बाध कारणोंमें तत्राकार होकर उलटता हो जाता

समकितघटिको बाध दुःख आनेपर भी के नहीं होता। यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता पंग आवे। परन्तु रोग आनेपर उसके रोग द्वेय परिणाम नहीं होते।

शरीरके धर्म—रोग आदि—कैचकीके भी होते हैं क्योंकि वेदमीय कर्मको तो सबको भोगना ही पड़ता है। समकित्त आये बिना किमीकी सहाय-समाधि होगी नहीं। समकित्त होनेसे ही सहाय समाधि होती है। समकित्त होनेसे सहायमें ही आसक्तिमात्र दूर हो जाता है। उस दशामें आसक्ति-मात्रके सहज नियंत्र करनेसे बच रहता नहीं। सत्पुरुषके बचन अनुसार—उसकी आज्ञानुसार—जो भले वसे अंशस्त समकित्त हुआ है।

दूसरे सब प्रकारकी कल्पनामें छोड़कर, प्रसन्न सत्पुरुषकी आज्ञासे उनक बचन सुनना, उनकी सभी व्रता करना, और उन्हें आज्ञामें प्रवेश करना चाहिये, तो समकित्त होता है। राममें कहीं ईर्ष्याहीन स्वामीकी आज्ञानुसार चलनेवाले जीव वर्तमानमें नहीं हैं; इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी चाहिये। काल निकलता है। कुतूहलोंने जोड़को मिथ्या मार्ग बजाकर मुझ दिया है—मनुष्यमय हूँ किया है तो फिर जीव मार्गमें किस तरह जा सकता है? यद्यपि कुतूहलोंने हूँ तो किया है परन्तु उसमें उन विचारोंका योग नहीं क्योंकि उन्हें उस मार्गकी खबर ही नहीं है। मिथ्यात्वकी दिखीकी गौंड मोठी है, इसलिये सब धम तो काँसि दूर हो सकता है? जिसकी प्रथि छिन्न हो गई है, उसे सब समझि होती है; क्योंकि जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, उसकी मूल गौंड ही नष्ट हो गई, और उससे फिर अन्य गुण अवश्य ही प्रगट हो जाते हैं।

सत्पुरुषका जीव प्राप्त होता यह अवगत प्राप्त होनेके समान है। ज्ञानी कुतूहलोंने विचारे मनुष्योंको हूँ किया है। किसी जीवको गन्धका आग्रह करणकर, किसीको मत्तका आग्रह करणकर जिससे पार न हो सके, ऐसे आग्रहण देकर सब कुछ कूटकर व्याकुल कर वाला है—मनुष्य सब ही हूँ किया है।

समवसरणसे मगबान्की पहिचान होती है वृत्त सब मायावीका छेद देना चाहिये। जब समवसरण हो परन्तु यदि ज्ञान न हो तो कल्पना ही होता ज्ञान हो तो ही कल्पना होता है। मगबान् मनुष्य जैसे ही मनुष्य थे। वे खाते, पीते उठते और बैठते थे—इन बातोंमें फेर नहीं है। फेर कुछ दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसंग जीविक-मायना है। मगबान्का स्वरूप ऐसा नहीं है। मगबान्का स्वरूप—सर्वा निर्मल आश्रमा—सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर प्रगट होता है। सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाय यही मगबान्का स्वरूप है। वर्तमानमें मगबान् होता तो तुम उसे भी न मानते। मगबान्का महत्त्व ज्ञान है। मगबान्के स्वरूपका चितवन करनेसे आश्रमा मानमें आती है, परन्तु मगबान्की देहसे मात्र प्रगट नहीं होता। जिसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो जाय उसे मगबान् कहा जाता है। जैसे यदि मगबान् मोहूर्त होते और वे तुम्हें बताते तो तुम उन्हें भी न मानते इती तरह वर्तमानमें ज्ञानी मोहूर्त हो तो वह भी नहीं माना जाता। तथा स्वभाव पहुँचनेके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी हुआ नहीं। और पीछेसे ता लोग उसकी प्रतिमाको पूजते हैं परन्तु वर्तमानमें उसपर प्रतीति भी नहीं करते। जीवको ज्ञानीकी पहिचान वर्तमानमें होती नहीं।

समकित्तका सचा सचा विचार कर तो नीचे समझमें केवलज्ञान हो जाय, नहीं तो एक भ्रममें केवलज्ञान होता है; और अन्तमें फट्टाहमें भ्रमसे तो केवलज्ञान हा ही जाता है इसलिये समकित्त सर्वोपदेय है। कुछ कुछ विचार-भेदोंको आश्रमों काम होनेके लिये ही कहा है; परन्तु भेदों ही आश्रमों पुष्पोंके लिये नहीं कहा। इरेकमें परमार्थ होता चाहिये।

समकित्तोको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं।

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको बुन्मार्गपर चढ़ा दिया है; उभटा पकड़ा दिया है, इससे लोग गच्छ, कुष्ठ, आदि लौकिक मार्गमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोनि लोकको एकदम मिथ्या ही मार्ग समझा दिया है। उनके सुगसे इस काष्ठमें अवधार हो गया है। हमारी कही हुई हरेक-प्रत्येक-बातको पाल कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करना चाहिये। गच्छ आदिके कदामहको छोड़ देना चाहिये। जीव अनादि काष्ठसे भटक रहा है। यदि समकित्त हो तो सञ्चन ही समाधि हो आय, और अन्तमें कल्याण हो। जीव स्वरूपके आश्रयसे यदि आकाका सम्पत्ता सम्पत्ता आश्रयन करे, उसके ऊपर प्रतीति अने, तो अक्षय ही उपकार हो।

एक ओर तो चैतन्य राज् ओषका सुख हो, और दूसरी ओर सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो, तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनतगुना हो जाता है।

वृत्ति चाहे किसी भी तरह हो रोकना चाहिये, ज्ञान-विचारसे रोकना चाहिये, लोक-काष्ठसे रोकना चाहिये, उपयोगसे रोकना चाहिये किसी भी तरह हो वृत्तिको रोकना चाहिये। मुमुक्षुओंको, किसी अमुक्त पण्यके बिना न चर एसा नहीं रखना चाहिये।

जीव जो अपनापन मानता है, वही दुःख है, क्योंकि जहाँ अपनापन माना और चिता हुई कि अब कैसे होगा! अब कैसे करे! कितना जो स्वरूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारके द्वारा, ज्ञानके द्वारा देखा जाय तो मायूम होता है कि कोई अपना नहीं। यदि एककी चिता करे तो समस्त जगत्की ही चिता करनी चाहिये। इसलिये हरेक प्रसंगमें अपनापन छोटे हुए रोकना चाहिये, तो ही चिता-कल्पना-कम होगी। तुष्ण्याको जैसे बने कम करना चाहिये। विचार कर करके तुष्ण्याको कम करना चाहिये। इस देशको कुछ पचास-सी रुपयेका तो खर्च चाहिये और उसके बगले वह हजारों लाखोंकी चिता कर अग्निसे सारे जिन जला करती है। बाह्य उपयोग तुष्ण्याकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव मान-बदार्थके कारण तुष्ण्याको बढ़ाना है, उस मान-बदार्थको रखकर मुक्ति होती नहीं। जैसे बन जैसे मान-बदार्थ, तुष्ण्याको कम करना चाहिये। निर्धन कौन है? जो धन मँगि—धनकी इच्छा करे—वह निर्धन है। जो न मँगि वह धनवान है। जिसे छद्मकी विद्या तुष्ण्या, उसकी दुविधा, पीड़ा है, उसे जय भी सुख नहीं। लोग समझते हैं कि श्रीमंत लोग सुखी हैं, परन्तु बन्धुत उनके तो रोम रोममें पीड़ा है, इसलिये तुष्ण्याको घटाना चाहिये।

आहारार्थ बात अर्थात् खानेके पण्योंकी बात तुच्छ है, उसे करना नहीं चाहिये। निहारकी अर्थात् ग्रीवाकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता और दीनता ये सब तुच्छताकी बातें करनी नहीं चाहिये। आहार विद्या है। विचार करो कि खानेके पीछे विद्या हो जाती है। विद्या गाय खाती है तो दूध हो जाता है। और खेतमें खार डालनेसे अनाब हो जाता है। इस तरह उत्पन्न हुए अनाबके आहारको विद्यातुल्य समझ, उसकी चर्चा न करनी चाहिये। वह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे सर्वथा मीन नहीं रहा जाता, और यदि खे तो अन्तरकी कल्पना दूर होती नहीं; और जबतक कल्पना रहे तबतक उसके त्रिये कर्षे रास्ता निकलना ही चाहिये। इसलिये पीछेसे वे चिन्तकर कल्पनाको बाहर निकालते हैं। परमार्थ काममें मोचना चाहिये। व्यग्रद्वार काममें

प्रयोजनके बिना व्यर्थकी बातें करनी नहीं। जहाँ मायापत्नी होती हो वहाँसे दूर रहना चाहिये—वृत्ति कम करनी चाहिये।

क्रोध, मान, माया, लोभको मुझे कम करना है, ऐसा अब कष्ट होगा—अब उसका पोषा पोषा भी कष्ट किया जायगा—तब बान्से वह सरल हो जायगा। आत्माको आचरण करनेवाले दोष जब जाननेमें आ जाय तब उन्हें दूर भगवान्के सम्मुख करना चाहिये। क्रोध आदिके पीछे पीछे कम होनेके बाद सब सरल हो जायगा। बारम्बार उन्हें नियममें देनेके क्रिये जैसे बने सम्मुख रहना चाहिये, और विचारमें सम्यक् विचारना चाहिये। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदिके उत्पन्न होनेका निमित्त हो तो उसे मानना नहीं चाहिये क्योंकि जब स्वयं ही क्रोध करें तभी क्रोध होता है। जिस समय अपनेपर क्रोध क्रोध करे उस समय विचारना चाहिये कि उस विचारको हारमें उस प्रकृतिको उदय है। यह स्वयं ही बढ़ी हो वहाँसे शांत हो जायगा। इसलिये जैसे बने ऐसे अविविचार कर स्वयं स्थिर रहना चाहिये। क्रोध आदि कषायको हमेशा विचार विचारकर कम करना चाहिये। दुष्का कम करनी चाहिये। क्योंकि वह एकलुप्त हो जायगी है। जैसा उदय होगा वैसा होगा, इसलिये दुष्काको अल्प कम करना चाहिये। बाह्य प्रसंगोंको जैसे बने जैसे कम करना चाहिये।

बेधवर्तीपुत्रने किसीका सिर काट लिया था। बान्से वह हानीको मिका, और कहा कि मोक्ष दे, नहीं तो तेरा भी सिर काट डालूँगा। इसपर हानीने कहा कि क्या तू ठीक कहता है? विवेक (सबको सचा समझना) शम (सबके ऊपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोंको बाहर न जाने देना और अंतर्बृत्ति रखना) को विशेषातिशेय ब्रह्ममें परिणामानेसे आत्मको मोक्ष मिलती है।

कोई सम्प्रदायवादी कहता है कि वैश्वतियोंकी मुक्तिही अनेका—इस भ्रम-दशाकी अनेका—तो बार गतिरही ही भ्रष्ट है। इनमें अपने आपको सुख दुःखका अनुभव तो रहता है।

सिद्धमें संवर नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म आते नहीं, इसलिये फिर उनका निरोध भी नहीं होता। मुझमें एक गुणसे—अंशसे—अगाऊ सम्पूर्ण अंशोत्कृष्ट स्वभाव ही रहता है। सिद्धराजमें स्वभावमुक्त प्रगट हो गया है कर्मके आचरण दूर हो गये हैं तो फिर अब संवर-निर्बंध किसे रहेंगे? वहाँ तीन दोष भी नहीं होते। मिथ्याज्ञ, अज्ञ, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे मुक्त उनको कर्मोंका आगमन नहीं होता। इसलिये उनके कर्मोंका निरोध भी नहीं होता। जैसे एक हजारकी रकम हो, और उसे पौरी पौरी पूरा कर दें तो रास्ता बंद हो जाता है। हमी तब कर्मके जो पाँच कारण थे, उन्हें तार-निर्बंधसे समाप्त कर दिया इसलिये पाँच कारणोंकी ज्ञाता बंद हो गया, अर्थात् वह फिर पीछेसे किसी भी तरह प्राप्त नहीं हुआ।

धर्मसम्प्राप्त-क्रोध मान माया, लोभ आदि दोषोंका छेदन करना।

जीन ता सग जीवित ही है। वह किसी समय भी खोता नहीं अपना मरता नहीं—मरना उसका संभार नहीं। स्वभावमें सब जीव जीवित ही हैं। जैसे हगसीपूजासके बिना कोई जीन देखनेमें आता नहीं, उसी तरह ज्ञानस्वरूप भक्त्यके बिना कोई जीन नहीं है।

आत्माकी निष्ठा करना चाहिये और ऐसा गेद करना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो—संसार निष्ठा काय हो। बाहे कोई भी नर जाय परन्तु जिसकी अंतर्गत अंतर् आ जाय—संसारको

भ्रष्ट मान जन्म, जरा, मरणको महा भयकर समस्त वैराग्य प्राप्त कर औसू वा औष्य—बह उत्तम है। अपना पुत्र मर जाय और रोने लगे, ता इसमें कोई विशेषता नहीं, बह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं हो सकता ? इसने बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले हैं, और कैसे कैसे विचारकर उनको रेखेके काममें लिया है। यह तो केवल बाहरका काम है, फिर भी निम्न प्राप्त की है। आत्माका विचार करना, यह कुछ बाहरकी बात नहीं। जो अहान है उसके दूर होनेपर ज्ञान होता है।

अनुमयी वैष दवा देता है, परन्तु यदि रोगी उसे गलेमें उतारे तो ही रोग मिटता है। उसी तरह सद्गुरु अनुमत्पूर्वक ज्ञानरूप दवा देता है, परन्तु उसे मुमुक्षु ग्रहण करनेरूप गले उतारे तो ही मिष्यत्वरूप रोग दूर होता है।

दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाय—ऐसा कहा है। रेखे इत्यादि, चाहे कैसा भी पुरुषार्थ क्यों न करे तो भी दो घड़ीमें तैय्यार होती नहीं, तो फिर केवलज्ञान कितना सुख है, इसका विचार तो करो।

जो बातें जीवको शिथिल कर डालती हैं—प्रमादी कर डालती हैं वैसी बातें धुनना नहीं। इसीके कारण जीव अनन्तरिकसे मटकता है। मत्-स्थिति काळ आदिका आलस्यन लेना नहीं। ये सब कहते हैं।

जीवको सांसारिक आलस्यन—विह्वलनायें—छोड़ना तो है नहीं, और बह मिष्या आलस्यन लेकर कहता है कि कर्मके दल मौजूद हैं इसलिये मेरेसे कुछ बन नहीं सकता। ऐसे आलस्यन लेकर जीव पुरुषार्थ करता नहीं। यदि वह पुरुषार्थ करे और मत्स्थिति अपना काळ इकावट डाले तो उसका उपाय हम कर लेंगे, परन्तु पहिले तो पुरुषार्थ करना चाहिये।

सुपुरुषकी आज्ञाका आराधन करना भी परमार्थरूप ही है। उसमें काम ही है। यह व्यापार कामका ही है।

जिस आदमीने जाहों रूपोंके सामने पीछा फिरकर देखा नहीं, वह जब जो हथारके व्यापारमें रहना निकामता है उसका कारण यही है कि अतसे आत्मार्थकी इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हो गया है वह पीछा फिरकर देखता नहीं—बह तो पुरुषार्थकरके सामने आ जाता है। शालमें कहा है कि आचरण, स्वभाव, मत्स्थिति सब पक्की हैं ? तो कहते हैं कि जब पुरुषार्थ करे तब।

पौष कारण मिळ जाँय तो मुक्ति हो जाय। ने पौषों कारण पुरुषार्थमें अन्तर्हित हैं। अमल जीये जारे मिळ जाँय, परन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीवने अनल काळसे पुरुषार्थ किया नहीं। समस्त मिष्या आलस्यनोंको उकार मार्गमें निम्न डाले हैं। कस्याप्य-वृत्ति उदित हो तब मत्स्थिति परिपक्व हुई समझनी चाहिये। श्रुता हो तो बर्षका काम दो घड़ीमें किया जा सकता है।

प्रश्न —व्यवहारमें जीये गुणस्थानमें कीन कीन व्यवहार कायू होता है ? छद्म व्यवहार या और कोई ?

उत्तर —उसमें दूसरे सभी व्यवहार कायू होते हैं। उदयसे शुभाष्टम व्यवहार होता है, और परिणतिसे छद्म व्यवहार होता है।

परमार्थसे वह कुछ कर्त्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानीको सदा प्रिया है, इसलिये वह कुछ व्यवहारका कर्त्ता है। समकितोंको वस्तुब व्यवहार दूर करना है। समकितों परमार्थसे कुछ कर्त्ता है। नयके वनेक प्रकार हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँची जावे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकार विचारना चाहिये। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलके ऊपर लक्ष रखना चाहिये। एक यदि सम्यक् उपयोग हो तो अपनेको अनुमत्त हो जाय कि किसी अनुमत्त-दशा प्रगट होती है।

सम्मान हो तो समस्त गुण सम्मर्मे ही हो जायें। दया, सत्य, अन्तर्ज्ञान, ब्रह्मचर्य परिष्कृत-मर्यादा आदि अङ्गकारहित करने चाहिये। लोगोंको बतानेके लिये कुछ भी करना नहीं चाहिये। मनुष्यमन मित्र है, और सदाचारका सेवन न करे तो फिर पीछे पड़ना होगा। मनुष्यमनमें सत्पुरुषके बचनके सुननेका-विचार करनेका—सयोग मित्र है।

सत्य बोधना, यह कुछ मुश्किल नहीं—बिल्कुल सत्य है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हैं उन्हें ही करना चाहिये। यदि यह महीनेतक इस तरह आचरण किया जाय तो फिर सत्यका बोधना सरल हो जाता है। सत्य बोधनेसे कदाचित् प्रथम तो थोड़े समयतक थोड़ा मुकसान भी हो सकता है, परन्तु पीछेसे अनन्त गुणकी भारक आत्मा जो तमाम छुटी जा रही है, वह छुटी हुई बंध हो जाती है। सत्य बोधनेसे धीमे धीमे सत्य हो जाता है; और यह होनेके पश्चात् बत केना चाहिये—बन्धन रहना चाहिये, क्योंकि उत्तम परिणामवासी आत्मा कोई बिराही ही होती है।

जीतने यदि अकैवल्य मयसे मय प्राप्त किया हो, तो उससे कुछ भी नहीं होता। जेक चाहे जैसे बोले उसकी परवा न करते हुए, जिससे आत्म-हित हो उस सदाचारका सेवन करना चाहिये। ज्ञान जो काम करता है वह अक्षुण्ण है। सत्पुरुषके बचनके बिना विचार नहीं आता। विचारके बिना वैराग्य नहीं आता—वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारण सत्पुरुषके बचनोंका बारबार विचार करना चाहिये।

वास्तविक आशका दूर हो जाय तो बहुत-सी निर्बल हो जाती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उस बारबार बोध होता हो तो बहुत फल हो।

जो सदा अपना अन्त नय है वे सब एक आत्मार्थके लिये हैं, और आत्मार्थ ही एक सदा नय है। नयका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो फल होता है—अन्तमें उपशम आने तो फल होता है; नहीं तो जीवको नयका ज्ञान आत्मरूप ही हो जाता है; और यह फिर अङ्गकार बन्धनेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आशयसे वह जाय दूर हो जाता है।

आत्म्यात्मने कोई मंगलाल राम (स्वर) निकलकर सुनाता है परन्तु उसमें अहमात्म नहीं। यदि सत्पुरुषके आशयसे कणाय आदि मंत्र करो और सदाचारका सेवन करके अङ्गकार रहित हो जाओ, तो तुम्हारा और दूसरेका हित हो सकता है। दमरहित आत्मार्थसे सदाचार सेवन करना चाहिये, जिससे उपकार हो।

छापी जमीन हो और उसमें बर्बा हो तो वह किस काममें आ सकती है? उसी तरह जबतक देसी स्थिति हो कि आत्मान उपदेश प्रवेश न करे, तबतक वह किस कामका? जबतक उपदेश-वाणी अहमात्म प्रवेश न करे तबतक उसे फिर फिर मनन करना और विचारना चाहिये—उसका पीछा छोड़ना

नहीं चाहिये—कायर होना नहीं चाहिये—कायर हो जाय तो अश्रमा ऊनी नहीं जाती। ज्ञानका अन्व्यास जिस तरह बने बढ़ाना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये—उसमें कुटिलता अथवा व्यवहार नहीं रखना चाहिये।

अश्रमा अनन्त ज्ञानमय है। जितना अभ्यास बढ़े उतना ही कम है। सुंदरविज्ञास आदिके पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये। गच्छकी अथवा मतमतांतरकी पुस्तकें हाथमें नहीं लेना। परम्परासे भी कदाग्रह आ जाय तो जीव पीछेसे मारा जाता है। इसलिये कदाग्रहकी बातोंमें नहीं पड़ना। मतोंसे बचना चाहिये—दूर रहना चाहिये। जिस पुस्तकसे वैराग्य-उपशम हो, वे समकित्तदृष्टिकी पुस्तकें हैं। वैराग्यकी पुस्तकें पढ़ना चाहिये।

दया स्तय आदि जो साधन हैं, वे विभावको त्याग करनेके साधन हैं। अंतस्परसि विचारको बड़ा आश्रय मिलता है। अन्तकके साधन विभावके आधार-स्तम्भ थे उन्हें सबे साधनोंसे ज्ञानी-पुरुष हटा बाँधते हैं। जिसे कल्याण करना हो उसे स्तय-साधन अवश्य करना चाहिये।

सुखमागममें जीव आया और इन्द्रियोंकी लुब्धता न गई, तो वह सुखमागममें आया ही नहीं, ऐसा समझना चाहिये। जबतक सुख थोड़े नहीं जबतक गुण प्रगट नहीं होते। सुपुरुष हाथसे पकड़कर मत दे तो जो। ज्ञानी-पुरुष परमार्थका ही उपदेश देता है। मुमुक्षुओंको सुसाधनोंका सेवन करना योग्य है।

समकित्तके मूळ बारह मत हैं—स्थूल प्राणातिपात, स्थूल गुणात्वाद, स्थूल कहेनेका हेतु—

ज्ञानी अश्रमाका और ही मार्ग समझाया है। मत दो प्रकारके हैं—समकित्तके बिना भाव मत है; और समकित्तसहित अर्थात् है। समकित्तसहित बारह मतोंका परमार्थ समझमें आ जाय तो फल होता है। ब्रह्ममत अन्तर्गतके लिये है जैसे कि एकका अन्त सिद्धान्तके लिये कहीं बनाई जाती हैं। परमि प्रथम तो लक्षित करते हुए एकका अन्त टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है, परन्तु इस तरह करते करते पीछेसे वह अन्त ठीक ठीक बनने लगता है।

जीनने जो जो कुछ अवगण किया है, वह सब निष्पा ही प्रमाण किया है। ज्ञानी विचार क्या करे? कितना समझने? वह समझानेकी रीतिसे ही तो समझाता है। मार कूटकर समझानेसे तो आत्मज्ञान हाता नहीं। पहिले जो जो मत आदि किये ने सब निष्फल ही गये, इसलिये अब सुपुरुषकी दृष्टिसे परमार्थ समझकर करो। एक ही मत हो, परन्तु वह मिथ्यातदृष्टिकी अपेक्षासे बच है, और सम्पददृष्टिकी अपेक्षासे निर्बल है। पूर्वमें जो मत आदि निष्फल गये, उन्हें अब सफल करने योग्य सुपुरुषका योग मिला है; इसलिये पुरुषार्थ करना चाहिये। सदाचरणका आश्रयसहित सेवन करना चाहिये—मरण जानेपर पीछे रहना नहीं चाहिये। ज्ञानिके बचम अवगण होते नहीं—मनन होते नहीं, नहीं तो दशा बदले बिना कैसे रह सकती है?

आरंभ-परिग्रहको स्थूल करना चाहिये। पढ़नेमें विरत न करो तो उसका फलण नीरसता माझ होती है। जैसे कोई आइसी नीरस आहार कर ले तो फिर उसे पीछेसे भोजन अच्छा नहीं लगता।

ज्ञानियोनि जो कहा है, उससे जीव विपरीत ही चलता है; फिर सुपुरुषकी वाणी कहाँसे कम सकती है? जोक-साज आदि शक्य हैं। इस शक्यके कारण जीवका पापी चमकता नहीं। उस शक्यपर

यदि स्रग्पुरुषके बचनरूपी टोंकसे दूरार पड़ जाय तो पानी बमक उठे । जीवका शान्त्य हननेसे निकले जातियोगके कारण दूर नहीं होता परन्तु स्रग्पुरुषका उपयोग यदि एक माहिनैक भी हो तो वह दूर हो जाय, और जीव सस्तेसे बका जाय ।

बहुतसे लघुकर्मी ससारी जीवोंको पुत्रके ऊपर मोह करते हुए बितना खेद होता ॥ उतना भी वर्तमानके बहुतसे साधुओंको शिष्यके ऊपर मोह करते हुए होता नहीं ।

दृष्टान्तात्मक जीव सदा मिश्रारी सतोपकाळा जीव सदा सुखी ।

सबे गेबकी, सबे गुरुकी, सबे धर्मकी पहिचान होना बहुत मुश्किल है । सबे गुरुकी पहिचान हो, उसका उपदेश हो, तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहिचान हो जाय । सबका स्वरूप सङ्गठने समा जाता है ।

सबे देव बर्खास्त, सबे गुरु निर्मल्य, और सबे हरि राग-द्वेष जिसके दूर हो गये हैं । संयोजित अर्थात् गौडव्रित । मिथ्यात्व अन्तर्मन्य है । परिष्कृत बाह्य मन्य है । मूखमें अन्तर्मन्य प्रथि स्थि न हो सकतक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं जाता । जिसकी मन्यि नष्ट हो गई है, वैसा पुरुष निकले तो सचमुच काम हो जाय, और उसमें यदि स्रग्पुरुषागम रहे तो विशेष कल्याण हो । जिस मूख गौडका शास्त्रमें छेदन करना कष्ट है, उसे सब मूख गये हैं, और बाहरसे उपधार्य करते हैं । हुसके सहन करनेसे भी मुक्ति होती नहीं क्योंकि हुसक बेदन करनेका कारण जो बैराग्य है, जीव उसे मूख गया है । हुसक अज्ञानका है ।

अदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अदरसे छूटे बिना बाहरसे छूटता नहीं । केवल बाहर बाहरसे छोड़ देनेसे काम नहीं होता । आत्म-साधनके बिना कल्याण होता नहीं ।

बाह्य और अदर जिसे दोनों साधन हैं, वह उत्कृष्ट पुरुष है और इसलिये वह भेद है । जिस साधुके सगसे अवर्गुण प्रगट हो उसका सग करना चाहिये । कर्मी और चोरीके रुपये दोनों समान नहीं छोड़े जाते । क्योंकि ऊपर सिक्का लगा हो फिर भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं होती और चोरी हो तो उसके ऊपर सिक्का न लगाओ तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । उसी तरह यदि गुरुत्व अस्त्यमें समन्वित हो तो उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । सब कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है । अज्ञानमें राग-द्वेषके मास हलोपर बाल प्रगट होता है । चले चलो वैठो और चले जिस स्थितिमें हो मोक्ष हो सकती है । परन्तु राग-द्वेष नष्ट हो तभी तो । मिथ्यात्व और अहंकार नाश हुए बिना कोई रागपाठ छोड़ दे चुड़की तरह सूख जाय, फिर भी मोक्ष नहीं होती । मिथ्यात्व नाश होनेके पश्चात् ही सब साधन सफल हैं । इस कारण सम्मन्वयन भेद है ।

संसारमें जिसे मोह है, जी-पुत्रमें अपनाराम हो रहा है, और कपायका जो मरत हुआ है, वह उन्नि-भोवन न करे तो भी क्या हुआ ! जब मिथ्यात्व बका जाय तभी उसका स्फुट होता है ।

हालमें धैर्यधर्मके जितने साधु फिरते हैं उन सभीको समझिती नहीं समझता; उन्हें दान देनेमें शानि नहीं परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते । वेस कल्याण नहीं करता । जो साधु केवल बाह्य क्रियाये किया करता है उसमें धान नहीं ।

धान तो यह है कि जिससे बाह्य क्रियायें रुक जाती हैं—संसारपरसे सभी प्रीति घट जाती है—जीव सबेको सदा समझने लगता है । जिससे आत्ममें गुण प्रगट हो वह धान ।

मनुष्यमय पाकर मत्कलेमें और जी-पुत्रमें तदाकार होकर, यदि आत्म-विचार नहीं किया, अपना दोष नहीं देखा, अहमात्मी निन्दा नहीं की, तो वह मनुष्यमय—चितामणि स्वरूप देह—रूपा हो चला जाता है।

जीव कुसंगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे मत्का है, इसलिये सत्पुरुषको पहिचानना चाहिये। सत्पुरुष कैसा है? सत्पुरुष तो वह है कि जिसका देहके ऊपरसे ममत्व दूर हो गया है—जैसे इम प्राप्त हो गया है। ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष कम हो जाय, कष्ट आदि न पड़ जाय और परिणाममें सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वास्तविक पाप हैं। उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है। हजार वर्ष तप किया हो परन्तु यदि एक-दो चर्चा भी क्रोध कर लिया तो सब तप निष्फल चला जाता है।

‘छह सज्जका मोक्षा भी राज्य छोड़कर चला गया, और मैं ऐसे अल्प उपबहारमें बहपन और गहकार कर बैठा हूँ?’—जीव ऐसा क्यों नहीं विचारता?

आयुके इतने वर्ष व्यतीत हो गये, तो भी लोभ कुछ चला नहीं, और न कुछ ज्ञान ही प्राप्त हुआ। जैसे कितनी भी तुष्णा हो परन्तु जब आयु पूर्ण होती है उस समय वह जप भी कथनमें आती नहीं और तुष्णा की हो तो उल्टे उससे कर्म ही पैदा होते हैं। अमुक परिग्रही मर्यादा की हो—उदाहरणके लिये दस हजार रुपयेकी—तो समता आती है। इतना सिद्ध जानेके पश्चात् धर्मभ्रान्त करेगे, ऐसा विचार रखें तो भी नियममें आ सकते हैं।

किसीके ऊपर क्रोध नहीं करना। जैसे राजा-मोहनका त्याग किया है, बैसे ही क्रोध मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेके लिये प्रयत्न करके उन्हें मर कराना चाहिये। उनके मर पड़ जानेसे अन्त में सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जीव विचार करे तो अनंतों कर्म मर पड़ जाय, और यदि विचार न करे तो अनंतों कर्मोंका उपार्जन हो।

जब रोग उत्पन्न होता है तब जी, वाक-बक्के, माई अपना दूसरा कोई भी रोगको छे नहीं सकता। सतोसे धर्मभ्रान्त करना चाहिये; लड़के-बच्चों की तरह किसीकी अन्याय्यक चिंता नहीं करनी चाहिये। एक स्थानमें बैठकर विचार कर, सत्पुरुषके संगसे, ज्ञानिके बचन मननकर विचारकर धन आदिकी मर्यादा करनी चाहिये।

महाधर्मको पायातम्य प्रकारसे तो कोई बिरला ही जीव पाछ सकता है, तो भी छोटे-आजसे भी महाधर्मका पावन किया जाय तो वह उत्तम है।

मिम्यत्त्व दूर हो गया हो तो चार गति दूर हो जाती हैं। समकित न आया हो और महाधर्मका पावन करे तो देवलोका मिळता है।

जीवने वैश्य, ब्राह्मण, पशु पुरुष, जी आदिकी कल्पमासे में वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, पुरुष हूँ, जी हूँ, पशु हूँ—ऐसा मान रखता है परन्तु जीव विचार करे तो वह स्वयं उनमेंसे कोई भी नहीं। ‘धैर्य’ स्वरूप तो उससे श्रुत ही है।

सूर्यके उधोतकी तरह दिन बीत जाता है, तथा अशुखिके जखनी तरह आयु बीत जाती है। मिस तरह कर्करी आँसे काटी जाती है, बैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है; तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता और मोहके डेरको झुका किया करता है।

हुआ है, तो माध्यम होगा कि जैनधर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है। जीव उन्नीस समझसे अपने कन्याणको भूख पर दूसरेका अकन्याण करता है। तन्पा बुद्धियाके सामुको, और बुद्धिया तन्पाके समुको अन्न-पानी न देनेके छिये अपने अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं। कुटुम्ब छोम एक दूसरेको मिछने नहीं देते। यदि वे एक दूसरेका मिछने दें तो कपाय कम हो जाय—निम्दा घट जाय।

जीव निष्पक्ष नहीं रहता। वह अनादिसे पक्षमें पड़ा हुआ है, और उसमें रहकर कन्याण भूख खाता है।

बाह्य कुछकी ओ गोचरी कही है, उसे बहुतसे मुनि नहीं करते। उनका करवे आदि परिग्रहका मोह दूर हुआ नहीं। एक बार आहार छेनेके छिये कहा है फिर भी वे दो बार छेते हैं। जिस ज्ञानी-पुरुषके बचनसे आत्मा उच्च दशा प्राप्त करे वह सच्चा मार्ग है—वह अपना मार्ग है। सच्चा धर्म पुस्तकमें नहीं आता। ज्ञान आत्मामें गुण प्रगट न हो तबतक वह कुछ फल नहीं देता। 'धर्म अपना है' ऐसी एक कन्याणा ही ना धर्म है—जैसे महासागर किसीका नहीं, उसी तरह धर्म भी किसीके बापका नहीं है। जिसमें आने हो, उसे को पाछे। वह किसीके बापका नहीं है। वह अनादिकालका है—शाश्वत है। पुरुष ही है कि धर्म अपना है। परन्तु शाश्वत मार्ग क्या है? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। वे तो पुरुष ही या कपड़ा कोई आत्मा नहीं। धोखेकी नाहेकी तरह जीव पक्षका आग्रह करता है। उसी जीवकी मूर्खता है। 'अपने जैनधर्मके शास्त्रोंमें सब कुछ है, शास्त्र अपने पास है,' जैन जीव कर बैठा है। तया क्रोध, मान, माया और लोभमयी चार जो रात दिन मान, उसका उसे मान नहीं।

उसका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कौड़ीतक भी रखनेकी आज्ञा नहीं। वैष्णवोंके कुत्तधर्मके कुटुम्ब के छोड़े बिना ही लोगोंका पाससे छत्ती ग्रहण करते हैं, और उस तरहका तो एक व्यापार है। वे स्वयं अग्निमें जलते हैं, तो फिर उनसे दूसरेकी अग्नि किस तरह शान्त हो सकती है? तया परमार्थ सबे गुरुसे समझना चाहिये। जिस गुरुको स्मार्थ हो वह अपना अकन्याण उससे शिष्योंका भी अकन्याण होता है।

धारण कर जीव अन्नतो बार मटका है—बादवर्ती डिग धारण कर ताकिक व्यवहार मटका है। इस जगह वह जैनधर्मका निषेध करता नहीं। अंतरगसे जो भितना सच्चा मार्ग है, जैम है। नहीं तया अनादि कालसे जीवन झूठका सच्चा माना है, और यही अज्ञान है। इसी साधकता तभी है जब कि मिथ्या आग्रह—दुःखग्रह—छोड़कर कन्याण होता हो। ज्ञानी है। जब आत्मज्ञान प्रगट हो उसी समय आत्म-ज्ञानीपना मानना चाहिये—गुण प्रगट होना उसे मानना यह भूल है। जयाइराणकी बीमत्त ज्ञाननकी ताकिके बिना जेरीपना मानना नहीं चाहिये। अज्ञानी मिथ्याको सच्चा नाम दकर बाड़ा बेचका देता है। यदि सत्य पहिचान हो तो किसी समय तो सत्यका ग्रहण होगा।

(१२)

आत्म-माध्यम १५ मगड

जो और करनेकी मुमुक्षु मानता हो, पार ज्ञानका अनिष्ठाही मानता हो, और उसे 'हमें रेम' होने समय आकुञ्चना-स्वाकुञ्चता होती हो, तो उस समय विचार करना चाहिये कि तेरी मुमुक्षुता—होशिपारी—

सबकी अपेक्षा मैं संसारमें बड़ा हो जाऊँ' ऐसे वश्यानके प्राप्त करनेकी दुष्टानि, पाँच इन्द्रियोंमें बहर्मान मन्वादीकी तरह, भृगु-दुष्टानि के जड़के समान, संसारमें जीव भ्रमण किया करता है, और कुछ, गति और गतिधर्मों मोहके नशानेसे नाथा करता है !

जिस तरह कोई धंधा रस्तीको बटता जाता है, और बड़बा उसे चबता जाता है, उसी तरह बहर्मानकी क्रिया निष्फल जाती जाती है ।

'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कैसा करता हूँ' ह्यादि जो विचार है वही निष्काम है । वहकारसे संसारमें अनंत दुःख प्राप्त होता है—पारों गतिधर्मोंमें मटकना होता है !

किस्तीका किया हुआ किया नहीं जाता किस्तीका किया हुआ किया नहीं जाता; जीव स्पर्शकी कल्पना करके ही मटकता करता है । जिस प्रमाणमें कर्मोंका उपादान किया हो उसी प्रमाणमें काम, क्रोध, माद, सता असाता निकले हैं । अपने आपसे कुछ किया किया नहीं जाता । जीव वहकारसे 'मैंने इसे कुछ दिया, मैंने कुछ दिया मैंने जल दिया' ऐसी मिथ्या मान्यतामें किया करता है और उसके कारण कर्म उपादान करता है । निष्कामसे विपरीत धर्मका उपादान करता है ।

जगत्में यह इच्छा पित्त है यह इच्छा गुण है, ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु कोई भी किस्तीका नहीं । पूर्व कर्मके उत्पत्ति ही सब कुछ बना है ।

वहकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह भ्रमा हुआ है—यह चार गतिधर्मोंमें मटकता है, और कुछ नोता है ।

अवमानम पुरुषके अन्वेषण —सत्पुरुषको देखकर जिसे रोप उत्पन्न होता है, उसके सब बन्धन सुनकर जो उसकी निंदा करता है—सोटी बुद्धिवाला जैसे सद्बुद्धिवालेको देखकर रोप करता है—सबकुछ मूर्ख कहता है, जो नियम करे उसे धनका सुशामनी कहता है, पाँच इन्द्रियों जिसने बड़ा की हो उसे मान्यहीन कहता है उसे गुणवालेको देखकर रोप करता है, जो जी-पुरुषके सुखमें लक्ष्मीन रहता है—ऐसे जीव बुद्धिहीन प्राप्त होते हैं । जीव कर्मके कारण अपने स्वरूप-ज्ञानसे बांध है; उसे ज्ञानकी लहर नहीं है ।

एक नामके लिए—मेरी माक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये अहर्मेमें उतरता है—पर नामकी तो राख हो जानेवाली है ।

देह कैसी है ? देहके घर बैसी । मनमानकी मही बैसी । पर्यंतकी गुप्तके समान देहमें अंधार है । अमर्शके कारण देह ऊपर ऊपरसे सुंदर मान्य होती है । देह अलगुणका घर तथा माया और मैकके रहनेका स्थान है । देहमें प्रेम रखनेके कारण जीव मटकता है । वह देह अनिरप्य है, बरदेखकी बात है । उसमें मोह रखनेसे जीव चार गतिधर्मोंमें मटकता है । जिस तरह मटकता है ? प्राणीके देखनी तरह । बौद्धिकारी पही बौध केता है, बहनेके मार्गमें उस रंग होकर चबता पड़ता है, छूटनेकी इच्छा होनेपर भी वह छूट नहीं सकता मूलसे पीवित होनेपर भी वह बह नहीं सकता, बासो-भूगस्त वह निरनुकूलतासे के नहीं सकता । उसकी तरह जीव भी पश्यनी है । जो संसारमें प्रीति करता है, वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है ।

मुझे जैसे कपड़े पहिनकर वे बाह्यम्बर रखते हैं, परन्तु वे मुझे की तरह माता हो जानेवाले हैं । अन्तर्मात्र ज्ञान मायाके कारण बड़ा हुआ रहता है ।

जो जीव आत्मेच्छा रखता है, वह ऐसेको नाकके भेड़की तरह त्याग देता है। जैसे मक्खियों मिठाईपर धिपटी रहती हैं, उसी तरह ये अमागे जीव कुटुम्बके सुखमें खवलीन हो रहे हैं।

बुद्ध, मुनि, वाचक—ये सब ससारमें भूखे हुए हैं—काछके मुसमें हैं, ऐसा भय रखना चाहिये। उस भयको रख ससारमें उदासीनतासे रहना चाहिये।

सौ उपवास करे, परन्तु जबतक भीतरसे वास्तविक दीप बूर न हों तबतक फल नहीं होता।

ब्राह्मक कितने कहना चाहिये ! जिसे सतोप आया हो, कयाप जिसकी मद्र पक गई हो, भीतरसे गुण उदित हुए हों, सस्मग भिन्ना हो—उसे ब्राह्मक कहना चाहिये। ऐसे जीवको बोध छगे तो समस्त वृत्ति बरत जाय—दशा कष्ट जाय। सस्मग भिन्नता यह पुण्यका योग है।

जीव अविचारसे भूखे हुए हैं। जय कोई कुछ कह दे तो तुरन्त ही भुग छग जाता है, परन्तु विचार नहीं करते कि मुझे क्या ? वह कहेगा तो उसे ही कर्म बच होगा।

समायिक समताको कहते हैं। जीव अहंकार कर वाद-क्रिया करता है, अहंकारसे माया लब्ध करता है—वे दुःखान्तिके कारण हैं। सत्सगके बिना यह दोष नहीं घटता।

जीवको अपने आपको होशियार कहखाना बहुत अच्छा लगता है। वह बिना मुखाये होशियारी करके बहर्ष होता है। जिस जीवको विचार नहीं, उसके छूटनेका अन्त नहीं। यदि जीव विचार करे और समार्गपर चले तो छूटनेका अन्त आये।

अहंकारसे मानसे कैवल्य प्रगट नहीं होता। वह बड़ा दोष है। अज्ञानमें बड़े छेनेकी कल्पना रहती है। बाहुबलिजीने विचार कि मैं अकुमारहित हूँ, इसलिये—

(११)

आनन्द, भाद्रपद वरी १४ सोम

पदरुद्ध भेगसे जो सिद्ध कहा है, उसका कारण यह है कि जिसका राम देव और बहान मद्र हो गया है, उसका चाहे जिस बेपये, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस ङिगसे कम्पाय हो जाता है।

सत् मार्ग एक ही है, इसलिये आप्रह नहीं रखना। अनुक वृद्धिया है, अनुक तन्पा है, ऐसी कल्पना नहीं रखना। इया सत्य आणि सगुणरुण मुक्तिके मार्ग हैं इमत्रिये सदाचरण सेवन करना चाहिये।

छोच करना कित्त खिये कहा है ! दारीरकी समताकी वह परीक्षा है। (सिरमें बाध होना) वह मोह बड़नेका कारण है। उससे स्नान करमेका मन होता है, स्पर्ण छेनेका मन दाला है, उसमें मुँद दगनेका मन होता है, और इससे फिर उनका साथगोंके उिये उपाधि करनी पड़ती है; इस कारण इमियेमे पशोच करनेके किये कहा है।

पात्रा करनेका एक तो कारण यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति मिठ सरु; दूसरे सौ दामी इयोंके उगरे मूर्च्छाभाय कम हो सके; तथा परदेशमें देसाग्न करमेसे कोई सपुण्य जोबते ग्यबने मिठ जाय तो कम्पाय हो जाय। इन कारणोंसे यात्रा करना धनाया है।

जो सपुण्य दूगरे जीतोंकी उपदेश देबर कम्पाय बनाते हैं, उन सपुण्योंको तो अनत साम प्राप्त हुआ है। सपुण्य दूगर जीतकी निष्काम कइनाके सागर है। बागीके उदय अनमार रमनी

वही बची गई । जो पार होनेका अमिछाया हो वह तो देखको असार समझता है—देहको आत्मसे भिन्न मनता है—उसे आकृष्टता आनी चाहिये ही नहीं । देहकी समाप्ति करते हुए वह सैमाखी जाती नही, क्योंकि वह उड़ी क्षणमें नाश हो जाती है—उसमें क्षणभरमें रोग, क्षणभरमें कष्टना हो जाती है । देहके समस्त देह दुःख देती है, इसलिये आकृष्टता-व्याकुलता होती है, वही अज्ञान है । शास्त्र धर्षण कर ऐसे ऐसे सुभा है कि देह अस्मासे भिन्न है—क्षणभंगुर है, परन्तु देहको यदि बेचना हो तो यह जीव एतद्देह परिणामसे शोर-गुल मचाता है । तो फिर, देह क्षणभंगुर है, वह तुम शास्त्रमें सुमने जाते किस लिये हो ? देह तो तुम्हारे पास है तो अनुमन करो । देह स्वयं मिठी जैसी है—बढ़ रक्खी हुई रक्खी नहीं जा सकती । बेचनाका बेदन करते हुए कोई उपाय चकता नहीं । अब फिर किसकी सैमाख करें ? कुछ भी नहीं बन सकता । इस तरह देहका प्रत्यक्ष अनुमन होता है तो फिर उसकी मरणा करक क्या करना ? देहका प्रगट अनुभव कर शास्त्रमें कहा है कि वह अनित्य है—देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं ।

जबतक देहमें आत्मबुद्धि दूर न हो तबतक सम्पत्त्य नहीं होता । जीवको सचाई कभी आई ही नहीं यदि आई होती तो मोक्ष हो जाती । मजे ही साधुपना, धारकपना अपना चाहे या स्वीकार कर लो, परन्तु सचाई बिना सब साधन बूझा है । देहमें आत्मबुद्धि दूर करनेके जो साधन कताये हैं वे साधन, देहमें आत्मबुद्धि दूर हो जाय तभी सब समझे जाते हैं । देहमें या आत्मबुद्धि हुई है उसे दूर करनेके लिये आत्मपनको त्यागनेके लिये साधन करने आवश्यक हैं । यदि वह दूर न हो तो साधुपना ध्या कपना, शास्त्रअरण्य अपना ठगदेश सब कुछ अरण्यवेदनके समान है । जिस पर हम दूर हा गया है, वही साधु वही आचार्य और वही ज्ञानी है । जैसे कोई अमृतका भोजन करे तो वह डिगा हुआ नहीं रहता, उसी तरह भक्तिरस दूर हागा विस्तीर्ण डिगा हुआ रहता नहीं ।

योग कहते हैं कि समर्थ है वा नहीं, उसे केवलज्ञानी जाने । परन्तु जो स्वयं जाना है वह उसे क्यों नहीं जानती ? अपना कुछ गीत तो चला ही नहीं गई । अर्थात् समर्थता हुआ है, इसे अल्प स्वयं ही जानती है । उसे किसी पदार्थके गानेपर वह अपना फल देता है, उसी तरह समर्थके हीनपर भक्ति दूर हा जानेपर उसका कुछ भाग स्वयं ही जान लगी है । इनके फलतो ज्ञान देता ही है । पदार्थके पञ्चरस पदार्थ ज्ञान उच्छ्रान्त अनुसार देता ही है । आत्मामेसे—अन्तरमेसे—यदि कर्म जानेको तेज्जार हुए हो तो उसकी अनेका तरह क्यों न पड़े ? अर्थात् तब पड़ती ही है । सम शिरीकी दशा डिगी हुई नहीं रहनी । कथित गमकितरस गमकित गममा पोतकी कंठ्यो को मोमकी बनी अनेक समान है ।

समर्थता हुआ दा ता देहमें आत्मबुद्धि दूर हाती है । पक्षि अन्तर्कोर मध्यमकोर, शिरोकोर रेगा भी बर हुआ हा मनुष्य ही पीउगे देहमें आत्म बुद्धि दूर हाती है । देहमें तब जानेपर जिसे मनुष्य आत्म पर उसे विपरीत समझना चाहिये ।

जिग हातीका आकृष्टता-व्याकुलता पर हा गई है, उस अर्थमें पक्षकता है ही । उतने गमन स्वभाव का मजे है । जिसे के गम देह दूर हा तब है उगता यदि बीम बरगता पुत्र मर जाय तो ही उसे रोद नहीं होता । शरीरका स्पर्श जानेगे जिसे व्याकुलता होती है और जिगहा कपना का हा है । उसे तब अन्तर्मात्र मानना चाहिये । ऐसा कथित हाती मनुष्य-ज्ञानको अन्तर्मात्र मानना चाहिये है—करक बहुत है । देहा हाकता कम ।

आत्माका पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नहीं होता । जो इस तरहकी कल्पनाको सत्य मान बैठा है वह मिथ्यात्मी है । कुसंगसे समझमें नहीं आता, इसलिये समकित नहीं आता । सत्पुरुषके संगसे योग्य जीव हो तो सम्यक्त्व होता है ।

समकित और मिथ्यात्वकी शुरुत ही खबर प आती है । समकित और मिथ्यात्वकी बाणी घड़ी घड़ीमें सुनी पड़ती है । झानीकी बाणी एक ही धारायुक्त पूर्णपर मिश्रित चली आती है । जब अतरंग गोंठ खुले उसी समय सम्यक्त्व होता है । रोगका ज्ञान छे, रोगकी दवा ज्ञान छे, एष्यको ज्ञान छे और तदनुसार उपाय करे तो रोग दूर हो जाय । रोगके जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करता है उससे रोग बढ़ता ही है । एष्य सेवन करे और दवा करे नहीं तो रोग कैसे मिट सकता है ? अर्थात् नहीं मिट सकता । तो फिर यह तो रोग कुछ और है, और दवा कुछ और है । कुछ शास्त्र तो ज्ञान कहा नहीं जाता । ज्ञान तो उसी समय कहा जाता है जब अतरंगसे गोंठ दूर हो जाय । तब समय आलिके छिये सत्पुरुषके बचनोंका श्रवण करना बताया गया है ।

ज्ञानी भगवान्ने कहा है कि साधुओंको अचित्त आहार देना चाहिये । इस कथनको तो बहुतसे साधु मूख ही गये हैं । दूध आदि सचित्त भारी भारी पदार्थोंका सेवन करके ज्ञानीकी आत्माके ऊपर पौंन देकर चखना कर्मपाणका मार्ग नहीं । जोग कहते हैं कि वह साधु है, परन्तु आत्म-दशाकी जो साधना करे वही तो साधु है ।

मरिचिह्नहेता कहते हैं कि अनादिकात्मसे ऐसे ही चखते चखते काळ बीत गया, परन्तु निस्कार हुआ नहीं । यह मार्ग नहीं है, क्योंकि अनादिकात्मसे चखते चखते भी मार्ग हाथ लगा नहीं । यदि मार्ग यही होता तो अवतक कुछ भी हाथमें नहीं आया—ऐसा नहीं हो सकता था । इसलिये मार्ग कुछ भिन्न ही होना चाहिये ।

तृष्णा किस तरह घटती है ? औक्तिक भावमें मान-बर्बाद त्याग दे तो । ‘घर-कुटुम्ब आदिका मुझे करना ही क्या है ? लोकमें चाहे जैसे हो, परन्तु मुझे तो मान-बर्बादका जेबकर चाहे किसी भी प्रकारसे, जिससे तृष्णा कम हो वैसा करना है’—ऐसा विचार करे तो तृष्णा घट जाय—मंद पड़ जाय ।

उपका अभिमान कैसे घट सकता है ? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे । ‘मुझे यह अभिमान क्यों होता है’—इस प्रकार रोम विचार करनेसे अभिमान में पड़ेगा ।

ज्ञानी कहता है कि जीव यदि कुंजीकी भाँति ज्ञानका विचार करे तो अज्ञानकी ताकत खूब जाय—कितने ही ताकत खूब जाय । यदि कुंजी हो तो ताकत सुखता है, नहीं तो हथौड़ी मारनेसे तो ताकत दूट ही जाता है ।

कर्मपाण न जाने क्या होगा ? ऐसा जीवको बहम है । वह कुछ हाथी धोड़ा तो है नहीं । जीवको ऐसी ही भाँतिसे कारण कर्मपाणकी कुंजियों समझमें नहीं आती । समझमें आ जाय तो सब सुगम है । जीवकी भाँति दूर करनेके लिये जगत्का वर्णन किया है । यदि जीव हमेशाके अंधमार्गसे एक पाय तो मार्गमें आ जाय ।

ज्ञानी जो परमार्थ—सम्पत्त्व—हो उसे ही कहते हैं । “ “ कयाय खटे नही कस्याण है । जीवके राग, द्वेष, अज्ञान दूर हो जाय तो उसे कस्याण कहा जाता है ”—ऐसा तो लोग कहते हैं कि हमारे गुरु ही कहते हैं, तो फिर सत्पुरुष भिन्न ही क्या बताते हैं ” ? ऐसी ठगटो-सीधी कल्पनावे करके जीवको अपने दोषोंको दूर करमा नहीं है ।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गई है । ज्ञानी ही आत्माको ऊँचा उठावेगा । आत्मा दब गई है इसलिये कस्याण सूखता नहीं । ज्ञानी जो सन्निधाररूपी सरक कुत्रियोंको बताता है वे इससे तालमेलो लगाती हैं ।

जीवके मीतरसे अजीर्ण दूर हो जाय तो अप्रुत अण्डा को उसी तरह अतिरूपी अजीर्णके दूर होनेपर ही कस्याण हो सकता है । परन्तु जीवको तो अज्ञानी गुरुने मड़का रक्खा है, फिर अतिरूप अजीर्ण दूर कैसे हो सकता है ! अज्ञानी गुरु ज्ञानके बरछे तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताता है—इस तरह उल्टा उल्टा बताते हैं, उससे जीवको पार होना बहुत कष्टसाध्य है । वहकार आदिद्विष्ट मास्ते तप आदि करना चाहिये ।

कदाग्रह छोड़कर जीव निवार करे तो मार्ग खुल ही है । समकित सुखम है, प्रत्यक्ष है, सरल है । जीव गौँवको छोड़कर दूर चला गया है, तो फिर अब वह पछि फिरे तो गौँव आ सकता है । सत्पुरुषोंके बचमोंका आस्थासहित अग्रण मनन करे तो सम्पत्त्व आता है । उसके उत्पन्न होनेके पश्चात् अत पञ्चस्वात्म्य आते हैं और तत्पश्चात् पौँचवौं गुणस्वात्मक प्राप्त होता है ।

सचार्थ समझमें आकर उसको आत्मा हो जाना ही सम्पत्त्व है । जिसे सब-कुछकी कौमल हो गई है—वह मेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्पत्त्व प्राप्त होता है ।

असद्गुणसे सद् समझमें नहीं आता । दया, सत्य, विना दिया हुआ न केना इत्यादि उत्पन्न सत्पुरुषके समीप आनेके सद् साधन है । सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूक्ष्मे सिद्धान्तका परमार्थ है । हम अनुभवसे कहते हैं—अनुभवसे शंका दूर करनेको कह सकते हैं । अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कलाबमें लिखा हुआ दीपक है ।

वैदियत्मा अथवा तत्पापना किया करो, परन्तु उससे समकित होनेवाला नहीं । यदि वास्तविक सदा अक्षय समझमें आ जाय—मीतरसे दशा बरछ जाय, तो सम्पत्त्व उत्पन्न होता है । परमात्मि प्रमत्त अर्थात् अग्रणमेसे बाधा हटि । पातिकर्म उसे कहते हैं जो पात करे । परमात्मा आत्मसे निरपेक्ष है परमात्माको पक्षपात नहीं है; उसे जिस रूपसे परिणमार्थ वह उसी रूपसे परिणमता है ।

निराश्रित कर्ममें स्थितिबल हो तो बरकर बंध होता है । स्थिति-काळ न हो और विचार करे पश्चात्तापसे ज्ञानका निवार करे तो उसका माया होता है । स्थिति-काळ हो तो भोगमेपर छुटकारा होता है ।

श्रेष्ठ आदिद्वारा भिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उनका भोगमेपर ही छुटकारा होता है । उदय आनेपर भोगना ही चाहिये । जो समता रखे उसे समताका फल होता है । सबको अपने अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते हैं ।

ज्ञानी जीवने पुरुषत्वमें एक-समान है । ज्ञान आत्माका ही है ।

६४४

मन-पर्यवधान किस तरह प्रगट होता है ?

साधारणतया प्रायेक जीवको मतिज्ञान ही होता है। उसके आश्रयभूत सुतज्ञानमें बहि होकर उस मतिज्ञानका बल बढ़ता है। इस तरह अनुक्रमसे मतिज्ञानके निर्मल होनेसे आत्मका असंयमभाव होकर संयमभाव उत्पन्न होता है, और उससे मन पर्यवधान प्रगट होता है। इसके सबबसे आत्मा दूसरेके अभिप्रायको जान सकती है।

किसी ऊपरके चिह्नके देखनेसे दूसरेके जो क्षोभ हर्ष आदि भाव जाने जाते हैं, वह मतिज्ञान नियम है। तथा उस तरहका चिह्न न होनेपर जो भाव जाने जाते हैं, वह मन-पर्यवधानका नियम है।

६४५

वानप्रस्थ, आश्विन सुदी १, १९५५

मूलमार्गारहस्य

ॐ

श्रीसहस्रचरणाय नमः

अ५, यदि पूजा आदिको कामना न हो, अंतरका संसारका दुःख प्रिय न हो, तो अन्तरिक्षो सम्मुख करके जिनमगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ १ ॥

जिनसिद्धान्तका शोधन कर जो कुछ जिन-वचनकी तुलना की है, उसे केवल परमार्थ-हेतु ही कहना है। इसके रहस्यको कोई समझ ही पाता है। जिनमगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ २ ॥

एककर्म और अविरुद्ध जो ज्ञान दर्शन और चारित्रिकी सुदृढता है, वही परमार्थसे जिनमगवान् है, ऐसा पंडितजनोंने सिद्धांतमें कहा है। जिनमगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ३ ॥

जो चारित्रिकी छिग और भेद कहे हैं, वे सब इन्द्र, देव, काळ आदिकी अपेक्षाके भेदों हैं। परन्तु जो ज्ञान आदिकी सुदृढता है वह तो तीनों कर्मोंमें भेदरहित है। जिनमगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ४ ॥

जब ज्ञान दर्शन आदि शब्दोंका संश्लेषसे परमार्थ सुनो। उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम परमार्थ समझमें आवेगा। जिनमगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ५ ॥

१४५

मूल मार्ग शीघ्रसे जिनो ने करी हति अनेक कर्मणः। मूल
मोक्ष पूजादिनी जो कामना है, मोक्ष प्राप्त अथवा स्वर्ग। मूल ॥ १ ॥
करी की जो वचननी तुलना है, जो जो शोधने जिनसिद्धांत। मूल
मात्र कहेतु कथारण हेतुनी है कोई पाये समुद्र सत। मूल ॥ २ ॥
ज्ञान दर्शन चारित्रिकी सुदृढता है, एकपदे अने अविरुद्ध। मूल
जिनमार्ग से परमार्थकी है, एक कहे सिद्धांत सुदृढ। मूल ॥ ३ ॥
विषय अने भेदों के सुदृढता है इन्द्र देव कामादि भेद। मूल
एक कामादिनी के सुदृढता है से तो कहे कहे अथवा। मूल ॥ ४ ॥

आत्मा, देह आदिसे भिन्न है, उपयोगमय है, सदा अविनाशी है,—इस तरह सद्गुरुके उपदेशसे आत्मानेका नाम ज्ञान कहा है । विनमगवान्‌के मूल्यामर्शको सुनो ॥ ६ ॥

जो ज्ञानदायक जाना है, उसकी जो कुछ प्रतीति रहती है, उसे मगवान्‌ने दर्शन कहा है । उसका इसरा नाम समकित भी है । विनमगवान्‌के मूल्यामर्शको सुनो ॥ ७ ॥

जीवकी जो प्रतीति हुई—उसे जो सबसे भिन्न अर्थों में समझा—उस स्थिर स्वभावके उपर होनेको चरित्र कहते हैं उसमें किंका भेद नहीं है । विनमगवान्‌के मूल्यामर्शको सुनो ॥ ८ ॥

जहाँ ये तीनों अर्थों—परिणामसे रहते हैं वह आत्माका स्वरूप है । उसने विनमगवान्‌के मार्गको पा लिया है, अथवा उसने निवृत्तस्वरूपको ही पा लिया है । विनमगवान्‌के मूल्यामर्शको सुनो ॥ ९ ॥

ऐसे मूल्यामर्श आदिके पानेके क्रिये, अनादिका बंध दूर होनेके क्रिये, सद्गुरुका उपदेश पानेके क्रिये, स्वच्छन्द और प्रतिबंधको दूर करो । विनमगवान्‌के मूल्यामर्शको सुनो ॥ १ ॥

इस तरह विनेन्द्रनेने मोक्षमार्गका छंद स्वरूप कहा है । उसका पहाँ मध्यमनेके हितके क्रिये सदैवसे स्वरूप कहा है । विनमगवान्‌का मूल्यामर्शको सुनो ॥ ११ ॥

६४६ श्री आर्जन, आसीन सुदी २ पुष्य १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्रीरामानुजस्वामीकी वरार्थ हुई वासुदेव नामकी पुस्तक मराठी भाषामें है । उसका गुजराली भाषांतर कमकर प्रगट हो गया है । इस पुस्तकको चौबने-विचारनेके क्रिये मेजी है ।

उसमें प्रथम से गणपति आदिकी स्तुति की है । उसके पश्चात्‌ जगत्‌के परमेश्वर आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश किया है । बादमें उसमें वेदान्तकी मुख्यताका वर्णन किया है । उस सबसे कुछ भी भय न करते हुए, अथवा डंका न करते हुए, अथकसक्ति अहमार्थविषयक विचारोंका अवगाहन करना योग्य है ।

के देहादिभी भिन्न आत्म्यादे उपदेशी तथा अविनाश । मूळ
 एव आत्मे सद्गुरु-उपदेशणी है, बहुतों को ज्ञान देने नाम काय । मूळ ॥ १ ॥
 के जाने कहेने आत्मिन्‌ है, ऐसी वर्य से छुट्‌ मरीत । मूळ
 बहुतों मर्यसे दर्शन देने है, वेनु बीई नाम समकित । मूळ ॥ २ ॥
 भैम आदी मरीति जीवनी है, आत्मो सर्वेषां भिन्न अर्थ । मूळ
 ऐसी स्थित स्वभाव से उपदे है नाम चरित्र से अचरित्र । मूळ ॥ ८ ॥
 से भवे अर्थे परिणामवी है, और वर्य से अज्ञानस्थ । मूळ
 देह आत्म विनयी आत्मिणी है, किता आत्मो के निजस्वरूप । मूळ ॥ ९ ॥
 एतां मूळ ज्ञानादि प्रकाश है, अने अथा अनादिर्वच । मूळ
 उपदेश सद्गुरुको नामवा है, असी स्वच्छन्द ने प्रतिबंध । मूळ ॥ १ ॥
 एव है अर्निद मर्यिन्‌ है अज्ञानात्‌ मूळ स्वरूप । मूळ
 मय अनीना हिन्दे काले है, उरिने बहुत स्वरूप । मूळ ॥ ११ ॥

आत्मार्थके विचारमें उससे कम समझ होती है।

श्री को जो व्याख्यान करना होता है, उससे जो अहंभाव आनंद मय रहता है, वह संभव है। जिसने सद्गुरुविषयक तथा उनकी दशाविषयक विशेषता समझ ली है, उसको उस तरहके प्रसंगके समान दूसरे प्रसंगमें प्रायः करके अहंभाव उदय नहीं होता, अपितु वह शान्त हो जाता है। उस अहंभावको यदि पहिछ जहरके समान समझा हो तो वह पूर्वापर कम संभव होता है। क्या कुछ कुछ अंतरमें चातुर्य आदि मायसे, सूक्ष्म परिणतिसे भी, उसमें मिठास रखी हो तो वह पूर्वापर विशेषता प्राप्त करता है। परन्तु 'वह जहर ही है—निश्चयसे जहर ही है—एक काष्ठकूट जहर है, इसमें किसी तरह भी संशय नहीं; और यदि संशय हो तो संशय मानना नहीं, उस संशयको अज्ञान ही समझना चाहिये'—ऐसी तीव्र खारजा कर डाली हो तो वह अहंभाव प्रायः बल नहीं कर सकता। कदाचित् उस अहंभावके रोकनेसे निर्दोषता हुआ हो तो भी उसका निरसे अहंभाव हो जाना संभव है। उसे भी पहिछेसे जहर, और जहर ही मानकर प्रवृत्ति की हो तो आत्मार्थको भाषा नहीं होती।

६४७ श्रीआनन्द आसोक, सुनी ३ शुक्र. १९५२

आत्मार्थी मर्द मोहमछाछके प्रति डरबन,

तुम्हारा दिखा हुआ पत्र मिला था। यहाँ उसका संक्षिप्त उत्तर लिखा है।

जान पड़ता है कि नेटाउमें रहनेसे तुम्हारी बहुतसी सद्गुणियोंमें विशेषता आ गई है। परन्तु उसमें तुम्हारी उस तरह प्रवृत्ति करनेकी उन्मत्त इच्छा ही कारणभूत है। राजकोटकी अनेका नेटाउ ऐसा क्षेत्र बनकर है कि जो बहुतसी बातोंमें तुम्हारी वृत्तिका उपकारक हो सकता है, यह माननेमें हानि नहीं है। क्योंकि तुम्हारी सरसताकी रक्षा करनेमें जिससे निजी विमोक्षा मय रह सके, ऐसे प्रबंधमें अनुसरण करनेका आग्रह नेटाउमें विशेष करके नहीं है। परन्तु जिसकी सद्गुणियों विशेष बखरान न हों अपितु निर्बल हों, और उसे इंग्लैंड आदि देशमें स्वतंत्रतासे रहना हो तो उसे अमर आशिसंरक्षी दान छग सकता है, ऐसा मह्यम् होता है। जब तुम्हें नेटाउ क्षेत्रमें प्रबंधका विचार उपयोग न होनेसे, तुम्हारी सद्गुणियों विशेषताको प्राप्त हुई है, ऐसे राजकोट जैसी जगहमें होना कठिन हो, यह अपार मह्यम् होता है। परन्तु किसी श्रेष्ठ आर्षभक्तमें ससुग आदि योगमें तुम्हारी वृत्तियोंका नेटाउकी अनेका भी विशेषता प्राप्त करना संभव है। तुम्हारी वृत्तियोंको दानने हुए नेटाउ तुम्हें अनार्य क्षत्रव्यसे बचकर कर सके, प्रायः ऐसी भी मान्यता नहीं। परन्तु यहाँ ससुग आदि योगकी विशेष करके प्रप्ति न होनेसे कुछ आत्म-निष्कारण न होनेसे हानि मानना कुछ विशेष योग्य लगता है।

पहले जो 'आर्ष आचार-विचार' के सुप्रसिद्ध ग्रन्थके संक्षेपमें लिखा था, उसका आचार्य यह था—आर्ष-आचार अर्थात् मुन्यव्यसे दया संय, दया आदि गुणोंका आचरण करना, और आर्ष-विचार अर्थात् मुन्यव्यसे आत्माका अभिषेक, नियंत्रण, वर्तमानकालमें उग स्वरूपका अज्ञान, तथा उग अज्ञान और मान न देनेका कारण उग कारणोंकी निवृत्ति और वेग होनेसे अप्यायक अन्तर्भाव मान्यता निवृत्ति में स्थानाधिक स्थिति जाना—इन सबका विचार करना। इस तरह संक्षेपमें मुन्य अर्थात् ठेकर उन इच्छाओंका विचार है।

वर्णाश्रम आदि—वर्णाश्रम आदिपूर्वक आचार—यह सनाचारके बगवतके सम्मान है। विशेष परम्पारिक हेतु न हो तो वर्णाश्रम आदिपूर्वक वर्तन करना ही योग्य है, ऐसा निचारसे सिद्ध है। यद्यपि वर्णाश्रम वर्म वर्तमानमें बहुत निर्बल स्थितिको प्राप्त हो गया है, तो भी हमें तो, जबतक हम उत्कृष्ट स्वाम दशाको न प्राप्त करें और जबतक गृह्याश्रममें बाध हो, तबतक तो वैश्यवर्ग वर्णवर्माका अनुसरण करना ही योग्य है। क्योंकि उसमें अमञ्च आदि प्रवृत्ति करनेका व्यवहार नहीं है। यहाँ ऐसी वास्तव्य हो सकती है कि 'सुदृष्ट्या लोग भी उस तरह आचरण करते हैं तो फिर उनके कम आचार आदिके प्रवृत्ति करनेमें क्या हानि है।' तो इसके उत्तरमें इतना ही कह देना उचित होगा कि बिना कारण उस रिवाजको बदलना भी योग्य नहीं। क्योंकि उससे, बादमें, दूसरे समागमवासी अपरा किंसी प्रसंग आदिमें अपने रीति-रिवाजका अनुसरण करनेवाले, यह समझने लगेंगे कि किसी भी व्यक्ति यहाँ मोक्षन करनेमें हानि नहीं। सुदृष्ट्याके घर कम आचार प्रवृत्ति करनेसे वर्णवर्माकी हानि नहीं होती, परंतु मुसलमानोंके घर कम आचार प्रवृत्ति करते हुए तो वर्णवर्माकी विशेष हानि होती है; और वह वर्मवर्माके श्रेष्ठ करनेके योग्य समान इच्छा है। अपनी किसी लोकके उपकार आदि कारणसे वैसी प्रवृत्ति होती हो—यद्यपि रसदम्बता दुष्टिसे वैसी प्रवृत्ति न होती हो—तो भी अपना वह आचरण ऐसे निमित्तका होता हो जाता है कि दूसरे लोग उस हेतुके समझे बिना ही प्रायः उसका अनुसरण करते हैं, और वतने अमञ्च आदिके प्रवृत्ति करनेमें प्रवृत्ति करने लगते हैं इसीप्रकार उस तरह आचरण न करना वर्णाश्रम मुसलमान आदिके कम आचार आदि प्रवृत्ति नहीं करना यह उचित है। सुदृष्ट्याके दृष्टिको तो बहुत कुछ प्रतीति है परन्तु यदि किसीको उसमें उत्तरती हुई दृष्टि हो तो उसका अमञ्च आदि आचारके संयोगसे प्रायः उस मार्गमें चले जाना समझ है। इसीप्रकार इस समागमसे जिस तरह दूर रहा काम उस तरह निचार करना कर्तव्य है।

दयाकी मानना विशेष रक्षनी हो तो यहाँ दिसाके स्थानक हैं तथा कैसे पदार्थ बाधा करके बचे जाते हैं, यही रहनेके अपरा जाने जानेके प्रसंगको न जाने देना चाहिये, नहीं तो प्रायः वैसी चाहिये वैसी दयाकी मानना नहीं चाहती। तथा कमलके ऊपर दृष्टि न जाने देनेके लिये और उस मार्गकी उत्पत्तिके अनुमोदन करनेके लिये, अमञ्च आदि प्रवृत्ति करनेवालेका आचार आदिके लिये परिचय न रखना चाहिये।

ज्ञान-रहितोंसे देखनेसे तो ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मान्य नहीं होती परन्तु मन्त्राश्रमके भेदका तो यहाँ भी निचार करना चाहिये और उसके लिये मुख्यतया इस दृष्टिका रचना ही उचित है। बहुतसे कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें कोई प्रत्यक्ष दोष नहीं होता, अपना उनसे कोई अन्य दोष नहीं लगता परन्तु उसके संबंधसे दूसरे दोनोंको आश्रय मिलता है, उसका भी निचारवानको कम रक्षना उचित है। नेत्रलके लोगोंके उपकारके लिये कदाचित् सुदृष्ट्या ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी निषेध नहीं समझा जा सकता। यदि दूसरे किसी भी स्वरूप वैसा आचरण करते हुए बाधा मादय हो, और आचरण करना न बने तो ही वह हेतु माना जा सकता है। तथा उन लोगोंके उपकारके लिये वैसा आचरण करना चाहिये ऐसा निचारलेमें भी कुछ कुछ सुदृष्ट्या समझ-भेद होती होनी ऐसा समझ सकता है। सुदृष्ट्याके कुछ प्रतीति है इसलिये इन नियममें अधिक छिन्ना योग्य नहीं जान पड़ता। जिस तरह सनाचार और सविचारका आचरण हो वैसा आचरण करना योग्य है।

इसी नीच जातियों जयन्त मुसलमानों आदिके किसी ऐसे नियन्त्रणोंमें जस आहार आदिके करके, न पकड़े हुए फटाहार आदि केनेसे उन लोगोंके उपकारकी रक्षा संभव हो, तो उस तरह नाशरण करना योग्य है ।

६४८

जीवकी व्यापकता, परिणामीपना, कर्मसंबन्ध, मोक्ष-क्षेत्र ये किस किस प्रकारसे घट सकते हैं ? उसके बिचारे बिना तत्पारूप समाधि नहीं होती ।

गुण और गुणीका भेद समझना किस प्रकार योग्य है ?

जीवकी व्यापकता, सामान्य-विशेषात्मकता, परिणामीपना, लोकास्त्रोक्त-हायकता, कर्मसंबन्ध, मोक्ष-क्षेत्र, यह पूर्णरूप अविवेकसे किस तरह सिद्ध होता है ?

एक ही जीव नामक पदार्थको छुदे छुदे दर्शन, सम्प्रदाय और मत भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं । उसके कर्मसंबन्धका और मोक्षका भी भिन्न भिन्न स्वरूप कहते हैं, इस कारण निर्णय करना कठिन क्यों नहीं है ?

६४९

आत्मसाधन

ब्रह्म — मैं एक हूँ, अलग हूँ, सब परमात्मासे मुक्त हूँ ।

क्षेत्र — मैं असङ्ख्यात निज-अवगाहना प्रमाण हूँ ।

काक — मैं जबर, जमर, शास्त्रवादी हूँ । स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ ।

मान — मैं कुछ चैतन्यमात्र निर्विकल्प ब्रह्म हूँ ।

६५०

बचन संयम—

मनो संयम—

काय संयम—

काय संयम—

बचन संयम—

मनो संयम—

काय संयम—

बचन संयम

मनो संयम

काय संयम

इन्द्रिय-संक्षेप,
इन्द्रिय-स्थिरता,

बचन संयम—

मनो,

बचन संक्षेप,

मनो संयम—

मनो संक्षेप,

आत्मस्थितन,

आत्मन-स्थिरता,
सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति

सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति,

बचन-गुणातिशयता

मन स्थिरता

दृष्य, क्षेत्र, काल और भाव—

संयमके कारण निमित्तस्वप्न, भोज, काठ और मांस

ग्रन्थ—संयमित वेद

क्षेत्र—मिहृत्तिनाथ क्षेत्रमें स्थिति-मिहृत्ति

काण्ड—पपासुत्र काण्ड

मान—यथासुत्र निवृत्ति-साधन-विचार

648

अनुसंधान

642

प्यास

व्यास—व्यास

ब्याल-ब्याल-ब्याल

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान

ब्याल—ब्याल—ब्याल—ब्याब—ब्याल—ब्याल

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान

642

विष्णुधनुमय, परमशैल, अक्षय, एकाम, एक स्वभावनय, अर्चय्यात प्रवेशात्मक, पुष्पाक्षर,
विष्णुधनुमयका अक्षर करो ।



का सामर्थ्य कमजोर। प्रदेशाधिकार-प्राप्त पूर्ण निष्ठा सच प्राप्त, उद्वेग प्राप्त, उद्योग प्राप्त ऐसे चार स्तंभों
गो या और केन्द्रीयीकरण केम करनेसे भिसे समझ कमजोर हो गया है ऐसे छद्मसत्य किन निष्कर्षों
पर जो-जो-मासिक चमत्कारके पात्र हैं।

वा = जानावरणीय, व = वर्तमानावरणीय, ओ = ओहदीय, ओ = ओहदीय, ना = नाम, गो = गो-
 वा = जानावरणीय, व = वर्तमानावरणीय, ओ = ओहदीय, ओ = ओहदीय, ना = नाम, गो = गो-

— **உறுப்பினர்** —

६५४

सोऽह (आश्चर्यकारक) महापुरुषोंने गवेषणा की है ।

कल्पित परिणतिसे जीवका विराम केना जो इतना अधिक कठिन हो गया है, उसका हेतु क्या होना चाहिये ?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कौनसा कहा जा सकता है ?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है ?

केवलज्ञानका निनागमने जो प्रकृपण किया है वह यथायोग्य है ? अथवा वेदान्तमें जो प्रकृपण किया है वह यथायोग्य है ?

६५५

प्रेरणापूर्वक स्पष्ट गमनागमन क्रियाका आत्माके असंख्यात प्रदेश प्रमाणत्वके लिये विशेष विचार करना चाहिये ।

प्रश्न — परमाणुके एक प्रदेशात्मक और आकाशके अनन्त प्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यात प्रदेशत्वके लिये याथातथ्य सिद्ध नहीं होता । क्योंकि मध्यम-परिणामी वस्तु अत्यन्त देखनेमें नहीं आती ।

उत्तर —

६५६

अमूर्तत्वको क्या व्याख्या है ?

अनन्तत्वको क्या व्याख्या है ?

आकाशका अषाढाह-धर्मत्व किस प्रकार है ?

मूर्तामूर्तका वच यदि आज नहीं होता तो वह अनाग्निसे कैसे हो सकता है ? बलुत्वभाव इस प्रकार अल्पया किस तरह माना जा सकता है ?

श्रोत्र आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या निवृत्तिरूपसे हैं ?

यदि उन्हें परिणामीरूपसे कहें तो वे स्वामाविक धर्म हों जाँय, और स्वामाविक धर्मका दूर होना कभी भी अनुभवमें आता नहीं ।

यदि उन्हें निवृत्तिरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे त्रिनमगबान्ने साक्षात् बंध कहा है, उस एव माननेमें विशेष आना समझ है ।

६५७

(१)

त्रिनमगबान्ने अनुसार केवलदर्शन, और वेदान्तके अनुसार ब्रह्म इन दोनोंमें क्या भेद है ?

द्रव्य, क्षेत्र, काळ और मान—

संपन्ने कारण निमित्तकम् द्रव्य, क्षेत्र, काळ और मान

द्रव्य—संयमित देह

क्षेत्र—निवृत्तिपाठ क्षेत्रमें स्थिति-विचार

काळ—यथासूत्र काळ

मान—यथासूत्र निवृत्ति-साधन-विचार

६५१

अनुमय

६५२

ध्यान

ध्यान—ध्यान

ध्यान—ध्यान—ध्यान

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान

६५३

चिद्वस्तुमय परमशैल, अद्वय, एकम, एक समानमय, अस्तेत्यात प्रवेशाद्वय, पुरुषाकार, चिदानन्दमय ध्यान करो ।



यत्र आत्मिक अभाव । प्रवेशसंबन्ध-प्राप्त, पूर्ण निश्चय, सत्ताप्राप्त, सर्वप्राप्त सर्वारणाप्राप्त ऐसे चार भा० गो वा और वेदमीयका वेदन करनेसे निसे इनका अभाव हो गया ह ऐसे छद्मरूप भिन विमूर्ति सर्व कोशलोक्त-मातृका चमत्कारके बाय हैं ।

वा व—वर्णावलीय; व व—वर्णावलीय; यो—योदीय; य—वर्णावलीय; या—नाम; यो—योग
—अनुमयक

६५४

सोय (आश्चर्यकारक) महापुरुषोंने गवेषणा की है ।

कल्पित परिणतिसे जीवका विराम केना जो इतना अधिक कठिन हो गया है, उसका हेतु क्या होना चाहिये ?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कीमसा कहा जा सकता है ?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है ?

केवलज्ञानका विनागमने जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है ? अथवा वेदान्तमें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है ?

६५५

प्रेमार्णवके लय गमनागमन क्रियाका आत्माके असंख्यात प्रदेश प्रमाणत्वके लिये विशेष विचार करना चाहिये ।

प्रश्नः—परमाशुके एक प्रदेशात्मक और आकाशके अनन्त प्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यात प्रदेशत्वके लिये याथातथ्य सिद्ध नहीं जाता । क्योंकि मध्यम-परिणामी वस्तु कल्पस देखनेमें नहीं आती ।

उत्तरः—

६५६

अमूर्त्यकी क्या व्याख्या है ?

अनन्तत्वकी क्या व्याख्या है ?

आकाशका कवगाहक-वर्त्मन किस प्रकार है ?

मूर्तमूर्तका बंध यदि जान नहीं होता तो वह बनादिसे कैसे हो सकता है ? वस्तुत्वभाव इस प्रकार कल्पना किस तरह माना जा सकता है ?

शेष आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या निश्चितरूपसे हैं ?

यदि उन्हें परिणामीरूपसे कहें तो वे स्थानात्मिक धर्म हो जायें, और स्वाभाविक धर्मका दूर होना भी भी अनुभवमें आता नहीं ।

यदि उन्हें निश्चितरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे विनागमनागले साक्षात् रूप कहा है, उस पर माननेमें विरोध आता समझ है ।

६५७

(१)

विनागमनागले अनुस्मर केवलदर्शन, और वेदान्तके अनुस्मरण

(२)

जिनके अनुसार—

वह्मा अस्तित्व प्रवेशी, संकोच-विकासकी भावन, अस्ती, अोकप्रमाण प्रवेशात्मक है।

६५८

जिन—

मध्यम परिमाणकी नित्यता, शीघ्र व्यापिका पारिणामिक मात्र (I) के आत्मामें किस तरह फटते हैं।
कर्म-बंधकी हेतु आत्मा है। पुरुष है। या दोनों हैं। अथवा इससे भी कोई निज प्रकृत है।
सुखिमें आत्मा वन-मगेश किस तरह है।

द्रव्यकी गुणसे निम्नता किस तरह है।

समस्त गुण मिश्रकर एक द्रव्य होता है, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा ही विरोध स्वयम् है।
सर्व द्रव्यके वस्तुत्व गुणको निष्काक कर विचार करें तो वह एक है या किसी दूसरी तरह।

आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है, यह कहनेसे आत्माका कर्षणित् ज्ञान-प्रतिपत्ता ठीक है या नहीं।
परि आत्मामें ज्ञान-प्रतिपत्ता स्वीकार करें तो वह बड़ हो जायगी।

उसमें यदि चारित्र्य शीघ्र व्यापि गुण मानें तो उसकी ज्ञानसे निम्नता होनेसे वह बड़ हो जायगी,
उसका समाधान किस तरह करना चाहिये।

अनन्यत्व पारिणामिक मात्रमें किस तरह बन सकता है।

वर्मास्तिकत्व, अवर्मास्तिकत्व, आकाश और जीवको द्रव्य-द्विसे देखें तो वह एक वस्तु है या नहीं।
द्रव्यत्व क्या है।

वर्मास्तिकत्व, अवर्मास्तिकत्व और व्याकृतका विचार स्वयम् किस तरह प्रतिपादित हो सकता है।
अोक अस्तित्व प्रवेशी है, और शीघ्र समुद्र अस्तित्वताओं हैं, व्यापि विरोधका किस तरह सम्यधान
हो सकता है।

आत्मामें पारिणामिकता किस तरह है।

सुखिमें भी सब पदार्थोंका ज्ञान किस तरह होता है।

अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह हो सकता है।

६५९

केन्द्र—

एक आत्मा अनदि माया वध-मोक्षका प्रतिपादन, यह जो तुम कहते हो वह नहीं घट सकता।
आत्मन् और चैतन्यमें जीवविच्छेदजाने जो विरोध कहा है उसका क्या सम्यधान है।

उसका पदार्थमय समाधान केन्द्रतामें देखनेमें नहीं आता।

आत्माको जाना माने बिना बंध-मोक्ष हो ही नहीं सकता। और वह है तो जरूर, ऐसा होनेपर
भी उसे कथित कहनेसे उपनेष्ट बाहि कार्य करने योग्य नहीं ठहरता।

६६० श्री नवियाद, वासोन बदी १ गुरु १९५२

श्रीआत्मसिद्धिशाल*

ॐ

श्रीसहस्रचरणाय नमः

जे स्वरूप समझ्या विना, पाम्यो दुःख अनत ।

समभाष्युं ते पद् मर्षु, श्रीसहस्र भगवत ॥ १ ॥

जिस आत्मस्वरूपको समझे विना, मूढकाळमें मैंने अनत दुःख भोगे, उस स्वरूपको जिसने समझा—अर्थात् मस्तिष्काळमें उत्पन्न होने योग्य जिन अनंत दुःखोंको मैं प्राप्त करता, उसका जिसने मूढ़ ही नष्ट कर दिया—ऐसे श्रीसहस्र भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ।

वर्चमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु छीप ।

विचारबा आत्मार्थिने, माख्यो बध अगोप्य ॥ २ ॥

इस वर्तमानकाळमें मोक्ष-मार्गका बहुत ही छेप हो गया है । उस मोक्षके मार्गको, आत्माधी जीवोंके विचारनेक छिये, हम यहाँ गुरु-शिष्यके सबाधरूपमें स्पष्टरूपसे कहते हैं ।

कोई क्रियामद धर रक्षा, गुणज्ञानमां कीर ।

मान मारग मोक्षनी, करुणा जपने जोइ ॥ ३ ॥

कोई तो क्रियामें लगे हुए हैं, और कोई शुष्क ज्ञानमें लगे हुए हैं; और इसी तरह वे मोक्ष मार्गको भी मान रहे हैं—उन्हें देखकर दया आती है ।

बास क्रियामां राखतां, अंतर्मद न काइ ।

ज्ञानमार्ग निषेधतां, तह क्रियामद आहि ॥ ४ ॥

जो मात्र बाध क्रियामें ही रचे पड़े हैं, जिसके अंतर्ममें कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हुआ, और जो ज्ञान-मार्गका निषेध किया करते हैं, उन्हें यहाँ क्रिया-बध कहा है ।

बध मोक्ष छि कल्पना, भास बाणीपाहि ।

धर्मे मोहापेक्षमां शुष्कज्ञानी ते आहि ॥ ५ ॥

बध और मोक्ष केवल कल्पना मात्र है—इस निश्चय वाक्यको जो केवल बाणीसे ही बाला करता है, और वयस्वरूप दशा जिसकी हुई नहीं और जो मोक्षके प्रभावमें ही रहता है, उसे यहाँ शुष्क-ज्ञानी कहा है ।

* श्रीमद् राजकन्हने आत्मसिद्धि की पद्य-बद्ध रचना भी योग्याय भी अथवा आदि मुद्रण, वष्य समय कोरने हितके छिये की थी । वह निम्न पद्यसे विहित होता है —

भी योग्याय अने भी अथवा आदि मुद्रण काम ।

तथा समय हित करते कयो बीच मुद्रणमात्र ॥

आत्मसिद्धिके इन पद्योंका संक्षिप्त विवेचन म्यां अथवा अथवा कान्धने किया है जो श्रीमद्‌की रचिमें आ गुण है । वष्य किसी किसी पद्यका जो विलुप्त विवेचन दिया है व — — — — — आ है । जिते उन्होंने पद्योंके रूपमें समय समयपर किया बा । —अनुवादक

वैराग्यादि सफल हो, जो सह आत्मज्ञान ।

तैम न आत्मज्ञाननी, प्राप्तितर्णा निवाम ॥ ६ ॥

वैराग्य त्याग आदि, यदि साधने आत्मज्ञान हो तो ही सफल है, क्योंकि तो ही ने मोक्षकी प्राप्ति के हेतु हैं; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि उन्हें आत्मज्ञानके किये ही किया जाता हो तो भी वे आत्मज्ञानकी प्राप्ति के कारण हैं ॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि जो अंतरंगकी क्रियायें हैं, उनको साथ यदि आत्मज्ञान हो तो ही वे सफल हैं—अर्थात् तो ही ने उनके मुक्तता प्राप्त करती हैं। अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्ति के कारण हैं; अर्थात् जीवने प्रथम इन गुणोंके आनेसे उसमें सद्गुरुका उपदेश प्रवेश करता है। उक्त अंत-करणके बिना सद्गुरुका उपदेश प्रवेश नहीं करता। इस कारण यह कहा है कि वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्ति के साधन हैं।

यही, जो जीव किया-बढ़ है, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि केवल कथाका रोचना ही कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्ति का कारण नहीं। यद्यपि वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्ति के हेतु हैं, इसलिये तुम उन क्रियाओंका अवगमन तो करो; परन्तु उन क्रियाओंमें ही उलझे रहना योग्य नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञानके बिना वे क्रियायें भी संसारके मूकका छेदन नहीं कर सकती। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्ति के किये उन वैराग्य आदि गुणोंमें प्रवृत्ति करो, और कायस्थेष्टमें—विस्ते कथाय आदिकी उपरान्त कुछ भी हीनता नहीं—तुम मोक्ष-मार्गका दुरुपग्रह न रखो—यह उपदेश किया-बढ़को दिया है।

तथा जो बुद्ध-ज्ञानी आग वैराग्य आदिरहित हैं—केवल वचन-ज्ञानी ही हैं—उन्हें ऐसा क । गया है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं वे आत्मज्ञानकी प्राप्ति के कारण बनकर बढाये हैं; परन्तु कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं और तुमने जब वैराग्य आदिको भी नहीं प्राप्त किया तो फिर आत्मज्ञान तो तुम कबसे प्राप्त कर सकते हो ? उसका जब आत्मामें विचार तो करो। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, योगमें अनासक्ति, तथा मान आदिकी कृच्छता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान पत्थीमृत होता ही नहीं, और आत्मज्ञान प्राप्त करने केनेपर तो वे गुण अव्यंत हूँ हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें आत्मज्ञानरूप जो मूक है वह प्राप्त हो गया है। तथा उसके बढे तो तुम ऐसा मान रहे हो कि तुम्हें आत्मज्ञान है; परन्तु आत्मामें तो योग आदि कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा सत्कार आदिकी कर्मला बरबार स्फुरित होती है, घोषीसी बसातासे ही बहुत आकुलता व्यक्त होती हो जाती है। फिर यह क्यों लक्षमें जाता नहीं कि वे आत्मज्ञानके लक्षण नहीं हैं। मैं केवल मन आदिकी कर्मनासे ही अपनेको आत्मज्ञानी कहकर जाता हूँ—यह जो तुम्हारी सपनामें नहीं आता उसे समझो; और प्रथम तो वैराग्य आदि साधनोंको आत्मामें उत्पन्न करो विस्ते आत्मज्ञानकी समुच्चता हो सके।

त्याग विराग न चित्तमां, थाप न तेने ज्ञान ।

अटक त्याग विरागर्मां, तो मूके निममान ॥ ७ ॥

जिसके चित्तमें त्याग-वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता; और जो त्याग-वैराग्यमें ही उलझा रहकर आत्मज्ञानकी आकांक्षा नहीं रखता वह अपना मान मूक जाता है—

अर्थात् वह अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे, पूना-सत्कार आदिसे परामर्श पाकर आत्मार्पणको ही मूळ जाता है ॥

जिसके अंतःकरणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता। क्योंकि जैसे मछिन अंतःकरणरूप दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिम्ब पकना समझ नहीं, उसी तरह केवल त्याग-वैराग्यमें रचा-पचा रहकर जो इतार्यता मानता है, वह भी अपनी आत्माका मान मूळ जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान न होनेसे उसे अज्ञानका साहचर्य रहता है, इस कारण उस त्याग-वैराग्य बाधिका मान उत्पन्न करनेके लिए, और उस मानके बिये ही, उसकी सर्व सयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे सुसारक उच्छेद नहीं होता। वह केवल उसीमें उलझ जाता है; अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करता।

इस तरह क्रिया-जड़को साधन—क्रिया—और उस साधनकी जिससे सफलता हो, ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है, और शुष्क-ज्ञानीको त्याग-वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके केवल साधन-ज्ञानमें कल्याण नहीं, ऐसी प्रेरणा की है।

उपां क्यां के जे योग्य छै, तहां समझुं तैह ।

त्यां त्यां छै ते आचरै, आत्मार्यां जन एह ॥ ८ ॥

जहाँ जहाँ जो योग्य है, वहाँ वहाँ उसे समझे और वहाँ वहाँ उसका आचरण करे, वह आत्मार्यां पुरुषका लक्षण है ॥

जिस बाग़ जो योग्य है अर्थात् जहाँ त्याग-वैराग्य आदि योग्य हों, वहाँ जो त्याग-वैराग्य आदि समझता है, और जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझता है—इस तरह जो जहाँ योग्य है उसे वहाँ समझता है, और वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करता है—वह आत्मार्यां जीव है। अर्थात् जो कोई मर्यादा अपना मानाया होता है, वह योग्य मार्गको ग्रहण नहीं करता। अपना क्रियामें ही जिसे दुष्प्रवृत्ति हो गया है, अपना शुष्क ज्ञानके अभिमानमें ही जिसने ज्ञानीपना मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अपना आत्मज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता।

जो आत्मार्यां होता है, वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है, उस सबको करता है; और जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस सबको समझता है। अपना जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है, जो उस सबको समझता है, और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है, उस सबका आचरण करता है—वह आत्मार्यां कहा जाता है।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य पद हैं। परन्तु यहाँ दोनोंका अन्तर्भाव करनेका यह भी भाग्य है कि जो जो जहाँ जहाँ समझना योग्य है उस सबका समझनेकी, और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है उस सबको वहाँ आचरण करनेकी प्रियकी कामना है—वह भी आत्मार्यां कहा जाता है।

सिने सद्गुरु चरणने, त्यागी दुई निजपस ।

पामे छै परमार्थने, निजपदनी छै सस ॥ ९ ॥

अपने पदको छोड़कर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मरूपका कष्ट होता है ॥

वाशंका—बहुतसोंको क्रिया-बढ़ता रहती है और बहुतसोंको सुख-ज्ञानीपना खाता है, उसका क्या कारण होना चाहिये ?

सम्प्रदान—जो अपने पक्ष वर्धात् मतको छोड़कर सद्गुरुको चरणकी सेवा करता है, वह परार्थको प्राप्त करता है, और निजपक्षका वर्धात् ज्ञान-स्वभावका कष्ट प्रहण करता है। वर्धात् बहुतसोंको जो क्रिया-बढ़ता रहती है, उसका हेतु यही है कि उन्होंने, जो ज्ञानज्ञान और ज्ञानज्ञानके साधनको नहीं जानता, ऐसे असद्गुरुका आश्रय ले रक्खा है। इससे वह असद्गुरु उन्हें, वह अपने जो मात्र क्रिया-बढ़ताके वर्धात् कायकोशके मार्गको जानता है, उसमें डगा डेता है, और कुछ-धर्मको बढ़ करता है। इस कारण उन्हें सद्गुरुके योगके मिळनेकी आकांक्षा भी नहीं होती, अपना वैसा योग मिळनेपर भी उन्हें पक्षकी वह भासना सद्गुरुदेवके समुख नहीं होने देती; इसलिये क्रिया-बढ़ता बढ़ नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति भी नहीं होती।

तथा जो सुख-ज्ञानी है उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया; और केवल अपनी मत्तिका कल्पनासे ही स्वर्णरत्नसे अन्धकारके प्रभव पक्ष लिये है। अपना किसी सुख-ज्ञानीके पाससे जैसे प्रभव अपना बचनोंको सुनकर अपनेमें ज्ञानीपना मान लिया है; और ज्ञानी मनबानेके पक्षका जो एक प्रकारका भ्रम है, उसमें उसे मिथ्या छली आई है, और यह उसका पक्ष ही हो गया है। क्या किसी विशेष कारणसे शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी जो समानता कही है, उन बचनोंको, उसका परमार्थ समझे बिना ही, हाथमें लेकर, केवल अपनेको ज्ञानी मनबानेके लिये, और पामर जीविके तिरस्कारके लिये, वह उन बचनोंका उपयोग करता है। परन्तु उन बचनोंको किस कक्षसे समझनेसे परमार्थ होता है, वह नहीं जानता। तथा जैसे दया दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्कलता कही है, उसी तरह नक्षत्ररक्त पक्ष केनेपर भी वे निष्कल पक्षे गये—इस तरह ज्ञानकी भी निष्कलता कही है—और वह तो सुख-ज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका कष्ट होता नहीं। क्योंकि वह अपनेका ज्ञानी मानता है इसलिये उसकी आत्मा मृत्युको प्राप्त हो गई है, इस कारण उसे विचारका अवकाश ही नहीं रहा। इस तरह क्रिया-बढ़ अपना सुख-ज्ञानी होने ही मूले हुए है और वे परमार्थ पक्षकी इच्छा रखते हैं; अपना वे कहते हैं कि हमने परमार्थ पा लिया है। यह केवल उनकी दुराग्रह है—यह प्रसन्न मान्न होता है।

यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पक्ष जानेका समय न आता, जीव ज्ञान-साधनमें प्रेरित होता तथाकथ साधनसे परमार्थकी प्राप्ति करता, और निजपक्षके कष्टको प्रहण करता; वर्धात् उसकी वृत्ति आत्माके समुख हो जाती।

तथा अग्रह अग्रह एकाकीरूपसे विचारनेका जो निषेध है, और सद्गुरुकी ही सेनामें विचारनेका जो उपदेश किया है, इससे भी यही समझमें आना है कि यही जीवको हितकारी और मुख्य मार्ग है। तथा असद्गुरुसे भी अभ्यास होता है, ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी—ज्ञानीकी—आस्थापना करनेके ही समान है। क्योंकि फिर तो उनमें और असद्गुरुमें कोई भी भेद नहीं रहा—फिर तो जगन्नाथमें और अर्थात् यह निर्मल जगन्नाथमें कुछ न्यूनधिकता ही न टहरी। तथा श्रीरामायणमूर्च्छी श्रीभगी प्रहण करके कोई ऐसा बड़े कि अथ यथा पार किया हुआ भी पार हो जाता है तो वह बचन भी 'बन्तो व्यापार' प्रिया ही है। क्योंकि पादक तो मूलमें ठाण्ठगमें वह पाठ ही नहीं; और जो पाठ है वह

इस तरह है ... [उसका शब्दार्थ इस प्रकार है ...] उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस तरह किया है । उसमें किसी भी जगह यह नहीं कहा कि अमम्भका पार किया हुआ पार होता है, और किसी टिप्पणमें किसीने जो यह बचन लिखा है, यह उसकी समझकी अपर्यायता ही मात्रा होती है ।

कदाचिद् कोई इसका यह अर्थ करे कि ' जो अमम्भ कहता है वह परार्थ नहीं है—ऐसा मसित होनेके कारण परार्थ व्यक्त होनेसे जीव स्व-विचारको प्राप्त कर पार हो जाता है, ' तो वह किसी तरह समझ है । परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि अमम्भका पार किया हुआ पार हो जाता है । यह विचारकर जिस मार्गसे अनन्त जीव पार हुए हैं, पार हाते हैं और पार होंगे, उस मार्गको जगद्गुरु करना, और स्वकल्पित अर्थका मान आणिकी रक्षा छोड़कर त्याग करना ही भेद्यस्कर है । यदि हम ऐसा कहो कि जीव अमम्भसे पार जाता है, तो इससे तो अवश्य निश्चय होता है कि सद्गुरु ही पार करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

तथा अशोषा-केवलीको, जिन्होंने पूर्वमें किसीसे धर्म नहीं सुना, किसी तपान्त्र आचरणके रूप होनेसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा जो शास्त्रमें निरूपण किया है, वह आत्माके माहत्म्यको बता-नेके लिये, और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे आमत करनेके लिये और उस उस अनेकान्न मार्गका निरूपण करनेके लिये ही प्रदर्शित किया है । उसे कुछ सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गको उपेक्षित करनेके लिये प्रदर्शित नहीं किया । तथा यहाँ तो उल्टे उस मार्गके ऊपर दृष्टि अनेके लिये ही उसे अधिक मन्त्रित किया है । किन्तु अशोषा-केवली अर्थात् अशोषा-केवलीक इस प्रसङ्गको ध्यानकर किसीसे जो शास्त्रतः मार्ग ज्ञात जाता है, उसका निषेध करनेका यहाँ आशय नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।

किसी तीव्र आत्मार्थिको कदाचिद् ऐसे सद्गुरुका योग न मिला हो, और उसे अपनी तीव्र कामना कामनामें ही निज-विचारमें पड़ जानेसे, अपना तीव्र आत्मार्थिक कारण निज-विचारमें पड़ जानेसे आत्मज्ञान हो गया हो तो सद्गुरुके मार्गकी उपेक्षा न कर, और ' मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नहीं मिला, इसलिये मैं बड़ा हूँ, ' ऐसा माग न रख, विचारवान जीवको जिससे शास्त्रतः मोक्षमार्गका ज्ञान न हो, ऐसे बचन प्रकाशित करन चाहिये ।

एक गौँसे दूसर गौँमें जाना हो और जिसने उस गौँका मार्ग न लेता हो, पशु सिद्धी पशुस्य बरसके पुरुषको भी—यद्यपि वह छात्रों गौँ लेता जाया हो—उस मार्गकी गबर नहीं पड़ती । किसीसे दूँधनेपर ही उसे उस मार्गकी गबर पड़ती है, नहीं तो वह भूख ग्या जाता है; और यदि उस मार्गका ज्ञाननेवाला कोई इस बरसका बालक भी उसे उस मार्गको पिया दे ता उससे वह दूध स्थानपर पहुँच सकता है—यह बात सांकेतिक व्यवहारमें भी प्रमत्त है । इसलिये जो आत्मारथी हो, अपना जिसे अन्तर्पार्यही इच्छा हो उसे सद्गुरुके पागले पार होनेके अनिवार्यी जीवसा जिसमें कल्याण हो उस मार्गका ध्यान करना योग्य नहीं । क्योंकि उससे सर्वांशानी-मुक्तियोंकी आज्ञा प्राप्त करने ज्ञात होना है ।

आचार्य — ' पूर्वमें सद्गुरुका योग तो अनेक बार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नहीं

हुना । इससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती ।' इसका उत्तर इस प्रकार है ।

उत्तरः—जो अपने पक्षको त्यागकर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थ प्राप्त करता है । अर्थात् पूर्वमें सद्गुरुके योग हमेशा तो बात सत्य है, परन्तु वहाँ जीवने उस सद्गुरुको जाना ही नहीं, उसे पहिचाना ही नहीं, उसकी प्रतीति ही नहीं की, और उसके पास अपना मन और मत छोड़ा ही नहीं, और इस कारण उसे सद्गुरुका उपदेश क्या नहीं, और परमार्थकी प्राप्ति हुई नहीं । और इस तरह यदि अपने मत अर्थात् सम्प्रदाय और बुद्धधर्मका आग्रह दूर कर सद्गुरुके प्रह्वन करनेका अभिप्राय हुआ होता तो कल्प ही परमार्थको पा जाता ।

आशङ्क्यः—यहाँ असद्गुरुसे यह कथ्ये हुए बुद्धोंसे अपना मन आदिकी चीज कामनासे यह भी आशङ्क्य हो सकती है कि कितने ही लोगोंका पूर्वमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना ही कल्याणकी प्राप्ति हो गई है । अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है । असद्गुरुको मने ही स्वयं मार्गकी प्रतीति न हो, परन्तु वह दूसरेकी उसे प्राप्त कर सकता है । अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो परमार्थको पा सकता है । इसलिए सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है ।

उत्तर —यदि कोई जीव स्वयं विचार करते हुए बोधको प्राप्त हुए हैं—ऐसा शास्त्रमें प्रसंग आता है परन्तु कहीं ऐसा प्रसंग नहीं आता कि अमुक जीवने असद्गुरुसे बोध प्राप्त किया है । अर, किसीने स्वयं विचार करते हुए बोध प्राप्त किया है ऐसा जो कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि सद्गुरुकी आज्ञासे बचनेसे जीवका कल्याण होता है, ऐसा हमने जो कहा है वह बात पार्य नहीं; ' अपना सद्गुरुकी आज्ञाका जीवको कोई भी कारण नहीं है, वह कहनेके लिये भी वैसा नहीं कहा । तथा जोने अपने विचारसे स्वयं ही बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, सो उन्होंने भी यद्यपि वर्तमान देखें अपने विचारसे अपना बोधसे ही ज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु पूर्वमें वह विचार अपना बोध सद्गुरुने ही उनके समुप किया है, और उसीसे वर्तमानमें उसका सुख होता संभव है । तथा जोपर्यन्त आदिमें जो स्वयंबुद्ध कहा है, सो उन्होंने भी पूर्वमें तीसरे मन्में सद्गुरुसे ही विषय समझित प्राप्त किया है, ऐसा बताया है । अर्थात् जो स्वयंबुद्धपना कहा है वह वर्तमान देखकी अनेकसे ही कहा है, उस सद्गुरुके पक्षका निषेध करनेके लिये उसे नहीं कहा । और यदि सद्गुरु-पक्षका निषेध करे तो फिर तो 'सदेव सद्गुरु वीर सत्यकी प्रतिलिखि बिना समझित नहीं होता ' यह जो बताया है वह केवल कथनमात्र ही हुआ ।

अथवा जिस शास्त्रको तुम प्रमाण कहते हो, वह शास्त्र सद्गुरु दिनमगवान्का कहा हुआ है, इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये । अथवा वह किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये । यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर ज्ञान और राग-द्वेषके सेवन करनेसे भी मोक्ष हो सकती है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं—यह विचारणीय है ।

आचार्यसाधने कहा है —

प्रथम भुतकंठ, प्रथम अध्ययनके प्रथम उपदेशका यह प्रथम वाक्य है ... । क्या यह जीव पूरित आया है, पश्चिमसे आया है, उत्तरसे आया है, दक्षिणसे आया है, ऊँचेसे आया है, या नीचेसे आया है, अपना किसी दूसरी ही दिशासे आया है ? जो यह नहीं जानता वह निष्प्राप्य है, जो जानता है वह सम्प्रप्राप्य है । इसके जाननेके निम्न तीन कारण हैं —

(१) दीर्घकालका उपदेश,

(२) सद्गुरुका उपदेश,

और (३) जातिस्मरण ज्ञान ।

यहाँ जो जातिस्मरण ज्ञान कहा है वह भी पूर्वेके उपदेशके संयोगसे ही कहा है, अर्थात् पूर्वमें उसे बोध होनेमें सद्गुरुकी असेमाचना मानना योग्य नहीं । तथा अगह जगह विनागममें ऐसा कहा है —

गुरुणी छेदारुं बस—गुरुकी आज्ञानुसार चकना चाहिये ।

गुरुकी आज्ञानुसार चकनेसे अमृत जीव सिद्ध हो गये हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे । तथा किसी जीवने जो अपने विचारसे बोध प्राप्त किया है, उसमें भी प्रायः पूर्वमें सद्गुरुका उपदेश ही कारण होता है । परन्तु कदाचित् जहाँ ऐसा न हो वहाँ भी उस सद्गुरुका निम्न अमिकापी रहते हुए, सद्बिचारमें प्रेरित होते हुए ही, उसने स्वविचारसे आत्मज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा कहना चाहिये । अपना उसे किसी सद्गुरुकी उपेक्षा नहीं है, और जहाँ सद्गुरुकी उपेक्षा रहती है, वहाँ मान होना संभव है, और जहाँ सद्गुरुके प्रति मान हो वही कल्याण ज्ञाना कहा है, अर्थात् उसे सद्बिचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है ।

उस तरहका मान आत्मगुणका अवश्य घातक है । बाहुबलिजीमें अनेक गुण विद्यमान होते हुए भी 'अपनेसे छोटे अज्ञानके गर्वोंकी बंदन करनेमें अपनी कपुता होगी, इसलिये यहाँ ध्यानमें स्थित हो जाना ठीक है'—ऐसा सोचकर एक कर्तव्य निराधाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे वे ध्यानमें अवस्थित रहे, तो भी उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ । बाकी दूसरी हरेक प्रकारकी योग्यता होनेपर भी एक इस मानके ही कारण ही वह ज्ञान रुक चुका था । जिस समय शीघ्रमरणसे प्रेरित ब्रह्मी और सुंदरी सति-पति उन्हें उस दोषकी निवेदन किया और उन्हें उस दोषका मान हुआ, तथा उस दोषकी उपेक्षा कर उन्होंने उसकी असारता समझी, उसी समय उन्हें केकड़ज्ञान हो गया । वह मान ही यहाँ चार घन-घाटी कर्मका मूक हो रहा था । तथा बाह्य बाह्य महीनेतक निराधाररूपसे, एक कष्टसे, एक आसनसे, आत्मविचारमें रहनेवाले ऐसे पुरुषकी हृत्तेसे मानने उस तरहकी बाह्य महीनेकी दशाको सुख न होने दिया, अर्थात् उस दशासे भी मान समझमें न आया और जब सद्गुरु शीघ्रमरणसे सूचना की कि 'वह मान है', तो वह मान एक मुहूर्तमें ही नष्ट हो गया । यह भी सद्गुरुका ही महत्त्व बताया है ।

तथा सम्पूर्ण मार्ग ज्ञानीकी ही आज्ञामें समाविष्ट हो जाता है, ऐसा बारंबार कहा है । आचार्यगुरुमें कहा है कि ... । सुषर्मास्वामी जम्बूस्वामीकी उपदेश करते हैं कि समस्त जगत् का निम्ने दर्शन किया है, वेसे महावीरमगवान्ने हमें इस तरह कहा है । गुरुके आशीन होकर चकनेवाले ऐसे अमृत पुरुष मार्ग पाकर मोक्ष चले गये हैं ।

उत्तराध्ययन, सुसंगठित आदि में जगह जगह यही कहा है ।

सम्प्राप्त मित्रनेपर भी, 'तुममें परीक्षित जिनमगवान्‌के बचनोंकी अपेक्षा भी महान् उपकार सम्प्राप्त हुआ है,' इस बातको नहीं समझता, तबतक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता ।

सद्गुरुना अपेक्षबन्ध, सम्प्राप्य न जिनस्वरूप ।

समव्याख्य सपकार यो ? समये जिनस्वरूप ॥ १२ ॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनका स्वरूप समझमें नहीं जाता, और उस स्वरूपके समझमें आने बिना उपकार भी क्या हो सकता है ? यदि जीव सद्गुरुके उपदेशसे जिनका स्वरूप समझ जाय तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें जिनकी दशांश ही प्राप्त करे ॥

सद्गुरुना उपदेशधी, समये जिनसुं रूप ।

तो ते पाये निबद्धा, जिन छे आत्मस्वरूप ।

पाप्मा छुटस्वभावमे, छे जिन तेयी पूज्य ।

समयो जिनस्वभाव तो, आत्मभावको शुभ्य ॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनका स्वरूप समझ जाता है, वह अपने स्वरूपकी दशांश ही प्राप्त कर लेता है, क्योंकि कुछ आत्मभाव ही जिनका स्वरूप है । अथवा राम द्वेष और अज्ञान जो जिनमगवान्‌में नहीं वही कुछ आत्मपद है, और वह पद तो सचासे सब जीवोंको मौजूद है । वह सद्गुरु-जिनके अस्वभावसे और जिनमगवान्‌के स्वरूपके कथनसे मुमुक्षु जीवको समझमें जाता है ।

आत्मादि अस्तित्वनां, जैर निरूपक शास्त्र ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्वां आपार सुपात्र ॥ १३ ॥

जो जिनमग आदि आत्मके अस्तित्वके तथा परलोक आदिके अस्तित्वके उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं वे भी जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आपारकर्म हैं; परन्तु उन्हें सद्गुरुके समान प्रति दूर करनेवाला नहीं कहा जा सकता ।

अथवा सद्गुरुप कर्मां, जै अथगाहम काज ।

छे छे निरन विचारनां, करी मर्यातर स्थात्र ॥ १४ ॥

अथवा यदि सद्गुरुने ठग शास्त्रोंके विचारनेकी आज्ञा दी हो तो ठग शास्त्रोंको मर्यातर अर्थात् कुलधर्मके तर्पक करनेके हेतु आदि आपत्तिको छोड़कर, केवल आत्मार्थके किये ही निम्न विचारना चाहिये ।

रौके जीव स्वर्गदू तो, पामे अवश्य योज्ञ ।

पाप्मा एम अनैत छे मासुं निम निर्दोष ॥ १५ ॥

जीव कनारिकारसे जो अपनी चतुर्मुखि और अपनी इच्छासे चकता जा रहा है इसका नाम स्वर्गदू है । यदि वह इस कण्ठको छोड़े तो वह जरूर मोक्षको पा पाय; और इस तरह भूलकायमें अनैत जीवोंने मोक्ष पाया है—ऐसा राम द्वेष और अज्ञानमेंसे जिनके एक ही दोष नहीं. ऐसे निर्दोष वीरपामने कहा है ।

मत्स्यस्य सद्गुरुपीगधी, स्पर्धन् तं रीकाय ।

अन्य सपाय कर्मा यकी, प्राये वमणो वाय ॥ १६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्पर्धन् रुक जाता है, नहीं तो अपनी इच्छासे दूसरे अनेक उपाय करनेपर भी प्राय करके वह हुगुना ही होता है ।

स्पर्धन् मत्त आग्रह तनी, वर्त्ते सद्गुरुग्रस्त ।

समकित तेने मास्त्रिपुं, कारण गणी मत्स्यस्य ॥ १७ ॥

स्पर्धन् तथा अपने मत्तके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके ग्रस्तसे चटना है, उसे समकितका प्रत्यक्ष कारण समस्तकर बीतरूपाने 'समकित' कहा है ।

मानादिक ज्ञप्ति महा, निबर्द्धदे न मराय ।

जातां सद्गुरुस्मरणमां, अन्य मयासे जाय ॥ १८ ॥

मन और पूजा-स्मृति आदिका छेप इत्यादि जो महाज्ञप्ति हैं, वे अपनी चतुर्हस्ति बन्नेसे गाय नहीं होते, और सद्गुरुकी स्मरणमें जानेसे वे योगसे प्रयत्नसे ही नाश हो जाते हैं ।

जे सद्गुरुपदेशयी, पाप्मनो केवळज्ञान ।

गुरु रक्षा छद्यस्य पण, विनय करे भगवान् ॥ १९ ॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे जिसने केवळज्ञानको प्राप्त किया हो, और वह सद्गुरु अभी छद्यस्य ही हो, तो भी जिसने केवळज्ञान पा लिया है, ऐसे केवळी भगवान् भी अपने छद्यस्य सद्गुरुका वैपाद्य करते हैं ।

एवौ मार्ग विनय तणो, मास्त्र्यो श्रीबीतराग ।

मूळ हेतु ए मार्गनो, समझे कोई सुभाग्य ॥ २० ॥

इस तरह श्रीविनयभगवान्ने विनयके मार्गका उपदेश दिया है । इस मार्गका जो मूल हेतु है—वर्षात् उससे ब्रह्माका क्या उपकार होता है—उसे कोई ही मात्स्यशास्त्री वर्षात् सुखम-बोधी अपना वात्सल्य जीव ही समझ पाता है ।

असद्गुरु ए विनयनी, छाम छडे जो काई ।

महामीहिनी कर्मयी, बूढे भजनज माहि ॥ २१ ॥

एक जो विनय-मार्ग कहा है, उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छासे, जो कोई भी असद्गुरु अपनेमें सद्गुरुकी स्थापना करता है, वह महामोहनीय कर्मका उपार्जन कर भवसमुद्रमें डूबता है ।

होय ह्युच्छु जीव ते, समझे एह विचार ।

होय मत्तार्थी जीव ते, अवश्यो के निर्धार ॥ २२ ॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है वह तो इस विनय-मार्ग आदिके विचारको समझ लेता है, किन्तु जो मत्तार्थी होता है वह उसका उल्टा ही निश्चय करता है । वर्षात् या तो वह स्वयं उस विनयको किसी शिष्य आदिसे कण्टा है, अपना असद्गुरुमें सद्गुरुकी भाँति रक्त रूप हूँ विनय-मार्गका उपयोग करता है ।

आत्मज्ञान संप्रदर्शिता, विचरे उद्यमप्रयोग ।

अपूर्व बाणी परमभुत सद्गुरुक्षण योग्य ॥१॥

आत्मज्ञानमें जिसकी स्थिति है, अर्थात् परमात्मकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं, तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि मात्मके प्रति जिन्हें समता रहती है; केवल पूर्णमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियायें हैं; जिनकी बाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष मिल है। और जो पददर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं ॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित विचरे पूर्वप्रयोग ।

अपूर्व बाणी परमभुत सद्गुरुक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय और मान पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और केवल पूर्णमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयसे ही जो विचरता है, अपूर्व जिसकी बाणी है—अर्थात् चित्तका उपदेश निज अनुभवसहित होनेके कारण अज्ञानीकी बाणीकी अपेक्षा मिल पड़ता है—और परमभुत अर्थात् पददर्शनका व्यापारसे जो जानकार है—वह योग्य सद्गुरु है ।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' जो यह प्रथम पद कहा, उससे ज्ञान-रसा कही है। तथा जो 'इच्छारहित' कहा, उससे चारित्र्य कहा है। जो इच्छारहित होता है वह किस तरह विचर सकता है ? इस आशंकाको यह कहकर निवृत्ति की है कि यह पूर्वप्रयोग अर्थात् पूर्वके बने हुए प्रारम्भसे विचरता है—विचरण आदिकी उसे कामना बाकी नहीं है। 'अपूर्व बाणी' कहनेसे वचनान्तिधर्म कहा है, क्योंकि उसके बिना सुसुझा उपकार नहीं होता। 'परमभुत' कहनेसे उसे पददर्शनके अधिकार दायका जानकार कहा है इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता सिद्धाई है।

आशंका—वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषगुरु छत्र कहा है वह आसक्त होना समझ नहीं ।

समाधानः—वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो या उसका अर्थ यह हो सकता है कि केवल-नृसिंहके स्वयंमें ऐसी स्थिति वर्तमान है; परन्तु उससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आत्मज्ञान ही नहीं होता और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है ।

आशंकाः—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें भी मुक्ति होनी चाहिये, और जिनानाममें तो इसका निषेध किया है ।

समाधानः—इस वचनको कदाचित् एकान्तसे इसी तरह मान भी लें तो भी उससे एकाग्रता-पनेका निषेध नहीं होता और एकाग्रतापिना आत्मज्ञानके बिना प्राप्त होता नहीं ।

आशंकाः—त्याग-वैराग्य आदिकी उल्लङ्घनासे ही उत्तम एकाग्रतापिना कहा होगा ।

समाधानः—परमार्थसे उल्लङ्घन त्याग-वैराग्यके बिना एकाग्रतापिना होता ही नहीं यह सिद्धांत है; और वर्तमानमें भी चौथे चौथे और छोटे गुणत्यागका कुछ भी निषेध नहीं और चौथे गुणत्यागसे ही आत्मज्ञान संभव है। चौथेमें विशेष स्वरूपस्थिति होती है, छोटेमें बहुत अरसे स्वरूपस्थिति होती

है, यहाँ प्रमेरित प्रमादके उदयसे कुछ योहीसी ही प्रमाद-दशा आ जाती है, परन्तु वह आत्मज्ञानकी रोषक नहीं, चारित्रिकी ही रोषक है ।

आद्यका — यहाँ तो 'स्वरूपस्थिति' पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुणस्थानमें ही समझ है ।

समाधान — स्वरूपस्थितिकी परकाया तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है, क्योंकि नाम गौर नाति चार कर्मोंका यहाँ नाश हो जाता है । परन्तु उसके पश्चिमे केवलीके चार कर्मोंका संग रहता है, इस कारण सम्पूर्ण स्वरूपस्थिति तेरहवें गुणस्थानमें भी कही जाती है ।

आद्यका — यहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अव्यावाच स्वरूपस्थितिका निषेध करें तो वह ठीक है । परन्तु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इस कारण यहाँ स्वरूपस्थिति कहनेमें दोष नहीं है; और यहाँ तो यह है नहीं, इसलिये यहाँ स्वरूपस्थिति कैसे कही जा सकती है ।

समाधान — केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका विशेष तारतम्य है; और चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानमें वह उससे अन्य है—ऐसा कहा जाता है, परन्तु यहाँ स्वरूपस्थिति ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता । चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्ववहित दशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है और स्वरूपस्थिति है । पाँचवें गुणस्थानमें एकदेशसे चारित्र-वातक कर्मायोंके निरोध हो जानेसे, चौथेकी अपेक्षा आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है; और छठमें कर्मायोंके विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, उससे यहाँ आत्मस्वभावका और भी विशेष आविर्भाव है । केवलज्ञानी ही बात है कि छठे गुणस्थानमें पूर्व निबधित कर्मके उदयसे कश्चित् ममत्त दशा रहती है, इस कारण यहाँ 'ममत्त सर्वचरित्र' कहा जाता है । परन्तु उसका स्वरूपस्थितिसे विरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ आत्मस्वभावका बाहुल्यतासे आविर्भाव है । तथा आगम भी ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानतक आत्मप्रतीति समान ही है—यहाँ केवलज्ञानके तारतम्यका ही भेद है ।

यदि चौथे गुणस्थानमें अगसे भी स्वरूपस्थिति न हो तो फिर मिथ्यात्व नाश होनेका फल ही क्या हुआ ! अर्थात् कुछ भी नहीं हुआ । जो मिथ्यात्व नष्ट हो गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है । यदि सम्प्रकृतसे उस रूप स्वरूपस्थिति न होती, तो अंगिक आदिको एकाग्रतादीपना कैसे प्राप्त होता ! यहाँ एक भी व्रत—एककल्याणतक भी नहीं था, और यहाँ मम ही कथन एक ही बाकी रहा—ऐसा जो अन्य सप्तादीपना हुआ वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है । पाँचवें और छठे गुणस्थानमें चारित्रका विशेष बल है, और मुख्यतासे उपदेशक-गुणस्थान तो छठा और तेरहवाँ है । बाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नहीं हैं; अर्थात् तेरहवें और छठे गुणस्थानमें ही वह स्वरूप रहता है ।

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष भिन्न उपकार ।

एवौ सख थाया बिना, उग न आत्मविचार ॥ ११ ॥

जबतक जीवकी पूर्वकालीन भिन्नतीर्थकर्तोंकी यातपर ही लक्ष्य रहा करता है, और वह उसके ही उपकारको गाना करता है; और जिससे प्रायश्च आत्म-भ्रातिका समाधान हो सके, ऐसे सद्गुरुका

समग्रम मिच्छेपर मी, 'उसमें परीक्ष विमर्गगच्छन्के बचनोंकी अपेक्षा भी महान् उपकार सम्पन्न हुआ है,' इस बातको गहरी समझता, तबतक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता ।

सद्गुरुका उपदेशार्थ, समजाय न भिन्नकम् ।

उपदेशार्थ उपकार की ? समझे भिन्नस्वरूप ॥ १२ ॥

सद्गुरुके उपदेशक बिना भिन्नका स्वरूप समझमें नहीं आता, और उस स्वरूपके समझमें आने बिना उपकार भी क्या हो सकता है ? यदि जीव सद्गुरुके उपदेशसे भिन्नका स्वरूप समझ जाय तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें भिन्नकी दशाकी ही प्राप्त करे ॥

सद्गुरुका उपदेशार्थी, समझे भिन्नतु कम् ।

तो ते पावे निमग्नता, भिन्न छे आत्मस्वरूप ।

पाप्मा छुटस्वभावने, छे भिन्न तेरी पूज्य ।

समझे भिन्नस्वभाव तो, आत्मभावको गुण्य ॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो भिन्नका स्वरूप समझ जाता है, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त कर देता है, क्योंकि छुट आत्मभाव ही भिन्नका स्वरूप है । अथवा ऐसा हैव और आत्मान जो विमर्गगच्छन्में नहीं, वही छुट आत्मभाव है और वह पा तो सदासे सब जीवोंको मौजूद है । वह सद्गुरु-भिन्नके अस्वरूपसे और विमर्गगच्छन्के स्वरूपसे कबनसे ग्रुपसु जीवको समझमें आता है ।

आत्मादि अस्तित्वमां भेद निरूपक शास्त्र ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्यां आधार सुपात्र ॥ १३ ॥

जो विमर्गम आदि आत्माके अस्तित्वके तथा परब्रह्म आदिके अस्तित्वके उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं वे भी जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आधाररूप हैं; परन्तु उन्हें सद्गुरुके समान शक्ति दूर करनेवाला नहीं कहा जा सकता ।

अथवा सद्गुरु कर्मा, के अथगाइन काम ।

ते ते निस्व विचारमां, करी मर्तावर त्याग ॥ १४ ॥

अथवा यदि सद्गुरुके उन शास्त्रोंके विचारलेकी बाधा ही हो, तो उन शास्त्रोंको मन्त्रेतर बर्षाद कुक्षयके सत्यक करनेके हेतु आदि आश्रितको छोड़कर केवल आत्मार्थके सिध्दे ही निज विचारमां आदि ।

रीके जीव स्वच्छ तो, पावे अवश्य मोक्ष ।

पाप्मा एव अनेक छे मास्युं भिन्न निर्दोष ॥ १५ ॥

जीव क्लेशिकारसे जो अपनी चतुर्धरि और अपनी इच्छासे चलाता जा रहा है, इसका नाम स्वच्छ है । यदि वह इस स्वच्छकी रीके तो वह जरूर मोक्षको पा जाय; और इस तरह भूतकालमें अनेक जीवोंने मोक्ष पाया है—ऐसा राम हैव और आत्मानमेंसे भिन्नके एक भी दोष नहीं ऐसे निर्दोष जीवजाने कहा है ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगयी, स्वच्छन्द ते रोक्याय ।

अन्य उपाय कर्पा यकी, प्राये भ्रमणो याय ॥ १६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्वच्छन्द रुक जाता है; नहीं तो अपनी इच्छासे दूसरे अनेक उपाय करनेपर भी प्रायः करके वह भ्रमण ही होता है ।

स्वच्छन्द मत आग्रह तगी, वर्त्ते सद्गुरुश्रुत ।

समकित तेने मासिर्युं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥ १७ ॥

स्वच्छन्द तथा अपने मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके श्रुतिसे चळमा है, उसे समकितका प्रत्यक्ष कारण समझकर नीतप्राप्त 'समकित' कहा है ।

मानादिक शत्रु महा, निमछन्दे न मराय ।

जाता सद्गुरुशरणमां, अत्य प्रयासे जाय ॥ १८ ॥

मन और पूजा-सत्कार आदिका छेम इत्यादि जो महाशत्रु हैं, वे अपनी चतुराईसे चळनेसे भाग नहीं होते, और सद्गुरुकी शरणमें आनेसे वे जोड़ेसे प्रपन्नसे ही नाश हो जाते हैं ।

हे सद्गुरुउपदेशयी, माम्यो केवलज्ञान ।

शुरू रक्षा छत्रस्थ पण, विनय करे भगवान् ॥ १९ ॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया हो, और वह सद्गुरु अभी उपस्थ ही हो; तो भी जिसने केवलज्ञान पा लिया है, ऐसे केवली भगवान् भी अपने उपस्थ सद्गुरुका वैपा-
श्य करते हैं ।

एवो मार्ग विनय तथा, माम्यो श्रीवीतराग ।

मूळ हेतु ए मार्गनी, समझे कोई सुमाय ॥ २० ॥

इस तरह श्रीविमलभगवान्ने विनयके मार्गका उपदेश दिया है । इस मार्गका जो मूल हेतु है—
अर्थात् उससे अहमाका क्या उपकार होता है—उसे कोई ही मायशाही अर्थात् सुखम-बोधी अपना
अव्यापक जीव ही समझ पाता है ।

असद्गुरु ए विनयनी, काम छहे जो काई ।

महामोहिनी कर्मवी, घूडे भयजल मांदि ॥ २१ ॥

यह जो विनय-मार्ग कहा है, उसे शिष्य आदिसे करनेकी इच्छासे, जो कोई भी असद्गुरु
जन्ममें सदगुरुकी स्थापना करता है, वह महामोहिनीय कर्मका उपार्जन कर भयसमुद्रमें डूबता है ।

हाय मुझछु जीव ते, समझे एर विचार ।

होय मत्तार्थी जीव ते, भयलो छे निर्धार ॥ २२ ॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है वह तो हाय विनय-मार्ग आदिके विचारको समझ उठा है, किन्तु जो
मत्तार्थी होता है वह उसका उच्छा ही निश्चय करता है । अर्थात् या तो वह स्वयं उस विनयको छिड़ी निष्प-
त्ति करता है, अथवा असद्गुरुमें सद्गुरुकी भांति रग स्वयं इस विनय-मार्गका उपयोग करता है ।

होय मत्तार्थी तैहने, थाय न आतमछस ।

तैह मत्तार्थिससणा, अही कहाँ निर्यस ॥ २३ ॥

जो मत्तार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका कस नहीं होता । ऐसे मत्तार्थी जीवके यहाँ निग्रह होकर ब्रह्मण पड़ते हैं ।

मत्तार्थीके छसणा:—

बाझ त्याग पण ज्ञान नहीं, तै माने शुरू सत्य ।

अथवा निजकुछधर्मना, तै शुरूमाँ अ ममत्व ॥ २४ ॥

जो केवल बाझसे ही त्यागी दिखाई देता है, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं, और उपब्रह्मणसे जिसे अंतरंग त्याग भी नहीं है, ऐसे शुरूको जो सलुरु मानता है, अथवा अपने कुछधर्मका चाहे कैसा भी शुरू हो, उसमें ममत्व रहता है—वह मत्तार्थी है ।

अे भिनदेहममाणने, समबसरणादि सिद्धि ।

वर्जन समअे भिननुं, रोखी रो निमनुद्धि ॥ २५ ॥

भिनमगवान्की देह आत्मा जो वर्जन है, जो उसे ही भिनका वर्जन समझता है, और वे अपने कुछधर्मके देव हैं, इसलिये बर्हमात्रके कष्टित पणसे जो उनके समबसरण आदि महात्म्यको ही गाया करता है, और उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रहता है—अर्थात् परमार्थ-देहस्वरूप ऐसे विद्वत् को जानने योग्य अंतरंग स्वरूप है उसे जो नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न भी नहीं करता, और केवल समबसरण आदिमें ही भिनका स्वरूप बताकर मत्तार्थीमें मस्त रहता है—वह मत्तार्थी है ।

मत्पस सलुरुयोगमाँ बर्ये हष्टि विमुक्त ।

असलुरुन इह करे, निममाभार्ये सुख्य ॥ २६ ॥

प्रपञ्च सलुरुका कभी योग मिले भी तो दुराग्रह आदिके नाश करनेवाली उनका बाणी सुनकर, जो उससे उक्त्य ही कहता है, अर्थात् उस द्वितकरी बाणीको जो प्रमाण नहीं करता, और 'वह स्वयं सदा इव मुमुक्षु है' इस मानको मुमुक्षुक्रमसे प्राप्त करनेके लिये ही असलुरुके पास जाकर, जो स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष इच्छा बताता है—वह मत्तार्थी है ।

देवादि गति भोगमाँ, अे समअे भुवज्ञान ।

मान निज मतकपना, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २७ ॥

देव मरक आदि गतिके 'भग' आदिका जो स्वरूप किसी विशेष परमार्थके हेतुसे कहा है, उस हेतुको जिसने नहीं जाना और उस भोगजगत्को ही जो भुवज्ञान समझता है, तथा अपने मतका—वेदका—आग्रह रखनेको ही मुक्तिका कारण मानता है—वह मत्तार्थी है ।

सर्गु स्वरूप न वृत्तिनुं, गर्गु मत अधिमान ।

प्रह नहीं परमार्थने सेवा सौकिक पान ॥ २८ ॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है । उसे भी जो नहीं जानता और 'मैं अतवादी हूँ' ऐसा अभिमान विमन कारण कर रहता है । तथा यदि कभी परमार्थके उपदेशका योग बने भी, तो शोकमें जो अपना मान और बूना सकार आदि है वह चला जायगा अथवा वे मान आदि फिर पछिसे प्राप्त न होंगे—ऐसा समझकर, जो परमार्थको प्रमाण नहीं करता—वह मत्तार्थी है ।

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शुद्धनी माय ।

सौम्य सद्भ्यवहारने, साधनरहित माय ॥ २९ ॥

अथवा समयसार या योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थोंको बौध्दिक ओ केवल निश्चयनयको ही मानते हैं। किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कथनरूपसे ग्रहण करता है। परन्तु जिसके वपस्व गुणकी कुछ भी स्पर्शना नहीं, और जो सद्गुरु, सद्गुरु तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्गुरु केरूप करता है, तथा अपने आपको ज्ञानी मानकर जो साधनरहित आचरण करता है—वह मज्ञानदशा प्राप्त नहीं, साधनदशा न कोई।

पापे सेनो संग जे, स बुद्धे मय माहि ॥ ३० ॥

वह जीव ज्ञान-दशाको नहीं पाता, और इसी तरह वैराग्य आदि साधन-दशा भी है। इस कारण ऐसे जीवका यदि किसी दूसरे जीवको सयोग हो जाय तो वह जीव भी मज्ञान होता है।

ए पण जीव मत्तार्यमा निममानादि काज ।

पापे मही परमार्थने, अनभधिकारिमा ज ॥ ३१ ॥

यह जीव भी मत्तार्यमा ही रहता है। क्योंकि ऊपर कहे अनुसार जीवको जिस तरह वास्तविक मत्तार्यता रहती है, उसी तरह इसे भी अपनेको ज्ञानी मनवानेके मानकी इच्छासे अपने मत्तार्य काय रहता है। इसलिये वह भी परमार्थको नहीं पाता, और इस कारण वह भी अनभधिकारि जिसमें ज्ञान प्रवेश होने योग्य नहीं, ऐसे जीवोंमें गिना जाता है।

मही कपाय सवसांतता, नही अर्तवैराग्य ।

सरम्भपुं न मध्यस्थता, ए मत्तार्यो दुर्भाग्य ॥ ३२ ॥

जिसकी क्रोध, माग, माया और क्रोमरूप कपाय दशा नहीं हुई; तथा जिसमें अर्तवैराग्य नहीं हुआ; जिसे आत्मामे गुण ग्रहण करनेमें सरम्भता नहीं है; तथा सत्य असत्यकी करनेकी जिसे पक्षपातदृष्टि दृष्टि नहीं है, वह मत्तार्यो जीव दुर्भाग्यहीन है। कपाय जन्म मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गिक प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य ही नहीं है, ऐसा समझना च

अज्ञान, अज्ञान, मत्तार्यहीनता, मत्तार्य अज्ञान, अज्ञान ।

इधे कटुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥ ३३ ॥

इस तरह मत्तार्यो जीवके लक्षण कहे। उसके करनेका दृष्टि यही है कि जिसमें उन्हें अर्थोंका मत्तार्य दूर हो। अब आत्मार्थी जीवके लक्षण कहते हैं। वे लक्षण कहे हैं ? कि आत्मार्थी सुखकी सामग्रीके हेतु हैं।

आत्मार्थीके लक्षण—

आत्मज्ञान स्या सुनिपुणं, ते साधा शुरु होय ।

बाकी कुञ्जगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥ ३४ ॥

नहीं है। जै समर्पति पासह तै मीर्णति पासह—जहाँ समर्पित अर्थात् आत्मज्ञान है वहाँ मुक्ति प्राप्त होगी, ऐसा आचार्यगुरु ने कहा है। अर्थात् आत्मापत्ति और ऐसा समझता है कि जिसमें आत्मज्ञान हो वही सच्चा गुरु है, और जो आत्मज्ञानसे रहित हो ऐसे अपने कुछके गुरुको बहुत मानना—यह भ्रम कल्पना है, उससे कुछ संसारका नाश नहीं होता।

प्रत्यक्ष सद्गुरुमाप्तिनी, गये परम उपकार ।

जये योग एकत्वयी, सर्वे आज्ञाधार ॥ ३५ ॥

यह प्रत्यक्ष सद्गुरुको प्राप्ति का महान् उपकार समझता है; अर्थात् शाल आदिसे जो समाधान नहीं हो सकता, और जो दोष सद्गुरुको आज्ञा धारण किये बिना दूर नहीं होते, उनका सद्गुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरुका यह महान् उपकार समझता है; और उस सद्गुरुके प्रति मन्त्र बचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक चलाता है।

एक होय जन्म कालियाँ, परमारचना पंच ।

मेरे तै परमार्थने, ते व्यवहार समेत ॥ ३६ ॥

तैनों कछमें परमार्थका पंच अर्थात् मोक्षका मार्ग एक ही होना चाहिये और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो वह व्यवहार जीवनको मान्य रहना चाहिये, दूसरा नहीं।

एम विचारी भंतेरे, छोये सद्गुरुयोग ॥

काम एक आत्मार्थमुं, बीजो नही मनरोग ॥ ३७ ॥

इस तरह अंतरने विचारकर जो सद्गुरुके योगकी शोष करता है; केवल एक आत्मार्थकी ही इच्छा करता है; मान पूजा आदि शक्ति-सिद्धि की कुछ भी इच्छा नहीं करता—यह देग जिसके मनमें ही नहीं है—यह आत्मार्थी है।

कपायनी अपञ्चावता, मात्र भास-अभिज्ञाप ।

यत्र क्षेत्र प्राणी-दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥ ३८ ॥

कपाय वहाँ कृपा पक्ष गर्ह है, केवल एक मोक्ष-पक्षके सिद्धय जिससे दूसरे किसी पक्षकी अभिज्ञाप नहीं संसारपर जिससे वैराग्य चला है और प्राणीमात्रके ऊपर जिससे दया है—ऐसे जीवमें आत्मार्थका निवास होता है।

दशा न एयी व्यासुपी, जीव खड़े नहीं जीम्य ।

योगमार्ग पाये नहीं, धटे न अंतरोग ॥ ३९ ॥

जबतक ऐसी योग-दशाको जीव नहीं पाता, जबतक उसे योगमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और अन्त-अतिक्रम अनंत दुःखका हेतु अन्त-योग नहीं मिलता।

आये क्या एयी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय ।

तै बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥ ४ ॥

जहाँ ऐसी दशा होती है वहाँ सद्गुरुका बोध योगाको प्राप्त होता है—कभीमृत होता है, और उस बोधके कभीमृत होनेसे सुखदायक सुविचारणा प्रगट होती है।

क्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निमग्नान ।

ये ज्ञाने क्षय मोह यद्, पाप्मे पद् निर्वाण ॥ ४१ ॥

जहाँ सुविचार-दशा प्रगट हो, वही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञानसे मोहका क्षय कर आत्मा निर्वाण-पदको प्राप्त करती है ।

उपमे से सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय ।

गुरुशिष्यसंभाष्यी, भास्तु पदपद् आदि ॥ ४२ ॥

मिससे सुविचार-दशा उत्पन्न हो, और मोक्ष-मार्ग समझमें आ जाय, उस विषयको यहाँ पद-पदरूपसे गुरु-शिष्यके संवादरूपमें कहता हूँ ।

पदपदनामकथन—

आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निमग्न ।

छे मोक्षा, बड़ी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥ ४३ ॥

‘आत्मा है’, ‘वह आत्मा नित्य है’, वह आत्मा अपने कर्मकी कर्ता है’, ‘वह कर्मकी मोक्षा है’, ‘उससे मोक्ष होती है’, और ‘उस मोक्षका उपायरूप सुधर्म है’ ।

पदस्यानक संक्षेपमां पदार्थन पण सह ।

समजाया परमार्थने, कर्मा ज्ञानी एह ॥ ४४ ॥

ये छह स्थानक अथवा छह पद यहाँ संक्षेपमें कहे हैं; और विचार करनेसे पदार्थन भी पट्टी है । परमार्थ समझनेके लिये ज्ञानी-गुरुपने ये छह पद कहे हैं ।

१ शब्द—शिष्य उवाच—

शिष्य आत्माके अस्तित्वरूप प्रथम स्थानकके विषयमें शङ्का करता है —

नयी इष्टिमां आवता, मधी जणातु रूप ।

बीमो पण अनुभव नहीं, तयी न जीवस्वरूप ॥ ४५ ॥

वह इष्टिमें नहीं आता, और उसका कोई रूप भी मात्रम नहीं होता । तथा त्वरी आदि दूसर अनुभवसे भी उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिये जीवका निजरूप नहीं है, अर्थात् जीव नहीं है ।

अथवा वह ज आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण ।

मिथ्या जूदा मानसो, नहीं जूदुं एपाण ॥ ४६ ॥

अथवा जो देह है वही आत्मा है; अथवा जो इन्द्रियो है वही आत्मा है; अथवा अस्माच्छ्वास ही आत्मा है अर्थात् ये सब एक एक करके देहस्वरूप हैं इसलिये आत्माको भिन्न मानना मिथ्या है । क्योंकि उसका कोई भी भिन्न बिह दिवार्थ नहीं दता ।

१ उदाहरण कष्टविषयकीने सम्यक्त्वना वदस्थान-स्वभावनी चोर्त के नामन पुष्पादीमें ११५ कोट-रीती मिली है । उनमें किन गद्यमें सम्यक्त्वके परस्थानक बजार है वह गद्य भिन्नरूप है—

अथ जीवो तदा निष्ठा कथा पुनार पुनारवर्तमान ।

अथैव पुन विज्ञानं तस्मात्तमो अ उद्यमान ॥

• एकद विलून विवेचनके लिये देखो अंक नं ४९

—अनुवाचक

पत्नी जी आतमा होय तो, जनाय से नहीं कैम ।

जनाय भी से होय तो, पटपट आदि भैम ॥ ४७ ॥

और यदि आत्मा हो तो वह माद्वय क्यों नहीं होती ? जैसे बट पट आदि पदार्थ मोड़ है, नेर ने माद्वय होते हैं, उसी तरह यदि आत्मा हो तो वह क्यों माद्वय नहीं होती ?

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोसवपाय ।

ए अंतर संकावणो, समभाओ सदुपाय ॥ ४८ ॥

अतएव आत्मा नहीं है; और आत्मा नहीं, इसलिये उसके मोड़के छिये उपाय करना भी व्यर्थ है—इस में अंतरकी संकावण कुछ भी सदुपाय हो तो कृपा करके मुझे समझाइये—अर्थात् इसका कुछ समाधान ही तो कहिये ।

समाधान—सद्वृत्त उपाय—

सद्वृत्त समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व है—

मास्पो देहाप्यासयी, आत्मा देहसमान ।

पण ते बभे मिम छे, प्रगटसझणे भान ॥ ४९ ॥

देहाप्यासये अर्थात् अनधिकारके अज्ञानके कारण देहका परिचय हो रहा है, इस कारण इसे आत्मा देह जैसी अर्थात् आत्मा देह ही मासित होती है । परन्तु आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि दोनों ही भिन्न भिन्न अक्षयपूर्णक प्रगट देखनेमें आते हैं ।

मास्पो देहाप्यासयी, आत्मा देहसमान ।

पण ते बभे मिम छे, भैम असि ने ध्यान ॥ ५० ॥

अनधिकारके अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा मासित हुई है, अपना देहके समान ही आत्मा मासित हुई है । परन्तु जिस तरह तखतार और ध्यान दोनों एक ध्यानरूप मास्ते होते हैं फिर भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, उसी तरह आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं ।

जे ज्ञा छे दृष्टिनी, न भाण छे रूप ।

अवाध्य अनुभव जे रहि, ते छे जीवस्वरूप ॥ ५१ ॥

वह आत्मा, इति अर्थात् अंगसे कैसे निर्गम्य हो सकती है ? क्योंकि उक्त आत्मा ही अंतर्गत देहनेवाली है । जो एतद् मूल अंगिके स्वरूपको जानता है; और सचमें किसी न किसी प्रकारकी भाषा जानी है परन्तु जिसमें किसी भी प्रकारकी भाषा नहीं आ सकती ऐसा जो अनुभव है, वही जीवका स्वरूप है ।

छे इन्द्रिय मरयेकन, निम निम विपयनु ज्ञान ।

पौब इन्द्रिना विपयनु, पण आत्माने भान ॥ ५२ ॥

जो कर्मेन्द्रियम सुना जाना है उस कर्मेन्द्रिय जानती है, उसे बहुत इन्द्रिय नहीं जानती; और जो बहुत इन्द्रियसे देगा जाना है उसे कर्मेन्द्रिय नहीं जानती । अर्थात् सब इन्द्रियोंका अपने अपने विषय ही ज्ञान होता है, वही इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं जाना और आत्माका तो दोनों इन्द्रियोंके

विषयका ज्ञान होता है अर्थात् जो उन पाँच इन्द्रियोसे ग्रहण किये हुए विषयको जानता है, वह आत्म है; और ऐसा जो कहा है कि आत्माक बिना प्रत्येक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है, वा केवल उपचारसे ही कहा है।

यह न जाण तेहन, जाणे न इन्द्रिय प्राण ।

आत्माणी सचाबद, तेह प्रवर्ते जाण ॥ ५३ ॥

उसे न तो देह जानती है, न इन्द्रियो जानती है, और न आसोन्द्रासरूप प्राण ही उसे जानता है। वे सब एक आत्माकी सत्तासे ही प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे अङ्गरूप ही पड़े रहते हैं—यु ऐसा समझ

सर्व अवस्थाने धिये, न्यारो सदा जणाप ।

मगटस्वरूप चैतन्यमय, ए एषाणे सदाप ॥ ५४ ॥

आप्त स्वप्न और निद्रा अवस्थाओंमें रहनेपर भी वह उन सब अवस्थाओंसे भिन्न रहा करता है, और उन सब अवस्थाओंके बीच जानेपर भी उसका अस्तित्व रहता है। वह उन सब अवस्थाओंको जाननेवाला मगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जानते रहना ही उसका स्पष्ट स्वभाव है; और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है—उस निशानीका कमी भी भाव नहीं होता।

घट पण आवि जाण तुं, तेपी तेने मान ।

जाणनार व मान नही, कहिये केवु ज्ञान ? ॥ ५५ ॥

घट पट आदिको व स्वयं ही जानता है, और व समझता है कि वे सब मौजूद हैं; तथा जो पण पण आदिका जलनेवाला है, उसे व मानता नहीं—तो उस ज्ञानको फिर क्या कहा जाय ?

परमशुद्धि कृप देहमां, स्पृह देह मति अत्य ।

देह होय जो आत्मा, पण न आय विकल्प ॥ ५६ ॥

दुर्बल देहमें तीव्रण बुद्धि और स्पृह देहमें अन्य बुद्धि देखनमें आती है। पण देह ही आत्मा ही तो इस शक्ती—विरोध—के उपस्थित होनेका अवसर ही नहीं आ सकता।

जह चैतननो भिन्न छ, कबळ मगज स्वभाव ।

एकपणुं पाय नही, मण काल द्य भाव ॥ ५७ ॥

किसी काळमें भी जिसमें जाननेका स्वभाव नहीं वह जब है, और जो सदा ही जाननेके स्वभावसे युक्त है वह चैतन्य है—इस तरह दोनोंका सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभाव है; और वह किसी भी प्रकार एक नहीं हो सकता। तीनों काळमें वह अवस्थासे और चैतन्य चैतन्यरूपसे ही रहता है। इस तरह दोनोंका ही भिन्न भिन्न स्वभाव स्पष्ट अनुभवमें आता है।

आत्माणी संका कर, आत्मा पाते आप ।

संकाला करनार ते, अपरन एह अपाप ॥ ५८ ॥

*आत्मा स्वयं ही आत्माकी शक्ती करती है। परन्तु जो शक्ती करनेवाला व वही आत्मा है—इस बातको आत्मा जानती नहीं वह एक असीम आधर्य है।

दोषचार्यही भी आत्माके अस्तित्वमें वही प्रथम बुद्धि है—

मनो हि माहमोहितम् एवेति न माहकपीति । ए एव हि मिगदना उदेव तत्र स्वभावः ।

आत्माके विचारक देकार्टे (Descartes) ने भी वही लिखा है—*Je pense, je suis—I am because I exist*—अर्थात् मैं हूँ क्योंकि मैं सोच रहा हूँ। —अनुवादक

२ श्रृंखला—विषय उपाय—

विषय कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है:—

आत्मामा अस्तिस्थना, अपि कदा प्रकार ।

समय तेनो धाय छे, अतर् कर्मे विचार ॥ ५९ ॥

आत्मাকে अस्तिस्थने आपने जो जो बातें कही, उनका अन्तरगमे विचार करनेसे यह अस्तिस्थ तो समझ माझ्म होता है ।

धीमी श्रृंखला धाय त्या, आत्मा नहीं अविनाश ।

देहयोगधी जेपने, देहधियोगे नाश ॥ ६ ॥

परन्तु इसी श्रृंखला यह होती है कि यदि आत्मा है तो भी यह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है । यह तीनों कर्ममें रहनेवाला पदार्थ नहीं, यह केवल देहके संयोगसे उत्पन्न होती है और उसके वियोगसे उसका नाश हो जाता है ।

अथवा वस्तु सन्निक छे, सन्ने सन्ने पछटाय ।

ए अनुभवधी पक्ष नहीं, आत्मा नित्य जनाय । ॥ ६१ ॥

अथवा वस्तु क्षण क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, इसलिये सब वस्तु क्षणिक हैं, और अनुभवसे देखनेसे भी आत्मा नित्य नहीं माझ्म होती ।

समाधान—संग्रह उपाय—

संग्रह समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य है:—

देह प्राय संयोग छे बन्नी अवस्थी रूप ।

चेतनना उत्पत्ति सय, कोना अनुभव कय ॥ ६२ ॥

समस्त देह परमाणुके संयोगसे बनी है अथवा संयोगसे ही आत्मাকে साथ उसका संबंध है । तथा यह देह जब है कभी है और ज्ञान अर्थात् दूसरे किसी इन्द्रियके जाननेका विषय है; इसलिये जब यह अपने आपको भी नहीं जानती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको तो यह कहाँसे जान सकती है ! उस देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे भी यह जब ही समझमें आती है । इस कारण उसमें चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; और जब उसमें उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उसके साथ चेतनका नाश भी नहीं हो सकता । तथा यह देह कभी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवादी है, और चेतन इन्द्रिय है । फिर उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ! और उसके साथ उसका नाश भी कैसे हो सकता है ! तथा देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है और उसके साथ ही यह नाश हो जाता है यह बात किसके अनुभवके आधीन है ! अर्थात् इस बातको कौन जानता है ! क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे प्रथम तो होती नहीं और नाश तो उसके पश्चात् ही हो जाता है । तो फिर यह अनुभव किसे होता है !

आशंका — शीघ्रका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य निष्कलङ्कता होना समझ नहीं । यह देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ ही पैदा होता है और देहके वियोग अर्थात् देहके नाश होनेपर यह नाश हो जाता है ।

समाधान — देहका जीवके साथ मात्र संयोग सभ्य है। वह कुछ जीवके मूल स्वरूपके उत्पन्न होनेका कारण नहीं। अथवा जो देह है वह केवल संयोगसे ही उत्पन्न पदार्थ है; तथा वह जड़ है अर्थात् वह किसीको भी नहीं जानती, और जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर दूसरेको तो वह क्या जान सकती है? तथा देह रूपी है—स्थूल आदि स्वभावयुक्त है, और चक्षुका विषय है। जब स्वयं देहका ऐसा स्वरूप है तो वह चेतनकी उत्पत्ति और नाशको किस तरह जान सकती है? अर्थात् जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है,' इसे कैसे जान सकती है? और 'मेरे छूट जानेके पश्चात् यह चेतन भी छूट जायगा—नाश हो जायगा'—इस बातको वह देह कैसे जान सकती है? क्योंकि जाननेवाला पार्य ही तो जाननेवाला रहता है—देह तो कुछ जाननेवाला ही नहीं सकती; तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशके अनुभवको किसके आधीन कइना चाहिये?

यह अनुभव देहके आधीन तो कइना जा सकता नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है, और उसके अरूपको जाननेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा ही पार्य समझमें आता है।

क्याविद् यह कहें कि चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन ही जानता है, तो इस बातके बोझमें ही इसमें बाधा आती है। क्योंकि फिर तो चेतनकी उत्पत्ति और नाश जाननेवालेके रूपमें चेतनका ही अंगीकार करना पड़ा; अर्थात् यह बचन तो मात्र अपसिद्धांतकम और कथनमात्र ही हुआ। जैसे कोई कहे कि 'मेरे मुँहमें जीम नहीं,' उसी तरह यह कथन है कि 'चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नहीं'। इस प्रमाणकी कैसी पर्यायता है, उसे तो तुम ही विचार कर देखो।

जिना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न कथनं ज्ञान ।

ते तैषी ज्ञा विना, याव न केयं भान ॥ ६३ ॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, उस ज्ञानको उससे भिन्न जाने विना, वह ज्ञान किसी भी प्रकारसे समझ नहीं। अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और नाश होता है, यह किसीके भी अनुभवमें नहीं आ सकता ॥

देहकी उत्पत्ति और देहके नाशका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है वह उस देहसे यदि जुदा न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान नहीं हो सकता। अथवा जो जिसकी उत्पत्ति और नाशको जानता है वह उससे जुदा ही होता है, और फिर तो वह स्वयं उत्पत्ति और नाशरूप न रह्य, परन्तु उसके जाननेवाला ही रह्य। इसलिये फिर उक्त दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है।

अ संयोगी देखिये, तै ते अनुभव इत्य ।

उपमे नहीं संयोगी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥ ६४ ॥

जो जो संयोग हम देखते हैं, वे सब अनुभवरूप आत्माके दृश्य होते हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें जानती है; और उन संयोगोंके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई भी संयोग समझमें नहीं आता जिससे आत्मा उत्पन्न होती हो। इसलिये आत्मा संयोगसे अनुपन्न है अर्थात् वह असंयोगी है—स्थायिक पदार्थ है—इसलिये वह स्पष्ट नित्य समझमें आता है ॥

जो जो देह आदि संयोग दिखाई देते हैं वे सब अनुभवस्वरूप आत्माके ही दृश्य हैं, अर्थात्

आत्मा ही उन्हें देखने और आगनेवाणी है। उन सब संयोगोंका विचार करके देखो तो उन्हें किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मात्स्म्य न होगी।

कोई भी संयोग ऐसे नहीं जो उन्हें जानते हों, और तुम तो उन सब संयोगोंको जानते हो, इसलिये तुम्हारी उनसे निश्चय, और अंत्ययोगीपना—उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना—सहज ही सिद्ध होना है, और अनुभवमें आता है। उससे—किसी भी संयोगसे—विसृष्टी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी संयोग विसृष्टा उत्पत्तिके लिये अनुभवमें नहीं आ सकता, और जिन संयोगोंकी हम कल्पना करें उससे जो अनुभव भिन्न—सर्वाया भिन्न—केवल उसके हात्कारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको तुम निरूप्य स्वरूपित—जिसने उन संयोगोंके भावस्वरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया—समस्तो।

अद्वयी चेतन विप्रे, चेतनची अहं याय।

एवो अनुभव कोर्नै, क्यारि कही न थाय ॥ १५ ॥

अइसे चेतन उत्पन्न होता है और चेतनसे जब उत्पन्न होता है, ऐसा किसीको कही भी अनुभव नहीं होता।

कोइ संयोगोची नहीं, बेनी उत्पत्ति थाय।

नाथ न तैनो कोईमां, तेयी निरूप्य सदाय ॥ १६ ॥

विसृष्टी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं होती, उसका गारा भी किसीके साथ नहीं होता इसलिये आत्मा निश्चय निरूप्य है ॥

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने स्वभावसे ही जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका नाश दूसरे किसी भी पदार्थके साथ नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थके साथ उसका नाश होता हो तो प्रथम उसमेंसे उसको उत्पत्ति होना आवश्यक थी नहीं तो उसके साथ उसकी नाशरूप पकड़ा भी नहीं हो सकती। इसलिये आत्माको अनुभव और अविनाशी समस्तकर यही प्रतीति करना योग्य है कि वह निरूप्य है।

कोचादि वरतम्पता, सर्पादिक्नी मांय।

पूर्वजन्म-संस्कार ते, जीव निरूप्यता स्थाय ॥ १७ ॥

सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोध आदि प्रवृत्तियोंकी निरोधता जन्मसे ही देखनेमें आती है—कुछ वर्तमान देखने उन्होंने यह जन्मास सिद्ध नहीं। यह तो उनके जन्मसे ही है। यह पूर्व जन्मका ही संस्कार है। यह पूर्वजन्म जीवकी निरूप्यता सिद्ध करता है ॥

सर्पमें जन्मसे क्रोधकी निरोधता देखनेमें आती है। कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसक-वृत्ति देखनेमें आती है। मछली आदि जंतुओंको पकड़नेपर उन्हें पकड़नेसे डरना होता है, यह भय संज्ञा उनके अनुभवमें पहिलेसे ही रहती है; और इस कारण ही वे भाग जानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी किसीमें निर्भयताकी किसीमें शमीरताकी किसीमें निरोध भय संज्ञाकी किसीमें काम आदिके प्रति अंत्यगताकी और किसीमें बाह्य आदियें अव्यक्त सुखताकी निरोधता देखनेमें आती है। इत्यादि जो ये हैं अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी जो मूलतत्त्विकता है, तथा उन सब प्रवृत्तियोंको जो साधकचर्य है वह जो जन्मसे ही स्वयं देखनेमें आता है उसका कारण पूर्व-संस्कार ही हैं।

कदाचित् यह कहे कि गर्भमें बीर्य और रेतसके गुणके संयोगसे उस उस तरहके गुण उत्पन्न

होते हैं, उनमें कुछ पूर्वजन्म कारण नहीं है, तो यह कहना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि जो मा-वाप कर्म-वासनामें विशेष प्रीतिमुक्त देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र बाछपनसे ही परम नीतरुग्ण जैसे देखे जाते हैं। तथा बिन माता पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखी जाती है, उनकी सत्तातिमें समताकी विशेषता इष्टि गोचर होती है—यह सब फिर कैसे हो सकता है? तथा उस वीर्य-रेतसके जैसे गुण नहीं होते, क्योंकि वह वीर्य-रेतस स्वयं चेतन नहीं है, उसमें सो चेतनका संचार होता है—अर्थात् उसमें चेतन स्वयं देह धारण करता है। इस कारण वीर्य और रेतसके आभिन्न क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते—चेतनके बिना वे भाव कहीं भी अनुभवमें नहीं आते। इसलिये वे केवल चेतनके ही आभिन्न हैं, अर्थात् वे वीर्य और रेतसके गुण नहीं हैं। इस कारण वीर्यकी न्यूनाधिकताकी मुख्यतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे ही क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वे गर्मस्य वीर्य-रेतसके गुण नहीं कहे जा सकते, परन्तु वे गुण चेतनके ही आभिन्न हैं; और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही समझ है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि चेतनका पूर्वप्रयोग उस प्रकारसे हो तो ही वह संस्कार रहता है, जिससे इस देह आदिके पूर्वके संस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्व-जन्मको सिद्ध करते हैं, तथा पूर्व-जन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

आत्मा द्रव्ये नित्यै, पर्याये पस्यथ ।

बाह्यादि वय अभ्यनुं, ज्ञान एकमे याप ॥ ६८ ॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है, किन्तु प्रतिसमय ज्ञान आदि परिणामके फलमेंसे उसकी पर्यायमें परिवर्तन होता है। जैसे समुद्रमें परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी लहरोंमें परिवर्तन होता है। उदाहरणके लिये बाढ़ पुष्पा और वृद्ध ये जो तीन अवस्थाएँ हैं, वे आत्माकी विभाव-पर्याय हैं। बाढ़ अवस्थाके रहते हुए आत्मा बाढ़क माहूम होती है। उस बाढ़ अवस्थाको छोड़कर जब आत्मा पुष्पावस्था धारण करती है, उस समय पुष्पा माहूम होती है, और पुष्पावस्था छोड़कर जब वृद्धावस्था धारण करती है, उस समय वृद्ध माहूम होती है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद है वह पर्यायभेद ही है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं होता; अर्थात् केवल अवस्थाओंमें ही परिवर्तन होता है, आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानती है, और उसे ही उन तीनों अवस्थाओंकी स्मृति है। इसलिये यदि तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्मा हो तो ही यह होना समझ है। यदि आत्मा क्षण क्षणमें बदलती रहती हो तो वह अनुभव कभी भी नहीं हो सकता।

अथवा ज्ञान सगुणिकनुं, जे जाणी बदनार ।

बदनारो ते सगुणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥ ६९ ॥

तथा अमुक कार्य क्षणिक है जो ऐसा जानता है, और क्षणिकत्वका कथन करता है, वह कथन करनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक नहीं होता। क्योंकि प्रथम क्षणमें जिसे अनुभव हुआ हो उसे ही दूसरे क्षणमें वह अनुभव हुआ कहा जा सकता है और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वयं ही न हो तो फिर उसे वह अनुभव कहाँसे कहा जा सकता है? इसलिये इस अनुभवसे भी व आत्मामें अक्षणिक-त्वका निश्चय कर ।

कपारे कोई वस्तुनी, केवल हाथ में नाश ।

चेतन पाये नाश तो, कैसा भये तपास ॥ ७० ॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कारणसे सर्वथा नाश नहीं होता केवल अवस्थांतर ही होता है, जिससे चेतनका भी सर्वथा नाश नहीं होता । तथा यदि चेतनका अवस्थांतररूप नाश होता हो तो किसमें मिश्र जाता है ? अथवा वह किस प्रकारक अवस्थांतरको प्राप्त करता है ? इसको दूखी कर । आदि पदार्थ जब टूट-फूट जाते हैं तो लोग कहते हैं कि धरा नष्ट हो गया है—परन्तु कुछ क्षणमेंका नाश नहीं हो जाता । धरा छिन्न-भिन्न होकर यदि उसकी अवस्थान्त गरीक भूख हो जाय तो भी वह परमाणुओंके समूहक्रममें तो मौजूद रहता ही है—उसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता; परन्तु उसमेंका एक परमाणु भी कम नहीं होता । क्योंकि अनुभवसे देखनेपर उसका अवस्थांतर तो हो जाता है परन्तु पदार्थका समूह नाश हो सकना कभी भी संभव नहीं । इसलिये यदि चेतनका नाश हो तो भी उसका सर्वथा नाश तो कभी कहा ही नहीं जा सकता, वह नाश केवल अवस्थांतररूप ही हो जाएगा । जैसे धरा टूट-फूट कर अनुक्रमसे परमाणुओंके समूहक्रममें रहता है, उसी तरह जैसे चेतनका अवस्थांतर नाश मानना हो तो वह किस स्थितिमें रह सकता है ? अथवा जिस तरह जैसे परमाणु परमाणु-समूहमें मिश्र जाते हैं उसी तरह चेतन किस वस्तुमें मिश्र सकता है ? इसको दूखी कर । अर्थात् इस तरह यदि चेतनका अवस्थांतर देखेगा तो उसे मान्य होगा कि चेतन—इत्या—किसीमें भी नहीं मिश्र सकता अथवा पर-स्वरूपमें उसका अवस्थांतर नहीं हो सकता ।

श्रेष्ठ-विषय उदाहरणः—

विषय कहता है कि जन्मा कर्मका कर्ता नहीं हैः—

कर्ता जीव न कर्मनी, कर्म न कर्ता कर्म ।

अथवा सहज स्वभाव का, कर्म जीवनी धर्म ॥ ७१ ॥

जीव कर्मका कर्ता नहीं—कर्म ही कर्मका कर्ता है; अथवा कर्म बनायाप्त ही होते रहते हैं । यदि ऐसा न हो और जीवको ही उसका कर्ता कहो तो फिर वह जीवका कर्म ही उद्धार, और वह उसका धर्म है इसलिये उसको कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

आत्मा सदा असंग नै, करे प्रकृति बंध ।

अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेही जीव धर्म ॥ ७२ ॥

अथवा यदि ऐसा न हो तो यह मानना चाहिये कि जन्मा सदा असंग है, और तब यदि प्रकृतियों प्रकृतियों कर्मका बंध करती हैं । यदि ऐसा भी न मानो तो फिर यह मानना चाहिये कि जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है । इस कारण ईश्वरेच्छापर निर्भर होनेसे जीवका उस कर्मसे स्वयं ही मानना चाहिये ।

मदि मोक्ष उपायनो, कोई न हैदु जणाय ।

कर्मवर्ण कर्तापणु, का नहीं का नहीं जाय ॥ ७३ ॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्ता नहीं हो सकता, और न तब मोक्षके उपाय करनेका ही कोई कारण मान्य होता है । इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्ता ही न मानना चाहिये और यदि उसे कर्ता मानो तो उसका वह स्वभाव किसी भी तरह नाश नहीं हो सकता ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा कर्मका कर्ता किस तरह है —

होय न चेतन प्रेरणा, कीण ग्रही तो कर्म ? ।

अहस्वभाव नहीं प्रेरणा, लुप्तो विचारी धर्म ॥ ७४ ॥

चेतन—आत्मा—की प्रेरणात्पुत्र प्रवृत्ति न हो तो कर्मको फिर कौन ग्रहण करेगा ? क्योंकि जड़का स्वभाव तो कुछ प्रेरणा करनेका है नहीं । जड़ और चेतन दोनोंके धर्मको विचार करके देखो ॥

यदि चेतनकी प्रेरणा न हो तो कर्मको फिर कौन ग्रहण करेगा ? प्रेरणात्पुत्रसे ग्रहण करनेका स्वभाव कुछ जड़का तो है नहीं । और यदि ऐसा हो तो घट पट आदिका भी क्रोध आदि भावमें परिणमन होना चाहिये, और फिर तो उन्हें भी कर्मको ग्रहण करना चाहिये । परन्तु ऐसा तो किसीको कभी भी अनुभव होता नहीं । इससे सिद्ध होता है कि चेतन—जीव—ही कर्मको ग्रहण करता है, और इस कारण उसे ही कर्मका कर्ता कहते हैं—इस तरह जीव ही कर्मका कर्ता सिद्ध होता है । इससे 'कर्मका कर्ता कर्म ही कहा जायगा या नहीं ?' तुम्हारी इस शंकाका भी समाधान हो जायगा । क्योंकि जब कर्ममें प्रेरणात्पुत्र धर्म न होनेसे वह उस तरह कर्मके ग्रहण करनेको असमर्थ है इसलिये कर्मका कर्ताफन जीवमें ही है, क्योंकि प्रेरणाशक्ति उसमें है ।

जो चेतन करतुं नथी, यदां नथी तो कर्म ।

तेही सहज स्वभाव नहीं, तेमन नहीं जीवधर्म ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा कर्मको न करती तो वह कर्म होता भी नहीं इससे यह कहना योग्य नहीं कि वह कर्म सहज स्वभावसे—अनायास ही—हो जाता है । इसी तरह जीवका वह धर्म भी नहीं है क्योंकि स्वभावका तो नाश होता नहीं । तथा यदि आत्मा कर्म न करे तो कर्म होता भी नहीं ; अर्थात् यह भाव दूर हो सकता है, इसलिये आत्माका यह स्वाभाविक धर्म नहीं ।

कैयज होत असंग जो, भासत तन न केम ? ।

असंग छ परमार्थधी, पण निजमाने तेम ॥ ७६ ॥

यदि आत्मा सर्वथा असंग होती अर्थात् उसे कभी भी कर्मका कर्तापन न होता, तो फिर स्वयं उसे ही वह आत्मा पहिचने ही क्यों न भासित होती ? यद्यपि परमाधेय तो आत्मा असंग ही है, परन्तु यह तो जब हो सकता है जब कि स्वरूपका भाव हो जाय ।

कर्ता ईश्वर को नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।

अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषमभाव ॥ ७७ ॥

जगत्का अपना जीवोंके कर्मका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है । क्योंकि जिसका शुद्ध आत्मस्वभाव प्रगट हो गया है वही ईश्वर है, और यदि उसे प्रेरक अर्थात् कर्मका कर्ता मानें तो उसे भी दोषका प्रमाण मानना चाहिये । इसलिये जीवके कर्मके कर्तापनमें ईश्वरकी प्रेरणा भी नहीं कही जा सकती ॥

अब हमने जो कहा कि 'वे कर्म अनायास ही हाथ रहते हैं', तो यहाँ अनायासका क्या अर्थ होता है ।

(१) क्या कर्म आत्मके द्वारा बिना विचार ही हो गये ?

(२) या आत्माका कर्तृत्व न होनेपर भी कर्म हो गये !

(१) या ईश्वर आदि किसीके कृपा देनेसे कर्म हो गये !

(३) या प्रकृतिके बळपूर्वक स्वभाव हो जानेसे कर्म हो गये !

इस तरह मुख्य चार विकल्पोंसे बनायास कर्त्तापनका विचार करना योग्य है ।

प्रथम विचार यह है कि 'आत्माके द्वारा बिना विचारे ही कर्म हो गये' परन्तु यदि ऐसा होता तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नहीं रहता; और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न हो वहाँ कर्मका अस्तित्व भी नहीं हो सकता । परन्तु जीव तो उसका प्रत्यक्ष चित्तवन् करता है, और उसका ग्रहणग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है । तथा बिनमें जीव किसी भी तरह प्रकृति नहीं करता ऐसे शोक आदि भाव उसे कभी भी प्राप्त नहीं होते; इससे मान्य होता है कि आत्माके बिना विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए कर्मोंका ग्रहण आत्माको नहीं हो सकता । अर्थात् इन दोनों प्रकारोंसे बनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता ।

द्वितीय विचार यह है कि 'ईश्वर आदि किसीके कर्म कृपा देनेसे बनायास ही कर्मका ग्रहण होता है'—यह भी ठीक नहीं । क्योंकि प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका ही निश्चय करना चाहिये; और इस प्रश्नको भी विशेष समझना चाहिये । फिर भी यहाँ ईश्वर अथवा विष्णु आदिको किसी तरह कर्त्ता स्वीकार करके उसके ऊपर विचार करते हैं —

यदि ईश्वर आदि कर्मका कृपा देनेवाला हो तो फिर तो बीचमें कोई जीव नामका पदार्थ ही न था । क्योंकि बिन प्रेरणा आदि धर्मसे जो वह अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वर ही ठहरे; अथवा वे ईश्वरके ही गुण ठहरे । तो फिर बीचका स्वरूप ही क्या बाकी रह गया जिससे उसे जीव—आत्मा—कहा जा सके ! अर्थात् कर्म ईश्वरसे प्रेरित नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं आत्माके ही किये हुए हो सकते हैं ।

तथा 'प्रकृति आदिके बळपूर्वक कर्म कृपा जानेसे कर्म बनायास ही हो जाते हैं'—यह भी वास्तविकता में यथार्थ नहीं है । क्योंकि प्रकृति आदि बळ हैं, उन्हें यदि आत्मा ही ग्रहण न करे तो वे उससे किस तरह संबन्ध हो सकते हैं ! अथवा दम्पकर्मका ही वृत्त नाम प्रकृति है । इसलिये यह तो कर्मको ही कर्मका कर्त्ता कहनेके बराबर हुआ और इसका तो पूर्वमें निवेदन कर ही चुके हैं । यदि कहे कि प्रकृति न हो तो अन्तःकरण आदि जो कर्मको ग्रहण करते हैं उससे आत्मामें कर्तृत्व सिद्ध होता है—तो वह भी एकतरसे सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि अन्तःकरण आदि भी अन्तःकरण आदिकृपासे चेतनकी प्रेरणाके बिना पहिले ठहर ही कहाँसि सकते हैं ! क्योंकि चेतन कर्मोंकी संतुष्टताका मनन करनेके लिये जो अवलम्बन लेता है उसे अन्तःकरण कहते हैं । इसलिये यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ स्वयं उस संतुष्टतामें मनन करलेका धर्म नहीं है; वह तो केवल बल है । चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका व्यवहजन केकर कुछ ग्रहण करता है उससे उसमें कर्त्तापनका आरोप होता है, परन्तु मुख्यतः तो वह चेतन ही कर्मका कर्त्ता है ।

यहाँ यदि केवल आदि दृष्टिसे विचार करोगे तो हमारे ये वाक्य किसी जातिपुष्ट पुरुषके कहे हुए मान्य होगी । परन्तु जिस प्रकारसे नीचे कहा है उसके समझनेसे तुम्हें उन वाक्योंकी यथार्थता मान्य होगी और आति दूर होगी ।

यदि किसी भी प्रकारसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व न हो तो वह किसी भी प्रकारसे उत्सृज मोक्षा भी नहीं हो सकती; और यदि ऐसा हो तो फिर उसे किसी भी तरहके दुःखोंकी समाधना भी न माननी चाहिये। तथा यदि आत्माको किसी भी तरहके दुःखोंकी विमुक्ति भी समाधना न हो तो फिर वेदान्त आदि धार्मिक सर्व दुःखोंसे छूटनेके जिस मार्गका उपदेश करते हैं, उसका वे किससिये उपदेश देते हैं? वेदान्त आदि दर्शन कहते हैं कि 'जबतक आत्मज्ञान न हो जबतक दुःखकी मात्पन्थिक निवृत्ति नहीं होती'—तो यदि दुःखका ही सर्वथा अभाव हो तो फिर उसकी निवृत्तिका उपाय भी क्यों करना चाहिये? तथा यदि आत्मामें कर्मका कर्तृत्व न हो तो उसे दुःखका मोक्तृत्व भी कैसे हो सकता है? यह विचार करनेसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है।

प्रश्न:—अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है और तुमने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आत्माको कर्मका कर्ता मानें तो वह आत्माका धर्म उलटता है; और जो जिसका धर्म होता है, उसका कर्म भी उल्टे नहीं हो सकता, अर्थात् वह उससे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। जैसे अग्निकी वस्त्रता और उसका प्रकाश उससे भिन्न नहीं हो सकते, इसी तरह यदि कर्मका कर्तृत्व आत्माका धर्म सिद्ध हो तो उसका नाश भी नहीं हो सकता।'।

उत्तर:—सर्व प्रमाणांशके स्वीकार किये बिना ही यह बात सिद्ध हो सकती है, परन्तु जो विचारवान होता है वह किसी एक प्रमाणांशको स्वीकार करके दूसरे प्रमाणांशका उल्टे नहीं करता। 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्व नहीं होता' और 'यदि हो तो उसकी प्रतीति नहीं हो सकती' इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें जीवको कर्मका कर्ता सिद्ध किया गया है। परन्तु आत्मा यदि कर्मका कर्ता हो तो उस कर्मका नाश ही न हो—यह कैसे सिद्ध हो नहीं है। क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुको सर्वथा एकता कैसे हो सकती है? इस कारण जीव यदि अपनेसे ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्मका त्याग करे तो वह हो सकता समय है। क्योंकि वह उसका सहाकरी स्वभाव ही है—सहज स्वभाव नहीं। तथा उस कर्मको मैंने तुम्हें अनादिक्रम भ्रम कहा है; अर्थात् उस कर्मका कर्तापन जीवको अज्ञानसे ही प्रतिपन्नित किया है; इस कारण भी वह कर्म निवृत्त हो सकता है—यह बात साधने समझनी चाहिये। जो जो भ्रम होता है, वह सब वस्तुकी उल्टी स्थितिकी मात्पन्थिकता ही होता है, और इस कारण वह निवृत्त किया जा सकता है; जैसे भ्रमररूपसे जलमुक्ति।

फलेन्द्र अग्निप्राय यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कर्तापन न हो, तो फिर कुछ भी उपदेश आदिका सबल विचार और ज्ञान आदिके समक्षनेत्र कोरे भी हेतु नहीं रहता।

अब यहाँ जीवका परमार्थसे जो कर्तापन है, उसे कहते हैं—

चेतन जो निजमानमा, कर्ता आपस्वभावात् ।

बर्से नहीं निजमानमा, कर्ता कर्मप्रभावात् ॥ ७८ ॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावेमें रहे तो वह अपने उसी स्वभावकी कर्ता है, अर्थात् वह उसी स्वभावमें स्थित रहती है; और यदि वह शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावके मानमें न रहती हो, तो वह कर्मभावकी कर्ता है ॥

अपने स्वल्पक मानमें आत्मा अपने स्वभावकी अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावकी कर्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिकी कर्ता नहीं; और जब आत्मा अपने स्वल्पके मानमें नहीं रहती, तो उसे कर्मभावकी कर्ता कहा है।

परमार्थ तो जीव निष्क्रिय ही है, ऐसा वेदान्त आदि दर्शनोका कथन है; और त्रिन-प्रवर्णमें भी सिद्ध अर्थात् ब्रह्म आत्माकी निष्क्रियताका निकषण किया है। फिर भी, यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि हमने आत्माको शुद्धात्मस्थानमें कर्ता होनेसे सक्रिय क्यों कहा? उस सन्देहकी निवृत्ति इस तरह करनी चाहिये — शुद्धात्मा, परमयोगकी परमावस्था और विभावकी कर्ता नहीं है, इसलिये वह निष्क्रिय कहा जाने योग्य है। परन्तु यदि ऐसा क्यों कि आत्मा चैतन्य आदि स्वभावकी भी कर्ता नहीं, तब तो फिर उसका कुछ स्वल्प ही नहीं रह जाता। इस कारण शुद्धात्माको योग-किया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परन्तु सामानिक चैतन्य आदि स्वभावस्वरूप किया होनेसे वह सक्रिय भी है। तथा चैतन्यस्वभाव, आत्मिक सामानिक गुण है, इस कारण उसमें एकात्मरूपसे ही आत्माका परिणमन होता है, और उससे यहाँ परमार्थनयसे भी आत्माको सक्रिय विराणन नहीं दिया जा सकता। परन्तु निज स्वभावमें परिणमनरूप किया होनेसे ब्रह्म आत्माकी निज स्वभावका कर्त्तव्य है; इस कारण उसमें सर्वथा शुद्ध स्वयं होनेसे उसका एकात्मरूपसे परिणमन होता है इसलिये उसे सक्रिय कहनेमें भी दोष नहीं है।

त्रिस विचारसे सक्रियता और निष्क्रियताका निरूपण किया है, उस विचारके परमार्थको ध्यान करके सक्रियता और निष्क्रियता कहनेमें कुछ भी दोष नहीं।

४ पाँदा—विषय वशातः—

नित्य कहा है कि जीव कर्मका मोक्ष नहीं होता —

जीव कर्मकर्ता कही, पण मोक्षा नहीं सोय।

हुं समझे अह कर्म के, फलपरिणामी होय? ॥ ७९ ॥

यदि जीवको कर्मका कर्ता मान लें तो भी जीव उस कर्मका मोक्ष नहीं छूटता। क्योंकि जब कर्म इस बातको क्या समझ सकता है कि उसमें फल देनेकी शक्ति है?

फलदाता ईश्वर गण्ये मोक्षापणु सधाय।

एव कहे ईश्वरपणु, ईश्वरपणु न जाय ॥ ८० ॥

हाँ यदि फल देनेवाले किसी ईश्वरको मानें तो मोक्षत्वको सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म मोक्षदाता है, यह मानें तो जीव कर्मका मोक्ष सिद्ध होता है। परन्तु इसमें फिर यह भी शिरोज आता है कि यदि ईश्वरको हमको फल देने आदि प्रवृत्तिपुष्ट मानें तो उसका ईश्वरत्व ही नहीं रहता ॥

ईश्वरक सिद्ध हुए बिना—कर्मके फल देने आदिमें किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—जगत्को व्यवस्थापन विना संभव नहीं है — इस संबंधमें निश्चयसे विचार करना चाहिये —

यदि ईश्वरको कर्मका फल देनेवाला मानें तो यहाँ ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहता। क्योंकि हमको फल देने आदिमें प्रवृत्ति करते हुए, ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है और हमने हमकी वषात शुद्धताका भग हाता है। जैसे कुछ और निष्क्रिय है, अर्थात् जैसे वह परमात्मा आदिकी कर्ता नहीं है; क्योंकि यदि वह परमात्मा आदिकी कर्ता हो तो फिर उसे संसारकी ही प्राप्ति हानी चाहिये;

उसी तरह यदि ईश्वर भी दूसरेको फल देने आदिरूप क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परमात्म आदिके कर्त्तव्यता प्रसंग आता है, और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसकी न्यूनता ही ठहरती है—इससे तो उसका ईश्वर ही उच्छेद करने जैसा हो जाता है।

तथा जीव और ईश्वरका स्वभाव-भेद माननेसे भी अनेक दोष आते हैं। क्योंकि यदि दोनोंको ही चैतन्य-स्वभाव मानें तब तो दोनों ही समान धर्मके कर्त्ता हुए। फिर उसमें ईश्वर तो जगत् आदिकी रचना करे अपना कर्मके फल देनेका कार्यको करे, और मुक्त जीव आत्म; तथा जीव एक मात्र देह धारि सृष्टिकी ही रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिये ईश्वरका आश्रय ले, तथा बंधनमें रह समझा जाय—यह बात पर्याय नहीं मान्य होती। यह विषयता किन्तु ठीक हो सकती है।

तथा जीवकी अपेक्षा यदि ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें, तो भी विशेष आता है। क्योंकि ईश्वरको यदि शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर शुद्ध चैतन्य मुक्त जीवमें और उसमें कोई भेद ही न होना चाहिये, और फिर ईश्वरका कर्मका फल देना आदि कार्य भी न होना चाहिये; अपना मुक्त जीवसे भी वह कार्य होना चाहिये। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर वह भी ससारी जीवोंके ही समान ठहरेगा; फिर उसमें सर्वज्ञ आदि गुण कहाँसे हो सकते हैं? अपना यदि देहधारी सर्वज्ञकी तरह उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी सब कर्मोंके फल देनेका जो विशेष स्वभाव है, वह ईश्वरमें कौनसे गुणके कारण माना जायगा? तथा देह तो विनाशक है, इस कारण ईश्वरकी देह भी नाश हो जायगी और वह मुक्त होनेपर कर्मका फल देनेका न खोजेगा, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्म-सम्बन्धता अपनेमें दोष आते हैं, और ईश्वरको उस स्वरूपसे माननेसे उसका ईश्वर ही उत्पादन करनेके सम्भन होता है।

ईश्वर सिद्ध यथा विना, जगत्-नियम नहीं होय।

पछी शुभाशुभ कर्ममां, भोग्यस्वान नहीं होय ॥ ८१ ॥

जब ऐसा प्रकृता कोई ईश्वर सिद्ध नहीं होता, तो फिर जगत्का कोई नियम भी नहीं रहता, और शुभ अशुभ कर्मके भोगनेका स्थान भी कोई नहीं ठहरता—तो जीवको फिर कर्मका मोक्षफल भी कहाँ रहा?

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि जीव अपने किये हुए कर्मको भोगता है —

भावकर्म निमग्नरूपना, यदि चैतन्यरूप ।

जीवजीवनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडभूष ॥ ८२ ॥

जीवको मात्र-कर्म अपनी प्रतिष्ठे ही है, इसलिये वह उसे चैतन्यरूप मान रहा है; और उस आदिवा अनुसरण करके ही जीवका जीव स्फुरित होता है, इस कारण वह जब इन्द्र-कर्मकी वर्णना ग्रहण करता है ॥

आशङ्कः—कर्म तो जड़ है, तो वह क्या समझ सकता है कि इस जीवको मुझे इस तरह फल देना है, अपना उस स्वरूपसे परिणाम करना है। इसलिये जीव कर्मका भोग्य नहीं हो सकता।

समाधान — जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही कर्मका कर्त्ता है। तथा 'जो अज्ञान है वह चैत-

नरूप है, यह जीवकी निम्नी कल्पना है, और उस कल्पनाके अनुसार ही उसके शीर्ष-स्वभावकी स्फूर्ति होती है, क्योंकि उसके अनुसार ही उसकी सामर्थ्यका परिणमन होता है, और इस कारण वह प्रत्यक्षरूप पुरुषकी वर्णनाको प्रमाण करता है ।

और सुधा समझे नहीं, नीर साय फल थाय ।

एम शुभाशुभ कर्मन्तु, भीक्षापुर्ण जणाय ॥ ८१ ॥

जहर और अप्रुत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव उन्हें खाता है उसे उनका फल मिळता है । इसी तरह शुभ-अशुभ कर्म पक्षी यह नहीं जानते कि हमें इस जीवको यह फल देना है, तो भी प्रहण करनेवाले जीव जहर और अप्रुतके फलकी तरह कर्मका फल प्राप्त करता है ॥

जहर और अप्रुत स्वयं यह नहीं जानते कि हमें खानेवालेको पुरुष और शीर्षायु मिळती है, परन्तु जैसे उन्हें प्रहण करनेवालेको स्वभावसे ही उनका फल मिळता है, उसी तरह जीवमें शुभ-अशुभ कर्मका परिणमन होता है, और उसका फल मिळता है । इस तरह जीव कर्मका मोक्ष समझते जात है ।

एक रांक्रमे एक रुप, ए आदि के भेद ।

कारण बिना न कार्य है, ए न शुभाशुभ भेष ॥ ८२ ॥

एक रंग है और एक रत्ना है, इत्यादि प्रकारसे नीचता, उन्नता, कुक्कुता, सुकुप्ता आदि बहुवर्ती विभिन्नतायें देखी जाती हैं, और इस प्रकारका जो भेद है वह सबको समान नहीं रहता—यही जीवको कर्मका मोक्षरूप सिद्ध करता है । क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती ॥

यदि वह शुभ-अशुभ कर्मका फल न होता हो तो एक रंग है और एक रत्ना है इत्यादि जो भेद है, वह न होता चाहिये । क्योंकि जीवत्व और मनुष्यत्व तो सबमें समान है, तो फिर सबको सुख-दुःख भी समान ही होना चाहिये । इसलिये जिसके कारण ऐसी विभिन्नतायें मात्सर्य होती हैं वही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है । क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती । इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं ।

फलदाता ईश्वरतन्वी, पर्या मयी जकर ।

कर्म स्वभावसे परिणमि, थाय भोगयी दूर ॥ ८५ ॥

इसमें फलदाता ईश्वरकी कुछ भी जरूरत नहीं है । जहर और अप्रुतकी तरह शुभाशुभ कर्मका भी स्वभावसे ही फल मिळता है; और जैसे जहर और अप्रुत निःशुद्ध हो जानेपर, फल देनेसे निवृत्त हो जाते हैं; उसी तरह शुभ-अशुभ कर्मके भोग देनेसे कर्म भी निःशुद्ध हो जानेसे निवृत्त हो जाते हैं ॥

जहर जहररूपसे फल देता है और अप्रुत अप्रुतरूपसे फल देता है । उसी तरह अशुभ कर्म अशुभ रूपसे फल देता है और शुभ कर्म शुभरूपसे फल देता है । इसलिये जीव जैसे जैसे अल्पज्ञता-पसे कर्मको ग्रहण करता है, जैसे जैसे विज्ञानरूपसे कर्म भी फल देता है । तथा जैसे जहर और अप्रुत फल देनेके बाद निःशुद्ध हो जाते हैं, उसी तरह ये कर्म भी भोगसे दूर हो जाते हैं ।

ते ते योग्य विद्येयानां, स्थानक द्रव्य स्वभाव ।

गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥ ८६ ॥

उक्त छुम अव्यवसाय उक्त छुम गति है, और उक्त अशुभ अव्यवसाय उक्त अशुभ गति है, शुभाशुभ अव्यवसाय मिश्र गति है; अर्थात् उस जीवके परिणामको ही मुख्यरूपसे गति कहा गया है । फिर भी उक्त छुम द्रव्यका उर्ध्वगमन, उक्त अशुभ द्रव्यका अधोगमन, छुम-अशुभको मध्य स्थिति, इस तरह द्रव्यका विशेष स्वभाव होता है । तथा उन उभे कारणोंसे बैठे ही योग्यस्थान भी होने चाहिये । हे शिष्य ! इसमें जब चेतनके स्वभाव संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका बहुतसा विचार समा जाता है, इसलिये यह बात गहन है, तो भी उसे अत्यंत संक्षेपमें कही है ॥

शुद्धा — यदि ईश्वर कर्मका फल देनेवाला न हो । अथवा उसे जगत्का कर्ता न मानें, तो कर्मके योगनेके विशेष स्थानक—नरक आदि गति आदि स्थान—कहाँसे हो सकते हैं ! क्योंकि उसमें तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है ।

समाधान — मुख्यरूपसे तो उक्त छुम अव्यवसाय ही उक्त देवलोका है, उक्त अशुभ अव्यवसाय ही उक्त नरक है, छुम-अशुभ अव्यवसाय ही मनुष्य-सिंघा आदि गतियाँ हैं; तथा स्थान विशेष—ऊर्ध्वलोकमें देवगति—इत्यादि जो भेद हैं, वे भी जीवके कर्मद्रव्यके परिणाम-विशेष ही हैं; अर्थात् वे सब गतियाँ जीवके कर्मके परिणाम-विशेष आदिसे ही समझ हैं ।

यह बात बहुत गहन है । क्योंकि अविनश्य जीव-वीर्य और अविनश्य पुद्गल-सामर्थ्यके संयोग-विशेषसे लोकका परिणमन होता है । उसका विचार करनेके लिये उसे अधिक विस्तारसे कहना चाहिये । परन्तु यहाँ तो मुख्यरूपसे आत्मा कर्मका भोक्ता है, इतना उल्लेख करनेका अनिवार्य होनेसे ही इस कथनको अत्यंत संक्षेपसे कहा है ।

५ श्रुति—शिष्य उवाच—

शिष्य कहता है कि जीवको उस कर्मसे मोक्ष नहीं है—

कर्ता भोक्ता जीव ही, पण तैनी नहीं मोक्ष ।

वीर्यो काल अनंत पण, वर्तमान छे होय ॥ ८७ ॥

जीव कर्ता और भोक्ता भूके ही हो, परन्तु उससे उसका मोक्ष हो सकता है, यह बात नहीं है । क्योंकि अनंतकाल बीत गया तो भी अभी जीवमें कर्म करनेरूप होय विद्यमान हैं ही ।

छुम करे फल योग्ये, देवादि गति पाय ।

अशुभ करे मरकादि फल, कर्मरहित न बर्पाय ॥ ८८ ॥

यदि जीव छुम कर्म करे तो उससे वह देव आदि गतिमें उसके छुम फलका भोग करता है, और यदि अशुभ कर्म करे तो वह नरक आदि गतिमें उसके अशुभ फलका भोग करता है, परन्तु स्थिती भी जगह जीव कर्मरहित नहीं होता ।

समाधान—सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि उस कर्मसे जीवको मोक्ष हो सकता है —

धीम शुभाशुभ कर्मपद, आर्ष्या सफळ प्रमाण ।

तैम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुत्राण ॥ ८९ ॥

जिस तरह एले जीवको धूम-अधूम कर्म करनेके कारण जीवको कर्मोंका कर्ता, और कर्ता होनेसे उसे कर्मका मोक्षा समझा है, उसी तरह उसे न करनेसे बचपा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे उसकी निवृत्ति भी होना समझ है । इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफळता है अर्थात् जिस तरह वह शुभाशुभ कर्म निष्कण्य नहीं जाता, उसी तरह उसकी निवृत्ति भी निष्कण्य नहीं जा सकती । इसलिये है निवृत्त्यण । व यह विचार कर कि उस निवृत्तिक्रम मोक्ष है ।

वीत्यो काळ अनंत है, कर्म शुभाशुभ माय ।

तैव शुभाशुभ कैवर्ता, उपमे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित जो अनंतकाळ बीत गया—वह सब शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवको आसक्तिके कारण ही बीता है । परन्तु उसपर उपासीन होनेसे उस कर्मके फलका छेदन किया जा सकता है, और उससे मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो सकता है ।

देशादि संयोगनो, आर्ष्यविक वियोग ।

सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखयोग ॥ ९१ ॥

देश आदि संयोगका अनुकूलसे वियोग तो सदा होता ही रहता है; परन्तु यदि उसका ऐसा वियोग किया जाय कि वह किरसे प्रलय न हो, तो सिद्धस्वकय मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो, और शाश्वत परम अनंत आत्मालम्ब मोहनेको मिटे ।

६ शंका—विषय उपायः—

शिराय कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है—

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय ।

कर्मों काळ अनंतता, शापी कैद्यां जाय ॥ ९२ ॥

कदाचित् मोक्ष-पद हो भी परन्तु उसके प्राप्त होनेका कोई अविरোধी अर्थात् जिससे पापतन्त्र प्रतीति हो, ऐसा कोई उपाय मध्यम नहीं होता । क्योंकि अनंतकाळके जो कर्म हैं वे जल्प आसुकी मनुष्य-हंस कैसे छेदन किये जा सकते हैं ।

अथवा मत दर्शन घना, कहे उपाय अमिक ।

तैमां मत साची कर्मां बने न पृथ विवेक ॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्य देशकी अन्य जातु गौरवणी शंका छोड़ भी दें, तो भी छद्मार्थमें अनेक मत और दर्शन हैं और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं । अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है फिर उनमें कौनसा मत सचा है, यह विवेक होना कठिन है ।

कयी आतिमां मोक्ष छे ? कया वैपमां मोक्ष ?

धनी निधय मा बन, घना भेद प दोष ॥ ९४ ॥

आसन आदि जिस जानिये मोक्ष है, अपना जिस बेपसे मोक्ष है, इसका निधय होना

कठिन है। क्योंकि ऐसे बहुतसे भेद हैं, और इस दोषके कारण भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य निर्धार नहीं देता।

तेयी एम जणाय छे, यजे न मोक्ष उपाय ।

भीषादि जाप्यातणा, सो उपकार न याय ॥ ९५ ॥

इससे ऐसा माहूम होता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो सकता है? अर्थात् जिस पदके लिये इसका जाननेकी आवश्यकता है, उस पदका उपाय प्राप्त होना असंभव दिखाई देता है।

पांच उत्तरणी यर्यु, समाधान सर्वांग ।

समस्त मास-उपाय ता, उदय उदय सद्भाग (ग्य) ॥ ९६ ॥

जानने जो पाँच उत्तर कहे हैं, उनसे मेरी शक्तियोंका सर्वांग—सम्पूर्ण रूपसे—समाधान हो गया है। परन्तु यदि मैं मोक्षका उपाय समझ लूँ तो कुछ सद्भाग्यका उदय—अति उदय—हो।

(यहाँ 'उदय' 'उदय' शब्द जो दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे होने वाली मोक्षपदकी विज्ञप्ताकी तीव्रता दिखाता है) ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि मोक्षका उपाय है—

पांच उत्तरणी यर्यु, आत्मा विषे प्रतीत ।

याधे योसोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥ ९७ ॥

जिस तरह तेरी आत्मामें पाँच उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, इसी तरह मोक्षके उपायकी भी तुझे सहज ही प्रतीति हो जायगी।

यहाँ 'होनी' और 'सहज' ये दो शब्द जो सद्गुरुन कहे हैं, वे इसलिये कहे हैं कि जिस पाँचों पदोंकी शक्ति निरूप हो गई है, उसे मोक्षका उपाय समझना कुछ भी कठिन नहीं है, तथा उससे शिष्यकी विशेष विज्ञप्ता-वृत्तिक कारण उसे अल्प मोक्षोपायका काम होगा—यह सद्गुरुके बचनका आशय है।

कर्मभाव अज्ञान छे, मासभाव निमगास ।

अपकार अज्ञान सम, मास ज्ञानमकाश ॥ ९८ ॥

जो कर्मभाव है वही जीवका अज्ञान है और जो मोक्षभाव है वही जीवका निज स्वरूपमें स्थित होना है। अज्ञानका स्वभाव अपकारके समान है। इस कारण जिस तरह प्रकाश इन्तर दीर्घकाशीन अपकार होनेपर भी नष्ट हो जाता है, उसी तरह ज्ञानका प्रकाश इन्तर अज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

अ जे कारण बंधनी, तेह बधना पय ।

त कारण छेदक द्वा, मासर्षय भवभन ॥ ९९ ॥

जो जो कर्म-बंधके कारण हैं वे सब कर्म-बंधके मार्ग हैं; और उन सब कारणोंका छेदन करनेवाली जो द्वा है वही मोक्षका मार्ग है—भवभन अर्थात् है।

उस निहाय जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह स्वर्गको दानो के
वतरी शोधमें रहता है ।

मय दर्शन आग्रह तभी, यहाँ सद्गुरुका ।

सबे छुड़ समकित है, भैया भेद न बस ॥ ११० ॥

मय और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको कष्टमें रखता है, वह इस लीला में
करता है जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है ।

यहाँ निमस्वभावजो, अनुभव सब बतौ ।

कृति रहे निमसावली, परमार्थ समकित ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव कष्ट और प्रतीति रहती है, उसका भाव-लक्षण प्रतीति
होती है वही परमार्थसे समकित होता है ।

वर्षमान समकित बई, बाडे मिथ्यावास ।

सदय बाध चारिबना, बीतरामपद बास ॥ ११२ ॥

यह समकित, कबतौ बई भारसे हास्य शोक आदि जो कुछ बाधमें स्थित रहता है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिकार चारिबना दूर होता है। मिथ्या
वास-इसके अर्थस्वरूप बीतरामपदमें स्थिति होती है ।

केवल निमस्वभावजु, अलख यहाँ जान ।

कविसे केवलज्ञान ते, दह छदा निर्माण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आकाशमें स्थित आत्म-स्वभावका अलख—जो कभी भी कृति न हो—जहाँ
माया न हो—वैरा जान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं । इस केवलज्ञानमें प्रान्त-प्रान्त
निपमल रहनेवाली ठीक-ठीक जीवमुक्त देखाकर निर्माण यहीपर अनुभवमें आता है ।

कृति वर्पनु स्पष्ट पण, जादव बदा प्रमाण ।

तेज विभाव अमाश्रिनी, जान यहाँ दूर बाध ॥ ११४ ॥

करोको कौनका लक्ष्य भी जिस तरह जागृत होनेपर मुक्त हो जाता हो अलख है, जो
जो अमाश्रिनी विभाव है वह आत्मज्ञानको होने ही दूर हो जाता है ।

एवं वैराग्यास ता, नहीं कर्ता तु कर्म ।

नहीं धौका तु तेहमी, एज पर्यनी पर्य ॥ ११५ ॥

इस विषय में देहमें जो जीवने आत्मभाव जान लिया है और उसके कारण की-पुत्र भट्टि
अवकाश-वचनभाव-रहता है वह आत्मभाव यदि आत्मभाव ही माना जाय, और जो वह है
है—देहमें आत्म-मुक्ति और आत्मभाव देहमुक्ति है—यह दूर हो जाय, ता तु कर्मका कर्ता ही
नहीं होता ही नहीं—यही पर्यन्त पर्य है ।

एज पर्यकी वीर्य ते तु छ वीराग्यका ।

अलख दयन जान तु, अलखवाप अलख ॥ ११६ ॥

बनाने सेना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यही अनुमयमें जाता है, तो इसमें फिर क्या सन्देह करना।

छांदी मत दर्शन तणी, आग्रह तेम विकल्प।

कसो मार्ग आ साधये, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें छोड़ रखना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहें जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही कृतानेके लिये किया है कि कथित वे साधन अच्छे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामसे आगमन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना समझ है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही पाए होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे ब्रह्म न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनमगबान्ने कहा है', तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आगमन करे उसकी उसी मगमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

पदपदना पदमम तें, पूछपां करी विचार।

तै पदनी सर्वांगता, मांसमार्ग निरपार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य। तुने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंसे किसी भी पदको एकतरसे अथवा अविचारसे उत्पादन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

आति बेपनो भेद नहीं, कसो मार्ग आ होय।

साध ते मुक्ति कह, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहें किसी भी आति अथवा बेपसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो बचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद—केस-कार—नहीं है।

कपायनी उपसांता, मात्र मोक्ष-अभिषाप।

मधे खेद अंतर दया, ते कहिय जिज्ञास ॥ १०८ ॥

कोय आदि कपाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आप्तोंमें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी एसा कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरंगमें प्रसिद्धिसे ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव कर्मोंको प्राप्त करने योग्य है।

तै जिज्ञासु भीजन, पाय सहस्रबोध।

तां पाये समकीर्तन, बचें अंतरलोप ॥ १०९ ॥

राग द्वय अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी प्रीय ।

पाप निवृत्ति कैहपी, ते ज योसमा पप ॥ १०० ॥

एग द्वय और अज्ञानको एकता ही कर्मकी मुख्य गौत है; इसके बिना कर्मका भव नहीं होता। उसकी निवृत्ति मिले तो वही मोक्षका मार्ग है ।

आत्मा सत चैतन्यमय, सर्वाभासरहित ।

कैसी केवल पामिये, योसपय ते रीत ॥ १०१ ॥

‘सत’—अविनाशी, ‘चैतन्यमय’—सर्वमात्रको प्रकृत्य करनेवाला स्वभावमय—अर्थात् अन्य सर्वविभाव और देख आदि के समीपके आभाससे रहित, तथा ‘केवल’—सुदृढ़—आत्मको प्रसन्न करना, उसकी प्रतिके लिये प्रवृत्ति करना, वही मोक्षका मार्ग है ।

कर्म अनंत प्रकारना, तैया मुख्य आठ ।

तैया मुख्य याहिनीय, हजाय त कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं। उसमें ही मुख्य कर्म मोक्षनीय कर्म है । जिससे वह मोक्षनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हैं ।

कर्म मोक्षनीय भेद है, दर्शन चारिष नाम ।

हमे बीय बीतरामता, अचूक उपाय आय ॥ १०३ ॥

उस मोक्षनीय कर्मके दो भेद हैं—एक दर्शनमोक्षनीय और दूसरा चारिषमोक्षनीय । परमात्मि अन्तर्यामि बुद्धि और अन्तर्यामि परमार्थबुद्धिको दर्शनमोक्षनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर अन्तर्मत्त्वमात्रमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व सत्कारक कथन और मोक्षपात्रको चारिषमोक्षनीय कहते हैं ।

आत्मबोध दर्शनमोक्षनीयका और बीतरामता चारिषमोक्षनीयका नाश करते हैं । ये उसके अचूक उपाय हैं । क्योंकि निष्कामबोध दर्शनमोक्षनीय है और उसका प्रतिपक्ष स्वयं-आत्मबोध है; तथा चारिषमोक्षनीय भी एग आत्मा परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष बीतरामता है । क्योंकि जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—वही उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और बीतरामता अन्तर्मत्त्वसे दर्शनमोक्षनीय और चारिषमोक्षनीयका अंधकारके दूर करनेमें प्रकाश रूप है; इसलिये ये उसके अचूक उपाय हैं ।

कर्मबंध औपादियी, हथ समादिक रीह ।

मरपस अनुमय सर्वमे, पर्या श्री सन्दिह ॥ १०४ ॥

बोध आदि मात्रसे कर्मबंध होता है, और अथा आदि मात्रसे उसका नाश हो जाता है । अर्थात् धर्म रत्नसे बोध होता या सकृत् या सज्जतासे माया होती या सकृत् या सज्जता है, संतोषसे क्रोध होता या सकृत् या सज्जता है । इसी तरह उति आदि आदिके प्रतिपक्षसे वे सब दोष छोड़े जा सकते हैं । वही कर्मबंधका निरोध है; और वही उसकी निवृत्ति है । तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, अर्थात् उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है । बोध आदि छोड़नेसे दूर जाते हैं, और जो कर्मके

वचने ऐकना है, यह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यही अनुमयमें आता है, तो इसमें फिर क्या सन्देह करना !

छोटी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।

कसो मार्ग आ साधण, जन्म सेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये, अथवा यह मेरा दर्शन है, इस लिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करगा, उसके अन्य ही सब बाकी समझने चाहिये ।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, यह पक्षी बतानेके लिये किया है कि कबिद् बे साधन अपूरे रहे हों अथवा उनका जन्म या मध्यम परिणामसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना समझ है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही बार होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे ब्रह्म न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनमगबान्ते कहा है', तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसकी उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

पदपदना पदमभ तें, पूछपां करी निचार ।

ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य ! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर । अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकान्तसे अथवा अनिचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता ।

जाति बेपनी भेद नहीं, कसो मार्ग जा होय ।

साध ते श्रुति छेह, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेपसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं । जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-प्राप्त हो पत्ता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें स्वतः कोई ने-केर-कार—नहीं है ।

कपायनी जपसावता, यात्र मोक्ष-अभिलाष ।

भवं सद् अंतर द्या, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

शेष आदि कपाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आप्तोंमें कबल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी सम्यक् कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उत्पत्ति-रसता रहती है, तथा अंतरंगमें मानसिक ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह और कर्मोंका प्रसन्न करने योग्य है ।

त जिज्ञासु भीजन, पाय सद्गुरुपाप ।

सो पाय समझीवने, बर्धे अतरजाप ॥ १०९ ॥

उस विद्वान् भीमको यदि सट्टरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको प्राप्ति करता है और अंतरकी शोषमें रहता है ।

मत् दर्शनमात्रं तमी, यत् सट्टरुसप्त ।

सहै शुद्ध समकित ते, भेमां यद् न पत्त ॥ ११० ॥

मत् और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सट्टरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कर्ष भी भेन और पत्त नहीं है ।

यत् निमस्वभावना, अनुमत् सप्त मतीत ।

वृत्ति वह निमभावना, परमार्य समकित ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुमत् लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रपञ्चित होती है वही परमार्यसे समकित होता है ।

यर्धमान समकित यर्ध, टाके मिष्यामास ।

उद्य वाय चारिबना, बीतरागपद् वास ॥ ११२ ॥

वह समकित बढ़ती हुई आत्मसे वास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिष्या आमास मात्र ही है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-सम्पन्निक्य चारिबका उदय होता है। जिससे समस्त राग-द्वेषके अस्वरूप बीतरागपद्में स्थिति होती है ।

केवल निमस्वभावानु, अखंड यत् ज्ञान ।

कहिये केवलज्ञान ते, देह छटा निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आत्मसे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी लुप्त न हो—मद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं । इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके निवर्तन करनेपर भी उत्पन्न बीजमुक्त दशाक्षर निर्वाण यहीपर अनुमत्में आता है ।

कोटि वर्धनुं स्वप्न पण, आग्रत यतां समाप ।

सम विभाव अनादिनो, ज्ञान यतां दूर वाय ॥ ११४ ॥

कोटियों कीकृत स्वप्न भी जिस तरह आत्म होनपर दूर हो जाता है, उसी तरह जो अनादिस्व विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है ।

पूरे देहाभ्यास तो, नहीं कर्षा तु कर्म ।

नहीं मोक्षा तु तेहनी, एव धर्मनी मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य ! देहमें जो बीजके आत्मभाव नाश किया है और उसके कारण जी-पुत्र आदि सबमें जो अहमात्र-ममत्वभाव—रहता है वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय, और जो वह देहाभ्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय, तो तु कर्मका कर्षा भी नहीं, और मोक्षा भी नहीं—यही धर्मका मर्म है ।

एव धर्मवी मोक्ष के तु के मीलनरूप ।

अमत् दर्शन ज्ञान तु, अघ्यावाप स्वरूप ॥ ११६ ॥

इसी वर्मसे मोक्ष है; और वही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है। व अनन्तज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है।

शुद्ध शुद्ध चैतन्यमय, स्वयम्भोति सुखधाम ।

बीजं कहिये केवलं ? कर विचार ता पाम ॥ ११७ ॥

व देह आदि सब पदार्थोंसे जुदा है। आत्मद्रव्य न किसी दूसरेमें मिलता है और न आत्मद्रव्यमें कोई मिलता है। परमायति एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा मिला है, इसलिये व शुद्ध है—बोध स्वरूप है—चैतन्य-अज्ञेय-शून्य है—स्वयम्भोति है—तेरा कोई भी प्रकाश नहीं करता—व स्वभावसे ही प्रकाश स्वरूप है, और अव्याबाध सुखका धाम है। अधिक कितना करें ? अधिक क्या करें ? संक्षेपमें इतना ही कहते हैं कि यदि व विचार करेगा, तो व उस पदको पावेगा।

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आदी अघ धामाय ।

परी मौनता एव करी, सहजसमाधि माय ॥ ११८ ॥

सब ज्ञानियोंका निश्चय इसीमें आकर समा जाता है—यह कहकर स्वरूप मौन धारण करके—बचन-योगकी प्रवृत्तिका त्याग करके सहज समाधिमें स्थित हो गये।

विष्य-बीषबीन-माति कयन—

सद्गुरुना उपदेशयी, आम्बु अपूर्व भान ।

निमपद निम माही सहस्रं, दूर वसुं अज्ञान ॥ ११९ ॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व—जो पूर्वमें कभी भी प्राप्त न हुआ हो—भान हुआ उसे निमका स्वरूप अपने निममें जैसाका वैसा मासित हुआ, और देहमें आत्म-मुद्रिरूप उसका अज्ञान दूर हो गया।

मात्सुं निमस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप ।

अजर अमर अविनाशी ते, देहावीत स्वरूप ॥ १२० ॥

यह अपना निमका स्वरूप शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट निम मासित हुआ।

कर्त्ता भोक्ता कर्मनी, विभाव वरें कर्पाय ।

वृत्ति वही निमभावमां, वयो अकर्त्ता स्थाय ॥ १२१ ॥

वही विभाव—विष्णुत्व—रहता है, वही मुखपनपसे कर्मका कर्त्तापन और मोक्षपन है; अहम स्वभावमें वृत्ति प्रवाहित होनेसे तो यह जीव अकर्त्ता हो जाता है।

अथवा निमपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप ।

कर्त्ता भोक्ता तैहनी, निर्विकल्पस्वरूप ॥ १२२ ॥

अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो आत्म-परिणाम है जीव उसका निर्विकल्प स्वरूपसे कर्त्ता और मोक्ष है।

मोक्ष कभी निमशुद्धता, ते पाये ते पंथ ।

समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रन्थ ॥ १२३ ॥

आत्माका जो छत्रपद है वही मोक्ष है; और जिससे वह मोक्ष प्राप्त किया जाय वह योग्य मार्ग है। श्रीसद्गुरुने हत्या करके निर्धन्यके सकल मार्गको समझाया है।

अहो ! अहो ! श्रीसद्गुरु, कृपासिंधु अपार।

आ पापपर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ॥ १२४ ॥

अहो ! अहो ! कृपाणके अपार, समुद्रमकर, आत्म-रक्षणीसे मुक्त सद्गुरु ! आप प्रभुने इस पाप पर जीवपर आत्मरक्षणक उपकार किया है।

शुं प्रभु परणकने पक ! आत्मापी सी हीन।

हे सी प्रभुप आपियो, बर्तुं परणापीन ॥ १२५ ॥

मैं प्रभुके चरणोंके सम्पर्क क्या रखूँ ? (सद्गुरु तो यद्यपि परम निष्काम हैं—एकनाश निष्कारण कृपासे ही उपदेशके देनेवाले हैं, परन्तु शिष्यने शिष्यवर्गसे ही यह वचन कहा है)। जगत्में बितनेमर पदार्थ हैं, वे सब आत्माकी अपेक्षासे तो मृत्पट्टीन ही हैं। फिर उस आत्म्यासे ही जिसने प्रान्त किया है उसके चरणोंके समीप मैं दूरी और क्या मेंट रखूँ ? मैं केवल उपचाए इतना ही करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही जागीर रहूँ।

आ दहादि आमची, बर्षो मधुभापीन।

दास दास हुं दास हुं, तैह मधुना दीन ॥ १२६ ॥

इस देह आदि धर्मसे जो कुछ भेद माना जाता है, वह आत्मसे ही—सद्गुरुप्रभुके जागीर रहे। मैं उस प्रभुका दास हूँ—दास हूँ—दीन दास हूँ।

पद स्थानक समभापीन, भिन्न बताव्यो आप।

स्थानबन्धी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥ १२७ ॥

हे सद्गुरु देव ! यह स्थानोंको समझाने, भिन्न तब कोई स्थानसे एकनाशको अलग निरुद्ध करने बताता है उसी तब आपने देह आदिसे आत्माको स्पष्ट भिन्न बताया है। इसलिये आपने भेद असीम उपकार किया है।

चपसंहार—

दुर्लभ पदे धामाय छे, आ पद स्थानक माहि।

विचारता बिस्तारपी, संक्षय रहे न कोई ॥ १२८ ॥

छाँवें दर्शन इन छह स्थानोंमें समाविष्ट हो जाते हैं। इनका विशेषणसे विचार करनेसे इतने किसी भी प्रकारका संशय नहीं रह जाता।

आत्मप्राप्तिसम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुमान।

गुरुमाहात्म्य पण्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥ १२९ ॥

आत्माको जो अपने निज स्वकाम्य मान नहीं—इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं; सद्गुरुके समान उसका कोई भी उपाय नहीं; सद्गुरुकी अत्रार्थक चर्चनेके समान दूसरा कोई भी पण्य नहीं; और विचार तथा निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई भी औषधि नहीं।

आ इच्छी परमार्थ सी, करी सत्य गुरुपार्थ।

मयस्थिति आदि नाम छह, छेदी नहीं आत्माप ॥ १३० ॥

यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो उन्हा पुरुषार्थ करो, और मयस्थिति आदिका नाम
व्यवहारका छेदन न करो ।

निश्चयबाणी सायजी, साधन तजपा नीय ।

निश्चय राखी लक्ष्मा, साधन करमा सीय ॥ १३१ ॥

अज्ञान अवस्था है, असंग है, सिद्ध है, इस निश्चय-प्रधान बाणीको सुनकर साधनको
करना योग्य नहीं । परन्तु तपास्वय निश्चयको लक्ष्ममें रखकर साधन जुटाकर उस निश्चय स्वरूप
प्राप्त करना चाहिये ।

नय निश्चय एकान्तधी, आमा नीय कहिछ ।

एकति व्यनहार नहीं, बधे साय रेहछ ॥ १३२ ॥

यहाँ एकान्तसे निश्चयनयको नहीं कहा, व्यनहा एकान्तसे व्यनहारनयको भी नहीं कहा । दोनों
यहाँ नहीं जिस जिस तरह घडते हैं, उस तरह साध रहे हैं ।

गच्छमयनी के कल्पना, ते नहीं सह्यबहार ।

मान नहीं निमकपट्ट, ते निश्चय नहीं सार ॥ १३३ ॥

गच्छ-मयकी जो कल्पना है, वह सह्यबहार नहीं; किन्तु अज्ञानार्थिक कल्पनमें जो
कही है और मोक्षके उपायमें विद्यासुखे जो लक्षण आदि कहे हैं, वही सह्यबहार है; उसे
छेदते कहा है । जीवको अपने स्वस्वका तो मान नहीं—जिस तरह देह अनुभवमें जाती है,
उस वास्तविक अनुभव तो हुआ नहीं—बल्कि दशाव्याप्त ही रहता है—और वह वैयर्थ्य आदि साध
प्राप्त किये बिना ही निश्चय निश्चय विछुटा करता है, किन्तु वह निश्चय सारमूल नहीं है ।

आगळ झानी रई गया, बर्चमानमा होय ।

याद्य काळ मविष्यमा, मार्गिद् मही कीय ॥ १३४ ॥

मृतकाळमें जो झानी-पुरुष हो गये हैं, कर्तमानकाळमें जो मौजूद हैं और मविष्यकाळमें जो
वनका किसीका भी मार्ग निश्च नहीं होता, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक ही मार्ग है; और यदि
प्राप्त करने योग्य व्यवहारको, उसी परमार्थिक साधनरूपसे देस काळ आदिके कारणमें पूर्वक
हो, तो भी वह एक ही फलके उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उसमें परमार्थसे भेद नहीं है ।

सर्व चीज छे सिद्धसम, जे समजे ते याय ।

सद्गुरुभावा मिनदया, निमित्त कारण माय ॥ १३५ ॥

सब चीजमें सिद्ध-सत्ता समान है, परन्तु वह तो उसे ही प्रगट होती है जो उसे समझता है
उसके प्रगट होनेमें सद्गुरुकी आवासे प्रवृत्ति करना चाहिये, तथा सद्गुरुसे उपदेश की बिना निमित्त-
निवार करना चाहिये—वे दोनों ही निमित्त कारण हैं ।

उपादाननुं नाम छई, ए ते तजे निमित्त ।

गोरी नहीं सिद्धकहे, ये आदिमा सियत ॥ १३६ ॥

उसके उपादान कारण है—ऐसा शास्त्रमें कहा है। इससे उपादानका नाम लेकर जो कर्त्तृ उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धांतको नहीं पा सकता, और वह भास्तिमें ही रहा करेगा। क्योंकि शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या सबसे निमित्तके निषेध करनेके लिये नहीं की। परन्तु शास्त्रकारकी कही हुई उस व्याख्याका यही परमार्थ है कि उपादानके अनामत रक्षणसे सदा निमित्त मिटनेपर भी काम न होगा, इसलिये सन्निमित्त मिटनेपर उस निमित्तका अवकाश लेकर उपादानको समुत्पन्न करना चाहिये, और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

सुस्तयी ज्ञान कथे चन, अंतर छूट्या न मोह ।

ते पामर प्राणी करै, पात्र ज्ञानीनो श्रोह ॥ १३७ ॥

जो मुझसे निश्चय-मवान बचनोंको कहता है, परन्तु अंतरसे जिसका अपना मोह छूट्य नहीं, ऐसा पामर प्राणी मात्र केवलज्ञानी कहलानेकी कामनासे ही सद्ज्ञानी पुरुषका श्रोह करता है।

दया शान्ति समता सत्य, सत्य त्याग वैराग्य ।

होय सुसुखपदविषे, पर सदाय सुभाग्य ॥ १३८ ॥

दया, शान्ति, समता सत्य त्याग, और वैराग्य गुण मुमुक्षुके चरित्रमें सदा ही प्राप्त रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके बिना तो मुमुक्षुपणा भी नहीं होता।

मोहमात्र तय होय क्या, अपना होय मर्णात ।

ते कहिये ज्ञानी दया, बाकी कहिये श्रांत ॥ १३९ ॥

जहाँ मोहमात्रका तय हो गया है, अपना जहाँ मोह-दया क्षीण हो गई हो, उसे ज्ञानीकी दया कहते हैं; और नहीं तो जिसने अपनेमें ही ज्ञान मान लिया हो वह तो केवल भास्ति ही है।

सकल जगत् ते एवम्, अपना स्वप्नसमान ।

ते कहिये ज्ञानीदया, बाकी बाचाज्ञान ॥ १४० ॥

समस्त जगत्को जिसने उच्छिष्ट समान समझा है, अपना जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके समान भास होता है, वही ज्ञानीकी दया है बाकी तो सब केवल बचन-ज्ञान—मात्र कथन ज्ञान—ही है।

स्थानक पाँच विचारीनै, छह बर्यें भेद ।

पाँच स्थानक पाँचसुं, एमां नहीं सवेह ॥ १४१ ॥

पाँचों पक्षोंका विचारकर जो छह पाँचमें प्रवृत्ति करता है—जो मोक्षके उपाय ऊपर करते हैं, उनमें प्रवृत्ति करता है—वह पाँचमें स्थानक मोक्षपदको पाता है।

देह छातां अनी दया, बर्यें देहावीत ।

ते ज्ञानीमां चरणमां, हो बंदन अगणित ॥ १४२ ॥

जिसे पूर्व प्रारम्भके योगसे देह रहनेपर भी जिसकी दया उस देहसे अतीत—देह आदिकी कल्पनाविहित—अग्रगण्य रहती है, उस ज्ञानी-पुरुषके चरण-कमलमें अगणित बार बंदन हो। बंदन हो।

जीसहुचरणार्पणमस्तु ।

६६१

जीवको जन्मके मुख्य दो हेतु हैं—रग और द्वेष ।

रगके अभावसे द्वेषका अभाव होता है !

रग मुख्य है ।

रगके कारण ही आत्मा सयोगमें तन्मय रहती है ।

यही मुख्यरूपसे कर्म है ।

ज्यों ज्यों रग-द्वेष मद्ध होते हैं त्यों त्यों कर्म-बन्ध भी मद्ध होता है; और ज्यों ज्यों रग-द्वेष तीव्र होते हैं त्यों त्यों कर्मबन्ध भी तीव्र होता है । जहाँ रग-द्वेषका अभाव है वहाँ कर्मबन्धका सांख्यिक अभाव है ।

रग-द्वेष होनेका मुख्य कारण मिथ्यात्व—असम्पूर्णदर्शन है ।

सम्पूर्णज्ञानसे सम्पूर्णदर्शन होता है, उससे असम्पूर्णदर्शनकी निवृत्ति होती है । उस जीवको सम्पूर्ण-व्यक्ति प्रगट होता है । यही नीतरगादशा है ।

सम्पूर्ण नीतरगादशा जिसे खती है, उसे हम चरमशरीरी मानते हैं ।

६६२

* बंधविहाण विमुक्तं, बन्धिम सिरिचक्षमाणजिणचंदं ॥

× सिरिचीरिणिर्गं बन्धिम, कम्मविहारं समासमो वुच्छ ।

कीरई जिण्ण इच्छिं, जेणं तो मण्णए कम्मं ॥

+ कम्मद्वब्धिं सपं, संजोगा ओ हीई जीवस्स ।

सो बंधो नायम्भो, तस्स विवोगो मय मोक्खमी ॥

६६३ नक्षिपाद, आसोम वदी १० शनि १९५२

(१)

१ श्रीसद्गुरुदेवके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है ।

२ इसका साप एकात्ममें अवगाहन करनेके छिमे आत्मसिद्धिशास्त्र भेजा है । यह हाथमें श्री— को अवगाहन करने योग्य है ।

३ श्री —अथवा श्री की यदि मिश्रणमय विचारनेकी इच्छा हो ता आचार्य, सूर्य-गङ्गा, दशवक्त्रिका, उत्तराश्विन और प्रद्युम्नाकरण विचार करने योग्य हैं ।

* यह सम्पूर्ण यात्रा निम्नरूपसे है—

बंधविहाणविमुक्तं बन्धिम सिरिचक्षमाणजिणचंदं । यहमार्गं वुच्छं समालभो बंधविहं ॥

अथवा कर्म-बंधकी रज्जासे बद्ध जीवबंधमयजिनको समस्कार करके यदि आविर्भाव मोक्ष मार्गचामोदारा संतुलने वैचल्यमयको कहेंगे ।

× भीतीरभिनको समस्कार करके संतुलने कर्मविहाण नामक प्रथमको कहेंगे । ये भीयसे किसी देवद्वारा किया जाता है, उसे कर्म करते हैं ।

+ अर्पके छिमे देवो जेक ६९० ।

जहाँ सम्पूर्णरूपसहित विषयारम्भकी निवृत्ति—राग द्वेषका अभाव—हो जाता है, वहाँ समाधि का स्तुपाय जो सुखावरण है वह प्रकट होता है ॥ ५ ॥

जहाँ इन तीनोंके अविज्ञ स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

जीव अतीव परार्थ, तथा पुण्य, पाप आश्रय, बंध, संहर, निर्धन ये साठ तत्त्व मिश्रकर जी पदार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

जीव अतीवसे इन नीं तत्त्वोंका समावेश हो जाता है। वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान् मुनिपणोंने इन्हें विषय भिन्न प्रकटित किया है ॥ ८ ॥

६६९ ब्रह्मणीया कर्तिक बनी २ श्रुत १९५१

ज्ञानिपोंने मनुष्यमनको चित्तमणि उनके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समझमें आनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यमनका एक एक समय भी चित्तमणि समझमें परम माहर्ष्यवान और मूयवान माहूम होता है। तथा यदि वह मनुष्यमन देहात्मै ही स्थित हो गया तो वह एक कृती कौटुकी की कौमत्तका भी नहीं यह निस्सन्देह माहूम होता है।

६७० ब्रह्मणीया कर्तिक बनी १५ श्रुत १९५१

ॐ सर्वज्ञाप नमः

अवतक देहका और प्रारम्भका उदय बह्मन हो तबतक देहसंबंधी कुटुम्बके—विसका मरण पोषण करनेका संभव न छूट सकनेवाला हो अर्थात् गृहवासपर्यंत विसका मरण-पोषण करना उचित हो—यदि मरण-पोषण मात्र मिळता हो, तो उसमें मुमुक्षु जीव संतोष करके अहमहितका ही विचार और पुरुषार्थ करता है। वह देह और देहसंबंधी कुटुम्बके माहात्म्य आदिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामरूपक सृष्टिको भी नहीं होने देता। क्योंकि वे परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि ऐसे कार्य हैं कि वे बहुत करके अहमहितके अक्षरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

६७१ ब्रह्मणीया मगसिर सुदी १ राति १९५१

ॐ सर्वज्ञाप नमः

अन्य भागु अनियत प्राप्ति असीम—बह्मन—अक्षरसंग प्राप्य करके पूर्वकी अमात्मकता, बह्मवीर्यकी हीनता—इन कारणोंसे रहित जहाँ कोई विरक्त हो जीव होगा ऐसे इस काकमे पूर्वमें कभी भी न जन्मा हुआ प्रतीति न किया हुआ आराधन न किया हुआ और स्वभावसे अक्षर ऐसा मार्ग प्राप्त

विषयार्थ निवृत्ति एतदेवमेव अथापि वर्यं वाच । तद्विषयमन्यथा च स्तुतिस्तथा च ॥ ५ ॥
 अने अतिव स्वभावे वरिष्यी अहमत्वरूप वर्यं वाच । पूर्व परमार्थप्राप्ति विरचनपी त्वां अहम्य मुनिराव ॥ ६ ॥
 अने अतीव परार्थ, पुण्य पाप आश्रय तथा बंध । संहर निर्धन योग तत्त्व वर्यं मय वर्यार्थ संहर ॥ ७ ॥
 अने असीम भेदेसे नये वर्यने। तत्त्वदेव वाच । अन्त विचार विवेचि विषय प्रतीत्या अहम कुनितव ॥ ८ ॥

करना कठिन हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। फिर भी जिसने एक उसे ही प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई भी उपाय नहीं रक्खा, वह इस कार्यमें भी अक्षय ही उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षु जीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

६७२ ब्रह्मणीया मगसिर सु० ६ गुरु १९५३

श्रीमत्पुरुषार्थकी देहके छुट जानेके समाचार मालूम हुए।

सर्व देहधारी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। जिसने मात्र उस देहका प्रपन्नते ही यथार्थ स्वरूप जानकर उसका ममत्व मष्ट कर, निज-स्विरताको अपना ज्ञानिके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको पा लिया है, वही जीव उस मरण-समयमें शरणसहित होकर प्रायः फिरसे देह धारण नहीं करता, अपना मरणकालमें देहका ममत्वभावकी अस्पष्टता होनेसे भी वह निर्मय रहता है। देहके छुटनेका समय अनियत है, इसलिये विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहिले ही उसके ममत्वके निवृत्त करनेके अविरोधी उपायोंका साधन करते हैं। और इसीका तुम्हें और हमें सबको उक्त रक्खना चाहिये। यद्यपि प्राप्ति-बन्धनसे भेद होना समझ है, परन्तु इसमें अन्य कोई उपाय न होनेसे, उस क्षेत्रको वैराग्यस्वरूपमें परिणमन करना ही विचारवानका कर्तव्य है।

६७३ ब्रह्मणीया मगसिर सु० १० सोम १०५३

सर्वज्ञाय नमः

योगवासिष्ठके आदिके दो प्रकरण, पक्षीकरण, दम्भबोध तथा विचारसागर ये ग्रंथ तुम्हें विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी ग्रंथको यदि तुमने पहिले बौद्धा हा तो भी उन्हें फिरसे बौधना और विचारना योग्य है। ५ ग्रंथ जैन-पद्धतिके नहीं हैं, वह जानकर उन ग्रंथोंका विचार करत हुए ध्यान करना उचित नहीं।

लौकिक दृष्टिमें जो जो बातें लज्जा वस्तुयें—जैसे शोमायुक्त गृह भाषि आराम, अजकर भाषि परिष्कृत, लोक-दृष्टिको विचक्षणता, साकाम्य धर्मकी भ्रष्टा-वर्णनकी मानी जाती हैं उन सब बातों और वस्तुओंका प्रहण करना प्रत्यक्ष जहरका ही प्रहण करना है, इस बातको यथार्थ समझ बिना ही तुम उन्हें कारण करते हो इससे उस वृत्तिका उक्त नहीं होता। आरंभमें उन बातों और वस्तुओंका प्रणि जहर-दृष्टि जाना कठिन समझकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना ही उचित है।

६७४ ब्रह्मणीया मगसिर सु० १२, १०५३

सर्वज्ञाय नमः

१. अमसिद्धिकी टीकाके पृष्ठ मिष्ट हैं।

२. यदि सकलजात मार्ग समझमें आ जाय तब इस मनुष्य-देहका एक एक समय भी सुखोत्पत्ति विनाश है, इसमें संशय नहीं।

४ श्री -- "हात आत्मसिद्धिशास्त्रका आगे पञ्चम अङ्गगाहन करना विशेष हितकारी बातकर, उसे हाथमें मात्र श्री को ही अङ्गगाहन करनेके किये सिखा है। तो श्री करि श्री -- "कौ हाथमें विशेष आकर्षण रखती हो तो उन्हें श्री 'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समान भेद किसीने भी परम उपकार नहीं किया,' ऐसा अक्षर निश्चय आत्मामें काकर, और 'इस देहके नित्य जीवनमें श्री यदि मैं उस अक्षर निश्चयको छोड़ दूँ तो मैंने आत्मार्थ ही त्याग दिया, और सबे उपकारके उपकारके विमरण करनेका दोष किया, ऐसा ही मानूँगा और नित्य सत्पुरुषकी आज्ञामें रहनेमें ही आत्मका कल्याण है'—इस तरह मित्रभावसे रहित, कोकसुनेकी अन्य सब प्रकारकी कल्पना छोड़कर, निश्चय करकर, श्री -- "मुनिके साथमें इस प्रत्यक्ष अङ्गगाहन करनेमें हाथमें श्री बाधा नहीं है। उससे बहुतसी शक्योंका समाधान हो सकेगा।

(२)

सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेका जिसका यह निश्चय रहता है, और जो उस निश्चयकी आराधना करता है, उसे ही हान सम्पत् प्रकाशसे फलीभूत होता है—यह बात आत्मार्थी जीवनको अक्षय उज्ज्वल रहना योग्य है। हमने जो यह बचन सिखा है, उसके सर्व हानी-पुरुष सक्षी हैं।

जिस प्रकारसे दूसरे मुनियोंको भी वैश्य उपस्रम और विवेककी इच्छा हो, उस उस प्रकारसे श्री -- तथा श्री -- को उन्हें यथाशक्ति सुनाना और आचरण करना योग्य है। इसी तरह अन्य जीव भी आत्मार्थके समुक्त हों, हानी-पुरुषकी आज्ञाके निश्चयको प्राप्त करें, विरक्त परिणामको प्राप्त करें, तथा रस आदिकी सुखता में करें, इत्यादि प्रकारसे एक आत्मार्थके किये ही उपदेश करना योग्य है।

(३)

अनंतकर देहके किये आत्मको व्यतीत किया है। जो देह आत्मार्थके किये व्यतीत की आत्मी, उस देहको आत्म-विचार पाने योग्य समझकर सर्व देहार्थकी कल्पना छोड़कर एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपपान करना योग्य है, यह निश्चय मुमुक्षु जीवको अक्षय करना चाहिये। श्रीसहजसम्पत्

६६४ नवियार, आश्विन वदी १२ सोम १९५२

शिरःपत्र दीप्तिशाली !

व्यसि इस ओर जानेमें केवल एक निश्चितता ही होता है; कुछ शरीरकी बाधासे इस ओर जाना नहीं हुआ है। आपकी कृपासे शरीर स्वस्थ है। वन्धनमें रोगके उपश्रवणके कारण आपकी तथा रोगीकर भर्त्सना आज्ञा होनेसे इस ओर विशेष स्थिरता की है, और उस स्थिरतामें आत्मको विशेष निश्चित रहती है।

हाथमें वन्धनमें रोगकी बहुत शक्ति हो गई है। सम्पूर्ण शक्ति हो जानेपर उस ओर जानेका निश्चय है, और यहाँ जानेके पश्चात् बहुत करके भाई मनसुक्तकी आपकी तरफ पोने समये के किये मेजनेकी इच्छा है, जिससे मेरी मातेशरीरके गलको भी अक्षय होगी।

आत्मके प्रतापसे ऐसा पैदा करनेका तो बहुत करके योग्य नहीं है, किन्तु आत्मके परम कल्याण करनेकी ही इच्छा है। मेरी मातेशरीरकी पायध्यान पहुँचे। बाकि उपपन्नका दृष्टवत्।

६६५ नवियार आश्विन वदी १५ १९५२

जो हान यहाँ निश्चितता होता है यह हान अनभिज्ञता कीवले हाथमें जानेसे प्राप्त उसे बहिष्करी होकर दूर देता है।

३०वाँ वर्ष

६६६ वषाणीभा, कार्तिक सुदी १० शनि १९५३

मातेस्वरुको उतर आ जानेसे, तथा कुछ समयसे यहाँ आनेके संबंधमें उनकी विशेष आकांक्षा है, गत सोमवारको यहाँसे आया मिलनेसे, नवियादसे मंगलवारको खाना हुआ था। यहाँ भवारकी दुपहरका खाना हुआ है।

जब शरीरमें वेदनीयका असाधारणसे परिणमन हुआ हो, उस समय विचारवान पुरुष शरीरके स्वभावका विचार कर, उस शरीर और शरीरके साथ संबंधसे प्राप्त की पुत्र आदि मोह देते हैं, अपना मोहके मद करनेमें प्रवृत्ति करते हैं।

आत्मसिद्धिशास्त्रका विशेष विचार करना चाहिये।

६६७ वषाणीभा, कार्तिक सुदी ११ रवि १९५३

अवतक जीव लोक-छटिका कमन न करे और उसमेंसे अवृत्ति न छूट जाय, तबतक जीव छटिका माहस्य जगमें नहीं आ सकता, इसमें संशय नहीं।

६६८

वषाणीभा, कार्तिक १९५३

ॐ

परमपद पथ अथवा बीतराग दर्शन

गीति

जिस प्रकार परम बीतरागने परमपदके पथका उपदेश किया है, उसका अनुसरण कर, उस पथको मक्ति-रूपसे प्रणाम करके, उस पथको यहाँ करेंगे ॥ १ ॥

पूर्ण सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य ये परमपदके मूल कारण हैं। जहाँ ये दोनों एक स्वभावसे परिणमन करते हैं, वहाँ छुट्ट परिपूर्ण समाधि होती है ॥ २ ॥

मुनित्र सर्वज्ञान जिस प्रकार अह और चेतन भावोंका अलोकन किया है, वैसी अंतर आस्था प्रगट होनेपर तबजाने उसे दर्शन कहा है ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रमाणपूर्वक उन सब भावोंका ज्ञानमें भासित होनेको सम्यग्ज्ञान कहा गया है। वहाँ संशय विभ्रम और मोहका नाश हो जाता है ॥ ४ ॥

३१८

पंच परमपद बोधो, वेह प्रमाण परम बीतराग ॥ ये अनुसरि करीछ प्रयमीने ते प्रथु यदि रागे ॥ १ ॥

मूल परमपद कारण सम्यग्ज्ञान ज्ञान कारण रूप ॥ प्रथमे एक स्वभाव छुट्ट समाधि रूप परिपूर्ण ॥ २ ॥

वे चेतन अह भावों अलोकन ते मुनित्र तबहि ॥ ऐसी अंतर आस्था प्रगटये दर्शन क्युं ते तबहि ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रमाणपूर्वक ते ते भावों ज्ञान भिते मांते ॥ तबतक क्युं ते संशय विभ्रम मोह रक्षो नाते ॥ ४ ॥

॥ इत विवरकी ३१ वा ५ शीतिनी थीं ॥ काफीकी करी छुट्ट गई हैं ॥ यहाँ कुछ आठ शीतिनी ही गई हैं ॥

—अनुसारक

वहाँ सम्पत्सहितसहित विषयारमकी निवृत्ति—राम-द्वेषका अभाव—हो जाता है, वहाँ समानिका सुदुपाय जो सुदुपाय है वह प्रकट होता है ॥ ५ ॥

वहाँ इन तीनोंके अधिन स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चये अनन्य सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

जीव अजीव पदार्थ, तथा पुण्य, पाप, आत्मन, वच, सुख निर्नरा ये सात तत्त्व मिळकर मौ फार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

जीव अजीवमें इन नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है। वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान् मुनिप्राज्ञोंने इन्हें मिश्र मिल प्रकटित किया है ॥ ८ ॥

६६९ व्याप्तीया, कार्तिक वरी २ श्रुक १९५१

ज्ञानियोंने मनुष्यमनको चित्तमणि रत्नके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समझमें आनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यमनका एक एक समय भी चित्तमणि रत्नसे परम माहत्म्यवान और मूर्खवान मान्य होता है। तथा यदि वह मनुष्यमन देशार्थमें ही व्यतीत हो गया, तो वह एक छूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं यह निस्सन्देह मान्य होता है।

६७० व्याप्तीया कार्तिक वरी १५ श्रुक १९५१

ॐ सर्वज्ञाय नमः

वस्तुतः देहका और प्रारम्भका उदय बलवान हो तबतक देहसंरक्षी कुटुम्बको—विसृष्ट मरण पोषण करनेका स्वयं न छूट सकनेवाला हो अर्थात् गृहवासपर्यंत विसृष्ट मरण-पोषण करना उचित हो—यदि मरण-पोषण मात्र मिळता हो तो उसमें मुमुक्षु जीव सतोष करके अग्रहीतका ही विचार और पुरुषार्थ करता है। वह देह और देहसंरक्षी कुटुम्बके महात्म्य आदिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृतिकी भी नहीं होने देता। क्योंकि वे परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि ऐसे कार्य हैं कि वे बहुत करके अग्रहीतके अन्तरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

६७१ व्याप्तीया गीगसिर सुदी १ धनि १९५१

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अन्य आत्मा अनियत प्राप्ति अतीत—वस्तुतः—आत्म-कारके पूर्वकी अनाद्यपकता बलवीर्यकी होना—इन कारणोंसे रहित वहाँ कोई विरक्त ही जीव होगा ऐसे इस कष्टमें पूर्वमें कमी भी न आना हुआ प्रतीति न किया हुआ आत्मपन्न न किया हुआ और स्वभावसे असिद्ध ऐसा मार्ग प्रष्ट

विषयमें निवृत्ति सगुणको अग्रह वहाँ पाव। अहित तत्त्वचर्चन छात्रावरण त्वा तन्मपि उदुपाय ॥ ५ ॥
जने अग्रह स्वयंसे परिणमी आत्मस्वरूप वहाँ पाव। पूर्ण परमपदप्राप्ति निश्चयपी त्वा अनन्य सुखदाय ॥ ६ ॥
जीव अजीव पदार्थों पुण्य पाप आत्मन तथा वच। सुख निर्नरा योऽहं तत्त्व कदा नव पदार्थ संवेद ॥ ७ ॥
जीव अजीव लिये ठे नये तत्त्वको समवेत थाव। कलु विचार विशेष, मिश्र प्रतीत्या महान् मुनिपव ॥ ८ ॥

हाना कटित हो तो इसमें कुछ लाभार्थ नहीं है। फिर भी जिसने एक उसे ही प्राप्त करनेके सिवाय इस कार्य में कुछ नहीं रखा, वह इस कालमें भी अवश्य ही उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षु जीव औक्तिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

६७२ ब्रह्मगीता भगविर सुगी ९ गुरु १०५३

धीनगोकुलप्रकृति देहके छूट जानेके समाचार मासूम हुए।

सर्व देहपापी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। जिसने मात्र उस देहका प्रथमसे ही यथार्थ स्वरूप जानकर उसका ममत्व गृह्य कर, निज-स्विरताको अथवा हानिके मार्गको यथार्थ प्रतीतिको पा लिया है, वही जीव उस मरण-समयमें शरणरहित होकर प्राप्त निरसे देह धारण नहीं करता अथवा मरणकालमें देहके ममत्वमात्रकी अस्पृष्टता होनेसे भी वह निर्मय रहता है। देहके छूटनेका समय अनियत है, इसलिये विचारवान पुरुष जप्रम्यान्मात्रसं पहिच्छे ही उसका ममत्वके निवृत्त करनेके अविरोधी उपायोंका साधन करते हैं। और इसीका तुम्हें और हमें सबका उद्धार रचना चाहिये। यथार्थ प्राप्ति-वचनसे केन्द्र होना समझ है, परन्तु इसमें अन्य कोई उपाय न होनेसे, उस केन्द्रकी वैराग्यव्यवस्थामें परिणमन करना ही विचारवानका कर्तव्य है।

६७३ ब्रह्मगीता भगविर सुगी १० सोम १०५३

सर्वज्ञाप नमः

योगवासिष्ठक आदिके दो प्रकरण, पञ्चकरण, दसबोध तथा विचारसागर ये ग्रंथ तुम्हें विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी ग्रंथको यदि तुमने पहिछे बाँचा हो तो भी उन्हें निरसे बाँचना और विचारना योग्य है। ये ग्रंथ जैन पद्धतिके नहीं हैं, वह जानकर उन ग्रंथोंका विचार करते हुए धाम प्राप्त करना उचित नहीं।

आकिक दृष्टिमें जा जो बातें अथवा वस्तुयें—वैश्वे शोभायुक्त गृह आदि आराम अवकाश आदि परिग्रह, छोक-छटिकी विचक्षणता, लोकमन्य धर्मकी प्रदा-बहान्मकी मानी जाती हैं उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष बहिरका ही ग्रहण करना है। इस बातको यथाप्य समझे बिना ही तुम उन्हें धारण करते हो, इससे उस वृत्तिका उत्पन्न नहीं होता। आराममें उन बातों और वस्तुओंके प्रति बह-दृष्टि धाना कटित समझकर कायर न होने हुए पुरुषापा करना ही उचित है।

६७४ ब्रह्मगीता भगविर सुगी १०, १०५३

सर्वज्ञाप नमः

१ आमसिद्धिकी टीकाके पृष्ठ मिल है।

२ यदि सरङ्गाका मार्ग समझमें आ जाय तो इस मनुष्यदेहका पञ्च पञ्च समय भी सुगोचर विद्यमान है, हमने समझ नहीं।

६७५

कषाणीजा, मंगसिर सुदी १२, १९५१

सर्वसा-परिष्कारके प्रति वृत्ति तथा रूप छत्र रखनेपर भी जिस मुमुक्षुको प्रारम्भविरोधसे उस योगका अनुदय रहा करता है, और मुमुक्षु आदिके प्रसंग तथा आध्यात्मिका आदिके कारण जिसको प्रवृत्ति रहती है—जो स्वात्मपूर्णक करनी पड़ती है, परन्तु उसे त्यागके उदयको प्रतिबंधक समझकर जो उसे केन्द्रपूर्ण ही करता है, ऐसे मुमुक्षुको यह विचारकर कि पूर्वोपायित सुभाष्यम कर्मानुसार ही आध्यात्मिका आदि प्राप्त होगी, मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना ही उचित है; किन्तु भयसे अकुल होकर विता अपना स्वात्मका त्याग करना उचित नहीं क्योंकि वह तो केवल व्यामोह है।

श्रुत-अश्रुत प्रारम्भके अनुसार प्राप्ति ही होती है। प्रयत्न तो केवल व्यावहारिक निमित्त है, इसलिये उसे करना उचित है, परन्तु विता तो मात्र आत्म-गुणका निरोध करनेवाली है, इसलिये उसका शान्त करना ही योग्य है।

६७६

कषाणीजा, मंगसिर कदी ११ पुष १९५१

आरम तथा परिष्कारकी प्रवृत्ति आरम्भितको अनेक प्रकारसे रोकनेवाली है क्योंकि सत्समागमके योगमें एक विशेष अस्तित्वका कारण समझकर ज्ञानी-मुकुटने उसके त्यागकासे बाध समझ उपदेश किया है जो प्रायः तुम्हें प्राप्त है। तथा तुम यद्यपि मात्र-संपन्नकी विद्याससे प्रवृत्ति करते हो, इसलिये अमूल्य अस्तर प्राप्त हुआ समझ कर सत्पुरुषोंके वचनोंकी अनुपेक्षाश्रय, सत्शास्त्र अप्रतिबंधता और चित्तकी एकप्रतापके सत्त्व करना उचित है।

६७७

कषाणीजा, मंगसिर कदी ११ पुष १९५१

वैराग्य और उपशमको विशेष कक्षालके लिये माननाशेष, योगसाधितके आदिके दो प्रकरण, पंचांगरूप ह्यादि सर्वोक्त विचारना योग्य है।

जीवमें प्रमाद विरोध है इसलिये आध्यात्मिके कार्यमें जीवको नियमित होकर भी उस प्रमादको दूर करना चाहिये—अवश्य दूर करना चाहिये।

६७८

कषाणीजा वीच सुदी १ भीम १९५१

विषम मात्रके निमित्तोंके वक्षानकरसे प्राप्त होनेपर भी जो ज्ञानी-मुकुट अविषम उपयोगसे रहे हैं, रहते हैं और भविष्यमें रहेंगे उन सबको बारम्बार समझाता है।

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नत उत्कृष्टसे उत्कृष्ट तप उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट कर्म, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट वैराग्य—ये जिसमें उत्कृष्ट ही समा जाते हैं ऐसे निरोध अविषम उपयोगको समझाता है। यही प्यास है।

६७९

कषाणीजा वीच सुदी ११ पुष १९५१

उप-देवके प्रत्यक्ष वक्षान निमित्तोंके प्राप्त होनेपर भी जिसका अस्ममात् किंचिद्मात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता, उस ज्ञानीके ज्ञानका विचार करनेसे भी महा निर्वृत्ति होती है, इसमें संशय नहीं।

६८० क्वाणीबा, पोप नदी ४ सुक्र १९५३

आरंभ और परिग्रहका इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो वह आत्म-कामको विशेष घातक है, और आत्मकार अस्थिर और अप्रशस्त परिणामका हेतु है, इसमें तो संशय नहीं। परन्तु नहीं अनिष्टप्रसे भी उदयके किसी योगसे वह प्रसंग रहता हो नहीं भी आत्मभावकी उत्कृष्टताको बाधक और आत्म स्थिरताको अतप्य करनेवाले उस आरंभ-परिग्रहका प्रायः प्रसंग होता है। इसलिये परम इच्छा दुर्लभ-पुरुषोंने त्यागमार्गका जो उपदेश दिया है, वह सुमुमुक्षु जीवको एकेशसे और सर्वदेशसे अनुकरण करने योग्य है।

६८१ मोरबी, माघ सुदी ९ सुक्र १९५३

इससे, दोस्तों, काखों और भावों—इन चार तरहसे, आत्मभावसे प्रवृत्ति करनेवाले निर्मन्यको जो अप्रतिबंधभाव कहा है—वह विशेष अनुप्रेक्षण करने योग्य है।

६८२ मोरबी, माघ सुदी ९ सुक्र १९५३

(१) कोई पुरुष स्वयं ही विशेष सदाचारमें और समयमें प्रवृत्ति करता हो, तो उसके समागममें आनेकी इच्छा करनेवाले जीवोंको, उस पद्धतिके अवलोकनसे वैसा सदाचार तथा समयका काम होता है, वैसा काम प्रायः करके विस्तृत उपदेशसे भी नहीं होता, यह क्लृप्तमें रखना योग्य है।

(२) आत्मसिद्धिका विचार करनेसे क्या कुछ आत्मासंबंधी अनुप्रेक्षा रहती है या नहीं?

(३) परमार्थ-दृष्टि-पुरुषको अवश्य करने योग्य ऐसे समागमके काममें विकल्परूप अंतप्य कर्तव्य नहीं है। सर्वज्ञान मम।

६८३ मोरबी, माघ वृषी ४ रवि १९५३

(१) संस्कृतका परिचय न हो तो करना।

(२) जिस तरह अन्य सुमुमुक्षु जीवोंके चित्तमें और अंगमें निर्मल भावकी दृष्टि हो, उस तरह प्रवृत्ति करना चाहिये। जिस तरह निषमिंत अरण किया जाय, और यह बात चित्तमें दृढ़ हो जाय कि आत्म-परिग्रहके स्वल्पको सम्यक् प्रकारसे समझनेसे निवृत्ति और निर्मलताके बहुतसे प्रतिबंधक मौजूद हैं, तथा उस तरह परस्पर ज्ञानकथा हो वैसा करना चाहिये।

६८४ मोरबी, माघ वृषी ४ रवि १९५३

(१) * सकल संसारी इन्द्रियरागी, मुनि गुण आतमरागी है।

मुख्यपणे के आतमरागी, वे कहिय निष्कामी हैं॥

* एक संसारी और इन्द्रिय सुखमें ही रम्य करनेवाले होते हैं और केवल मुनिजन ही आत्ममग्न हैं। जो हृत्पथसे आत्ममग्न होते हैं, उन्हें ही निष्कामी कहा जाय।

अध्यस्ताय — ज्ञेया-परिणामको कुछ स्वरूपसे प्रवृत्ति ।

सक्त्य — प्रवृत्ति करनेका कुछ निर्धारित अध्यस्ताय ।

निरस्त्य — प्रवृत्ति करनेका कुछ अपूर्ण, अनिर्धारित, संवेदरमक अध्यस्ताय ।

सदा — ज्ञानो पीछेकी कुछ विशेष वित्तवगद्यति अथवा सृष्टि ।

परिणाम — अन्तर्गत प्रवृत्ति स्वभावकी तरह प्रवृत्तिकी कथयित् अन्तर्गत पानेकी जो शक्ति है उस अन्तर्गतकी विशेष भाव — वह परिणाम ।

अज्ञान — निष्पत्तिपरिणाम गतिज्ञान तथा अज्ञान ।

विभक्तज्ञान — निष्पत्तिपरिणाम अज्ञानिज्ञान ।

विज्ञान — कुछ विशेष ज्ञान ।

(२)

अज्ञान चैतन्य

अज्ञान चैतन्य अज्ञान चैतन्य

अज्ञानको प्रतीति — सम्प्रदर्शन

अज्ञानपरिणाम

ज्ञानकी सीमा कौनसी है ?

निर्गुण ज्ञानकी क्या स्थिति है ?

क्या अज्ञान पर्याप्तसे पठता है ?

अज्ञान और अध्ययन ।

उ० अ०

(१)

अज्ञानमार्ग

१ अज्ञान-सम्प्रदाय

२ अज्ञान अज्ञान आकाश अज्ञान

३ अज्ञान

४ अज्ञान अज्ञान अज्ञान

५. उस उस अज्ञानमें भारत आनीकी स्थिति, अनुपपत्ति अज्ञान आदिका प्रमाण ।

६ अज्ञान निर्गुण

७ दो अज्ञानके बीच — अज्ञान और अज्ञान

८ पारिणामिक भावसे अज्ञान अज्ञान

९. अज्ञान और समय — अज्ञान कुछ व्यावहारिक पारिणामिक अज्ञान

१० अज्ञान-अनुपपत्ति अज्ञान अज्ञान

११ अज्ञान-अनुपपत्ति अज्ञान

१२ अज्ञान अज्ञान और अज्ञान अज्ञानकी अज्ञान

१३ प्रदेशका सुकोश-विकास

१४ उससे घनत्व या सूक्ष्मत्व

१५ अस्पर्शगति

१६ एक ही समयमें यहाँ और सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकल-गमन

१७ सिद्धसबधी अवगाह

१८ जीवकी तथा द्रव्य पदार्थकी अपेक्षासे अवधि मन-पर्यव और केवलज्ञानकी कुछ

व्यावहारिक पारमार्थिक व्याख्या

‘उसी प्रकारसे मति-सुतकी भी व्याख्या’

१९ केवलज्ञानकी कोई अन्य व्याख्या

२० क्षेत्रप्रमाणकी कोई अन्य व्याख्या

२१ समस्त विषयका एक अद्वैततत्त्वपर विचार

२२ केवलज्ञानके बिना किसी अन्य ज्ञानसे जीवके स्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे प्रमाण

२३ विमात्रका उपादान कारण

२४ तथा उसका समामानके योग्य कोई प्रकार

२५ इस काष्ठमें दस बोझोंके व्याघ्रच्छेद होनेका कोई अन्य रहस्य

२६ केवलज्ञानके दो भेद — जीवभूत केवलज्ञान और सम्पूर्ण केवलज्ञान

२७ दीर्घ आदि अज्ञमाक गुणोंमें चेतनता

२८ ज्ञानसे आत्माकी भिन्नता

२९ वर्तमानकाष्ठमें जीवके स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य भेद

३० उनमें भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य भेद

३१ अतिशयका स्वरूप

३२ (बहुतरासी) कम्बियों ऐसी मानी जाती हैं जो अद्वैततत्त्व ध्यानसे सिद्ध होती हैं

३३ ज्ञेय-दर्शनका वर्तमानकाष्ठमें कोई सुगम मार्ग

३४ देहमय-दर्शनका वर्तमानकाष्ठमें सुगम मार्ग

३५ सिद्धत्व-पर्याय साधि-अनत, मोक्ष अनाधि-अनत०

३६ परिणामी पदार्थ यदि निरंतर स्वाकार परिणामी हो तो भी उसका अव्यवस्थित परिणामी-पना; तथा जो अनादिसे हो यह केवलज्ञानमें भासमान हो—ये पदार्थमें किस तरह धन सकते हैं ?

(४)

१ कर्ममयत्वा

२ सर्वज्ञता

३ परिणामिकता

४ नामा प्रकारके विचार और सम्प्रधान

५. अन्यसे म्यून परामर्श

१ जहाँ जहाँ अन्य सब बिकल है वहाँ वहाँ यह अविकल है। तथा जहाँ यह अविकल निर्दिष्ट होता है, वही अन्य किसीकी कविता अविकलता रहती है, अन्यथा नहीं।

०६९१

बम्बई, भागम १९५०

(१)

१ जिस पत्रमें प्रत्यक्ष आश्रयका स्वरूप लिखा वह पत्र यहाँ भिन्न है। मुमुक्षु जीवको परम भवितव्यित उस स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये।

२ जो स्वरूप योग-वत्सलित—विनका उपदेश बहुतसे जीवोंको पोढ़े ही प्रत्यक्षसे मोक्षका साधनरूप हो सके ऐसे अतिशयसहित—होता है, वह जिस समय उसे प्रारम्भके अनुसार उपदेश-व्यवहारका उदय प्राप्त होता है उसी समय मुख्यरूपसे प्राप उस भवितव्य प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गको प्रकाशित करता है उसे उदय-योगके बिना वह प्राप उसे प्रकाशित नहीं करता।

३ स्वरूप जो प्राप दूसरे किसी व्यवहारके योगमें मुख्यरूपसे उस मार्गको प्रकाशित नहीं करते वह तो उनका ककमा-व्यमात्र है। जगत्के जीवोंका उपकार पूर्णपर विरोधको प्राप्त न हो अपवा बहुतसे जीवोंका उपकार हो इत्यादि अनेक कारणोंको देखकर अन्य व्यवहारमें प्रवृत्ति करते समय, स्वरूप जैसे प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गको प्रकाशित नहीं करते। प्राप करके ता अन्य व्यवहारके उदयमें वे अप्रकाश ही रहते हैं। अपवा किसी प्रारम्भविशेषसे वे स्वरूपरूपसे किसीके जाननेमें आये भी हों, तो भी उसके पूर्णपर श्रेयका विचार करके, जहाँतक बने जहाँतक वे किसीके विशेष प्रसंगमें नहीं आते। अपवा वे बहुत करके अन्य व्यवहारके उदयमें सामान्य मनुष्यकी तरह ही विचरते हैं।

४ तथा जिससे उस तरह प्रवृत्ति की जाय वैसा प्रारम्भ न हो तो जहाँ कोई उस उपदेशका अवसर प्राप्त होता है, वहाँ भी प्राप करके वे प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गका उपदेश नहीं करते। कविद प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गके स्थानपर 'आश्रय-मार्ग' इस सामान्य शब्दसे अनेक प्रकारका हेतु देखकर ही कुछ कहते हैं, अर्थात् वे उपदेश-व्यवहारके बचानेके लिये उपदेश नहीं करते।

(२)

प्राप करके जो किन्हीं मुमुक्षुओंको हमारा समागम हुआ है उनको हमारी दशाके सबभने पोढ़े बहुत बंधसे प्रतीति है। फिर भी यदि किसीको भी समागम न हुआ होता तो अधिक योग्य था।

पहों जो कुछ व्यवहार उदयमें रहता है वह व्यवहार आदि मनिस्यमें उदयमें आने योग्य है, ऐसा मानकर, जबतक तथाउपदेश-व्यवहारका उदय प्राप्त न हुआ हो जबतक हमारी दशाके नियममें हम जीवोंको जो कुछ समझमें आया हो उसे प्रकाशित न करनेके लिये कहनेमें, वही मुख्य कारण था और अब भी है।

६९२ श्री भगवाणीवा मोरवी, कार्तिकसे फाल्गुन १९५३

श्री आनन्दधनजी श्रीपैसी विवेचन

(१)

ऋषभ मिनेश्वर पीतम माहरो रे, ओर न चाहु रे कंस ।

रीझ्यो सादिष सग न परिहरे रे, मांगे सादि अनंत ॥ ऋषभ० ॥

नामिराभाके पुत्र श्रीऋषभदेवजी तीर्थंकर मेरे परम प्रिय हैं । इस कारण मैं अन्य किसी भी स्वामीकी इच्छा नहीं करती । ये स्वामी ऐसे हैं कि जो प्रसन्न होनेपर फिर कभी भी सग नहीं छोड़ते । मेरा इनका सग हुआ है इसलिये तो उसकी जादि है, परन्तु वह सग अटक होनेसे अनंत है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—जो स्वरूप-विज्ञान पुस्तकें वे जिन्होंने पूर्ण छुड़ स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे भगवान्‌के स्वरूपमें अपनी हृदिको तन्मय करते हैं । इससे उनकी स्वरूपप्रज्ञा अनंत होती जाती है, और वह सर्वोत्कृष्ट यथात्म्यता चारित्रको प्राप्त होती है । जैसा भगवान्‌का स्वरूप है वैसा ही छुड़नयकी अपेक्षा आत्माका भी स्वरूप है । इस आत्मा और सिद्धभगवान्‌के स्वरूपमें केवल औपचारिक भेद है । यदि स्वाभाविक स्वरूपसे देखते हैं तो आत्मा सिद्धभगवान्‌के ही तुल्य है । दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धभगवान्‌का स्वरूप निरुचरण है, और वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आचरणस्थित है । वस्तुतः इनमें कोई भी भेद नहीं । उस आचरणके क्षीण हो जानेसे आत्माका सिद्धस्वरूप प्रगट होता है ।

तथा जबतक वह सिद्धस्वरूप प्रगट नहीं हुआ तबतक जिन्होंने स्वाभाविक छुड़ स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धभगवान्‌की उपासना करनी ही योग्य है । इसी तरह अर्हत्भगवान्‌की भी उपासना करनी चाहिये क्योंकि वे भगवान्‌ सयोगी-सिद्ध हैं । यद्यपि सयोगकृत प्रारम्भके कारण वे देहधारी हैं, परन्तु वे भगवान्‌ स्वरूप-समन्वित हैं । सिद्धभगवान्‌ और उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा धर्ममें कुछ भी भेद नहीं है; अर्थात् अर्हत्भगवान्‌की उपासनासे भी यह आत्मा स्वरूप-तन्मयताको प्राप्त कर सकती है । पूर्ण महात्माओंने कहा है—

वे आण्डर अरिहंते, दम्भगुणपञ्चविहिं य ।

सो आण्डर निय अण्णा, मोही लख्ख जाह तस्स खर्प ।

—जो अर्हत्भगवान्‌का स्वरूप, इष्ट गुण और पर्यायसे जानता है, वह अपनी आत्माके स्वरूपका जानता है, और निश्चयसे उसका मोह नाश हो जाता है ।

उस भगवान्‌की उपासना जीर्णोच्छिन्न किस अनुक्रमसे करनी चाहिये, उसे श्रीआनन्दधनजी नीचे स्तब्धने कहेबाधे हैं, उसे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे ।

भगवान्‌सिद्धके नाम, गोत्र वेदनीय और आयु इन कर्मोक्त भी अभाव रहता है । वे भगवान्‌ सर्वथा कर्मोत्तरे स्थित हैं । तथा भगवान्‌अर्हत्को केवल आत्मस्वरूपको आचरण करनेवाला कभीसा ही ध्य है; परन्तु उन्हे उपर कहे हुए चार कर्मोक्त—वेदम करके क्षीण करनेपर्यंत—पूर्ववच रहता है इस कारण वे परमहमा साक्षात्-भगवान्‌ कहे जाने योग्य हैं ।

उन अर्हत्भगवान्‌में, जिन्होंने पूर्वमें तीर्थंकर नामकर्मका शुभयोग उत्पन्न किया है, वे तीर्थंकर भगवान्‌ कहे जाते हैं । उनका मत्ताप उपदेश वह आदि महापुरुषयोगके उद्देशसे आध्यात्मकारक शोभाको प्राप्त होता है ।

भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकाश्रममें श्रीश्रुत्यमश्वसे खगाकर श्रीवर्धमानतक ऐसे चोटीस तीर्थकर हो गये हैं ।

वर्तमानकाश्रममें ये भगवान् सिद्धाश्रममें स्वरूपस्थितमात्रसे निवृत्तमान हैं । परन्तु मृत-प्रज्ञापनीय नयसे उनमें तीर्थकरपदका उपचार किया जाता है । उस औपचारिक नयवृत्तिसे उन चोटीस भगवान्‌के स्तवनरूप इन चोटीस स्तवनोंकी रचना की गई है ।

सिद्धभगवान् सर्वथा अमूर्तपदमें स्थित हैं इसलिये उनका स्वरूप सामान्यरूपसे चितवन करना कठिन है । तथा अर्द्धभगवान्‌का स्वरूप भी मूलवृत्तिसे चितवन करना तो वैसा ही कठिन है, परन्तु सयोग-पदके अवसर्गमपूर्वक चितवन करनेसे यह सामान्य जीवोंकी भी वृत्तिके स्थिर होनेका कुछ सुगम उपाय है । इस कारण अर्द्धभगवान्‌के स्तवनसे सिद्धभगवान्‌का स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझकर श्रीजानक्यननीने चोटीस तीर्थकरोंके स्तवनरूप इस चोटीसकी रचना की है । नमस्कारमंत्रमें भी प्रथम अर्द्धतपस्वके स्तवनेका पद्यो हेतु है कि उनका हमारे प्रति विशेष उपकारमान है ।

भगवान्‌के स्वरूपका चितवन करना यह परमार्थवृत्तियुक्त पुरुषोंको गौणतासे निवृत्तरूपका ही चितवन करना है । सिद्धभामूर्तमें कहा है —

आरिस सिद्धसहायो, वारिस सहायो सज्जनीबार्ध ।

तम्हा सिद्धवर्द्ध, कायम्हा भज्जनीयेहि ॥

—वैसा सिद्धभगवान्‌का आत्मस्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंकी आत्माका स्वरूप है, इसलिये भज्जनीयेहि सिद्धत्वमें रुचि करनी चाहिये ।

इसी तरह अर्द्धभगवान्‌स्वामिने श्रीश्रुत्यमूर्त्यके स्तवनमें कहा है ।

मिनपूमा रे ते निमपूजना—यदि यथार्थ मूलवृत्तिसे देखें तो निमभगवान्‌की पूजा ही अहम-स्वरूपका पूजन है ।

इस तरह स्वरूपकी व्याख्या रखनेवाले महात्माओंने निमभगवान्‌की और सिद्धभगवान्‌की उपासनाको स्वरूपकी प्रशिक्षा हेतु माना है । क्षीणमोह गुणस्थानतक उस स्वरूपका चितवन करना जीवकी प्रवृत्त अवलम्बन है ।

तथा मात्र अपनेके व्यप्यात्मस्वरूपका चितवन जीवको व्यामोह पैदा करता है, बहुतसे जीवोंको यह शुष्कता प्राप्त करता है अथवा स्नेहप्रचारिता उत्पन्न करता है अथवा उन्मत्त प्रज्ञा-वृद्धा उत्पन्न करता है । तथा भगवान्‌के स्वरूपके व्याप्तके अवलम्बनसे मस्तिष्कप्रभण वृद्धि होती है और अप्यात्मवृद्धि गीम होती है इससे शुष्कता, स्नेहप्रचारिता और उन्मत्त-प्रज्ञापित्व नहीं होता । व्यामदशा प्रवृत्त होनेसे सामागिक व्यप्यात्मप्रधानता होती है, आत्मा उस गुणोंका सेवन करती है अर्थात् शुष्कता वारि दोष उन्मत्त नहीं होते; और मस्तिष्कगर्भ में भी शुश्रूषा नहीं होती तथा सामागिक व्यामदशा स्वरूप-जीनताको प्रशन्न करती जाती है । जहाँ अर्द्ध आत्तिक स्वरूपके व्याप्तके अवलम्बनके बिना वृत्ति व्यामदशा सेवन करती है, वहाँ —

(२)

● बीतरागियोंमें ईश्वर ऐसे ऋषभदेवभगवान् मेरे स्वामी हैं। इस कारण वह मैं किसी दूसरे कतकी नहीं करती। क्योंकि वे प्रभु यदि एक बार भी रीझ जायें तो फिर छोड़ते नहीं हैं। उन प्रभुका प्राप्त होना यह उसकी आदि है, परन्तु वह योग कभी भी निवृत्त नहीं होता, इसलिये वह अनन्त है।

चैतन्यवृत्ति जो जगत्के भावोंसे उदासीन होकर, ध्रुवचतुष्टय-स्वभावमें समरसित भगवान्में लुप्त हो गई है, आनन्दघनजी उसके हर्षका प्रदर्शन करते हैं।

अपनी भद्रा नामकी सखीको आनन्दघनजीकी चैतन्यवृत्ति कहती है कि हे सखि ! मैंने ऋषभदेव बान्की साथ उग्र किया है और वह भगवान् मुझ सर्वाग्रिय है। यह भगवान् मेरा पति हुआ है, जेये अब मैं अन्य किसी भी पतिकी कभी भी इच्छा न करूँगी। क्योंकि अन्य सब जीव जन्म जरा, १ आदि दुःखोंसे आलुप्त व्यालुप्त हैं—कृष्णमरके लिये भी सुखा नहीं हैं; ऐसे जीवोंको पति बनानेस सुख कहाँसे हो सकता है ! तथा भगवान् ऋषभदेव तो अनन्त अव्यथासुख-समाधिको प्राप्त हुए इसलिये यदि उनका आश्रय ग्रहण करूँ तो मुझ में उस वस्तुकी प्राप्ति ॥ सकती है। वर्तमानमें योगके सिद्धन्ते, हे सखि ! मुझ परम शीतलता ॥ है। दूसरे पतियोंका तो कभी वियोग भी हो पा है, परन्तु मेरे इस स्वामीका तो कभी भी वियोग हो ही नहीं हो सकता। जबसे वह स्वामी न हुआ है तभीसे वह कभी भी सग नहीं छोड़ता। इस स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धांतमें 'सादि त' कहा है, अर्थात् उस योगके होनेकी आदि ही है, परन्तु उसका कभी भी वियोग होनेवाला है, इसलिये वह अनन्त है। इस कारण वह मुझे कभी भी उस पतिका वियोग नहीं होगा ॥ १ ॥

हे सखि ! इस जगत्में पतिका वियोग न होनेके लिये स्त्रियों ओ नाना प्रकारके उपाय करती वे उपाय यथार्थ उपाय नहीं हैं, और इस तरह मेरे पतिकी प्राप्ति नहीं होती। उन उपायोंको या बतानेके लिये उनमेंसे जोड़ेसे उपायोंको तुझे कहती हूँ —

कोई भी तो पतिकी साथ कायमें बल जानेकी इच्छा करती है, जिससे सग ही पतिकी साथ प्राप्त रहे। परन्तु वह मिथ्या कुछ समझ नहीं है क्योंकि वह पति को अपने कर्मानुसार वहाँ उसे जाना वहाँ बजा गया और जो भी सती होकर पतिसे मिलनेकी इच्छा करती है, वह भी भी मिथ्याके पति की चित्तमें जसकर मरनेकी ॥ इच्छा करती है, परन्तु उसे तो अपन कर्मानुसार ही देह रण करना है। दोनों एक ही जगह देह धारण करें और पति-पत्नीरूपमें सखद होकर निरंतर सुखका

आनन्दघनजीका श्रीकृष्णभक्ति-स्तवनके पौष्प पत्र निम्न प्रकारसे हैं—

काम भिन्नर शीतल माधुर्य दे, और न चाहूँ ते कंत ।

रीझो लाहिब संग न परिहरे रे भगि लाहि अनंत ॥ १ ॥

कोर कंत कारण काउमज्जन कर रे मज्जु कंतने बाप ।

ए मेज्ज नहि करिये सेनस रे मेज्जो ठाम न ठाय ॥ २ ॥

कोर पतिरंजन अनिपणु तन करे रे पतिरंजन तनताप ।

ए पतिरंजन मैं नहि चित्त वसुं रे रंजन वसुमेज्जय ॥ ३ ॥

कोरू करे लीका रे अकल अकल तनी रे तन पूर मन आस ।

दोष रहितने लीका नहि धरे रे, लीका लापितका ॥ ४ ॥

चित्त प्रकथे रे पूजनचक्र वसुं रे पूजा आर्पित एह ।

कपरदित वई कातम-अरपना रे, आनन्दघनगदरे ॥ ५ ॥ — अनुसर

मोग करें, ऐसा कुछ नियम नहीं है । अर्थात् जिस पतिका नियोग हो गया, और जिसका उपयोग भी अब समझ नहीं रहा, ऐसे पतिका जो मिछाप ह उससे मैंने मिथ्या समझा है, क्योंकि उसका नाम पतिकाना कुछ नहीं है ।

अथवा प्रथम पन्का यह अर्थ भी होता है — परमेश्वररूप पतिकी प्राप्ति के लिये कोई काष्ठ का मञ्चन करता है, अर्थात् पचासिकी घूनी जमाकर उसमें काष्ठ होमकर, कोई उस जमिका परिष्कार समझ करता है, और इससे ऐसा समझता है हम परमेश्वररूप पतिको पा लेंगे, परन्तु यह समझना मिथ्या है । क्योंकि उसकी तो पचासि तपनेमें ही प्रवृत्ति रहती है । वह उस पतिकी स्वरूप जानकर, उस पतिके प्रसन्न होनेके कारणोंको जानकर, कुछ उन कारणोंकी उपासना नहीं करता इसलिये फिर वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा । वह तो उसकी मति का जिस स्वभाषमें परिजमन हुआ है, वैसी ही गति को पायेगा इस कारण उस मिछापका कोई भी नाम ठिकाना नहीं है ॥ २ ॥

हे सखि ! कोई पतिको रिशालेके लिये अनेक प्रकारके तप करता है, परन्तु वह केवल शरीरकी ही सत्ता देता है । इसे मैंने पतिके प्रसन्न करनेका मार्ग नहीं समझा । पतिके रत्न करनेके लिये तो दोनोंकी बातुजोका मिछाप हाना चाहिये ।

कोई भी चाहे कितने ही कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिके रिशालेकी इच्छा करे, तो भी जबतक वह भी अपनी प्रकृतिकी पतिकी प्रवृत्तिके स्वभाषानुसार न कर सके, तबतक प्रकृतिकी प्रति-कृताके कारण वह पति कभी भी प्रसन्न नहीं होता और उस जीको मात्र अपने शरीरमें ही सुधा वाणि सत्तापन्न प्राप्ति होती है ।

इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवान्की पतिकरसे प्राप्त करनेकी हो तो वह यदि भगवान्के स्वरूपके अनुसार वृत्ति न करे, और अन्य स्वरूपमें इधमान होसे हुए, अनेक प्रकारका तप करके कष्टका सेवन करे तो भी वह भगवान्की प्राप्त नहीं कर सकता । क्योंकि जिस तरह पति-पत्नीका सदा मिठाव और सदा प्रसन्नता बातुके एकत्वमें ही है; उसी तरह हे सखि ! भगवान्में इस वृत्तिक पतिके स्थान करके उसे पति अथवा रत्नना हो तो उस भगवान्की साथ बातु-मिछाप करना ही योग्य है । अर्थात् उन भगवान्ने जो दुःखवैतन्य बातुक्रमसे परिणाम किया है, वैसी दुःखवैतन्यवृत्ति कर नेसे ही उस बातुमेंसे प्रतिकूल स्वभाषके निवृत्त होनेसे देख्य होना समझ है; और उसी बातुके मिछासे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्ति का भी वियोग नहीं होगा ॥ ३ ॥

हे सखि ! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत् ऐसे भगवान्की लीला है कि जिसके स्वरूपकी पहिचान करनेका लक्ष्य ही नहीं हो सकता और वह अथवा भगवान् सबकी इच्छा पूर्ण करता है, इस कारण वह इस जगत्को भगवान्की लीला मानकर उस स्वरूपसे उस भगवान्की महिमाके गाल करनेमें ही अपनी इच्छा पूर्ण होगी—भगवान् प्रसन्न होकर उसमें संयुक्तता करेंगे—पूरा मानता है । परन्तु यह मिथ्या है । क्योंकि वह भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न होयेसे ही ऐसा कहता है ।

यों भगवान् अर्जत ज्ञान-दर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुख सदाधिमय है वह भगवान् इस जगत्का कर्ता जिस तरह हो सकता है ! और तबकी लीलाके कारण प्रवृत्ति किस तरह हो सकती है । जीजाकी प्रवृत्ति तो मनेमें ही लीला है । जो पूर्ण होता है वह तो कुछ भी इच्छा नहीं करता । तदा भगवान्

अभ्यासाद्य सुखसे पूर्ण हैं। उनमें अन्य कोई कल्पना कहोति या सकनी है? तथा छीटाकी उत्पत्ति वृत्ति होती है और वैसी कुछ वृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे होती है। तथा भगवान् सुख दोनोंसे परिपूर्ण हैं, इसलिये उनकी प्रवृत्ति जगत्को रचनेरूप छीटाक प्रवृत्ति कभी भी नहीं। तथा यह छीटा तो दोषका विनाश है और वह सरागीके ही समान है। तथा जो सरागी है हेमसहित होता है; और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, मोह आदि सब ज्ञान भी समान है। इस कारण यथार्थ दृष्टिसे देखनेसे तो छीटा दोषका ही विनाश टहरता है, ज्ञान-विनाशकी या इच्छा अश्लील ही करता है। जब विचारवान् मुमुक्षु भी ऐसे दोष-विनाशकी करते, ता फिर अन्त ज्ञानमय भगवान् ता उसकी इच्छा कैसे कर सकते हैं? इस कारण भगवान्को स्वल्पको छीटाक कर्त्तव्यसे समझता है वह भ्रान्ति है, और उस भ्रान्तिका धरके जो भगवान्को प्रसन्न करनेके मार्गको ग्रहण करता है, वह मार्ग भी भ्रान्तिरूप ही है। उसे उस भगवान्को पतिकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

सखि! पतिके प्रसन्न करनेके तो अनेक प्रकार हैं। उपाहरणके लिये अनेक प्रकारके शास्त्र के योगसे पतिकी सेवा की जाती है। परन्तु उन सबमें विचकी प्रसन्नता ही सबसे उत्तम और वह ऐसी सेवा है जो कभी भी खलित नहीं होती। कष्टरहित होकर आत्मसमर्पण की सेवा करनेसे अत्यन्त आनन्दके समूहकी प्राप्ति का भयान्तर होता है।

ज्ञानरूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं—वैशेष्यपूजा, मायपूजा, आकाशपूजा। वैशेष्यपूजाके भेद हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो विचकी प्रसन्नता—उम भगवान्में वैशेष्यवृत्तिक प्रसन्नताको प्राप्त करना—ही है। उसमें ही सब साधन समा जात है। यही अखंडित पूजा है, जिसे विच भगवान्में छीन हो तो दूसरे योग भी विचके आधीन होनेसे वे भगवान्को ही उ हैं और यदि भगवान्मेंसे विचकी छीनता दूर न हो या ही जगत्को भावोंमें उदासीनता और उसमें ग्रहण-व्यमार्गक विकल्प नहीं रहते। इस कारण वह सेवा अखंड ही रहती है।

तब विचमें अन्य कोई भाव हो तबतक यदि इस बातका प्रवर्णन किया जाय कि 'तुम्हारे दूसरे किसीमें कोई भी भाव नहीं', ता वह पूजा ही है और वह कष्ट है, और जबतक है तबतक भगवान्को चरणमें आत्मसमर्पण कहोति हो सकता है। इस कारण जगत्के प्रति विचम प्रसन्न करके वृत्तिको सुख चतन्यभावपुष्ट करनेसे ही, उम वृत्तिमें अन्यभाव कारण, वृत्ति सुख कही जाती है और उसे ही निष्कण्ट कहते हैं। ऐसी वैशेष्यवृत्ति छीन की जाय तो यही आत्मसमर्पणता कही जाती है।

। भयम् आदि सब कुछ भगवान्को अर्पण कर दिया हो, परन्तु यदि आत्मसमर्पण न किया हो, । आत्माकी वृत्ति का भगवान्में छीन न की जा, तो उस भय भयम् आत्मा अर्पण करना है। क्योंकि अर्पण करनेवाली आत्मा अपना उसकी वृत्ति या किसी दूसरी जगह ही छीन । तथा जो स्वयं दूसरी जगह छीन है उसका अर्पण किये हुए दूसरे जगह पण्य भगवान्में हो जा सकते हैं। इसलिये भगवान्में विचवृत्ति की छीनता ही आत्मसमर्पणता है, और पन-पदकी रक्षा अर्पण परम अभ्यासाद्य सुखमय मोक्षकी निशानी है। अर्पण जिसे वे प्राप्ति हो जाय वह परम आत्म-धनस्वरूप मोक्षका प्राप्त होगा। यह दर्शन ही सेवा रूपगति धीन्द्रपमदिन-स्तवन ।

(३)

प्रथम स्तबनमें मगवान्में वृत्तिके छीन होमैरूप दर्शको बताया है, परन्तु यह वृत्ति अखंड और पूर्णरूपसे छीन हो तो ही आनन्दपन-पदकी प्राप्ति हो सकती है। इससे उस वृत्तिकी पूर्णताकी इच्छा करते हुए भी आनन्दपनकी दूसरे तीर्थकार श्रीवसिष्ठनाथका स्तबन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसके प्राप्त होनेमें जो जो विघ्न समझे हैं, उन्हें आनन्दपनकी मगवान्के दूसरे स्तबनमें सम्यक्से निवेदन करते हैं; और अपने पुरुषत्वको यह देखकर खेदविध्न होते हैं—इस तरह वे ऐसी मानवताका चितवन करते हैं जिससे पुरुषत्व प्राप्त रहे।

हे सखि ! दूसरे तीर्थकार वसिष्ठनाथ मगवान्ने जो पूर्ण क्षीनताके मार्गका प्रदर्शन किया है—जो सम्यक् चारित्र्यरूप मार्ग प्रकाशित किया है—उसे जब मैं देखती हूँ तो यह मार्ग अजित है—ये समान निर्बल वृत्तिके मुमुक्षुसे अज्ञेय है। तथा मगवान्का जो अजित नाम है वह सत्य ही है, क्योंकि जो बड़े बड़े पद्मक्री पुरुष बड़े जाते हैं, उनके द्वारा भी जिस गुणोंके धामरूप पंथका अन्त नहीं हुआ, उसका मगवान्ने अन्त किया है। इसलिये मगवान्का अजित नाम सार्थक ही है, और अनन्त गुणोंके धामरूप उस मार्गके बीजनेसे मगवान्का गुणोंका धाम कहा जाता सिद्ध है। हे सखि ! परन्तु मेरा नाम जो पुरुष कहा जाता है वह सत्य नहीं। तथा मगवान्का नाम जो अजित है; जिस तरह यह नाम तद्रूप गुणोंके कारण है, उसी तरह मेरा नाम जो पुरुष है वह तद्रूप गुणोंके कारण नहीं। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है जो पुरुषार्थसे सज्जित हो—स्वपराक्रमसे सज्जित हो; परन्तु मैं तो वैसा हूँ नहीं। इसलिये मैं मगवान्से कहा हूँ कि हे मगवन् ! तुम्हारा नाम जो अजित है वह पदार्थ है, और मेरा नाम जो पुरुष है वह मिथ्या है। क्योंकि राग, द्वेष, अहान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका तुमने जय किया है इस कारण तुम अजित कहे जाने योग्य हो; परन्तु उन्हीं दोषोंने तो मुझे जीत लिया है इसलिये मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जा सकता है ? ॥ १ ॥

हे सखि ! उस मार्गको पानेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है। अग्निनेत्रोंसे देखते हुए तो सबसत् ससार भूख ही हुआ है। उस परम तत्त्वका विचार होनेके लिये जिन दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है उन दिव्य नेत्रोंका निरूपणसे वर्तमानकालमें वियोग हो गया है।

हे सखि ! उस अजितमगवान्का अजित होनेके लिये ग्रहण किया हुआ मार्ग कुछ इन चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि वह मार्ग दिव्य है, और उसका अंतःकरणसे ही अन्त खोजन किया जा सकता है। जैसे एक गौँसे दूसरे गौँमें जानेके लिये पृथिवीपर सबक बगैर मार्ग होते हैं उस तरह यह बाह्य मार्ग नहीं है अपर्याय वह चर्मचक्षुसे देखनेपर दिखाई पड़नेवाला मार्ग नहीं है कुछ चर्मचक्षुसे वह अतःत्रिपि मार्ग दिखाई नहीं देता ॥ २ ॥ —अपूर्ण

आनन्दपनकी पूर्ण अभिज्ञानावस्थाके दो पथ निम्नरूपसे हैं—

पथको निराशुं रे शीघ्र किञ्च तपो रे अभिज्ञ अजित गुणधाम ।

अ ते क्षीप्ता रे तेषु कुं जीमिके रे पुरुष दिव्ये सुख नाम ॥ चर्मको ॥ १ ॥

पथम अक्षर करि धारण लेखनी रे भूयो तवत्वं संसार ।

किञ्च अक्षर करि धारण आधिरे रे नक्षत्र ते दिव्य विचार ॥ चर्मको ॥ २ ॥ —अनुपारम्भ

६९३

हे शासपुत्र मगधन् ! काष्ठकी बलिहारी है ! इस भारतको पुण्यहीन मनुष्योंको तेरा सत्य और पूर्वापर विरोधरहित शासन कबसे प्राप्त हो सकता है ? उसके प्राप्त होनेमें इस प्रकारके विघ्न हुए हैं—तेरे उपदेश दिये हुए शास्त्रोंकी कल्पित व्यर्थसे विरामना की, कितनोंका तो समूझ न कर दिया, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणकम जो तेरी प्रतिमा है, उससे कष्टप्रदप्रतिरोध गिर गये, और तेरे बादमें परंपरसे जो आचार्य पुरुष हुए उनके बचनोंमें और तेरे नी शब्दा बाध दी—एकान्तका उपयोग करके तेरे शासनकी निन्दा की ।

हे शासन देवि ! कुछ ऐसी सहायता कर कि जिससे मैं दूसरोंको कल्याण-मार्गका बोध कर सकूँ—प्रदर्शन कर सकूँ—उसे सबे पुरुष प्रशंसित कर सकूँ । सर्वोत्तम निर्गुण्य प्रवचनके बोधकी ओर उन्हें इन अग्रम-विरोधक पक्षोंसे पीछे खींचनेमें सहायता प्रदान कर । समाधि और बोधिमें करना तेरा धर्म है ।

६९४

(१)

ॐ नमः

‘अनंत प्रकारके सारीरिक और मानसिक दुःखोंसे अकुल व्याकुल जीवोंकी, उन दुःखोंसे बहुत बहुत प्रकारसे इच्छा होनेपर भी वे उनमेंसे मुक्त नहीं हो सकते—इसका क्या कारण यह प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परन्तु उसका यथार्थ समाधान तो किसी विरहे ही होता है । जबतक दुःखके मूल कारणको यथार्थरूपसे न जाना हो, तबतक उसके दूर किये चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, तो भी दुःखका क्षय नहीं हो सकता; और खके प्रति चाहे कितनी भी अलग्ग अग्रियता और अनिच्छा क्यों न हो, तो भी उन्हें यह करना ही पड़ता है ।

व्यास्तविक उपायसे यदि उस दुःखके दूर करनेका प्रयत्न किया जाय, और उस प्रयत्नके असफल करनेपर भी, उस दुःखके दूर न होनेसे, दुःख दूर करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको क्यामोह हो जाता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण है ? यह दुःख क्यों होता ? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इष्ट न होनेपर भी, स्वप्नमें भी उसके प्रति इष्टि न होनेपर भी उसकी ही प्राप्ति हुआ करती है, और मैं जो जो प्रयत्न करता हूँ उन प्रयत्न हो जानेसे मैं दुःखका ही अनुभव किया करता हूँ, इसका क्या कारण है ?

क्या यह दुःख किसीका भी दूर नहीं होता होगा ? क्या दुःख ही होता ही जीवका समाधि क्या कोई जगत्का कर्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा ? क्या यह वैतम्पदाके आधीन होगी ? अथवा यह कुछ मेरे पूर्वमें किये हुए अपराधोंका फल होगा ? अनेक प्रकारके विद्वत्प्राप्तो मनसहित देहधारी जीव किया करते हैं; और जो जीव मनसे वे अम्यक्त रूपसे दुःखका अनुभव करते हैं, और वे अम्यक्त रूपसे ही उन दुःखोंके दूर हो इष्ट किया करते हैं ।

इस जगत्में प्राणीमात्रकी मर्याद बराबर अमर्याद इन्द्र भी पड़ी है कि मुझे किसी भी तरहसे दुःख न हो और सर्वथा सुख ही सुख हो; और उनका प्रयत्न भी इतीश्रिये है; फिर भी वह दुःख क्यों दूर नहीं होता ! इस तरहके प्रश्न बड़े बड़े विचारवान जीनोंको भी भूतकालमें हुए थे, वर्तमानकालमें भी होते हैं और भविष्यकालमें भी होंगे । तथा उम अनन्तमत्त विचारवानोंमेंसे अनन्त विचारवानोंको तो उसका यथार्थ समाधान भी हुआ है और वे दुःखसे मुक्त हो गये हैं । वर्तमानकालमें भी विन विचारवानोंको उसका यथार्थ समाधान होता है, वे भी तथारूप फलका प्राप्त करते हैं और भविष्यकालमें भी विन विन विचारवानोंको यथार्थ समाधान होगा वे सब तथारूप फलका पावेंगे इसमें संशय नहीं है ।

शरीरका दुःख यदि केवल शोषण करनेसे ही दूर हो जाता, मरका दुःख यदि धन आदिके मिश्रणसे ही मारा जाता, धार बाध सूर्यसंघर्षी दुःख यदि मनको कुछ भी असुरक्षित न कर सकता, तो दुःखसे दूर करनेके लिये जो जा प्रयत्न किये जाते हैं वे सब, सभी जीनोंको सफल हो जाते । परन्तु जब यह होना संभव दिखाई न दिया, तभी विचारवानोंको प्रश्न उठा कि दुःखसे दूर होनेके लिये कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिये । तथा यह जो कुछ उपाय किया जाता है वह व्ययार्थ है, और यह सम्पूर्ण भ्रम हुआ है । इसलिये उस दुःखका यदि यथार्थ मूल कारण जान लिया जाय और तदनुसार उपाय किया जाय तो ही दुःख दूर होना संभव है नहीं तो वह कभी भी दूर नहीं हो सकता ।

जो विचारवान दुःखसे यथार्थ मूल कारणको विचार करनेके लिये उत्कण्ठित हुए हैं, उनमें भी किसी किसीको ही उसका यथार्थ समाधान हुआ है और बहुतसे तो यथार्थ समाधान न होनेपर भी मति-व्यामोह आदि कारणोंसे ऐसा मानने लगे हैं कि हमें यथार्थ समाधान हो गया है, और वे तदनुसार उपदेश भी करने लगे हैं तथा अनेक लोग उनका अनुसरण भी करने लगे हैं । जगत्में मित्र मित्र जो धर्म-मत देखनेमें आते हैं, उनका उत्पत्तिक्रम मुख्य कारण पड़ी है ।

विचारवानोंकी विशेषता पड़ी मान्यता है कि धर्मसे दुःख मिट जाता है । परन्तु धर्मके स्वरूप समझनेमें तो एक दूसरमें बहुत अन्तर पड़ गया है । बहुतसे तो अपने मूल विषयको ही भूल गये हैं, और बहुतसेने उस विषयमें अपनी बुद्धिके एक ज्ञानसे अनेक प्रकारसे नास्तिक आदि परिपालन बना लिये हैं ।

दुःखसे मूल कारण और उनकी किस किस तरह प्रवृत्ति हुई इसके संबंधमें यहाँ थोड़ेसे मुख्य अभिप्रायोंको संक्षेपमें कहा जाता है ।

(२)

दुःख क्या है ? उसके मूल कारण क्या हैं ? और वह दुःख किस तरह दूर हो सकता है ? उसके संबंधमें त्रिभुवनान् बीतघगने अपना जो मत प्रदर्शित किया है, उसे यहाँ संक्षेपसे कहते हैं —

जब, वह यथार्थ है या नहीं, उसका अवलोकन करते हैं:—

जिन उपायोंका प्रदर्शन किया है, वे उपाय सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य हैं, अथवा उन तीनोंका एक नाम 'सम्यक्मोक्ष' है।

उन वीतप्राग्विदोंने अनेक स्थलोंपर सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमें सम्यग्दर्शनकी ही मुख्यता कही है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शनकी पहिचान होती है, तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना ज्ञान, ससार-तुल्य-कारणभूत है इसलिये सम्यग्दर्शनकी ही मुख्यता घटाई है।

ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों सम्यक्चारित्र्यके प्रति बौर्य उल्लासित होता जाता है; और क्रमपूर्वक सम्यक्चारित्र्यकी प्राप्ति होनेका समय आता है। इससे आत्मामें स्थिर स्वभाव सिद्ध होता जाता है, और क्रमसे पूर्ण स्थिर स्वभाव प्रगट होता है; और अन्तमा निरपदमें लीन होकर सर्व कर्म-कण्ठसे रहित होनेसे, एक शुद्ध आत्मस्वभावरूप मोक्षमें—परम अम्यावाध सुखके अनुभव समुद्रमें—स्थित हो जाती है।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे जिस तरह ज्ञान सम्यक्स्वभावको प्राप्त करता है—यह सम्यग्दर्शन नक्ष परम उपकार है—वैसे ही सम्यग्दर्शन क्रमसे शुद्ध होकर पूर्ण स्थिर स्वभाव सम्यक्चारित्र्यको प्राप्त होता है, उसके लिये उसे सम्यग्ज्ञानके बलकी सही आवश्यकता है। उस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय वीतप्राग्विद और उस अतृप्तस्वभाव उपदेष्टा महात्मा पुरुष है।

वीतप्राग्विदके परम गुरुत्वकी प्राप्त अस्मत् और परम कल्याणशील महात्माका संयोग मित्रमा अतिशय कठिन है। महान् भाग्योन्मत्के योगसे ही वह योग प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। क्या भी है—

तदा रुपाणं समणारणं—

उन अमण महात्माओंके प्रवृत्ति-लक्षणोंको परम पुरुषने इस तरह कहा है —

उन महात्माओंके प्रवृत्ति-लक्षणोंसे अम्पन्तरदशाके चिह्नोंका निर्णय किया जा सकता है। यद्यपि प्रवृत्ति-लक्षणोंके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे भी अम्पन्तरदशाविषयक निश्चय होता है परन्तु किसी सुदृष्टिमान मुमुक्षुको ही उस अम्पन्तरदशाकी परीक्षा होती है।

ऐसे महात्माओंके समागम और निनयकी क्या आवश्यकता है। तथा चाहे कैसा भी पुरुष हो, परन्तु जो अन्धी तरह शास्त्र पढ़कर सुनता हो ऐसे पुरुषसे भी जीव कल्याणके यथार्थ मार्गको क्यों मही पा सकता है। इस आशङ्काका समाधान किया जाता है—

ऐसे महात्मा पुरुषोक्ता योग मिथ्या अत्यन्त अत्यन्त कठिन है। जब श्रेष्ठ देश काछमें भी ऐसे महात्माका योग होना कठिन है, तो ऐसे दुःख-प्रधान काछमें वैसा हो तो इसमें कुछ कहना ही नहीं जाता। कहा भी है —

यद्यपि उस महात्मा पुरुषका योग कथित मिथ्या भी है तो भी यदि कोई कुछ हृत्तिमान मुमुक्षु पुरुष हो तो वह उस मूर्खताके समागममें ही अपूर्व गुणको प्राप्त कर सकता है। जिन महात्मा पुरुषोंके बचनेके प्रयाससे अकथनी राधा भी एक मूर्खतामें ही अपना राजपाट छोड़कर मरफक बनमें उपसर्प्य करनेके बिये चले जाते थे, उन महात्मा पुरुषोंके योगसे अपूर्व गुण क्यों प्राप्त नहीं हो सकते!

श्रेष्ठ देश काछमें भी कथित ही महात्माका योग मिथ्या है। क्योंकि वे तो अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं। फिर ऐसे पुरुषोंका निम्न सग यह सकना तो किस तरह बन सकता है जिसस मुमुक्षु बीज सर्व दुःखोंका क्षय करनेके अनन्य कारणोंकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके! उसके मार्गको मगबान् बिलने इस तरह अन्वेषण किया है:—

निम्न ही उनके समागममें आध्यात्मिक यहार प्रवृत्ति करनी चाहिये, और उसके बिये बाह्य आत्म्यतर परिग्रह त्याग करना ही योग्य है।

जो उस त्यागको सर्वथा करनेमें समर्थ नहीं हैं, उन्हें उसे निम्न प्रवृत्तिसे एकद्वेषसे करवा उचित है। उसके स्वकल्प इस तरह उपदेश किया है —

उस महात्मा पुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे सम्पक् आचरणसे, परम ज्ञानसे परम शरीरसे, परम निहृतिसे मुमुक्षु बीजकी अशुभ वृत्तियों पराजय होकर शुभ स्वभावको पाकर निजस्वरूपके प्रति स्मृत्त होती जाती है।

उस पुरुषके बचन यद्यपि आगमस्वरूप हैं तो भी बारंबार अपनेसे बचन-योगकी प्रवृत्ति

न होनेके कारण, निरंतर समागमका योग न बननेके कारण, उस बचनका उस तरहका ध्वन स्मरणमें न रहनेके कारण, बहुतसे भाषोंका स्वरूप जाननेमें आकर्षितकी आवश्यकता होनेके कारण, तथा अनुपेक्षाके बलकी वृद्धि होनेके छिप, भीतरागस्रुत—भीतरागशास्त्र—एक बलवान् उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो उस महात्मा पुरुषद्वारा ही उसके रहस्यको जानना चाहिये, परन्तु बादमें तो विमृष्ट रहि हो जानेपर, वह स्रुत महात्माके समागमके अंतरायमें भी बलवान् उपकारक होता है। यद्यपि जहाँ उन महात्माओंका सर्वथा संयोग ही नहीं हो सकता, वहाँ भी विमृष्ट इष्टिवाक्योंके भीतरागस्रुत परम उपकारी है, और इसीलिये महान् पुरुषोंने एक श्लोकसे व्याकर द्वादशांगतककी रचना की है।

उस द्वादशांगके मूल उपरोक्त सर्वज्ञ भीतराग हैं। महात्मा पुरुष उनके स्वरूपका निरंतर ध्यान करते हैं और उस पदकी प्राप्तिमें ही सब कुछ गर्वित है, यह प्रतीतिसे अनुभवमें आता है। सर्वज्ञ भीतरागके बचनको धारण करते हैं। महान् आचार्योंने द्वादशांगकी रचना की थी, और उनकी आज्ञामें रहनेवाले महात्माओंने अन्य अनेक निर्दोष शास्त्रोंकी रचना की है। द्वादशांगके नाम निम्न प्रकारसे हैं —

(१) आचार्यांग, (२) सूत्रार्थ्यांग, (३) स्यात्वांग, (४) समवाय्यांग, (५) मगवती, (६) ज्ञाताधर्मरूपांग, (७) उपासकदर्शांग, (८) अतकृतदर्शांग, (९) अनुत्तरीपपातिक, (१०) मन्त्रव्याकरण, (११) विपाक और (१२) इष्टिवाद।

उनमें इस प्रकारसे निरूपण किया है —

काष्ठदोषसे उनमेंके अनेक स्थल तो विस्तृत हो गये हैं, और केवल थोड़े ही स्थल बाकी बचे हैं —

जो कल्प स्थल बाकी बचे हैं, उन्हें 'नेताम्बराचार्य एकादश अंगके नामसे कहते हैं। िगम्बर इससे सहमत नहीं है और वे ऐसा कहते हैं —

विंशति अथवा मन्त्रात्मकी इष्टिसे तो उसमें दोनों सम्प्रदाय सर्वथा भिन्न भिन्न मार्गकी तरफ देखनेमें आते हैं, परन्तु जब दीर्घाद्विसे देखात हैं तो उसका कुछ और ही कारण समझमें आता है।

चहे जो हो परन्तु इस तरह दोनों बहुत पासमें आ जाते हैं —

विषयके अनेक स्थल तो प्रयोजनशून्य जैसे ही हैं, और वे भी परोक्ष हैं ।

वपरा ओतको इध्यानुयोग आदि भाषके उपनेस करनेसे, नास्तिक आदि भाषोंके उत्पन्न होनेका समय आता है, वपरा छुज्जानी होनेका समय आता है ।

अब, इस प्रस्तावनाको यहाँ संक्षिप्त करते हैं, और जिस महात्म्य पुरुषने ————— (अपूर्ण)

यदि इस तरह अच्छी तरह प्रतीति हो जाय तो

• हिसारहिथो घम्भो, अठारस दोसधिरहिथो देखी ।

निर्मले पययणे, सङ्गहने होई सम्मर्ष ॥

तथा

जीनको या तो मोक्षमार्ग है, यही तो उन्मार्ग है ।

सर्व हु सका ध्य करेबाबा एक परम सबुपाय, सर्व जीवोंको हितकारी, सर्व हु लोक धन्य एक आत्मवैयक उत्पन्न परम सबुपायका नीतरागदर्शन है । उसकी प्रतीतिसे, उसके अनुकरणसे, उसकी आज्ञाके परम अन्तर्भवसे, जीव भव-सागरसे पार हो जाता है । समवायंगसूत्रमें कहा है:—

अहमा क्या है ? कर्म क्या है ? उसका कर्ता कौन है ? उसका उपादान कौन है ? निमित्त कौन है ? उसकी स्थिति कितनी है ? कर्ता किसके हाथ है ? यह किस परिमाणमें कर्म बाँध सकती है ? इत्यादि भाषोंका स्वरूप जैसा निर्मल सिद्धांतमें स्पष्ट सूत्र और सकलमातृवक कहा है वैसा किसी भी दर्शनमें नहीं है । ————— (अपूर्ण)

• विवर्तित कर्म अटल दोषोंसे रहित है और निर्मल अवयवमें अहम कर्मा सम्मिलित है । — अनुवादक

(३)

जैनमार्ग विशेष

अपन समाधानके लिये यथाशक्ति जो जैनमार्ग समझा है, उसका यहाँ कुछ सन्देशसे विचार करता हूँ —

यह जैनमार्ग, जिस पन्थार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नहीं है उसका नास्तित्व स्वीकार करता है।

यह कहता है कि जिनका अस्तित्व है ऐसे पदार्थ दो प्रकारके हैं — जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न भिन्न हैं। कोई भी किसीके स्वभावका त्याग नहीं कर सकता।

अजीव कृत्ता और आत्मीके भेदसे दो प्रकारका है।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव तीनों काष्ठमें जुटा जुटा है। जीव ज्ञान दर्शन आदि छद्मोंसे परिधाना जाता है। प्रत्येक जीव असंख्यमात्र प्रज्ञाकी अभावाज्ञानसे रहता है; सत्त्वोच-विकल्पाका भाजन है; कर्मादिसे कर्मका ग्राहक है। यथार्थ स्वरूपको जाननेसे, उसे प्रतीतिमें लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति होती है। स्वल्पसे जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्शसे रहित है; अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है। ————— (अपूर्ण)

(४)

मोक्षसिद्धान्त

मगवान्को परम मतिसे नमस्कार करके अनंत अभ्यासाद्य सुखमय परमपदकी प्राप्ति के लिये, मगवान् सर्वत्राद्य निरूपण किये हुए मोक्ष-सिद्धान्तका कहता हूँ —

द्रव्यानुयोग, कारणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि बौद्धग-मगवान्को नमस्कार करता हूँ।

कर्मरूपी बैरीका पराजय करनेवाले अहतमगवान्को शुद्ध चेतन्यपन्थमें सिद्धांतधर्ममें विद्यमान सिद्धमगवान्को; ज्ञान दर्शन चारित्र्य, तप आर वीर्य इन मोक्षके पञ्चाचारोंका पटलन करनवाले, और दूसरे भव्य जीवोंको आचारमें लगानेवाले आचार्यमगवान्को; द्वांशार्थिक अभ्यासी और उस ध्यान, शान्ति, तप और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंका अभ्ययन करानवाले एव उपाध्यायमगवान्का; तथा मोक्ष-मार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले एव साधुमगवान्का मैं परम मतिसे नमस्कार करता हूँ।

धीरान्धमन्त्रसे भीमहावीरपर्यंत मरणश्रेयस वर्तमान जीवोंसे तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं बारम्बार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकाष्ठक चरम तीर्थंकरान्ध भीमान् बधमानजिनकी सिन्धुमें ही वर्तमानमें मोक्षमार्गका अस्तित्व मानते हैं। उनके इस उपकारको सुधारित पुराण आम्हार अमर्यमय समझते हैं।

काष्ठके दोषसे अतार धुन-सगरका बहुतसा भाग निम्न हो गया है और वर्तमानमें केवल सिन्धुमात्र अथवा अन्यमात्र ही बची बचा है। अनेक स्थलोंके निम्न हो जानेसे, और अनेक स्थलोंमें

स्पष्ट निरूपण रहनेके कारण, वर्तमान मनुष्योंको निर्दिष्टमार्गान्के उस सुतका इस क्षेत्रमें पूर्ण भ्रम नहीं मिळता ।

अन्य मतमतान्तर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसी कारण निर्दिष्ट मार्गके अभ्यासी महारमाओंकी भी अस्पष्टता हो गई है ।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, अनेक मतमतान्तरोंके मौजूद रहनेपर भी, समाधानके बहुतसे साधनोंके परोक्ष होनेपर भी, महात्मा पुरुषोंके कथित कथित मौजूद रहनेपर भी ई आर्षभगो ! सम्पत्सैन, सुतका रहस्यभूत परमपदका रप, आत्मानुभवका हेतु सम्पत्कारित और विशुद्ध आत्म-प्राप्त आत्र भी निश्चय है—यह परम हर्षका कारण है ।

वर्तमानकालका नाम हुआ पम का है । इस कारण अनेक अंतराधिक होनेसे, प्रतिकूलता होनेसे और साधनोंकी दुर्बलता होनेसे, मोक्षमार्गकी प्राप्ति हुआसे होती है; परन्तु वर्तमानमें कुछ मोक्षका मार्ग ही निश्चित हो गया है यह विचार करना उचित नहीं ।

पञ्चमकाष्में होनेवाले महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है । तबनुसार यही कहता हूँ ।

सूत्र और दूसरे अनेक प्राचीन आचार्योंका अनुकरण करके रचे हुए अनेक शास्त्र निश्चय है । सुबोधित पुरुषोंने तो उनकी हितकारी बुद्धिसे ही रचना की है । इसलिये यदि किसी मत्वादी, इष्टवादी और शिथिलताके पोषक पुरुषोंके द्वारा रची हुई कोई पुस्तक, उन सूत्रों अथवा विनाशारसे न मिलती हो, और प्रयोजनकी मर्यादासे बाहर हो, तो उन पुस्तकोंके उपाकरण देकर मन्त्रीक महत्मा लोग प्राचीन सुबोधित आचार्योंके बचनोंके उपापन करनेका प्रयत्न नहीं करते । परन्तु यह समझकर कि उससे बचकर ही होता है, उनका बहुत मान करते हुए वे उनका अपायोग्य अनुपयोग करते हैं ।

त्रिन्दर्शनमें त्रिगुण और त्रैलोक्य ये दो मुख्य भेद हैं । तदर्थसे या उनमें महान् अंतर देखनेमें आता है । परन्तु त्रिन्दर्शनमें तत्त्वस्थिति कैसा विशेष भेद मुख्यरूपसे परोक्ष ही है । उनमें कुछ ऐसा भेद नहीं है कि जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सकता हो । इसलिये दोनों सम्प्रदायोंने उत्पन्न होनेवाले गुणवान् पुरुष सम्प्रदायोंके ही देखते हैं; और त्रि तत्त्व तत्त्व-मार्गीयिका अंतराध्वन कम ही कैसा आचरण करते हैं ।

विनामात्रसे निकले हुए दूसरे अनेक मतमतान्तर भी हैं । उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी हृति अनुचित होगी है । त्रिन्दर्शनमें मूल प्रयोजनका भी भाग नहीं; इतना ही नहीं परन्तु जो मूल प्रयोजनसे निरुद्ध प्रशिक्षण ही अवलोकन केते हैं; उन्हें मुनिवक्ता स्वयं भी कहेंगे हो सकता है । क्योंकि वे तो मूल प्रयोजनकी मूलकर केशमें पड़े हुए हैं और अपनी धृष्टता अतिके लिये योंकी परमार्थ-मार्गमें अंतराध्वन करते हैं ।

वे मुनिवक्ता त्रिगु भी धारण नहीं करते, क्योंकि स्वयं-वक्तासे ही उनकी सर्व प्राप्ति रहती है । त्रिगुण अथवा आचार्यकी परमता तो केवल नाममात्र ही उनके पास है; वास्तवमें तो वे उत्पन्न पदार्थमात्र ही हैं ।

कोई कर्मजन्तु जैसी और कोई डोरे जैसी अन्य वस्तुके प्रत्यक्ष-व्यापक आश्रयसे विभिन्न भिन्न मार्ग

ब्रह्मा है, और तीर्थका भेद पैदा करता है, ऐसा महागोहसे गृह जीव छिगामासपनसे ब्रह्म भी पौतण्गदर्शनको धेरकर बैठा हुआ है—यही अस्यतिपूना नामका आश्चर्य माझ्म होता है ।

महात्मा पुरुषोक्ती अन्य भी प्रकृति स्व और परको मोक्षमार्गके सम्मुख करनेवासी होती है। छिगा-मासी जीव अपने बलको मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमें प्रवर्तमान देखकर हर्षित होते हैं, और वह सब, कर्म-ग्रन्थिमें बड़ते हुए अनुमाग और स्थितिबचका ही न्यायक है, ऐसा मैं मानता हूँ ।—(अपूर्ण)

(५)

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु—तत्त्व—पदार्थ । इसमें मुख्य तीन अविकार हैं ।

प्रथम अविकारमें जीव और अजीव द्रव्यके मुख्य भेद कहे हैं ।

दूसरे अविकारमें जीव आर अजीवका परस्पर संबन्ध और उससे जीवका क्या हिताहित होता है, उसे समझानेके लिये, उसकी विशेष पर्यायस्वरूपसे पाप पुण्य आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है । वे सातों तत्त्व जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें समाविष्ट हो जाते हैं ।

तीसरे अविकारमें यथास्थित मोक्षमार्गका प्रदर्शन किया है, जिसको लेकर ही समस्त ज्ञानी-पुरुषोंका उपदेश है ।

पदार्थके विवेचन और सिद्धांतपर जिनकी नींव रखी गई है, और उसके द्वारा जो मोक्षमार्गका प्रतिरोध करते हैं, ऐसे दर्शन छह हैं—(१) बौद्ध, (२) न्याय, (३) सन्न्य, (४) जैन, (५) मीमांसक और (६) वैशेषिक । यदि वैशेषिकदर्शनका न्यायदर्शनमें अवतर्भाव किया जाय तो नस्तिक-विचारका प्रणिपादन करनेवाला छद्म चार्वाकदर्शन अन्ध गिना जाता है ।

मध्य—न्याय, वैशेषिक, सन्न्य, योग, उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा ये के-परिमापमें छह दर्शन माने गये हैं, परन्तु यहाँ तो आपने इन दर्शनोंको जुदा पदविसे ही गिनाया है । इसका क्या कारण है ?

समाधान—के-परिमापमें बताये हुए दर्शन के-को मानते हैं, इसलिये उन्हें उस दृष्टिसे गिना गया है; और उपरोक्त क्रम तो विचारकी परिपाटीके मे-से बताया है । इस कारण यही क्रम योग्य है ।

द्रव्य और गुणका ओ अमन्यत्व—अभेद—बताया गया है वह प्रदेशमें-रहितपना ही है—क्षेत्रभेद-रहितपना नहीं । इसके आशसे गुणका नाश होता है और गुणके नष्टस द्रव्यका नाश होता है, इस तरह दोनोंका ऐक्यमात्र है । द्रव्य और गुणका जो मे-कहा है, वह के-उ-कथनकी अपेक्षा है, वास्तविक दृष्टिसे नहीं । यदि सत्यान और सत्त्वाविशेषके भेदसे ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद हो तो फिर दानों अन्धेन हो जाय—यह सर्वत्र भीतण्गका सिद्धांत है । ज्ञानमा ज्ञानकी साध समवाय सबधसे ज्ञानी नहीं है । समष्टिको समवाय कहते हैं ।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-परमाणु, द्रव्यके गुण हैं ।—(अपूर्ण)

(६)

यह अर्थात् सुप्रसिद्ध है कि प्राणीमात्रको दुःख प्रणिभूत और अधिय है, तथा सुख अनुभूत और प्रिय है । उस दुःखसे रहित होनेके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये प्राणीमात्रका प्रयत्न रहता है ।

प्राणीमात्रका यह प्रयत्न होनेपर भी, वे हुसका ही अनुमन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि कहीं कहीं कोई सुखका वश जो किसी किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दिखई देता भी है, तो वह भी हुसकी वाङ्मयतासे ही देखनेमें आता है।

शंका — प्राणीमात्रको हुसक अप्रिय होनेपर भी, तथा उसके दूर करनेके लिये उसका सदा प्रयत्न रहनेपर भी, वह हुसक दूर नहीं होता; तो फिर इससे तो ऐसा समझमें आता है कि उस हुसके दूर करनेका कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि जिसमें सुखका प्रयत्न निश्चय ही भल जाता हो वह बात तो निश्चय ही जानी चाहिये।

समाधान — हुसके स्वरूपको यथार्थ न समझनेसे, तथा उस हुसके होनेके मूल कारण क्या है, और वे किस तरह दूर हो सकते हैं इसे यथार्थ न समझनेसे तथा हुसक दूर करनेका बीजोक्त प्रयत्न स्वभावसे ही अयथार्थ होनेसे, वह हुसक दूर नहीं हो सकता।

हुसक यद्यपि समीके अनुमनमें आता है, तो भी उसके स्वरूपसे ध्यानमें आनेके लिये उसका यहाँ थोड़ासा व्याख्यान करते हैं:—

प्राणी दो प्रकारके होते हैं —

(१) एक अन्न और दूसरे स्थानर। अन्न उन्हें कहते हैं जो स्वयं मय आदिका कारण देखकर भाग जाते हैं और जो चकने-फिरने आदिकी शक्ति रखते हैं।

(२) स्थानर उन्हें कहते हैं कि जो, जिस जगह देह धारण की है उसी जगह रहते हैं और जिनमें मय आदिके कारण समझकर भाग जाने की शक्ति न हो।

अथवा एकेन्द्रियसे लगाकर पाँच इन्द्रियसक पाँच प्रकारके प्राणी होते हैं। एकेन्द्रिय प्राणी स्थानर कहे जाते हैं, और दो इन्द्रियवाले प्राणियोंसे लगाकर पाँच इन्द्रियसकके प्राणी अन्न कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इन्द्रियोंसे अधिक इन्द्रियाँ नहीं होती।

एकेन्द्रियके पाँच भेद हैं:—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और कल्पति।

कल्पितिका बीजत्व तो साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानस समझमें आता है।

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुमें जीवका अस्तित्व आगम प्रमाणसे और विशेष विचारकसे कुछ समझमें आ सकता है—यद्यपि उसका सर्वथा समझमें आना तो प्रकृष्ट ज्ञानका ही विषय है।

अग्नि और वायुकायिक जीव कुछ कुछ गतियुक्त देखनेमें आते हैं। परन्तु वह गति अपनी निश्चयी शक्तिकी समस्तपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें भी स्थानर ही कहा जाता है।

यद्यपि एकेन्द्रिय जीवोंमें कल्पतिमें जीव सुप्रसिद्ध है, फिर भी इस ग्रंथमें अनुमानसे उसके प्रमाण आरोग्य। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें निम्न प्रकारसे जीवकी सिद्धि की गई है:—(अर्ण)

(७)

जीवके कष्ट —

जीवका मुख्य कष्टन वैतन्य है,

वह देहके प्रमाण है,

वह असङ्ख्यात प्रदेश प्रमाण है, वह वर्तमान प्रदेशों के प्रमाण है,
 वह परिणामी है,
 अपूर्ण है,
 जनत अगुरुल्लभुणसे परिणामनशील द्रव्य है,
 स्वामानिक द्रव्य है,
 कर्ता है,
 मोक्ष है,
 अनादि संसारी है,
 मध्यम स्वयं परिपाक आदिसे वह मोक्ष-साधनमें प्रवृत्ति करता है,
 उसे मोक्ष होती है,
 वह मोक्षमें स्वपरिणामसुख है,

ससार-अवस्थामें मिथ्यात्व, अविरोधि, प्रमाद, कषाय और योग उत्तरोत्तर बंधके स्थान हैं।

सिद्धांतस्थानें योगका भी अभाव है,

यात्र चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य ही सिद्धपद है,

निर्मातृ-परिणाम भावकर्म है।

पुद्गलसत्त्व द्रव्यकर्म है। — (अपूर्ण)

॥ (८) ॥

आत्मत्व—आत्मत्वहीन आदि कर्मोंका पुद्गलके सत्त्वसे जो प्रवृत्ति होता है, उसे द्रव्यात्मत्व जानना चाहिये। जिनमग्न्यान्ते उसके अनेक भेद कहे हैं।

बन्ध—जीव जिस परिणामसे कर्मका बन्ध करता है वह भावबन्ध है। कर्म-प्रदेश, परमाणु और जीवका व्युत्पन्न-प्रवेशात्मकसे सत्त्व होना द्रव्यबन्ध है।

प्रवृत्ति, स्थिति, अनुमाग और प्रदेश इस तरह चार प्रकारका बन्ध है। प्रवृत्ति और प्रदेशबन्ध योगसे होता है। स्थिति और अनुमागबन्ध कषायसे होता है।

सत्त्व—जो आत्मत्वका निरोध कर सके वह चैतन्यस्वभाव भावसत्त्व है; और उससे जो द्रव्यात्मत्वका निरोध करता है वह द्रव्यसत्त्व है। अतः समिति गुप्ति, धर्म अनुपेक्षा और परिपक्व-वय इस तरह चार प्रकारके जो अनेक भेद हैं उन्हें भावसत्त्वके ही भेद जानना चाहिये।

निर्बन्ध—तत्पर्यायान्तरा जिस कारणसे कर्मके पुद्गल रसको योग करते हैं, वह भावनिर्बन्ध है, तथा उक्त पुद्गल परमाणुओंका आत्मप्रदेशसे बाध जाना द्रव्यनिर्बन्ध है।

मोक्ष—सब कर्मोंके क्षय होनेका आत्मस्वभाव भावमोक्ष है। कर्म-वर्गणासे अक्षयद्रव्यका पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

पुण्य और पाप—जीवको द्रुम और अद्रुम भावके कारण ही पुण्य पाप होते हैं। सत्य, द्रुम बाधु, द्रुम नाम और उच्च गोत्रका हेतु पुण्य है। उससे उच्छा पाप है।

सम्पद्दर्शन, सम्पद्ज्ञान और सम्पक्चारित्र्य ये मोक्षके कारण हैं। व्यवहारनसे ये तीनों अद्रुम अद्रुम हैं। निश्चयसे कहा ही इन तीनों रूप है।

व्यवहारको छोड़कर ये तीनों रत्न अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं रहते, इसलिये अस्मा इत तीनों रूप है, और इस कारण मोक्षका कारण भी अस्मा ही है।

और यदि तत्त्वोंकी व्याख्याका अवलम्बभाव सम्पद्दर्शन है।

निष्ठा व्यवहारसे रहित होना सम्पद्ज्ञान है। सदाय निर्वर्ष्य और भासिते रहित जो अवलम्बका और परस्परको पर्यायरूपसे ग्रहण कर सके वह सम्पद्ज्ञान है। उसके साकार उपयोगका अनेक भेद हैं।

जो भावोंके सामान्यस्वरूप उपयोगका ग्रहण कर सके वह दर्शन है। दर्शन शब्द ब्रह्मके अपने भी प्रयुक्त होता है, ऐसा भागमें कहा है।

उपस्थको पहिले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है; केवलीभगवान्को दोनों साथ साथ होते हैं।

अद्रुम भावसे निश्चय और द्रुम भावमें प्रवृत्ति होना चारित्र्य है। व्यवहारनसे औचित्यगियोने उस चारित्र्य तत्त्वको समिति-गुणिकमसे कहा है।

सत्कारके मूल हेतुओंका विशेष भाव करनेके लिये ज्ञानी-गुरुपके जो बाध और अंतरा कियाका निरोध होना है, उसे औचित्यगियोने परम सम्पक्चारित्र्य कहा है।

मुनि ध्यानके द्वारा मोक्षके कारणमूल इन तीनों चारित्र्योंको अवश्य प्राप्त करते हैं; उसके लिये प्रयत्नवान् बिनासे ध्यानका उत्तम अभ्यास करो।

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अग्रिय वस्तुमें मोह न करो, रग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैतृश, सोलह, कुह, पौंच, चार, दो और एक परमेश्वरके वाचक जो मन्त्र हैं उनका अपूर्णक ध्यान करो। इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे जानना चाहिये।

(९)

ॐ नमः

सर्व हु खोंका आत्यंतिक अभाव और परम अभ्यासाय सुखकी प्राप्ति ही मोक्ष है, और यही परम विद है। औचित्यग सम्मार्ग उसका सधुपाय है।

इस सम्मार्गका सश्रित विवेचन इस तरह है—

सम्पद्दर्शन सम्पद्ज्ञान और सम्पक्चारित्र्यकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

सर्वज्ञके ज्ञानमें मासमान तत्त्वोंकी सम्पक् प्रतीति होना सम्पद्दर्शन है।

उस तत्त्वका बोध होना सम्पद्ज्ञान है।

उपदेश तत्त्वका अभ्यास होना सम्पक्चारित्र्य है।

सुख अत्यन्तस्वरूप औचित्यगमसे स्थिति होना, यह तीनोंकी एकता है।

सर्वज्ञदेव, निर्भय गुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे तत्त्वकी प्रतीति होती है ।

सर्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, सर्व मोह, और सर्व बिर्य आदि अतपयका क्षय होनेसे आत्माका सर्वज्ञांतरात्म-स्वभाव प्रगट होता है । निर्भयपदके अम्पासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है । उसका रहस्य सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म है ।

(१०)

सर्वज्ञ-कथित उपदेशसे आत्माका स्वरूप जानकर उसकी सम्पत् प्रकाश प्रतीति करके उसका ध्यान करो ।

ज्यों ज्यों ध्यानकी विद्युद्भि होगी त्यों त्यों ज्ञानावरणीयका क्षय होगा ।

बह ध्यान अपनी कल्पनासे सिद्ध नहीं होता ।

जिन्हें ज्ञानमय आत्मा परमोत्कृष्ट भावसे प्राप्त हुई है, और जिन्होंने समस्त पर द्रव्यका त्याग कर दिया है, उस देवको नमस्कार हो । नमस्कार हो ।

बारह प्रकारके निदानरहित तपसे, वैराग्यभावनासे भावित और ब्रह्मभावसे रक्षित इलाकी ही कर्मोंकी निर्बन्ध होती है ।

बह निर्बन्ध भी दो प्रकारकी समझनी चाहिये —स्वकायप्राप्त आर तपपूर्वक । पहिली निर्बन्ध बापों गतिधर्मे होती है, और दूसरी अन्धकारकी ही होती है ।

ज्यों ज्यों तपसमकी वृद्धि होती है त्यों त्यों त्यों तप करनेसे कर्मकी अधिक निर्बन्ध होती है ।

उस निर्बन्धके कर्मको कहते हैं । मिथ्यादर्शनमें रहते हुए भी जिसे थोड़े समयमें तपसम-सम्पन्नदर्शन प्राप्त करना है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असत्यत सम्पन्नदिको असम्भ्यात गुण निर्बन्ध होती है, उससे असम्भ्यात गुण निर्बन्ध देशविरहितकी होती है, उससे असम्भ्यात गुण निर्बन्ध सर्वविरहित इलाकी होती है, उससे

(अपूर्ण)

(११)

ॐ

हे जीव इतना अधिक क्या प्रमाद !

छुड़ आत्म-पदकी प्राप्तिके लिये बीतराग सम्मार्गकी उपासना करनी चाहिये ।

सर्वज्ञदेव
निर्भय गुरु
दयामुल्य धर्म } ये छुड़ आत्मप्राप्ति होनेके अचकबम हैं ।

श्रीगुरुसे सर्वज्ञज्ञात अनुग्रह ऐसे छुड़ आत्मप्राप्तिके उपायको समझकर, उसके रहस्यको ध्यानमें केकर आत्मप्राप्ति करो ।

सर्वविरति-धर्म पचाजाति और यथाकिंग है । देशविरति-धर्म बारह प्रकारका है ।

स्वरूपरति होते हुए द्रव्यानुयोग सिद्ध होता है ।

विचार-प्रवृत्ति धात करके हुए चरणानुयोग सिद्ध होता है ।

प्रतीतिपुच्छ रति होते हुए करणानुयोग सिद्ध होता है ।

शक्त्योर्ध्वके हेतुको समझाते हुए बर्गकपालुयोग सिद्ध होता है ।

(१)

(१२)

(२)

मोक्षमार्गका अस्तित्व	निर्जरा	ध्याण	आगम
व्रत	वध	मय	सम्प
शुद्ध	मोक्ष	अनेकाल	वर्तमानकाल
धर्म	ज्ञान	लोक	गुणस्थान
धर्मकी धेतयता	दर्शन	अलोक	ब्रह्मानुयोग
कर्म	चारित्र	अहिंसा	करणानुयोग
जीव	तप	सत्य	चरणानुयोग
अजीव	ब्रह्म	असत्य	धर्मकषानुयोग
पुण्य	शुभ	ब्रह्मचर्य	मुनिव
पाप	पर्याय	अपरिग्रह	गृहधर्म
आत्मन	संसार	अज्ञा	परिग्रह
सुख	एकेन्द्रियका अस्तित्व	व्यवहार	उपसर्ग

६९५

ॐ नमः

मूळ ब्रह्म शाश्वत है मूळ ब्रह्म — जीव अजीव
पर्याय अशाश्वत है अनादि निरय पर्यायः—मैक आदि

६९६

मयी मिथ्यानि मिथ्यमवाणं

त्रिगतत्वं-संक्षेप

आकाश अनंत है । उसमें एक चेतनात्मक बिंदु समिष्टिष्ट है ।
बिंदुकी मर्यादा दो अमूर्त ब्रह्मोंसे है जिन्हें बर्मास्तिकाय और अबर्मास्तिकाय कहते हैं ।
जीव और परमाणु-युग्मक ये दो ब्रह्म सक्रिय हैं । सब ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपे शाश्वत हैं ।
जीव अनंत है । परमाणु-युग्मक अनंतान्त है ।
बर्मास्तिकाय एक है । अबर्मास्तिकाय एक है ।
आकाशास्तिकाय एक है । काळ ब्रह्म है
आपेक्ष जीव विज्ञ-ध्याण क्षेत्रावगाह कर सकता है ।

६९७

(१)

ॐ नमः

सब जीव सुखकी इच्छा करते हैं ।

दुःख सबको अप्रिय है ।

सब जीव दुःखसे मुक्त होनेकी इच्छा करते हैं ।

उसका वास्तविक स्वरूप न समझनेसे दुःख दूर नहीं होता ।

उस दुःखके अत्यधिक अभावको मोक्ष कहते हैं ।

अस्पष्ट बीतराग हुए बिना मोक्ष नहीं होती ।

सम्पन्नानके बिना बीतराग नहीं हो सकते ।

सम्पददर्शनके बिना ज्ञान असम्पन्न कहा जाता है ।

बस्तुकी जिस स्वभावसे स्थिति है उस स्वभावसे उस बस्तुकी स्थिति समझनेको सम्पन्नान कहते हैं ।

सम्पददर्शनसे प्रतीत आत्मभावसे आचरण करना चारित्र्य है ।

ज्ञान तीनोंकी एकतासे मोक्ष होती है ।

जीव त्वाभाविक है । परमाणु स्वाभाविक है ।

जीव अनंत है । परमाणु अनंत है ।

जीव और पुद्गलका संयोग अनादि है ।

अवतक जीवको पुद्गलका संबन्ध है तबतक जीव कर्मसहित कहा जाता है ।

मात्रकर्मका कर्त्ता जीव है ।

मात्रकर्मका दूसरा नाम विभाव कहा जाता है ।

मात्रकर्मके कारण जीव पुद्गलको ग्रहण करता है ।

इससे तैजस आदि शरीर और औद्योगिक आदि शरीरका संयोग होता है ।

मात्रकर्मसे विमुक्त हो ता निजभाव प्राप्त हो सकता है ।

सम्पददर्शनके बिना जीव वास्तविकरूपसे मात्रकर्मसे विमुक्त नहीं हो सकता ।

सम्पददर्शनके होनेका मुख्य हेतु निजवचनसे तत्त्वार्थमें प्रतीति होना है ।

(२)

ॐ नमः

विश्व अनादि है ।

आकाश सर्वव्यापक है ।

उसमें छोक सन्निविष्ट है ।

जब चेतनस सम्पूर्ण छोक भरपूर है ।

धर्म, अधर्म, वाक्ताण्ड, काष्ठ और पुद्गल ये द्रव्य अब हैं ।

जीव द्रव्य चेतन है ।

धर्म, अधर्म, वाक्ताण्ड, काष्ठ ये चार द्रव्य व्यर्थ हैं ।

वस्तुतः काष्ठ औपचारिक द्रव्य है ।

धर्म, अधर्म, और वाक्ताण्ड एक एक द्रव्य है ।

काष्ठ, पुद्गल और जीव अनंत द्रव्य है ।

द्रव्य, गुण और पर्यायलक्षक है ।

६९८

एकैत वास्तव्यति

एकैत ब्रह्मा

केवल एक ब्रह्मा

केवल एक ब्रह्मा ही

केवल मात्र ब्रह्मा

केवल मात्र ब्रह्मा ही

ब्रह्मा ही

सुख ब्रह्मा ही

सर्वत्र ब्रह्मा ही

वस निर्विकल्प शब्दातीत सत्त्वस्वरूप ब्रह्मा ही

६९९

मैं असंग सुख चेतन हूँ । वचनातीत निर्विकल्प एकैत सुख अनुभवस्वरूप हूँ ।

मैं परम सुख अचंचल बिद्धानु हूँ ।

अबिद्धानुके संयोग रहके इस आभासको तो देखो ।

आधर्म्यवत् आधर्म्यरूप, घटना है ।

कल्प किसी भी निष्कल्पका अवयव नहीं है ।

स्थिति भी ऐसी ही है ।

७००

ॐ सर्वज्ञाय नमः—नमः सद्गुरुवे

पञ्चास्तिकाय

शत इन्द्रोद्गाय कन्दनीय, तीनों लोकोंको कन्याणकारी, मधुर और निर्मल जिनके वाक्य हैं, अनन्त जिनके गुण हैं, सत्ताको जिन्होंने जीत लिया है, ऐसे सर्वज्ञ बीतरागको नमस्कार ॥ १ ॥

जीवको चारों गतिपोंसे मुक्त करके निर्वाण प्राप्त करनेवाले ऐसे आत्मनको नमस्कार कर, सर्वज्ञ महाभूमिके मुखसे उत्पन्न अव्यतरूप इस शास्त्रको कहता हूँ, उसे श्रवण करो ॥ २ ॥

पौंच अस्तिकायोंके समूहकल्प अथ-समयको सर्वज्ञ बीतरागदेवने छोक कहा है। उसके पश्चात् अनन्त आकाशरूप मात्र अलोक ही अलोक है ॥ ३ ॥

जीव, पुत्रवत्समूह, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पञ्च नियमसे अपने अस्तित्वमें ही रहते हैं, ये अपनी सत्तासे अभिन्न हैं, और अनेक प्रवेशायक हैं ॥ ४ ॥

अनेक गुण और पर्यायोंसे सहित जिसका अस्तित्व-स्वभाव है उसे अस्तिकाय कहते हैं; उससे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

ये अस्तिकाय तीनों कालमें भावरूपसे परिणमन करते हैं। तथा इनमें परिवर्तन कथ्यवाले कालद्रव्यके भिन्न देनेसे छद्म द्रव्य हो जाने हैं ॥ ६ ॥

ये द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, और फिर जुटा हो जाते हैं, परन्तु फिर भी वे अपने अपने स्वभावका त्याग नहीं करते ॥ ७ ॥

सत्तास्वरूपसे समस्त पदार्थ एकरूप हैं। वह सत्ता अनन्त प्रकारके स्वभाववाली है, वह उत्पादक्य प्रीत्यसे मुक्त है और सामान्य-विशेषायक है ॥ ८ ॥

द्रव्यका क्लृप्ति सत् है वह उत्पादक्य और प्रीत्यसे मुक्त है; गुण-पर्यायका आभ्यन्तृत है—ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है ॥ ९ ॥

द्रव्यका उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। उसका स्वभाव ही 'अस्ति' है। उत्पादक्य और प्रीत्य, उसकी पर्यायको लेकर ही होते हैं ॥ १० ॥

द्रव्य अपनी स्वकीय पर्यायोंको प्राप्त होता है—उस उस भावसे परिणमन करता है—इन्द्रियोंसे उसे द्रव्य कहते हैं, वह अपनी सत्तासे अभिन्न है ॥ ११ ॥

पर्यायसे रहित द्रव्य नहीं होता, और द्रव्यरहित पर्याय नहीं होती—जनों ही अनन्यभावे रहते हैं, ऐसा महाभूमिजने कहा है ॥ १२ ॥

द्रव्यके बिना गुण नहीं होते, और गुणोंके बिना द्रव्य नहीं होना—इस कारण दोनोंका (द्रव्य और गुणका) स्वरूप अभिन्न है ॥ १३ ॥

स्यात् अग्नि, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अरक्तम्य, स्यात् अग्नि अरक्तम्य, स्यात् नास्ति अरक्तम्य, स्यात् अन्ति नास्ति अरक्तम्य—इन विधायकोंको लेकर द्रव्यके सप्त भग होते हैं ॥ १४ ॥

मायका कमी मास नहीं होता, और अभावकी उत्पत्ति नहीं होती । उत्पाद और व्यय गुण-पर्यायके स्वभावसे ही होते हैं ॥ १५ ॥

जीव आदि छह पदार्थ हैं । जीवका गुण चैतन्य-उपयोग है । देव, मनुष्य, नारक, तिर्यक आदि उसकी क्लेश पर्यायें हैं ॥ १६ ॥

मनुष्य-पर्यायसे मरण पानेवाला जीव, देव अपना अन्य किसी स्थानमें उत्पन्न होता है । परन्तु दोनों जगह जीवत्व तो शुद्ध ही रहता है । उसका नाश होकर उससे अन्य कुछ उत्पन्न नहीं होता ॥ १७ ॥

जो जीव उत्पन्न हुआ था, उसी जीवका नाश होता है । मरतु तो वह जीव न तो उत्पन्न होता है और न उसका नाश ही होता है । उत्पन्न और नाश तो देव और मनुष्य पर्यायका ही होता है ॥ १८ ॥ इस तरह सदाका विनाश और असद जीवकी उत्पत्ति होती है । जीवको जो देव मनुष्य आदि पर्याय होती हैं वे गतिनाम कर्मसे ही होती हैं ॥ १९ ॥

जीवने ज्ञानावरणीय आदि कर्मभावोंको सुखरूपसे—अतिशय गाम्भीर्यसे—बोध रखता है । उनका अभाव करनेसे अमृतपूर्व सिद्धि प्राप्त करता है ॥ २० ॥

इस तरह गुण-पर्यायसहित जीव माय, अभाव, मातामाय और अभाव-मायसे संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ २१ ॥

जीव पुद्गलसमूह, आकाश तथा वायुके अस्तित्वाय किसीक भी बनाये हुए नहीं—वे स्वकृतसे ही अस्तित्व-स्वभावसे हैं, और ओषधके कारणमृत हैं ॥ २२ ॥

सत्ता स्वभाववाले जीव और पुद्गलके परिवर्तनसे उत्पन्न जो काल है, उसे निश्चयकाल कहा है ॥ २३ ॥

वह काल पाँच वर्ण पाँच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्शसे युक्त है, अक्षुण्ण गुणसे सहित है, अमूर्त है और वर्तना लक्षणसे युक्त है ॥ २४ ॥

* समय, नियम काष्ठ, कला मासी, मुहूर्त, निक्स रात्रि, मास ऋतु, और सप्तसर आदि काल व्यवहारकाष्ठ है ॥ २५ ॥

काष्ठक किसी भी परिमाण (माप) के बिना बहुकाष्ठ और अल्पकाष्ठका भेद नहीं बन सकता । तथा उसकी मर्यादा पुद्गल द्रव्यके बिना नहीं होती, इस कारण काष्ठका पुद्गल द्रव्यसे उत्पन्न होना कहा जाता है ॥ २६ ॥

जीवव्युक्त ज्ञाता उपयोगसहित, प्रभु, कर्ता मोक्ष, देहके प्रमाण, निश्चयनपसे अमूर्त और कर्मावस्थामें मूर्त ये जीवके लक्षण हैं ॥ २७ ॥

कर्म-मार्गसे सर्व प्रकारसे मुक्त होनेसे उर्ध्वलोकके अंतको प्राप्त होकर, वह सर्वत्र सर्वत्रही जीव इन्द्रियसे पर अनंतमुक्तको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

यदि गतिसे बन्धनेवाले पुद्गल-परमाणुकी जितनी हैरतें अतिशय वास्तविक हैं, उसे समझ करते हैं । जितने समयमें देहके पक्क लुपे उसे नियम करते हैं । अर्धशयन समयका एक नियम होता है । अन्नार्थ नियमोंकी एक कक्षा होती है । जीव काष्ठमोदी एक कला होती है । कुछ अधिक जीव कलाओंकी एक मासी अथवा बहिरा होती है । दो बहिराका एक मुहूर्त होता है । तीन मुहूर्तका एक दिन-रात होता है ।—अनुपासक

अपने स्वामानिक भावोंके कारण आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होती है, और अपने कर्मोंसे मुक्त होनेसे वह अनन्त सुखको पाती है ॥ २९ ॥

बुद्ध, इन्द्रिय, आत्मा और स्वासेष्ट्यास इन चार प्राणोंसे जो भूतकाष्ठमें जीवित था, वर्तमान काष्ठमें जीवित है, और मयिष्यकाष्ठमें जीवित रहेगा, वह जीव है ॥ ३० ॥

अनन्त अगुरुष्ठ गुणोंसे निरन्तर परिणमनशील अनन्त जीव हैं। ये जीव असंख्यत प्रदेश प्रमाण हैं। उनमें कितने ही जीवोंने ओक-प्रमाण अवगाहनाको प्राप्त किया है ॥ ३१ ॥

कितने ही जीवोंने उस अवगाहनाको प्राप्त नहीं किया। मिथ्यादर्शन कपाय और योगसहित अनन्त सप्तादी जीव हैं। उनसे रहित अनन्त सिद्धजीव हैं ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार पद्मरुग मणिको दूधमें डाल देनेसे वह दूधके परिणामकी तरह भासित होती है, उसी तरह देहमें स्थित आत्मा मात्र देह-प्रमाण ॥ प्रकाशक है, क्योंकि आत्मा देह-म्यासक है ॥ ३३ ॥

जिस तरह एक काष्ठमें सर्व अवस्थाओंमें बहोका वही जीव रहता है, उसी तरह सर्वत्र सत्त्वर अवस्थाओंमें भी बहोका वही जीव रहता है। अप्यवसायविशेषसे ॥ कर्मकपी रजोमल्लसे वह जीव मज्जित होता है ॥ ३४ ॥

जिनके प्राण-धारण करना बाकी नहीं रहा है—जिनके उसका सर्वथा अभाव हो गया है—ये देहसे मित और बचनसे अगोचर सिद्ध जीव हैं ॥ ३५ ॥

वास्तवमें देखा जाय तो सिद्धपद उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह किसी दूसरे पक्षसे उत्पन्न होनेवाला कार्य नहीं है। इसी तरह वह किसीके प्रति कारणभूत भी नहीं है, क्योंकि उसकी अन्य किसी संवधसे प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ३६ ॥

यदि मोक्षमें जीवका अस्तित्व ही न हो तो फिर शास्त्रत, अशास्त्रत, मध्य, अमध्य, शून्य, अशून्य विज्ञान और अभिज्ञान ये मात्र ही किसके ॥ ३७ ॥

कोई जीव कर्मके फलका वेदन करते हैं; कोई जीव कर्म-सम्बन्धके कर्तृत्वका वेदन करते हैं; और कोई जीव मात्र छुट्टा ज्ञानके ही स्वभावका वेदन करते हैं—इस तरह वेदकभावसे जीवोंके तीन भेद हैं ॥ ३८ ॥

स्वाधरकायिक जीव अपने अपने क्रिये हुए कर्मोंके फलका वेदन करते हैं। अस जीव कर्मवश चेतनाका वेदन करते हैं और प्राणोंसे रहित अतीन्द्रिय जीव छुट्टाज्ञान चेतनाका वेदन करते हैं ॥ ३९ ॥

ज्ञान और दर्शनके भेदसे उपयोग दो प्रकारका है। उसे जीवोंसे सर्व काष्ठमें अभिन्न समझना चाहिये ॥ ४० ॥

मति, भुत अवधि मन-पर्यव, और केवलके भेदसे ज्ञानके पाँच भेद हैं। कुमति, कुमुत और विमग ये अज्ञानके तीन भेद हैं। ये सब ज्ञानोपयोगके भेद हैं ॥ ४१ ॥

चक्षुर्दर्शन, श्रवणदर्शन, अवधिदर्शन और अभिनाशी अनन्त केवलदर्शन ये दर्शनोपयोगके चार भेद हैं ॥ ४२ ॥

आत्मा कुछ ज्ञान गुणके सम्बन्धसे ज्ञानी है, यह बात नहीं है। परमार्थसे तो दोनोंकी अभिज्ञता ही है ॥ ४३ ॥

यदि इयं मित्र हो और गुण मित्र हो, तो एक द्रव्यके अनन्त द्रव्य हो जाय, अथवा इयं का ही अभाव हो जाय ॥ ४४ ॥

द्रव्य और गुण अविभक्तसे रहते हैं—दोनोंमें प्रवेशमेद नहीं है। उनमें ऐसी एकता है कि द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है, और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ॥ ४५ ॥

व्यपदेश (कथन), सत्ताम, सत्त्वा और विषय इन चार प्रकारकी विभक्तियोंसे द्रव्य और गुणके अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु परमार्थनियमों से तो इन चारोंका अन्तर्भाव ही है ॥ ४६ ॥

जिस तरह किसी पुरुषके पास परिघन हो तो वह घनमान कहा जाता है, उसी तरह आत्मके ज्ञान होनेसे वह ज्ञानमान कहा जाता है। इस तरह तत्त्व पुरुष भेद-अन्तर्भाव के स्वरूपको दोनों प्रकारसे जानते हैं ॥ ४७ ॥

यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद ही तो फिर दोनों अचेतन ही हो जायें—यह बीतराग सर्वज्ञ सिद्धान्त है ॥ ४८ ॥

यदि ऐसा मानें कि ज्ञानका सर्वत्र होनेसे ही आत्मा ज्ञानी होती है, तो फिर आत्मा और ज्ञान (वस्तु) दोनों एक ही हो जायेंगे ॥ ४९ ॥

समस्तिको समवाय कहते हैं। वह अप्रयुक्तमूल और व्युत्पत्ति है, इसलिये बीतरागियोंने द्रव्य और गुणके सर्वत्रको व्युत्पत्ति कहा है ॥ ५० ॥

परमात्माके र्ण, रस गंध और स्पर्श ये चार गुण पुनश्चद्रव्यसे अविभक्त हैं। व्यवहारसे ही वे पुरुष द्रव्यसे मिश्र कहे जाते हैं ॥ ५१ ॥

इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अविभक्त हैं। व्यवहारसे ही उनका आत्मासे भेद कहा जाता है ॥ ५२ ॥

आत्मा (वस्तुरूपसे) अनादि-अनन्त है और सत्तामकी अनेका सदि-सन्त है, इसी तरह वह सदि-अनन्त भी है। पाँच भाषाकी प्रचलनसे ही वे सब भग होते हैं। सत्तामसे तो जीव द्रव्य अनन्त है ॥ ५३ ॥

इस तरह सत्त्व विनाश और असत् जीवका उत्पत्ति परस्पर विरुद्ध होने पर भी, जिस तरह अविरोधरूपसे सिद्ध होता है, उस तरह सर्वत्र बीतरागने कहा है ॥ ५४ ॥

नारक तिर्यक्, मनुष्य और देव ये मामकर्मकी प्रकृतियों सत्ताम विनाश और असत्माकका उत्पत्ति करती हैं ॥ ५५ ॥

उदय उपशम क्षय क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत विस्तार है ॥ ५६ ॥

द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर उदय आदि भावोंसे जीव परिणमन करता है और भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म परिणमन करता है। द्रव्यमात्र कर्म एक दूसरेके भावके कर्ता नहीं हैं, तथा वे किसी कर्तृके विना नहीं होते ॥ ५७ ॥

सब अपने अपने स्वभावके कर्ता हैं; उसी तरह आत्मा भी अपने ही भावके कर्ता है; अथवा पुरुषकर्मकी कर्ता नहीं है—ये बीतरागके वाक्य समझने चाहिये ॥ ५८ ॥

यदि कर्म ही कर्मका कर्ता हो, और आत्मा ही आत्माकी कर्ता हो, तो फिर उस कर्मके फलका भोग कौन करेगा ? और कर्म अपने फलको किसे देगा ? ॥ ५९ ॥

कर्म अपने स्वभावके अनुसार यथार्थ परिणामन करता है, और जीव अपने स्वभावके अनुसार मातृकर्मका कर्ता है ॥ ६० ॥

सम्पूर्ण लोक पुद्गल-समूहोंसे—सूक्ष्म और बादर विभिन्न प्रकारके अनन्त स्वरूपोंसे—अतिशय गाढरूपसे मग हुआ है ॥ ६१ ॥

आत्मा जिस समय अपने मातृकर्मरूप स्वभावको करता है, उस समय वहाँ रहनेवाले पुद्गल-परमाणु अपने स्वभावके कारण द्रव्यकर्मभावको प्राप्त होते हैं, तथा परस्पर एकत्र अलग-हकरूपसे अतिशय गाढरूप हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

कर्मे कर्ता न होनेपर भी, जिस तरह पुद्गलद्रव्यसे अनेक स्वरूपोंकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे स्वभाविकरूपसे ही परिणामन करता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६३ ॥

जीव और पुद्गल-समूह परस्पर मजबूतरूपसे सन्नद्ध हैं। यथाकाल उदय आनेपर उससे जीव सुख-दुःखरूप फलका भोग करता है ॥ ६४ ॥

इस कारण जीव कर्मभावका कर्ता है, और मोक्ष भी वही है। वेदकर्मत्वके कारण वह कर्मफलका अनुभव करता है ॥ ६५ ॥

इस तरह आत्मा अपने भावसे ही कृता और मोक्षा होती है। मोक्षसे चारों ओरसे आच्छादित यह जीव ससारमें परिभ्रमण करता है ॥ ६६ ॥

(सिद्ध्यन्त) मोक्षका उपश्रम होनेसे अथवा क्षय होनेसे, नीतगुण-क्षयित मार्गको प्राप्त भीरु छुड़ जानाचारित जीव निर्वाणपुष्टिको गमन करता है ॥ ६७ ॥

एक प्रकारसे दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे चार गतियोंके भेदसे, पाँच गुणोंकी मुख्यतासे, छह कल्पके भेदसे सात भगोंके उपयोगसे, आठ गुण अथवा आठ कर्मोंके भेदसे, नव तत्त्वोंके भेदसे और दश स्थानकसे जीवका निरूपण किया गया है ॥ ६८-६९ ॥

महसिबन्ध स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशबन्ध सर्वाया मुक्त होनेसे जीव उत्तरगमन करता है। सत्तार अपना कर्मावस्थामें जीव विनिश्चालको छोड़कर अन्य निशाओंमें गमन करता है ॥ ७० ॥

स्वप्न, स्वप्नदेश, स्वप्नप्रवेश और परमाणु इस तरह पुद्गल-अस्तित्वरूपके चार भेद जानन चाहिये ॥ ७१ ॥

सकल समस्त लक्षणवालेको स्वप्न, उसके आधे भागको देश, उसके आधे भागको प्रदेश, और जिसका कर्म भाग न हो सके, उस परमाणु कहते हैं ॥ ७२ ॥

बादर और सूक्ष्म परिणामनको प्राप्त स्वरूपोंमें पूरण (बढ़ना) और गणन (कम होना) स्वभाव होनेके कारण परमाणु पुद्गलके नामसे कहा जाता है। उसके छह भेद हैं, उससे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ७३ ॥

सर्व स्वरूपोंका जो सबसे अग्रिम भेद कहा है वह परमाणु है। वह सत्त्व, असत्त्व, एक, अति-मापी और मूर्त होता है ॥ ७४ ॥

जो निष्कृष्टसे मूर्त है और चार भातुओंका कारण है, उसे परमाणु समझना चाहिये । वह परिणमन-स्वभावसे युक्त है, स्वयं शब्दरहित है परन्तु शब्दका कारण है ॥ ७५ ॥

स्वभावसे शब्द उत्पन्न होता है । अनन्त परमाणुओंके मिश्रण (समाप्त) के समूहको स्वर कहते हैं । इन स्वरोंके परस्पर स्पर्श होनेसे (सम्बद्ध होनेसे) निश्चयसे शब्द उत्पन्न होता है ॥ ७६ ॥

वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अवकाश (आश्रय) प्रदान करता है, स्वयं एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके बाह्य अवकाशको प्राप्त नहीं होता, दूसरे द्रव्यको (आकाशको तरह) अवकाश प्रदान नहीं करता, स्वभावसे भेदका कारण है, स्वरूपका कारण है, स्वरूपका कर्ता है और कालके परिमाण (माप) और सूक्ष्मा (गणना) का हेतु है ॥ ७७ ॥

जो एक रस एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दको उत्पत्तिका कारण है, एक प्रदेशात्मक शब्दरहित है, जिसका स्वरूप परिणमन होनेपर भी जो उससे भिन्न है, उसे परमाणु समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

जो इन्द्रियोंद्वारा उपमोक्ष्य है तथा क्षया मम और कर्म आदि जो जो अनन्त वामूर्त पदान्त है, उस सबको पुद्गलव्य समझना चाहिये ॥ ७९ ॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य अरत, अकारण, अगम, अशब्द और अस्पर्श है, सकल लोक-प्रमाण है, तथा अचंड, निस्तीर्ण और असंख्यात प्रदेशात्मक है ॥ ८० ॥

वह निरंतर काल अगुरुस्थु गुणरूपसे परिणमन करता है गति-क्रियामुक्त पदार्थोंको कारणभूत है, स्वयं कार्यरहित है अर्थात् वह द्रव्य किसीसे भी उत्पन्न नहीं होता ॥ ८१ ॥

जिस तरह मनुष्योंको गमन करनेमें अक्ष उपकारक होता है उसी तरह जो जीव और पुद्गल द्रव्यको गतिका उपकार करता है, उसे धर्मास्तिकाय समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

ऐसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है, उसी तरह अधर्मास्तिकाय भी स्वतंत्र द्रव्य है । वह पुद्गलोंकी तरह स्थिति-क्रियामुक्त जीव और पुद्गलोंको कारणभूत है ॥ ८३ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायसे लोक अलोकका विभाग होता है । ये धर्म और अधर्म द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा छुदे जुदे हैं, स्वयं इक्ष्णु वज्र क्रियासे रहित हैं, और अक्ष-प्रमाण हैं ॥ ८४ ॥

धर्मास्तिकाय कुछ जीव और पुद्गलोंको स्वयं चकाता है, यह बात नहीं है । परन्तु जीव पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं वह उन्हें केवल सहायकमात्र होता है ॥ ८५ ॥

जो सब जीवोंको और दोष पुद्गलोंको सम्पूर्ण अवकाश प्रदान करता है उसे लोकस्थान कहते हैं ॥ ८६ ॥

जीव पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्मद्रव्य लोकसे भिन्न हैं, अर्थात् वे लोकमें ही हैं—लोकके बाहर नहीं हैं । आकाश लोकसे भी बाहर है और वह अनन्त है उसे अलोक कहते हैं ॥ ८७ ॥

यदि आकाश गमन और स्थितिका कारण होता तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावके कारण सिद्धमगवान्मन्त्र अलोकमें भी गमन हो जाता ॥ ८८ ॥

इस कारण सर्वत्र नीचगण्येवने सिद्धमगवान्मन्त्र स्थान ऊर्ध्वलोकके अन्तमें बताया है । इस कारण आकाशको गमन और स्थानका कारण नहीं समझना चाहिये ॥ ८९ ॥

यदि गमन अथवा स्थानका हेतु आकाश होता, तो अलोककी हानि हो जाती और लोकके अतकी वृद्धि हो जाती ॥ ९० ॥

इस कारण धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। गमन और स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं। इस तरह सर्वत्र वीतरागने द्योता जीवोंको लोकके स्वभाषका वर्णन किया है ॥ ९१ ॥

धर्म, अधर्म और लोकाकाश अपृथक्भूत (एक लोकाकाशही) और सदृश परिणामवाले हैं। ये तीनों द्रव्य निश्चयसे पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं, और अपनी अपनी सत्तासे रहते हैं। इस तरह इनमें एकता और अनेकता दोनों हैं ॥ ९२ ॥

आकाश, काळ, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं, और पुद्गल द्रव्य मूर्त है। उनमें जीव द्रव्य चेतन है ॥ ९३ ॥

जिस तरह जीव और पुद्गल एक दूसरेको कियाने सहायक हैं, उस तरह दूसरे द्रव्य सहायक नहीं हैं। जीव पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे क्रियावान् होता है। काळके कारण पुद्गल अनेक स्वरूपसे परिणमन करता है ॥ ९४ ॥

जीवका जो इन्द्रिय-प्राप्त विषय है वह पुद्गलद्रव्य मूर्त है, बाकीके सब अमूर्त हैं। मन अपने विचारके निमित्तत्वसे दोनोंको जानता है ॥ ९५ ॥

काळ परिणामसे उत्पन्न होता है। परिणाम काळसे उत्पन्न होता है। दोनोंका ऐसा ही स्वभाव है। निश्चयकाळसे क्षणभंगुरकाळ होता है ॥ ९६ ॥

काळ शब्द अपने अस्तित्वका बोधक है। उसमें एक निय है और इसका उलटाद और व्युत्पत्तिका है ॥ ९७ ॥

काळ, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल तथा जीव इन सबकी द्रव्य संज्ञा है। काळकी अस्तित्वप्राप्त संज्ञा नहीं है ॥ ९८ ॥

इस प्रकार निर्मयके प्रवचनके रहस्यभूत इस पञ्चास्तिकाव्यके स्वल्पके संक्षिप्त विवेचनको पदार्थरूपसे जानकर, जो राग-द्वेषसे मुक्त होता है वह सर्व दुःखसे मुक्त हो जाता है ॥ ९९ ॥

इस परमार्थको जानकर जिसने मोहका नाश कर लिया है, जिसने राग-द्वेषको दण्ट कर दिया है, वह जीव उत्तमकी दीर्घ परम्पराका माध करके शुद्ध आश्रमधर्मे जीन जाता है ॥ १०० ॥

इति पञ्चास्तिकाव्य प्रथम अध्याय

ॐ जिनाय नमः—नमः श्रीसद्गुरुषे

मोहके कारण श्रीभगवान्महावीरको मत्स्यपूर्वक नमस्कार करके उस भगवान्के कहे हुए पदार्थके मन्त्ररूप मोहके मार्गका कहता हूँ ॥ १ ॥

दर्शन ज्ञान तथा राग-द्वेषरहित चारित्र्य, और सम्पद्बुद्धि विशेष प्राप्त हुई है, ऐसे भव्य जीवको माधमार्ग होता है ॥ २ ॥

तत्त्वार्थकी प्रतीति सम्पन्न है उन मार्गका जानमा ज्ञान है और नियम-मार्गके प्रति दण्ड-मात्र होता चारित्र्य है ॥ ३ ॥

जीव, बज्जिव, पुण्य, पाप, आश्रय, सचर, निर्नय, वच और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं ॥ ४ ॥

जीव दो प्रकारके होते हैं—संसारी और असंसारी। दोनोंका लक्षण चैतन्योपयोग है। संसार जीव देहसहित और असंसारी देह रहित होते हैं ॥ ५ ॥

पृथिवी, अग्नि, वायु और बनस्पति ये जीवोंसे युक्त हैं। इन जीवोंको मोक्षकी प्रवृत्ति रहती है, और उन्हें स्पर्श इन्द्रियके विषयका ज्ञान मौजूद रहता है ॥ ६ ॥

उनमें तीन प्रकारके जीव स्थावर हैं। अन्य योगवाले अश्विकाय और वायुकाय जीव जल हैं। उन सबको मनके परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ७ ॥

ये पाँचों प्रकारके जीव मन-परिणामसे रहित और एकेन्द्रिय हैं, ऐसा सर्वज्ञ कहा है ॥ ८ ॥

जिस तरह जलमें पत्थरका गर्म बहता है, जिस तरह मनुष्यके गर्ममें मूर्च्छागत अवस्था होनेपर भी जीवत्व मौजूद है, उसी तरह एकेन्द्रिय जीवोंको भी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

ईशूक, छछ, सीप, हृमि इत्यादि जो जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें दो इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १ ॥

दूँ, मकड़ी, चीटी, बिन्दु इत्यादि, और अनेक प्रकारके दूसरे भी जो कीड़े रस स्पर्श और गंधको जानते हैं, उन्हें तीन इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ११ ॥

ढोंस, मच्छर, मक्खी, भमरी, जमर, पतंग इत्यादि जो रस, रस गंध और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें चार इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १२ ॥

देव, मनुष्य, नारक, तिर्यक (जखर, स्पखर और खेचर) ये वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्दको जानते हैं। ये जखान पाँच इन्द्रियोंवाले जीव हैं ॥ १३ ॥

देवताओंके चार निकट्य होते हैं। मनुष्य कर्म और अकर्मभूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं। तिर्यक अनेक प्रकारके हैं। नरकी जीवोंकी जितनी पृथिवी-भूमियाँ हैं, उसीकी जातियाँ हैं ॥ १४ ॥

पूर्वमें बोधो हुई वायुके क्षीण हो जानेसे जीव गति नामकर्मिक कारण वायु और जलके बरा होकर दूसरी देहमें जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह देहाश्रित जीवोंके स्वस्वके विचारका निर्णय किया। उनके भव्य और अनभव्यके भेदसे दो भेद हैं। देह रहित सिद्धमगवान् हैं ॥ १६ ॥

जो सब कुछ जानता है, देखता है, सुनकर गाथा करके सुनकी श्रद्धा करता है, धूम और बह्म कर्म करता है और उसके फलको भोगता है, वह जीव है ॥ १७ ॥

आकाश, काष्ठ, पृष्ठ और धर्म अपर्यय प्रथम जीवत्व गुण नहीं है, उन्हें अचेतन कहते हैं। और जीवको सचेतन कहते हैं ॥ १८ ॥

सुख-दुःख वेदना क्षित्तमें प्रवृत्ति, जहितमें भीति ये तीनों काव्यमें निसे नहीं हैं, उसे सर्वत्र महामुनि अजीव कहते हैं ॥ १९ ॥

संस्थान संघात, वर्ण रस स्पर्श गंध और शब्द इस तरह पृष्ठस्पर्शसे उत्पन्न होनेवाली अनेक गुण-वर्ण्य हैं ॥ २ ॥

वरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अनिर्दिष्ट सत्त्वात्, और नवनके अगोचर त्रिसका चैतन्य गुण है, यह जीव है ॥ २१ ॥

जो निश्चयसे संसारमें स्थित जीव है, उसके दो प्रकारके परिणाम होते हैं । परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, और उससे लक्ष्मी और गुरी गति होती है ॥ २२ ॥

' गतिकी प्रसिद्धि देह उत्पन्न होती है, देहस इन्द्रियों आर इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

संसार चक्रवाचमें उन भावोंसे परिभ्रमण करते हुए जीवोंमें किसी जीवका संसार अनादि-संत है, और किसीका अनादि-अनंत है—ऐसा भगवान् सर्वज्ञने कहा है ॥ २४ ॥

मिसके भावोंमें अज्ञान, राग, द्वेष और चित्तकी प्रसन्नता रहती है, उसके पुन-अपुन परिणाम होते हैं ॥ २५ ॥

जीवको पुन परिणामसे पुण्य होता है, और अपुन परिणामसे पाप होता है । उससे पुन-पुन पुण्यके ग्रहणरूप कर्मावस्था प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

दयालुरको, क्षुधालुरको, रागीको अपना अन्य किसी दुःखी चित्तवाले जीवको, उसके-दुःख दूर करनेके उपायकी क्रिया करनेको अनुकंपा कहते हैं ॥ २७ ॥

जीवको कोच, मान, माया, और खोमकी मिश्रित सुमित कर देती है, और यह पाप-भावकी उत्पत्ति करती है ॥ २८ ॥

बहुत प्रसादवाली क्रिया, चित्तकी मस्तिष्कता, इन्द्रियोंसे विषयोंमें सुखता, दूसरे जीवोंको दुःख देना, उनकी निन्दा करनी इत्यादि आचरणोंसे जीव पापात्मक करता है ॥ २९ ॥

चार सहायों, कृष्ण आदि तीन लक्ष्मणों, इन्द्रियाधीनत्व, वारं और श्रेष्ठ ध्यान, और दुष्टमात्रवाली क्रियाओंमें मोह होना—यह मातृपापात्मक है ॥ ३० ॥

जीवको इन्द्रियों कयास और सहायका जप करनेवाला कल्याणकारी मार्ग जिस काष्ठमें रहता है, उस काष्ठमें जीवको पापात्मकरूप छिद्रका निरोध हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

जिसे किसी भी द्रव्यके प्रति राग द्वेष और अज्ञान नहीं रहता, ऐसे सुख-दुःख में समदर्शिके स्वामी मित्रिय महात्माको पुन-अपुन आत्मन नहीं होता ॥ ३२ ॥

योगका निरोध करके जो तपश्चर्या करता है, यह निश्चयसे बहुत प्रकारके कर्मोंकी निर्वृत्त करता है ॥ ३३ ॥

जिस संपत्तिके जिस समय योगमें पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नहीं होती, उस समय उसे पुन और अपुन कर्मके कर्तृत्वका भी संवर—निरोध—हो जाता है ॥ ३४ ॥

जो आत्मार्पण साधन करनेवाला, संवरपुण्य होकर, आत्मन्यारपण जानकर तत्पुण्य ध्यान करता है, यह महात्मा साधु कर्म-रजको छाड़ डालता है ॥ ३५ ॥

जिसे राग, द्वेष, मोह और योगका ध्यान नहीं रहता, उस पुन-अपुन कर्मको जलाकर मय्य कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है ॥ ३६ ॥

जो, दर्शन-ज्ञानसे भापूर और अन्य द्रव्यके ससंगति रहित ऐसे व्यापको, निर्बलके हेतुसे करता है, वह महत्त्वा स्वभावसहित है ॥ १७ ॥

जो संयतुक होकर सर्व कर्मोंकी निर्बल करता हुआ वेदनीय और आयुर्कर्मसे रहित होता है, वह महत्त्वा उसी मगसे मोक्ष जाता है ॥ १८ ॥

जीवका स्वभाव अप्रतिष्ठित ज्ञान-दर्शन है । उसके अभिधत्स्वरूप आचरण करनेको (पुनः निधत्स्वरूप स्थिर स्वभावको) सर्वज्ञ बीतरागसेवने निर्मल चारित्र कहा है ॥ १९ ॥

वस्तुतः आत्माका स्वभाव निर्मल ही है; परन्तु गुण और पर्याययुक्त होकर उसने पर-सम्प परिणामसे अनासि परिजन्म किया है, इसलिये वह अनिर्मल है । यदि वह आत्मा स्व-सम्पको प्राप्त कर ले तो कर्म-बंधसे रहित हो जाय ॥ २० ॥

जो पर-द्रव्यमें सुप्त अपना अज्ञान रग करता है, वह जीव स्व चारित्रसे भ्रष्ट होता है, और वह पर-चरित्रका आचरण करता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

त्रिस मात्से आत्माको पुण्य और पाप-आश्रयकी प्राप्ति हो, उसमें प्रवृत्ति करनेवाली आत्मा पर चारित्रमें आचरण करती है, ऐसा बीतराग सर्वज्ञने कहा है ॥ २२ ॥

जो सर्व सुगसे मुक्त होकर, अभिधत्स्वरूपसे आत्म-स्वभावमें स्थित है, निर्मल जाता प्रया है, वह जीव स्व-चरित्रका आचरण करनेवाला है ॥ २३ ॥

पर-द्रव्यमें मात्से रहित, निर्मलक्य ज्ञान-दर्शनमय परिणामयुक्त जो आत्मा है, वह स्व-चरित्र आचरण है ॥ २४ ॥

त्रिसे सम्पत्त्य, आत्मज्ञान, राग-द्वेषसे रहित चारित्र और सम्पत्कृति प्राप्त हो गई है, ऐसे मय्य जीवको मोक्षमार्ग होता है ॥ २५ ॥

तत्पार्यमें प्रतीति होना सम्पत्त्य है । तत्पार्यका ज्ञान होना ज्ञान है; और विषयके मोक्षयुक्त मार्गके प्रति शांतिमान होना चारित्र है ॥ २६ ॥

धर्मास्तिकाय आदिके स्वरूपकी प्रतीति होना सम्पत्त्य है, बाह्य अंग और चौदह दूरका जानना ज्ञान है, तथा तत्पार्य आत्में प्रवृत्ति करना व्यवहार मोक्षमार्ग है ॥ २७ ॥

जहाँ सम्पत्त्य-ज्ञान आत्में प्रवृत्ति करनेवाला मय्य आत्मा, एक आत्मको सिद्धाय अन्य कुछ भी नहीं करती, केवल अभिध आत्ममय ही रहती है, वहाँ सर्वज्ञ बीतरागने निधय मोक्षमार्ग कहा है ॥ २८ ॥

जो आत्मा आत्म-स्वभावमय ज्ञान-दर्शनका अभेदरूपसे आचरण करती है, वह स्वयं निधय ज्ञान दर्शन और चारित्र है ॥ २९ ॥

जो इन सबको मनेगा और देखेगा वह अध्यात्म सुखका अनुभव करेगा । इन मार्गोंकी प्रतीति मय्यको ही होती है, अवयवको नहीं होती ॥ ३० ॥

दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मोक्षमार्ग है; उसके ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; और (अमल कारणों) उसमें बंध भी होता है, ऐसा सुनिश्चित कहा है ॥ ३१ ॥

अथ, मित्र, वैश्य प्रवचन, गण और ज्ञानमें प्रतिक्रिया और बहुत पुण्यका उपार्जन करता है, परन्तु वह सब कर्मोंका फल नहीं करता ॥ ३२ ॥

निसके हृदयमें पर-श्रव्यके प्रति व्युत्पन्न भी राग रहता है, वह यदि सब व्यागमोंका जानने पाता हो तो भी वह स्व-समयको नहीं जानता, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

इसलिये सब इन्द्रजालोंसे निवृत्त होकर निःसंग और निर्ममत्व होकर जो सिद्धस्वरूपकी मक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

परमेष्ठीपदमें निते तत्त्वार्थकी प्रतीतिपूर्वक मक्ति है, और निसकी बुद्धि निर्मम प्रवचनमें कश्चि-पूर्वक प्रविष्ट हुई है, तथा जो समय-तत्पराहित आचरण करता है, उसे मोक्ष कुछ भी दूर नहीं है ॥ ५५ ॥
जो कईतकी, सिद्धकी, वैश्यकी और प्रवचनकी मक्तिसहित तत्पराधी करता है, वह नियमसे देखोक्तको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

इस कारण इन्द्रजालोंसे निवृत्ति करो । कहीं भी किंचिन्मात्र भी राग मत करो । क्योंकि वीतराग भव-सागरको पार हो जाता है ॥ ५७ ॥

मैंने प्रवचनकी मक्तिसे उत्पन्न प्रेरणासे, मार्गकी प्रमादनाके लिये, प्रवचनके रहस्यमय पंचा-स्तिकार्यके सम्प्रत्यक्ष इस शास्त्रकी रचना की है ॥ ५८ ॥

इति पञ्चास्तिकार्य समाप्त

७०१ क्वाणीजा, फागुन वदी ११॥ मंगल १९५३

संवत् १९५३ को फागुन वदी १२ भौमवार—

विन	मुह्य	आचार्य
सिद्धांत	पदति	धर्म
छांतरस	वर्हिता	मुह्य
विगादि	व्यवहार	विनमुद्रा-सूचक
मत्तार	समावेश	
छांतरस	प्रवचन	
विन	वन्द्यका	धर्मप्राप्ति
छोक आदि स्वरूप—	सहायकी	निवृत्ति-समाधान
विन	प्रतिमा	कारण

कुछ गृह-व्यवहारकी छांत करके परिगृह आदि कापित निवृत्त होना चाहिये ।

अप्रमत्त गुणस्यानन्तक पहुँचना चाहिये । सर्वथा भूमिकाका सहजपरिणामी ध्यान—

७०२ क्वाणीजा, फागुन वदी १२ मीम १९५३

श्रीमद्भारतचन्द्र-स्य आत्मदत्ता-प्रकाश

कहा । इस दिनको भय है, जो अपूर्व शान्ति जाग्रत हुई है । इस वरकी अवस्थामें यह पाप उत्पन्न हुई और उदय-कर्मका गर्व दूर हो गया । कहा । इस दिनको भय है ॥ १ ॥

७०३

कर्म रे विरत आ करो कायी मे रे योति अपूर्व रे,

दय बने रे पाप जाली, बदो उदय कर्मो गर्व रे । कर्म ॥ १ ॥

संघट्ट उभीससो इकतालीसमें अपूर्ण कम प्राप्त हुआ; और उभीससो विपाकिमें बहुत वैष्णव-
प्राप्त प्रकाशित हुई। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ २ ॥

संघट्ट उभीससो सैंतालीसमें सुख समकितका प्रकाश हुआ कुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा
और निजस्वरूपका प्राप्त हुआ। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रदर्शमें पड़ना पड़ा। ज्यों
ज्यों उसे भयानक मारकर भगते थे, त्यों त्यों वह उस्ता बढ़ता ही जाता था और रचनात्र भी कम न
होता था। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ खीज मानस होती है। मनमें
ऐसा मासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सुखबन्धक उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अकल्प्य होगा—ऐसा
निश्चय हो गया है। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ ६ ॥

अहा! यह कैसी अपूर्ण वृत्ति है इससे अग्रमत्तयोग होगा, और अग्रमत्त केकभूमिकाओ
स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाधो रहा है, उसे अकल्प्य ही भोगका है। इस कारण एक ही देह धारण
करके निरुक्त निजदेशको जाऊँगा। अहा! इस दिनको घन्य है ॥ ८ ॥

७०३

बालीमा, चैत्र सुदी ३ रवि १९५१

रहस्यहृष्टि अथवा समिति-विचार

परममहिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे रत्न मही, और परमदेवसे परिग्रह-उपसर्ग
करनेवालेके प्रति जिसे देव मही, उस पुरुषरूप भगवान्‌को वास्तविक नमस्कार हो।

हेपरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है धीरज रक्षणा चाहिये।

भोगनीति में प्रवृत्तानीति आत्मी अपूर्ण अनुसार है,
भोगनीति में वैष्णवीति अनुभूत वैष्णव धार है। कर्म ॥ १ ॥
भोगनीति में सुखवादीति समकित सुख प्रकाश है
कुल अनुभव बन्नी दशा निजस्वरूप अवगमन है। कर्म ॥ २ ॥
जो आत्मी है उदय करनी परिग्रह कार्य प्रदर्श है,
जो जो है उदयेजीव, जो जो न ही एक रत्न है। कर्म ॥ ४ ॥
बहुत दम न चाहिये, हरे वृत्ति जीव कार्य है,
जो जहाँ है है जो जो दम जो जो प्रकाश है। कर्म ॥ ५ ॥
बहुत दम न चाहिये, लक्ष्यमयी उद्धार है,
जो अकारण का देहनी दम नही निरपार है। कर्म ॥ ६ ॥
आरी अपूर्ण वृत्ति अही नही अग्रमत्त योग है
कर्म लक्ष्य भूमिका वर्यनी देह वियोग है। कर्म ॥ ७ ॥
अररर कर्मनी योग है बाधो वही अग्रमत्त है
देही देह एक न चाहिये जो जो लक्ष्य लक्ष्य है। कर्म ॥ ८ ॥

(१) शका — मुनि..... 'को आचार्य पढ़ते हुए शका हुई है कि छात्रको दीर्घशका आदि अरण्यों में भी बहुत सफ़्त मार्गका प्रक्रमण देखनेमें आता है, तो ऐसी ऐसी वस्तु क्रियाओंमें भी-इतनी शक्ति सफ़्ती रखनेका क्या कारण होगा '

समाधान — सतत अन्तर्मुख उपयोगमें स्थिति रहना ही निर्मयका परम धर्म है। — एक समय ही उस उपयोगको बहिर्मुख न करना चाहिये, यही निर्मयका मुख्य मार्ग है। परन्तु उस समयके लिये जो देह आदि साधन बताये हैं, उनके निर्वाहके लिये सहज ही प्रवृत्ति भी होना उचित है। तथा उस तरहकी कुछ भी प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है। इस कारण उस प्रवृत्तिके इस तरह प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा दी है कि जिससे वह प्रवृत्ति अन्तर्मुख उपयोगके प्रति रहा रहे। यद्यपि कष्ट और सहज अन्तर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तरहमें गुणस्थानमें ही होता है, किन्तु अनिर्मल विचारधाराकी प्रवृत्तिसहित अन्तर्मुख उपयोग तो सर्वत्र गुणस्थानमें भी होता है। यहाँ वह उपयोग प्रमादसे स्थिति हो जाता है, और यदि वह उपयोग यहाँ कुछ विशेष कारणों से स्थिति हो जाय तो उपयोगके विशेष बहिर्मुख हो जानेसे उसकी असम्यक्-भावसे प्रवृत्ति होती है। उसे न होने देना चाहिये, और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति भी पूरी है जो छोड़ी नहीं जा सकती इस कारण, जिससे वह प्रवृत्ति अन्तर्मुख उपयोगसे हो, सके, ऐसी बहुत सज्जनतासे उस प्रवृत्तिका उपदेश किया है। इसे पाँच समितिके नामसे कहा जाता है।

जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक बचना पड़े तो बचना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञापूर्वक बचना पड़े तो बचना, जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोग पूर्वक आहार आदि ग्रहण करना जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक वस्त्र आदि को धोना रक्षना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक दीर्घशका आदि त्याग करने योग्य शरीरके मज्जा त्याग करना—इस प्रकार प्रवृत्तिके पाँच समितियाँ कही हैं। समयमें प्रवृत्ति करनेके जो जो दूसरे प्रकारोंका उपदेश दिया है, उन सबका इन पाँच समितियोंमें समावेश हो जाता है। अर्थात् जो कुछ निर्मयकी प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की है वह, जिस प्रवृत्तिके त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिके करनेकी आज्ञा की है; और वह इस प्रकारसे ही की है कि जिस तरह मुख्य, हेतु जो अन्तर्मुख उपयोग है उसमें व्यवस्थित भाव रहे। यही इसी तरह प्रवृत्ति की जाय तो उपयोग सतत आप्त रह सकता है, और जिस जिस समय जीवकी चित्तनी चित्तनी ज्ञान-शक्ति और वायं शक्ति है वह सब अप्रमत्त रह सकती है।

दीर्घशका आदि क्रियाओंको करते हुए भी जिससे अप्रमत्त संप्रपञ्चि निःसृत न हो जाय, इसलिये उन सफ़्त क्रियाओंका उपदेश किया है, परन्तु वे संप्रपञ्चकी दृष्टि बिना समझमें नहीं आती। यह रास्वरवि संक्षेपमें लिखी है, उसपर अधिकाधिक विचार करना चाहिये। किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका उच्च रहना योग्य है।

— जो जो ज्ञानीकी आज्ञाक्रम क्रियायें हैं, उन सब क्रियाओंमें यदि तथारूप मात्रसे प्रवृत्ति की जाय तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका साधन है। इस आशययुक्त इस पत्रका व्योम व्योम विशेष विचार करनेमें, ऐसे ऐसे व्योम अर्थका उपदेश मिथ्या।

(२) हमें सा अनुक शाखाध्ययन करनेके पश्चात् इस पत्रके विचार करनेसे स्पष्ट बन हो सकता है ।

(३) कर्ममयका बौध्द करना चाहिये । उसके पूरे होनेपर उसका फिरसे आकृतिपूर्वक अनुप्रेक्षण करना योग्य है ।

७०४

वाराणसी, वैश्व सुदी ४, १९५१

(१)

१ ऐक्यिय जीवको जो अनुकूल स्थान आदिकी वस्तुतत्त्वसे प्रियता है, वह मेघुनसंज्ञा है ।

२ ऐक्यिय जीवको जो देह और देहक निर्वाह आदि साधनोंमें वस्तुतत्त्व मूर्च्छा है, वह परिग्रह संज्ञा है । वनस्पतिकादिक ऐक्यिय जीवोंमें यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है ।

(२)

(१) तीनों प्रकारके समकितमेंसे सबसे क्विती भी प्रकारका समकित आविर्भूत हो, तो भी अधिकसे अधिक पदार्थ भवमें मोक्ष हो जाती है; और यदि समकित होनेके पश्चात् जीव उत्तम वस्तु कर दे तो उसे अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परवर्धनतक ससारमें परिग्रहण होकर मोक्ष हो सकती है ।

(२) तीर्थकरके निर्ग्रह, निर्ग्रथिनी, आत्मक और आधिक्य—इन सबको जीव-जन्तुका ज्ञान था, इसलिये उन्हें समकित कहा हो, यह बात नहीं है । उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो केवल सबे अतला मात्रसे तीर्थकरकी और उनके उपदेश दिए हुए मार्गकी प्रतीति थी, इस कारण भी उन्हें समकित कहा है । इस समकितके प्राप्त करनेके पश्चात् जीवने यदि उसे वस्तु न किया हो तो अधिकसे अधिक उसके पदार्थ नष्ट होते हैं । सिद्धांतमें अनेक स्वर्णरूप यथार्थ मोक्षमार्गको प्राप्त स्तुतियोंकी यथार्थ प्रतीतिसे ही समकित कहा है । इस समकितके उत्पन्न हुए बिना जीवको प्रायः जीव और जन्तुका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता । जीव और जन्तुके ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है ।

(३) मत्तज्ज्ञान, सुतज्ज्ञान, अवधिज्ञान, मगःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति ज्ञान, कुत ज्ञान और निर्माज्ञान, इन आठोंको जीवके उपयोगात्मकता होनेसे कहनी कहा है । ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें इतना ही मुख्य अंतर है कि जो ज्ञान समकितसहित है वह ज्ञान है, और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है, वह अज्ञान है; वस्तुतः दोनों ही ज्ञान हैं ।

(४) ज्ञानावरणीय कर्म और अज्ञान दोनों एक नहीं हैं । ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको आवरण-स्वरूप है और अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके अपोपशमनस्वरूप अर्थात् आवरण हट जानेका है ।

(५) अज्ञान शब्दका अर्थ साधारण भाषामें अज्ञातस्थित होता है—उदाहरणके लिये जब ज्ञानसे रहित कहा जाता है; परन्तु निर्ग्रह-आधारे तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम ही अज्ञान है; अर्थात् उस स्थितिमें अज्ञानको कहनी कहा है ।

(६) यहाँ टीका हो सकती है कि यदि अज्ञान कहनी हो तो वह फिर सिद्धमें भी होना चाहिये । उत्तम समाधान इस प्रकारसे है—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है । उसमेंसे मिथ्यात्व नष्ट हो जानेसे ज्ञान वाक्य बच जाता है । वह ज्ञान सम्पूर्ण सत्यतासहित सिद्धमात्रात्मने प्रका

ही है। सिद्धांत केवलज्ञानीका और सम्प्रदायिका ज्ञान मिथ्यात्वग्रहित है। जीवको मिथ्यात्व अतिस्वरूप है। उस अतिके यथार्थ समझमें आ जानेपर उसकी निश्चि हो सकती है। मिथ्यात्व दिशाकी अतिरूप है।

(१)

ज्ञान जीवका स्वभाव है इसलिये वह अकूपी है, और ज्ञान अबतक निपटीतरूपसे जानेका कार्य करता है, सबतक उसे अज्ञान ही कहना चाहिये, ऐसी निर्मयकी परिमाया है। परन्तु यहाँ ज्ञानके दूसरे नामको ही अज्ञान समझना चाहिये।

शब्दाः—यदि ज्ञानका ही दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होनी चाहिये। तथा जिस तरह कुछ जीवोंमें ज्ञान बसाया गया है, उसी तरह उनमें अज्ञान भी कहना चाहिये।

समाधानः—जैसे कोई बेटा गँठके पड़नेसे उलझा हुआ और गँठके छुड़ जानेसे उलझन-रहित कहा जाता है, यद्यपि देखा जाय तो बेटे दोनों ही हैं, फिर भी गँठके पड़ने और छुड़ जानेकी अन्तरा ही उन्हें उलझा हुआ और उलझनरहित कहा जाता है; उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानको 'अज्ञान' और सम्प्रज्ञानको 'ज्ञान' कहा गया है। परन्तु मिथ्यात्वज्ञान कुछ बड़ है और सम्प्रज्ञान चेतन है, यह बात नहीं है। जिस तरह गँठमात्रा बेटा और बिना गँठका बेटा दोनों ही बेटे हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्प्रज्ञानसे मोक्ष होती है। जैसे यहाँसे पूर्व दिशामें दस कदमपर किसी गँठमें जानेके लिये प्रस्थित कर्ष मनुष्य, यदि दिशाके अगसे पूर्वके बड़े पवित्र दिशामें चला जाय, तो वह पूर्व दिशावाले गँठमें नहीं पहुँच सकता; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ चले-रूप ही किया नहीं की; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी, जिसने देह और आत्माको एक समझ लिया है, वह जीव देह-मुखिसे संसार-परिभ्रमण करता है; परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ जानेकरूप ही कार्य नहीं किया। उक्त जीव जो पूर्वसे पवित्रमकी ओर गया है—यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम मान लेनेकरूप भ्रम है उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक मानना भ्रम ही है। परन्तु पश्चिमकी ओर जाते हुए—चले हुए—जिस तरह चलेकरूप स्वभाव तो रहता ही है, उसी तरह देह और आत्माको एक समझनेमें भी जानेकरूप स्वभाव तो रहता ही है। जिस तरह यहाँ पूर्वकी जगह पश्चिमको ही पूर्व मान लेनेकरूप भी भ्रम है वह भ्रम, तथाकथ सामग्रीके मिश्रणसे समझमें आ जानेसे अब पूर्व पूर्व समझमें आता है और पश्चिम पश्चिम समझमें आता है, उस समय दूर हो जाता है, और पश्चिम पूर्वकी ओर चले जाता है। उसी तरह जिसने देह और आत्माको एक मान रखा है, वह सद्गुरु-उपदेश आदि सामग्रीके मिश्रणपर, जब यह बात यथार्थ समझमें आ जाती है कि वे दोनों भिन्न भिन्न हैं, उस समय उसका भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग होता है। जैसे भ्रममें पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी, पूर्व पूर्व ही या और पश्चिम पश्चिम ही या केवल भ्रमके कारण ही वह निपटीत भासित होता था; उसी तरह अज्ञानमें भी, देह देह और आत्मा आत्मा होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह निपटीत भासित है। उसके यथार्थ समझनेमें जानेपर, भ्रमके निश्च हो जानेसे देह देह भासित होती है और आत्मा

व्यवसाय प्राप्त होती है; और जो ज्ञाननेत्र्य स्वभाव विपरीत-भावको प्राप्त होता था, वह अब सम्पूर्णत्वको प्राप्त होता है। जिस तरह वास्तवमें दिशा-भ्रम कुछ भी बस्तु नहीं है, और केवल गमनरूप स्थिति ही गौणकी प्राप्ति नहीं होती; उसी तरह वास्तवमें मिथ्यात्व भी कोई चीज नहीं है, और उसके द्वारा ज्ञानरूप स्वभाव भी रहता है परन्तु बात इतनी ही है कि साधने में मिथ्यास्वरूप भ्रम होनेसे निज-स्वरूपभावमें परम स्थिति नहीं होती। दिशा-भ्रमके दूर हो जानेसे इच्छित गौणकी ओर किरनेके बाद मिथ्यात्व भी दूर हो जाता है, और निजस्वरूप द्वारा ज्ञानात्मकत्वमें स्थिति हो सकती है, इसमें किसी भी संदेहको कोई अवकाश नहीं है।

७०५

ब्रह्मसूत्र, सूत्र ५ १९५६

तीनों समकितमेंसे किसी भी एक समकितको प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पदार्थ मध्ये मोक्ष प्राप्त करता है। और कल्पे कम उसे उसी मध्ये मोक्ष होती है और यदि वह उस समकितका भ्रम कर दे तो वह अधिकसे अधिक अर्धपुत्रक-परावर्तन काष्ठक उत्तर-परिभ्रमण करके मोक्ष प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके पश्चात् अधिकसे अधिक अर्धपुत्रक-परावर्तन उत्तर होता है।

यदि क्षुद्रोपवास कृपा उपवास समकित हो तो जीव उसका भ्रम कर सकता है, परन्तु यदि क्षामिक समकित हो तो उसका भ्रम नहीं किया जाता। क्षामिकसमकित जीव उसी मध्ये मोक्ष प्राप्त करता है यदि वह अधिक भ्रम करे तो तीन भ्रम करता है, और किसी जीवको अपेक्षा तो कभी चार भ्रम भी होते हैं। पुण्ड्रिकोकी आसुरी बंध होनेके पश्चात् यदि क्षामिक समकित उत्पन्न हुआ हो तो चार भ्रम होने समभव हैं—प्रायः किसी जीवको ही ऐसा होता है।

भगवान् के तीर्थकर निर्मय निर्मयिनी, भावक और भाविकाको कुछ स्वका ही जीव-जन्मिका ज्ञान था, और इस कारण उन्हें समकित कहा है, यह शास्त्रका अभिप्राय नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो, तीर्थकर स्वे पुरुष है स्वे मोक्षमार्गिक उपदेश हैं, और वे जिस तरह कहते हैं मोक्षमार्ग उसी तरह है ऐसी प्रतीतिसे ऐसी कविसे अतीर्थकरके आत्मपते और निजपते समकित कहा गया है। ऐसी प्रतीति, ऐसी कवि और ऐसे आत्मपता तथा ऐसी आत्मिका जो निजपत है, वह भी एक तरहसे जीव जन्मिका ज्ञान ही है। पुरुष स्वे सिद्धे है और उनकी प्रतीति भी ऐसी सभी हुई है कि जिस तरह वे परमरूपस्थ कहते हैं, मोक्षमार्ग उसी तरह है—मोक्षमार्ग उसी तरह हो सकता है; उस पुरुषके कल्प आदि भी नीतयगतकी सिद्धि करते हैं। तथा जो नीतयगत होता है वह पुरुष पथार्थ कहा होता है और उसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी सुविचारणा भी एक तरहसे गौणरूपसे जीव-जन्मिका ही ज्ञान है।

उस प्रतीतिसे उस कविसे और उस आत्मपते बादमें जीवात्मिका स्पष्ट विस्तारसहित अनुक्रमसे ज्ञान होता है। तथापि पुरुषकी आत्मिका उपस्थाना करनेसे रम-नेत्रका क्षय होकर नीतयगत-दशा होती है। तथापि संपुरुषका प्रत्यक्ष योग हुए बिना यह समकित होना कठिन है। हाँ, उस पुरुषके बचनरूप शब्दोंसे पूर्वमें आत्मिक किसी जीवको समकित होना समभव है अपना कोई कोई आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस बचनके कारणसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराते हैं।

७०६

वृषाणीमा, चैत्र सुदी ६ शुभ १९५३

वेश्मामें ऊपरकी चटक-मटक न रखते हुए योग्य सादगीसे रहना ही अच्छा है। चटक-मटक रखनेसे कोई पॉचसीके बेलनके पॉचसी एक नहीं कर सकता, और योग्य सादगीसे रहनेसे कोई पॉचसीके चारसी निन्यानबे नहीं कर सकता।

(२) धर्मका छीकित वक्ष्यन, मान-महत्वकी इच्छा, यह धर्मका दोषरूप है।

धर्मके बहाने अनार्य देशमें जाने अपना सूत्र आदिके मेजनेका निषेध करनेवाले—नगाए बनाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान-महत्व वक्ष्यनका स्वास्व जाता है वहाँ, इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह धर्मदोष ही है। उन्हें धर्मका महत्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसुखची मान आदिको स्वास्व ही मुख्य स्वास्व है—यह धर्मदोष ही है।

बीरब्रह्म गांधीको मिखायल मेजने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है।

जब धर्म ही मुख्य रंग हो तब अहोमाय्य है।

(३) प्रयोगके बहाने पशुबन्ध करनेवाला, यदि रोग—दुःख—को दूर करे तो तबकी बात तो तब रही, परन्तु इस समय तो वह विचारें निरपराधी प्राणियोंको पीसा पहुँचाकर अज्ञानतावश कर्मका उपार्जन करता है। पत्रकार भी विवेक-विचारके बिना ही इस कार्यकी पुष्टि करनेके विषे लिख मारते हैं।

७०७

वृषाणीमा, चैत्र सुदी १० सोम १९५३

१ औपच आदि, मिछनेपर, बहुतसे रोग आदिके ऊपर बसर करती हैं। क्योंकि उस रोग आदिके हेतुका कुछ कर्म-बन्ध ही उस तरहका होता है। औपच आदिके निमित्तसे वह पुष्ट मिस्तारसे फैलकर अपना दूर होकर बेदनीयके उदयके निमित्तको छोड़ देता है। यदि उस रोग आदिका उस तरह मिष्ट होने योग्य कर्म-बन्ध न हो तो उसके ऊपर औपच आदिका बसर नहीं होता, अपना औपच आदि प्राप्त नहीं होती, अपना औपच मिछे भी तो सम्पत् औपच आदि प्राप्त नहीं होती।

२ अमुक कर्म-बन्ध किस प्रकारका है, उसे पचास बालकदिके बिना जानना कठिन है। क्योंकि औपच आदि व्यवहारकी प्रवृत्तिका एकांतसे निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि अपनी देहके संरक्षमें कोई परम अहम-वृत्तिवाला पुरुष उस तरह आचरण करे, अर्थात् वह औपच आदि प्राण न करे तो वह योग्य है। परन्तु दूसरे सामान्य जीव भी यदि उस तरह करने लगे तो वह एकदिक दृष्टि होनेसे कितनी ही हानि पहुँचानेवाला है। फिर उसमें भी अपने आश्रित जीवोंके प्रति अपना दूसरे किसी जीवोंके प्रति रोग आदि कारणोंमें उस तरहका उपचार करनेके व्यवहारमें प्रवृत्ति जा सकती है, फिर भी यदि कोई उपचार आदिके करनेकी उपेक्षा करे तो वह अनुकूल-मार्गको छोड़ देना जैसा ही होता है। क्योंकि कोई जीव चाहे कितना ही पीड़ित हो फिर भी यदि उसे चिकित्सा देने तथा औपच आदि देनेके व्यवहारको न किया जाय, तो वह उसे आर्तप्यासके हेतु होने जैसा हो जाता है। गृहस्थ-व्यवहारमें ऐसी एकादिक दृष्टि करनेसे बहुत विरोध आता है।

१. त्याग-व्यवहारमें भी हाजीने एकतासे उपचार आदिक निषेध नहीं किया। निर्ममको यदि स्व-परिमित शरीरमें रोग आदि हो जाय, तो औषध आदिके ग्रहण करनेके सबधमें ऐसी बाधा है कि जबतक आर्तप्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे, तबतक औषध आदि ग्रहण न करनी चाहिये। और यदि औषध ग्रहण करनेका कोई विशेष कारण दिखाई दे तो निरवध औषध आदि ग्रहण करनेसे बाधाका अतिक्रम नहीं होता, अथवा यथाशुभ औषध आदि ग्रहण करनेसे बाधाका अतिक्रम नहीं होता। तथा दूसरे निर्ममको यदि शरीरमें रोग आदि हुआ हो तो अहाँ उसको क्याहम्य आदिके करनेका क्रम प्रदर्शित किया है, क्यों भी उसे इसी तरह प्रार्थित किया है कि जिससे कुछ विशेष अनुकंपा आदि दृष्टि रहे। अर्थात् इससे यह बात समझमें आ जायगी कि उसका गृहस्थ-व्यवहारमें एकतासे त्याग करना असम्भव है।

२. वे औषध आदि यदि कुछ भी पाप-क्रियासे उत्पन्न हुई हों, तो जिस तरह वे अपने औषध आदिके गुणको बिना दिखाये नहीं रखती, उसी तरह उसमें होनेवाली पाप-क्रिया भी अपने गुणको बिना दिखाये नहीं रखती। अर्थात् जिस तरह औषध आदिके पुत्रजमें रोग आदि पुत्रजके पराम्भ करनेका गुण मौजूद है, उसी तरह उसके क्रिये की जानेवाली पाप-क्रियामें भी पापकृपसे परिणमन करनेका गुण मौजूद है। और उससे कर्म-बन्ध होकर यथावसर उस पाप-क्रियाका फल उदयमें आता है। उस पाप-क्रियावाली औषध आदिके करनेमें, कर्ममें और अनुमोदन करनेमें, उस ग्रहण करनेवाले जीवको वैसी देह आदिके प्रति मूर्ख है, जैसी मगको आकुञ्चता व्याकुञ्चता है, जैसा आर्तप्यान है तथा उस औषध आदिकी जैसी पाप-क्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर यथावसर फल देते हैं। जैसे रोग आदिका कारणरूप कर्म-बन्ध, जैसा अपना स्वभाव होता है उसे वैसा ही प्रदर्शित करता है, और जैसे औषध आदिके पुत्रज अपने स्वभावको दिखाते हैं। उसी तरह औषध आदिकी उत्पत्ति आदिमें होनेवाली क्रिया उसके कर्तव्य ज्ञान आदि दृष्टि, तथा उसके ग्रहण करनेवालेके जैसे परिणाम हैं, उसका जैसा ज्ञान आदि है, दृष्टि है तदनुसार उसे अपने स्वभावका प्रदर्शित करना योग्य ही है। तथाकृत्य ध्रुम ध्रुमस्वरूपसे और अशुभ अशुभस्वरूपसे फलदायक होता है।

५. गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोग आदि हो जानेपर जितनी मुख्य आवश्यकता रहे उनके उक्तो रक्षनी चाहिये, और यदि योग्य दृष्टिसे देखनेसे अवश्य ही आर्तप्यानका परिणाम जाने योग्य दिखाई दे तो, अथवा आर्तप्यान उत्पन्न होता हुआ दिखाई दे तो औषध आदि व्यवहारको ग्रहण करते हुए निरवध (निषाध) औषध आदिकी दृष्टि रखनी चाहिये। तथा कथित अपने आपके क्रिये अपना अपने अभिमत अपना अनुकंपा-योग्य किन्हीं दूसरे जीवोंके क्रिये यदि साक्ष्य औषध आदिके ग्रहण हो तो यह कथ्य रक्षना उचित है कि उसका साक्ष्यपत्ता निर्धन—कूर—परिणामके हेतुके समान, अपना अथर्व मार्गको पोषण करनेवाला न होना चाहिये।

६. सब जीवोंको शिष्टाचार पेसी ज्ञानी-पुरुषकी भाणीको किसी भी एकतादृष्टिसे ग्रहण करते उस शिष्टाचारी अर्थमें न उतावली चाहिये इस उपयोगको निरंतर स्मरणमें रखना उचित है।

७०८

बवाणीगा, चैत्र सुदी १५ शनि १९५३

१ जो औपम्य वेदनीयके ऊपर असर करती है, वह औपम्य वास्तवमें वेदनीयके बचको ही निरूप कर सकती है—ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि वह औपम्य यदि कर्मरूप वेदनीयका नाश करनेवाली हो तो फिर अशुभ कर्म ही निष्पन्न हो जाय, अथवा स्वयं औपम्य ही शुभ कर्मरूप कहा जाय। परन्तु यहाँ यह समझना चाहिये कि वह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसका व्ययधामात्म होनेमें औपम्य आदि निमित्त-कारणरूप हो सकती है। मद् अथवा मध्यम और ह्युम अथवा अशुभ बचको किसी सभावीय कर्मके निम्नसे यह उत्कृष्ट बच भी हो सकता है। तथा जिस तरह मद् अथवा मध्यम बँवि हुए कितने ही शुभ बचका किसी अशुभ कर्मविशेषके परामर्शसे अशुभ परिणामन होता है; उसी तरह उस अशुभ बचका किसी ह्युम कर्मके योगसे शुभ परिणामन भी होता है।

२ मुख्यरूपसे तो बच परिणामके अनुसार ही होता है। उदाहरणके लिये यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यका तृप्ति परिणामसे नाश करनेके कारण निकाचित कर्म बँवि, परन्तु बहुतसे बचावके कारणोंसे और सत्की आदिके अभावसे, राजनीतिक नियमोंके अनुसार, उस कर्मको करनेवाला मनुष्य यदि छूट जाय, तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसका बच निकचित नहीं होता। क्योंकि उसके विपाकके उदयका समय दूर होनेके कारण भी ऐसा हो सकता है। तथा बहुतसे अपराधोंमें राजनीतिक नियम अनुसार जो दंड होता है वह भी कर्ताके परिणामके अनुसार ही होता है, यह एकांतिक बात नहीं है। अथवा वह दंड किसी पूर्वमें उत्पन्न किये हुए अशुभ कर्मके उदयसे भी होता है; और वर्तमान कर्म-बच सत्तामें पड़ा रहता है, जो यथावसर विपाक देता है।

३ सामान्यरूपसे अस्वस्थ आदिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष होता है। परन्तु विशेषरूपसे तो हिंसाकी अपेक्षा अस्वस्थ आदिका पाप एकांतिकरूपसे कम ही है, यह नहीं समझना चाहिये; अथवा वह अधिक ही है, ऐसा भी एकांतसे न समझना चाहिये। हिंसाके द्रव्य, क्षेत्र, काष्ठ, मात्र और उसके कृतिके द्रव्य, क्षेत्र, काष्ठ और मात्रका व्यवहवन लेकर ही कर्ताको उसका बंध होता है। इसी तरह अस्वस्थ आदिके संबन्धमें भी यही समझना चाहिये। किसी अशुभ हिंसाकी अपेक्षा किसी अशुभ अस्वस्थ आदिका फल एकगुना दोगुना अथवा अनंतगुना विशेषतक होता है। इसी तरह किसी अस्वस्थ आदिकी अपेक्षा किसी हिंसाका फल भी एकगुना दोगुना अथवा अनंतगुना विशेषतक होता है।

४ त्यागकी बारम्बार विशेष विज्ञप्ति होनेपर भी, उसारेके प्रति विशेष उन्मत्तता होनेपर भी, किसी पूर्वकर्मके प्रबल्यसे जो जीव गृहस्थावासको नहीं छोड़ सकता, वह पुरुष गृहस्थावासमें कुटुम्ब आदिके निर्वाहके लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है उसमें उसके जैसे जैसे परिणाम रहते हैं, उसे तदनुसार ही बंध आदि होता है। मोहके होनेपर भी अनुकंपा माननेसे, अथवा प्रमाद होनेपर भी उदय माननेसे कर्म-बंध भोला नहीं जाता। उसका तो परिणामके अनुसार ही बंध होता है। कर्मके सूक्ष्म भेदोंका यदि बुद्धि विचार न कर सके तो भी ह्युम और अशुभ कर्म तो फलसहित ही होता है, इस निश्चयको जीवको भूझना नहीं चाहिये।

५. आईएके प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा उनके सिद्धपदके प्रत्यक्ष होनेके कारण भी सिद्धकी अपेक्षा आईएके ही प्रथम ममस्कार किया है।

७०९

वशापीडा धैत्र वरी ५, १९५१

सहस्रयुके स्वकर्मकी भी संपुष्टकी दृष्टिसे प्रतीति करनेसे और विचारनेसे ज्ञान ही होता है। 'यह जीव किन्तु निशाने आया है,' इस वाक्यसे शास्त्रपरिष्ठा-अभ्ययनका आरम्भ किया है। सुरुम्भे मुखसे उस आरम्भ-वाक्यके आशयको समझनेसे समस्त दृष्टांशगीका रहस्य समझना योग्य है।

हाउमें तो जो आचरण आदि बौध्द करे, उसका अधिक अनुप्रेक्षण करना। यह बहुतसे उपदेश-पत्रोंके ऊपरसे सहजमें ही समझमें आ सकेगा। सब मुमुक्षुओंको प्रणाम पढ़ूँ।

७१०

सायब, वैशाख सुदी १५, १९५१

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कयाप और योग ये कर्मरूपके पाँच कारण हैं। किन्ती स्पष्टपर प्रमादको छोड़कर बाकीके चार ही कारण बतायें हों, तो वहाँ प्रमादका अंतर्भाव मिथ्यात्व अविरति और कयापमें ही किया गया है।

शास्त्रकी परिमाणानुसार प्रदेशबंधका वर्ण निम्नरूपसे है—परमाणु सामान्यरूपसे एक प्रदेश-जगत्माही है। उस एक परमाणुके प्रवृत्ति करनेको एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्म-बंधसे अनंत परमाणुओंको प्रवृत्ति करता है। वे परमाणु यदि फैले हों तो वे अनंतप्रदेशी हो सकते हैं, इस कारण अनंत प्रदेशोंका बन्ध कहा जाता है। उसमें भी मर अनंत आदिसे भेद जाता है; अर्थात् वहाँ जगत् प्रदेशबन्ध कहा हो वहाँ परमाणु तो अनंत समझने चाहिये, परन्तु उस अनंतकी सन्नतताको अन्य समझना चाहिये। तथा यदि उससे विशेष अधिक विशेष किया हो तो अनंतताको सन्न समझनी चाहिये।

जब भी अलक्ष्य न होते हुए आदिसे अनंतक कर्मरूपका बौध्दना विचार करना योग्य है।

७११

ईदर, वैशाख वरी १२ शुक्ल. १९५१

तथाकर्म (यथार्थ) वास्तविकता—मौल्यमात्रिकि जिनके किस्से विचारपूर्वक प्रवृत्ति की जा सके ऐसे पुरुषका—जीवको समागम होनेमें कोई पुण्यका हेतु ही समझते हैं। तथा उसकी पहिचान होनेमें भी मज्जन् पुण्य ही समझते हैं और उसकी आज्ञा-मात्रिकि आचरण करनेमें तो मज्जन् मज्जन् पुण्य समझते हैं—ऐसे ज्ञानिके जो बन्धन हैं वे सचे हैं यह प्रत्यक्ष अनुभवमें जानने जैसी बात है।

यद्यपि तथाकर्म वास्तविकताके जगत् जैसा यह काक चक रहा है, तो भी वास्तविक जीवको उस सम्प्रदायकी इच्छा करते हुए उसके जगत्तमें भी अक्षय ही विद्युद्विद्यमानके अन्त्यासका बन्ध करना चाहिये।

७१२

ईदर, वैशाख वरी १२ शुक्ल. १९५१

सर्वथा निरतया हो जानेसे जीवको ससमागमका प्राप्त हुआ काम भी सिद्धि हो जाता है। ससमागमे जगत्तका खेद रहते हुए भी जो ससमागम हुआ है यह परम पुण्यका योग मिला है। इसलिये सर्वथा त्यागका योग करनेतक अक्षयक गृहस्थावस्थामें रहना ही तत्त्वतः उस प्रवृत्तिके नीतिसे

साप साप, कुछ सावधानीपूर्वक, पर्याप्तमें जाति उत्साहसहित प्रवृत्ति करके निशुद्धिस्थानका निम्न ही अभ्यास करते रहना चाहिये ।

७१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १९५३

स्वभाव-जाग्रतवशा

(१)

विषसारी न्यारी परलोक न्यारी सेज न्यारी, बाहरि भी न्यारी इहाँ झूठी मेरी अपना ।
अतीत अबस्था सेन निद्राबाहि कचेर पै न, विद्यमान परलोक न यामि अब छपना ॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग हूँ, सबै सब अंग छलि आतम दरपना ।
त्यागी भयो बैतन अचेतनता भाव त्यागि, भाँसे छटि सोलिकै समासै रूप अपना ॥

(२)

अनुभव-उत्साहवशा

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ, तैसौ निरभेद अब भेद कौन करौगी ।
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान, पायो निगयान फिर बाहरि न बहौगी ॥
कहाँ कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राधिकै न परबस्तु गहौगी ।
अमजान ज्ञान विद्यमान परगढ भयो, याही भाँति आगम अनंतकाल रहौगी ॥

(३)

स्मृतिवशा

एक परिनामके न करता दरब दोह, दोह परिनाम एक दर्ब न भरतु है ।
एक करवति दोह दर्ब कहीं न करे, दोह करवति एक दर्ब न करतु है ॥
जीब पुदगल एक खेत-अबमाही दोह, अपने अपने रूप दोह कोह न दरतु है ।
जड़ परिनामनिकी करता है पुदगल, बिदानम्ब बैतन सुभाव आचारतु है ॥

(४)

ॐ सर्वश

आत्मा सर्व अन्यमात्रसे रहित है, जिसे सर्वथा इसी तरहका अनुभव रहता है वह मुक्त है ।
जिसे जग्य सब द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और मातृसे सर्वथा असंगत रहती है, वह मुक्त है ।
अच्छ अनुभवस्वरूप आत्मा जहाँसे सब द्रव्यसे प्रत्यक्ष मिश्र भासित हो गईसे मुक्तदशा रहती है । वह पुरुष मीन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असंग हो जाता है, वह पुरुष निर्बिकल्प हो जाता है, और वह पुरुष मुक्त हो जाता है ।

मिथ्याने इस तरहकी असंगदशा उत्पन्न की है कि तीनों कश्चों देह आदिसे अपना कोई भी संबंध न पा, उन भगवान्‌रूप सत्पुरुषोंको नमस्कार है ।

(५)

विधि आदिके विषयको छोड़कर निज विचारमें आचरण करना ही कर्तव्य है । छुट्ट स्वरूप आत्मलक्षण

७१४

कर्म, अष्ट सुग ८ मीम १०५१

जिसे किसीक प्रति राग और द्वेष नहीं रहा, उस महात्माकी नमस्कार है !

१ परमयोगी श्रीकृष्णमहोदय आदि पुरुष भी जिस देहका रक्षण नहीं कर सके उस देहमें एक विशेषता यह है कि जबतक जीवको उसका संबंध रहे तबतक जीवको असंगत—निर्मोहापना—प्राप्त करके, ब्रह्मात्म अनुभवरूप निःशब्दरूपको जानकर अन्य सब भावोंसे व्यापृत (मुक्त) हो जाना चाहिये, जिससे फिरसे जन्म-मरणका आवागमन न रहे ।

२ उस देहको छोड़ते समय जिसने जशमें असंगत—निर्मोहापना—व्यापार समस्तमान रहता है, उतना ही मोक्षपद प्राप्तमें रहता है, ऐसा परमज्ञानी पुरुषका निश्चय है ।

३ इस देहमें करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति किंचित् भी राग और द्वेष न रहे—सर्वत्र समानता ही रहे—यही कल्याणका मुख्य निश्चय है ।

४ कुछ भी मन बचन और कर्माके योगसे जाने या बिना जाने कोई अपराध हुआ हो तो उसकी निवृत्तपूर्व क्षमा माँगता हूँ—आपत्त मन्त्रमात्रसे क्षमा माँगता हूँ ।

७१५

कर्म, अष्ट सुग ९ रवि १०५१

परमपुरुष-वशा-वर्णन

१ कीचसी कमल जाके नीचसी नरस पद, नीचसी मिठाई गरमाई जाके गारसी ।

नहरसी नोम-जाति कहरसी करामाति, इहरसी रीस पुदगल-छवि छारसी ॥

आससी जग-विकास माहसी ब्रह्मवास, कामसी हनुबकाम लोक-लाल सारसी ।

सीढसी सुगम जाने बीढसी बलत माने, ऐसी जाकी रीति दाही बंदव बनारसी ॥

जो कचनको कीचनके समान मानता है, राजगरीको नीचपरके समान समझता है किसीके मित्रता करनेको मरणके समान समझता है ब्रह्मणको क्षत्रियके गोत्रके समान मानता है, कामिया जातिको जो नहरके समान गिनता है सिद्धि आदि ऐश्वर्यको जो वसुधायके समान समझता है, जन्म दर्मे पूज्यता होने जातिकी हविषको जननीके समान गिनता है पुत्रकन्या छवि ऐसी औदारिक जाति कन्याको राजके समान समझता है जगदके योग-विज्ञासको जंबाजके समान मानता है गुरुपदको भाऊके समान समझता है अनुमते कार्यको काष्ठ-मुख्य-के समान गिनता है लोकमें फल मकानको हस्तको मुखकी चारके समान समझता है कीर्तिकी हस्तको नाकके मैकके समान समझता है, और पुण्यके उदयको जो विद्याके समान समझता है—ऐसी जिसकी रीति है उसे बनारसीवास मन्त्रकार करते हैं ।

२ किसीके किये कुछ विकल्प न करते हुए असंगमन ही रहना । ज्यों ज्यों वे सत्पुरुषके बचनोंकी प्रतीति करेगें ज्यों ज्यों उसकी आज्ञापूर्वक उनकी अस्थि-मज्जा रंगी बायगी, त्यो त्यो वे सब जाँच आत्म-कल्याणको सुगमतासे प्राप्त करेंगे—इसमें सन्देह नहीं है ।

सबे अंत करणसे विशेष सस्त्वामगमके आग्रहसे जीवको उत्कृष्ट दशा भी बहुत घाटे समयमें ही प्राप्त हो जाती है ।

३. व्यवहार अथवा परमार्थसंबन्धी यदि कोई भी जीवकी वृत्ति हो तो उसे शमन करके, सर्वथा असंग उपयोगपूर्वक अथवा परम पुरुषकी उपयोग दशाके अवलम्बनपूर्वक, आत्मामें स्थिति करना चाहिये, यही निषेध है । क्योंकि अन्य कोई भी विकल्प रखना उचित नहीं है । जो कोई सबे अंत करणसे स्वरूपके बचनको ग्रहण करेगा वह स्वयंको पायेगा, इसमें कोई संशय नहीं, और शरीरका निर्वाह यदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारम्भके अनुसार ही प्राप्त होना योग्य है, इसलिये तत्संबन्धी कोई भी विकल्प रखना उचित नहीं । उस विकल्पको यद्यपि तुमने प्राप्त शान्त कर दिया है तो भी निश्चयकी प्रबलताके लिये यह विज्ञा है ।

४. सब जीवोंके प्रति, सब भावोंके प्रति, अलङ्कार एतत्स बीतरागदशाका रखना ही सर्व ज्ञानका फल है ।

आत्मा, शुद्धचैतन्य जन्म जरा मरणरहित असंगत्वका है । इसमें सर्व ज्ञानका समावेश हो जाता है । उसकी प्रतीतिमें सर्व सम्यग्दर्शनका समावेश हो जाता है । आत्माकी असंगत्वकमसे जो समानता रहना है, वह सम्बन्धवारिष्ठ उत्कृष्ट समय और बीतरागदशा है । उसकी सम्पूर्णताका फल सर्व दुःखोंका क्षय हो जाना है, यह निश्चय सन्देहरहित है—निश्चय सन्देहरहित है । यही प्रार्थना है ।

७१६

बम्बई, ज्येष्ठ वदी १२ शनि १९५३

कार्य श्रीसोमागक मरणके समाचार पढ़कर बहुत खेद हुआ । क्यों क्यों उनके अनेक अद्भुत गुणोंके प्रति इष्टि जाती है, त्यों त्यों अधिकाधिक खेद होता है ।

जीवको देहका सञ्चन इसी तरहसे है । ऐसा होनेपर भी जीव अनादिसे देहका त्याग करते समय खेद प्राप्त किया करता है, और उसमें वह मोहसे एकमात्रकी तरह रहता है । यही जन्म मरण आदि संसारका मुख्य बीज है । श्रीसोमागने ऐसी देहको छोड़ते हुए, महान् मुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी निश्चय अस्मात्से निज उपयोगमय दशा रखकर अपूर्व हित किया है, इसमें संशय नहीं ।

उनके पूज्य होनेसे, उनका तुम्हारे प्रति बहुत उपकार होनेसे, तथा उनके गुणोंकी अद्भुतताके कारण, उनका नियोग तुम्हें अधिक खेदकारक हुआ है, और होना योग्य भी है । तुम उनके प्रति सामाजिक पूज्यभावके खेदको विस्मरण कर, उन्हें तुम सबके लिये जो परम उपकार किया है, तथा उनके गुणोंकी जो तुम्हें अद्भुतता मान्य हुई हो, उसका बारम्बार स्मरण-करके, उस पुरुषका नियोग हो गया है, इसका अन्तर्में खेद रखकर, उन्हें विवशता का प्रयोग जो जो बचन और गुण बताये हैं उनका स्मरण कर, उसमें आत्माको प्रेरित करनेके लिये ही तुम सबसे प्रार्थना है । समग्राममें जाये हुए मुमुक्षुओंको श्रीसोमागका स्मरण रहने ही अधिक समयतक रहने योग्य है ।

जिस समय मोहके कारण खेद उत्पन्न हो उस समयमें भी उनके गुणोंकी अद्भुतताको स्मरणमें आकर, उत्पन्न होनेवाले खेदको शान्त कर, उनके गुणोंकी अद्भुतताका विचार हो गया है, इस तरह वह खेद करना योग्य है ।

इस क्षेत्रमें इस काममें श्रीसोमाग जैसे पुरुष बिरहे ही मिळते हैं यह हमें बारम्बार मासित होता है।

धीरमूर्खक सर्वोंकी सेवाका शान्त करना, और उनके अङ्गुष्ठ गुणों और उपकारी बन्धनोंका वाक्त्रम केना ही योग्य है। श्रीसोमाग मुमुक्षुबोद्धारा निस्मरण किये जाने योग्य नहीं हैं।

जिसने ससारके स्वरूपको स्पष्टरूपसे जान लिया है, उसे उस ससारके पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिसे हर्ष-शोक होना योग्य नहीं है, तो भी ऐसा जान पड़ता है कि अमुक गुणस्थानतक उसे भी उत्पुरुषके समागमकी प्राप्तिसे कुछ हर्ष, और उसके वियोगसे कुछ शोक हो सकता है।

आत्मसिद्धि प्रपक्के विचार करनेकी इच्छा हो तो विचार करना। परन्तु उसके पक्षि यही और बहुतसे बन्धन और सद्बन्धनोंका विचार करना बन सके, तो आत्मसिद्धि प्रपक्क उपकारका हेतु होगा, ऐसा मान्य होता है।

श्रीसोमागकी सरकता, परमार्थसर्वथा निश्चय, मुमुक्षुबोके प्रति परम उपकारिण आदि गुण बारम्बार विचार करने योग्य हैं। शान्ति शान्ति शान्ति

७१७

बम्बई, आषाढ सुदी ४ तमि १९५१

श्रीसोमागकी ममस्कार

१ श्रीसोमागकी मुमुक्षुदशा तथा इलाके भागके प्रति उनका अङ्गुष्ठ निश्चय बारम्बार स्मृतिमें आया करता है।

२ सब जीव सुखकी इच्छा करते हैं, परन्तु कोई बिरहा ही पुरुष उस सुखके वयार्थ स्वरूपको समझता है।

जन्म मरण आदि अमृत दुःखोंके आत्यन्तिक (सर्वथा) क्षय होनेका उपाय, जीवको अमानिच्छाकरनेमें नहीं आया। जीव यदि उस उपायके जानने और करनेकी सच्ची इच्छा उत्पन्न होनेपर उत्पुरुषके समागमके कामकी प्राप्त करे तो वह उस उपायको समझ सकता है, और उस उपायकी उपसन्ना करके सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

वैसी सच्ची इच्छा भी प्राप्ता करके जीवको उत्पुरुषके समागमसे ही प्राप्त होती है। वैसा समागम, उस समागमकी पहिचान, बताए हुए मार्गकी प्रतीति और उस तरह आचरण करनेकी प्रवृत्ति होना जीवको परम दुर्लभ है।

मनुष्यता इलाके बन्धनोंका अल्प मिटना उसकी प्रतीति होना, और उनके द्वारा कहे हुए मार्गमें प्रवृत्ति होना परम दुर्लभ है — यह उपदेश श्रीवर्धमानस्वामीने उत्तराध्यायनके ठाँसे अल्प-पत्रमें किया है।

प्रत्यक्ष उत्पुरुषका समागम और उसके आश्रयमें विचारण करनेवाले मुमुक्षुबोको मोक्षसर्वथा समस्त साधन प्राप्ता (बहुत करके) अल्प प्रयाससे और अल्प ही काममें सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु उस सम्प-गमका योग मिटना बहुत दुर्लभ है। मुमुक्षु जीवका चित्त निरन्तर उसी समागमके योगमें रहता है। उत्पुरुषका योग मिटना तो जीवको सब काममें दुर्लभ ही है। उसमें भी ऐसे दुःखकाममें तो

यह योग कवित्व ही मिश्रता है। सत्पुरुष विरले हैं। निचरते हैं। उस समागमका अपूर्व लाभ मानकर जीवको मोक्षमार्गकी प्रतीति कर, उस मार्गका निरन्तर आराधन करना योग्य है।

जब उस समागमका योग म हो तब आरम-परिग्रहकी ओरसे वृत्तिको हटाना चाहिये, और सत्तात्वका विशेषरूपसे परिचय रखना चाहिये। यदि व्यावहारिक कार्योंकी प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीव उसमेंसे वृत्तिको मद करनेकी इच्छा करता है, वह जीव उसे मद कर सकता है, और वह सत्तात्वको परिचयके लिये अधिक बचकप्राप्त प्राप्त कर सकता है।

आरम-परिग्रहके ऊपरसे बिनकी वृत्ति खिन्न हो गई है, अर्थात् उसे असह्य समझकर जो जीव उससे पीछे हट गये हैं, उन जीवोंको सत्पुरुषोंका समागम और सत्तात्वका भ्रवण विशेषरूपसे हितकारी होता है। तथा जिस जीवकी आरम-परिग्रहके ऊपर विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीवमें सत्पुरुषको बचनोका और सत्तात्वका परिणमन होना कठिन है।

आरम-परिग्रहके ऊपरसे वृत्तिको कम करना और सत्तात्वके परिचयमें रुचि करना प्रथम तो कठिन मान्य होता है, क्योंकि जीवका अनदि-महसिमाव उससे भिन्न ही है, तो भी निसने वैसा कर नैका निश्चय कर लिया है, वह उसे करनेमें समर्थ हुआ है। इसलिये विशेष उत्साह रखकर उस प्रवृत्तिको करना चाहिये।

सब मुमुक्षुओंको इस बातका निश्चय और निश्चय नियम करना योग्य है। प्रमाद और अनियमितताको दूर करना चाहिये।

७१८

सबे ज्ञानके बिना और सबे चारित्रिके बिना जीवका कल्याण नहीं होता, इसमें सन्देह नहीं है। सत्पुरुषके बचनका भ्रवण, उत्कृष्ट प्रतीति, और उसकी आज्ञासे बचनेवाले जीव चारित्रिको प्राप्त करते हैं, यह निस्सन्देह अनुभव होता है।

यहोति योगवासिष्ठ पुस्तक भेजी है, उसका पाँच-सात बार फिर-फिरसे वाचन और बारम्बार विचार करना योग्य है।

७१९

ई. आषाढ की १ शुक्र १९५३

(१) ब्रह्मेन्द्रासे छगाकर शीघेसीकरणतक जिस ज्ञानीको सब क्रियायें मान्य हैं, उस ज्ञानीके बचन त्याग-वैराग्यका निषेध नहीं करते। इतना ही नहीं, किन्तु त्याग-वैराग्यका साधनमूल जो पहिले त्याग-वैराग्य जाता है, ज्ञानी उसका भी निषेध नहीं करते।

(२) कोई जब-क्रियामें प्रवृत्ति करके ज्ञानीके मार्गसे विमुख रहता हो, अथवा बुद्धिकी मूर्खताके कारण उच्यदशाको प्राप्त करते हुए रुक जाता हो, अथवा जिसने असह्य समागमसे मति-व्यामोह प्राप्त करके अल्पया त्याग-वैराग्यको ही सत्ता त्याग-वैराग्य मान लिया हो, तो यदि उसके निषेध करनेके लिये ज्ञानी योग्य बचनसे करुणा बुद्धिसे उसका कवित्व निषेध करता हो, तो व्यामोहेयुक्त न होकर उसका सद्बोध समझकर, यथार्थ त्याग-वैराग्यकी अंतर तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्ति करना ही उचित है।

७२०

बन्धु, आपात बरी १ गुरु. १९५१

(१) * सकल ससारी इन्द्रियरामी, हृदि गुण आवमरामी रे,

सुसंयमे के आवमरामी, ते कहिये निष्कामी रे ।

(२) हे मुनियो ! तुम्हें ज्ञान सोमागकी अंतरदशाकी ओर देख-सुख समयकी दशाकी, बारम्बार अनुपेक्षा करना चाहिये ।

(३) हे मुनियो ! तुम्हें इच्छासे, क्रोधसे, कामसे और मादसे—असंगमादसे—विचरण करनेके सफल उपयोगको सिद्ध करना चाहिये । जिसने अगदके सुखकी लुभाको छोड़कर ज्ञानीके मार्गका आत्म्य प्राप्त किया है, वह अल्प उस असंग उपयोगको पाता है । जिस सुतसे असंगता उत्पन्न हो उस सुतका परिचय करना योग्य है ।

७२१

बन्धु, आपात बरी ११ रवि १९५१

परम संपत्ती पुरुषोंको नपस्कार हो

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी तरह करनेका उद्यम मौखिक रहनेपर भी जो पुरुष उस उद्यमसे क्षोभ न पाकर सख्तमाना—स्वर्गमें निश्चयभावसे रहे हैं, उन पुरुषोंके मौल्य-अपेक्षा हम बारम्बार स्मरण करते हैं ।

७२२

बन्धु, आपात बरी १ रवि १९५१

(१) परम उत्कृष्ट समय निकले क्षणमें निरंतर रहा करता है, उन सत्पुरुषोंके समागमका निरंतर व्याप्त है ।

(२) प्रसिद्धि (निर्मय) व्यवहारकी भी जो निष्ठासासे भी अनंतगुण विविध निष्ठा रहती है । उद्यमके बन्धन और वेदन किये बिना अटक होनेसे, अंतरंग क्षेत्र समस्तसिद्धि वेदन करते हैं । दीर्घकालको अल्पत अल्पमानमें जानेके व्याप्तमें वर्तन करते हैं ।

(३) परार्थ उपकारी पुरुषकी प्राणप्रतापमें एकत्वभावना आत्मसुखिकी उत्पन्न करती है ।

७२३

बन्धु, आपात बरी १५ गुरु १९५१

(१) जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें जाकर किन्हीं कर्मोंका धर्म किया है उन अल्पकालोंको समस्कार है ।

(२) उत्पत्ति लक्ष्य और सुसम्प्राप्तमें प्रभाव नहीं करना चाहिये ।

७२४

बम्बई, आषण सुदी १५ गुरु १९५३

(१) मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथका मुमुक्षु जीको विचार करना योग्य है ।

उसका अवलोकन करते हुए यदि किसी विचारमें कुछ मर्यादित जैसा माझम हो तो व्याकुल न होकर उस स्थिति को अधिक मनन करना चाहिये, अथवा उस स्थिति को सम्प्रमाणमें समझना चाहिये ।

(२) परमेश्वर समयमें स्थितिकी बात तो दूर रही, परन्तु उसके स्वरूपका विचार होना भी फलित है ।

७२५

बम्बई, आषण सुदी १५ गुरु १९५३

‘ क्या सम्प्रति अमर्य आहार कर सकता है ’ ? इत्यादि जो प्रश्न किये हैं उन प्रश्नोंके हेतुको विचारनेसे कहना योग्य होगा कि प्रथम प्रश्नमें किसी दृष्टांतको लेकर जीवको कुछ परिणामकी हानि करनेके ही समान है । मत्तकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता ।

यद्यपि किसी जगह किसी प्रथम अंगिक आदिके सबधमें ऐसी बात कही है, परन्तु वह किसीके द्वारा आचरण करनेके लिये नहीं कही तथा वह बात उसी तरह यथार्थ है, यह बात भी नहीं है ।

सम्प्रति पुरुषको अल्पमात्र भी श्रत नहीं होता, तो भी सम्प्रदर्शन होनेके पश्चात् उसका यदि जीव बलन न करे तो वह अधिकसे अधिक पन्दर मर्षमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है, ऐसा सम्प्रदर्शनका कथ है—इस हेतुसे कही हुई बातको अन्वयानुक्रममें न ले जानी चाहिये । संपुरुषकी बाणी, विषय और कथानके अनुमोदनसे अपना रग-रूपके पोषणसे रक्षित होती है—यह निश्चय रखना चाहिये, और चाहे कैसा भी प्रसंग हो उसका उसी दृष्टिसे अर्थ करना उचित है ।

७२६

बम्बई, आषण वी ८ गुरु १९५३

(१) मोक्षमुद्र और अभिरुजमात्र इन दो पुस्तकोंका हाथमें बाँचनेका परिचय रचना । इन दोनों पुस्तकोंमें मोक्षके स्वरूपके तथा आरम्भ-साधनके बहुतसे उद्यम में बताये हैं ।

(२) पारमार्थिक कल्याणसे निष्पन्नमात्रसे कल्याणके साधनके उपदेश पुरुषका समागम, उपासना और उसकी अक्षाण आराधन करना चाहिये । तथा उस समागमके नियोगमें सन्ध्याका शुद्धि-अनुसार परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना ही योग्य है ।

७२७

बम्बई, आषण वी १० रवि १९५३

मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथ करनेकी दिन निश्चयानुसार अविधाय है, उनको उसे ग्रंथ करना— अधिक स्पष्टीकरणपूर्वक और धीरजसे ग्रंथ करना । ओताको यदि किसी स्थितिपर नियंत्रण हो तो उसका समाधान करना उचित है । तथा किसी स्थानपर यदि समाधान होना असम्भव जैसा माझम हो तो उसे किसी महारमाके संयोगसे समझनेके लिये कहकर ग्रंथका रोकना नहीं चाहिये । तथा उस संयोगको किसी महारमाके सिधाय अन्य किसी स्थानमें पहुँचनेसे वह विघ्न भयका ही कारण होगा, और

उससे निस्सन्देह धरण किया हुआ धरणका काम स्पर्ध ही जाता जायगा । यह यदि यदि श्रोतव्य हो जय तो यह अधिक श्रितकरी हो सकती है ।

७२८

३३

कर्म, भाषण वरी १२, १९५१

१ सर्वोत्कृष्ट मूमिकायें स्थिति होनेतक, सुतज्ञानका अवलंबन केकर स्वरूप भी लक्ष्यमें स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जो विनमगवान्का अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सम दिखाई देता है ।

२ सर्वोत्कृष्ट मूमिकापर्यंत सुखादान (ज्ञानी-सुखके वचन) का अवलंबन जब जब मंद पड़ता है, तब तब स्वरूप भी कुछ कुछ अस्थिर हो जाते हैं, तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव अवश्य किन्हीं विपर्यय सन्नाम—विपर्यय भुव आदि अवलंबन—छूते जाये हैं उन्हें तो बारम्बार विरोध यदि विरोध अस्थिरता जाना समझ है । ऐसा होनेपर भी जो मुमुक्षु, स्वसमागम सदाचार और सदाचारके विचाररूप अवलंबनमें इस निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट मूमिकापर्यंत पहुँच जाना कठिन नहीं है—कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है ।

७२९

३३

कर्म, भाषण वरी १२ कुच १९५१

इससे, सेधसे, काँधसे और माथसे गिन पुरुषोंकी मतिबंध नहीं,
उन सत्यपुरुषोंकी नमस्कार है !

स्वसमागम सदाचार और सदाचारमें इस निवास होना यह वास्तवका होनेका प्रबल अवलंबन है । यद्यपि स्वसमागमका योग सिद्धता दुर्लभ है तो भी मुमुक्षुओंको उस योगकी तीव्र शिक्षा रक्खी चाहिये और उसकी प्राप्ति करना चाहिये । तथा उस योगके अवलंबनमें तो जीवको अवश्य ही सदाचार रूप विचारके अवलंबनसे सदाचारकी जागृति रक्खनी योग्य है ।

७३०

कर्म, भाषण वरी १२ कुच १९५१

परम कृपासु पूज्य श्रीपिताजी ।

आजकल मैंने आपकी कुछ भी अविनय अपादि अपराध अपराध किये हों, तो मैं दोनों हाथ जोड़कर मस्तक नमस्कार द्वारा अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ । कृपा करके आप क्षमा प्रदान करें । अपनी मातेपंसे भी मैं इसी तरह क्षमा माँगता हूँ । इसी प्रकार अन्य दूसरे साधियोंके प्रति भी मैंने यदि किसी भी प्रकारका अपराध अपराध अविनय—जाने या बिना जाने—किये हों, तो उनकी भी कुछ अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ । कृपा करके सब क्षमा करवाजी ।

७३१

बम्बई, माघपद सुदी ९ रवि १९५३

१. वाद्यक्रिया और गुणस्थान आदिमें रहनेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, हान्में प्रायः अपने और परके लिये उपकारी नहीं होगा।

२. इतना ही कर्तव्य है कि कुछ मतमतांतरपर दृष्टि न डालते हुए, अस्पृष्टिका निरोध करनेके लिये, जीवको सत्तात्मके परिचय और विचारमें ही स्थिति करनी चाहिये।

७३२

बम्बई, माघपद बदी ८ रवि १९५३

जीवको परमार्थके प्राप्त करनेमें अपार अवरोध है, उसमें भी इस काममें तो अवरोधोंका अवर्णनीय बल रहता है। शुभेच्छासे लगाकर कैवल्यपर्यंत भूमिकाके पहुँचनेमें जगह जगह वे अवरोध देखनेमें आते हैं, और वे अवरोध जीवको बारम्बार परमार्थसे द्युत कर देते हैं। जीवको महान् पुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अपूर्व काम रहा करे, तो वह निर्भिन्नतया कैवल्यपर्यंत भूमिकाको पहुँच जाता है। सत्समागमके नियोगमें जीवको अश्रमबन्धको विशेष आश्रय रखकर सत्तात्म और शुभेच्छा-सम्पन्न पुरुषोंके समसामर्थ्य ही रहना उचित है।

७३३

बम्बई, माघपद बदी १५ रवि १९५३

ॐ

१. शरीर आदि बन्धके करनेसे सब मनुष्योंसे सर्वथा दिगम्बरहृत्तिसे रहते हुए चारित्रिका निर्वाह नहीं हो सकता; इसलिये वर्तमानकाल जैसे कालमें चारित्रिका निर्वाह करनेके लिये, ज्ञानीश्रम उपदेश किया हुआ मर्यादापूर्वक श्रेताम्बरहृत्तिसे जो आचरण है, उसका निषेध करना उचित नहीं। तथा इसी तरह बन्धका आश्रय रखकर दिगम्बरहृत्तिका एकान्त निषेध करके बन्ध-मूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्र्यमें शिथिलता करना भी उचित नहीं है।

दिगम्बरत्व और श्रेताम्बरत्व, देशकाल और अधिकारिके संबंधसे ही उपकारके कारण हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है, उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आश्रमार्थ ही होता है।

२. मोक्षमार्गप्रकाशमें, श्रेताम्बर सम्प्रदायद्वारा माध्यम वर्तमान विनाशमय जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्तमान आगमोंमें अमुक स्पष्ट अधिक संश्लेषण है, परन्तु सम्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशमदृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें सहाय करना उचित नहीं है।

७३४

बम्बई, आश्विन सुदी ८ रवि १९५३

ॐ

(१)

(१) सम्पुरुषोंके अगाध गभीर सपमको समस्कार हो।

(२) अनियम परिणामसे जिन्होंने काक्यूट विषको पी लिया है, ऐसे शीघ्रतम आग्नि परम पुरुषोंको नमस्कार हो !

(३) जो परिणाममें तो व्युत्पन्न ही है, परन्तु प्रारम्भिक दशामें जो काक्यूट विषको तथ्य व्यासुक्त कर देता है, ऐसे शीघ्रतमको नमस्कार हो !

(४) उस ज्ञानको उस दर्शनको और उस चारित्र्यको बारम्बार नमस्कार हो !

(२)

जिनको मक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सुखसंग अपना दर्शन गहान् पुण्यरूप समस्तना चाहिये।

(३)

(१) परमार्थिक हेतुनिरोधसे पत्र आदिका लिखना नहीं हो सकता ।

(२) जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है, वह इस जीवकी प्रतीति का कारण क्यों होता है ? इस बातका रात-दिन विचार करना चाहिये ।

(३) जोकहयि और ज्ञानीकी दृष्टिको पूर्व और पश्चिम जितना अन्तर है । ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरुक्तन ही होती है, वह अवि उत्पन्न नहीं करती, और जीवकी प्रकृतिको बहुत मन्ही जाती, और इस कारण जीव उस दृष्टिमें रुचिपुक्त नहीं होता । परन्तु जिन जीवोंने परिहृष्ट स्नान करके दोबारे समयतक भी उस दृष्टिका आराधन किया है, उन्होंने सर्व ह्युक्तोंके स्वरूप निर्माणको प्राप्त किया है—उन्होंने उसके उपायको पा लिया है ।

जीवकी प्रमत्तमें अनादिसे रति है, परन्तु उसमें रति करने योग्य तो कुछ दिखाई देता नहीं ।

७३५

गर्भ अक्षय्य सुदी ८ एवि १९५१

७३

(१) सब जीवोंके प्रति हमारी तो समानता ही है ।

(२) सत्पुरुषका योग तथा सत्समागमका मिटना बहुत कठिन है इसमें संदेह नहीं । प्रीत्य ऋतुके तापसे तप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरङ्ग, मुमुक्षु जीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है । सब शास्त्रमें उस योगका मिटना दुर्कर्म ही कहा गया है ।

(३) शांतिप्रचारस और योगद्विष्टमुचय प्रयोगका हस्तमें निवार करना ।

७३६

गर्भ अक्षय्य सुदी ८ एवि १९५१

७३

(१) विशेष उच्च भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अपना समागम आचार मूल होता है इसमें संदेह नहीं । निवृत्तिमान इन्द्र, क्षेत्र, वज्र और भावका योग बगैरे जीव उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है ।

(२) निवृत्तिमान भान—परिणाम—होनेके लिये जीवको निवृत्तिमान प्रत्यक्ष क्षेत्र औ प्राप्त करना उचित है । कुछ बुद्धिसे रहित इस जीवको किसी भी योगसे छुमेच्छा—कन्या इच्छा—प्राप्त हो, और निरुद्ध परम पुरुषका योग मिले, तो ही इस जीवको भान या सा उसके नियोगमें उसे सत्तात्त्व और सत्प्रकारका ही परिचय करना चाहिये—बुद्धय करना

७३७

बम्बई, आसोन बंदी ७

(१) ऊपरकी भूमिकाओंमें भी अवकाश मिलनेपर अनारि वासनाका सक्रमण हो और यह अवकाश बारम्बार आकुल-म्याकुल बना देता है । बारम्बार ऐसा ही हुआ करता है ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ ही है, और वर्तमान भूमिकामें भी उस स्थितिका नि दुर्लभ है । जब ऊपरकी भूमिकामें भी ऐसे वर्तमान अन्तर्गत-परिणाम होते हैं, तो । इच्छा आदि भूमिकामें कैसा हो, तो यह कुछ आवश्यककरक नहीं है ।

(२) उस अन्तर्गतसे क्षेत्र न पाकर आत्माणी जीवको पुरुषाध-वृष्टि करनी या हिम्मत रखनी चाहिये; क्षितकारी प्रत्यक्ष क्षेत्र आदि योगकी खोज करनी चाहिये; सत्तात्त्व परिचय रखकर बारम्बार इष्टपूर्वक भी मनको सत्प्रकारमें प्रविष्ट करना चाहिये । तथा मनमें आकुल-म्याकुल न होकर वैयर्थ सत्प्रकारके पथमें जानेका उद्यम करते हुए जब होकर भूमिकाकी प्राप्ति होती है, और अनिच्छेपमात्र होता है ।

३ योगवृष्टिसमुच्चय बारम्बार अनुप्रेक्षा करने योग्य है ।

७३८

बम्बई, आसोन बंदी १४ रवि

ॐ

श्रीहरिमन्त्राचार्यने योगवृष्टिसमुच्चय नामक प्रथम संस्कृतमें रचना की है । उन्होंने किन्दु नामके योगके वृत्तों प्रथम भी बनाया है । हेमचन्द्राचार्यने योगशास्त्र नामक प्रथ ४ श्रीहरिमन्त्राचार्यने योगवृष्टिसमुच्चयका अनुसरण करके श्रीपद्मोक्तिप्रपञ्चने गुणवृत्ती भाषामें र रचना की है ।

उस प्रथम, छुमेच्छासे लगाकर निर्वाणवृत्तकी भूमिकाओंमें मुमुक्षु जीवको बारम्बार अ योग्य विचार करने योग्य और स्थिति करने योग्य आशयस बोध-तारतम्य तथा चारिः तारतम्य प्रकाशित किया है । यमसे लगाकर सत्तात्त्वपर्यंत अष्टांग योगके दो मन् हैं — आदित्य नितोद्यम्य और दूमरा आत्मनमान-परिणामक्य ।

योगवृष्टिसमुच्चयमें आत्मनमान-परिणामक्य योगका ही मुख्य नियम है । उसका बारम्बार करना चाहिये ।

३१वॉ वर्ष

७३९

सुख वैतन्य

अनंत आश्वासन्य

केवलज्ञान स्वरूप

घटिकप्रसे

वह

जिसे सम्पूर्ण प्रगट हो गया है, तथा प्रगट होनेके
मार्गको जिन पुरुषोंने प्राप्त किया है,
उन पुरुषोंको अत्यंत मल्लिसे नमस्कार है।

७४०

बम्बई, कार्तिक वरी १ पुन १९५४

जो कार्य इस समय अन्य क्षेत्रों विचार करनेके आश्रममें है उनको, जिस क्षेत्रमें अंतर्गत-
प्रधान इति रहे, निरुद्धिमान इत्य क्षेत्र काक और भावका काम मिले, ऐसे क्षेत्रमें विचारना उचित है।

७४१

बम्बई, कार्तिक वरी ५ तमि १९५४

ॐ

सर्वथा अतर्मुक्त होनेके लिये सत्पुरुषोंका मार्ग सब हुआ-लोकें सब होनेका उपाय है, परन्तु वह
किन्ती किन्ती जीवको ही समझमें आता है। महासुखके योगसे, विष्णुव बुद्धिसे, तीव्र वैराग्यसे और
सत्पुरुषके समग्रामसे उस उपायको समझना उचित है।

उसके समझनेका अन्तर एकमात्र यह मनुष्य देह ही है, और वह भी अनियमित कारणों
ममसे प्रसूत है, और उसमें भी प्रमाद होता है, यह क्षेत्र और आवश्यक है।

७४२

बम्बई, कार्तिक वरी १२ १९५४

ॐ

आत्मदर्शनाको प्राप्त कर जो निर्द्वन्द्वप्रसे प्रारम्भक अनुसार विचारते हैं, ऐसे महात्माओंका
जीवको संयोग मिथ्या दुर्लभ है।

तथा उस योगके मिथ्येपर जीवको उस पुरुषकी परीक्षा नहीं होती, और नपार्य परीक्षा इत
बिना उस महात्माके प्रति शङ्क आश्रय नहीं होता।

तथा जबतक आश्रय रह न हो तबतक उपदेश नहीं आता, और उपदेशके लगे बिना
सम्पर्कदर्शनका योग नहीं बनता।

तथा सम्पन्नानकी प्राप्ति के बिना जन्म आदि दुःखकी व्यापक निवृत्ति नहीं हो सकती ।

ऐसे गृहस्थ पुरुषका योग मिथना सा दुर्कर्म ही है, इसमें संशय नहीं, परन्तु आत्मापी जीवोंका भी योग मिथना कठिन है, तो भी कथित कथित वर्तमानमें वह योग मिथ सकता है ।

सुखमागम और सुखाश्रयका परिचय करना चाहिये ।

७४३

बम्बई, मंगसिर सुदी ५ रवि १९५४

ॐ

१ क्षोपशम, उपशम, क्षाधिक, पारिणामिक, औषधिक और साम्प्रदायिक इन छह मार्गोंको ध्येय रखकर, आत्माको उन मार्गोंसे अनुप्रेक्षण करके देखनेसे सद्बिचारमें विशेष स्थिति होगी ।

२ ज्ञान दर्शन और चारित्र्य जो आत्मस्वभावस्वरूप हैं, उन्हें समझनेके लिये उपरोक्त मार्ग विशेष अवलंबनके कारण हैं ।

७४४

बम्बई, मंगसिर सुदी ५ रवि १९५४

ॐ

वेद न करते हुए, हिम्मत रखकर, हानीके मार्गसे बचनेसे मोक्ष-नगरी सुख ही है ।

जिस समय विषय कर्माणि विविध विचार उत्पन्न करके निवृत्त हो जायें, उस समय विचारवानको अपनी निर्बीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और वह अपनी बारम्बार निरा करता है। वह फिर फिरसे अपनेको तिरस्कारकी वृत्तिसे ग्रस्त कर, फिर गृहस्थ पुरुषोंके चरित्र और वाक्योंका अवलंबन ग्रहण कर, अन्तर्मुख होकर, उन विषय आधिक विरुद्ध अग्रसर हो करके, उन्हें हटा देता है तबतक वह हिम्मत हारकर नहीं बैठता, तथा वह केवल ही गेद करके भी नहीं रुक जाता । आत्मापी जीवोंने इसी वृत्तिके अवलंबनका ग्रहण किया है, और अतः उन्होंने इसीमें जप प्राप्त की है ।

इस बातको सब सुसुभुजोंको सुन्मार्गसे हृदयमें स्थिर करना चाहिये ।

७४५

बम्बई, मंगसिर सुदी ५ रवि १९५४

(१) कौनसे गुणोंके अगम आनन्द यथापक्षयमागानुसारिणा कदा जा सकता है !

(२) कौनसे गुणोंके अगम आनन्द यथापक्षयसे सम्पन्नचित्तका कदा जा सकता है !

(३) कौनसे गुणोंके अगम आनन्द धुनज्ञान केन्द्रज्ञान हो सकता है ?

(४) तथा कौनसी गता हानिमा कवचज्ञान यथार्थस्वरूपमा हाना दे अथा कदा जा सकता है !

ये प्रश्न सद्बिचारवानका हितकारी हैं ।

७४६

बम्बई, मंगसिर सुदी ३ रवि १९५४

... म शुभा योगका विषय है कि मन्त्रभाष्ये ही व्याख्यात्मक बलाका विज्ञान हुआ है उस प्रकारसे और न म करे । सा नहीं यह म नहीं है । परन्तु यदि वह बात मन्त्रादी हानिसे

खेगी, अर्थात् अस्तक यह व्यावहारिक दृष्टि खेगी, तबतक यह समझना कि यह आश्रमद्वितीये स्त्रिये ब्रह्मनाम प्रतिबंध है; और स्वयंसे भी उस प्रतिबंधमें न रहा जाय, इस बातका ज्ञान रखना ।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उसके ऊपर हम यथान्यायिक पूर्ण विचार करना और उस दृष्टिके मूक्ये ही कतरसे सर्वथा निवृत्त कर देना । अथवा समागमका आम मित्रना असम्भव है । यह बात शिथिलदृष्टिसे नहीं परन्तु उत्सृष्टदृष्टिसे अस्तकपर चढ़ानी उचित है ।

७४७

आनन्द पीठ कदी १३ पुष १९५४

(१) अस्तिमागकी मौजूदगीमें कुछ पहिलेसे सूचित करना था, और हात्में पैदा नहीं बना-
मसी किसी भी शोकदृष्टिमें जाना उचित नहीं ।

(२) अविभक्तमागके बिना हमें भी अर्बबताके स्त्रिये दूसरा कोई अधिकार नहीं है । नैन
रहना ही पेतय मार्ग है ।

७४८

मोरवी माघ सुदी ४ पुष १९५४

हमने कहा कि अनाकर क्षीयनेहृतक संस्तुत और संस्तुमागका सेवन करना ही वाज्य है । सर्व
काममें इस साधनकी जीवको कठिनता है । उसमें फिर यदि इस तरहके काममें वह कठिनता रहे, तो
वह ठीक ही है ।

इस कामका और अनाकरसर्पिणी नामका आचार्यरूप अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है । अना-
कस्यागके हस्तक पुष्पको उससे क्षीम न पाकर, वास्तव्यार उस योगपर दैर रखकर, संस्तुत
संस्तुमाग और संस्तुतिको ब्रह्मनाम बनाना उचित है ।

७४९

मोरवी माघ सुदी ४ पुष १९५४

अनास्तमागकी निर्मकता होनेके स्त्रिये मुमुक्षु जीवको दो साधनोंका अक्षय ही सेवन करना
चाहिये:—एक संस्तुत और दूसरा संस्तुमाग ।

प्रत्यक्षसंस्तुतको समागम जीवको कभी कभी ही प्राप्त होता है; परन्तु जीव यदि संस्तुतिनाम
हो तो वह संस्तुतकी बहुत समयके उपनसे होनेवाले कामकी, प्रत्यक्षसंस्तुतको समागमसे बहुत ही
अप्यक्षकमें प्राप्त कर सकता है । क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष गुणातिशयनाम निर्मक चेतनके प्रभावशुक्त बचन
आर दृष्टिको सक्रियता रहती है । जीवको जिससे उस समागमका योग मिले उस तरह विशेष प्रयत्न
करना चाहिये ।

उस योगके अभावमें संस्तुतका अक्षय अक्षय परिचय करना चाहिये । जिसमें शांतरसकी
मुक्तता है, शांतरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है और जिसमें समस्त उस शांतरसगर्भित है—येसे
आमके परिचयको संस्तुतका परिचय कहा है ।

७५०

मोरबी, माघ सुदी ४ सुप १९५४

ॐ

(१) सम्भुतका परिचय जीवको अवश्य करना चाहिये ।

(२) यह विशेष और प्रमाद, उसमें बारम्बार अन्तराय उत्पन्न करते हैं । क्योंकि उनका दीर्घकालसे परिचय है, परन्तु यदि निश्चय करके उनके अपरिचय करनेकी प्रवृत्ति की जाय तो यह होना संभव है ।

(३) यदि मुख्य अन्तराय हो तो यह जीवका अनिश्चय है ।

(२)

१ अहमस्वरूपके निर्णय होनेमें अनारिसे जीवको मूढ़ होती आ रही है, इस कारण यह मूढ़ अब भी हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं मान्य होता ।

२ अहमज्ञानके सिवाय सर्व क्लेशोंसे और सब दुःखोंसे मुक्त होनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है । सद्विचारके बिना अहमज्ञान नहीं होता, और अहमज्ञानके प्रसंगसे जीवका विचार-बल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें बल भी सहाय नहीं है ।

३ आत्म-परिणामकी स्वस्वताका शीतीर्यकर समाधि कहते हैं ।

आत्म-परिणामकी अस्वस्वताको शीतीर्यकर असमाधि कहते हैं ।

आत्म-परिणामकी सञ्जन-स्वरूपसे परिणति होनेको शीतीर्यकर धर्म कहते हैं ।

आत्म-परिणामकी कुछ भी बचक प्रवृत्ति होनेको शीतीर्यकर कर्म कहते हैं ।

४ शीतिर्यतीर्यकरने जैसा बंध और मोक्षका निर्णय किया है, वैसा निर्णय वेदोंत आदि दर्शनोंमें दृष्टिगोचर नहीं होता । तथा शीतिर्यमें जैसा यथार्थ-वस्तुत्व देखनेमें आता है, वैसा यथार्थ वस्तुत्व किसी अन्य दर्शनमें देखनेमें नहीं आता ।

५ अहमके अंतर्गर्भाकारके (सुम अद्भुत परिणामवाचके) अनुसार ही बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था है, यह शास्त्रीय बोधके अनुसार नहीं है । पूर्वमें उपाधित वेदनीय कर्मके उदयक अनुसार रोग आदि उत्पन्न होते हैं, और उदयुत्तर ही निर्बल भ्रम, म्लान, उष्ण शीत आदि शरीरकी चेष्टा होती है ।

६ विशेष रोगके उदयसे अथवा शास्त्रीय भ्रम बलसे ज्ञानीका शरीर कथित हो सकता है, निर्बल हो सकता है, म्लान हो सकता है, भ्रम हो सकता है, रीढ़ मांस्य हो सकता है, अथवा उसे भ्रम आदिवा उदय भी हो सकता है; परन्तु जिस प्रमाणमें जीवमें बोध और वेदग्यकी वासना हुई है, उस प्रमाणमें ही जीव उस प्रसंगमें प्रायः करके उस रोगका वेदन करता है ।

७ किसी भी जीवको अपिनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो—यह कभी देखा नहीं, जाना नहीं और ऐसा समझ भी नहीं; और पृथुका आगमन तो अवश्य होता ही है—यह अनुभव ता प्रत्यक्ष सिद्धचित है । ऐसा होनेपर भी यह जीव उस बातको फिर फिरसे मूढ़ जाता है, यह आश्चर्य है ।

८ जिस सर्वज्ञ बीतलगने अनंत सिद्धिवा प्रगट हुई थी, उस बीतलगने भी इस देहको अनित्य समझा है, तो फिर दूसरे जीव तो इस देहको किस तरह नित्य बना संकेत ।

९ श्रीविनय कमिमत है कि प्रत्येक इन्द्र्य अर्थात् पर्यायोंसे युक्त है । जीवकी कर्म पर्याय है । परमाणुकी भी अर्थात् पर्याय हैं । जीवके चेतन होनेके कारण उसकी पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणुके अचेतन होनेसे उसकी पर्याय भी अचेतन हैं । जीवकी पर्याय अचेतन नहीं, और परमाणुकी पर्याय सचेतन नहीं—ऐसा श्रीविनयने निश्चय किया है; तथा वैसा ही योग्य भी है । क्योंकि प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष स्वभाव भी विचार करनेसे वैसा ही प्रतीत होता है ।

७५१

बघाणीआ, माघ वदी १ गुह १९५१

इस जीवको उच्चापनाका मूक होत क्या है तथा उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती और वह निवृत्ति किस तरह हो सकती है ? इस प्रश्नका विशेषरूपसे विचार करना योग्य है—अतः उतरकर विचार करना योग्य है ।

जबतक इस क्षेत्रमें रहना हो तबतक विचारको अधिक दृढ़ बनाकर प्रवृत्ति करना चाहिये ।

७५२

मोरणी माघ वदी १५ १९५१

जिस तरह सुसुप्तवृत्ति दृढ़ बने उस तरह करो । इस जगत्में अथवा निरुपस्थित होनेका कोई कारण नहीं है । जब जीवको दुर्लभ योग ही मिल गया तो फिर योईसे प्रमाणके छोड़ देनेमें उसे स्वयंसे वैसी अथवा निरुपस्थित होने वैसी कुछ भी बात नहीं है ।

७५३

* व्याख्यानसार

१ प्रथम गुणस्थानकमें जो प्रथि है उसका भेदन किये बिना, आत्मा आत्माके गुणस्थानकमें नहीं आ सकता । कभी योगानुयोगके मिलनेसे जीव अकस्मिन्निर्गत करता हुआ आगे बढ़ता है, और प्रथिभेद करनेके पक्ष जाता है; परन्तु यहाँ प्रथिकी इतनी अधिक प्रबलता है कि जीव यह प्रथिभेद करनेमें शिथिल होकर—असमर्थ हो जानेके कारण—वापिस खीन जाता है । वह हिम्मत करके आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण विपरीतार्थ समझमें आनेसे वह ऐसा समझता है कि वह स्वयं प्रथिभेद कर रहा है; किन्तु उन्माद वह उस तरह समझनेका माहके कारण प्रथिकी निषिद्धता ही करता है । उसमेंसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकस्मिन्निर्गत करते हुए, अति बलवान् होकर, उस प्रथिकी शिथिल करके अथवा बलहीन करके आगे बढ़ता है । यह अभिरतसम्पन्नवृत्ति नामक चौथा गुणस्थानक है । यहाँ मोहमार्गीकी सुप्रतीति होती है । इनका दूसरा नाम बोधबीज भी है । यहाँ अहमके अनुभवकी सुस्थापना होती है । अर्थात् मोह होनेके बीजका यहाँ रक्षण होता है ।

२ इस बोधबीज गुणस्थानक (चौथा गुणस्थानक) से तेरहवें गुणस्थानकतक अहमनुभव

* श्रीमद् राजचन्द्रने वे व्याख्यान संक १९५३ में माघ महीनेमें बीच महीनेतक तथा संवत् १९५५ में शरदीयमें किये थे । यह व्याख्यानसार एक कुतुबुकी स्मृतिके अन्तर्गत बर्तों दिया गया है । इस बारमें इस कुतुबु महीने भिन्न भिन्न रचनाओं पर अन्वेषिकारूपसे किया गया था । यह उगीका संवत् है । —अनुवादक

एकसा रहता है। परन्तु ज्ञानावरणीय कर्मकी निरावरणताके अनुसार ज्ञानकी कम ज्यादा मिश्रता होती है, और उसके प्रमाणमें ही अनुभवका प्रकाश होना कहा जा सकता है।

२ ज्ञानावरणका सब प्रकारसे निरावरण होना केवलज्ञान—मोक्ष—है। यह कुछ बुद्धिबलसे कहनेमें नहीं आता, यह अनुभवके गम्य है।

४ बुद्धिबलसे निश्चय किया हुआ सिद्धांत, उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्कके द्वारा कदाचित् बदल भी सकता है, परन्तु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसे सिद्ध) हो गई है वह तीनों काष्ठीमें भी नहीं बदल सकती।

५ वर्तमान समयमें जैनदर्शनमें अभिरतिस्मयगृहि नामक चतुर्थ गुणस्थानकसे अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानकतक आत्मानुभवको स्पष्ट स्वीकार किया है।

६ सातवेंसे सयोगकेतवी नामक तेरहवें गुणस्थानकतकका समय अतमुर्जका समय है। तेरहवें गुणस्थानकका समय कदाचित् छ्वा भी होता है। वहाँतक आत्मानुभव प्रतीतिरूप रहता है।

७ इस काष्ठीमें मोक्ष नहीं, ऐसा मानकर जीव मोक्षकी कारणभूत किया नहीं कर सकता, और उस मात्प्राप्ति कारण जीवकी प्रवृत्ति अन्यथा रूपसे ही होती है।

८ जिस तरह पित्रेमें बंद किया हुआ सिंह यद्यपि पित्रेसे प्रसन्न भिन्न होता है, तो भी वह बाहर निकलनेकी सामर्थ्यसे रहित है; वसी तर्हि अल्प आयुके कारण अथवा सहनन आदि अन्य साधनोंके अभावसे आत्मानुभवा सिद्ध कर्मरूपी पित्रेसे बाहर नहीं आ सकता—यदि ऐसा माना जाय तो यह मानना स्कारण है।

९ इस अनुसार संसारमें चार गतियाँ मुख्य हैं ये कर्म-बन्धसे प्राप्त होती हैं। बंधके बिना वे गतियाँ प्राप्त नहीं होती। बंधरहित माक्षस्थान, बंधसे होनेवाले चतुर्गतिरूप संसारमें नहीं है। यह तो निश्चित है कि सम्पत्त्व अथवा चारित्र्यसे बंध नहीं होता, तो फिर चाहे किसी भी काष्ठीमें सम्पत्त्व अथवा चारित्र्य प्राप्त करें, वहाँ उस समय बंध नहीं होता और वहाँ बंध नहीं वहाँ संसार भी नहीं है।

१० सम्पत्त्व और चारित्र्यमें आत्माकी शुद्ध परिणति रहती है, किन्तु उसके साथ मन बचन और शरीरका क्षुम योग रहता है। उस क्षुम योगसे क्षुम बंध होता है। उस बंधके कारण देव आदि गतिरूप संसार करना पड़ता है। किन्तु उससे विपरीत मात्माके सम्पत्त्व और चारित्र्य बिताने बशोंमें प्राप्त होते हैं, उसमें ही अशोसे मोक्ष प्रगट होती है। उमका फल केवल देव आदि गतिका प्राप्त होना ही नहीं है। तथा जो देव आदि गति प्राप्त हुई हैं वे तो ऊपर कहे हुए मन बचन और शरीरके योगसे ही हुई हैं और जो बंधरहित सम्पत्त्व और चारित्र्य प्रगट हुआ है, वह कायम रहकर, उससे फिर मनुष्यमग्न पाकर—फिर उस भागसे संयुक्त होकर—मोक्ष होती है।

११ चाहे कोई भी काष्ठी हो, उसमें कर्म मीथ्य रहता है—उसका बंध होता है, और उस बंधकी निर्मल होती है और सम्पूर्ण निर्मलताका नाम ही मोक्ष है।

१२ निर्मलके दो भेद हैं—सकामनिर्मल अर्थात् संबंध (मोक्षकी कारणभूत) निर्मल, और अकामनिर्मल अर्थात् विपाकनिर्मल।

१३ अकामनिर्जरा औद्यमिक मात्रसे होती है। इस निर्जराको जीवने अनंतोंबार क्रिया और यह कर्म-बन्धकी ही कारण है।

१४ सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक मात्रसे होती है। यह कर्मिक व्यवस्था कारण है। जिसने अंशोंमें सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक मात्रसे) होती है उसने ही अंशोंमें आत्मा प्रगट होती है। यदि अकाम (निपाक) निर्जरा हो तो वह औद्यमिक मात्रसे होती है, और वह कर्म-बन्धका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा तो होती है, परन्तु उससे आत्मा प्रगट नहीं होती।

१५ अमृतसार चरित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है, वह औद्यमिक मात्रसे (जो मात्र बध्नुचित नहीं है) ही हुई है क्षायोपशमिक मात्रसे नहीं हुई। यदि वह क्षायोपशमिक मात्रसे हुई होती, तो इस तरह भटकना न पड़ता।

१६ मार्ग दो प्रकारके हैं — एक औक्तिक मार्ग और दूसरा अेकोत्तर मार्ग। ये दोनों एक दूसरेसे निरुद्ध हैं।

१७ औक्तिक मार्गसे निरुद्ध अेकोत्तर मार्गके पालन करनेसे उसका फल औक्तिक नहीं होता। वैसा रूप होता है वैसा ही उसका फल होता है।

१८ इस संसारमें जीवोंकी संख्या अनन्त होती है। व्यवहार आदि प्रसंगमें अनन्त जीव श्रोत्र आदिसे प्रवृत्ति करते हैं। चक्रवर्ती राजा आदि श्रोत्र आदि मात्रोंसे सुगम करते हैं, और बाकी मनुष्योंका बात करते हैं, तो भी उनमेंसे किसी किसीको तो उसी काममें मोक्ष हुई है।

१९ श्रोत्र, मात्र, माया और कामकी बौद्धिकीको कषायके नामसे कहा जाता है। यह कषाय अत्यन्त श्रोत्रादिवासी है। यदि वह अनन्त कषाय संसारका कारण होकर अनन्तलुब्धी कषाय होती हो, तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनन्त संसारकी वृद्धि होगी चाहिए, और इस वृद्धिसे तो अनन्त संसारके व्यतीत होनेके पक्षसे उन्हें किस तरह मोक्ष हो सकती है। यह बात विचारने योग्य है।

२० तथा जिस श्रोत्र आदिसे अनन्त संसारकी वृद्धि हो रही अनन्तलुब्धी कषाय है वह भी निस्तब्ध है। इस वृद्धिसे ऊपर कहे हुए श्रोत्र आदिको अनन्तलुब्धी नहीं कहा जा सकता। इसीसे अनन्तलुब्धीकी बौद्धिकी किसी अन्य प्रकारसे ही होना समझ है।

२१ सम्पूर्णज्ञान दर्शन और चरित्र इन तीनोंकी एकताको मोक्ष कहते हैं। यह सम्पूर्णज्ञान दर्शन चरित्र, नीतरगगणाल दर्शन चरित्र ही है। उससे अनन्त संसारसे मुक्ति होती है। यह नीतरगगणाल कर्मिक बन्धका कारण है। नीतरगगणाल मात्रसे चक्रवर्ती अथवा उनकी आत्मानुसार चक्रवर्ती भी बन्धका ही कारण है। उसके प्रति जो श्रोत्र आदि कषाय हो उनसे निमुक्त होना, यही अनन्त संसारसे अमृतरूपसे मुक्त होना है। अर्थात् यही मोक्ष है। जिससे मोक्षसे निपटीय ऐसे अनन्त संसारकी वृद्धि होती है, उसे अनन्तलुब्धी कहा जाता है; और बात भी ऐसी ही है। नीतरगगणाल और उनकी आत्मानुसार चक्रवर्तीका अन्त्याण होता है; ऐसा जो बहुतसे जीवोंको अन्त्याणकारी मार्ग है, उसके प्रति श्रोत्र आदि मात्र (जो अन्त्याणकारी करनेवाले हैं) ही अनन्तलुब्धी कषाय है।

२२ श्रोत्र आदि मात्र लोकमें भी निरुद्ध नहीं जाते; तथा उनसे नीतरगगणाल प्रकृति नीतरगगणाल मोक्षचर्मका अथवा सत्त्वमर्मा खंडन करना, अथवा उनके प्रति तीव्र म आदि जैसे

मात्रोंसे क्रोध आदि भाव होते हैं उन मात्रोंसे, अनतानुबन्धी कथापत्ते बन्ध होकर मन्त्रिम्यमें भी अनत सत्तारकी वृत्ति होती है ।

२३ अनुभवका किसी भी कारणमें अभाव नहीं है । परन्तु बुद्धिबलसे निश्चित की हुई जो अप्रत्यक्ष बात है, उसका कथित् अभाव भी हो सकता है ।

२४ क्या केवलज्ञान उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा कुछ भी जानना क्षेप नहीं रहता ? अथवा आत्मप्रदेशोंका जो स्वभाव है, उसे केवलज्ञान कहते हैं ?—

(ब) आत्मासे उत्पन्न किया हुआ विभावपरिणाम, और उससे जब पदार्थके उपयोगबलसे होनेवाले आवरणपूर्वक जो कुछ देखना और जानना होता है वह इन्द्रियोंकी सहायतासे हो सकता है । परन्तु तत्सर्व्वी यह विवेचन नहीं है । यह विवेचन तो केवलज्ञानसम्बन्धी है ।

(वा) विभावपरिणामसे होनेवाला जो पुनरास्तिकापका सबब है, वह आत्मासे निम्न है । उसका, तथा जिसका पुनरुत्पन्न उपयोग हुआ है उसका, व्यापपूर्वक जो ज्ञान—अनुभव—होता है वह सब अनुभवगम्यमें ही समाविष्ट होता है, और उसको लेकर जो समस्त लोकके पुनर्लोक इसी तरहका निर्णय होता है, वह बुद्धिबलसे समाविष्ट होता है । उदाहरणके लिये जिस आकाशके प्रदेशमें अथवा उसके पास जो विभावयुक्त आत्मा स्थित है, उस आकाशके प्रदेशके उत्तने मागका लेकर जो अक्षेप अनेक अनुभव होता है, वह अनुभवगम्यमें समाविष्ट होता है; और उसके पश्चात् वाकीके आकाशको जिस स्वर्ण केवलज्ञानले भी अनत—जिसका अंत नहीं—कहा है, उस अनत आकाशका भी तदनुसार ही गुण होता चाहिये यह बुद्धिबलसे निर्णय किया जाता है ।

(इ) आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है अथवा आत्मज्ञान हो गया है—यह बात अनुभवगम्य है । परन्तु उस आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे आत्मानुभव होनेके पश्चात् क्या क्या होना चाहिये, यह जो कहा गया है, वह बुद्धिबलसे ही कहा है, ऐसा समझा जा सकता है ।

(ई) इन्द्रियोंके उपयोगसे जो कुछ देखना जानना होता है, उसका यद्यपि अनुभवगम्यमें समावेश हो जाता है, यह ठीक है, परन्तु यहाँ तो आत्मतत्त्वसम्बन्धी अनुभवगम्यकी बात है । यहाँ तो जिसमें इन्द्रियोंकी सहायता अथवा संबन्धी आवश्यकता नहीं, उसके अतिरिक्त किसी दूसरेके संबन्धी ही बात है । केवलज्ञानी सज्जन ही ऐसा और जान रहे हैं, अर्थात् उन्होंने लोकके सब पदार्थोंका अनुभव किया है—ऐसा जो कहा जाता है, सो उसमें उपयोगका सबब रहता है । कारण कि केवलज्ञानीके १३वीं गुणस्थानक और १४वीं गुणस्थानक इस तरह दो विभाग किये गये हैं । उनमें १३वें गुणस्थानकके केवलज्ञानीके योग रहता है, यह स्पष्ट है और अहाँ यह बात है यहाँ उपयोगकी खास जरूरत है; और अहाँ उपयोगकी खास जरूरत है, यहाँ बुद्धिबल है, यह कहे बिना बल नहीं सकता । तथा अहाँ यह बात सिद्ध होती है, यहाँ अनुभवकी साथ साथ बुद्धिबल भी सिद्ध होता है ।

(उ) हाँ तब उपयोगके सिद्ध होनेसे आत्माके पासमें जो जब पदार्थ है, उसका तो अनुभव होता है, परन्तु जो पदार्थ पासमें नहीं है—जिसका संबन्ध नहीं है—उसका अनुभव करनेमें कठिनाई आती है और उसकी साथ ही 'दूरवर्ती पदार्थ अनुभवगम्य नहीं हैं,' ऐसा कहनेसे केवलज्ञानके प्रचक्षित

अर्थमें विरोध जाता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि वहाँ मुस्लिमोंसे ही सब पराधीन, सब प्रकारसे, सब कानूनका ज्ञान होता है।

२५ एक काबूके कर्मिष्ठ जो अनन्त समय हैं, उनके कारण अन्तकाल कहा जाता है। वहाँ उसमेंके वर्तमानकाबूके पहिलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं, वे फिरसे छोटकर जानेपड़े गये। यह बात न्यायपूर्ण है; फिर वह समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकता है? यह विचारणीय है।

२६ अनुभवगम्य जो समय हो गये हैं उनका जो स्वरूप है, उस स्वरूपको छोड़कर उनका कोई दूसरा स्वरूप नहीं होता और इसी तरह जनादि अन्तकालके जो दूसरे समय हैं उनका भी ऐसा ही स्वरूप है—यह मुस्लिमोंसे निर्णीत हुआ मज़हब होता है।

२७ इस काबूमें ज्ञान क्षीण हो गया है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं। ज्यों ज्यों ज्ञान कम होता है त्यों त्यों मतभेद बढ़ते हैं और ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों मतभेद कम होते हैं। उदाहरणके लिये, ज्यों ज्यों पैसा घटता है त्यों त्यों क्रेय बढ़ता है और ज्यों पैसा बढ़ा कि क्रेय कम हो जाता है।

२८ ज्ञानके बिना सम्पत्तिका विचार नहीं सूझता। मतभेद मुक्त उत्पन्न नहीं करना है, यह बात जिसके मनमें है, वह जो कुछ चाहेता और चुनता है वह सब उसको सम्पत्तिका ही होता है। मतभेद आदिके कारणको लेकर शास्त्र-अवयव आदि सम्पत्तिका नहीं होते।

२९ जैसे रास्तेमें चढ़ते हुए किसी आदमीके सिरकी पाईयाँ काँटोंमें उलझ जाय, और उसकी मुसाफिरी बनी बाकी रही हो तो पहिले तो जहाँतक बने उसे काँटोंको हटाना चाहिये; किन्तु यदि काँटोंसे दूर करना संभव न हो तो उसके लिये वहाँ ठहरकर, एतमर नहीं न बिता देनी चाहिये। परन्तु पाईयाँ वहाँ छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये। उसी तरह निगमार्थके स्वरूप और उसके रहस्यके सम्बन्ध बिना अपना उसका विचार किये बिना छोटी छोटी शंकाओंके लिये वहाँ बैठ जाना और जगो न बढ़ना उचित नहीं। निगमार्थ वास्तविक रीतिसे देखनेसे तो जीवको कर्मोंके ध्वं करनेका उपाय है, परन्तु जीव तो अपने मतमें गुँगा हुआ है।

१ जीव प्रथम गुणस्थानसे निकलकर प्रथिमेद होनेतक अनन्तवार आत्मा, और ब्रह्मि पड़े फिर गया है।

११ जीवको ऐसा मान रहता है कि सम्पत्तय अनायास ही आ जाता होगा, परन्तु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये बिना प्राप्त नहीं होता।

१२ कर्म प्रवृत्ति १५८ है। सम्पत्तयके लिये बिना उनमेंसे कोई भी प्रवृत्ति समूह क्षय नहीं होती। जीव अनन्तसे निर्भर करता है परन्तु मूखोंसे तो एक भी प्रवृत्ति क्षय नहीं होती। सम्पत्तयमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह प्रवृत्तिको मूखोंसे ही क्षय कर देता है। वह इस तरह कि वह अमुक प्रवृत्तिके क्षय होनेके परचाएँ जाता है; और जीव यदि बलवान होता है तो वह धीरे धीरे सब प्रवृत्तियोंका क्षय कर देता है।

१३ सम्पत्तय सबका माझम हो जाय यह बात नहीं है। इसी तरह वह किसीको भी माझम न पड़े, यह बात भी नहीं। विचारधानको वह माझम पड़ जाता है।

३४ जीवको समझ आ जाय तो समझ आनेके बाद सम्पत्त्व बहुत सुगम हो जाता है। परन्तु समझ आनेके लिये जीवने आनन्दक सच्चा सच्चा छद्म नहीं दिया। जीवको सम्पत्त्व प्राप्त होनेका अर्थ अर्थ योग मिला है, तब तब उसने उसपर बराबर ध्यान नहीं दिया। कारण कि जीवको अनेक व्यस्तताय मौन है। उनमें बहुतसे अन्तराध तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नहीं आते। यदि कोई उन्हें बतानेवाला मित्र था तो भी अन्तराधक योगसे उनका ध्यानमें उन्ना नहीं बनता। तथा बहुतसे व्यस्तताय व्यस्त है, जिनका ध्यानमें आना भी मुश्किल है।

३५ सम्पत्त्वका स्वरूप केवल बचनयोगसे ही कहा जा सकता है। यदि वह एकत्र कहा जाय तो उसमें जीवको वस्तु ही मात्र माश्रूम होने लगे, तथा सम्पत्त्वक ऊपर उन्नी वरुष ही हो जाय। परन्तु यदि वही स्वरूप अनुक्रमसे ज्यों ज्यों दशा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों कहा जाय, अपना समझाया जाय तो वह समझमें आ सकता है।

३६ इस काष्ठमें मोक्ष है—यह दूसरे मार्गोंमें कहा गया है। यद्यपि जैनमार्गमें इस काष्ठमें असुख क्षेत्रमें मोक्ष होना नहीं कहा जाता, फिर भी उसमें यह कहा गया है कि उसी क्षेत्रमें इस काष्ठमें सम्पत्त्व हो सकता है।

३७ ज्ञान दर्शन और चारित्र ये तीनों इस काष्ठमें मान्य हैं। प्रयोगनमूत पदार्थोंके ज्ञान नेको ज्ञान कहते हैं। उसकी सुप्रतीतिको दर्शन कहते हैं, और उससे होनेवाली ओ मित्या है उसे चारित्र कहते हैं। यह चारित्र इस काष्ठमें जैनमार्गमें सम्पत्त्व होनेके बाद सत्त्वमें गुणस्थानतक प्राप्त किया जा सकता है, यह स्वीकार किया गया है।

३८ कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो भी वही बात है।

३९ यदि कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो उसमें सम्पत्त्व समाविष्ट हो जाता है, और यदि कोई आठवेंतक पहुँच जाय तो उसे निवास हो जाता है कि आगेकी दशा किस तरहकी है? परन्तु सातवेंतक पहुँचे बिना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

४० यदि बढ़ती हुई दशा होती हो तो उसे निषेध करनेकी जरूरत नहीं, और यदि बढ़ती हुई दशा न हो तो उसे माननेकी जरूरत नहीं। निषेध किये बिना ही आगे बढ़ते जला पाविये।

४१ सामायिक छद्म और बाह्य काटिका विना छोड़ देनेके पश्चात् नवकोटि बिना नहीं जाता, और अन्तमें नवकोटिसेभी वृत्ति छोड़ बिना मोक्ष नहीं है।

४२ म्याह प्रवृत्तिपेक्षे क्षय किये बिना सामायिक नहीं जाता। बिसे सामायिक होता है उसकी दशा तो बहुत होती है। वैसे जीव छोड़े सत्त्वमें और आठवें गुणस्थानमें जाता है, आर वैसे दो वहीमें मोक्ष हो सकती है।

४३ मोक्षमार्ग साधारणकी भारके समान है, अर्थात् वह एकपथ—एकप्रवाहरूप—है। तीनों काष्ठमें ओ एकपथासे अर्थात् एक समान रहे वही मोक्षमार्ग है, प्रवहमें जो व्यस्त है वही मोक्षमार्ग है।

४४ पहिले दो बार कहा जा चुका है फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि वही भी

बाहर और बाहर कियाका नियम नहीं किया गया । कारण कि हमारी भाषामें यह भाव कभी भी स्वयमें भी उत्पन्न नहीं हो सकता ।

४५. रुईवाली गौठ सिध्दात्त अथवा कथायका सूचन करनेवाली क्रियाओंके संबंधमें कहा-
बिना किसी प्रमाणपर कुछ कहा गया हो, तो वहाँ क्रियाके नियम करनेके लिये तो कुछ भी नहीं
कहा गया है । फिर भी यदि यह कथन किसी दूसरी तरह ही समझमें आया हो तो उसमें सम्झने-
वालेको अपनी सुदृष्टि ही मूल हुई समझनी चाहिये ।

४६. जिसने कथायमात्रका उल्लेख कर बताया है, वह ऐसा कभी भी नहीं करता कि जिससे
कथायमात्रका उल्लेख हो ।

४७. जबतक हमारी तरफसे ऐसा नहीं कहा गया हो कि अमुक क्रिया करनी चाहिये,
तबतक यह समझना चाहिये कि यह सकारण ही है; और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि क्रिया
करनी ही न चाहिये ।

४८. हाथमें यदि ऐसा कहा जाय कि अमुक क्रिया करनी चाहिये और पक्षिसे देश पक्षमें
अनुसार उस क्रियाको दूसरे प्रकारसे करनेके लिये कहा जाय, तो इससे खोताके मनमें संका हो
सकती है कि पक्षिसे तो दूसरी तरह कहा जाता था और अब दूसरी तरह कहा जाता है—परन्तु ऐसी
संका करनेसे उसका श्रेय होनेके लिये अश्रेय ही होता है ।

४९. बाह्यमें गुणस्थानके अन्त समयतक भी ज्ञानीकी बाह्यनुसार चरना पड़ता है । उसमें
स्वच्छमात्र जाता हो जाता है ।

५०. स्वच्छरसे निवृत्ति करनेसे वृत्तियाँ शान्त नहीं होतीं, उन्हीं उत्पन्न ही होती हैं, और
उससे श्रुत होनेका समय आता है; और ज्यों ज्यों जागे जानेके पश्चात् पतन होता है त्यों त्यों उसे
नोरकी पटक लगाती है—इससे जीव अधिक गहराईमें जाता है अर्थात् वह पक्षिमें जाकर पड़ता है ।
इतना ही नहीं किन्तु उसे नोरकी पटक लगानेके कारण उसे वहाँ बहुत समयतक पड़े रहना पड़ता है ।

५१. यदि कभी भी शक्ता करना हो तो करो परन्तु इतना धीरे निश्चयसे अध्ययन करना
चाहिये कि जीवसे लगाकर मोक्षतकके स्थानक मौख्य हैं और मोक्षका उपाय भी है, इसमें कुछ भी
असंभव नहीं । यह निर्णय करनेके पश्चात् उसमें तो कभी भी शक्ता न करना चाहिये; और इस
प्रकार निर्णय हो जानेके पश्चात् प्रायः शक्ता नहीं होती । यदि कदाचित् शंका हो भी तो वह एक-
देहा ही शक्ता होती है और उसका समाधान हो सकता है । परन्तु यदि मूर्खमें ही अर्थात् जीवसे लेकर
मोक्षतकके स्थानको ही अथवा उसके उपायमें ही शंका हो तो वह एकदेहा शक्ता नहीं, परन्तु सखिष्ठ
छात्र है; और उस शक्तासे प्रायः पतन ही होता है और वह पतन इतना अधिक जोरसे होता
है कि उसकी बहुत नोरकी पटक लगाती है ।

५२. यह प्रश्न दो प्रकारकी है—एक बोध और दूसरी विचारणक ।

५३. मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जा सकता है उसमें अनुमान साधने रहता
है । परन्तु उससे ज्ञान और अनुमानके बिना ही श्रुत्यनुसारे ज्ञानमा यह मन-पर्यवधानका नियम
है । अर्थात् मूर्खमें तो मति श्रुत और मन-पर्यवधान एक है परन्तु मन-पर्यवधानमें अनुमानके बिना भी
मतिकी निर्मलतासे सुदृष्टसे जाना जा सकता है ।

५४ मतिकी निर्मलता समयके बिना नहीं हो सकती । बुद्धिको रोकनेसे समय होता है, और उस समयसे मतिकी शुद्धता होकर अनुमानके बिना शुद्ध पर्यायको जाननेका नाम मन-पर्यवधान है ।

५५ मतिज्ञान सिंग-विह—से जाना जा सकता है, और मन-पर्यवधानमें सिंग अथवा विहकी आवश्यकता नहीं रहती ।

५६ मतिज्ञानसे जाननेमें अनुमानकी आवश्यकता रहती है, और उस अनुमानकी सहायतासे जो ज्ञान होता है, उसमें फेरफार भी होता है । परन्तु मन-पर्यवधानमें वैसा फेरफार नहीं होता । क्योंकि उसमें अनुमानकी सहायताकी जरूरत नहीं है । शरीरकी चेष्टासे क्रोध आदिकी परीक्षा हो सकती है, परन्तु जिससे क्रोधादिका मूलस्वरूप ही महसूस न हो सके, उसके लिये यदि विपरीत चेष्टा की गई हो, तो उसके ऊपरसे क्रोध आदिकी परीक्षा करना कठिन है । तथा यदि शरीरकी किसी भी तरहकी चेष्टा न की गई हो, तो चेष्टाके विषयसे देखे बिना ही क्रोध आदिका जानना बहुत कठिन है, फिर भी उसका साक्षात्कार हो सकना मन-पर्यवधानका विषय है ।

५७ लोगोंमें जोबसङ्कासे प्रचलित रुढ़िके अनुसार यह माना जाता है कि 'हमें सम्यक्त्व है या नहीं इसे तो केवली जाने; निश्चय सम्यक्त्व होनेकी बात तो केवलीगम्य ही है ' परन्तु बनारसीदास और उस दशाके अन्य पुरुष ऐसा कहते हैं कि "हमें सम्यक्त्व हो गया है, यह हम निश्चयसे कहते हैं ।"

५८ शास्त्रमें जो ऐसा कहा गया है कि निश्चय सम्यक्त्व है या नहीं, उसे कवली जाने ' सो यह बात अमुक नपते ही सत्य है । तथा केवलज्ञानीसे सिद्ध बनारसीदास कीराने भी जो अस्पष्ट-रूपसे ऐसा कहा है कि "हमें सम्यक्त्व है, अथवा हमें सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है," यह कथन भी सत्य है । कारण कि जो निश्चय सम्यक्त्व है उसे तो प्रत्येक रहस्यकी पर्याप्तसहित केवली ही जान सकते हैं, अथवा जहाँ प्रत्येक प्रयोजनमूल पदार्थके हेतु अहेतुको सम्पूर्णरूपसे केवलीके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं जान सकता, वहाँ निश्चय सम्यक्त्वको केवलीगम्य कहा है । तथा उस प्रयोजनमूल पदार्थके सामान्य अथवा स्पष्टरूपसे हेतु अहेतुका समझ सकना भी संभव है, और इस कारण बनारसी-दास कीराने अपनेको सम्यक्त्व होना कहा है ।

५९ समयसारमें बनारसीदासकी बर्णाई हुई कवितामें कहा है कि 'हमारे हृदयमें जोबकीज उत्पन्न हो गया है,' अर्थात् उन्होंने कहा है कि हमें सम्यक्त्व है ।

६० सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पश्चात् अधिकसे अधिक पश्य मन्त्रके भीतर मुक्ति हो जाती है, और यदि भीज कहीं च्युत हो जाता है तो अर्धपुत्रक-परावर्तनमें मुक्ति होती है । यदि इस काजमें वर्ष पुत्रक-परावर्तन गिना जाय तो भी वह साद्विद्यतके मगमें जा जाता है—यह बात शंकाविहित है ।

६१ सम्यक्त्वके लक्षण —

१ कथनकी मर्यादा, अथवा उसके रसकी मर्यादा ।

२ मोक्षमार्गकी ओर वृत्ति ।

३ उत्तारका बधनरूप जगता या उत्तका काय अथवा अहंरूप मय्यस्य होना ।

४ सब प्राणियोंके ऊपर दयाभाव; उसमें विशेष करके अपनी आत्माके ऊपर दयामात्र ।

५. सत्देव सत्धर्म और सबलोक ऊपर आस्था ।

६२ अहमज्ञान अथवा अहमसे मित्र कर्मस्वरूप अथवा पुत्रसास्तिकाय बीररक्षा जो मित्र मित्र प्रकारसे, मित्र मित्र प्रसंगपर अत्यन्त सूक्ष्मे सूक्ष्म और अति विस्तृत स्वरूप ज्ञानोदात्त प्रकटित हुवा है, उसमें कोई हेतु गर्भित है या नहीं ? और यदि गर्भित है तो वह कौनसा है ? उस सम्बन्ध विचार करनेसे उसमें सात कारण गर्भित भाव्य पड़ते हैं—संयुक्तार्थप्रकार, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीव-संरक्षण बगैरह । उन सात हेतुओंका एक मोक्षकी प्राप्ति होना है । तथा मोक्षकी प्राप्ति का जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीय होता है ।

६३ कर्मिक अनन्त मे है । उसमें मुख्य १५८ हैं । उसमें मुख्य आठ कर्म प्रकटित कर्णन किया गया है । इन सब कर्मोंमें मुख्य कर्म मोक्षनीय है ; इसकी सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यन्त है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है ।

६४ आठ कर्मोंमें चार कर्म अनन्त हैं । उन चारोंमें भी मोक्षनीय अत्यन्त प्रबलरूपसे अनन्त होती है । मोक्षनीय कर्मोंके सिवाय जो बाकीके सात कर्म हैं वे मोक्षनीय कर्मोंके प्रतापसे ही प्रबल होते हैं । यदि मोक्षनीय दूर हो जाय तो दूसरे कर्म भी निर्बल हो जाते हैं । मोक्षनीयके दूर होनेसे दूसरोंका पैर नहीं टिक सकता ।

६५ कर्मबन्धने चार प्रकार हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध स्थितिबन्ध और रसबन्ध । उनमें प्रदेश स्थिति और रस इन तीन बंधोंके ऐक्यका नाम प्रकृतिबन्ध रखा गया है । अहमके प्रदेशोंकी साथ पुत्ररूपके अभाव—संयोग—को प्रदेशबन्ध कहते हैं । यहाँ उसकी प्रबलता नहीं होती उसे दूर करना चाहें तो दूर कर सकते हैं । तथा मोक्षके कारण स्थिति और रसका बंध पड़ता है और उस स्थिति तथा रसका जो बंध है उसे जीव यदि बदलना चाहे तो उसका बदला वा सम्मान असम्भव है । ऐसे मोक्षके कारण इस स्थिति और रसकी प्रबलता है ।

६६ सम्पत्तक कर्मोच्छिन्ने अपना रूपन बताता है —

मुझे प्रहण करनेके बाद यदि प्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे कर्मपूर्वक मोक्ष ले ही जाना पड़ता है । इसलिये मुझे प्रहण करनेके पछिछे यह विचार करना चाहिये कि यदि मोक्ष जानेकी इच्छाकी बदलना होगा तो भी यह कुछ काम जानेवाली नहीं । क्योंकि मुझे प्रहण करनेके पश्चात् नीचे समये मुझे उस मोक्षमें पहुँचना ही चाहिये । यदि प्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाय, तो भी हो सके तो उसी मर्मे और नहीं तो अधिकसे अधिक दृष्टि मर्मे मुझे उसे अवश्य मोक्ष पहुँचना चाहिये । यदि कदाचित् वह मुझे छोड़कर मेरेसे विद्वद्वाचरण करे अथवा अत्यन्त प्रबल मोक्षकी कारण कर के, तो भी अर्धपुत्र-परावर्तनके भीतर तो मुझे उसे अवश्य मोक्ष पहुँचना चाहिये ही—यह मेरी प्रतिज्ञा है ।

अर्थात् यहाँ सम्पत्तककी महत्ता बताई है ।

६७ सम्पत्तक केवलज्ञानसे कहता है —

मैं इनमार्गक कर सकता हूँ कि जीवकी मोक्ष पहुँचा दूँ, और वह उससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता । तो फिर मेरे मुखाश्रमे मुझमें किस बातकी स्पृहा है । इतना ही नहीं किन्तु उसे प्राप्त करनेमें मेरी अत्यन्त इच्छा है ।

६८ किसी प्रथम आदिका बौचन शुरू करते हुए, पहिले मगलाचरण करना चाहिये, और उस प्रयत्नको फिरसे बौचते हुए अथवा चाहे कहींसे भी उसका बौचन शुरू करनेके पहिले मगलाचरण करनेकी शास्त्रपद्धति है । उसका मुख्य कारण यह है कि वाङ्मयविमर्से आत्मवृत्ति करना है, इसलिये ऐसा करनेमें प्रथम शांतमात्र करनेकी जरूरत है, और तदनुसार प्रथम मगलाचरण करनेसे शांतमात्र प्रवेश करता है । बौचन करनेका जो क्रम हो उसे यथाशक्ति कभी भी न तोड़ना चाहिये । उसमें ज्ञानीका इच्छा केनेकी जरूरत नहीं है ।

६९ आत्मानुभवनाम्य अथवा आत्मजनित सुख और मोक्षसुख ये सब एक ही हैं । मात्र शब्द सुदा सुदा हैं ।

७० शरीरके कारण अथवा दूसरेके शरीरकी अपेक्षा उनका शरीर विशेषतावाला देखनेमें जाता है, कुछ इसलिये केवलज्ञानी केवलज्ञानी नहीं कहे जाते । तथा वह केवलज्ञान कुछ शरीरसे पैदा हुआ है, यह बात भी नहीं है । वह तो आत्माद्वारा प्रगट किया गया है । इस कारण उसकी शरीरसे विशेषता समझनेका कोई हेतु नहीं है, और विशेषतावाला शरीर जोगोंके देखनेमें नहीं जाता, इसलिये जेना उसका बहुत महत्त्व नहीं जान सकते ।

७१ जिसे मतिज्ञान और भुतज्ञानकी वशसे भी खबर नहीं, वह जीव यदि केवलज्ञानके स्वरूपकी जाननेकी इच्छा करे तो वह किस तरह बन सकता है ? अर्थात् वह नहीं बन सकता ।

७२ मतिके स्फुरायमान होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है; और म्रमण होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भुतज्ञान है और भुतज्ञानका मनन होकर जो उसका अनुभव होता है वह पीछे मतिज्ञान हो जाता है अथवा उस भुतज्ञानका अनुभव होनेके बाद यदि वह दूसरेको कहा जाय, तो उससे कहनेवालेको मतिज्ञान और सुननेवालेका भुतज्ञान जाता है । तथा भुतज्ञान मतिके बिना नहीं हो सकता, और नहीं मतिपूर्वक भुत समझना चाहिये । इस तरह एक दूसरेका कार्य-कारण संबन्ध है । उनके अनेक भेद हैं । उन सब भेदोंको जैसे चाहिये जैसे हेतुपूर्वक तो समझा नहीं— क्योंकि हेतुपूर्वक जानना समझना कठिन है, तथा इसके अतिरिक्त आगे चक्कर रूपी फार्मोंको जाननेवाले अनेक भेदयुक्त अवधिज्ञानको, और रूपी पदार्थोंको जाननेवाले मन पर्यवधानको जानने समझनेकी बिसकी किसी वशसे भी शक्ति नहीं, ऐसे मनुष्य पर और अरूपी पदार्थोंके समस्त मार्गोंसे जाननेवाले केवलज्ञानके विषयमें जाननेका-समझनेका प्रश्न करें, तो वे उसे किस तरह समझ सकते हैं ? अर्थात् नहीं समझ सकते ।

७३ ज्ञानीके मार्गमें चकनेवालेको कर्मबन्ध नहीं है । तथा उस ज्ञानीकी वाङ्मयानुसार चकनेवालेको भी कर्मबन्ध नहीं होता । क्योंकि श्रेष्ठ, मान माया, लोभ आदिका नहीं समाप्त है और उस समाप्तके कारण कर्मबन्ध नहीं होता । तो भी 'इरियापय' में चकनेसे ज्ञानीको 'इरियापय' की किया होती है, और ज्ञानीकी वाङ्मयानुसार चकनेवालेको भी वह किया होता है ।

७४ जिस विचारसे जीव कर्म बौधता है, उसी विचारसे जीव कर्म छोड़ता भी है ।

७५ उसी विचारका सांसारिक हेतुके प्रयोजनसे विचार करनेसे जीव कर्मबन्ध करता है, और जीव अब उसी विचारका इच्छाके स्वरूपको समझनेके प्रयोजनसे विचार करता है तो वह कर्म छोड़ता है ।

७६ क्षेत्रमासमें क्षेत्रसेवायी जो जो बातें हैं उन्हें अनुमाससे माननी चाहिये । उनमें अनुमास नहीं होता । परन्तु उन सबका कारणपूर्वक ही वर्णन किया जाता है । उसकी विधानपूर्वक रक्षा रखनी चाहिये । मूत्र बढ़ावे फेर हो जानेसे आगे चलकर समझनेमें ठेठतक मूत्र बची जाती है । जैसे गर्भितमें यदि पक्षिजैसे मूत्र हो गई हो तो वह मूत्र अन्ततः बची जाती है ।

७७ ज्ञान पौष्ट प्रकाशका है । वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके सिद्धा, सिद्धात्त्वसहित हो तो यति अज्ञान भुत अज्ञान और अवधि अज्ञान कहा जाता है । उन्हें मिश्रकर ज्ञानके कुछ वाट भेद होते हैं ।

७८ यति भुत और अवधि यदि सिद्धात्त्वसहित हो तो वे अज्ञान हैं, और सम्यक्त्वसहित हो तो ज्ञान हैं । इसके सिवाय उनमें कोई वृत्त भेद नहीं ।

७९ जीव राग आदिपूर्वक जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है, उसका नाम कर्म है । पुण्य अथवा अशुभ अशुभकृत्यवाले परिणामको कर्म कहते हैं और शुद्ध अशुभकृत्यवाले परिणाम कर्म नहीं किन्तु निर्बल है ।

८० कर्मका आचार्य ऐसा कहते हैं कि दिगम्बर आचार्योंकी मान्यता है कि 'जीवको मोक्ष नहीं होती, किन्तु मोक्ष समझमें आती है । वह इस तरह कि जीव पुण्यस्वरूपवाला है; इसमें जहाँ उसे बंध ही नहीं हुआ, तो फिर उसे मोक्ष कहेंगे हो सकती है ! परन्तु जीवने यह मान रक्खा है कि 'मैं बंधा हुआ हूँ ।' यह मान्यता पुण्यस्वरूप समझ देनेसे नहीं रहती—अर्थात् मोक्ष समझमें आ जाता है ।' परन्तु यह बात पुण्यनयकी अथवा निश्चयनयकी ही है । यदि पर्याप्तार्थिक नपवाले इस नयमें संकट रहकर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है ।

८१ उपांगसूत्रमें कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आलस, संहर, निर्बल, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व मौजूद है—उनकी कुछ कल्पना की गई हो यह बात नहीं ।

८२ वेदान्त पुण्यनय-आमासी है । पुण्यनयामास मतवाले निश्चयनयके सिद्धांत किसी दूसरे नयकी—पुण्यनयनयके—नहीं मानते । निश्चयनय अनेकान्तिक है—स्वाश्रयी है ।

८३ कोई नवतत्त्वोंकी कोई पदार्थोंकी, कोई पदार्थोंकी और कोई दो पदार्थोंकी बात कहता है, परन्तु यह सब जीव अजीव इन दो पदार्थोंमें—दो तत्त्वोंमें—दो द्रव्योंमें ही गर्भित हो जाता है ।

८४ निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं इस बातमें तथा कर्ममूलमें सुईकी नोक चितने सूक्ष्म मापमें अनन्त जीव रहते हैं इस बातमें, शका नहीं करना चाहिये । ज्ञानमें जैसा स्वल्प देखा देता ही कहा है । यह जीव, जो स्थूल देहके प्रमाण होकर रहता है, और जिसे अभी भी अथवा निश्चय स्वल्प समझमें नहीं आया उसे ऐसी सूक्ष्म बातें समझमें न आनें तो यह सच है । परन्तु उसमें शका करनेका कोई कारण नहीं है । इस बातको इस तरह समझना चाहिये—

श्रीमान्नेके समयमें किसी गौरके बाघ आगमें जो बहुतसी हरियाली देगनमें आती है, उस चोरीनी हरियालीमें भी जब अनन्त जीव होत हैं तो यदि इस तरहके अनेक गौरोंका निवार करे तो जीवोंकी संख्याक प्रमाणका अनुमान न होनेपर भी उसका बुद्धिबलसे निवार करनेसे उतावला अनन्तमा

समय हो सकता है। कर्ममूळ आदिमें अनतपना संभव है। दूसरी इरियालीमें अनतपना संभव नहीं, परन्तु कर्ममूळमें अनतपना घटता है। तथा कर्ममूळके यदि धोड़ेसे भागको भी काटकर छमाया जाय तो वह उग जाता है, इस कारण भी उसमें जीर्णोद्भा आभिक्य रहता है। फिर भी यदि प्रतीति न होती हो तो आत्मानुभव करना चाहिये। आत्मानुभव होनेसे प्रतीति होती है। जबतक आत्मानुभव नहीं होता, तबतक उस प्रतीतिका होना मुनिकछ है। इसलिये यदि उसकी प्रतीति करना हो तो प्रथम आत्माका अनुमयी होना चाहिये।

८५. जबतक ज्ञानावरणीयका लयोपशम नहीं हुआ, तबतक सम्पत्त्वकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रखनेवालेको उस बातकी प्रतीति रखकर आत्मानुसार ही चखना चाहिये।

८६. जीवमें सकोच-विस्तारकी शक्तिरूप गुण रहता है, इस कारण वह सूक्ष्म सूक्ष्म शरीरमें देहके प्रमाण स्थिति करता है। इसी कारण वहाँ धोड़े अवकाशमें भी वह विशेषरूपसे सकोचपना कर सकता है, वहाँ जीव सकोचपूर्वक रहता है।

८७. ज्यों ज्यों जीव कर्म-मुक्तकोंको अधिक ग्रहण करता है त्यों त्यों वह अधिक निविड होकर अनेक देहोंमें रहता है।

८८. पण्यमें अभित्य शक्ति है। कोई भी पण्य अपने कर्मका त्याग नहीं करता। एक एक जीवमें परमाणुरूपसे ग्रहण किये गये अनत कर्म हैं। तथा ऐसे अनत जीव, जिनकी साध अनतानत कर्मरूपी परमाणु समझ हैं, निगोदके आश्रयसे धोड़ेसे अवकाशमें रहते हैं—यह बात भी शक्य करने योग्य नहीं। साधारण गिनतीके अनुसार तो एक परमाणु एक आकाश-प्रदेशका अवगाहन करता है, परन्तु उसमें अभित्य सामर्थ्य है। उस सामर्थ्य-स्वभावके कारण धोड़ेसे आकाशमें भी अनत परमाणु रहते हैं। जैसे किसी दर्पणके समुल्ल यधि उस दर्पणसे किसी बहुत बड़ी वस्तुको रक्खा जाय, तो भी उसका उतना आकार उस दर्पणमें समा जाता है तथा जैसे यद्यपि जौल एक छोटीसी वस्तु है, फिर भी उस छोटीसी वस्तुमें सूर्य चन्द्र आदि बड़े बड़े पदार्थोंका स्वरूप छिछर्य देता है, इसी तरह आकाश यद्यपि एक बड़ा विशाल क्षेत्र है, फिर भी वह जौलमें इत्यकपसे समा जाता है; तथा जौल जैसी छोटीसी वस्तु बड़े बड़े बहुतसे धर्मोंको देख सकती है। यदि धोड़ेसे आकाशमें अभित्य सामर्थ्यके कारण अनत परमाणु न समा सकते हों, तो फिर जौलसे उसके परिमाण बितनी ही वस्तु दिखाई देनी चाहिये, उसमें उससे अधिक मोटा भाग न दिखाई पड़ना चाहिये। अथवा दर्पणमें भी बहुतसी घर आदि बड़ी बड़ी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इस कारण परमाणुकी अभित्य सामर्थ्य है, और इस कारण धोड़ेसे आकाशमें भी अनत परमाणु समा सकते हैं।

८९. इस तरह परमाणु आदि प्रभोंका जो सूक्ष्मभावसे निष्पन्न किया गया है, वह यद्यपि परमाणुका निषेधन है, फिर भी वह स्कारण है और वह हेतुपूर्वक ही किया गया है।

९०. चित्तके स्थिर करनेके लिये, अथवा बुद्धिको बाहर न जाने देकर उसे अंतरंगमें खे जानेके लिये, परब्रह्मके स्वरूपका समाधान उपयोगी है।

९१. परब्रह्मके स्वरूपका विचार करनेसे बुद्धि बाहर न जाकर अंतरंगमें ही रहती है, और

निमित्तरूप समझ लेनेके पश्चात्, उससे प्रादुर्भूत ज्ञानसे उसका वही विषय हो जानेके कारण, अपना उसे अनुभव करनेमें समझनेसे उसका उतना ही विषय रहनेके कारण, वृत्ति बह्यपूर्ण बाहर निष्कम्भ परस्परार्थमें रमण करनेके लिये दीव जाती है। उस समय जाने हुए परब्रह्मके किरसे सूक्ष्मभावसे समझते हुए वृत्तिको किरसे अंतरगमें जाना पड़ता है और इस तरह उसे अंतरगमें जानेके पश्चात् उसका विशेषरूपसे स्वरूप समझनेसे, ज्ञानके द्वारा उसका केवल उतना ही विषय हो जानेके कारण, वृत्ति किरसे बाहर दीवने लगती है। उस समय जितना समझा हो उससे भी विशेष सूक्ष्मभावसे किरसे विचार करते हुए, वृत्ति किरसे अंतरगमें प्रेरित होती है। इस तरह करते करते वृत्तिका बारम्बार अंतरगभावमें जाकर घात की जाती है और इस तरह वृत्तिको अंतरगमें जाते जाते कदाचिद् आत्माका अनुभव भी हो जाता है; और जब यह अनुभव हो जाता है तो वृत्ति फिर बाहर नहीं जाती; परन्तु आत्मामें ही कुछ परिणतिरूप होकर परिणमन करती है; और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य परार्थका दर्शन स्पष्ट हो जाता है। इन कारणोंसे परब्रह्मका स्मिन्वन उपयोगी व्यवसाय हेतुभूत होता है।

९२ जीवको अपने आपको जो व्यक्तज्ञान होता है उसके द्वारा वह बड़े बड़े द्वेप फार्थिक स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, तो यह कैसे हो सकता है? अपना नहीं हो सकता। जब जीवको द्वेप फार्थिक स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता, तो वहाँ जीव अपने व्यक्तज्ञानको उसे न समझ सकनेका कारण न मानना हुआ, अपनेसे बड़े द्वेप फार्थिकमें दीव निकालता है। परन्तु सीधी तरहसे इस अपनी व्यक्तज्ञानको, उसे न समझ सकनेका कारण नहीं मानता।

९३ जीव जब अपने ही स्वरूपको नहीं जान सकता तो फिर वह जो परके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, उसे तो वह किस तरह जान (समझ) सकता है? और जबतक वह समझन नहीं जाता तबतक वह वहाँ गुँपा रहकर होठभरमान हुआ करता है। द्वेपकारी निमित्तरूपका ज्ञान जबतक प्रगट नहीं किया तबतक परब्रह्मका बाहे कितना भी ज्ञान प्राप्त कर को फिर भी वह किसी कामका नहीं। इसलिये उच्च मार्ग तो दूसरी समस्त बातोंको छोड़कर अपनी आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना ही है। जो सारभूत है उसे देखनेके लिये, 'यह आत्मा सद्भाववादी है,' 'यह कर्मको कटा है' और उससे (कर्मसे) उसे बच होता है, 'यह बच किस तरह होता है,' 'यह बच किस तरह निवृत्त हो सकता है' और उस बचसे निवृत्त हो आत्मा ही मोक्ष है — व्याप्तिके नियमों के अनुसार और प्रत्येक क्षणमें विचार करना योग्य है। और इस तरह बारम्बार विचार करनेसे विचार वृद्धिगत होता है और उसके कारण निमित्तरूपका वश अंशसे अनुभव होता है। क्यों क्यों निमित्तरूपका अनुभव होता है? क्यों क्यों इन्द्रियकी अभिव्यक्त सामर्थ्य जीवके अनुभवमें आती जाती है। इससे ऊपर बताई हुई पाठकोंके (तद्वाहरणके लिये जोहसे जाकाशमें अर्न्त जीवोंका समा जाना अवसा ठममें अगत पुद्गल परमाशुभोका समाप्ता) करनेका अवकाश नहीं रहता, और उमकी परार्थता समझमें आती है। यह होनेपर भी यदि उसे न माना जाता हो व्यवसाय उसमें शका करनेका कारण रहता हो तो जानी कहते हैं कि वह ऊपर कहे हुए पुरुषार्थ करनेसे अनुभवगत सिद्ध होगा।

* ४ जीव जो कर्मबध करता है वह देहस्थित जाकाशमें रहनेवाले सूक्ष्म पुद्गलोंमें ही प्रवृत्त करने करता है। कुछ बह बाहरसे अन्तर कर्मोंको नहीं बौधता।

९५ आकाशमें चौदह राजू लोकमें पुद्गल-परमाणु सदा भरपूर हैं, उसी तरह शरीरमें रहनेवाले आकाशमें भी सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओंका समूह भरा हुआ है। जीव वहाँसे सूक्ष्म पुद्गलोंको ग्रहण करके कर्मवश करता है।

९६ यहाँ ऐसी शक्ता की जा सकती है कि यदि शरीरसे दूर—बहुत दूर—रहनेवाले किसी पदार्थके प्रति जीव राग-द्वेष करे, तो वहाँके पुद्गल ग्रहण करके या वह बंध करता है, वह किस तरह करता है? उसका समाधान यह है कि वह राग-द्वेष परिणति तो आत्माकी विभावरूप परिणति है, और उस परिणतिके करनेवाली आत्मा है; और वह शरीरमें रहकर ही उसे करती है। इसलिये शरीरमें रहनेवाली जो आत्मा है, वह जिस क्षेत्रमें है, उस क्षेत्रमें रहनेवाले पुद्गल-परमाणुओंको ही ग्रहण करके वह उनका बंध करता है—वह उन्हें ग्रहण करनेके लिये कहीं बाहर नहीं जाती।

९७ यश-अपयशकीर्ति नामकर्म—नामकर्मसंबंध जिस शरीरको छेकर है, वह शरीर जहाँतक रहता है—वहाँतक चळता है, वहाँसे आगे नहीं चळता। जीव अब सिद्धांतस्थाको प्राप्त हो जाता है अथवा निरतिमात्रको प्राप्त कर लेता है, उस समय वह संबध नहीं रहता। सिद्धांतस्थामें एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, और नामकर्म तो एक तरहका कर्म है, ता फिर वहाँ यश-अपयश आदिका स्वयं किस तरह घट सकता है? तथा अनिरतिमात्रसे जो कुछ पापक्रिया होती है, वह पाप तो जाह्न रहता है।

९८ विरति अर्थात् 'सुहाना', अथवा जो रतिसे विरुद्ध है उसे विरति कहते हैं। अविरतिमें तीन शब्द हैं—व + नि + रति - व = नहीं + नि = विरुद्ध + रति = प्रीति—मोह; अर्थात् जो प्रीतिसे—मोहसे—विरुद्ध नहीं वह अविरति है। वह अविरति बाह्य प्रकारकी है।

९९ पाँच इन्द्रिय, छद्म मन, तथा पाँच स्थावर जीव, और एक प्रस जीव ये सब मिळकर उसके बाह्य भेद होते हैं।

१०० सिद्धान्त यह है कि कर्मके बिना जीवको पाप नहीं लगता। उस कर्मकी जबतक निरति नहीं की तबतक अनिरतिमात्रका पाप लगता है—समस्त चौदह राजू लोकमेंसे उसको पारक्रिया चाह रही है।

१०१ कोई जीव किसी पदार्थका विचार करके मरणको प्राप्त हो जाय, और उस पदार्थका विचार इस प्रकारका हो कि वह विचार किया हुआ पदार्थ जबतक रहे, तबतक उससे पापक्रिया हुआ ही करती हो, तो तबतक उस जीवको अनिरतिमात्रकी पापक्रिया चालू रहती है। यद्यपि जीवने इसी पर्याय धारण करनेके पीछेकी पर्यायके समय, जिस जिस पदार्थका विचार किया है, उससे उसे छुट नहीं है तो भी, तथा वर्तमानकी पर्यायके समयमें वह जीव उस विचार किये हुए पदार्थकी क्रिया नहीं करता तो भी, जहाँतक उसका मोहमात्र निरतिमात्रको प्राप्त नहीं हुआ तबतक उसकी अप्यक्रियासे क्रिया चालू ही रहती है।

१०२ इसलिये वर्तमानकी पर्यायके समयमें उसे उसकी अज्ञानभावात् छान नहीं मिल सकता।

उस जीवको समझना चाहिये या कि इस पदार्थसे ज्ञानवादी क्रिया जबतक बाधित रहती तबतक उसकी

११९ एक बंशुके असम्प्राप्त माग—अश—प्रदेश—एक अशुक्ले असम्प्राप्त होते हैं। शोकके भी असम्प्राप्त प्रदेश होते हैं। उन्हें चाहे किसी भी शिष्टाकी समझेगीसि गिने वे असम्प्राप्त ही होते हैं। इस तरह एकके बाद एक दूसरी तीसरी समझेगीसि योग करनेसे जो योगफल जाता है वह एकगुना, दोगुना, तीसगुना, चारगुना होता है परन्तु असम्प्राप्तगुना नहीं होता। किन्तु एक समझेगी—जो असम्प्राप्त प्रदेशवादी है—उस समझेगीकी शिष्टावादी समस्त समझेगीको—जो उसे संप्राप्तगुनी है—हरेकको असम्प्राप्तसे गुणा करनेसे; इसी तरह दूसरी शिष्टाकी समझेगीका गुणा करनेसे, और इसी तरह उक्त शीतिसे तीसरी शिष्टाकी समझेगीका गुणा करनेसे असम्प्राप्त होते हैं। इन असम्प्राप्तके भागोंका जबतक परस्पर गुणाकार किया जा सके, तबतक असम्प्राप्त होते हैं; और जब उस गुणाकारसे कोई गुणाकार करना बाकी न रहे, तब असम्प्राप्त पूरे हो जानेपर उसमें एक मिला देनेसे अप्रत्यासिद्धकर्म अनंत होते हैं।

१२० मय प्रमाणका एक अश है। जिस मयसे जा धर्म कहा गया है वही उतना ही प्रमाण है। इस नपसे जो धर्म कहा गया है उसके सिद्धाय, वस्तुमें जो दूसरे और धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया गया। क्योंकि एक ही समय बाणसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है, उस उस प्रसंगपर वही मुमुक्षुता वही धर्म कहा जाता है। उस उस स्थानपर उस उस मयसे प्रमाण समझना चाहिये।

१२१ मयके स्वरूपसे बुर आकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है; परन्तु नयामास है; और जहाँ नयामास है वहाँ निष्पन्न रहता है।

१२२ मय सत्त माने हैं। उनके उपनय साठसी हैं, और विशेष भेदोंसे वे अनंत हैं अर्थात् कितने बचन हैं वे सब नय ही हैं।

१२३ एकलं प्रमाण करनेका स्वच्छर जीवको विशेषरूपसे होता है, और एकलं प्रमाण करनेसे नास्तिकभाव होता है। उसे न होने देनेके लिये इस नयका स्वरूप कहा गया है। इसके समस्त जानेसे जीव एकलंभावको प्रमाण करता हुआ इककर मय्यस्य रहता है, और मय्यस्य रहनेसे नास्तिकताको अवस्था नहीं मिल सकता।

१२४ मय जो कहनेमें आता है सो मय स्वयं कोई वस्तु नहीं है। परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने तथा उसका मुमुक्षुता हानके लिये वह केवल प्रमाणका अश है।

१२५ यदि अमुक मयमें कोई बात कही जाय, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे मयसे प्रमाण हानवाते धर्मका अस्तित्व ही नहीं है।

१२६ कवउज्जल अर्थात् मात्र ज्ञान ही। इसके सिद्धाय दूसरा कुछ नहीं। फिर उसमें अन्य कुछ भी गर्भित नहीं होगा। जबमर्यादा सर्व प्रकारसे राग-द्वेषका छप हो जाय उसी समय केवउज्जल कहा जाता है। यदि किसी अशमें राग-द्वेष हो ता वह चारिब्रह्मोदनीयके कारणसे ही होने है। यही शिष्टाके अशमें राग-द्वेष है वही उज्जले ही अशस अज्ञान है। इस कारण वे केवउज्जलमें गर्भित नहीं हो सकते। अर्थात् वे कवउज्जलमें नहीं होते। वे एक दूसरेका प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवउज्जल है वही राग-द्वेष नहीं, जहाँ वही राग-द्वेष है वही केवउज्जल नहीं है।

१२७ गुण और गुणी एक ही हैं । परन्तु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं । सामान्य प्रकारसे जो गुणोंके समुदायको ही गुणी कहते हैं, अर्थात् गुण गुणी एक ही हैं, भिन्न भिन्न वस्तु नहीं । गुणीसे गुण भिन्न नहीं हो सकते । जैसे मिश्रीका टुकड़ा गुणी और उसकी मिठास उसका गुण भिन्न नहीं हो सकते । गुणी मिश्री और गुण मिठास दोनों साथ साथ ही रहते हैं, मिठास उससे कुछ भिन्न नहीं होती । तथापि गुण और गुणी किसी अंशसे भिन्न भी हैं ।

१२८ केवलज्ञानीकी आत्मा भी देहव्यापक क्षेत्रमें अवगाहयुक्त है; फिर भी वह लोकलोकके समस्त पदार्थोंको भी, जो देहसे दूर हैं, एकदम जान सकती है ।

१२९ स्व और परको भिन्न करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान कहा जाता है । इस ज्ञानको प्रयोजनमूलक कहा गया है । इसके सिवाय वाचीका सब ज्ञान अज्ञान है । जिनमगबान् शुद्ध अहम्-स्वरूप रहते हैं । उनकी प्रतीतिको जिन-प्रतिबिम्ब स्मरण करती है । उस शांत दशाको पानेके लिये जा परिमति, अनुकरण, अथवा मार्ग है उसका नाम जैनमार्ग है । इस मार्गपर चरनेसे जैनत्व प्राप्त होता है ।

१३० यह मार्ग अहमगुणका रोकनेवाला नहीं; परन्तु उसका बोधक ही है—अर्थात् यह अहमगुणको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी सत्य नहीं । यह बात परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है । प्रतीति करनेकी इच्छा रखनेवालेको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीति होकर यह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है ।

१३१ सूत्र और सिद्धांत ये दोनों जुदा हैं । सिद्धांतोंका रक्षण करनेके लिये उन्हें सूत्ररूपी सन्दूकमें रक्खा गया है । देश-कालका अनुसरण करके सूत्रोंकी रचना की गई है; और उनमें सिद्धांत रूपाये गये हैं । वे सिद्धांत किसी भी काल और किसी भी क्षेत्रमें मढ़ी बदलते, अथवा खरिद नहीं होते; और यदि वे खरिद हो जायें तो वे सिद्धांत नहीं हैं ।

१३२ सिद्धांत गणितकी तरह प्रत्यक्ष हैं, इसलिये उनमें किसी तरहकी भूल अथवा अधूरापन नहीं रहता । अक्षर यदि कान-मात्रासहित हों तो अनुष्ण उन्हें सुधारकर बोल सकता है, परन्तु यदि अकोंकी ही भूल हो जाय, तो फिर हिसाब ही गलती हो जाता है; इसलिये अब कान-मात्रासहित नहीं होते । इस दृष्टान्तको उपदेशमार्ग और सिद्धांतमार्गपर घटाना चाहिये ।

१३३ सिद्धांत, चाहे जिस देशमें चाहे जिस भाषामें, और चाहे जिस कालमें लिखे गये हों तो भी वे असिद्धांत नहीं होते । उदाहरणके लिये दो और दो चार ही होते हैं । फिर चाहे वे गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, चीनी, अरबी, पश्चिम और इंग्लिश किसी भी भाषामें क्यों न लिखे गये हों । उन अकोंको चाहे किसी भी नामसे बोला जाय, तो भी दो और दोका जोड़ चार ही होता है, यह बात प्रत्यक्ष है । जैसे मौको मोसे गुणा करनेसे किसी भी देशमें, किसी भी भाषामें, सदैव निम्नमें अथवा अथेरी रातमें कभी भी गिनो ८१ ही होते हैं—कभी भी ८० अथवा ८२ नहीं होते इसी तरह सिद्धांतके विषयमें भी समझना चाहिये ।

१३४ सिद्धांत प्रत्यक्ष हैं—ज्ञानीके अनुभवक विषय हैं; उसमें अनुमान काम नहीं आता । अनुमान तर्कका विषय है, और तर्क भागे बढ़नेपर कितनी ही बार झूटी भी हो जाती है । परन्तु प्रत्यक्ष जो अनुभवगम्य है उसमें भूल भी भूल नहीं होती ।

पापक्रिया चाप्युपेक्षी । उस विचार किये हुए पदार्थसे अल्पकृत्वासे भी होनेवाली क्रियासे यदि मुक्त होना हो तो मोहमात्र छोड़ना चाहिये । मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिमात्र करनेसे पापक्रिया बंद हो जाती है । उस विरतिमात्रको यदि उसी मर्मे प्रवृत्त किया जाय तो वह पापक्रिया, जबस जीव विरतिमात्रको प्रवृत्त करे, तभीसे आती हुई रुक जाती है । यहाँ जो पापक्रिया छगती है वह चारित्र्यमोहनीयक कारणसे ही छगती है; और वह मोहमात्रके क्षय होनेसे आती हुई रुक जाती है ।

१०१ क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगट, और दूसरी अव्यक्त अर्थात् अप्रगट । अव्यक्त रूपसे होनेवाली क्रिया यद्यपि सम्पूर्णरूपसे नहीं आती जा सकती, परन्तु इसलिये वह होती ही नहीं, यह बात सही है ।

१ ४ पानीमें जो बहरे—विहारे—उठती है वे व्यक्त रूपसे भाव्य होती हैं; परन्तु उस पानीमें यदि गवक अपना कस्तूरी डाँट दी हो और वह पानी शान्त अवस्थामें हो तो भी उसमें जो गवक अपना कस्तूरीकी क्रिया है, वह यद्यपि निरुद्ध नहीं होती तथापि वह उसमें अव्यक्त रूपसे मौजूद रहती ही है । इस तरह अव्यक्त रूपसे होनेवाली क्रियाका यदि भ्रजान न किया जाय और केवल व्यक्त रूप की क्रियाका भ्रजान हो तो जिसमें अविरतिरूप क्रिया नहीं होती ऐसे ज्ञानीकी क्रिया, और जो व्यक्त रूपसे कुछ भी क्रिया नहीं करता ऐसे सोते हुए मनुष्यकी क्रिया, वे दोनों समान ही हो जायगी । परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो यह बात नहीं । सोते हुए मनुष्यकी अव्यक्त क्रिया रहती ही है; तथा इसी तरह जो मनुष्य (जो जीव) चारित्र्यमोहनीयकी निद्रामें सो रहा है, उसे अव्यक्त क्रिया न रहती हो, यह बात नहीं है । यदि मोहमात्रका क्षय हो जाय तो ही अविरतिरूप चारित्र्यमोहनीयकी क्रिया बंद होती है । उससे पहिले वह बंद नहीं होती ।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतया पाँच प्रकारका है —

मिथ्यात्व	अविरति	कृपाय	प्रमाण	योग
५	१२	२५		१५

१ ५ जबतक मिथ्यात्वकी मौजूदगी हो तबतक अविरतिमात्र निर्मुक्त नहीं होता—नास्त नहीं होता । परन्तु यदि मिथ्यात्वमात्र दूर हो जाय तो अविरतिमात्रको दूर होना ही चाहिये इसमें सन्देह नहीं । कारण कि मिथ्यात्वसहित विरतिमात्रका प्रवृत्त करनेसे मोहमात्र दूर नहीं होता । तथा जबतक मोहमात्र कायम है तबतक अव्यक्तर विरतिमात्र नहीं होता । और मुख्य रूपसे रहनेवाले मोहमात्रके नास्त होनेसे अव्यक्तर अविरतिमात्र नहीं रहता; और यद्यपि बाह्य अविरतिमात्रका प्रवृत्त न किया गया हो तो भी जो अव्यक्तर है वह सहज ही बाहर आ जाता है ।

१ ६ अव्यक्तर विरतिमात्रके प्राप्त होने पश्चात् उदधाधीन बाह्यमात्रसे कोई विरतिमात्रका प्रवृत्त न कर सके तो भी अब उदधका सम्पूर्ण हो जाय उस समय सहज ही विरतिमात्र रहता है । क्योंकि अव्यक्तर विरतिमात्र तो पहिलेसे ही प्राप्त है । इस कारण अब अविरतिमात्र नहीं है, जो अविरतिमात्रकी क्रिया कर सके ।

१ ७ मोहमात्रको केवल ही मिथ्यात्व है । मोहमात्रका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रतिपक्ष सम्पूर्णमात्र प्रगट होता है । इसलिये वहाँ मोहमात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं होता ।

१०८ यहाँ ऐसी शका की जा सकती है कि यदि पौंच इन्द्रियों और छद्म मन तथा पौंच स्थावरकाय और छद्म असुकाय इस तरह बाह्य प्रकारसे विरतिका ग्रहण किया जाय, तो लोकमें रहनेवाले जीव और अजीव नामकी राशिके जो दो समूह हैं, उनमेंसे पौंच स्थावरकाय और छद्म असुकाय मिश्रकर जीवराशिको तो विरति हो गई परन्तु लोकमें भटकानेवाली जा अजीवराशि है, जो जीवसे भिन्न है, जबतक उसके प्रति प्रीतिकी इसमें निवृत्ति नहीं आती, जबतक उसे विरति किस तरह समझा जा सकता है ! इसका समाधान यह है कि पौंच इन्द्रियों और छद्म मनसे जो विरति करना है, उसके विरतिभावमें अजीवराशिकी भी विरति आ जाती है ।

१०९ पूर्वमें इस जीवने ज्ञानीकी वाणीको निश्चयरूपसे समीचीन नहीं सुना, अपवा उस वाणीको सम्यक् प्रकारसे विरपर धारण नहीं किया—ऐसा सर्वज्ञानि कहा है ।

११० सदृक्काय उपनिष्ट यथाक्त सपमको पाठसे हुए—सदृक्की आज्ञासे चले हुए—पापसे विरति होती है, और जीव अमय ससार-समुद्रसे पार हो जाता है ।

१११ बस्तुनिरूप कितने ही स्थानकोमें आह्वाने प्रतिष्ठित है, और कितने ही स्थानकोमें वह सविचारपूर्वक प्रतिष्ठित है । परन्तु इस दुःखकाष्ठकी इतनी अधिक प्रवृत्ति है कि इससे आगेके क्षणमें भी विचारपूर्वक प्रतिष्ठित होनेके लिये जीव किस तरह प्रवृत्ति करेगा, यह जाननेकी इस काष्ठमें शक्ति नहीं मालूम होती; इसलिये यहाँ आज्ञापूर्वक ही प्रतिष्ठित रहना योग्य है ।

११२ ज्ञानीने कहा है कि 'समस्तो । क्यो समस्तो मही ! किं एसा अवसर मिलना दुर्लभ है !'

११३ लोकमें जितन भी पन्थ हैं, उनके धर्मोपा, वैवाचिकेन, अपने ज्ञानमें भासित होनेके कारण, पपाय वर्णन किया है । पन्थ कुछ उन धर्मोंसे बाहर आकर नहीं रहत । अर्थात् जिस तरह ज्ञानीमहापुरुषने उन्हें प्रकाशित किया है, उससे भिन्न प्रकारसे वे नहीं रहते । इस कारण वे ज्ञानीकी वाक्यनुसार ही प्रकटित हैं, ऐसा कहा है । कारण कि ज्ञानीने पन्थका त्रैसा धर्म या उसे उसी तरह कहा है ।

११४ काष्ठ मूख द्रव्य नहीं है, यह औपचारिक द्रव्य है और वह जीव तथा अजीव (अजीवमें सुम्पतया पुद्गलाभिकायमें विक्षयणसे ममत्वमें आता है) मेंसे उत्पन्न होता है । अपवा जीवाजीवकी पर्याय-अवस्था ही काष्ठ है । हरेक द्रव्यके जनन धर्म हैं । उनमें ऊर्ध्वप्रपञ्च और निपट्-प्रपञ्च नामके भी दो धर्म हैं; और काष्ठमें निर्व्यूप्रपञ्च नहीं है, उसमें पञ्च ऊर्ध्वप्रपञ्च ही है ।

११५ ऊर्ध्वप्रपञ्चसे पन्थधर्म जो धर्मका उद्भव होता है, उस धर्मका निर्व्यूप्रपञ्चसे किं उर्ध्वसे समानेय हो जाता है । काष्ठक समपक्षा निर्व्यूप्रपञ्च नहीं है, इस कारण जो समय चला गया वह किं पीछे नहीं आता ।

११६ गिम्बरमतके अनुसार काष्ठद्रव्यके लोकमें असम्पन्न भूत हैं ।

११७ हरेक द्रव्यके अनेक धर्म हैं । उनमें किन ही धर्म व्यक्त हैं, किन ही अव्यक्त हैं, किन ही मुख्य हैं, किन ही सामान्य हैं और किन ही विशेष हैं ।

११८ असम्पन्नका असम्पन्नाने गुण परनेपर भी असम्पन्न ही जानें हैं, अर्थात् असम्पन्न-वैक असम्पन्न भेद है ।

११९. एक अगुम्मे असंख्यात भाग—अथ—प्रदेश—एक अगुम्मे असंख्यात होते हैं। ओके भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। उन्हें चारों किसी भी दिशाकी समश्रेणीसे मिलो वे असंख्यात ही होते हैं। इस तरह एकके बाद एक दूसरी तीसरी समश्रेणीका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एकगुना, दोगुना, तीनगुना, चारगुना होता है; परन्तु असंख्यातगुना नहीं होता। किन्तु एक सम श्रेणी—जो असंख्यात प्रदेशवाली है—उस समश्रेणीकी दिशावाली समस्त समश्रेणियोंको—जो असंख्यातगुनी हैं—इरेफको असंख्यातसे गुणा करनेसे इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे, और इसी तरह उक्त शेषोंसे तीसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे असंख्यात होते हैं। इन असंख्यातके माँगोंका अन्ततः परस्पर गुणाकार किया जा सके, तबतक असंख्यात होते हैं; और जब उस गुणाकारसे कोई गुणाकार करना बाकी न रहे, तब असंख्यात पूरे हो जानेपर उसमें एक मिला देनेसे अक्षय्यातिवक्षय अन्ततः होते हैं।

१२. नय प्रमाणका एक अर्थ है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है वहाँ उतना ही प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है उसके सिवाय, वस्तुमें जो दूसरे और धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया गया। क्योंकि एक ही समय बाणीसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रमाण होता है, उस उस प्रमाणपर वहाँ मुख्यतया वही धर्म कहा जाता है। उस उस स्थानपर उस उस नयसे प्रमाण समझना चाहिये।

१२१. नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है; परन्तु नयानुसार है और वहाँ नयानुसार है वहाँ मिथ्यात्व छहरता है।

१२२. नय सात माने हैं। उनके उपनय सातही हैं, और विशेष भेदोंसे वे अन्त हैं; अर्थात् मिलने बचन हैं वे सब नय ही हैं।

१२३. एकलक्षण करनेका स्वच्छर जीवको विशेषरूपसे होता है और एकलक्षण करनेसे नास्तिकभाव होता है। उसे न होने देनेके लिये इस नयका स्वरूप कहा गया है। इसके समझ आनेसे जीव एकलक्षणको लक्षण करता हुआ रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकत्वको अक्षय्य नहीं निक सकता।

१२४. नय जो कहनेमें आता है सो नय स्वयं कोई वस्तु नहीं है। परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने तथा उसकी सुप्रतीति होनेके लिये वह केवल प्रमाणका अर्थ है।

१२५. यदि कमुक नयसे कोई बात कही जाय तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले धर्मका अस्तित्व ही नहीं है।

१२६. केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही; इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं। फिर उसमें अन्य कुछ भी गर्भित नहीं होता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे राग-द्वेषका क्षय हो जाय तभी समय केवलज्ञान कहा जाता है। यदि किसी अंशसे राग-द्वेष हो तो वह चारित्र्योन्मत्तकी कारणसे ही होते हैं। जहाँ जितने अंशसे राग द्वेष है वहाँ उतने ही अंशसे अज्ञान है। इस कारण वे केवलज्ञानमें गर्भित नहीं हो सकते; अर्थात् वे केवलज्ञानमें नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ राग-द्वेष नहीं, अपना जहाँ राग-द्वेष है वहाँ केवलज्ञान नहीं है।

१२७ गुण और गुणी एक ही हैं । परन्तु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं । सामान्य प्रकारसे ठीके समुदायको ही गुणी कहते हैं, अर्थात् गुण गुणी एक ही हैं, भिन्न भिन्न बस्तु नहीं । गुण भिन्न नहीं हो सकता । जैसे मिथीका टुकड़ा गुणी और उसकी मिठास उसका गुण भिन्न हो सकते । गुणी मिथी और गुण मिठास दोनों साथ साथ ही रहते हैं, मिठास उससे कुछ भिन्न होती । तथापि गुण और गुणी किसी वस्तुसे भिन्न भी हैं ।

१२८ कबचझानीकी आत्मा भी देहव्यापक क्षेत्रमें अवगाहयुक्त है फिर भी वह छोटाछोटाकक परात्म्यको भी, जो देहसे दूर है, एकत्र आन सकती है ।

१२९ स्व और परको भिन्न करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान कहा जाता है । इस ज्ञानको प्रयास कहा गया है । इसके सिवाय बाकीका सब ज्ञान अज्ञान है । जिनमगधान् शुद्ध आत्मशास्त्रम् । उनकी प्रवृत्तिको जिन-प्रतिबिम्ब सूचन करती है । उस शाल दशाको पानके डिये जा परि अनुकरण, अपना मार्ग है उसका नाम जैनमार्ग है । इस मार्गपर चढ़नेसे जैनत्व प्राप्त होता है ।

१३० यह मार्ग आत्मगुणका रोक्नेवाला नहीं; परन्तु उसका बोधक ही है—अर्थात् यह ज्ञानको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं । यह बात परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है । करनेकी इच्छा रखनेवालेको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीति होकर यह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है ।

१३१ सूत्र और सिद्धांत वे दोनों जुड़ा हैं । सिद्धान्तोंका रक्षण करनेका डिये उन्हें मूत्रवत्पी में रखा गया है । देश-कालका अनुसरण करके सूत्रोंकी रचना की गई है और उनमें सिद्धान्त है । वे सिद्धान्त किसी भी काल और किसी भी क्षेत्रमें नहीं बदलते, अपना स्थिति नहीं होते; यदि वे संशय हो जायें तो वे सिद्धान्त नहीं हैं ।

१३२ सिद्धांत गणितकी तरह प्रत्यक्ष हैं, इसलिये उनमें किसी तरहकी भ्रष्ट अपवा अद्वैतान् होता । अथवा यदि ज्ञान-मात्रापरिचित हो तो मनुष्य उन्हें सुधारकर बाँच सकता है, परन्तु यदि तो ही मूल हो जाय तो फिर हिसाब ही गलती हो जाता है इसलिये अरु ज्ञान-मात्रापरिचित होते । इस दृष्टान्तका उपनैमार्ग और सिद्धान्तमार्गपर चलना चाहिए ।

१३३ सिद्धांत, चाहे जिस देशमें जाह जिस भाषामें, और जाह जिस पात्रमें लिखे गये हों, भी वे असिद्धांत नहीं होते । उदाहरणके डिये दा और ग आर ही दान दे । फिर जाह वे गुन सम्पन्न, प्राज्ञ, नीति, अरुही परिगणन और इगडिग किसी भी भाषामें क्यों न लिखे गये उन अर्थोंको चाहे किसी भी नामसे बाता जाय तो भी ग आर गका जाह आर ही दान दे, बात प्रत्यक्ष है । जैन मौका मास गुणा करनेम किसी भी देशमें, किसी भी भाषामें, सूत्र पिनमें न अथवा रानमें, कभी भी गिला ८१ ही दान दे—पभी भी ८० अपवा ८२ नहीं दाने न्दी सिद्धांतके विषयमें भी समझना चाहिए ।

१३४ सिद्धांत प्रत्यक्ष हैं—ज्ञानिके अनुसरण विषय हैं; उनमें अनुमान काम नहीं आता । नाम तर्कका विषय है, और तर्क जाग बदनर विनना ही बार श्रुति भी हो जाती है । परन्तु जो अनुभवमय है उसमें कुछ भी भ्रष्ट नहीं होती ।

११५ मिते गुणा और जोषका ज्ञान हो गया है, वह कहता है कि नीलो नैसे गुजा करनेसे ८१ होते हैं। परन्तु मिते जोष और गुणाका ज्ञान नहीं हुआ—क्षयोपशम नहीं हुआ—वह अनुमानसे व्यपना तर्कसे यदि ऐसा कहे कि 'नीला नैसे गुणा करनेसे कदाचित् ९८ होते हों, तो उसको कौन मना कर सकता है।' तो इसमें कुछ वाच्य नहीं है। क्योंकि उसे ज्ञान न होनेके कारण वह ऐसा कहे तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि उसे गुणाकी रीतिको बहुत अच्छा करके, एकसे नीतक एक बराबर नौ बार गिनान्या जाय, तो उसे अनुमानमें आ जानेसे $9 \times 9 = 81$ ही होते हैं, वह सिद्ध हो जाता है। कदाचित् उसका क्षयोपशम भद होनेसे गुणाकी मर्यादा जोड़की पद्धतिसे $9 \times 9 = 81$ होते हैं, यह उसे समझमें न भी आये तो भी मौका नैसे गुणा करनेपर तो ८१ ही होते हैं, इसमें कुछ भी फरक नहीं है। इसी तरह यदि सिद्धांत भी आचरणके कारण समझमें न आये, तो वे सिद्धांत वसिद्धांत नहीं हो जाते—इस बातकी निश्चय प्रतीति रखना चाहिये। फिर भी यदि प्रतीति करनेकी जरूरत हो तो सिद्धांतके कहे अनुसार करनेसे प्रतीति होकर वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है।

११६ जबतक वह अनुभवका विषय न हो तबतक उसकी सुप्रतीति रखनेकी जरूरत है, और सुप्रतीतिसे कम क्रमसे वह अनुभवमें आ जाता है।

११७ सिद्धांतके उदाहरण —

(१) 'रग-रूपसे बच होता है।'।

(२) 'बचका क्षय होनेसे मुक्ति होती है।'।

यदि इस सिद्धांतकी प्रतीति करना हो तो रग रूप छोड़ो। यदि सब प्रकारसे रग-रूप छूट जाय तो आत्माको सब प्रकारसे मोक्ष हो जाता है। आत्मा बचनेके कारण मुक्त नहीं हो सकती। जहाँ बचन छूटा कि वह मुक्त ही है। बचन होनेके कारण रग-रूप हैं। जहाँ रग-रूप सब प्रकारसे छूटे कि आत्माको बचसे छूटी हुई ही समझनी चाहिये। उसमें कुछ भी प्रश्न व्यपना शक्य नहीं रहती।

११८ जिस समय जिसके रग-रूप सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उसे दूसरे समयमें ही केवलज्ञान हो जाता है।

११९ जीव पहिले गुणस्थानक्रमसे जागे नहीं जाता—जागे जानेका विचार नहीं करता। तथा पहिलेसे जागे किंतु तब बड़ा आ सकता है। उसका क्या उपाय है? किंतु तब पुनर्जाग करना चाहिये? उसका वह निवारण भी नहीं करता, और जब बातें करने बैठता है तो ऐसी ऐसी बातें करता है कि इस क्षेत्रमें इस क्षणमें तबहीं गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें जो अपनी क्षमिके बाहर हैं उन्हें वह किंतु तब समझ सकता है। अर्थात् जितना अपनेको क्षयोपशम हो उसके बादकी बातें यदि कोई करने बैठे तो वे सभी भी समझमें नहीं आ सकती।

१२० जो पहिले गुणस्थानक्रमसे प्रिय है उसका भेदन करके जागे बड़कर ससारी जीव नीचे-तक नहीं पहुँचा। कोई कोई जीव निर्मला करनेसे उच्च भावोंमें आते हुए, पहिलेसे तिरकनेका विचार करके प्रियेन्द्रके समीप जाता है। परन्तु जहाँपर उसके ऊपर प्रथिका इतना अधिक जोर होता है कि वह प्रियेन्द्र करनेमें विधिवि होकर बच जाता है, और इस तब वह विधिवि होकर वापिस आ जाता

[स तरह जीव अनतोषार प्रयी-मेदके पासमें आकर बापिस फिर गया है। कोई जीव ही प्रबल प करके निमित्त कारणोंका योग पाकर, पूर्ण शक्ति खगाकर प्रथिमेद करके आगे बढ़ता है, और वह प्रथिमेद करके आगे बढ़ा कि वह चौथेमें आ जाता है, और जहाँ चौथेमें आया कि उस में ऐसी छाप पड़ती है कि अब आगे पीछे मोझ हो ॥ जायगी ।

१४१ इस गुणस्थानकका नाम अविरतसम्यग्दृष्टि है यहाँ विरतिभावसे रहित सम्यग्ज्ञान होता है ।

१४२ कहनेमें तो ऐसा आता है कि इस काळमें इस क्षेत्रसे तरह्यों गुणस्थानक प्राप्त नहीं परन्तु यह कहनेवाले पहिलेमेंसे भी निकलते नहीं । यदि वे पहिलेमेंसे निकलकर चौथे तक और वहाँ पुरुषार्थ करके सातवें अप्रमत्ततक गुणस्थानक पहुँच जाय, ता भी यह एक बड़ीसे बड़ी है । सातवें तक पहुँच बिना उसके बादकी सुप्रतीति हो सकना मुश्किल है ।

१४३ आत्मामें जो प्रमादरहित ज्ञानप्रदृष्टा है वही सातवें गुणस्थानक है । वहाँ तक पहुँच । उसमें सम्यक्त्व समाविष्ट हो जाता है । जीव चौथे गुणस्थानकमें आकर वहाँसे पाँचवें देशनिरत, अविरत और सातवें अप्रमत्तविरतमें पहुँचता है । वहाँ पहुँचनेसे आगेकी दशाका अग्रसे अनु गयवा उसकी सुप्रतीति होती है । चौथा गुणस्थानकवाला जीव सातवें गुणस्थानकमें पहुँचनवालेकी ता यदि विचार करे तो उसकी किसी अंशसे प्रतीति हो सकती है । परन्तु यदि उसके पहिलेके गनकवाला जीव उसका विचार करे तो उसकी किस तरह प्रतीति हो सकती है ! कारण कि का साधन जो आवरणरहित होना है, वह पहिले गुणस्थानकवालेके पास नहीं होता ।

१४४ सम्यक्त्व प्राप्त जीवकी दशाका स्वरूप भिन्न ही होता है । पहिले गुणस्थानकसे दशाकी भेति अथवा मात्र है, उसकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानकके प्राप्त करनेवालीकी दशाकी स्थिति अथवा भिन्न ही देखनेमें आते हैं; अर्थात् दोनोंमें भिन्न भिन्न दशाका आचरण देखनेमें आता है ।

१४५ पहिलेको शिथिल करे तो चौथेमें आ जाय, यह केवल कथनमात्र है । चौथेमें आनेमें तर्तन है, वह नियम विचारणीय है ।

१४६ पहिले ४, ५, ६ और ७ गुणस्थानककी जो बात कही गई है, वह कुछ कथनमात्र अथवा मात्र ही है, यह बात नहीं; उसे समझकर उसका बारम्बार विचार करना योग्य है ।

१४७ यथाशक्त्य पुरुषार्थ करके आगे बढ़ना आवश्यक है ।

१४८ प्राप्त करनेमें कठिन ऐसा औरज, सहनन, आयुकी अपूर्णता इत्यादिके अभावसे, कदा- सातवें गुणस्थानकके ऊपरका विचार न भी आ सके, परन्तु उसकी सुप्रतीति तो हो सकती है ।

१४९ जैसे सिंहको यदि छोड़ेके किसी जर्जरित पिंजरेमें बंद कर लिया जाय ता वह सिंह तरह अपनेको भीतर बन्द हुआ समझता है—अपनेको पिंजरेमें बंद समझता है—बार बार लो भीमिके भी देखता है, केवल छोड़ेके मजबूत सीकड़ोंकी बाइके कारण ही वह बाहर नहीं स सकता; उसी तरह सातवें गुणस्थानकक ऊपरके विचारकी सुप्रतीति हो सकती है ।

१५० यह हा जानेपर भी मतमें आधिक कारण अटककर जीव आगे नहीं बढ़ सकता ।

१५१ मतमें अपना रुढ़ि बाणि निर्जीव बातें हैं, अर्थात् उनमें मोक्ष नहीं है। इसलिये ऐसे प्रकारसे सत्यकी प्रतीति करनेकी आवश्यकता है।

१५२ दृग्मात्रम और सुश्राव्य परिणामोंके ऊपर समस्त आधार रहता है। छोटी छोटी बातोंमें भी यदि दोष माना जाय तो वही मोक्ष नहीं होती। लोक-रुढ़ि अपना लोक-मन्त्रार्थमें पाया जाय जो मोक्षतत्त्वका रहस्य नहीं जान सकता, उसका कारण यही है कि उसमें रुढ़िका अपना लोकतत्त्वका महत्त्वम मौजूद है। इससे बाहर क्रियाका निषेध नहीं किया जाता। जो जीव कुछ भी न करते हुए एकत्र जन्य ही जन्य किया करता है उसके लिये बाहर किया उपयोगी है। तो भी उससे यह कहनेका भी सम्भाव्य नहीं है कि बाहर क्रियासे जागे न करना चाहिये।

१५३ जीवको अपनी वस्तुओं और मरजीके अनुसार चरना मनको प्रिय लगता है, परन्तु वह जीवका दुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषके दूर करनेके लिये ज्ञानीका उपदेश है कि प्रपन्न किस्तीको उपदेश नहीं देना चाहिये परन्तु पक्षिके तो स्वयं ही उपदेश देनेकी बहुरत है। किन्तु राग-द्वेष न हों, उसका सम रूप बिना सम्पत्तव प्राप्त नहीं हो सकता। सम्पत्तव प्राप्त होनेसे जो बन्ध जाता है—जीवको दशा बद्ध जाती है अर्थात् वह प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनमगवान्की प्रथिमा (शतमानक लिये) का दर्शन करनेसे साखने गुणस्थानकमें रहनेवाली ज्ञानीकी जो शतदशा है, उसकी प्रतीति होती है।

१५४ जैनमार्गमें वर्तमानमें अनेक गच्छ प्रचलित हैं। उन्हाकरणके लिये तपागच्छ, बचन-गच्छ, उकागच्छ, अरतरगच्छ इत्यादि। ये प्रत्येक गच्छ अपनेसे भिन्न पक्षवालेको निम्नस्त्री समझते हैं। इसी तरह दूसरे छहकोटि आठकोटि इत्यादि जो विभाग हैं, वे सब अपनेसे भिन्न कोटिवालेको निम्नस्त्री मानते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो नीकोटि चाहिये। उससेसे विद्वान् कम हों उतना ही कम समझना चाहिये; और यदि उससे भी जागे जाय तो समझमें जाता है कि नाकोटिके भी जैसे किता रास्ता नहीं है।

१५५ तीर्थंकर आदिमें जो मार्ग प्राप्त किया वह मार्ग पामर नहीं है। रुढ़ीका बोधा भी जो देना यह अवयव कठिन लगता है तो फिर जीव मन्त्र और महाभारत मोक्षमार्गको किंस तरह प्राप्त कर सकेगा। यह विचारणीय है।

१५६ निष्पत्तव प्रकृतिके क्षय किये बिना सम्पत्तव नहीं जाता। जिसे सम्पत्तव प्राप्त हो जाय उसकी राधा बहुत रहती है। वर्षसे ५ ६ ७ और ८ में में धाकर दो पक्षोंमें मोक्ष हो सकती है। एक सम्पत्तवके प्राप्त कर देनेसे कैसा बहुत कार्य बन जाता है। इससे सम्पत्तवकी कमजोरी अपना उसका महत्त्वम किन्ती अर्थमें समझमें आ सकता है।

१५७ दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्त करने योग्य मोक्षमार्ग बनायास ही प्राप्त नहीं हो जाता। बाह्य ज्ञान अपना मोक्षमार्ग किस्तीके शापसे अप्राप्त नहीं होते अपना किस्तीके बाधी-वर्तसे वे प्राप्त नहीं हो जाते। वे पुरुषार्थिक अनुसार ही होते हैं इसलिये पुरुषार्थकी बहुरत है।

१५८ सूत्र-सिद्धांत-शास्त्र संपुष्टिके उपदेशके बिना फल नहीं देते। जो फेरफार है वह व्यक्त-

हार मार्गमें ही है। मोक्षमार्ग तो फेरफाररहित है—यह एक ही है। उसे प्राप्त करनेमें शिथिलताका नियम किया गया है। वहाँ हिम्मत रखनी चाहिये। जीवको मूर्च्छारहित करना ही जरूरी है।

१५९ विचारवान् पुरुषको व्यवहारके फेरफारसे ब्याकुल न होना चाहिये।

१६० ऊपरकी भूमिकावाला नीचेकी भूमिकावालेकी बराबर नहीं है। परन्तु नीचेकी भूमिकावालेसे यह ठीक है। जीव स्वयं जिस व्यवहारमें हो, उससे यदि दूसरेका व्यवहार ऊँचा देखनेमें आवे, तो उस उच्च व्यवहारका नियम नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्षमार्गमें कुछ भी फेरफार नहीं है। तब तो काष्ठमें किसी भी क्षेत्रमें जो एक ही सामान रहे वही मोक्षमार्ग है।

१६१ कल्पसे कल्प निवृत्ति करनेमें भी जीवको ठंड मात्स्य होती है, तो फिर बैठी अनंत प्रवृत्तियोंसे जो निप्याह्व होना है, उससे निवृत्ति प्राप्त करना यह कितना दुर्घर होना चाहिये ? निप्याह्वकी निवृत्ति ही सम्पत्त्य है।

१६२ जीवाजीवकी विचाररूपसे तो प्रतीति की न गई हो, और कथनमात्र ही जीवाजीव है—यह कहना सम्पत्त्य नहीं है। तीर्थकर आदिने भी इसका पूर्वमें आराधन किया है, इससे उन्हें पक्षिसे ही सम्पत्त्य होता है। परन्तु दूसरेको कुछ अमुक वृत्तमें, अमुक जातिमें, अमुक वर्गमें अपना अमुक देशमें अवतार देनेसे जन्मसे ही यह सम्पत्त्य होता है, यह बात नहीं है।

१६३ विचारके बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके बिना सुप्रतीति अर्थात् सम्पत्त्य नहीं होता। सम्पत्त्यके बिना चारित्र नहीं होता और जबतक चारित्र न हो तबतक जीव केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता, और जबतक जीव केवलज्ञान नहीं पाता तबतक मोक्ष नहीं—यह देखनेमें आता है।

* १६४ देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

१६५ कर्मरूपसे रहनेवाले परमाणु केवलज्ञानीको छप्य होते हैं, इसके अतिरिक्त उनके छिये और कोई निमित्त नियम नहीं होता। परमाणुविवालेको भी उनका छप्य होना समझ है, और मनःपर्यव ज्ञानीको उनका अमुक देशसं छप्य होना समझ है।

१६६ पन्थीमें अनंत वर्म—गुण—जाति मौजूद रहते हैं। उनका अनंतवर्मी माया बचनसे कहा जा सकता है; और उसका अनंतवर्मी माया सूत्रमें उपनिबद्ध किया जा सकता है।

१६७ यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण और अपूर्वकरणके बाह्य गुणनकरण आर गुणकरण होते हैं। गुणनकरणका गुणकरणसे छप्य किया जा सकता है।

१६८ गुणनकरण अर्थात् प्रवृत्तिको योजन करना। तथा आत्माका गुण जो ज्ञान है, उससे दर्शन, और दर्शनसे चारित्र ज्ञाना गुणकरण है; इस गुणकरणसे गुणनकरणका छप्य किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रवृत्ति जो आत्मगुणकी निरोधक है उसका गुणकरणसे छप्य किया जा सकता है।

१६९ कर्मप्रवृत्ति, उसके मूलमें सूक्ष्म भाव, आर उसके बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, सत्ता, आर क्षयभावका जो वर्णन किया गया है, उसका परम सामर्थ्यके बिना वर्णन नहीं किया जा सकता। नका वर्णन करनेवाला कोई जीवकोटिका पुरुष नहीं, परन्तु ईश्वरकोटिका ही पुरुष होना चाहिये, यह सुप्रतीति होगी है।

१७ किस किस प्रकृतिक किस रससे क्षय होना चाहिये ? किस प्रकृतिमें सृष्टा है ? जिसमें उदय होता है ? कौन सम्मनणसे है ? इत्यादिकी रचनाको करनेवालेने, ऊपर कहे अनुसार 'प्रकृति के स्वरूपका माप तोकर ही कहा है'—इस उनकी परमज्ञानकी बातकी यदि एक ओर रख दें तो भी, यह तो निश्चय होता है कि वह कथन करनेवाला ईश्वरकोटिका ही मुख्य होना चाहिये ।

१७१ अविस्मरणज्ञान मतिज्ञानके धारणा नामक भेदमें वर्णित होता है । वह निश्चये भयसे ज्ञान सकता है । जबतक निश्चये भयमें असीधीपना न आया हो, तबतक वह भयसे बच सकता है ।

१७२ (१) तीर्थकरने काळा न दी हो, और जीव अपनी कस्तुके सिवाय परबस्तुका जो कुछ ग्रहण करता है, तो वह परका किया हुआ और बदल ही गिना जाता है । उस बदलमेंसे तीर्थकरने परबस्तुकी वितनी ग्रहण करनेकी सूट ही है, उसको परबस्तु नहीं गिना जाता ।

(२) गुरुकी आज्ञानुसार किये गये आचरणके सचबमें बदल नहीं गिना जाता ।

१७३ उपदेशके मुख्य चार भेद हैं —

(१) इन्द्रियानुयोग (२) चरणानुयोग (३) गणितानुयोग और (४) धर्मकथानुयोग

(१) लोकमें रहनेवाले इन्द्रिय, उनका स्वरूप, उनके गुण, धर्म, हेतु अहेतु, पर्याय आदि अनंतानंत प्रकारोंका जिसमें वर्णन है, वह इन्द्रियानुयोग है ।

(२) इस इन्द्रियानुयोगका स्वरूप समझमें आनेके बाद, जिसमें आचरणसम्बन्धी वर्णन हो वह चरणानुयोग है ।

(३) इन्द्रियानुयोग तथा चरणानुयोगकी गिनतीके प्रमाणका, तथा लोकमें रहनेवाले परार्थ, मात्र, क्षेत्र काल आदिकी गिनतीके प्रमाणका जो वर्णन है वह गणितानुयोग है ।

(४) सगुरुपक्षके धर्म-विरक्तकी कथायें—विमल आश्रय देनेसे वे गिरनेवाले जीवको अन्ध-ध्वनिकारी होती हैं—धर्मकथानुयोग है ।

१७४ परमाणुमें रहनेवाले गुण स्वभाव आदि तो कायम रहते हैं, और पर्यायमें ही केरकर होता है । उदाहरणके लिये पानीमें रहनेवाले शीत गुणमें केरफार नहीं होता, परन्तु पानीमें जो तरंगें उठती हैं, उन्हींमें केरफार होता है । अर्थात् वे एकके बाद एक उठकर उसमें समाती रहती हैं । इस तरह पर्यायस्थानका ही अन्तर्फलत हुआ करता है । परन्तु इससे पानीमें रहनेवाली शीतलतामें अपना स्वरूप पानीमें परिवर्तन नहीं होता, वे तो कायम ही रहते हैं । और पर्यायरूप तरंगोंमें ही परिवर्तन हुआ करता है । तथा उस गुणकी भाँति बुद्धिरूप जो केरफार है वह भी पर्याय ही है । उसके विचारों प्रतीति, प्रतीतिसे त्याग, और त्यागसे ज्ञान होता है ।

१७५. तेजस और कार्माज शरीर स्पृक देहके प्रमाण हैं । तेजस शरीर गरमी करता है, और वह आहारके पचानेका काम करता है । शरीरके अमुक अमुक अंगके परस्पर रगड़नेसे जो वे गरम मांस्य होन हैं, सो वे तेजसके कारण ही मांस्य होने हैं । तथा सिरके ऊपर भूत आदि लगाकर शरीरकी परीक्षा करनेकी भी जो लक्ष्मी प्रचलित है, उसका अर्थ भी यही है कि वह शरीर स्पृक शरीरमें है अपना नहीं ? अर्थात् वह शरीर स्पृक शरीरमें जीवकी तरह समस्त शरीरमें रहता है ।

१७६ कार्माण शरीर भी इसी तरह है। वह ठैसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वह भी ठैस तरह रहता है। सूक्ष्म शरीरके भीतर जो पीका होती है, अथवा जो क्रोध आदि होते हैं, वही भी शरीर है। कार्माणसे क्रोध आदि होकर तेजोऽभेदा आदि उत्पन्न होती हैं। यद्यपि वेदनाका जो जीव ही करता है, परन्तु जो वेदना होती है, वह कार्माण शरीरके कारण होती है। कार्माण जीवका अवतार है।

१७७ ऊपर कहे हुए चार अनुयोगोंके तथा उनके सूक्ष्म भावोंके स्वरूपका जीवको ज्ञान योग्य है—समझना योग्य है। वह परिणाममें निर्बलताका हेतु होता है, अथवा उससे होती है। चित्तकी स्थिरता करनेके लिये ही यह सब कहा गया है। कारण कि जीवने यदि सूक्ष्म स्वरूपको कुछ समझा हो तो उसके लिये बारबार विचार करना होता है, और उस विचारनेसे जीवकी बाह्यवृत्ति न होकर, वह विचार करनेतक भीतरकी भीतर ही समाई रहती है।

१७८ यदि जीवको अतर्विचारका साधन न हो तो जीवकी वृत्ति बाह्य वस्तुके ऊपर जा उससे तरह तरहके घाट घसे जाते हैं। क्योंकि जीवको कोई अकर्षण तो चाहिये। उसे खाल रहना ठीक नहीं लगता; उसे ऐसी ही आदत पड़ गई है। इस कारण यदि उस पदार्थका ज्ञान हो तो उसके विचारके कारण, सतचित्तवृत्ति बाहर निकलकर जानेके बरछे, भीतर ही समा है; और ऐसा होनेसे निर्बल होती है।

१७९ पुत्रल-परमात्मा और उसकी पर्याय आदिकी सूक्ष्मताको, जितना वह बचनका विचार सकता है, उतना कहा गया है। वह इसलिये कि ये पर्याय मूर्तिमान हैं—अमूर्तिमान नहीं मूर्तिमान होनेपर भी इतने सूक्ष्म हैं कि उनका बारम्बार विचार करनेसे उनका स्वरूप समझमें है, और उनके उस तरह समझमें आनेसे, उससे सूक्ष्म अरूपी अहमासंबंधी ज्ञान करनेका सरल हो जाता है।

१८० मान और मताम्र ये मार्गप्रसिद्धि स्वरूप हैं। उनका त्याग नहीं किया जा सके और इस कारण समझ भी नहीं आती। तथा समझ आनेमें विनय-मत्तिकी पहिले जरूरत पड़ती तथा वह मक्ति मान-मताम्रके कारण प्रमाण नहीं की जा सकती।

१८१ बौध्ना, वृद्धता, बारम्बार विचारना, चित्तमें निश्चय करना और धर्मकथा। वेद भी श्रवण मनन और निदिध्यासन ये भेद बताये हैं।

१८२ उत्तराध्यायनमें धर्मके मुख्य चार लक्षण कहे हैं:—

(१) अनुपपत्ता (२) सत्पुरुषके बचनोंका श्रवण (३) उसकी प्रतीति और (४) प्रवाचरण करना—ये चार वस्तुयें दुर्लभ हैं।

१८३ मिथ्यात्वक दो भेद हैं—व्यक्त और अव्यक्त। उसके तीन भेद भी किये गये हैं—उत्कृष्ट मध्यम और अधम्य। जबतक उत्कृष्ट मिथ्यात्व रहता है तबतक जीव पहिले गुणस्थानक बाहर नहीं निकलता। तथा जबतक उत्कृष्ट मिथ्यात्व होता है, तबतक वह मिथ्यात्व गुणस्थानक नहीं माना जाता। गुणस्थानक जीवके आश्रयसे होता है।

१८४ मिथ्यात्वके द्वारा मिथ्यात्व में पड़ना है, और इस कारण जहाँ जरा खोने चले कि जीव मुरत ही मिथ्यात्व गुणस्थानकमें आ जाता है ।

१८५ गुणस्थानक अज्ञानके गुणको छेकर ही होता है ।

१८६ मिथ्यात्वमेंसे जीव एकदम न निकलता हो, परन्तु यदि थोड़ा भी निकल गया हो, तो भी उससे मिथ्यात्व में पड़ता है । यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वके द्वारा भर होता है । मिथ्यात्व गुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अज्ञान जो कयाव होती है, उस अज्ञानसे भी मिथ्यात्वमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानक हुआ कहा जाता है ।

१८७ प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें—पूर्ण प्रतीतिमें—उसी तरहके मिथ्यात्वके गुणके अर्थ मार्गको समझाने अज्ञानसे समझानेके प्रतीति ज्ञाना विभक्तगुणस्थानक है । परन्तु अमुक दर्शन स्वयं है, और अमुक दर्शन भी स्वयं है, इस तरह दोनोंके ऊपर एकही प्रतीति रखना विभक्त नहीं, किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थानक है । तथा अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अर्थमें समान है—यह कहनेमें सम्भवको बाधा नहीं आती । कारण कि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनकी साथ समानता करनेमें पहिछा दर्शन ही सम्पूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है ।

१८८ पहिले गुणस्थानकसे दूसरेमें नहीं जान, परन्तु चाहेस पाँछे द्वितीये रूप जब पहिलेमें जाना रहता है, तब बीचका अमुक काउ दूसरा गुणस्थानक कहा जाता है । उसे यदि चौथेके बाँ पाँचवाँ गुणस्थानक माना जाय, तो जीव चौथेसे पाँचवेंमें बढ़ जाय; और यहाँ तो समझानेके चौथेमें पतित हुआ माना गया है । अर्थात् वह नीचे उतरता हुआ ही है, उसे पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता । हमने उसे दूसरा ही कहना ठीक है ।

१८९ आरम्भ मोक्ष है यह बात तो स्पष्टरहित है । इसे अज्ञानपर और विज्ञानपर दोनों ही कहन है । परन्तु आरम्भको साथ लेकर कथन करनेमें एक दूसरेमें कुछ जोड़ना भ्रम आता है ।

१९० विज्ञान कहने है कि केवलज्ञान सत्तात्मसे नहीं, परन्तु शक्तिरूपसे रहता है ।

१९१ यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक ही है, परन्तु विचारार्थकी दृष्टिमें उसमें कुछ जोड़ना कर दे ।

१९२ दुःखमें ओष आत्मसे विचारपूर्ण अज्ञानमें ' विचाररहित आत्मा ' होती है ।

१९३ तीव्रता जेमे भी समानतामें विचार संप्रदिके समीप थे; फिर भी उन्हें त्याग करनेकी समझ नहीं; तो फिर अन्य जीवोंकी सेवा करनेके विचार केमे दुःखकार हो सकता है ।

१९४ त्याग । प्रत्यक्ष है —एक बात और दूसरा अर्थपर । बात त्याग अर्थपर त्यागका सङ्काप है (त्यागके साथ वैराग्यको भी सम्मिलित किया जाता है क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है) ।

१९५ जीव देगा समझता है कि मैं कुछ समझता हूँ और जब मैं त्याग करनेका विचार करनेका तब एक व त्याग कर सङ्काप । परन्तु यह जानना भ्रममें भरा हुआ है । क्योंकि जराके देना प्रमाण नहीं आता, समीपका अज्ञान जोर रहता है । किन्तु जब देगा समझ आता है तब जीव

शियिळ-परिणामी होकर मर पड़ जाता है। इसलिये धीरे धीरे इस बातकी जाँच और परिचय करना चाहिये कि त्याग करते समय परिणाम कैसे शियिळ हो जाते हैं ?

१९६. ऑल जीम आदि इन्द्रियोंकी एक एक अंगुल जगह जीतनी भी जिसे मुश्किल हो जाती है, अथवा उसका जीतना असम्भव हो जाता है, उसे यदि महान् पराक्रम करनेका अवकाश महान् क्षेत्र जीतनेका काम सौंपा हो तो वह किस तरह बन सकता है ? इसलिये 'जब एकदम त्याग करनेका समय आवेगा तबकी बात तब रही'—इस विचारकी ओर अग्र रसरकर, हाथमें तो धीरे धीरे त्यागकी कसरत करनेकी शुरुआत है। उसमें भी प्रथम शरीर और शरीरके साथ संबन्ध रखनेवाले सगे सबरियोड़ी जाँच करनी चाहिये; और शरीरमें भी प्रथम ऑल जीम और उपर्य इन तीन इन्द्रियोंके विषयको देश देशसे त्याग करनेकी ओर अग्र करना चाहिये, और उसके अन्याससे त्याग एकदम सुगम हो जाता है।

१९७. इस समय जाँच करनेके सीरपर अग्र अग्रे जितना जितना त्याग करना है, उसमें भी शियिळता न रखनी चाहिये। तथा स्वीकृत अनुसरण करके त्याग करना भी ठीक नहीं। जो कुछ त्याग करना वह शियिळतापरिहित द्वार-दरवाजेपरिहित ही करना चाहिये, अथवा यदि कुछ द्वार-दरवाजे रखनेकी जरूरत हो तो उन्हें भी निश्चितरूपमें सुते हुए रखना चाहिये। परन्तु उन्हें इस तरह न रखना चाहिये कि उसका जिस समय जैसा अर्थ करना हो वैसा अर्थ हो सके। जिस समय जिसकी जरूरत पड़े, उस समय उसका अपनी इच्छानुसार अर्थ हो सके, ऐसी व्यवस्था ही त्यागमें न रखनी चाहिये। यदि इस तरहकी व्यवस्था की जाय कि अनिश्चितरूपसे अर्थात् जब जरूर पड़े तब मनचिन्तित अर्थ हो सके तो जीव शियिळ-परिणामी होकर त्याग किया हुआ सब कुछ निगाड़ डालता है।

१९८. यदि अग्रे भी त्याग करना हो तो उसकी पहिलेसे ही निश्चयरूपसे स्वीकृता बाँधकर साधनी रखकर त्याग करना चाहिये; तथा त्याग करनेके बाद अपनेका मनचिन्तित अर्थ नहीं करना चाहिये।

१९९. संसारमें परिभ्रमण करनेवाली क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ीरूप कथा है। उसका स्वल्प भी समझना चाहिये। उसमें भी जो अनतानुबंधी कथा है वह जनत संसारमें भट कानेवाली है। उस कथाके रूप होनेका क्रम सामान्य रीतिसे इस तरह है कि पहिले क्रोध, फिर मान, फिर माया और फिर लोभका क्षय होता है; और उसके उदय होनेका क्रम सामान्य रीतिसे इस तरह है कि पहिले मान, और फिर क्रमसे लोभ, माया और क्रोधरा उदय होता है।

२००. इस कथाके अंतर्मुखात् भेद है। जिस रूपमें कथा होती है उसी रूपमें जीव संसार परिभ्रमणके लिये कर्मबंध करता है। कथापेमें बड़ासे बड़ा बंध अनंतानुबंधी कथापक है। जो अतर्मुर्तमें सत्तर कौड़ाकौड़ी सागरकी आपुको बाँधती है, उन अनंतानुबंधीका स्वल्प भी जड़म्न है। वह इस तरह कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार, मिथ्यात्वमोक्षरूपी रात्राक्षी बराबर साथ चलीसे सैम्भके मध्य मार्गमें रखकर उसकी रक्षा करते हैं; और जिस समय जिसकी जरूरत होती है उस समय वह बिना मुठसे ही मिथ्यात्वमाहनीयकी सेवा ब्रह्मन गुप्त पड़ता है। इसके पश्चात् उसका मोक्षकथापक इसरा परिहार है। वह कथापके अग्रभागमें रहकर मिथ्यात्वमाहनीयकी रक्षावाली करता है; परन्तु यह सब रक्षावाली करते हुए भी नहीं जैसा कथापक ही काम करता है। मरकाने

बाजी तो कयास ही है, और उस कयासमें भी अनन्तानुबन्धी कयासके चार पोदा या बहुत ही मार बाज नेशाके हैं। इन चार पोदाओंके बीचमें कोमका स्वभाव दूसरे अन्य तीनकी ओरका कुछ अन्दी माझूम हो जाता है। क्योंकि उसका स्वरूप सबकी ओरका अन्दी ही माझूम हो सकता है। इस तरह जब किसीका स्वरूप अन्दी माझूम हो जाय, तो उस समय उसकी साथ सबार्थ करनेमें, कोपीकी प्रतीति हो आनेसे, झबनेकी हिम्मत होती है।

२०१ धनघाटी चार कर्म—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतर्क्य—जो बहानेके गुणोंको आवरण करनेवाले हैं, उनका एक तरह क्षय करना सरल भी है। तथा वेदनीय अग्नि कर्म पचपि धनघाटी नहीं हैं, तो भी उनका एक तरहसे क्षय करना दुष्कर है। यह इस तरह कि जब वेदनीय कर्मका उदय आये तो उसका क्षय करनेके लिये उसे भोगना ही चाहिये। उसे न भोगनेकी इच्छा हो तो भी यह इच्छा निरूपयोगी ही है—क्योंकि उसे तो भोगना ही चाहिये, और यदि ज्ञानावरणीयका उदय हो तो यह प्रयत्न करनेसे क्षय हो जाता है। उदाहरणके लिये, कोई स्त्रोक यदि ज्ञानावरणीयका उदयसे पद न रहता हो तो उसे दोबार चारबार, आठबार, सोलहबार, बीसबार, सैंसठबार, सौबार, बर्षाव उसे अविकार पद करनेसे ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम अपना क्षय होकर यह स्त्रोक पद रहता है। बर्षाव ब्रह्मान होनेके कारण ज्ञानावरणीयका उसी भयमें अमुक अवयवमें क्षय किया जा सकता है। यही बात दर्शनावरणीय कर्मके संबंधमें भी समझनी चाहिये। महाब्रह्मण्य मोहनीय कर्म भी इसी तरह स्थिति होता है—उसका दुरत हो क्षय किया जा सकता है। जैसे उसका आगमन—प्रवाह—आनेमें बर्बरत है उसी तरह वह बर्बरते दूर भी हो सकता है। मोहनीय कर्मका तीव्र बंध होता है, तो भी यह प्रवेसबंध न होनेसे उसका दुरत हो क्षय किया जा सकता है। तथा नाम आमु आदि कर्मका जो प्रवेसबंध होता है, वह केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् अन्ततक भोगना पड़ता है, जब कि मोहनीय आदि चार कर्म उसके प्रतिके ही क्षय हो जाते हैं।

२२ उन्नतता यह चारित्र्यमोहनीयकी विशेष पर्याय है। यह कवित् वात्स्य, कवित् शोक, कवित् रति कवित् अस्ति, कवित् मय, और कवित् शुश्रूषाकर्मसे माझूम होती है। कुछ बंधसे उसका ज्ञानावरणीयमें भी समावेश होता है। स्वयंमें विशेषरूपसे ज्ञानावरणीय-पर्याय ही माझूम होती है।

२३ सदा यह ज्ञानका माग है। परन्तु परिग्रहसंज्ञा ओम्प्रकृतिये गर्मित होती है। आहारसंज्ञा वेदनीयमें गर्मित होती है, और मयसंज्ञा मयप्रकृतिये गर्मित होती है।

२०४ अनंत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे प्रकृतिके नामसे कहा जाते हैं। यह इस तरह कि अमुक अमुक प्रकृति अमुक अमुक गुणस्वात्मकतक होती है। इस तरह मय तोलकर इसीदिक्के दूरसेके समझनेके लिये स्पष्टकर्मसे उसका विवेचन किया है। उसमें दूसरे दिक्के ही तरहके कर्म बर्षाव 'कर्मप्रकृति'का सम्मेलन होता है। बर्षाव जिस प्रकृतिके नाम कर्मसंयममें नहीं आते वह प्रकृति ऊपर वर्तार्थ हुई प्रकृतिकी ही विशेष पर्याय है, अपना यह ऊपर वर्तार्थ हुई प्रकृतिये गर्मित हो जाती है।

२५ निमाकका अर्थ निरुद्धमात्र नहीं किन्तु उसका अर्थ विशेषमात्र होता है। अज्ञा जो अज्ञाकर्मसे परिजन्म करती है वह मात्र अपना स्वभाव है। तथा जब अज्ञा और सबका संयोग

होनेसे आत्मा स्वभावको छोड़कर आगे जाकर विशेषभावसे परिणमन करती है, यह विभाव है। इसी तरह जड़के किये भी समझना चाहिये।

२०६ काठके अणु लोक-प्रमाण असम्भ्यात हैं। उस अणुमें कुछ अथवा स्निग्ध गुण नहीं है। इससे एक अणु दूसरेमें नहीं मिक आता, और बरेक मुदा खुदा खाता है। परमाणुके पुत्रछमें यह गुण होनेसे मूखसवाके मौन्य खानेके कारण उसका—परमाणु-पुत्रछका—स्वभाव होता है।

(२)

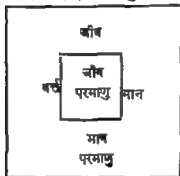
उत्पाद,

व्यय

सुख

} यह भाव एक वस्तुमें एक समयमें है।

जीव और परमाणुओंका



संयोग

कोई जीव	एकेश्वररूपसे	पर्याप्त है	} वर्तमानभाव
"	दो इन्द्रियरूपसे	" है	
"	तीन इन्द्रियरूपसे	" है	
"	चार इन्द्रियरूपसे	" है	
"	पाँच इन्द्रियरूपसे	" है	
	संज्ञी		} वर्तमानभाव
	असंज्ञी		
	पर्याप्त		
	अपर्याप्त		} वर्तमानभाव
	ज्ञानी		
	अज्ञानी		} वर्तमानभाव
	मिथ्यावृत्ति		
	सम्यग्दृष्टि		} वर्तमानभाव
एक कदा कोष			
यावत् अनन्त कदा कोष			} वर्तमानभाव

सिद्धभाव

(१)

प्रश्नः— ब्रह्मज्ञान समदर्शिता, बिचरे उदमप्रयोग;
वर्षवर्षाणी परममुत्त, सद्गुरु कक्षण योग्य ।

(१) सद्गुरुके योग्य वे कक्षण मुख्यतया कौनसे गुणस्थानकमें समब हैं ?

(२) समदर्शिता किसे कहते हैं ?

उत्तर —(१) सद्गुरुके योग्य जो इन कक्षणोंको बताया है, वे कक्षण मुख्यतया—विशेषरूपसे—
उपदेशक अर्थात् मार्गप्रकाशक सद्गुरुके ही कक्षण कहे हैं । तथा उपदेशक गुणस्थानक कक्षा और तेरहवें
हैं। बीचके सातवेंसे बारहवेंके गुणस्थान कक्ष्यकाकर्त्ता हैं; अर्थात् उनमें उपदेशक प्रवृत्ति संभव
नहीं है । मार्गोपदेशक प्रवृत्ति छेसे आरंभ होती है ।

छो गुणस्थानकमें संपूर्ण बीतरगादसा और केवलज्ञान नहीं है; यह तो तेरहवेंमें है; और
पचासवें मार्गोपदेशक तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पूर्ण बीतरगा और केवलसंपन्न परमसद्गुरु श्री-
जिनतीर्थकर आदिमें ही बनता है । तथापि छोटे गुणस्थानमें रहनेवाला मुनि, जो सम्पूर्ण बीतरगा
और कक्ष्यप्रकाशक उपासक है जिसकी उस दशाके छिये ही प्रवृत्ति-मुक्त्यर्थ-रहता है, जिसने उस
दशाको पचास सम्पूर्ण रूपसे नहीं पया फिर भी जिसने उस सम्पूर्ण दशाके पानेके मार्गसाधनको, स्वयं
परम सद्गुरु श्रीतीर्थकर आदि आसुरिकके आश्रय-बचनसे जाला है—उसकी प्रतीति की है, अनुभव
किमा है और इस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी यह उच्छेत्तर दशा विशेष प्रगट होती जाती है;
तथा जिसके निमित्तसे श्रीजिनतीर्थकर आदि परम सद्गुरुकी और उनके स्वरूपकी पहिचान होती है—
उस सद्गुरुमें भी मार्गोपदेशकत्व अविरोधरूपसे रहता है ।

उससे नीचेके पाँचवें और चौथे गुणस्थानकमें तो मार्गोपदेशकत्व समब ही नहीं । क्योंकि
यहाँ मार्गकी, ब्रह्मकी, तत्त्वकी और ज्ञानकी पहिचान नहीं, प्रतीति नहीं, तथा सम्पूज्यरिति नहीं;
और यह पहिचान—प्रतीति—और सम्पूज्यरिति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक
होना यह प्रगट निष्पन्न बुगुरुपना और मार्गका विरोधरूप है ।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहिचान—प्रतीति—रहती है, और यहाँ ब्रह्मज्ञान आदि गुण बंशसे
ही रहते हैं; और पाँचवेंमें देशनिरतिमात्रको केन्द्र पचास चौथी अपेक्षा विरोधता है, तथापि यहाँ
सर्वविरतिके जितनी विद्युति नहीं है ।

ब्रह्मज्ञान समदर्शिता आदि जो कक्षण बताये हैं उन्हें मुख्यतासे संप्रतिभयमें स्थित, बीतरगा
दशाके साधक, उपदेशक गुणस्थानमें रहनेवाले सद्गुरुको कक्ष करके ही बताया है; और उनमें वे
गुण बहुत अंशमें रहते भी हैं । तथापि वे कक्षण सर्वप्रथम—संपूर्णरूपसे—तो तेरहवें गुणस्थानमें
रहनेवाले सम्पूर्ण बीतरगा और केवलसंपन्न श्रीगुरु सयोगकेवली परमसद्गुरु श्रीजिन ब्रह्म तीर्थकरमें
ही रहते हैं । क्योंकि उनमें ब्रह्मज्ञान अर्थात् स्वल्पस्थिति संपूर्णरूपसे रहती है जो उनकी ज्ञानदशा
अर्थात् ज्ञानविशेषका सूचन करता है । तथा उनमें समदर्शिता संपूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी बीतरगा
आदिदशा अर्थात् अपावागमतिशयको सूचित करता है । तथा वे सम्पूर्णरूपसे इच्छास्थित हैं इसलिये
उनकी विचरने आदिकी शक्ति आदि योगक्रियायें पूर्णरूपसे वेदन करनेके छिये परबत ही हैं,

इसलिये “ विचरे उदय प्रयोग ” ऐसा कहा है । सम्पूर्ण निज अनुभवकल्प उनकी बाणी, अज्ञानीकी बाणीसे विरुद्ध और एकत्र आध्यात्मकी बोधक है, इस कारण उनमें बाणीकी अपूर्वता कही है, जो उनके बचनाविषयको सूचन करता है । बाणीधर्ममें रहनेवाला श्रुत भी उनमें ऐसी सानेधतासे रहता है कि जिससे कोई भी मय अहित न हो; यह उनके परमश्रुत गुणको सूचित करता है, और जिनमें परमश्रुत गुण रहता है, वे पूजनीय हैं, इससे उनके पूजाविषय गुणका सूचन होता है ।

ये भीमिन अरिहत तीव्रकर, परमसद्गुरुकी भी पहिचान करानेवाले विद्यमान सर्वविरसि सद्गुरु हैं, इसलिये मुख्यतया इन सद्गुरुको ध्वन्य करके ही इन लक्षणोंको बताया है ।

(२) समदर्शिता अर्थात् पदार्थमें इयानिष्ठबुद्धिरहितपना, इच्छापरहितपना और ममत्वपरहितपना । समदर्शिता चास्त्रिदशाका सूचन करती है । राग-द्वेषरहित होना यह चास्त्रिदशा है । इयानिष्ठबुद्धि ममत्व और भावामात्मका उत्पन्न होना राग-द्वेष है । ‘ यह मुझे प्रिय है, यह मुझे अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता ’—ऐस मात्र समदर्शमें नहीं होते ।

समदर्शी ब्रह्म पदार्थोंको और उनकी पर्यायोंको, वे पण्य और पर्याय जिस मात्रसे रहते हैं, उन्हें उसी मात्रसे देखता है, जानता है और कहता है, परन्तु वह उन पदार्थोंमें अपना उनकी पर्यायोंमें ममत्व अपना इयानिष्ठबुद्धि नहीं करता ।

आत्माका स्वामित्विक गुण देखना-जानना है, इसलिये वह द्वेय पण्यको देखती जानती है; परन्तु जिस आत्माको समदर्शिता प्रगट हो गई है, वह आत्मा उस पदार्थको देखते जानते हुए भी, उसमें ममत्वबुद्धि तत्काल्यमात्र और इयानिष्ठबुद्धि नहीं करती । विषमवृत्ति आत्माको ही पण्यमें वादव्यवृत्ति होती है—समवृत्ति आत्माको नहीं होती ।

कोई पदार्थ कछा हो तो समदर्शी उसे कछा ही देखता जानता और कहता है । कोई पदार्थ सत्ता हो तो वह उसे वैसा ही देखता जानता और कहता है । कोई पदार्थ दुर्गन्धित हो तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है; कोई दुर्गन्धित हो तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है । कोई लैचा हो, कोई नीचा हो, तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है । वह सर्वको सर्वकी प्रकृतिकल्पसे देखता जानता और कहता है और बापको बापकी प्रकृतिकल्पसे देखता जानता और कहता है । इत्यादि प्रकारसे बस्तुमात्र जिस रूपसे जिस मात्रसे होती है, समदर्शी उस उसी रूपसे, उसी मात्रसे देखता जानता और कहता है । वह द्वेय (छोड़ने योग्य) को द्वेयरूपसे देखता जानता और कहता है और उपायेय (ग्रहण करने योग्य) को उपायेयरूपसे देखता जानता और कहता है । परन्तु समदर्शी-जीव उन सबमें अपनापन, इयानिष्ठबुद्धि और राग-द्वेष नहीं करता । दुर्गन्ध देखकर वह उसमें अप्रियता—दुर्गन्ध—नहीं करता । व्यवहारमें कुछ अच्छा भिना जाता हुआ देखकर, वह ऐसी इच्छाबुद्धि (राग-रति) नहीं करता कि यह मुझे मित्र आप ता ठीक है । तथा व्यवहारमें कुछ सख्त समझा जाता हुआ देखकर, वह ऐसी अनिच्छाबुद्धि (द्वेष-अपत्ति) नहीं करता कि यह मुझ न मित्र तो ठीक है । प्राय स्थितिमें—संयोगमें—अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिशूल, इयानिष्ठबुद्धि, आनुकूलता व्यानुकूलता न करते हुए, उसमें समवृत्तिसे, अर्थात् अपने निज मात्रमासे, रागद्वेष-रहित भावसे रहना ही समदर्शिता है ।

सत्ता-असत्ता, जीवन-मृत्यु सुख-दुःख, सुख-दुःख, रूप-रूप, शीत-उष्ण आदिमें द्वै-
लोक, स्ति-अस्ति, इष्टानिष्टबुद्धि और आर्तस्थान न रहना ही समदर्शिता है ।

समदर्शीमें बिंसा अस्त्य अन्त्यान्त मैतुन और परिग्रह्य त्याग अवश्य होता है । यदि
अहिंसाणि न न हो तो समदर्शिता सम्य नहीं । समदर्शिता और अहिंसादि अत्रोक्त कार्यकारण,
अविनाशनी और अमोघाश्रयसम्पन्न है । यदि एक न हो तो दूसरा नहीं होता, और यदि दूसरा न
हो तो पहिला नहीं होता ।

समदर्शिता हो तो अहिंसा आदि अत होते हैं ।

समदर्शिता न हो तो अहिंसा आदि अत नहीं होते ।

अहिंसा आदि अत न हों तो समदर्शिता नहीं होती ।

अहिंसा आदि अत हो तो समदर्शिता होती है ।

चित्ते अंतर्गते समदर्शिता होती है, उतने ही अंतर्गते अहिंसा आदि अत होते हैं, और

चित्ते अंतर्गते अहिंसा आदि अत होते हैं उतने ही अंतर्गते समदर्शिता होती है ।

सद्बुद्धिबोध लक्षणरूप समदर्शिता तो मुख्यतया संश्लिष्ट गुणस्थानकमें होती है । अतः
गुणस्थानकमें यह उत्तरोत्तर वर्धमान होती जाती है—विशेष प्रगट होती जाती है । तथा लीनबोध
गुणस्थानकमें उसकी पराकाष्ठा, और अन्तमें सम्पूर्ण वीतरागता होती है ।

समदर्शिताका अथ शैलिक्रमावर्त समानमात्र अनेकमात्र, एकसमान बुद्धि और निर्निष्ठपत्ता नहीं
है । अर्थात् अंतर्गते और हीरे दोनोंको एकसा समझना, अथवा सद्बुद्धि और असद्बुद्धिमें समानमात्र मानना,
अथवा सद्बुद्धि और असद्बुद्धिमें अनेक समझना अथवा सद्बुद्धि और असद्बुद्धिमें एकही बुद्धि रखना, अथवा
सदेव और असदेवमें निर्निष्ठपत्ता ठिकाना—अर्थात् दोनोंको एकसमान समझना इत्यादि समानबुद्धि
समदर्शिता नहीं कहते; यह तो आत्माकी मूर्खता, विवेकान्धता, और निवेकविकलता है । समदर्शी
सर्वको सर्व जानता है सर्वका बोध करता है असर्वका असर्व जानता है असर्वका निषेध करता है,
सद्बुद्धि को सद्बुद्धि समझता है उसका बोध करता है असद्बुद्धि को असद्बुद्धि जानता है, उसका निषेध
करता है सद्बुद्धि को सद्बुद्धि जानता है उसका बोध करता है असद्बुद्धि को असद्बुद्धि जानता है, उसका
निषेध करता है; सद्बुद्धि को सद्बुद्धि समझता है उसका बोध करता है असद्बुद्धि को असद्बुद्धि समझता है
उसका निषेध करता है; सदेव को सदेव समझता है उसका बोध करता है; असदेव को असदेव समझता
है, उसका निषेध करता है—इत्यादि जो पैसा होता है जो उसे पैसा ही देखता है जानता है उसका
प्रकरण करता है, और उसमें राग-द्वेष इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता, उसे समदर्शी समझना चाहिये । ७५

७५४

मोक्षी चैत्र की १२ ति १९५४

(१) कर्मकाण्ड योग्योपसारा शास्त्र आदिसे अंतर्गत विचारने योग्य हैं ।

(२) हृदयकाण्डका प्रथम राज्य विभाग है । तो श्री अन्नमित्रचरिते सद्बुद्धि की अन्तर्गत
बुद्धि अन्तर्गत, जो मुख्य अन्तर्गत योग्योपसारा दर्शन और आदिशक्ति उपसारा करना चाहते हैं उन्हें
परमशक्ति का मार्ग अभी भी प्राप्त हो सकता है ।

७५५

ॐ नमः

केवलज्ञान—

एक ज्ञान
सर्व अन्य भावोंके सङ्गति रहित एकांत शुद्धज्ञान
सर्व द्रव्य क्षेत्र काळ भावका सब प्रकारसे एक
समयमें ज्ञान
उस केवलज्ञानका हम ध्यान करते हैं
यह निजस्वभावरूप है

यह स्वतन्त्रमूर्त है
निरावरण है
भेदरहित है
निर्विकल्प है
सर्वभावका उत्कृष्ट प्रकाशक है

७५६

मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ—यह सम्पूर्ण प्रतीत होता है ।

मैंसे होनेके हेतु सुप्रतीत हैं ।

सर्व इन्द्रियोंका स्वयं कर, सर्व परद्रव्योंसे निजस्वरूपको व्यापृत कर, योगको अखण्ड कर, उपयोगसे उपयोगकी एकता करनेसे केवलज्ञान होता है ।

७५७

आकाशावाणी

तप करो । तप करो । शुद्ध चैतन्यका ध्यान करो । शुद्ध चैतन्यका ध्यान करो ।

७५८

मैं एक हूँ, असृग हूँ, सर्व परमात्मेंसे मुक्त हूँ । मैं अस्मृतात प्रदेष्टात्मक निज अवगाहना प्रमाण हूँ ।

मैं अन्नम्, अक्षर, अमर, शाश्वत हूँ । मैं स्वभाव-परिणामी समयात्मक हूँ ।

मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र निर्विकल्प प्रकाश हूँ ।



७६४

कम्बई, आषाढ सुदी ११ गुरु १९५४

ॐ

अनंत अंतःकरण होनेपर भी धीर रहकर जिस पुरुषने अपार मोहबाधको पार किया, उस श्री-महाबाहूको नमस्कार है ।

अनंतकाष्ठमें जो ज्ञान ससारका हेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें बाह्यरूप करके, जिसने उसे भवमिहृतिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्प्रदायकी नमस्कार है ।

निहृदिदोषमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है ।

७६५

मोहनवी, आषाढ सुदी १५ सोम १९५४

१ मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थके विचारनेके बाद कर्मग्रन्थ विचारनेसे अनुकूल पड़ेगा ।

२ णिगम्बर सम्प्रदायमें दम्पत्यको बाळ पंखडीका कहा है । ज्ञेयान्तर सम्प्रदायमें उस बातकी विशेष चर्चा नहीं की । योगशास्त्रमें उसके अनेक प्रसंग हैं । समागममें उसका स्वल्प ज्ञानना सुगम हो सकता है ।

७६६

कविडा, आषाढ कृी १२ शनि १९५४

ॐ नमः

तुमने अपनी वृत्ति हाथमें समागममें जानेके संभवमें प्रगट की, उसमें तुम्हें अंतःकरण कैसा हुआ क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेके पड़िते ही जागोमें पर्यूपणका प्रारंभ हुआ समझा जायगा । इस कारण तुम यदि इस ओर आओ तो गुण-अङ्गुणका विचार किये बिना ही मताप्यही लोग निंदा करेंगे, और उस निमित्तको मध्य कर, वे बहुतसे जीवोंको उस निन्द्याद्वारा परमार्थकी प्राप्ति होनेमें अंतःकरण उत्पन्न करेंगे । इस कारण जिससे बैसा न हो उसके लिये, तुम्हें हाथमें तो पर्यूपणमें बाहर न निकलनेसंगी और निन्दितकी ही रक्षा करना चाहिये ।

वैराग्यशास्त्र ज्ञान-पगनीबीसी, भाग्यशास्त्र आदि पुस्तकोंका विचनना बौध्दना विचारना बन, उनका निहृदिकी साथ लेना । प्रमा और लोकपद्धतिमें ही बाउको सर्वथा दृष्टा गुमा देना यह सुमुमु जीयस्य लक्ष्य नहीं ।

(२)

(१) स्फुरक अस्याप नहीं करते । स्फुरक यदि अस्याप करें तो इस जगत्में बरसात दिगदे त्रिये पड़गी । सूर्य किसके त्रिये प्रकाशित होगा । बायु किसके त्रिये बढ़ेगी ।

(२) आमा कैसी अदूर बायु दे । जलनक वह शरीरमें रहती है—मठ ही वह हमसो बर्न छ—जलनक शरीर नहीं सड़ता । आमा पारेके समान है । जलन निकल जाता है और शरीर सुर्न हो जाता है और वह सड़ने लगता है ।

(३) जीमें ज्ञापति और पुद्गलार्थ चाहिये । कर्मक पड़नेक बाद उसमेंगे (सदायोंगे—उत्प जनेके पड़ित) दुःखा हो तो अकारणक पूर्ण होनेक दुःखा हो सकता है ।

(७) पुण्य पाप और जायु ये एक दूसरेको नहीं दिये जा सकते । उन्हें हरेक अपने आप ही मोगता है ।

(५) स्वच्छदसे, अपनी मतिकी कल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके बिना ध्यान करना तरंग रूप है, और उपदेश व्याख्यान करना जमिमानरूप है ।

(६) देहचारी आत्मा पथिक है, और देह वृक्ष है । इस देहकपी वृक्षमें (वृक्षके नीचे) जीवकपी पथिक—उस्तागिर—बिभ्रान्ति छेने बैठा है । वह पथिक यदि वृक्षको ही अपना मानने लगे तो यह कैसे बच सकता है ?

(७) सुंदरविवास सुंदर—मेष्ठ—मय है । उसमें जहाँ कहीं कमी—भूख—है उसे हम जानते हैं । उस कमीको दूसरेको समझाना मुश्किल है । उपदेशके लिये यह प्रथ उपकारी है ।

(८) छह दर्शनोके ऊपर द्रष्टा —छह भिन्न भिन्न वैशोकी दुकान लगी है । उनमें एक वैच सम्पूर्ण सत्ता है और वह सब रोगोंको उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है । तथा उसकी निदान-चिकित्सा सभी होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है । वैच कमाता भी अच्छा है । यह देखकर दूसर पोंच कुवैच भी अपनी अपनी दुकान खोलते हैं । परन्तु जहाँतक उनके पास सब वैचके घरकी दवा होती है, जहाँतक तो वे रोगीका रोग दूर करते हैं; और जब वे अपनी अन्य किसी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, तो उससे उल्टा रोग बढ़ जाता है । तथा वे सत्ता दवा देते हैं, इससे जोमके मारे लोग उसे छेनेके लिये बहुत ऊँचाते हैं, परन्तु उससे उन्हें उल्टा नुकसान ही होता है ।

इसका उपनय यह है कि सत्ता वैच बीतरागदर्शन है; जो सम्पूर्ण स्वयत्वरूप है । वह मोक्षविषय आदिको रोग-दोषको और हिंसा आदिको सम्पूर्णरूपसे दूर करनेके लिये कहता है जो बात परावीन रोगीको मँहगी पड़ती है—अच्छी नहीं लगती । तथा जो अन्य पोंच कुवैच हैं, वे कुदर्शन हैं । वे जहाँतक बीतरागके घरकी बातें करते हैं, जहाँतक तो उनकी रोग दूर करनेकी बात ठीक है; परन्तु साथ साथ वे जो हिंसा आदि धर्मके बहाने, मोक्षकी संसार-वृद्धिकी और मिष्यत्नकी बातें करते हैं, वह उनकी अपनी निजी कल्पनाकी ही बात है; और वह संसाररूप रोग दूर करनेके बड़बड़े उसकी वृद्धिका ही कारण होती है । विषयमें रचे-पचे पामर संसारियों मोक्षकी बातें मीठी लगती हैं—सत्ता पड़ती है; इसलिये वह कुवैचकी तरफ आकर्षित होता है; परन्तु परिणाममें वह अधिक ही रोगी पड़ता है ।

बीतरागदर्शन त्रिवैचके समान है —वह रोगीको दूर करता है, निरोगीको रोग होनेके लिये दवा देता नहीं, और आरोग्यकी पुष्टि करता है । अर्थात् वह जीवका सम्पूर्णरूपसे मिष्यत्न दूर करता है, सम्पन्नानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है, और सम्पत्कृपादिसे सम्पूर्ण शुद्ध चेतारूप आरोग्यकी पुष्टि करता है ।

७६७ वसो (गुजरात), प्रथम आश्विन सुदी ६ शुभ १९५४

१ श्रीमत् बीतराग महाशयोंका निश्चित किया हुआ अधिनय चिन्तामणिस्वरूप परम शिष्य-

७५९

वचणीया अंश १९५४

१ देहसे निम्न स्वपदकाशक परम ज्योतिस्वरूप ऐसी इस आत्मामें निम्न होओ ।

हे आर्यजनों ! अंतर्मुख होकर, स्थिर होकर, उस आत्मामें ही खो, तो अर्न्त अपर आनन्दका अनुभव करोगे ।

२ सर्व जगत्के जीव कुछ न कुछ पाकर कुछ पानेकी ही इच्छा करते हैं । महान् पक्षियों राजा भी बड़े हुए बैराग और परिग्रहके सत्कर्ममें प्रयत्नशील रहते हैं; और वे उसके प्राप्त करने की कुछ समझते हैं । परन्तु अहो ! जानियोंने तो उससे विपरीत ही कुछका मार्ग निर्णय किया है कि किञ्चित् मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है ।

३ नियमसे जिसकी इन्द्रियों आर्त हैं, उसे शीतल वायुसुख—आनन्द—कहें प्रतीतिमें आ सकता है ।

४ परमधर्मरूप चन्द्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं चिपकनेकी ही इच्छा करता हूँ । हमें परिग्रहका क्या करना है! हमें उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं ।

५ 'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शक्ति है वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है'—हे आर्यजनों ! तुम इस परम वास्तवका आनन्दरूपसे अनुभव करो ।

७६०

वचणीया अंश सुदी १ शनि १९५४

१ सर्व इन्द्रिय, सर्व क्षेत्र, सर्व कायसे और सर्व मायसे जो सर्व प्रकारसे अप्रतिबद्ध होकर निरवस्थामें स्थित हो गये उन परम पुरुषोंको नमस्कार हो ।

२ जिसने कुछ म्रिय नहीं, जिसने कुछ अम्रिय नहीं; जिसका कोई शत्रु नहीं; जिसका कोई मित्र नहीं; जिसने मान, अपमान, काम अलाम, हर्ष शांति, जन्म, मृत्यु आदिके दहका अभाव कर, सुद भैरवस्वरूपमें स्थिति पर्व है पाया है और पावेगा उसका अति उत्कृष्ट पदक्रम आनन्दसहित आनन्दरूप उत्पन्न करता है ।

३ देहके प्रति जैसा बलका संभव है, वैसा ही आत्मामें प्रति जिसने देहके सर्वशक्ति पापतत्त्व दगा है; जैसा स्थानके प्रति तत्प्राकारका संभव है वैसा ही देहके प्रति जिसने आत्मामें सर्वशक्ति देना है तथा जिसने आत्मामें अशब्द-रूप-अनुभव किया है उन महान् पुरुषोंको जीवन और मरण दोनों समान हैं ।

४ जो अविषय इन्द्रियों श्रुतिचित्स्वरूप कांति, परम प्रगट होकर उसे व्यक्तिय करती है, वह अविषय इन्द्रिय सहज स्वाभाविक निरवस्थामें है ऐसा निश्चय जिस परम कृपात्त सपुरुषमें प्रकाशित किया उसका आनन्द उत्पन्न है ।

५. चन्द्र भूमिका प्रकाश करता है—उसकी किरणोंकी कांतिके प्रभावसे समस्त भूमि होत ही जाती है; परन्तु चन्द्र कभी भी भूमिरूप नहीं होता । इसी तरह समस्त चिरंजीव प्रकाशक आत्मा कभी भी चिरंजीव नहीं होती, वह सदा—सर्वा—वैतन्यरूप ही रहती है । जिसमें जीव जो अमर्त्यता मानता है, यही भ्रान्ति है ।

६ जिस तरह आकाशमें बिजलीका प्रवेश नहीं—आकाश सर्व भाषोंकी वासनासे रहित ही है, उसी तरह सम्यग्दर्श पुरुषोंने, सर्व द्रव्योंसे निष्ठ, सर्व अन्य पर्यायोंसे रहित ही आत्माको प्रत्यक्ष देखा है।

७ जिसकी उत्पत्ति अन्य किसी भी द्रव्यसे नहीं होती, उस आत्माका नाश भी कहींसे हो सकता है ?

८ अज्ञानसे और निबलस्वरूपके प्रति प्रमादसे, आत्माको केवल मनुष्यी भांति ही है। उस अन्तिको निश्चय कर, शुद्धचैतन्य निबलानुसंग प्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर, ज्ञानी सत्ता ही निर्मय रहता है। इसी स्वरूपके अंशसे सब जीवोंके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है, और सर्व परद्रव्योंसे वृत्तिको व्यावृत्त कर, आत्मा हेतारहित समाधिको पाती है।

९ परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शान्त, शुद्धचैतन्यस्वरूप समाधिको जिसमें सर्व कष्टके छिपे प्राप्त किया, उन भगवान्को नमस्कार हो ! उस परमें निरंतर अक्षरूप जिनका प्रवाह है, उन सत्पुरुषोंको नमस्कार हो !

१० सबसे सब प्रकारसे मैं निष्ठ हूँ, मैं एक केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट अधिन्यसुख-स्वरूप, मात्र एकल शुद्धबलानुसंग हूँ। फिर क्यों विशेष क्या ? विस्तृत क्या ? भय क्या ? श्रेष्ठ क्या ? दूसरी अवस्था क्या ? मैं शुद्ध शुद्ध प्रकृष्ट शुद्ध परमशान्त चैतन्य हूँ, मैं मात्र निर्विकल्प हूँ; निबलस्वरूपमय उपयोग करता हूँ तन्मय होता हूँ। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

७६१ बषाणीका ग्रेष्ठ सुनी ६ युग १९५४

महान् गुणनिष्ठ स्थिर आर्य श्रीगुरु ग्रेष्ठ सुनी ६ सोमवारकी रात्रिको नौ बजे समाधिसहित देह-मुक्त हो गये।

७६२ बम्बई ग्रेष्ठ बरी ४ बुध १०५४

ॐ नम

जिससे मनकी वृत्ति शुद्ध और स्थिर हो, ऐसे सत्समागमका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। तथा उसमें भी यह दुष्प्रकाश होनेसे जीवको उसका विशेष अन्तराय है। जिस जीवको प्रत्यक्ष सत्समागमका विशेष लाभ प्राप्त हो वह महत्पुण्यवान् है। सत्समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका सत्पाठपूर्वक परिचय अल्प करना चाहिये।

७६३ बम्बई, ग्रेष्ठ बरी १४ शनि १९५४

नमो श्रीनारायण

मुनियोंके समागममें ऋष्यर्चन प्रहण करनेके सर्वप्रथम क्यायुग प्रवृत्ति करना, प्रतिबंध नहीं। मुनियोंको त्रिन्सरण पहुँचे।

७६४

मन्मार्, भाषा सुदी ११ पृष्ठ १९५४

४३

अनंत अतएव होनेपर भी धीर रहकर जिस पुरुषने कपार मोहबालको पार किया, उस श्री-मगवान्को नमस्कार है ।

अनंतकाष्मिने जो ज्ञान संसारका हैतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें आर्पण करके, जिसने उसे भवनिवृत्तिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्पददर्शनको नमस्कार है ।

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है ।

७६५

मोहमयी, भाषण सुदी १५ सोम १९५४

१ मोक्षमार्गप्रकाशा प्रपञ्चे विचारनेके बाद कर्मप्रप विचारनेसे अनुकूल पड़ेगा ।

२ गिम्बर सम्प्रदायमें ब्रह्ममनको वात पालकीका कहा है । इदंतन्त्र सम्प्रदायमें उस बातकी विशेष चर्चा नहीं की । योगसत्त्वमें उसके अनेक प्रसंग हैं । समागममें उसका स्वरूप जानना सुगम हो सकता है ।

७६६

कमिठा, भाषण सुदी १२ शनि १९५४

४३ नमः

तुम्हें अपनी वृत्ति हस्तमें समागममें आनेके संवर्धन प्रगट की उसमें तुम्हें अंतर्गम वैसा हुआ क्योंकि इस पत्रके पूर्वजनेके पहिले ही लोगोंमें पर्ययणका प्रारम्भ हुआ समझा जायगा । इस कारण हम यदि इस ओर आबो, तो गुण-अवगुणका विचार किये बिना ही मताम्ही छोड़ दिया करेंगे, और उस निमित्तको प्रवृत्त कर वे बहुतसे लोगोंको उस निवृत्ताद्वारा परमार्थकी प्राप्ति होनेमें अंतर्गम उत्पन्न करेंगे । इस कारण जिससे वैसा न हो उसके किये, तुम्हें हस्तमें तो पर्ययणमें बाहर न निकलनेसंबंधी बौद्धप्रवृत्तिकी ही रक्षा करना चाहिये ।

वैद्यम्यशतक, आनंदधनचौबीसी, भाषणाशेष आदि पुस्तकोंका जितना बौधना विचारना बने, उतना निवृत्तिका लाभ लेना । प्रसार और लोकप्रवृत्तिमें ही काष्ठको सर्वथा हुआ गुम्फ देना यह सुमुमुक्षु बीजका लक्षण नहीं ।

(२)

(१) सत्पुरुष कल्याण नहीं करते । सत्पुरुष यदि कल्याण करें तो इस जगत्में बरसत किसके छिये पड़ेगी ! सूर्य किसके छिये प्रकाशित होगा ! वायु किसके छिये बहेगी !

(२) बापका कैसी कर्पूष बलु है ! जबतक वह शरीरमें रहती है—भले ही वह हजारों वर्ष रहे—तबतक शरीर नहीं सड़ता । आमा पारेके समान है । যেতন निकल जाता है और शरीर सुखी हो जाता है और वह सड़ने लगता है ।

(३) जीनेमें जाग्रति और पुरुषार्थ चाहिये । कर्षवंध पत्रनेके बाद उसमेंसे (सत्त्वमेंसे—उदय आनेके पहिले) छूटना हो तो अवशायावक पूर्ण होनेतक छूट्य आ सकता है ।

(४) पुण्य पाप और बाध ये एक दूसरेको नहीं दिये जा सकते । उन्हें हरेक अपने आप ही भोगता है ।

(५) स्वच्छन्दसे, अपनी मतिकी कल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके बिना ध्यान करना सरग-रूप है, और उपदेश व्याख्यान करना अभिमामरूप है ।

(६) देहधारी आत्मा पथिक है, और देह ब्रह्म है । इस देहरूपी ब्रह्ममें (ब्रह्मके नाँवे) जीवरूपी पथिक—उत्तागिरि—निष्ठापति डेने बैठा है । वह पथिक यदि ब्रह्मको ही अपना मानने लगे तो यह कैसे बन सकता है ?

(७) सुदरविस्मय सुदर—ब्रेष्ठ—प्रथ है । उसमें जहाँ कहीं कमी—मूछ—है उसे हम जानते हैं । उस कमीको दूसरेको समझाना मुश्किल है । उपदेशके लिये यह ग्रन्थ उपकारी है ।

(८) यह दर्शनके ऊपर उन्नत —यह भिन्न भिन्न वैश्वकी दुःखानुभूति है । उनमें एक वैष सम्पूर्ण सत्ता है, और यह सब रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है । तथा उसकी निदान चिकित्सा सही होनेसे रोगोंका रोग निर्मूल हो जाता है । वैष कमाता भी जानता है । यह देखकर दूसरे पौष कुषेय भी अपनी अपनी दुःखानुभूति को देखते हैं । परन्तु यहाँतक उनके पास सब वैषके घरकी दवा होती है, यहाँतक तो वे रोगीका रोग दूर करते हैं, और जब वे अपनी अन्य किसी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, तो उससे उल्टा रोग बढ़ जाता है । तथा वे सस्ती दवा देते हैं, इससे बीमके मारे लोग उसे देनेके लिये बहुत छत्रपाते हैं, परन्तु उससे उन्हें उल्टा नुकसान ही होता है ।

इसका उपनय यह है कि सत्ता वैष बीतरमादर्शन है; जो सम्पूर्ण स्वस्वरूप है । वह मोहविषय आदिको रोग-द्वेषको और हिंसा आदिको सम्पूर्णरूपसे दूर करनेके लिये कहता है; जो बात पराधीन रोगीको मँहनी पड़ती है—जान्नी नहीं लगती । तथा जो अन्य पौष कुषेय हैं, वे मुद्दर्शन हैं । वे यहाँतक बीतरमाके घरकी बातें करते हैं, यहाँतक तो उनकी रोग दूर करनेकी बात ठीक है; परन्तु साथ साथ वे जो हिंसा आदि चर्मके बहाने, मोहकी ससार-बुद्धिकी और मिथ्यात्वकी बातें करते हैं, वह उनकी अपनी निजी कल्पनाकी ही बात है और वह ससाररूप रोग दूर करनेके बरके उसकी इज्जत ही कायम होती है । नियमों रचे-रखे पामर ससारिका मोहकी बातें मँहनी लगती हैं—सस्ती पड़ती हैं; इसलिये वह कुषेयकी तरफ आकर्षित होता है; परन्तु परिणाममें वह अधिक ही रोगी पड़ता है ।

बीतरमादर्शन त्रिवैषके समान है —वह रोगीको दूर करता है, निरोगीको रोग होनेके लिये दवा देता नहीं, और आरोग्यकी पुष्टि करता है । अर्थात् वह औषध सम्पार्यमसे मिथ्यात्व दूर करता है, सम्प्राज्ञानसे जीवकी रोगका भोग होनेसे बचाता है, और सम्प्रकाशिकसे सम्पूर्ण सुख चेतनरूप आरोग्यकी पुष्टि करता है ।

७६७ बसे (पुनरुत्त) प्रथम आश्विन सुनी ६ बुध १९५४

१ श्रीमत् बीतरमा भगवत्पिता निधित किया हुआ अभिनव चिन्तामयिस्वरूप, परम हित-

काटी, परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय नाशक तथा करुणामय, परम अद्भुतस्वरूप ऐसा सर्व-
तुल्य शाश्वत धर्म जयवन्त क्यों, विद्याल जयवन्त क्यों ।

२ उक्त श्रीमद् अनन्त अनुग्रहस्थित मगधवन्तका और उस जयवन्त धर्मका आश्रय स्वीकृत करना चाहिये । जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अनन्त और अशक्त मनुष्योंमें भी उस आश्रयके बलसे परम सुखके हेतु अद्भुत फलको पाया है, पाते हैं और पायेंगे । इसलिये उक्त निश्चय और आश्रय अक्षय ही करना चाहिये, व्यर्थजसे खेद नहीं करना चाहिये ।

३ विद्यार्थी देह आदि मयका विशेष भी करना उचित नहीं । जो पुरुष देहादि सर्वको हर्ष-विपादा नहीं करते, वे पुरुष पूर्ण आनन्दमयको स्वीकार्य समझे हैं—ऐसा समझो । यही हृदि कर्तव्य है ।

४ 'मैंने ब्रह्म पाया नहीं, मैं धर्म कैसे पाऊँगा ?' इत्यादि खेद न करते हुए, बीजगण-पुरुषोंका धर्म देहादिसर्वको हर्ष-विपादा हृदिके दूरकर 'आत्मा असृगं हृदं वैतन्मत्सकम् है' ऐसी जो हृदि है उक्त निश्चय और आश्रय ग्रहण कर, उसी हृदिके बल रचना; और जहाँ मर हृदि होती हो वहाँ बीजगणपुरुषोंकी दक्षात्ता स्मरण करना, और उस अद्भुत चरित्रपर हृदि प्रेरित कर हृदिके अग्रगत करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा सम्प्राप्त्यस्वरूप है । निर्विकल्प

७६८

श्रीमत्सो आत्मोक्त सुदी ७ १९५४

७७—१२—५४

१२—११—२२

इस तरह काळ व्यतीत होने देना योग्य नहीं । प्रत्येक समय आत्मोपयोगको उपकारी कर निवृत्ति होने देना उचित है ।

अहो इस देहकी रचना ! अहो चेतन ! अहो उसकी सामर्थ्य ! अहो ज्ञानी ! अहो उसकी गतिरणा ! अहो उमका ज्ञान ! अहो उमकी समाधि ! अहो उमका स्वप्न ! अहो उमका अग्रगत मात ! अहो उमकी परम जागृति ! अहो उमका बीजगणस्वभाव ! अहो उमका निराश्रय ज्ञान ! अहो उमके योगकी शक्ति ! अहो ब्रह्म आदि योगका उदय !

हे आश्रय ! यह सब तुझे सुप्रतीत हो गया फिर अग्रगतमात्र क्यों ! यद प्रकृत क्यों ! अग्रगत-मर जागृति क्यों ! शिथिलता क्यों ! ध्वस्तता क्यों ! अतृप्तता हेतु क्या !

अग्रगत हो, अग्रगत हो ।

परम आश्रय स्वभावको मर परम आश्रय स्वभावको मर ।

७६९

तीव्र वैराग्य, परम ज्ञानव, बाह्याभ्यन्तर त्याग
आहारका जय
आसनका जय
निद्राका जय
योगका जय
आर्धमपरिच्छिन्नचित्ति, ब्रह्मचर्यके प्रति निवास
एकतत्त्वात्
अर्द्धमयोग

सर्वकृष्यात्
आत्मप्राप्ता
आत्मोपयोग
मूल आत्मोपयोग
अग्रमत्त उपयोग
केवल उपयोग
केवल आत्मा
अचिन्त्य सिद्धस्वरूप

*७७०

त्रिनैतन्त्रप्रतिमा
सर्वांगसंयम
एकतत्त्वसंयम
एकतत्त्वसंयम
केवल बाह्यमात्रनिरपेक्षता

आत्मतत्त्वविचार,
अज्ञाततत्त्वविचार
मिन्दर्शनतत्त्वविचार
अन्तर्दर्शनतत्त्वविचार

समाधान

धर्मसुगमता
कोकानुग्रह

पद्धति

पद्यास्थित सुद्ध सनातन
सर्वोत्कृष्ट नयकत
धर्मका उद्घ

वृत्ति

* इत बोझाका उद्घेष्ट यह मात्तम होता है कि एकतत्त्वसंयम " एकतत्त्वसंयम " और " केवल बाह्यमात्रनिरपेक्षता " पूर्वक समागच्छय प्राप्त कर, उसके द्वारा त्रिनैतन्त्रप्रतिमा रूप " होकर, अज्ञान अज्ञान आत्मकत्वा पाकर, अज्ञानके जीवके कल्याणके लिये सर्वत्र मार्गके पुनरोद्धारके लिये प्रवृत्ति करना चाहिये। वही जो वृत्ति " पद्धति " और समाधान " प्राप्त जाये है, तो उनमें प्रथम वृत्ति क्या है ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि " अज्ञाततत्त्व सुद्ध सनातन सर्वोत्कृष्ट नयकत धर्मका उद्घ करना " यह वृत्ति है। उसे किस पद्धतिसे करना चाहिये ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि जिसके कोमलको धर्म-सुगमता हो और कोकानुग्रह भी हो । इसके बाद इस वृत्ति और पद्धतिका परिचय क्या होगा ? इसके " समाधान " में कहा गया है कि आत्मतत्त्वविचार, अज्ञाततत्त्वविचार, मिन्दर्शनतत्त्वविचार और अन्तर्दर्शनतत्त्वविचार " के लक्ष्यमें लक्ष्यके जीवका समाधान करना ।

अंक ७७१ पृष्ठ ७१ (नीचे) भी कहा गया है कि परानुग्रह परमात्मवृत्ति करते हुए भी प्रथम त्रिनैतन्त्रप्रतिमा हो त्रिनैतन्त्रप्रतिमा ही " —इत नाश्कले भी यह बात यादिक रख देनी है ।

वही यह स्पष्टीकरण भीम्ह रामकृष्णकी गुफाती आशुतिके लैण्डक भीम्हकुलमार्ग रवनीमार्ग मेरुकाके मोरके आचारसे लिखा गया है ।

७७१

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यवर्ष अमर्यंत वचो

आश्चर्यकारक मेद पद गये हैं ।

कथित है ।

सम्पूर्ण करनेके साधन कठिन माहूम होते हैं ।

उस प्रमाणमें ग्यान् अंतराय है ।

देश-काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं ।

बीतरमोंका मत लोक-प्रतिकूल हो गया है ।

कभीसे जो लोग उसे मानते हैं, उनके कष्टमें भी वह प्रतीत माहूम नहीं होता; अपना वे अन्यमतको ही बीतरमोंका मत समझकर प्रवृत्ति करते हैं ।

यथार्थ बीतरमोंके मत समझनेकी उनमें योग्यताकी बहुत कमी है ।

इतिहासका प्रकट राज्य विघ्नमान है ।

वेद आदि व्यवहारमें बड़ी निष्ठान्ना कर बीच मोक्षमार्गका अन्तराय कर बैठा है ।

दुःख वान्त पुरुष विरुधक वृत्तिके बहुत कामभागमें पड़ते हैं ।

किन्तु सत्य बाहर आते हुए भी उन्हें प्राणोंके घात होनेके समान दुःख माहूम होता है, ऐसा विचार देता है ।

७७२

किर तुम किसधिये उस धर्मका उद्धार करना चाहते हो ?

परम काङ्क्ष-लभासे

उस सत्यके प्रति परम शक्तिसे

७७३

परामुग्रह परमकाङ्क्षवृत्ति करते हुए भी प्रथम वैतन्यमिनप्रतिमा हो, वैतन्यमिनप्रतिमा हो क्या कैसा कष्ट है ? उसमें निर्मिकल्प हो ।

क्या कैसा क्षेत्र योग है ? सोमकल ।

क्या कैसा पराक्रम है ? अग्रमत शूरवीर वन ।

क्या उतना व्यस्तवृत्त है ? क्या कित्ते ? क्या कठे ? अन्तर्मुख उपयोग करके देख ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

७७४

हे काम ! हे मल ! हे सगठदय !

हे बधनवर्गजा ! हे मोक्ष ! हे मोक्षदया !

हे शिष्यछात्र ! तुम क्यों अतृप्त करती हो ?

परम अनुग्रह कर अब अनुकूल हो ! अनुकूल हो !

७७५

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुमूल सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो !

इस अनदि अर्न्त ससारमें जनसानत जीव सेरे आश्रय बिना जनतानत दुःसका अनुभव करते हैं ।

तेरे परम अनुग्रहसे निजस्वरूपमें रुचि होकर, परम बीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, हठहृत्य होनेका मार्ग प्रदूषण हुआ ।

हे जिनबीतराग ! तुम्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ । तुमने इस पामरके प्रति जनतानत उपकार किया है ।

हे कुदकुद आदि आचार्यों ! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ ।

हे श्रीसोमना ! तेरे स्रष्टाभावके अनुग्रहसे आत्मदशात्म स्मरण हुआ, इसलिये मैं तुझे नमस्कार करता हूँ ।

७७६

जित तरह भगवान् जिनने पदार्थोंका स्वरूप निरूपण किया है, उसी तरह सब पदार्थोंका स्वरूप है । भगवान् जिनके उपदेश किये हुए आत्माके समाधिमार्गको श्रीगुरुके अनुग्रहसे जानकर, उसकी परम प्रफुल्लसे उपासना करो ।

७७७

श्रीवसो, आसोम १९५४

(१)

ॐ

दण्डांगसूत्रमें नीचे बताया हुआ सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, उसका विचार करो ।
* एगो समणे भगवं महावीरे इमीसर्णं (इमीए) ओसणीणीए चउच्चनीसाए तिस्यपराणं चरिम
तिस्यपरे सिद्धे मुद्धे मुधै परिनिब्बुटे (जाव) सध्वदुस्सपणीणे ।

(२)

काह करण ! इस अवसरिणी कास्में श्रीवीस तीर्थकर हुए । उपर्ये अन्तिम तीर्थकर भ्रमण भगवान् महावीर दीक्षित भी अकेले हुए । उन्होंने सिद्धि भी अकेले ही पाई । परन्तु उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया ।

ॐ अथ भगवान् महावीर एक हैं । वे इस अवसरिणी कास्में श्रीवीस तीर्थकरोंमें अन्तिम तीर्थकर हैं ; वे सिद्ध हैं मुक्त हैं मुक्त हैं परिनिर्वात हैं और उनके सर्व गुण परिपूर्ण हो गये हैं ।—अनुसारक

उपायसहित समस्त फलको, मोक्षप्राप्त जीवको, तथा जीव अजीव आदि सब तत्वोंको स्वीकार किया है। मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है; तथा बंध बंधके कारण आत्मत्व, पुण्य-पाप कर्म, और बंधनेवाली म्रिय अविनाशी आत्माकी; मोक्षकी, मोक्षके मार्गकी, संवरकी, निर्गतकी और बंधके कारणोंके दूर करनेका उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा जाना और अनुभव किया है, वह नेता हो सकता है। अर्थात् 'मोक्षमार्गका नेता' कहकर उसे परिभाषा ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी बीतप्राणको स्वीकार किया है। इस तरह 'मोक्षमार्गके नेता' का विशेषणसे जीव अजीव आदि सब तत्व, छद्म, अहमाका अस्तित्व आदि सब पर, और मुक्त आत्माको स्वीकार किया गया है।

मोक्षमार्गके उपदेश करनेका—उस मार्गमें से जानेका—कार्य देहवादी साकार मुक्त पुरुष ही कर सकता है, देहहित निष्कार जीव नहीं कर सकता। यह कहकर यह सूचित किया है कि आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकती है—मुक्त हो सकती है। तथा इससे यह सूचित किया है कि ऐसे देहवादी मुक्त पुरुष ही बोध कर सकते हैं इससे देहहित अपीकृत्य बोधका निवेद्य किया गया है।

'कर्मकामी परितके भेदन करनेवाला' कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप परितके भेदन करनेसे मोक्ष होती है; अर्थात् जीवने कर्मकामी परितको स्वीकार्य द्वारा देहवादीरूपसे भेदन किया और उससे यह जीवमुक्त होकर मोक्षमार्गका नेता—मोक्षमार्गका बतावेवाला हुआ। इससे यह सूचित किया है कि बार बार देह धारण करनेका जन्म-मरणरूप संसारका कारण जो कर्म है, उसके समूह भेदन करनेसे—माया करनेसे—जीवको फिर देहका धारण करना नहीं रहता। इससे यह बताया है कि मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेती।

विद्यतत्त्वका ज्ञाता—समस्त द्रव्यपर्यायद्रव्यको ज्ञाताकोका—विद्यका—जाननेवाला—कहकर, मुक्त आत्मका अक्षर स्वरूप बताया गया है। इससे यह सूचित किया है कि मुक्त आत्म स्वयं ज्ञानरूप ही है।

जो इन गुणोंसे सहित है, उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं कर्म करता हूँ।—यह कह कर यह सूचित किया है कि परम आत्म मोक्षमार्गके लिये विद्यास करने योग्य बंधन करने योग्य, भक्ति करने योग्य तथा जिसकी आकाशपूर्ण चक्रेसे नि सहाय मोक्ष प्राप्त होती है—उनको प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्ति होती है—वे गुण प्रगट होते हैं—ऐसा जो कोई भी हा मैं उसे बंधन करता हूँ। इससे यह सूचित किया है कि उक्त गुणोंसे सहित मुक्त परम आत्म करनेके योग्य हैं—उनका बताया हुआ वह मोक्षमार्ग है और उनकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; तथा उनकी आकाशपूर्ण चक्रेसे भक्तिमानकी उनको जो गुण प्रगट हुए हैं वे गुण प्रगट होते हैं।

१ बीतप्राणके मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

७८० जनकोत्र उत्तरकाश्या, प्र आसोव नदी ९ एमि १९५७

ॐ नमः

भारी मिणहिःसावन्ना, बिची साहूण देसिया।

मोक्ससाहूणदेसस, साहूणदेसस धारणा ॥

—भगवान् विनने मुनियोंको आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारप्रवृत्ति) का उपदेश किया है । (वह भी किसलिये ?) केवल मौखसाधनके लिये—मुनिको जो देहकी आवश्यकता है उसके धारण करनेके लिये, (दूसरे अन्य किसी भी हेतुस उसका उपदेश नहीं किया) ।

आहो गिरं तपो कर्म, सञ्चमिणहिं मणिमयं ।

आम सञ्जासमा विची, एगमर्ष च धोषणं ॥

—सर्व विन भगवन्तेनि आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारयुक्त) उपकर्मको नित्य ही करनेके लिये उपदेश किया है । (वह इस तरह कि) संयमके रक्षणके लिये सम्पत्कृतिसे एक समय आहार लेना चाहिये ।

—दशवैकाशिकसूत्र

तथा रूप असंग निर्मयपदके अन्धासक्तो सतत बढाते रहना । प्रसन्नम्याकरण दशवैकाशिक और आहमाजुशासनको हाथमें सम्पूर्ण लब्ध रखकर विचार करना । एक शास्त्रको सम्पूर्ण बौध लेनेपर रूप विचारना ।

७८१

बन्धेन, दि आसोब सुनी १, १९५४

३ नमः

सर्व विकल्पोंका, तर्कका त्याग करके

मनका	{	जप करके
वचनका		
कायका		
इन्द्रियका		
आहारका		
निद्राका		

निर्विकल्पकपदे अंतर्मुक्तवृत्ति करके आहमभ्यास करना चाहिये ।

मात्र निराकाय अनुभवस्वरूपमें लीनता होने देनी चाहिये । इसी कोई चिंतना न करनी चाहिये ।

जो जो तर्क आदि उठें, उन्हें धीरे धीरे प्रयत्नक न करते हुए शान्त कर देना चाहिये ।

७८२

आम्यतर मान अवधूत,

विनेहीबत,

विनकम्पीबत,

सर्व परमाण और विभावसे व्यावृत्त,

निबलमात्रके मानसहित, अवधूतबत, विदेहबत, विनकम्पीबत विचरत हुए पुरुष भगवान् के स्वरूपका ध्यान करते हैं ।

७७८

१ जो सर्व वासनाका धृष्ट करे वह सत्यासी । जो इन्द्रियोंको बशमें रखे वह गौंसार्थ । जा संसारसे पार हो वह यति (जति) ।

२ समकितों को बाढ मर्दोंमेंसे एक भी मर नहीं होता ।

१ (१) अभिनय (२) बर्हकार (३) वर्धदण्डता—अपनेको ज्ञान न होनेपर भी अपनेको ज्ञानी मान बैठना, और (४) रसलुब्धता—इन चारमेंसे जिसे एक भी होन हो, उस जीवको समकित नहीं होता, ऐसा बीठान्द्रगसूत्रमें कहा है ।

४ मुनिको यदि व्याख्यात करना पड़ता हो, तो ऐसा भाव रखकर व्याख्यान करना चाहिये कि वह स्वयं सम्हाप (स्वाध्याप) करता है । मुनिको सुबेरे सम्हापकी बाधा है, वह मन्त्रों की जाती है । उसके बरके व्याख्यातक सम्हापको, ऊँचे स्तरसे मान, पूजा, सत्कार, बाहार आदिकी अपेक्षा बिना, केवल निष्काममुक्तिसे व्याख्यानकी जिन्हे ही करनी चाहिये ।

५ क्रोध आदि कषायका जब उदय हो, तब उसके सामने होकर उसे अतना चाहिये कि उसे मुझे अनादिकावत् हैतन किया है । अब मैं इस तरह तेरा बक न बोलने हूँगा । देख, मैं अब तेरेसे कुछ करने बैठा हूँ ।

६ मित्रा आदि प्रकृति और क्रोध आदि अनादि बैरीके प्रति क्षत्रियमात्से रहना चाहिये, उनका अपमान करना चाहिये । यदि वे फिर भी न मर्नें, तो उन्हें क्रूर होकर उपश्रय करना चाहिये । यदि फिर भी वे न मर्नें, तो उन्हें कपालमें (उपयोगमें) रखकर, समय जानेपर उन्हें मर बाधना चाहिये । इस तरह शूर क्षत्रियस्वमात्से रहना चाहिये जिससे बैरीका परमव होकर समाधि सुख प्राप्त हो ।

७ प्रमुक्तों पूर्वामें पुण्य बढ़ाये जाते हैं । उसमें जिस गृहस्थको इरियालीका निधम मही है वह अपने कारणसे उनका उपयोग कम करके प्रमुक्तों कुछ बढ़ा सकता है । तपस्वी मुनिको तो पुण्य बढ़ाने अथवा उसके उपदेशका सर्वाया निषेध ही है । ऐसा पूर्वोक्तोंका प्रवचन है ।

८ कोई सामान्य मुमुक्षु मार्ग-बहिन साधनके विषयमें पूछे तो उसे ये साधन बताने चाहिये —

(१) सप्त व्यसनका त्याग

(६) सर्वहरेष और 'परमुक्त'को

(२) इरियालीका त्याग

पौंच पौंच माध्यमोंकी जाप

(३) करगृहका त्याग

(७) अमक्तिरहस्य दोहाका पठन-मनन

(४) अभक्ष्यका त्याग

(८) अक्षमापनाका पाठ

(५) रात्रिमौन्यनका त्याग

(९) ससमागम और सखासका सेवन

९ सिग्धति ' बुग्धति, मुग्धति

परिणिष्कार्यति ' और 'सम्पदुक्कालमत्तं करोति —

इन शब्दोंके रहस्यका विचार करना चाहिये । सिग्धति अर्थात् सिद्ध होते हैं । उसके बादमें बुग्धति अर्थात् बोधसहित-ज्ञानसहित-होते हैं । अज्ञानके सिद्ध होनेके बाद कोई उसकी

शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते हैं, उसका 'मुक्त्यति'से निषेध किया गया है । इस तरह सिद्ध और मुक्त होनेके बाद 'मुक्त्यति' अर्थात् वे सर्वकर्मसि रहित होते हैं, और उसके पश्चात् 'परिणिष्ठा-
मति' अर्थात् वे निर्वाण पाते हैं—कर्मरहित होनेसे वे फिरसे जन्म-ज्वतार-धारण नष्ट करते ।
'मुक्त और कारणविशेषसे ज्वतार धारण करता है'—इस मतका 'परिणिष्ठासमति' कहकर निषेध किया है । कारण कि भवक कारणभूत कर्मसे जो सर्वथा मुक्त हो गया है, वह फिरसे भव धारण नहीं करता; क्योंकि कारणके बिना कार्य नहीं होता । इस तरह निर्वाण-प्राप्त जीव 'सम्पदुक्खसामपत्तं करेति'—अर्थात् सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं—उनके दुःखका सर्वथा अन्त हो जाता है—वे सदा स्वामयिक सुख आनन्दका अनुभव करते हैं—यह कहकर 'मुक्त आत्माओंको केवल शून्यता ही है, आनन्द नहीं' इस मतका निषेध किया है ।

७७९

(१)

+ इणमेष निर्गमं पादपणं सत्तं अणुत्तरं केवळियं पविपुणं सद्दुदं भयावयं सल्लव-
चणं सिद्धिमगं वृत्तिमगं निष्ठाणमगं निष्ठाणमगं अविद्वमसंदिदं सम्पदुक्खसामपत्तं ।
एवं ठिया जीवा सिद्धंति मुक्तंति वृत्तिं परिणिष्ठासमतिं सम्पदुक्खसामपत्तं करेति । तमा-
णाए तहा गच्छामी तहा सिद्धामी तहा निसीयामी तहा सुवृत्तामी तहा सुंमामी तहा भासामी
तहा अम्भुद्धामी तहा उद्धाए उद्धाए पाणाणं भूपाणं जीवाण सत्ताणं संममणं सममायांति ।

(२)

१ अज्ञानविमिरात्मनानां ज्ञानांमनससाकृपा ।

नैमग्न्यमीक्षितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥

—जो अज्ञानरूपी तिमिर (अवकाश) से अंध हैं, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अंजनकी सज्जिते खोला, उन श्रीसुश्रुतको नमस्कार हो ।

२ मोक्षमार्गस्य नेतारं मेचारं कर्णयुमुताय् ।

ज्ञातार विभ्रतत्त्वानां यद्वि तदुगमसम्भवे ॥

—मोक्षमार्गके नेता (मोक्षमार्गमें से जानेवाले), कर्मरूपी पर्वतके मेचा (मेरुदेगड्डे) और समग्र तथोक्त ज्ञाता (जाननेवाले) को, मैं उक्त गुणोंकी प्राप्तिसे किये नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ 'मोक्षमार्गके नेता' कहकर, आत्माके अस्तित्वसे लगाकर उसने मोक्ष वार मोक्षके

+ वह निमग्नप्रवचन लक्ष है अनुत्तर है, केवल-मयित है, पूर्ण है अर्थात् शुद्ध है स्वकर्तृत्व है धारकी कर्मदेमें केवलके लक्ष्य है, सिद्धिमा मार्ग है सुखिका मार्ग है, आत्मागमनरहित होनेका मार्ग है निर्वाणका मार्ग है लक्ष है अस्तित्व है और सर्व दुःखोंके अन्त करनेका मार्ग है । इस मार्गमें स्थित जीव सिद्धि पाते हैं और अपने हैं लक्ष कर्मसे मुक्त होते हैं निर्वाण पाते हैं और सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं । जानकी आकाशार्क इस की उन्नी लक्ष बन्दे हैं उन्नी लक्ष लक्ष होने हैं उन्नी लक्ष बन्दे हैं उन्नी लक्ष लक्षे हैं उन्नी लक्ष मोक्षन करते हैं उन्नी लक्ष मोक्षते हैं उन्नी लक्ष लक्षवर्तते प्राप्ति करते हैं, और उन्नी लक्ष उठते हैं; तथा उन्नी लक्ष उठते हुए विप्लवे प्राय-भूत-जीव-लक्षकी दिशा न हो ऐसे संभवका आचरण करते हैं ।—अनुवाचक

उपायसहित समस्त पदोंको, मोक्षप्राप्त जीवको, तथा जीव अजीव आदि सब तत्वोंको स्वीकार किया है। मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है, तथा जब जबके कारण आत्मन पुण्य-पाप कर्म, और बंधनेवाली नित्य अनिमाद्री आहमाद्री, मोक्षकी मोक्षके मार्गकी सुबरखी निर्वाहकी और जबके कारणोंसे दूर करनेक्रम उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा जाना और अनुभव किया है, यह नेता हो सकता है। अर्थात् 'मोक्षमार्गका नेता' कहकर उसे परिपक्व ऐसे सर्वज्ञ सर्वशक्ति बीतप्राणको स्वीकार किया है। इस तरह 'मोक्षमार्गके नेता' इस विरोधपणसे जीव अजीव आदि नव तत्व सब द्रव्य, आत्म्याका अस्तित्व आदि सब पद, और कुछ आत्माको स्वीकार किया गया है।

मोक्षमार्गके उपदेश करनेका—उस मार्गमें के जानेका—कार्य देहधारी साक्षर मुक्त पुरुष ही कर सकता है, वह उचित नियुक्तार जीव नहीं कर सकता। यह कहकर यह सूचित किया है कि आत्म स्वयं परमात्मा हो सकती है—मुक्त हो सकती है। तथा इससे यह सूचित किया है कि ऐसे देहधारी मुक्त पुरुष ही बोध कर सकते हैं, इससे देहधरित अपीकयेय बोधका निषेध किया गया है।

'कर्मकपी पर्वतके मेहन करनेवाला' कहकर यह सूचित किया है कि कर्मकूप पर्वतके मेहन करनेसे मोक्ष होती है; अर्थात् जीवने कर्मकपी पर्वतोंका स्वर्ण्य द्वारा देहधारीरूपसे मेहन किया, और उससे वह जीवमुक्त होकर मोक्षमार्गका नेता—मोक्षमार्गका बतायेवाला हुआ। इससे यह सूचित किया है कि बार बार देह धारण करनेका जन्म-मरणक्रम ससारका कारण जो कर्म है, उसके समूह मंदन करनेसे—नाश करनेसे—जीवको फिर देहका धारण करना नहीं रहता। इससे यह बताया है कि मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेती।

विश्वतत्त्वका ज्ञाता—समस्त द्रव्यपर्यायात्मक कोकाबोका—विद्यका—जन्मनेवाला—कहकर, मुक्त आत्म्याका अलग त्वपर इत्यकथना बताया है। इससे यह सूचित किया है कि मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है।

जा इन गुणोंसे सहित है, उसे उन गुणोंकी प्राप्ति के योग्य करता हूँ—यह कह कर यह सूचित किया है कि परम आत्म मोक्षमार्गके योग्य विचार करने योग्य बंदन करने योग्य, भक्ति करन योग्य तथा जिसकी आत्मापूर्णक चक्रेसे निःसंशय मोक्ष प्राप्त होती है—उसको प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्ति होती है—वे गुण प्रगट होते हैं—ऐसा जो कोई भी हो, मैं उसे बंदन करता हूँ। इससे यह सूचित किया है कि उक्त गुणोंसे सहित मुक्त परम आत्म बंदनके योग्य हैं—उसका बताया हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उसकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; तथा उसकी आत्मापूर्णक चक्रेसे भक्तिमानको उसको जो गुण प्रगट हुए हैं वे गुण प्रगट होते हैं।

१. बीतप्राणक मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

७८० नमोऽस्तु तत्त्वज्ञान, प्र आसोऽवनी ९ एम १९५४

ॐ नमः

महो निर्मलप्रसादगंगा, विष्णु साहूण देसिया।

मोक्षमार्गसाहचर्यद्वारा देवसुधारणा ॥

—मगवान् विनये मुनियोंको आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण) का उपदेश किया है ।
(वह भी किस्तकिये !) केवल मोक्षसाधनके लिये—मुनिको जो देखकर आश्चर्यकता है उसके पारण करनेके लिये, (दूसरे अन्य किसी भी हेतुसे उसका उपदेश नहीं किया) ।

अहो गिबं सनो कर्म्यं, सम्भविगर्हिं वणिज्यं ।

जाय सज्जासमा विची, एगमसं च भोयर्णं ॥

—सर्व दिन मगवतेनि आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारमूल) तपकर्मको नित्य ही करनेके लिये उपदेश किया है । (वइ इस तरह कि) समयके रखणके लिये सम्पत्कृतिके एक समय आहार लेना चाहिये ।

—दशवैकादिकसूत्र

तथात्म्य असग निर्मपदके अम्पासको सतत बढ़ाते रहना । प्रत्यन्याकरण दशवैकादिक और आत्मतुष्टात्मनको हावमें सम्पूर्ण रख रखकर विचार करना । एक शास्त्रको सम्पूर्ण बौध लेनेपर इसका विचारना ।

७८१

बन्धेन, दि आसोज सुदी १, १९५४

ॐ नमः

सर्व विकल्पोक्त, तर्कत्र त्याग करके

मनका	{	अप करके
बचनका		
कायाका		
इन्द्रियका		
आहारका		
मित्राका		

निर्विकल्परूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मव्याप्त करना चाहिये ।

मात्र निराशाच अनुभवस्वरूपमें खलता होने देनी चाहिये । दूसरी कोई चिंतना न करनी चाहिये ।

जो जो तर्क आदि ठठे, उन्हें दीर्घ काष्ठवत् न करते हुए शान्त कर देना चाहिये ।

७८२

आम्यंतर मान अवबृत्त,

विदेहीवत्,

विनकम्पीवत्,

सर्व परमात्र और विमात्रसे व्यावृत्त,

निवस्वभावके मानसहित, अरपूनवत्, विदेहीवत्, विनकम्पीवत् विचारने हुए पुरुष मगवान् के स्वरूपका व्याप्त करते हैं ।

चार घातियोंका धर्म अहमाके गुणका घात करना है, अर्थात् उनका धर्म उस गुणको धारण करनेका, उस गुणके बल-वीर्यको रोकनेका, अथवा उसे विकल कर देनेका है; और इसलिये उस प्रकृतिको घातिसत्ता दी है।

जो अहमाके गुण ज्ञान और दर्शनको आवरण करे, उसे अनुक्रमसे ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय नाम दिया है।

अंतराय प्रकृति इस गुणका आवरण नहीं करती, परन्तु वह उसके भोग उपभोग आदिको—उसके वीर्य-बलको—रोकती है। इस जगह अहमा भोग आदि को समझती है, जानती-देखती है, इसलिये उस आवरण नहीं रहता। परन्तु उसके समझते हुए भी, वह प्रकृति भाग आदि में निमग्न—अंतराय—करती है, इसलिये उस आवरण में बहकर अंतराय प्रकृति कहा है।

इस तरह आत्मभाविकी तीन प्रकृतियाँ हुईं। घातिकी चौथी प्रकृति माहनीय है। यह प्रकृति आवरण नहीं करती, परन्तु अहमाको मूर्च्छित कर—मोहित कर—उसे विकल कर देती है; ज्ञान-दर्शन होनेपर भी—अंतराय में होनेपर भी—अहमाको वह कभी भी विकल कर देती है, वह उसका पहा बैठा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिये इसे मोहनीय कहा है।

इस तरह ये चारों सर्वघातिकी प्रकृतियाँ कही।

इसरी चार प्रकृतियों, यद्यपि अहमाके प्रदोषोंके साथ सक्त हैं, वे अपना काम किया करती हैं, और उदयानुसार वेदम की जाती हैं, तथापि वे उस अहमाके गुणको आवरण करनेरूप, अथवा अंतराय करनेरूप, अथवा उसे विकल करनेरूप घातक नहीं, इसलिये उन्हें अघातिकी ही प्रकृति कहा है।

७९३

मोरबी, फरगुन सुनी १ रवि १९५५

ॐ नमः

(१) नाकेरूप निहायता—इस कारणका अर्थ बीतराममुद्राका सूचक है। गप्पाबडोक्ल दृष्टिसे स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वप्नावस्थाकल दृष्टिमें भी सुगमता होती है। दर्शनमोहका अनुभवा घटनेसे स्वप्नावस्थाकल दृष्टि होती है। महत्सुखोंका निरन्तर अथवा विशेष समागम, बीतरामभुतचितवन, और गुण-विज्ञाता, ये दर्शनमाहके अनुभवा घटनेके मुख्य हेतु हैं। उससे स्वप्नदृष्टि सदायमें ही होती है।

(२) और यदि सिधिलता घटनेका उपाय करे तो वह सुगम है। बीतरामभुतिका अन्वासा रज्जा।

७९४

बराणीया, फरगुन परी १० बुध १९५५

आत्मार्थोंको बाध कर फलीभूत हो सकना है, इस भावको स्थिर विषये विचारना चाहिये, वह मुख्यरूप है।

अनुक असद्वृत्तियोंका प्रथम अन्वय ही निरोध करना चाहिये। इस निरोधके हेतुका रङ्गमसे अनुसरण करना चाहिये; उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं। ॐ

७८८ ईस्व, मासिर कदी १५ गुठवारकी सरेरे १९५५

ॐ नमः

वनस्पतिसुबनी त्यागमें, अमुक इस्से पौष वनस्पतियोंकी हाज्में छूट रखकर, बाकीकी हरी वनस्पतियोंसे किरण होनेसे आकाश अधिकतम नहीं ।

सरेर, सद्गुरु, सखाका मक्ति अग्रमत्तकसे उपपत्तीय है । श्री ॐ

७८९

में प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप है इस्में सहाय ही क्या ?

उस अनुभवमें जो विशेषविषयक न्यूनाधिकता होती है, यह यदि दूर हो जाय तो केवल अर्धव्यापार स्वात्मन स्थिति रहे ।

अग्रमत्त उपयोगमें बैसा हो सकता है ।

अग्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत हैं । उस तरह वर्तन किया जाता है, यह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है ।

वैसी अविच्छिन्न बात रहे, तो अन्ततः अन्त ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समवस्थित रहे ।

७९०

ईस्व पौष सुदी १५ गुठ १९५५

ॐ

(१) कसोमें प्रमाण किये हुए नियमानुसार को हरियालीमें विरतिमात्रसे आचरण करना चाहिये । दो क्षेत्रोंके पत्र करनेके नियमको शारीरिक उपजबविशेषके बिना हमेशा निबाहना चाहिये । गेहूँ और धानके शारीरिक हेतुसे प्रमाण करनेमें आकाश अधिकतम नहीं ।

(२) यदि कुछ दोष कम गया हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री --- मुनि आदिके समीप केना योग्य है ।

(३) मुमुक्षुओंको उन मुनियोंके समीप नियमादिका प्रमाण करना चाहिये ।

७९१

प्रकृतिके कर्मोंके प्रति निरति ।

समा और स्नेह-पात्रको तोड़ना (अतिरूप कठिन होते हुए भी उसे तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है) ।

आशंका — जो अपनेपर स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर दृष्टिसे वर्तन करना, क्या यह कृतमत्त अथवा निर्मत्त नहीं है ?

समाधानः —

७९२

श्रीमती माध कदी ९ स्रोम (रात) १९५५

कमकी मूक प्रकृतियों आठ हैं । उनमें चार प्रायिकी और चार अप्रायिकी कही जाती हैं ।

चार घातियोंका धर्म आत्माके गुणका घात करना है, अर्थात् उसका धर्म उस गुणको आवरण करनेका, उस गुणके बल-वीर्यको रोकनेका, अथवा उसे विकल कर देनेका है, और इसलिये उस प्रकृतिको घातिसद्वा दी है ।

जो आत्माके गुण ज्ञान और दर्शनका आवरण करे, उसे अनुक्रमसे ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय नाम दिया है ।

अंतराय प्रकृति इस गुणका आवरण नहीं करती, परन्तु वह उसके भोग उपभोग आत्तिको—उसके वीर्य-बलको—रोकती है । इस जगह आत्मा भोग आदिको समझती है, जानती-देखती है, इसलिये उसे आवरण नहीं रहता । परन्तु उसके समझते हुए भी, वह प्रकृति भोग आदिमें विज्ञ-अंतराय—करती है, इसलिये उसे आवरण न कहकर अंतराय प्रकृति कहा है ।

इस तरह आत्मघातिकी तीन प्रकृतियाँ हुईं । घातिकी चौथी प्रकृति मोहनीय है । यह प्रकृति आवरण नहीं करती, परन्तु आत्माको मूर्च्छित कर—मोहित कर—उसे विकल कर देती है ज्ञान-दर्शन होनेपर भी—अंतराय न होनेपर भी—आत्माको वह कमी भी विकल कर देती है, वह उन्माद पहा बैठा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिये इसे मोहनीय कहा है ।

इस तरह ये चारों सर्वघातिकी प्रकृतियाँ कहीं ।

इसरी चार प्रकृतियाँ, यद्यपि आत्माके प्रपञ्चोंके साथ सक्त हैं, वे अपना काम किया करती हैं, और उदयानुसार वेदन की जाती हैं, तथापि वे उस आत्माके गुणको आवरण करनेरूप, अथवा अंतराय करनेरूप, अथवा उसे विकल करनेरूप घातक नहीं, इसलिये उन्हें अनातिकी ही प्रकृति कहा है ।

७९३

मोरबी, फाल्गुन सुदी १ रवि १९५५

ॐ नमः

(१) नाकेरूप निहायता—इस चरणका अर्थ बीतरागमुक्तका सूचक है । स्वप्नलोकन दृष्टिसे स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वप्नलोकन दृष्टिमें भी सुगमता होती है । दर्शनमोहका अनुमाग घटनेसे स्वप्नलोकन दृष्टि होती है । महत्पुरुषोंका निरन्तर अथवा विशेष समागम, बीतरागमुक्तचित्तक और गुण-विहायता, ये दर्शनमाहके अनुमाग घटनेके मुख्य हेतु हैं । उससे स्वप्नदृष्टि सहजमें ही होती है ।

(२) जीव यदि शिक्षिता बटानेका उपाय करे तो वह सुगम है । बीतरागदृष्टिका अभ्यास रहना ।

७९४

बणाणीमा, फाल्गुन वदी १० बुध १९५५

आत्माकी बोध कब फलीभूत हो सकता है, इस माहको स्थिर चित्तसे निवारना चाहिये, वह मुख्यकाम है ।

अनुक असदृशियोंका प्रथम अक्षय ही निरोध करना चाहिये । इस निरोधके हेतुका इदतसे अनुसरण करना चाहिये; उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं । ॐ

७९५

व्याणीभा फास्तुन बदी १५ १९५५

अब समाप्त हो चरमकरण तथा, मयपरिणति परिपाक है।

दाप ट्ये ने इष्टि सुखे मली, प्रापति मयचनबाक है ॥ १ ॥

परिचय पातिकपातक साधुर्गु, अकृषस अपचय वेत है।

ग्रंथ मध्यात्म मय्य मनन करी, परिशीलन नय हेत है ॥ २ ॥

हृत्प सुगम करी संवन संस्रव, संवन अगम अनूप है।

देवी कदाचित संवक याचना, आनंदधनरसक है ॥ ३ ॥

समर्थिम-संवन — आनन्दधन

७९६

व्याणीभा श्री सुदी १, १९५५

व्यसंतस्तीणमाहो, मगो जिणभासिद्वय समुदगदो।

पायाशुभमाचारी, मिष्ठाणपुरं वज्जदि घीरी ॥

— जिसका दशनमेह उपपात अथवा हीन हो गया है, ऐसा भीर पुरुष भीतपणोंका प्रदर्शित मार्गको अंगीकार कर, कुछ चैतन्यस्वभाव परिणामी होकर मोक्षपुरुषको जता है।

७९७

व्याणीभा श्री सुदी ५, १९५५

३^४ ब्रह्मानुयोग परम गमीर और सूक्ष्म है, निर्मल्य प्रवचनका रहस्य है, और सुहृद्व्यानका अनन्य कारण है। सुहृद्व्यानसे केवलज्ञान समुपम होता है। महामात्रसे ही उस ब्रह्मानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दशनमेहका अनुभाग घटनेसे अथवा नाश होनेसे विषयोंके प्रति उदासीनतासे, और मग्न पुरुषके चरण-कमलकी उपासनाक वलसे ब्रह्मानुयोग फल देता है।

ज्यो म्या समय वर्षमान होता है, त्यो त्यो ब्रह्मानुयोग मयार्थ फल देता है। समझी बुद्धिका कारण सम्पददर्शनकी निर्मलता है। उसका कारण भी ब्रह्मानुयोग होता है।

सामान्यमनस ब्रह्मानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है। आश्चर्यम-परिणामी, परम भीतरगा इतिवत् और परमत्रयंग ऐसे महारमा पुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

उने (जिन भाव और मनस प्राप्त हैं) वये हैं) संसारमें प्रमल करनेका अन्तिम वेद्य है। यही वह वेद्य है उने अन्तिम मार्ग और अनिष्टि नामके वरण होने हैं और उनही मन-परिनिष्ठा परिपाक हैं। जगत् है। जनी लमव दान दूर होने हैं। उद्यम ही प्रकट होती है। तथा प्रवचन-मार्गार्थ। प्रप्ति होती है ॥ १ ॥

प्रापका प्राप्त करनेवाले साधुमोक्ष परिचय करनेमें बिलके अनुशासनभावका नाश होता है। तथा देता होनेसे अज्ञानमोक्षके अवन मनने महीन विचार वरन हुए भगवान्के स्वकपके लाभ करने आश्चर्यमकली लमव प्रकटते मरणाद हीन मित्रमनकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

मेने जोग भगवत्की सेवाकी मुगम लमवकर उनका लेवन करी है। परन्तु वह सेवा हो जगम और अनुम है। इतिवत् है आनन्दधनरसक प्रभु। इन सेवाकी भी कभी वह सेवा प्रमल करना ! वही वाचना है ॥ ३ ॥

किन्ती महापुरुषके मननके लिये पञ्चाभिकायका सशिशु स्वरूप लिखा था, उसे मनन करनेके लिये इसके साथ भेजा है।

हे आर्य ! द्रव्यानुयोगका फल सर्वमानस विराम पानरूप सयम है—इस पुरुषके इस बचनका तुझमी भी अपने अंतःकरणमें शिथिल न करना। अधिक क्या ? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दुःखोंसे मुक्त होनेका उपाय यही है।

७१८

ब्रह्मणीया, चित्र ७१२ गुह्य १९५५

हे आर्य ! जैसे रेगिस्तान उतर कर पार हुए, उसी तरह भव-स्वप्नभ्रमणका तैर कर पार होना।

७१९

स्वपर उपकारके महान् कार्यको अब कर ले। दीप्रतासे कर ले।

अप्रमत्त हो—अप्रमत्त हो।

क्या आर्यपुरुषोंने कालका क्षणभरका भी भरोसा किया है ?

हे प्रमत्त ! ! अब तू जा, जा।

हे प्रमत्त ! ! अब तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।

हे व्यसहारेदय ! अब प्रवसतसे उदय आकर भी तू द्योत हो, द्योत।

हे दीर्घसूत्रता ! तू सुनिचारके, वीरजके और गभीरताके परिणामकी क्यों इच्छा करती है ?

हे बौद्धजीव ! तू अत्यंत इत्तामस्कवत् प्रवृत्ति कर, प्रवृत्ति कर।

हे बाल ! तू अब दुर्गमको भी सुगम स्वभावमें कापर रख।

हे चारित्र ! परम अनुमत्त कर, परम अनुमत्त कर।

हे योग ! तुम स्थिर होओ, स्थिर होओ।

हे ध्यान ! तू निमस्वभावका हो निमस्वभावका हो।

हे न्यप्रता ! तू दूर हो जा दूर हो जा।

हे कन्य ! अब तू अप्रमत्त होओ ! लीन होओ ! हमें तुम्हारे प्रति कोई इति नहीं रही।

हे सर्वहृद ! यथार्थ सुप्रतीतिरूपसे तू हृदयमें प्रवेश कर।

हे असुग निर्मयपद ! तू स्वाभाविक व्यवहाररूप हो।

हे परमकङ्कणमय सर्व परम हितके मूल नीतरमण्य ! प्रसन्न हो, प्रसन्न !

हे अहमन् ! तू निमस्वभावका हृदयमें ही अभिमुख हो, अभिमुख हो। ॐ

हे बचनसमिति ! हे कायस्थिरता ! हे एकाग्रता ! और असुगता ! तुम भी प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ।

सुखवती मन्त्राती हुई जो आत्म्यतर वर्णना है, या तो उसका अन्धतर ही केन कर केना चाहिये; अथवा उसे स्वच्छ पुत्र देकर उसका उपशम कर देना चाहिये।

म्यों म्यों निरुद्धता बलवान हो, त्यों त्यों ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है।

८००

मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५५

(१) विशेष हा सके तो अच्छा । इन्हियोंको सनाकरण भी प्रिय है । विद्वत्प करना ग्य नहीं ।

(२) ' जातिस्मरण ' हो सकता है । पूर्वमत्र जाना जा सकता है । अधविज्ञान है ।

(३) त्रिपि पाठना चाहिये ।

(४) जैसेको ऐसा मिळता है, जैसेको ऐसा अच्छा लगता है ।

* चाहे पक्षर ते चढ़ने, मधुकर मासती भोगी रे ।

त्रिपि मत्रि सहजगुणे होये, उत्तम निमित्तसमोगी रे ॥

(५) × परमारवर्ध हो चरमकरण तथा, मयपरिणति परिपाक रे ।

दोप टके ने दृष्टि सुखे अति भली, मापति मयचनबाक रे ॥

८०१

मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

ॐ

(१) पददर्शनसमुच्चय और तत्पर्यायसूक्त अक्षरैक्य करना । योगद्वयसमुच्चय (सम्भाव) हो मुख्य कर विचारना योग्य है । ये दृष्टियों आत्मदशा-मापक (धर्मामीटर) यत्र हैं ।

(२) शास्त्रको आज समझनेवाले मूल करते हैं । शास्त्र अर्थात् शास्त्रा पुरुषके वचन । इन वचनोंको समझनेके छिपे दृष्टि सम्पक् चाहिये । ' मैं जान हूँ, मैं मस हूँ ' ऐसा मान करनेसे, ऐसा विद्वानसे, तद्रूप नहीं हो जाते । तद्रूप होनेके लिये सदाशक्त आत्मिका सेवन करना चाहिये ।

(३) समुपग्रेयको बहुत जरूरत है । समुपग्रेयको बहुत जरूरत है ।

(४) पौषसी-हजार स्लोक कटस्थ कर केनेसे पठित नहीं बन जाते । फिर भी पोषा जल-कर बहुतकर दोग करनेवाले पठितोंका टोटा नहीं है ।

+ (५) कनुको समिगात हुआ है ।

८०२

मोरबी, चैत्र वदी ९ शुक्र १९५५

(१)

ॐ नमः

(१) आनहित धनि दुर्लभ है—ऐसा जानकर विचारबाल पुरुष उसको अग्रमत्तमापसे उपासना करते हैं ।

(२) आचार्यमूत्रके एक वाक्यके सर्वप्रथमे वर्षाप्रय आदि देने हैं । बहुत करके योगे रिशोमे किन्ही सुझकी तरफसे उसका सम्यक्प्रण प्रकट होगा । ॐ

ये वक्ता चरमाको बाह्या है अमर जालीको बाह्या है; उली तद्व मन्त्रपुत्र उत्तम शुनीक शरीरको रक्षा करते हैं ।

× मन्त्रके विषे देनी ज्ञात ७९५ ।

+ मन्त्र १९५५ में सर्वकर सुभाष वहा था ।—अनुशासक.

(२)

यदि परमसत्यको पीडा पहुँचती हो, तो वैस विशिष्ट प्रसङ्गको ऊपर देवता भोग रक्षण करते हैं, प्रगटरूपसे भी आते हैं । परन्तु बहुत ही थोड़े प्रसङ्गोंपर ।

योगी अपना वैसी विशिष्ट शक्तिवाला उस प्रसङ्गपर सहायता कर सकता है, परन्तु यह ज्ञानी तो नहीं है ।

जीवको मतिकल्पनासे ऐसा माझ्म होता है कि मुझ देवताको दर्शन होता है, मेरे पास देवता जाता है, मुझे उसका दर्शन होता है; परन्तु देवता इस तरह दिखाई नहीं देते ।

८०३

मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

(१) दूसरेके मनकी पर्याय जानी जा सकती है । परन्तु यदि अपने मनकी पर्याय जानी जा सके, तो दूसरेके मनकी पर्याय जानना सुखम है । किन्तु अपने मनकी पर्याय जानना भी मुश्किल है । यदि स्वमन समझने जा जाय तो यह बड़ा हो सकता है । उसके समझनेके लिये सन्निवार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है ।

(२) आसनजम्पसे (स्थिर आसन रख करनेसे) उत्पानहस्तिका उपशमन होता है उपयोग अपेक्षातः हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है ।

(३) सूर्यके प्रकाशमें जो बायीं बायीं सूक्ष्म रत्नके समान माझ्म होता है, वे अणु नहीं, परन्तु वे अनेक परमाणुओंके बने हुए स्वच हैं । परमाणु बहुतसे नहीं देखा जा सकता । यह बहुत इन्ट्रिप्लिकेटके प्रकट क्षयोपशमवाले जीव अपना इन्द्रियक्षमि-समन योगी अपना केकड़ीको ही दिखाई पड़ सकता है ।

८०४

मोरबी, चैत्र वदी ११, १९५५

१ मोक्षमात्रा हमने सोझ बरस पाँच मासकी अवस्थामें तीन दिनमें बनवाई थी । ६७वें पाठके ऊपर त्याही गिर आनेसे, उस पाठको फिरसे लिखना पड़ा था; और उस स्थानपर 'बहु पुण्यकेरा पुत्रयो' इस अमूल्य तात्त्विक निवारका काव्य लिखा था ।

२ उसमें जैनमार्गको पथार्थ समझनेका प्रयास किया है । उसमें त्रिमोक्षमार्गसे कुछ भी म्यूनाधिक नहीं कहा । जिससे नीतरमममार्गपर आशाहृदकी रुचि हो, उसका स्वल्प समझमें आने, उसका बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बाह्यबोधव्यय योजना की है । उस रीति तथा उस बोधका अनुसरण करनेके लिये यह एक नमूना उपस्थित किया है । इसका प्रज्ञाबोध नामका भाग भिन्न है, उसे कोई बनायेगा ।

३ इसके छपनेमें निष्कम्भ होनेसे प्राहकोंकी आशुछता दूर करनेके लिये, उसके बाह्य भाषनाबोध रचकर, उसे प्राहकोंको उपहारस्वरूप दिया था ।

१. कहुं कोण छु ? क्यापी पयो ? हुं स्वल्प से मार्ग खरु ?

कोना सबधे बखाना छे ? रामुं के न परिहरुं ?

—इत्तर जीन विचार करे, तो उसे नौ तर्कोंका—तरबानका—सपूर्ण बाध प्राप्त हो जाता है।

इसमें तरबानका सपूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शास्त्रपूर्ण निवेदने विचार करना चाहिये।

५. बहुत बड़े छेसे कुछ ज्ञानकी—विद्वानकी—तुलना नहीं होती। परन्तु सामान्यरूपसे जीवोंको इस तुलनाका विचार नहीं है।

६. प्रमाद बड़ा घमण्ड है। हो सके तो त्रिमयिखमें निपमित पूछ जाने वाला चाहिये। उसमें मोहन न करना चाहिये। जबरन हो ता गरम दूधका उपयोग करना चाहिये।

७. कल्प, साहित्य अथवा समीत आदि कथा यदि आत्माके छिये न हो, तो वे कल्पित ही हैं। कल्पित अर्थात् निरर्थक—जो सार्थक न हो—वह जीवकी कल्पनामात्र है। जो भक्ति प्रयोजन रूप अथवा आत्माके छिये न हो वह सब कल्पित ही है।

८०५

मोरबी, चैत्रवती १२, १९५५

प्रश्न —श्रीमद् आत्मदघनजीने श्रीभक्तिनाथजीके स्तवनमें कहा है—तरतम योग रे तरतम वासना रे, वासित बोध आभार। पंथही —इच्छा क्या अर्थ है ?

उत्तर —ज्यो ज्यो योगकी (मन बचन कथाकी) तरतमता अर्थात् अधिकता होती है, त्यो त्यो वासनाकी भी अधिकता होती है—यह ' तरतम योग रे तरतम वासना रे ' का अर्थ है। अर्थात् यदि कोई पुरुष बखान योगवाला हो उसके मनोबल बचनबल आदि बलवान हो, और वह किसी पक्षको चलाता हो परन्तु वैसा बखान उसका मन बचन आदि योग है उसकी वैसी ही बखान अपनेको मनवानेकी पूजा करनेकी मान सत्कार बेमर आदिकी बसना हो, तो उस वासनावालेका बोध बसित बोध हुआ—कपायपुछ बोध हुआ—वह विषय आदिकी काजसाबाका बोध हुआ—वह मानके छिये बोध हुआ—आत्मार्थके छिये वह बोध न हुआ। श्रीमानंदघनजी श्रीभक्तिप्रमुख स्तवन करते हैं कि हे प्रभो ! ऐसा आभारक्य जो वासित बोध है वह मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो कपाय-पणित आत्मार्थस्तवन और मान आदि वासनापणित बोधकी जरूरत है। ऐसे पक्षकी गवेदना में कर रहा हूँ। मन बचन आदि बखान योगवाले छुरे छुरे पुरुष बोधका प्रकल्प करते जाते हैं और प्रकल्प करते हैं परन्तु हे प्रभो ! वासनाके कारण वह बोध वासित है, और मुझे तो वासनापणित बोधकी जरूरत है। हे वासनाविषय कथाय आदि जीतनेवाले त्रिन नीतरुग अवितरेन ! ऐसा बोध तो तेरा ही है। उस तेरे पक्षकी मैं खोब रहा हूँ—दख रहा हूँ। वह आभार मुझे चाहिये।

(२) आत्मदघनजीकी चौबीसी कठम्य करने योग्य है। उसका अर्थ निवेदनपूर्वक छिछने योग्य है। सो छिछना।

मैं बीन हूँ, करौं आवा हूँ, मेरा जन्म एकदम नया है। किसी छेसे वह संभवता है, इसे रखने का सोच हूँ। इसी मोहमाका पूछ १७ पृष्ठ १७

—अनुवाक

८०६

मोरबी चन्द्र पत्नी १४, १९५५

३० श्रीहेमचन्द्राचार्यको हुए धाटसी बरस हो गये। श्रीआनन्दधनजीको दोसी बरस हो गये। श्रीहेमचन्द्राचार्यने लोकानुग्रहमें आत्मसमर्पण किया। श्रीआनन्दधनजीने आत्महित-साधन-प्रवृत्तिको मुख्य बनाया। श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रमादक बलवान क्षयोपग्रामवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहत तो एक शूना ही पथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हजार घण्टोंकी श्रावक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सवा लाखसे बड़ लाख अनुप्योंकी सम्पदा हुई। श्रीआनन्दजीके सम्प्रदायमें कुछ एक आस्र बाटनी होगी। जब एक आस्रके समूहसे सहजानन्दजीने अपना सम्प्रदाय चलाया, तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो बड़ लाख अनुपयियोंका एक जुड़ा ही सम्प्रदाय चला सकते थे।

परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण बीतरुग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। इस ता केवल उन तीर्थंकरकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थमार्गको प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने बीतरुगमार्गके परमार्थका प्रकाश करनेका लोकानुग्रह किया। ऐसा करनेकी जरूरत भी थी। बीतरुगमार्गके प्रति विमुखता और अन्धमार्गकी तरफसे विपमता ईर्ष्या आदि आरम्भ हो चुके थे। ऐसी विपमतामें लोगोंको बीतरुगमार्गकी ओर फिराने, आलोचना करने तथा उस मार्गकी रक्षण करनेकी उन्हें जरूरत भास गई। हमारा चह्ने कुछ भी हो, इस मार्गकी रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपका अर्पण कर दिया। परन्तु तब तक उन जैसे ही कर सकते हैं—जैसे मातृभक्त, माह्मन्भवान्, क्षयापग्रामवान् ही कर सकते हैं। कुछ कुछ दशनोंको यथावत् टोकर अनुक्त दर्शन सम्पूर्ण सत्यस्वरूप है जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह पर मार्गप्रकाश और आत्मसमर्पण कर सकता है।

श्रीहेमचन्द्राचार्यने बहुत किया। श्रीआनन्दधनजी उनके छहती बरस बान्में हुए। इस छहती बरसके भीतर वेसे दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी जरूरत थी। विपमता व्याप्त होती जा रही थी। काठ उभर रूप धारण करता जाता था। श्रीहृत्माचार्यने शृंगारयुक्त धर्मका प्रवर्णन किया। लोग शृंगारयुक्त धर्मकी ओर फिरे—उस ओर आकर्षित हुए। बीतरुगधर्मके प्रति विमुखता बढ़ती गई। जीव जनादिसे ही शृंगार आदि विभागमें मूर्च्छा प्राप्त कर रहा है; उसे वैराग्यके समुल्ल होना मुश्किल है। वही फिर यदि उसके पास शृंगारकी ही धर्मरूपसे रक्षा जाय तो फिर वह वैराग्यकी ओर किस तरह फिर सकता है। इस तरह बीतरुगमार्गकी विमुखता बढ़ी।

वही फिर प्रतिमा-प्रतिपक्ष सत्राय ही जनधर्ममें लड़ा हो गया। उसमें, ध्यानका कार्य और स्वल्पका कारण ऐसी भिन्न-प्रतिमाके प्रति साक्षों लग छटि-विमुख हो गये। बीतरुगशास्त्र कथित अधूरे विरचित हुए—कितने तो समूह ही खंडित किये गये। इस तरह इन छहती बरसक अवसरमें बीतरुगमार्गके रक्षक दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी जरूरत थी। आधाप तो अन्य भी बहुतसे हुए हैं परन्तु वही हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रभावशाली नहीं हुए अर्थात् वे विपमताका सामने नहीं निभ सके। विपमता बढ़ती गई। उस-समय दोसी बरस पूर्व श्रीआनन्दधनजी हुए।

श्रीआनन्दधनजीने स्वपर-हितबुद्धिसे लोकप्रसार-प्रवृत्ति आरम्भ की। उन्होंने इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महितको गौण किया; परन्तु बीतरुगधर्म-विमुखता—विपमता—इनकी अधिक बढ़ गई थी कि

अभ्यसुणोंके प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। यदि इस प्रथम नियमके ऊपर ध्यान रक्खा जाय, और उस नियमको अक्षर्य सिद्ध किया जाय तो कयाय आपि स्वमात्रसे संयोज्य हो जाती है, अथवा ज्ञानीका मग्न आत्म-परिणामी होता है। उसके ऊपर ध्यान देना योग्य है।

८११

ईश्वर, वैशाख कृती ३ मंगल १९५५

ॐ

उस क्षेत्रमें यदि निवृत्तिकर विशेष योग हो, तो कार्तिकेयाशुप्रेक्षाका बारम्बार निदिध्यासन करना चाहिये—ऐसा मुनिश्रीको नियतपूर्वक कहना योग्य है।

जिन्होंने वाक्याम्यतर असंगता प्राप्त की है, ऐसे महात्माओंको संसारका जल समीप है—ऐसा निम्नदेह ज्ञानीका निश्चय है।

८१२

सर्व कारित्र वशीकृत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, आत्मामें अखंडवृत्ति रहनेके लिये मोक्षसंक्षेपी सब प्रकारके साधनोंका जप करनेके लिये, 'महाचर्य' अद्वैत अनुपम सहकारी है, अथवा मूकभूत है।

८१३

ईश्वर, वैशाख कृती १० छानि १९५५

ॐ क्षिप्तमस्तबौद्धत क्रियाकोपमामक पुस्तक मिली होगी। उसका आदिसे अगाकर अंततक अभ्यस्य करनेके पश्चात् सुगम मायामें एक तद्विषयक निश्चय स्थितिसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी और वही क्रियाका आचरण भी सुगम है—यह स्पष्टता होगी, ऐसा संभव है।

रात्रनगरमें परम तत्त्वप्रदिका प्रसंगोपात् उपदेश हुआ था; उसे अप्रमत्तचित्तसे बारम्बार पकड़-योगमें स्मरण करना उचित है।

८१४

ॐ नमः

सर्वज्ञ बीतरागदेव

सर्व इष्ट क्षेत्र काय भारत सर्व प्रकारसे जामनेवाला और राग द्वेष आदि सर्व विषय विसर्जित हो गय है वह ईश्वर है।

वह पर अनुपपन्नमे प्राप्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण बीतराग हो वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।

सम्पूर्ण बीतराग हुआ जा सकता है, वेमे हेतु सुप्रणीत होने हैं।

८१५

अविचार अथ १९५५

मम मम औपप मही, जैसी पाप पसाप।

बीतरागवार्ता बिना अवर न कोई उपाय ॥

८१६

बम्बई, अक्टू १०५५

ॐ अहो सत्पुरुषके बचनानुसृत, मुद्रा आर सप्तमागम !

सुषुप्त चेतनका जाग्रत करनेवाले पतित होती हुई वृत्तिको स्थिर रखनेवाले; दर्शनमात्रसे भी निर्गुण अपूर्ण स्वभावके प्रेरक स्वरूप प्रतीति, व्यक्तित्व सयम और पूर्ण नीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणमूल; और अन्तमें अयोगी स्वभाव प्रगट कर, अनंत अध्याबाध स्वरूपमें धिति करानेवाले ! त्रिकाल जयवंत बनें ! ॐ शान्ति शान्ति

८१७

बम्बई, अक्टू सुदी ११ मौस १०५५

(१) यदि मुनि अध्ययन करते हों तो योगाग्नौय ग्रहण करना । कार्तिकेयानुमेक्षाका योग उन्हें बहुत करके मिलेगा ।

* (२) जेना काज ते किंकर यह रखा, युगलप्यामल साक ॥ नीम्यु पन्थ तहनु ।
दासी आशा पिशाची यह रही, कायकोष ते कंडी लाक ॥ नीम्यु० ।
दीले स्वाता पीता बोलता, नित्य छे निर्मन निराकार ॥ नीम्यु० ।
जाणे सत सलाणा तहन, जेन हीय छेई अवतार ॥ नीम्यु० ।
जगपावनकर ते अवतर्पा, अन्य मातवदरना भार ॥ नीम्यु० ।
तेन चौद लाकमां विचरता, अंतराय काय नव थाय ॥ नीम्यु० ।
रिचिसिचिमी दासिया यह रही, ब्रह्मानन्द हू न समाय ॥ नीम्यु० ।

८१८

बम्बई अक्टू बनी २ तबि १९५५

ॐ त्रिम त्रियकी चर्चा बचती है वह ज्ञान है । उसके सुषुप्तमें यदावमुत्प्रेय ।

८१९

बम्बई अक्टू बनी ७ सुक्र १०५५

व्यवहार-प्रतिबन्धसे विशेष न पाकर, धैर्य रखकर उत्साहमान नीरसि स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करना योग्य है ।

८२०

माहमयी आगत सुदी ८ तबि १०५५

१ इससे सारक दूसरा कियाकोय नहीं । विशेष व्यक्तिकन करनस स्थाय्य होगा ।

* त्रिपदा काय किंकर हो गया है और त्रिमे लोक मुयवृत्तके उनके मयन मात्र है उनका जीना क्या है ॥ त्रिपदी आचारणी शिवाचिनी वाली है और काय कोष त्रिपद बनी काय है उनका जीना क्या है ॥ या बचि आता पीता और बोलता हुआ दिव्य देता है पन्थ जो त्रिम निर्मन और त्रियकार है उनका जीना क्या है ॥ उन सलोना सन जानो और उनका वह अन्तिम अव है उनका जीना क्या है ॥ उन अग्रपदा पवित्र करनेके त्रिमे अग्रपदा त्रिम है बाकी तो लव मातके उदरक मारभूत ही है उनका जीना क्या है ॥ उसे चोदने के त्रिमे विचार करने हुए त्रिपदी भी अंतवच मही होता उनका जीना क्या है ॥ उनकी यदि त्रिमे लव पवित्री हो गई है, और उनके हृदयमें ब्रह्मानन्द नहीं समाया, उनका जीना क्या है ।

योग धर्मको अथवा आनन्दधनजीको पहिचान न सके—समझ न सके। अन्तमें श्रीआनन्दधनजीको क्या कि प्रकटरूपसे व्याप्त विषयताके योगमें छोकोपकार, परमार्थप्रकाश करधमें असरकारक नहीं होता, और अहमज्ञि गौरा होकर उसमें बाधा आती है; इसलिये अहमज्ञि को मुख्य करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है। इस विचारणसे अन्तमें वे छोकोपकारको छोड़कर मनमें बह दिये। वनमें निश्चरते हुए भी वे अग्रगटरूपसे रहकर 'चौबीस' आदिके द्वारा छोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्करण छोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।

प्रगटरूपसे योग आनन्दधनजीको पहिचान न सके। परन्तु आनन्दधनजी अग्रगट रहकर उनका हित ही करते रहे।

इस समय तो श्रीआनन्दधनजीके समयकी अपेक्षा भी अधिक विषयता—वैतरणमार्ग विमुक्तता—व्याप्त हो रही है।

(२) श्रीआनन्दधनजीको सिद्धांतबोध सीज था। वे स्वैतम्बर सम्प्रदायमें थे। यदि 'बुरा' भ्रातृ सुख निर्युक्ति, यदि परंपर अनुभव है, इत्यादि पंचांगीका नाम उनके श्रीमिनानधनजीके स्तवनमें न आया होता, तो यह भी कह न पड़ती कि वे स्वैतम्बर सम्प्रदायके थे या दिगम्बर सम्प्रदायके ?

८०७

गोरखी वैद्य कवी १५, १९५५

'इस भारतवर्षकी अयोगति जैनधर्मसे हुई है—' ऐसा महीपतराम क्लृप्त कहते थे—किन्तु वे। कठिन दस बरस हुए उनका अहमदाबादमें मिलाप हुआ तो उनसे पूछा —

प्रश्न —भई ! जैनधर्म क्या अहिंसा, सत्य, मेघ, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहार पान, अम्यसन, और उद्यम आदिका उपदेश करता है ?

उत्तर—हाँ (महीपतरामने उत्तर दिया) ।

प्रश्न—भई ! जैनधर्म क्या हिंसा, असत्य, चोरी, छद्म, अन्याय, अनीति, निरुद्ध आहार-बिहार, विषममृक्ता, आरुस-ग्रमाद आदिका निषेध करता है ?

महीपतराम—हाँ !

प्रश्न —देशकी अयोगति किससे होती है ? क्या अहिंसा सत्य, मेघ, न्याय, नीति, तथा जो आरोग्य प्रदान करे और उसकी रक्षा करे ऐसा कुछ सारा आहार-पान, और अम्यसन उद्यम आदिसे देशकी अयोगति होती है ? अथवा उससे निषीत हिंसा असत्य, छद्म अन्याय, अनीति, तथा जो आरोग्यको विगाड़े और शरीर-मनको अशांत करे ऐसा निरुद्ध आहार-बिहार, और अम्यसन, मीन शोष, आरुस-ग्रमा आदिसे देशकी अयोगति होती है ?

उत्तर—दूसरेसे, अर्थात् निषीत हिंसा असत्य, छद्म, ग्रमाद आदिसे !

प्रश्न —तो फिर क्या इनसे उन्टे अहिंसा, सत्य, मेघ अम्यसन, उद्यम आदिसे देशकी उन्नति होती है ?

उत्तर—हाँ !

प्रश्न—तो क्या जैनधर्म ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी अयोगति हो ? या यह ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी उन्नति हो ?

उत्तर—मार्ग ! मैं कबूल करता हूँ कि जैनधर्म ऐसे साधनोंका उपदेश करता है जिससे देशकी उन्नति हो। ऐसी सूक्ष्मतासे विवेकपूर्वक मैंने विचार नहीं किया था। हमने सा बाल्यकपनमें पन्द्रहियोंकी पाठशालामें पहले समय पर हुए सस्कारोंसे, बिना विचार किये ही ऐसा कह दिया था—
छिन्न माय था।

महीपतरुमने सरलतासे कबूल किया। सत्य-शोधनमें सरलताकी जरूरत है। सत्यका मर्म देनेके लिये विवेकपूर्वक मर्ममें उतरना चाहिये।

८०८

मोरबी, वैशाख सुदी २, १९५५

ज्योतिषको कल्पित समझकर उसको हमने त्याग दिया है। जोगोंमें आत्मार्थता बहुत कम हो गई है—बढ़ नहींकी तरह रह गई है। इस सबधमें स्तार्थके हेतुसे जोगोंने हमें कुछ देना शुरू कर दिया। इसलिये जिससे आत्मार्थ साध्य न हो ऐसे इस विषयको कल्पित—अस्तार्थक—समझकर हमने गौण कर दिया, उसका गौण कर दिया।

२. जोग किसी कार्यको तपा उसके कर्त्तकी प्रशंसा करते हैं, यह ठीक है। यह सबकायका पोषक तपा उसके कर्त्तकी उत्साहको बढ़ानेवाला है। परन्तु साथ साथमें इस कार्यमें जो कमी हो उसे भी विवेक और अभिमानरहितभावसे सम्पत्तापूर्वक बताना चाहिये; जिससे फिर कर्त्तका अवाकाश न रहे, और वह कार्य मूलतः अद्विष्ट रहकर पूर्ण हो जाय। केवल प्रशंसा-गान करनेसे ही सिद्धि नहीं होती। इससे तो उल्टा मिथ्याभिमान ही बढ़ता है। वर्तमानके मानपत्र आदिमें यह प्रथा विशेष है। विवेक चाहिये।

३. परिग्रहधारी यतियोंका सम्मान करनेसे मिथ्यात्वको पोषण मिलता है—मार्गका विरोध होता है। दाक्षिण्य—सम्पत्ता—की भी रक्षा करनी चाहिये। जीवको त्याग करना अच्छा नहीं लगता, कुछ करना अच्छा नहीं लगता, और उसे मिथ्या होशियारी होशियारीकी बातें करना है, मान छोड़ना नहीं; उससे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता।

८०९

मोरबी, वैशाख सुदी ६, १९५५

३०. ध्यान सुतेके उपकारक साधनवाले चाहे जिस क्षेत्रमें वास्तुमार्तकी स्थिति होनेसे आश्रयका अतिष्ठान नहीं—ऐसा मुनिधर्म आदिको सन्निधय कहना।

जिस सम्प्रदायकी शिक्षासा है, वह सम्प्रदाय पोषे दिनमें प्राप्त होना समझ है—ऐसा मुनिधर्मको निवेदन करना।

बीतराग-सम्पार्गकी उपासनामें नीर्यको उत्साहमुक्त करना।

८१०

बधाणीजा वैशाख सुदी ७, १९५५

३०. गृहवासका जिसे उपाय रहता है वह यदि किसी भी शुभमन्त्रकी प्राप्तिकी इच्छा करता हो, तो उसने मूल हेतुभूत अमुक सरावरणपूर्वक रहना योग्य है। उस अमुक नियममें 'न्यायसत्तम आजी विवादि प्यबहार' इस पहिले नियमको साध्य करना योग्य है। इस नियमके साध्य होनेसे बहुतसे

आत्मगुणोंके प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। यदि इस प्रथम नियमके ऊपर ध्यान रखता जाय, और उस नियमको व्यवस्थित किया जाय तो कथाय आदि स्वभावसे यह पढ़ने योग्य हो जाती हैं, अपना ज्ञानोक्त मार्ग आत्म-परिणामी होता है। उसके ऊपर ध्यान देना योग्य है।

८११

ईश्वर, वैशाख वदी ६ मंगल १०५५

ॐ

उस क्षेत्रमें यदि निवृत्तिकर विशेष योग हो, तो कार्तिकेयानुप्रेक्षाका बारम्बार निदिध्यासन करना चाहिये—ऐसा मुनिश्रीको नियमपूर्वक कहना योग्य है।

किन्तु निवृत्ति ब्रह्मान्तर असंगता प्राप्त की है ऐसे महात्माओंको ससारका अंत समीप है—ऐसा निस्तमोह ज्ञानीका नियम है।

८१२

सर्व चारित्र बशामृत करनेके लिये सर्व प्रसाद दूर करनेके लिये, आत्ममें अलंबवृत्ति रहनेके लिये मोक्षसंबंधी सब प्रकारके साधनोंका जप करनेके लिये, 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सबकारी है अपना मूलमृत है।

८१३

ईश्वर वैशाख वदी १० शनि १०५५

ॐ किमनदसबोद्ध द्विपाश्वेय नामक पुस्तक मिली होगी। उसका आदिसे अन्ततक अध्ययन करनेके पश्चात् सुगम भाषामें एक तद्विषयक निबन्ध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी; और वैसी द्विपाश्व आचरण भी सुगम है—यह स्पष्टता होगी, ऐसा समझ है।

राजनगरमें परम तत्त्वव्यक्तिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था उसे ध्येयमत्तचित्तसे बारबार एकत्र-योगमें स्मरण करना उचित है।

८१४

ॐ नमः

सर्वज्ञ बीतरागदेव

सर्व द्रव्य क्षेत्र काष्ठ भावका सर्व प्रकारसे जाननेवाला, और राग-द्वेष आदि सर्व विषय मिटके शीघ्र हो गये हैं वह ईश्वर है।

वह ९९ मनुष्यदेहमें प्राप्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण बीतराग हो वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।

सम्पूर्ण बीतराग हुआ जा सकता है ऐसे बेटे सुप्रतीत होते हैं।

८१५

नवियार श्रेष्ठ १०५५

मैं सब औपम्य नहीं, जैसी पाप पसाय।

बीतरागवाणी बिना अक्षर न कीई कपाय ॥

८१६

बम्बई, ग्रेष्ठ १९५५

ॐ बहो स्फुरकपके बचनामृत, मुद्रा और सत्समागम ।

सुप्रसन्न चेतनको ज्ञापित करनेवाले; पतित होती हुई वृत्तिको स्थिर रखनेवाले; दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्ण स्वभावके प्रेरक स्वरूप प्रतीति, अममत्त समय और पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणमृत; और अन्तर्मे अयोगी स्वभाव प्रगट कर, अनन्त अम्बाबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले । त्रिकाक्ष जप्यन्त बर्तों ! ॐ शान्ति शान्ति

८१७

बम्बई, ग्रेष्ठ सुदी ११ मौस १९५५

(१) यदि मुनि अध्ययन करते हों तो योगप्रदीप अध्ययन करना । कार्तिकेयानुप्रेक्षाका योग पुनः बहुत करके मिलेगा ।

* (२) जेनो फाळ ते किंकर याई रही, सुगमृण्णामळ सोक ॥ जीव्यु घाय तेहुं । दासी आधा पिशाची याई रही, कामक्षीय ते केरी साक ॥ जीव्यु० । दीते स्वादा पीता बोसता, नित्य छे निर्मन निराकार ॥ जीव्यु० । जाणे संत सलोणा तेहने, जेने हीय छेळा अवतार ॥ जीव्यु० । जगपावनकर ते अवतर्पा, अन्य यातनदरनी मार ॥ जीव्यु० । तेने चौद सौकमा विचरता, अंतराय कोये नव थाय ॥ जीव्यु० । रिपिसिंधियो दासियो याई रही, ब्रह्मानंद हुने न समाय ॥ जीव्यु० ।

८१८

बम्बई, ग्रेष्ठ बत्ती २ रवि १९५५

ॐ जिस नियमकी वर्षा चकती है वह ज्ञान है । उसके सबधमें पपावसुदेव ।

८१९

बम्बई ग्रेष्ठ बत्ती ७ बुध १९५५

अप्यहार-प्रतिबधसे निरोध न पाकर, वैय रसकर उत्साहमान बीरसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करना योग्य है ।

८२०

गोहमयी, आपत्त सुत्ती ८ रवि १९५५

१ इससे सरळ दूसरा क्रियाकोप नहीं । निरोध व्यवहार करनेसे स्पष्टार्थ होगा ।

* जिसका बाळ किंकर हो गया है, और जिसे लोक मृगयुष्मके लोके लम्बन मज्जम होया है उलका बीना कम है ॥ जिसकी आत्माकपी शिवायिनी बाधी है और बाय शेष जिसके कभी योग है उलका बीना कम है ॥ ये बच्यि सत्ता पीता और बोसता हुआ शिवाई देता है, फलतु ये नित्य निर्मन और निराकार है उलका बीना कम है ॥ उसे लोना संत जानो और उलका यह आश्रम मय है उलका बीना कम है ॥ उठने बम्बई पावैज करनेके जिने बम्बईर जिना है, बाकी तो लय यत्नाके उठनेके मारमृत ही है उलका बीना कम है ॥ उसे बोरर ओकमे विचारक करते हुए किसीसे भी अंतराय नहीं होया उलका बीना कम है ॥ उलकी जदि सिद्धि लय शक्तियें हो गई हैं, और उलके हृदयमें ब्रह्मानन्द नहीं समाया, उलका बीना कम है ।

२. शुद्ध आत्मस्थितिके पारमार्थिक सुख और इन्द्रियनय ये दो मुख्य लक्ष्यजन हैं। उनको सुदृढ़तापूर्वक उपासना करनेसे उनको सिद्धि होती है।

हे स्वर्ग ! निरुपशब्द समय महात्मा पुरुषोंका अकृत आरित्र स्मरण करने योग्य है। उल्लासित वीर्यवान्, परमशक्तकी उपासना करनेका मुख्य अविकारी है।

१. अग्रमष्ट स्वभावका आरम्भार स्मरण करते हैं। ध्याति

८२१

कर्मार्थ, आवाह कही ८ उषि १९५५

ॐ सुमुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील ब्रह्म प्रदायकी सूचना— विज्ञप्ति—की है, वह अपना दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षाले उपकारशील होते हैं।

हस्तमें कैसे प्रवृत्ति-स्वभावके प्रति उपशान्त वृत्ति है। प्रत्यक्षयोगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके अनुसन्धानपूर्वक ही होता योग्य है।

महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है। उससे यह मङ्गल होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महात्मा ही है। सब जीवोंके प्रति ब्रह्म दायमें भी अग्रमष्ट रहनेका जिसके योगका स्वभाव है, उसका आत्मस्वभाव सब जीवोंको परमपदके उपदेशका आत्मीय हो—वैसी निष्कारण करुणाशाली हो—वह यथार्थ है।

८२२

कर्मार्थ, आवाह कही ८ उषि १९५५

ॐ नमः

बिना नमन पाने नहीं, बिना नयनकी बात

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मस्थितिकी है। यह वाक्य स्वाभाविक उत्कर्षार्थिक छिमे है। समागमके योगमें इसका स्वरूप समझमें आ सकता है। तथा दूसरे प्रश्नोंके समाधानके छिमे हस्तमें बहुत ही अन्य प्रवृत्ति रहती है। समसमागमके योगमें उनका स्वरूप ही समाधान हो सकता है।

‘बिना नयन आदि वाक्यका अपनी निवृत्तयनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अपना जिससे शुद्ध चैतन्यशक्ति प्रति जो वृत्ति है वह विवेक प्राप्त न करे, इस तरह आचरण करना चाहिये। कार्यक्षेत्रेयानुप्रेक्षा अपना दूसरे सहायक बहुत करके बोधे समझमें विवेकी।

दुःखम काष्ठ है आयु अल्प है, संसमागम दुर्लभ है महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य शरण और आकाका योग सिद्धना कठिन है। इस कारण बलवान् अग्रमष्ट प्रयाण करना चाहिये। ध्यति

८२३

कर्मार्थ आवाह सुदी १ १९५५

ॐ परमपुरुषकी मुख्य मति ऐसे सदाचरणसे प्राप्त होती है जिससे उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि हो।

चरणस्थिति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सदाचरण ज्ञानीकी मुख्य आका है; जो आका परमपुरुषकी मुख्य मति है।

उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि होनेमें गृहवासी जनोको सदुपमरूप आशीर्वाक-म्यबहारसहित प्रवृत्ति करना योग्य है। बहुतेरे शास्त्र और वाक्योंका अभ्यास करते हुए भी, जीव यदि ज्ञानी-पुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपस्थाना करे, तो बहुतेरे शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमें ही प्राप्त हो जाय।

८२४ मोहमयी क्षेत्र, भाषण सुदी ७, १९५५

ॐ श्रीरामानन्दि शास्त्रकी एक प्रति, किसी अच्छे आदर्शके हाथ, जिससे कसो क्षेत्रमें मुनिश्रीको प्राप्त हो, पेश करना।

बलवान् निवृत्तिवाले इन्द्र क्षेत्र आदि योगमें उस शास्त्रका तुम बारम्बार मनन और निदिध्यासन करना। प्रवृत्तिवाले इन्द्र क्षेत्र आदिमें उस शास्त्रको बाँचना योग्य नहीं।

जब तीन योगोंकी अल्प प्रवृत्ति हो—वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो—तब महान् पुरुषके बचना वृत्तका मनन परम क्षेत्रके मूळको दृढ़ करता है—वह कमसे परमपदको प्राप्त करता है।

चित्तको विक्षेपरहित रखकर परमशान्ति सुखका अनुभेक्षण करना चाहिये।

८२५ मोहमयी, भाषण सुदी ७, १९५५

अगम्य होनेपर भी सरल ऐसे महान् पुरुषोंके मार्गको नमस्कार हो!

१ महान् मात्स्यके उदयसे अपना पूर्वके अम्यस्त योगसे जीवको सभी मुमुक्षुता उत्पन्न होती है जो अति दुर्लभ है। वह सभी मुमुक्षुता प्रायः महान् पुरुषोंके चरणकमलकी उपासनासे प्राप्त होती है, अपना बैसी मुमुक्षुतावाली आत्माको महान् पुरुषके योगसे आत्मनिष्ठमान होता है—स्नातन अनेक ज्ञानी-पुरुषोंद्वारा उपस्थित समार्ग प्राप्त होता है। सभी मुमुक्षुता जिसे प्राप्त हो गई हो, उसे भी ज्ञानीका समागम और आत्मा, अप्रमत्तयोग करते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस तरह मात्स्य होता है।

२ वर्तमानकालमें ऐसे महान् पुरुषका पाग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योगकी दुर्लभता होती है। ऐसा होनेपर भी जिस सभी मुमुक्षुता उत्पन्न हो गई हो, उस दिन अहम-कल्याण होनेका तपाक्षय स्थितन रहा करता हो, ऐसे पुरुषको बैसा योग प्राप्त होना दुर्लभ है।

३ अहमानुशासन हाथमें मनन करने योग्य है। शान्ति-

८२६ मर्षा, माघपद सुदी ५ रवि १९५५

(१)

ॐ जिन वचनोंकी आकर्षण है, वे प्रायः योगे समयमें प्राप्त होगे।

इन्द्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक संशुद्ध और स्वस्थमागमकी निरंतर उपासना करनी चाहिये।

हीनमोक्षपथ ज्ञानीकी आज्ञाका अवलम्बन परम स्थितकारी है।

आज दिनतक तुम्हारे प्रति तथा तुम्हारे समीप रहनेवाली बर्षों और बर्षोंके प्रति योगके प्रभावका जो जो फल उत्पन्न हुआ हो, उसके लिये बसमागमके मार्गकी उपासना करना।

(२)

जो बनवासी-भावा (श्री पद्मनाभ पञ्चविंशति) भेना है, यह प्रकट निश्चितिके योगमें संपत इन्द्रियरूपसे मनन करनेसे अघृत है ।

८२७

कर्म, वासोव, १९५५

(१)

ॐ किं ह्यनी-मुद्रयोका देवमियम दूर हो गया है, यद्यपि उन्हें कुछ करना बाकी नहीं था, तो भी उन्हें सर्वसंगपरिग्रह आदि स्फुरत्कार्यताको परमपुरुषने उपकारभूत कहा है ।

(२)

श्री के प्रति पत्र लिखते हुए सूचित करना ' विचार करके ब्रह्मसत्त्व स्थिति करनेमें मनको कोई मय, उद्वेग अथवा क्षोभ नहीं है; परन्तु विस्तृष्टिसे विचार करनेसे हमारी दृष्टिमें यह आता है कि हाथमें उस क्षेत्रमें स्थिति करना योग्य नहीं । यदि आप कहेंगे तो ' इसमें ब्रह्मविष्णुको क्या बाधा होती है ' इस बातको विनिश्चित करेंगे; और उसके लिये आप कहेंगे तो उस क्षेत्रमें समागममें आनेगे । ब्रह्मसत्त्वका पत्र पढ़कर आप लोगोंको कोई भी उद्वेग अथवा क्षोभ न करना चाहिये—समझ ही रहना चाहिये । लिखनेमें यदि कुछ भी अनवधान हुआ हो तो क्षमा करना । ”

यदि तुरत ही उनका समागम होनेवाला हो तो ऐसा कहना कि “ आपने विचार करनेके संभवमें जो सिखा तो उस विषयमें आपका समागम होनेपर वैसा आप कहेंगे वैसा करेंगे ” और समागम होनेपर कहना कि ‘ पहले की अपेक्षा यदि सपनमें शिथिलता की हो ऐसा आपको मशूम होता हो तो आप उसे बतायें जिससे उसकी निश्चित की जा सके; और यदि आपको वैसा न मशूम होता होता हो, तो फिर यदि कोई जीव नियममात्रके आधीन होकर बैसा कहें, तो उस बातके प्रति न जाकर, ब्रह्म-भावपर ही जाकर, प्रवृत्ति करना योग्य है । ऐसा जानकर हाथमें ब्रह्मसत्त्व क्षेत्रमें जानेकी दृष्टि हमें योग्य नहीं लगती । क्योंकि (१) रणध्वजुक्त जीवके पत्रकी प्रेरणासे, और (२) मामकी रक्षाके लिये ही उस क्षेत्रमें जाने वैसा होता है जो बात आत्माके बलितकी कारण है । कदाचित् आप ऐसा समझते हों कि जो लोग असमय बात कहते हैं उन क्षेत्रोंके अन्तर्गत उनको अपनी निम्नी मूल मात्रा पसेगी, और धर्मकी दृष्टि होती हुई रुक जावेगी, तो यह एक बात ठीक है । परन्तु उसके रक्षण करनेके लिये यदि उपरोक्त दो दोष न आते हों तो किसी अपेक्षासे लोगोंकी मूल दूर करनेके लिये विचार करना उचित है । परन्तु एक बार तो अविवशतासे उस बातको स्मरण करके, अनुक्रमसे सामाजिक विचार होते होते उस क्षेत्रमें जाना गये और किन्हीं लोगोंको बहम हो तो जिससे वह बहम निवृत्त हो जाय, ऐसा करना चाहिये । परन्तु रागादिविषाणके बधनोंकी प्रेरणासे तथा मानकी रक्षाके लिये अपना अविव-मत्ता न रहनेसे उसे बोककी मूल मिश्रणके निमित्त मानना, यह ब्रह्मविष्णुका नहीं । इच्छिते हाथमें इस बातको उपशान्त कर --- --- आप बताओ कि कनिष्ठ --- बगैर मुनिबोके लिये किसीने कुछ कहा हो, तो उससे वे मुनि शोकके पात्र नहीं हैं । उनके समागममें आनेसे किं बोगोंकी बैसा संदेह होगा, यह संदेह ही निवृत्त हो जायगा; अपना किसी समझकी कैसे संदेह हो या दृष्ट को

नपश्यके मानके लिये सदेह उपस्थित करे, तो वह नियम मार्ग है; इस कारण विचारवान मुनियोंको वहाँ समदर्शी होना ही योग्य है । तुम्हें भित्तमें कोई खोम करना उचित नहीं ” ।

आप ऐसा करोगे तो हमारी आत्माका, तुम्हारी आत्माका, और धर्मका रक्षण होगा । इस प्रकार जैसे ठनकी वृष्टिमें बैठे, वैसे योगमें बातचीत करके समाधान करना, और हाथमें जिससे वहमझावाद क्षेत्रमें स्थिति करना न बने, ऐसा करोगे सो वह जागे चक्कर विशेष उपकारका हेतु है । वैसा करते हुए भी यदि किसी भी प्रकारसे —म मानें तो वहमझावाद क्षेत्रको भी विहार कर जाना, और सम्मके उपयोगमें सावधान रहकर आचरण करना । तुम अवियम रहना ।

८२८ मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी ५ ज्ञान पंचमी १९५५

ॐ

१ परमशान्त ध्रुवका मनन नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये । शान्ति ।

२ परम शीतरसगोष्ठ्या अहमस्य किये हुए यथाक्याप्तचारित्र्यसे प्रगट हुई असंगताको निरंतर व्यक्त्यन्यकल्पसे स्मरण करता हूँ ।

३ इस दुःपकाष्ठमें ससमामासका योग भी अति दुर्लभ है । वहाँ फिर परम ससंग और परम असंगताका योग कदापि बन सकता है ।

४ परमशान्त ध्रुवके विचारमें इन्द्रियनिग्रहपूर्वक अहमप्रवृत्ति रखनेमें स्वरूपस्थिरता अपूर्वकसे प्रगट होती है ।

ससमामासका प्रतिबन्ध करनेके लिये कोई कहे, तो उस प्रतिबन्धको न करनेकी वृत्ति बताना, वह योग्य है—यथार्थ है । कदनुसार वर्तन करना । ससमामासका प्रतिबन्ध करना योग्य नहीं । तथा सामान्यरूपसे जिससे ऐसा वर्तन हो कि ठमकी साथ समभाव रहे, वैसा हितकारी है । फिर जैसे उस सगमें विशेष जाना न हो, ऐसे क्षेत्रमें विचारना योग्य है—जिस क्षेत्रमें अहमसाधन दुःखमत्तासे हो सके । —आर्या आदिको यथाशक्ति जो ऊपर कहा है, वह प्रयत्न करना योग्य है । शान्ति ।

८२९

मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, १९५६

ॐ यह प्रवृत्तिव्यवहार ऐसा है कि जिसमें वृत्तिका यथाशक्तभाव रक्षना असम्भव वैसा है । कोई विरथा ही ज्ञानी इस्में शरीर स्वल्पनैष्ठिक रह सकता हो । इतना बहुत कठिनतासे बनना समझ ।

उसमें अन्य अपवा सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शरीर रह सकें, स्वल्पनैष्ठिक रह सकें, वैसा यथारूप नहीं, परन्तु अमुक वरसे भी हमेंके लिये, जिस कल्याणरूप व्यवहवनकी आवश्यकता है, उसका समझमें जाना, प्रवृत्ति होना और अमुक स्वभावसे आत्मामें स्थिति जाना भी कठिन है ।

यदि वैसा कोई योग बने तो, आर जीव यदि दृढ़ नैष्ठिक हो तो, शरीरिका मार्ग प्राप्त हो सकता है, यह निश्चय है । प्रमत्त स्वभावका जय करनेके लिये प्रयत्न करना योग्य है ।

इस सप्तर-रणभूमिमें दुःपकाष्ठरूप ग्रीष्मके उदयके योगका वेम न करनेकी स्थितिका विरसे जीव हो अभ्यास करते हैं ।

८३०

मोक्षमयी, कार्तिक सुदी ५, १९५५

ॐ

मित्रसे अविरोध और एकता रहे बैसा करना चाहिये; और इन सबका उपकारका मार्ग समझ है। मित्रता मानकर प्रवृत्ति करनेसे जीव सफ़ा चकता है। वास्तवमें तो अमित्रता है—एकता है—इसमें सद्मन सम्प्रदाया केर होनेसे ही तुम मित्रता समझते हो, ऐसी उन जीवोंको यदि शिक्षा मिले, तो समुदायवृत्ति हो सकती है।

अबतक परस्पर एकताका व्यवहार रहे तबतक यह सुनिषा कर्त्तव्य है। ॐ

८३१ मोक्षमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी १४ शुक्र १९५५

हामें मैं बहुत मासपर्यंत यहीं रहनेका विचार रक्ता हूँ। अपनेसे बनता ध्यान हूँगा। अपने मनमें निर्निबत रहना।

केवल अन्तर्बन्ध हो तो भी बहुत है। परन्तु व्यवहारप्रतिक्रिया मनुष्यको कुछ समागमिक कारण पोषा बहुत चाहिये, इसलिये यह प्रयत्न करना पड़ा है। इसलिये धर्मकीर्तिपूर्वक यह सयोग अबतक उदयमान हो तबतक जितना बन पड़े उतना बहुत है।

हामें मानसिक वृत्तिसे बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवृत्त करना पड़ा है। तब-इन्पसे और शरीर अहमसे सद्मन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ। ॐ शान्ति।

(२)

ईश्वर, वीथ १९५५

मा दुग्धह मा रज्ज्वह मा दुस्तह इद्विद्वन्स्वेसु।

विरमिच्छह नह विष विविचक्षणप्यसिद्धीष॥

पञ्चतीससीकछप्यजबदुग्धमेर्गं च अवह ह्यारह।

परमेष्ठिवाचपाणं अर्णं च शुक्लपसेज॥

—यदि तुम स्थिरताको इच्छा करते हो तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करा, रग न करो द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैतीछ, छोछह, छह, पाँच बार, दो और एक—इस तरह परमेष्ठिपदके वाचक श्रवणका अपूर्वक ध्यान करो। इसका विशेष स्वस्म श्रीगुरुके उपदेशसे समझना चाहिये।

ॐ किंचिदि विवर्तती निरीहविची ह्ये अदा साह।

सद्गुणय एयच तदाहु ते तस्स निषधर्षं ह्यार्ण॥

—ध्यानमें एकामूर्ति रक्कर जो साधु निरुद्ध-वृत्तिमान् अर्थात् सर्व प्रकारकी इच्छामें रहित होता है, उसे परमगुरुच मिथ्य ध्यान कहते हैं।

३३वाँ वर्ष

८३२

(१)

ॐ

वर्षा, कार्तिक पूनम, १९५६

१ गुरु गणपर गुणपर अधिक, मधुर परंपर और ।

प्रतपपर तनु मगनपर, बंदी रूप सिरमौर ॥

२ जगत्, विषयके निक्षेपमें स्वरूपविभाषिते विद्यमानि नहीं पाता ।

३ अनंत अम्यानाथ सुखका एक अनन्य उपाय स्वल्पस्य होना ही है । यही हितकारी उपाय इलियोंने देखा है । भगवान् विनये द्वादशश्रीका इसीछिये निरूपण किया है, और इसी उत्कृष्टतासे यह दामित है, जयवत है ।

४ ज्ञानीके वाक्यके अर्थणसे उत्पन्नित हुआ जीव चेतन-वृद्धको यथार्थरूपसे मिमस्वरूप प्रतीत करता है, अनुमय करता है—अनुक्रमसे स्वल्पस्य होता है । यथावस्थित अनुमय होनेसे यह स्वरूपस्य हो सकता है ।

५. दर्शनमोहका नाश होनेसे ज्ञानीके मार्गमें परममक्ति उत्पन्न होती है—तत्त्वप्रतीति सम्यक्-रूपसे उत्पन्न होती है ।

६ तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध चेतन्यके प्रति इतिका प्रभाव फिर जाता है ।

७ शुद्ध चेतन्यके अनुमयके छिये चारित्रमोहका नाश करमा योग्य है ।

८ चारित्रमोह चेतन्यके—ज्ञानी-गुरुपद—सन्मार्गके श्रेष्ठिकभावसे नाश होता है ।

९ असंगतासे परमाचगान् अनुमय हो सकता है ।

१० हे कार्य मुनिवरो ! इसी असंग शुद्ध चेतन्यके छिये असंगयोगकी अहर्निश इच्छा करते हैं । हे मुनिवरो ! असंगका अम्यास करो ।

११ जो महत्मा असंग चेतन्यमें छीन हुए हैं, होते हैं और होंगे, उन्हें नमस्कार हो !
ॐ शान्तिः ।

(२)

हे मुनियो ! जबतक केवल समग्रम्यानस्य सहजस्थिति स्वाभाविक न हो जाय, तबतक तुम प्यान और स्वाप्पापमें छीन रहो !

जीव जब केवल स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो जाय, तो बर्दा कुछ करना बाकी नहीं रहा ।

जहाँ जीवके परिणाम कर्ममान-दीपमान हुआ करने हैं वहाँ प्यान करना चाहिये । अर्थात् प्यानमें छीनमाइसे मर्ष बाधप्रत्येके परिणयसे विध्वंसि पाकर निजस्वरूपके लक्षमें रहना उचित है ।

उदयके पहलेसे वह प्यान जब जब छुट जाय, तब तब उसका बहुत दीपनासे अनुसंधान करना चाहिये ।

जीवके अवकाशमें स्वाध्यायमें शीनता करनी चाहिये । सर्व पर दृष्टियोंमें एक समय भी उपयोग समझो न पाने, जब ऐसी ग्राह्यता जीव सेवन करता है, तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

(१)

परम गुणमय चारित्र्य चाहिये । ब्रह्मान

असंग बालि स्वभाव

परम निर्दोष कुत

परम प्रतीति

परम पराक्रम

परम इन्द्रियजय

१ मूढका विरोधता

२ मार्मिक प्रार्थनासे अनात्म अंततत्त्वकी
अकृत सकलना ।

३ निर्भिषाद—

४ मुनिवर्म-प्रकाश

५ ग्राह्यवर्ग-प्रकाश

६ निर्मय परिमाणा-निधि

७ कुतसमुद्र-मनेसमार्ग

८३३

(१)

बीतरागदर्शन-संक्षेप

मायावरण—इस पदको नमस्कार,

मूढिका — मोक्षप्रयोग

... ..

उस दृष्टिको दूर होनेके लिये भिन्न भिन्न मतोंका पृथक्करण करके देखनेसे उसमें बीतराग-दर्शन पूर्ण और अनिच्छ है, ऐसा सामान्य कथन; उस दर्शनका स्वस्म उसकी जीवको अप्राप्ति, और प्राप्तिसे अनास्था होनेके कारण मोक्षामिकाजी जीवको उस दर्शनकी दृष्टिसे अपासना करनी चाहिये ।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु

विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु

निष्ठुष्टि—उस निष्ठुष्टिके प्रकार और हेतु

मध्यस्थ रहनेके स्थानक—उसके कारण

बीरजके स्थानक—उसके कारण

शोकके स्थानक—उसके कारण

पतित होनेके स्थानक—उसके कारण

अपसंहार

आस्था

पदार्थकी अविषयता बुद्धिमें व्याप्योद, काष्ठयोग

(२)

स्वरूपबोध
योगनिरोध
सर्वधर्म-स्वाधीनता
धर्ममूर्तित्व

सर्व प्रदश सपूर्ण गुणरमकता
सर्वांग सयम
लोकके प्रति निष्कारण अनुग्रह

८३४

बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९५९

(१) अवगाहना अर्थात् अवगाहना । अवगाहनाका अर्थ कद-आकार-नहीं होता । कितने ही तत्त्वके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि बिनाका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता; जिनके अनुरूप दूसरा कोई शब्द नहीं मिलता, तथा जो समझे तो जा सकते हैं, पर व्यक्त नहीं किये जा सकते ।

अवगाहना ऐसा ही शब्द है । बहुत बोधसे विशेष विचारसे यह समझमें आ सकता है ।

अवगाहना क्षेमकी अपेक्षासे है । जुग रहनेपर भी एकमेक होकर मिल जाना, फिर भी जुग रहना—इस तरह सिद्धरमाकी मितनी क्षेम-व्यापकता है वह उसकी अवगाहना कही है ।

(२) जो बहुत मोगा जाता है, वह बहुत क्षीण होता है । समतासे कर्म मोगनेपर उनकी निर्बल होती है—ने क्षीण होते हैं । शारीरिक नियम मोगते हुए शारीरिक शक्ति क्षीण होती है ।

(३) इलाकी मार्ग सुखम होनेपर भी उसका पाला कठिन है । पहिले सबा इलाकी चाहिये; उसे पहिचानना चाहिये, उसकी प्रतीति जानी चाहिये । बान्ने उसके बचनपर अडा रखकर निजका-वसे चकनेसे मार्ग सुखम है, परन्तु इलाकी मिळना और उसकी पहिचान होना विष्णु है—दुर्लभ है ।

८३५

बम्बई, कार्तिक वदी ११ मगस १९५९

(१)

* जह ने सैतन्य बने द्रव्य तो स्वभाव मिला सुप्रतीनपणे बने जेने समभाव छे;
स्वरूप चेतन निज जह छे सर्वभमात्र, अथवा ते ज्ञेयगण (अ) परद्रव्यभाव छे ।
एषो अनुभवनो प्रकाश उच्छासित ययो, जहपी उगसी तेने आमहृति पाय छे;
कायानी विसारी माया स्वल्पे शमाया एवा निर्गपनो पय मच अतनो उपाय छे ।

* जह मोर सैतन्य होनोका स्वभाव मिला मिला है । इन दोनोंकी गुणतीति होकर वे जिनकी मलममे होते हैं; तथा निजका स्वरूप चेतन है और जह केवच सर्वभमात्र है अथवा वह स्वभावसे पर द्रव्यमें हैं गर्भित है — एत अनुभवका भिन्नप्रकाश उत्पत्तिन हुआ है उसकी जहने उच्छासीन वृत्ति होकर आत्ममें वृत्ति होती है । बाबाकी कथाकी विस्तृत कर जो निजकमें जीन हो गये हैं ऐसे निर्भवका वच ही संप्रारके अंग कदमका उपाय है ।

(२)

× देख जीव एकरूपे मासे छे ब्रह्मण बडे, क्रियाशील प्रवृत्ति पण तेही तेम थाप छे;
जीवनी उत्पत्ति छने रोग शोक हु स मृत्यु, देखनो स्वभाव जीवपदमा जणाप छे ।
एवो जे जनानि एकरूपानो मिथ्यात्वमान, जानिना ब्रह्म बडे दूर र्थ जाय छे;
मासे जह वैतम्पनो प्रगत स्वभाव भिन्न, बने ब्रह्म निज निजरूपे स्थित थाप छे ।

(३)

* जन्म जरा मे मृत्यु मुख्य दुःखना हेतु ।

कारण तेना मे कदा एगद्वेप अणहेतु ॥

(४)

+ ब्रह्मनामृत बीतरागना परम शांतरस मूळ ।

बीरब जे मयरोगना, क्षमरने प्रतिबुद्ध ॥

(५)

प्राप्तीमात्रका रक्षक, बीरब और श्रितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो वह बीतरागधर्म ही है ।

(६)

संतजनो ! विनेश्वरोंने जोक बादि ओ स्वरूप वर्णन किया है, वह अलंकारिक भावमें योगान्वास और जोक बादिके स्वरूपका निरूपण है; वह पूर्ण योगान्वासके बिना ज्ञानगोचर नहीं हो सकता । इसलिये तुम अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे बीतरागके वास्तविक विरोध करनेवाले नहीं, परन्तु योगका अन्वय करके पूर्णतासे उस स्वरूपका ज्ञाता होना ।

८३६

बर्मा, कार्तिक वदी १२ १९५५

(१) श्लोकप्रवेशन—गाथापरीक्षा टीका । टीकेके नामपर देखो बाकटोंने यह दखन क्या किया है । बिचारे बोवे बादिको टीकेके ब्रह्मने मे मूर्तासे मार बाकते हैं, जिसा करके पापका पोषण करते हैं—पाप उपार्जन करते हैं । पूर्वमें पापानुबन्धी जो पुण्य उपार्जन किया है उसके योगसे ही मे वर्तमानमें पुण्यको मोगते हैं परन्तु परिणाममें मे पाप ही झुकाते हैं—इसकी बिचारे बाकटोंने जो खबर भी मारी है । टीका कान्हासे जब रोग दूर हो जाय तबकी बात तो तब खी, परन्तु इस समय तो उसमें हिंसा प्रगट है । टीका कान्हासे एक रोग दूर करते हुए दूसरा रोग भी बाधा हो जाता है ।

× हेर और बीर ब्रह्मने ही एकत्र मलित होते हैं । उनसे किया की प्रवृत्ति यी वैरी हो होती है । बीरकी उत्पत्ति और रोग शोक दुःख मृत्यु वह जो हेरका स्वभाव है वह ब्रह्मने ही बीरपदमें मान्य होता है । ऐसा जो अनपेक्षित बीर और हेरको एकत्र माननेका मिथ्यात्वमान है वह ब्रह्मने दूर हो गया है । तथा उस समय जब और वैतम्पका स्वभाव एक भिन्न भिन्न मान्य होने लगता है, बीर रोगी ब्रह्म अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो जते हैं ।

* जन्म जरा और मृत्यु मे दुःखके मुख्य हेतु हैं । उनके रोग और हेतु मे ही कारण हैं ।

+ बीतरागके ब्रह्मनामृत परम शांतरसके मूल हैं । वह मन्त्रोन्मदी बीरब हैं जो बाहर पुण्यको प्रतिबुद्ध होती है ।

(२) प्रारम्भ और पुरुषार्थ शब्द समझने योग्य हैं । पुरुषार्थ किये बिना प्रारम्भकी खबर ही पड़ सकती । जो प्रारम्भमें होगा वह हो रहेगा, यह कहकर बैठे रहनेसे काम नहीं चकटा । काम पुरुषार्थ करना चाहिये । प्रारम्भको समपरिणामसे बेदन करना—भोग लेना—यह बड़ा स्वार्थ है । सामान्य जीव समपरिणामसे विकल्परहित होकर यदि प्रारम्भका बेदन न कर सके, तो पत्र परिणाम आता ही है । इसलिये उसे न होने देनेके लिये—कम होनेके लिये—उपम करना चाहिये । समभाव और विकल्परहितभाव सत्संगसे आता और बढ़ता है ।

८३७ मोहमयी क्षेत्र, पोप नदी १२ रवि १९५६

महत्मा मुनिवरोंके चरणकी,—सगकी—उपासना और सत्तात्वका अध्ययन मुमुक्षुओंकी अहम-करी इच्छा संशुपाय है ।

ज्यों ज्यों इन्द्रिय-निग्रह होता है, ज्यों ज्यों निवृत्तियोग होता है, त्यों त्यों वह सत्समागम और सत्तात्व अविकाधिक उपकारी होता है । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

८३८ चर्मपुर, वैत्र नदी १ रवि १९५६

ॐ

* धन्य ते मुनिवरा जे चाखे समभावे, ज्ञानवैत ज्ञानिधुं मळता तनमनबचने साधा ।
द्रव्यभाव मुषा जे भाखे साधी भिननी बाधा, धन्य ते मुनिवरा जे चाखे समभावे ॥

(२) बाध और अंतर समाधियोग रहता है । परम शान्ति ।

(३) भावनासिद्धि

८३९ श्रीचर्मपुर, वैत्र नदी ४ बुध १९५६

(१)

ॐ समस्त ससारी जीव कर्मबन्धसे साठा और असताके उदयको अनुभव किया ही करते हैं; उसमें भी मुक्ततया तो असताका ही उदय अनुभवमें आता है । कथित् लक्षणा किन्ती किन्ती देह संयोगमें पक्षि साताका उद्यम अधिक अनुभवमें आता हुआ माझूम होता है परन्तु वस्तुतः वहाँ भी अर्द्धाक्ष ही प्रत्यक्षित हुआ करती है । पूर्णज्ञानी भी जिस असताका वर्णन कर सकने योग्य बचन योग धारण नहीं करते, वैसी जनतान्त असतामें इस जीवको भागनी है; और यदि अभी भी उनके कारणोंका नाश न किया जाय तो वे योगनी पड़ेगी ही, यह सुनिश्चित है—ऐसा जानकर विचारवान उत्तम पुरुष उस अर्द्धाक्षरूप साठा और बाह्याभ्यंतर सद्देश-अक्षिप्पसे प्रत्यक्षित असताका अप्रत्यक्ष

* उक्त मुनिवरोंको कर्म है जो समभावपूर्वक रहते हैं । जो स्वयं ज्ञानवैत हैं और ज्ञानिनोंसे मिलते हैं । उनके मन बचन और कार्य सब हैं तथा जो ब्रह्म भाव जो बानी बोलते हैं वह भिनममकाद्वी उषी बाणी ही है । उक्त मुनिवरोंको कर्म है जो समभावपूर्वक रहते हैं ।

विभोग करनेके मार्गको गवेषण करनेके लिये तत्पर हुए; और उस समार्गक गवेषण कर, प्रतीति कर, उसका यथायोग्य आत्माधन कर, अग्न्यावाध सुखस्वरूप आत्माके सखन सुख स्वभावक्य परम पदमें जीन हो गये ।

साता असताका उदय अथवा अनुमय प्राप्त होनेके मूळ कारणोंकी गवेषणा करनेवाले ऐसे उभ मज्झन् पुरुषोंको ऐसी निष्पत्ति सानद आश्चर्यकारक दृष्टि उद्भूत होती थी कि साताकी अपेक्षा असताका उदय प्राप्त होनेपर, और उसमें भी साक्षात् उस उदयके प्राप्त होनेपर, उनका भीम विरोध-रूपसे आसक्त होता था, उद्धासित होता था, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी समझा जाता था । किन्तुने ही कारणविरोधके योगसे व्यवहारदृष्टिसे, वे प्रज्ञान करने योग्य औपम्य आदिको आत्ममर्षादिमें रहकर प्रज्ञान करते थे परन्तु मुख्यतया वे उस परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औपम्यरूपसे उपासना करते थे ।

(१) उपयोग कल्पसे सनातन स्फुरित ऐसी आत्माको देखते (तैमस और कर्मज शरीरस) भी मित अवबोधन करनेकी दृष्टिको साम्य कर (२) वह चैतन्यशक्त स्वभाव—आत्मा—नितर वेदक स्वभाववाली होनेसे अवबोधनाको जकटक प्राप्त न हो, तबतक साता-असताक्य अनुमयक्य वेदन हुए बिना रहनेवाला नहीं यह निश्चय कर, (३) जिस द्रुमाश्रुत परिणामवात्ताकी परिणतिसे वह साता असताक्य बच करती है उस चारुके प्रति उपजाति होकर; (४) देख आदिसे मित और स्वरूप-मर्षादिमें रहनेवाली उस आत्मामें जो चक स्वभावक्य परिणाम-बाध है, उसका आह्वयिक विभोग करनेका समार्ग प्रज्ञान कर, (५) परम सुख चैतन्यस्वभावक्य प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे जो सकलक परिणाम प्रदर्शित करती है उससे उपशम प्राप्त कर जिस तरह उपशमयुक्त हुआ जाय उस उपयोगमें और उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाय अथवा हुआ जाय, वही क्य, वही भावना, वही चित्तवता और वही सख परिणामक्य स्वभाव करना उचित है । मज्झमायोंकी वरन्वार यही सिद्धा है ।

उस समार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए, आत्म्यापी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निस्सह निर्मयक्य गुरु, परमदयामय बर्मन्व्यवहार और परमशान्तरस रहस्वभावक्यमय सुप्रसन्न समार्गकी सम्पूर्णता होनेतक, परम मक्षिसे उपासना करने योग्य हैं जो आत्माके कल्याणक्य परम कारण है ।

मीसम्य नरयमर्ग्य, शिरियमर्ग्य, कुदेवमणुयमर्ग्य ।

पत्तौसि तिष्ठदुर्लभं, भाषहि जिणमावणा जीय ॥

—भयकर नरकगतिमें तिर्यचगतिमें और कुदेव तथा मनुष्यगतिमें हे जीन ! तुझे टीम दृष्टको पत्ता, इसलिये अब तू जिनमावणाका (जिनभगवान् जो परम शान्तरसस परिणमकर स्वक्यमय हुए उस परमशान्तरस्वरूप चित्तवताका) भाष न कर—चित्तवन कर (जिससे उन अनंत दुःखोंका आह्वयिक विभोग होकर परम अग्न्यावाध सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो) । उँ गाति दंति शान्ति ।

(२)

जहाँ जनदृष्टि असङ्कुचित भावसे संभव होती है और जहाँ निवृत्तिके योग्य विरोध कारण हो ऐसे क्षेत्रमें मज्झन् पुरुषोंको विशार आनुर्मासक्य स्थिति करनी चाहिये । शान्ति ।

(३)

ॐ नमः

१ उपशमश्रेणीमें मुख्यरूपसे उपशमसम्पन्नता समझ है ।

२ चार धनधाति कर्मोंका क्षय होनेसे अंतराय कर्मकी प्रवृत्तिका भी क्षय होता है, और उससे दानांतराय, कामांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय इस पौंच प्रकारके अंतरायका क्षय होकर, अनंत दानव्यधि, अनंत कामव्यधि, अनंत वीर्यव्यधि और अनंत भोगउपभोगव्यधि प्राप्त होती है । इस कारण त्रिसका यह अंतराय कर्म क्षय हो गया है, ऐसा परमपुरुष अनंत दान आदि देनेको सम्पूर्ण समर्थ है ।

तथापि परमपुरुष पुत्रलक्ष्म्यरूपसे इन दानादि लक्ष्मियोंकी प्रवृत्ति नहीं करता । मुख्यतया वो उस लक्ष्मिकी प्राप्ति भी आशमाकी स्वरूपभूत ही है, क्योंकि यह प्राप्ति क्षाधिकमात्रसे होती है, औद्यिकमात्रसे नहीं । इस कारण यह आशमस्वभावकी स्वरूपभूत ही है । तथा जो आशामें अनंत सामर्थ्य अनदिसे शक्तिरूपसे मौजूद थी, उसके व्यक्त होनेसे आशमा उसे निरस्वरूपमें छा सकती है—तद्रूप शुद्ध स्वच्छमात्रसे यह उसे एक स्वभावसे परिणमा सकती है—उसे अनंत दानव्यधि कहना चाहिये । इसी तरह अनंत आशमसामर्थ्यकी प्राप्तिमें किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नहीं रहा, इसलिये उसे अनंत कामव्यधि कहना चाहिये । तथा अनंत आशमसामर्थ्यकी प्राप्ति सम्पूर्णरूपसे परमानंदस्वरूपसे अनुभवमें आती है; उसमें भी किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नहीं रहा, इस कारण उसे अनंत भोगउपभोगव्यधि कहना चाहिये । इसी तरह अनंत आशमसामर्थ्यकी प्राप्ति पूर्ण होनेपर, त्रिससे उस सामर्थ्यके अनुभवसे आशमशक्ति एक जाय, उसकी सामर्थ्यको न उठा सके, बहल न कर सके, अथवा उस सामर्थ्यको किसी भी प्रकारके दोषाकाश्रय असुर होकर, किंचित्मात्र भी म्यूनधिकता करावे, ऐसा कुछ भी बाकी नहीं रहा, उस स्वभावमें रहनेको सम्पूर्ण सामर्थ्य निष्कल सम्पूर्ण बलसहित रहना है, उसे अनंत वीर्यव्यधि समझना चाहिये ।

क्षाधिकमात्रकी दृष्टिसे देखनेसे ऊपर कहे अनुसार उस लक्ष्मिका परमपुरुषको उपयोग रहता है । तथा ये पौंच लक्ष्मियाँ हेतुविशेषसे समझानेके वास्ते ही भिन्न भिन्न बतलाई हैं; नहीं तो अनन्तवीर्य लक्ष्मिमें भी उन पौंचोंका समावेश हो सकता है । आशामें ऐसी सामर्थ्य है कि यह सम्पूर्ण वीर्यको प्राप्त होनेसे, इन पौंचों लक्ष्मियोंका पुत्रलक्ष्म्यरूपसे उपयोग कर सकती है; तथापि इतइत्य परमपुरुषमें सम्पूर्ण वीर्यका स्वभाव होनेके कारण यह उपयोग संभव नहीं । और उपरोक्त आधिक दानरूपसे जो उस इतइत्य परमपुरुषकी प्रवृत्ति है, यह योगाश्रित पूर्ववचके उच्य होनेसे ही है, आशमस्वभावके किंचित् भी विरतभावसे नहीं ।

इस तरह संशेयमें उत्तर समझना । निवृत्तिराग असुर प्राप्त कर अधिकाधिक मनन करनेमें विशेष समाधान और निर्देश होगी । सोझास चित्तसे इनीकी अनुपस्था करनेसे अनंत कमका क्षय होता है । ॐ शान्ति- शान्ति- शान्तिः

८४० आहमदाबाद भीमदास वैशाख सुदी ६, १९५६

(१) आहमदाबाद आधिके सुचर्चमें जो कहा है, और बीमारोपण किया है, उस बात में शक नहीं; यह सत्य होगा ।

(२) एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हजारों शास्त्रोंका मान होकर उसमें उपयोग किए जाता है ।

(३) 'चतुर्धा है इगसे मिथ है'—यह बातें जाकर समझमें आवेगा ।

८४१

मेरवी, वैशाख सुदी ८, १९५६

ॐ भगवद्गीतामें पूर्णपर-विरोध है, उसे देखनेके लिये उसे मेरी है । पूर्णपर-विरोध क्या है यह अवलोकन करनेसे मालूम होगा । पूर्णपर-अविरोध दर्शन और पूर्णपर-अविरोध ब्रह्मणो कीतव्यके ही हैं ।

भगवद्गीताके ऊपर विचारण्य स्वामी, ज्ञानेश्वरी आदि के अनेक भाष्य-टीकाएँ रची गई हैं । हरेक कोई अपनी अपनी मध्यमताओंके ऊपर चढ़े गये हैं । विचारण्यवादी टीका जो हमें मेरी है, यह अधिक स्पष्ट है ।

अभिमत नमुनार्थ (गीताके ऊपर) विवेचनका टीका करते हुए बहुत मित्रों को दिया है—विचारणीय बात दी है । विद्वत्ता और ज्ञानको एक नहीं समझना चाहिये—वे एक नहीं हैं; विद्वत्ता हो सकती है फिर भी ज्ञान न हो । सभी विद्वत्ता तो यह है जो आध्यात्मिक लिये हो जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मवत्त समझमें आवे—यह प्राप्त हो । जहाँ आत्मार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, वहाँ विद्वत्ता हो भी सकती है नहीं भी ।

मणिमार्ग (पद्मदर्शनसमुच्चयके प्रस्तावनामें) कहते हैं कि : हरिमन्त्रसूत्रको वेदोंकी स्वर म थी । यदि उन्हें केन्द्रकी स्वर होती तो ऐसी कुशाग्र-बुद्धिवाले हरिमन्त्रसूत्र जैनदर्शनकी ओरसे अपनी बुद्धिको फिटकर वेदोंकी बन जाते । मणिमार्गिक ये ब्रह्मण्य मन्त्राभिनविषासे निकले हैं । हरिमन्त्रसूत्रको वेदोंकी स्वर थी या नहीं—इस बातकी मणिमार्गिक यदि हरिमन्त्रसूत्रकी धर्मसंज्ञणी देखी होती तो उन्हें स्वर पड़ जाती । हरिमन्त्रसूत्रको वेदों की स्वर समस्त दर्शनोंकी पर्यालोचनापूर्वक ही उन्होंने जैनदर्शनकी पूर्णपर-अविरोध मनीषि की थी । यह अवलोकनसे मालूम पड़ेगा । पद्मदर्शनसमुच्चयके माध्यमसे दोष होनेपर भी मणिमार्गिक माध्यम टीका किया है । यह सुनाया जा सकता है ।

८४२

श्रीमेरवी, वैशाख सुदी ९, १९५६

ॐ वर्तमानकालमें क्षयरोग निरोध कहा है और कहा जाता है इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी आत्मस्य और निरस्य आधिक्य आस्तिक है । क्षयरोगका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्तन है ।

८४३

वाराणसी वैशाख १९५६

१ ॐ यथार्थ ज्ञानदशा सम्पन्नत्वदशा और उपशमदशाओं तो जो यथार्थ मुमुक्षु और उद्युक्तके समक्षमें आता है, नहीं जानता है ।

मिनके उपदेशसे बेसी दशाके अश प्रगट हुए हों, उसकी अपनी निजकी दशमें वे गुण कैसे उकड़ खाने आधिये, उसका विचार करना सुगम है, और निजका उपदेश एकत्र न्यायमक हो, उससे कैसी एक भी दशा प्राप्त होनी समझ नहीं । सत्पुरुषकी वाणी सर्व न्यायमक रहती है ।

२ दूसरे प्रश्नोंका उत्तर —

(१) प्रश्न — क्या निज-आज्ञा-आराधक स्वाध्याय-ध्यानसे मोक्ष है या और किसी तरह ?

उत्तर — तथाकृत प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगमें अथवा किसी पूर्वके दृढ़ आराधनसे अब निनाज्ञा यथार्थ समझमें आती है, उसकी यथार्थ प्रतीति होती है, और उसकी यथार्थ आराधना होती है, तो मोक्ष होती है, इसमें संदेह नहीं ।

(२) प्रश्न — ज्ञान-प्राप्तिसे सर्व वस्तुओंको जानकर, जो प्रत्याख्याल-प्राप्तिसे उनका पक्कखान करता है, उसे पवित्र कहा है ।

उत्तर — वह यथार्थ है । जिस ज्ञानसे परमात्मके मोक्षका उपशम अथवा क्षय न हुआ हो, उस ज्ञानको अज्ञान ही कहना आधिये, अर्थात् ज्ञानका लक्षण परमात्मके प्रति उदासीन होना ही है ।

(३) प्रश्न — जो एकत्रज्ञान मानता है, उसे मिथ्यात्मी कहा है ।

उत्तर — वह यथार्थ है ।

(४) प्रश्न — जो एकत्रक्रिया मानता है, उसे मिथ्यात्मी कहा है ।

उत्तर — वह यथार्थ है ।

(५) प्रश्न — मोक्ष जानेके चार कारण कहे हैं । तो क्या उन चारमेंसे किसी एक कारणको छोड़कर मोक्ष जाते हैं, अथवा चारोंके संयोगसे मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर — ज्ञान, दर्शन चारित्र्य और तप ये मोक्षके चार कारण कहे हैं, उनके परस्पर अविरोधमात्रसे प्राप्त होनेपर ही मोक्ष होती है ।

(६) प्रश्न — समकित्त अध्यात्मकी शौजी किस तरह है ?

उत्तर — यथार्थ समझमें आनेपर परमात्मके आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है । निजनी जितनी निवृत्ति होती है, उतने उतने ही सम्यक् अश होते हैं ।

(७) प्रश्न — पुत्रसंसे राती रहे-इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उत्तर — पुत्रसंमें आसक्ति होना मिथ्यात्वभाव है ।

(८) प्रश्न — ' अतएवमा परमात्माका ध्यान करे '—इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उत्तर — अतएवमात्मरूपसे जो परमात्मस्वरूपका ध्यान करता है, वह परमात्मा हो जाता है ।

(९) प्रश्न — ज्ञानमें कौनसा ध्यान रहता है ? इत्यादि ।

उत्तर — सद्गुरुके कथनको बारम्बार विचार कर, अनुप्रेक्षण कर, परमात्मके अहमात्मको असंग करना ।

(१०) प्रश्न — समकित्त मान रखा कर, विषय आदिकी आकर्षण और पुत्रछयाके सेवन करनेमें कोई बाधा नहीं, और हों बंध नहीं है—ऐसा जो कहता है, क्या वह यथार्थ कहता है ?

उत्तर — ज्ञानीके मार्गकी दृष्टिसे देखनेसे तो वह मात्र मिथ्या ही कथन करता है । क्योंकि पुत्र-

मायसे तो मोग करते आमा और कहना कि आत्माको कर्म छगते नहीं, तो यह इन्हींकी इष्टिका बचन गयी—यह केवळ बचन-झानीका ही बचन है ।

(११) प्रश्न — जैनदर्शन कहता है कि पुत्रसम्प्राप्तिके कम होनेपर आश्रमस्थान फर्कीम होगा, तो क्या यह ठीक है ?

उत्तर — यह अपार्य कहता है ।

(१२) प्रश्न — स्वमायाशा क्या फल देती है ?

उत्तर — यह तयाकूप सम्पूर्ण हो तो मोक्ष होती है ।

(१३) प्रश्न — विमाकदसा क्या फल देती है ?

उत्तर — जन्म, जय मरण आदि संसार ।

(१४) प्रश्न — नीतरागकी आज्ञासे यदि पोतसीकी स्वाभ्यास करे तो उससे क्या फल होता है ?

उत्तर — यह तयाकूप हो तो यावत् फल मोक्ष होती है ।

(१५) प्रश्न — नीतरागकी आज्ञासे यदि अपोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उत्तर — यह तयाकूप हो तो यावत् फल मोक्ष होती है ।

— इस तरह तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपसे उत्तर लिखता हूँ ।

१. वैश्विकमाय छोड़कर, बचनझान छोड़कर कल्पित विधिनियेषका त्यागकर, जो जो प्रत्यक्ष इन्हींकी आज्ञाका आराधन करे, तयाकूप उपदेश लेकर, तयाकूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है उसका कल्प कल्याण होता है ।

निजकल्पनासे ज्ञान दर्शन आदि आदि स्वरूप बड़े जिस तरह समझकर, अपना निज पहचान बोध ईश्वर, जो सम्पूर्णज्ञानके कोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्मज्ञान कल्याण होना समझती है । अपना कल्पित व्यवहारके दुरुपयोगमें डके रहकर, प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होने संभव नहीं ।

* ज्यों ज्यों जे जे योग्य छे तहाँ समज्यो तेह ।

स्यों स्यों ते ते आचरे आत्माहीं जन पूह ॥

एकदंत किया-ब्रह्ममें अपना एकदंत छुपानसे जीवका कल्याण नहीं होता ।

८४४ ब्रह्मजीवा, वैराग्य कदी ८ मास १०५

ॐ प्रमत्त ज्योत प्रमत्त ऐसे आत्मकतके जीव हैं, और परमपुरुषोत्तम अप्रमत्तमें सब अप्रमत्तुति करी है । इसलिये उस विरोधके शांत होनेके लिये परमपुरुषका सनागम-ब्रह्मका योग-पद मिलकरती है । ॐ शान्ति

८४५ ब्रह्मजीवा वैराग्य कदी ९ मास १०५

ॐ मोक्षमार्गमें श्रमोत्तर अपना प्रसंगविशेषमें कोई बाधपूर्ण करनेकी इति हो तो करना उपोदात्त आदि किसनेकी इति हो तो किन्ना । जीवकचरित्रकी इति उपशान्त करना ।

* यह एक प्रकारका उपनिषद् है । इसमें प्रथम प्रश्नका शीघ्र उत्तरका त्याग किया गया है ।
* अज्ञानविधि

— मनुष्यक.

उपादातसे वाचकको, श्रोताको, अक्षय अक्षय मतांतरकी दृष्टि विसृत होकर, जिससे ज्ञानी पुरुषोंके आत्मस्वभावरूप परमधर्मक विचार करनेकी स्फूर्णा हो, ऐसा सामान्यतः कष्ट रहना । यह उद्देश्य सूचना है । शान्ति

८४६ बवाणीमा, वैशाख वरी ११ शनि १९५६

ॐ जहाँ बहुत विरोधी गृहबासीयन अपना जहाँ आहार आदिका जनसमूहका सकोचभाव रहता हो, वहाँ चतुर्मास करना योग्य नहीं, मही तो सब क्षेत्र भेयकारी ही हैं ।

आत्मापीको विशेषका हेतु क्या हो सकता है ? उसे तो सब समान ही हैं । आत्मभावसे विचारते हुए ऐसे आर्य पुरुषोंको घम्य है । ॐ शान्ति ।

८४७ बवाणीमा, वैशाख वरी १५ सोम १९५६

(१)

ॐ आर्य मुनिवरोंके लिये अनिवार्यमात्र संभव है । निनयमक्ति यह मुमुक्षुओंका धर्म है ।

जनादिसे चपल ऐसे मनको स्थिर करना चाहिये । प्रथम वह अल्पतत्त्वसे सामने होता हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं । क्रम क्रमसे उस मनको महात्माओंके स्थिर किया है—शान्त किया है—क्षय किया है—यह सचमुच आश्चर्यकरक है ।

(२)

• स्थायोपशमिक असंख्य, स्थायक एक अनन्त—अप्यहमगीता

मनन और निदिध्यासन करनेसे, इस वाक्यसे जो परमार्थ अतत्त्वदृष्टिमें प्रतिमास्ति हो, उसे यथाशक्ति किञ्चना योग्य है । शान्ति

(१)

ॐ यथार्थतत्त्वसे देखें तो शरीर बेन्नाकी मूर्ति है । समय समयपर जीव उसके हाथ बेन्नाका ही अनुभव करता है । क्वचित् साता और नहीं तो प्रायः वह असाताका ही बेन्न करता है । मानसिक असाताकी मुख्यता होनेपर भी वह सूक्ष्म सम्पत्तिको माटूम हो जाती है । शारीरिक असाताकी मुख्यता त्वस दृष्टिमानको भी माटूम हो जाती है । जो बेदना पूर्वमें सुख बंधनसे जीवन बंधी है, उस बेदनाके उदय होनेपर उसे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र अपना मिनेन्द्र भी योक्तृको समर्थ नहीं । उसका उदय जीवनको बेन्न करना ही चाहिये । अज्ञानदृष्टि जीव उसका सेन्स बेदन करे, तो भी कुछ वह बेन्ना घटती नहीं, अपना होती हुई रुकती नहीं । तथा सत्यदृष्टिमान जीव यदि उसका द्रष्टृभावसे बेन्न करे, तो वह बेदना बढ़ नहीं जाती । हाँ, वह मरीन बंधका हनु मही होती—उससे पूर्वकी बडरल निर्दश होती है । आत्मापीको यही कर्तव्य है ।

मारसे तो भोग करते जाना और कहना कि जाहमाको कर्म सगते नहीं, तो वह ज्ञानीको इष्टिब बचन नहीं—वह केवल बचन-ज्ञानीका ही बचन है ।

(११) प्रश्न — जैमदर्शन कहता है कि पुत्रहत्याके कर्म होनेपर आत्मभान फटीमूत होगा, तो क्या वह ठीक है ?

उत्तर — वह यथार्थ कहता है ।

(१२) प्रश्न — स्वभावज्ञा क्या फल देती है ?

उत्तर — वह तथारूप सम्पूर्ण हो तो मोक्ष होती है ।

(१३) प्रश्न — विभावज्ञा क्या फल देती है ?

उत्तर — जन्म, मरण आदि ससार ।

(१४) प्रश्न — वीतरगकी आझसे यदि पोरसीकी स्वाध्याय करे तो उससे क्या फल होता है ?

उत्तर — वह तथारूप हो तो पावत् काष्ठ मोक्ष होती है ।

(१५) प्रश्न — वीतरगकी आझसे यदि >पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उत्तर — वह तथारूप हो तो पावत् काष्ठ मोक्ष होती है ।

— इस तरह तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपसे उत्तर लिखता हूँ ।

१. औक्तिमार्ग छोड़कर, बचनज्ञान छोड़कर, कल्पित विभिन्नपेक्षका त्यागकर, जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आझका आराधन कर, तथारूप उपदेश लेकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है, उसका कर्मदय कल्याण होता है ।

निष्कर्मफलसे ज्ञान दर्शन आदि आदिका स्वयं चढ़े जिस तरह समस्तकर, अपना निष्-
पाप्मक बोक सीककर जो सुदृष्ट्यहारेके जेप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्मका कल्याण होना सम-
नहीं । अपना कल्पित व्यवहारके दुष्प्रभमें रुके रहकर, प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं ।

॥ ज्यो ज्यो जे जे योग्य छे, तहाँ समजबु तेह ।

स्यां स्यां छ ते आचरे, आत्माधी बन एह ॥

एकदंत किया-इहकमें अपना एकदंत दुष्प्रभज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता ।

८४४ बवाणीका वैशाख कदी ८ मंगल १०५६

ॐ प्रमत्त व्यक्त प्रमत्त ऐसे आजकलके जीव हैं, और परमपुरुषोंने अप्रमत्तमें रहकर आत्मवृत्ति कही है । इसलिये उस विरोधके शांत होनेके लिये परमपुरुषका समागम—चरणका योग—ही परम द्रष्टव्य है । ॐ शान्ति

८४५ बवाणीका वैशाख कदी ९ बुध १०५६

ॐ मोक्षमार्गमें शम्भुतर अपना प्रसंगविशेषमें कोई वाक्यांतर करनेकी वृत्ति ही तो करना । उपोद्घात आदि किन्हेकी वृत्ति हो तो लिखना । जीवनचरित्रकी वृत्ति उपोद्घात करना ।

× वह एक प्रकारका लक्ष्मण है । इसमें प्रथम प्रत्यक्ष मौखिक आदिका ज्ञान किया जाता है ।
॥ आत्मवृत्ति

—अनुवादक

समयके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हा तो मनुष्यका बचन नहीं पड़ता । तथा बचनरहित मनुष्य इस अगत्में किसी कामका नहीं ।

अपनेको मिठी हूँ मनुष्यदेह भगवान्की मक्ति और अच्छे काममें व्यतीत करनी चाहिये ।

८५१

ब्रह्मणीशा, ज्येष्ठ कृती १०, १९५६

ॐ पत्र मिठा । शरीर-प्रकृति स्वस्वास्थ्य रहती है, विशेष करमा योग्य मही ।

हे आर्य ! अतर्मुख होनेका अभ्यास करो । शान्तिः ।

८५२

ब्रह्मणीशा, ज्येष्ठ कृती १५ सुच १९५६

ॐ परम पुरुषका अभिमत अभ्युत्तर और बाय दोनों समयका उल्लासित मक्तिस नमस्कार हा । मोक्षमात्रक सबधमें जैसे तुम्हें सुख हो ऐसा करो ।

मनुष्यता, आर्यता, ज्ञानीके बचनोंका अधन, उसके प्रति आस्तिक्यभाव, समय, उसके प्रति श्रद्धा, प्रतिकूल योगमें भी स्थिति होना, अंतर्पर्यंत सम्पूर्ण माग्यक समुद्रका पार हो जाना—ये उच्चोत्तर दुःख और आपन कठिन हैं इसमें छंदेह मही ।

शरीर-प्रकृति कचित् ठीक देखनेमें आती है, और कचित् उससे विपरीत भी देखनेमें आती है । इस समय कुछ असहायकी मुद्रयता देखनेमें आती है । ॐ शान्ति

(२)

ॐ बचनचर्चाकी सनसत सपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समयमात्र भी विशय मूल्यवान है, एही हूँ मनुष्यदेहका, और परमार्थको अनुकूल याग प्राप्त होनेपर यदि जन्म मरणसे रहित परम-पञ्च ध्यान न रहा, तो इस मनुष्यव्रतका अधिष्ठित इस आत्माको अनतबार निवार हा ।

जिन्होंने प्रमात्ताका जय किया, उन्होंने परमपञ्चका जय किया । शान्ति

(३)

शरीर प्रकृतिकी अनुकूल-प्रतिकूलताका आधीन उपयोग करना उचित नहीं । शान्ति

८५३

जिससे ममबिता प्राप्त हा, उस ममिको जितामगि कहा है । यह यही मनुष्य कह है कि जिस देहमें-योगमें-आधुनिक सर्व दुःखक क्षय करनेका चिंतन किया हो ता पार पड़नी है ।

जिसका अधिन्य माहात्म्य है, ऐसा ममसंगर्षी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर भी जीव दलित बना रहे, तो इस अगत्में यह ग्यारहवाँ आसर्ष्य है ।

८५४

ब्रह्मणीशा आशु सुनी १ सुच १९५६

(१)

ॐ दो समय उपदेश और एक समय आहार-ग्रहण, तथा निद्राके समयका छाड़कर बाकीका

मे शरीर नहीं, परन्तु उससे भिन्न ज्ञापक आत्मा ॥ आर नियम शासक है । यह वेदना मात्र पूर्वकर्म है, परन्तु यह मरत स्वल्प नाग करनेका समर्थ नहीं । इसलिये मुझे खेद नहीं करना चाहिये—इस तरह आत्माधीका अनुप्रेक्षण होगा है । ३

८४८

ब्रह्मगीता ग्येष्ठ सुगी १२, १९५६

आर्य त्रिभुवनके अल्प समयमें शास्त्रवृत्तिसे देहोत्सर्ग करनेकी शक्ति सुगी । सुशील मुमुक्षुने अल्प स्थान ग्रहण किया ।

जीवके विविध प्रकारके मुख्य स्थान हैं । दशलोकेमें इन्द्र तथा सामान्य त्रयस्त्रिंशत् आदि स्थान हैं । मनुष्यलोकेमें चक्रवर्ती ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैदिक आदि स्थान हैं । तिर्यग्लोके भी कहीं-कहीं मोगमूर्ति आदि स्थान हैं ।

उन सब स्थानोंको जीव छोड़गा इसमें सन्देह नहीं । ये जाति, गोती और वधु आदि इन सबका अशासन अनियम बाध हैं । शान्ति

८४९

ब्रह्मगीता, ग्येष्ठ सुगी १३ सोम १९५६

(१)

३ मुनियोंको आनुर्माससंरक्षी भिक्षु कहेंगे हा सफ़ता है । निर्मल्य क्षेत्रको कित्ति छिपेते हैं ? सिंका या कोई सबब ही नहीं ।

निर्मल्य महात्माओंका दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्पत् प्रतीति करता है ।

तपस्व महात्माओंके एक आर्य वचनका सम्पत् प्रकारसे अपभारण जानसे वास्तव का उन्मेष होती है वेना धीमान् दीर्घचरन कहा है वह वयाप है । इस जीवमें तपस्व वास्तवताकी आवश्यकता है । शान्ति ।

(२)

३ पत्र आर समयसारकी प्रति भित्री । बुद्धिबुद्ध्याचार्यन समयसार मध्य युग है । इस मध्यका कथा युग है और मध्यका नियम भी युग है । मध्य उत्तम है ।

आर्य त्रिभुवनकी दशमग कर्मकी गहर सुनें भित्री उसमें रोने हुआ वह वयाप है । पमे काउमें आर्य त्रिभुवन जेमे मुमुक्षु शिखर ही है । दिन प्रतिदिन शांतासपासे उत्तरी आत्मा स्वल्प-उत्थिता हागी जागी थी । कर्मनस्वका गुणमगम विचार कर, निष्कामन कर आत्माका सन्तुष्टी परिणितका दिग्गम नियम हा—पम उत्तम मध्य लक्ष्य था । उत्तरी शिखर आयु हागी तो वह मुमुक्षु आरि-वदध धीमन् कर्मके पिये अरुण प्रवृत्ति करगा । शान्ति शान्ति शान्ति

८५०

ब्रह्मगीता अर्धे वगी ९ शुक्र १९५६

प्यमन बानेने बहना है आर नियमसे रणनेने नियमसे रहना है । व्यमनमे ब्रह्मना बहना मुक्तमन हागा है मग्न मन परसा हो जागा है । इसीसे हम काह और परलोकका बन्धन पूर जागा है ।

पद्मनन्दि, गोम्मटसार, आत्मानुशासन, समयसारगुह्य इत्यादि परमशास्त्र अतः अम्यपन होता होगा। आत्माके शुद्ध स्वरूपका स्मरण करते हैं। ॐ शान्ति

८५६

गोरखी आषाढ सुनी १९५६

१ प्रश्नपरसनियमं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, यदनकमलमकं कामिनीसंगमन्यः ।

करयुगमयि यत्ते शस्त्रसंबन्धवर्ष्यं, तत्रसि जगति देवी वीतरागस्त्वमेव ॥

—तेरे दो नेत्र प्रहामरसमें डूबे हुए हैं—परमशास्त्र रसका अनुभव कर रहे हैं। तेरा मुसकन्त प्रसन्न है—उसमें प्रसन्नता व्याप्त रही है। तेरी गोरी बाँके सगसे उलित है। तेरे दोनों हाथ शस्त्रसे उलित हैं, अर्थात् तेरे हाथोंमें शस्त्र नहीं है—इस तरह हे देव ! जगत्में तू ही वीतराग है।

देव कौन ? वीतराग ! दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी ? जो वीतरागता सूचन करे।

२ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्यका उत्तम प्रप्य है। श्रम्यको—कस्तुको—यथावत् सञ्चमें रसकर, इसमें वैराग्यका निकमण किया है। गतवर्ष मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्तिकस्वामी इस भूमिमें बहुत विचरे हैं। इस ओरक मद्र, मय्य, ऊँचे और जडोळ वृत्तिसे खड़े हुए पहाड़ देखकर, स्वामी कार्तिकेय आदिकी जडोळ वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति याद आती थी। नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय आदिको !

८५७

गोरखी आषाढ बदी ४ मंगल १९५६

ॐ संसृष्टके अम्यासके योगके सबधमें लिखा परन्तु जबतक आत्मा सुद्ध प्रतिष्ठामें प्रवृत्ति न करे तबतक आत्मा करनी मयकर है।

जिम नियमोंमें अविचार आदि सगे हों, उनका ह्यासु श्रीमुनियोंसे यथाविधि प्रापदिष्ट लेकर आत्मशुद्धि करना उचित है; नहीं तो वह मयकर तीव्र बंधका हेतु है। नियममें स्वेच्छाचारसे प्रवर्तन करनेकी अपेक्षा मरना श्रेयस्कर है—ऐसी महान् पुरुषोंकी आज्ञाका कोई भी विचार नहीं रखना ! तो फिर ऐसा प्रमाद आत्माको मयकर क्यों न हो !

८५८

गोरखी आषाढ बनी ५ बुध १९५६

ॐ कदाचित् यदि निवृत्ति-मुक्त्य स्थलकी स्थितिके उदयका अवसर प्राप्त हो, तो हे आर्य ! तुम आषाढ बदी ११ से भाद्रपद सुदी १५ तक सत्ता सन्निध परम निवृत्तिको इस तरह सेवन करना कि जिससे समागमनासी मुमुक्षुओंको तुम विशेष उपकारक होओ; और व सब निवृत्तिमूल सद्निपमोंका सेवन करते हुए स्वराम-अभ्यपन आदिमें एकाग्र हो, यथाशक्ति ज्ञान नियम गुणके प्रवृत्ति करनेवाले हो।

शरीर-प्रवृत्तिमें सबक आसक्तताके उदयसे यदि निवृत्ति-मुक्त्य स्थलका अवसर याज्ञ होना, तो यहसे प्राय तुम्हारे अभ्यपन मनन आदिके लिये योगशास्त्र पुस्तक भेजेगी; जिसके चार प्रकाश दूसरे मुमुक्षु मर्यादोंको भी अग्रण करनेसे परम लाभ होगा संभव है।

अपका मुस्यतया वस्त्र-विचारमें, पद्मदि आदि शास्त्रोंके अवलोकनमें, और वस्त्रभ्यासमें व्यतीत करना उचित है। कोई बर्त या बर्त कभी कुछ प्रसन्न आदि करें तो उनका उचित समाधान करना चाहिये, जिससे उनकी वस्त्रा शांति हो। अथवा जिससे निषेधक वस्त्र उपदेशरूपसे न कहते हुए, जिस तरह कुछ क्रियामें योग्यता कृति बड़े, उस तरह क्रिया करते रहना चाहिये।

उपहारके लिये, जैसे कोई मनुष्य अपनी कर्माके अनुसार सामयिक कृत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिससे उसका वह समय उपदेशके अवर्णनमें, स्वस्वार्थके अव्ययनमें अथवा कल्याणार्थमें व्यतीत हो, उस तरह उसे उपदेश करना चाहिये। किंचित्काल आभासरूपसे भी सामयिक कृत आदिक निषेध कृत्योंमें भी न जाने, उसे ऐसी गंभीरतासे कुछ क्रियाकी प्रेरणा करनी चाहिये।

एक प्रेरणा करते हुए भी जिससे उचित होकर जीव उन्नत हो जाता है अथवा 'तुम्हारी वह क्रिया बचकर नहीं'—इत्यादिसे भी तुम्हें बोध देकर वह उस क्रियाको छोड़ देता है—ऐसा प्रसन्न जीवोंका स्वभाव है और योग्यता उचितमें ऐसा आता है कि तुमने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थता रहकर, अपनी वस्त्राका हित करते हुए, ज्यों ज्यों दूसरेकी वस्त्राका हित हो, त्यों त्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये; और ज्ञानके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना चाहिये यही निर्बलका सुन्दर मार्ग है।

स्वाभिवृत्ति जिससे प्रसन्न न हो और दूसरेकी अविवेकमात्से अस्तिव्यवृत्ति बंधी, वैसा उसका अव्यय हो, क्रियाकी वृद्धि हो, तथा कल्पित अशक्त वृद्धि न हो, और अपनी और परकी वस्त्राको शांति हो इस तरह प्रवृत्ति कथनेमें उदासित वृत्ति रहना। स्वस्वार्थके प्रति जिससे कृति बड़े वैसा करना। ॐ शान्ति

(२)

१ × वी माते तथा कर जोड़ी, मिनवर आगम कहिये १।

समयचरण सेवा शुद्ध हैनी, जेम आनंदरूप कहिये २।

२ मुस्यु मर्त्योंको जिस तरह अक-निश्चय न हो उस तरह तीर्थके लिये गमन करनेमें आकाश अतिक्रम नहीं। ॐ शान्ति

८५५

गोरखी, आपात कवी ९ द्वाद १९५९

(१)

१ सत्यक प्रकारसे वेदना सहन करनेका परमपुरुषोंने परमधर्म कहा है।

२ तीर्था वेदनाका अनुभव करते हुए स्वल्प-अंशवृत्ति न हो यही शुद्ध आदिक मार्ग है।

३ उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है उस ज्ञानमें तीर्थ वेदना परम निर्बल मानने योग्य है। ॐ शान्ति

(२)

ॐ आकाश पृथिवीका आकाशसत्त्वजी जो किंचित् भी अपराध हुआ हो, उसकी मन्त्रतासे ध्या योगता है।

योग्य है। ज्ञानीके मार्गकी प्रतीतिमें जिससे निःसंशयभाव प्राप्त हो, और उत्तम गुणवत्त, नियम शील और तेज गुरु धर्मकी भूमिमें जीव परम उद्घासित होकर वर्तन करे, ऐसी सुदृढ़ता करनी योग्य है, और बही परम मंगलकारी है।

३. अहाँ स्थिति करा बहाँ अपना पसा बर्तन रखना कि जिससे समागमवासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीति सुदृढ़ हो, और वे अप्रमत्तभावसे सुशिक्षणी बुद्धि करें । ॐ दान्ति

468

मोरबी, धारण वी १०, १९५६

ॐ आत्र योगशास्त्र प्रथकोऽध्याये भेदा न्या ६ ।

मुमुक्षुओंके अध्ययन और श्रवण मननके लिये धारा ११ से मध्यम मुनी १५ तक मुनन, नियम और आर निवृत्ति-व्यवस्थाताके द्वारा इस ग्रन्थका उपयोग करना चाहिये।

प्रसन्नभावसे इस जीवका मुरा करनेमें कोई व्युत्पत्ति नहीं रहती, तथानि इस जीवको निब
दितका उपयोग नहीं, यही खेत्कारक है ।

६ आर्य ! हाउमें उस अप्रमत्तभावको उद्घासित करके मरने सुशोभित संयुक्त
अभ्युपन कर निश्चितसे आत्मभावका पोषण करना ।

462

मांरबी, धारण बनी १०, १०५६

શ્રીપ્રવચન આરાધન

१ एकान्त यागस्पृष्टम्

प्रमाणमे—(१) २४ गुरुप्री उक्त मन्त्रिद्वयमे अतएवाके प्पल्लूरुक् द पदीमे चार पदीक उपपांत वन

(२) मूल-पत्रनम् आदि वप्यपन, धराग

मध्याह्नमे—(१) चार घड़ी उग्रशान बन

(२) अन्न-कर्मस्थपरा अण्यपन, अन्न मुष्टि[प्रति]नामिनी आश्रित पोषा
अण्यपन

मन्त्राङ्गै—(१) अमास्ताका पाठ

(੨) ਦੋ ਧਰੀ ਤਤਕਾਲ ਕਮ

(३) कर्मविद्वत्कृष्णवर्मा

[illegible]

एकमीने नि नि, हूँ, म' दहीका भी ग्या। उन्-नउन्ने नि-न काउ दिन्ना, हो मने
म उन्ना करता।

हरिणी—मृदा त्याग (मृगे नि) ।

अथर्व—आगे निज दाय्या । बने नो भय—पुनः नह । राम

हे कार्य ! अस्वभावबन्धे दुःखमकाशमें प्रमाद करमा योग्य नहीं; तथापि आश्रयक जीवोंको पदार्थ सुख उपभोग रहता है ।

अस्मकजातीनासे पत्र लिखा है । ॐ शान्ति

८५९

भोरखी, भागण कदी ८ १९५९

(१) पद्मदर्शनसमुच्चय, योगप्रवृत्तिसमुच्चयका मार्गतर गुञ्जलामी करना योग्य है, सो करना । पद्मदर्शनसमुच्चयका मार्गतर हुआ है, परन्तु उसे सुधारकर फिरसे करना उचित है । धीरे धीरे होगा करना । अनेकजनजीवोंकीका कार्य भी विवेचनके साथ लिखना ।

(२) नयी दुर्धारायमादिबैरिबारमिबारिमे ।

अर्हते योगिनायाय महावीराय तामिनि ॥

श्रीश्रीमन्महाशार्य योगशास्त्रकी रचना करते हुए मगधराज्यमें नीतयगसर्वाङ्ग अखिल योगिनाय महावीरको स्तुतिक्रमसे नमस्कार करते हैं ।

जो ऐके एक नहीं सकते, जिनका रोक्ना बहुत बहुत मुश्किल है, ऐसे राजद्वेष अहंलक्ष्मी सत्त्वके समूहको जिसने रोका-नीता-जो नीतयग सर्वाङ्ग हुआ नीतयग सन्त होकर जो अर्हत् पञ्चनीय हुआ और नीतयग अर्हत् होकर, जिनका मोक्षके क्रिये प्रवर्तन है ऐसे मित्र भिम योगियोंका जो नाम हुआ—नेता हुआ; और इस तरह नाम होकर जो अगत्का नाम—तात—प्रता हुआ, ऐसे महावीरको नमस्कार हो ।

यहाँ सदैवके अयायगममातिशय, ज्ञानातिशय, वचनतिशय और पूजातिशयका सूचन किया है ।

इस मगधस्तुतिमें समग्र योगशास्त्रका सार समाविष्ट कर दिया है; सदैवका निरूपण किया है, समग्र अस्तुत्वरूप—तत्त्वज्ञानका—समावेश कर दिया है । कोई खोज करनेवाला चाहिये ।

(१) धैर्यिक मेकेमें वृत्तिको बचक करनेवाले प्रसंग विशेष होते हैं । सदा मेका तो सर्वगका है । ऐसे मेकेमें वृत्तिको बचकता कम होती है—दूर होती है । इसक्रिये ज्ञानियोंने सर्वगके मेकेका बखान किया है—उपदेश किया है ।

८६०

भोरखी भागण कदी ९ १९५९

ॐ शिवाय नमः

१ (१) परमनिवृत्तिका निरन्तर सेवन करना चाहिये यही ज्ञानीकी प्रथा है ।

(२) तथाकथ योगमें अवसर्यता हो, तो निवृत्तिकर सदा सेवन करना चाहिये अपना

(३) स्वयम्भूतको छिपाये किता, जितना बने उतना निवृत्ति सेवन करने योग्य अवसर प्राप्त कर, अन्तर्गत अवसर करना चाहिये यही आज्ञा है । अज्ञानी अतुर्दशी आदि परस्तिथियोंमें ऐसे आश्रयसे मुनिपमित वर्तनसे प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की गई है ।

२ जिस स्वयम्भूतकी सुखता हो, वहीं भागण कदी ११ से मगध पूर्वमगधक स्थिति करना

योग्य है। श्रान्तिके मार्गकी प्रतीतिमें जिससे निःशयमात्र प्राप्त हो, और उत्तम गुणवत्, नियम शीघ्र और देय गुण धर्मकी भूमिमें बर्ष परम उद्घासित होकर वर्त्तन करे, ऐसी मुदङ्गता करनी योग्य है, और वही परम मंगलकारी है।

३ जहाँ स्थिति कर वहाँ अपना ऐसा वर्त्तन रखना कि जिससे समग्रमात्रियोंको श्रान्तिके मार्गकी प्रतीति मुदङ्ग हो, और वे अप्रमत्तमात्रसे मुशीककी वृद्धि करें। ॐ शान्ति

८६१

मोखी, भाषण वनी १०, १०५६

ॐ आज योगशास्त्र ग्रन्थको हाकसु भेजा दिया है।

मुमुक्षुओंके अभ्यसन और श्रवण मननके लिये भाषण वनी ११ से भाषण वनी १५ तक सुवत्, नियम और आर निवृत्ति-व्यवस्थाका हनुसे इस ग्रन्थका उपयोग करना चाहिये।

ममत्तमात्रसे इस जीविका कुछ करनेमें कोई न्यूनता नहीं रखनी, तथापि इस जीविको निवृत्तिवत् उपयोग नहीं, वही लेख्यकारक है।

हे आर्य ! हाउमें उस अप्रमत्तमात्रका उद्घासित बीपसे म करके मुशीकसहित समुत्तका अभ्यसन पर निवृत्तिसे आत्ममात्रका पोषण करना।

८६२

मोखी, भाषण वनी १०, १०५६

श्रीपयूपण आराधन

१ एकत्र पामारण्ये

प्रभातमें—(१) दश गुरुकी उग्रवृत्ति मतिवृत्तिमें अनन्तराके ध्यानपूर्वक दो घड़ीसे चार घड़ीतक उपशान्त व्रत

(२) क्षुण्ण-वसनति अग्नि अभ्यसन, श्रवण

मध्याह्नमें—(१) चार घड़ी उपशान्त व्रत

(२) श्रवण-धर्मप्रदका अभ्यसन, श्रवण मुनिवृत्तिमतिवृत्ति आदि का पाठ अभ्यसन

संज्ञात्में—(१) उक्तान्तरा पाठ

(२) ११ घड़ी उपशान्त व्रत

(३) बन्धनवत्तक हानवर्त्त

२ मत्त प्रकारक शक्तिमात्रका मर्त्यता त्याग। हा मत्त तो मात्त पूर्वमतक दश सदय आचार निवृत्ति

दशमीके दिन श्री, हृष, मत्त, दहीका भी त्याग। उत्तराश्विमें शिव काव विन्यास; दो मत्त तो उत्तराश्वि व्रत।

हविषा—मत्तका शिव (आगे नि)।

मत्तवत्त—आगे निवृत्ति मत्त। बने तो मत्त पूर्वमतक। दमय,

८६३

x व्याख्यानसार और प्रश्नोत्तर

(१)

गोरखी, आपस सुदी ४ रवि १९५६

- १ ज्ञान वैराग्यके साथ, और वैराग्य ज्ञानके साथ होता है—जैसे नहीं होता ।
- २ वैराग्य शृंगारके साथ नहीं होता, और शृंगार वैराग्यके साथ नहीं होता ।
- ३ नीतरमा-वचनके अनुसार विसे इन्द्रिय-सुख निरस न कहा, उसे ज्ञानीके वचन कलमें ही पड़े नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।

४ ज्ञानीके वचन निरसके निरसण करनेवाले हैं ।

५ छत्रस्य अर्थात् आशरणसुख ।

६ शौक्यकारण (शौक्य=पर्यटन=सायाहल)—पर्यटनमें मगान् मेड़के समान लक्ष्य-अवग ।

७ अर्कप गुणवाक्य=मन वचन कायके योगकी स्थिरतावाक्य

८ मोक्षमें अहमके अनुभवका यदि माहा होता हो तो फिर मोक्ष किस कामका ?

९ अहमका उर्ध्वभाव है तदनुसार अहम प्रथम ऊँची जाती है; और कदाचित् वह सिद्धिस्तक भटक जाती है, परन्तु कर्मकमी बोधा होनेसे वह फिर नीचे वा जाती है जैसे हुआ हुआ मनुष्य उछाजा केनेसे एकवार ऊपर आता है, परन्तु फिर नीचे ही चला जाता है ।

(२)

आपस सुदी ५ सोम १९५६

१ जैन अहमका स्वकप है । उस स्वकपके (धर्मिक) प्रवर्धक भी मनुष्य ही थे । उदाहरणके लिये वर्तमान अवसर्पिणीकाष्ठमें श्रमण आदि धर्मके प्रवर्धक थे । इससे कुछ ठगों अनर्दि अहमवर्मका निचार न था—यह बात न थी ।

२ अहमग दो हजार वर्षों अधिक हुए जैनपति शिखरसूरि आचार्यने कैदोंको क्षत्रियोंके साथ मित्रा दिया ।

३ उत्कर्ष अवकर्ष और संक्रमण ये स्वतन्त्र होनेवाली कर्मप्रवृत्तिका ही हो सकते हैं—उत्कर्षमें आई हुई प्रवृत्तिके नहीं हो सकते ।

४ आसुर्कर्मका भिन्न प्रकारसे वह होता है उस प्रकारसे दोहस्तिथि पूर्ण होती है ।

५ ओष्ठवाक ओरपाक जातिके उपप्लूत हैं ।

६ जनेमें न होकर, यह एकतरा दर्शनारणीय कर्म नहीं कहा जाता, परन्तु मंद दर्शनारणीय कहा जाता है । तमसुका मिमित और तेजसुका अभाव उसीको लेकर होता है ।

७ दर्शनके इकनेपर ज्ञान रुक जाता है ।

८ हेतुको जाननेके लिये ज्ञानको बढ़ाना चाहिये । जैसा वजन हैसे ही बात ।

x संवत् १९५६ में जिस समय श्रीमद् राजवन्धव योतीमें थे, उस समय उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे, उन व्याख्यानको एक एक अध्याय अपनी लघुलिपि अनुसार लिख लिया था; उसीका यह संक्षिप्त सार यहाँ दिया गया है ।

—मनुष्यार्क.

१२ सङ्क्रमण व्यक्ताय उत्कर्ष आदि करणका नियम, जबतक वायुकर्मवर्णा सत्तामें हो, तब तक लागू हो सकता है। परन्तु उत्पत्ता प्रारंभ होनेके बाद यह लागू नहीं पड़ सकता।

१३ वायुकर्म पृथक् समान है; और दूसरे फल इसके समान है (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है)।

१४ वायु दो प्रकारकी है—सोपक्रम और निरूपक्रम। इसमेंसे जिस प्रकारकी वायु बौनी हो, उसी तरहकी वायु मोली जाती है।

१५ उपशमस्मरण शयोरुपशम होकर ध्यायिक होता है। क्योंकि उपशम सत्तामें है इसलिये यह उदय आकर क्षय होता है।

१६ चक्षु दो प्रकारकी होती है—ज्ञानचक्षु और धर्मचक्षु। जैसे धर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह वस्तु दुरभीम सूक्ष्म-दर्शक आदि यंत्रोंसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखाई देती है; वैसे ही धर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्नरूपसे ही दिखाई देती है और उसी तरह कही जाती है। फिर भी उसे अपनी होशियारीसे—ब्रह्मानन्द—न मानता, यह योग्य नहीं।

(४)

आपन्न सुदी ७, बुध १९५६

१ श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्यने ब्रह्मपाहुद (ब्रह्मप्राप्त) की रचना की है। प्रायतन्त्रि मेव — दर्शनप्राप्त ज्ञानप्राप्त चारित्रप्राप्त इत्यादि। दर्शनप्राप्तमें विज्ञानमात्रका स्वरूप बताया है। शास्त्रकर्ता कहते हैं कि ब्रह्म मानोंको हमने, तुमने और देवादिदेवोंतकने पूर्वमें सेवन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इसलिये विज्ञानमात्रके सेवन करनेकी जरूरत है। वह विज्ञानमात्र शांत है, आत्मका धर्म है और उसके सेवन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२ चारित्रप्राप्त

३ जहाँ ब्रह्म और उसकी पर्याय नहीं माने जाते; जहाँ उसमें विकल्प होनेसे उच्छ्वसन हो जाती है। पर्यायोंको न माननेका कारण उत्तन वंशको नहीं पहुँचना ही है।

४ ब्रह्मकी पर्याय है यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है परन्तु जहाँ ब्रह्मका स्वरूप समझनेमें विकल्प रहनेके कारण उच्छ्वसन हो जाती है और उससे ही मटकना होता है।

५ सिद्धपद ब्रह्म नहीं है परन्तु आत्मका एक सुख पर्याय है। यह पद पहिले जब मनुष्य या देवपद या, उस समय नहीं पर्याय थी। इस तरह ब्रह्म प्राप्तपद रहकर पर्यायपद होता है।

६ शान्तमात्र प्राप्त करनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७ आत्मसिद्धिके लिये ह्यवशांगीका काम करते हुए बहुत समय बचा जाता है; जब कि एक मात्र श्रुतमात्रके सेवन करनेसे वह श्रुत ही प्राप्त हो जाता है।

८ पर्यायका स्वरूप समझनेके लिये श्रुतार्थकरदेवने त्रिपद (उत्पाद व्यय और प्रीत्य) समझाये हैं।

९ ब्रह्म सुख—समाप्त—है।

१ पर्याय उत्पादव्ययुक्त है।

११ छहों दर्शन एक जैनदर्शनमें समाविष्ट हो जाते हैं। उसमें भी जैन एक दर्शन है।

बौद्ध—शुणिकपादो=पर्यायरूप सत् है। वेदान्त—सनातन=द्रव्यरूपसे सत् है। आर्षाक—निरी-
श्वरवादी=अब तक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तब तक उसे परिचाननेरूप सत् है।

१२ (आत्मा) पर्यायके दो भेद हैं—जीवपर्याय (समाप्तवस्थामें) और सिद्धपर्याय।
सिद्धपर्याय सौ टचके सोनेके समान है, और जीवपर्याय खोटसहित सोनेके समान है।

१३ व्यञ्जनपर्याय०

१४ अर्थपर्याय०

१५ विषयका मात्रा (बेटका अमात्र) क्षाणिकचरित्रसे होता है। चाँये गुणस्थानकमें विषयकी
मदता होती है, और नबमें गुणस्थानकतक वेदका उदय होता है।

१६ जो गुण अपनेमें नहीं हैं, वे गुण अपनेमें हैं—जो ऐसा कहता अपना मनवाता है,
उसे निष्पाद्यि समझना चाहिये।

१७ गिन और जैन शब्दका अर्थ —

घट घट अंतर गिन बसै, घट घट अंतर जैन।

मति-मदिराके पानसौं, मलबारा सहस्रै न ॥ (सम्पसार)

१८ आत्माका सनातन धर्म शरीर होना—विषय पाना है समस्त इन्द्रशक्तिका सार भी बही
है। वह परदर्शनमें समा जाता है, और वह परदर्शन जैनदर्शनमें समाविष्ट होता है।

१९ शरीरका वचन विषयका विरेचन करनेवाले हैं।

२० जैनधर्मका आश्रय, णिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आश्रय, और इन्द्रशक्तिका आश्रय
मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करनेका है—और बही साररूप है। इस बातमें किसी प्रकारसे
झगड़ियोंको विकल्प नहीं। बही तीनों काष्ठमें झगड़ियोंका कथन है, पा, और होगा।

२१ बाह्य विषयसे मुक्त होकर ज्यों ज्यों उसका विचार किया जाय, त्यों त्यों आत्मा विरत
होती जाती है—निर्मल होती जाती है।

२२ भगवान्में पड़ना नहीं चाहिये। मात्र आत्माकी शक्तिका विचार करना योग्य है।

२३ ज्ञानी लोग यद्यपि वैयोंकी तरह बिसाणी होते हैं (वैयोंकी तरह कसर न खानेवाले
होते हैं—अर्थात् सूक्ष्मरूपसे शोषणकर तन्मोंको स्वीकार करनेवाले होते हैं), तो भी बाहिर तो वे
साधारण लोगों जैसे ही लोग (किसान आदि—एक सारभूत बातको ही पकड़कर रखनेवाले) होते
हैं। अर्थात् जन्तुमें चाहे कुछ भी हो जाय परन्तु वे एक शाश्वतभावकी नहीं छोड़ते और समस्त
इन्द्रशक्तिका सार भी बही है।

२४ ज्ञानी उदयको जानता है; परन्तु वह साया जसातामें परिणाम नहीं करता।

२५ इन्द्रियोंके भोगसे मुक्ति नहीं। जहाँ इन्द्रियोंका भोग है वहाँ संसार है; और जहाँ संसार
है वहाँ मुक्ति नहीं।

२६ बाह्यमें गुणस्थानकतक ज्ञानीका आश्रय लेना चाहिये—ज्ञानीकी आत्मासे वर्तन करना चाहिये।

२७ महान् आचार्य और श्रमियोंमें दोष तथा भूखें नहीं होती। अपनी समझमें नहीं, जाता, इसलिये हम उसे भूख मान लेते हैं। तथा जिससे अपनेको समझमें आ जाय वैसा अपनेमें ज्ञान नहीं, इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आचार्य भूखवाला कहता है, वह समझमें आ जायगा, ऐसी मानना रखनी चाहिये। परन्तु आचार्योंके निचारमें यदि किसी जगह कोई भेद देखनेमें आवे तो वह ध्येयपक्षके कारण ही सम्भव है, परन्तु वस्तुतः उसमें निरूप्य करना योग्य नहीं।

२८ ज्ञानी लोग बहुत चतुर थे। वे विषय-सुख भोगना चाहते थे। पाँचों इन्द्रियों उनके पूर्ण थी (पाँचों इन्द्रियों जिसके पूर्ण हों, वही आचार्य-पदवीके योग्य होता है), फिर भी इस संसार और इन्द्रिय-सुखके निर्मलत्त्व ज्ञानसे तथा आत्मके सनातनधर्ममें श्रेय प्राप्त होनेसे, वे विषय-सुखसे निरक्त होकर आत्मके सनातनधर्ममें संलग्न हुए हैं।

२९ ज्ञानका लक्ष्य जीव मटकता है, फिर भी उसे मोक्ष नहीं हुई; जब कि ज्ञानी एक अन्तर्मुखमें ही मुक्ति बताते हैं।

३० जीव ज्ञानीको आशानुसार शांतमानमें बिचरे तो अन्तर्मुखमें मुक्त हो जाता है।

३१ कसुक्त वस्तुमें व्ययच्छेद हो गई है, ऐसा कहनेमें जाता है परन्तु उसका पुकार्य नहीं किया जाता, और इससे यह कहा जाता है कि वे व्ययच्छेद हो गई हैं। यदि उसका सूत्र (वैसा चाहिये वैसा) पुकार्य हो तो गुण प्रगट हों, इसमें संशय नहीं। अग्निमें उषम किया तो कार्पास तथा उष्ण प्राप्त किया, और शिन्धुतानाशने उषम न किया तो वे उसे प्राप्त न कर सके; इससे निपा (जल) का व्ययच्छेद होना नहीं कहा जा सकता।

३२ विषय क्षय नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्तमानमें गुण मान बैठे हैं, उन जीवोंके समान भ्रमणा न करते हुए उन विषयोंके क्षय करनेके लिये ही लक्ष्य देना चाहिये।

(५)

आचार्य सुदी ८ शुक्ल १९५६

१ धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुकार्योंमें मोक्ष पहिले तीनोंसे बढ़कर है। मोक्षके लिये ही बाकीके तीनों हैं।

२ आत्माका धर्म सुखरूप है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेके समान छूब है।

३ कर्मसे सुखदुःख सञ्चल करते हुए भी परिग्रह उपार्जन करने तथा उसके रक्षण करनेका सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परन्तु वे परतंत्र हैं। तथा परतंत्रता प्रवर्तमान नहीं है।

४ यह मार्ग (मोक्ष) राजप्रपत्नी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५ ज्ञानीश्वर निरूपण लिये हुए तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना सम्भवज्ञान है।

६ जीव, अजीव आत्मन, स्वर निर्बरा, ब्रह्म और मोक्ष ये तत्त्व हैं। (यहाँ पुण्यपात्रको आत्मनमें गिना है)।

७ जीवके दो भेद हैं — सिद्ध और संसारी —

सिद्धः—सिद्धको अनंतज्ञान पर्याप्त धर्म और सुख ये स्वभाव समान हैं। फिर भी अनंतर परंपर होनेका उनका पत्रह भेद निम्न प्रकारसे हैः—

(१) तीर्थ, (२) अतीर्थ, (३) तीर्थकर, (४) अतीर्थकर (५) स्वयमुद्य, (६) प्रत्येकमुद्य, (७) मुद्यबोधित (८) क्षीरिणी, (९) पुरुषरिणी, (१०) नपुंसकरिणी, (११) अन्यरिणी, (१२) जैनरिणी, (१३) गृहस्थरिणी, (१४) एक, और (१५) अनेक ।

संसार — संसार जीव एक प्रकार, दो प्रकार रूपाणि अनेक प्रकारसे कहे हैं । सामान्यरूपसे उपयोग कथनसे सर्व संसारी जीव एक प्रकारके हैं । असंसार, अथवा व्यक्ताहारराशि कर्म्यहारराशिसे भेदसे जीव दो प्रकारके हैं । सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर जिसने कभी असंसार्य प्राप्त की है वह व्यक्ताहार राशि है । तथा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर, जिसने कभी भी असंसार्य प्राप्त नहीं की, वह व्यक्ताहारराशि है । स्वतः असंसार और संसारसंसार, अथवा जी पुरुष और नपुंसक इस तरह जीवके तीन प्रकार हैं । चार गतियोंकी अपेक्षा चार भेद हैं । पाँच इन्द्रियोंकी अपेक्षा पाँच भेद हैं । पृथ्वी, अप् तेजस्, वायु, मनस्पति और असं इस तरह छह भेद हैं । कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल और अखण्ड (यहाँ चौदहवें गुणस्थानवाले जीव छेने चाहिये, सिंह न छेने चाहिये, क्योंकि यह संसारी जीवकी व्याख्या है), इस तरह जीवके सात भेद हैं । बह्वन्, पोतव, जगुज, स्वेदव, रसव, सम्पूर्णन, उद्भिन्न और उपपद्मेके भेदसे जीवके आठ भेद समझने चाहिये । पाँच संसार, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह जीवके नौ प्रकार समझने चाहिये । पाँच संसार, तीन विकलेन्द्रिय और सभी तथा असभी पंचेन्द्रिय इस तरह जीवके दस भेद समझने चाहिये । सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, और पंचेन्द्रियोंमें जलचर, यलचर, नमचर, तथा मनुष्य, देव और मारकी ॥ इस तरह जीवके ग्यारह भेद समझने चाहिये । छहकापके पर्याप्त और अपर्याप्त इस तरह जीवके बारह भेद समझने चाहिये । उक्त कर्म्यहारिकके बारह भेद, तथा एक असंसारिक (सूक्ष्म निगोदका) मिठाकर देह भेद होते हैं । चौदह गुणस्थानोंके भेदसे, अथवा सूक्ष्म बादर, तीन विकलेन्द्रिय तथा सभी असभी इन सातोंके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे जीवके चौदह भेद होते हैं । इस तरह बुद्धिमान पुरुषोंने सिद्धांतका अनुसरण कर जीवके अनेक भेद (विद्यमान मार्गिक भेद) कहे हैं ।

(६)

आपाद सुगी ९ सूक्त- १९५६

१ जातिस्मरण ज्ञानके विषयमें जो शका रहती है, उसका समाधान निम्न प्रकारसे होगा— जैसे बाल्यावस्थामें जो कुछ देखा हो अथवा अनुभव किया हो, उसका बहुमतसेको बृद्धावस्थामें स्मरण होता है और बहुमतसेको नहीं होता; उसी तरह बहुमतसेको पूर्वमरणका मान रहता है और बहुमतसेको नहीं रहता । उसके न रहनेका कारण यह है कि पूर्वदेहको छोड़ते हुए जीव बाह्य पदार्थोंमें सम्मग्न हो कर मरण करता है, और नई देह पाकर वह उसमें आसक्त रहता है । इससे उन्नी रीतिसे चक्केबाधेको (जिसने अवकाश रक्खा हो उसे) पूर्वमरण अनुमरणमें आता है ।

२ जातिस्मरण ज्ञान गतिज्ञानका भेद है । पूर्वपर्याप्तको छोड़ते हुए वेदमाके कारण, नई देह पाएँ करते हुए गर्भाशयके कारण बाह्यावस्थामें मृत्युताके कारण, और वर्तमान देहमें छिन्नताके कारण, पूर्वपर्याप्तकी स्मृति करमेका अवकाश ही नहीं मिलता । तथापि जिस तरह गर्भाशय और बाल्यावस्था स्मृतिमें नहीं रहते, इस कारण वे होते ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; उसी तरह उपर्युक्त कारणोंको

२७ महान् आचार्य और ज्ञानियोंमें दोष तथा भूलें नहीं होती। अपनी समझमें नहीं, जाता, इसलिये हम उसे भूल मान लेते हैं। तथा जिससे अपनेको समझमें आ जाय वैसे करनेमें ज्ञान नहीं; इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय मूखताका सम्यक्ता है, वह समझमें आ जायगा, पेसी भावना रखनी चाहिये। परस्पर आचार्योंके विचारमें यदि किसी अज्ञान कोई भेद देखनेमें आवे तो वह क्षोभप्रशमनके कारण ही समझ है, परन्तु वस्तुतः उसमें विकल्प करना योग्य नहीं।

२८ ज्ञानी लोग बहुत चतुर थे। वे विषय-सुख भोगना जानते थे। पौषों इन्द्रियों उनके पूर्व थी (पौषों इन्द्रियों जिसके पूर्ण हो, वही आचार्य-पन्थीके योग्य होता है); फिर भी इन सत्तार और इन्द्रिय-सुखके निर्मल्य अंगनेसे तथा अहमके समाप्तन धर्ममें श्रेय प्राप्त होनेसे, वे विषय-सुखसे निरक्त होकर अहमके समाप्तनधर्ममें सफल हुए हैं।

२९ अनंतकृष्णसे जीव मटकता है फिर भी उसे मोक्ष नहीं हुई। जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मुखमें ही मुक्ति बताई है।

३० जीव ज्ञानीको आह्वानसार शांतभावमें बिचरे तो अंतर्मुखमें मुक्त हो जाता है।

३१ अमुक वस्तुमें व्यक्तछेद हो गई है ऐसा कहनेमें आता है; परन्तु उसका पुनर्वास नहीं किया जाता और इससे यह कहा जाता है कि वे व्यक्तछेद हो गई हैं। यदि उसका सचा (वैसा चाहिये वैसा) पुरुषार्थ हो तो गुण प्रगट हो, इसमें संशय नहीं। अमेरिकी उद्यम किया तो कर्पूरगरी तथा रज्य प्राप्त किया, और हिन्दुस्तानवाकने उद्यम न किया तो वे उसे प्राप्त न कर सके; इससे निपा (ज्ञान) का व्यक्तछेद होना नहीं कहा जा सकता।

३२ विषय छूट नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्तमानमें गुण प्राप्त बैठे हैं उन जीवोंके समान भ्रमणा न करते हुए उन विषयोंके छूट करनेके लिये ही कष्ट देना चाहिये।

(५)

आपत्त सुदी ८ शुक्र १९५६

१ धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष पहिले तीनसे बढ़कर है। मोक्षके लिये ही वाक्यके तीनों हैं।

२ आत्मका धर्म सुखकाम है ऐसा प्रतीत होता है। यह सोनिके समान छुट है।

३ कर्मसे सुखदुःख उत्पन्न करते हुए भी परिग्रह उपायन करने तथा सत्संगे रहण करनेका सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परन्तु वे परव्रज हैं। तथा परव्रजता प्रसन्ननीय नहीं है।

४ यह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका छूट होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानीद्वारा निकपण लिये हुए तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना सम्पन्न है।

६ जीव अजीव आत्मन संतर निर्भरा, बंध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। (यही पुष्पपात्रके आश्रममें गिना है)।

७ जीवके दो भेद हैं—निष्ठ और संसारी—

सिद्धः—सिद्धको अनंतज्ञान दर्शन वीर्य और सुख ये स्वभाव समान हैं। फिर भी अंतर्तर परंपर होनेका उनके पञ्च भेद निष्ठ प्रकारसे कहे हैं—

केकर पूर्वपर्याय सृष्टिमें नहीं रहती, इसलिये वह होती ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता । जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, तो उसमें यदि सानुकृष्टता होती है तो ही वह बढ़ती है उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी सृष्टि करनेकी सानुकृष्टता (योग्यता) हा तो जातिस्मरण ज्ञान होता है । पूर्वज्ञा व्ययम होगी चाहिये । अस्तौतीका मय आ जानेस जातिस्मरण ज्ञान नहीं होता ।

३ अज्ञा है । अज्ञा नित्य है । उसके प्रमाण —

(१) वाक्यको दूध पीते हुए क्या 'बुक बुक' शब्द करना कोई सिखाता है ? वह तो पूर्वज्ञ अभ्यास ही है ।

(२) सूर्य और चंद्रका हाथी और सिंहका धूँरे आर शिखीका स्वाभाविक बैर है । उन्हें उसे कोई भी नहीं सिखाता । पूर्वमन्त्रके बैरकी स्वाभाविक संज्ञा है—पूर्वज्ञान है ।

४ नि संज्ञा वह जनकसीका विषय है—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, वह सत्य है । जिसमें दोनों व्यपहार (संसारिक और असंसारिक) होते हैं, उससे नि संज्ञा नहीं होती ।

५ संसारके छोड़ बिना अप्रमत्त गुणस्थानक नहीं । अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अन्तर्मुखकी है ।

६ ' हमने समझ लिया है हम शान्त हैं '—ऐसा जो कहते हैं वे ठगते जाते हैं ।

७ संसारमें रहकर सत्यमें गुणस्थानके ऊपर नहीं चढ़ सकते इससे संसारी जीवको निराश न होना चाहिये—परन्तु उसे ध्यानमें रक्कना चाहिये ।

८ पूर्वमें सृष्टिमें जहाँ हुई वस्तुको फिर सातभागसे पार करे तो वह पपास्थित या पपती है ।

९ प्रथिके दो भेद हैं—एक द्रव्य—ब्रह्मद्रव्य (चतुष्पद, त्रिपद अपद इत्यादि) । दूसरी मात्र—अम्यद्रव्य (आठ कर्म इत्यादि) । सम्यक् प्रकारसे जो दोनों प्रथिकोंसे निवृत्त हो, वह निर्मल है ।

१० मिथ्यात्व अज्ञान, अविरति आदि मात्र जिसे छोड़ने ही नहीं, उसके बहका त्याग हो, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या करेगा ?

११ सक्रिय जीवको अवयव अनुग्रह हो ऐसा कभी बनता ही नहीं । (क्रिया होनेपर अवयव गुणस्थानक नहीं होता) ।

१२ रंग आदि दोषोंका क्षय होनेसे उनके सहकारी कारणोंका क्षय होता है अतः केवल वनका सम्पूर्णक्षयसे क्षय नहीं होता तबतक मुमुक्षु जीव सतोष मानकर नहीं बैठता ।

१३ रंग आदि दोष और उनके सहकारी कारणोंके अभाव होनेपर वय नहीं होता । रंग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है । उनके अभावमें सब अगाह कर्मका अभाव ही समझना चाहिये ।

१४ आसुर्कर्मः—

(अ) अपवर्तन-विशेष कायका हो तो वह कर्म घोड़े ही कलमें केवल किया जा सकता है । इसका कारण पूर्वका वैसा वय है इससे वह इस प्रकारसे उत्पन्न जाता है—भोगा जाता है ।

(का) ' टूट गया शब्दका अर्थ बहुतसे भोग हो भाग होता ' करते हैं; परन्तु उसका अर्थ वैसा नहीं है । जिस तरह कर्मा टूट गया शब्दका अर्थ कर्मा उतर गया—कर्मा दे दिया ' होता है, उसी तरह आसु टूट गई ' शब्दका आशय समझना चाहिये ।

(६) सोपक्रम—शिषिष—त्रिसे एकत्र भोग लिया जाय ।

(६) निरुपक्रम—निकाचित । देव, नरक, पुगळ, तरेसठ शब्दकापुरुष और चरम-शरीरीको होता है ।

(७) प्रदेशोदय=प्रदेशको मुखके पास छ आकर बैठन करना, वह प्रदेशोदय है । प्रदेशोदयसे हानी कर्मका क्षय अतमुद्धर्तमें कर देते हैं ।

(८) अनपवर्चन और अनुत्तरणा—इन दोनोंका अर्थ मिळता हुआ है । तथापि दोनोंमें अंतर यह है कि उदीरणमें आत्माकी शक्ति है, और अनपवर्चनमें कर्मकी शक्ति है ।

(९) आयु छटती है, अर्थात् योगे काळमें मांग छी जाती है ।

१५ असाक्षाके उदयमें ज्ञानकी कस्तीनी होती है ।

१६ परिणामकी धारा धरमादीन्तरके समान है ।

(७)

आपाङ्ग सुदी १० शनि १९५५

१ (१) असमब्रसता—अनिर्मल भाव (अस्पृष्टता) (२) विषम=बैसे तैसे (३) आर्य=उच्च । आर्य शब्द श्रीजिनेश्वरके, सुमुमुक्षुके, तथा आर्यदेशके रहनेवालोंके लिये प्रयुक्त होता है । (४) निक्षेप=प्रक्षर, भेद, विभाग ।

२ मयश्राण=भयसे पार करनेवाला; गरण देनेवाला ।

३ हेमचन्द्राचार्य धनुषकाके मोड़ बैस्य थे । उन महत्त्वमें कुमारपाङ्कजनासे अपने कुटुम्बके लिये एक क्षेत्रतक भी न माँगा था । तथा स्वयं भी राज-भस्मा एक प्राप्ततक भी न लिया था—यह बात श्रीकुमारपाङ्कजे उन महत्त्वकाके अतिशयके समय कही थी । उनके गुरु देवचन्द्रसूरि थे ।

(८)

आपाङ्ग सुदी ११ रवि १९५६

१ सरस्वती=विनवाणीकी धारा

२ (१) बाँधनेवाला, (२) बाँधनेके हेतु, (३) बधन और (४) बधनके फलसे समस्त संसारका प्रपञ्च रहता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है ।

३ बनारसीदास श्रीआगराके दशाश्विवासी वैश्य थे ।

(९)

आपाङ्ग सुदी १२ सोम १९५६

१ श्रीपञ्चाभिजयत्रीमें योगदृष्टि ग्रन्थमें—छठी 'कान्तादृष्टि' में बताया है कि बीजपद्मात्मरूपके बिना कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती; बीजपद्मात्मके सिवाय दूसरा सब सुप्त नि सुप्त छगता है—आत्मरूप छगता है । पौर्वी 'स्थिरादृष्टि' में बताया है कि बीजपद्मात्म प्रियकर छगता है । आत्मी पद्मादृष्टि में बताया है कि परमावगाहसम्पन्न होता है; वहाँ केवलज्ञान होता है ।

२ पाण्डुरूपपाङ्कज कर्त्तव्यको सम्पन्न प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु हरिमद्रूपमें उन्हें माया-मुपायी माला है ।

३ हरिमद्रूपमें उन दृष्टिपौरुष अर्थात्परमसत्त्वमें वर्गन दिया है; और उसमें ऊपरसे परोक्षविषयी महाराजन उन्हें दात्ररूपसे गुरुत्वमें दिया है ।

सेकर पूर्वपर्याय स्मृतिमें नहीं रहती, इसलिये यह होती ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कच्चापकी जाती है, तो उसमें यदि सानुकृष्टता होती है तो ही यह बनती है; उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेकी सानुकृष्टता (योग्यता) हो तो जातिस्मरण जान होता है। पूर्वसंज्ञा कायम होनी चाहिये। असंज्ञीका भव वा बानेस जातिस्मरण जान नहीं होगा।

३ अत्रमा हे। अत्रमा नियम है। उसके प्रमाण —

(१) बान्धनको दूध पीते हुए क्या 'बुद्ध' शब्द करना कोई सिखाता है? वह तो पूर्वका अभ्यास ही है।

(२) सर्व और मोरका हाथी और सिंहका भूरे और किल्लीका स्वाभाविक बैर है। उन्हें उसे कोई भी नहीं सिखाता। पूर्वमर्षके बैरकी स्वाभाविक संज्ञा है—पूर्वज्ञान है।

४ निःसंगता यह वनवासकी विषय है—ऐसा ज्ञानिषोंने कहा है, यह सत्य है। जिसमें दोनों व्यवहार (संसारिक और असंसारिक) होते हैं, उससे निःसंगता नहीं होती।

५ संसारके छोड़े बिना अप्रमत्त गुणस्थानक नहीं। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अन्तर्मुखकी है।

६ 'हमने समझ लिया है, हम चाहते हैं —ऐसा जो कहते हैं वे डगाये जाते हैं।

७ संसारमें रहकर संसारमें गुणस्थानके ऊपर नहीं चढ़ सकते इससे संसारी जीवको निरास न होना चाहिये—परन्तु उसे ध्यानमें रक्कना चाहिये।

८ पूर्वमें स्मृतिमें आई हुई वस्तुको फिर वातमात्रसे याद करे तो वह यथास्थित याद पड़ती है।

९ प्रीतिके दो भेद हैं—एक द्रव्य—वाद्यप्रति ('वस्तु' , द्विपद अपा' इत्यादि) दूसरी मात्र—अर्थतरंगिणी (आठ कर्म इत्यादि)। सम्यक् प्रकारसे जो दोनों प्रीतियोंसे निवृत्त हो वह निर्मय है।

१ दिव्यत्व अज्ञान, अविरति आदि मात्र जिसे छोड़ने ही नहीं, उसके बलका त्याग ही, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या करेगा।

११ सक्रिय जीवका अवयवका अनुष्ठान हो ऐसा कभी बनता ही नहीं। (क्रिया होनेपर अवयव गुणस्थानक नहीं होता)।

१२ रंग आदि दोनोंका ध्वय होनेसे उनके सहकारी कारणोंका ध्वय होता है; जबतक उनका सम्पूर्णरूपसे ध्वय नहीं होता, तबतक प्रयुक्त जीव संतोष मानकर नहीं बैठता।

१३ रंग आदि दोन और उनके सहकारी कारणोंके अभाव होनेपर बंध नहीं होता। रंग आदिके प्रयोगस कर्म होता है। उसके अभावमें सब जगह कर्मका अभाव ही समझना चाहिये।

१४ आमुकर्म —

(अ) अवर्तन-विशेष कायका हो तो वह कर्म थोड़े ही कायमें बैरन किया जा सकता है। इसका कारण पूर्वका वैसा बंध है इससे वह इस प्रकारसे उदयमें आता है—भोला जाता है।

(आ) टूट गया ' शब्दका अर्थ बहुतस लोग 'वा भाग होना' करते हैं; परन्तु उसका अर्थ वैसा नहीं है। जिस तरह कर्मों टूट गया ' शब्दका अर्थ 'कर्मों उत्तर गया—कर्मों दे दिया' होता है, वही तरह आमु टूट गई ' शब्दका आशय समझना चाहिये।

(६) सान्द्रम—सिफिल—जिसे एकदम मोग लिया जाय ।

(६) निरुपक्रम—निराश्रित । दब, मरक, युगल, तरेस शब्दकापुरुष और चरम-शरीरीका होता है ।

(७) प्रशोभ्य—प्रशोकको मुखके पास छ जाकर बेदन करना, वह प्रदेष्टादय है । प्रशोभ्यसे बानी कर्मका शय अतमुहूर्तमें कर देत है ।

(८) अनपवर्धन और अनुदीरणा—इन दोनोंका अर्थ मिश्रता हुआ है । तपायि दोनोंमें वतर यह है कि उदीरणमें आत्माकी शक्ति है, और अनपवर्धनमें कर्मकी शक्ति है ।

(९) आसु घन्टी है, अर्थात् धागे काछमें मोग ली जाती है ।

१५ असाताके उच्यमें ज्ञानकी कसीनी होती है ।

१६ परिणामकी चार चरमसीत्तरके समान है ।

(७)

आपाङ्ग सुनी १० शनि १९५५

१ (१) असमब्रसता—अनिर्यत माव (अस्पृष्टता) (२) विषम—त्रैसे तैसे (३) आर्य—उत्तम । आर्य शब्द श्रीभिक्षेन्द्रके, मुमुक्षुके, तथा आर्यदेशके रहनेवालोंके लिये प्रयुक्त होता है । (४) निक्षेप—प्रकार, भेद, विभाग ।

२ भयशय—भयसे पार करनेवाला; शरण देनेवाला ।

३ हेमचन्द्राचार्य शयुक्ताके मोड़ बैस ये । उन महात्माके कुमारपाण्ड राजस अपने बुद्धत्वके लिये एक क्षणतक भी न मींगा था । तथा स्वयं भी राज असका एक प्रसक्त भी न लिया था—यह बात श्रीकुमारपाण्डने उन महात्माके अग्निहोत्रके समय कही थी । उनके गुरु वृषचन्द्रसुरि ये ।

(८)

आपाङ्ग सुनी ११ रवि १९५६

१ सरस्वती—जिनवाणीकी चारा

२ (१) बौधनेवाला, (२) बौधनेके हेतु (३) बंधन और (४) बंधनके पञ्च समस्त संसारका प्रारंभ रहता है, ऐसा श्रीभिक्षेन्द्रने कहा है ।

३ बनारसीनाथ श्रीआगराक दशाश्रीवासी बैस ये ।

(९)

आपाङ्ग सुनी १२ सोम १९५६

१ श्रीपराशरिब्रह्मजीने योगदृष्टि प्रथममें—छाँ ' काष्ठादृष्टि ' में बताया है कि बीतप्रायस्वरूपके बिना कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती; बीतरागयुक्त सिवाय दूसरा सब सुख नि मृत छया है—आत्मस्वरूप छगता है । पौषवी ' म्रियगृष्टि ' में बताया है कि बीतरागयुक्त प्रियकर छगता है । चान्द्री ' परादृष्टि ' में बताया है कि परमात्मगात्रसम्पन्न होता है; यहाँ केवलज्ञान होता है ।

२ पातञ्जलयोगके कर्षाका सम्पन्न प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु हरिमन्दिरमें उन्हें माता-मुतापी माना है ।

३ हरिमन्दिरमें उन दृष्टियोंका व्याख्यानम सहजमें वर्णन किया है; और उसका ऊपरसे पशोबिब्रयी महाराजन उन्हें प्राण्यस गुजरणीमें लिया है ।

४ योगरूपमें छहों मार्गोंका (औद्यमिक, औपशमिक, क्षामोपशमिक, क्षामिक, पारिजामिक और साविपतिक) समावेश होता है । ये छह भाग जीवनके स्वतन्त्रभूत हैं ।

५ जबतक यथार्थ ज्ञान न हो तबतक मौन रहना ही ठीक है । नहीं तो अनाचार धोप छगता है । इस विषयमें उत्तराख्यपनसूत्रमें अनाचारनामक अधिकार है ।

६ ज्ञानीके सिद्धांतमें फेर नहीं हो सकता ।

७ सूत्र ब्रह्माका स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये बनाये गये हैं परन्तु उनका रहस्य यथार्थ समझमें नहीं आता; इससे फेर मान्य होता है ।

८ दिगम्बरमतके तीन ब्रह्मोंके कारण कुछ रहस्य समझमें आ सकता है । ज्योतिष्मरमतकी सिद्धिब्रह्मके कारण रस ठंडा होता गया ।

९ ' शस्त्रमिह ब्रह्म ' यह शब्द मरकमें असाध्य बनानेके लिये प्रयुक्त होता है । यह ब्रह्म खदिरके ब्रह्मसे भिन्नता छुट्टा होता है । भास्से संसार—ब्रह्मा उस ब्रह्मकर्म है । अहमा परमार्थसे (व्यक्तिसत्ता छोड़कर) मंदनबनके समान है ।

१० भिन्नमुद्रा दो प्रकारकी है —कामोत्सर्ग और पथास्तन । प्रमाद दूर करनेके लिये इससे अनेक आसन किये गये हैं, भिन्न मुख्यतः ये दो ही आसन हैं ।

११ प्रथमरसनियमं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं मदनकमलमकं कपिमिमीसगशून्यम् ।

कस्युगमपि यच्च ध्यात्वा सर्वमवर्ण्यं, तदसि जगति देवो बीतरामस्त्यमेव ॥

१२ चैतन्य ब्रह्म करनेवालेकी बन्धितारी है ।

१३ तीर्थ—पार होनेका मार्ग ।

१४ अखण्डाय प्रभुकी स्तुति महात्मा जगदध्वनज्जिनी की है । श्रीवार्तदध्वनज्जिनी इसका नाम स्मरानन्द या । ये तपगच्छमें हुए हैं ।

१५ वर्तमानमें लोगोंकी ज्ञान तथा शक्तिके साथ स्तब्ध नहीं रहा । महावाय्नि मार डाला है ।

१६ × आश्रय ज्ञानदधनवनी, अति गंभीर उद्धार ।

बासक बाँह पसारि भिम की बधिबिस्तार ॥

१७ ईश्वरका तीन प्रकारसे जाना जाता है —(१) जब जबकपसे रहता है; (२)

चैतन्य—संसार जीवन—विभावकपसे रहते हैं; (३) सिद्ध ब्रह्म चैतन्यमात्रसे रहते हैं ।

(१)

आश्रय सुदी १३ मौन १९५६

१ ' भगवतीभारतपत्रा ' जैसी पुस्तकें मध्यमतरङ्ग—भास्के महात्माओंके तथा मुनिप्रायोंके योग्य हैं । ऐसे प्रयोगोंकी सससे कम पक्षी (योग्यता) वाले साधु आश्रयको लेनेसे छुटप्रता होती है । उन्हें उससे उल्टा मुक्तसल ही होता है । सवे मुमुक्षुओंकी ही यह अग्रगण्य है ।

२ मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है ।

अगम्य —मात्र विभावदशाके कारण मतमेद पक्ष जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग ऐसा नहीं रहा जो समझमें आ सके; और इस कारण वर्तमानमें यह अगम्य है । मनुष्यके मर जानेके पश्चात्

अनन्तकाल जगत्प्रायः अति गंभीर और उद्धार है, फिर भी भिन्न तरह कासक बाँह चैतन्यक कस्युगम विस्तार करती है जैसी तरह यह विस्तार आता है ।

महानाराय माही पकड़कर दवा करनेके फलकी बराबर ही मतभेद पबनेका फल हुआ है, और उससे मोक्षमार्ग समझमें नहीं आता ।

सुरक्ष — मतभेदकी मायापक्षीको दूरकर, यदि आत्मा और पुद्गलका वृषकरण करके शरीरभावसे अनुभव किया जाए, तो मोक्षमार्ग सुरक्ष है, और वह दूर नहीं ।

१ अनेक शास्त्र हैं । उन्हें एक एकको बौध्देके बाद, यदि उनका निर्णय करनेके लिये बैठा जाय, तो उस हिसाबसे पूर्वजादिका ज्ञान और केषलज्ञान कमी भी प्राप्त न हो, अर्थात् उसकी कमी भी पार न पड़े, परन्तु उसकी सफरना है, और उसे श्रीगुरु बताते हैं कि महत्त्वा उसे अतुल्यहर्षमें ही प्राप्त कर लेते हैं ।

२ इस जीवने नक्षत्रवृत्तक ज्ञान प्राप्त किया, तो भी कोई सिद्धि नहीं हुई, उसका कारण विमुक्त दशासे परिणामन करना ही है । यदि जीव समुत्सदशासे बचा होता तो वह लक्षण मुक्त हो जाता ।

५. परमशक्ति रसमय भगवतीआराधना जैसे एक भी शास्त्रका यदि अच्छी तरह परिणामन हुआ हो तो बस है ।

६ इस आरे (काष्ठ) में सचयण अच्छे नहीं, वायु कम है, और दुर्मिश्र महत्मापी जैसे सर्वोपकार्यार आते हैं, इसलिये आयुकी कोई निश्चयपूर्ण स्थिति नहीं, इसलिये जैसे बने जैसे अल्पविकल्पी कथ तुरत ही करनी चाहिये । उसे स्थगित कर देनेसे जीव थोड़ा सा बैठता है । ऐसे कठिन समयमें तो सर्वथा ही कठिन मार्ग (परमशक्ति होना) को ग्रहण करना चाहिये । उससे ही उपशम, कयोपशम और क्षाधिक भाव होते हैं ।

७ काम आदि कमी कमी ही अपनेसे हार मानते हैं नहीं तो बहुत बार तो वे अपनेको ही पचड़ मार देते हैं । इसलिये अहोत्तक हो, जैसे बने जैसे, लक्ष्मसे उसे छोड़नेके लिये अप्रमादी होना चाहिये—बिना तरह जन्मसे हुआ जाय उस तरह होना चाहिये । धृतीरतासे बैठा तुरत हुआ जा सकता है ।

८ वर्तमानमें इतिहाससुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं ।

९ यदि सबे वैद्यकी प्राप्ति हो तो दहका विषम सहजमें ही औपमिक द्वारा विषममेंसे निकटकर स्वधर्म पकड़ जाता है । उसी तरह यदि सबे गुरुकी प्राप्ति हो तो आत्माकी शान्ति बहुत ही सुगमतासे और सहजमें ही हो जाती है ।

१ किया करनेमें उत्तर वर्गात् अप्रमादी होना चाहिये । प्रमाणसे उक्त्य कापर न क्षान्ता चाहिये ।

११ सामायिक=समय । प्रतिक्रमण=आत्माकी क्षमायमा-आराधना । पूजा=भक्ति

१२ विनयूबा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करने चाहिये—यह करनेसे पकड़े का एक प्रश्न उठते हैं, और उनका किसी तरह पार पड़नकाय नहीं । शालीनी आत्मानुसार, शालीनता कहे अनुसृत, चाहे जीव किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करे तो भी वह मोक्षके मार्गमें ही है ।

१३ हमारी आत्मास चखनेसे यदि पाप लगे, तो उसे हम अपने सिपर काड़ लेते हैं । कारण कि जैसे हमने कौट पड़े हो तो पत्ता जानकर कि वे किसीको लगे, मार्गमें जाता हुआ कोई आत्मी उन्हें वहीं उड़ाकर, किसी ऐसी दूसरी पक्षी जगहमें रख दे कि जहाँ वे किसीको न लगे, तो कुछ वह हमका गुनह नही कहा जाता, उसी तरह मोक्षका शांति मार्ग बतातेसे पाप किस तरह लगे सकता है !

१४ ज्ञानीकी आत्मापूर्वक अच्छे हुए ज्ञानी-गुरुने कियाकी अपेक्षासे, अपनी मान्यतानुसार किसीकी कुछ बताया हो, और किसीको कुछ बताया हो, तो उससे मार्ग अन्धकता नहीं है।

१५ यथार्थ स्वस्वके समझे बिना, अपना 'जो स्वर्ग चाहता है, वह परमापेक्षे यथार्थ है अपना नहीं,' इसके जाने बिना-समझे बिना-जो बकता होता है, वह ध्वनत सत्सार बकता है; इसलिये जहाँतक यह समझनेकी शक्ति न हो जहाँतक मीन रहना ही उत्तम है।

१६ बकता होकर एक भी जीवको यथार्थ मार्ग प्राप्त करानसे तीर्थकरगोत्र वैभवा है, और उससे बकता करनेसे मन्त्रामोहनाथ कर्म वैभवा है।

१७ यद्यपि हम इसी समय तुम सबको मार्ग बता दें, परन्तु बरतनके अनुसार ही तो बस्तु रखी जाती है। नहीं तो जिस तरह हल्के बरतनमें भारी बस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जाता है उसी तरह यहाँ भी बड़ी बात होगी।

१८ तुम्हें किसी तरह करने बेसी बात नहीं है। कारण कि तुम्हारे साथ हमारे जैसे हैं। तो जब मंत्र तुम्हारे पुरुषार्थके आधीन है। यदि तुम पुरुषार्थ करो तो मोक्ष होना दूर नहीं है। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया वे सब महात्मा पण्डित अपने जैसे मनुष्य ही थे और केवलज्ञान पानके बाद भी (सिद्ध होनेके पश्चिमे) देह तो नहीं की बड़ी रहती है; तो फिर अब उस ब्रह्मसे उन महात्माओंने क्या निकाल ब्रह्म यह समझकर हमें भी उसे निकाल बाँधना है। उसमें कर किमुका? बन्धविनाश कदावा मतमेव किमुका? मात्र शोचमानसे बड़ी उपासनीय है।

(११)

आपका सुदी १४ बुध १९५९

१ प्रथमसे आयुधका बाँधना और उपयोगमें लाना सीखे हों, तो वह छद्मके समय काम जाता है; उसी तरह प्रथमसे ही यदि वैराग्यप्रज्ञा प्राप्त की हो, तो वह अबसुर जानेपर काम जाती है—आपचना हो सकती है।

२ यथोक्तिव्यवहीने मय सिखाते हुए इतना अर्थात् उपयोग रक्खा या कि वे प्रायः किसी जगह भी न मूके थे। तो भी अथवा अवस्थाके कारण केवलीगत्याके स्तब्धने उन्हें अणभेदस्पर्शकी जो शक्ता दी है, वह सिद्धी नहीं; वह श्रीमद्गोस्वामीके पञ्चमे अक्षरके अक्षर करके दी हुई मात्रा है। इस जगह अर्थकचने उत्तमवृत्ति का अर्थ पञ्चतुल्य गिना है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं। उत्तमवृत्ति अर्थात् जैसे गणेशके अङ्गी शिखा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण एक देखकर उसका छोट जानेका मन हो जाता है। उसी तरह वर्तमानकालमें जोकरे हुए मनीष्यकाळमें करनेकी बात बोल दी जाती है।

३ भगवतीवराधनमें देवता अधिकारमें हरेककी स्थिति बोरख अच्छी तरह बताई है।

४ परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीममान, कर्ममान और समस्तस्थित। प्रथमके दो अन्त्यस्थो होते हैं और अन्तिम समस्तस्थित (अथवा अथवा दोहेहीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५ देखने गुणस्वभावमें देखा तथा योगका अर्थ-अथवाभाव है तो फिर जहाँ समस्तस्थित परिणाम किन्तु तरह हो सकता है? उसका आशय—सुखी जीवको अर्थव्यवहार नहीं होता।

तेहमें गुणस्थानकमें केवलीको भी योगके कारण सक्रियता है, और उससे बंध है, परन्तु वह बंध अवध बंध गिना जाता है। चौदहवें गुणस्थानकमें आत्माके प्रदेश अवध होते हैं। उदाहरणके लिये, जिस तरह पिंजरेमें रक्ता हुआ सिंह बाड़ीको स्पर्श नहीं करता, वह स्थिर होकर बैठा रहता है, और कोई क्रिया नहीं करता, उसी तरह यहाँ आत्माके प्रदेश अक्रिय रहते हैं। जहाँ प्रदेशकी अवधता है वहाँ अक्रियता मानी जाती है।

६ षडूर्ध्वं सो बंधे [धो]—योगका चलावमान होना बंध है। योगका स्थिर होना अवध है।

७ अब अवध हो उस समय जीव मुक्त हुआ कहा जाता है।

८ उत्सर्गमार्ग अर्थात् यथाख्यातचारित्र—जो निरतिचार है।

उत्सर्गमें तीन गुणियाँ गर्मित होती हैं। अपवादमें पाँच समितियाँ गर्मित होती हैं। उत्सर्ग अक्रिय है। अपवाद सक्रिय है। उत्सर्गमार्ग उत्तम है, और उससे जो उतरता हुआ है वह अपवाद है। चौदहवें गुणस्थान उत्सर्ग है उससे नीचेके गुणस्थान एक दूसरेकी अपेक्षा अपवाद हैं।

९ मिथ्यात्व, अविधि, प्रमाद, कपाय, और योगसे एकके बाद एक अनुक्रमसे बंध पड़ता है।

१० मिथ्यात्व अर्थात् जो यथार्थ समझमें नहीं आता। मिथ्यात्वसे निरतिमात्र नहीं होता। निरतिके अभाव कपायसे होती है कपायसे योगकी बंधछटा होती है। योगकी बंधछटा आश्रय, और उससे उन्मत्त स्वर है।

११ दर्शनमें भूळ होनेसे ज्ञानमें भूळ होती है। जैसे रस्से ज्ञानमें भूळ होती है, वैसे ही आत्मका बंध स्फुरित होता है, और उसी प्रमाणमें वह परमाणु ग्रहण करती है, और बैठा ही बंध पड़ता है और उसी प्रमाणमें विपाक उदयमें आता है। उँगलीमें उँगली बाध देनेरूप—अंटीरूप—उदय है और उनको मरोड़नेरूप भूळ है; उस भूळसे दुःख होता है, अर्थात् बंध बँधता है। परन्तु मरोड़नेरूप भूळ दूर हो जानेसे उनकी परस्परकी अटी सहजमें विपाक देकर छड़ जाती है, और गया बंध नहीं होता।

१२ दर्शनमें भूळ होती है, उसका उदाहरण—जैसे छड़का बापक ज्ञानमें तथा दूसरेके ज्ञानमें देहकी अपेक्षा एक ही है अन्यथा नहीं परन्तु बाप उसे जो अपना छड़का करके मानता है वही भूळ है। वही दर्शनमें भूळ है, और उससे यद्यपि ज्ञानमें फेर नहीं तो भी वह भूळ करता है, और उससे ऊपर कहे अनुसार बंध पड़ता है।

१३ यदि उदयमें आनेके पहिले रस्से मरता कर दी जाय, तो बापप्रदेशसे कर्म खिरकर निर्मल हो जाय, अपवाद मात्र उससे उदय आने।

१४ ज्ञानी लोग नई भूले नहीं करते इसलिये वे बंधरहित हो सकते हैं।

१५ ज्ञानियोंने माना है कि देह अपनी नहीं है, वह रहनेवाली भी नहीं कभी न कभी उसका वियोग तो होनेवाला है—इस भेद विज्ञानको लेकर मानो हमेशा नगाद बंध रहा हो, इस तरह ज्ञानीके कर्ममें सुनिर्द देता है, और अज्ञानके कर्म बहरे होते हैं इसलिये वह उसे जानता नहीं।

१६ ज्ञानी देहको नाशवान समझकर उत्सर्ग वियोग हमेशा उसमें खेद नहीं करता। परन्तु जिस तरह छिन्नीकी कत्त से छी हो, और बादमें बाजिस बेगी पड़े, उसी तरह देहको वह उद्विग्नसे पीछे पीप देता है—अर्थात् वह देहमें परिणति नहीं करता।

१७ देह और आत्माका भेद करना भेदज्ञान है। यह ज्ञानीका तेजाव है; उस तेजावसे देह और आत्मा जुदी हुई हो सकती है। उस विज्ञानके होनेके लिये महाप्रयत्नसे समस्त शक्ति रहे है। जिस तरह तेजावसे सोना और उसका खोटा लोहा अलग हो जाते हैं, उसी तरह ज्ञानीके भेद विज्ञानरूप तेजावसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अशुद्धिसे स्वभाववाला होकर प्रयोगी द्रव्यसे शुद्ध होकर स्वयंमें जा जाता है।

१८ दूसरे उदयमें आये हुए कर्मोंका आत्मा चाहे जिस तरह समाधान कर सकती है, परन्तु केन्द्रीय कर्ममें ऐसा नहीं हो सकता, और उसका आत्मप्रदेशसे वेदन करना ही चाहिये; और उसका वेदन करते हुए कठिनार्थका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान सम्पूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहवृक्षसे परिणमन करती है। अर्थात् देहको अपना मानकर वेदन करती है और उसके कारण आत्माकी शक्ति भग्न हो जाती है। ऐसे प्रसंगमें किन्हीं भेदज्ञान सम्पूर्ण हो गया है ऐसे ज्ञानियोंको असत्याभेदका वेदन करनेसे निर्वन्ध होती है, और वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। इससे अन्य दर्शनवाले वहाँ उस तरह नहीं निक सकते और ज्ञानी इस तरह मानकर ठिक सकता है।

१९ पुत्रवृक्षवृक्षकी अपेक्षा रक्खी आय, तो भी वह कभी न कभी तो नाश हो जानेवाला है ही। और जो अपना नहीं, वह अपना होनेवाला नहीं; इसलिये वाचार् होकर दीन बनना किन्तु कामका !

२० धीरापयविषदेसा—योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं।

२१ स्थिति स्या अनुमागम्य कथापसे वैषते हैं।

२२ जाठ तखसे, सात तखसे, छह तखसे, और एक तखसे बच बाँधा जाता है।

(१९)

वाचक सुदी १५ शुक्र १९५९

१ ज्ञानदर्शनका फल यथास्थायताचारित्र, उसका फल निर्वाण, और उसका फल अमृतत्व सुख है।

(२१)

वाचक वनी १ शुक्र १९५९

१ देवागमस्तोत्र ओ महात्मा सुमंतमराचार्यणि (जिसका शब्दार्थ होता है कि जिसे अमृतत्व मान्य है) बताया है; और उसके ऊपर विगम्बर और स्वेताम्बर आचार्योंने टीका की है। ये महात्मा विगम्बरआचार्य ये फिर भी उनका बताया हुआ उक्त स्तोत्र स्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। इस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है—

देवागममधीयानचार्यादिभिर्गुणैः ।

आचार्यिभ्यो हर्षते नातस्तवसि मां महाम् ॥

इस श्लोकका मतार्थ यह है कि देवागमन (देवताओंका आराधन होता हो), आकाशगमन (वायुमार्गसे गमन होता हो) आत्मरहि विभूति (आत्म वीरव विभूति होती हो सम्मसरण होता हो इत्यादि)—ये सब मायाविषयोंमें भी देखे जाते हैं (ये मायासे अर्थात् बुद्धिसे भी हो सकते हैं) इसलिये उतने मात्रसे ही आप हमारे मूढचम नहीं (उतने मात्रसे तीर्थंकर अथवा विनेश्वरदेवका अस्तित्व नहीं माना जा सकता) ऐसी विभूति आदिका हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं। हमने तो उसका त्याग कर दिया है।

इस आचार्यने मांओ गुफामें निकलते हुए तीर्थंकरका हाथ पकड़कर उत्पुष्ट निरपेक्षमात्रसे बचन कहे हैं—यह आचार्य वहाँ बताया गया है।

२. आसके अथवा परमेस्वरके सङ्गण कस होने चाहिये, उसका सम्बन्धमें तत्पार्यसूत्रकी टीकामें पक्षिणी गाथा निम्नरूपसे है —

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तारं कर्मभूयताम् ।

ज्ञातारं विभक्तस्वानां यदं तदुपसम्पद्य ॥

सारमूल अर्थ — 'मोक्षमार्गस्य नेतार'—मोक्षमार्गीको छे जाने वाला—यह कहनसे मोक्षका अस्तित्व, मार्ग, और छे जानेवाला इन तीन बातोंको स्वीकार किया है। यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग भी होना चाहिये, और यदि मार्ग है तो उसका द्रष्टा भी होना चाहिए और जो द्रष्टा होता है वही मार्गमें छे जा सकता है। मार्गमें छे जानेका कार्य निरूपकार नहीं कर सकता—साकार ही कर सकता है। अर्थात् मोक्षमार्गीका उपदेश, साकार ही कर सकता है; साकार उपदेश ही—जिसने देहस्थितिसे मोक्षका अनुभव किया है—उसका उपदेश कर सकता है। 'भेत्तारं कर्मभूयताम्'—कर्मरूप पर्वतका भेदन करनेवाला; अर्थात् कर्मरूपी पर्वतको भेदन करनेसे मोक्ष हा सकती है; अर्थात् जिसने देहस्थितिसे कर्मरूपी पर्वतोंको भेदन किया है, वही साकार उपदेश है। कैसा कौन है? जो वर्तमान देहमें जीव म्लुक है वह। जो कर्मरूपी पर्वतोंको तोड़कर मुक्त हो गया है, उसे फिरसे कर्मका अस्तित्व नहीं आता। इसलिये जैसा बहुतसे मानते हैं कि मुक्त होनेके बाद जो देह धारण करे वह जीवम्लुक है, सो ऐसा जीवम्लुक हमें नहीं चाहिये। ज्ञातारं विभक्तस्वानां—विभक्त तत्त्वोंको जाननेवाला—कहनसे यह बताया कि ज्ञात कैसा चाहिये कि जो समस्त विभक्ता ज्ञाता हो। 'यदं तदुपसम्पद्य'—उसके गुणोंकी प्रसिद्धि जिये में उसे बदल करता है—अर्थात् जो इन गुणोंसे मुक्त हो वही ज्ञात है, और वही बदनीय है।

३. मोक्षपन्थ समस्त चैतन्योंको ही सामान्यरूपसे चाहिये, वह एक जीवकी अपेक्षासे नहीं है, अर्थात् यह चैतन्यका सामान्य धर्म है। वह एक जीवको ही हो और दूसरे जीवको न हो, ऐसा नहीं होता।

४. भगवतीभारतनाम्ने ऊपर श्वेतान्तर आचार्योंने जा टीका की है, वह भी उसी नामसे करी जाती है।

५. करणानुपमा अथवा द्रव्यानुयोगमें त्रिगुण और श्वेतान्तरोंके बीचमें कोई अन्तर नहीं, मात्र बाह्य व्यवहारमें ही अन्तर है।

६. करणानुयोगमें गणितरूपसे सिद्धान्त रखे गये हैं। उसमें फेर होना सम्भव नहीं।

७. कर्मभूय मुस्यरूपसे करणानुयोगमें गणित होता है।

८. परमात्मप्रकाश त्रिगुण आचार्यका बनाया हुआ है। उसका ऊपर टीका है।

९. निरापुत्रता सुख है। सकल्प दुःख है।

१०. कायकृपा तब करते हुए भी महाप्रसन्निके निरापुत्रता अर्थात् स्वप्नता देखनेमें आती है।

मतलब यह है कि जिसे तब आत्मीकी आवश्यकता है, और उससे वह तब आत्मी कायकृपा करता है, फिर भी वह स्वास्वप्नदशाका अनुभव करता है; तो फिर जिसे कायकृपा करना बाकी ही नहीं रहा, ऐसे सिद्धमग्नान्को निरापुत्रता कैसा संभव नहीं।

११. देहकी अपेक्षा चैतन्य विजुल रूप है। जैसे देहगुणधर्म देखनेमें आता है, वैसे ही

२ आत्माकी प्रतीतिके लिये सकलनाके प्रति दृष्टान्त —इन्द्रियोंमें मन अविद्यता है, और बाकीकी पाँच इन्द्रियों उसकी आज्ञानुसार चल्नेवाली हैं; और उनकी सकलना करनेवाला भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई भी कार्य न बनता। वास्तवमें किसी इन्द्रियका कुछ भी नहीं चल्ता। मनका ही समाधानका होता है; वह इस तरह कि कोई चीज आँखसे देखी, उसे पानेके लिए पैरोंसे चम्के लगे, वहाँ जाकर उसे हाथसे उठा ली और उसे खा भी रूप्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मन ही करता है, फिर भी इन सबका आधार आत्माके ही ऊपर है।

३ जिस प्रवेशमें वेदना अधिक हो, उसका वह मुख्यतया वेदन करता है, और बाकीक प्रवेश उसका गीणतया वेदन करते हैं।

४ जगत्में अमर्य जीव अनतगुने हैं। उससे अनतगुने परमाणु एक समयमें एक जीव प्रहण करता है।

५ द्रव्य, क्षेत्र, काळ और मात्रसे बाह्य और अमर्यतर परिणमन करते हुए परमाणु, जिस क्षेत्रमें केनात्कपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकडे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं, और वहाँ जिस प्रकारका बव होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकडे हो जाँय, तो वे वहाँ सिरके दुखानेके आकारसे परिणमन करते हैं, और आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं।

६ वहाँका वही चैतन्य जीमें जीकपसे और पुरुषमें पुरुषरूपसे परिणमन करता है, और सुप्त भी तथाप्रकारके आकारसे ही परिणमन कर पुष्टि देती है।

७ परमाणुको परमाणुके साथ शरीरमें छड़ते हुए किसीने नहीं देखा, परन्तु उसका परिणाम-विशेष जाननेमें आता है। जैसे ग़रकी दवा ग़रको रोक देती है, इस बातको हम जान सकते हैं; परन्तु भीतर क्या क्रिया हुई, इसे नहीं जान सकते—इस दृष्टान्तसे कर्म होगा हुआ देखनेमें नहीं आता, परन्तु उसका विपाक देखनेमें आता है।

८ अनागार=जिसे तममें अपवाह नहीं।

९ अजगार=धररहित।

१० समिति=सम्पन्न प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादास्थिति, पयास्थितमात्रसे प्रवृत्ति करनेका इतिनिये जो मार्ग ब्रह्मा है, उस मार्गके अनुसार माफ़ोखसहित प्रवृत्ति करना।

११ सत्तागत=तपशम।

१२ धमणमगबाम्=साधुमगबान् अथवा मुनिमगबान्।

१३ अपेक्षा=अग्रत-इच्छा।

१४ सानेक्ष=दूसरा कारण—हेतुकी जरूरतकी इच्छा करना।

१५ सानेक्ष अथवा अपेक्षासे=एक दूसरेको लेकर।

(१५)

आपाद बदी ३ रवि १९५६

१ पार्थिवपाद=जो सत्तासे हुआ हो।

२ अनुपपन्न=जो समझ नहीं; सिद्ध न हान योग्य।

यदि आत्मसुखधर्म देखनेमें आवे, तो यहके ऊपरका राग ही नष्ट हो जाय—आत्मवृत्ति विस्तृत होकर दूसरे दम्पके समोपसे आत्मा देखरूपसे (विभावसे) परिणमन करती हुई मायूम हो ।

१२ चैतन्यका अत्यन्त स्थिर होना मुक्ति है ।

१३ मिथ्याज्ञ, अविरत, कृपाय और योगके अभावसे अनुक्रमसे योग स्थिर होता है ।

१४ पूर्वके अम्यासके कारण जो शोका आ जाता है वह प्रमाद है ।

१५ योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है ।

१६ रमा और द्वैप यह आकर्षण हैं ।

१७ संशेस्में हानिका यह कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग करना है; अर्थात् रागद्वेषसे आकर्षणको दूर रहना है ।

१८ जहाँतक अग्रपक्ष हुआ जाय वहाँतक जायत ही रहना चाहिये ।

१९ त्रिनृत्ता आदि अपराधमार्ग है ।

२ मोक्षनीयकर्म मनसे जीता जाता है परन्तु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता । तोर्षक आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है; और वह दूसरेके समान कठिन भी लगता है । परन्तु उसमें (आत्मनस्मि) उनके उपयोगकी स्थिरता होकर उसकी निर्बन्ध जाती है और दूसरेको—अज्ञानीको—बन्ध पड़ता है । भुवा तथा यह मोक्षनीय नहीं, किन्तु वेदनीय कर्म हैं ।

जो पुमान् परब्रह्म है, सो अपराधी अहम् ।

जो अपनी धन व्योहरी, सो धनपति धर्म । —श्रीब्रह्मसंहिता

२२ प्रवचनसाधेष्टार प्रपञ्च तीसरे भागमें त्रिनकल्पका वर्णन किया है । यह स्वेतस्वरूप प्रपञ्च है । उसमें कहा है कि इस कल्पको साधनेवालेको निम्न गुणोंवाला महत्त्वा होना चाहिये—

१ संवर्ण, २ नीरज, ३ क्षुत, ४ शीघ्र और ५ असमाद्य ।

२३ दिगम्बरछत्रिमें यह दशा सातवें गुणस्थानवाली जीवकी है । दिगम्बरछत्रिके अनुसार स्थविरकल्पी और त्रिनकल्पी ये नाम होते हैं और श्वेतस्वरूपके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थविर नाम नहीं होते । इस कल्पको साधनेवालेका क्षुतज्ञान इतना अधिक बढवाना होना चाहिये कि उसकी वृत्ति क्षुतज्ञानाकार हो जाती चाहिये—विषयाकार वृत्ति न होती चाहिये । दिगम्बर कहते हैं कि नाम दशा वांछेका ही मोक्षमार्ग है बाकी तो सब उन्मत्त मार्ग हैं—जगो विषोऽवसामगा श्रेया य धममया सख्यं । तथा नामो ए वाञ्छाव्यापी आयो —अर्थात् नाम वाञ्छावृत्तिसे भी अधिक बढ़कर है—इस कहावतके अनुसार यह दशा वादशास्त्रको भी पूर्य है ।

२४ चेतना तीन प्रकारकी है—१ कर्मफलचेतना—एकेन्द्रिय जीव अनुभव करत है;

२ कर्मचेतना—निकेन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय अनुभव करत है; ३ ज्ञानचेतना—सिद्धिपर्याय अनुभव करती है ।

२५ मुनियोंकी वृत्ति अद्वैतिक हानी चाहिये; परन्तु उसका बन्धे हाथमें वह औक्तिक देखनेमें आती है ।

(१४)

जायसु बरी २ शनि १९५९

१ पर्याजोवन—एक बालका दूसरी तरह निचार करना ।

२ आत्माकी प्रतीतिके लिये सबलब्धनाके प्रति दृष्टान्त —इन्द्रियोंमें मन अवस्थित है, और बाकीकी पाँच इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चरनेवासी हैं, और उनकी सबलब्ध करना ब्रह्मा भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई भी कार्य न बनता। वास्तवमें किसी इन्द्रियका कुछ भी नहीं चम्कता। मनका ही समाधानका होता है; वह इस तरह कि कोई चीज आँखसे देखी, उसे पानके छिएँ पेटसे चखने लगे, वहाँ जाकर उसे हाथसे उठा ली और उस खा ली इत्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मन ही करता है, फिर भी इन सबका आधार आत्माके ही ऊपर है।

३ जिस प्रदेशमें वेदना अधिक हो, उसका वह मुख्यतया वेदन करता है, और बाकीके प्रदेश उसका गीणतया वेदन करते हैं।

४ जगत्में अमध्य जीव अनन्तगुने हैं। उससे अनन्तगुने परमाणु एक समयमें एक जीव ग्रहण करता है।

५ द्रव्य, क्षेत्र, काल और माघसे बाधा और अम्यंतर परिणमन करते हुए परमाणु, जिस क्षेत्रमें वेदनारूपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकडे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं, और वहाँ जिस प्रकारका बन्ध होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकडे हो जाँय, तो वे वहाँ सिरके डुबानेके आकारसे परिणमन करते हैं, और आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं।

६ वहाँका वही चैतन्य भीमें जीवसे और पुरुषमें पुरुषरूपसे परिणमन करता है, और मुक्त भी तथाप्रकारके आकारसे ही परिणमन कर पुष्टि देती है।

७ परमाणुको परमाणुके साथ शरीरमें लपेटे हुए किसीने नहीं देखा, परन्तु उसका परिणाम-विशेष ज्ञानमें आता है। जैसे ग़रकी दवा ग़रको रोक देती है, इस बातको हम जान सकते हैं परन्तु भीतर क्या क्रिया हुई इसे नहीं जान सकते—इस इच्छासे कर्म होगा हुआ देखनमें नहीं आता, परन्तु उसका विपाक देखनमें आता है।

८ अनागार=जिसे ज्ञानमें अपवाह नहीं।

९ अणगार=घररहित।

१० समिति=सम्पन्न प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादासहित, क्यास्तिपनमात्रसे प्रवृत्ति करनेका ज्ञानियोंने जो मार्ग कहा है उस मार्गके अनुसार मापदोष्टसहित प्रवृत्ति करना।

११ सचागत=उपशम।

१२ धमणमगबान्=साधुमगबान् अथवा मुनिमगबान्।

१३ ओष्ठा=जम्बरत=इच्छा।

१४ सारेक्ष=दूसरा कारण=हेतुकी जम्बरतकी इच्छा करना।

१५ सारेक्षश्च अथवा ओष्ठाम्ने=एक दूसरेको डेकर।

(१५)

आपतक वगै ३ रवि १९५६

१ पर्ययकारक=आ सुशासे हुआ हो।

२ अनुपपन्न=आ समच नहीं; सिद्ध न ज्ञान योग्य।

(१६)

परि

आत्मिकी अपेक्षासे परस्त्रीत्याग और अन्य अशुभ्रतको सबभेद—

१ जबतक मृया और परस्त्रीत्याग त्याग न किया जाय, तबतक सब क्रियामें निषिद्ध है तबतक आत्मामें कुछ कष्ट होनेसे धर्म कभीभूत नहीं होता ।

२ धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है ।

३ जबतक मृयात्याग और परस्त्रीत्याग गुण न हों, तबतक ब्रह्म तथा श्रोता नहीं हो सकते ।

४ मृया दूर हो जानेसे बहुतसी असुख प्रवृत्ति कम होकर, निवृत्तिका प्रसंग आता है । उसमें सहज बलवीर्य करते हुए भी विचार करना पड़ता है ।

५ मृया बोलनेसे ही कम होता है, ऐसा कोई नियम नहीं । यदि ऐसा होता हा तो सब बोलनेवालोंकी अपेक्षा अतदर्थ जो असुख बोलनेवाले बहुत होते हैं उन्हें अधिक काम होना चाहिये परन्तु ऐसा कुछ एकनेमें नहीं आता । तथा असुख बोलनेसे काम हो तो कर्म एकदम रद्द हो जाय और शास्त्र भी छोटे पड़ जाय ।

६ सुखकी ही जय है । उसमें प्रथम तो मुक्तिका भावस होता है, परन्तु पीछेसे सम्पत्ता प्रमाण होता है, और उसका दूसरे मनुष्य तथा सर्वधर्म आनेवालेके ऊपर असर होता है ।

७ सम्पत्ते मनुष्यकी वात्सा स्फटिकके समान हा आती है ।

(१७)

आपाङ्ग बदी ४ संत १९५९

१ शिगम्वर सम्प्रदाय कहता है कि आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे रहता है ।

२ श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञानको सत्तात्मसे रहनेको स्वीकार करता है ।

३ शक्ति शब्दका अर्थ सत्तासे अधिक गौण होता है ।

४ शक्तिरूपसे है अर्थात् आत्मरूपसे इका हुआ नहीं । ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उसके ऊपर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान विद्युत् होकर केवलज्ञान प्रगट होता है ।

५. सत्तामें अर्थात् आत्मरूपमें है, ऐसा कहा जाता है ।

६ सत्तामें कर्मप्रवृत्ति हो और वह तबधमें जाय, यह शक्तिरूप नहीं कहा जाता ।

७ सत्तामें केवलज्ञान हो और आत्मरूपमें न हो ऐसा नहीं होता । भगवती आराधना देखना ।

८ काम्ति, रीति, शरीरका अङ्गना सुराक्तपण्या ललका किरणा, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे जाना, नीचेका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्रत आति होना) रहता अर जाना ये सब तैत्ति परमाणुकी क्रियामें हैं । तथा सामान्य रीतिसे आत्मामें प्रदेश जो ऊँचे नीचे हुआ करते हैं—कंपासमान रहते हैं यह भी तैत्ति परमाणुसे ही होता है ।

९ कार्माग शरीर उठी अगह आत्मप्रदेशोंकी अपने आत्मरूपके स्थाय्यसे बचाता है ।

१० आत्मामें आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते । सामान्य रीतिसे स्थूलभूतसे ये आठ प्रदेश आत्मामें कहे जाते हैं—सूक्ष्मभूतसे तां वहीं असंख्यातों प्रदेश कहे जाते हैं ।

११ एक परमाणु एकअंशही होनेपर भी छह दिशाओंकी स्पर्श करता है (चार दिशामें तथा एक ऊर्ध्व और एक अधो ये सब मिश्रकर छह दिशाये होती हैं) ।

१२ नियायु अर्थात् निदाम

१३ आठ कर्म सब बेदनीय हैं, क्योंकि उन सबका वेदन किया जाता है; परन्तु उनका वेदन शोक-प्रसिद्ध न होनेसे, शोक-प्रसिद्ध बेदनीय कर्मको अलग गिना है।

१४ कामाण, तेजस, आहारक, वैश्विक और औदारिक इन पाँच शरीरके परमाणु एक जैसे ही अर्थात् एक समान हैं, परन्तु वे आत्माके प्रयागके अनुसार ही परिणामन करते हैं।

१५ अमुक अमुक मास्तिष्ककी नसें दबानेसे शोक, हास्य, उमसता उत्पन्न होते हैं। शरीरमें मुख्य मुख्य स्पष्ट जीम, माक इत्यादि प्रगट मायूम होते हैं, इससे उन्हें हम मानते हैं, परन्तु ऐसे सूक्ष्म स्थान प्रगट मायूम नहीं होते, इसलिये हम उन्हें नहीं मानते; परन्तु वे हैं चकर।

१६ बेदनीयकर्म निर्जराकर्म है, परन्तु दबा इत्यादि उसमेंसे विभाग कर देती है।

१७ ज्ञानिने ऐसा कहा है कि आहार खेते हुए भी दुःख होता हो और छोड़ते हुए भी दुःख होता हो, तो वहाँ संवेचना करनी चाहिये। उसमें भी अपवाद होता है। ज्ञानियोंने कुछ अहमपात करनेका उपदेश नहीं किया।

१८ ज्ञानिने अनंत औपमियों अनंत गुणोंसे सयुक्त देखी हैं परन्तु कोई ऐसी औपमि देखनेमें नहीं आई जो मौलिको दूर कर सके। वैष और औपमि ये केवल निमित्तकर्म हैं।

१९ बुद्धदेवको रोग, दरिद्रता, दुःखत्वस्या और मीठ इन चार बातोंके ऊपरसे बैरज्य उत्पन्न हुआ था।

(१८)

आपाङ्ग बदी ५ मीम १९५६

१ चक्रवर्तीको उपदेश किया जाय, तो वह एक घड़ीमेंसे राज्यका त्याग कर दे। परन्तु मिश्रुकको अनंत दुष्सा होनेसे उस प्रकारका उपदेश उसे असर नहीं करता।

२ यदि एक बार आत्मामें अंतर्बुद्धि स्पष्ट कर जाय, तो वह अर्धपुद्गल-पर्यन्त तक रहती है, ऐसा तीर्थंकर आग्निने कहा है। अंतर्बुद्धि ज्ञानसे होती है। अंतर्बुद्धि होनेका आमास स्वयं ही (स्वभावसे ही) अहममें होता है; और वैसा होनेकी प्रतीति भी स्वाभाविक होती है। अर्थात् आत्मा परमात्माके समान है। ग्वर होनेकी और उतर जानेकी औप परमात्माके कराता है। यद्यपि परमात्माके ग्वरकी आहुति नहीं बताता फिर भी उससे उसकी औप होती है। उसी तरह अंतर्बुद्धि होनेकी आहुति माहम नहीं होती, फिर भी अंतर्बुद्धि हुई है ऐसी आत्मको औप हो जाती है। जैसे आरभ ग्वरको किस तरह उतारती है, इस बातका वह नहीं बताती, फिर भी औपसे ग्वर दूर हो जाता है—यही औप होती है। इसी तरह अंतर्बुद्धि होनेकी स्वयं ही औप होती है। यह प्रतीति परिणामप्रतीति है।

३ बेदनीयकर्म +

४ निर्जराका असम्पातगुणा उत्तरोत्तर कम है। जिसने सम्पक्-राम प्राप्त नहीं किया, उसे निष्पात जीवकी अनेक सम्पक्-राम अनंतगुणी निर्जरा करता है।

+ क्लेशका मत—बेदनीय कर्मकी उद्भवमान प्रकृतिमें अन्धता एवं चारन करती है तो वेने मारने आयेके मीम परनन वैसा होता है। इस विषयमें भीमने अन्ध अहम-पर विचार करनेके दिने कहा है।—पञ्चम-

- ५ तीर्थकर आदि को गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी गाय अथवा अथगाय सम्पत्त्व होता है ।
- ६ गाय अथवा अथगाय एक ही कहा जाता है ।
- ७ कषादीको परमाशगाय सम्पत्त्व होता है ।
- ८ चौथे गुणस्थानमें गाय अथवा अथगाय सम्पत्त्व होता है ।
- ९ क्षाधिकसम्पत्त्व अथवा गाय अथगाय सम्पत्त्व एक समान है ।

१ देव गुरु, तप अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं—कथ छेन और तप । इस तरह तीन प्रकारकी फसोनी होती है । यहाँ सोनेकी कसौतीका इष्टतम ठना चाहिये (बर्मस्त्रु प्रथमे है) । पहिली और दूसरा प्रकार किसी दूसरेमें भी मिल सकते हैं; परन्तु तपकी विशुद्ध कसौटीसे जो छुड़ गिना जाय, वही देव गुरु और धर्म सखा गिना जाता है ।

११ क्षिप्यकी ओ कमियाँ होती हैं, वे जिस उपदेशके ध्यानमें नहीं आती उसे उपदेशकर्ता न समझना चाहिये । आचार्य ऐसे चाहिये जो क्षिप्यके अप्यदोषको भी जान सकें और उसका यथा-समय बोध भी दें सकें ।

१२ सम्पत्त्ववि गृहस्थ ऐसा चाहिये जिसकी प्रशंसा दुस्मन भी करें—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है । तत्पर्य यह है कि ऐसे निष्कलक धर्म पाऊँगेना चाहिये ।

(१९)

उत्ति

१ अविज्ञान और मन पर्यवधानमें अन्तरः ।

२ परमाशविज्ञान मन्-पर्यवधानसे भी बढ़ जाता है और वह एक अपवादरूप है ।

(२)

अपवाद वही ७ पुत्र १९५९

१ आश्रमा होनेके छिप समस्त सुतज्ञान है और उस आश्रमाका वर्णन करनेके लिये सुतकेवही भी अशक्त है ।

२ ज्ञान उच्च ध्यान और समस्त आश्रमनाका प्रकार भी ऐसा ही है ।

३ गुणकी अतिशयता ही पूर्य है और उसके आशीन अम्बि सिद्धि इष्टादि है और चरित्र स्वच्छ करना यह उसकी विधि है ।

४ दक्षैकात्मिककी पहिली गाथा—

+ धर्मा मगस्युद्धिदं, अहिंसा संयमो तयो ।

द्वैवाधि तं नर्मसंति, अस्त धर्मे सया यथी ॥

इसमें सब विधि गर्भित हो जाती हैं । परन्तु अमुक विधि ऐसी नहीं करी गई, इससे यह समझमें आता है कि स्वयंकरसे विधि नहीं बताई ।

अन्तराध मोर-अविज्ञान और मनपर्यवधानकी ओ कलन नैरीश्वर्य है उल्लेख कलन मगस्युद्धि-आश्रममें है—ऐसा भीमसे कहा । परिके (अविज्ञानमें) इकडे छ लगे हैं कैने हिममन इष्टादि वह योये गुणस्थानमें भी हो लगे हैं लूक है; और मनकी लूक परिकी अन्तर लगे हैं । तथा मूल (मन्-पर्यवधान) लगे हैं । अन्त मन्की पर्यवधानकी अतिशयताको केहर एक निम्न इकाके समान है । और वह अग्रमन्की ही हो लगे हैं—इष्टादि उन्नी गुण गुण अन्तर लगे हैं ।

+ धर्म—अहिंसा संयम और तप—ही उल्लेख मगस्य है । निष्कल धर्मों निष्कल मन् है उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।—अनुवाद

५ (आत्माके) गुणातिशयमें ही चमत्कार है ।

६ सर्वोत्कृष्ट शान्त स्वभाव करनेसे परस्पर बरबादों प्राणी अपने वैरभावको छोड़कर शान्त हो बैठते हैं; ऐसी प्रतीत्यकरका अतिशय है ।

जो कुछ सिद्धि छम्बि इत्यादि हैं ये आत्माके ज्ञानप्रदभावमें अर्थात् आत्माके अप्रमत्त स्वभावमें हैं । ये समस्त शक्तियाँ आत्माके आधीन हैं । आत्माके बिना कुछ नहीं । इन सबका मूल सम्पूर्णज्ञान दर्शन और चारित्र्य है ।

८ अन्यतः स्वप्नाद्युद्भि होनेके कारण परमात्मा भी झुझा होते हैं, यहाँ सार्विक असार्विक बृहत्के नाथे बैठनेसे जानेवाले असुरका दण्डान्त केना चाहिये ।

९ छम्बि सिद्धि सच्ची हैं और ये निरपेक्ष महत्माको प्राप्त होती हैं—जोगी बैरगी जैसे मियादवाको प्राप्त नहीं होती । उसमें भी अनन्त प्रकारके अपवाद हैं । ऐसी शक्तिवाला महत्मा प्रगट नहीं आते—ये बैसा बतसे भी नहीं । जो बैसा कहता है बैसा उसके पास नहीं होता ।

१० छम्बि क्षोभकारी और चारित्र्यको शिथिल करनेवाली है । छम्बि आदि मार्गसे प्युत होनेके कारण हैं । इससे ज्ञानीको उनका विरक्तकार होता है । ज्ञानीको जहाँ छम्बि, सिद्धि आदिस प्युत होना सम्भव होता है, वहाँ वह अपनेस विषेय ज्ञानीके आश्रयकी शोच करता है ।

११ आत्माकी योग्यताके बिना यह शक्ति नहीं जाती । आत्माको अपना अधिकार बड़ा छेनसे यह आती है ।

१२ जो देह छूटती है वह पर्याप्त छूट जाती है परन्तु आत्मा आत्माकारसे अमंडल अवस्थित रहती है उसका अपना कुछ नहीं जाता; जो जाता है वह अपना नहीं—जबतक ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तबतक मृत्युका भय लगता है ।

१३ शुद्ध गणपर गुणपर अधिक (सफल), प्रचुर परंपर और ।

प्रवृत्तपर तनु नगनवर, बंदी रूप सिरमौर ॥ —स्वामीकार्तिक ।

* प्रचुर=अलगा अलग—बिछे । रूप=रूप । सिरमौर=सिरका मुकुट ।

१४ अवगाह=मनवृत्त । परमात्मगाह=उत्कृष्टरूपसे मनवृत्त । अवगाह=एक परमात्मा प्रवेशको रोके—रूका हो । अवक=ज्ञानीके बचनोंका श्रोता—ज्ञानीके बचनका अवलंब करनेवाला । दर्शन ज्ञानके बिना क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान बोलते हुए भी, आत्मक साधु नहीं हो सकता । आत्मिक-भावसे ही आत्मक साधु कहा जाता है, पारिणामिकभावसे नहीं कहा जाता । स्पष्टि=स्थिर—हृत् ।

१५ स्पष्टिकल्प=आ साधु हुए हो गय हैं उन्हें गाथाकी मर्यादासे बर्तन करनेका—बचनेका—शान्तिप्राप्त मुक्तिर किया हुआ—बोला हुआ—निश्चित किया हुआ दिनमार्ग या नियम ।

१६ दिनकल्प=एककी निश्चयमेवाके साधुओंके लिये कल्पित किया हुआ—बोला हुआ—मुक्तिर किया हुआ दिनमार्ग या नियम ।

(२१)

आशाद बंदी ८ गुण १९५६

१ सब धर्मोंकी अवस्था जैनधर्म उत्कृष्ट व्यापणीन है । ऐसा व्यापक स्थापन उसमें किया

* प्रचुरका प्रसिद्ध अर्थ 'बहुत' होता है; और प्रचुर अर्थ 'धर्म' होता है ।

—सुभाष

गया है; ऐसा किसी दूसरे धर्ममें नहीं है। 'मारने'शब्दको ही मार डालनेकी इइ छाप दीधकपेने जहामे 'मारी' है। इस जगह उपदेशके बचन भी अग्रगामे सर्वोत्कृष्ट जसर करते हैं। श्रीजिनकी उासीमें मालो बीबदिसाके परमायु ही न हो, ऐसा श्रीजिनका अहिंसाधर्म है। जिसमें दया नहीं होती, वे जिम नहीं होत। जिनोके हापसे सस होनेकी फटमापे भी प्रमाणमें अक्ष हो होमी। जो जैन होता है वह कस्यप नहीं बोधत।

२ जैनधर्मके सिवाय दूसर धर्मोके मुकाबलेमें अहिंसामें बौद्धधर्म भी बड़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यह अपि हिंसक-क्रियाओंका नाश भी श्रीजिनने और बुझने ही किया है जो अवतक कायम है।

३ ब्राह्मणोंने यह जादि हिंसक धर्मबाले होनेसे श्रीजिनको तथा श्रीमुनको सस्त शब्दोंका प्रयोग करके धिक्कारा है। वह यथार्थ है।

४ ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे यह हिंसक क्रिया दाखिक की है। श्रीजिनने तथा श्रीमुनने स्वयं ब्रह्मका त्याग किया था। इससे उन्होंने निःस्वार्थ बुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश कर, हिंसक-क्रियाका विच्छेद किया। जगत्के सुखमें उनकी सूझा न थी।

५ हिन्दुस्थानके काम एक समय किसी विषयका अन्वयास इस तरह छोड़ देते हैं कि उसे फिरसे प्रश्न करत हुए उन्हें अदक्षि हा जाती है। योरपियन खेपोंमें इससे उल्टी ही बात है। वे एकदम उसे छोड़ नहीं देते, परन्तु जापी ही रखते हैं। हाँ, प्रवृत्तिके कारण क्याका कम अन्वयास हो सकता हो, यह बात अलग है।

(२२)

पनि

१ वेदभाव धर्मकी अन्वय स्थिति बारह मुहूर्तकी है। इस कारण कम स्थितिका बच भी कया-यके बिना एक समयका पड़ता है, दूसरे समय बेरन होता है, और तीसरे समय निर्बन्ध हो जाती है।

२ ईश्वरपिकी क्रिया=ब्रह्मकी क्रिया।

३ एक समयमें छात्र अपना आठ प्रवृत्तियोंका बच होता है; यहाँ सुरुक तथा धिक्का द्रव्यत केना चाहिय। जिस तरह सुरुक एक जगहसे छी जाती है, परन्तु उसका रस हरेक इन्द्रियको पहुँचना है और हरेक इन्द्रिय अपनी अपनी शक्ति अनुसार उसे ग्रहणकर उस रूपमें परिणमन करती है; उसमें अन्तर नहीं पड़ता; उसी तरह यदि कोई विषयका अन्वय किसीको सर्व काट के तो वह दिया तो एक ही जगह होपी है; परन्तु उसका असर विरामसे हरेक इन्द्रियको मुदे उरे प्रकारसे समस्त शरीरमें फैला है। इसी तरह धर्म बंधते समय मुख्य उपयोग तो एक ही प्रवृत्तिका होता है; परन्तु उसका असर अपाद् वैष्वाप दूसरी सब प्रवृत्तियोंके परस्परके संबंधको देखकर ही विज्ञा है। जेसा रस वैसा ही उसका प्रत्यक्ष हाता है। जिस मागमें सर्वोदा होना है, उस मागको यदि काट बाज जाय, तो जहर नहीं पड़ता; उसी तरह यदि प्रवृत्तिका छाप दिया जाय तो बंध पड़ता हुआ एक जाय है; और उसके कारण दूसरी प्रवृत्तियोंमें बंधावा पड़ना हुआ एक जाता है। येमे दूसर प्रयोगसे कहा हुआ विष बारित उतर

जाता है, उसी तरह प्रकृतिका रस मद कर दिया जाय, तो उसका बल कम हो जाता है। एक प्रकृति बंध करती है और दूसरी प्रकृतियों उसमेंसे भाग लेती हैं—ऐसा उनका स्वभाव है।

४ मूल प्रकृतिका क्षय न हुआ हो और उत्तर कर्मप्रकृतिका बंध-विच्छेद हो गया हो, तो भी उसका बंध मूल प्रकृतिमें रहनेवाले रसके कारण पड़ सकता है—यह आश्चर्य जसा है।

५ अनतानुबन्धी कर्मप्रकृतिकी स्थिति आलीस कोड़ाकोड़ीकी, और मोहनिय (दर्शनमोहनिय) की उत्तर कोड़ाकोड़ीकी है।

(२३)

आपाङ्ग बरी ९ मुद्रा १९५६

१ आत्मा, आयुका बंध एक आगामी मरका ही कर सकती है, उसमें अधिक मरोंका बंध नहीं कर सकती।

२ कर्मफलके बंधनकर्म जो आठों कर्मप्रकृतियों बतल हैं, उनकी उत्तर प्रकृतियों एक जीवकी अपेक्षा, अपवात्के साथ, बंध उदय आदिमें हैं, परन्तु उसमें आयु अपवादल्पसे है। वह इस तरह कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवको बंधमें चार आयुकी प्रकृतिका (अपवाद) बताया है। उसमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव मौजूद पर्यायमें चारों गतिकी आयुका बंध करता है, परन्तु इसका अर्थ यही है कि आयुका बंध करनेके छिये वर्तमान पर्यायमें इस गुणस्थानकवर्ती जीवको चारों गतियों खुली हैं। उसमें वह चारोंमेंसे किसी एक गतिकी ही बंध कर सकता है। उसी तरह जीव तिस पर्यायमें हो उसे उसी आयुका उदय होता है। मत्सर यह कि चार गतियोंमेंसे वर्तमान एक गतिकी उदय हो सकता है, और उदीरणा भी उसीकी हो सकती है।

३ जो प्रकृति उदयमें हो, उसके सिवाय दूसरी प्रकृतिकी उदीरणा की जा सकती है; और उदये समय उदयमान प्रकृति रुक जाती है, और वह पीछेसे उदयमें आती है।

४ उत्तर कोड़ाकोड़ीका बड़ासे बड़ा स्थितिबन्ध है। उसमें असङ्ख्याओं मर होते हैं। तथा बादमें बेसेका बेसा ही कम कर्मसे बंध पड़ता जाता है। ऐसे अनतबन्धकी अपेक्षासे अनतों मर कहे जाते हैं, परन्तु मरका बंध पछिसे कहे अनुसार ही पड़ता है।

(२४)

आपाङ्ग बरी १० शानि १०५६

१ निशिट मुद्रमत्तया मुद्रममात्रका बाधक शब्द है।

२ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अतत्त्व ये तीन प्रकृतियों उपगमनावमें कमी नहीं हो सकती—ये स्वयंप्रसममात्रसे ही होती हैं। ये प्रकृति यदि उपगमनावमें हों तो आत्मा जड़बत् हो जाय और क्रिया भी न कर सके अपवात् उससे प्रकृति भी न हो सके। ज्ञानका काम जाननेका है, दर्शनका काम देखनेका है, और नीयका काम प्रवर्तन करनेका है।

वीर्य दो प्रकारसे प्रकृति कर सकता है—१ अभिसन्धि २ अनभिसन्धि।

अभिसन्धि=आत्मिकी प्रेरणासे वीर्यकी प्रकृति होता। अनभिसन्धि=रूपमत्तसे वीर्यकी प्रकृति होता। ज्ञानात्मिकमें भूख नहीं होती। परन्तु उपगमनावमें रहनेवाले दर्शनमात्रके कारण भूख होनेसे अर्थात् औरका और मादम होनेसे, वीर्यकी प्रकृति निरपीनमात्रसे होती है यदि वह सम्पद्भावसे हो तो जीव

सिद्धपर्याय वा ज्ञाय । ज्ञानमा कमी भी क्रियाके बिना नहीं हो सकती । जबतक योग रहते हैं तबतक ज्ञानमा भी क्रिया करती है यह अपनी बौद्धिकछिन्ने ही करती है । क्रिया देखनेमें नहीं आती, परन्तु यह परिणामके उत्पन्ने ज्ञानमें आती है । जैसे सार्धं दुर्ध सुखक निद्रामें पच जाती है—यह सुबेर उठनेसे मालूम होता है । यदि कोई कहे कि निद्रा अच्छी जार्ध थी, तो यह होनेवाली क्रियाके समझमें आनेसे ही कहा जाता है । उदाहरणके लिये किसीको यदि आसन्न बरसकी उम्मेमें एक गिनना जाने, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे पहिले एक ये ही नहीं । इसना ही कहा जायगा कि उसको उसका ज्ञान न था । इसी तरह ज्ञानदर्शनको समझना चाहिये । ज्ञानमें ज्ञानदर्शन और बौद्धिक मोक्ष बहुत भी लुके रहनेसे ज्ञानमा क्रियामें प्रवृत्ति कर सकती है । बौद्धिक हमेशा चकाचक रहा करता है । कर्ममेव बौद्धिकमें विशेष स्पष्ट होगा । इसने सुकर्मसे बहुत काम होगा ।

१ शक्तिवत्त्व हमेशा पारिणामिकभावसे है । इससे जीव जीवभावसे परिष्कृत करता है, और सिद्धत्व ध्यात्मिकभावसे होता है । क्योंकि प्रकृतियोंके क्षय करनेसे ही सिद्धपर्याय सिद्धी है ।

२ मोक्षनीयकर्म बौद्धिकभावसे होता है ।

५ कैय ज्ञेय कालमात्राद्विषय अक्षर स्थिते हैं परन्तु अक्षरको कालमात्राद्विषय नहीं स्थिते; उन्हें तो बहुत स्पष्टकर्मसे स्थिते हैं । उसी तरह कथयुक्तबोधमें ज्ञानियोंने कथयित कुछ कालमात्राद्विषय स्थित हो तो मने ही परन्तु कथयुक्तमें तो स्थित ही अक्षर स्थिते हैं । उसमें जरा भी मने नहीं जाने दिया ।

(२५)

बापक बदी ११ रवि १९५९

ज्ञान, और निरर्थक दुर्ध स्थिति समान है—देख उच्चतमव्यक्तसूत्रमें कहा है । जिस तरह और निरर्थक दुर्ध स्थिति नहीं आती, उसी तरह ज्ञान हमेशा सुखमें बोधा नहीं आते ।

(२६)

बापक बदी १२ सोम १९५९

१ प्रतिष्ठा—दीर्घकाली वरमन्त्रकृत बतानेवाला । प्रतिष्ठा—वरदान ।

२ जिस तरह स्थूल, अणुस्थूल, उससे भी स्थूल, दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर पदार्थका ज्ञान होता है; उसी तरह सूक्ष्म सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान भी किसीको होना सिद्ध हो सकता है ।

३ नमः—आत्मनमः ।

४ उपहृत—मात्र गया । अनुपहृत—नहीं मात्र गया । उपहृतअर्थ—आचारमूर्त । अनिर्देश्य—जो वस्तुधर्मसे कहा जा सक । पाठान्तर—एक पाठको अगह दूसरा पाठ । अर्थात्तर—जानेका हेतु बदल जाना । निषय—जो यथायोग्य न हो—फेरफारवाला—कम ज्यादा । अन्तर्मन्त्र यह सामान्यविशेष उन्मत्तमन्त्र सत्तात्मक है । सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है । समिश्र चेतनसत्ता ज्ञान है ।

५. सत्तासमुद्भूत—सम्पत् प्रकाशसे सत्ताका उद्भवमूर्त होना—प्रकाशित होना, स्फुरित होना—मात्र होना ।

६ धर्मि—जगत्को किसी भी पदार्थका मेदकय रसमयवर्धित निरुक्तार प्रतिबिम्बित होना उसका अस्तित्व मालूम होना निमित्तव्यक्तसत्ता कुछ है इस तरह आरसीकी छत्रके समान सामनेके पदार्थका मास होना, धर्मि—जहाँ निमित्त होता है वहाँ काम होता है ।

७ दर्शनावरणीय कर्मके आवरणके कारण दर्शनके अवगम्यरूपसे आवृत होनेसे चेतनमें मूढ़ता हो गई। और यहीसे शून्यता आरम्भ हुआ।

८ जहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता है।

९ दर्शन और ज्ञानका विभाग किया गया है। ज्ञानदर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे जुड़े जुड़े पड़ सकते हैं यह बात नहीं है। ये आत्माके गुण हैं। जिस तरह एक रुपयेमें दो अठ्ठी होती हैं, वसी तरह आठ आना दर्शन और आठ आना ज्ञान होता है।

१० तीर्थंकरको एक ही समय दर्शन ज्ञान दोनों साथ होते हैं, इस तरह सिंगमर मतके अनुसार दो उपयोग माने हैं, श्वेताम्बर मतके अनुसार नहीं। १२ में गुणम्यानकमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय इस तरह तीन प्रवृत्तियोंका एक साथ ही लय होता है, और उत्पन्न होनेवाली कस्मि भी साथमें होती है। यदि ये एक ही समयमें न होते हों, तो उनका भिन्न भिन्न महत्तियोंसे अनुभव होना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान सचामे रहना चाहिये, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते। परन्तु दिगम्बरोंका उससे जुदा मान्यता है।

११ शून्यत्व=‘कुछ भी नहीं’ ऐसा माननेवाला; यह बीजवर्षका एक भेद है। आप्तन= किस्ती भी पदार्थका स्थूल-पात्र। कूटस्थ=अथक-जो खड़ापमान न हो सके। तटस्थ=किनारेपर-उस स्थलमें। मध्यस्थ=बीचमें।

(२७)

आषाढ़ बदी १३ सोम १९५६

१ ज्योपज्य=जाना जाना। परन्तु प्रसंगवश उसका अर्थ जाना जाना—गमनागमन होता है। यह मनुष्यके गमनागमनको समझ नहीं पड़ता—ज्यासो-पूजास ह्यादि सूक्ष्म क्रियाको ही समझ पड़ता है। ज्योपज्य=जाना जाना।

२ आत्माका ज्ञान अब चित्तमें रुक जाता है, उस समय नये परमाणु ग्रहण नहीं हो सकते, और जो होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं; उससे शरीरका बहिन घट जाता है।

३ श्रीवाचारंगसूत्रके पहिले शास्त्रपरिष्ठा अभ्ययनमें और श्रीपद्दर्शनसमुच्चयमें मनुष्य और जनसात्तिके धर्मकी तुलना कर जनसात्तिकमें आत्माका अवस्थित सिद्ध किया है। वह इस तरह कि दोनों उत्पन्न होते हैं, दोनों ही बढ़ते हैं, जाहार छेते हैं, परमाणु छेते हैं, छोड़ते हैं, मरते हैं ह्यादि।

(२८)

आषाढ सुनी ३ रवि १९५६

१ साधु=सामान्यरूपसे गृहवासका त्यागी मूढगुणोंका धारक। पति=प्यानमें स्थिर होकर भेषी मौननेवाला। मुनि=जिसे जबकि मन-पर्यवधान तथा कोषज्ज्ञान होता है। ऋषि=जो बहुत ऋषिपारी हो। ऋषिके चार भेद हैं—उष्य, व्रस, देव और परम। राजर्षि=ऋदिवाला। मन्त्रर्षि=महान् ऋदिवाला। देवर्षि=आकाशगामी देव। परमर्षि=केवलज्ञानी।

(२९)

आषाढ सुनी १० सोम १९५६

१ जमम्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बीजा करे; और जिसे उससे कारण मोक्ष न हो सके। मम्य अर्थात् जिस जीवका बीर्य शरीररससे परिणमन करे और उससे नया कर्मवध न होनेसे जिसे मोक्ष हो जाय। जिस जीवकी वृद्धि उत्कट रससे परिणमन करती

सिद्धपर्याय वा जाय । अहमा कभी भी कियाके बिना नहीं हो सकती । जबतक योग रहते हैं तबतक अहमा जो किया करती है वह अपनी वीर्यशक्तिये ही करती है । किया देखनेमें मही जाती, परन्तु वह परिणामके ऊपरसे जाननेमें जाती है । जैसे बार्ड हूई सुखक निद्रामें पथ जाती है—यह सुबेरे उठनेसे माझम होता है । यदि कोई कहे कि निद्रा अच्छी आई थी, तो यह होनेवाली कियाके समझमें जानेसे ही कहा जाता है । उदाहरणके लिये किसीको यदि थोड़ा बरसकी उम्रमें एक गिनमा आने, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे पहिले एक थे ही नहीं । इतना ही कहा जायगा कि उसको उसका ज्ञान न था । इसी तरह ज्ञानदर्शनको समझना चाहिये । अहमामें ज्ञानदर्शन और वीर्य दोहे बहुत भी सुके खनेसे अहमा कियामें प्रकृति कर सकती है । वीर्य हमेशा चलाचल रहा करता है । कर्ममय जीवनसे विशेष स्पष्ट होगा । इतने सुखसासे बहुत काम होगा ।

१ जीवजन्मल हमेशा पारिणामिकमात्रसे है । इससे जीव जीवमात्रसे परिणमन करता है, और सिद्धल क्षाधिकमात्रसे होता है; क्योंकि प्रकृतियोंके क्षय करनेसे ही सिद्धपर्याय मिळती है ।

२ मोक्षनीयकर्म बौद्धिकमात्रसे होता है ।

५ हेतुम संग कानमात्रादित अक्षर स्थिते हैं; परन्तु अक्षरोंको कानमात्रादित नहीं स्थिते; उन्हें तो बहुत स्पष्टरूपसे स्थिते हैं । उसी तरह कथानुयोगमें ज्ञानियोंने कहावित कुछ कानमात्रादित स्थित हो तो मन्त्रे ही परन्तु कर्मप्रकृतियें तो स्थित ही एक स्थिते हैं । उसमें जय भी भेद नहीं जाने दिया ।

(२५)

आचार्य बदी ११ रवि १९५६

ज्ञान बोल रिरेई हूई धैरिक समान है—ऐसा उचराम्यमयसूत्रमें कहा है । जिस तरह बोल रिरेई हूई धैरिक बार्ड नहीं जाती, उसी तरह ज्ञान होनेसे संसारमें बोझा नहीं करते ।

(२६)

आचार्य बदी १२ सोम १९५६

१ प्रतिहार=वीर्यकरका कर्मराम्यमय बतानेवाला । प्रतिहार=रक्षण ।

२ जिस तरह स्पृह, अम्पस्पृह, उससे भी स्पृह, दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर फटपोंका ज्ञान होता है; उसी तरह सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आणिका ज्ञान भी किसीको होना सिद्ध हो सकता है ।

३ नाम=अहमनाम ।

४ उपहत=माया गया । अनुपहत=नहीं माया गया । उपहतअव्य=आधारभूत । अविधेय=जा बलुभमि कहा जा सक । पाटन्तर=एक पाटकी जगह दूसरा पाट । व्यर्थतर=कहनेका हेतु बदल जाना । विषय=जो वधायोग्य न हो—केरफारबाधा—कम अपाश । अहमप्रम्य यह सामान्यविरोध उभयपक्षक सत्तावाक्य है । सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है । सविनेय चेतनसत्ता ज्ञान है ।

५ सत्तासमुद्भूत=सम्पद् प्रकारसे सत्ताका उन्मयभूत होना—प्रकाशित होना, स्फुरित होना—माझम होना ।

६ दर्शन=जगत्के किसी भी पदार्थका भेदक रूप रसगन्धरहित निरुच्छर प्रतिबिम्बित होना उसका अस्तित्व माझम जाना निर्विकल्पकपसे कुछ है हम तरह आरसीकी सड़कके समान समझनेके पदार्थका मझ होना, दर्शन है । जहाँ निरुक्त होता है वहाँ ज्ञान होता है ।

७ दर्शनावरणीय कर्मके आवरणके कारण दर्शनके अवगाह्यरूपसे आवृत होनेसे चेतनमें मूढ़ता हो गई; और वहाँसे शून्यवाद आरम्भ हुआ ।

८ अहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता है ।

९ दर्शन और ज्ञानका विभाग किया गया है । ज्ञानदर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे शुद्ध भूते पड़ सकते हैं यह बात नहीं है । ये आत्माके गुण हैं । जिस तरह एक रूपमें दो वटनी होती हैं उसी तरह आत्मा जाना दर्शन और आठ जाना ज्ञान होता है ।

१० तथैकरको एक ही समय दर्शन ज्ञान दोनों साथ होसे हैं, इस तरह दिगम्बर मतके अनुसार जो उपयोग माने हैं, श्वेताम्बर मतके अनुसार नहीं । १२ में गुणम्यानकमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतुरूप इस तरह तीन प्रवृत्तियोंका एक साथ ही क्षय होता है, और उत्पन्न होनेवाली छत्वि मी सायमें होती है । यदि ये एक ही समयमें न होते हों, तो उनका मिश्र मिश्र प्रवृत्तियोंसे अनुभव होना चाहिये । श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान सत्तामें रहना चाहिये, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते । परन्तु दिगम्बरोंकी उससे जुदी मान्यता है ।

११ शून्यवाद=‘कुछ भी नहीं’ ऐसा माननेवाला; यह बौद्धधर्मका एक भेद है । आपतन=किस्ती मी पदार्थका त्यज-पात्र । कूटस्थ=अचञ्चल-जो अछापमान न हो सके । तटस्थ=किनारेपर-उस त्यजमें । मध्यस्थ=बीचमें ।

(२७)

आपत्त बनी १३ मौस १९५६

१ अयोपचय=जाना जाना । परन्तु प्रसङ्गवत् उसका अर्थ जाना जाना—गमनागमन होता है । यह मनुष्यके गमनगमनको छद्म नहीं पड़ता—स्वास्फुल्ल स्थाणि सूक्ष्म नियाको ही छद्म पड़ता है । अपविचय=जाना जाना ।

२ अहमाका ज्ञान अब चित्तमें रुक जाता है, उस समय नये परमाणु ग्रहण नहीं हो सकते; और जो होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, उससे शरीरका बचन घट जाता है ।

३ धीमाचारंगसूत्रके पक्षिके शास्त्रपीछा अप्ययनमें और धीपद्दर्शनसमुच्चयमें मनुष्य और वनस्पतिके धर्मकी तुलना कर वनस्पतिमें अहमाका अस्तित्व सिद्ध किया है । वह इस तरह कि दोनों उत्पन्न होते हैं, दोनों ही बढ़ते हैं, व्याहार छेते हैं, परमाणु छेते हैं, छोड़ते हैं, मरते हैं इत्यादि ।

(२८)

अथगसुनी १ रवि १९५६

१ साधु=सामान्यकर्मसे गृहवासका त्यागी मूढ़गुणोंका धारक । यति=प्यासमें स्थिर होकर योगी मी होनेवाला । मुनि=जिसे अथवि मन-पर्यवसान तथा केवलज्ञान होता है । ऋषि=जो बहुत ऋषिधारी हो । ऋषिके चार भेद हैं—राम्य ब्रह्म, देव और परम । राजर्षि=ऋषिवाला । वसर्षि=महान् ऋषिवाला । देवर्षि=आकाशगामी देव । परमर्षि=नैऋतज्ञानी ।

(२९)

अथगसुदी १० साम १९५६

१ अमन्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कृष्ट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बीधा करे; और जिसे उससे कारण मोक्ष न हो सके । मध्य अर्थात् जिस जीवका धीर्य शरीररससे परिणमन करे और उससे नया कर्मबन्ध न होनेसे जिसे मोक्ष हो जाय । जिस जीवकी वृत्ति उत्कृष्ट रससे परिणमन करती

हो, उसका भीर्य उसी प्रमाणमें परिणमन करता है; इस कारण ज्ञानीके ज्ञानमें अमन्य दिखाई दिने । आत्माकी परमशान्ति दशासे मोक्ष और उत्कृष्ट दशासे ज्योतिष होती है । ज्ञानीने ब्रह्मके स्वभावकी अपेक्षा मय्य अमन्य भेद कहे हैं । जीवका भीर्य उत्कृष्ट रससे परिणमन करते हुए सिद्धपरम्य नहीं पा सकता, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है । मज्जा=मंशसे होती है—बल होती भी है नहीं भी होती । बचक=(मन, बचन कायासे) ठगनेवाला ।

(३०)

आश्विन वसो ८ छानि १९५९

१ कम्मदब्बेहि सयं, संगीमो नो होई जीवस्स ।

सो बंधो नायब्बो, तस्स विधोगो भवे मौचस्सी ॥

—कर्म ब्रह्मकी कर्पात् पुत्रक ब्रह्मकी साथ जीवका संयम होना बंध है । तथा उसका विधोग हा जाना मोक्ष है ।

सम—बन्धों तरह संयम होना—वास्तविक रीतिसे संयम होना; ज्यों त्यों कर्मफलसे संयम होना नहीं समझ लेना चाहिये ।

२ प्रदेश और प्रवृत्तिबंध, मन बचन और कायाके योगसे होता है । स्थिति और अनुमग्न बंध कथामें होता है ।

३ विपक्व कर्पात् अनुमग्नसे फलकी परिपक्वता होना । सर्व कर्मोंका पूरा अनुमग्न है । उसमें जैसा लोभ, लोभतर, मंद, मंतर रस पका है वैसा उदयमें आता है । उसमें केरफार बचना भूख नहीं होती । यहाँ मिट्टीकी कुम्हियामें पैसा, रुपया, सोनेकी धोहर आदिके रखनेका छद्मस्त ठेना चाहिये । जैसे किसी मिट्टीकी कुम्हियामें बहुत समय पहिले रुपया, पैसा, सोनेकी धोहर रखी हो, तो उसे जिस समय निकालने वह उसी जगह उसी बाहुनपसे निकलती है उसमें जगहका और उसकी स्थितिकर केरफार नहीं होता; कर्पात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता वही तरह बौद्ध हुआ कर्म प्रत्य, क्षेत्र काल और भावके अनुसार ही उदयमें आता है ।

४ आत्माके अस्तित्वमें जिसे धांध हो वह नार्वाक कहा जाता है ।

५ तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थकर आदिका एक समयका बंध होता है । मुख्यतया कलाचिद् स्वतन्त्रवें गुणस्थानमें अकारात्मिको भी एक समयका बंध हो सकता है ।

६ फल पत्नीकी निर्मलताका भग नहीं कर सकती, परन्तु उसे बचापमान कर सकती है । उसी तरह आत्माके ज्ञानम कुछ निर्मलता कम नहीं होती; परन्तु जो योगकी चंचलता है, उससे रहने बिना एक समयका बंध कहा है ।

७ यद्यपि कयात्मका रस पुण्य तथा पापकर्म है, तो भी उसका स्वभाव कट्टा है ।

८ पुण्य भी लक्ष्ममेंसे ही होता है । पुण्यका बीठागिया रस नहीं है, क्योंकि वहाँ एकजं लक्ष्मका उदय नहीं । कयात्मके दो भेद हैं—प्रवृत्ततराम और अप्रवृत्ततराम । कयात्मके बिना बंध नहीं होता ।

९ नार्वाकानका समावेश मुख्यतया कयात्ममें हो सकता है । प्रमादका अतिब्रमोहमें और योगका मानकमें समावेश हो सकता है ।

१० अरम पक्षकी धरके समान है; वह जाता है और जाता जाता है ।

११ 'मनन' करनेसे छत्र बैठ जाती है, और निदिध्यासन करनेसे प्रज्ञा होता है ।

१२ अधिक श्रवण करनेसे मननशक्ति मंद होती हुई दक्षनेमें जाती है ।

१३ प्राकृतजन्य भयार्थ लौकिक बाह्य-हानीका बाह्य नहीं ।

१४ आत्माके प्रत्येक समय उपयोगयुक्त होनेपर भी, अक्षय्यताकी कमी अथवा कामके बोधके कारण, उसे आत्मसम्बन्धी विचार करनेका समय नहीं मिल सकता—ऐसा कहना प्राकृतजन्य लौकिक बन्धन है । जो खाने पीने सोने इत्यादिका समय मिला और उसे काममें लिया—जब वह भी आत्माके उपयोगके बिना नहीं हुआ, तो फिर जो शास्य सुखकी वाक्यप्रकृति है, और जो मनुष्यजन्यका कर्तव्य है, उसमें समय न मिले, इस बन्धनको हानी कमी भी सच्चा नहीं मान सकता । इसका भय इतना ही है कि दूसरे इन्द्रिय आदि सुखके काम तो जरूरतके लगे हैं, और उसके बिना दुःख होनेके डरकी कल्पना रहती है; तथा 'आश्रित सुखके विचारका काम किये बिना अनर्थों काछ दुःख भोगना पड़ेगा, और अनर्थ संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा'—यह बात जरूरी लगती नहीं ! मतलब यह कि इस चैतन्यको कृत्रिम मान रक्खा है, सच्चा नहीं माना ।

१५ सम्प्रत्यक्ष पुरुष, जिसको किये बिना न पके ऐसे उदयके कारण लोकमयव्यवहारको निर्दोष रूपसे छजित करते हैं । प्रवृत्ति करते जाना चाहिये, उससे अनुमान्युक्त जैसा होना होगा वैसा होगा, ऐसी दृढ़ माय्यताके साथ, वह ऊपर ऊपरसे ही प्रवृत्ति करता है ।

१६ दूसरे पदार्थोंके ऊपर उपयोग दे तो आत्माकी शक्ति आतिर्भूत होती है । इसलिये सिद्धि क्षम्य आदि शक्त करने योग्य नहीं । वे जो प्राप्त नहीं होती उसका कारण यह कि आत्मा निरुत्कर्षण नहीं की जा सकती । यह शक्ति सब सच्ची है । चैतन्यमें चमत्कार चाहिये; उसका शुद्ध रस प्रगट होना चाहिये । ऐसी सिद्धिवाले पुरुष असत्ताकी साता कर सकते हैं । ऐसा होनेपर भी वे उसकी अपेक्षा नहीं करते । वे वेदन करनेमें ही निर्मल समझते हैं ।

१७ तुम जीवोंमें उच्छासमान नीय अथवा पुरुषार्थ नहीं । तथा यहाँ दीर्घ मंद पडा यहाँ उपाय नहीं ।

१८ जब असत्ताका उदय न हो तब काम कर लेना चाहिये—ऐसा ज्ञानी पुरुषोंने जीवकी असत्तापूर्ण देखकर कहा है; जिससे उसका उदय आनेपर उसकी पार न बसने ।

१९ सम्प्रत्यक्ष पुरुषको जहाजके कमाण्डरकी तरह पवन विरुद्ध होनेसे जहाजकी किराकर रस्ता बदलना पड़ता है, उससे वे ऐसा समझते हैं कि स्वयं प्रज्ञा किया हुआ मार्ग सच्चा नहीं । उसी तरह ज्ञानी-पुरुष उदयविशेषके कारण व्यवहारमें भी अंतरालग्रही नहीं चूकते ।

२० उपाधिमें उपाधि रखनी चाहिये । समाधिमें समाधि रखनी चाहिये । भ्रमियोंकी तरह कामके समय काम, और आरामके समय आराम करना चाहिये । एक दूसरेको परस्पर मिला न देना चाहिये ।

२१ व्यवहारमें आत्मकर्तव्य करते रहना चाहिये । सुख दुःख, भनकी प्राप्ति अप्राप्ति यह अनुमान्युक्त तथा सामर्थ्ययुक्त उदयके ऊपर आधार रखता है । अनुमते उदयकी साथ पहिछेसे अनुमते उदयकी पुनः शक्ति हो तो शोक नहीं होता । अनुमते उदयके समय शत्रु मित्र हो जाता है, और अनुमते उदयके समय मित्र शत्रु हो जाता है । सुख-दुःखका सच्चा कारण कर्म ही है । कार्तिकेयानुप्रेक्ष्यमें कहा है कि कोई मनुष्य कर्म लेने जाने तो उसे कर्म चुका देनेसे सिरपरसे बोझ कम हो जानेसे

जैसे हर्ष होता है। उसी तरह पुद्गल इन्द्रियों की प्रमाणात्मक कार्य, जिस कारणसे उदयमें आ जाय, उस कारणसे उसे सम्पूर्ण प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्बन्ध हो जाती है, और नया कण नहीं होता। इसलिये ज्ञानी-पुरुषको कर्मसे मुक्त होनेके लिये हर्षयुक्त भावसे तैय्यार रहना चाहिये। क्योंकि उसके बुझने बिना छुटकाय नहीं।

२२ सुखदुःख जो इन्द्रिय क्षेत्र काज भावमें उदय जाता हो, उसमें इन्द्र आदि की फेरफार करनेमें समर्थ नहीं है।

२३ करणानुयोगमें ज्ञानिने अंतर्मुखी जाहनाका व्यग्रवत् उपयोग माना है।

२४ करणानुयोगमें सिद्धान्तका समावेश होता है।

२५ करणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरण किया जाय उसका समावेश किया है।

२६ सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिष्ठा ज्ञानी देता है, वह करणानुयोगको अपेक्षित है। करणानुयोगको अपेक्षित नहीं। क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नवमें गुणस्वात्मकमें वेदोपपन्न रूप हो सकता है—उत्पन्न नहीं हो सकता।

८६४

वृत्तान्त कैय माद्रपद की १९५४

(१)

(१) मोक्षमात्रके पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं।

पुनरावृत्तिके संकल्पमें जैसे सुख हो वैसा करना। कुछ वास्तविक नीचे (अंदर काय) दर्शन की है, वैसा करना जरूरी नहीं।

श्रोता-वाचकको यथावक्ति अपने अभिप्रायपूर्वक प्रेरित न करनेका उक्त रहना चाहिये। श्रोता-वाचकमें स्वयं ही अभिप्राय उत्पन्न होने देना चाहिये। साधुसारके लोभन करनेको वाचक-श्रोताके हृदयके ऊपर छेद देना चाहिये। इसे उन्हें प्रेरित कर उन्हें स्वयं उत्पन्न हो सकनेवाले, अभिप्रायको रोक न देना चाहिये।

प्रज्ञाप्रकाश माग मोक्षमात्रके १०८ श्लोक यही लिखेंगे।

(२) परम सद्भुतके प्रचारक एक योगी होता है। उसका प्रचार होनेसे परमार्थ मार्गका प्रकाश होता है।

(२)

श्रीगीतासारके प्रज्ञाप्रकाशभागकी संकल्पना

१ वाचकको प्रेरणा	८ प्रमादके स्वकृत्य निरोध	१४ मद्रहमात्रोंकी असंगता.
२ त्रिनेत्र	विचार	१५. सर्वोत्कृष्ट सिद्धि
३ निर्मल	९ तीन मनोरथ	१६ अनेकताकी प्रमथता
४ दया ही परमधर्म है	१ चार सुशय्या	१७ वनवाति
५. सदा आनंद	११ व्यापारिक जीवोंके भेद	१८ दय
६ पैरी आदि चार भाग्याये	१२ तीन अहमाये	१९ ज्ञान
७ सारासार उपदेश	१३ सम्पन्नार्जन	२ दिया

२१ आरम्भ परिश्रमकी निवृत्तिके ऊपर इनामीदारा दिया हुआ भार	४० बैतालिय अम्पपन	६१ कर्मके नियम
२२ दान	४१ सयोगकी अनित्यता	६२ महापुरुषोंकी अनस दया
२३ नियमितता	४२ महात्माओंकी अनत समता	६३ निर्जराक्रम
२४ किनागमस्तुति	४३ सिरपर न चाहिये	६४ वाक्प्राज्ञा स्थानकमें किस तरह रहना चाहिये ?
२५ नक्षत्ररक्षा साम्राज्य संक्षेप स्वरूप	४४ (चार) उद्यादि भग	६५ मुनिधर्मयोग्यता
२६ सार्वजनिक श्रेय	४५ विममत्त निराकरण	६६ प्रायश्च और परोक्ष
२७ समुद्र	४६ महामोहनीय स्थानक	६७ उन्मत्तता
२८ देशधर्मविषयक विचार	४७ तीर्थंकरपद प्राप्ति स्थानक	६८ एक अतर्मुहूर्त
२९ मौन	४८ मत्स्या	६९ दर्शनस्तुति
३ शरीर	४९ परिप्रेक्ष्य	७० विभाव
३१ पुनर्जन्म	५० बीरज	७१ रसास्वाद
३२ पंचमहाभूतविषयक विचार	५१ समुद्रस्तुति	७२ अहिंसा और स्वच्छंदता
३३ देशबोध	५२ पञ्च परमपदविषयक विशेष विचार	७३ अन्नशोधिततासे महा- दोषका जन्म
३४ प्रसन्नयोग	५३ अविरति	७४ पारमार्थिक उत्प
३५ सरस्वती	५४ अभ्यास	७५ आत्ममात्रता
३६ निरुभिमानीपना	५५ मंत्र	७६ विनमात्रता
३७ ब्रह्मचर्यकी सर्वोत्कृष्टता	५६ यदुक्त निश्चय	७७—९० महापुरुष चरित्र
३८ आत्मा	५७ मोक्षमार्गकी अविरोधता	९१—१०० (भागमें हृदि)
३९ समाधिभरण	५८ सनातन धर्म	१ १—१ ६ द्वितीय प्रश्न
	५९ सूक्ष्म तत्त्वप्रतीति	१०७—१०८ समाप्ति अक्षर
	६ समिति गुप्ति	

३४वाँ पृष्ठ

८६५ कठवाण वीथ, कार्तिक सुनी ५ तमि १९५७

ॐ कर्तमान दुःपमकाष्ठ रहता है। मनुष्योंका मन भी दुःपम ही देखनेमें आता है। प्रायः के परमार्थसे झुग्न वंश करणबाधे परमार्थका प्रस्ताव करने स्वेच्छसे आचरण करते हैं।

ऐसे समयमें किसका सँग करना, किसके साथ कितना काम निकालना, किसकी साथ कितना करना, और किसकी साथ अपने कितने कार्य व्यवहारका स्वरूप निमित्त किया जा सकता है—यह सब हमें रखनेका समय है। गरीबों को सुवर्षिषान् जीवनको ये सब कारण हानिकारक होते हैं। ॐ स्मृति ।

८६६

बम्बई मासुगा म्मासिर १९५७

श्रीशान्तसुधारकका भी फिरसे विवेचनकम माफ़ीतर करना योग्य है, सो करना ।

८६७

बम्बई शिव, म्मासिर कवी १९५७

दैवागमनमोयानधामरादिष्वुत्तमः ।

मायाविष्यपि ह्यस्य नातस्त्वमसि नो महान् ॥

सुस्तिकार श्रीसर्मतमदसुरिको नीतरगदेव मानो कहते हैं कि हे समस्तमद ! इसा हमारी वह प्रतिभार्थ आदि विमृष्टिको द देख—हमारा म्मल्ल देख । इसपर, जिस तरह सिंह गुफामेंसे गंभीर पदसे निकलकर गर्जना करता है, उसी तरह श्रीसर्मतमदसुरि गर्जना करते हुए कहते हैं —

देवताओंका आगमन, आकाशमें विचरण चामर आदि विमृष्टिका भोग करना, चामर आदि हमसे होना जाना—यह तो मायावी इन्द्रजाखिये भी बता सकते हैं। ठेरे पास देवोंका आगमन होता है, अथवा द आकाशमें विचरता है, अथवा द चामर छत्र आदि विमृष्टिका उपभोग करता है, क्या इसलिये द हमारे मनको म्मल्ल है ? नहीं नहीं, कभी नहीं। कुछ इसलिये द हमारे मनको म्मल्ल नहीं। उतनेसे ही ठेरा म्मल्ल नहीं। ऐसा म्मल्ल तो मायावी इन्द्रजाखिया भी दिखा सकते हैं।

तो फिर सुदेवका वास्तविक म्मल्ल क्या है ? तो कहते हैं कि नीतरगता । इसे जाने कहते हैं ।

वे श्रीसर्मतमदसुरि जि स इतरी वातास्थिमें हुए थे । वे स्वेताम्बर दिग्गजर दोनोंमें एक स्थाने स्थापित हैं। उन्होंने देवगमस्तोत्र (ऊपर कही हुई स्मृति इस स्तोत्रका प्रथम पद है) रचना आत्ममीमांसा रची है । तत्प्राप्त्युक्ते भगवाचरणकी टीका करते हुए यह स्तोत्र (देवगम) रचित गया है, और उसपर आपसजली टीका तथा नीतरसी हजार स्तोत्रप्रमाण भगवद्विस्तमामास्य

मोक्षमार्गस्य नतारं भेत्तारं कर्मयुभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतश्चानां वदे तदुपासम्भय ॥

यह इसका प्रथम महास्तोत्र है ।

मोक्षमार्गिक नेता, कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता (भेदन करनेवाला) आर विज्ञ (समग्र) तरणके ज्ञाता (जाननेवाले) को, उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं बदन करता हूँ ।

आत्मसमाप्ता, योगविन्दु और उपमितिमध्यप्रपञ्चकाका गुनराती मार्गतर करना । योगविन्दुका मार्गतर हुआ है उपमितिमध्यप्रपञ्चका हो रहा है । परन्तु उन दोनोंको फिरसे करना योग्य है, उसे करना । धीमे धीमे होगा ।

लोक-कल्याण हितरूप है और यह कर्तव्य है । अपनी योग्यताकी स्थिततासे और जोखमदारी में समस्त सन्देहसे अपकार न हो जाय, यह भी अच्छा रहना चाहिए ।

८६८

कर्म्य दिव, मंगलिर वनी ८, १९५७

ॐ मदन्तरेखाका अधिकार, उत्तराभ्ययनके लक्षमें अभ्ययनमें जो नमिराज ऋषिका चरित्र दिया है, उसकी टीकामें है ।

प्रतिमध्यपुत्रका अधिकार मगवतीसूत्रके शालकके उद्देशमें आया है ।

ये दोनों अधिकार लक्ष्मी दूसरे जैसे बहुतसे अधिकार आत्मोपकारी पुरुषके प्रति बढ़ना आदि मत्किन्न निरूपण करते हैं । परन्तु जनमदलके कल्याणका विचार करते हुए जैसे निययकी चर्चा करनेसे तुम्हें दूर हो रहना योग्य है ।

अबतर भी ऐसा ही है । इसलिये तुम्हें इन अधिकार आणिकी चर्चा करनेमें एकदम शान्त रहना चाहिये । परन्तु दूसरी तरह, जिस तरह उन लोगोंकी तुम्हारे प्रति उत्तम अंगम अथवा भावना हो, वैसा वर्तन करना चाहिए, जो पूर्णपर अनेक जीवोंके हितका ही हेतु होता है ।

जहाँ परमात्मिक विज्ञान पुरुषोंका मंडल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है नहीं तो प्रायः उससे श्रेय नहीं होता ।

यह मात्र छोटी परिपक्व है । योग्य उपायसे वर्तन करना चाहिये । परन्तु उद्देश्यपुष्ट चित्त न रहना चाहिये ।

८६९

वडवाण केम्प, कम्पुन सुनी ९ दामि १९५७

ॐ जो अधिकारी संसारसे विराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके सयोगमें विचरनेकी इच्छा करता है, उस अधिकारीको दीक्षा देनेमें मुनिश्रीको दूसरे प्रतिबन्धका कोई हेतु नहीं ।

उस अधिकारीको अपने बड़ोंका संतोष सहाय्य कर आत्मा प्रसन्न करनी योग्य है, जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमें दक्षिण होनेमें दूसरा विक्षेप न रहे ।

इस अथवा दूसरे किसी अधिकारीको संसारसे उपरामहृदि हुई हो, आर वह आत्मापकी साथक है, ऐसा माध्यम होना हो, तो उसे दीक्षा देनेमें मुनिवर अधिकारी हैं । मात्र त्याग देनेवालेको और त्याग देनेवालेको अथवा मार्ग वृद्धिमान रहे, ऐसी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

३४वाँ पर्व

८६५ कठवाण कैम्प, कार्तिक सुनी ५ रवि १९५७

ॐ कर्तमान दुःखमकार रहता है। मनुष्योंका मन भी दुःख ही देखनेमें आता है। प्रायः करके परमार्थसे धुल्ल अतःकरणवाले परमार्थका निस्तार करके स्वेच्छासे वाचरण करते हैं।

ऐसे समयमें किसका ईश करपा, किसके साथ कितना काम निकलूँगा, किसकी साथ कितना बोलूँगा, और किसकी साथ अपने कितने कार्यं व्यवहारका स्वकम विदित किया जा सकता है—यह सब कह्यमें रहनेका समय है। कभी तो सद्बलितान् श्रीपक्षों से सब कारण हानिकारक होते हैं। ॐ शान्ति ।

८६६

कम्बई मादुगा मंगसिर १९५७

श्रीशान्तसुधारसका भी फिरसे विवेचनकम मायंकर करना योग्य है, सो करना।

८६७

कम्बई सिध, मंगसिर बनी १९५७

देवागमनभोयानचापराविधिसूतयः ।

मायाविष्वपि हस्यन्ते नातस्त्वमासि नो महान् ॥

स्तुतिकार श्रीसमतमसूरिको भीतरप्रादेव मानो कहते हैं कि हे समतम । इस समय तो मैं मायाविष्वपि हस्यन्ते नातस्त्वमासि नो महान् ॥

देवताओंका आगमन, आकाशमें विचरण, चामर आदि विमूढिका भोग करना, चामर आदि वैभवसे डोसना जाला—यह तो मायावी इन्द्रबाकियों में बता सकते हैं। तेरे पास देवोंका आगमन होता है, अपना व आकाशमें विचरता है, अपना व चामर छत्र आदि विमूढिका उपभोग करता है, क्या इसमें व हमारे मनको मगान् है। नहीं नहीं, कभी नहीं। कुछ इसमें व हमारे मनको मगान् नहीं। उल्लेख ही तो गहरा नहीं। ऐसा गहरा तो मायावी इन्द्रबाकिया में दिखा सकते हैं।

तो फिर सद्देवका वास्तविक गहरा क्या है। तो कहते हैं कि भीतरप्रादा। इसे जानो बताते हैं।

ये श्रीसमतमसूरि नि सं वसुती वराधिर्ये हुए थे। वे स्वतन्त्र विगम्बर दोनोंमें एक सूरिके समानित हैं। उन्होंने देवागमस्तोत्र (ऊपर कही हुई स्तुति इस स्तोत्रका प्रथम पद है) अपना आत्ममीमांसा रची है। तत्पार्थसूक्तों के आगमचरणकी टीका करते हुए यह स्तोत्र (देवागम) लिखा गया है; और उसपर अष्टपञ्चमी टीका तथा चौपसी हजार एकोपमात्र कर्गबहस्तिमहामाय टीका रची गई है।

अभि विगम्बर कर्मों और शिष्टोक्तियोंमें स्वामी समतमसूरि वराधिर्य टीका रचिता मना गया है उस मनी और शिष्टोक्तियों की पता लगता है कि समतमसूरि वराधिर्य नामकी कोई टीका तो बहरा नहीं थी परन्तु वराधिर्य अमरपदोंके तत्पार्थसूक्तों के ऊपर नहीं थी किसी धुले विगम्बरोंके शिष्टोक्तियोंके ऊपर ही थी—एतद्वत् । सुमन्त्रिप्रादेवोंने अपने स्वामी समतमसूरि—वराधिर्य व ११-१४६ में बहुतसी वक्तोंमें देवता लिखित किया है। तब वेदागम परमार्थों के तत्पार्थसूक्तों के अन्तर्गत टीकाकी प्रतिकृति है, वह भी कोई अनुपमका बाक्य न हो इति वरी है वह विद्वत्प्रादेवोंकी कर्तव्यता तत्पार्थसूक्तोंकी वराधिर्य ही है। देखो व सुमन्त्रिप्रादेवोंकी तत्पार्थसूक्तोंकी टीकाकी व्याख्या व. १६-४२

—अनुवादक

मोक्षमार्गस्य नेतारं भित्तारं कर्मयुमुताम् ।

ज्ञातारं भिन्वतश्चानां बन्दि तदुण्यलम्बये ॥

यह इसका प्रथम महास्तोत्र है ।

मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्यंतके भेदा (भेदन करनेवाले) और विरत (समम) तत्त्वके ज्ञाता (जाननेवाले) को, उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं बंदन करता हूँ ।

आत्ममीमांसा, योगविन्दु और उपनिषदिमन्त्रप्रपञ्चकाका गुनराती मार्यातर करना । योगविन्दुका मार्यातर हुआ है उपनिषदिमन्त्रप्रपञ्चका हो रहा है । परन्तु उन दोनोंको फिरसे करना योग्य है, उसे करना । धीमे धीमे होगा ।

कोटि-कल्याण हितरूप है और यह कर्तव्य है । अपनी योग्यताकी स्पृहासे और ओष्ठमदारी न समझ सकनेसे अपकार न हो जाय, यह भी धृष्ट रखना चाहिए ।

८६८

कर्म्य शिष, मगास्ति बदी ८, १९५७

ॐ मदमरेखाका अधिकार, उत्तपम्पयनके नवमें अक्षयममें जो ममिपत्र ऋदिका धरित्र पिया है, उसकी टीकामें है ।

श्रुतिमन्त्रपुत्रका अधिकार मगावतीमूत्रके शतकके उद्देशमें आया है ।

ये दोनों अधिकार अथवा दूसरे जैसे बहुतसे अधिकार अक्षयपुत्रकी पुरुषके प्रति बढ़ना आदि मक्षिका निरूपण करते हैं । परन्तु जनमद्वयके कल्याणका विचार करते हुए जैसे विषयकी चर्चा करनेसे उन्हें दूर ही रहना योग्य है ।

अक्सर भी ऐसा ही है । इसलिये उन्हें इन अधिकार आदिकी चर्चा करनेमें एकदम शान्त रहना चाहिये । परन्तु दूसरी तरफ, जिस तरफ उन लोगोंकी तुम्हारे प्रति उत्तम छान बयबा भावना हो, वैसा वर्तन करना चाहिए, जो पूर्णतः अनेक जीवोंके हितका ही हेतु होता है ।

जहाँ परमार्थके शिक्षासु पुरुषोंका मङ्गल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है; नहीं तो प्रायः उससे श्रेय नहीं होता ।

यह मात्र छोटी परिपक्व है । योग्य उपायसे वर्तन करना चाहिये । परन्तु उद्देश्ययुक्त चित्त न रखना चाहिये ।

८६९

बहुवाण कैय, फाम्पुन सुगी ६ घनि १९५७

ॐ जो अधिकारी क्षमसे विराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके सयोगमें निवर्तनेकी इच्छा करता है उस अधिकारीको दीक्षा देनेमें मुनिश्रीको दूसर प्रतिबन्धका कोई हेतु नहीं ।

उस अधिकारीको अपने बड़ोंका सतीत सन्मान कर आत्मा प्राप्त करनी योग्य है जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमें दीक्षित होनेमें इसका विवेक न रहे ।

इस अथवा दूसरे किसी अधिकारीको क्षमसे उपरामहृष्टि हुई हो, और यह अक्षयपुत्रकी साधक है, ऐसा माझ्य होगा हो, तो उसे दीक्षा देनेमें मुनिवर अधिकारी है । मात्र त्याग छेनाउके और त्याग देनेवालेको अथवा मार्ग इदिमान रहे, ऐसी इच्छा वह प्रकट करनी चाहिये ।

परिशिष्ट (१)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र’में आये हुए अन्य ग्रन्थकार आदि विशिष्ट
शास्त्रोंका संक्षिप्त परिचय

अकबर—

अकबरका पूरा नाम अबुल् फतेह अकबरीन मुहम्मद अकबर था। इनका जन्म सन् १५४२ में अमरकोट हुआ था। सन् १५५६ में अकबरको राज्य-सिंहासन मिला। अकबर बहुत उत्तमशैली और बुद्धिमान शाह था। उसने अपने कौशलसे धीरे धीरे अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया, और बहुतसे लोगोंको अपना साथी बना लिया था। उसने अनेक युद्ध भी किये, जिनमें उसे सफलता मिली। अकबर बहुत सख्त था। वे गोमय इत्यादिसे परहेज करते थे। अकबरने हिन्दू और मुसलमान दोनोंमें ऐक्य और प्रेमसंबंध स्थापित करनेके लिये ‘दीन-इ-इलाही’ धर्मकी स्थापना की थी। इस धर्मके हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अनुयायी थे। अकबरने अनेक दिनोंमें औरसिंहासन करनेकी भी अपने राज्यमें मनाई कर रखी थी। अकबरको विद्याभ्यासका बहुत शौक था। उन्होंने रसायन-सहायक आदि प्रयोगोंके फलस्वरूप अनुवाद करवाये थे। अकबरकी समामें हिन्दू विद्वानोंको भी बहुत सम्मान मिलता था। अकबर अ्यों अ्यों बूढ़ होते गये, त्यों त्यों उनकी विषय-ओछपताका हास होता गया। अकबर सोते भी बहुत कम थे। कहते हैं दिनपूरा मिला कर वे कुछ ठान बटे सोते थे। अकबर बहुत मितव्ययी थे। वे दिनमें एक ही बार मोदम करते थे, और उसमें भी अधिकतर दूध, भात और मिठाई ही होते थे। अकबरका पुत्र सलीम हिन्दुपनी ओषावार्हिक गर्भसे पैदा हुआ था। राजचन्द्रजीने अकबरके मिठाहारका उल्लेख किया है।

अन्ना—

अन्ना गुजराती साहित्यमें एक अद्वितीय ग्रन्थकाजीन कवि माने जाते हैं। इनका जन्म सन् १६१९ में अहमदाबादमें सोनी जातिमें हुआ था। वे अक्षयमगतके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। अन्नाकी शोधप्रधान कविताका बड़ा भाग सातवीं शताब्दिसे छयावें है, जिसके सब मिठाकर ‘अन्ना’ कहल गे है। छयावें अतिरिक्त, अन्नाने अठेवींता, अनुमन्त्रिन्दु, कैवल्यगीता, चित्तविचारसंग्रह, पंचाकरण, गुह्यशिल्पसंग्रह तथा बहुतसे पं. आदिकी भी रचना की है। अन्नाको दम और पसन्द के प्रति अत्यन्त तिरस्कार था। इन्होंने शास्त्रोंके गूढ़ सिद्धन्तोंको अत्यन्त सरल भाषामें लिखा है। अन्ना एक अनुमन्त्री विचारशील चतुर कवि थे। इन्होंने स्वर्ण, सङ्कट, प्रसरस आदिकी जगह जगह मझिमा गर्ह है। ‘अन्नानी बाणी’ नामक पुस्तक ‘सन्त साहित्य-वर्षक’ कार्यालयसे सन् १९२४ में प्रकाशित हुई है। इनके अन्य ग्रन्थ तथा पद काव्यशोधनमें छपे हैं। राजचन्द्रजीने अन्नाका मार्गानुसारी बताते हुए उनके ग्रन्थोंके फलनेका अनुपेक्ष किया है। उन्होंने अन्नाके पं. भी उद्धृत किये हैं।

अध्यात्मकस्यन्दुम—

अध्यात्मकस्यन्दुम वैराग्यका बहुत उत्तम ग्रन्थ है। इसके कता श्वेताम्बर विशन् मुनिधर्मगुरु हैं। मुनिधर्मगुरु सहस्रावधानी थे। कहा जाता है कि इन्हें तपके प्रभावसे पद्मावती आदि देवियों

प्राप्त करने आज राबकोट जाना होगा। प्रवचनसार ग्रंथ लिखा जाता है, यह वयावसर प्राप्त हो सकता है। श्रान्ति ।

८७० राबकोट, फागुन वरी १ शुक्र १९५७

बहुत लघुसे प्रवास पूरा करना था। जहाँ बीचमें हीहराका मरुस्थल था गया।

सिरपर बहुत बोझ था, उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अत्यन्तार्थमें बेदन कर लिया जाय, उस तरह व्यवस्था करते हुए फैलने निश्चित उदयमान विमान प्रवृत्त किया।

जो स्वरूप है वह कल्पना नहीं होता, यही बहुत आश्चर्य है। अन्त्यावाप स्थिरता है।

प्रकृति उदयानुसार कुछ असाधारण मुह्यत बेदन करके सातके प्रति। ॐ श्रान्ति ।

८७१ राबकोट फागुन वरी १३ सोम १९५७

ॐ सरीसर्पकी दूसरी बार आज अप्राकृतिक रूप धारण हुआ। श्रान्तिको समाप्तन सम्पूर्ण जयन्त वरों।

८७२ राबकोट, वैत्र सुदी २ शुक्र. १९५७

ॐ अनन्त श्रान्तिको अन्तर्ममस्वामीको वरी नमः

वेदनीयको उपाय उदयमानपनेसे बेदन करनेमें हर्ष होकर क्या? ॐ श्रान्ति ।

८७३ राबकोट, वैत्र सुदी ९, १९५७

अन्तिम संदेश

परमार्थमार्ग अथवा शुद्ध अन्तिमप्रवृत्त

ॐ श्रीमन्परमात्मने नमः

(१) जिस अन्त सुखस्वभावकी योगात्मक इच्छा करते हैं, वह पूरा शुद्ध अन्तिमपद सयोगी निरस्तकर्म है ॥ १ ॥

यह अन्तिमपद अगम्य है, यह अव्ययवर्णन आधार है। उस स्वभावके प्रकारको निरस्तपद कहा गया है ॥ २ ॥

निरस्त और निरस्त दोनों एक हैं, इनमें कोई भी अन्तिमपद नहीं। उसके अन्त होनेके बिना ही सुखदायक शान्त रहे गये हैं ॥ ३ ॥

८७४

अन्तिम संदेश

(१) इसके ऊँचे श्रेणीक अन्त सुखस्वभाव। शुद्ध शुद्ध से अन्तिमपद सयोगी निरस्तकर्म ॥ १ ॥

अन्तिमपद अगम्य है अन्तिमपद आधार। निरस्तकी श्रान्तिको देख स्वभाव प्रकृत ॥ २ ॥

निरस्त निरस्त अथवा अन्तिमपद नहीं कोई। अन्त अन्त देखो क्या शान्त सुखदायक ॥ ३ ॥

बिन प्रबचन बहुत दुर्गम है, उसे प्राप्त करनेमें मुझिमान खोम भी थक जाते हैं । वह श्रीसद्गुरुके अवलम्बनसे ही सुगम और सुखकी खान है ॥ ४ ॥

यदि बिनमगधनके चरणोंकी अतिशय मलिनसहित उपासना हो, मुनिबनोंकी संगतिमें संपन्न रहित जन्मन्त रति हो—॥ ५ ॥

यदि गुणोंमें अतिशय प्रमोद रहे और अतर्मुक्त योग रहे, तो श्रीसद्गुरुसे बिनदर्शन समझा जा सकता है ॥ ६ ॥

मानो समुद्र एक किन्तुमें ही समा गया हो, इस तरह प्रबचनकारी समुद्र बौद्ध पूर्वकी सन्धि रूप किन्तुमें समा जाता है ॥ ७ ॥

जो विषय निष्करसहित मतिके योगसे रहता है, उसे परिणामोंकी विपन्नता रहती है, और उसे योग भी व्ययोग हो जाता है ॥ ८ ॥

मंद विषय, सरलता, आकाशपूर्वक सुविचार तथा करुणा कोमलता आदि गुण यह प्रथम सूचिका है ॥ ९ ॥

जिसने शब्द आदि विषयको रोक लिया है, जो समयके साधनमें रग करता है, जिसे आत्माके किये जगत् इष्ट नहीं, वह महाभयम मध्यम पात्र है ॥ १० ॥

जिसे जीनेकी लुप्ता नहीं, जिसे मरणके समय खोम नहीं, वह मार्गका महापात्र है, वह परम योगी है, और उसने जोमको जीत लिया है ॥ ११ ॥

(२) जिस तरह जब सूर्य सम देशमें जाता है तो छाया समा जाती है, उसी तरह स्वभावमें आनेसे मनका स्वरूप भी समा जाता है ॥ १ ॥

यह समस्त सत्ता मोहनिष्कम्पसे उत्पन्न होता है । अंतर्मुख हृदिये देखनेसे इसके नाश होते हुए देर नहीं लगती ॥ २ ॥

(३) जो अनन्त सुखका धाम है, जिसकी सग खोम इच्छा करते हैं, जिसके ध्यानमें वे दिन रात लीन रहते हैं जो परमसति है, अनन्त सुखामय है—उस परको प्रणाम करता हूँ, वह देव है, उसकी जय हो ॥ १ ॥

समाप्त

बिन प्रबचन दुर्गमता काके अति मतिमान । अवलम्बन श्रीसद्गुरु सुगम अने सुखसाधन ॥ ४ ॥

अपलना बिनबचनकी अतिशय मलिनसहित । मुनिबन संपत्ति रति अति संपन्न योग पदित ॥ ५ ॥

सुखप्रमोद अतिशय रहे रहे अंतर्मुख योग । प्राप्ति श्रीसद्गुरुपदे बिनदर्शन अनुयोग ॥ ६ ॥

प्रबचन समुद्रकिन्तुमा जलही (उलही) आने पम । पूर्व बौद्धकी सन्धि तटारण पत्र तेम ॥ ७ ॥

विषय निष्कर सहित के साथ मतिना योग । परिणामकी विपन्नता देने योग अवोग ॥ ८ ॥

मंद विषयने सरलता यह आकाश सुविचार । करुणा कोमलताहि गुण प्रथम सूचिका बार ॥ ९ ॥

ऐसा शब्दादिक विषय संभव साधन राय । जगत इष्ट नहीं आत्मकी मध्यम महाभाव ॥ १० ॥

नहीं लुप्ता जीमलपणी मरण योग नहीं खोम । महापात्र के मार्गना परम योग विपन्नोग ॥ ११ ॥

(२) आने बहुत लक्ष्मणमा जगत् जय समग्र । आने तेम स्वभावमा मन स्वरूप पत्र आई ॥ १ ॥

उपने मोह निष्कम्पणी समस्त आ सत्ता । अंतर्मुख अवज्ञाका विषय भयां नहीं बार ॥ २ ॥

(३) सुख धाम अनन्त सुखे वहि । दिन रात रहे तद् ध्यानमीहि ।

परमाति अनन्त सुखामय के प्रभु पर ते कर ते जय ते ॥ १ ॥

परिशिष्ट (१)

‘ श्रीमद् राजघनन्त्र’में आये हुए अन्य ग्रन्थकार आदि विविध
शास्त्रोंका संक्षिप्त परिचय

अकबर—

अकबरका पूरा नाम अबुल् फतेह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर था। इनका जन्म सन् १५४२ में अमरकोट हुआ था। सन् १५५६ में अकबरको राज्य-सिंहासन मिला। अकबर बहुत उत्तमशील और बुद्धिमान बादशाह था। उसने अपने कौशल्से धीरे धीरे अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया, और बहुतसे लोगोंको अपना साथी बना लिया था। उसने अनेक युद्ध भी किये, जिनमें उसे सफलता मिली। अकबर बहुत लक्ष्णु थे। वे गोमयस इत्यादिसे पखोज करते थे। अकबरने हिन्दु और मुसलमान दोनोंमें ऐक्य और प्रेमसंबंध स्थापित करनेके लिये ‘दीनइलाही’धर्मकी स्थापना की थी। इस धर्मके हिन्दु और मुसलमान दोनों ही अनुयायी थे। अकबरने अमुक दिनोंमें जीवहिंसा न करनेकी भी अपने राज्यमें मनाई कर रखी थी। अकबरको विद्याभ्यासका बहुत शौक था। उन्होंने रामायण महाभारत आदि प्रयोगोंके फारसीमें अनुवाद करवाये थे। अकबरकी समायें हिन्दु विद्वानोंको भी बहुत सम्मान मिलता था। अकबर ज्यों ज्यों बूढ़ होते गये, त्यों त्यों उनकी विषय-ओछपताका हास होता गया। अकबर सोते भी बहुत कम थे। कहते हैं दिनरात मिका कर वे कुछ चीज घटे सोते थे। अकबर बहुत मितहाजी थे। वे दिनमें एक ही बार भोजन करते थे, और उसमें भी अधिकतर रूच, मात और मिठवाई ही लेते थे। अकबरका पुत्र सलीम हिन्दुपत्नी जोधाबाईकी गर्भसे पैदा हुआ था। राजघनन्त्रजीने अकबरके मितहाजरका उल्लेख किया है।

अस्सा—

अस्सा गुजराती साहित्यमें एक अतिरिक्त मध्यकालीन कवि माने जाते हैं। इनका जन्म सन् १६१९ में अहमदाबादमें सोनी जातिमें हुआ था। ये अक्षयमगतके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। अस्सानी बोधप्रधान कविताका बड़ा माग सातवीं छियाविस छप्पमें है, जिसके सब मिश्रकर चत्वारिंश बग हैं। छप्पाके अतिरिक्त, अस्साने अल्लेगीता, अनुभवविन्दु, कैचखीता, विचविचारसंवाद, पंथीकरण, गुरुशिष्यसंवाद तथा बहुतसे पर जाणिकी भी रचना की है। अस्साको दम और पारंगत के प्रति अत्यन्त तिरस्कार था। इन्होंने शास्त्रोंके गूढ़ सिद्धान्तोंको अत्यन्त सरल भाषामें लिखा है। अस्सा एक अनुभवशील विचारशील चतुर कवि थे। इन्होंने ससग, सदुरु, नसरस आदिकी जगह जगह महिमा गर्वाई है। ‘अस्सानी वाणी’ नामक पुस्तक ‘ससु साहित्य-वर्षक कार्यालय’से सन् १९२४ में प्रकाशित हुई है। इनके अन्य ग्रन्थ तथा पर काव्यमेखमें छपे हैं। राजघनन्त्रजीने अस्साका मार्गानुसारी बताते हुए उनके प्रयोगोंके फलनेका अनुराग किया है। उन्होंने अस्साके पर भी उद्धृत किये हैं।

अध्यात्मकल्पद्रुम—

अध्यात्मकल्पद्रुम वैराग्यका बहुत उत्तम ग्रन्थ है। इसके कर्ता श्वेताम्बर विश्वन् मुनिचंद्रमूरि हैं। मुनिचंद्रमूरि सहस्रावधानी थे। कहा जाता है कि इन्हें तपके प्रभावसे पद्मवती आदि देवियों

यह दर्शन दिया करती थी। मुनिमुंदरसूरिने अपने गुरुदेव सुंदरसूरिजी सेवामें एकसी भाव दाय
या एक निरतिथ्य भेजा था, जिसमें उन्होंने माना तपस्के सैकड़ों शिष्य और हजारों काम्य लिखे
। मुनिमुंदरसूरिने स्वेच्छा इतिसहित उपदेशरत्नाकर, अयार्णवचरित्र, शक्तिचरस्तात्र आदि अनेक
पौरो रचना की है। मुनिमुंदरसूरि ज्येष्ठाम्बर आश्राममें बहुत प्रख्यात कवि गिने जाते हैं। ये
० १५०३ में स्वर्गस्थ हुए। अष्टात्मकमयतुभमें सोछह अविकार हैं। प्रपञ्चा विस्तृत गुजरती
बेचन मोतीचन्द गिरधरछन्द कापडिपाने किया है, जो जैनधर्मप्रसारक समाजी बोरोसे सन् १९११
प्रकाशित हुआ है।

पञ्चात्मसार (देखो पशोविजय)

नान्यदासजी—

माझस हाता है अनापदास कोई बहुत अच्छे केमती, ये। इन्होंने गुजरतीमें विचारमाळा
नामक ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थके ऊपर टीका भी है। राजचन्द्रजीने इस ग्रन्थका व्यवबोधन करनेके
लिये लिखा है। उपदेशसम्भामें अनापदासजीका एक वचन भी राजचन्द्रजीने उद्धृत किया है।

अनुमन्त्रकाव्य (पञ्चपातवृत्त अनुमन्त्रप्रकाश)—

इस ग्रन्थके कर्ता विष्णुब्रह्मन्त्रजीने गृहस्थाश्रमके त्याग करनेके पश्चात् बहुत समयतक
छाटन किया, और उपस्थात् वे इपीकेशमें जाकर रहने लगे। ये सदा सत पुरुषोंके समग्राममें रहते
ए अस्वविचारमें मग्न रहते थे। विष्णुब्रह्मन्त्रजीने इपीकेशमें रहकर नाना प्रकारके कष्ट उठाये। इन्होंने
अस्वकाके सेठ सूर्यमन्त्रजीको प्रेरित कर इपीकेशमें अस्वकेन्द्र आदि भी स्थापित किये, जिससे वहाँ
इनेवाले सदा छात्रोंको बहुत लाभ मिले। विष्णुब्रह्मन्त्रजीको किसी धर्म या वेदके लिये कोई लाभ
न था। ये केवल दो कंकड़ी रखते थे। अनुमन्त्रप्रकाशका गुजरती मार्चतः सन् १९२७ में सम्पत्ति
रखत हुआ है। इसमें आठ सर्ग हैं, जिनमें वेदान्तविषयका वर्णन है। ब्रह्मावबन्धमान पृथ्वी सर्गमें
जाता है।

अमयकुमार (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाळा पाठ ३०—३२)

अंबारामजी—

अम्बरामजी और उनकी पुत्रकण्ठे सर्वधर्म राजचन्द्रजी लिखते हैं—“ हमने इस पुस्तकका
बहुतसा भाग देखा है। परन्तु हमें उनकी बातें सिद्धान्तज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं मान्य होती।
और ऐसा ही है; तथापि उस पुरुषकी वृत्ता अच्छी है; मार्गाविवारी वैसी है। ऐसा तो कह सकते
हैं। ” तथा “ धर्म ही जिनका निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं जाये। ”

अपर्यवतुमार—

इसके वाच्यार्थसामें मोक्ष प्राप्त करनेका राजचन्द्रजीने मोक्षमाळामें उल्लेख किया है। इनकी
कथा भगवतीभूम्में जाती है।

अष्टक (देखो हरिश्चन्द्र)

अष्टपादुक् (देखो कुन्दकुन्द)

अम्बरामजी व गुणम्बरजी लिखित करते हैं कि अम्बरामजी मारवणके निवासी एक महन्त थे। इन्होंने बहुतसे
ग्रन्थ लिखे किये हैं। केवल

अष्टसहस्री—

विधानन्दस्वामीकी आसामीग्रंथालय लिखी हुई टीकाका नाम अष्टसहस्री है। इस ग्रन्थमें बहुत प्रौढ़ताके साथ जैनदर्शनके स्याद्वाद सिद्धांतका प्रतिपादन किया गया है। अष्टसहस्रीके ऊपर श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय पशोविनयजीने मध्यम्यायसे परिपूर्ण टीका भी लिखी है। विधानन्द आदिमें ब्राह्मण थे। उनका मीमांसा बौद्ध आदि दर्शनोंका बहुत अच्छा अध्ययन था। वे अपने समयके एक बहुत अच्छे कुशाळ वादी गिने जाते थे। विधानन्दजीने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर तत्त्वार्थसूत्रकार्तिक नामकी दार्शनिक टीका भी लिखी है, जिसका जैनसाहित्यमें उच्चस्थान है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आसपरीक्षा पत्रपरीक्षा आदि और भी महत्त्वशाली ग्रन्थ लिखे हैं। आसपरीक्षामें ईश्वरकर्तृत्व आदि सिद्धांतोंका विद्वत्पूर्ण विवेचन किया गया है। इनका समय ईसवी सन् ९ वीं शताब्दि माना जाता है।

अष्टाचक्र—

अष्टाचक्र सुमतिके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम कछोड़ था। एक दिन अष्टाचक्र जब गर्भमें थे, कछोड़ अपनी पत्नीके पास बैठे हुए बेदका पाठ कर रहे थे। बेदपाठमें उनकी कहीं मूळ हो गई, जिसे गर्भस्थ शिशुने बता दिया। इसपर कछोड़को बहुत शोक आया, और उन्होंने गर्भस्थ शिशुसे कहा कि जब तेरा स्वभाव अभीसे इतना बुरा है, तो आगे जाकर न मज्जूस दू क्या करेगा। अतएव बा, मैं तुझे शाप देता हूँ कि दू अष्टाचक्र होकर जन्म ग्रहण करेगा। कहते हैं इसपर शिशुका शरीर बाढ़ जगहसे टेढ़ा हो गया, और उसका नाम अष्टाचक्र पड़ा। बादमें चञ्चल इनके पिताने अष्टाचक्रसे प्रसन्न होकर इन्हें समगा नदीमें स्नान करवाया, जिससे अष्टाचक्रकी बुराया तो दूर हो गई, पर नाम इनका फिर भी बही रहा। अष्टाचक्र जनकके गुरु थे। उन्होंने जो जनकको उपदेश दिया, वह अष्टाचक्रगीतामें दिया है।

आचारांग (आगमग्रन्थ)—इसका रामचन्द्रजीने अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है।

आत्मसिद्धिशास्त्र (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ पृ ५८५-५८२)

आत्मानुशासन—

आत्मानुशासनके कर्त्ता दिगम्बर सम्प्रदायमें गुणमद्र नामके एक बहुत प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। ये आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनस्वामीके शिष्य थे। ये दोनों गुरु शिष्य अमोघवर्य महापुरुषके समकालीन थे। गुणमद्र स्वामीने उत्तरपुराणकी भी रचना की है, जिसे उन्होंने शक संवत् ८२० में सम्पन्न किया था। गुणमद्र ग्याय काव्य आदि विषयोंके बहुत अच्छे विद्वान् थे। आत्मानुशासनकी कई टीकायें भी हुई हैं। इनमें ५० टोडरमखनीकी हिन्दी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इसका गुजरगती अनुवाद भी हुआ है। इस अध्यात्मके प्रयत्नों दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों बहुत भावसे पढ़ते हैं।

आनन्द आचक्र—

आनन्द आचक्रकी कथा उपासकदशासूत्रमें आती है। एक बारकी बात है कि गीतमस्वामी मिथुने लिये जा रहे थे। उन्होंने सुना कि महावीरके शिष्य आनन्दने मरणान्त सङ्केतका स्वीकार कर दिया है। गीतमने आनन्दको देखनेका विचार किया। आनन्दने गीतमस्वामीको नमस्कार करके पूछा कि मगध? क्या गृहस्थावस्थामें अवधिमान होता है? गीतमने कहा 'हाँ' होता है। इसपर आनन्दने

कहा कि मुझे इतनी सामर्थ्यका अविधान हो गया है कि मैं पोंगरी योजनतकके रुसी पशार्पको जान सकता हूँ। गीतमस्वामीने इस बातका निषेध किया, और आनन्दको आसोचना फलेको कहा। बादमें दोनों महावीरके पास गये। गीतमको अपनी भूख माहूम हुई थीर उन्होंने आनन्दसे क्षमा माँगी।

आनन्दधन—

आनन्दधनजी एक महान् अध्यात्मी योगी पुरुष हो गये हैं। इनका दूसरा नाम धामानंद था। इन्होंने हिन्दी मिश्रित गुजरातीमें चौबीस त्रिभंगबाल्मीकी स्तुतिरूप चौबीस स्तवनोंकी रचना की है, जो आनन्दधनजीकीछोके नामसे प्रसिद्ध है। आनन्दधनजीकी दूसरी सुन्दर रचना आनन्दधन कहेन्द्री है। आनन्दधनजीकी वाली बहुत मार्मिक और अनुभवज्ञानसे परिपूर्ण है। इनकी रचनाओंसे माहूम होता है कि ये जैनसिद्धांतके एक बड़े अनुभवी मर्मज्ञ पंडित थे। आनन्दधनजी गच्छ मत इत्यादिका बहुत विरोध करते थे। इन्होंने पददर्शनको त्रिभंगवान्का अंग बतकर छहों दर्शनोक्त सुन्दर सम्मिश्र किया है। आनन्दधनजी अहमानुभवकी मस्त दशामें विचरण किया करते थे। आनन्दधनजीका पद्योत्प्रेषणजीसे मिठाप भी हुआ था, इस बातको पद्योत्प्रेषणजीने अपनी बनई हुई व्यपदीमें व्यक्त किया है। राजचन्द्रजी आनन्दधनजीको बहुत सन्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। वे उन्हें कुन्दकुन्द और हेमचन्द्राचार्यकी कोटिमें धाकर रखते हैं। वे आनन्दधनजीकी हेमचन्द्राचार्यसे तुलना करते हुए लिखते हैं— श्रीआनन्दधनजीने स्वपर-हितबुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति आरंभ की। उन्होंने इस सुख्य प्रवृत्तिमें ब्रह्महितको गौण किया। परन्तु वीतरागधर्म-विमुक्ता—विपक्ता—इतनी बढ़ गई थी कि योग धर्मको अपना आनन्दधनजीको पक्षिपाल न सके—समस्त न सके। अन्तमें आनन्दधनजीकी क्या कि प्रवृत्तिसे ब्याप्त विपक्ताके योगमें लोकोपकार, परमार्थ-प्रकाश करनेमें अस्तरकारक नहीं होता, और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है; इसलिये ब्रह्महितको मुख्य करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है। इस विचारणासे अन्तमें वे लोकस्वार्थको छोड़कर वनमें बच दिये। वनमें विचरते हुए भी वे अग्रगण्यसे रहकर चौबीस पद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोक्त धर्म है। राजचन्द्रजीने आनन्दधनजीकीसीका निवेदन भी लिखना आरंभ किया था, जो अक्ष ३९२ में छपा है।

ईसामसीह—

ईसामसीह ईसाईधर्मके आधिष्ठायक थे। वे कुमारी मरियमके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ईसा बचपनसे ही धर्मग्रन्थोंके अध्यापन करनेमें सारा समय बिताया करते थे। ईसाके पूर्व क्रिस्तीन और अरब आदि देशोंमें पण्डीधर्मका प्रचार था। पण्डी प्रवृत्ति योग धर्मके कहने को मतमाने अत्याचार किया करते थे उनके निरुद्ध ईसामसीहने प्रचण्ड आन्दोलन मचाया। ईसामसीहपर पण्डितोंने बुरा आकलन किये, जिससे इन्हें कैदखाने भेजा जाना पड़ा। कहाँपर भी इनपर बुरा किये गये। पण्डितोंने इन्हें पकड़कर बन्दी कर लिया, और इन्हें कौंटोंका मुकट पहनाकर सुन्नीपर कटका दिया। जिस समय इनके हाथों पैरोंमें कीड़े ठोकी गई उस समय भी इनका मुँह प्रसन्नतासे खिन्ता रहा और ये अपने बच करलेवाओंकी अज्ञानताको क्षमा करनेके लिये परलोकसे प्रार्थना

करते रहे । ईसाने अपने धर्ममें सेवा, प्रेम, दया और सहानुभूतिपर अधिक भार दिया है । ईसाई लोग ईसाको ईश्वरका अवतार मानते हैं । बाइबिलमें उनके उपदेशोंका समग्र है । ईसाके चमत्कारोंका बाइबिलमें वर्णन आता है । राजचन्द्रजीने ईसाईधर्मका विशेष अध्ययन नहीं किया था । महारमा गोपीके प्रयोगोंका उल्लेख देते हुए राजचन्द्रजीने पृथक् ४४७ में ईसाईधर्मके विषयमें अपने विचार प्रकट किये हैं ।
आत्ममीमांसा (देखो समेतमग्र)

इन्द्रियपरामर्शतक—

यह वैराग्यका अत्युत्तम छोटसा प्राकृतका ग्रन्थ है । ग्रन्थके कर्ता कोई श्वेताम्बर विश्वान् हैं । इसके ऊपर सं० १६६४ में गुणविनय उपाध्यायने संस्कृत टीका लिखी है । इसका गुजरती भाषांतर हुआ है । हिन्दी पद्यानुवाद सुखाला शास्त्रने किया है, जो बम्बईसे प्रकाशित हुआ है । इन्द्रिय परामर्शतक प्रकरणरत्नाकरमें भी छपा है । राजचन्द्रजीने इस ग्रन्थके पङ्क्तिका अनुरोध किया है ।
चक्षुराध्ययन (आगमग्रन्थ)— इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है ।

* उत्तमविजय—

उत्तमविजय श्वेताम्बर आम्नायमें गुजरतीके अच्छे कवि हो गये हैं । इनके समयश्रेणी-स्तवनमेंसे राजचन्द्रजीने दो पद उद्धृत किये हैं । उक्त स्तवन प्रकरणरत्नाकरमें प्रकाशित हुआ है ।

उपमितिमधमपंचा कथा—

उपमितिमधमपंचा कथा भारतीय साहित्यका संस्कृतका एक विशाल रूपक ग्रन्थ (allegory) माना जाता है । यह ग्रन्थ साहित्यकी दृष्टिसे बहुत उच्च कोटिका है । इस ग्रन्थके बननेवाले सिद्धार्थ नामके एक प्रतिष्ठित वैजायाप हो गये हैं । सिद्धार्थ हरिमदसूरिके बहुत पूज्यमानसे स्तुति करते हैं । ये हरिमदसूरि सिद्धार्थको धर्मभावके देनेवाले थे । सिद्धार्थ प्राकृत और संस्कृतके बहुत अच्छे विद्वान् थे । उन्होंने उपदेशमाळा आदि प्राकृतके ग्रन्थोंपर संस्कृत टीकायें लिखी हैं । उन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके व्यापायतारपर भी टीका लिखी है । सिद्धार्थका विष्णुत वर्णन प्रभावकरितमें आता है । उपमितिमधमपंचा कथाको सिद्धार्थने सं० ९६२ में समाप्त किया था । इस ग्रन्थका अनुवाद करनेके लिये राजचन्द्रजीने किसी मुमुक्षुको भिजा था ।

ऋषु—

ऋषु राजाका वंश महाभारतमें आता है । “ पुराणमें ऋषु ब्रह्माके पुत्र थे । इन्होंने तपस्वसे विमुक्तहस्त लाभ किया था । पुष्कल्पपुत्र निम्नप इनके पित्र्य थे । ये अतिशय कर्पवृक्षप्रिय थे । इन्होंने शत्रुके रथ और अस्त्राणको लोभित किया था, जिससे सम्पुष्ट होकर इन्होंने इनके माता पितासे पुनर्पौवन ग्रहण किया ”—हिन्दी रामसागर । “ ऋषु राजाने कटार तर करके परमात्माका आराधन किया । परमात्माने उसे देहपापीक रूपमें दर्शन दिये, और वर मोगनके उद्य कहा । इतार ऋषु राजाने वर मोगा कि दे भगवन् ! आपने ज्ञा गेमी रागसखी मुझे दी दे, वह विष्णु भी टीका नहीं । यदि मेरे ऊपर तप अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पंचशिखरी साधनरूप इस राज्यकाभी-

* इस विद्वाके बीच अथवा बीचकापेक्षा राजचन्द्रजीने काका उल्लेख नहीं किया । कथन उनका वर आदि है । अनुप विद्वा है । —केवक.

का किरसे मुझे स्वयं भी न हो। परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कहकर स्वयंभक्तों को पवार गये।" — 'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. २४४

ऋषिमद्रपुत्र—

ऋषिमद्रपुत्र व्याजमिका नगरीके रहनेवाले थे। ये अमणोपासक थे। इस नगरीमें और भी बहुतसे अमणोपासक रहते थे। एक बार उन अमणोपासकोंमें देवेंद्री स्थितिसंनधी कुछ बर्षा बरसी। ऋषिमद्रपुत्रने उत्सर्जनी ठीक ठीक बात अमणोपासकोंको कही। परन्तु उसपर कब अमणोपासकोंमें अज्ञान न की, और उन लोगोंने मन्त्रोपर भगवान्से उस प्रश्नको फिर जाकर पूछा। भगवान् महावीरने कहा कि जो ऋषिमद्र कहते हैं, वह सत्य है। यह सुनकर वे अमणोपासक ऋषिमद्रपुत्रके पास धाये, और उन सबने अपने-अपने योग्यकी क्षमा माँगी। ये ऋषिमद्रपुत्र मोक्षगामी थीय थे। यह कथन भगवत्पुत्रके ११ वें शतके १२ वें उद्देशमें जाता है।

कपिल (मुनि) (देखो प्रस्तुत प्रश्न, मोक्षमात्रा पाठ ४६ ४८)

कपिल (ऋषि)—

कपिल ऋषि सत्ययुगके आद्यप्रणेता कहे जाते हैं। कपिलको परमर्षि भी कहते हैं। इनके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कपिल अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं।

कबीर—

कबीर साहजका जन्म सन्त १४५५ में हुआ था। ये कहते थे। कहा जाता है कि ये विचित्रा ब्रह्मणोके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कबीर स्वामी रामानन्दके शिष्य थे। कबीर वाक्कपनस ही बड़े बर्गसम्पन्न थे। वे पढ़े-लिखे तो न थे, परन्तु उन्होंने सत्संग बहुत किया था। उनके हृदयमें हिन्दु-मुसलमान किसीके लिये द्वेषभाव न था। जानक भी हिन्दु मुसलमान दोनों ही कबीरपदके अनुयायी पाये जाते हैं। कबीर साहजने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी। वे साक्षी और भजन बनाकर कहा करते थे जिन्हें उनके नेत्रे कठस्थ कर लिया करते थे। कबीर मूर्तिपूजाके कहर विरोधी थे। कबीर वास्तविकताको न मानते थे। वे एक पङ्क्ति हुए जानी थे। उनकी मायामें विविध मायाओंके शब्द मिलते हैं। कबीरकी वाणीमें अगाध ज्ञान और बड़ी शिक्षा भरी हुई है। हिन्दी साहित्यमें कबीर साहजका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। कबीरने स. १५७५ में देहत्याग किया। कबीर रवीन्द्रनाथ कबीरके बहुत प्रशंसक हैं। इनकी वाणियोंका लोचनी और कसरतोंमें भी अनुवाद हुआ है। कबीरको राजचन्द्रजीने मार्गानुसारी कहा है। वे उनकी मूर्तिके विषयमें लिखते हैं— 'महात्मा कबीर तथा भरणी मेहताकी मूर्ति अनन्य बौद्धिक, बहुत और सर्वोत्कृष्ट थी; ऐसा होनेपर भी वह निरुद्ध थी। ऐसी हुई स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वयं भी आजीविताके लिये—स्वयंभक्तोंके लिये—परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरके अनुसार व्यवहार नकलता गया है, तथापि उनकी ठरिदासत्वा आश्रयक अगस्त्यसिद्ध हैं। और यही उनकी सबका महात्म्य है। परमात्मने इनका 'परमा' पूरा किया है और इन मूर्तियोंकी इच्छाके विरुद्ध आकर किया है। क्योंकि ऐसी मूर्तियोंकी इच्छा नहीं होती, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें मूर्तिके रहस्यकी प्राप्ति भी न हो।

कर्कटी राससी—

कर्कटी राससी हिमालय पर्वतके शिखरपर रहा करती थी। एक बार उसकी इच्छा हुई कि मैं जम्बूद्वीपके सूर्य जीवोंका मक्षण करके लुप्त होऊँ। यह विचार कर वह पर्वतकी गुफामें एक टोंगसे खड़ी हो, मुवाओंको उँचा कर, लौंछोंको बाकाशकी ओर स्थिर कर तप करने लगी। इस दशामें उसे हजार वर्ष बीत गये। तब वहाँ ब्रह्माजी आये और उन्होंने उससे वर माँगनेको कहा। राससीने कहा कि मैं चाहती हूँ कि मैं छोड़ेकी तरह ब्रह्मसूचिका होऊँ, और जीवोंके हृदयमें प्रवेश कर सकूँ। ब्रह्माजीने यह वरदान स्वीकार किया, और कहा कि तू दुःखभारियोंके हृदयमें तो प्रवेश कर सकेगी, पर गुणवानोंके हृदयमें तब प्रवेश न होगा। तदनुसार कर्कटीका शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने लगा। इस प्रकार वह राससी कितने ही कर्पातक प्राणीबन्ध करती रही। परन्तु इससे राससीको बहुत दुःख हुआ, और वह अपने पूर्व शरीरके छिपे बहुत बहुत पश्चात्ताप करने लगी। उसने फिरसे तप करना आरम्भ किया और उसे फिर हजार वर्ष घोर तप करत हुए हो गये। इससे सप्त बाँक लक्ष्यमान हुए। इसपर ब्रह्माजीने फिर कर्कटीको दर्शन दिये, और वर माँगनेका कहा। कर्कटीने उत्तर दिया, 'अब मुझे किसी भी बरकी कामना नहीं अब मैं निर्विकल्प क्षितिमें स्थित हो गई हूँ।' इसपर ब्रह्माजीने उसे राससीके शरीरमें ही अविच्छिन्न होकर निचरलका वरदान दिया, और कहा कि तू पानी जीवोंका मक्षण करती हुई विचार, बार फिरसे पूर्व शरीरको प्राप्त कर। कुछ समय बाद कर्कटी हिमालयपरसे उतर कर किण्वदेशमें पहुँची, और उसने वहाँ किण्वदेशके राजाको अपने मंत्री और वीरोंके साथ यात्राके छिपे जाते हुए दखा। उसने सोचा कि ऐसे मनु व्यक्तियोंको मक्षण कर जाना ही ठीक है, क्योंकि इससे लोककी रक्षा होती है। वस राससी उन्हें देख गर्जना करने लगी, और उसने उन्हें अपना मोक्ष बनानेके छिपे षड्कारण। इसके बाद किण्वदेशके राजा-मंत्री और राससीके बहुतसे प्रसात्तर हुए। राससी परम गर्वित हो गई और उसने जीव-बन्धका त्याग किया। यह वर्जित योगवासिष्ठक उत्पत्तिप्रकरणके ६८ और ७७-८३ सर्गोंमें आता है।

कर्मप्रण्य—

जा महर्षि ऋग्वेद सप्रदायमें गाम्भ्यासार आदि सिद्धांतप्रयोग है, वही महर्षि वेताम्बर आत्मार्थमें कर्मप्रण्यका है। इस प्रण्यके कर्मविपाक कर्मस्तव बचस्वामिन्, पदार्थानिक शतक और सप्तविका ये छह प्रकरण हैं। ये क्रमसे पहल्य, दूसरा, तीसरा चारथा, पाँचवा और छठा कर्मप्रण्यक नामसे प्रसिद्ध हैं। कर्मप्रण्यके कथा "वेताम्बर विद्वान् देवेन्द्रमुरि हैं। इनका जन्म लगभग सु० १२७५ में हुआ था। देवेन्द्रमुरि जैनगमके प्रख्याते और मज्जत प्राकृतक असाधारण पंडित थे। इनके गुरुका नाम जगन्मूरि था। इन्होंने आदिनिहृष्यमूर्ति, सिद्धपराशिकामूर्ति मुनीन चरित आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। राजवन्धनीने पत्रांक ३१७ में 'मूयदनि कर्मप्रण्य' के पढ़नेके छिपे किसी मुमुक्षुको अनुप्राण किया है। माझम हागा है इससे उनका तात्पर्य मूल कर्मप्रण्य ही है+। राजवन्धनीने अनेक स्थलोंपर कर्मप्रण्य पठन-मनन करनेका उल्लेख किया है।

+ श्रीपुत्र दत्तचन्द्रार्थ याज्ञवल्कीका इन विचारों पर प्रसन्न करने हुए लिखते हैं— मूयदनि कोई अथवा प्रण्य तो मुझे नहीं आया। मूल कर्मप्रण्य ही मयाचक्षुष्य आदि है। रचयिताका लक्ष्यराशमें कर्मविचारक कीचय 'वेताम्बर' प्राप्त करनेका विशास है। अतः उन्होंने (राजवन्धनीने) मूल कर्मप्रण्य पढ़नेका निश्चय रखा। —देवक.

कामदेव भावक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षगाथा पाठ २२)

कार्तिकेयानुमेष्टा—

यह जम्बवन्त प्रथम दिगम्बर विश्वानु स्वामी कार्तिकेय (कार्तिकस्वामी) का मनाया हुआ है। ये रूप हो गये हैं और कहते रहनेवाले थे। इत्यादि बातोंका कुछ ठीक ठीक पता नहीं चलता। रामचन्द्रजी लिखते हैं—“ गठवर्ष मयासकी ओर जाना हुआ था। कार्तिकस्वामी द्वारा भूमिमें बहुत निचरे हैं। इस ओरके नाम मय्य, ऊँच और अशोक वृत्तिसे खड़े हुए पहाड़ देखकर स्वामी कार्तिकेय कार्तिकी अशोक वैराग्यमय दिगम्बर वृत्ति प्राप्त आती है। ममस्कार हो उन कार्तिकेय आत्माको। ” कार्तिकेयानुमेष्टाके ऊपर कई टीकायें भी हैं। यह प्रथम ५० जयचन्द्रजीकी बचनिकासहित बन्दसि म्प्रा है। ५१ जयचन्द्रजीने दिगम्बर विश्वानु जयचन्द्रजीकी संस्कृत टीकाके आधारसे यह बचनिका लिखी है। रामचन्द्रजीने कार्तिकेयानुमेष्टाके मगध-निष्पिण्यासून करनेका कई जगह उल्लेख किया है। किसनदास (सिंह) (देखो किराणोप)

कुण्डरीक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ भागनाबोध पृ ११८)

कुन्दकुन्द—

कुन्दकुन्द आचार्य दिगम्बर आत्मार्थमें बहुत मान्य विश्वानु हो गये हैं। कुन्दकुन्दका इसका नाम पद्मनाभ भी था। इनके विषयमें तरह तरहकी दस्तकयमें प्रचलित हैं। इनके समकालीन विषयमें भी विश्वानुमें मतभेद है। साधारणतः कुन्दकुन्दका समय ईसवी सन्ती प्रथम शताब्दि माना जाता है। कुन्दकुन्द आचार्यके नामसे बहुतसे ग्रंथ प्रचलित हैं, परन्तु उनमें पञ्चास्तिकाय प्रचलनसार समयसार और अष्टपादक ये बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें बाविके तीन कुन्दकुन्दजीके नामसे प्रसिद्ध हैं। तीनोंकी अमृतचन्द्रावामि संस्कृत टीका भी लिखी है। इन ग्रंथोंपर और भी विश्वानुकी संस्कृत-हिन्दी टीकायें हैं। हिन्दी टीकाओंमें समयसारके ऊपर बनारसीशस्त्रजीका हिन्दी समयसारमाटक अत्यन्त सुंदर है। इसे उन्होंने अमृतचन्दके समयसारकाशाले आधारसे हिन्दी कवितामें लिखा है। उक्त तीनों ही ग्रंथ जम्बवन्तके उक्त कालिके ग्रंथ माने जाते हैं। कुन्दकुन्दको ८९ पादक (प्रामुत) का भी कर्ता माना जाता है। इनमें दर्शन, चारित्र, सूत्र बोध, भाषा बोध, सिद्ध और शीघ्र नामक आठ पादक छप चुके हैं। रामचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रंथमें एक स्थानपर सिद्धप्रामुतका उल्लेख किया है और उसकी एक गाथा उद्धृत की है। यह सिद्धप्रामुत उक्त आठ-पादकसे भिन्न है। यह पादक कुन्दकुन्दके अग्रस्थित पादकोंमेंसे कोई पादक होना चाहिये। रामचन्द्रजीने कुन्दकुन्दके ग्रंथोंका सूत्र मर्मज्ञान किया था। कुन्दकुन्द आदि आचार्योंके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हुए रामचन्द्रजी लिखते हैं—“ हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यों। तुम्हारे बचन भी निजस्वरूपकी ओर कर भेदें हुए पदमरको पदम उपकारी हुए हैं। इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। ” रामचन्द्रजीने पञ्चास्तिकायका माध्यांतर भी किया है जो वक्त ७ में दिया गया है।

* अमृत रीति है कुन्दकुन्द आचार्योंके समयसारके अतिरिक्त किसी अन्य विश्वानुमें भी समयसार नामक कोई ग्रंथ बनाया है जिसका विषय कुन्दकुन्दके समयसारसे भिन्न है। इस ग्रंथका रामचन्द्रजीने बचन दिया था। इसी पृ ८१९ में उद्धृत।

कुमारपात्र (देखो हेमचन्द्र)

कशीस्वामी—

केशिमौतमीय नामका अधिकार उत्तराम्पयनके २३ वें अधिकारमें आता है। केशी भगवान् पार्श्वनाथकी परम्पराको माननेवाले थे, और गौतम गणधर महावीरकी परम्पराके उपासक थे। एक बार दानोंका आवस्ती नगरीमें मिजाप हुआ। एक ही धर्मके अनुयायी दोनों सघोंके मुनियोंके शिष्य मित्र मित्र क्रियाओंका पाठन करते थे। यह देखकर केशीमुनि और गौतम गणधरमें बहुतसे विषयों पर परस्पर चर्चा हुई, और हाका समाधानके बाद कशीमुनि महावीर भगवान्की परंपरामें दीक्षित हो गये। केशीमुनिसे अपेक्षा यद्यपि गौतम ठोटे थे, फिर भी केशीमुनिने परिणामोंकी सरलताके कारण उनसे दीक्षा ग्रहण करनेमें कोई संकोच न किया।

क्रियाकोप—

क्रियाकोपके कर्ता किशनसिंह^x संगानेरके रहनेवाले लण्डेखण्ड थे। क्रियाकोप स० १७८४ में रचा गया है। इसकी रचना छन्दोबद्ध है। किशनसिंहजीने मद्रासचरित्र और रात्रिमोक्षमक्षया नामकी अन्य पुस्तकों भी लिखी हैं। क्रियाकोप चरित्रका ग्रन्थ है। इसमें बाह्याचारसम्बन्धी क्रियाओंका सूत्र विस्तारसे वर्णन है। यह ग्रन्थ सन् १८९२ में शोकापुरसे प्रकाशित हुआ है।

गजमुकुमार (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमार्ग पाठ ४३)

गीता—

गीता वेदव्यासकी रचना है। इसमें हृष्याभगवान्ने अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश दिया है। इसके सत्सत्, हिन्दी अंग्रेजी आदि संसारकी प्रायः सभी भाषाओंमें अनेक अनुवाद विवेचन आदि हुए हैं। गीताके कर्तृत्वके विषयमें राजचन्द्रजीने जो विचार प्रकट किये हैं, वे महत्त्वा गीतोंके प्रयोगोंके उच्चतम पत्रक ४४७ में छपे हैं। गीतामें पूर्वापरविरोध होनेका राजचन्द्रजीने अक ८४१ में उल्लेख किया है।

गोकुलचरित्र—

यह कोई चरित्रग्रन्थ नामक होता है। इसका उल्लेख पत्रक ४० में किया गया है।

गोम्पटसार—

गोम्पटसार कर्मग्रन्थका एक ठोस कोटिका णिगम्भीरय ग्रन्थ है। इसके जीवकांड और कर्मकांड दो विभाग हैं, जिनमें जीव और कर्मका जीवनपद्धतिसे विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। नेमिचन्द्रने छम्बिसार, क्षणसार, त्रिकोक्तसार आदि अन्य भी सिद्धांतप्रयोगोंकी रचना की है। नेमिचन्द्र अपने नियमोंके असाधारण विद्वान् थे, गणितशास्त्रके तो वे पंडित थे। इनके नियमों में बहुतसी किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। नेमिचन्द्रने अपने शिष्य चामुण्डरायके उपदेशके लिये गोम्पटसार बनाया था। गोम्पटसारका दूसरा नाम पञ्चसूत्र भी है। गोम्पटसारके

^x राजचन्द्रजीने किशनसिंहके स्थानपर किशनराव नामका उल्लेख किया है मन्त्र प्रियाकोरके कर्ता किशनसिंह हैं। —केलक

ऊपर कई दिगम्बर विद्वानोंकी टीकायें हैं। मेमिफनरका समय ईसवी ११ वीं शताब्दि माना जाता है। राजवन्धनजीने गोमन्सरके पठन करनेका मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है।

गोशाळ—

वैजयान्तोंके अनुसार गंडकिपुत्र गोशाळ महावीर भगवान्के शिष्य थे। किसी बातको लेकर गोशाळ और महावीरमें मतभेद हो गया। गोशाळने महावीरके संपत्ती छोड़ दिया और उन्होंने अपना निजी सब स्थापित किया। गोशाळ अपनेको 'जिन' कहा करते थे। एक बार महावीरके किसी शिष्यने महावीर समक्षसे कहा कि गोशाळ अपनेको जिन कहते हैं। महावीरने कहा गोशाळ जिन नहीं है। जब इस बातको गोशाळको पत्ता चला तब वे बहुत क्रोधित हुए, और उन्होंने महावीरको अप्सत आक्रोशपूर्ण वचन कहे। सर्वास्तुभूति और सुमध्व नामके मुनियोंने गोशाळको बहुत समझाया, पर उन्होंने उन दोनोंको अपनी तेजोवैश्यासे जका जका। गोशाळने भगवान् महावीरके ऊपर भी अपनी तेजोवैश्याका प्रयोग किया था। गोशाळका विस्तृत वर्णन भगवतीके १५ वें शतकके १५ वें उद्देशमें दिया है।

गौतम (जन्म)—

गौतम जन्म न्यायदर्शनके जन्मप्रमेला माने जाते हैं। न्यायसूत्र इनके बनाये हुए हैं। न्यायसूत्रोंकी रचनाका उनके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग इसे ईसवी सन्के पूर्वकी रचना मानते हैं, और कुछ लोग न्यायसूत्रोंको ईसवी सन्के बादका किंवा हुआ मानते हैं।

गौतम मन्थर—गौतम इन्द्रभूति महावीरके ११ शिष्योंमेंसे मुख्य शिष्य थे। वे जन्ममें ब्राह्मण थे। इनमें गौतम इन्द्रभूति और सुभर्माको छोड़कर बाकीके गणचरोंने महावीर भगवान्की योगद्वारमें ही निर्वाण पाया था। वैजयान्तोंमें गौतम गणचरका नाम अगह अगह आता है। गौतम गणचरके शिष्योंको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी; परन्तु स्वयं गौतमको, भगवान् महावीरके ऊपर मोक्ष रखनेके कारण केवलज्ञान नहीं हुआ—यह कथन मोक्षमात्रमें आता है।

चारिचसागर—

यह कोई पदवद् ग्रन्थ मान्य होता है। इसका उल्लेख पत्रक ४१४ में है।

चिदानन्द—

चिदानन्दकी पूर्ण नाम कर्तृचिन्मय था। ये संवेगी साधु थे। इनके विषयमें बहुतसी किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। चिदानन्दकी कवि बड़े विद्वान् भाषाशास्त्री व थे किन्तु ये एक जटिलमयी व्यक्तियुक्त पुरुष थे। चिदानन्दजीने मिश्र हिन्दी भाषामें अप्सप्तकृतियाँ बनाई हैं। चिदानन्दजीने स्वरोदपञ्चालकी भी रचना की है। इसकी भाषा हिन्दीमिश्रित गुजरती है। इस ग्रंथमें छंदकी कोई विशेष टीका नहीं है। शायद ही कोई छंदकी पत्तन होती है यह पत्तन किस छंद, कन निरूपणी है और किसके कवियों निकलनेसे क्या पता होता है, इत्यादि स्वरोदपञ्चाली बतोंका स्वरोदपञ्चालमें वर्णन है। श्रीमद् राजवन्धनने स्वरोदपञ्चालका विवेचन लिखना आरम्भ किया था। उसका जो भाग निम्नता है वह प्रस्तुत ग्रंथमें अंक ९ के नीचे दिया गया है। सुनते हैं कि चिदानन्दजी

सन् १९०५ तक मौजूद थे। उनकी रचना अनुमत्पूर्ण और मार्मिक है। राजचन्द्रजी विद्वान्द्वयीके सचचर्मे लिखते हैं—“ उनके जैनमुनि हो जानेके बाद अपनी परम निर्बिकल्प दशा हो जानेसे उन्हें ज्ञान पड़ा कि वे अब क्रमपूर्वक ब्रह्म, क्षेत्र, काळ, मात्रसे यम नियमोंका पालन न कर सकेंगे। तत्त्वज्ञानियोंकी मान्यता है कि जिस पदार्थकी प्राप्ति होनेके लिये यम नियमका क्रमपूर्वक पालन किया जाता है, उस वस्तुकी प्राप्ति होनेके बाद फिर उस भ्रष्टासे प्रवृत्ति करना अपना न करना दोनों समान हैं। जिसको निर्मय प्रवचनमें अग्रमत्त गुणस्यामकपी मुनि माना है, उसमें की सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु केवल उनके बचनोंका मेरे अनुमत्-ज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्रायः मध्यम अग्रमत्त दशामें थे। फिर उस दशामें यम-नियमका पालन करना गौणतासे आ जाता है। इसलिये अधिक आत्मानन्दके लिये उन्होंने यह दशा स्वीकार की। इस समयमें ऐसी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही धाँवे मनुष्योंका मिलना भी बड़ा कठिन है। इस अवस्थामें अग्रमत्तताविषयक बातकी असमाधाना आस्थानीसे हो जायगी, ऐसा मानकर उन्होंने अपने जीवनको अनिमित्तपनेसे और गुप्तकूपसे बिताया। यदि वे ऐसी ही दशामें रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी शिथिलता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषकी उछटी हो छाप पड़ती। ऐसा हार्मिक निर्णय होनेसे उन्होंने इस दशाको स्वीकार की। ”

बेठातीपुत्र—

चकतीपुत्रका जीव पूर्वमरणमें यक्षदेव नामका प्राप्ति था। वह चारित्रकी शुगुप्ताके कारण राजगृहमें बनाबह सेठकी बेठाती नामकी दासीके यहाँ पैदा हुआ, और उसका नाम बिछतीपुत्र (बेठातीपुत्र) पड़ा। बेठातीपुत्रकी पूर्वमरणकी क्षीने भी बनाबह सेठकी घर उसकी कन्यारूपसे जन्म लिया। बेठातीपुत्र सेठकी कन्याको बहुत प्यार करता था। एक दिन सेठने बेठातीपुत्रको अपनी छद्मकी साथ कायसे कुचेष्टा करते देख उसे बहसि निकाल दिया। वह दासीपुत्र चोरोंकी मददमें आ मित्रा, और चोरोंका अधिपति बनकर रहने लगा। एक दिन वह अपने साथ चोरोंके साथ बनाबह सेठके घर आया। चोर बहुतसं धन और सेठकी कन्याको छेकर चले गए और उसके कर्मचारियोंमें चोरोंका पीछा किया। बेठातीपुत्र सेठकी कन्याका सिर काटकर उस सिरका छेकर भगा गया। उसने आगे जाकर एक मुनिको देखा और मुनिसे उपदेश माँगा। मुनिने विचार किया कि यद्यपि यह जीव पापित्त है फिर भी यह उपदेश तो ले सकता है। यह कहकर मुनिन कहा—“ तुझे उपश्रम, विवेक और सत्कर करने चाहिये। ” यह सुनकर बेठातीपुत्रको बाध पड़ा हुआ, और यह वहीं कपोतसर्गमें स्थित हो गया। बेठातीपुत्रने अर्द्ध दिन कठोर तप किया और वह मरकर देवलोके गया। यह कथा उपदेशमात्रा आदि जैन कथामें आती है।

छोटम—

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। ये गुजरातके एक मछ फनि माने जाते हैं। इनका जन्म देवकारके पास सोमेश्वर नामके नजदीक स० १८९८ में हुआ था। छोटम बहुत सरल और शांत प्रकृतिके थे। मान अपना सोमकी आकांक्षा तो इन्हें थी ही नहीं। इन्होंने योग्यसिद्धिमें जानेकी कमी भी इच्छा

की। छोटम बहुत कम बोलते, और कम वाहवाह करते थे। छोटम बाऊ-ममभारी थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन अध्यात्ममें ही व्यतीत किया था। छोटमने जन्मकालकी नामके साधुका अपना गुरु माना था। छोटमने अनेक प्रयोगकी रचना की है। इनमें प्रभोत्तररत्नमाला, धर्ममक्तिबाधनाम, परिषितामणि, हस्तपत्रिपदसार, वेदवृत्तविचार आदि मुख्य हैं। छोटम ७३ वर्षकी अवस्थामें मारिष्य हुए।

जड़मरत—

एक समय राजा मरत नदीके किनारे बैठे हुए बौंकारका जाप कर रहे थे। वहाँ एक मिनी हरिणी पानी पीनेके लिये आई। इतनेमें वहाँ सिंहके गर्जनका शब्द सुनाई पड़ा और हरिणीने उनके मोरे नदीको पार जाने प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि उसका गर्म नदीमें गिर पड़ा और नदीके उस पार पहुँचते ही मर गई। राजर्षि मरत नदी किनारे बैठे बैठे यह घटना देख रहे थे। मरतजीका हृदय दयासे व्याकुल हो उठा। वे उठे और घुगुहावकनो नदीके प्रवाहमेंसे निकाल कर अपने आश्रमको ल गये। वे निरुपश्रित उस जन्मेकी सेवा-सुसूया करने लगे। कुछ समय बाद मरतजीको उस हरिणके प्रति अत्यन्त मोह हो गया। एक दिन वह घुगु उनका पाससे कहीं गया और अपने कुण्डमें जा मिला। इसपर मरतजीको अत्यन्त शोक हुआ, और वे ईश्वरपदपासे जड़ हो गये। इस अत्यन्त घृणासम्पन्नके कारण मरतजीको दूसरे जन्ममें घृणाका शरीर धारण करना पड़ा। मरतजीको घृणाजन्ममें अपने किये हुए कर्मपर बहुत पश्चात्ताप हुआ, और वे बहुत अरुणभाषसे रहने लगे। उपन्यास राजर्षि मरत घृणाके शरीरको त्यागकर ज्ञानाणके घर उत्पन्न हुए। मरतजीका यह अन्तिम शरीर था और इस शरीरको छोड़नेके बाद वे मुक्त हो गये। मरतजी अपने पक्षिमें मरनेको मूढ़ न थे इसलिये वे अरुणभाषसे हरिमहेश्वरके अपना जीवन मिलाते थे। साधारण लोग मरतजीको जड़ गौंगा या बहिर समझकर उनसे बेगार बौरह कराते थे, और उसके कण्ठके उर्ध्व स्था सूख कर दे देते थे। यह जड़मरतका वर्णन रामायणके आठवें-नवमें अध्यायमें आया है। "मुझे जड़मरत और निवेही जनकको दण्ड मात्र होवो"— श्रीमद् रामचन्द्र ६ १२७

जनक—

जनक इक्ष्वाकुवंशका राजा निमिके पुत्र थे। वे मिथिलाके राजा थे। राजा जनक अपने समयके एक बड़े योगी थे, और वे संसारमें अलकनन्दकी तरह निर्लिप्त रहते थे। जनक 'राजर्षि' और निवेह नामसे भी कहे जाते थे। जनक केवल योगी ही नहीं, परमा परमात्मी और महावन्के मन्त्र भी थे। ऋषि पाण्डुरन्ध्र इनके पुरोहित तथा मंत्री थे। तथा झुकरेश आदि अनेक ऋषियोंने जनकजीसे ही उपदेश लिया था। गीतामें भी जनकके निष्कल कर्मयोगकी प्रशंसा की गई है। जनकजीकी पुत्री सीताका विवाह रामचन्द्रजीसे हुआ था। जनकका वर्णन रामायण, महाभारत रामायण आदि ग्रन्थोंमें मिलता है।

जम्पूद्रीपमण्डित—

जम्पूद्रीपमण्डित शैलान्तर संहितके १२ अध्यायमेंसे छठा अध्याय माना जाता है। इसमें जम्पूद्रीका विस्तारसे वर्णन किया गया है। यह क्षेत्र भूगोलीयदृष्टिसे बड़ा है। इसमें राजा भरतकी कथा

विस्तारसे जाती है। इसपर जैन आचार्योंने अनेक टीका टिप्पणियों लिखी हैं। इस ग्रन्थमें इस काव्यमें माधु न दानेका उल्लेख आता है।

जम्बूस्वामी—

जम्बूस्वामी णिम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें अंतिम देवकी हो गये हैं। महावीर स्वामीके निवागके पश्चात् गातम, सुप्रभा और जम्बूस्वामी इन तीन कवयियोंका होना दोनों ही सम्प्रदायोंको मान्य है। इसके बाद ही दोनों सम्प्रदायोंकी परम्परामें भेद दृष्टिगोचर होता है। णिम्बर और श्वेताम्बर दोनों विद्वानोंने सम्पूत, गुजराती और हिन्दीमें जम्बूस्वामीक अनेक चरित रास आदि लिखे हैं। श्वेताम्बर विद्वानोंमें हमचन्द्रमूरि और जयशेखरमूरि, और णिम्बरमें उत्तरपुण्यक कर्ता गुणमन्त्रमूरि और पंडित राजमंडु आदिका नाम विचार उल्लेखनीय है। १० राजमंडुका जम्बूस्वामी-चरित अनी हावमें इस लेखकद्वारा संशोधित होकर माणिकचन्द जैनग्रन्थमाला सम्पादकी ओरसे प्रकाशित हुआ है।

ठाण्ठांग (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है।

हंसो गाथाका स्तवन (देखो परोक्षिजय)

तत्त्वार्थमृग—

तत्त्वार्थमृगमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको सूत्रोंमें लिखा गया है। अन्न वंगकी जैनसाहित्यमें यह ग्रन्थ ही रचना उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थके कर्ता उमास्वाति हैं, जो णिम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंद्वारा पूज्य माने जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रका भी दोनों सम्प्रदायोंमें समान आदर है, और दोनों ही आचार्योंके विद्वान् इस सारगर्भित ग्रन्थकी टीका टिप्पणियों लिखनेमें प्रेरित हुए हैं। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर स्वयं भाष्यको भी रचना की है, जिसे णिम्बर विद्वान् नहीं मानते। श्वेताम्बरोंके अनुसार उमास्वाति प्रथमपति आचक्षत्राति आदि ग्रन्थोंके भी कर्ता कहे जाते हैं। उमास्वाति वाचकमुद्रके नामसे कहे जाते हैं। णिम्बर साहित्यमें इनका नाम उमास्वामि भी आता है, और ये कुन्दकुन्द आचार्योंके शिष्य अथवा वंशज माने जाते हैं। इनका समय ईसवी सन् प्रथम शताब्दि माना जाता है। तत्त्वार्थसूत्रक संगठनचरणका राजचन्द्रजीने विवेचन किया है।

पियासफाी—

पियोसन्दीधर्मकी मूलप्रवर्धक मैडम एंड्रेस्कीका जन्म सन् १८९१ में अमेरिकामें हुआ था। इनका विवाह १७ वर्षकी अवस्थामें अमेरिकामें एक गवर्नरके साथ हुआ। बादमें फ्रान्समें एंड्रेस्कीने इस संबंधका विच्छेद कर लिया, और देशांतरके विचारसे वे हिन्दुस्तान आईं। उन्होंने विन्ध्यत कस्त आदि देशोंमें भी भ्रमण किया। एंड्रेस्कीने कर्नेल आलफ्रे साहबकी मददसे सन् १८७४ में पियोसन्दीधर्म सोसायटीकी स्थापना की। ये सन् १८७९ में फिर हिन्दुस्तान आईं, और वही वही हाथोंमें आकर अपने सिद्धांतोंका प्रचार करने लगीं। पियोसन्दीधर्म सब धर्मोंका सम्मिश्रण करती है, और प्रत्येक धर्मके महान् पुरुषोंको पूज्यदृष्टिसे देखती है। हिन्दु, मुसलमान, पारसी

आदि सभी लोग इस धर्मके अनुयायी हैं। अंग्रेजोंके बाद श्रीमती एनीबिसेप्टने इस सोसायटीकी उन्नतिके लिये बहुत सयोग किया। थियोसफ़ीका गीताका गुजराली विवेचन थियोसफ़िक सोसायटी बम्बईसे सन् १८९९ में प्रकाशित हुआ है।

दयानन्दका सिक (आगमग्रंथ)—

दयानन्दका सिक कुछ गाथाओंका राजबन्धुजीने अनुवाद किया है, जो वक ३४ में दिया है।
दयानन्द—

स्वामी दयानन्दका जन्म स १८८१ में मोरबी राज्यके अन्तर्गत नंदादा गाँवके एक बनी घरनेमें हुआ था। स्वामी दयानन्दके पिता एक कृषक जाति के थे। दयानन्द स्वामी आरंभसे ही स्वतंत्र बुद्धिके थे और सिध्दांत अतिशय विरोध किया करते थे। जब स्वामीजी बर्तमान वर्षके हुए तो उनके विवाहके बातचीत हुई। विवाहकी सब तैयारियाँ भी हो गई, पर दयानन्द इस समाचारको सुनते ही कहीं भाग गये, और गेरुके रंगके वस्त्र पहिनकर खड़े बने। दयानन्दजीको स्टूडन्टी तात्कालमें इधर उधर बहुत मत्तकेलेके पश्चात् पञ्जाबमें स्वामी विरजानन्दजीके दर्शन हुए। दयानन्दने अपने गुरुके पास बर्तमान वस्त्र पहिनकर संस्कृत और वेदोंका अध्ययन किया। विवाहपत्रके पश्चात् स्वामी दयानन्दने वैदिकधर्मका दूर दूर भूमिकर प्रचार किया। काशीमें आकर इन्होंने वैदिक पंडितोंसे भी धार्मिक किया। स्वामीजीकी प्रतिमा और असाधारण बुद्धिकोयक देखकर बहुतसे लोग उनके अनुयायी होने लगे। स्वामी दयानन्दने स १८९२ में बम्बईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। स्वामीजी ने उदयपुर, इंदौर, रायपुर आदि रियासतोंमें भी प्रचारके लिये जमना किया। अन्तमें वे जोधपुरके मन्नालमाके चले खड़े बने। वहाँ कुछ लोग उनके बहुत विरोधी हो गये, और उनके उत्तेज्येसे उन्हें गिरा दियाकर मरवा दिया। स्वामीजीने संवत् १९१४ में शिवरात्रीके दिन देहत्याग किया। इनके बाद स्वामी ब्रह्मचन्द्र काका अग्रपुत्रस्व आदिने आर्यसमाजका काम किया। स्वामी दयानन्दने हिन्दीमें सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक लिखी है, जिसमें सब धर्मोंकी कड़ी समालोचना की गई है।

दयाराम—

कवि दयारामका जन्म सन् १७७७ में हुआ था। उन्हें देवनागरी लिपिके अतिरिक्त अन्य कोई कविता नहीं आती थी। इन्होंने गुजराती, हिन्दी पञ्जाबी, मराठी, संस्कृत और फारसी भाषाओं में कविताये की हैं। उनके एक शिष्यके कथनानुसार दयारामने सब मित्राकर ११५ ग्रन्थोंकी रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुतसे पद खानी बगैर भी लिखे हैं। दयाराम कृष्णके बहुत भक्त थे, और इन्होंने कृष्णजीका बहुतसे उक्ति पद बगैर लिखे हैं। दयारामने गोवुड, मधुरा, काशी वृंदावन श्रीनारायणी आदि सब धामोंकी सात वरस भूमिकर यात्रा की थी। इनके शिष्य दयारामको मरहट्ट मेहताका अवतार मानते थे। इनका मरण सन् १८५२ में हुआ। राजबन्धुजीने इनके पद उद्धृत किये हैं।

दासबाप (देवो रामदास)—

देवचन्द्रजी—

देवचन्द्रजीका जन्म पारनागमें संवत् १७४६ में हुआ था। देवचन्द्रजी श्वेतम्बर नाम्नायमें

एक बहुत अच्छे अध्यात्मवेत्ता कवि हो गये हैं। इन्होंने श्वेताम्बर साहित्यके विनाश अभ्ययनक साथ साथ गोमटसर आदि दिग्गजर ग्रन्थोंका भी अच्छा अध्यास किया था। देवचन्द्रजीने संस्कृत, प्राकृत, मग और गुजराती भाषामें अनेक कृतियाँ बनाई हैं। इन्होंने दस वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ले ली थी, और जीवनपर्यंत ब्रह्मचारी रहकर साहित्य सेवा की। देवचन्द्रजीकी रचनाओंमें ग्रन्थप्रकाश, नयचक्र, ज्ञानमञ्जरीटीका, विचाररत्नसार, अध्यात्मगीता, चतुर्विंशतिजिनस्तवन आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। राजचन्द्रजीने अध्यात्मगीता और चतुर्विंशतिजिनस्तवनके पद्य उद्धृत किये हैं।

देवचन्द्रसूरि (देखो हेमचन्द्र)

देवागमस्तोत्र (देखो समस्तमग्न)

हृदयहारी (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनाबोध पृ ११९-२०)

धनामग्न-शास्त्रिमग्न—

धनामग्न शास्त्रिमग्नकी कथा श्वेताम्बर साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध है। यह कथा सूत्रप्रयोगोंमें भी आती है। स० १८१३ में जिनकीर्तिसूरिने संस्कृत धन्यचरित्रमें यह कथा विस्तारसे दी है। इस संस्कृतचरित्रके ऊपरसे ५० जिनविजय म्हााराजने सूरतमें रहकर बर्णाशास्त्रिमग्नका रास लिखा है। यह रास चार ठाणमें है। चौथी ठाणमें धनामग्न और शास्त्रिमग्नके समय प्रमाण करनेका उल्लेख है। धनामग्न और शास्त्रिमग्न मोक्षगामी जीव थे। उक्त उक्तको गीमसिंह माणिकने सन् १९०७ में प्रकाशित किया है।

धरमशी (धरमसिंह) मुनि—

धरमशी मुनिकका जन्म जामनगरमें हुआ था। इनके गुरुका नाम पिबजी ऋषि था। ये ढोंक-गण्डका शिष्याचार देखकर उससे अख्या हो गये थे, और सन् १६८५ में उन्होंने दरियापुरी-सम्प्रदायकी स्थापना की थी। ये अवधान भी करते थे। धरमशी मुनिने २७ सूत्रोंपर 'धरम' की रचना की है। इन्होंने और भी ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विशेष परिचय "जैनधर्मनो प्राचीन संहिता इतिहास" पुस्तकमें है। यह पुस्तक स्थानकवासी जैन कर्माख्य ब्रह्मदाशसे प्रकाशित हुई है।

धर्मचिन्तु (देखो हरिमग्न)

धर्मसंग्रहणी (देखो हरिमग्न)

नदिमूत्र (जागमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने एक स्थानपर कवितामें उल्लेख किया है।

नमिराजपि (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनाबोध पृ १०३-६)

नरसिंह (सी) मेहता—

नरसिंह मेहता गुजरातके उच्च कर्णिके मल्ल कवि माने जाते हैं। इनका जन्म दशागड़में हुआ था। इनका जन्मकाळ संवत् १५५० से १६५ के भीतर माना जाता है। इनकी हारलीया, सुरतसंग्राम, रासलीला आदि रचनायें गुजराती साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध हैं। नरसिंह मेहता कृष्णके अत्यन्त मल्ल थे। उनकी कविता सरल, कोमल और मकिमात्रसे परिपूर्ण है। खेरुबार्ता है कि नरसिंह मेहतासे प्रभु

× पर रचना मुने भरे पिय भीपुन हकमुन्यमार्ग भावनाकीफने दी है। —जेनक

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते थे, तथा सफ्टके समय स्वयं कृष्ण मगवान्ने इनकी हुकी चुकर्ई थी। कहा जाता है कि नरसिंह मेहताने सब मित्राकर सवा बास पद बनाये हैं। मरती मेहता और कबीरकी निरुद्ध मक्ति राजचन्द्रजीने बहुत गुणगान किया है।

मनवत्स्य—

नवतत्त्वप्रकरणका खेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रचार है। इसमें चौदह गाथाओंमें नव तत्त्वोंके स्वरूपका प्रतिपादन किया है। नवतत्त्वके कर्ता देवगुप्ताचार्य हैं। इन्होंने सन् १०७३ में नवतत्त्व-प्रकरणकी रचना की है। नवतत्त्वप्रकरणके छपर अमपदेवसुरिने माध्य लिखा है। इसपर और भी अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं।

नारदजी (देखो नारदमक्तिसूत्र)

नारद (देखो प्रस्तुत प्रंय, मोक्षमाळा पाठ २३)

नारदमक्तिसूत्र—

नारदमक्तिसूत्र श्रुति नारदजीकी रचना है। इस प्रंयमें ८४ सूत्र हैं। प्रयकारने इसमें मक्तिजी सर्वोत्कृष्टतत्त्व प्रतिपादन किया है, और उसके शिष्य कुमार, केदव्यास, छुबदेव आदि मक्ति-आचार्योंकी छात्री दी है। प्रयकारने बताया है कि मक्तियोंमें जाति कुछ आदिष्य कोई भेद नहीं होता, और मक्ति गौरीकी स्वरूपकी तरह अनिर्बचनीय होती है। इसमें मन्त्रगोपियोंकी भक्तिभी प्रस्ता की गई है। मक्त ओग पदार्थोंकी तरह मक्तियों सातवीं दर्शन मानते हैं। उक्त पुस्तक अनुमानप्रसाद पौदमके विवेचनसहित गीता प्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है। नारदजीने नारदगीता नारदस्मृति आदि अन्य भी प्रंय लिखे हैं।

* निष्कुलानन्द—

निष्कुलानन्दजी स्वामीनारायण सम्प्रदायके साधु थे। इनके गुजरती भाषामें बहुतसे काव्य हैं। ये काठियावाड़में रहते थे, और स १८७७ में मीरू थे। निष्कुलानन्दजीके पूर्व आश्रमका नाम लालजी था। इनकी कविताका मुख्य अंग वैष्णव्य है। इन्होंने मच्छविष्णुमणि उपदेशानितामणि, धीराजस्वामि, निष्कुलानन्द काव्य तथा अन्य अनेक पदोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने निष्कुलानन्दके धीराजस्वामिसे से पद उद्धृत किये हैं।

नीरांत—

नीरांत मक्त जातिसे पाटीदार थे। इनका मरण सन् १८४३ में बहुत बृषावस्थामें हुआ था। इनकी कविता वैष्णवज्ञान और हाणमक्तिके छपर है। ये तुम्ही केकर का पूर्णमाको बाओर बाण करते थे। कहते हैं एक बार इन्हें रास्तेमें कोई मुसलमान मिठा, और उसने कहा कि ' ईरर तो तेरे मन्त्रीर दे, व हाणमें तुम्ही केकर उसे क्या हूँदता फिरता है। ' इसपर नीरांतको ज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने मुसलमान गुडकी प्रणाम किया। उसके बाद उमका वैष्णवकी ओर अधिक मुक्त्य हुआ और उनका आस्थाज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता गया। राजचन्द्रजीने इनकी योगी (परम योग्यताका) कहा है।

नैपोलियन—

नैपोलियनका जन्म १५ अगस्त सन् १७६९ में कोर्सिका द्वीपमें हुआ था। इन्होंने १६ वर्षकी अवस्थामें लेफ्टिनेंटका पद प्राप्त किया। नैपोलियनने रूस, आस्ट्रिया और इंग्लैंडके साथ बहुत समयतक अपने देश फ्रांसकी रक्षाके लिये युद्ध किया, और विजयी होकर अपनी असाधारण प्रतिभा और वीरताकी समस्त विश्वके ऊपर छाप मारी। नैपोलियन असाधारण वीर था, उसमें साहस तो कूट कूट कर भर हुआ था। वह कहा करता था कि कोयसे 'असमर्थ' शब्दको ही निकाल बनाया जायिये, क्योंकि उसमें सामने कोई भी काम कठिन नहीं। परन्तु मनुष्यकी दशा सदा एकही नहीं रहती। सन् १८१४ में इंग्लैंड, रूस और आस्ट्रियाकी संगठित सेनाके सामने इसे हार माननी पड़ी, और इसे एल्बमें जाकर रहनेकी आज्ञा हुई। नैपोलियन कुछ महीने एल्बमें रहा। बादमें इसने बर्लिन निकलकर फिर फ्रांसपर अधिकार कर लिया। परिणाम यह हुआ सन् १८१५ में इसे फिर समस्त यूरोपके सम्मिश्रित बलका सामना करना पड़ा। इस समय इसे इसके सापिणों को छोड़ा दिया। फलतः नैपोलियनकी बाबरूके युद्धमें हार हुई और तत्पश्चात् नैपोलियन सदाके लिये सो गया। नैपोलियनने भागकर अमेजी सडैकी शरण ली। यहाँ इसे बन्दी कर लिया गया और इसे सेंट हेलेनामें सदाके लिये निर्वासित जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा हुई। यहाँ नैपोलियनने पौनर्जन्म जैविक कलापर अवस्थामें बिताये। यहाँ उसके साथ अत्यन्त अन्याय और नीचतापूर्ण बर्ताव किया गया। अन्तमें नैपोलियन धीरे धीरे बहुत निर्बल हो गया, और उस वीर सैनिकने ५ मई सन् १८२१ में अपने प्राणोंका त्याग किया। "यदि तु सचामें मर हो तो नैपोलियन बोनापार्टको दोनों स्थितिसे स्मरण कर"—'श्रीमद् राजबन्ध' पृ २

पर्वतशिखर—

योगाचार्य पर्वतशिखर कब हुए और कहाँके रहनेवाले थे, श्रद्धालु बातोंके संबंधमें कोई निश्चित पता नहीं लगाता। पर्वतशिखर आधुनिक योगमार्गोंके व्यक्त्यापक माने जाते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि पाणिनीयव्याकरणके महामाध्य और चरकसंहिताके रचयिता भी वे ही पर्वतशिखर हैं। इन विद्वानोंके मतमें पर्वतशिखर समय इसकी सन् १५० वर्ष माना जाता है। पर्वतशिखरामृत्योपर अनेक माध्य टीकाएँ लायी हैं। इनके संबंधमें राजबन्धजी लिखते हैं—“पर्वतशिखरयोगक कृष्ण सम्पूर्ण प्राप्त नहीं हुआ था; परन्तु हरिमश्रूमिसे उन्हें मार्गालुसारी माना है।”

पद्मनन्दपञ्चविंशतिका—

इस ग्रंथके कर्ता पद्मनन्दी आचार्य हैं। जैन संप्रदायमें पद्मनन्दि नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। प्रस्तुत पद्मनन्दी गिम्बर जैन विद्वान् थे। इन्होंने अन्य ग्रंथोंकी भी रचना की है। पद्मनन्दि प्राचीनके बहुत पंडित थे। इन्होंने इस ग्रंथमें वीरनन्दीको सम्मन्त्रित किया है। इनके समयका कुछ निश्चित पता नहीं लगाया जा सकता। पद्मनन्दपञ्चविंशतिका जैन समाजमें बहुत जाना-पूजा जाता है। इस ग्रंथमें पञ्चम प्रकार के। भेद्यपरा पद अत्युत्तम ग्रंथ है। इस ग्रंथकी एक हस्तलिखित संहिता टीका भी है। इस ग्रंथको पटन करमका राजबन्धजीने कई जगह उल्लेख किया है।

कार्य किया, और अपने साथ मित्रोंकी छायापतासे पूर्ण किया था। कहते हैं कि कुंवर महेरामजीसे अपने मामा जीवजीके ठातुरकी पुत्री सुजनबाके साथ प्रेम हो गया था, और इस प्रेमको इन दोनोंने अत समयतक निबाहा। प्रणीपसगरमें राजकुमारी सुजनबा (प्रणीप) ने महेरामजी (सागर) को समोपन करके, और महेरामजीने राजकुमारीको सपोधन करके कविताये उन्नी हैं। राजवन्धनजी लिखते हैं—“प्रणीपसागर समप्रपूर्वक पदा जाय तो यह दृष्टता देनेपात्र प्रप है, मही तो यह कप्रशस्त रामरंगोंको बढ़ानेबाबा प्रप है”।

महादजी (देखो अनुमन्त्रकाय)

प्रभस्याकरण (आममंत्र) —इसका कई जगह राजवन्धनजीने उल्लेख किया है।

प्रज्ञापना (आममंत्र) —इसका भी प्रस्तुत प्रपमें उल्लेख आता है।

प्रीतमदास—

ये मन्त्र कवि माण्वातिके थे, और ये सन् १७८२ में मौजूद थे। ये साधु-संतोंके समग्राममें बहुत काज निरत थे। इनकी कविता भी अन्य मन्त्रोंकी तरह बेन्तल्लाल और प्रेममन्त्रोंसे पूर्ण है। प्रीतमदासको ‘चोतर’ का रत्न कहा जाता है। इनके बड़े मन्त्र गीता और मागकच्छ ११ वीं स्कंध हैं। इसके अतिरिक्त प्रीतमदासने अन्य भी बहुतसे पद गरबी ह्वादि लिखे हैं। ‘प्रीतमदासकी कविता’ गुजरातीमें बहुत प्रसिद्ध है। श्रीमद् राजवन्धन अपने मन्त्रोंसे इसे पढ़नेके लिये कहा करते थे। उन्होंने प्रीतमको मार्गलुसारी कहा है। प्रीतमदासने गोविंदरामजी नामक साधुका बहुत समयतक उद्वास किया, और उन्हें अपना गुरु बनाया था। कहते हैं कि प्रीतमदास अन्त समय आने हो गये थे। ये उस समय भी पद-रचना करते थे। गुजराती साहित्यमें इनकी कविताओंका बहुत आदर है।

बनारसीदास—

बनारसीदासजी आगराके खनेबाके श्रीमाजी वैश्य थे। इनका जन्म सं० १६४३ में जीतपुरमें हुआ था। बनारसीदासजीका मूल नाम निरुमाजीरत था। इनके पिताको पार्श्वनाथके ऊपर कर्पट प्रीति थी, इसलिये उन्होंने इनका नाम बनारसीदास रक्खा था। बनारसीदासजीको पोषन कर्ममें इनकाजीका बहुत सौक हो गया था। इन्होंने शूगराके ऊपर एक प्रप भी लिखा था, जिसे बादमें इन्होंने गोमती नदीमें बहा दिया था। बनारसीदासजीकी अवस्थामें धीरे धीरे बहुत परिवर्तन होता गया। इन्हें पुनर्पुनः आचार्यके अर्घ्यात्मरसके प्रप पढ़नेको मिले और ये निश्चयनपकी और हुके। इन्होंने निश्चयनपकी पुष्ट करनेबाजी ब्रह्मपत्नीसी आगवत्नीसी अर्घ्यात्मवत्नीसी आदि कृतिओंकी रचना की। बनारसीदासजी चद्रमाण, उदयकरण, धाममन्त्रजी आदि अपने मित्रोंसहित अर्घ्यात्मवन्त्रमें इसे रखते थे। अन्तमें तो पर्वततक हुआ कि ये चारों गम होकर अपनेको सुनि मान कर रहा करते थे। इसी कारण आषाढ जोग बनारसीदासको बोररामन्ती कहने लगे थे। बनारसीदासजीकी यह पर्वतयशा सं० १६९२ तक रही। बादमें इनको ह्द दरामर बहुत बेद हुआ, और इनका हृदय-मट रुक गया। इस समय ये आगरामें वं रूपवन्धनके समग्राममें आये, और

दुसरे दोनों समकक्षीय थे। दोनों होने अपने धर्मका विहार प्राप्तसे प्रचार चारम किया। दुसरे भगवान् के देशा विदेशी भाषाओंमें अनेक जीवनचरित्र लिखे गये हैं।

बृहत्कल्प—

बृहत्कल्प छह छेदसूत्रोंमें एक सूत्र माना जाता है। इसके कथा भद्रबाहुस्वामी हैं। बृहत्कल्प पर अनेक टीका लिखिणी हैं। इन छह छेदसूत्रोंमें साधु साधियोंके आचार क्रिया आदिके सम्मन्य नियम-मार्गके प्रतिपादनके साथ साथ, इन्द्र्य क्षेत्र काल मास उत्सर्ग अपवाद आदि मार्गाध्य भी सम्यक्-नुसार वर्णन है। इसलिये ये छह छेदसूत्र अपवादमार्गके सूत्र माने जाते हैं। बृहत्कल्पमें छह ठोके शास्त्र हैं। इस सूत्रमें साधु साधियोंके आचारका वर्णन है। इसमें अ. कार्य क्रमके हेतु और समयके वाचक हैं, इनका नियम करते हुए, समयके साधक स्थान, पक्ष, पात्र आदिको वर्णन किया है। इसमें प्रात्यक्षिक आदिका भी वर्णन है।

ब्रह्मवच—

ब्रह्मवच ब्रह्मवर्ती था। एक समयकी बात है कि एक ब्राह्मणने आकर ब्रह्मवच ब्रह्मवर्तीसे कहा कि हे ब्रह्मवर्ती! जो मोक्षन तु स्वयं खाता है उसे मुझे भी खिला। ब्रह्मवचने ब्राह्मणको उत्तर दिया कि मेरा मोक्षन बहुत गरिष्ठ और उष्णकाशी है। परन्तु ब्राह्मणने जब ब्रह्मवर्तीको कृपण आदि वस्तुसे विवक्षित, तो ब्रह्मवचने ब्राह्मणको कुटुम्बसहित अपना मोक्षन खिलाया। मोक्षन करनेके पश्चात् एतिये ब्राह्मण और उसके कुटुम्बकी मन्त्र उच्चारण हुआ, और वह ब्राह्मण अपने पुत्रसहित माता कन्या आदि सबके साथ पञ्चको उत्तर रमण करने लगा। जब धुबह हुई तो ब्राह्मण और उसके गृहजनोंको बहुत उष्ण महसूस हुई। ब्राह्मणको ब्रह्मवच ब्रह्मवर्तीके उत्तर बहुत क्रोध आया और वह क्रोधसे घाते निकल पड़ा। कुछ दूरपर ब्राह्मणने एक गड़रियेको पीपलके पत्तोंपर ककरो फेंककर पत्तोंको फटते हुए देखा। ब्राह्मणने गड़रियेसे कहा कि तू पुरुष सिपर खेत छत्र और चमर बारण करके गजेन्द्रपर बैठकर यज्ञसि निष्कामे, ए उसकी दोनों ओरोंको ककरोसे फोड़ डाल। गड़रियेने शिवकी ओटमें खड़े होकर हाथोंपर बैठकर जाते हुए ब्रह्मवचकी दोनों ओरों फोड़ दी। वाममें ब्रह्मवर्तीको महसूस हुआ कि उसी ब्राह्मणने इस दुष्कृत्यको किया है। ब्रह्मवचको ब्राह्मण आशिके उत्तर बहुत क्रोध आया। उसने उस ब्राह्मणको उसके पुत्र, पौत्र और मित्रसहित मरवा डाला। क्रोधान्ध ब्रह्मवच ब्रह्मवर्तीने अपने मर्त्यको सब ब्राह्मणोंको मारकर उनके नेत्रोंसे विशाखा पाक मारकर अपने सामने डालनेकी आज्ञा दी। मर्त्यने क्षेम्यातक फलसे पाक मारकर राजको सामने रखी। ब्रह्मवच उस पाकमें रखे हुए फलोंको नेत्र समझकर उन्हें बार बार हाथसे स्पर्श करता और बहुत इर्षित हुआ करता था। अन्तमें ब्रह्मवचकी परिणामोत्ते मरकर पक्ष घातमें मरकर गया। यह कथा त्रिपिशखाकापुरुषचरित आदि कथासूत्रोंमें आती है।

भगवतीसूत्र (आत्मप्रणय)—इसका राजवन्धनजीने अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है।

भगवतीमाराधना—

यह प्रणय दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्राचीन प्रणय माना जाता है। पं. माधुसूदनजी प्रेमिका कहना है कि इसके प्रणयकर्ताका अन्तर्धर्म नाम वापिनिष्ठ था। शिवकोटि था। बहुतसे लोग इसको

मुनिधर्मका ग्रन्थ है, और इसकी अनेक गाथायें श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी मिलती हैं। इस ग्रन्थके ऊपर चार दिगम्बर विद्वानोंकी सस्कृत टीकायें भी हैं। अभीतक इसके ऊपर कोई श्वेताम्बर विद्वान्की टीका देखनेमें नहीं आई। ५० सदासुखजीने जो श्वेताम्बर टीकाका उल्लेख किया है, सो उन्होंने अपरचितसूरिकी दिगम्बर टीकाको ही श्वेताम्बर टीका समझकर उल्लेख किया है। माझूम होता है कि सदासुखजीके इस कथनके ऊपरसे ही राजचन्द्रजीने भी भगवतीभारतनापर श्वेताम्बर विद्वान्की टीका पाये अनेका उल्लेख किया है। इस ग्रन्थके कणिके समयके विषयमें कुछ निश्चित नहीं है, किन्तु भी यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन समझा जाता है।

भारत (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षभाषा पाठ १७; तथा भावनाबोध पृ १०८-१११)

मर्चूरि—

ये उज्जैनके राजा विक्रमादित्यके सौतेले भाई थे। मर्चूरिको अपनी रानीकी दुश्चरित्रता देखकर वैरम्य हो गया। मर्चूरि महान् योगी माने जाते हैं। इन्होंने शृंगार, नीति और वैज्य इन तीन शतकोंकी रचना की है। इनका मैथ, छेतिन, बमेजी और बर्मन भाषाओंमें भी अनुवाद हो चुका है। इन शतकोंमें वैरम्यशतक बहुत सुन्दर है। वैरम्यशतक गुजराती और हिन्दी पद्यानुवाद सहित सन् १९०७ में ब्रह्मदत्ताज्यसे प्रकाशित हुआ है। मर्चूरिके वैरम्यशतकके अतिरिक्त जैन विद्वान् पद्मानन्दकवि और धनराज (धनद) ने भी वैरम्यशतक नामक ग्रन्थ लिखे हैं। पद्मानन्द कविका वैरम्यशतक काव्यभाषा उत्तम गुच्छकमें प्रकाशित हुआ है। माझूम होता है राजचन्द्रजीने मर्चूरिके वैरम्यशतकका ही अनुकोकन किया था।

भागवत—

भागवतका हिन्दु समाजमें अत्यन्त आदर है। भावकस भी जगह जगह भागवतकी कथाओंका वाचन होता है। श्रीमद्भागवतको पुराण, वेद और उपनिषदोंका सार कहा जाता है। इसमें बड़े बड़े गुरु विषयोंको बहुत सरलतासे रक्खा गया है। इसमें वैरम्यके वर्णनमें भी भगवद्भक्तिको ही मुख्य मानकर उसकी पुष्टि की है। इसमें स्थान स्थानपर पञ्चरात्रका प्रतिपादन किया गया है। भागवतके गुजराती हिन्दी आदि अनुवाद हो गये हैं। भागवतके कर्त्ता व्यासजी माने जाते हैं। इसमें बारह स्कन्ध हैं। भागवतमें कृष्ण और भक्तगोपियोंका विस्तृत वर्णन है। इसका राजचन्द्रजीने सूक्ष्म वाचन किया था। भावनाबोध (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ ९१-१२०)

भाषार्यमहाप्र—

यह ग्रन्थ निरुद्धा बनाया हुआ है, किन्तु भाषाका है इत्यादि बातोंका कुछ पता नहीं चला सका। इस ग्रन्थके विषयमें राजचन्द्रजीने लिखा है—“ उसमें सम्प्रदायके विवादका कुछ कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है; परन्तु तारतम्यसे यह वास्तविक ज्ञानवाचकी रचना नहीं, ऐसा मुझे लगता है। ”

भोजा—

भोजा भगतका जन्म काटियावाड़में जेतपुरके पास जुनवी जातिमें सन् १७८५ में हुआ था। भोजा भगतके भावका गुजरातीमें बहुत प्रसिद्ध है। भोजा भगत काटियावाड़ी थे, इसलिये उनकी माया गुजरातीसे कुछ भिन्न पड़ती है। उनकी काव्यसंरचना इतिवर्षों मिश्र मिश्र प्रकारकी है। प्रायः उनकी

बुद्ध होनेो सम्पत्कीन थे। दोनों होने अपने बर्माका विहार प्रान्तसे प्रचार वारंम किया। बुद्ध भगवान्के दोहा विदेशी भक्तियोंमें अनेक जीवनपरित्र स्थिते गये हैं।

बृहत्कल्प—

बृहत्कल्प छह छेदसूत्रोंमें एक सूत्र माना जाता है। इसके कथा भद्रबाहुत्वानी है। बृहत्कल्प पर अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं। इन छह छेदसूत्रोंमें साधु साधियोंके व्यापार क्रिया आदिके सामान्य नियम-मार्गके प्रतिपादनके साथ साथ, द्रव्य क्षेत्र काष्ठ भाव उत्सर्ग कपणा आदि मार्गोंका भी समानुसार वर्णन है। इसलिये ये छह छेदसूत्र कपणाश्रमके सूत्र माने जाते हैं। बृहत्कल्पमें छह उरे शक्त हैं। इस सूत्रमें साधु साधियोंके व्यापारका वर्णन है। इसमें च, पदार्थ कर्मके हेतु और सप्तके वाचक हैं, उनका निषेध करते हुए, सप्तके साधक स्थान ब्रह्म, पात्र आदिका वर्णन किया है। इसमें प्रायश्चित्त आदिका भी वर्णन है।

ब्रह्मदत्त—

ब्रह्मदत्त ब्रह्मचरी था। एक समयकी बात है कि एक ब्राह्मणने आकर ब्रह्मदत्त ब्रह्मचर्यस्थि कहा कि हे ब्रह्मचरी! जो मोक्षन व स्वयं साक्षात् है उसे मुझे भी सिखा। ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको उत्तर दिया कि मेरा मोक्षन बहुत गरिष्ठ और उन्मादकायी है। परन्तु ब्राह्मणने जब ब्रह्मचरीको कृपण आदि शब्दोंसे विवश्रुत, तो ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको बुद्धवत्स्थित कपणा मोक्षन सिखाया। मोक्षन करनेके पश्चात् यन्त्रमें ब्राह्मण और उसके बुद्धवत्की कथा उन्माद हुआ, बार बार ब्राह्मण अपने पुत्रवत्स्थित माता बहन आदि सबके साथ पट्टकी लतह रमण करने लगा। जब सुबह हुई तो ब्राह्मण और उसके गृहजनोंकी बहु छत्रा माहिस हुई। ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्यके ऊपर बहुत क्रोध आया और वह कोपसे घरेसे निकल पड़ा। कुछ दूरपर ब्राह्मणने एक गहरियेकी पीपलके पत्तोंपर कर्करें फेंककर पत्तोंको फाड़ते हुए देखा। ब्राह्मणने गहरियेसे कहा कि जो पुरुष सिरपर श्वेत छत्र और चमर धारण करके गजेन्द्रपर बैठकर पर्वतोंसे निकलें, व उसकी दोनों आँखोंका कर्करोंसे फोड़ बाध। गहरियेने दिवालीकी बोझमें लड़े होकर हाथोंपर बैठकर आते हुए ब्रह्मदत्तकी दोनों आँखें फोड़ दी। बादमें ब्रह्मचरीको माहूस हुआ कि उसी ब्रह्मणने इस दुष्कृत्यको करवाया है। ब्रह्मदत्तको ब्राह्मण नाविके ऊपर बहुत क्रोध आया। उसने उस ब्राह्मणको उसके पुत्र, बंधु और मित्रोंसहित मरवा काका। मोक्षान्व ब्रह्मदत्त ब्रह्मचर्यस्थि अपने मंत्रीको सब ब्राह्मणोंको मरकर उनके मंत्रोंसे विशाक पाक मरकर अपने सामने खानेकी आज्ञा दी। मंत्रीने श्लेषाश्रम फलसे पाक मरकर राजाके सामने रखी। ब्रह्मदत्त उस पाकमें रखे हुए फलोंको मेत्र समझकर उन्हें बार बार हाथसे लपट करता और बहुत हर्षित हुआ करता था। अन्तमें ब्रह्मचरीकी परिणामसे मरकर वह सातवें मरकमें गया। यह कथा त्रिपिटकाकापुरुषवर्णित आदि कथाप्रयोगमें आती है।

भगवतीधूम्र (भागवत्कल्प) —इसका रामचन्द्रजीने अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है।

भगवतीमाराधना—

यह प्रथम दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्राचीन प्रथ माना जाता है। प नागपुत्रमन्त्री प्रेषीक कहता है कि इसके प्रथकर्ताका असली नाम आर्षिष्ठिय या शिषकोटि था। बहुतसे लोग इनकी सर्वतम्र आचार्यका शिष्य मानते हैं परन्तु यह टीका बड़ी माहूस होता। यह प्रथ प्रभावतया

मीमें उत्पन्न हुआ था, वहाँ आया। वह मदनरेखाको उसके पुत्रसे मिलानेके वास्ते छे गया। मदनरेखाके मका नाम ममि था। ये ममि ही आगे चलकर नमिरावर्षि हुए। बादमें मदनरेखाने मी प्सा ग्रहण की।

हीपतराम रूपराम—

ये गुजरातके प्रसिद्ध साहित्यकार हो गये हैं। महीपतराम रूपराम अपने समयके बहुत अच्छे चारक थे। इन्होंने गुजरातीमें बहुतसी पुस्तकें लिखी हैं। एकबार इनकी साथ राजचन्द्रजीका वह श्वाश्रुमें मिलाप हुआ। उस समय 'क्या भारतवर्षकी अवोगति वैनचमसि हुई?' इस विषयपर जो लोमें प्रश्नोत्तर हुए वे एक ८०७ में पिये गये हैं।

मनोहरदास—

मनोहरदास जातिसे नागर ब्राह्मण थे। ये भावनगरके रहनेवाले थे। इन्होंने फारसीका अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था, और प्रथम फारसीमें ही उपनिषदोंके अनुवादको फइकर उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त किया। बादमें इन्होंने व्याकरण और व्यापकी भी अच्छी योग्यता प्राप्त की। संवत् १८९४ में मनोहरदासजीने चतुर्थ आश्रम स्वीकार किया, और अपना नाम बदलकर सच्चिदानन्द प्रद्योतीर्य रक्खा। उस समय इन्होंने वेदान्तसूत्र-नारमिष एकत्र संस्कृत प्रयोगोंकी भी रचना की। मनोहरदासजीने महराष्ट्रकी गुजराती और हिन्दी पद्योंमें रचना की है। इन पद्योंमें कुछ पद्योंके अन्तमें 'मनोहर' और कुछके अन्तमें 'सच्चिदानन्द प्रद्योती' नाम मिलता है। इन पद्योंमें मनोहरदासजीने वैष्णवपूर्वक चरमस्थिति निरूपण करते हुए पार्श्व और दोंगका मार्मिक वर्णन किया है। मनोहरदासजीने महाराष्ट्रके कुछ भाग और गीताके ऊपर भी गुजरातीमें टीका लिखी है। इन्होंने पुरातन-कथा और पञ्चकस्याणी वगैरह प्रयोगोंकी भी रचना की है। ये ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुए। मनोहरदासजी संवत् १९०१ में देहमुक्त हुए। राजपञ्चजीने मनोहरदासके कुछ पद्य उद्धृत किये हैं।

राणेन्द्रदास—

ये कोई केन्ती थे। इनका एक पद्य राजपञ्चजीने उद्धृत किया है, जिसमें सत्सङ्गकी महिमा आई है।

मीराबाई—

मीराबाई जोधपुर मेड़ताके राठौर रतनसिंहजीकी इकलौती बेटी थी। इनका जन्म संवत् १५५५ के लगभग मना जाता है। संवत् १५७३ में इनका विवाह हुआ। ये दस बरसके भीतर ही विधवा हो गईं। मीराबाईके पदोंसे पता लगता है कि वे रैदासका अपना गुरु मानती थीं। मीराबाईके हृदयमें गिरिधर गोपाळके प्रति बड़ी मक्ति थी। वे उनके प्रेयमें मत्तपत्नी रहती थी, और अपने कुछकी लोकनाम छोड़कर साधु संतोंकी सेवा करती थीं। जब मीराबाईका मन बिसीह म लगा तब वे हृन्दावन चली गईं। वहाँसे फिर हाराण चली गईं। मीराबाईके हृदयमें अगाध प्रेम और शक्ति मक्ति थी। मीराबाई संकलित भी जानती थीं। उन्होंने गीतगोविन्दकी मायापद्यमें टीका लिखी है। मरसीजीका मायरा और रामगोविन्द भी उनके रचे हुए कहे जाने हैं। मीराबाईकी कविता राजपूतानी बोधी मिश्रित हिन्दी भाषामें है। गुजरातीमें भी मीराबाईने बहुत कविता लिखी है।

कवितामें बोधवान अधिक पाया जाता है। मोनाने लज्ज-झानी और बगुले-मछोंका लज्ज उपहास किया है। मोना भगत अपनी मछि और योगशक्तिके लिये बहुत प्रसिद्ध थे। इनका अनुसर और परीक्षकप्रति बहुत तीव्र थी। इन्होंने ६५ वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया।

मणिरत्नमाळा—

मणिरत्नमाळा गुजरातीयासत्रीकी संहिताकी रचना है। इसमें मूल श्लोक कुल ३२ हैं। ये बर्षास श्लोक प्रस्तोत्तररूपमें लिखे गये हैं। मणिरत्नमाळाके ऊपर गुजरातके जगन्नील नामके ब्राह्मणकी संवत् १६७० में रची हुई टीका भी मिली है। इसमें जनरत्ना और वात्सला बहुत छंद प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ वैराग्यप्रधान है। मणिरत्नमाळाका एक श्लोक निम्न प्रकारसे है—

को वा दरिद्रो हि विशाखलुण्ण

श्रीमान्त्व को यस्य समस्ति तोषः ।

जीवन्मुक्तो कस्तु निरुधनो यः

को वामृता स्वास्तुसुखदा निरुधा ॥ ५ ॥

अर्थ—दरिद्रि कौन है ? भिक्षुकी लुण्णा विशाख है। श्रीमान् कौन है ? जो सतोषी है। जो सुख भी मृत कौन है ? जो निरुधनी है। अमृतके समान सुखदायक कौन है ? निरुधा ।

मणिमाळ मनुमार्ग—

ये मणिमाळके रचनेवाले थे। मणिमाळ मनुमार्ग गुजरातके अच्छे साहित्यकार हो गये हैं। इन्होंने पदार्थसमुच्चय आदि प्रयोगोंके अनुसार किये हैं, और गीतापर विवेचन किया है। इनके पदार्थसमुच्चयके अनुसारकी और गीताके विवेचनकी राजचन्द्रजीने समासोचना की है। पदार्थसंग्रहमें इनके छंदोंका संग्रह प्रकाशित हुआ है।

मन्त्ररेखा—

सुदर्शनपुरके मणिरथ राजाके कुमुधाता युगबाहुकी श्रीका नाम मन्त्ररेखा था। मन्त्ररेखा अत्यन्त सुन्दरी थी। उसके अनुग्रह सीतार्थको देखकर मणिरथ उसपर मोहित हो गया, और उसे प्रसन्न करनेके लिये बहूना प्रकरके पशुपुत्र आदि भेजने लगा। मन्त्ररेखाको जब यह बात मात्तम हुई तो उसने राजाको बहुत भिक्षाएँ, पर इसका मणिरथपर कोई असर न हुआ। अब वह राजा क्रिही तरह अपने छोटे मार्ग मन्त्ररेखाके प्रति युगबाहुका मार डालनेकी बातमें रहने लगा। एक दिन मन्त्ररेखा और युगबाहु दोनों उद्यानमें श्रद्धा करने गये हुए थे। मणिरथ भी अकेला वहाँ पहुँचा। युगबाहुको जब अपने बड़े मार्गके आनेके समाचार मिले तो वह उससे मिलने आया। युगबाहुने हृदयकर मार्गके चरमोच्छा दर्शा दिया। इसी समय मणिरथने उसपर लज्जप्रहार किया। मन्त्ररेखाने पतिको मरणासन्न देखकर उसे बर्धबाध दिया। पतिने मर जानेसे मन्त्ररेखाको अपने श्वेतकी ओरसे बहुत भय हुआ। मन्त्ररेखा गर्भवती थी। वह उसी समय किसी जगहमें निकलकर खड़ी गई, और उसने आशी रासको पुत्र प्रसर दिया। वहने बहू क्रिही विषाधरके हाथ पड़ी। वह भी उसपर मोहित होकर उसे अपनी ही बनामर्ध पठा करने लगा। मन्त्ररेखाने विषाधरसे उसे भेदीधर के बच्चेको कहा। वहाँ जाकर क्रिही मुनि विषाधरको स्वशास्त्रीय रूप प्रवर्णन बताया। इनमेंसे मन्त्ररेखाके पतिधर जीव जो मरकर

यशोविजयजीका जन्म सन् १९८० के लगभग हुआ था। यशोविजयजीने सतरह-अठारह वर्षतक विद्याभ्यास करके जीवनपर्यंत साहित्यसर्जनमें ही अपना समय व्यतीत किया। आपने न्याय, योग, अध्यात्म, दर्शन, कथाचरित, धर्मगीति आदि सभी विषयोंपर अपनी मोड़ छेखनी चलाई है। यशोविजयजीने वैदिक और बौद्धग्रन्थोंका गहन अध्ययन किया था। इन्होंने जैनदर्शनका अन्य दर्शनोंके साथ समन्वय करनेमें भी व्यस्त भ्रम किया है। यशोविजयजी कृतिपूँ आव भी बहुत-सी अनुपलब्ध हैं, फिर भी जो कुछ उपलब्ध हैं, वे यशोविजयजीका नाम सदाके लिये अमर रखनेके लिये पर्याप्त हैं। उन्होंने संस्कृतमें अध्यात्मसार, उपदेशरत्नस्य, शास्त्रवाचसिमुच्यटीका न्याय-खंडनसाध, जैनतर्कपरिभाषा आदि बहुतसे ग्रन्थ लिखे हैं। गुजरातीमें इन्होंने बेवसी गाथाका स्तवन, योगद्विती सन्ध्याय, श्रीपादरस, समाधिस्तव आदि ग्रन्थ बनाये हैं। यशोविजयजीने हिन्दीमें भी कवितायें लिखी हैं। ये सन् १७४३ में स्वर्गस्थ हुए। राजचन्द्रजीने यशोविजयजीके अध्यात्मसार, बेवसी गाथाका स्तवन और योगद्विती सन्ध्यायका उल्लेख किया है, तथा उपदेशरत्नस्य, योगद्विती सन्ध्याय, श्रीपादरस, समाधिस्तव और उनके अनेक पद्य आदि उद्धृत किये हैं। यशोविजयजीके उग्र प्रशंसक होनेपर भी राजचन्द्रजीने एक स्थलपर उनकी छापस्य अवस्थाका दिग्दर्शन करवा है।

योगकल्पद्रुम—

यह कोई वेदान्तका ग्रन्थ मात्र नहीं होता है। इसके पटन करनेका राजचन्द्रजीने किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। इसका अंक ३५७ में उल्लेख है।

योगद्वितीसमुच्चय (देखो हरिमय)

योगद्वितीनी सन्ध्याय (देखो यशोविजय)

योगमदीप (देखो हरिमय)

योगविन्दु (देखो हरिमय)

योगवासिष्ठ—

भारतीय साहित्यमें योगवासिष्ठ जिसे महाउमायण भी कहा जाता है, का स्थान बहुत ऊँचा है। योगवासिष्ठके कर्ता वसिष्ठ ऋषि माने जाते हैं। योगवासिष्ठमें वही सब हजार श्लोक हैं, जिनमें नामा कथा उपकथाओंद्वारा आत्मविद्याका अस्पष्ट सुन्दर वर्णन किया है। इस ग्रन्थके छह प्रकरण हैं, और हर एक प्रकरणमें कई कई अध्याय हैं। योगवासिष्ठके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अभी एक संशोधित संस्करण निर्णयसागरसे प्रकाशित हो रहा है। इस हिन्दी गुजराती आदिमें भी अनुवाद हुए हैं। अंजनीमें एक विशिष्टपूर्ण व्याख्या माननीय प्रो० निरुद्धमसाह आश्रय एम० ए०, डी० डि० ने लिखी है। योगवासिष्ठकी रचनाके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। प्रो० आश्रय इस ग्रन्थकी रचनाका समय ईसवी सन् की छठी शताब्दि मानते हैं। राजचन्द्रजीने योगवासिष्ठका स्तुत मनन और निरिध्यासन किया था। वे लिखते हैं—“उपार्थिका तप शमन करनेके लिये यह शीतल पत्र है। इसके पढ़ते हुए अधि-अधिका आगमन समझ नहीं।” राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर योगवासिष्ठको वैराग्य और उपवासका कारण बताकर उसे पुन पुन पढ़नेका मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। योगवासिष्ठके वैराग्य और मुमुक्षु नामके आधिक दो प्रकरण अलग भी प्रकाशित हुए हैं।

•मुक्तानन्द—

ये काटियावाड़के रहनेवाले साधु थे। मुहम्मदजी सं० १८९४ में मौजूद थे। इन्होंने उदयगढ़ीठा, धर्मस्वाम, धर्ममृत तथा बहुतसे पन्नीखड़ी रचना की हैं। राजचन्द्रजीने उदयगढ़ीठाका एक पन्ना सज्जत किया है।

भृगापुत्र (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भाष्यभाष्य पृ ११२)

मोक्षमुद्र—

मोक्षमुद्र स्वामी शकटाचार्यका बनाया हुआ है। यह वैराग्यका उत्तम ग्रन्थ है। इसमें मोक्षके स्वरूप और आत्मसाधनके बहुतसे उद्यम में बताया है। यह ग्रन्थ केवलसमाधर्मिकी ओरसे गुजरती टीकासहित सं० १८०८ में प्रकाशित हुआ है। राजचन्द्रजीने इस ग्रन्थसे स्नेहका एक चरण उद्धृत किया है। इसका प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है—

मूढ बहोहि धमागमवृणां कुल तनुबुद्धे मनसि निवृणां ।

पक्ष्मसे निजकर्मोपात विषं तेन विनोदय विचम ॥

—हे मूढ़ ! धर्मप्राप्तिकी वृणाको छोड़ । हे कम बुद्धिवाले ! मनको वृणास्थित कर । तथा जो धर्म अपने कर्मनुसार मिष्ट, उससे विचित्रसे प्रसन्न रह ।

मोक्षमार्गप्रकाश—

मोक्षमार्गप्रकाशके रचयिता टोडरमजी हैं। प० टोडरमजी आधुनिक काव्यके दिग्गज विद्वानोंमें बहुत अच्छे विद्वान् हो गये हैं। इसका जन्म सन् १९७१ के अमावस्य अष्टमिसे हुआ था। प० टोडरमजी जैनसिद्धांतके एक बहुत मार्मिक पंडित गिने जाते हैं। इन्होंने नैमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तिके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोमयसार, कथिसार, धारणसार और शिखंडसारपर विस्तृत हिन्दी बचनिका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आत्मालुशासन पुरुषार्थसिद्धिउपाय आदि ग्रंथोंपर भी विवेचन किया है। मोक्षमार्गप्रकाश टोडरमजीका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यह अच्छा है। इसका शेरार्थ भाग ब्रह्मचारी छात्रप्रसादजीने लिखकर पूर्ण किया है। इस ग्रंथमें टोडरमजीने जैनधर्मकी प्राचीनता, जैन मतोंका संघन, मोक्षमार्गका स्वरूप आदि विषयोंका बहुत सरल भाषामें वर्णन किया है। प० टोडरमजी दिग्गज जैन विद्वानोंमें अतिशय सम्मान जाते हैं। टोडरमजी १५-१६ वर्षकी अवस्थासे ही प्रपञ्चरचना करने लगे थे। प० टोडरमजीने ज्ञेयाम्बरोंद्वारा मान्य वर्तमान जिनाममता निरूपण किया है। इस विषयमें राजचन्द्रजी लिखते हैं— 'मोक्षमार्गप्रकाशमें ज्ञेयाम्बर संप्रत्यक्षद्वारा मान्य वर्तमान जिनाममका जो निरूपण किया है, वह निरूपण योग्य नहीं। परन्तु वर्तमान आगममें बहुत स्थल अधिक संदिग्ध हैं, परन्तु संप्रत्यक्षी दृष्टिसे वेदान्तपर उसका निराकरण हो जाता है; इसीसे उपसम-दृष्टिसे हम आगमोंके अच्युतता करनेमें सहाय करना उचित नहीं।'^{११} पौस्तमासा (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ १-०१)।

यशविजय—

यशविजय शेराम्बर पराक्रममें अपने समयके एक महान् प्रतिभाशाली प्रगल्भ विद्वान् हो गये हैं। इसकी रचनामें संपन्न प्राहण गुजरती और हिन्दी भाषा भाषाओंमें मिलती है। तार्किकशिक्षामें

योगशास्त्र (देखो हेमचन्द्र)

रहनेमि-राजीमती—

रहनेमि अपना अधिष्ठानेमि समुद्रविजय राजाके पुत्र थे। उनका विवाह सम्पन्नकी पुत्री राजीमतीसे हुआ निश्चित हुआ था। रहनेमिने जब जाने गायेके साथ अपने लसुर-गृहको प्रयाण किया, तो रास्तेमें जाते हुए उन्होंने बहुतसे बैसे हुए पशु पक्षियोंका आवाहन सुना। सारापैसे पूछनेपर उन्हें मालूम हुआ कि वे पशु वायुके अधिष्ठानोंके छिये बंध करनेके छिये एकत्रित किये गये हैं। इसपर नेमिनाथको बहुत वैरम्य हो आया, और उन्होंने उसी समय दीक्षा धारण करनेका निश्चय किया। उन्तर जब राजीमतीके पास नेमिनाथकी दीक्षाका समाचार पहुँचा तो वह अत्यंत व्याकुल हुई, और उसने भी नेमिनाथकी अनुगामिनी हो जानेका निश्चय किया। दोनों दीक्षा धारण कर गिरनार पर्वतपर तपश्चरण करने लगे। एक बारकी बात है, नेमिनाथने राजीमतीको जग्न अक्षयमें देखा, और उनका मन बौलबोळ हो गया। इस समय राजीमतीने अत्यंत धार्मिक बोध देकर नेमिनाथको निरस्ते स्वयमें दृढ़ किया। यह कथा उद्योगध्वनिके २२ वें खण्डमें अक्षयमें आती है। “कैसे राजीमती कैसा समय प्राप्त होगी।”—‘श्रीमद् रामचन्द्र’ पृ १२६

रामदास—

स्वामी समर्थ रामदासका जन्म औरंगाबाद जिल्लेमें सन् १६०८ में हुआ था। समर्थ रामदास पहिलेसे ही चमक और तीव्रबुद्धि थे। जब ये बालक बचके हुए तब इनके विवाहकी बातचीत होने लगी। इस लहरको सुनकर रामदास भाग गये और बहुत दिनोंतक छिये रहे। छोटी अवस्थामें ही रामदासकी कठोर तपस्यामें की। बाल्यमें ये देशघटनके छिये निकले और काशी प्रयाग, बनारस, रामेश्वर आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा की। शिवाजी रामदासको अपना परम गुरु मानते थे, और इनके उपदेश और प्रेरणासे ही सब काम करते थे। सन् १६८ में जब शिवाजीकी मृत्यु हुई तो रामदासकी बहुत दुःख हुआ। श्रीसमर्थ केवल बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा ही न थे, बल्कि वे राजनीतिज्ञ, कवि और अच्छे अनुमयी भी थे। उनको निविण विषयोंका बहुत अच्छा ज्ञान था। उन्होंने बहुतसे ग्रंथ रचाने हैं। उनमें दासबोध मुख्य है। यह ग्रन्थ मुख्यतः अध्यात्मसंबंधी है, पर इसमें व्यावहारिक बातोंका भी बहुत सुन्दर परिचय कराया गया है। इसमें विद्यमानाथके ऊपर बड़ा मर दिया है। मूळ ग्रन्थ मराठीमें है। इसके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हो गये हैं।

रामानुज—

रामानुज आचार्य श्रीसम्प्रदायके आचार्य माने जाते हैं। इनका जन्म ईसवी सन् १०१७ में कर्णाटकमें एक श्राद्धगणके घर हुआ था। रामानुजने १६ वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद काष्ठ कर किये थे। इस समय रामानुजका विवाह कर दिया गया। रामानुजने व्याकरण, गणित, वेदांत आदि विषयोंमें निपुणता प्राप्त की थी। इनकी लीला स्वभाव लगभग यह था इसलिये उन्होंने उसे उसके पिताके घर पहुँचाकर स्वयं सत्पाठ धारण कर लिया। रामानुज स्वामीने बहुत दूर दूरतक देशोंकी यात्रा की थी। उन्होंने भारतके प्रयाग तीर्थस्थानोंमें अपने मठ स्थापित किये और यक्षिणार्धका प्रचार किया। रामानुज विशिष्टाद्वैतके संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने वेदान्तसूत्रोंपर श्रीभाष्य, वेदान्तप्रदीप, वेदान्त-

सार, गीतामाम्य आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। रामानुजने बहुतसे शास्त्रार्थ भी किये। इन्होंने १२० वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया।

बचनसप्तशती—

यह स्तवशती स्वयं राजचन्द्रजीने लिखी है। इसमें सारासी बचनोंका संग्रह है। यह संग्रह हेमचन्द्र टोकरशी मेहराकी 'श्रीमद् राजचन्द्र' की चौथी गुनगुती आकृतिके प्रथम भागके ८३ पृष्ठपर दिया गया है। राजचन्द्रजीने बचनसप्तशतीको पुनः पुनः स्मरण रखनेके लिये लिखा है।

बचनस्वामी (प्रस्तुत ग्रन्थ, भाषनालोचन पृ ११९)

ब्रह्म—

ब्रह्माचार्य पुष्यार्ग (ब्रह्मवैवर्त) के प्रतिग्रथा एक महान् आचार्य हो गये हैं। इनका जन्म सन् १५३५ में हुआ था। इन्होंने अनेक दिग्गज विद्वानोंको धार्मार्थमें जीता और आचार्य पदभी प्राप्त की। ब्रह्मने रामेश्वर आदि समस्त तीर्थोंकी यात्रा की थी। इन्होंने सन् १५५६ में स्वयं श्री-नाथजीकी मूर्तिकी स्थापना की। यह मूर्ति अब मेरारामें है, और इसके किन्ने मोगमें छाखों रूपया वर्णिक ध्वज होता है। भारतवर्षके प्रायः सभी तीर्थ और देवस्थानोंमें ब्रह्माचार्यकी बैठकें हैं। ब्रह्माचार्यमें भागवतपर सुबोधिनी टीका, ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, गीतापर टीका तथा अन्य ग्रन्थोंकी रचना की है। जन्तु समय ब्रह्माचार्य काशीमें आ गये थे, और वे सन् १५८७ में मगवतब्रह्मकी पबारे। ब्रह्मसम्प्रदायके अनुयायी विशेषकर गुनगुत, मारवाड़, मधुरा और हृदयवनमें पाये जाते हैं।

बसिष्ठ (देखो योगवासिष्ठ)

बामदेव—

बामदेव एक वैदिक ऋषि हो गये हैं। ये ऋग्वेदके चौथे मण्डलके अधिकांश सूक्तोंके इष्टा थे। ये वैदिक परम्परामें एक बहुत अच्छे तत्त्वज्ञानी माने जाते हैं। इनका वर्णन उपनिषदोंमें जाता है।

बास्मीकि—

बास्मीकि ऋषि आदिकाव्य रामायणके कर्ता हैं। बास्मीकिने २४ हजार श्लोकोंमें रामायणकी रचना की है। कहा जाता है कि इन्होंने उत्तरकाण्डमें जो कुछ लिख दिया था उसीके अनुसार राजचन्द्रजीने सब काम किये। बास्मीकि राजा जनकसे मार्फका नाता मानते थे, और राजा दशरथसे भी उनकी मित्रता थी। बास्मीकिजीने समस्त रामायणको रामचन्द्रजीके समक्ष तीस दिनमें गान्तर सुनाई थी। बास्मीकि ऋषिके समक्षानेपर ही रामचन्द्रजीने छत्र और कुश नामके अपने पुत्रोंको बंगीकार किया था। बास्मीकि ऋषिकी जन्मभूमि प्रयागके पास बताई जाती है। इनके आश्रमके निकट अनेक मुनि अपने-अपने बाल बशोत्सहित पर्यवसानमें समाकर रहते थे। रामायण संस्कृतका बहुत सुन्दर काम्य माना जाता है।

बिक्टोरिया—

राणी बिक्टोरियाका जन्म सन् १८१९ में एडवर्ड ड्यूक आरक केन्टकी फली मेरी स्ट्रानके गर्भसे हुआ था। बिक्टोरियाको आरम्भसे ही उच्च शिक्षा दी गई थी। सन् १८४० में बिक्टोरियाने किंग एडवर्डसे शादी की। बिक्टोरियाने बहुत दिनोंतक राज्य किया। उन्हें धन, प्रभुता, सुरक्षा,

बीरचन्द गांधी—

बीरचंद गांधीका जन्म काठियावाड़में सन् १८६४ में हुआ था। इन्होंने आत्मारामजी सुरिके पास जैनतत्त्वज्ञानका अध्ययन किया और धिकागोमें सन् १८९३ में भरनेवाली विज्ञानधर्म परिषद्में जैनधर्मके प्रतिनिधि होकर भाग लिया था। बीरचंद गांधीको उक्त परिषद्में जो सफलता मिली, उसकी अमेरिकन पत्रोंने भी प्रशंसा की थी। बीरचंद गांधीको वहाँ स्वर्णपदक भी मिले थे। अमेरिकासे लौटकर बीरचंद गांधीने इंग्लैंडमें भी जैनधर्मपर व्याख्यान दिये। वहाँमें भी बीरचंद गांधी दो बार अमेरिका गए। इन्होंने अंग्रेजी भाषामें जैन फिलॉसफी आदि पुस्तकें भी लिखी हैं। बीरचंद सन् १९०१ में स्वर्गस्थ हुए। बीरचंद गांधीको विजयत मेजनेका कुछ लोगोंने विरोध किया था। उसके सचचमैं राजचन्द्रजी लिखते हैं—“धर्मके बहाने अनार्य देशमें जाने अपना सूत्र आदि मेजनेका निषेध करनेवाले—मगरा ब्रह्मकर निषेध करनेवाले—वहाँ अपने मान वार्द्धका स्वाख जाता है, वहाँ इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह वर्मब्राह्म ही है। उन्हें धर्मका म्हात्त ता केवल ब्रह्मनेकप है, और स्वार्थसंघर्षी मान आत्मिका स्वाख ही मुख्य स्वाख है। बीरचंद गांधीको विजयत मेजने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है।”

वैराग्यसूक्त (देखो मर्चुरि)

व्यास—वेदव्यास—

व्यास महर्षिके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये वेदविद्यामें पारंगत थे, इसलिये इन्हें वेदव्यास भी कहा जाता है। इनका दूसरा नाम बालरायण भी है। ये ही हण्ड्येपात्मनके नामसे भी कहे जाते हैं। व्यासजीने चारों वेदोंका सग्रह करके उन्हें त्रेणीबद्ध किया था। व्यासजी बड़े भारी ब्रह्मज्ञानी, इतिहासकार, सूत्रकार, भाष्यकार और स्तुतिकार माने जाते हैं। इनके जैमिनी वैशम्पायन आदि १५००० शिष्य थे। महाभारत, भागवत, गीता, और वेदन्तसूत्र इन्हीं व्यास ऋषिके रचे हुए माने जाते हैं। व्यास ऋषिका नाम हिन्दुधर्ममें बहुत अधिक सम्मानके साथ किया जाता है।

शंकराचार्य—

शंकराचार्य अद्वैतमतके स्थापक महान् आचार्य थे। इनका जन्म केरळ प्रदेशमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। शंकराचार्यने आठ वर्षकी अवस्थामें सत्यास धारण किया, और वे आदि विद्याओंका अध्ययन किया। शंकराचार्यने बड़े बड़े शास्त्राचार्यों विजय प्रसन्नकर सनातन वेदधर्मको चारों ओर फैलाया। शंकराचार्यने अपने मतके प्रचारके लिये भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें बार बड़े बड़े मठ स्थापित किये थे। शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र, दस उपनिषद्गैर भाष्य, गीताभाष्य आदि ग्रंथ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्यकी विवेकचूडामणि गोहमुद्गर आदि अनेक हस्तियों भी बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रो० के० बी० पाठकके मतानुसार शंकराचार्य ईसवी सन् ८ वीं सदीमें हुए हैं। शंकराचार्य १२ वर्षकी अवस्थामें समाधिस्थ हुए। शंकराचार्यजीको राजचन्द्रजीने महारामा कहकर सरोधन किया है।

श्रीवसुपारस—

श्रीवसुपारसके कर्त्ता विनयविजयजी, हीरविजय सुरिके शिष्य कर्त्तृविजयके शिष्य थे। विनय-विजयजी स्वैताम्बर आत्मार्थमें एक प्रतिभाशाली विद्वान् गिने जाते हैं। विनयविजयजीने मछि और

सन्तति, स्वास्थ्य आदि सब कुछ प्राप्त था। इसी सन् १८७७ में विक्टोरियाको *कैम्बेजिन्द्र* (Empress of India) का खिताब मिला। इनकी ही प्रेरणासे डेवी बफरिनने भारतमें जनताके हितोंके लिये। विक्टोरियाको इंग्लैण्डके राजकोशसे ३७१८०० पौण्ड वार्षिक वेतन मिलता था। विक्टोरियाका अद्यपि यह जानेके कारण सन् १९११ में देहान्त हुआ।

विचारसागर—

विचारसागर वेदान्तशास्त्रका प्रवेशद्वार माना जाता है। इसके कर्ता निरञ्जनासुख जन्म पञ्चममें स १८४९ में जाट जातिमें हुआ था। निरञ्जनासुखने बहुत समयतक काशीमें रहकर विद्याभ्यास किया। निरञ्जनासुखी अपने प्रथम दादुजीको गुरुकर्मसे स्मरण करते हैं। इन्होंने और सुन्दरदासजीने दादुपदकी बहुत इष्टि की। निरञ्जनासुखीकी असाधारण विश्वाससे मुग्ध होकर बूढ़ोंके राजा उमसिंहने उन्हें अपने पास बुलाकर रक्खा और उनका बहुत आदर सम्मान किया था। विचारसागर बाद इतिप्रमाणकर निरञ्जनासुखीके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कहा जाता है कि इन्होंने सम्प्रदायमें ईशानास्य उपनिषद्पर भी टीका लिखी है, और वैचक्रशास्त्रकी भी कोई ग्रन्थ बनाया है। इनका सस्कृतके २७ अक्षरोंकोका किया हुआ सख्त इनके 'गुरुद्वार' में अब भी विद्यमान बताया जाता है। विचारसागरकी रचना सन् १९५५ में हुई थी। इसमें वेदान्तकी मुख्य मुख्य प्रक्रियाओंका बहुत सरलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। यह मूलग्रन्थ हिन्दीमें है। इसके अनुवर्ती, बंगाली, अंग्रेजी आदि भाषाओंमें भी अनुवाद हुए हैं। निरञ्जनासुखी ७ वर्षकी अवस्थामें दिल्लीमें समाधिस्थ हुए। विचारसागरके मदन करनेके लिये राजचन्द्रजीने मुमुक्षुओंको अनेक स्थानोंपर अनुरोध किया है।

विचारमासा (देखो अनामस्य)।

विदुर—

विदुर एक बहुत बड़े भारी नीतिज्ञ माने जाते हैं। विदुर बड़े बानी विद्वान् और चतुर थे। महाभारत पांडु तथा धृतराष्ट्रने क्रमशः इन्हें अपना मंत्री बनाया। ये महाभारतके युद्धमें पांडवोंकी ओरसे रहे। अंतमें इन्होंने धृतराष्ट्रको नीति सुनाई, और उन्होंने सावधानी बताने लगे और यही अंतमें जग मरे। इनका विस्तृत वर्णन महाभारतमें आता है। 'समुद्रपुत्र विदुरके कहे अनुसार ऐश्वर्य करना कि यत्में सुखसे सो सके। — 'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ ५५

विचारण्यस्वामी—

विचारण्यस्वामीके समयमें विषयमें कुछ निश्चित पता नहीं चलता। विद्वानोंका अनुमान है कि वे सन् ११०० से १३९१ के बीचमें विद्यमान थे। विचारण्यस्वामीने छोटी अवस्थामें ही स्यासत किया था। इन्होंने वेदोंके माध्य, शास्त्रों आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके माध्य उपनिषद्की टीका, ब्रह्मगीता, सर्वदर्शनसंग्रह शंकराचार्यके पञ्चदशी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। विचारण्यस्वामी सर्व शास्त्रोंके महान् पण्डित थे। इन्होंने वैदिकमतका नामा प्रकारकी धुक्ति प्रमुखियोंसे सुन्दर प्रतिपादन किया है।

विहार इन्द्रावन—

इसका राजचन्द्रजीने एक पद उद्धृत किया है। इसके विषयमें कुछ विशेष बात नहीं हो सका।

रचन् गांधी—

बीरचंद गांधीका जन्म काठियावाड़में सन् १८६४ में हुआ था। इन्होंने जातमारामजी सुरिके से जैनतत्त्वज्ञानका अध्ययन किया और चिकागोमें सन् १८९१ में मरनेवाली विश्वधर्म परिषद्में धर्मकी प्रतिनिधि होकर भाग लिया था। बीरचंद गांधीको उक्त परिषद्में जो सफलता मिली, उसे अमेरिकन पत्रोंने भी प्रशंसा की थी। बीरचंद गांधीको बहोँ स्वर्णपत्रक भी मिले थे। अमेरिकासे लौटकर बीरचंद गांधीने इंग्लैंडमें भी जैनधर्मपर व्याख्यान दिये। वहाँ भी बीरचंद गांधी का अमेरिका गये। इन्होंने अनेकी भाषाओंमें जैन लिखसूची आदि पुस्तकें भी लिखी हैं। बीरचंद सन् १९०१ में स्वर्गस्थ हुए। बीरचंद गांधीको विख्यात मेडनेका कुछ लोगोंने विरोध किया। उसके सबसे राजचन्द्रजी लिखते हैं—“धर्मके बहाने अनार्य देशमें जाने अपना सूत्र आदि लेके निषेध करनेवाले—मगरा वजाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान बड़ाईका स्वाद है, वहाँ इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, धर्मद्रोह ही है। उन्हें धर्मका महत्त्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसबही मान आनिका ही मुख्य स्वाद है। बीरचंद गांधीको विख्यात मेडने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है।”

उपसंहार (देखो मर्तुहरि)

प्रास-बौद्धध्यास—

ध्यास मन्त्रिके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये वेदविद्यामें पातंगत थे, इसलिये इन्हें वेदध्यास भी कहा जाता है। इनका दूसरा नाम बादरायण भी है। ये ही कृष्णध्यायनके नामसे भी कहे जाते हैं। प्रासोंने चारों वेदोंका संग्रह करके उन्हें श्रेणीबद्ध किया था। ध्यासजी बड़े भारी ब्रह्मज्ञानी, वेदविद, सूत्रकार, माय्यकार और स्मृतिकार माने जाते हैं। इनके जैमिनी बौद्धध्यास आदि ध्यास, शिष्य थे। महाभारत, भागवत, गीता, और वेदान्तसूत्र इन्हीं ध्यास ऋषिके रचे हुए माने जाते हैं। ध्यास ऋषिके नाम हिन्दुधर्मोंमें बहुत अधिक सम्मानके साथ लिया जाता है।

शंकराचार्य—

शंकराचार्य जड़ैतमतके स्थापक महान् आचार्य थे। इनका जन्म केरळ प्रदेशमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। शंकराचार्यने आठ वर्षकी अवस्थामें सन्यास धारण किया, और वेद आदि विद्याओंका अध्ययन किया। शंकराचार्यने बड़े बड़े धार्मिकोंमें विजय प्राप्तकर सनतान धर्मको चारों ओर फैलाया। शंकराचार्यने अपने मतके प्रचारके लिये भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार बड़े बड़े मठ स्थापित किये थे। शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र, दस उपनिषद्गण माय्य गीतामाय्य आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इनके अतिरिक्त शंकराचार्यकी विषकणूडामणि मोक्षमुद्र आदि अनेक इतियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्यों में श्री० पाटञ्जल मठमुसार शंकराचार्य ईसवी सन् ८ वीं सदीमें हुए हैं। शंकराचार्य ३२ वर्षकी अवस्थामें समाधिस्थ हुए। शंकराचार्यजीको राजचन्द्रजीने महारमा कहकर सरोपन किया है।

विदुषारस—

विदुषारसके कर्ता विनयविजयजी, श्रीविजय सुरिके शिष्य कर्तारिनिजयके शिष्य थे। विनयविजयजी श्वेतान्धर आश्राममें एक प्रतिमावासी विद्वान् गिने जाते हैं। विनयविजयजीने भक्ति और

बेहम्यका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। विनयविजयजीने शांतसुधारसको संवत् १७२१ में लिखा है। इसके अतिरिक्त अपने लोकप्रकाश, नयकर्णिक, कल्पसुश्रूषी टीका, स्तोत्र टीकासहित हेमचन्द्रप्रक्रिया आदि अनेक प्रयोगों रचना की है। विनयविजयजीने श्रीपालराजाका राज भी गुजरगतीमें लिखा है। यह राज गुजरगती मायाका एक सुंदर काव्यमय माना जाता है। विनयविजय इस उसको अपूर्ण ही छोड़ गये, और बादमें पद्मविजयजीने इसे पूर्ण किया। राजचन्द्रजीने श्रीपालराजसे कुछ पद उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने शांतसुधारसके मंगन करनेका कई जगह मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। इसका श्रीसुन्दर मनसुखराम औरतचंद्रकाव्य लिया हुआ गुजरगती विवेचन अभी डॉ० मंगलनाथ मनसुखरामने प्रकाशित किया है।

शांतिनाथ—

शांतिनाथ भगवान् जैनके १३ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। वे पूर्वमर्त्य में मेवरण राजाके जीव थे। एकबार मेवरण पौवन छोकर बैठे हुए थे। इतनेमें उनकी गोद्रीमें एक कनूतर आकर गिरा। उन्होंने उस निरपराध पक्षीको आश्वस्तन दिया। इतनेमें वहाँ एक बाज आया, और उसने मेवरणसे अपना कनूतर वापिस माँगा। राजासे बाजको बहुत उपदेश दिया, पर वह न माना। अन्तमें मेवरण राजा कनूतर ब्रित्ता अपने शरीरका मौस देनेको तैयार हो गये। कौट्य मँगाया गया। मेवरण अपना मौस काट कर तरंगमें रखने लगे, परन्तु कनूतर वननमें बढ़ता गया। यह देखकर वहाँ उपस्थित समस्त लोगोंमें हल्लाकार मच गया। इतनेमें एक देव प्रगट हुआ और उसने कहा, म्हात्मा! मैं इन दोनों पक्षियोंमें अविष्टित होकर आपकी परीक्षाके लिये आया था। मेरा अपराध क्षमा करें। ये ही मेवरण राजा आगे आकर शांतिनाथ हुए। यह कथा त्रिपिटककाधुसूयचरितके ५ वें पक्षि ४ वे सर्गमें जाती है।

शांतिप्रकाश—

सुना जाता है कि राजचन्द्रजीके समय स्थानकवासियोंकी ओरसे शांतिप्रकाश नामका कोई पत्र निकलता था।

शांतिमद्र (देखो घनामद्र)

शिवरसुरि—

राजचन्द्रजीने प्रस्तुत प्रपत्र पृ ७७२ पर जैनपति शिवरसुरि आचार्यका उल्लेख किया है, जिन्होंने जगमग दो हजार वर्ष पहिले वैद्योंको क्षत्रियोंके साथ मिश्र दिया था। परन्तु बावसे दो हजार वर्ष पहिले शिवरसुरि नामके किसी आचार्यके होनेका उल्लेख पत्रमें नहीं आता। डॉ० रत्नप्रभाचार्य नामके दो एक आचार्य हो गये हैं।

शिक्षापत्र—

यह प्रपत्र वैष्णवसम्प्रदायमें अत्यंत प्रसिद्ध है। इस प्रपत्रमें ४१ पत्र हैं, जो हरिरामजीने अपने जन्मजाता गोदेवरजीको संसृष्टमें लिखे थे। हरिरामजी वैष्णवसम्प्रदायमें बहुत अच्छे म्हात्मा हो गये हैं। इन्होंने अपना समस्त जीवन उपदेश और मंगलशेवामें लगाया था। ये म्हात्मा सरा ही मुसलमानी करते थे और कभी किसी गांव या शहरके भीतर मुफ्तम नहीं करते

ये । ये सदा भगवद्भक्ति और भगवद्विचारमें ही जीन रहते थे । गोपेन्द्रजीने इस ग्रन्थकी टीका की है । यह ग्रन्थ पुष्टिमार्ग प्रपावलीमें सन् १९०७ में बबोदासे प्रकाशित हुआ है ।

शीर्षकसूत्रि—

शीर्षकसूत्रि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक अच्छे प्रौढ़ विद्वान् हो गये हैं । इन्होंने सं० १२५ में दश हजार श्लोकप्रमाण प्राकृतमें महापुरुषचरिय नामका ग्रन्थ बनाया है । शीर्षकसूत्रिने आचार्य और सूत्र-
रूपमें सूत्रके ऊपर संस्कृतवृत्तिकी रचना की है । इसके अतिरिक्त, कहा जाता है कि शीर्षकसूत्रिने बाकीके नौ सूत्रोंपर भी टीकायें लिखी थीं । ये विभिन्न हो गईं, और बादमें खमपदेवसूत्रिने इन सूत्रोंकी नवीन टीकायें लिखीं । शीर्षक आचार्यने और भी अनेक रचनायें की हैं । श्वेताम्बर विद्वा-
नोंने शीर्षक आचार्यका गुर्जरराजके गुरु और चारों विद्याओंका सर्वप्रकार उत्कृष्ट कवि कहकर उल्लेख किया है ।

शुक्रदेव—

शुक्रदेवजी वेदन्यासजीके पुत्र थे । ये बाल्यावस्थामें ही सम्प्राप्ति हो गये थे । इन्होंने वेद-वेदंग, इतिहास, योग आदिका सूत्र व्यास किया था । इन्होंने राजा जनकके पास जाकर मोक्षप्राप्तिकी साधना सीखी, और बादमें जाकर हिमालय पर्वतपर कठोर तपस्या की । शुक्रदेवजी बहुत बड़े ज्ञान योगी माने जाते हैं । इन्होंने राजा परीक्षितको शापकावर्मे भागवतकी कथा सुनाकर उपदेश दिया था । शुक्रदेवजी जीनमुक्त और चिरजीवी महापुरुष माने जाते हैं ।

भीमाक्षरास (देखो विनयविनय और पशोविनय)

भेषिक—

श्रेणिक राजा जैन साहित्यमें बहुत सुप्रसिद्ध हैं । इन्होंने जैनधर्मकी प्रमाणाके विषये बहुत कुछ किया है । इनके अनेक चरित आदि दिग्गम्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंमें लिखे हैं । एक श्रेणिकचरित नामका महाकाव्य श्वेताम्बर विद्वान् निमप्रमसूत्रिने लिखा है । इसका गुजराली अनुवा जैनधर्म विद्याप्रसारक वर्ग पाकिताणासे सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ है ।

पद्मार्चनसमुच्चय (देखो हरिमदसूत्रि)

सम्पतिवर्क (देखो सिद्धसेन)

सनत्कुमार (देखो मोक्षमाला पाठ ७०-७१)

समयसार (देखो कुन्दकुन्द और बनारसीनास)

समपायास (भागवतार्थ)—इसका राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रन्थमें उल्लेख किया है ।

समन्तभद्र—

स्वामी समन्तभद्रका नाम दिग्गम्बर सम्प्रदायमें बहुत महत्त्वका है । जैसे सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्र-
दायमें, वैसे ही समन्तभद्र दिग्गम्बर सम्प्रदायमें आप्तुतिकार गिने जाते हैं । समन्तभद्रने आप्तमीमांसा (देशामस्तोत्र), सनकरण्डभाषकाचार, बृहत्सप्तमस्तोत्र आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है । सिद्धसेन और समन्तभद्रकी कृतियोंमें कुछ श्लोक समानत्वसे भी पाये जाते हैं । प्रायः समन्तभद्र सिद्धसेनके समकालीन माने जाते हैं । समन्तभद्रसूत्रि अपने समयके एक प्रख्यात चार्किर थे । इन्होंने

संगम—

समग दशताने जो महावीरस्वामीको परिपह गिये, उनका वर्णन हेमचन्द्रके त्रिपिटिशालाका-
पुराणपरित (१० बौ पर्व) आदि ग्रन्थमें जाता है।

भद्रदास—

सुरदास जातिके बनिये थे। इनका जन्म सं० १६५३ में जयपुर राज्यमें हुआ था। एक समय दादुरदास इनके गौकुलमें पचारे। य उनके शिष्य हो गए और उनकी साथ रहने लगे। सुरदासजी अभीस बरस कदाहीमें रहकर समृद्ध, वेष्मन्तर्जन, पुराण आदिक अप्पयन करते रहे। सुरदासजीका स्वभाव बहुत मधुर और आकरक था। बाबकोसे ये बहुत प्रेम करते थे। ये काउ-ब्रह्मचारी थे। स्वच्छताको ये बहुत पसन्द करते थे। सुरदासजीकी कविताका दिनी साहित्यमें बहुत सम्मान है। इनकी कवितासे प्रकट होता है कि ये अच्छे ज्ञानी और कल्प-कलाके मर्मज्ञ थे। इन्होंने वेष्मन्तार अच्छी कविता की है। इन्होंने सुरदास, सुर अष्टक, ज्ञानविद्यास आदि साधुका १० प्रयोगों रचना की है। सुरदासजीने सं० १७४६ में सांगानेरमें शरीर-त्याग किया। राजबन्धने सुरदासजीके पद उद्धृत किये हैं। राजबन्धनी उनके शिष्यमें लिखते हैं—

“धीरवीर सुरदास आदि साधुजन आमाधी गिने जल योग्य हैं; और शुभेच्छास ऊपरकी मुनिजनोंमें उनकी स्थिति जाना समर्थ है”।

सुंदरी (मोक्षमाला पाठ १७)

મુદ્રૂપ (માણસાલા પાટ ૨૫)

स्यगदांग (आगममथ)—इसका रात्रचन्द्रबीन कइ जगद उष्टेग रिधा ६ ।

हरिमय—

[illegible]

पिपरा—

देवक्यः कथम् नरनामैः सन् प्रजिनायानी आवाः ॥ १७८ ॥ इत्युक्तं तत्र धर्मशास्त्रे
नमो नमो नमो नमो नमो ॥ १७८ ॥ इत्युक्तं तत्र धर्मशास्त्रे

परिशिष्ट (२)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र’ में आये हुए उद्धरणोंकी वर्णानुक्रमसूची

पृष्ठ क्रम

× सवे (सै) पुरुष (ख) एक बरस है (है) । [एक सवेया] ४५०-२८

● अमाहोतर्प्यं (अत्रैर्यष्ट्यम्) [शतपथब्राह्मण १] २७-३३

अपुत्रे अघातमपि संसार (र) मि दुस्त (क्ल) पठार ।

किं नाम दुष्यतकम्मप (ह्यज कम्म) वेणाह दुगाई (ई) नगळेय्या (न गच्छिम्मा) ॥

[उत्तराध्ययन ८-१] ९९-४

अनुक्रमे सयम स्पर्शतोमी पाम्यो क्षायकमात्र रे ।

सयमभ्रेणीं कूळहेमी पूर्ण पद निष्पात्र रे ॥

[सयमभ्रेणीस्तवन १-२ पङ्क्ति उत्तमनिबन्धनी; प्रकरणरत्नाकर भाग २ पृ ६९९] २७५-४, ११

कन्व पुरुषकी दृष्टिमें जग व्यवहार स्थाय ।

इदमन जब जग गही कौन (को) व्यवहार बताय ? [विहार हृदयान] ४८८-१९

अक्ख नाम धुमी छगी गगनमें मगन भया मन मेरजी ।

आसन मारी सुरत हठघाटी दिया अगम-भर डेरानी ॥ दरस्या अक्ख देदारानी ।

[छोटम-अध्यात्ममञ्जनमाहा पद १३३ पृ ४९; कहाननी बर्मसिंह बर्मर्षी, १८९७] २२६-१९

अवि क्यप्पेवि देहमि नायएति ममाइयं । [] ४०२-१८

अहर्निश अधिको प्रेम छगाने जोगानक घटमाहिं (माहि) जगावे ।

कन्याहार आसन छद्म चरे नयनयकी निद्रा पछरे ॥

[स्वरोदयदान ९८, पृ २६ बिद्वानन्दजी; नीमसिंह माणिक बर्मर्षी १९२४] १२९-९

अहो जिणेहिऽसावग्ग्या भित्ति (ती) साह (हू) ण देसियं (या) ।

मोक्ष (क्ल) साहज्यैतस्त साहज्यैतस्त भाषणा ॥

[दशवैकाशिकसूत्र ५-१-९२ प्रो अन्यकरद्वारा सम्पादित १९३२] ७३४-३१

अहो नि (णि) अ तपो कर्मं सम्मजिणेहिं बभि (णि) य ।

पाप (प) कन्वास्तमा भित्ति (ती) एगमर्ष अ मोयण ॥ [दशवैकाशिकसूत्र ६-२३] ७३५-४

अज्ञानतिमिरान्धारां ज्ञानाग्निप्रसक्तया ।

पृष्ठ क्रम

× अक्षय पुरुष एक वृक्ष है ।

• सूत्रमें राजचन्द्रजीने अमाहोतर्प्यं पाठ दिया है । यही पाठ रत्नना आदिने । व्याकरणकी दृष्टिसे यह ठीक है ।



हेमचन्द्र चारों विषयोंके समुद्र थे, और वे कठिनात्मसर्वज्ञके नामसे प्रख्यात थे। कहा जाता है कि हेमचन्द्र व्यापारमें सब मिठाकर सारे लौ लकड़ सबकोही रचना की है। हेमचन्द्रने व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति आदि विविध विषयोंपर अपनी छेकनी चलाकर जैन साहित्यके गौरवको बढ़ाया है। हेमचन्द्रने गुजरातकी राजधानी अणविल्लपुर पालणमें सिद्धराज जयसिंहकी समर्थने बहुत सम्मान प्राप्त किया था, और सिद्धराजके आग्रहसे गुजरातके लिये सिद्धदेवशम्भानुशासन नामक व्याकरणकी रचना की थी। सिद्धराजके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाळ हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानते थे। राजचन्द्रजी लिखते हैं—“श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रभावक ब्रह्मज्ञ क्षयोपशमनाथे पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहते तो एक बुद्ध ही पथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हजार पठेको श्रावक बनाया। तीस हजार घर बर्पात् सवा लाखसे बड़े काष्ठ मनुष्योंकी संख्या हुई। श्रीब्रह्मचान्दजीके सम्प्रदायमें कुछ एक काष्ठ आरम्भी होंगे। अब एक काष्ठके समूहसे ब्रह्मचान्दजीने अपना सम्प्रदाय चमकाया तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो बड़े काष्ठ अनुयायियोंका एक बुद्ध ही सम्प्रदाय चमका सकते थे। परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको क्या कि सम्पूर्ण नीतिपरा सर्वज्ञ तीर्थंकर ही वर्मप्रकर्षक हो सकते हैं। हम तो केवल उन तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चमकर उनके परमार्थमार्गकी प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने नीतिपरा मार्गके परमार्थका प्रकाश करनेका ब्रह्मचान्द किया; ‘बसा करनेकी गुरुत्व भी थी। नीतिपरा मार्गके प्रति विमुक्तता और कर्ममार्गकी तरफसे विपत्तय ईर्ष्या आदि आरंभ हो चुके थे। ऐसी विपत्तयमें लोगोंको नीतिपरा मार्गकी ओर दिखाने, ओझोरफार करने तथा उस मार्गके रक्षण करनेकी उन्हें बकरत मशहूम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपको कर्षण कर दिया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते हैं—जैसे मायमान महात्म्यवान्, क्षयोपशमवान् ही कर सकते हैं। बुद्ध बुद्ध दर्शनोंकी वधानत् छोड़कर अमुक दर्शन सम्पूर्ण उत्पत्त्यरूप हैं, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही ब्रह्मचान्द परमार्थप्रकाश आर आत्मसमर्पण कर सकता है।” राजचन्द्रजीने हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मन्त्राचरणका विवेचन भी किया है।

ऐश्वर्यमास—

ऐश्वर्यमासके कर्त्ता श्वेतम्बर सम्प्रदायमें जैनसिद्धांतके प्रसार विद्वान् जिनमद्रगणि क्षमाभरण हैं। इनका जन्म स. ६२५ में हुआ था। इन्होंने विशेषावश्यकताय विचारणवती आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। जिनमद्रगणिक ऐश्वर्यमासके ऊपर मध्यमिरीकी टीका है। प्रकरपरमात्मकारमें एनरेमजसुरिहस्त उपदेशेऽश्वमास माघेतर सहित छपा है।

ज्ञानचरि—

ज्ञानचर महाशयका जन्म स. ११३२ में हुआ था। इनके सिताने संन्यासी होकर नाममें गृहत्यागम धारण किया था। ज्ञानेचर महाशयने भाषाधरीशिका नामक मठमें गीताकी व्याख्या किया है, जो दक्षिणमें बहुत उच्च श्रेणीकी मानी जाती है। यह व्याख्यान बहैतज्ञानसे पूर्ण है। ज्ञानेचरी महाशयने इस ग्रन्थकी १५ वें वर्षमें किया है। ज्ञानेचरने अमृतानुभव नामका एक वेदशक्तता ग्रन्थ भी किया है। इसके अनिश्चित इन्होंने अन्य अनेक पर अभंग आदि रचे हैं। ज्ञानेचरने २१ वर्षकी आयुमें नीतिन सहायि भी। ज्ञानेचरी गीताके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हुए हैं।

परिशिष्ट (२)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र’में आये हुए उद्धरणोंकी वर्णानुक्रमसूची

पृष्ठ क्रम

×कले (कै) पुरुष (ख) एक वरख डे (है) । [एक स्त्रिया] ४५०-२८

॥अजातोत्पत्त्य (अजैर्यप्रस्यं) [शतपथब्राह्मण १] २७-१३

अपुने असात्त्यमि ससार (रं) मि दुस्स (क्ल) पठराप ।

किं नाम दुष्यंतकम्पय (हुल्य कम्प) जेगाह दुगाह (ई) नगछेप्या (न गच्छिष्या) ॥

[उत्तराण्यपन ८-१] ९९-४

अनुक्रमे सयम स्पर्शतोमी पाम्यो क्षाम्यकमाय रे ।

सयमश्रेणी कृज्जेजी पून् पद निष्पत्त्य रे ॥

[सयमश्रेणास्तिकन १ २ पठित उत्तममिन्नयजी, प्रकरणरत्नाकर माग २ पृ ६९९] २७५-४, ११

अप्य पुरुषकौ दृष्टिमें जग व्यवहार कलाय ।

इदावन जब जग नहीं कौन (को) व्यवहार बताय । [विहार हृन्दावन] ४८८-१९

अच्छ नाम बुनी छाी गगममें मगन गया मन मेराजी ।

भासुन माटी सुरत हठवारी खिया जगम-धर डेराजी ॥ दरश्या अच्छ देवराजी ।

[छोटम-अभ्यारममजनमाळा पद १३३ पृ ४९, कहलानी भर्मसिंह बर्मर्ष, १८९७] २२६-१९

अनि अप्पणोनि देहमि मायरंति ममस्य । [] ४०२-१८

अहर्निश अधिको प्रेम छागवे जोगानछ पट्माहि (माहि) जगावे ।

अन्तःकार आसन हङ्ग बरे मयनपकी निद्रा पछरे ॥

[स्वरोदयकाल ९८, पृ २६ चिदानन्दजी; भीमसिंह माणेक बर्मर्ष १९२४] १२९-९

अहो त्रिणेहिऽसावज्जा विधि (ती) साहु (ह) अ देसियं (या) ।

मोख (क्ल) साहण्हेठस्स साह्णेहस्स भारणा ॥

[दशवैराग्यसूत्र ५-१-९२ प्रो अम्पकराया सम्पाठित १९१७] ७३४-३१

अहो नि (गि) अ तहो कम्म सम्पत्तिणेहिं बमि (गि) यं ।

जात (य) सज्जसुया विधि (ती) एगमंत च मायण ॥ [दशवैराग्यसूत्र ६-२३] ७३५-४

अज्ञानतिमिराधानां ज्ञानाज्जगत्सकपा ।

पृष्ठ क्रम

× अक्षय पुनर एक दृष्ट है ।

नूतने राजचन्द्रमें ‘अजातोत्पत्त्य’ पाठ दिया है । वही पाठ रचना कारिये । व्याकरणकी दृष्टिसे यह सत्य है ।

पुत्र ब्रह्म

नेत्रमुष्मि (न्वी) क्तिं येन तस्य श्रीगुरवे नमः ॥

७२३-१८

[यह श्लोक दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों संप्रदायोंके ग्रन्थोंमें आता है । दिगम्बर विद्वान् मानतेन श्रीविषदेवने कातत्रकटी टीकामें इस श्लोकको मगधपरम्परासे पिया है]

आगाए चम्पो आगाए तपो [उपदेशाफद—हरिमद्रसुरि] × २२८-१३

आत्ममात्मना भावतां जीव कहे केवळज्ञान रे []+ १५-२८

[सुबवा बुधो धाम आप्या जनने, ओइ निष्काम सक्षम रे ।

आन दो कडळक वड्या हरी] आयु सीने से अक्षरभाषा रे ॥

[बीरबाल्यान कडवु ६५ निष्कुम्भानन्द—कान्धारीजन २ पृ ५९९] २४८-१७

आश्रय आनदधनतणो अति गम्भीर उदार ।

बाळक बांइ पसारीने (पसारी बिम) कहे उदधि विस्तार ॥

[आनदधनचौबीसीके अन्तमें आनविमलसूरिका शक्य जैनधर्मप्रसारक समा

पृ १९२] ७८०-२२

इणमेव निगच्छ (भांघं) पात्रपात्र सर्वं अणुत्तरं केवळियं पविपुण (पण)

समुद्धं गेयाउयं सम्मूहणं सिद्धिम्मो मुत्तिम्मं वि (वि) व्याणम्मं

निष्ठाणम्मं अविच्छेदमसिद्धिं (अं) सम्मूहकण (पं) हीणम्मं । एत्थं (त्वं)

हिमा जीवा सिद्धन्ति मुक्कं (ग्गं) ति मुच्यन्ति परिपिण्णा (प्णा) पति सम्म-

दुक्कं (क्का) गमंते करं (रे) ति । सं (त) माणाए त्था गच्छम्मो

त्था विहम्मो त्था मिति (सी) यामो त्था सुपयम्मो (सुपयामो) त्था

सुंजामो त्था मसामो त्था असु (म्मु) जामो त्था उड्ढए उड्ढेयोति पाणानं

भूयाये जीवाण सचाणं संकमेण संजमामोति ।

[सूक्तार्ता २-७-११ पृ १२९-७ बाईसमतप्रपात्कर पूना १९२८] ७१३-१२

इन्द्रदेवप्रियेनेन सर्वत्र समवसता ।

मगधप्रियुकेन प्राप्त्य मगधती गति ॥ [मगधत ३-२४-४७ व्यास] २०८-३

इन्द्रविष परकी मग मिसरागी बिमबर गुण जे गावे रे ।

हीनबंसुनी महेर मज्जरी आनदधन फा पावे हो ॥

[आनदधनचौबीसी गङ्गिनापत्रिनस्तवन ११, पृ १४] ३६-६

ऊँच नीचमो अतर नथी समस्था ते पाप्मा स्रष्टि ।

[प्रीतम !] २०९-२०

उपयेण (उचये वा) विषयेण (विगये वा) धुवेण (धुवेण वा) । [आगम] ८३-२६, २७

उपसंतहीणमोक्षो मग्गे विणमासिद्धेण (ण) समुत्तरो ।

पाणसुपमाचारी निष्ठाण पुरं (निष्ठाणपुर) पञ्चद्वि (चन्द्रि) भीते ॥

[पञ्चसिद्धाय ७ पृ १२२ उपनयननैनाशास्त्रायाका बर्णा, सं १९७२] ७४०-९

× पर सप्तम श्लो ४ सुबवाचनकीछे मिली है ।

+ वं सुबवाचनकीछा कहता है कि पर पर कलानायका 'मं' भिन्नता आई है ।—उपहरक

पृष्ठ आङ्ग

शुभम विनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न जाहू रे कत ।

रिझयो (रीझ्यो) साक्षि संग न परिहरे रे, मगि सारि जनत ॥ शुभम० ।

[आनन्दफनचौबीसी शुभमदेवमिमस्तवन १, पृ १] ६३५-४

एक अन्नानीना कोटि अभिप्रायो छे, अने कोटि ज्ञानीनो एक अभिप्राय छे ।

=एक अन्नानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है ।

[अनाप्यदास] ५२६-२०

एक देखिये जानिये [रमि रहिये इकठौर ।

समूह बिमूह न बिचारिये यही सिद्धि नहि और ॥]

सम्यसारनाटक औबद्धार २०, पृ ५०-५ बनारसीदास, जैनमन्यरत्नाकर

कार्यालय, बम्बई] २४१-१०

एक परिनामके न करता दरब (न) दोय (दोइ) दोय (इ) परिनाम एक दर्ब (र्ब) न घरतु है ।

एक करवलि दोई (इ) दर्ब (र्ब) कबहो (कौ) न करै दोई (इ) करवलि एक दर्ब (र्ब) न करतु है ।

औन पुदगळ एक कोट-अबगाणी दोई (ठ) अपने अपने रूप (रूप) दोठ कोट न टरतु है ।

अब परिनामनिको (कौ) करता है पुदगळ बिद्यानद चेतन सुमात्र आचरतु है ॥

[सम्यसारनाटक कर्त्तव्यक्रियाद्वार १० पृ ९४] २७७-२

६७७-१८

एगे समने मगबं महावीरे इमीसेण (इमीए) उत्तमि (ओत्तमी) गीए चढवीस (चढवीसए)

तिन्यपराणं चरित्तित्तियरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिब्बुडे (जाल) सम्मदुप्पल (वल) प (प) होणे ।

[ठण्णंगसूत्र ५१ पृ १५, आगमोपसमिति] ७३१-२२

एतु त्प्रे ओ दर्शन पामे रे तेनुं मन न चढे बीजे मामे रे

पाय कृष्णो केवा प्रसंग रे तेने न गमे स्तारनो संग रे ॥ १ ॥

इसदां रमदां प्रगट हरी देखुं रे माकं जीपुं सफल तब केसु रे ।

मुष्मदनो माय विहारी रे ओवा औनदोरी जगारी रे ॥ २ ॥

[उद्दवगीता ८८-२-३ ८७-७—मुष्मदनदस्तामी; अहयदावा १८९४] २१६-१२

[मिगचारियं चरित्तमि] एण पुत्ता (पुत्तो) जहासुसं ।

[अम्मापिऊडिं जणुमाओ जहणं तवहिं तवो] ॥ [ठचराप्पयम १०-८५] ११६-३१

[वटो वटो रे मुल साक्षि जगतगो वटो ।]

ए औपाळ्यो रास करता हल अपुवरस वुठ्यो (वटो) रे ॥ मुख ॥

[औपाळ्यस संड ४, पृ १८५—विनयविजय-मशोमिजय]

४५३-१

पृष्ठ क्रम

कम्पन्नेहि सुम् (मं) संयोगो वो धौर्ध्वं जीवत्स । ५०४-२ }
 सो यथो ना (णा) यथो तस्स नियोगो मम (मे) मोक्षो (क्लो) ॥ ६२१-१७ }
 [] ७९६-७ }

करमा फलीरि (री) क्या पिङ्गीरी सदा मग्न मल खे (ह) मात्री ।

[यह पद छोटमहुत कीरतलमासामें पृष्ठ ६२ पर दिया हुआ है] २२७-२

कर्त्ता मटे तो छूटे कर्म ए छे मझा मननगो मर्म ।

वो तु बीज तो कर्त्ता हरी वो तुं सिख तो बसु खरी ।

तु छो जीवने तु छो माय एम कही जखे छटक्या हाय । [अस्मा] २६७-२६

किं बहूणा इह बह बह रमादोना बहु विस्मयति (रमारोसा ऊर्ध्वं विस्मयति) ।

तह तह कटीवव (पपाविलव) एसा वाया जीण (विणिं) हायम् ॥

[उपदेशरूप-यद्योविनयनी] ३२८-२८

कीचसो (सी) कनक जाके (कै) नीच सो (सी) नरेण (स) पद

मीचसी मिता (ता) ई गर (क) नई जाके (कै) गरसी ।

कहरसी जेरा-जानि (ति) कहरसी करम (मा) ति

हहरसी हींस (हीस) पुदग-छमी (नि) छरसी ।

जाकसो (सी) जग-विकस माकसो (सी) मुक्कवास

ककसो (सी) कुटुंबकाज जेककाज छरसी ।

छीठसो (सी) छुबसु जाले नी (नी) छसो (सी) बखत माने

ऐसी जाकरी ऐति तहरी व (व) दत बनारसी ॥

[समपसारनाटक अंशद्वार १९, पृ २३४-५]

६७८-१४

कोई ब्रह्मरसना भोगी कोई ब्रह्मरसना भोगी ।

बागे कोई बिरस भोगी कोई ब्रह्मरसना भोगी ॥

[संभव है यह पद स्वयं राजवन्धुजीने बनाया हो ।]

२३३-१०

गुरु गणवर गुणवर अधिक प्रभुर परपर बीर ।

मन तपवर तनु मगनध (त) र बरी रूप सिरमो (गी) र ॥

[स्वामी कार्तिकेयानुग्रहा-यं जयचन्द्रद्वारा अनुचारका मंगलाचरण ३]

७५५-५ }

जैनधर्मपरानाकर कार्पाण्य बम्बई १९ ४]

७९१-२ }

गुरुणा छान्दगु वच (छंशगुषि)

[

] ५९१-११

घट घट अतर जिन बसे (है) घट घट अतर जैन ।

पृष्ठ काइन

मत (ति)-मदिरुके पानसें (सौं) मतवात समजे (समुझे) न ॥

[समयसारनाटक प्रथममासि और अन्तिम प्रशस्ति ३१, पृ ५३८] ७७५-१३

चरमाकर्त्त हो चरमकरण तथा मरपरिणति परिपाक रे ।

दोष टळे न प्र (ह) छि सुछे (छे) मळी प्रापति प्रवचनवाक रे ॥ १ ॥

परिचय पात (ति) कचासक साधुछु अकुशळ अपचय चेत रे ।

प्रय अघ्यात्म अरण मनन करी परिशीलन नय होत रे ॥ २ ॥

सुगव (गव) सुगम करी सेवम छेक्खे सेवन अगम अनूण रे ।

देजो कदाचित सेवक पाचमा आमदचनरसरूप रे ॥ ३ ॥

७४०-२ }

[आनदचनचौबीसी समबनाय जिनस्तवन ३, ४, ६, पृ १६, १७, १९]

७४२-९ }

चर्खे सो बंधे (धो)

[मगवती १]

७८३-६

चढे चकोर ते चढने मधुकर माछसी मोगी रे ।

तेम (तिम) भवि सखबगुणे होवे उत्तम निमित्तसमोगी रे ॥

[बाठ योगछविनी स्वाध्याय १-१३, पृ ३११]

७४२-७

चित्रसारी न्यारी फलक न्यारो (री) सेज न्यारी

चादर (रि) सी न्यारी इहाँ जू (झू) ठी मेरी धपना ।

अतीत अवस्था सेज निद्रा बही (निद्राबाहि) कोउ फैन (पे न)

विषमाल फलक न यामे (मै) अब छपना ।

स्वा (स्वा) ॥ बौ सुपन दोउ (ऊ) निद्राकी अलग मुसे (मुसे)

सुसे सब अंग कछी (छि) आतम दरपना ।

स्वामी मयो (यी) चेतन अचेतनता भाव त्यागी (गि)

माछे (छे) इष्टि खोछिन्ने (के) समाले (छे) रूप अपना ॥

[समयसारनाटक निर्बतराज १५, पृ १७६-७] ६७७-५

माध्य भूर्जि (भूर्जि माध्य सुख निर्युक्ति), वृत्ति परंपर अनुमय रे ।

[आनदचनचौबीसी नमिनापजिनस्तवन ८, पृ १६१]

७४६-१२

ज(बी)र्ण ज(बी)र्ण दिसं ई(१)पद्म त(त)ण त(त)ण दिसं अपदिबदे । [आचार्य !] १९८-२

जबहि ते(जबहिसे) जेतन(चेतन) विमावछो(छो) उछति आपु

समो(मे) पर्थ(१) अपनो(नी) सुमाव गहि लीनो(नी) है ।

तचहिरे (तचहिसे) जो जो सेज जोग सो सो सब लीनो (नी)

जो जो त्यागजोग सो सो सब छाडी(डि) दीनो(नी) है ।

केने (केने) की (की) न रही टी (टी) र त्यागिबेको (की) बाही और

बाही कहा उचयो (यी) शु करज (उ) नहीनो (नहीनी) है ।

सग त्यागी (गि) अग त्यागी (गि) वचन तरंग त्यागी (गि)

मन त्यागी (गि) बुद्धि त्यागी (गि) वापा झु (झु) द कोनो (नी) हे ॥

[समयसारमाटक सर्वविशुद्धिद्वारा १ ९, पृ १७७-८] २८२-५

वारिस सिद्धसहायो वारिस सहायो सम्मजीवाण ।

तन्हा सिद्धतर्क कल्पणा मन्मजीवेहि ॥ [सिद्धप्राप्त—कुन्दकुन्द] १३६-१४

बिन घई (इ) बिनने जे आराधे ते सही (हि) बिनबर होवे रे ।

मं (मं) गी ईश्वरको चटकने ते म (मं) गी जग जोवे रे ॥ { १ ४-११

[आनंदधनचौबीसी-महिमापविनस्तवन ७, पृ १६०] { १ ७-१८

बिनपूजा रे ते निजपूजना [रे प्रगटे अन्वयशक्ति ।

परमार्थद विहासी अनुमते रे देवचन्द्र पद व्यक्ति ॥ [वासुपूज्यस्तवन ७—देवचन्द्रजी १३६-१८

मिस्त्रे आत्मा ज्ञान छी तस्त्रे सब कुछ ज्ञान किया ।

[जे एगं जाणई से सभ जाणई] [आचार्य १-१-४-१२२] १ -४

जीव (म) तुं सीद शोचना घरे १ कृष्णने करतु होय ते करे ।

जीव (बिच) तुं सीद शोचना घरे २ कृष्णने करतु होय ते करे ॥

[दयाराम पद १४, पृ १२८; दयारामकृत भक्तिनीतिराम्यसंग्रह अष्टमस्कन्ध १८७१]

१४६-१९

जीव नहि पुगगळी नैव पुगगळ कदा पुगगळवार नही तास रंगी ।

पर लग्ने ईस नहि अपर ऐक्यता वस्तु जमें कदा न परगणी ॥

[सुमतिविनस्तवन ९ देवचन्द्रजी] २७९-१९

जूको (वा) जाम्बि मरिच दाटी जाहे (जे) टक चोटी परमाटी ।

एदि (ई) ससम्पसन (सात विसन) हु (हु) कर्षई दुरित मूख दुरीति (दुरगति) के

जाई (गर्त) ॥

[समयसारमाटक साम्प्रसाधकद्वारा २७ पृ ४४४] १८२-१०

जे अबुद्धा मन्त्राभागा बीच असमत्पदस्थितो ।

असुखं तेति (हि) परकृत सकलं होई सम्पत्तो ॥ १ ॥

जे य बुद्धा मन्त्राभागा बीच समत्पदस्थितो ।

सुखं तेति परकृतं अकलं होई सम्पत्तो ॥ २ ॥ [सूत्रार्थ १-८-२२, २३ पृ ४२] १६१-१०

(जे) एगं जाणई से सभ जाणई । जे सभ जाणई से एगं जाणई ॥

[आचार्य १-१-४-१२२] १५१-१०

ਪ੍ਰਭੂ ਸਾਸਨ

ये जाजर्ग (इ) कविहते दम्भगुणपञ्चमेहि य ।

सो आर्णव (३) नियम्या मोक्षो जल्लु आर्णव (नव) तत्स लय ॥

[प्रवचनसार १-८० पृ १०१—कुन्दकुन्दाचार्य; रायचन्द्रनेनशास्त्रमाहा १९१५] ६३५-२२

जेनो काळ ते विकर पर्यं राखी सुगवणाजळ त्रैलोक्य (लोक) ॥ गोमुं धन्य तोड्य ।

दासी बाणा पिशाची थाई राही कामक्रोध ते केदी ओक ॥ जाय्णु० ।

(दीप्ति) साक्षात् पीता बोध्या नित्ये छे निरञ्जन निराकार ॥ श्रीभ्यु० ।

बाणे सत सज्जणा (सज्जेणा) सेहने जेने होय छेडो (छो) वषतार ॥ श्रीम्यु ।

बगपावनकर ते अमर्त्या अम्य मातठवरमो मार ॥ बीशु० ।

तेने चौद ओकमां विचरतां अतराय कोरिए (कोये) मज धाय ॥ जाम्बु० ।

पिबि (पि) सिद्धि ते (जियो) दासियो पर्यं खी नखानद हरे न सनाय ॥ बीष्णु० ॥

[मनहरपद पद १५-२९, ३१, ३६, ३७, ३८, ३९, पृ १५-मनहरपदसहित,
सप्त साहित्यपर्वक कार्यन्वय, बनारस स १९६९] ७२९-०

जे (जो) पुमान् परचन हरे सो अपराधि (धी) अह ।

जो अपनी (गौ) घन बिछारे (ब्योहारे) सो घनपति धर्मद ॥

[समयसारनाटक मोक्षद्वार १८, पृ २८६] ७८६-१६

जेम निर्मळता रे राज स्फटिकताणी तेमच जीवस्वभाव रे ।

ते जिगरीरे रे धर्म प्रकाशियो प्रवळ कपाय जमाव रे ॥

[नयणस्य श्रीसीमधरनिमस्तवन २-१७ पृ २१४-यष्टोविजय] ४४१-१९

ऐसे कष्टकरासे बिनसत नहीं मुझ ।

देहत्यागसे जीव पुनि तैसे रहत अमर ॥ [स्वरोदयबाल ३८६ पृ ९२—विद्यानन्दजी] १२८-२५

जैसे मृग मत्त हृषादित्यकी सपत्ति (त) मांही (हि)

तृतीयतः मृपात्रक कारण (न) अट्ट है ।

कैसे मधुवासी मायावासी (सौं) बित मानि मानि

ਠਨਿ ਠਨਿ ਅਮ ਘ੍ਰਮਿ (ਅਮ) ਘਾਟਕ ਨਵਤੁ ਹੈ ।

ममोर्को (ममोर्को) हुं (हुं) कत भाग (इ) पा (पी) छे ममोर्को भाग (भाग)

जैसे एग् (मैन) हीन नर जेवरी ब (ब) दतु है।

तैत्तिरीय ब्रह्मसूत्रसंज्ञाकरविरचिते

ये (ये) मत है (है) सत पाउ लोपत जायतु है ॥

[समयसोरनाटक बंधार २७, पृ २४२] १२८-१५

जसो (सी) निरभेरुख निहने (सै) नतीत हुतो (हुतो)

ਭਾਗ / ਸੰ / ਆਉਣ ਵਾਲੇ ਦਿਨ / ਗ੍ਰਹਿ ਮੰਤ੍ਰ / ਅ / ੨ / ੩ / ੪ / ੫ / ੬ ।

सग त्यागी (गि) जग त्यागी (गि) बचन तरंग त्यागी (गि)

मग त्यागी (गि) बुद्धि त्यागी (गि) बापा छु (सु) द्र कीनो (नौ) है ॥

[सम्यसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १ ९, पृ ३७७-८] २८२-५

बारिस सिद्धसहायो बारिस सहायो सम्बन्धीबाण ।

सम्हा सिद्धतर्क कावल्या सम्बन्धीवेदि ॥ [सिद्धप्राप्त—कुम्हकुम्ह] ६३९-१४

जिन पई (इ) जिनने जे आउये ते सही (हि) भिलवर होये रे ।

भं (भं) गी ईश्वरने चटकाने ते भं (प्यो) गी जग जेते रे ॥ { ३०४-११

[जालदभनचौबीसी-ममिनाचजिनस्तपन ७, पृ १६०] { ३०७-१८

जिनपूजा रे ते निरपूजना [रे प्रगटे अन्यपशक्ति ।

परमानंद विजसौ अनुभव रे देवचन्द्र पद व्यक्ति] ॥ [वासुपूजस्तपन ७—देवचन्द्रजी ६३९-१८

जिसने वाहना जान ली उसने सब कुछ जान लिया ।

[जे एग जाणई से सर्व जाणई] [वाचस्पति १-३-४-१२२] १०-४

जीव (मल) तु शीघ्र सोचना भरे ! इच्छने करवुं होय ते करे ।

जीव (विष) तु शीघ्र सोचना भरे ! इच्छने करवुं होय ते करे ॥

[दयापम पर ३४, पृ १२८ दयापमकृत मक्तिनीतिज्ञान्यसंग्रह अष्टमस्कन्ध १८७६]

३४६-१६

जीव नहि पुमाछी तैव पुमाक कदा पुमाकाचार नहीं तास रगी ।

पर तजो ईश महि अपर ऐतर्क्यता बस्तु धर्म कदा न परतगी ॥

[सुमतिविनस्तपन ६ देवचन्द्रजी] २७९-१६

ज्यो (बा) जनिव मरिय दारी जावे (के) टक जोरी परतगी ।

एहि (ई) सम्यसन (सात मिसन) इ (इ) कथई दुरित मूढ दुर्गति (दुरगति) के
अर्थ (मर्थ) ॥

[सम्यसारनाटक साम्यसाधकद्वार २७ पृ ४४४] ३८२-२०

जे अबुदा महाभाग नीर सम्यचर्यसिणो ।

अमुकं तेसि (सि) परकलं समल होई सम्बसो ॥ १ ॥

जे प बुदा महाभाग नीर सम्यचर्यसिणो ।

सुबं तेसि परकलं अमुकं होई सम्बसो ॥ २ ॥ [सुप्रह्लाद १-८-२२ २३ पृ ४२] ३९१-१०

(जे) एग जाणई से सर्व जाणई । जे सर्व जाणई से एग जाणई ॥

[वाचस्पति १-३-४-१२२] १५३-१०

४४ काण्ड

वे बाणई (इ) वरिहसे दम्भगुणपञ्चवेहिं य ।

सो बाणई (इ) नियअण्णा मोहो असु बाणई (बाइ) तत्त छयं ॥

[प्रवचनसार १-८० पृ १०१—कुन्दकुन्ददाचार्य, रामचन्द्रनैनशास्त्रमाळा १९३५] ६३५-२२

जेनो कळठ ते किंकर बाई खो मृगतुण्याजळ त्रेलोक (लोक) ॥ जीम्मु धन्य तेहल ।

दस्ती वाशा पिशाची बाई खी कामक्रोध से केदी ओक ॥ जीम्मु० ।

(दीसे) खात्त पीत्त बोळतां नित्ये छे निरंजन निरुकार ॥ जीम्मु० ।

आगे सत सलुणा (सलोणा) तेहने जेने होय छेल्लो (लो) अवतार ॥ जीम्मु ।

जगपतनकर ते अवतर्या अण्य मातठहरमो मार ॥ जीम्मु० ।

तेने चौद ओकमा बिचरतां अवराय कोरि (कोये) नव धाय ॥ जीम्मु० ।

सिद्धि (वि) सिद्धि ते (वियो) दासियो बाई खी प्रमानद हने न समाय ॥ जीम्मु० ॥

[ममहरपद पद १५-२९, ३१, ३३, ३७, ३८, ३९, पृ १५—मनोहरदासहस्त,
सत्सु साहित्यवर्षिक कार्यालय, बम्बई सं १९६९] ७४९-२

जे (जो) पुमान परचन हरी सो अपराधि (धी) अइ ।

जो अपनो (नौ) धम बिबहारे (ब्योहारे) सो धनपति धर्मइ ॥

[समयसारनाटक मोक्षद्वार १८, पृ २८९] ७८६-१६

जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिकतणी तेमज जीवन्ममात्र रे ।

ते बिनबारे रे धर्म प्रकाशियो प्रवळ कपाय अमात्र रे ॥

[नयच्छस्य श्रीसीमधरविमलस्तवन २-१७ पृ २१४—पद्याभिराम] ४४१-१९

जैसे कपुक्यामासे बिससत नही मुर्नंग ।

देहस्यामासे जीव पुनि तैसें खत अमग ॥ [स्वरोपबन्धन ३८६ पृ ९२—विद्यानन्दजी] १२८-२५

जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी उपति (त) मोही (दि)

वृषामत्त वृषावळ कारण (न) अटलु हे ।

तैसें भक्तासी मायासीसो (सी) हित मानि मानि

ठानि ठानि भ्रम मूमि (भ्रम) गलटक मटलु हे ।

आमोको (आमीको) हुं (धु) कत धाय (इ) पा (पी) छे बहरा चराय (चराइ)

जैसे ह्यु (जैन) हीन नर जेवरि ब (न) टगु हे ।

तैसें मूळ चेतन सुकृत करवति करे

रो (रो) बत ह (ह) सत फळ खोचत अटगु हे ॥

[समयसारनाटक बंधद्वार २७, पृ २४२] ३२८-१६

जिसो (सी) निरमेदरूप निहचें (शी) अतीत हुतो (हुती)

तैसो (सी) निरमेद अब भेदकोन (भेद कोन) ग (क) हे (ह) गो (गो) ।

दीसे (दी) कर्मवी (दि) त सही (दि) त सुख समाधान
पायो (पौ) निजपान निरि बाहिर (बाहिर) न गहेगे (गहेगी) ।

कबहु (हुँ) कदाचि अपनो (नौ) सुमाउ (ब) त्यागि करि
राग रस राखिके (कै) न परबसु गहेगो (गहेगी) ।

अमकाल ज्ञान निदमल परगट मयो (यौ)

पाहि (हौ) मंति आगम अनंतकाक खेगो (खेगी) ॥

[सम्पसारणार्णव सर्वाविशुद्धिहार १०८, पृ ३७६-७]

६७७-१२

यो (जो) गा फयविपवेशा (पनेसा) [छिदि अत्रुमागा कसायरो होति]

[इन्द्रसम्पद]

७८४-१५

अ किंचिनि चिततो गिरौहनिपी हवे अद्ग साहू ।

अद्गण्य एवत ल्याहु त तत्स गिच्छय (निबय) ग्हाण (हाणी) ॥ [इन्द्रसम्पद]

७५४-२५

अगमनी बुद्धि तो सुँ जगिये समीप रहे पण शरीरनो नहीं सुग जो ।

एकति बसुँ रे एकत्र आसने भूख (भेख ?) पडे ता पडे मजनस्य मंग जो ॥

ओवबनी अवट्टा ते साधन सु करे ॥

[ओवबनीने संरेसो गरवी ३-३—रघुनाथदास; बम्बई, सं १९५१]

४९९-२०

जं समति पासह (हा) ते मोर्गति पासह (हा) ।

[ज मोर्गति पासहा त सम्मति पासहा ।] [आचार्य १-५-३]

५९८-१

[अनि सिद्धय कपधरो त्रिजसासुगे वद वि होइ तित्यपरो]

नगाए (मयो) माख (निमोक्त) मयो रोषा (सेख) य उमगया समे ॥

[कट्टाभुगालिसम्पद सूत्रप्राप्त २३—बुद्धबुद्ध; माणिक्यन प्रथमस्य बम्बई]

७८६-२५

तरतम योग रे तरतम वासना रे वासित बोध आधार । पपडो ।

[आनन्दपनचौरीसी अजितनाथस्तवन ५, पृ १२]

७४४-१३

तद्वा कृष्णं समप्रार्णं

[मगवती]

६४३-१८

[भक्तिमन्त्राणि भूतप्यामीशभूतिमानत]

तत्र का मोदः क शोकः एकत्रयनुत्पल ॥ [ईशावास्य उपनिषद् ७]

२३३-२४

ते माते उमा कर जोरी बिनर आगळ फहिये रे ।

समवचरण सत्ता सुद देजो अम आनन्दपन उदिये रे ॥

६३ -४ }

[आनन्दपनचौरीसी भक्तिमन्त्राणिस्तवन ११ पृ १६४]

७६८-२० }

दर्शन सत्तमा नय म्हे आन खे निजमागे रे ।

दितकरी जनने धनीनी आगे तह थरागे रे ॥

[आन योगधर्मिणी एताप्याय १-४, पृ ३३ ; गुर्वरमुद्रिफर्णमः]

२०५-१३

दर्शन जे यथा पूजना ते शोच नजरने केरे रे ।	१४
छवि विपदिक सेहमां समकित दृष्टिने हेरे रे ॥	
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-५, ३ पृ ३३०]	२७५
दंष्ट्र मूळी टळे तो सर्ष दु कनो क्षय थाय । []	४७
देवगमनमोयानचामपदिषिभूतप ।	७८४-
मायाविषयि छपते नास्तत्त्वमसि नो म्हात् । [अष्टमीर्मासा १-सप्तमस्य]	८००-
देहामिमाने गच्छिते विहाते परमात्मनि ।	
पत्र पत्र मनो याति तत्र तत्र समावय ॥ []	२४२
दूर्भट देहने मास उपवासी जो छ मायारा रे ।	
तो पण गर्भ वनता केरो बोले बीजु अग रे ॥ []	५३
धन्य ते मुनिवर जे चाळे सममाषे ज्ञानवत ज्ञानिष्ठ मळ्यां तनमनवचने साचा ।	
द्रव्यमात्र सुखा जे माळे साची जिनमी वाचा धन्य ते मुनिवर जे चाळे सममाषे ॥	
[सिद्धांतरास्य सीमन्तविनस्तवन १५-३, पृ २८३—यद्योविब्रवमी]	७५९-
धम्मो मगळमुक्छिद अहिंसा सयमी तबी ।	
देवसि ते जर्मसंति जस्त धम्मे सया मणो ॥	
[दशवैकाकिस्त्र १-१; प्रो अम्यकराव स्यान्ति १९३२]	७९०-
धार तरवारनी सोहळी दोहळी बीदमा जिनतणी चरणसेवा ।	
वारपर नाचटा देख बाजीगर सेना-वारपर खै म देवा ॥	
[आनंदघनचौमीसी जर्मतनाथविनस्तवन १, पृ ८९]	३४२-
नमो त्रिजगण त्रिदमबाय	३९०-३
× [इते स्थानकवासिर्भोके छद्म कोटिके 'नमोऽयुष्मि' बोळमेकी परंपरा हे]	३५४-२
नमो दुर्गापराशरिभारनिवारिणे ।	
अहंते योगिनाथाय म्हाबीराय तापिणे ॥	
[योगशास्त्र १-१, हेमचन्द्राचार्य; जिनचर्मप्रसारक समा भावनगर १९७१]	७७०
नमोऽस्तु निहाळटा []	७३०-
नागरसुख पावर नबी (न) जाणे नकुम सुख म पुसारी रे ।	
वदुमनविषय तेम ध्यानतनु सुख कोण जाणे नर नारी रे ।	
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय ७-३, पृ ३३९]	३०५-
निबछदनते मा मिळे हीरो बैजुळ थाम ।	
उत्तरपासे पक्षि सो हरि सवते ठाम ॥	[मायेकनास] ५४३-
मिंगमि गरिहामि ज्योषां बोसिरामि ।	[प्रतिबन्धसूत्र] ५४२-

[दिव्य सेना अवतरणा वा समा सुहृन्मा न समाग सेना] ।

पृष्ठ ८५०

मिथ्यागसेना (सेना) यह सम्बन्धमा [न मायपुत्रा परमस्थि नाणी] ॥

[सुप्रसन्नता १-१-२४] १००-१

निगृहीत नैनमे नीह न खले नर तबहि मातृपुत्र पाले ।

[सुप्रसन्नता १-१-२८]

पदे पार कहां पामचो मिटे न मनको आश

(पदी पार कहां पामचो (१) मिटनो न मनको आश)

म्यों (म्यों) कोमुकों (कोमुकों) बेळुं (बैळुं) घर हि (ही) कोरा हजार ।

[समाभिष्टतक ८१ पृ ४७१-यसोविजयनी; गुर्वरसहितसंज्ञा प्रथम विमला

मुख्य सं १९९२] ४१०-२१

पक्षपातो न मे बीरे न होयः करिअविष्ट ।

पुत्रिणद्वयं यस्य तस्य कार्यं परिष्कृतं ॥ [लोकतन्त्रनिर्णय १८-हरिमयसुरि] १५२-२४

[वलु जलु वलु बनी आचो वमिर्मदन रस रीति हो मिच]

पुत्रक वलुनव त्यागधी करवी जलु (वलु) परतीत हो ।

(वमिर्मदनविनस्तुति १-देवनागरी) ५ १-१९

पुत्रकसे रतो रहे ।

[] ७६१-२४

प्रभु मयो नीति सथो पछो परोपकार ।

[] ९९-२१

प्रभुनरसनिमग्नं दृष्टिपुम्न प्रसन्नं ब्रह्मकर्मसम्पन्नं कामिनीसंगम्य ।

७६९-६

कलुगमनि यते शब्दसंबन्धन्यं तदसि अगति देवा शीतलारत्नमेव ॥ [वनपत्र ७८०-१५]

पल्ल वनेकंत वनेन न देखे

पल्ल वनेकंत किरिया करी नापका रबनडे चार गतिमहि केके ।

[वानदधनबीबीसी अमलनाथविनस्तवन २, पृ ८७]

५४२-४

वचनित्यमिष्टुल नखिल सिरिधरमाणजिज्जदे ।

[गर्दभार्थं पुच्छ समासचो वचसामिर्ष ॥]

[कर्तव्यता टीका १-देवनागरी भाषा]

१२१-१४

भीष्म मरणात् (भी) ए तिरियग (भी) ए पुत्रेभ्युपग (भी) ए ।

परोसि तीव (तिम्) हु-क गवहि विणमाणा बीव ॥

[पदप्रामाण्यसिद्धा माध्याम्य ८ पृ १२२]

७६०-२४

भोगे रोगमयं पुत्रे नृपतिमयं निरे सुपात्राद्वय ।

माने दैवमयं बडे रिपुमयं कसे तरुण्या मय ।

शास्त्रे बहमयं गुणे कर्ममयं कसे कृतार्थद्वयं

सर्वं बलु मयाचितं मुनि नृणां वैराग्यमेवावय ॥ [गर्दभार्थसिद्धा-वैराग्यशतक १४-मर्कटारि १७-२२]

पृष्ठ क्रम

मन महेच्छलु बहाला उपरे बीनां काम करत रे ।

३०५-१२, २१

तेम सुतावेम मन हउ धरे ज्ञानाक्षेपकवत रे ॥

३०६-९, ११

[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय ६-९ पृ ३३८]

३०८-३

३०९-२०

मन्त्रत्र बीपध नहीं जेयी पाप फस्य ।

बीतरगावणी बिना कबर न कोई उपाय ॥

[अगास्तसे प० गुणमन्त्रजी सूचित करते हैं कि यह पद्य स्वयं राजचन्द्रबीका है] ७४८-२८

मा मुक्कह मा रम्नह मा बूतह (दूस्तह) इहनिहबडे (त्ये) सु ।

पिरमिच्छहि (ह) जह बिच बिचिचस्थाण (छाण) प्यसिदीए ॥

पणवीससोरुक्कप्पणवतदुगमेग च अबह खा (सा) पइ ।

परमेहिवाचयार्ण अण्ण च गुरुवरसेण ॥

[इम्मसपइ] ७५४-१७

मारे काम क्रोध सब (बिनि) कोम मोह पीसि बारे

इन्द्रि (इन्द्रीक) कतठ करी कियो रजपूतो (ती) है ।

मार्यो म्हात्मच मन मारे (मार्यो) जहकार मीत

मारे मद मछर (मच्छर) हू ऐसो रमरु (रु) ती है ।

माती वारा (सा) दुष्णा पुनि (सोक) पापिनी सापिनी दोड (ऊ)

सबको प्रहार करि निब पद (पद) धूवी (धूवी) है ।

सुवर कहत ऐसो साधु कोई (ऊ) हू (सू) रबीर

हैरि (री) सब मारिके निधित होई (ह) सुता (ती) है ।

[सुंदरविस्तार धारतनको बंग २१-११ सुंदरदास, बम्बई, १९६१]

४८१-९

मोक्षमार्गस्य नेतारं नेतारं कर्मसूत्रताम् ।

७३३-२२

ज्ञातार विद्यतत्त्वानां बदे तदुपलब्धये ॥ [तत्त्वार्थसूत्रटीका]

७८५-३

८०१-१

योग बसंत जे जिन कक्षा घटमांछी (हि) रिखि दाखी रे ।

नवपद तेमज जाणमो आतमराम छे साखी रे ॥

[अथ सकल स्मृतिनी घटमांछि ऋषि दाखी रे ।]

रिम नवपद ऋषि जाणमो आतमराम छे साखी रे ॥

योग बसंत छे जिन कक्षा नवपद मुख्य ते जाणो रे ।

एह तणे अबकंभने आतमध्यान प्रमाणो रे ॥

[श्रीपादरास चतुर्धरदा विजयविजय-महोविजयजी; पृ १८४-५ भीमसिंह

भाषिक बम्बई १९०६]

४७८-२

[दिव्य सेह छबसत्तमा वा सभा सुहम्मा ब समाण सेह] । पृष्ठ ४५२

निष्ठागसेठा (सेह) अह सम्मबम्मा [न नायपुत्ता परमथि भाणी] ॥

[सूत्रकर्म १-६-२४] १ ०-१

निशदिम नैनये नीह न वाणे नर तबहि नायपन पावे । [सुदत्तस] ४०५-१८

पडे पार कहा पामचो मिने न मनको वास

(पडी पार कहा पालनो (!) मिटयो न मनको चार)

ज्यो (ज्यो) कोझुको (कोझुको) बेउकुं (बैउको) घर दि (ही) कोरा हवार ।

[समभिषत्तक ८१ पृ ४७६-यशोविजयनी गुर्जरसहित्यसम्प्र प्रथम विभाग

सुबर्ष स १९९२] ११०-२१

पक्षपातो न मे बीरे न द्वेप कथिक्खिदु ।

सुखिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यं परिहृ ॥ [लोकतत्त्वनिर्णय १८-हरियप्रसूति] १५२-२४

[खु जायु खु बनी वाचो अमिनदन रस रीति हो मिठ]

पुत्रक बहुमन त्यागवी करवी अह (सु) परतीत हो ।

(अभिमन्दनविमलसूति १-देवचन्द्रनी) ५ १-१९

पुत्रकसें एते रो ।

[] ७६१-२४

प्रसु मबो नीति सजो परठो पपोकार ।

[] ९९-२१

प्रसन्नरसनिमग्न दृष्टिमुग्धं प्रसन्नं कर्मकर्मकम् कामिनीसंगस्य ।

७६९-६

कलयुगमयि पते शब्दसर्ववचन्य तदसि अगति देवा कीतगगत्समेव ॥ [वनपाठ] ७८०-१५

फल अनेकसे अनेक न देखे

फल अनेकसे किरिया करी बापडा रबबडे चार गतिमहि केहे ।

[बालद्वन्द्वनवीचीसी अमरनायजिनस्तवन २, पृ ८७]

५४२-४

बचमिबागमिनुक बंदिन सिरिकामयजिनार्चद ।

[गर्वबर्षसु दुण्ड समसजो बचसमिठ ॥]

[कर्ममय तीसरा १-देवेन्द्रवृत्ति; आगत]

६२१-१४

भीसज नरपगइ (ई) ए तिरियगइ (ई) ए कुदेवमणुयगइ (ई) ए ।

पचोसि तीव (तिम्ब) हुः माहहि विजयमन्मया थीव ॥

[पदशाम्पदाविरतं भाष्यमासुत ८ पृ १२२]

७६ -२४

भोभो रोममयं कुळे व्युत्तिमयं निजे सुपाकाग्रय ।

माने हैम्यमयं बके रिपुमय कमे तरुण्या मय ।

शास्त्रे ब्रह्ममयं गुणे कर्ममयं कर्मये द्रव्यतामयं

सर्वं वस्तु मयाविरतं मुनि मूर्णा वैरुण्यमेवामया ॥ [अर्जुनविषयक-नेरुण्यसुतक १४-मर्तुवृत्ति] १७-२२

शृष्ठ अक्षर

तिरिशीतनिण वदिअ कम्मविभाग समासञ्चो बुच्छ ।

कीर्त्तं निण्ण हेठहि जेण सो मण्णए कम्म ॥

[प्रथम कर्मग्रन्थ १—देवेन्द्रसूरि, आगरा १९१८] ६२३-१५

[हौंसिमें विप्राय वसै विषामें विवाद वसै कायामें मरन गुरु वर्त्तनमें हीमता ।

सुचिमें गिजामि वसै प्राप्तिसिमें हामि वसै जेमें हारि सुंदर दसामें छवि छैनता ॥

पेग वसै भोगमें सुयोगमें बियोग वसै गुममें गरब वसै सेवामहि दीनता

और जग रीति जेती गर्मित असाता सेती] सुखकी सहेली हे (हे) ककेली उदासीनता ।

[समयसारमाटक पृ ४३५-६] १६०-२५

अप्यात्मनी बननी ते उदासीनता ।

[यह पद स्वयं रायचन्द्रजीका बनाया हुआ हो सकता है]

१६०-२५

सुख दुः (दु) अरुण करमकळ जाणो निश्चय एक आनंदो रे ।

चेतनता परिणाम न चूके चेतन कहे जिनचंदो रे ॥

[आनंदचलचौवीसी बाधुपूज्यजिनस्तचन ४, पृ ७७]

२८१-२२

सुखना सिंधु श्रीसहजार्जवजी जगमि (जी) कलके (ह) जगवदजी ।

धारणागतता सदा सुखकंदजी परमलोही छो (छे) परमानन्दजी ॥

[बीरबालकान्द १—निष्कलानन्द काव्यदोहन भाग २, पृ ५३९] २५४-२३

सुखबोग पदु (दु) व अपारंगी, अमुखबोग पदु (दु)-

व आपारंगी पदारंगी तदुमयारिमी ।

[भगवती] १९४-२४

[जोई विग ग्याल चरनातममें बैठि ठौर भयी निरखीर पर कस्तुरी न परसे]

छ (छ) इता मिचारे व्यसि छु (छु) इतामें केछी करे (रे) ।

छ (छ) इतामें पिर खे (खे) अप्रतवादा वरसे (वरसे) ॥

[त्यागि तन कष्ट है सपष्ट अष्ट करमकी करि धाम जष्ट मष्ट करे और करसे

छेती निकम्ब निजई अक्षयकाळ मझि त्यागी मी विभाग निरबाल प' परसे]

२८३-२ }

[समयसारमाटक पृ ३८२]

३६१-४ }

सो भम्भो जप्थ (त्य) दया वसुधदोसा न जसस सो देवो ।

सो ह गुठ (रु) जो माणी आरंभपरिगह (हा) निरवो ॥ [

] ४४६-७

सुखस (सु) हा बतसो माणुसच ददु (द) मय बाबिसेण अकमो ।

एण्ट बुक्खे (क्खे) जरिए व छोए सकम्म (म्मु) जा विपरिणासु भित्ति (विपरिणा सुखे) ॥

[सूत्रज्ञतांग १-७-२२, पृ ३९] ३६६-२०

योगमां नीम इहां ग्रहे त्रिगुण सुख प्रणामो रे ।

पुत्र स्मृत

भावाभावात् सेवना मय उद्वेग सुखामो रे ॥

[बाल योगप्रतिनो स्थाप्याय १-८, पृ १२१] २७५-१७

रविके (रै) उषो (रो) त अस्त होत दिन पिन प्रति

अनुधीके (कै) जीवन ज्यो (ज्यो) जीवन पट्टु (तु) हे ।

काउके (कै) प्रसुत छिन छिन होत छीन सन

वौरके (वारंके) बल्लत मानो काउके (सी) कट्टु है ।

एते परि मूरु व खात्रे परमारपको (कौ)

स्वारपके (कै) हेतु भम मारत कट्टु (ट्टु) है ।

कम्यो (क्यो) विरे सोगनिसो (सो) पम्यो (म्यो) परि (परे)

सोगनिसो (सो)

निपेत्त सोगनिसो (सो) नेकु न इदत्तु है ॥ [सम्प्रसारनाटक बंधार २९, पृ २४१] १२८-८

रंभी रूप मंभी रूप पण सप्त मरुतारवाट्यो तो मोहूँ न उवाहे । [लोकोक्ति] ४५२-२१

केवो (केवो) न रवी ये (री) र त्यागिनेवो

(त्यागिनेवो) नाहि (री) वौर ।

वावो कडा उवयो (यी) बु काउ नवीनो (नवीनी) है ॥

[सम्प्रसारनाटक सर्वविद्विषार १०९, पृ १७७-८] २८१-१२

[पुरिमा उम्मुबडा उ] वक (वक) बडा य पक्षिमा (पक्षिमा) ।

[मक्षिमा उम्मुबडाओ तेण वम्यो हुहाकओ ॥] [उत्तराध्यायन २१-२९] ५४-१

व्यवहारमी बाल पण्डे पण्डे परबली । [] ४५१-१

बल्लतान वडा के तो वम जो नवि जाय पमायो रे ।

बंधतक उपम ते पामे सयम ठाण जो नामो रे ॥

गायो रे गायो मके वौर बगत गुरु गायो ।

[सम्प्रभेगीस्तवन ४ १-५ उत्तरमविजयगी ; प्रकरणछाकर भाग २, पृ ७१७] ४७६-१६

सकल संसारी इन्द्रियरामी मुनि गुण वास्तवरामी रे । १२९-२५ }

मुन्यपणे के वास्तवरामी ते कक्षिये निष्कामी रे ॥ १८२-२ }

[बालवपनवीनिसो अर्पणमाधविनस्तवन २, पृ ७०]

समता समता उ (उ) रवता ब्रायकता सुखमास । ११८-१४ }

वेरकता वितकता ए सब जीवविजास ॥ [सम्प्रसारनाटक उत्पामिका २९ पृ २१] १४०-९ }

समन्था ते शर्मार्थ गया समन्था ते शर्मार्थ रक्षा । [] ४७६ ९, ८

[कुसुमो बह जोसुमिदुए पोर्षे बिहह लबमाणए ।

एवं मनुष्याय जीविके] समर्प गोपम मा पमायए ॥ [उत्तराध्यायन १०-२] ५१-१४

पृष्ठ छयन

सिरीरीरिणि बदिष कम्पविषाग समासजो बुन्ड ।

कोर्यं विण हेडि विण तो मण्णए कम्म ॥

[प्रथम कर्मप्रथ १—देवेन्द्रसूरि, आगत १९१८] ६२३-१५

[शौरीमें विपाद बसे विषामें विषाद बसे कपामें गरम गुरु वर्त्तनमें हीनता ।

सुविमें गिळनि बसे प्रापतिमें हानि बसे जैयें हारि सुदर दसामें छवि छोनवा ॥

रोग बसे भोगमें सभोगमें वियोग बसे गुममें गरव बसे सेवामाहि दीनवा

बीर जग रीति जेटी गर्मित असाता सेटी] सुखकी सखी है (है) अकेली उदमनीता ।

[समप्रसारनाटक पृ ४३५-६] १९०-२५

अप्यत्पनी धननी ते उदासीनता ।

[यह पद स्वयं रामचन्द्रजीका बनाया हुआ हो सकता है]

१९०-२५

सुख दु (१) खलम करमझ आणो निवचय एक आनदो रे ।

चेतनता परिणाम न बूके चेतन कहे विनचदो रे ॥

[आनदचनबीबीसी बामुप्यनिनस्तवन ४, पृ ७७]

२८१-२२

सुखना सिधु श्रीसहजालदजी जगवि (बी) बनके (ह) अगर्बदजी ।

धरमागतना सदा सुखकंजी परमनेही छो (छे) परमानन्दजी ॥

[वीरबालमान १—निष्कुञ्जानन्द; काव्यश्रीराम मग २, पृ ५३९] २५४-२३

सुखभोग पदु (दु) बं अणारंमी, असुखभोग पदु (दु)

ब आपारंमी परारमी लुमपारंमी ।

[मगवती] १९४-२४

[कोई प्रिय म्याल चरणात्तममें बैठि ठौर भयी निरखीर पर बलुकीं न परसे]

छ (सु) बटा विचारै व्यासि छ (सु) बटामें केकी करे (रे) ।

छ (सु) बटामें फिर ब्ये (ब्ये) अमृतचाप बरसे (बरसे) ॥

[त्यागि तन कप है सपद अद करमकी करि याल अद गद करि बीर करसै

छोटी विकल्प विर्ज्य अकपका माहि त्यागी भी विपाल निरबाल पं परसे]

[समप्रसारनाटक पृ ३८२]

२८३-२ }

३९१-४ }

सो धम्मो नप्य (त्य) दया दसइरोसा न अस्त सो देनो ।

सो ह गुरु (क) जो माणी आरामपरिगह (हा) निरबो ॥ [

] ४४६-७

सुखस (स) हा अतबो माणसस बरदु (दहुं) मय बासिसेमं अर्कमो ।

परांग दुखे (क्ये) अरिए ब कोर सकम्म (म्यु) ना विपरियासु भिति (विपरिया सुखे) ॥

[सुखदशांग १-७-२७, पृ ३९] ३६९-२०

पृष्ठ ७४८

हम परदेसी पक्षी साधु, वीर देखके मारि रे । [] २४९-१

हिंसा रहियो (ए) भूमो (म्मे) जहारस दोष (स) विरहियो (वजिए) देवो (वे) ।

निर्वाये पक्षयजे सरहजे (ज) हो इ (ई) सम्मत (त) ॥

[चद्रामृतानिर्दिष्टं मोक्षप्राप्त ९०, पृ. १६७]

६४६-७

[अस्मिन्मातृमातृमन्त्रचरकं तद्विज्ञानमतिशयचपलम् ।]

क्षणमपि सम्पन्नस्यतिरेक्य मन्त्रि मन्त्रार्थस्तारणे नौका ॥ [मोक्षमुद्र ७-शक्त्यवर्ध] २०३-४

क्षायोपशान्ति अस्तस्य क्षायक एक क्षम्य (अनुक्त) ।

[अम्यहमगाथा १-३ पृ. ४४ देवचन्दजी, अम्यहमज्ञानप्रसारकमण्डक १९७५] ७६५ १६

॥ परदेशी पक्षी साधु, और देशाने नार्हि रे । [] :

हिंसा रविओ (ए) बम्भो (मे) अहारस दोष (छ) विरहिओ (नमिप) देवो (निर्माये पक्षयणे सरहणे (ण) दो इ (ई) सम्मत (त) ॥

[पद्मप्रभासविस्तार मोक्षप्राप्त ९०, पृ १६७]

[मणिर्नादकमातजछत्तरक तद्वन्नीचनमतिरस्यचपसम् ।]

छणमपि सननसगतिरेक मवति मवार्णवतरणे मौका ॥ [मोक्षमुद्र ७—शकटाचार्य] :

छायोपशमिक अस्तेय्य छात्यक एक अनन्य (असुख) ।

[अप्यहनगिता १-६ पृ. ७७ देवचन्दजी, अप्यहनानप्रसारकमण्ड १९७५] ५

	पृष्ठ	पंक्ति		पृष्ठ	पंक्ति
अष्टावक्र	७१५	१९	गङ्गाधर	११	१७
	७८	४		४५	१
	७९४	१८		११५	१४
	८१	१२		११६	१
	१८९	१७		१४७	१५
	८१	९		१४१	११
अष्टावक्र	१४४	११	गङ्गा	४१	१७
	८१	१४		४११	१
अष्टावक्र	४७	५		४६१	७
—अष्टावक्र	९८	११	गङ्गाधर	१५५	११
—अष्टावक्र	९९	१	गङ्गाधर	४१९	१९
				४६९	१
अष्टावक्र	१११	१९	गङ्गाधर	५१८	११
	१४५	१६	गङ्गाधर	९८	११
	१४५	१९	गङ्गाधर	४६	१
	१९८	१९	गङ्गाधर	११४	११
	४८७	७			
अष्टावक्र	४५६	१५	गङ्गाधर	११८	१९
अष्टावक्र	५११	१	गङ्गाधर	१२८	५
अष्टावक्र	६१	९	गङ्गाधर	५६४	१४
	६११	४	गङ्गाधर	४५१	११
	६७	१	गङ्गाधर	४५१	११
	६७६	१७	गङ्गाधर	४५१	११
	७१८	१९	गङ्गाधर	४५१	११
	७१	१९	गङ्गाधर	४५१	११
	७१६	९	गङ्गाधर	४५१	११
	७७१	११	गङ्गाधर	४५१	११
	७९१	१	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	१७	१	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	७४	९	गङ्गाधर	४५१	११
	९९	१	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	७९९	११	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	७४	११	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	११	१	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	४४१	१६	गङ्गाधर	४५१	११
	११	१	गङ्गाधर	४५१	११
	९६	१	गङ्गाधर	४५१	११
	७७४	१५	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	७७९	१६	गङ्गाधर	४५१	११
अष्टावक्र	५१९	१	गङ्गाधर	४५१	११
	५१५	१	गङ्गाधर	४५१	११
	५४	७	गङ्गाधर	४५१	११

पुस्तक	पृष्ठ	पंक्ति	पुस्तक	पृष्ठ	पंक्ति
सामान्य	८	३	पर्वत	२७	३
१४७	९	१	पण्डित	३४७	२५
१४५	१८	२	प्रीति	५५	१६
११३	१५	३	पुस्तक परिभाषक	१२४	१५
७३५	९	४	पुस्तक	११८	२८
७९	२४	५	पञ्चाशिकावली	५ ५	८
रामचन्द्र स्वामी	९	३	६५७	३	१
रामचन्द्र	५७८	१५	७४१	१	१
६१७	१६	२	पञ्चीकरण	५५२	१८
रामचन्द्रस्वामी	२७९	१८	६२७	१६	१
५ ३	१७	३	६२८	१५	१
६३६	१८	४	प्रबोधसूक्त	२५१	८
७७९	१८	५	प्रबोधनसार	८ २	४
७८४	२१	६	प्रबोधनचरणेष्टार	७८६	१८
११९	३	७	प्रबोधनसार	१५२	२१
३१९	५	८	१७४	१४	२
५९	३३	९	प्रहसनी	४६६	२३
६८२	२६	१०	प्रहसनाफल	२२६	२३
७९	८	११	६२३	२५	३
७६२	२२	१२	७३५	९	४
७७९	१६	१३	प्रकाशना	२ ६	१३
१ ३	११	१४	प्रीति	३४५	२९
८ ३	१२	१५	कनारलीरत्न	३४५	३
२४५	१६	१६	३९५	१४	४
५७५	१६	१७	६७८	२६	५
३८२	२६	१८	६९९	१३	६
२७	२	१९	७०९	२३	७
२४१	१५	२०	वाचिक	४३१	३१
२४१	१५	२१	वाचिक (पि)	१२	१५
२२६	२	२२	५४९	३३	१६
२६४	९	२३	५७१	१७	१७
९८	२१	२४	५९१	१९	१८
—पर्वतचर्माङ्क कथा	७७९	२५	११५	२	१९
७५१	५	२६	१५७	१	२०
७५२	२	२७	३७९	२१	२१
७६८	१	२८	३७७	२२	२२
७६९	१	२९	३७९	२१	२३
७७९	११	३०	३२	२४	२४
७८५	२७	३१	३३	२५	२५
५३५	२	३२	५५१	२३	२६
२२१	९	३३			

	पृष्ठ	पंक्ति		पृष्ठ
उत्तराध्यायन	७१५	१६	नवमुद्राय	१२
	७२	४		१
	७१४	१८		१२
	८१	१२		११६
उत्तराध्यायनं कथं	११	१७		१४७
	८१	६		१४३
अथ	१४४	११	वीरा	४१
अथैवाथ	८१	१४		४११
अथैवा—मृति	४७	५	गोत्रकथारिष	१५
—अथै	९८	२१	गोत्रकथारिष	७१
—केवली	९९	२		७६१
अथै	१११	१९	गोत्रकथारिष	५२८
	१४५	१६	गोत्रकथारिष	९८
	१४५	१९	गोत्रकथारिष	४६
	११८	१९		१२४
	४८७	७	पारिकथारिष	१९
अथैवाथै	४५६	१५	पारिकथारिष	१२८
अथैवाथै	५११	१	पारिकथारिष	५६४
अथैवाथै	६१	५	अथैवाथै	४५१
	१११	४	अथैवाथै	१५१
	६	१	अथैवाथै	१२४
	६७६	१७	अथैवाथै	५१
	७१८	१९	अथैवाथै	१२४
	७१२	१९	अथैवाथै	५१
	७१६	१	अथैवाथै	१२४
	७७१	११	अथैवाथै	५६१
	७९२	१	अथैवाथै	१९
अथैवाथै	१	१	अथैवाथै	१२६
अथैवाथै	७४	१	अथैवाथै	५११
	७७१	१	अथैवाथै	१६
	६९	१	अथैवाथै	१६८
अथैवाथै	७६९	११	अथैवाथै	१६
अथैवाथै	७४	१५	अथैवाथै	४२४
अथैवाथै	११	५	अथैवाथै	५
अथैवाथै	४७१	१६	अथैवाथै	१
	११	१	अथैवाथै	७२१
	६६	१	अथैवाथै	७२१
	७७४	१५	अथैवाथै	७८१
अथैवाथै	७७९	१६	अथैवाथै	५११
अथैवाथै	५१९	१	अथैवाथै	७८१
	५१५	१	अथैवाथै	७८१
	५४	७	अथैवाथै	७८१
अथैवाथै	७४	१५	अथैवाथै	७८१

	पृष्ठ	पंक्ति		पृष्ठ	पंक्ति
लक्ष्मी	५३३	१८	शास्त्रिभूष	३५२	३
राधेयि	३२५	२४	शिवरत्न	७७२	३
पद्मिनी	३२५	२४	शिवभक्त	३६५	११
	३२६	११	श्रीलोकानन्द	३४४	१५
रामदासी राय	३७४	११	शुद्ध	२३३	५
रामदासी	५७८	१५		५३	१
रामदासी	४९५	१५	श्रीगणेश	४५३	३
रामदासी	३२२	५	श्रीगणेश	३५	२५
रामदासी	३२९	२		३३	७
रामदासी	५	३१		३३	३
	७४५	२१		२५४	५
राधेय	३९९	१३		३२३	७
	५४५	१५		३२५	५
राधेय	५३	१		५२३	२९
राधेय	९८	२१		५३	२३
राधेय	३३३	१३		६८३	११
राधेय	२९२	५	पद्मभक्त	४७	२४
	३४५	३		४८	२७
	५५२	१८		४९५	२९
	६२७	१६		४७२	३
राधेय	३८३	१२		५३	१
राधेय	५	५		७४२	१३
राधेय	७६२	१		७६२	१८
राधेय	३७३	१		७७	५
राधेय	३८२	१५		७९५	२९
राधेय	७२३	२१	रामदासी	५	१७
राधेय	९८	२१	रामदासी	५३	१५
राधेय	२८	१		२६७	२३
राधेय	२४३	१३		२७७	१
राधेय	५६३	१५		३	११
राधेय	२६७	५		३६३	३
राधेय	४३३	१		३९२	२१
राधेय	३९	१३		३९५	१३
राधेय	९	३		५९७	३
राधेय	९८	२१		७६३	१
राधेय	३३	५		७६३	१
राधेय	२७९	१	रामदासी	७८४	२१
राधेय	३८५	२		८	१५, १३
राधेय	३८९	२५	रामदासी	३४३	१३
राधेय	३८३	२४	रामदासी	३३४	५
राधेय	८	१		५	३
राधेय	३३	१३			
राधेय	३५	२५	राम		

	पृष्ठ	पङ्क्ति		पृष्ठ
प्रिन्टिंग	३६७	११	सुखदाय	११२
गुरटन गेट	३६	११ }		४३९
	३६५	१४ }		५९१
मुद्रिकागिरी	७७१	११		६२३
मुद्रागल	३४५	११, १२ }		६३१
	४७५	११ }	मेहर	८ १
	४८	११ }	संगम	५१८
	४८१	७ }	रायबन्धु	१२७
	४८७	७ }	हमिद	१५१
मुद्रागल	५६७	४ }		१७१
	७१७	८ }		५१
मुद्रा	१	११		६८७
सुखदाय	१	११ }		७६१
(सुखदाय)	३२८	४ }		७७१
	३५१	१	हमिद	६८७
	३९७	१८ }		७४५
	४ ८	१ १ १५ }		७७१
	४ १	१७ }	हमिद	७ १
	३६४	११, १४, १५ }	हमिद	७६१
	३६६	१, १५ }		

	पृष्ठ	पंक्ति		पृष्ठ	पंक्ति
कर्मसूत्र (वैश्वसूत्रि)	१३	१	तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामि)	७४२	१३
	१३१	४		७४५	१
	१७	१	व्याख्यानसूत्र (आत्मार्थ)	८	१
	१७६	१७		१४७	१
	७१८	१५		१७५	१८
	७२५	१९		१९३	१५
	७२६	९		७३५	९
	७१	११		७५	२४
	७५३	१	व्याख्यान (उमास्वामी रामदास)	५८	१५
कार्तिकान्तमुद्रा (कार्तिकस्वामी)	७४८	१		१९	१६
	७४९	८	वैश्वसूत्रस्वामी	१७५	१८
	७५९	१		५१	१
चिन्तासूत्र	७४८	१५		१३६	१
कुलकुल	४४१	१६	वैश्वसूत्रसूत्र—आत्ममीमांसा		
	७३१	१	(सर्वसूत्र)	७८४	२१
	७४६	१	कर्मसूत्र सूत्र	५६	२३
	४	१५	कर्मसूत्र (हरिमूत्रसूत्रि)	१८२	१६
विद्यासूत्र (चिन्तासूत्र)	७४८	१५		७९	८
वीथ (व्यास)	१४६	५१	वैश्वसूत्रसूत्र (हरिमूत्रसूत्रि)	७६२	२२
	४१	२७	नरही मेढरा	१४५	१६
	४११	१		५७५	१६
	७६१	७	नरदास (वैद्यसूत्र)	११	१६
गौडसूत्रसूत्र []	१५५	११	नारदासी	१४१	१५
वैश्वसूत्र (वैश्वसूत्र सिद्धांत			नासमूत्रसूत्र (नारदासी)	१४१	१५
वैश्वसूत्र)	७२२	१९	निरास वैश्वसूत्र	११६	१
	७३५	१	नैषिहूत्र (आत्मार्थ)	१६४	१
वैश्वसूत्र सूत्र	१७	११	नैषिहूत्र—पार्थिवसूत्रोपदे कर्ता	१	११
वैश्वसूत्रसूत्र []	१५८	१९		७७५	१५
वैश्वसूत्रसूत्र	१९	५	पञ्चानि (पञ्चानि आत्मार्थ)	७५१	५
वैश्वसूत्र	१५१	२२ २७		७५२	२
वैश्वसूत्रसूत्र (आत्मार्थ)	५६१	१		६	१
वैश्वसूत्र (आत्मार्थ)	११	११		७६१	१
	११४	५		७७१	१५
	११	५	पञ्चानि (वैश्वसूत्रसूत्र)	७८५	२७
	१८५	४	पञ्चानि (कुलकुल)	५५	१
	४१७	५		६५७	१
	५८	११		७४१	१
	७१	१	पञ्चानि (श्रीरामसूत्र)	५५१	१८
	७३१	११		७९७	१६
	७३२	७		७९	१९
	७५	११	पञ्चानि []	१५१	८
वैश्वसूत्र सूत्र			पञ्चानि (कुलकुल)	८१	४
(वैश्वसूत्र)	१	१२	पञ्चानि (वैश्वसूत्रसूत्र)	७८६	१८

	पृष्ठ	पंक्ति		पृष्ठ	पंक्ति
महेश्वर (मोरमयत्री)	१५३	२१	मधिरत्नमात्म (मुकुटीदत्त)	११८	८
	१७४	२४		१८३	१९
मध्याह्निक (आत्ममंत्र)	२२५	२३	मधिरत्न नमुमाई	७६२	१३
	१२३	१५	महीपतराम स्वराज	७४६	१५
	७३५	९	मार्गेकहाल	५४३	२
महाना (आत्ममंत्र)	१ ६	१३	मीरपार्थ	५४१	२७
महाम	१४५	२९	मुक्तान्त	११६	५
महावीर	१४५	३	मोहभुज (मोहभुजार्थ)	१८३	१९
	१९५	१४	मोहमात्म (रामकर्म)	१५७	५
	१७८	२६		३८२	२७
	१९५	१३		७४३	२
	७७९	२३		७६४	२९
महाम	४११	३१		७ ८	१५, १३
महाम	१५५	३	मोहभुजार्थ (मोहभुजार्थ)	३८२	२७
	१५७	१		६८३	२, १५
	४७९	२९		६८५	३३
महाम (आत्ममंत्र)	१७७	२३		७२६	९
	१७९	३१	मोहभुजार्थ	६८७	२१
महाम (आत्ममंत्र)	५४	१		७७९	२५
	१३४	१५	मोहभुजार्थ []	३३८	८
	१९४	१३	मोहभुजार्थ (हरिभुजार्थ)	३८३	२६
	१९७	१९		१७१	८
	१ ३	२४		६८६	२४
	१ ६	१३		६८७ १६, १	२७
	१६३	११		७४२	१३
	१९३	२६		७७	५
	७८२	२३	मोहभुजार्थ (मोहभुजार्थ)	७७९	१५
	८ १	१४	मोहभुजार्थ (हरिभुजार्थ)	७४	८
महावीर (शिवक्रीडा)	७८	२७	मोहभुजार्थ (हरिभुजार्थ)	१७१	५
	७८१	११		६८७	१
	७८१	२८		८ १	६
	७८५	२९	मोहभुजार्थ (हरिभुजार्थ)	१९३	८ १५
	७८८	१४		३७३	१५ १६
महाम	९७	२		३७४	१
	१२५	३		३७५	१
महाम (वाराणसी)	१३१	१७		३ १	११
	१३१	१७		३ २	१२ २४
	१३१	१७		४ ४	१
	१३१	१७		४ ५	१३
महाम (वाराणसी)	१३१	१७		४ ६	१८
	१३१	१७		४ ७	१७
	१३१	१७		५ ११	१
महाम (वाराणसी)	१३१	१७		५ १३	१६
	१३१	१७		५ १३	१६
महाम (वाराणसी)	१३१	१७		५ १३	१६

	पृष्ठ	पंक्ति		पृष्ठ
मेघावाहिनी (वलिष्ठ)	३२७	१६ }	विष्णुवर्धन	७७२
	३२८	१८ }	विष्णुवर्धन (हरिश्चन्द्र)	१९५
	३८१	११ }	विष्णुवर्धन	३४४
मेघावाहिनी (हेमवन्त)	३८७	२ }	विष्णुवर्धन (विनयविजय- वर्धन)	४५३
	७२६	१२ }	वज्रपथिकमुखा (हरिश्चन्द्र)	४७
	७५९	२८ }		४८
	७७	१ }		४९५
	७७२	७ }		४९५
रामायण स्वामी	१७८	१५		४९५
रामायण	४९५	१६		४९५
वचनसहाय (राजसूय)	१११	५		४९५
वचनसहाय	५	११ }		४९५
	७४५	२१ }		४९५
वलिष्ठ	१९५	१३ }		४९५
	१४५	१६ }	रामायण (विष्णुवर्धन)	९५
वामदेव	११	१		९५
वामदेव	९८	११		९५
विष्णुवर्धन (मन्त्रावली)	३८१	११	रामायण (रामायण-वचनसहाय)	२७७
विष्णुवर्धन (विष्णुवर्धन)	२९२	८ }		१
	३४५	३ }		३९१
	५५२	१८ }		३९५
	६२७	१६ }		५९७
विष्णु	५	५		७९९
विष्णुवर्धन	७९२	१		७९९
वलिष्ठ वलिष्ठ	६७३	१	रामायण	७९५
वेदवर्धन (मन्त्रावली)	३८२	१५ }		८
	७९६	११ }	रामायण (विष्णुवर्धन)	३४६
वलिष्ठ—वेदवर्धन	९८	२२ }	वलिष्ठ	३१४
	९८	१ }		५
	२४१	२३ }		७४५
	२६६	२५ }	विष्णुवर्धन (विष्णुवर्धन)	९३६
	२६७	४ }	विष्णुवर्धन	२६७
	४२२	८ }		
वलिष्ठ	५	३ }	वलिष्ठ (वलिष्ठ)	७७२
	९	११ }	वलिष्ठ	३४५
	२३	६ }		४७५
वलिष्ठ (विष्णुवर्धन)	३७५	१ }		४८
	३९	१ }		४८१
	३९	२५ }		४८७
	९८६	२७ }	वलिष्ठ (वलिष्ठ)	५९७
	८	९ }		७२७

पृष्ठ	पंक्ति	पृष्ठ	पंक्ति
इस्मरत-सुसङ्गत (जागमग्रन्थ)	१९	स्वरोदयकान (विद्यानन्द)	१२७
१९८	४	हरिमल्ल	१५९
२५३	६	१७१	१६
२९७	२८	५१९	११
२९८	१ ३ २५	६८७	१५
३ १	१७	७६९	१८
६६४ ११, १४, १९		७७९	२९
६६६ १ १९		८८७	२
३९२	२४	७४५	२
४९९	१८	७७९	१६
५९१	३४		
६९३	२४	बेभलमल (भिनमलगाणि)	७ २
६९१	१२	बानेश्वरी (बानेश्वर)	७६९

परिशिष्ट (५)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र भैं आये दुप मुमुक्षुओंके नामोंकी सूची

पृष्ठ	पंक्ति	पृष्ठ	पंक्ति
भक्तवत्सल	२७५-२१	मोहनलाल (गांधीजी)	४ ६-६
कुम्हारल	४१८-१८	४३५-१	
मुष्कल	३३४-२६	५७९-१३	
पंडु	२८८-५	४४ -१३	
बल्लभ	१९३-३	१९१-१९	
	१९४-१९	३१३-१९	
विशुद्ध	७६६-५ २९	६९४-१५	
ईश्वर	३९६-५ १९	४५७-३३	
	४५ -७८	४५८-१	
	४५१-३	४८९-१४	
	४५३-८	मुंदरलाल	
	४५८-१	लोभाय (मुभाय)	
४८७-११ १८ १३		१९९-२४	
७३५-१८		१९८-३९	
		१९३-१५	
४८९-१३		१७९-१७	
६९७-५		६८ -१ ३ १ १३	
		६८२-४	
		६९-७	
		७३१-१२	

ते विष्णु धीमे	१ ९	गादे ते नही आत्मा	४८
ते ते योग्य विद्येयता	८६	गादे मोक्ष उपान्तो	७३
देवी एम ब्रह्म के	९५	मानादिक धातु महा	१८
स्वप्न विष्णु न विष्णु	७	मुक्तये शान कथे अने	१३७
इहा पाणि सम्या धम्मा	१३८	मोहभाव क्षय होव क्या	१३९
रहने परे समान के	१२८	मोक्ष कथो निबुद्धता	१२३
ध्या न एही क्या सुधी	१९	रागद्वेष अहान ए	१
देवदि यो मीमां	१७	रोके कीच स्वर्णर हो	१५
देव क्या केनी इहा	१४२	कथु स्वल्प न वृष्टिनु	२८
देव न ज्ञेये तेने	५३	कलन कथा मयावीना	३३
देव नान उनेगा के	६९	बर्तमान आ काम्या	२
देवदि उनेगानो	९३	कते निवृत्तमाप्नो	११३
यथे धिमां माकरो	४५	बर्तमान समचित्त पर	११२
नन निवृत्त एकान्तधी	१३३	कथी को आत्मा होय तो	४७
मही कपाल उपपाठता	३३	बीलो काम अनंत ते	९
निबन्धनी साम्या	१३१	वेदव्यादि वृद्ध हो	६
निवृत्त लो ज्ञानीनो	११८	इह इव कैवल्यजन	११७
मज्झिमे कप देवता	५६	इम को चक्ष मोगवे	८८
परं उत्तरणी कथु	९९	इ प्रभु ब्रह्म को कर्	१२५
परं उत्तरणी कई	९७	परत्पना परत्पन्न ते	१६
मज्झ वदुष्पण्णितो	३५	परत्पन्नक समवापिने	१२७
मज्झ वदुष्पण्णयी	३६	परत्पन्नक उचित्तो	४४
मज्झ वदुष्पण्णयोमां	३६	लज्ज कथं ते पठनं	१४
मज्झ वदुष्पण्णम नही	११	तदुगुप्ता उपदेय वच	१९
मज्झ वदुष्पण्णम यने	८	तर्ष अवरुचने विरे	५४
मज्झ वदुष्पण्णम यने	८५	तदुगुप्ता उपदेयणी	१३९
मज्झ वदुष्पण्णम यने	४	तर्ष कीच के विद्वत्तम	१३५
मज्झ वदुष्पण्णम यने	९४	केने तदुगुप्ता वरुचने	९
मज्झ वदुष्पण्णम यने	६	रवानक पञ्च विचारिने	१४३
मज्झ वदुष्पण्णम यने	५	स्वर्णर मत्ता आमां तजी	१७
मज्झ वदुष्पण्णम यने	८९	होव कथारि मोक्षर	२
मज्झ वदुष्पण्णम यने	४९	होव म ज्ञेयन मेरवा	७४
मज्झ वदुष्पण्णम यने	५	होव मयावी तेहने	९३
मज्झ वदुष्पण्णम यने	१९	होव वदुगु कीर ते	१२
मज्झ वदुष्पण्णम यने	१९	जानवता धाम्यो नही	३

मशाधन और परिवर्तन

मनुष्य

एक मनुष्य

४-१४ वरुण

८-५ वीर

८-६ वर्ष रित्त मज्ज जेय दयाव जो है ।

८-९ पुंरुचय

९-४ प्रीति

९-४ वर्षिक रित्त किन्ही वचनका

११-१८ मशार्परी

११-१९ निरुचय

११-१ प्रवेय मर्यमे

११-१ वमार्

११-१५ वरुणरी

११-१५ मिलायका

१८-११ वमार्पय

५१-९ कीरीकी वमार्पय

१-११ वरुणरी

१८-१ वरुणरी करना ।

१-१ वरुणरी

७१-११ मशार्पय

७४-८ वरुणरी

७५-१ वरुणरी

८-४ वरुणरी

८४-११ वरुणरी वरुणरी ...गी

८५ १ नही वरुणरी

८५-१ वरुणरी

८५-१ वरुणरी

१५-१४ वरुणरी

१ १-१ वरुणरी

१ ७-१ वरुणरी

११५-११ वरुणरी

११५-४ वरुणरी

पुत्र

वर्ण

वर्ण

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी वरुणरी वरुणरी वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

वर्ण वरुणरी

अनुसूच

मुख्य

११-१२

११-१२ चारों

११-१२ इसके कारण

११-११, १२ अर्थ

१२-१७ ब

१४-१ उलका उपाय क्या देगा

१४-१२ विद्वत्सभ

१५-१५ कर्षण

१५-१ उल एलेपन लकड़ा

१५-१ अथवा

१५-१ नहीं करना चाहता हूँ

१५-१ एक पक्षमें

१५ १ बोला कहा गया

१५-१२ अर्थ

१५-१२ बिना किसी अपवादके

१ ०-१२ अपने

१०-१ इसके लोकर जाना

१ १-१२ दुना

१०-११ ईना... है

१०-१ विद्वत्

१०-१२ उलके लीये

१०-२ हम

१०-१ जानते

१०-२ देवा

१०-१ आधिकारिक माय

१०-७ लिखते होना न थे

१०-१ ; उली समझ

१०-१ कर रहा है

१०-२२ के प्रति

१०-२२ बूझ आमी

१०-१ लेप

१०-४ लाली दुःखी

१ १-७ अर्थ

१०-२२ हो

१ ०-१२ अर्थमें

१ ०-१२ मात्र मेरा काम लकड़ा हो गया है

११-७ बीनरी

११-११ मैं आने के लक्ष्य -- बाह्य

११-७ कारण

११-१ विद्वत् कीर्ति ... देवे

चोरी

इसे बारम्बार करके

कहा

का

संयोजक केगा

विद्वत्सभ

।

उलकी निजगता नहीं हो लकड़ी

अथवा

उलें विद्वत्सभों की इच्छा है

एक तरफ

सम्पन्न रक्ता

अथ

कुछमें छोड़कर

आपके द्वारा

जाना

बाद कर

अपघनी हुई है

निरपघनी

हकर लकड़े

हमने

जाना

उल

हस्ता

यह लोका भी नहीं रखी

। जीव बंध और मुक्तिद्विष्ट है ।

कहा होगा

की

हुका दे

एने

लाली और सम्पन्न

विचारणा

है

अपने

काम लकड़ा करनेका अवसर मिल गया है

कहीं

और मैं आने के लक्ष्य वैद्य बर्षों रक्ता नहीं चाहता

मैंने

अवाप्त—

अनुसू

मुख

१५८-१६, २७ अपना बिचार

छिड़ हो जाव

१६०-११ कनेक काफन सुझाये

१६१-१५ यदि किसी भी

जाव तो

१६१-१, २ आत्म्य अवतक

पड़ा है

१६१-१५ विवेक शास्त्री

विवात करना

१६४-२ इन दो कानी

जी है

१६८-५ पहले

१६८-५ बात और हय

होते हैं

१७१-१७ करने

१७४-८ कुछ कहा ठही कण्ठा

१७५-१२ ऐसा कहा गया है

१८ -१५ हो उनके

१८१-१ रुते

१८५-११ नहीं देखते

१९०-१५ अमरिष्य

१९१-१५ सामान्य

१९५-२७ और

ही

१ -११ शूराय

१११-५ वर

१११-१५ और जो अज्ञा हय समझते हैं

११८-१८ विवेचना

११९-१४ मज्जा

११९-१७ १८ प्रसन्नबोधमें

११९-१९ हम मन्ते हैं

११९-१९ ही मही

११९-१९ भी है

११४-१ उपाधिमें

११४-२१ अजौकिक

१११ ५ जायत

१११-१९ परमाविरट्मूक

१११-१८ जीव अपने .. करनेवाला

येते जीवके होय तीसरे प्रकारमें समाविष्ट होते हैं ।

अनेक तरहकी लम्बना की

यदि तीनों काफ़ी बड़ जब ही है और बैठन बैठन ही है तो फिर

बैठ और मोड़ तो जब बैठनके संयोगसे है और वह संयोग अवतक है अवतक अहमाफ़े अपने स्वकर्मफ़े म्यान मही पड़ा परन्तु आत्मामने तो अपने लम्बावका लम्बा किया है

विशेष शास्त्रीके ज्ञानके साथ में यदि अपनी आत्मिक स्वकर्म जाना अथवा उसके बिन्दे लम्बे मन्ते आत्मव किया तो

केकिन वे ही बेबाहि फ़ाल ज्ञानी पुरुषके बिन्दे लम्ब-स्वानकम है, ऐसा नहीं (कहीपुनर्ने) कहा है

पक्षमें,

हमें मुझे और हा लम्बे कौनसे बाहमें शामिल होना

करते

मैं नहीं हो पाया

करते हैं

हो

कि

नहीं

अप्रतिष्ठा

प्रत्येक

और जिसकी भी किताबी है उन लम्बे अनेक

शूके

किन्तु उनके

जिसे कि हम समझें कि

निरास

सम्झना

प्रसन्नबोधविषयक

मन्ता

नहीं

है

उपाधिमें विषयमें

अजौक

प्रेम

परमार्थमूकदेव

अपराधम विमृष्ट उपाधम करनेवाला जीव अपने

अशुभ

शुभ

११२-११

११३-११

११३-११

११३-११

११४-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

११५-११

[illegible]

आचार्यसिद्धसेमन्त्रिणाकरकृत

श्रीसिद्धार्थगिरि तं कुलदीक्षा हिन्दी-भाषानुवाद ।

[illegible]

स्वात्मबलवार—मूक श्लोक, श्रीसिद्धिपत्नीकृत लक्ष्मणिका धीरेन्द्रभट्टाचार्य विरचित। अदितीयं
पूर्वं अस्यानया है। उगादक का पी पत्र वैद्य एम ए बी सिद्। मूल्य ११) पोष्टन ३)

मोक्षशान्ति-तत्त्वामसुप्रके कृता भीडमाश्वामिति कृत

[illegible]

कौटिल्य (मिहिर) का नाम दिनेश-दीप ।

[illegible]

सामन्ति बाध—डो भाई दोनो बंध एक साथ मिलावेग क्यो (११) के बरते (१) में देग। (१) का मंत्र मंगानेवालोको काम होत। मूल्य १) कौर पेदेनके ३) शिरहीके ३) बुज १ ॥—) जग बने तगद मनीभाईसे भजन बादिद। अलग अलग मंगानेवाके ५३ और १३—) धर्म।

सुखना—इतरी तरह सब ईश्वरीय पौरुष कथयः इस प्रकार हैं—

५) १०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१००

[illegible]